

**अम्बारकः**

चर्चत श्रीबर तिळक,  
७४८ नारायण पेट,  
से. तिलक मंदिर  
(गोवकडाडकाडा)  
शुना २

अम्बारक ने सर्वांगिक्षर  
स्था चीन रखे हैं।

**मुद्रक**

चर्चत श्रीबर तिळक  
के सीढ़ी मुद्रणालय  
७४८ नारायण पेट,  
शुना २

## अथ समर्पणम् ।

भीमालार्थं कं मंसीरं व्यासपातः कविभिः पुरा ।  
 आचार्येण एतुधा कं मन्त्रस्यविषया मस्ति: ॥  
  
 तथापि शापदाइस्मि दर्कुः तं पुनरुद्धरतः ।  
 दात्वार्थां च सम्मतीकृत्य प्रसान् नव्ये सहोचित ॥  
  
 तमार्यां ओतुमहस्ति कायाकाय-विहस्य ।  
 एवं विहाप्य सूजनाम् कालिशसाक्षरं प्रिंष ॥  
  
 वालो गांगाद्विभाज्ञ विद्वकाम्ब्रयजा द्रिज ।  
 महाराप् पुण्यपुर यसन शादिस्पगोष्टमूर ॥  
  
 शाक मुन्यस्त्रियस्त्रूम् – सम्मित शालिधाहन ।  
 अनुसूत्य सदा मार्या स्मरेष्यापि वचाऽ हरः ॥  
  
 समर्पये घन्थमिमं भीष्माय जनतामन ।  
 अमन ग्रीयतां वदा भगवान् पुण्यं पर ॥

० यक्षोपि यज्ञभाष्यि य-तुहोपि शस्ति यत् ।  
 यक्षम्यन्ति यान्तप त-तुर्णव मन्त्रणम् ॥

- शीता - ३

## गीतारहस्य के चिन्ह भिन्न संस्करण

मराठी -	१ अ	संस्करण	मह १९१६
	२ रा	"	सप्टेम्बर १९१६
	३ रा	"	१९१८
	४ वा	"	१९२३
	५ वा	[ शो मार्ग में पहल्य संस्करण ]	१९२४-१९२५
	६ वीं	"	१९
	७ वीं	"	१९५६
दिल्ली -	१ अ	संस्करण	१ १०
	२ रा	,	१९१८
	३ रा	"	१ ११
	४ वा	"	१९२४
	५ वीं	"	१९२
	[ शो मार्ग में पहल्य संस्करण ]		१९२५
	६ वीं	"	१९२८
	७ वीं	"	१९३१
	८ वीं	"	१९४८
	९ वीं	,	१९५
	१० वीं	"	१९५६
	११ वीं	"	१९५९
	१२ वीं	,	१९६२
गुजराती -	१ अ	"	१९१६
	२ रा	"	१९२४
	३ रा	"	१९५६
काशी -	१ अ	संस्करण	१९२१
	२ रा	"	१९५६
मिस्र -	१ अ	,	१९१
चंगला -	१ अ	,	१ २४
ठमीठ -	१ अ	[ शो मार्ग अपर्य ]	१९२४
अमिती -	१ अ	[ शो मार्ग में ]	१९३१

## ओ लिलकनी के अन्य अंशेशी ग्रन्थ

[ १ ] The Orion	वैदिक वा निर्वय	१ अ	संस्करण १८९५
		२ रा	१९१९
		३ रा	१ २६
		४ वा	१९५६
[ २ ] The Arctic Home in the Vedas			
	आयो का मूल निष्ठास्थान	१ अ	संस्करण १९ १
		२ रा	१९२६
		३ रा	१९५६
[ ३ ] Vedic Chronology & Vedanga Jyotish			
	ऐं का कालनिर्णय और वैदान ज्योतिश	१ अ	संस्करण १९२५

## भारतीय आध्यात्मिकता का सुमधुर फल

प्रमद अनुमति से यह लाइसेंस देता है कि श्रीमद्भगवद्गीता वर्तमान सुम में भी उक्ती ही नामीन्यपूर्ण एवं शूर्विदात्री है जिसी भी महामारत में उमाविष होते समय थी। गीता के उपरेक्षण प्रभव केवल गर्वनिः अपवा विज्ञन्ता का विषय नहीं है भगिनी भान्तार-विचारों के भेद में भी विद्यमान हास्त्र मार्ग विज्ञनेवाला है। एक राहु तथा संकृति का पुनर्वर्णन गीता का उपरेक्षण करता आया है। स्वार के अनुच्छ धाराविषयक मन्त्रों में उक्ता विद्योप दे समरेता हुआ है। गीताप्रथ पर स्वर्गीय औषधमान्य विज्ञानी भी व्याख्या नियी महीनाथी व्याख्या नहीं है। वह एक स्वतन्त्र प्रकृति है। उसमें नैतिक स्वर्य का उचित नियान्त्रण भी है। अपनी सूक्ष्म और व्यापक विचारप्रणाली तथा प्रमाणेत्वात्क ऐक्षण्यैकी के बारण मराठी माया का पहली भेड़ी क्या यह पहल्य प्रचण्ड गण्डमन्य अविद्यत वाव्याप में उमाविष हुआ है। यह एक ही प्रकृति से वह राघव होता है, कि यदि विज्ञानी सोचते तो भगवानी साहित्य और नीतिशास्त्र के विवाह में एक मनोन्य लान पा सकते। जिन्होंने उक्ती महात्मा के लिये वाव्यापद्वेष नहीं रखा था। इसलिये फैल मनोसंकलनाप उन्होंने अनुकूल्यान का महान् काम किया। वह अर्पण भट्टा है कि उक्ती भीति अवलोकन बद्देश्वरे उन्होंने अनुकूल्यान-प्रकृति उनके भीविकारों से विचारापूर्वक लिये हुए विशानुनिष्ठता में निर्मित हुए हैं। स्वर्गीय विज्ञानी की प्रतिमा के ये गीता व्याविष्कार भी इस हेतु से सम्बद्ध हैं कि इस द्याव ज्ञ महान् मविदाम्य उनके उम्बल गतेतिहास के योग्य हो। गीताप्राप्त एवं किम्ब थे गीतामन्य है, वह मारतीय आध्यात्मिकता का परिपक्व सुमधुर फल है। मानवी भ्य, शीक्ष और कर्म भी महिमा का उपरेक्षण भगवानी अविद्यतात्री से भैक्ष तथे व्यापाल एवं उत्ताप्त उपरेक्षण गीता है ये कि आत्मनिक काम के व्योपयात्र के लिये भावस्वरूप है।”



शाशु अरविन्द शोध

— शाशु अरविन्द शोध

## दिव्य 'टीका' - मौखिक

बास्यादस्था में ही मुझे ऐसे शारीरिक प्रनय की आवश्यकता प्रतीति होने स्थगी, जो कि चीड़ितादस्था के मोह उपच क्षीटी के तमय तर्कित मार्गशील हो। मैंने कही पढ़ा था कि केवल सहज और अभ्यन्तर में गीता ने उपर शारीर का और उपनिषदों का सहर - गाँवर मैं सहर - मर दिया है। मेरे मन का निष्पत्ति हुआ। चीड़ापठन मुचिताकृष्ण होने भी हाइ रन्हर मैंने उक्तर का अध्ययन दिया। कर्त्तमान अदस्था में को गीता मेरा बाल्कल या बुराण, ही नहीं अधिक प्रस्तुत मात्रा ही हुई है। अपनी लौकिक मात्रा से तो कर्त्त दिना हो भै रिमुदा है। किन्तु तर्कीसे गीतामैया ने ही मेरे धीमा मैं उक्ता स्थान प्रहण कर दिया है और उक्ती तुदी नहीं के बाल्कर बर दी। आफक्काल मि वही में पढ़ा सहरा है।



महात्मा गांधी

स्वार्थी सोलहान्य लिखनी भपने अभ्यास एवं विद्या के अन्तर्गत से 'भीता प्रसाद' के लघुर ही पह दिव्य टीका मीठिक पा चुके। तुदि ऐ आविष्कार करने के अपार उत्त का मण्डर ही उहे गीता मैं प्राप्त हुमा।

गीता पर लिखनी की टीका ही उक्ता शास्त्र स्मारक है। स्वराप्य के युद्ध मैं विषयभी प्राप्त होनेपर मीं वह सदा के लिये ज्ञा रहेहै। लिखनी की का विशुद्ध चारिस्य और गीता पर उक्ती महान् टीका देना चाहीं ते उक्ती स्मृति लिखेक होगी। उक्ते लिखनालूक मैं अपना साध्यत मीं देखा को० व्याधि मिल्ला असम्भव है। लिखा उसे अधिक व्यापक भौत गहरा शास्त्रमन हो। उक्ती गीता पर ये अधिकारयुक्त टीका है उक्ते अधिक मीठिक प्रथ की निर्मिति व अमीरक तुर्ह है और न निकट के मरिय पाल मैं होने की समाजना है। गीता भौत भै से निर्मित समस्याभौत लिखनी ने यो मुकाब स्व दे सहायन दिया है। उक्ते अधिक अमीरक और निर्धने नहीं दिया है। अपाह लिखा भौत भौतिक और भालम देखेवा के कारण उक्ता उक्तने के इन्द्रिय मैं लिखनी ने अद्वितीय स्थान पा दिया है।"

— महात्मा गांधी  
( कारण कानपूर के अभिमान )

## हमारे प्रकाशक का निवेदन

हमारे पितामह म्यार्गीय स्टेकमान्य बास ग्रन्डपर विल्ड महोड़य प्रबीत अमीर्ट मगांद्रीता अथवा क्षमयोगदाता प्रथ का बताईं संस्करण प्रकाशित करने का सुझावकार आब प्राप्त हुआ है। इसके तीन संस्करण स्टेकमान्यवी के गीवनवाल में प्रसिद्ध हो सके वे। एकप्रथ संस्करण में इस प्रथ का धोरे म "विहास" दिया था। यहाँ भी उसको दुर्घटना हम उपरित मानते हैं।

यह चर्चा सुविधित ही है कि गीतारहस्य प्रथ से विल्ड महोड़य ने क्या के मण्डाले नाम भै कारणहृष्टय के समय में लिखा था। हमारे पास भी "स प्रथ भी मूल पेनिल से लियी हुई हस्ताख्यित चार प्रतिया से जात होता है कि इस प्रथ के मण्डाले का भासम्म मण्डाले मैं धा० २ नवम्बर सन १९११ मैं करके स्माभा ० पूर्वों का यह सम्पूर्ण प्रथ तट ३ मात्र १९११ के रोब (अभात् केबल पॉच महीनों मैं) उन्होंने अपने हाथ से अस्त्र कर दिया। उम्मवार, धा० ८ फ्लू० १४ इस रोब लेकमान्य महोड़य की मण्डाले के कारणहृष्ट से मुक्त्या हुआ। वहाँ पूना छैर आजे पर ए० सप्ताहा तक यह देखके भी मण्डाले के कारणहृष्ट के अभिकारी के लाभीन की हुई गीतारहस्य की हस्ताख्यित पुस्तक बड़ बापिच करने का उरकार का इराग दीप नहीं पढ़ा। ऐसे ऐसे अधिक दिन भवीत हो जाने छों देसे ऐसे उरकार के हेतुभा के बारेमें लेग अधिकारिक साशक होते जाते। कोइ फो० का भालिर स्पष्ट कहन लगे कि

उरकार का विचार कुछ टीक नहीं मालूम होता। पुस्तक बापिच न करने का देंग ही अत होता है।" देसे घम घब बिसी के मुंह से निकल कर स्टेकमान्यवी के काना पर भासते थे तब कै कहा करते थे कि— इन्हें का कुछ कारण नहीं। प्रथ यहि उरकार के लाभीन है तो मी उसका मालूम भेरे मलिक मैं है। निहृसि के समय मैं शान्तवा से सिंहगां के लिये पर भेरे काले मैं कर प्रथ दिर स मैं पशारियत दियर अर्जिया।— यह भासम्बिधाता की तेजस्वी भावा उत्तरती उम्भाले— भयान् ६ वर क०— बयोइद एहस्य की ह भौत यह प्रथ मालूमी नहीं असि गहन तस्वीर के लियर से मरा अभा० १ शृण फा है। इन सब बातों को भ्याम म भेसे से अकमान्य महोड़य के प्रदिगिर प्रयत्नवा० की पशाप क्षमना ल्वित हो जाती है। मुमास्य से उम्भन्तर बस्ती ही उरकार की भौत से उसी पुस्तके सुरक्षित बापिच हुए, और स्टेकमान्य के गीवनवालमें प्रथ के तीन दिनी सल्लजन प्रकाशित हुए।

गीतारहस्य का दूस मध्यिग चार पुस्तकों में था पह उत्तेप ऊर निया गया है। उन पुस्तकों के सम्बन्ध म विशेष परिचय इस प्रभार है—

## गीतार्थस्य अध्याया कर्मयोगशाला

पुस्तक	विषय	पृष्ठ	दिक्षने का अवलम्बन
१. गीतार्थ प्र० १ से ८		१ से ४१९	२ जनवरी १९१२ से ८ दिसंबर १९१०
२. गीतार्थ प्र० ८ से १३		१ से ४०२	{ १३ दिसंबर १९११ से
३. गीतार्थ प्र० १४ से १५		१ से १७०	{ १५ जनवरी १९११
कर्तिरक्षयपरीक्षण		{ १८१-२१४ और ४१-४१२	{ १६ जनवरी १९११ से
मुकुट, समर्पण और स्वीकृति का अनुकात		२४५-२४७	{ १ जनवरी १९११
अध्याय १-३		२४९-२५१	
४. स्प्रेक्षण का अनुकात		{ २-१४	{ १ मार्च १९११
अध्याय ४ से १८		{ १४४-१४५ १८६-४४	{ से
प्रस्तावना		{ १४७-१४९ १७६-१८४	{ १ मार्च १९११

पुस्तक की अनुक्रमणिका उमर्गण और प्रस्तावना में ऐतिहास्य महोर्ण्य ने कारणाद में किसी भी और कम्ह काह पर कैसे कैसे बोते रहनी वी उन्हीं सूना भी किस कर मन्त्र परिपूर्ण कर रहा था। उसपर कैसे यों शब्द होता है कि उन्होंने कारणाद से अपने खीरे वी मुकुटा होम्है या नहीं। इस शब्द का भावेता नहीं था और मुकुटा न होने के कारण अपना परिभ्रमणूक्त उम्मान निया हुआ जान और उस के समिति विचार स्थान न बदलें; वहिं उनका ज्ञान असर्वी पीढ़ी को मिसे यह उनकी अनुकूल दृष्टि थी। पुस्तक की अनुक्रमणिका पहले होनों पुस्तक के भारतम् में उन पुस्तकों के विवर भी ही है; पुस्तक का मुकुटा और तीसरे पुस्तक में २४५ से २४७ शब्द में है और प्रस्तावना वीर्ये पुस्तक में ३४१ से ३४३ और ३४५ से ३४८ पृष्ठों में है। कारणाद वी मुकुटा होने पर प्रस्तावना में इड सुपार निया है और वह किसोंने प्रस्तावनाका में वाहायता वी वी उन व्यक्तिक्रियोंविषयक है। वह विवर प्रक्षमातृष्णी प्रस्तावना के अनिन्द्रा पैरिप्राप्त के आवे के पैरिप्राप्त में लिखा है। अनिन्द्रा पैरिप्राप्त को कारणाद म ही लिखा हुआ था।

उनमें से पहली पुस्तक में पहले भाग प्रक्षमी को 'पूर्वार्थ' कहा वी गई है (वह पुस्तक के शुरू के विषय के हात होग)। दूसरी पुस्तक के उत्तरार्थ भाग पहला और तीसरी को उत्तरार्थ भाग पूर्वार्थ हुए प्रभार संबंधें वी गई हैं। उत्तर पर कैसे था हात होता है कि प्रथा के प्रभार ही भाग छलने का उक्ता विचार था। उनमें से पहली पुस्तक के भाग प्रक्षमी का मध्यविश्व के एक महीने मैं ही किल्लर वैयार हुआ था और

ये ही प्रकरण अत्यन्त महत्व के हैं। उस पर से सोमान्य महोन्य इस विषय से किलो और प्रोटीन दैवार में, इसका और उनके अस्थायित प्रशास्त्र यथाप्रथम पाठों को लगव ही होता। पुस्तकों से पृष्ठ फाँड़ ऐसी अवधार नये बोडों की कारणात्म के नियमानुसार उनके आप्ता न थे किन्तु दिवार से स्थित होनेवाली छतों को नये पृष्ठों के भीतर बोडों की मुद्रिता उनकी मिली थी। मह स्तर दूसरे और तीसरे मुकुटात में अस्थर के चार में लिखी हैं। अनितम पुस्तक जिसके एक फलवाहे में लिखी है। मुख्य जात्याधिने हाथ के दरफ के पृष्ठों पर जिनके उन पृष्ठों के बीचे की कोरी चार पर असमें पृष्ठ पर की अकिञ्चननवाली जाति देखी है। आशा है, कि मूल हस्तालिरित प्रति सम्बन्धी विज्ञाना इस विवेचन से पूर्ण होगी।

“सु प्रथा का उन्नत होने के पहले प्रस्तुत विषय के सम्बन्ध में उनका व्याप्तिगतीया वा इसका उत्तम प्रमाण उनके और दो प्रन्ती में है। मात्राना मात्राधीयोंहै (गीता १ - ३७ गीतारहस्य पृष्ठ ७७४) इस स्वेच्छ का अवध (मात्राधीय) नियमित करते समय उन्होंने वेद के महोदधि में हुक्मी लगा कर आराधनाकर्ती मुक्ता जनता की स्वार्थीन की है और भोगोदधि का प्रयत्न करते करते ही भावों के मूल वस्त्रतिस्पन का पदा लगाया है। काव्यनुस्त्रम से गीतारहस्य अनितम व्याप्ति तो भी महत्व की दृष्टि से उत्तमी ही - उपर के दो पुस्तकों का पूर्ववृत्तान्त व्याप्ति में रखने से - आवश्यकन देना पड़ता है। गीता सर्वेष के व्याप्ति से ही ये दो पुस्तकों निर्माण दुर है। ‘भौतिकन’ पुस्तक की प्रकाशना में सोमान्य महाशय ने गीता के अवधार का उल्लेख किया है।

भौतिक और भावों का मूल वस्त्रतिस्पन ये दोनों प्रथा व्याप्तिगत प्रसिद्ध हुए और उन्‌में से विविधात हो चुके। परम्परा गीतारहस्य जिन्होंने का मुहूर्त द्येत्यमान्य ५ तीसरे दीप कारणात से प्राप्त हुआ। उपर लिखे हुए दोनों प्रन्ती का लेखन मी वाराण्श में ही हुआ है। वाक्यनिक प्रवृत्तिया की उपाधि से मुक्त हो कर प्रस्त्रेष्वन के लिये आकाशक स्वरूप्या वाराण्श में मिल जाती। परम्परा ग्रन्थेष्वन का आरम्भ करने के पूछ में उन्होंने वही मात्री मुरीकर्ता से क्षमादाना पदा। उन्हें उनके ही धर्मों में एक व्याप्ति बहना अवित है। - प्रथा के सम्बन्ध में तीन बड़े तीन दृष्टम भावे - उत्तम पुस्तक मेरे पात्र रखने का कुड़ तिन बड़े वार पुस्तकों एक ही समय हुक्म द्युता। उस पर उन्होंने उत्तम का भव बनने पर प्रस्त्रेष्वन के लिये सब पुस्तकों मेरे पास रखने की परकालपी द्युति। पुस्तकों की संस्कार ज्ञ. मैं वहाँ से लिया तात १८ भ. ४ तक हुई थी। प्रस्त्रेष्वन के लिये वही वागवृद्ध देन में आते थे वे पृष्ठ न हो वह, जिन्हें जिताव दीप के भीतर ह सके जिनके और उपर दैनों और नवार जिन बर ऐसे में आते थे और जिनके वास्तवी न होइ तिन् देनिवै पीप देने में आती थी। (सोमान्य जिन्हे प्रस्त्रम हाशय के पृष्ठों के बार वी पहली मुक्तायत - देनी वा १ ग्रन्त १ १४).

अपनी कस्मानायकि को भीड़ थी और उन्हें से बाल्कल हिन्दू महोत्तम को प्रयोगेन्द्रन में हैसी मुसीकों का समना करना पड़ा होगा, यह फ्रांसर समझ लेंगे। हिन्दू पर भी उनकी पर्वाह न करके उन १९१० के बादे में उन्होंने इत्यतिसिलिंग नक्कल सिल्कट्र तैयार कर दी। पुस्तक का काल्पनिक तेजावर होने की दृष्टि उन्होंने १९१३ साल के असरमें एक पत्र में लिखे पर वह पत्र सन १९११ मार्च महीने में 'मरणा पत्र' की एक संस्कृता मैं समग्र प्रक्रिया हुआ। गीतारहस्य में दिया हुआ विशेषज्ञ स्वेच्छा की अभिज्ञ मुगम्ब हो 'स कारण से हिन्दू महोत्तम ने उन १९१४ के गोदारेत्स्व म चार व्यास्त्यान दिये थे और बाड़ मैं प्रन्य छापने के काम असरमें होने पर १९१५ के दूसरे महीने मैं उसका पूजावतार हुआ। उसके आगे का पुण इतिहास सबवत् सुविधित है।

लोकमान्य तिळकर्णी के इस भौतिक प्राच के लिये अध्ययनारियाँ मार्ग कर्त्ती ही थे यही है। उसी मार्ग को पूरी करने के लिये भाज दूसरे समरण प्रकाशित कर रहे हैं।

ऐसी मरणा सरका के विभरणने यह प्राच कर्त्ती कायाक्षय म आप दिया इस लिये भास्त्रो बन्याड़ प्रश्न करना हम अपना कर्त्त्य मानते हैं।

हम मानते हैं कि इस बारहवीं संलग्न की देवता पाठ्य कवक्षय ही मनुष्य पाईगे। उर्द्धवर्त हो सके इस बारहवीं संलग्न का अथवाकृपालुप्तोनित करने के लिये प्रस्तुत कीदिया थी है। इसी दिव्य पृथक्षया कपड़े थी है; भार प्रन्य मैं संपूर्व कागज का उपयोग दिया है।

हमने लीचा कि क्य कि लोकमान्य तिळकर्णी के इस भौतिक प्राच का नया संकरण प्रकाशित दिया था यह है तो उत्तम ऐन में प्रन्य-दियव की अनुवाप हो। दसी आह थी कि देवनार स्वर्योव लोकमान्य तिळक महात्म्य का - तथा उनकी कायाक्षना के अनुवाप कुस्तोद्देश की रामायन का भिन्न लिखवा दिया गय। हमारे दिवसार मित्र भीमान् द्वारायां ने मूल कवक्षन की अवैश्वा भैं ते घेंगो दिव इक्की उपकृताकृत विभित्ति दिये हि उनकी भास्त्रा प्रश्नाका करने की बोई आवश्यकता नहीं रही। दिवसार से गौहर एवं अनुवाप दिव लिखवाये जानेवर भी उगाइ का काय उत्तनी ही ल्याप से करना पड़ता है। दिवसार उगाइ का वह काय मुकाब्ल कभी पृथक कर दिया।

इस प्राचर इस प्रन्य की उत्तमता में अनेकों न परिभ्रम उठाये हैं। मक्कुल्य भरत के अध्ययनार्थी पाठ्यों के हाथ मैं भाव पह प्रन्य हम है रहे हैं। भाशा है कि पाठ्य इत्या महार्ष और उन्हन् स्वीकार बोगे।

पुनः  
हिन्दू पुस्तकप्रिय शंक '८८८  
दि २ भास्त्र १०

— ज भी लिलक  
— भी भी निलक

## अनुवादक की भूमिका

भूमिका लिये कर महामा तिळक के प्रत्यक्ष करना मानों स्वयं को नीक से छिपने का प्रयत्न करता है। यह प्रत्यक्ष स्वयं प्रशासनान् होने के कारण अपना परिचय आप ही के देता है। परन्तु भूमिका लिखने की प्रशासनीसी पार गई है। प्रत्यक्ष को पाने ही पर उच्च-प्रत्यक्ष कर पाने भूमिका गोपनी लगते हैं। इसपर उक्त प्रशासनी की रक्षा करने और पाठ्यका की मदलुपि करने के लिये इस शीर्षक के नीचे एवं उपर लिखना आवश्यक हो गया है।

मर्योग की बात है कि भीखमध्य रामायास्वामी की भ्रोग हृषा से तथा चतुरुष भीखमध्यन्तान्त महाराज (हनुमनग्र जगा निकारी भीखर विष्णु परावर) के प्रत्यक्ष अनुग्रह से जब तेरे द्वारा यह मध्यात्म विषय की विशेषता उत्पन्न हुई है तभी ऐसे इस प्रियक्ष के अध्ययन के महत्वात्मा अवकाश मिलते जाते हैं। यह उक्ती हृषा और भूमिका का फूल का हिं मै सक्त १०७ में भीखमध्य के सम्बोध का हिन्दी अनुवाद कर रक्षा। अब उक्ती हृषा और भूमिका के प्रत्यक्ष से अस्त्रान्त्य इति ग्राहक विज्ञान भीमज्ञानप्रतिवादान्त्र के अनुवाद करने का अनुपम अवकाश हाथ स्था गया है।

यह मुझ यह काम कीपा गया तब प्रत्यक्षकार ने अपनी यह इस्ता प्रस्त की कि मूल्यन्त्र में प्रतिपादित सब मात्र व्यंग्यों-केंद्रों हिन्दी में पृष्ठक्षया व्यक्त किये जायें। क्यानि प्रत्यक्ष में प्रतिपादित विज्ञानों पर ये आधेय होये उनके टक्करगता मूल रैगन ही है। इसपर्ये मैंने अपने लिये तो क्षण-प्रत्यक्ष किये। (१) प्रथामति मूलभूता की पूरी पूरी रक्षा की जावे और (२) अनुवाद की मात्रा प्रथाशिक्षा शुद्ध करन, स्वयं भार कुरोच हो। अपनी अस्त्रान्त्रिकी और काम्यन्त्र के अनुसार इन रक्षा कान्त्या के पास्त्र करने में मैंने कार बन डाया नहीं रखी है। भार मेरा भास्तरिक विधान है कि मूल्यन्त्र के यह प्रतिक्षिणी की अन्यथा नहीं हो पाये हैं। परन्तु मानव है कि दिवस की कठिनता और नाश की गम्भीरता के कारण मेरी मात्राएँ कही व्यक्ति किये भया दुखपूर्णी हो पाय हो। और यह समझ है कि ऐनेजाने वा इतम् मराठीभूम वा ऐ ये ये दिव जाय। परन्तु इसके लिये किया क्या जाय? सचारी है। मूल्यन्त्र मारानी मैं है। मैं स्वयं महाराज का हूँ। मरानी ही मरी मानुमारा है। महाराज तेग के लेन्द्रान्त्र पुना मैं ही यह अनुवाद लिया गया है। और मैं हिन्दी का कार 'पुरापर' केरक स्थी नहीं है। अपनी भास्त्रामें यह इन प्रत्यक्ष में उक्त दोपन न लिये, तो उन भास्त्र द्वारा।

यद्यपि मरानी 'रहस्य' को हिन्दी लोगों ने लिया वहना कर नफ्तकुन्दर वा भृत्ये गाट्यों के उन्नुन द्वारा मैं प्रोत्तु करने का बन लिया गया है। क्षर एवं मराना।

दिव्य की समझने के लिये उन सब शब्दों की सहायता की गई है, कि यह हिन्दी चाहित्य-चक्षुर में प्रस्तुति है; जिस में स्वरूप होता है कि यह ऐसा अनुवाद ही है - इसमें वह लेख नहीं आ सकता कि वे मूलमन्त्र में है। गीता के संस्कृत शब्दों के संस्कृती अनुवाद के दिव्य में स्वर्य महामा तिळक ने उपोक्तव्य (पृष्ठ ३ २) में यह किया है:- 'स्वरूप रहे कि अनुवाद आविस्त अनुवाद ही है। इसने अनुवाद में गीता के सरल, कुछ भी और प्रधान भार्या को से आने का प्रस्तुत किया है तभी परन्तु संस्कृत शब्दों में और विशेषतः भावान् भी फ्रेमपुरुष रहीं व्यापक और सब शब्द में नह रखति ऊपर फरनेवाली बाणी मै लकड़ा से अनेक व्यंग्यात्मक अपेक्षा फरने का ये समाधान है उसे बहा भी न पश्चाद कर दूसरे शब्दों में ज्यो का त्वयो फलका देना असम्भव है ! ठीक यही बात महामा तिळक के प्रन्य के हिन्दी अनुवाद के दिव्य में कही जा सकती है।

एक तो दिव्य वाचिक, दूसरे गम्भीर और तिसरे महामा तिळक की वह ओवर-लिफ्टी व्यापक एवं लिङ्ग माया की लिलके मर्म को ठीक ठैक समझ लेना थोरा लाभारण बात नहीं है। इन पूहरी तिहरी छठिनाइयों के प्रस्तुत यहि बास्तवरूपना वही कठिन हो गई हो हो या अप्पुद भी हो तो उसके लिये वहाँव पाठक मुझे लगा द्ये। प्रन्य के अनुवाद में जिन जिन छठिनाइयों से उम्मना फरना पाता है और अपनी लकड़काता का लाग कर परार्थीनवा के लिन जिन निवर्णों से कष्य लगा होता है इसका अनुवाद वे उत्तमभूतिधीक पाठक और लेखक ही कर सकते हैं कि जिन्होंने इष्य और क्षमी व्याप किया है।

रात्रभाष्य हिन्दी की "स बहु का अभिमान है कि वह महामा तिळक के यीता रहस्यसम्बन्धी लिचारो को अनुवादमें उस समय पाठ्यों का भेज कर सकती है जब कि और जिसी भी माया का अनुवाद प्रस्तुत नहीं हुआ - यथापि हो एक अनुवाद लेयार चे।" उच्चे आशा है कि हिन्दीप्रेषी अवध्य प्रस्तुत होगे।

अनुवाद का भीलेपेण तुम्हार्द १९१६ में हुआ था और दिसंभर में उसकी पूर्ति हुर। जनवरी १९१६ से छार्ड का आरम्भ हुआ थे जून सन १९१६ में समाप्त हो गया। इस प्रकार एक कर्य मैं यह प्रन्य देवकर हो पाता। यहि मिमांसार्दी ने मेरी पूर्ण सहायता न दी होती तो मैं इरने समय में इस काम को कमी पूरा न कर सकता। इनमें देव विष्णवाप्तपुरुष कुछ भीर भीतुर मौक्कियतावधी का नपा उल्लेख करने कोप्य है। कविकर का मैमिकीशण गुप्त ने कुछ महादी पर्वों का हिन्दी स्पार्कर करने में अच्छी सहायता दी है। इसमें देव मन्त्रवाद के भासी हैं। भीतुर एवं व्यंग्यसार पाण्डेय ने ये लकड़का दी है। यह भवर्नीय एवं अस्तुत प्रारूपों के बोप्य है। लेक जिन्हें मैं इसमिनीष्ट प्रति दो गुहाएँ मैं और प्रूफ का लंगोप्स करने में आपने मिलात कठिन परिभ्रम किया है। अपिक क्षया कहा जाय। कर औड कर महीनों तक

भास्तो इति वाम के लिये पूरे में रहना पड़ा है। इस सहायता और उपकार का बदल्या देवता भन्यवाद है ऐने से ही नहीं हो जाता। हाँय जानता है, कि मैं आपका किंवा कल्पी हूँ। हिं चि व के उंचाकू भीसुत् मालकर रामचन्द्र मालेश्वर ने सधा भीर मी अल्लेन मिठां ने समय समय पर यथाशक्ति सहायता की है। भरत इन सब महादेवों को मैं आन्तरिक भन्यवाद हैता हूँ।

एक बप से भृष्णि समय तक इस प्रन्थ के लाय मेरा भहोरात्र सहवास रहा है। पीते-जागते इसी प्रन्थ के विचारों की मतुर कल्पनाएँ नम्रा म शुस्ती रही हैं। इन विचारों से मुझे मानसिक तथा भाविक अपार स्थान दुआ है। भरत जगीश्वर से यही किस्य है, कि इस प्रन्थ के व्यवेकास्थे को इससे व्यभन्नित होने का मंगलमय आदीवाद दीक्षिये।

भौतमासी मट, रायपुर (सी. पी.)  
मंगलवार, देवघरपनी ११  
दिसंक्त १९०३ वि

— माधवराय संप्रे

## प्रस्तावना

सन्तों की उमिह उक्ति है मेरी बानी ।

जानू उत्सव मेड मठा चढ़ा चढ़ा मैं अहानी ॥ १ ॥

भीमद्वगद्वीता पर अनेक उक्त भाष्य, दीक्षाएँ तथा ऐसी मार्गाओं में सर्व मान्य निरुपण हैं। ऐसी अवधारणा में यह प्रत्यक्ष कर्त्ता प्रकाशित किया गया। यद्यपि इष्टका कारण भूम्य के आरम्भ में ही अत्यधिक दिया गया है तबापि कुछ बातें ऐसी रह गए हैं कि किसी भूम्य के प्रतिपाद्य किष्य के विवेचन में उल्लेख न हो सकता था। उन बातों को प्रझट करने के सिये प्रस्तावना को छोड़ और दूसरा स्थान नहीं है। इनमें लड़ से पहचान लेने वाले सब इवानार के किष्य में हैं। कोइ वैतालीत वर्ण दूष, जो हमारा मालाद्वीता से प्रभाव परिचय दुआया था। उन १८२ इसकी मैं हमारे पूर्व स्थितावी अन्तिम रोग से आदात्म हो गया पर पहे दूष थे। उस समय उन्ने मालाद्वीता की 'मायाविद्विति' नामक भूमारी गीता मुनाने का काम हमें किया था। उस अपार् अफनी भाषु के दोषात्मक वय में गीता का मार्गार्थ पृष्ठतया लम्फ में न आ सकता था। फिर मी छेदी अवधारणा में मन पर ये संसार होते हैं ऐ दूष हो जाते हैं। इस कारण उस समय मालाद्वीता के सम्बन्ध में ये चाह अपम्भ हो गई थी वह रिपर भी रही। उस उक्त और भगवती का अन्यास अधिक हो गया तब हमने गीता के सम्भूत भाष्य अन्यास्य दीक्षाएँ भी और मरानी तथा अंद्रवी में लिये दूष अनेक परिणाम के विवेचन समय समय पर पहे। परन्तु अब मन में एक शङ्का उत्पन्न हुआ भार वह निवारित रही ही गह। वह शङ्का यह है कि ये गीता उस भाषु का मुख म प्रदूष करने के किये कराना गई है कि जो भासने स्वस्त्रों के साप सुख करने का का भारी कुर्म लम्फ वर गिरप हो गया था उस गीता में लम्फगत तैया भवित ले माध्यमिकी की भित्र का - निरे माध्यमाग का - विवेचन क्या किया गया है। यह शङ्का असंभिय और मी दूष होती गई कि इसी भी दीक्षा में इन विषय का योग्य उत्तर नहीं न मिल। बात गलता है कि हमारी ही लम्फ भार लंगों का मी पही दूष हुए न होगी। परन्तु गीताभी पर ही निम्न रहने व दीरासाठी का किया हुआ उत्तर क्या पानररर न मी ई ल मी उत्तरा ई और दूनरा उत्तर दूसरा ही नहीं है। इसी विषय हमने गीता की लम्फ दीक्षाभा और भाष्य की अन्तर वर घर दिया और देख गीता क ही निरापूरक भनें पारायग किया। देखा करने पर गीतासाठी के पूर्व मे न भर यह उपर तो कि गीता निवारित नहीं है वह ही क्षम्पगत है। तर अन्त वह क्या है गीता म रहना यह गाय गाय ही क्षम्पगत के भय मे प्रसुत

हुआ है। महामरत, देशनरम्भ, उपनिषद् और ऐश्वर्याक्षिपयक अन्वान्य रस्तहृत विषय भवित्वी मात्रा के प्रत्यों के अध्ययन से भी यही मत हर होता गया और वार पौष सप्तम म नई विषयों पर स्थास्यपन इस अच्छा से थिये, कि सर्वेषांश्चरण मे इस विषय को क्षेत्र भेजे से अधिक व्याप्ति होगी एवं सत्य तत्त्व का निषय करने मैं और भी मुश्किल हो जायगी। इनमे से पहलम व्यास्यान नगरपुर मै क्षमतारी सन १९ २ मैं हुआ और दूसरए सन १९ ४ इसी के अगले महीने मैं क्षतीर एवं संकेतर मन के बाद युर भीश्वराचार्य की आश से उन्हीं की उपस्थिति म संकेतर मन मै हुमा था। उस समय नायुकुलाले व्यास्यान का विचार मी समाजपक्षों मैं प्रकाशित हुमा। इसके अतिरिक्त नई विचार से यह जब समय मिलता गया तब तब कुछ विशान् भिन्नों के साथ समय समय पर वार विवार मै लिया। इन्हीं भिन्नों मै लक्ष्मी भीषणि वाचा मिलारम्भ थे। इनके सहवास से मानवत सम्प्राणाय के कुछ प्राकृत प्रत्यक्षों मैं आये और गीताराज्य म बर्णित कुछ व्यर्ति सो आप के और हमारे वार विवार मै ही पहले निभित हो चुकी थी। यह क्षेत्र हुम्ल की बहत है कि आप इस प्रत्यक्ष को न देख पाय। अस्तु इस प्रकार यह मत निभित हो गया कि गीता का प्रतिपाद्य विषय प्राकृतिप्रबन्ध है और “सदोऽस्मि कर प्रत्यक्षम मै प्रकाशित करने का विचार निये मी अनेक वार चीज गय। कठभान समय मै पाये जानेवाले व्याप्त्या, टीकाओं और अनुकाठों मै जो गीताराज्य स्त्रीहृत नहीं हुआ है केवल उसे ही यहि पुस्तकपृष्ठ से प्रसाधित कर देते - और उनका कारण न क्षमता कि ग्रानीन टीकाकारों का निभित लिया हुआ समय हैं प्राप्त क्या नहीं है - तो वहुत समझ या कि खेग कुलन-कुछ समझने द्या जाने - उनकी ज्ञान हो जाता। और समस्त टीकाकारों के जीता का संप्रह वहके ऊकी संप्राप्त भव्यता लिया जाना एवं अन्य घटों तथा तत्त्वज्ञान के साथ गीताराज्य की तुलना ज्ञान का ऐसा गाचरण ज्ञान न या शीखनापूर्वक वर्णन ही ज्ञान। अनेक विषय हमारे मित्र भीकुन गग्निकाहृषि एवं और गग्निकाहृषि नामों ने कुछ पहले ही यह प्रकाशित कर लिया था कि हम गीता पर एक नवीन प्रत्यक्ष ही प्रकिञ्चित करनेवाले हैं; तथापि प्रत्यक्ष लियन का ज्ञान इस रूपसे दरखाता गया कि हमारे समीन जो सामनी है वह अभी ज्ञान है। उन चन १ इसी म संश्लेषे कर हम मण्डपे मै मेत्र यि तब इन प्रत्यक्ष किन्तु ज्ञन की आशा ज्ञान कुछ वा गद थी। किन्तु कुछ समय मै प्रत्यक्ष लियन के विषय आवश्यक पुस्तक भावि सामग्री पुने से मैंगा लिया की अनुमति उन तत्त्वार की मेरानी मै मित्र या तब जन १९१ -१२ के काल मै (संबद्ध १ ३० कार्तिक तिथि १९१८ के ज्येष्ठ शुक्ल १ के मीठार) “स प्रत्यक्ष की पाराकृष्णिमि (मलविता) मण्डपे के वर्णनमे मै पहले पहल लियी गा। और तिर उमयाकुलार उसे इन विचार भव्यता गय तैयार किये उसे उम्म काटजार होती गा। उन समय समप्र पुस्तके बहुत न होने के कारण के अन्यां मै भगवाना रह गा थी। यह भव्यता कहीं हो दुकान हो जान पर दूर हो जाए गा देः परस्तु भमी यह नहीं कहा जा सकता कि यह प्रत्यक्ष तत्त्वाय मै पूर्ण

हो गया। क्योंकि मोह और नीतिभूमि के ठाल गहन तो है ही। साथ ही इस समस्य में अनेक प्राचीन और अबाचीन पण्डितों ने उना विलूप्त विवेचन किया है कि अथ ऐसा जैव से कव फर यह निषय करना कर बार कठिन हो जाया है कि इस छोटे से प्रथम में किन किन बातों का समावेश किया जाये। परन्तु अब हमारी स्थिती क्यि की इस टिक्के अनुचार हो गा है -

सम्मेलन की विषय जब जावा वा 'जरा एवं में जाती है।

करणी दुई कुर रेखें से ऐह इसकी जाता है ॥ ५ ॥

और हमारे सांसारिक जापी मी पहले ही चष्ट करे ॥ ५ ॥ अतएव अब इत प्रथम का यह रामल कर प्रसिद्ध कर दिया है कि इमें थे थाँ मास्तु हो गा है और किन विचारों को हमने सोचा है, ते उन सेहों को मी जात हो जाएँ। फिर कोई 'समानस्थमा भी या फिर असम हो कर उन्ह पूछ कर ही देणा।

आरम्भ में ही यह कह देना आवश्यक है कि यद्यपि हमें यह मत मास्तु नहीं है कि सांसारिक कर्मों की गौण अध्या त्याज माल कर ब्रह्मद्वान और मृक्षि प्रसिद्धि निरे निष्पत्तिधान मोहमान का ही विषय गीता में है; तथापि हम यह नहीं कहते, कि मोहमानिमान का विवेचन मात्राद्वारा ये मै किञ्चुक है ही नहीं। हमने मी प्रथम में सद विलूप्त दिया है कि गीताराहस्य के अनुचार इत जल् में फ्रैंड मनुष्य का पहला कर्त्तव्य यही है कि यह परमेश्वर के ध्वन लक्षण का रूप प्रस फरके उनके हारा अपनी कुरियों की निमित्ती हो उने उनी निमित्त और परिवर्त कर दे। परन्तु यह दुष्ट गीता का मुख्य विषय नहीं है। मुद्र के आरम्भ में अनुचार 'ए कर्त्तव्यमोह मै देखा था कि मुद्र फरना शरिय का कर्म भले ही हो फरनु कुरुष्य आदि थोर पात्रक होने से थे मुद्र मोह-प्रसिद्ध आमलस्थान का नाश कर जासेगा, उन मुद्र को करना जाहिये अथवा नहीं अतएव हमारे यह भविष्यत है कि उस मोह को दूर करने के लिये मुद्र घेन्टु के आधार पर कर्म-अनुभव का और साथ ही साथ मोह के उपायों का मी पूष विवेचन कर इत प्रकार निष्पत्त दिया गया है कि एक ती कर्म कर्मी दृष्टि ही नहीं है और दूसरे उनी घेन्टा मी नहीं जाहिये। यह गीता मै उस मुक्ति का - जनमूल्क मुक्तिप्रधान कर्मयोग का - ही श्रियाद्वान दिया गया है कि विवरण करने पर मी कोई पाप नहीं करसका उपा अनु में उनी से मोह मी मिल जाया है। कर-मर्म के या चर्म-अनुभव के इत विवेचन को ही वरमालास्थानिन निरे आधिकारीक परिचित नीतिशास्त्र कहते हैं। धाराम्य पद्धति के भनुतार गीता के भोलों के कर से दीक्षा लिय कर मी यह दिग्दाया या उत्तमा या दि यह विवेचन गीता मै किन प्रकार दिया गया है। परन्तु घेन्टु, मीमांग्स लाल्क कर्मप्रियाक अध्या मृक्षि प्रसुति शास्त्रों के किन अनेक बारी

अपयक्ष प्रमेया के आधार पर गीता में कर्मयोग का प्रतिपादन किया गया है और किनका लक्षण कभी कभी बहुत ही अंकित रीति से पाया जाता है उन शास्त्रीय सिद्धान्तों का पहले से ही शब्द हुए किना गीता के किंवेन्त का पूर्ण रहस्य सहजा अन्यान् में नहीं अस्ता। उसी अिंद्रे गीता में जो जो विषय अपयक्ष लिङ्गान्त आये हैं उनके शास्त्रीय रीति से प्रकरणों में विमर्श करके प्रमुख प्रमुख अन्यान् अन्यान् में उनका पहले लक्षण में निरूपण किया गया है और फिर कठुआन युग की आद्येत्ता अपक पद्धति के अनुसार गीता के प्रमुख सिद्धान्तों की तुलना अन्यान् अन्यान् के और तत्त्वज्ञानों के साथ प्रमङ्गानुसार स्थेष म कर लिखाया गइ है। इस प्रमुख के पकाप में जो गीतारहस्य नामक निष्ठव्य है वह इसी रीति में कर्मयोग विषयक एक छेद्यस्त्रा किन्तु स्वतन्त्र प्रत्य ही कहा जा सकता है। यह ही इस प्रकार के चामान्य निरूपण में गीता के प्रत्येक स्थेष का पूर्ण विवार हो नहीं सकता था। अतएव अन्त म गीता के प्रत्येक स्थेष का अनुबाद हो दिया है और उसी क साथ अन्यान् स्वान पर यथेष्ट विषयिर्यों मी उचितिये जीह ती गा है कि किन्तु पूकापर समर्पि पाठ्यों की उमस म मर्यि भ्रोति आ अपय अपयक्ष पुराने दीकानारी ने अपन उपग्रह्य की विद्धि के लिये गीता के अन्यान् की जो गत्वातानी भी है उसे पाठ्य उमस वार्य (देखो गीता ३ १७-१ ६ १ और १८) या के किंडान्त सहज ही रहत हो जाय कि जो गीतारहस्य म अवश्यपे गये हैं। और यह भी जह हो जाय कि इनमें से कौन कौन-से किंडान्त गीता की सुनाइमक प्रकाशी के अनुबाद कहीं कहीं किन्तु प्रकार आये हैं। उसम उन्नेह नहीं कि ऐसा करने से कुछ विवरण की दिःपूर्ण अवश्य हो गए हैं। परन्तु गीतारहस्य का किंवेन्त गीता के अनुबाद से एक इसमिय रखना पड़ा है कि गीतारहस्य के तात्पर्य के लिये में साधारण पाठ्या म जो अम पार गया है वह अम अन्य रीति से पूण्यतया दूर नहीं हो सकता था। इस पद्धति से पूर्ण इतिहास और आधारसहित यह उपलब्ध हो गद है कि वेदान्त मीमांसा और भक्ति प्रधान गीता के किंडान्त मारत साम्यशास्य, वेदान्तमुग उपनिषद् और मीमांसा भारि मूर्ख प्रस्त्वा मैं कैहे और कहीं आये हैं। इनमें लाल्हाया यह अवश्यना सुन्न हो गया है कि सन्यासमाग और कर्मयोगमाग में ज्ञा भेद है। तथा अन्यान् अपमां भी तुल्यज्ञानों के लाय गीता की तुलना करके अप्यवाहारिक अवाहित से गीता के महात्म का योग्य निष्पत्त करना तरुत हो यमा है। परि गीता पर अनेक प्रकार भी दीकारें न लियी गा होनी भार अनेकों ने अनेक प्रकार से गीता क लाल्हायाओं का प्रतिवादन न दिया होता तो हमें भवने प्रत्य के किंडान्त के लिये पाठ्य भी और आधारन्त सूक्त अवश्य इन्होंनो के अवश्यन अपन त्यन दर देने की कार्य आवश्यकता ही न थी। किन्तु यह अन्य दूरा ह लगा क मन मैं पढ़ रहा हो ग तकी थी कि हमन ग गीताप अपयक्ष किंडान्त अवश्य दर्शन कर दीक है या नहीं। उसी अिंद्र दूर्मो लक्ष्य रथ्यनिये कर लाग दिया है कि हमारे कफन मी १२०

के किये प्रमाण क्या है। और मुख्य स्वानों पर हो मूल सकृद वचनों के ही अनुकालित उद्घृत कर किया है "सके व्यतिरिक्त सकृद वचनों का उद्घृत करने का और मी प्रयोगन है। वह यह, कि इनमें से अनेक वचन वेदान्तप्रथों में साचारण तथा प्रमाणार्थ किय गये हैं। अतः पाठों को यहाँ उनका सहज ही ज्ञान हो जायगा और "ससे पाठक उन विद्वान्तों को भी मर्म भौति समझ सकेंगे। किन्तु यह कल सम्भव है कि सभी पाठक सकृद हों। इसकिये समलैट प्रथा की रक्खा इह दृढ़ से भी गई है कि वहि सकृद न बननेवासे पाठक - सकृद अभ्यर्थों को छोड़ कर - केवल माया ही पासे जौंके जायें सो भर्त्य में कही गढ़वाह न हो। "स कारण संसकृद न्योनो का शुद्ध अनुकाल न किय कर अनेक भूम्यों पर उनका केवल सारांश दे कर ही निर्वाह कर भेजा जाए है। किन्तु मत्त स्पेक सैव ऊपर रखा जाया है। "स कारण "स प्राप्ती से भ्रम होने की कुछ भी आशंका नहीं है।

कहा जाता है कि दोनों हीय अब मारत्थप से विद्यायत को पर्वुचावा गया तथा उसमें नये पहल मान्यों के किये वह पिर रखी गया और नीति ज्ञाने पर वह क्षीर मी उपकृती हो गया। हीरों के किये उपसुक्ष होनेवाल्य वह स्याय उत्पन्नी रहें कि किये मी प्रमुख हो जाया है। गीता का अर्थ एवं अर्थ और अमर्य है रही; परन्तु वह किय समय और निम्न स्थलप में अवस्थया गया था उस देश काल भावि परिणिति में अप बहुत अन्तर हो गया है। "स कारण अप उल्ला तेव पहले की भौति विकृतों ही की दृष्टि में नहीं समाजा है। किमी क्षम की जाता कुरा मान्यों के पहले, किम समय वह मानान्य प्रभ ती मरण का समक्षा जाता था कि क्षम करना चाहिये अपया न करना चाहिये नस समय गीता उनका गर्व है। "स कारण उनका कुछ सा अप अप कुछ लागा की अनावश्यक प्रतीत होता है। और, उन पर मी निरूपिमार्गीय दीक्षावारा की शीता गीता ने तो शीता के विभिन्नों के विवेक को आवश्य कुत्रितों के किय दुर्वेष वर दाया है। "सके अनिरिक्त कुछ नये किम्बनों की यह उमस हो गई कि भवाचीन वास में भावितीतिक इन की परिमी तेजा में तेजी कुछ जाता हुआ है उन जाति के कारण अप्यावश्यकत्व के आधार पर किये गये ग्राचीन अमयाग के विस्तृत उनमान वास के किये पृष्ठावाया उपरुद नहीं हो सकत; किन्तु यह उमस ठीक नहीं। इन उमस की वास गिरावन के किये गये ग्राचीन अमयाग के विस्तृत उनमान वास के किये पृष्ठावाया उपरुद नहीं हो सकत; किन्तु यह उमस ठीक नहीं। व उन गीता का अप अपम विवेक इन कुम्भों में कुछ अधिक मुद्र नहीं हो जाता तथापि ग्राचीन वास में भावितीतिक उमस की अभुतात् तुक्ति से किमी दृष्टि में अपांतिप लगा गया है अपया किंतु भावश्य की एवं गीता के ग्राचीन के कारण भ भ अपत ग्राचीन न ही नीतिगाय का किपार करने की आशा पर गए हैं उ इस उन्नाना ने दूरा ना रह जा इस जायगा कि मात्र म और नीति दोनों किये तिर्त्यार उन के पर हैं भी व यह मी जान जाऊंगा कि इसी में

ग्रामीन काल में हमारे शासकों ने इस विषय में ये चिन्हान्त स्पष्ट किये हैं, उनके अन्ते मानवी अम भी गति भव तक नहीं पहुँच पाई है। यही नहीं किन्तु परिवर्मी देशों में भी अन्यामाहादि से इन प्रभावों का किनार अभी तक हो रहा है, जब आध्यात्मिक प्रश्नकारों के विचार गीतागाम के चिन्हान्तों से पुछ अधिक मिल नहीं है। गीतागाम के मिल मिल प्रश्नरणों में ये तुस्मान्तक विवेक है उससे यह क्षति स्थग हो जायगी। फल्जु यह निषय अन्यतु व्यापक है इस कारण परिवर्मी परिवर्ता के मर्ती का ये सारांश विभिन्न त्यक्ति पर हमने दिया है नसदे सम्बन्ध में यहाँ इतना क्षति भेदा आवश्यक है कि गीतागाम को प्रतिपादन करना ही हमारा मुख्य काम है। भवतिपृष्ठ गीता के मिदान्तों को प्रमाण मान कर परिवर्मी मर्ती का दखेग हमने केवल यही चिन्हान्त के लिये किया है कि जन चिन्हान्ता से परिवर्मी नीतिशास्त्री अथवा परिवर्ती के चिन्हान्ता का कहाँ तक मेल है। और यह काम हमने इस दैर्घ्य से किया है कि चिन्हान्त मामान्य मरानी पाएँगी की उनका अप उमान्ते म कार बिनान न हो। अब यह निमित्तात् है कि जन गतों के बीच भी मूल में है — और वे हैं मैं कृतु — अथवा इन चिन्हान्तों का पूज उत्तराध्ययन या विनाश है उन चन्तों के लिये मूल परिवर्मी ग्रन्थ ही उपलब्ध चाहिये। परिवर्मी विनाश कहते हैं कि इस अनुप्रविष्टक अथवा नीतिशास्त्र पर निष्पमद् फल सद से पहले मूलनी तत्त्वकेन्द्र अरिस्टायस ने किया है। परन्तु हमारा मत है कि अरिस्टायस भी पहले उसके फल की ओरेशा अधिक व्यापक और उत्तिष्ठ इष्टि से गीता में चिन्ह नीतिशास्त्र का प्रतिपादन किया गया है उससे चिन्ह को नीतिशास्त्र अप तक नहीं लिया गया है। सन्धारियों के उमान रह कर तत्त्वरूप के विचार में शान्ति से आयु लिया। अच्छा है भवता भवते प्रसार की राजीव उपलब्ध पुरुष। करना मूल है — इस विषय का ये तुम्हारा अरिस्टायस ने किया है वह गीता में है और लातेशीद के यस मूल का भी गीता म एक प्रसार से उमानेह इस गया है कि मूल्य बुड़ पाप करता है वह अभ्यन से ही करता है। क्योंकि गीता का ये यही चिन्हान्त है कि ब्रह्मल से बुद्धि लम हो जाने पर फिर मूल्य से बोर मौ पाप हा नहीं उक्ता। एविस्मृतियन और स्वेच्छ पापों के यूननी परिवर्ती का यह क्षम मैं गीता को ग्राह है कि इस भवत्या में पहुँचे एवं हानी पुरुष का व्याहार ही नीतिशास्त्र तत्र के लिय आध्यय के उमान प्रमाण है और इन पर्याप्तान ने फरम इनी पुरुष का न करन किया है वह गीता के विषयक भवत्याकाल बान क समान है। चिन्ह रेखन्तर भीर कार प्रकृति भवि नीतिशास्त्री का वर्णन है कि नीति की परापरग्न भवता क्षीरी पहरी है कि प्रत्येक मूल्य की तरी मानवशानि के विषय ग्रन्ति बना बहिय। गीता में इर्दिंत चिन्ह प्राप्त तदनुतिते रहा। इन दृष्टि द्वारा मैं उक्त इमीरी की कमान ही गया है। कार भीर शीन का “नीतिशास्त्री उत्तरति” यह तथा इष्टायस्त्राकारक्षमसभी चिन्हान्त भी उत्तिष्ठय व उन क भावर पर रौल मैं भा द्या है। इसी क भा

यहि गीता में और कुछ भिक्षुका न होती तो वह सद्बन्धन्य हो गयी होती। परन्तु गीता उन्हें कल्पन नहीं कुर्दः प्रमुख उन्हें यह विश्वास्या है कि भोग, मरण और नीतिकर्म के बीच अभिन्नेतिक प्रश्नवर्ती को किस विरोध का आमने होता है, वह विरोध सका नहीं है। एवं यह मी विश्वास्या है कि उन और कर्म में संस्याच-मार्गियों की समझ में जो विरोध आदि भावा है वह मी दीर्घ नहीं है। उन्हें यह विश्वास्या है कि ब्रह्मनिया का और मरण का जो मूल्यात्मा है वही नीति का और सत्त्वमें का मी आधार है। परं इस बात का मी निष्पम्य कर दिया है, कि उन सम्याच-कर्म और मरण के समुचित भेद से इस स्थान में आमु विठ्ठले के किंवद्दन भास्त्र को मनुष्य स्वीकृत हो। इस प्रकार गीतारहस्य प्रश्नवर्ती से क्षमयोग का है और न्सीक्षिये ब्रह्म-विद्यान्वर्गत (कर्म) योगशास्त्र' इस नाम से समस्त ऐक्षिक ग्रन्थों में उत्ते व्याप्त्यान प्राप्त हो गया है। गीता के विषय में यहा चर्चा है कि गीता सुगीता कर्मया विस्तृये शास्त्रकिदृष्टे। — एक गीता का ही पूर्ण पूर्ण अध्ययन कर लेना कठ है। योग शास्त्रोंके नेत्रे फैलव से क्षय करना है। यह बद दुष्कृद्ध नहीं है। भवतपव जिन स्तरों को विनुकर्म और नीतिभास्य के मूल्यात्मों से परिचय कर लेता हो उन स्त्रेष्ठों से इम विश्वास्य किन्तु आपाहपूर्वक छारते हैं कि उन से पहले आप इस अपूर्व ग्रन्थ का अध्ययन कीविद्ये। इसका कारण यह है कि सर भक्त-सुष्ठुपि का और सेत्तेन्द्रिय का विचार छलेवाप्ते न्याय मीमांसा उपनिषद् और वेदान्त आदि प्राचीन शास्त्र उपर सम्बद्ध किए हो उत्तरे वे उन्हें पूर्ण अक्षया मै आ तुके वे और न्स्तके जाव मीता मै ही ऐक्षिक वर्म को उन्मूल्य मुहिप्रश्नान पूर्व कर्मवेत्तव्यक्षिप्तक अनितम स्वरूप प्राप्त कुण्डा; तथा कर्मान काल मै प्रक्षिप्त ऐक्षिक वर्म का मूरू ही। गीता मै प्रतिपादित होने के कारण इस कह उत्तरे है कि स्त्रेष्ठों मै किन्तु निस्तुनिक्ष रीति से कर्मान्कास्त्रीन हिन्दुकर्म उत्तो को उमत भेदेष्वाम योगा की जोड का वृक्षरा ग्रन्थ सकृद दाहित मै है ही नहीं।

व्यक्तिगत वरचय से पाठ्य सामान्यवाद समस्त स्त्रैये, कि गीतारहस्य के विवेकन का नैति क्षय देंग है। गीता पर जो शाप्तुरम्याप्य है उनके तीसरे अन्याय के भारतम मै पुण्यकृत दीक्षार्थी के अभिग्राहों का द्वौल है। इस खुलेय से लात होता है कि गीता कर पहले कर्मयोगप्रश्नान दीक्षार्थी रही होगी। किन्तु "स यमव चे दीक्षार्थे उपचार्य नहीं हैं। भठुपव यह उन्हें मै कार्य कर्ति नहीं कि गीता का कर्मयोगप्रश्नान और कुमान्यव यह पहला ही विवेक है। इहमै दुष्कृद्ध स्तरों के अवं उन अर्थों से गिरते हैं कि जो आकृत वी दीक्षार्थी मै पाये जाते हैं। एवं ऐसे अनेक विश्व मी कल्पये यदे हैं कि जो अकृत वी प्राहृत दीक्षार्थी मै विचारसुहित रही मी नहीं ये। इन विश्वों जो और उनकी उपचारियों को यद्यपि इसमै उल्लेख मै ही कर्त्तव्य है उपराय यद्य-प्रश्न तुम्हारा और मुगेष रीति से कल्पने के उल्लेख मै हमने को" कात उठा नहीं रखी है। देखा उन्हें मै यश्वरि कर्म की विद्यक हो यार्द है जो मी इसमै उत्तीर्णी कार्य कर्त्तव्य नहीं ही। और किन शब्दों के अर्थ अव उक्त मृत्या मै प्रक्षिप्त नहीं हो पाये हैं उनके

पर्याप्त हम उनके साथ-ही-साथ अनेक स्थिरों पर हो जाये हैं। इनके अविविक इह विषय के मुख्य लिदान्त सारोदृश्य है सामन रखन पर, उपपाठ्न से शुष्क शुष्क कर रखना चाहौद बिल्ल है भार इह विषय की मात्रा मी अभी लिप्त नहीं हो पाए हैं। भरत इम बाजते हैं कि इस से टक्कीला है, अपका अन्याय अपर्णों से हमारे इह नवे टेंग के विभेदन में कठिनारु तुरोधता, भूपूषता और अन्य कोई दोष रह गये होते हैं। परन्तु मासार्थीता पाठ्न्य से भवितव्यित नहीं है – वह हिन्दुओं के स्थिरे प्रकृत्य नर बलु नहीं है कि किसे उन्हें कभी देखी मूरी न हो। ऐसे बाहुदरे लोग हैं जो विषय नियम से मासार्थीता का पाठ लिया करते हैं और पेते पुराय मी थोड़े नहीं हैं, कि जिन्हें इह व्याख्यानीय दृष्टिकोण से अपका बोर्ड है अपका बोर्ड होगे। ऐसे अविकारी पुरायीं से हमारी एक प्रार्थना है कि वर उनके हाथ में यह प्रत्यक्ष पर्याप्त और वह उन्हें इह प्रसार के कुछ दोष लिय जाए, सो मैं इन्हा कर हमें उनकी शून्यता हो जाए। ऐसा होने से इम उनका विचार करें आर परि द्वितीय सत्त्वरज के प्राप्तित्व करने का अपसर आयेग तो उसमें यथायोग संशोधन कर दिया जाएगा। सम्मग्न है कुछ लोग उमर्हों कि हमाय व्याप्त विशेष सम्प्राप्त है और उन्हीं सम्प्राप्त व्यक्ति के स्थिरे हम गीता का एक प्रसार का विशेष भाष रहे हैं। इह लिये यहाँ इतना वह देखा भावसङ्कह है कि यह यीतारहस्य प्रत्यक्ष विसी मी व्यविविशेष अपका सम्प्राप्त के उत्तर से लिया नहीं गया है। हमारी बुद्धि के अनुकार गीता के मूल उत्तर कोइ का जो तात्पर भाष होना है वही हमने किया है। ऐसा तात्पर भर होने से – और भावसङ्कह संक्षेत्र का अनुवृत्त प्रसार हा जाने के बारज बाहुदर सम्प्राप्त उमर्हों कि भर्त उत्तर से या नहीं – यह इतन सुउ उप्राप्त व्यक्ति की गूच्छ भा जाने को वह गीता की है हमारी नहीं। भक्त ने ज्ञानान से बहा या कि मुझे हो-न्यार माग प्राप्त कर उपसन में म जालिये। निष्पत्ति-ह देखा एवं ही माग स्वानाहय कि जो भयस्तर हो ( गीता १ २ ५ १ )। इसमें प्रकार ही है कि गीता में विसीन विसी पक ही विशेष मत का प्रतिवाचन हमाय चाहिये। मूर्खीता का ही भाष करके निरप्रहुदि से हम रेखा है कि वह ही विशेष मत कीन-ना है। हमें पहले ही से क्षेत्र मत विवर करके गीता के भाष इतनिये गीतार्थी नहीं करनी है कि इह वहसे से ही लिखित किसे तुर मत से गीता का भाष नहीं लिया। नारोद गीता के शास्त्रिक रहस्य का – जिर पाहे वह रहस्य विनी भी उप्राप्त व्यक्ति का हो – गीतार्थी मैं प्रसार वर्त ज्ञानान् के ही वप्पानुकार वर्त ज्ञान वर्त वर्तने के लिये हम प्राप्त हो हैं। हमें भाग्य है कि इन उन्नपत्र की भव्यता ही विदि के लिये उत्तर गी गीता वार्षी वर्त है उसे हमर वेष्ट्यु भरे परम्परा वह भव्यता से रहे।

प्रस्तावना द्वितीयी भी गीता का या तात्पर विवाद है उमर्हों – और हमरे व्याप्तिकार गीता का ये रहस्य हे उमर्हों – भी वही बहला है। इन भाष के बाब

ग्रीष्मारहस्य में विश्वारप्यक चतुर्भये गये हैं। परन्तु गीता के तास्यमग्नध में यद्यपि इस प्रकार मतमें हुआ कर, तो मीं गीता के ये माणसुकां हुए हैं उनसे हम "ए प्रथ्य को लिखते समय अन्यान्य बातों में संबंध ही प्रश्नासुकार थोड़ीजुट लहान्यता मिलती है। पलुर्थ हम उन सभ्यों के सिद्धान्तों का हमने स्थान रथन पर छोड़न किया है। और तो क्या! यदि "न सन प्रन्तों वी सहायता न मिलती होती तो पह प्रथ्य स्तिता बाता या नहीं—"समै उन्नेह ही है। "सी से हमने प्रस्तावना के आरम्भ में ही सामुद्रकारण का यह वाक्य किया दिया है— उन्ता कि उचित उक्ति है मेरी कली।" उन सबवा एक-त्वा उपयोगी हनेवलम् अपात् निकास-अक्षमित ये ज्ञन है उल्का निरूपण करनेवाले गीता ऐसे प्रन्त से कालमें के अनुचार मनुष्य को नवीन नवीन सूर्ति प्राप्त हो तो "समै बोई आप्तव नहीं है; क्योंकि देहे व्यापक प्रन्त का तो यह भव ही यहता है। परन्तु इन ही से प्राचीन विद्वानों के दरिम्बम् मुख व्यव नहीं हो जाते कि ये उल्कों उप प्रन्त पर किये हैं। पक्षिमी परिषदा ने गीता के ये अनुकाड़ अन्येष्वी और अपन प्रश्नाति यूरोप की मानवीय म दिये हैं उनके द्विये भी यही न्याय उपयुक्त होता है। ये अनुकाड़ गीता की प्रायः प्राचीन टीकाओं के आधार से दिय जाते हैं। फिर मुख पक्षिमी परिषदों ने नवरूप रीति से गीता के अप परने का उन्नोग आरम्भ कर दिया है। परन्तु सबै (कम) योग का तम्भ अपवा ऐक्षिक चार्मिक सम्प्राप्ता का इतिहास गती जैति सम्भव न उन्होंके कारण या गहिरक परीक्षा पर ही इन्हीं दिवोप रथि रहने के कारण अपवा देहे ही और कुछ कारणों से इन पक्षिमी परिषदों के ये विवेक अक्षिकर अपूरण और कुछ कुछ स्थानों में ही सर्वथा भ्रामक और मूँह से मरे पड़े हैं। वहाँ पर पक्षिमी परिषदा के गीताविद्यम् प्रदीपों का विस्तृत विचार करने अवका उन्हीं बोंच करने की बों आवश्यकता नहीं है। उन्होंने ये प्रमुख प्रभ रूपस्थित किये हैं उनके एकत्र में इमारा तो जब्त्व है अ एस प्रन्त के परिपृष्ठ प्रकरण म है। जिन्हुं वहाँ गीताविद्यम् उन भनेष्वी लेना का का उपेक्ष कर आगे उन्हिं प्रतीत होता है कि ये "न दिनो इमारे इमारे म भाये हैं। पहला ऐप मि भुक्त का है मि तुक्त पिर्झारिक्त फन्द के हैं। उन्होंने अपने गीताविद्यम् प्रन्त मे दिय दिया है कि मात्राविता कर्मयोगप्रवर्तन है और वे अपने व्याक्षयानों मे मी "सी मत को प्रतिपादन दिया करते हैं। एक्षरा ऐप म्हात्र के मि एस राजाहृष्णन् का है। लेने विकार के रूप मैं अपेक्षिका के लाक्षण्याद्वय नीतिशास्त्र-तम्भवी वैगालिक मैं प्रकाशित हुआ है (कुद्द० १९१)। इसमें अपवाहनम् और नीठिपर्व इन गो दिवों के सम्बन्ध से गीता और काल की समवा लिख्याइ गद है। महारे मत से यह साम्य उसके नी कही भविक व्यापक है और काल की अपेक्षा यीन भी नैठिक उपवाचि गीता से कही भविक मिलती हुद्दी है। परन्तु इन दोनों प्रभों का कुरासा तत् इस प्रन्त मैं दिया ही गया है। तत् वहाँ उन्हीं को दुररोग भी

भावस्थकता नहीं है। इसी प्रमाण परिवर्त सेवानाय तत्त्वमूलक कठूलू हृष्ण भार गीता<sup>१</sup> नामक एक अन्त्रेवी मन्त्र भी इन दिनों प्रकाशित हुआ है। “अम उक परिवर्तनी के गीता पर दिये हुए वर्णन व्याख्यान हैं। किन्तु उक्त मन्त्रों के पाठ करने से भा॒ भी ज्ञान होगा कि सत्त्वमूलकत्वी के अधिकार मि॒ तुक्ष्य क प्रतिपादन म और इमारे प्रतिपादन म बहुत अन्तर है। फिर भी इन लेखों से ज्ञान होता है कि गीताविषयक इमारे विचार दुष्ट मन्त्र नहीं हैं। भार न्यु सुनिन्ह का भी ज्ञान होता है कि गीता के कमयान भी और लेखों का व्याज अद्वितीय आश्रित हो रहा है। अतपक यहाँ पर हम न उच्च आधुनिक लेखों का अभिज्ञन करते हैं।

यह मन्त्र मण्डले में दिला गया था पर लिखा गया था ऐसिस से भैरव काल्हों<sup>२</sup> के अतिरिक्त “अम और मी दिलने ही नये सुचार विषय मये ये।” इसलिये सरकार के यहाँ से न्युके लैर आमे पर त्रेत म देने के दिये दुष्ट कॉपी करने की आवश्यकता दुः। और यह जाम इमारे ही भ्राते पर द्वेष दिया जाता तो इसके प्रकाशित होने मैं न जाने और दिलना समय रुग्न गया होता। परन्तु भीमुख जामन ग्रेपान बोडी नारायण हृष्ण गोगटे रामहृष्ण दक्षायेप पराक्षर, रमहृष्ण सत्त्वाधिक पिपुलकर अप्यानी विष्णु कुछार्थी प्रभृति ज्ञाना ने इस काम मैं वृ॒ उच्छाह से उहायता थी। पहली नका उपकार मानना चाहिये। उच्ची प्रमाण भीमुख हृष्णानी प्रमाणर गणित्कर ने और दिलेपतया केशान्तरसम्पद हीजैसा कालीनायाधारी लेखे ने वृ॒ वृ॒ से यहाँ आकार प्रन्त्य की इस्त्विक्षित प्रति को पढ़ने का वृ॒ वृ॒ उदाया। एव अनेक उपमुख तथा मार्मिक सूक्ष्मार्थे थी दिनके दिये हम उन्हें छली हैं। फिर भी मरण रहे कि “सु प्रन्त्य मैं प्रतिपादित मर्त्ती वी विम्पशारी हमारी ही है।” उच्च प्रमाण प्रन्त्य अप्यन् योग्य तो हो गया। परन्तु मुद्र के काम कामड़ की भूमी हमेजारी थी। “सु कर्मी को वृ॒ वृ॒ के स्वत्रेष्टी कागड़ के पुलस्तीमर के मालिक देखत थीं। परमार्थी भीर सन ने हमारी इच्छा के अनुसार अच्छा कागड़ समय पर तैयार करें दूर कर दिया। इसके गीता प्रन्त्य को छापने के दिये अच्छा कागड़ मिल रहा। किन्तु प्रन्त्य अनुमान से अद्वित कह गया। इसके कामड़ की भूमी फिर पर्नी।” उच्च प्रन्त्य को पुने हैं देपर मिल के मालिकों ने यहि दूर न कर दिया होता तो भीर दुष्ट मार्हिना तक पाठ्यों को प्रन्त्य के प्रतापित हमें भी मर्हिना करनी पड़ती। अब उक्त दार्मों पुरुषीयर्थ के मालिकों ने केवल हम ही भीमुख पाठ्य की अन्यता है। अब अन्न में प्रक्ष-सूषोधन का काम रह गया दिले भीमुख रमहृष्ण दक्षायेप पराक्षर, रमहृष्ण सत्त्वाधिक पिपुलकर भीर भीमुख हरि रुक्मान अन्यता ने स्वीकार दिया। इसमें मी रुक्म रुक्म पर अन्यत्व प्रन्त्यों का गो दृष्ट्य दिया गया है। उनमो मूल प्रन्त्या ने टीक टीक गैंगने एव यति को वृ॒ वृ॒ रह गया है, तो उसे दिल्लक्षणे का काम भीमुख हरि रुक्मान अन्यता ने भक्त दी दिया है। निना इनकी उहायता के इस प्रन्त्य को “रुक्मी रुक्मा से प्रकाशित न कर पाते। भवत्य इस इन सब की इत्य से अन्यता नैन है। अब रही छापा” दिले दिवदण्डा

स्वप्नने के स्कल्पादिकारी ने साक्षानीरूपक हीमता से अप देना स्थीकार कर उनुसार इस नाम को पूण कर दिया। इस निमित्त अन्त में इनका भी उपहार मानना आवश्यक है। ऐसे में फलम हो जाने पर भी फलम से अन्तर्गत तैयार करने और माल बनाने के मुँह म पर्हुन्ने तक विष प्रकार अलोक लेगी की चहायता अपेक्षित रहती है। ऐसी ही एक अद्य ये प्रत्यक्षर की – कम से कम हमारी तो अवश्य – रिष्टि है। अतएव उक्त रीटि से जिन लोगों ने हमारी चहायता की – फिर जाहे उनके नाम यहाँ आये हैं अथवा न भी आये हैं – उनका ये पक्ष वार प्रत्यवाह है कर इस प्रकारका का समाप्त करते हैं।

प्रस्तावना समाप्त हो गा। अब विष विषय के विचार में बहुतेरे कई चीज़ गये हैं और किन्तु निम्न चाहास एवं विनष्ट से मन की समाधान हो वर अनन्त होता गया। वह विषय आख फल के रूप में हाथ से पृफ़्ल हीनेवाल है। यह उच्च वर मध्यमि तुरा लगता है। तथापि सन्तोष इच्छा ही है कि ये विचार – सभ गये तो व्याख्याति अन्यथा न्या केत्यों – अगरथी पीढ़ी के लोगों को ऐसे किम्बे ही हमें प्राप्त हुए थे। अतएव वैकिं घम के राम्भुज के इस पारस का कठोरनीपद के ‘उपेक्ष्यत ! चाहत ! प्राप्य वरदिवेषत !’ (कठ ३ १४) – उनों ! लगो ! और (मालान् के दिये हुए) इह वरदान का समाज से – इस मन से होनहार पाठ्य एवं ग्रेमोक्तारूपक सौपते हैं। प्रत्यक्ष मालान् का ही निष्पत्यपूर्वक यह आवाचन है कि इसी में कर्म-अकर्म का चाहा भीव है और क्या चाहिये ? सीटि के इस निवम पर व्याप्त है कर यी, जिना किम्बे तुरा होता नहीं है तुम्हारा निष्पत्यमुद्दिष्टे अर्पकर्ता होना चाहिये तब ये विष उच्च तुरा गया। निरी खार्यपरायनबुद्धि से यद्यपि चाहते चलते थे लोग हार कर ये गये हो उनका समय निवासे के किम्बे अथवा साधार एवं पुण ऐसे भी तैयारी के किम्बे गीता नहीं कही गई है। गीतारहस्य की प्राप्ति तो इसमें हुई है कि वह इसी किम्बे अवसरे कि गोभ्रादि से संवार के कर्म ही विष प्रकार किम्बे चाहे ! और तारिक इहि से ‘स जल का उपरोक्त वरे, कि संवार में मनुष्यमात्र का संवा कर्म्य क्या है !’ मरा हमारी इनी ही जिनी है कि पूर्व अवसरा में ही – कर्ता हुई उम्र में ही – प्रत्येक मनुष्य एक्स्याम्म के अपना संवार के इस प्राचीन शास्त्र की जिनी कर्ती ही सके उनी समझे जिना चाहे।

१२४

पूना, अधिक विशाल  
लक्ष १ ७२ वि

# गीतारहस्य की साधारण अनुक्रमणिका

---

मुफ्तरूप	१
सम्पर्क	२
गीतारहस्य के मिस्र भिस्र संस्करण	४
शै महापुस्तक का अभियास	६-८
अकाशक का निवेदन	८-९
अनुशासन की भूमिका	११-१३
मनाचना	१४-२६
गीतारहस्य की साधारण अनुक्रमणिका	२७
गीतारहस्य के प्रथेष्ट प्रकारण के विषयों की अनुक्रमणिका	२८-३७
संक्षिप्त चिन्हों का स्पोष इत्यादि	३८-४
गीतारहस्य अपका क्रमस्थान	४-१२
गीता की वहिरङ्गपरीक्षा	६१३-६९८
गीता के अनुवाड का उपोक्ताव ।	६ १-६ २
गीता के अध्यायों की सौम्यता: विषयानुक्रमणिका	६ ३-६९
भीमद्वारावर्तीता - मूळ प्रथेष्ट, अनुवाड और टिप्पणियों कोलों की सूची	६११-८७१
मन्त्रों व्याख्याओं तथा एकिनिःश्वों की सूची	८७२-८८७
हिन्दुप्रमाणों का परिचय	८८१-९
	९ १-९ २

**श्री ज्ञानार्थ विनवर्लद्र ज्ञान मन्डार  
साम भवत वीरा ग गा,  
जयपुर सिंह ( यजस्यान )**

श्रीमान् गोलाराम भाई दुर्लभजी द्वारा इनके  
मुख्य ररिमध्यन्त के शुभ उत्ताप पर भेट।

# गीतारहस्य के प्रत्येक प्रकरण के विषयों की अनुक्रमणिका

•••••

## पहला प्रकरण – विषयप्रदेश

भीमस्त्रगद्वीता की योग्यता – गीता के अव्यायपरिसमाप्तिकृत सङ्कार – गीता धर्म का अर्थ, धन्यान्त गीताभ्यों का वर्णन और उनकी पर्याय योगव्याधि भावि भी गौणता – प्रश्नप्रतीक्षा के मेत्र – समवद्वीता के आपुनिक बहिरङ्गपरीक्षक – महामारत प्रतीता का वदात्मया हुआ गीतारात्मय – प्रत्यानत्रयी और उस पर चाप्यायिक मात्रा – “नहे अनुष्ठार गीता का तात्त्वय – भीष्मद्वारापार्य – मनुष्यन – सत्कर्मासि – पैदाचर भाव्य – रामानुजधार्य – मञ्जुचाय – वृक्षमात्राय – निश्चक – भीष्मवासी – होनेश्वर – सत्र की साप्त्यायिक हृषि – साप्त्यायिक हृषि लोह कर प्रत्य का तात्त्वय निष्ठाने की रीति – साप्त्यायिक हृषि से उनकी उत्तेजा – गीता का उपनम और उपस्थित – परस्तरपिष्ठ नीतिष्ठानों का झगड़ा और उनम होनेश्वर क्षम्यप्रमोह – “सके निष्ठारात्राप गीता का उपर्योग”

१-२१

## दूसरा प्रकरण – कर्मजिह्वासा

कर्मव्यमूर्त्ता के दो अपेक्षी उत्तरण – “त हृषि से महामारत का महारथ – अहिंसाप्रय और उसके अपवाह – धमा और उसके अपवाह – हमारे धम्या का धम्य-दृष्टिगति – अपेक्षी नीतिष्ठान के किंवदन के साथ उनकी दृष्ट्या – हमारे जात्यार्थ की हृषि भी गीता और महारथ – प्रतिशयाकृत और उनकी मवादा – अमाय और उत्तरा अपवाह – मरणे से किन्तु रहना भेषज्ञ है” इसके अपवाह – आत्मधृता – मात्रा फिर युद्ध प्रयत्नि पृथ्यु पुरों के सम्बन्ध में कर्तव्य और उनके अपवाह – काम बोध और स्वेच्छ के निपाह का तात्त्वम् – ऐय भावि युरों के अक्षर और लेखकाल भावि मवादा – भाचार का तात्त्वम् – चर्म-अप्यम की नामदा भार गीता भी भवूका।

१-२३-६१

## तीसरा प्रकरण – कर्मयोगशास्त्र

कर्मजिह्वा का महारथ, गीता का प्रथम अव्याय भार कर्मयोगशास्त्र की आवश्यकता – कर्म धर्म के अथ का नियम – मीमांसकों का कर्मविद्याग – चेंग धर्म के अथ का निर्देश – गीता में पाय = कर्मयोग और कही प्रतिपाद्य है – कर्म भव्य के प्रयाप धर्म – धर्मस्त्रीय प्रतिपाद्य + तीन कथ (भाविमानित भाविर्भाविति)

और आध्यात्मिक) — इस पर्याप्ति का कारण — कोटि का मत — गीता के अनुसार आध्यात्मिकी की वेष्टा — अम शास्त्र के ने अथ पात्रस्थितिक और व्याख्यातिक — चारुर्बद्ध — भावि धर्म — काल् का शारण कहता है, “सीढ़िये अम — जोड़नाड़ाम धर्म — अम अपम का निषय करने के लिये साधारण निषम — ‘मग्नमो येत गत्वा स फला’ और उसके दोष — ‘अति सर्वत्र वर्णेत् और उसकी अपुणता — अधिरोध से अनिषय — कर्मयोगशास्त्र का काय।

पृ. २-३८

### चौथा प्रकरण — आधिकारिक सुखाधार

स्वरूप प्रकाश — धर्म अपर्म निर्णायक तत्त्व — आवाह का केवल स्वाप — हाम वा दूरदृशी स्वाप — स्वार्थनुद्दिके समान ही परात्मारुद्दिभी नैसर्गिक है। यात्माक्षम का भाग्यार्थ — स्वार्थ-पराप्त उभयवाद भव्यता उत्तम या उच्च स्वाप — उस पर भावेन — नित्य प्रसार और ऐन निर्मित करे, कि अभिकात्य छोरों का अधिक सुन्न स्या है? — अम की माफ्ता कठा की सुदि का महत्व — परीक्षार क्यों करना चाहिये? — मनुष्य कठि की पूर्ण अवस्था — भ्रेय और प्रेय — सुखदृश्य व्यी अनिष्टता और नीतिक्षम की निषिद्ध।

पृ. ३ - ८

### पाँचवां प्रकरण — सुखदृश्यविवर

मुन के लिये प्रयोग की प्रवृत्ति — सुखदृश्य के स्वरूप और मेड — मुन रक्तनद है या दुर्यामावस्था? उन्यासमान का मत — उसका गत्तन — गीता का विदानत — मुन और दुर्लभ, दो स्वतन्त्र भाव हैं — “ए लोक में प्राप्त हनेवासे सुखदृश्य विषय — उत्तर में मुन अधिक है या दुर्लभ? — परिमिती सुखाधिक्यवाद — मनुष्य के आवाहत्या न करने से ही सकार का सुखमयल विद्य नहीं होता — मुन की इस्त्री की अपार दृष्टि — दृष्टि की इस्त्री सुखोपयोग से तूफ नहीं होती — अत्यद्व उत्तर में मुन की अभिस्ता — इमरे शास्त्राधी का उद्युक्त विदानत — दौनेहर का मत — अत्यन्तोप का उपयोग — उसके दुष्परिणाम को हटाने का उपाय — सुखदृश्य के अनुभव की अस्तित्वता और पर्याप्ति का लक्षण — कलाश की त्यागने से ही दुष्परिणामरण होता है। अतः अन्यथा का निरोप — इन्द्रियनिषेध की मधात्र — कल्योग की अनुशूली — शारीरिक अपार आधिकारिक मुन का पशुपत्मन्त्र — आत्मप्रणाड़ भव्यता आध्यात्मिक मुन की भेद्या और निषिद्ध — इन दोनों मुनों की प्राप्ति ही कल्योग की दृष्टि से परम साध्य है — दिस्योपयोग मुन अनिष्ट है और परम व्येय होने के लिये अदोष्य है — आधिर्मनिः पुण्यवाद की अपूर्यता।

पृ. ४ - ९

### छठवां प्रकरण — आधिकारिकपत्र और क्षप्रक्षेपक्षविचार

परिमिती सुखमित्रिकोकारापत्र — उर्धी के लमान मनाडेवा के सम्बन्ध है इमर मन्त्रों के वचन — आधिकारिकपत्र पर आधिमैत्रिकपत्र का अभेद — नाश और अम्यान

मैं कार्य अकाय का निर्णय थीम हो जाता है – सरायदिकेल दुःख निरुची थकि नहीं है – अव्याप्तस्वरूप के आवेदन – मनुष्यदेहस्मी वदा कारताना – क्षेत्रिक्यों और झनेश्वियों में व्यापार – मन और दुर्दि के पृष्ठ पृष्ठ कम – व्यक्तिगत्यामनक और वासनामन दुर्दि का में दर्ता सम्बन्ध – व्यक्तिगत्यामन दुर्दि एक ही है परन्तु सत्त्विक आदि भेदों के दीन प्रकार भी है – सरायदिकेल इसी में है पृष्ठ नहीं है – खेळदेहझकिचार का और घर-आसर-किचार का साथ एवं क्षम्योग से सम्बन्ध – खेल शाह का व्यर्थ – खेल का अपात भास्त्रा का अभिन्न – भर-भसर किचार की प्रसादना। ५१४-१४९

सातवें प्रकरण – कापिलसौभग्यशाली अयोध्या नारायणदिवार

हर और असर किवार करनेवाले शास्त्र – काणांगे का प्रमाणुका – कापिल-  
सास्त्र शृङ् ग का अप – कामिन्द्रासंप्रविष्ट्यक्त प्रथ्य – तत्कायवात् – असू का मूलदर्श  
अधिका प्रहृष्टि एक ही है – शब्द रख और तम उक्तके तीन गुण हैं – मिश्रण की  
साम्यावस्था और पारस्पारिक रणों इमांडे से नाना परायें की उत्पत्ति – प्रहृष्टि अव्यक्त  
अव्यक्तित्व एक ही और अव्यक्त है – अव्यक्त से व्यक्त प्रहृष्टि से ही मन और कुर्दि  
की उत्पत्ति – साम्यावस्थ को हेतुज्ञ का बनावृत और प्रहृष्टि से आत्मा की उत्पत्ति  
स्वीकृत नहीं – प्रहृष्टि और पुरुष गो स्वतन्त्र रूप हैं – इनमें पुरुष अकर्ता मिश्रण  
और उत्तरीन है – तारा क्षम्भ प्रहृष्टि का है – देना के सदोग से सृष्टि का निर्वाचर –  
प्रहृष्टि और पुरुष के मेड का पहचान ऐसे से वैद्यत्व की अवाहन मालू की शासि –  
मोद किम्भा होता है ! प्रहृष्टि का या पुरुष का ! – सास्त्रा के असूस्त्र पुरुष और  
केगनित्यों का एक पुरुष – मिश्रणतीव अवस्था – उस्त्रीयों के और तन्त्राद्य यीता के  
प्रियास्त्री के मेड ।

आठवीं प्रकारण – विष्व की रचना और संहार

प्रहृति का विस्तार - हान विकल का स्वरूप - मिद्र मिस सूखफयलिम और उनकी भनिम एकवाक्यता - आबुमिस अकानितिवाइ का स्वरूप और तास्त के गुणोंमध्ये ताथ म उनकी समाना - गुणोंकर्त्ता का अपवा गुणपरिणामवाइ का निकला - प्रहृति से प्रथम स्वदशाया माझ कुद्दि की और पिर अहङ्कार की उपति - उन्हें विपात भनन्त में - अहङ्कार से पिर ऐन्ट्रियमध्ये के मनस्तित स्वस्त तत्त्वों की और निरनिमित्यमध्ये के तुम्हारकी पौंच तत्त्वों की उपति - इस बात का निष्पण कि तन्मालाएँ पौंच ही बना है ? और नू-ऐन्ट्रिकी व्यापर ही क्यों ? - सूमधुरि ते रूप रिहेप - पश्चित तत्त्वों का द्वयाग्रहण - अनुमीता का वास्तव और गीता का भक्त्यात्म - पश्चित तत्त्वों का वर्गीकरण वरन वी नामवा की तथा वेगानितिपा की मिथ मिद्र रीति - उनका नम्मा - वेगान्तराम्भों में वर्धित लूप पवस्ताभूता की उपति का कम और पिर पश्चीकरण से नोर रूप वगाप - उननियतों के विवरण से उनकी तुम्हा - तमीं तृष्णि और

लिङ्गरी - केंद्रत में बर्णित लिङ्गरी का और साम्यशास्त्र में बर्णित लिङ्गरी का मेर - दुड़ि के भाष्य और केंद्रत का रूप - प्रथम - उत्तरति - प्रत्ययशम - असमुक्तास्त्र - व्राया का निरात और उसकी सारी आयु - दृष्टि की उत्तरति के अन्य रूप से परिचय भी सह पढ़ता।

१ ३३ - १९६

### मार्वां प्रकरण - अन्यात्म

प्रहरि और पुरुष रूप ऐत पर आदेष - देवी से परे एकेवाल का दिक्षार करने की प्रक्रिया - ऐना से परे का एक ही परमात्मा भगवा परमपुरुष - प्रहरि (गण) पुरुष (जीव) और परमेश्वर यह जीवी - गीवा में बर्णित परमेश्वर का अवृप - एक भगवा समुण रूप और उसकी घैरुसा - अध्यम निन्दु मापा से ईमानाश - अध्यक्ष के ही दीन में (समुण निरुण और समुणनिरुण) - अनिर्णीते दक्षिणां दण्ड - उपनिषदों में उपस्थिता के क्रिय फलाइ हुए प्रियां और प्रीति - प्रियं अध्यक्ष रूप में निरुण ही भेद है (४.२) - उच्च निरुद्धान्ता की द्वार्तीय उपरति - निरुण और समुण के गहन अप - अमृतरूप की स्वभवतिष्ठ वस्त्राना - सूक्ष्मान देखे आर किम्बा हस्ता है । गनविद्या का दण्ड और नामस्त्र की व्याख्या - नामस्त्र का दृष्य और बन्धुत्व - सन्य की व्याख्या - निराणी हस्त से नामस्त्र भक्त्य है और नियं हस्ते से बन्धुत्व सन्य है - बन्धुत्व ही भग्नजप है और नामस्त्र माया है - सन्य और मित्या दण्डों का देवानायात्रानुवार अप - भावि देवीर दण्डों की नामस्त्रामठना (४.२२३) - निराणां देवान का पाय नहीं - भयाकांड की प्राचीनता - नामस्त्र से आप्यात्मिन नियं हस्त का भार घारीर ना मा प्य स्वरूप एक ही ह - दण्डों का प्रियं क्षणों कहत है । - व्रायान्वित्य पाली पद इन दि ये विद्या में ह वही प्रदान्त महे है - प्रदान्त में जन की मृत्यु दुरीयांभ्या भगवा निर्दिष्ट गमापि - अमृतनीमा और मरण का मरण (२.३) - देवता की उपरति - दीक्षा और उपनिषद् ज्ञा भौति देवान का ही प्रीतिग्रन्थ वरत है - निरुण में समुण काया की उपरति केवी होती है ? - निराणां भार गुणरित्यं एव - दण्ड जीव भार परमेश्वरित्यह भयाकांड का निर्म निरुद्धा (५८) - अप का बन्धुत्व - अ जनत नीर अन्य हस्तनिर्देव - ईर परमेश्वर का भग्न है ! - परमेश्वर विद्या से भगवान्ति है (२.४४) - भया नाम्य एव भव्यन्य निराण - ११ न्या में वी एव बन्धुत्तिः - देवान्य मेर निराणया एव दण्ड (१०) - एव देवनीय दूर का दूर विद्या - दूरान् प्रदृष्टि वी नहीं ।

१ ३४

### इन्द्रों प्रकरण - क्रमपिपाल आर आन्मस्यात्म्य

स्वामी मरुदण्ड - दैत के वार्ष २५२४ वर्ष दण्ड - १३२४ - १३२५ - १३२६ - दण्ड की मापा का दर्शनीय दृष्टि - दृष्टि की मापा की प्रदृष्टि - १३२७

में एक ही है — दृष्टिपि हान के समान यहि निश्च नहीं हो सकती — यहि करने के क्रिये प्रहृष्ट किया हुआ परमेश्वर का प्रेमभाव्य और प्रन्थय रूप — प्रतीक शब्द का अथ — राधिका और राध्युद्ध उभों के अथ — गीता का प्रमाणस (पृ. ४२१) — परमेश्वर की अनेक विभूतियों में से कोन मी प्रतीक हो सकती है — ब्रह्मेश्वर के अनेक प्रतीक और उक्से होमेश्वर का अन्यथ — उस द्वाज का उपाय — प्रतीक और उत्सवप्रधी मालका मैं मैं — प्रतीक कुछ भी हो मालका के अनुवार वह मिलता है — किमिष्ठ देखताआ भी उपासनाएँ — “उमे मी पञ्चता एक ही परमेश्वर है देखता नहीं — विही भी देखता नो मध्ये कह परमेश्वर का ही अविभिन्नव भजन होता है — “स हाइ से गीता के मध्यि माग भी भेड़ता — भद्रा और भ्रेम भी शुण्डा-भण्डारा — इमया उत्तेज करने से मुकार और अनेक उल्लों के पवार तिद — निरु न भद्रा है न बुद्धि पह इष्ट — बुद्धि से और यहि से अन्त में एक ही भौत वस्त्रान होता है (पृ. ४१२) — कर्मविपाकविद्या के और अन्यात्म के सब उद्दान्त भक्तिमार्ग में भी स्फर रहते हैं — उगाइरथार्थ गीता के अद्व और परमेश्वर का स्वरूप — दृष्टिपि इस उद्दान्त में कभी कभी शुद्धमें ही आता है — कर्म ही अब परमेश्वर हो गया — ब्रह्मार्थ और इत्यार्थ — परन्तु अर्थ का अन्यथ होता हो तो शम्भवे भी नहीं किया जाता — गीताभर्म में प्रतिपादित भद्रा भौत हान वा मेष — भक्तिमार्ग में उम्यासर्म भी अपेक्षा नहीं है — यहि का और कर्म का विरोध नहीं है — मालकद्रक और उल्लक्षण — स्कर्म से ही मालान का यज्ञ एकन — शम्भवाग विवरण के क्रिये है तो भक्तिमार्ग भी शुद्ध भावि सब के क्रिये शुद्ध हुआ है — अनुकाळ में भी अन्यात्म से उत्तरापद्ध होने पर मुक्ति — अन्य सब भर्मों भी अपेक्षा गीता के भर्म भी भेड़ता ।

पृ. ४ ८-४२१

### चौथीं प्रकारण — गीताभ्याससंक्षिप्ति

विषयविपादन भी गो रीतियों — शास्त्रीय और उत्तराश्रमक — सबसामन्त पद्धति के गुणदेव — गीता का आरम्भ — प्रथमाभ्यास — द्वितीय अभ्यास में “धार्यम और ‘योग’ इन गो मासों से ही आरम्भ — तीसरे चारे और पाँचवे अभ्यास में कर्मयोग का विवेचन — कर्म भी अपेक्षा ताम्यशुद्धि भी भेड़ता — कर्म छूट नहीं सकते — साम्यनिष्ठा भी अपेक्षा कर्मयोग अद्यतर है — ताम्यशुद्धि हो पाने के क्रिय इन्द्रिय निष्ठा भी अत्यन्तव्याप्ता — छठे अध्यात्म में बर्णित “विषयनिष्ठा वा ताम्भ — कर्म, कर्मिण और उन इस प्रकार गीता के तीन स्तरन्तर विभाग करना उन्नित नहीं है — उन और मध्यि कर्मयोग भी ताम्यशुद्धि के ताम्भ हैं — अतुरपि त्वम् कर अति इस प्रकार यत्प्रायी नहीं होती — ताम्भ अभ्यास से ऐतर बाह्य अभ्यास तक उन विज्ञान वा विवेचन कर्मयोग भी गिरिके त्वम्ये ही हैं । वह लक्ष्म नहीं है — सातवें से ऐतर अनित्यम अभ्यास तक का उपाय — इन अभ्यासों में भी यहि और उन पृष्ठ शुद्ध वर्णित नहीं है परत्वर एक वृत्ते से गृहि हुए हैं उनका शानविहान शही

एक नाम है – देरह से ऐसे उपर सभृत्ये अप्याय तक का सारांश – भद्रराहवे का उप-  
संहर क्षमयाम्प्राचान ही है – अतः उपर्युक्त भावि मीमांसकों भी हाइ से  
गीता में क्षमयोग ही प्रतिपाद्य निर्मित होता है – चतुर्विध पुरुषाय – एम और बाम  
भमाल्कुल होना चाहिये – किन्तु मीमांसा का और ज्ञान का निरोप नहीं है – गीता का  
सन्यास्प्राचान अथ क्षमयोग निया गया है ! – कौश्य + निष्पासनमें = क्षमयोग –  
गीता में क्या नहीं है ? – तथापि अन्त में क्षमयोग ही प्रतिपाद्य है – सन्यासमात्राओं  
से प्राप्तना ।

पृ. ४४५-४४६

### पञ्चहर्षों प्रकरण – उपसंहार

क्षमयोगाद्यात्म और आचारात्मक का में – यह ज्ञानपूर्ण समाप्ति, कि वानर से  
नीतिशास्त्र की उपर्युक्त नहीं स्थानी – गीता वही उपर्युक्त स्थानकी है – केवल नीतिशास्त्र से  
गीताश्वर का विवरण – क्षम की अपेक्षा दुर्दिकी भी भृता – नकुलभृत्यान – इसार्या  
और बाला के लक्षण विवरण – अधिकाद लोगों का अधिक हित और 'मनोभेत  
इन दो परिमिती पक्षों से गीता में प्रतिपादित चाम्पुदि की तुलना – परिमिती भाव्या  
भिन्न पक्ष से गीता की उपर्युक्त की समता – कल्प और ग्रीन के विवान्त – वेगन्त  
और नीति (पृ. ४९३) – नीतिशास्त्र में अनेक पन्थ हैंजो का कारण – पिण्ड-ब्रह्माण्ड  
की रक्षा के विषय में मतभेद – यीता के अभ्यासिक उपायमें महाव्युत्पन्न विद्येयता –  
मोद, नीतिप्रयत्न और व्यवहार की एकाक्षरता – नासार्यों का हम्यासमाग – सुख-दुःख  
परिमिती क्षममाग – उपर्युक्त गीता का क्षममाग से तुलना – चानुकृष्टव्यवस्था और नीति  
क्षम के दोष में – दुर्योगनिवारक परिमिती क्षममाग और निष्काम गीताश्वरम (पृ. ५०)  
– क्षमयोग का क्षिप्तिक्षमस्य उत्तित इतिहास – जैन और शौक यति – द्युष्युचाप  
है सन्यार्थी – मुरासमानी रास्त्य – भावद्वय उत्तमज्ञकी और रामानन्द – गीता  
क्षम का विवरण – गीताश्वर की अक्षमता भीर उम्मति – इत्यर से प्राप्तना ।

पृ. ४४६-४४७

### परिणिष्ठ प्रकरण – गीता की वडिरंगपर्वीक्षा

महाभारत में योग्य वारणा भ अधित रायन पर गीता कही गई है वा प्रतिप  
नहीं है । भाग १ गीता और महाभारत का वस्तुत – गीता का कलमान स्वरूप –  
महाभारत का कलमान स्वरूप – महाभारत में गीतात्प्रियक्ष सुन द्वेष्य – देनों के  
एक में मिल्लत्वात् एव शोक और महाभारत देनों का मिलेता एव ही है । भाग २  
गीता और उपरिदों की तुलना – शुद्धसाहस्र और भयकाट्टर – गीता का  
भयामान उपरिदों का ही है – उपरिदों का भाव गीता का मायाक्षर – उप  
दिव्या भी भाव गीता का दिव्यता – अम्बद्वय भाव बालन की एकाक्षरण –  
प्रक्षापमना भवता मृद्दिमय – परन्तु क्षमत्वमना का प्रक्षिप्तान ही सर में महसूस

का मूल अर्थ है। इसिये विवरि मात्रा परत्तन हो तथापि मात्रत्व का पूर्णि का किनार अवश्य सुधि ही कम है— भृतेषु कम भी अनाहि है— कर्म के अन्याइत प्रपल— परमेश्वर इसमें हल्लभो नहीं करता; और कमानुषार ही कम होता है (पृ २६) — कर्मकृष्ण की सुदृढ़ता और प्राणिस्वातन्त्र्यवाद की पृष्ठ प्रकाशना— कर्मविमान चक्रित प्ररब्द और विवराज— प्रारब्दकर्मणी भौगोलिक भवा<sup>१</sup>— वेष्ट के भीमालका का नैऋत्यविद्विवाद अप्रवृत्त है— जल जित कर्मकृष्ण से छूटाया नहीं— जल रात्रि का अध्य— रुद्रायामि कर सेवे विवर रात्रि अस्या लक्ष्य है। (पृ २८४) — परत्तु कर्मे करने के साथत उसके पास निष्ठे नहीं हैं। इस कारण उठने ही के लिये परावर्ती है— मोक्षाप्लक्ष्य आवारित लक्ष्य कम भी अध्य नहीं जाता— अतो कर्मे न कर्मी भीष उद्योग करत्त रहने से निष्ठि अवश्य मिलती है— कर्मसुय का स्वरूप— कम नहीं छूटे फलादा को छोड़ो— कर्म का कर्मकृष्ण मन में ह न कि कम में— इसिये जल कर्मी हो। उसका कृष्ण मोक्ष ही मिलेगा— तथापि उठने भी अनुकूल का महान् (पृ २८०) — कर्मकाण्ड और जनकाण्ड— भौतिक और सात्रयश— कर्मप्रपत्न गार्हत्यपृष्ठि— उठी के लै भै (जनमुक और जानकृति) — उठके अनुकार मिथ मिथ गति— देवयान और विष्णुयान— कारमाप्लक या देवतावाचक<sup>२</sup>— तीक्ष्णी नरक की गति— वैक्ष्युतावस्था का बजन।

पृ २६२—१ २

### गीतारहस्य प्रत्यरूप— सन्यास और कर्मयोग

अकुन का मह मम, कि सन्यास और कर्मयोग दोनों में भेद मात्र हीन सा है<sup>३</sup>— इस फल के समान ही परिष्ठी फल्य— सन्याश और कर्मयोग के पदाय शम्भ— सन्यास शम्भ का अर्थ— कर्मवाग सन्यास का अहं नहीं है दोनों स्वरूप है— एव सत्कृष्ण में दीक्षाकारी की गोलमाल— गीता का यह सद्य विवरण तुला विर्यापि— उत पर उत्तर— कर्मकृत को भावानी नहीं मान सकते (पृ ११३) — “स वात के गीता में निष्ठि करण कि कर्मयोग ही भेद कपी है— आवार अनाहि काढ स विविष रहा है। नवा यह भेदों की निर्भव करने में उपयोगी नहीं है— कर्म की दीन और गीता की शे निष्ठाएँ— कर्मों का अक्ष करने से ही वह विष नहीं होता कि उन्हें घोर देना चाहिये। फलादा छोड़ देने के निर्वाह हा बहुत है— कर्म का नहीं उठते कर्म छोड़ देने पर रामों के लिये भी न मिलेगा— जल हो जने पर वापना करन्त न रहे अवश्य बासना का जाम हो जाय तो भी कम नहीं छूटे— अतपि जलायामि के पश्चात् भी निष्ठापूर्वदि से कम अवश्य करना चाहिये— साकाश का और इनक का उत्तरारण फलायान्याग, वैराष्य और कर्मयोगाह (पृ १२१) — सन्तुष्ट हौं और उठक्ष ज्ञान— प्रश्नान का वही उत्ता परक्षान है— दपारि वह वैर-उपर मी चानुर्व्यप्यपक्षा के अनुचार और निष्ठाम हो (पृ ११८) — स्मृतिप्रस्ता-

में दर्शन वार आभासों का भाषु निम्ने का याग - एत्याभम् का महसु -  
भागद्वयम् - भागद्वय भौर स्मात् के मूल अथ - गीता में क्षमयाग भपात् भागद्वयम् ही प्रतिरात्र है - गीता का क्षमयाग भौर मीमांसनों के क्षमयाग का भेद - स्मात्-भैन्यास भौर मारक्षत्तम्यात् का देह - दातों की एकता - मनुसृति ५ वैरिक क्षमयोग की भौर मारक्षत्तम् की प्राचीनता - गीता के अत्यायत्तमासिन्दृक लक्ष्यता का अर्थ - गीता की अपूरका भौर प्रश्नान्तरीय सीन म्यगा की लायता (पृ १६४) - कैन्यात् (सोम्य) भौर क्षमयोग (याग) जोनों मांगों के भेद भवेत् का नियम में सक्षिप्त वद्धन - भाषु निम्ने के निख निख मात् - गीता ए यह निदानत दि नन सत् में क्षमयाग ही भेद है - इह निदानत का प्रतिरात्र इत्याक्षम्यात्तमिन्दृ का सन्द, इन सब के शाद्रमात्य का विचार - मनु भौर भैन्याय सूनियों के भानकर्मसनुभ्यामक वद्धन । पृ १ ३-१६८

### वार्षिकी प्रकरण - सिद्धाधस्या और ह्यवदार

स्नात् की पृष्ठ भद्रम्या - पृष्णावस्था म भैर्व सर्व विनाप्रवृत्त होते हैं - नीति की परमात्मि - पैधिमी विनाप्रवृत्त - विनाप्रवृत्त की विधिनियमा स पर नीति - क्षमयोगी विनाप्रवृत्त का भास्त्रण ही परम नीति है - पृष्णायस्याकामी परमात्मि की नीति में भौर क्षमी तमात् की नीति में भेदः - शास्त्रोप में वर्णित उत्तम पूर्व एव स्तुता - परम् एव भेद स नीतिस्म वी निकला नहीं पत्ती (पृ ३८) - इन भेदों का विनाप्रवृत्त निल दृष्टि से करता है - क्षमात् का भव वस्याम भपात् तदनुष्टित - तपाति इह सद्य दृष्टि की क्षमा ताम्युदि ही भेद है - भविकाय सात् के धर्मित हिन भौर काम्युदि इन तत्त्वों की दृष्टा - काम्युदि स त्रात् में सात् करना - परामर्म भार निर्दृ - भान्नम्युदि - ग्रन्था स्वापन्त्य, मर्याद वार उत्तर्मि - शुभेष कुर्यात्तम (२ ४ ६) - दृष्टि करता है इय तो की पाद भगवत् का विश्वर नहीं दृष्टा - त्रिपै का अथ विधिय वस्या निप्रतिसर नहीं - ऐ शास्त्रा - दुर्विनाप - इत्यन्या वाम्येन एका की उत्तर्मि - शुभम् भवात्तरित्तम् और भास्त्रपा - एकी दुर्वा का वाय वास्त्रा तौरे क्षमयाग - विवरत्तदात् - भाव वाय भार वद्रम्या ।

पृ १६ - ८३

### तत्त्वयोग प्रकरण - मनिमाग

वाय उप वायरा मनुष्यों के विवरत्तदात् वी दुर्वेष्टा - इन दोनों व तत्त्वम् भाव एव दृष्टि - देवो एव वायसात्तम - भाव न व्यवहरन्ति - भाव एव वायम् वाय इन दो वायों की दृष्टि न होता - भाव म वाय दृष्टि एव वायत्तम् विवरत्तदात् वाय : एव दृष्टि एव वाय वाय विवरत्तदात् वाय वाय दृष्टि एव वाय ८ - वाय वाय का किन्तु वाय वाय वाय वाय ८ - वाय वाय विवरत्तदात् वाय दृष्टि एव ८ - वाय वाय विवरत्तदात् वाय वाय विवरत्तदात् वाय

मैं एक ही हूँ – तपापि शन के समान मृणि निशा नहीं हो सकती – मृणि करने के लिये प्रह्ल लिया हुआ फरमेश्वर का प्रेमगम्य और प्रस्तुत रूप – प्रतीक शम्भ का भर्व – राजविद्या और राज्युग्म शम्भों के अध्य – गीता का प्रेमरस (पृ. ४२१) – फरमेश्वर की अनेक विद्युतियों में से कोन्ह मी प्रतीक हो सकती है – ब्रह्मेश्वर के अनेक प्रतीक और उच्छ्वसे होनेवाल्य अनर्थ – उसे व्याख्या का उपाय – प्रतीक और तत्त्वाङ्कर्त्ता मृणा में मैं – प्रतीक कुछ भी हो मृणा के अनुसार फल मिलता है – विभिन्न देवताओं की उपाख्यानें – उसमें भी प्रकाश्या एक ही परमेश्वर है, देवता नहीं – विसी मी देवता को मर्यादा वह परमेश्वर का ही अविद्यिष्टवृक्ष मरण होता है – इस दृष्टि से गीता के मृणि मात्र की भेदता – भद्रा और प्रेम की भुजता भवुजता – कमदा उद्योगा करने से सुषार और अनेक रूपों के पश्चात् लिद – जिसे न भद्रा है न दुर्दि वह कृष्ण – कुटि से और मृणि से अन्त में एक ही अद्वित ब्रह्महान होता है (पृ. ४३२) – कमत्रिपाक्षिया के और अप्यास्य के सब सिद्धान्त मृणिमार्ग में भी स्थिर रहते हैं – उदाहरणार्थ गीता के वीच और परमेश्वर का स्वरूप – तपापि इस सिद्धान्त में कभी कभी शम्भमेत हो जाता है – कर्म ही अब फरमेश्वर हो गया – ब्रह्मार्पण और दृष्ट्यार्पण – परन्तु अप का अन्य होता हो तो शम्भमेत भी नहीं लिया जाता – गीतावाम में प्रतिपादित भद्रा और शन का देवता – मृणिमार्ग में चैन्यासुधर्म की अपेक्षा नहीं है – मृणि का और कर्म का विरोध नहीं है – मात्रकर्त्ता और सोकसम्भ – स्वरूप से ही मरणान् का यज्ञ पूजन – शनमार्ग लियने के लिये है तो मृणिमार्ग जी गुण आदि सब के लिये कुछ दृढ़ा है – अन्तराक्ष में भी अन्यत्यगत ऐ शरणाप्रभ हमें पर मुक्ति – अन्य सब घमों की भरोसा गीता के कर्म की भेदता ।

पृ. ४-८८४

### बोधवर्यों प्रकरण – गीताभ्याप्तसंगति

विषयप्रतिग्राम की तो दीर्घियों – शास्त्रीय और तपावत्सम्बन्ध – सदाग्रामक पड़ति के गुणग्रोप – गीता का आरम्भ – प्रक्षमाप्याय – दीर्घिय भ याय मैं ‘ताम्भ भार ‘योग’ इन से मार्गों से ही आरम्भ – सीढ़िद, चौथे और पॉच्चे अप्याय में कमयाग का विवेचन – कम की अपेक्षा मात्रमुद्दिकी भेदता – कम दूर नहीं लगते – कामयनिद्वा की भावना कमयाग भेदपत्र है – ताम्भमुद्दिको परने के लिये इन्द्रिय निप्रह की भावस्थद्वा – दृष्ट अप्याय मैं वर्णित इन्तिष्ठियह का नामन – कम, मृणि और शन इस प्रकार गीता के तीन स्वरूप विमाग करना उचित नहीं है – शन और मृणि कमयाग की नाम्भमुद्दिके नाम हैं – अनपव द्यम् दत् भवि इत प्रशार पर्म्यापी नहीं होती – शनम् भव्याय ने फ्रेशर चारहें अप्याय तत् शन विमान का विषय कमयाग की निदिके लिये ही है। वह स्वतन्त्र नहीं है – शनम् मैं प्रशार अनिद्वा अप्याय तत् का वायर – इन अप्यायों मैं मी मृणि और शन दूर दूपर उत्तिन नहीं हैं परन्तु पक्ष दूर लिये गए हैं अतः शनदिग्नन पही

एक नाम है – तेरह से लेकर सत्तरवें अध्याय तक का सारांश – भठारहड़े का उप संहार क्षमयोगप्रथान ही है – भवा उपक्रम, उपसंहार आदि मीमांसकों भी हाइ से गीता में क्षमयोग ही प्रतिपाद्य निश्चित हाता है – क्षुरिष्पुरुषाप – घम और काम एमागुडा होना चाहिये – किमु माज वा और घम का दिरोप ही है – गीता का कन्याकृष्णान् भय क्षेत्र विद्या गया है! – शोक्त्वा + निष्कामकर्म = क्षमयोग – गीता में क्षया नहीं है! – तथापि अन्त में क्षमयोग ही प्रतिपाद्य है – कन्याकृष्मान्कार्यों में प्राप्ता।

पृ. ४४६-४४८

### प्रग्रहकी प्रकरण – उपसंहार

क्षमयोगप्रथा और भाचारक्षण का भेद – यह क्षमपूर्य समाप्त, कि वास्तु से नीतिशास्त्र की उपरचि नहीं स्थानी – गीता वही उपरचि क्षमपूर्य है – लेखन नीतिरहित से गीताक्षम का विवेचन – क्षम की अपेक्षा कुछ भी भेदता – कुछासामान – इकाऊ और बैद्धा के क्षमपूर्य सिद्धान्त – भवित्वाद्य स्थगा का अभिक हित और 'क्षम' ऐन इन दो परिमी पक्षों से गीता में प्रतिपादित साम्यकुद्दि भी तुल्या – परिमी आप्या मिस्त्र पद्य से गीता की उपरचि भी समता – काल भार प्रीन के सिद्धान्त – वेष्टन भौत और नीति (पृ. ४०१) – नीतिशास्त्र में भेदक पन्थ हनों का कारण – पिण्ड प्रसारण की रफ्फा के लिये मतभेद – गीता के अध्यामिक उपराजन में महाक्षमपूर्य दिलेपता – मोर्य, नीतिशास्त्र और स्यव्वहार की एकत्राक्षयता – "शाह्यों का क्षमयोगमार्ग – मुकुरेतुरु परिमी क्षममार्ग – उसकी गीता का क्षमयोग से तुल्या – वादुबर्च्यव्यवस्था और नीति घम के दीर्घ भेद" – दुर्गानीतिशास्त्र परिमी क्षमयोग और निष्काम गीताक्षम (१८०) – क्षमयोग का क्षिक्षाकाला संक्षेप इतिहास – ऐन और दीर्घ यति – शद्गुणचाप के क्षम्यकी – मुकुरेतुरु राम्य – स्वावद्वत्त दन्तमध्यमी और रामान – गीता क्षम का विवाजन – गीताक्षम की भवपत्रा विवाजा और समक्षा – इक्षर म प्राप्ता।

पृ. ४०६-०८

### परिनिष्ठा प्रकरण – गीता की विरिंगपर्वीक्षा

मात्राकाल में योग्य कारणों से उपरित रूपान पर दीजा वही यह है कि द्रीन नहीं है। भाग १ गीता और मात्राकाल का वर्तुल – दीना का वक्तव्यन स्वरूप – मात्राकाल का वक्तव्यन स्वरूप – मात्राकाल में दीनारिष्टक काल दृश्या – दीनों के एक से दिनारिष्टों तक क्षम भार क्षमप्रदर्शय – दीनों प्रदर्श अभ्यन्तर्दर्श – क्षम विन्द दीनों रे कि दीना और मात्राकाल दीन का दीना दीन ही है। भाग २ दीना और दरविरदों की तत्त्वा – दीनारिष्ट भीर अभ्यन्तर्दर्श – दीन का भव्यामन्त्र दुर्लभ ही है – अभिन्नों का भार दीन का दीनारिष्ट – उपरि दीनों का भार दीन का विवाज – सौरयान्त्र भार दीनों की दीनारिष्ट – मात्राकाल क्षमदर्श दीनेद्यग – दानु अदरक्षण का दीनारिष्ट ही। इनमें सम्मुखी

पृ. ४१०

किशोरता है – गीता में इन्द्रियलिपि करने के लिये करताया गया थोग, पाठकर्त्त्योग और उपनिषद् । – भाग १ गीता और ब्रह्मसूत्रों की व्याख्या – गीता में ब्रह्मसूत्रों का स्पष्ट व्याख्या – ब्रह्मसूत्र में 'स्मृति' शब्द से गीता का अनेक बार उल्लेख – देनों प्रणीती के पूर्वापर का विचार – ब्रह्मसूत्र या तो कर्मान गीता के सम्बन्धीन है या और पुराने शब्द के नहीं – गीता में ब्रह्मसूत्रों के उल्लेख होने का पक्ष प्रमाण नहीं । – भाग २ भावविवरण का उल्लेख और गीता – गीता का गुरुकिमार्ग वेदान्त साम्य और वारा की लिये हुए है – वेदान्त के मत गीता में पीछे से नहीं मिलते गये हैं – ऐसिए चर्म का अस्त्वन्त प्राचीन स्वरूप कर्मप्रवान है – तदनन्तर ज्ञन का अस्त्वन्त वेदान्त साम्य और ऐसाम्य का प्राकुर्मार्ग हुआ – देनों की एक्षाक्षयता प्राचीन काल में ही हो चुकी है – फिर मृक्षि का प्राकुर्मार्ग – अतएव पूर्वोष्ठ मार्गों के ऊपर मृक्षि की एक्षाक्षयता करने की पहले से ही आवश्यकता थी – यही मताविवरण की अतएव गीता की भी हांडि – गीता का ज्ञानकर्मयुक्त उपनिषदों का है । परन्तु मृक्षि का मेष अभिक है – मगवत्ववर्गिप्रयक्ष प्राचीन प्रन्त्य, गीता और नारायणीयोपास्त्यान – भीहृष्ण का और सात्वत अथवा मताविवरण के उत्तर का क्रम एक ही है – कुछ संप्रभम व्याप्ता सात्त्वान से अथवा चौरा से प्रथम पञ्चाह सीधे क्षय – देखा मानने का बातम – न मानने से होनेवाली अनाक्षया – मगवत्ववर्ग का मूलव्यरूप नैकर्म्यप्रवान था फिर मृक्षिप्रवान हुआ और अन्त म विशिष्टादित्प्रवान हो गया – मूलमीठा ईशा से प्रथम काँ नी सीधे क्षय की है । – भाग ५, कर्त्तमान गीता का बाहर – कर्त्तमान महामारत और बदमान गीता का समय एक ही है । अन म बदमान महामारत मात्र है, अस्थोपेत के आधान्यान के विकार के और देशादि गतियों के पूर्व का है; किंतु, कुछ के पथम का है – अतएव शुक्ल से प्रथम व्याप्ता पौर्व लीक्षण का है – बदमान गीता वालिगात के वालगढ़ के पुराणी और दोषावदन के एवं वीद्वर्षम् के महायान पथ के भी प्रथम ही है अथवा शुक्ल से प्रथम पौर्व लीक्षण की है । – भाग ६, गीता और वीहृष्ण – गीता के विषयान के और दाँड़ व्याहृत के वजन म लाला – वीहृष्णवर्ग का स्वरूप भार उन्ने पहल व्याप्तान्यथम से न्यूनी उत्त्यति – उत्त्यनियती के असम्बाड़ लोटों कर केवल विशिष्टादित्प्रवान भावार का ही कुछ ने भावीमार दिया – वैद्मतानुमार इस भावार के उत्तर कारण नपदा घार आप नव्य – शोड़ व्याहृष्ट्यथम और ऐसिए स्मात्वर्गमें लगता – य मत विचार भूत विद्विति पथ के ही है – उत्पादि महामारत और गीता विषयव वृष्टि विचार करने का प्रयाग – मूल अनाम्यकारी और विशिष्टादित्प्रवान मृक्षि पथ न ही भागे बहु बहु कर व्यक्तिगत वीद्वर्षम् का उत्पथ होना अवश्यम है – महायान पथ की उत्त्यति वह मानने के लिये ग्रामण मि उक्ता मृशिष्टादित्प्रवान मृतिपथम गीता से ही दिया गया है – इतना विर्लिङ्ग होनेवाला गीता का उत्तर । – भाग ७, देखा अत दूसरात्रों द्वीपार्थ – इतनार चम त गीता में लिखी भी तत्त्व का दिया जाना अवश्यम है – इतारं चम पूर्वी चम त भी दो चम पर नहीं लिखा गया है –

वह स्थौर रूपम् हुआ है । इस विषय म पुराने “सार्व पण्डितों की राय – पर्सीन फन्थ और यूनानी तत्त्वज्ञन – बौद्धधर्म के चाप द्वारा धर्म की अमूल भगवा – इनमें बौद्ध धर्म की निर्विकाठ प्राचीनता – उस धर्म का प्रमाण कि यशुर्विर्बों के देश में बौद्ध यतिथा का प्रबोध प्राचीन समय में ही हो गया था – अतएव द्वारा धर्म के सत्त्वों का बौद्धधर्म से ही अवात् प्रयाप से ऐतिह धर्म से ही अभक्ता गतिः से ही स्त्रिया अना पूज सम्मत है – इससे सिद्ध होनेवाली गतिः की नित्यनिष्ठ प्राचीनता ।

पृ ६१३ – १८

गीतारहस्य के सक्षिप्त चिन्हों का व्योरा और  
सक्षिप्त चिन्हों से जिन प्रन्थों का उल्लेख  
किया है, उनका परिचय

कायदे भविष्यत हैं। व्यापक सुल्तानी और क़श्चा के क्रम होने लगे हैं।

भाषा, भाषाव्यवस्था, भाष्याम् और स्पेक्ट्रम्। अपेक्षर और मण्डली का गीतार्थप्राप्ति का सम्बन्ध।

ईस. इषाकास्योपनिषद् । भानुन्द्राभ्यं का सर्वरूप ।

सू. कम्बेत्र | मण्डल सूक्ष्म और कम्बा |

पे, अपना पे ठ, देतरेयोपनिषद्। अथाय गण्ड और स्नोङ्। पुने के आमन्नाभूमि  
का स्वरूप।

ऐ प्रा पेत्रोरेय द्वाष्टम् । पश्चिमा और एण्ड । र्हो द्वीप का सुखरण ।

५. एक अपेक्षा कठोरनियत | वही और मन | अल्पाल्पम् का उत्तरण |

ફેલ, ફોષટિયા | ( = રૂપસત્તાફોષટિયા ) | પણ હીર મનુ | ભાગદ્વારમ કા ઉસ્કાણ |

४ इस्तोपनिषद् । यजुर्वेदः सूत । ३८ अष्टविंशति विष्णवसामान्य शा सूक्तम् ।

भीरी, भौंपीतस्मुपनिषद् । अथवा भौंपीती ब्राह्मणोपनिषद् । अप्याय और अष्ट ।  
कहीं कहीं इत उपनिषद् के पहले अप्याय का ही ब्राह्मणानुक्रम से कृति अप्याय  
कहते हैं । अनन्ताभ्यम् का संक्षरण ।

गी. भारद्वाजा । अप्याय भौत स्तोत । गी. श. भ. गीरु शास्त्रमध्य ।

गी. रा. मा. यीता रामानुजमाप्य । भास्त्रन्दाभमराई यीता और शाद्रमाय की प्रति के भल मैं गर्छी की लूटी है । उसे रिस्ट मिस्ट्री यीताओं का न्ययांग किया है । - भीख्यहेवर प्रभ का रामानुजमाप्य । कुम्भोम क सूष्मालाय शाह प्रा गिर माघमाप्य भास्त्रन्दिरी की यीता और रणदिनेष्टु अपराह्ने (पूना) मैं एवी शह परमार्थंत्रया यीता नेत्रिष औपिनियन अपराह्ने (बमर) मैं एवी दूर मनुष्टनी यीता; ॥ ए मैं छी गीर काम्ली (मराठी) यीता नानमध्यम मैं गानमध्य ॥ भेन्ज्हु प्रभ की बादम लग्यगायी तामीतिश द् ॥ ए मा ॥ कर्णी और मात्र मैं छी

फ़लू संस्कृत यीकाएँ – गुजराती प्रिन्टिंग प्रेस ने अमी छाप कर प्रसारित ही है। अब इस एक ही प्रक्षय से सारा फ़लू हो जाता है।

गी. र. अपवा गीतार गीतारहस्य । हमारी पुस्तक का पहला निरूप ।

डॉ. लानोम्बोपनिषद् । अध्याय गण और मन्त्र । आनन्दाभ्यं का संकरण ।

डॉ. सू. वैष्णवी के भीमाशास्त्र । अध्याय, पार और कृष्ण । कल्परोप का संकरण ।

डॉ. अपवा से उ. वैष्णीवीय उपनिषद् । वही अनुवाद और मन्त्र । आनन्दाभ्यं का संकरण ।

डॉ. श. वैष्णीवीय ब्राह्मण । काण्ड प्रपाद, अनुवाद और मन्त्र । आनन्दाभ्यं का संकरण ।

डॉ. सू. वैष्णीवीय उद्दिता । काण्ड प्रपाद और मन्त्र ।

इ. अपवा इस भीसमय रामासुस्कामीकृत ब्रह्मण । मुख्या उक्ताओंचेत्रक उम्म की प्रति का विकल्पाध्य ऐसे में इस दुआ हिन्दी अनुवाद ।

इ. वै. नारदग्रन्थराम । कल्परोप का संकरण ।

मट. सू. नारदग्रन्थ । बाप्त का संकरण ।

मूर्खिद उ. दुमिहान्तरतामीयापनिषद् ।

पाठ त्रृत्यम्. पाठशृङ्खोपासनम् । तुषारम् दात्या का संकरण ।

पाठ. पद्मशशी । निषयकागर का उद्दीक्ष संकरण ।

प्रभ. प्रभेपनिरु । प्रभ और मन् । आनन्दाभ्यं का संकरण ।

इ. अपवा वृह वृहग्रन्थनोगनिषद् । अध्याय ब्राह्मण और मन् । आनन्दाभ्यं का संकरण । साधारण पाठ बाप्त वेद एव स्थान पर माध्यनिद्र द्याता के पाठ का उद्देश्य है ।

इ. सू. भाग्य वै. सू. गो ।

भाग्य भीमद्वापातपुराण । निषयकागर का संकरण ।

भा. चौ. मार्त्यीय यानिदाप्र । स्वर्गीय द्युर बाल्मूण वीक्षित्वा ।

मन्त्र मन्त्रपुराण । आनन्दाभ्यं का संकरण ।

मनु मनुमूनि । अध्याय भीत्र भाग । दो. जारी का संकरण । माध्यनिद्र के अपवा और विर्मी की संकरण में ये ही भीत्र ग्राह्य एव ही स्थान पर मिलते । मनु पर ही दीम है वा मार्त्यीर के संकरण ही ।

वा. गट. भीमद्वापातरत । इसके भाग के भाग विनियोग से के द्वारा है; नम्म अध्याय के भाग भीका है । कल्परोप में द्वनु प्राप्तव्यन्द राय के द्वारा

मुद्रित संस्कृत प्रति का ही हमसे सर्वत्र उपयोग किया है। बग्गर के संस्करण में ये श्लोक दुड़ आगे फीले भिजेंगे।

मि. प्र. मिलिनप्रभा । पाठी मन्त्र । अप्रब्रह्मी भनुवाह ।

मु अथवा मुंह भुण्डोपनिषद् । मुण्ड चण्ड और मन्त्र । आनन्दाभ्यम् का संस्करण ।  
मैन्त्रु मैम्पुपनिषद् अथवा मैत्रायम्पुपनिषद् । प्रपाटक और मन्त्र । आनन्दाभ्यम् का संस्करण ।  
पाण्ड याण्डस्यम्प्रवृत्ति । अप्याय और क्लोक । क्लार्व का ध्वा हुआ । इसकी अप्रब्रह्मी दीक्षा (आनन्दाभ्यम् के संस्करण) का यही गीत-एक खानों पर द्वारा दी जाती है।

वो अथवा बौद्ध योगाचारिए । प्रकरण सर्ग और क्लोक । छठे प्रकरण के दो मार्ग हैं ।  
(प.) पूर्वार्ध और (द.) उत्तरार्ध । निर्णयसामर का सटीक संस्करण ।

रामपू रमपूष्टापिन्युपनिषद् । आनन्दाभ्यम् का संस्करण ।

वाऽ च वाक्मेयी शंहिता । अप्याय और मन्त्र । वेदव का संस्करण ।

वामीक्षिता अथवा वा रा वामीकिरमायण । काण्ड अप्याय और क्लोक । बग्गर का संस्करण ।

विष्णु विष्णुपूराण । अश्व अप्याय और क्लोक । बग्गर का संस्करण ।

व शू वेदान्तसूत्र । अप्याय पाण्ड और सूत्र । वे शू शो या वेदान्तशूत्रग्राहरम्प्रवृत्ति ।  
आनन्दाभ्यमवाङ् संस्करण का सर्वत्र उपयोग किया है।

वा शू शाण्डिस्यसूत्र । बग्गर का संस्करण ।

सिंच शिवगीता । अप्याय और क्लोक । अश्वेत मण्डवी के गीतासप्तह का संस्करण ।

वे खेताश्वरौपनिषद् । अप्याय और मन्त्र । आनन्दाभ्यम् का रामरण ।

सो वा चाप्यकारिका । शुक्रायम् वास्त्वा का संस्करण ।

सूर्यगीता । अप्याय और क्लोक । मद्रास का संस्करण ।

इति इतिवृत्ति । पव अप्याय और क्लोक । बग्गर का संस्करण ।

मूलना :- इनमें अधिरिच्छ भौतिक निम्ने ही संक्षेप, भौतिकी मराठी एवं पाठी ग्रन्थों का रूपन त्यागार दर्शन है। परन्तु उनके नाम यथास्थान पर ग्राम पुरे लिपि दिये गये हैं; अथवा वे उम्मत में आ लगते हैं। न्यायिक उनके नाम इस वेदरिता में घासित नहीं रिये गये।



# लोकसान्य तिलकजी की जन्मकुड़ली, राशिकुड़ली तथा

## जन्मकालीन स्पष्टग्रह

इसे १७७८ आपाह कृष्ण ३, व्याघ्रात् गत घटि २ पर्ण ५

जन्मकुड़ली



रासिकुड़ली



जन्मकालीन स्पष्टग्रह

रवि	चन	मात्र	बुध	गुरु	शुक्र	शनि	यम	मेष	स्त्र
१	११	९	२	११	१	२	११	६	१
८	११	४	२४	१७	१	१५	१५	२५	११
११	१	१४	१	११	८	१८	११	१	२१
५१	११	१०	१८	१६	२	०	१६	१६	११



अस्म : ११ जुलाई १९७६

पट्टा : १ अगस्त १९७६

# लोकमान्य तिलकजी की जन्मकुदली, राशिकुदली तथा

## जन्मकालीन स्पष्टग्रह

पाले १७७८ आशाह हृष्ण ६ द्वयोवधात् मत घटि २ पल ५

जन्मकुदली



राशिकुदली



जन्मकालीन स्पष्टग्रह

रो	चन्द्र	मंगल	बुध	गुरु	ब्रह्म	शनि	राहु	ज्येष्ठ	सूर्य	कम
१	११	१	२	११	१	२	११	१	१	१
८	११	४	२४	१७	१०	१७	२४	२७	११	११
११	१	१४	२१	५२	८	१८	१३	११	२१	२१
५१	११	१०	१७	१६	१२	१०	११	११	११	११

Hindu Philosophy of Ethics

Part II

- ३८ -

प्राचीन ग्रन्थों का संक्षेप  
गारन्त

प्राचीन ग्रन्थों का संक्षेप

प्राचीन ग्रन्थों का संक्षेप  
गारन्त

प्राचीन ग्रन्थों का संक्षेप

प्राचीन ग्रन्थों का संक्षेप

प्राचीन ग्रन्थों का संक्षेप

प्राचीन ग्रन्थों का संक्षेप



मंडप देव मे लिलि गीतारहस्य की पद्धतिपा के प्रति के प्रबन्ध बहुत प्रथम तृष्ण



श्रीयोगेश्वाय नमः ।

३३ नमः ।

# श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य

अथवा

## कर्मयोगशास्त्र

पहला प्रकरण

### विषयप्रवेश

नारायणं नमस्कृत्य नरं चिव नरोत्तमम् ।

देवीं सरस्वतीं ध्यास्व तत्त्वं जपमुदीरयेत् ॥ ०

— महामारत, भाग्नि शौक ।

श्रीमद्भगवद्गीता हमारे प्रमाणों में एक अत्यन्त ऐनम्बी भीर निमित्त हीरा है ।

पिंड ब्रह्माद हानपुरित आमधिका के गृह और पवित्र वस्त्रों को थाहे में और सप्त रीति से समाप्त देनेवास्त्र उन्हीं वस्त्रों के आधार पर मनुष्यमान के पुरुषाध की — अचात् आध्यात्मिक पूर्णावस्था की — पहचान करा देनेवास्त्र भूचि भीर गान का मेष कराके अन दोनों का शास्त्रोऽनु व्यवहार के लाप लंबोग करा देनेवास्त्र और अनुक द्वारा समार ले हु गित मनुष्य को घान्ति ॥ कर लें निष्पाम वत्य के भाष्परण में लगानेवास्त्र गीता के लगान वायदेष प्रथ उत्सव के र्णीन कहे लग्नम समार के लाहिन्य में नहीं भिन्न सकता । वस्त्र काय की ही दृष्टि से यहि इसी परिभा की जाय का भी यह प्रथ उत्सव कार्यों में भिन्न य नकला है; कर्योंके इसमें आमगान के न्वेन गृह नद्वान इसी प्रकारि क भागा में भिन्न गय है ॥ के कुर्या गार एव्या पा एकत्रान व्याम ह भीर अम गत्युक्त भक्तिरस मी भरा पाह ॥ हिन प्रथ में समाप्त छिके पद का भाग स्वय भीहृषि भागान की पार्श्वी में सप्ताहम

ना । पद का अनुष्ठान जा अनु नह ह उत्सव न्वास्त्री इता का आर दाहजी का नवल्लार करक फिर ज्य अचात् महाभाग का पहना लाहिव — यह भाग का

किया गया है। उसकी योग्यता का वर्णन किया जाय है महामारत की स्फ़ार्ह समाप्त होने पर एक दिन भीकृष्ण और अर्जुन भैरवर्षं व्यक्तित्व कर रहे थे। उल्ल समय अर्जुन के मन इसका दुर्बल कि भीकृष्ण से एक बार और गीता सुने। द्वारप्ति अर्जुन ने किंतु भी, 'महाराज! आपने ऐसे उपेश मुझे मुद्र के आरंभ में दिया था उसे मैं भूल गया हूँ। कृष्ण करके एक बार और करवाये।' तब भीकृष्ण महान् ने उत्तर दिया कि—“उल्ल समय मैंने भूतन्त योगसुक्त अंतर्क्षण से उपेश किया था। अब सम्पव नहीं कि मैं कैसा ही उपेश छिर कर दूँ।” पहला उल्ल अनुगीत के प्रारंभ (ग्रा. मा अध्यैष अ १६ अंश १ १३) में ही दुर्बल है। उच्च पृष्ठे ही भगवान् भीकृष्णकर के किसे कुछ भी भूतमव नहीं है परंतु उनके उच्च कर्मन से यह ब्रह्म अस्ति तत् तत् मात्र हो जाती है कि गीता का महत्व कितना अभिक्षित है। यह प्रथा ऐक्षिक वर्ण के मिल मिल संप्राप्ति में वैद के समाज आज कीब दार्द हवार कर्म से सर्वसामान्य तथा प्रमाणस्वस्य हो रहा है; इसका कारण भी उच्च प्रेष का महत्व ही है। उसी किसे गीता-स्थान में इस सूक्ष्मिकीन प्रथा का अनुकायुक्त, परन्तु व्याप्त वर्णन इस प्रकार किया गया है:-

सर्वोपनिषदो यावो द्वीपावा ग्रोपाप्तमन्द्रः ।

पार्षो वस्ता सुखीमोक्षा द्वृग्यं वीतामृते महत् ॥

अर्थात् किसे उपनिषद् है कि मानो गौ है भीकृष्ण त्वर्य दूष द्वृहनेवासे (न्याय) है, द्विमान् अर्जुन (उल गौ को पन्हानेवास) योक्ता काश्य (कस्त) है और वे दूष द्वृहा गया वही मधुर गीतामूल है। इसमें कुछ आश्वर्य नहीं कि द्विकुम्भान भी उब मायाभूमि में इष्टके अनेक भूकुवाड दीकाएं और दिवेष्म हो जुके हैं परन्तु जब से पक्षिमी विद्वानों को सकृद ग्रामा का लून होने लगा है तब से श्रीक स्वैतेज वर्मन फैल्ब अपेक्षी आहि दूरोप की मायाभूमि में भी “उके अनेक भूकुवाड प्रकाशित हुए हैं। तात्पर्य यह है कि इत्त उमय पह महितीय प्रथ तमाह रुसार में प्रसिद्ध है।

अप है। महामारत (उ १८.७-९ और २०-२१ तथा वन १३.४४-४५) में किसा है कि नर और नारायण ये थार्मि जिसे ही स्वरूपों में विमल-वाक्षात् परमात्मा—ही ही भीर इन्ही वर्षों में फिर अर्जुन तथा भीकृष्ण का अस्तार किया। तब मायात्पर्वति वर्षों के आरम्भ में इन्हीं को पर्वत इस्तिसों नमत्कार करते हैं कि तिक्काम-कर्म-नुक्त नारायणीय तथा मायामत्त-वर्ष को हन्तोने ही पहले पहले आर्ति किया था। इत्त वर्षों में कही कही व्याप्ति के बहत व्याप्ति याड भी है; परन्तु इसे वह दुकिलक्ष नहीं मालूम होता; वर्षोंके वर्त परमसत्-वर्ष के पक्षारक नर-नारायण को पर्वत करना कृत्या उकित है ऐसे ही इत्त वर्ष के दो हुक्म वर्षों (महामारत और वीता) के कर्त्ता प्यावंगी को भी नमत्कार करना उकित है। महामारत का व्याप्ति वाक् ‘व्यप है (म गा आ १९.५)।

‘इस ग्रंथ में सब उपनिषदों का सार आ गया है। इसीसे इसका पूरे नाम “श्रीमद्वद्वयीतो-उपनिषद्” है। गीता के प्रत्येक अध्याय के अंत में भगवान् समाप्ति-दर्शक संक्षेप है उससे “श्री श्रीमद्वद्वयीतो-उपनिषद्सु ब्रह्मचिद्यार्था चोपमाणसे श्रीहृष्णाकुन्दनाम्” इस्यादि शब्द है। यह संक्षेप यथापि मूलार्थ (महामारत) म नहीं है तथापि यह गीता की सभी प्रतियों में पाया जाता है। इससे अनुमान होता है कि गीता की किसी भी प्रकार की दीक्षा होने के पहले ही यह महामारत से गीता नित्यपाठ के लिये अस्त्रा निषाढ़ भी गई होगी तभी से उक्त संक्षेप प्रकार दुमा होगा। इस दृष्टि से गीता के तासर्यां एवं निर्णय करने के काम में उक्ता महत्व कितना है। यह आसे चल कर कलाया जायगा। यहाँ “स संक्षेप के लेखक डॉ पड़ (मारवद्वयीतो-उपनिषद्सु) विचारणीय है। ‘उपनिषद् शब्द हिन्दी में पुलिङ्ग माना जाता है परन्तु वह संकृत में श्रीसिंह है। इसलिये श्रीमद्वयान् से गाया गया अर्थात् वह गया उपनिषद्” यह अर्थ प्रकृत करने के लिये संकृत में ‘श्रीमद्वयाकृत्यात् उपनिषद्’ से दो विशेषण पिण्डाप्यरूप श्रीसिंह शब्द प्रयुक्त तुए हैं। और यथापि ग्रंथ एक ही है तथापि यमान के लिये ‘श्रीमद्वयाकृत्यात् उपनिषद्सु’ ऐसा सच्चामी के बहुचक्षन एवं प्रयोग किया गया है। एकरत्नार्थ के भाष्य में भी इस ग्रंथ की कहाँ ‘इति गीताम् वह बहुचक्षनान्त प्रयोग पाया जाता है। परन्तु नाम की संक्षिप्त करने के समय आश्रयक प्रत्यय पड़ रहा अंत के द्वामान्य व्यातिवाक्य ‘उपनिषद्’ शब्द में उड़ा दिये गये किससे श्रीमद्वयाकृत्यात् उपनिषद्। इन प्रमाणों के एकचक्षनान्त शब्दों के कहाँ पहले पहले ‘मारवद्वयीता’ और फिर केवल ‘गीता’ ही संक्षिप्त नाम प्रचलित हो गया। ऐसे बहुत-ऐ संक्षिप्त नाम प्रचलित हैं। इसे – छठ, ऊँटार्य भेज इस्यादि। बड़ि ‘उपनिषद्’ शब्द मूल नाम में न होता तो ‘मारवद्वयम्’, ‘मारवद्वयीतम्’, ‘स्यादि शब्द के तमान् इस ग्रंथ का नाम भी ‘मारवद्वयीतम्’ या लेखक ‘गीतम्’ का जाता जैसा कि नपुणकिंच के शब्दों का स्वरूप होता है। परन्तु यदि कि ऐसा इस नहीं है और ‘मारवद्वयीता’ या ‘गीता’ यही श्रीसिंह शब्द अब तक ज्ञा है। तब उसके धार्मों ‘उपनिषद्’ शब्द के नित्य अप्याहृत न्यमस्ना ही आहिये। अनुगीता की अर्दुनिमित्तत दीक्षा में ‘अनुगीता’ शब्द का अर्थ भी इसी दीक्षा से किया गया है।

परन्तु यह दी की भी शब्दों की ममत्वीता की ही गीता नहीं वहत। अनेक श्लोक विनायक ग्रंथ में गीता वहत्वत है। उद्याहरणार्थ महामारत के व्यातिवाक्यमाला मालापद के कुछ पुण्यकार प्रकरणों का विवरण्यीता व्यापक्यीता मन्त्रितीता व्येष्यीता विचरण्य सीता हार्दीकमीता वृक्षीता परावर्यीता और हसगीता वहते हैं। मध्यमेव पद में अनुगीता के एक मार्ग का विषेष नाम ‘वादवगीता’ है। इनके लिये अवधूतमीता अवशक्तमीता इंधररपीता उच्चरगीता व्यापमीता रेतीता पादवगीता,

ब्रह्मगीता मिथुनगीता यमगीता रामगीता व्वासगीता शिवगीता स्फुरगीता, सूर्यगीता इत्यादि अनेक गीतार्थे प्रसिद्ध हैं। इनमें से कुछ तो स्वतन्त्र रीति से निरापद की गई हैं और शेष मिथुन पुराणों से ली गई हैं। ऐसे गणेशपुराण के अन्तिम इत्यलकड़ के ११८ से १४८ अध्यायों में गणगीता कही गई है। “से यहि याहे फैरफ्टर के साथ मध्यवद्वीता की जल्द कह तो को” हानि नहीं। भूमिपुराण के उच्चर मध्य के पहले स्पारह अध्यायों में अस्तरगीता है। इसके बाद व्वासगीता का आरंभ हुआ है। स्वरपुराणात्मक स्फुरगीता के बायोध अर्थात् यज्ञैमकरण के उपरिभाग के आरंभ (१ से १२ अध्याय तक) में ब्रह्मगीता है और एक बात मध्यायों में स्फुरगीता है। पहली तो हुआ एक ब्रह्मगीता दूसरी एक और ब्रह्मगीता है जो योगवाचिक के निर्वाचन प्रकल्प के उच्चरार्थ (सग १७५ से १८१ तक) में आ गई है। यमगीता तीन फ्रेशर ही है। पहली विष्णुपुराण के दीसर ऋषि के सामने अध्याय में दूसरी अस्तिपुराणके तीसरे इत्य के १८१ के अध्याय में और तीसरी उठिंगपुराण के आठवें अध्याय में है। यही हाल रामगीता का है। महापाद में ये रामगीता प्रचलित है वह अध्यात्मरामायण के उच्चलकाद के पौन्त्रे सग में है और यह अध्या भरामायण ब्रह्मपुराणमें एक नाम गमना चाहता है। परन्तु “कौन रिता एक दूसरी रामगीता गुरुस्तानवाचिङ्ग-दास्तानारामण नामक दृष्टि में है जो मद्रास की ओर प्रसिद्ध है। यह प्रथा ऐतिहासिक पर स्थित गया है। इसमें हास और कर्म-संबंधी तीन काव्य हैं।” स्त्रों उपाळना काव्य के द्वितीय पाठ के पहले पौन्त्रे अध्यायों में सुर्यगीता है और कमलाद के दूसरीय पाठ के पहले पौन्त्रे अध्यायों में सुर्यगीता है। कहत हैं कि शिवगीता पश्चपुराण के पातालमण में है। नृत पुराण की जो प्रति पूर्णे के भानग्राम में छपी है उसमें शिवगीता नहीं है। पर्वित व्वायद्यत्थाद ने अपने भग्नाश्वपुराणशृणन ग्रंथ में स्थित है कि शिवगीता द्वितीय पश्चपुराण में है। नारदपुराण में अस्त्र पुराणों के साथ शाय, पश्चपुराण की भी जो शिवगीतानुक्रमणिका वी गढ़ है उसमें शिवगीता का दर्शन पाया गया है। भीमद्वाग्नकपुराण के स्पारह के लक्ष के द्वेरहवें अध्याय में इसगीता और दर्शन के अध्याय में मिथुनगीता कही गढ़ है। तीसरे लक्ष के नवपित्रेपारायण (२३—२४) को कह लें “शिवगीता” कहत हैं परन्तु “शिवगीता” नामक एक छोटी शुरू स्वरूप पुस्तक हमारे देशमें में भारत है जिसमें दृष्टियोग्य वाचन दिया गया है; और लिखा है कि यह “शिवगीता” पश्चपुराण के द्वी गढ़ है परन्तु यह गीता पश्चपुराण में है ही नहीं। इसमें एक स्थान (४०) पर जिन उगम और गीता का उल्लेख किया गया है जिससे कहना पड़ता है कि वह गीता मूलस्मानी रूप के द्वारा की होती। भागवतपुराण ही के उगम द्वैतानाराम में भी उल्लेख स्वरूप के १३ से ४ अध्याय तक पक्ष गीता है जिसे देखी तरह ही देखने के कारण द्वैतीगीता कहते हैं। “तु” भागवतीता ही का उत्तर भीश्मिपुराण के तीव्रं गत १८ के अध्याय में उत्तर गद्यपुराण के पृष्ठपट के

सहर के अध्याय में दिया हुआ है। इसी तरह कहा जाता है, कि बिलिंग्डी ने और उपेश रामनंदशी को दिया उसीके योग्यताप्रिदृष्टि कहते हैं परंतु इस व्यय के अन्तिम (अयांत् निवांश) प्रकरण में 'अर्कुलोपास्यान्' भी शामिल है जिसमें उस भावद्वीप वास्त्र सारांग दिया गया है कि दिसे मात्रान् श्रीहृष्ण ने अर्कुल से कहा था। इस उपास्यान के मात्रद्वीपों के अनेक अधिक व्योंकेन्द्रीयों पाये जाते हैं (सोर. ६ पु. ८०ं, ६२-८८)। उमर कहा था कुमा है कि पूने में छोड़े हुए पश्चपुराण में विष्णविता नहीं मिलती परन्तु उसके न मिलने पर भी इस प्रति के उत्तरगांठक १७१ से १८८ अध्याय तक भावद्वीपों के माहात्म्य का वर्णन है और मात्रद्वीपों के प्रत्येक अध्याय के लिये माहात्म्य वर्णन में एक एक अध्याय है और उसके संभव में कथा भी कही गई है। इसके दिया बहाहुराण में एक गीतामाहात्म्य है और विष्णपुराण में तथा वासुपुराण में भी गीतामाहात्म्य का होना कहुआया जाता है परन्तु कल्पचे के छोड़े हुए वासुपुराण में वह हम नहीं मिलता। मात्रद्वीपों की छोड़े हुए पुस्तकों के आरंभ में 'गीता-ध्यान' नामक नींस्त्रों का एक प्रकरण पाया जाता है। नहीं बता पहला कि यह कहों से दिया गया है परन्तु इसका भी प्रत्येक ग्रन्थ विष्णविता "स्त्रोऽस्त्रो हेरेफूर के साथ, इसल ही मैं प्रकाशित 'दद्वभा नामक मातृ भविष्यत नामक' के आरंभ मैं दिया हुआ है। इससे ज्ञात होता है कि उक्त ध्यान भास्त्र अधिक के समय के अनंतर प्रशार में आया होगा। क्योंकि यह मानने की अपेक्षा कि मातृ सरीमे प्रतिदृष्टि करि ने इस स्त्रोऽस्त्रो को गीता ध्यान से छिया है; यही कहना अधिक सुनिक्षिप्त होगा कि गीता-ध्यान की रचना मिथ्या मिथ्या स्थानोंसे लिये हुए, और कुछ नये भावे हुए स्त्रोऽस्त्रो से की गई है। मातृ करि काञ्जित्से से पहले ही गता है।" उसिये उसका समय क्यै-क्यै संबत् ४३ (शहरीन थी) से भविष्य अवश्यिनी नहीं हो जाता।\*

उमर कही गई थारौं से यह ज्ञात अध्यी तरह ध्यान में भा उक्ती है कि ममनद्वीपों के बीन बीन-से और कितने अनुवाद देखा कुछ हेरेफूर के साथ फिरनी नहीं, वास्त्र और माहात्म्य पुराणों में मिलते हैं। इस ज्ञात का पता नहीं आया कि अनुवृत्त और अद्वाक भावि दो-बार मीलामों को क्या और किसने स्वतन्त्र रीति से रखा; भवदा ऐसे किस पुराणे से ली गई है। तथापि इन सब गीताभीं की रसनों देखा विषय विवेचन का हेठले है यही मात्रम होता है कि ये सब प्रथा ममनद्वीपों के अन्तर्भिर होने के बाट ही ज्ञाय गये हैं। इन गीताभीं के सर्वेष म यह कहने के भी कोई हानि नहीं कि वे इसी किंवद्दं रखी गई है कि किंतु विषिद्ध पंथ या विषिद्ध पुराण में ममनद्वीपों के समान एक-भाव गीता के रहे किना उस पथ या पुराण की पृष्ठा नहीं हो सकती थी। किंतु तरह श्रीमात्यन् क्यम दूत है पक्षारित कर दें।

उपपुराण अनेक गीताभीं देखा भवद्वीपों का भीप्रत इरि खुलास भवद्वीप जाव-  
क्यम दूत है पक्षारित कर दें।

ने मानवीता में अंकुर की विभस्य डिला कर इन कर्तव्यों की उठी तरह शिखीता, शैक्षीता और गणधीता में भी चलन है। शिखीता, शैक्षीता आदि में से मानवीता के अनेक क्षेत्र भवतव्य पाये जाते हैं। परं इन की दृष्टि से इस व्याप तो इन तीव्र गीताओं में मानवीता की अपेक्षा कुछ किञ्चित् नहीं है और मानवीता में अप्यात्मकान् और कर्म का मेल कर देने भी जो अपूर्व है वह किंतु भी अस्य गीता में नहीं है। मानवीता में पात्रकल्प्योम् अथवा इठेयोग भीर कर्मस्यामरूप सन्यास का यथोचित् बनन न हो सक, उसकी गुर्ति के सिवे हृष्ण-हृष्णसंवाद के रूप में, किंतु उत्तरगीता वीक्षे से किंव इत्य है। अवधूत और आशक का भावि गीतार्थ विस्तुत एकत्रीय है। क्योंकि “नमे केवल सन्यासमाय का ही प्रतिपादन किया गया है। मानवीता और पात्रकल्प्योम् तो केवल भौतिकियक संविष्ट लोकों के समान है। शिखीता गणधीता और कृप्यगीता ऐसी नहीं है। यथोपि “नमे इन और कर्म के समुच्चय का उकियुक लमर्यन अवश्य किया गया है, तथोपि इनमे नर्तनिवा दुष्ट मी नहीं है क्योंकि यह विषय प्रायः मानवीता से ही किया गया है।” न कर्त्त्वो एव मानवीता के गीतीर तथा व्यापक देवके सामने वृद्ध की कनी हुई फौर्म मी पौराणिक गीता ठहर नहीं रही, और इन नक्षी गीताओं से उक्त्य मानवीता का ही महत्व अभिष्कृत वर्ण गया है। पही अत्रज है कि ‘मानवीता’ का ‘गीता’ नाम प्रस्तुति हो गया है। अप्यात्म-रुपात्मक और योगसाधित् यथोपि विकृत प्रथ है तो मी ऐ पीछे ज्ञाने है। और यह वृत्त उनकी रचना से ही स्पष्ट मालूम हो जाती है। मात्रास का गुरुस्तन्त्रसिद्धान्तसंसारायण नामक शब्द वर्त्त के स्वानुसार वृत्त प्राचीन है। परन्तु इम प्रेता नहीं समझते; क्योंकि उसमें ८८ उपनिषदों का व्योग है किंतु ग्राचीनिवा किंव नहीं हो सकती। कृप्यगीता में विद्यिताहैत मत का उपेत्य पाया जाता है (३ १); भीर कर स्वप्नो में मानवीता ही का पुकियावाह किया हुआ-ता ज्ञान पक्ष्या है (१ १८)। इत्यन्तिये यह प्रथ मी वृत्त पीछे से – श्रीशत्रुरात्मक के मी वर्द – कनापा गया होयः।

अनेक गीताओं के होने पर मी मानवीता की भेदवा निर्विशाइ दिश है। इही कारण उत्तरवासीन वैदिकमर्मीय पठितों ने अन्य गीताओं पर अधिष्ठ व्याप नहीं किया और मानवीता ही की परीक्षा करने और उसीके तत्त्व अपने वृत्तओं की समझा देने में अपनी इत्यहस्यवा मानने लगे। प्रथ की हो ग्राचार से परीक्षा की जाती है। एक अवतरण परीक्षा और एकरी वृहिरग परीक्षा वहस्ती है। पूरे प्रथ को उत्तरव उसके मर्म रहस्य मर्मितार्थ और प्रमेय द्वैत निष्कल्पा ‘अंतरग-परीक्षा’ है। प्रथों किए जाने और वह कनापा उनकी माया सरल है वा निरस व्याप्त्य द्वारा उसमें मालूर्य और प्रसाद गुण है वा नहीं शब्दों की रचना में व्याकरण पर व्याप दिया गया है वा उस प्रथ में अनेक भाव व्योग हैं। उसमें किंव जिन

मर्तों-स्फुट-और व्यक्तिगती-का उल्लेख है; इन बातों से प्रथम के काल-निशाय और उल्लासीन रुमान्यलिंगि का कुछ पहा चमड़ा है जो नहीं प्रथम के विचार स्वरूप है अबका मुख्य हुप है यदि उस में दूसरी के विचार में है तो वे भौम-से हैं और वहाँ से लिये गये हैं, इत्यादि बातों के विवेचन को 'चहिरंग-परीक्षा' कहते हैं। जिन प्राचीन पंचितों ने गीता पर टीका और भाष्य लिखा है उन्होंने उक्त चाहीरी बातों पर अधिक ध्यान नहीं दिया। इसका कारण यही है, कि वे लोग भास्त्रादीतों सहीसे अवैषिक प्रथम की परीक्षा करते समय उक्त चाहीरी बाता पर ध्यान देने को ऐसा ही समझते थे, जैसा कि ओर्ड मनुष्य पक्ष-आध उक्तम सुनोर्धयुक्त फूल को पाकर उसके रंग, सौंदर्य सुवास आदि के विषय में कुछ भी विचार न करे, और वेष्ठ उससे पेंगुरियों गिनता रहे अपवाह ऐसे ओर्ड मनुष्य महुमाली का मधुमुक्त छता पाकर लेख लियों को गिनते में ही समय नह कर रहे। परन्तु अब पश्चिमी विद्वानों के अनुदरण से हमारे आधुनिक विद्वान् लोग गीता की चाह-परीक्षा मी बहुत कुछ करने रहे हैं। गीता के आर्य प्रत्योगी को लेन कर एक ने यह निधित्व दिया है कि या प्रथ ईशा स कर्त्ता पहल ही बन गया होगा। इससे पहल चाहका लिङ्गमुक्त ही ह निमूल हो जाती है कि गीता का घटितामान उस ईशार्य पर्म से लिया गया होगा कि वे गीता से बहुत पीछे पश्चिम हुआ है। गीता के सोहङ्के अध्याय में किस नाडिक मत का उल्लेख है उसे बोहमत उमब कर दूसरे ने गीता का रचना काल कुट्ट के बात माना है। तीसरे विद्वान् का कथन है कि तेहर्वें अध्याय में 'ब्रह्मसू-पौरीषेव' भोक में ब्रह्मसूत का उल्लेख होने के प्रत्यय गीता ब्रह्मसूत के बाट की होती। इसके विद्वान् कर्द लोग भी कहते हैं कि ब्रह्मसूत में अनेक सानोपर गीता ही का आधार लिया गया है; किससे गीता का उसके बाट माना जित्त नहीं होता। कर्त्ता ओर ऐसा भी कहते हैं कि मुद्र में रणभूमि पर अर्जुन को छात सौ अमोक की गीता कुनाने का उमय मिला संमर्द नहीं है। हों यह उमर्द है कि भीमृष्ण ने अर्जुन को क्षमार्य की बस्ती में उस बीस अमोक या उनका मात्राय सुना दिया हो और हन्ती अमोक के विद्वार को उमय ने पूछराया थे अपवाह महाम्प्रतकार ने भी उसको विलूप्त रीति से छिल दिया हो। गीता की रचना के संबंध में मन की प्रेसी प्रहृष्टि होने पर गीता-कागज में हुक्मी छाप कर लिखी ने साठूँ लिखी ने अठार्दस लिखी ने

आजकल एक उपलोक्ती भीता बकारित है उहमे केवल यही चात अलोक । १-अन्यपेक्षासार लक्ष्य इ (वी ८१३) (१) स्पाने हर्षिका तत्परीर्थी इ (वी ११ ११) (१) उर्जा वालिगाह लक्ष्य (वी १३ ११), (४) विहार-मदुराणसिद्धार्थ (वी ८१), (५) उच्चप्रतमव शास्त्र इ (वी १० १), (६) उच्च प्रात हात इनिषित इ (१२. १३) (७) धन्मना यज्ञ वरमध्या इ (वी १४ १५) इसी वर्ष और भी अनेक वासित वीक्षण बनी है।

## गीताप्रह्लद्य अथवा कर्मयोगशप्ति

उसीए और किसी ने सी मूल-क्षेत्र गीता के लोक निकाले हैं। कोइ कार्य तो वहाँ तक पहुँच है कि भक्ति का रणभूमि पर गीता का ब्रह्मस्थन पक्षणी की कोई भास्यम् कहा ही नहीं थी; ब्राह्मन् कियम् का पहुँच उक्त व्रीषि वीष के महाभारत में जोह दिया गया होगा। पहुँच नहीं कि बहिर्गण परीक्षा की वै उच्च बात उपका निर्वर्त्त है। उग्रहरणाय ऊपर कही गए पृथु की पैखुरियों वैष्णव मधु के छत की बात का ही लैकिये। बनस्तितियों के कर्मकरण के समव पृथु की पैखुरियों का भी विचार अवारप करना पड़ता है। इष्टी उहर गमित की उहायता से यह किया गया है, कि मधु मधिमयों के छत म जा छूँ होते हैं उनका आकार पक्षा होता है कि मधुरम का घनपक्ष हो क्षम होने नहीं पाता; और बाहर के आवरण का दृष्टिक्षण बहुत क्षम हो जाता है किसें भास की ऐतायता पर जाती है। असी प्रकार के उपयोगों पर दृष्टि डेते हुए हमने भी गीता की बहिर्गण परीक्षा की है और उक्ते कुछ महत्व के उद्धान्तों का विचार उस प्रक के भृत्य में परिपूर्ण में किया है परतु किसी प्रथ क्षम रहस्य ही ज्ञानना है उक्त क्षिये बहिर्गण परीक्षा के इमाइ म पहना अनावश्यक है। आमेकी के रहस्य की जानेवाली तथा उसकी उपरी और बाहरी जाता के किसानुओं में जो मैत है उसे मुरारि कवि ने कर्त्ता ही सरसठा के साथ वरदाया है—

अविवर्णित पद वाकरमहे कि व्यस्य ममीरताम् ।  
आपातालविमप्रपीवरतदुर्जामाति मंधाचक्षः ॥

अर्थात् उमुद्र की अगाख महराई जानने की यहि इष्टम हो तो किसें पूछ व्यय। इसमें सहज नहीं कि राम-राष्ट्रमुद्र के समय उक्तो जानत्वीर ब्रह्मपद उमुद्र के ऊपर से कृदत्ते हुए लक्ष्मा म ज्वले शम पैर पर्तु उनम ले किसी को समुद्र की गहराई का जान है। समुद्र-मयन के समय उक्ताभ्यो ने मन्यनम् का कर किस बड़े मारी पर्वत औ नीचे जोह दिया था और जो सञ्चमुद्र उमुद्र के नीचे पाताळ तक पहुँच गया था वही मवराष्ट्र पर्वत समुद्र की गहराई की जान लक्षता है। मुरारि कवि के इस न्यायानुसार गीता के रहस्य के जानने के क्षिये अब हम उन परिवो-और आन्वार्दों के प्रयो की ओर ज्ञान देना चाहिये किसीने गीता-सागर का मंजन किया है। इन परिवों में महाभारत के करता ही अप्राप्य है। अधिक क्षण कहे आक्षय जो गीता प्रसिद्ध है उक्ते यही एक प्रकार से कर्त्ता भी कह जा सकते हैं। इष्टक्षिये प्रथम उक्ती के मतानुसार उपरोक्त में गीता का दात्यम दिया जायगा।

‘मात्रद्वीता अर्थात् मात्रान् से जावा गया उपनिषद्। इस नाम ही से वोष होता है कि गीता मे अर्कुन को उपरोक्त किया गया है वह प्रभान रूप से मागक्षतर्म—मात्रान् के पर्वते हृषि अर्थ—के कियम् म होगा। क्योंकि श्रीकृष्ण जो भीमात्रान् का नाम ग्रावः मागक्षतर्म मे ही उत्तिया जाता है। पहुँच उपरोक्त उक्त नाम नहीं है। पूर्व काल मे वही उपरोक्त मात्रान् ने किस्तान् को किस्तान्

ने मनु की और मनु ने इस्ताकु को किया था। यह बात गीता के द्वौये अध्यायके आरंभ (१ ३) में ही हुई है। महाभारतेके अंत में नारायणीय अपाया मागवतभम का विस्तृत निरूपण है जिसमें द्रष्टव्य के मनेक चर्मों में अर्थात् भरतान्तरा में मागवतभमस्ती परपरा का वर्णन किया गया है। और अंतमें यह कहा गया है -

अतामुगादौ च सतो विवस्वात् मनवे ददो ।

मनुष्य लोकभूत्यथ सुतायेह्वाक्षे ददो ।

इह्वाकुला च कथितो व्याप्य लोकानवस्थित ॥

अपाया द्रष्टव्य के बर्तमान चर्म के तत्त्वात् मैं एस मागवतभम ने विवस्वान-मनु इस्ताकु की परपरा से विनार पाया है (म. भा. शा. १४८. ५१ ८२)। यह परपरा गीता में भी हुई उक्त परपरा से मिलती है (गीता ४ ३ पर हमारी दीक्षा देखो)। तो यह चर्मों की परपरा का एक द्वेषना समय नहीं है द्रष्टव्य परपरा की एकता के लाभ यह अनुवाड सहज ही किया जा सकता है कि गीताभम और मागवतभम ये दोनों एक ही हैं। इन चर्मों की यह एकता बेवज़ अनुमान ही पर अवस्थित नहीं है। नारायणीय या मागवतभम का निरूपण में वैष्णवायन अनगेक्ष्य से कहते हैं -

एवमेष महाकृ चमः स ते पूर्वं कृपोक्तम ।

कथिता हरिमीतासु समासविविक्षिप्तः ॥

अपाया है नृपभष्ट अनगेक्ष्य ! यही उच्चम मागवतभम विषितुक्त और संक्षिप्त रीति से हरिमीता अर्थात् भगवद्गीता में दुसे पहले ही व्याख्या गया है (म. भा. शा. १४८. १)। इसके बात पक्ष अपाया का चर दुलो अप्याय (म. भा. शा. १४८. ८) में नारायणीय भम के सबूत में छिर मी स्वप्न रीति से कहा गया है कि :-

समुपोद्वचनीकिञ्चु कृदपीदवपोमृचे ।

मनुषि दिमनस्तेक च भीता भगवता स्वप्नम् ॥

अर्थात् कौरव पाइक-मुद्र के समय जब भक्त उद्विम हो गया था तब स्वप्न भगवान् ने उस यह उपेण दिया था। इसमें यह स्वप्न है कि हरिमीता से भगवत्तीता ही का सतक्ष्य है। युद्धपरपरा की एकता के संतिरिक्त यह भी र्घान में रक्ष्ये चाप्य है कि किन मागवतभम या नारायणीय भम के विषय में दो बार कहा गया है कि वही गीता का प्रतिपाद्य विषय है उसी को 'सात्कृत' वा 'प्रकानिक चर्म' मी कहा है। एकता विकेन्द्र बताते तमन् (शा १४७ ८ ८) से स्पष्ट है गये हैं -

वारायणपरो चर्मं पुनराग्नित्वर्कमः ।  
प्राणिकाभ्युच्चेष्ट पर्मो नारायणास्मकः ॥

अथात् यह नारायणीय चर्मं प्राणिमार्गं का हो कर मैं पुनर्बन्म को याद्वेषात्म अर्थात् पूर्ण मोष का बता है। पिर इस बात का वर्णन किया गया है, कि यह चर्मं प्राणिमार्गं क्यैं है। प्राणित का यह अर्थ प्रतिश्वर ही है कि संन्यास न केवल मिरण्यवर्त्त चाग्नुर्बन्ध्य-विहित निष्प्रमम-चर्मं ही करता रहे। “सुमित्रे यह स्पष्ट है कि गीता में जो उपर्युक्त अर्थुन्त ऐसे किया गया है वह माग्नवर्त्तमं का है; और उसको महामारत्कार प्राणित विषयक ही मानते हैं। क्योंकि उपर्युक्त चर्मं मैं प्राणित-विषयक है। साथ साथ यहि ५८ा चर्ता अब कि गीता में केवल प्राणिमार्गं का ही माग्नवर्त्तमं है तो वह भी ठीक नहीं। क्योंकि वैद्यपायन ने अन्तेक्षय से पिर मैं छा है (म. म. शा ३४८. ३) :-

पतीनां चापि यो चर्मः स ते एवं शूपोक्तम् ।  
कथितो हरिमीतासु समाप्तिविदिकस्थितः ॥

अर्थात् है राजा ! यतियों - अथात् सम्बाधिया - के निहाणिमार्गं का चर्मं मी त्रुते पहले मात्राहीता में सरित्स रीति से माग्नवर्त्तमं के साथ कलम्य हिया गया है परन्तु यद्यपि गीता में प्राणिचर्मं के साथ ही पतियों का निहाणिचर्मं मी कलम्या गया है तथापि मनु-श्लाष्टु “त्यादि गीताभ्यम् भी जो परपरा गीता में थी गह है वह पतिचर्मं को स्मग् नहीं हो सकती। वह केवल माग्नवर्त्तमं ही की परपरा है मिलती है। साराज्य यह है कि गीता में अर्थुन्त को ऐसे उपर्युक्त किया जाया है वह विशेष अक्षके मनु-श्लाष्टु “त्यादि परपरा से जैसे तु प्राणित-विषयक माग्नवर्त्तमं ही का है और उसम निहाणि विषयक पतिचर्मं का ऐसे निष्प्रबद्ध पाका जाता है वह केवल आनुवादिक है। तुम् प्रियकृत और प्रस्ताव आदि महों की कथाओं से, तथा भागवत में दिये गये निष्प्राम-चर्मं के वर्णनों से (मागवत ४ २२ ६१ ५२; ७ १ २३ और ११ ४ ५ ऐसो) वह भली मोंति माल्यम् हो जाता है कि महामारत का प्राणित विषयक नारायणीय चर्म और माग्नवर्त्तपुराण का भाग्नवर्त्तमं जैसोंतो आदि मैं एक ही है। परन्तु माग्नवर्त्तपुराण का मुख्य त्रैश्य यह नहीं है कि वह भाग्नवर्त्तमं के अर्थपुक्त प्राणित त्रैश्य का उमर्फन्त करे। वह समक्ष महामारत में और विशेष करके गीता में किया गया है कि परन्तु इस समक्ष के उमर्फन्त माग्नवर्त्तमीव मक्ति का यजोनित रहस्य विष्वधना व्याकृती भूल गये थे। “सुमित्रे माग्नवत के आरम्भ के अपायांस मैं किया है कि (मागवत १ ५ १२) किना मक्ति के केवल निष्प्राम-चर्मं स्वर्य है वह सोच कर, और महामारत की उक्त न्यूनता का पुन बनाने के किये ही भाग्नवर्त्तपुराण की रचना पीछे से की गई। इससे माग्नवर्त्तपुराण

का मुम्प उद्देश्य साध रीति से मान्य हो सकती है। यही कारण है कि मागवतमें भनेक प्रकार की हरिकथाएं कह कर मागवतभर्म की मातृदर्शिका के माहात्म्य का ऐसा विचारपूर्वक बर्णन किया गया है ऐसा मागवतभर्म के क्षमित्यक अंगों का विवेचन उसम नहीं किया है। अधिक क्षया मागवतकार का यहाँ तक कहना, कि मिना भाई के लक्ष्य क्षयोग है (माग ३.५.१४)। अठएव गीता के तात्पर्य का निष्पत्ति करने में किस महामारत में गीता कही गई है, उसी नायवर्गीयोपास्यान का ऐसा उपयोग हो सकता है, जिस मागवतभर्मीय होने पर भी मागवतपुराण का उपयोग नहीं हो सकता; क्योंकि वह ऐवज मक्ति प्रश्नान है। यदि उसका कुछ उपयोग किया भी जाय, तो इस जाति पर भी व्याप्ति देना पड़ेगा, कि महामारत और मागवतपुराण के उद्देश और रचना-काल मिल मिल है। निष्पत्ति-वित्तक यतिक्रम भीर प्रहृष्टवित्तक मागवतभर्मका मूलस्वरूप क्या है! इन दोनों में मेंहे क्या हैं? मूल मागवतभर्म इति समय किस रूपान्तर से प्रस्तुति है! इस्यादि प्रभेका विचार भाये लक्ष्य कर किया आयगा।

यह मान्य हा गया, कि त्वय महामारतकार के मतानुकार गीता का क्या तात्पर्य है। अब देखना चाहिए कि गीता के माप्यकारी भीर दीकाराये ने गीता का क्या तात्पर्य निर्धारित किया है। इन माप्यों द्वाया दीकारी में आत्मल भीष्मराजाप इति गीता माप्य अति प्राचीन प्रम्ब माना जाता है। यथापि इनके मी पूर्ण गीता पर भनेक माप्य भार दीकाएँ कियी जा सुनी भी तथापि व अब उपर्युक्त नहीं हैं; भीर इनी सिये बान नहीं सकते, कि महामारत के रचना-काल से शक्तराजाप के लक्ष्य गीता का भय किस प्रकार किया जाता था। तथापि शक्तराजाप ही मैं इन प्राचीन दीकारारी ६ मर्त्यों का जा उल्लेख है (गी शा मा ८.२ भीर ३ का उपोक्तव्य दर्शे) उक्ते साकु लाल माझम होता है, कि शक्तराजाप के पुमराजीन गीकारार, गीता का भय, महामारत-कृता के अनुकार ही अनन्य-अनुष्ठयात्मक किया करते थे। भयान् उसका पह मारुति वित्तक भय स्थाप्ता थका था कि इनी मनुष्य का जन का तात्पर्य न्यून्युपयन स्वर्भर्म-विहित क्षम बरना पाहिय। परन्तु वित्तक क्षयोग का पह मिळान्त शक्तराजाप की माप्य नहीं था। इतिहिये उसका राजन करने भी अपने मन के अनुकार गीता का तात्पर्य पान ही के सिये उक्तान गीता-माप्य की रचना की है। यह बान उक्त माप्य के भारम के उत्तराप्तानमें साध रीति ते बढ़ी गई है। 'माप्य शक्त भय भय भी पही है। 'माप्य भीर 'रीति' का पृथा बुम्नार्थी उत्तराप्ता दृता है। परन्तु सामान्यता 'रीति' मृद्गम्य के लक्ष्य भयान् भीर इसके दृग्म भय बरन ही नौ बहत है। माप्यकार इनी ही दर्ता पर मनुष्य नहीं रहता वह अन्य दृग्म भी म्याप्यपूर्व नमाप्येन्द्रिया बरना है अरने मतानुकार उसका तात्पर्य क्षणात्ता है; भीर टक्की के अनुकार वह पह मी बायका है जि दृग्म का भय 'ते

सम्पन्ना चाहिये। गीता के शास्त्ररम्भ का यही स्वरूप है। परन्तु गीता के तात्पर के विवेचन में शक्तिकार्य ने जो भैं दिया है उसका कारण आनन्द के पहले योग्यता पूर्वकालिन इतिहास भी यही पर बन जेता चाहिये। ऐसिंह चर्म के बड़े तानिक्ष भव नहीं है। उसमें यह गृह तत्त्व है उनका सद्गम विवेचन प्राचीन तमय ही में उपनिषद में हो चुका है परन्तु ये उपनिषद् भिन्न भिन्न किसी के द्वारा भिन्न भिन्न तमय ही में ज्ञाय गये हैं। उससिंहे उनमें कहीं कहीं विचार विमिसता भी आ गा है। इस विचार-विरोध को विद्यने के लिये ही शक्तिकार्य ने अपने वेदान्तशूल में सब उपनिषदों की विचारेकता कर दी है और इसी कारण से वेदान्तशूल भी उपनिषदों के समान ही प्रमाण माने जाते हैं। इन्हीं वेदान्तशूलों का वृस्तरा नाम ‘प्रस्ताव अथवा ‘धारीरक्षण’ है। उधारि ऐसिंह यह के तत्त्वज्ञान का गूर्ज विचार नहीं से ही नहीं हो सकता। क्योंकि उपनिषदों का ज्ञान ग्राव वैदामविषयक अर्थात् निष्ठातिविषयक है और वेदान्तशूल वा सिंह उपनिषदों का मतीक्षण करने ही के तरह से क्लामे गये हैं। इससिंहे उनमें भी ऐसिंह प्राचिमार्ग का विद्युत विवेचन कहीं भी नहीं किया गया है। इसीलिय उपर्युक्त कथानुसार यदि प्राचिमार्ग प्रतिपाद्य मात्राकीर्ता ने ऐसिंह यह की उत्त्वशानत्रयी इस भूमिता की पुर्ति पहले पहले भी उपनिषदों आर वेदान्त शूलों के मासिक तत्त्वज्ञान की युर्णता करनेवाल्य यह मात्राकीर्ता प्रथा भी उन्हीं के समान सर्वमान्य और प्रमाणभूत हो गया। और अस्त में उपनिषदों वेदान्तशूलों आर मात्राकीर्ता का ‘प्रस्तावनक्षमी’ नाम पड़ा। प्रस्तावनक्षमी का यह अर्थ है कि उसमें ऐसिंह यह के आधारमूल तीन मुख्य प्रथा है जिनमें प्राचिति और निष्ठाति शान्ति मार्गों का नियमानुसार तथा ताजिक्ष विवेचन किया है। इस तरह प्रस्तावनक्षमी में गीत के गिने आने पर और प्रस्तावनक्षमी का तितोक्षिण अधिकारिक प्रधार होने पर ऐसिंह चर्म के स्वरूप उन मतों और सप्तांशों को गौण अथवा अप्राप्य मानने हो जिनका समाख्य उच्च तीन प्रश्नों में नहीं किया जा सकता था। परिणाम यह हुआ कि शोषणमूल के पहले के बारे वैष्ण चर्म के जीवों के सप्रग्राम (शैत विधायादैत शैत सुखादैत भारी) हिंदुस्थान में प्रचलित हुए, उनमें से प्रथ्येक सप्रग्राम के प्रवतक आनाम को प्रस्तावनक्षमी के तीनों भागोंपर (नथात् मात्राकीर्ता पर मी) मान्य किया गया, यह सिद्ध कर दियाने की आवश्यकता हुई कि इन सब सप्रग्रामों के जारी होने के पहले ही जीव तीन ‘पर्मप्रथा प्रमाण लक्ष्मी व्यते ये उन्हीं के नामार पर हमारा सप्रग्राम स्थापित हुआ है और अस्त सप्रग्राम इन चर्मप्रन्थों के अनुसार नहीं है। ऐसा करने का कारण यही है, कि पहि भार भाज्यार्य वही स्वीकार कर देते कि अन्य सप्रग्राम भी प्रमाणभूत चर्मप्रन्थ के आधार पर स्थापित हैं हो उनके सप्रग्राम का महत्व भर जाता – और, ऐसा करना किसी भी लप्रग्राम को इह नहीं भा। सप्रग्रामिक इह से प्रस्तावनक्षमी पर

मार्ग्य छिन्ने की वह रीति घब घस पड़ी तब मिस मिस पहिल अपने संप्रगायों के माप्यों के भाषार पर टीकाए रिण्मे ल्लो । वह टीका उसी संप्रगाय के खोयों दो अधिक मान्य हुआ करती थी जिसके माप्य के अनुसार वह छिनी जाती थी । इस समय गीता पर छिन्ने माप्य भी रितनी टीकाए उपलब्ध है उनमेंसे प्रायः तब इसी संप्रगायिक रीति से छिनी गई है । इच्छा परिणाम यह हुमा कि यद्यपि मूल गीता में एक ही अप मुरोष रीति से प्रतिपादित हुमा विषय गीता मिस मिस संप्रगाय की समष्टि समझी जाने समी । इन सब संप्रगायों में से शक्तिवाय का संप्रगाय भवि प्राचीन है भार तत्त्वज्ञान की दृष्टि से वही इतिहास्यान में तब से अधिक मान्य मी हुमा है । भीमदायणकरनाय का जन्म संकृ. ८५ ( शक ७१ ) में हुआ था । वर्तीसब वय में उन्होंने गुहा-प्रयेश किया ( संकृ. ८५ से ८७० ) ० । भीमकरनायाँ वे मारी और अस्त्रीकृष्ण विद्वान् तथा शमनी थे । उन्होंने अपनी रिष्य अस्त्रीकृष्ण शिक्ष से उस समय चारा और कैले हुए जैन और बीड़मतो का गठन करके अपना अड्डेत मत त्यापित विद्या भूतिस्मृति विहित वैरिक चम की रसा के लिये मरत्तमद भी चारों विद्याभा में चार मठ बनवा कर, निरूपितामाग के वैरिक सन्यास चम का कलिमुग्रे भै पुनर्जन्म दिया । वह कृष्ण विष्णु से छिनी नहीं है । आप विर्ति मी पार्मिक संप्रगाय को स्वीकृते, उसके से स्वामार्थिक विभाग अवश्य हींग । पहल्य सञ्च शन का और दूसरा आश्रण का । पहले में विन्द्रविद्वान् के विचार से परमेश्वर के सम्प का निषय करक मास का भी व्यास्तीन्यनुवार निषय विद्या चाता है । दूसरे में इस चतुर का विवरण विद्या चाता है कि मास की ग्राति के लाभन या उपाय क्या है – भवान् इस सचार में मनुष्य का विष तरह क्षाव बरना चाहिये । इनमें से पहली भवान् वातिक हीरे से दाढ़े पर इतराशाव का क्षम यह है कि – ( १ ) मैंन् यानी मनुष्य की भाँग से दिक्षेयास्य लाय रग्न् भवान् सुरि के पाणों की भनेवद्य उत्त नहीं है । इन सब में एक ही और नित्य परब्रह्म मरा बरता है भार उत्ती वी माया से मनुष्य की ईद्रियों को मिलता का मास हुमा है; ( २ ) मनुष्य क्य भास्मा मी मृक्षा परब्रह्म ही है और ( ३ ) भास्मा और परब्रह्म की पक्षा का पृष्ठान भवान् भनुभवकृष्ण पहचान है जिना काइ भी भोग नहीं पा सकता । ऐसी वी भईतवान् बहु द । ज्ञ मिदास्त वा विदा गृमरी काइ भी भवान भार गृव्य बन्नु नहीं है दृष्टिवाचर मिलता मानवी हीरे का भ्रम पा माया वी उपायि म हानेवाला भास्मन ह पाया हुआ वत्त या स्फुरन बन्नु नहीं है – वह मिस्या है । कृम तप्तवान का ही पा १ विचार बरना हा तो दासर मत की इसमें अद्वित चमा

यह वात लाभदम् । १ अन हा चुर्चा है दृष्टि द्वारा वत उ भीवद्वादस्त्रवाचाय का नयप आर खा इहर सा दृष्टि अमलना चाहिये । इन भास्म के दृष्टि विग्रह वकाल देना ।

करने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु शाकर-संप्रदाय इसने ही ही पूछ नहीं हो चका। भौति तत्वज्ञन के साथ ही शाकर-संप्रदाय का भीर मी एक चिदान्त है जो आचार-वृत्ति के पहले के समान महत्व वह है। उसका तास्पर्य यह है कि यथापि चिक्षादि के द्वारा ब्रह्मलैक्षण्य ज्ञन प्राप्त करने की योग्यता पाने के लिये सूक्ष्म-प्रस्ता में कहे यथा यहस्याभ्य के कर्म असंत आवश्यक हैं, तबापि इन कर्मों का आचरण सैद्ध न करते रहना चाहिये क्योंकि उन सब कर्मों का स्पाय करके भैत में संन्यास लिये जिना मोग नहीं मिल सकता। इसका अरण यह है कि कर्म और अन अच्छार और प्रकाश के समान परस्पर विरोधी है। “सुखिये तब बातनाभी और कर्मों के दूरे जिन ब्रह्मज्ञान की पूणता ही नहीं हो सकती। इसी चिदान्त की ‘निष्ठृतिमाग’ कहते हैं और उन कर्मों का संन्यास करके अन ही में निमग्न रहते हैं” “सुखिये ‘संन्यासनिष्ठा’ या ‘अननिष्ठा’ भी बहते हैं। उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र पर यहस्याभ्य का ये माप्य है उसमें यह प्रतिपादन किया है कि उक्त ग्रंथों में जेवल भौति अन ही नहीं है जिन्होंने उनमें संन्यासलभार्य का अयात् शाकर संप्रदाय के उपसुक्त देनां मार्गी व्य भी उपलेख है, और गीता पर ऐसे साकरमाप्य है उसमें कहा गया है कि यीता का तास्पर्य भी ऐसा ही है (गी शा मा उपेक्षात् और ब्रह्म त्, शा मा २ १ १४ ऐतो) इसके प्रमाण-स्वरूप में गीता के कुछ वाक्य मैं दिये गये हैं ऐसे ज्ञानाभिः सप्तस्त्राभिः मध्यवात्स्तुष्टे” — अर्थात् ज्ञानहपी जगि से ही सब कम कर मस्त हो जाते। है (मी ४ ३७) और उन कर्मालिङ्कों पाप ज्ञाने परिसुमाप्तते” — अर्थात् उन कर्मों का भैत अन ही मैं होता है (गी ४ ३१)। जारी पह है कि शोद्धभर्य भी हार होने पर ग्राहीन वैदिक कर्म के लिये चिह्नित माग को बेद्ध ठहरा पर श्रीशक्तिराधार्य ने स्वापित किया उसी से भनुकृष्ण गीता का मी अप है यीतामें ज्ञन और कर्म के समुच्चय का प्रतिपादन नहीं किया गया है जैसा कि पहले दीक्षार्थी ने कहा है जिन्होंने (शाकर-संप्रदाय के) उनी चिदान्त का उपलेख किया गया है कि कर्म ज्ञान-मासि का गौण धार्मन है और सबकर्म-संन्यासलपुर्वक ज्ञन ही से मील की ग्रासि होती है—यही उर्त्त ज्ञानने के लिये शाकरमाप्य किया गया है। इनके पूछ वह कि पक-आप और मी संन्यासविषयक दीक्षा किसी गर्व हा तो वह इत समव उपलभ्य नहीं है। इत लिये पही कहना पहला है कि गीता के प्राची विषयक स्वरूप का बाहर निकाल करके उत्त निष्ठृति माप का साम्राज्यिक रूप शाकरमाप्य के द्वारा ही मिल है। श्रीशक्तिराधार्य के बाद संप्रदाय के भनुपापी मधुरून भावि किन भनेक दीक्षाकार हो यावे हैं उन्होंने इस विषय में बहुषा शास्त्रार्थ ही का भनुकृष्ण किया है। इसके बाद एक यह अद्भुत विचार उत्पन्न हुआ कि भौति मत के मूलभूत महामार्गों में के ‘तत्त्वमस्ति’ नामक ये महावाक्य लंगोस्योपनिषद् में है उसी का विवरण गीता के भव्यरह भव्याओं में किया गया है। परन्तु इत महावाक्य के ब्रह्मों करके बर, पहले ‘त्’

फिर 'हन्' और फिर 'अठि' इन पदों के लिए, इस नवी क्रमानुसार प्रत्येक पा के लिये गीता के भारीम से छः छः अध्यात्म श्रीमानानन्द ने निष्पत्तपात्रादि से बोल दिये हैं। क्वर्ट लोग समझते हैं कि गीता पर थोड़े पैशाच माप्त है वह जिसी भी सप्रशाय का नहीं है — जिसका स्वरूप है, और हनुमानार्थी (पक्षनक्षत्र) हठ है। परन्तु पथार्थ हठ ऐसी नहीं है। भगवद्गत के दीक्षाकार हनुमान परिषित ने ही इस माप्त के बनाया है और यह सन्यासमार्ग का है। इसमें कई स्थानोंपर साक्षरमाप्तवा ही अर्थ सम्बन्धित दिया गया है। प्रोफेसर भेषजमूल की प्रकाशित 'प्राच्यवर्द्ध पुस्तकालय' में सर्वांगीकारीनाशपरत तेसीं हठ मानवदीर्घाता अधिवेश अनुषार मी है। इसकी प्रकाशनना में किया है कि 'इस अनुषार' में श्रीरामानुषार्थ और एक्स्ट्रा संप्रशायी दीक्षाकारोंका लिना हो उच्च उठना अनुचरण किया गया है।

गीता भी और प्रस्थानकर्मी के भन्य पर्याय पर बन इस मौति सौप्रशायिक माप्त स्थिते की रीति प्रत्यक्षित हो गई तब दूसरे संप्रशाय भी इस बात का अनुचरण करने लगे। मावाकाड अद्वैत और संस्वार का प्रतिपादन करनेवाले साक्षर सप्रशाय के लगभग तीन सौ वर्ष बाड़ श्रीरामानुषार्थार्थ (अध्य उच्चत. १ ४१) ने विधिप्राप्ति सम्प्रशाय जखमा। अपने सप्रशाय को पुष्ट करने के लिये उन्होंने भी शक्तराजार्थ ही के समान प्रस्थानकर्मी पर (भी और गीता पर भी स्वरूप माप्त स्थित है)। इस सप्रशाय का मत यह है कि उक्तराजार्थ का माया-मिष्यात्म-वाङ्मी और अदूत सिद्धान्त गोनी छढ़ है। वीक अल्ल और अंशर ये दीन तत्त्व वद्यपि निम्न हैं तथापि वीक (चित्) और अल्ल (अचित्) के गोनी ऐसे ही दूसरे के शरीर हैं। "सिद्धिये चित्तचिदित्तिष्ठ अंशर एक ही है और इन्हर शरीर के इस सभ्म चित् अचित् से ही फिर स्वूत्र चित् और स्वूत्र अचित् अर्थात् अनेक शीक और आल की उत्पत्ति हुई है। उत्तरान्दृष्टि से रामानुषार्थार्थ का कथन है (गी रा या २ १२ ११ ३) कि यही मरुका (विसुद्ध और ऊरु ऊर द्वारा किया जाया है) उत्तिष्ठ ब्रह्मस्त्रा और गीता में भी प्रतिपादन हुआ है। अब यहि कहा जाय कि 'नहीं' के गर्वों के बारण मागवतकर्म में विधिप्राप्ति मत सम्प्रक्षित हो गया है तो कुछ अविशेषोक्त नहीं होगी; क्वाँकि 'नके पाले महामारत भी और गीता में मायकर्तव्य का थोड़ा बर्बन पाया जाता है उनमें भेदभाव अद्वैत मत ही का स्वीकार किया गया है। रामानुषार्थ मागवतकर्मी वह। इसमें यथार्थ में उत्तरांश्यान 'म बात की ओर जाना जाहिये या कि गीता में प्राप्ति विषयक अमयोग का प्रतिपादन किया गया है। परन्तु उन्होंने समय में मूल मागवतकर्तव्य का कर्मवोग प्राप्त हो गया था; और उन्होंने उत्तरान्दृष्टि की दृष्टि से विधिप्राप्ति स्वरूप तथा आचरण की दृष्टि से मुक्त्यतः भक्ति का स्वरूप प्राप्त हो मुक्त्य था। इन्हीं कारणों से रामानुषार्थार्थ ने (गी रा या १८.१ और १ १) यह निशाय किया है कि गीता में वद्यपि ज्ञान कर्म भी और मृक्षि का ज्ञान है तथापि

तत्त्वज्ञन-दृष्टि से विद्यशैरैत और भाषार-दृष्टि से वासुदेवमधि ही गीता का सारांश है और कर्मनिष्ठा कोइ स्वतंत्र वस्तु नहीं - वह केवल शाननिष्ठा की उत्पा दक है। धारण-सप्ताह के अद्वितीयने के काले विद्यशैरैत और सन्यास के काले मधि की स्थापित करके रामानुजाचार्य ने मर्तों किया परन्तु उन्होंने भाषार-दृष्टि से भक्ति ही को अतिम कर्तव्य माना है। उससे बर्णास्त्रम्-विद्यैत साक्षात्कार कर्मों का मरणपर्यंत किया जाना योग्य हो जाता है और यह वहा जा सकता है कि गीताका रामानुजीय तात्पर्य मी पक प्रकार से कर्मयन्वात् विषयक ही है। कारण यह है कि कर्मचरण से विद्यशैरैत होने के बारे ज्ञान की मात्रा होने पर चतुर्वर्षीयम् का स्वीकार करके ब्रह्मचिन्तन में निमग्न रहना या ग्रन्थपूर्वक निर्लीप्त वासुदेव-मधि में तत्पर रहना कर्मयोग की दृष्टि से पक ही जात है। ऐ दोनों मार्ग निष्पृष्ठि विषयक हैं। पहीं भाषेप रामानुज के बारे प्रब एवं उप उप्रायों पर भी हो सकता है। माया की मिष्या वहनेवासे सप्ताय को सूक्ष्म भान कर वासुदेव-मधि को ही सच्चा मोभ-साधन बहुत्तमेवासे रामानुज सप्ताय के बाइ पक तीसरा सप्ताय निष्पृष्ठि। उसका मत है कि परज्ञान और जीव को तुल अर्थों में पक, और तुल अर्थों में मिल मानना परस्पर विस्तृ और असंक्षम जात है। "सुखिय दोनों की सदैव मिल मानना चाहिये क्षीकृति इन दोनों में पूर्व अपवा अपूर्ण रीति से भी एकता नहीं हो सकती। इस तीसरे सप्ताय को द्वैत सप्ताय छहते हैं। इस सप्ताय के अंगों का फहना है कि इनके प्रकर्तु भीमधाचार्य (भीमणानार्तीर्थ) ऐ जो संवत् १२५५ में रमाचिस्त्र एवं और उस समय उनकी अवतारा ७९ वर्ष थी थी। परन्तु बाकर माहारकर ने जो पक अपेक्षी ग्रन्थ "वैष्णव ईव और अन्य पन्थ" नामक शाल ही में प्रकाशित किया है उसके दृष्टि ५६ में विद्यशैरैत आठि ग्रामों से यह सिद्ध किया गया है कि मध्याचार्य का समय उच्चत् १२६४ से १३१३ तक था। प्रस्थानत्रयी पर (अर्द्धत् नीता पर भी) भीमधाचार्य के जो भाष्य है उनमें प्रस्थानत्रयी के सब प्रार्थों का द्वैतमत् प्रतिपाद्य होना ही बहुत्तमा गया है। गीता के अपने माध्य में मध्याचार्य बहते हैं कि वष्टपि गीता में निष्काम कर्म के महत्त्व का बहन है तथापि वह केवल साधन है और भक्ति ही अपेक्षम निष्ठा है। भक्ति की सिद्धि हो जाने पर एवं करना बहुत्तर है। "प्यानन् कर्मफलस्याः" १। परमेश्वर के ज्ञान भव्यता भक्ति की अपेक्षा कर्मप्रस्थाग अपार्ति निष्काम कर्म करना भेद है - इस्त्वा गीता के तुल बचन उच्च सिद्धान्त के विस्तृ हैं परन्तु गीता के माध्यमाध्यम (गीता मा भा १ १३) में सिद्ध किया है कि नन बचनों को अन्वरशः सत्य न समझ कर अपवाचनम् ही समझना चाहिये। चापा सप्ताय भीकृत्माचार (अस सदत् १ १४) का है। रामानुजीय और माध्यसप्तायाम् के समान ही यह सप्ताय वैष्णवपर्थी है। परन्तु जीव कर्म और इस्तर के सदृश मैं "स सप्ताय का मत

विशिष्टाद्वैत और द्वैत मतों से मिल है। यह पंथ इस मत को मानता है कि मायारीहि इमूल जीव और परमात्मा ही एक वस्तु है; दो नहीं। इच्छिये इसको 'शुद्धाद्वैती संप्रगाय कहते हैं। संपादि यह भीसंकरनाय के समान इस मत को नहीं मानता कि जीव और ब्रह्म एक ही है और इसके उद्दान्त मुहूर्त ऐसे हैं— ऐसे जीव अभि भी चिनगारी के समान असर का अस्त है मायामूल अस्त मिथ्या नहीं है; माया परमेश्वर की इच्छा से विमुक्त हुई एक शक्ति है मायाद्वीन जीव को मिना ईमर की इक्षा के मोमश्यन नहीं हो सकता। इच्छिये मोक्ष का मुख्य साधन मायाद्वैतिक ही है— जिनमें यह संप्रगाय शास्त्र-संप्रगाय से भी मिल हो गया है। इस मार्गवाले परमेश्वर के अनुग्रह जै 'पुष्टि' और 'पोपण' मी कहते हैं जिससे यह पथ 'पुष्टिमाण' भी कहस्यता है। इस संप्रगाय के सत्त्वादीपिका आदि वित्तने गीतासब्दी ग्रन्थ है, उनमें यह निश्चय दिया गया है कि भगवान् ने अखुंन को पहले सास्त्रज्ञन और क्रमबोग करताया है एवं अन्त में उसको मस्त्यमृत पिष्ट कर इत्यात्म दिया है। इच्छिये मायाद्वैतिक— और विशेषता निहृति विषयक पुष्टिमार्गीय भक्ति— ही गीता का प्रधान शास्त्रर्थ है। यही कारण है कि भगवान् ने गीता के अन्त में यह उपरोक्त दिया है कि सर्वकर्मान् परित्यन्य मामेक शरण वद— सद चमों को छोड़ कर केवल मरी ही शरण से (यी १२ ५६)। उपर्युक्त संप्रगाय के अतिरिक्त निम्नार्क का व्याप्तया हुआ एक और वैष्णव संप्रगाय है जित्तमें रामादृष्ण की भक्ति कही गयी है। डाक्टर म्यानरकर ने निखित दिया है कि ये आत्माय— रामानुज के बाबू और मध्याचार्य के पहले— कीव उक्त १२१६ में हुए थे। जीव अस्त और इमर के सबभाग में निम्नार्कार्य का यह मत है कि संपादि ये तीनों मिल हैं तथापि जीव और अस्त का व्यापार वृथा अस्तित्व ईश्वर की इच्छा पर अवधिकृत है— स्वतंत्र नहीं है— और परमेश्वर में ही जीव और अस्त के सूत्र रुख रहते हैं। इस मत को उद्दिष्ट करने के लिये निम्नाकार्य ने केवल वाय्मीरिमाहान्त्राय ने यीता पर वक्तव्य प्रसाधिता नामक दीक्षा लियी है और उसमें यह करत्यया है कि गीता का वाच्यादित अप्य इसी संप्रगाय के भग्नकूल है। रामानुजाकार्य के विशिष्टाद्वैत पंथ से इस संप्रगाय को भस्ता करने के लिये न्यौ द्वैताद्वैत संप्रगाय कह सकेंगे। यह शात स्वप्न है कि ये उन मिल मिल संप्रगाय शास्त्र संप्रगाय के मायाकाव्य को ल्लीकृत न करके ही पैदा हुए हैं स्पष्टि 'नभी' यह समझ भी कि औंस डे विज्ञेश्वारी चन्द्र को सर्वी माने किंतु एवं भी उपालना भयात् भक्ति निराभार या किसी अस्त में मिथ्या भी हो जाती है। परन्तु यह ओर भावरद्वक शात नहीं है कि भक्ति की उप पक्षियों के लिये भैत और मायाकाव्य को विज्ञुल घोष देना ही जाहिये। मरागड़ के भौं और अन्य लाखु-उर्ती ने मायाकाव्य भौं और अद्वैत का स्वीकार करके मी भक्ति गी। R. २

अ सर्वकं दिया है और मात्रम् होता है कि यह महिमार्ग श्रीशक्तरात्मार्य के पहले ही से जल्द आ रहा है। इस पथ में शास्त्र-सम्बन्ध के कुछ पिछान्त - भौत माया एवं मिथ्या होता और शर्मस्त्वाग की आवश्यकता - शाह और मात्र है। परंतु उस पैद का यह भी मत है कि ब्रह्मलैक्ष्मस्त्र मौखि की प्राप्ति का सब ऐसुगम चाहन मिल है। गीता में भगवान् ने पहले यही व्यरण कहाँचा है कि

‘त्रैष्ट्रिपितृतत्त्वेत्वाम्यकाप्तुचेत्तुम्’ (गी १२ ६) अर्थात् अन्धक व्रह्म पैद चित्त ऊपाना अधिक त्रैष्ट्रिम है; और फिर भर्तुन् ज्ञे यही उपदेश किया है कि ‘मकाक्षेऽत्रीष्ट्रिपितृतत्त्वम् मैं मिथ्या’ (गी १२ २) अर्थात् भर्तुन् भर्तु भक्त ही मुझ ज्ञे असिग्नाय प्रिय हैं। अत एव पह यात है, कि भौतपर्यक्तसायी महिमार्ग ही गीता एवं मुख्य प्रतिपाद विषय है। श्रीबरत्तामी ने भी गीता ज्ञे अपनी दीक्षा (गी १८ ७८) में यीडा का ऐसा ही तात्पर्य निरूपित है। मराठी मण्डा मैं इस सप्तशास्त्र का गीतासंक्षीर्ण तबोच्चम प्रथ शनेश्वरी है। इसमें कहा कि गीता के प्रथम छः भज्यायों मैं इस बीच के छः भज्यायों मैं मिल और अतिम छः भज्यायों मैं शन का प्रतिपादन किया गया है और स्वयं शनेश्वरमहाराज ने अपने ग्रन्थ के अत मैं कहा है कि मैंने गीता ज्ञे यह दीक्षा त्रैष्ट्रिरात्मार्य के माप्त्यानुसार ज्ञे है। परंतु शनेश्वरी ज्ञे इस व्यरण से विस्तृत स्वतंत्र प्रथ ही मानना चाहिये कि ‘उसमें गीता का मूल अर्थ घुरुत का कर अनेक सरस द्वान्ती से समझाया गया है; और उसमें विशेष करके महिमार्ग का उपरा कुछ अंश मैं निष्कामकर्म का श्रीशक्तरात्मार्य से भी उत्तम विवेचन किया गया है। शनेश्वरमहाराज स्वयं योगी ये ‘उत्तमिये गीता के छन्ते भज्याय के जिस भ्रोक्त देख पातक्षल योगभ्यास का विषय भाव्या है उठाई उन्होंने विस्तृत दीक्षा है। उनका कहना है कि श्रीहृष्ण भगवान् ने ‘उस भज्याय के अत (गी ६ ४६) मैं भर्तुन् ज्ञे यह उपदेश करके कि ‘तत्त्वाद्योगी भगवानुन्’ – इसकिये है भर्तुन्। त् योगी ही अपात् योगान्वयस्त्र मैं प्रवीण हो – अपना यह भगविमाब फ्रेड किया है कि उद मोक्षपथो मैं पातक्षल पाय ही सबोच्चम है और इसकिये आपने उसे पंचराज कहा है। लाराय यह है कि मित्र मित्र उत्तमायिक माप्त्यायों ने गीता एवं अर्थ अपने मर्तों के अनुदृश ही निश्चित कर किया है। फ्रैंक सप्तशास्त्र का पहली कृपन है कि गीता का प्रातिक्रियक कर्मसारं भगवान् (योग) है अर्थात् भैवस शन का दावन है। गीता में वही तत्त्वज्ञन पाया जाता है जो अपने सप्तशास्त्र मैं स्लीटृत दुमा है। अपने तप्तशास्त्र में मोग भी इही से जो भावावार अतिम वर्तम्य माने गये हैं उन्हीं का दर्जन योगा मैं किया गया है – अर्थात् मायावादसमूह भौत और शर्मलक्ष्मस्त्र मायावादत्यत्प्रतिपादक विपिणीद्वैत और चान्द्रश-भैविक, फ्रैंक और विष्णुभैविक, ग्रहा द्वैत और भैविक, शास्त्रद्वैत और मिल पातक्षल योग और भैविक, भैवस मिल, भैवस योग या फ्रैंक तप्तशास्त्र (भैवस फ्रार के निष्पृष्ठीयप्रथम मौखिमार्ग) ही गीता

के प्रभान सथा प्रतिपाद्य विषय है। १० हमारा ही नहीं किंतु प्रसिद्ध महाराष्ट्र के चामन परिणाम का भी मत ऐसा ही है। गीता पर आपने 'यथार्थीपिका' नामक विस्तृत महार्थी दीका लिखी है। उसके उपोद्घात में वे पहले लिखते हैं - 'हे महात्मन! इस अधिकार में जिसके मत में ऐसा विचार है उसी प्रकार हर एक आत्मी गीता का अर्थ लिख लेता है' और फिर शिकायत के तौर पर लिखते हैं - "हे परमात्मन! सब लोगों ने जिसी-न-जहाने से गीता का मनमाना अर्थ किया है, परन्तु इन स्थेगों का किया दुआ अर्थ मुझे पर्याप्त नहीं। महात्मन! मैं क्या करूँ?" मनेक लोकार्थिक दीकाहारों के मत की इस मिलता को शब्द कर कुछ लोग कहते हैं कि यह कि ये उब मौसूल-प्रशाय परस्तरतिरोधी हैं और यह कि इस बात का निश्चय नहीं किया जा सकता कि इनमें से कोट् एक ही संप्रशाय गीता में प्रतिपादित किया गया है तब तो यही मानना उचित है कि इन सब मौसूल-साधनों का - किंतु इसका कम महिं भी शानका - बणन स्वतंत्र दीक्षित से संसेप में भी दृष्टि, दृष्टि करके महात्मन ने अर्द्धन का समाधान किया है। कुछ लोग कहते हैं, कि मैकेक के अनेक उपायों का यह सब बणन दृष्टि, दृष्टि नहीं है किंतु इन सब की एकता ही गीता में सिद्ध की गई है। और अत मैं कुछ लोग तो यह भी कहते हैं कि गीता में प्रतिपादित ब्रह्मविद्या यथापि मामूली दृग पर देखने से सुस्तम मास्तम होती है तथापि उसका वाच्यविक सर्वं मरवत गूढ़ है जो जिन गुरु के लिये भी समझ में नहीं आ सकता (सी ४ १४)। गीता पर महं ही अनेक दीकार्थी हो जायें परन्तु उसका ग्राह्य बनने के किये गुरुवीका के लिया और कोइ उपाय नहीं है।

अब यह बात स्पष्ट है कि गीता के अनेक प्रकार के तात्पर्य कहे गये हैं। पहले तो स्वयं महामारुद्धार ने भागवत भर्मानुसारी अवान् प्रतिचिह्नित तात्पर्य कहाया है। उसके बावजूद अनेक प्रकृति भावाय इसि यसीं और मल्लज्ञा ने भास्मे समाधि के अनुसार दृष्टि निष्ठिचिह्नित तात्पर्य बनाया है। इन मिथ मिथ तात्पर्यों को देख कर काइ भी मनुष्य यज्ञ कर जाह्व ही यह प्रभ कर सकता है। - क्या एके परम्पर विरोधी अनेक तात्पर्य एक ही गीताप्रत्यय से निष्ठ्य बनते हैं। और, यदि निष्ठ्य सहते हैं तो इस मिप्रता का हृषु क्या है। इसमें सह ह नहीं कि मिथ मिथ माप्ती के भावाय वे विश्वान् चार्मिङ् और मुशील थे। यदि वहा बावजूद यह एकरात्राय के समान् महात्मवानी आव तक लकार में कोइ भी नहीं दुमा है तो भी भवित्वपात्रिका न होगी। तर फिर इनमें भी र इनके बावजूद के भावाओं में इन्होंने कर्ता दुमा। गीता काइ दृष्टि बहुत नहीं है।

---

मिथ मिथ सांखरात्रिक भावार्थोंकी गीता के भाव और दृष्टि दृष्टि दीकार्थीय बहुत के दृष्टिकालीन विट्टि वस्तु के भावित्व में हाल ही न एक वकालित हिते हैं। मिथ मिथ दीकाहारों के भावार्थों एक वादन के लिये यह दृष्टि बहुत बहुत बाबी है।

कि विस्तै मैत्रमाना अर्थ निष्ठाक सिद्धा थावे। उपर्युक्त संप्राणी के अस के पहले ही गीता कन मुझी थी। मगान् ने अर्जुन की गीता का उपरोक्त इच्छिये दिया था कि उल्लङ्घ भ्रम वूर हो कुछ इच्छिये नहीं कि उत्तरा भ्रम और भी भ्र थाव। गीता में एक ही किंवदं और निष्ठित अर्थ का उपरोक्त विद्या गया है (पी ६ १, २) और अर्जुन पर उत्तर उपरोक्त का अपेक्षित परिणाम भी हुमा है। उत्तरा सब कुछ होने पर भी मीता के तत्पर्यार्थ के विषय मैं उत्तरी गाहृदृ कर्मों हो रही है। वह प्रभ विनिश्चित है सही परनु इतका उत्तर उत्तरा विट्ठिय नहीं है किन्तु पहले पहल मास्त्रम पाहता है। उद्याहरणार्थ, एक भीठे और सुरक्ष पकाम (मिठार) को तेल कर अपनी अपनी बच्ची के अनुकूल किंवी ने उसे गेहूँ का विद्युती भी का और किंवी ने छाकर का बना दुधा करक्का तो हम उनमें से किसको दूर समझें। अपने अपने मताकुलार सीरीं का उत्तरा दीक है। उत्तरा होने पर भी इस प्रभ व्य निषय नहीं हुमा कि वह पकाम (मिठार) बना विच चीज से है। गेहूँ वी और छाकर से अनेक प्रकार के पकाम (मिठार) कम रखते हैं। परनु प्रकृत पकाम व्य निषय ऐसल इतना उत्तरे से ही नहीं हो सकता कि वह गोदूमप्रकाम मुख्यप्रकाम वा शर्वप्रकाम है। समुद्र भेदन के समय किंवी को अमृत किंवी को विद्य की लक्ष्मी ऐरावत औलुम पारिष्वत भावि भिन्न भिन्न पकार्य मिथे परनु इसमे ही से समुद्र के पकार्य स्वरूप का कुछ निर्णय नहीं हो गया। टीक इसी तरह साप्रदायिक रीति से गीता सामग्र को यथोदाय दीक्षाकर्तों की अवस्था हो गई है। वृषभ उद्याहरण ध्येयिये। कर्तव्य के तमय मगान् भीकृष्ण जब रग महाप मै व्यावे रव के फेल्कोंको भिन्न भिन्न स्वरूप के—जैसे योद्धा को वज्र-साधा विद्यों की कामदेव सदाश अपने माता पिता को पुनर सदाश विद्यने द्यो थे। इसी तरह गीता के एक होने पर भी वह भिन्न भिन्न सप्रदायवादी के भिन्न भिन्न स्वरूप मै विद्यने द्यी है। आप किंवी मी सप्रदाय को के यह बात सद मास्त्रम हो गयगी कि उसके उपराक्षता प्रमाणभूत भर्मपक्षो वा अनुसरण ही उत्तरा पक्षता है क्योंकि पेशा न करने से वह सप्रदाय उब खेनों की दृष्टि मै अमास्य हो गयगा। इच्छिये ऐक्षिक घर्म मै अनेक उप्राणीको होने पर भी कुछ किंवदं दृष्टों को छोड कर—जैसे भूर, चीव और भल् कापरत्वर सबूत—क्षेत्र सब यार्ते सब संप्राणीमै प्राप्ता एक ही सी होती है। उसी का परिणाम वह देव पक्ष्या है कि हमारे घर्म के प्रमाणभूत प्रक्षो प्रर वो सप्रदायिक भग्य वा टीकारें हैं उनमें शूलविद्यों के भी-सरी नहों से भी अकिञ्च वक्तों वा भूमों का मावार्य एक ही सा है। जो कुछ मैं ह वह शेष वक्तों वा भूमों के विषय ही मै है। यदि इन वक्तोंका तारत अर्थ लिया जाय तो वह सभी सप्रदायों के लिये समान अनुकूल नहीं हो सकता। उचित्य मित्त भिन्न सप्रदायिक टीकाकार इन वक्तों मैं से वी अपने सप्रदाय के लिये अनुकूल ही उहीं भी प्रकाम मान कर और अस्य सब वक्तों

के गोण समव एवं, अयका प्रतिकूल वजनों के अथ दो किसी मुक्ति से कठोर एवं, या मुद्रेष सधा सरस कचना मैं हि कुछ क्लेपार्थं या अनुमान निषाढ़ कर, यह प्रति पाइन किया करते हैं कि हमारी ही संप्राणय उक्त प्रमाणों से विद् होता है। उग्रहणाथ, गीता ८ १२ और १३ ३ १० ३ ३ और १८ २ स्प्रेष्टे पर हमारी दीक्षा देते। परन्तु यह बात सहज ही किसी की समझ में आ जाती है कि उक्त सांप्रग्राहिक रीति से प्रथ का तात्पर्य निष्प्रित करना और इस बात का अभिमान न करके कि गीता में अपना ही संप्राणय प्रतिपादित हुआ है अयका अन्य किसी भी प्रकार का अभिमान न करके सम्प्र प्रैय की स्वतंत्र रीति से परीक्षा करना और उस परीक्षा ही के आधार पर प्रथ का मधिगार्थ निष्प्रित करना ये दीनों बात त्वया बता अस्यत मिथ्य है।

प्रैय के तात्पर्य निष्प्रिय की सांप्रग्राहिक हाइ सदाय है। इससिये इसे यहि लैह दे दा अब यह क्लेपना चाहिये कि गीता का तात्पर्य बनने के किम दूरता ताप्तन है क्या। प्रैय प्रकरण और वाक्यों के अथ का निर्णय बरने मैं मीमांसक द्वेष अत्यंत कुशल होते हैं। इस विषय मैं उन स्थेगों का एक ग्राहीन और सर्वामान्य क्षेत्र है-

उपक्रमोपसंहारी अस्यामोऽपूर्वता कर्त्तम् ।

अर्थवादोपपत्ती च छिक्ष्य तात्पर्यनिष्प्रिये ॥

किसीमैं के बहते हैं—किसी मी देव, प्रकरण अयका प्रैय के तात्पर्य का निर्णय करने मैं, उक्त स्मोह में कही दुर बात जारै साधन (सिंग) स्वरूप है; इससिये इन सब जातों पर अवश्य विचार करना चाहिये। इसमैं सबसे पहली जात

उपक्रमोपसंहारी अस्यामो अस्याम और अस्य है। द्वैर्य मी मनुष्य अपने मन मैं कुछ विशेष हेतु रख कर ही प्रैय किस्मता आरम्भ करता है और उस हेतु के छिक्ष्य होने पर प्रैय को तमाज़ करता है। अतएव प्रैय के तात्पर्य निष्प्रिय के किये उपक्रम और उपसंहार ही का उक्ते पहले विचार किया जाना चाहिये। दीपी ऐता की व्याप्त्या करते तमय भूमितिशाय मैं ऐता वहा गया है कि आरम्भ के किन्तु के जो ऐता चाहिने-कार्य पा उपरनीये किसी तरफ नहीं सुख्ती और अस्तित्व विनु तर सीधी जल्दी जाती है तो सरस रेत्य कहते हैं। प्रैय के तात्पर्य-निष्प्रिय मैं मी यही निष्कान्त उपयुक्त है। ये तात्पर्य प्रैय के आरम्भ और अन्त मैं बाफ बाफ हम्मण्ड है वही प्रैय का तरल तात्पर्य है आरम्भ ने भन तर बने के किये महि अथ माय ही भी दा उहै ऐ समझना चाहिये। आलम्ब रेत्य कर प्रैय का तात्पर्य पहले निष्प्रित कर ऐता चाहिये और तर पर हेत्मा चाहिये कि उक्त प्रैय मैं अस्याम अपांत् पुनरुक्ति स्वरूप मैं दर बार क्या बहा गया है। क्यों कि प्राप्तरार के मन मैं विन बात के विद् करने की उप्ता होती है उक्ते कम्पन के किये वह अनेक बार कर

कारणों का उल्लेख करके बार बार एक ही निष्ठित चिद्गुन्त को प्रकट किया करता है और हर बार कहा करता है कि “सुखिये यह बात चिद हो गई”

अतएव ऐसा करना चाहिये इत्यादि । इन्ह के तात्पर्य का निषय करने के लिये ये चीया साधन है उल्लो अपूर्वता और पौच्छें साधन का फल । कहते हैं । कोई भी प्रम्पकार जब प्रथम चिन्माण मुरु बनता है तब वह इस नई बात करनाना चाहता है जिस इस नवीनता या किंचित् बदलाव के बह प्रथम चिन्माण में प्रवृच्छ नहीं होता । किंचित् यह बह करके यह बात उस चमाने में पाई जाती थी जब कि अपराने नहीं थे । इसलिये किसी ग्रन्थ के तात्पर्य का निर्वय करने के पहले यह भी देखना चाहिये कि उसम अपूर्वता किंचित् या नवीनता क्या है । इसी तरह ऐन अथवा ग्रन्थ के फल पर भी — अर्थात् उस अन्य या ग्रन्थ से जो परिणाम दुमा हो उस पर भी — ज्ञान देना चाहिये । क्योंकि अनुक फल हो इसी हेतु से प्रथम चिन्माण बनता है । “सुखिये यहि अद्वित परिणाम पर ज्ञान दिया जाय तो उससे ग्रन्थकर्ता का आद्यम बहत थीक ठीक अच्छ हो जाता है । कृतों और साक्षों साधन अर्थवाद’ और

उपराजि है । अर्थवाद मीमांसको वा पारिमाणिक सम है ( दै. ख. १. २. १८ ) । इस बात के निष्ठित हो जने पर भी कि इसे मुक्त्यता किस बात को बनाय बनाय बनाय देना है अपरा किंच बात को चिद बनाय है कभी कभी प्रम्पकार दूसरी अनेक बातों का प्रसगान्नुसार बर्णन किया बनता है जिसे प्रति पाद्धन के प्रवाह में इष्टास्त देनेके लिये दुर्लभ फरके एक्षबासवधा करने के लिये समानता और भेद के लिये अस्तकार और अतिगायोकि के लिये और सुलिङ्गाद के पोक्क किसी किया का पूर्व “तिष्ठास बस्तने के लिये और इस बर्णन भी बर्णता है । उक्त कारणों या प्रवाहों के अतिरिक्त और भी अन्य कारण हो सकते हैं; और वही तो किंचित् बारत्य नहीं होता । ऐसी अवस्था में प्रम्पकार जो बर्णन बनता है वह परापरि कियवान्तर नहीं हो सकता तथापि वह बैवल गौरव के लिये या स्वाक्षरत्य के लिये ही किया जाता है । “सुखिये यह नहीं माना ज्य रक्ता, कि उक्त बर्णन इन्द्रेण रत्य ही होगात । अविक्ष स्या बहा जाय कभी कभी स्वयं प्रम्पकार यह ऐन्मे के लिये साक्षात् नहीं रहता कि पै अप्रवान बातें अमरण रत्य है या नहीं । अतएव ये सब बातें प्रमाणभूत नहीं मानी जाती अर्थात् यह नहीं माना जाता कि “न मिम मिम बातों का प्रम्पकार के चिदास्त पद्म के जाय कोई फना सम्भव है ।

अर्थवाद का बर्णन यहि बस्तुस्थिति ( बस्तवता ) का आपार पर दिया जाय हा तो उसे ‘अतुष्ठ बहत है यदि विद्य तीर्ति से किया जाय हा तो उच्च ‘तुष्ठाद’ बहत हैं और पर्याप्त इहसे मिल पहार का हा तो उसे सूतार्थवाद बहत है । अर्थवाद जामान्य रत्य है उक्ते सापाहृत्यप्रमाण से उक्त तीर्ति देह किय जाये हैं ।

उक्त यही माना जाता है, कि ये सब बारें भारतीय अर्थात् ऐसे प्रश्नों पर सूति ही के लिये हैं। ऐसा समझ कर ही मीमांसक सामग्री है अर्थात् वह करते हैं और इन अर्थवाचालम्बक बातों को छोड़ कर फिर प्रश्न का सार्थक निभित किया करते हैं। इतना कर देने पर उपपत्ति भी और भी ध्यान देना चाहिये। किसी विशेष बात को चिठ्ठ कर लिखने के लिये उच्चक प्रमाणों का दृष्टव्य करना और साधक प्रमाणों का लक्षणात्मक महन करना 'उपपत्ति अथवा 'उपाधन' कहलाता है। उपनम और उपसाहार-कप आदन्त के शेरों के सिर हो जाने पर, बीब का मार्ग अर्थात् और उपपत्ति की सहायता से निभित किया जा सकता है। अर्थात् से पहल मास्त्र हो जाता है कि बैन-सा विद्य प्रसुत और आनुयायिक (अप्राप्तान) है। एक बार अर्थात् का निर्णय हो जाने पर प्रश्न-तात्पर्य का निष्पत्ति करनेवाल्य मनुष्य कर दें एवं यहाँ से अप्राप्त आप ही आप पहुँच जाता है। इमारे प्राचीन मीमांसकों के ऊहराये हुए प्रश्न तात्पर्य निर्णय के ऐ निष्पत्ति सब देखो के विशेषों को एक समान मास्त्र है। "एक्षिये उपरोक्ता और भावस्यक्ता के सम्बन्ध में यहाँ अदिक विवेचन करने की आवश्यकता नहीं है।"

इस पर पहल प्रम किया जा उक्ता है कि यह मीमांसकों के उक्त निष्पत्ति सम्बन्ध प्रश्नों से आदायी बो मास्त्र नहीं थे। यहि ऐ सब निष्पत्ति प्रथा ही म पाये जाते हैं जो फिर उनका कहाया हुआ गीता का तात्पर्य एकत्रित किये कहा य सकता है। उनका उत्तर इतना ही है कि एक बार किसी भी दृष्टि सम्प्राप्ति (सुनुचित) का आसी है, तब वह भावक्तव्य का स्वीकार नहीं कर सकता — तब वह किसी-न किसी रीति के पही चिठ्ठ करने का वज्र दिया करता है कि प्रमाणभूत भूमप्रथा में भावने ही सप्ताय का वर्णन किया गया है। इन प्रथाओंके सार्थक के निष्पत्ति में लग्न-शायिक दीक्षाकारी की पहले ही देखी पारणा हो जाती है कि यहि उक्त द्रष्टा का इछु दुख्य भर्त्य हो जाता है औ उनके सप्तायिक भूत से मिल हो जो के पहल उपस्थित हैं जि ऊपरा हेतु कुछ भौत ही है। इत प्राचार बन ऐ पहल से निभित किये हुए भावने ही सप्ताय के अप को सत्य मानने सकते हैं और वह चिठ्ठ कर दियाने का यज्ञ करने लगते हैं कि वही भर्त्य सब भावित धर्यो मैं प्रतिपादित किया

उप-तात्पर्य-निर्णय के ऐ निष्पत्ति आदी अद्वाहता में भी देख जाता है। उपसाहारणाम् - बाल लीलिये कि किसी फैलते का छुप मालब नहीं निकलता। तब दृष्टव्यनाम का ऐत कर फैलते के अप का निष्पत्ति किया जाता है। आर वहि किसी फैलत म हुआ दर्ता बात हा थ कुछ विवर का निर्णय कानन म आवायक नहीं हा तो र तून। कुछ बात म प्राप्त (नवीनी) नहीं मानी जाती। एकी बाल का अद्वीनी म आदित दिक्षा (Obiter Dicua) अर्थात् बाल दियान कहत ह। अवाय थ वह अपवाह ही का एक अद्वा है।

गया है। वह ऐ इच्छा की परवाह नहीं करते कि हम मीमांशादास्त्र के कुछ नियमों का बहावन कर रहे हैं। हिन्दु चर्मशास्त्र के मिनास्तर ग्राहणम् इत्यादि धर्मों में सूक्ष्मिकघनों की व्यवस्था या एकता इसी सत्त्वानुसार की जाती है। ऐसा नहीं समझना चाहिये कि यह व्यत केवल हिन्दु चर्मधर्मों में ही पार्श्व जाती है। किंतु इसके आविष्यक वायवस और मुख्यमानों के कुरान में भी ऐसे केवल हिन्दूधर्म प्रस्तावों ने ऐसा ही अर्थात् वर दिया है। और इसी तरह इसाँधों ने पुराणी वायवल के कुछ वास्तों का अर्थ यहूदिया से मिल मिल माना है। यहाँ तक ऐसा जाता है कि वह कभी यह व्यत पहले ही से निश्चित कर दी जाती है कि विसी विषय पर अमुक प्रेष्य या अप्य ही का प्रमाण मानना चाहिये और वह कभी इस प्रमाणमूल व्यवहार निष्पत्ति प्रेष्य ही के आधार पर व्यत जाती का निष्पत्ति करना पड़ता है। उस तो ईशार्यं निर्वयं की उसी पद्धति का स्वीकृत दिया जाता है किंतु उसेल अपर दिया गया है। मात्रल के बड़े बड़े कायें-पीठियं वरीब और स्वायात्रीयं जैग पहले ही प्रमाणमूल कानूनी किंवादों और ऐसके अथ अप करने में वे लीचातानी वरते हैं। उल्लङ्घ रात्य मी यही है। वहि सामान्य लैकियं जारी में यह हाउ है तो उसमें कुछ भाव्यं नहीं कि हमारे प्रमाणमूल चर्मधर्मों—उपनिषद्, वेदान्तशूल और गीता—में भी ऐसी लीचातानी होने के अरण उन पर मिल मिल सप्तार्थों के अनेक भाव दीक्षार्थ सिद्धे गये हैं। परन्तु इस सौप्रशायिक पद्धति को अंगूष्ठ कर, जहि उपर्युक्त मीमांशकों की पद्धति से मम्मात्रीता के उपक्रम उपलहार भावित को हैं, तो मास्त्र हो जातेया कि भारतीय युद्ध अथ आरम्भ होने के पहले वह कुस्तेव में नोनों पहाँ और ऐनाएँ अशार्द के लिये मुलाकृत हो गए थीं और वह एक दूसरे पर व्यवहारने ही जात्य वा कि इन्हें मैं अर्जुन व्यवहारन की वर्दी वर्दी वाते करनेव ल्या और किमलक हो कर उन्माल खेले तो तैवार हो गया; तभी उसे अपने भावधर्म में प्रवृत्त करने के लिये मात्रान् ने गीता अथ उपर्युक्त दिया है। जब अर्जुन यह देखे अग्ना कि तुहु तुवोक्त के सहायक वन कर मुस्ते अशार्द करने के लिये खेल-खैन से भर और पहाँ आये हैं। तब यह भीष्म पितामह गुरु श्रीणार्थं गुरुपुत्र भक्तपात्रा विपशी ल्ले तुण अपने दूसरे और यज, अन्य द्रुद्द तथा आस मामा ल्लक्षा भावि रिष्टेश्वर, अनेक राज्य और राज्यपुत्र भावित उन जैग उसे बीज पढ़े। तब वह मन में सोचने ल्या कि इन उन को भेज़ एक छोटे-से हरितानापुर के राज्य के स्थिते निर्वयाता है मारना पड़ेगा और अपने कुछ वह उन करना पड़ेगा। इस महात्याप के मन से उत्पन्न मन एकत्र तुलित और भुज्ञ हो गया। एक और तो शावधर्म उसे अथ रहा वा कि 'युद्ध कर'; और दूसरी ओर से पितॄमणि, गुरुमणि, द्वुप्रेम त्रुप्रीति भावि अनेक वर्म उसे वर्कर्त्ता ते पीछे लौंग रहे हैं। यह वहा भारी सकट वा। वहि अशार्द भी तो अपने ही रिष्टेश्वरों की गुरुकों की और चुन्न-मित्रों की इस्ता कर के महापात्र के भागी हैं। और

छाई न करे तो आत्मर्थम से अनुठ होना पड़े ॥ इसर ऐसे सो कुमों और उधर दैत्ये हो जाएं ॥।।। उस समय अद्वितीय भक्ति की ही हो गई थी जहाँ और उस टक्करी दुर्दणे के रेखांशियों के बीच में किसी असहाय मनुष्य की हो जाती है । यद्यपि अद्वितीय कोई चालाण पुरुष नहीं था वह एक वय मारी योद्धा था, तथापि अमौर्यम के इस महान् उपर में पह कर भेजारे का युद्ध सुन गया शरीर पर रोगटे लगे हो गये अनुष्य हाथ से गिर पड़ा और वह 'मैं नहीं छढ़ूँगा' वह उस अति दुरिति चित्र से रथ में बैठ गया । और अंत में उमीपवर्ती बुलोह का प्रम्भव - उस ममत्व का प्रम्भव जो मनुष्य को स्वभावतः प्रिय होता है - दूरवर्ती दक्षिणायम पर अम ही गया । तब वह मौहवध हो कहने लगा, "पिता-सम पूर्ण युद्ध और मिश्रो को मार कर तथा अपने दुल का भय करके (धौर पाप करके) रात्रि अ एक दुर्घटा पाने से दुर्घटे मौर्गा कर यीकत निर्वाह करना कही भेयल्कर है । जाहे मेरे युद्ध मुझे अमी निश्चल ऐर कर मेरी गर्वन उठा है परलु मैं अपने स्वजनों की हत्या करके उनके लक्ष्य और शाप से सने हुए दुलों का उपभोग नहीं करना चाहता । क्या सात्रभर्त्म इसी द्वे अहो है । माई को मारो गुर जी हत्या करो पिरुषम करने से न उड़े अपने दुल का नाश करो - क्या यही सात्रभर्त्म है । आग लो ऐसे अनर्थकारी शात्रभर्त्म में और गाढ़ मिरे ऐसी शात्रनीतिपर । दुष्फनों को ये तब उपर्युक्ती जाते मात्रम नहीं है वे युद्ध हैं तो क्या उनके साथ मैं भी पापी हो जाऊँ । कभी नहीं । मुझे यह देखना चाहिये कि मेरे आत्मा अ वस्त्राण ऐसे होगा । मुझे तो यह थोर हत्या और पाप करना भेयल्कर नहीं चाहता; फिर जाहे आत्मभर्त्म शात्रविहित हो जो भी इस समय मुझे उपर्युक्ती आवश्यकता नहीं है । इस प्रकार विचार करते करते उपर्युक्त चित्र हाँचाहीळ हो गया और वह किर्तनमिश्र हो कर मगान् भीहृष्ण की शरण में गया । तब मगान् ने उसे गीता का उपरोक्त दै कर उपर्युक्त चित्र की स्पित और शात्र कर दिया । इसका यह फल हुआ कि वो अद्वितीय पहले मीष्य भारि गुरुओं की हत्या के मय के कारण युद्ध से पराहृष्ट हो रहा था वही अब जीता का उपरोक्त तुन कर अपना योग्यित कर्त्तव्य समझ गया और अपनी स्वतंत्र इष्य से युद्ध के लिये उत्तर हो गया । यहि हमें गीता के उपरोक्त का रहस्य जानना है तो उपर्युक्त साहार और परिणाम को भवस्य प्याज मै रखना पड़ेगा । यहि हे मोह के मिलता है । जगहान् या पातुङ्ग योग से मोह की तिद्दि है तो होती है । इत्यादि देवत निहृति-मर्यादा या कर्मन्यागार्थ्य तन्यात् भर्त्म-संकीर्ती प्रभों की चर्चा करने का कुउ उदय नहीं था । मगान् भीहृष्ण का यह उपरोक्त नहीं था कि अद्वितीय तन्यात्-दीक्षा से कर और फैरानी ज्ञ कर मीण मगान् थिए, या स्मार्ती स्मार्त कर और नीम पले न्य कर मृत्युपरात् हिमाल्य मै बोगाम्बात् जाओता रहे । भवता मगान् का यह मी उपरोक्त नहीं था, कि अद्वितीय अनुष्य-ज्ञ को यैक है और हाज मै बीपा देवा मृगा से कर कुरुक्षेत्र की अमंभूमि मै उपरिक्त महरतीय लाजमुपाद

के सम्मेलनशाम का उत्तरण करता हुआ, शृङ्खला के उमान और एक दुर्वा भपना नाच दिखाये। अब यो अश्वत्थारु पूरा हो गया था और अर्द्धन का कुरुक्षेत्र में रहे हो कर और ही प्रकार का नाच नाचना था। गीता कहते कहते रहने स्थान पर ममान् ने अनेक प्रकार के अनेक कारण कर्त्तव्य दिखाये हैं और अंत में अनुमानशास्त्र के अस्त्र महत्व के उत्तमात् ('दृष्टिये') पर का उपयोग करके, अर्द्धन को यही निश्चितार्थक कर्म विद्ययक उपयोग दिया है कि 'तस्मादुप्यत्वं मारत' — इसकिये है अर्द्धन। तु मुद्र कर (गी २ १८); 'तस्मादुत्तिष्ठ कौटिय मुद्रय इतनिष्ठयः' — इसकिये है कौटिय अर्द्धन! तु मुद्र का निष्ठय करके उत्तर (गी २ १७); 'तस्मादुत्तिष्ठ सततं कार्यं कर्म समाचार' — इसकिये तु मोह छोड़ कर भपना कर्त्तव्य कर्म कर (गीता १ ११) कुरु कर्म तस्मात् त्वं — 'स किये तु कर्म ही कर (गी ४ १६) ममनुम्नम् युम्न च' — इसकिये मेरा स्वरूप कर और यह (गी ८ ७) 'करते-करानेकार्थं तत् कुरु मै ही हूँ, तु ऐस निमित्त है, इसकिये मुद्र करके शत्रुओं को चीरा (गी ११ ३१) 'यामोक कर्त्तव्य करना द्वाह वित्त है' (गी १६ २४)। अनगरहये आत्माय के उपरहार में ममान् ने अपने निश्चित और उत्तम मरु को और मी एक बार प्रकट किया है — इन तत् कर्मोंको करना चाहिये (गी १८ ६)। और अलमै (गी १८ ७२) ममान् ने अर्द्धन से प्रम किया है कि 'है अर्द्धन। मेरा भजन मोह अभी एक नह दुमा कि नहीं।' तु पर अर्द्धन ने उत्तोपक्षक उत्तर दिया —

नहो मोहः स्मृतिर्दृष्ट्वा त्वग्रापसादान्मयाच्युतः ।

स्थितोऽस्मि मतसदैहा करिष्ये वचनं तत् ॥

अर्थात् है अस्युत! स्वर्तुत्यर्तुत्यधी मेरा मोह और उत्तेह नह हो गया है अब मैं आप के कर्मानुषार सब कर्म करूँगा।" पह अर्द्धन का केवल मौखिक उत्तर नहीं था उसने सचमुच उस मुद्र में भीष्म कर्म-क्षमत्वात् आदि का वष भी किया। तु पर कुछ स्मैय कहते हैं कि 'ममान् ने अर्द्धन को उपयोग दिया है वह केवल निष्ठिकिञ्चक ज्ञान योग था महिं का ही है और यही गीता का मुम्न प्रति वाय विवर मैं है। परंतु मुद्र का आरम हो जाने कारण वीच वीच में कम की थोड़ी-सी प्रवासा करके ममान् ने अर्द्धन को मुद्र पूरा करने दिया है। अर्थात् मुद्र का उमास कला सुस्पष्ट बात नहीं है — भानुप्रिण या अपेक्षाकृतक ही मानना चाहिये" परंतु ऐसे अधूरे और कमज़ोर पुरुषियाँ हैं गीता के उपनिषदों पर तो इसी बात के महत्व को दिलाने की आवश्यकता थी कि स्वप्नमध्यभी अपने कर्त्तव्य की मरणपर्यन्त अनेक बदल और बाधाएँ सह कर मी करते रहना चाहिये। तु बात को चिन्द करने के किये श्रीकृष्ण ने गीतामर में कही मी दे रिए पैर का कारण नहीं क्षमत्वात् है इना ऊपर किये हुए कुछ छोरों के आक्षेप

मैं कहा गया है। यहि ऐसा सुकिहीन कारण चतुर्थया मीं गया होता थे अर्जुन-सरीमा तुदिमान और अनन्दीन करनेवाल्य पुरुष इन बातों पर विचार किए कर रहे हैं। उसके मन मैं मुझ्म प्रभ भव्या था। यही न कि मर्यादर त्रुत्यव्य को ग्रन्थस्त्र औंगों के भागे देकर मीं मुझे मुख करना चाहिये या नहीं और मुख करना ही चाहिये तो किए, किसके पाप न थो! इस किंतु प्रभ के (इस प्रबलन विषय के) उक्त को कि “निष्काम-तुदि से मुख कर” या कर्म कर — मर्याद कह कर मीं नहीं टाँठ उक्त। ऐसा करना मानो घर के मार्किन को उसी घर मैं मैदान करा देता है। हमार्य यह कहना नहीं है कि गीता मैं भेदभाव भक्ति और पातञ्जल योग का उपदेश किञ्चुक दिया ही नहीं गया है। परन्तु इन तीनों विषयों का गीता मैं ये मिस किया गया है वह भेदभल ऐसा ही होना चाहिये, कि किसके परस्पर-विश्व घमों के मर्यादर संकट में पड़े हुए यह कहे कि वह” कहनेवाले कर्त्तव्य-भूत भर्जुन को अपने कर्त्तव्य के विषय में कोई निष्पाप मार्ग मिस छाय और वह स्वातंत्र्य के अनुसार अपने शास्त्रविहित कर्म मैं प्राप्त हो जाय। इसमें यही एक विद्व होती है कि प्राप्तिवर्म ही का शन गीता का प्रबलन विषय है; और अस्य एक बातें उस प्रबलन विषय ही की लिदि के लिये कही गई है। अर्थात् के उन आनु परिवर्त हैं: अतएव गीतावर्म का रहस्य मैं प्राप्तिविषयक अर्थात् कर्मविषयक ही होना चाहिये। परन्तु एस बात का स्पष्टीकरण किसी टीकाकार ने नहीं किया है कि वह प्राप्तिविषयक रहस्य भव्या है; और भेदान्तशास्त्र ही से किए विद्व हो सकता है। किंतु टीकाकार को देखो वही गीता के भायन्त्र के उपर्युक्त उपसद्वार पर ध्यान न दे कर निरूपितिः के इस एक का विचार करने ही मैं निम्न दीप पत्ता है कि गीता का व्रजशान या भक्ति अपने ही संप्रग्राम के अनुकूल है। मानो शन और भक्ति का कर्म से नित्य सम्बन्ध बहुत्यना एक बड़ा मारी पाप है। यही इस एक टीकाकार के मन मैं हुई थी; और उसने किया था कि स्वयं भीकृप्य के चरित्र को औंग के लाम्ने रख कर भावहीता का अर्थ करना चाहिये<sup>१</sup>। भीक्षेत्र काशी के मुख्यविहार भवेती परमहंश भीकृप्यानन्द स्नामी का — जो अभी हास ही मैं लमाविषय है — स्नामहीता पर स्त्रिय हुमा गीता परमाय नामह सकृद मैं पक निषेध है। उच्चमे रुप रीति से यही विद्वान्त किय तुमा है कि तुम्मात् गीता नाम व्रजविश्वामूल नीतिशास्त्रम्” अर्थात् — इक्षिये गीता वह नीतिशास्त्र अपना कर्त्तव्य बनागाय है जो मि व्रजविश्वा के लिय हाता है तो पही जात अमन परिव भा

इह शीकाकार का नाम आर उद्दर्दी टीका के कुछ अकलाण बहुत दिन हुए एक व्रजवाप ने इसको एक बार बताया था। परन्तु इसारी परिविति की वरवर वह वह न जान कर्त्ता ला दवा।

<sup>१</sup> भीकृप्यानन्दस्त्रार्महात चारु विषय ( भीकृप्यादर्श शीकाकारवाग गीताप्रवाचना और गीताप्राचार ) इक्ष वर के लाभस्त्रोत वर ग्रन्थिः किय ज्ये ह।

डॉवरेन ने अपने उपनिषदों का लक्षण नामक प्रन्थ में कही है। इनके अनुरिक्षा पीछमी और पूर्वी गीता-परीक्षक अनेक विद्वानों का भी पही मत है। वरपापि इनमें से किसी ने समस्त गीता प्रन्थ की परीक्षा करके यह स्पष्टतया विश्वासने इन प्रथल नहीं किया है कि कम्प्रभान इष्ट से उसके सब विषयों और अध्यायों का मैल कैसा है। चलिं डॉवरेन ने अपने प्रन्थ में कहा है \* कि यह प्रतिपादन कल्पाप्त है। इसलिये प्रसुत प्रन्थ का मुख्य उद्देश यही है कि उक्त रीति से गीता की परीक्षा करके उसके विषयों का मैल अच्छी तरह प्रकट कर दिया जावे। परन्तु ऐसा करने के पहले, गीता के आरम्भ में परस्परविश्व नीतिकर्मी से क्षमता हुए। अर्द्धन पर वे सफल आया था उत्तमा असुखी रूप नी विश्वाना पाहिये नहीं को सीता मैं प्रतिपादित विषयों का मर्म पाठ्यों के च्यान में पूर्णतया नहीं अम उपेष्य। इसलिये अब यह जानने के लिये कि कर्म-अकर्म के क्षात्रों के विष्ट होते हैं और अनेक वार “इसे कहें कि उस” वह क्षम न पाने के कारण मनुष्य कैसा भव्य उठता है ऐसे ही प्रस्तुतों के अनेक उत्तरणों का विचार किया जाएगा औ हमारे धारों में— विशेषतः महामरण में— पाये जाते हैं।

## कर्मजिह्वासा

किं कम किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः । \*

— गीता ४ १६

भगवदीता के भारत में, परस्पर-विषय से अमों की उल्लंघन में चेष्टा जाने के कारण अकुल विष तरह कठम्बमूट हो गया था और उस पर ये मौता आ पड़ा था वह कुछ अपर्व नहीं है। उन अषमर्त्य और अपना ही पेट पाल्नाकाष्ठे शोर्ये की घट ही मिथ है ये सन्यास ले कर और सकार को छेद कर बन में चले जाते हैं अथवा ये कमवेरी के कारण काम के अनेक अन्यायों को तुपचाप सह लिया करते हैं। परन्तु समाज में रह कर ही किन महान् तुषा कार्यक्रम पुरुषों को अपने उत्तरार्थ कृत्यों का पालन अम तुषा नीतिपुरुष करना पाता है उन्होंने पर ऐसे मैंके अनेक बार आशा करते हैं। मुद्र के आरम्भ ही म अकुल हो कठम्ब विश्वासा और मोह दुआ। एसा मोह सुधिरिका को — मुद्र में मर हुए अपने रिष्टेश्वरों का भाव करते समय — हुआ था। उसके “स मोह को दूर करने के किये ‘शातिर्व’ कहा गया है। कमालमसद्य के ऐसे अनेक प्रसाद हूँट कर अथवा वरिपत करके उन पर बड़े बड़े कविया ने मुरल काम्य भार उच्चम नाटक लिखे हैं। उत्ताहरणार्थ सुप्रियद अप्रेय नाटकार हैसतपीयर का हैमलेन नाटक व्यिख्यै। हैमाक हैय के ग्रानीन राष्ट्रपुत्र हूमलेन के चाचा ने राष्ट्रता अपने भाइ — हैमलेन के बाप — को भार डाला हैमलेन की माता को अपनी जी ज्ञा लिया और राज्ञगी भी छीन ली। उत्त उस राष्ट्रपुत्र के मन में यह ज्ञाना पैदा हुआ कि एस पापी चाचा का बद करके पुर धर्म के अनुसार अपने पिता के ज्ञान से मुक्त हो जाऊँ, अथवा अपने सो चाचा, अपनी माता के पति और गहरी पर देने हुए राज्य पर दृष्टा कर्म? इस माह में पह च्छने के कारण कोमल अकृत्यरप के हैमलेन की ईसी दृष्टा हुए भीदृष्टा के उमान कौर मार्ग राष्ट्र और हितक्षणा न होने के कारण वह ईसी पागल हो गया और अत मैं किये था मर इसी घट की चिन्ता बरते करते उसका अन्त ईसे हो गया “स्युरिवार्ता का चिन “स नारक में बहुत अच्छी तरह से लिंगया गया है। ‘कारियोखेन्म नाम के दूसरे नारक में भी उत्ती तरह यह और प्रसुग

“परिदाता को भी इह विष में भाइ हा आपा करता है कि कम कीन जा है और अफमें कीन जाई।” इह स्थान पर अकम राष्ट्र का कम के अपाप आर तुरे कम कीनों अपनौंमै यथारम्भ लेना चाहिये। मूँह न्सोड पर इमारी रीका देतो।

का कर्जन ऐसपीपर ने किया है। रोम नगर में कौरियोजेन्ट नाम का एक शहर सुरक्षा था। नगरवाचियों ने उसको शहर से निकाल दिया। तब वह रोमन स्त्रियों के शुभ्रों में ज्य मिस्त्र और उसने प्रतिश्वस्त्री की, कि मैं तुम्हारा धाय कमी नहीं क्षेत्रिणा। कुछ समय के बाद इन शुभ्री की सहायता से उसने रोमन स्त्रियों पर हमला किया और वह अपनी देना ले कर रोमन शहर के दरवाजे के पास आ पहुँचा। उस समय रोम शहर की जियों ने कौरियोजेन्ट की ज्यी और माता की सामने ले कर, मामूल्यमि के उन्नें में उसको उपेश्वर किया। अन्त में उसको रोम के शुभ्रों को दिये हुए कचन का मा करना पड़ा। कर्तव्य अकर्तव्य के मोह में कुछ जाने के ऐसे और भी कई उदाहरण दुनिया के प्राचीन और मातुनिक इतिहास में पाये जाते हैं। परन्तु हम जोग को इतना पूर जाने की क्षेत्र भावस्थकता नहीं। एमारा महामरत्र प्रेषे उदाहरणों की एक बड़ी मारी जानी ही है। प्रेष के आरम (भा २) में बगन करते हुए, स्वर्य म्यासकी ने उसके सूर्यमन्यापमुख्ति

अनेकस्त्रयानित भागि कियोपण किये हैं। उसमें कर्मशास्त्र अर्पणशास्त्र और मोक्षशास्त्र, तब कुछ भा गया है। इतना ही नहीं किन्तु उसकी महिमा इस प्रकार गार्द गई कि यदिहाति तदन्यज्ञ यज्ञेहाति न दत्तव्यचित् ॥ - अर्थात् को कुछ उसमें ही वही और ज्यानों में है जो इसमें नहीं है वह और किसी भी स्थल में नहीं है (भा ६२ ३)। साराज्ञ पह है कि इत सधार में अनेक कृठिनाइर्ही उपर्युक्त होती हैं ऐसे समय जो को प्राचीन पुस्तक ने ऐसा कर्तव्य किया इसका मुख्य आण्डानों के द्वारा साधारण अनौष्ठे गोप करा देने ही के किये मारत अ

महामारत हो गया है। नहीं तो किंवदं मारतीय युद्ध अपवा ज्ञय नामक इतिहास के वर्णन करने के दिये अठारह पर्वों की कुछ भावस्थकता न थी।

अब यह प्रम किया जा सकता है कि श्रीहृष्ण और अर्जुन की एवं क्षेत्र दीवीये हमारे तुम्हारे किये उन्नें गहरे पानी में पैठने की क्षया भावस्थकता है। क्षया मनु व्याति सूतिकारों ने अपने प्रयोग में उस बात के साथ नियम नहीं करा किये हैं कि मनुष्य सधार में कित तरह कर्तव्य करे। किसी भी हिसा मत करो नीति ऐ उसमें सब बोझे गुरु और कहीं अ उम्मान करो ओरी और अप्यमि चार मठ करो इत्यादि सब चर्चों में पार्ह अनेकाभी लापारण भाषाभौ अ परि पाठ्य किया जाय तो उपर किये कर्तव्य अकर्तव्य के फलों में पढ़ने की क्षया भावस्थकता है। परन्तु इससे विस्तर यह भी प्रम किया ज्ञय उक्ता है कि अब उक्त इस सधार के सब ओय उक्त भाषाभौ के अनुसार कर्तव्य करने को है तब नहीं उसकों को क्षया करना चाहिये। क्षया ऐ ओय अपने सधार के कारण युद्ध चर्चों के फल में अपने को छोड़ा जै। या अपनी रक्षा के किये भैंसे को हैसा हो कर उन स्त्रियों का प्रतिक्रिय नहीं। इसके किया एक बात और है। परिपि उक्त सधार के नियमों का किस्य और प्रमाणपूर्व मान है, उक्तापि कर्तव्यकर्ताभौ

को अनेक बार ऐसे मीड़ आते हैं, कि उस समय उच्च सामाजिक नियमों में से वा या अधिक नियम एकत्र अग्र होते हैं। उस समय यह कर्त्ता या वह कर्त्ता "उच्च नियम में पहुँच कर मनुष्य पागल-सा हो जाता है। अर्द्धन पर ऐसा ही मीम भा पड़ा था परम्पुरा अर्द्धन के सिवा और स्त्रीगों पर मी ऐसे कठिन अक्षर अक्षर आया करते हैं। इस बात का मार्मिक विवेकन महाभारत में कई स्थानों में किया गया है। उन्हरण्यार्थ, मनु ने सब बाणों के स्त्रीगों के लिये नीतिशर्म के पौर्व नियम कलावये हैं—“अहिंसा सन्यमस्तेव शौचमिन्द्रियनिप्रह” (मनु. १० ११) — अहिंसा, सन्यम अस्तेव, काया बान्धा और मन भी द्वारा एवं इन्द्रियनिप्रह इन नीतिशर्मों में से एक अहिंसा ही का विचार भीकिये। अहिंसा परमो चर्म” (मनु. ११ १३) यह तत्त्व किंवद्ध हमारे बैठिक चर्म ही मैं नहीं किन्तु अन्य तत्त्व चर्मों मैं मी प्रचान माना गया है। शौद्ध और ईशार्द्ध चर्मपर्याएँ मैं जो आशार्द्ध हैं उनमें अहिंसा भी मनु की आशा के समान पहला स्थान दिया गया है। किंवद्ध किसी भी चुनौति के सेवा ही हिंसा नहीं है। उसमें किसी के मन अथवा शरीर को दुख देने का मी उमावेष किया जाता है। अर्थात् किसी लज्जेलुन प्राणी को किसी प्रकार दुष्प्रियता न करना ही अहिंसा है। इस सिवार मैं सब स्त्रीगों की सम्मति के अनुसार यह अहिंसात्म सब चर्मों मैं भइ माना गया है। परम्पुरा अब कल्पना कीदिये कि हमारी जन ईश्वर के लिये या हमारी स्त्री अथवा कन्या पर कल्पनाकार करने के लिये अथवा हमारे भर मैं आग लगाने के लिये या हमारा जन लैन सेवे के लिये को-इषु प्रभु मनुष्य हाथ मैं शक्ति ले कर देयार हो जाव और उस समय हमारी रक्षा अनेकात्म हमारे पास कोई न हो; तो उस समय हमको भय करना चाहिये” क्या अहिंसा परमो चर्मः कह कर ऐसे आत्मार्थी मनुष्य की जाय? या यहि वह धीरी तरह से न माने तो यथागुणि उसका शासन किया जाय? मनुष्य कहते हैं—

गुरुं वा बालाद्यं वा ब्राह्मणं वा बहुभूतम् ।

मातापितमापान्तं हस्यादेवाविचारयत् ॥

अथवा ऐसे आत्मार्थी पा दुष्प्रभु मनुष्य को अवस्थ मार जाएँ किन्तु पह विचार न कर कि वह गुरु है या बाल है या विद्वान् ब्राह्मण है।” शास्त्राकार कहते हैं कि (मनु. १ १) ऐसे समय हस्या करने का पाप हस्या करनेवाले को नहीं स्वरक्षा किन्तु आत्मार्थी मनुष्य भपने भपम द्वी ते माय जाता है। आत्मरक्षा का यह एक—कुछ मर्यादा के भीतर—आत्मनिक औजारी बान्धन मैं भी स्वीकृत किया गया है। ऐसे मानों पर अहिंसा ते आत्मरक्षा की योग्यता अधिक मानी जाती है। अल्लहस्या तत्त्व से अधिक निम्नोनीप मानी है; परम्पुरा जब बद्ध पेट मैं टेला हो कर अच्छ जाता है तब भया उसको काट कर निकाल नहीं जल्दा चाहिये। बद्ध मैं पशु वा बद्ध करना बेद मैं भी प्रशंसा माना है (मनु. ५. ११) परम्पुरा पिण्डपुर के द्वारा

वह भी टड़ सकता है (मा शा ३१७ अनु ११ ५६)। तथापि हवा, पानी, कम इत्यादि सब रखानी में ऐसकी चीज़ नहीं है उनकी हत्या किसे दारी ना सकती है। महामरण में (शा १० २६) अर्कुन कहता है—

सूक्ष्मयोगीनि सूक्ष्मानि तर्क्यम्यानि काग्निचित् ।

पृष्ठमनोऽपि निपातेत येवा स्याद् स्कृन्धपथ ॥

इति कला में ऐसे तूम्ह अनुहृत हैं कि किनका अस्तित्व यद्यपि नेत्रों से देख नहीं पहला समापि तर्ह से दिया है। ऐसे अनुहृत रहने हैं कि यदि हम अपनी और्जों के पक्ष हित्यावं उठने ही से उन अनुभवों का नाश हो जाता है। ऐसी मारस्ता मैं यदि इस मुल से कहते रहे कि “हिंसा मरत करो हिंसा मरत करो” तो उससे क्या स्वाम होगा। इसी विचार के अनुसार अनुशासन पर्व में (अनु. ११६) धिकार करने का समर्थन किया गया है। कलापर्व में पक्ष कहा है कि कोई ब्राह्मण औषध से किसी परिक्षण और को मर्याद कर ब्राह्मण चाहता था परन्तु अब उसका यत्न सफल नहीं हुआ तब वह और शरण में गया। यम का सचा रहस्य समझ ऐसे किसे उस ब्राह्मण को उस और ने किसी घ्यात के बहाँ भेज दिया। यहाँ घ्यात मरत भेजा करता था परन्तु या अपने माता पिता का बड़ा मक्क ! उस घ्यात को यह स्वरूपसामय देख कर ब्राह्मण को अस्तित्व दिलमय और ऐसे हुआ। उस घ्यात के ऊपर अहिंसा का सच्च तत्त्व समझा कर अस्त्र डिया। “स कला में कौन विद्यान नहीं दाता ? शीतो धीरस्य धीवनम्” (माण १ १३ ५६) — यही नियम तर्क्य धीर पदवता है। भापत्तात्र मैं ता प्रापत्त्वाभास्मि सर्वम्” यह नियम तिर्क्य सूक्ष्मिकाये ही ने नहीं (मनु २८ मा शा १५ २१) कहा है। किंतु उप नियमों मैं भी स्वयं बहागया है (वे स. १ ४ २८ अ ७ २ ८ श ६ १ १४) यदि सब सोग हिंसा छोड़ देते हों तो शान्तर्म बहाँ और कैसे रहेया। बहि शान्तर्म नहीं हो सकता तो फ्ला और रक्षा कैसे होती ! साराज्ञ यह है कि नीति के सामान्य नियमों ही से उठा काम नहीं चलता नीतिशास्त्र के प्रश्नान् नियम — अहिंसा — मैं मै फर्तम्प अस्त्रीय का स्वर्म किनार रखना ही पदवता है।

अहिंसापर्व के साम द्वाया शान्ति आति हुए शास्त्र में कहे गये हैं; परन्तु सब समय शान्ति के लिये क्षम चल सकेगा। सब शान्त रहनेवाले मनुष्यों के बाज नहीं और भी तुइ लोग हरण किये जिना नहीं रहेंगे। इसी कारण का प्रमम उल्लेख करके प्रस्ताव ने अपने नारी राजा बड़ि से कहा है :-

न भेयः सप्तर्ते तेजो न विष्य भेयसी क्षमा ।

तस्माति यं क्षमा तात पंडितैरपवादिता ॥

सौरी ब्रह्मा करता अथवा औषध करना भेयस्तर नहीं होता। इसी किसे, है तात ! परिवर्तों ने भ्रमा के किसे कुछ अपवाद भी कहे हैं (मा भा अ २८ ६,८) इलके

वार कुछ मीरी का प्रश्न किया गया है जो भगवान् ने विषय विद्या के लिये उचित है तथा विद्या का निष्पमन क्या है। यह इन मीरी का प्रश्नानने का दस्ता या निष्पमन क्या है। यह दुरुप्राप्ति समझा जायगा। इतनी विद्या का वानना अवश्यक भाव महसूस का है कि इन मीरी का प्रश्नानने का निष्पमन क्या है।

दूसरा सवाल 'सत्य है या सत्त्व' या आर घटों में मन्त्री भीति माना जाता और प्रमाण समझ जाता है। तथा वह प्रश्न कर्त्ता किया जाए? वह में सत्य की महसून के विषय में कह दे तो कारी मृष्टि की उत्तरात्मा के पद्मे 'अत भैरव सत्य उत्तम दुष्ट और सत्य ही न भक्षण तृष्णा बायु गाँड़ी पञ्चमात्मन निर्वाही अतद्वाय व्यार्थदात्तमा यज्ञयन' (पृ. १८२) मन्त्रात्मन मिता भूमा (पृ. १८३)। तथा यह काषायप मी पहाड़ी है—'रहनेकाल भगात विमान कभी अभाव न हो' अथवा 'विकास अवधित; नी विद्ये सत्य विषय में कहा गया है कि काषायप भगवान् और उसका अभाव नहीं है। सत्य ही पद्मप्रसाद है। महाभारत में वह ग्रन्थ इस वर्कन का द्वारा किया गया है कि 'नानि सत्यात्मरा घट' (शा १५ ४) भी यह भी कहा है कि—

अभ्यमवमहस्ते च मर्ये च तुष्टया धूतम् ।  
अभ्यमवमहस्ताद्वि मायमद्य पिण्ठिष्यन ॥

दूसरा अभ्येष और सत्य तुष्टा है—य ता सत्य ही ग्रन्थ द्वारा (ग ३१ २) पढ़ वर्णन गामान्य सत्य विषय में हुआ। तथा के वर्णन में मनुषी एवं दिव्या द्वा और वान है (मनु. ८ ५) —

दार्श्यथा निष्पमा भर्त्य पाण्डुष्टा वामिदिमूलाः ।  
तीतु ए निवष्टाऽप्य ग गवात्पृष्ठः ॥

(मा भनु. १६७ ५)। शैद और ईशारं भमो मै भी इन्हीं निवासी का चर्णन पाया जाता है।

क्या उस बात की कमी कस्तना भी जा सकती है, कि ये तत्त्व इत प्रश्नर स्वयंसिद्ध और वित्तव्यादी है उसके स्मै भी कुछ अपवाह होगी। परम्यु इह कठों से भी तुप इउ क्षात् एव स्वयंहारं बुद्ध चृठिन् है। कस्तना भीविये कि कुछ आद्यमी चोरों से पौड़ा किये जाने पर दुम्हारे सम्मने किसी स्पान में जा कर किय रहे। इष्टके बाद हाथ में दण्डार किये तुप ओर दुम्हारे पास आ कर पूछने सो, कि वे आद्यमी कहाँ पढ़े गये? ऐसी अवश्या मैं तुम क्या कहांगे? - क्या तुम सब दोस जर सब हाथ कह दोगे जा उन निरपराधी चीजों की हिला भी दौड़ना सत्य ही के उमान महाव का चर्म है। मनु कहते हैं - नाश्वा कस्तिद्वयाम चान्यामन तृप्त्याः” (मनु. २.३१ मा शा २८७ ३४) - जब तक ज्ञाई प्रज्ञ न करे, तब तक किसी से बोझना न चाहिये और यदि ज्ञाई अन्याय से प्रभ जरे तो पूछने पर भी उच्चर नहीं देना चाहिये। यदि मास्तम भी हो, तो सिंही या पागल के उमान कुछ हूँ-हूँ छरके बात का देनी चाहिये - अनमयि हि देषादी चरकस्त्वेऽन्नमावरत्।” अच्यु ज्या हूँ-हूँ कर देना और बात का देना एक उत्तर से असत्य मायन करना नहीं है। महामारत (मा २१५. १४) मैं कई लानों मैं कहा है - न स्वाक्षेन चरेदर्म - चर्म ऐ बहाना करके मन का समाधान नहीं कर देना चाहिये ज्योकि तुम चर्म की बोक्ष नहीं है सकते। द्रुम कुद्र बोक्ष एवा याभौयो। अच्यु; यदि हूँ-हूँ करके कुछ बात का देने का भी समय न हो तो ज्या करना चाहिये। मान सीविये काई ओर हाथ में दण्डार के कर ज्यती पर आ देन है और पूछ रहा है कि तुम्हारा भन कहाँ है? यदि कुछ उच्चर न होगे तो जान ही के हाथ दोना पाया। ऐसे समय पर क्या बोझना चाहिये? सब जमों का रहस्य जाननेवाले मरवान् भीहृष्ण - दसे ही चोरों की बहानी का दण्डार दे कर - वणपर्व (१६. ६१) मैं भर्तुन वं और भागे धातिपद्मे तत्यज्ञा भप्याव (१६. १५. १६) मैं यैष्य पितामह मुखिदिर से कहते हैं:-

अहृगत्वं चेत्मोक्षा नायह जेत्कर्त्तव्यन् ।

अपश्य इग्नित्ये वा इकिरन् वाप्यहृगत्वाद् ।

चेपस्तनामृतं वस्तु सत्पादिति विचारितम् ॥

अच्युत यह बात विचारपूर्व निरिचत की गर है कि यदि बिना बोक्ष मोक्ष या पुण्यारा हो तो तो तुप भी हो बोझना नहीं चाहिये; और यदि बोझना आवश्यक हो भपवा न होस्ते हैं (बुलारो भी) कुछ यह दण्डार उभय द्वा तो उस समय ज्य के इस असम बास्त्वा ही भविष्य प्रशान्त है।” इतका बारम यह है कि तत्त्व चर्म केरव याप्तोयार ही क लिय नहीं है। भलण्ड विस भाजरम के सब लोगों का

अस्पाग हो, वह भास्तरण चिर्कु शही कारण से निष नहीं माना ज्य सकता, कि इन्हेशर अवयार्थ है। बिसठे सभी की इनि हो, वह न तो सत्य ही है और न अहिंसा ही। शातिपच ( १२६ १३; २८७ १६) मे सनस्तुमार के आशार पर नामदर्शी उल्लंघी से कहते हैं—

सत्यस्य वचनं वेदः सत्यादपि हितं वदेद् ।  
पद्मूतहितमात्यमते प्राप्तात्य मत मम ॥

यह शोषना अप्पज है परन्तु सत्य से भी भविक ऐसा शोषना अप्पज है, जिससे तब प्राणियों का हित हो। क्योंकि जिससे तब प्राणिया का अस्पत्त हित होता है यही हमारे मत से सत्य है। ” “ यद्मूलहित ” पर को देख कर आपुनिक उपयोगिता वाली अप्रेटी का स्मरण करके यहि बोह उक्त वचन को प्राप्ति कहना चाहें, तो उन्हें स्मरण रखना चाहिये कि यह वचन महाभारत के बनपद म—शास्त्र और भ्याव के संबंध में—ही-सीन घार आया है। उनमें से एक बाह तो “ अहिंसा तत्यवचन तद्मूलहित परम् ” पाठ है ( कन. २ ६ ७३ )—और दूसरी बाह पद्मूतहितमात्यन्ते तदस्त्यमिति शारणा ” ( कन २ ८ ४ ) ऐसा पाठमेड किया गया है। उत्त्यपतित मुखियि ने शोषणाचार्य से नरों का कुशरों का वह वर उन्हें सीह में क्यों छाँड़ दिया ? इतना कारण यही है गे ऊपर कहा गया है और कुछ नहीं। पेंसी ही और बाती में यही यही निषम शारणा जाता है। हमारे शास्त्रों का यह कथन नहीं है कि हठ शोत वर किसी जूनी की जान पकार्द जाये। शास्त्रों में तून वरनेवाले आदमी के क्षिते देहास्त्र प्रायधित्त भेषणा वधाद की तरा कही गए हैं। इसकिये वह सब पाने भपता इनी के समान और किनी समय का आदमी कही गवाही रहा है वह अनने कात या भविक पृष्ठांशहित नरक मे जाता है ( मनु ८ ८ — म मा जा ७ ३ )। परम्परा इन कथापद मे वर्णित उन शोतों के दृष्टान्तक उमान इमारे तब शोतने से निरपराधी आमिया की जान जान की जाता हो तो उन समय कथा करना चाहिये । फैन नामक एक भगवत् प्रपत्ता ने अपने नीतिशास्त्र के उपाद पात नामक ग्रन्थ मे लिखा है कि ऐसे मौर्यों पर नीतिशास्त्र दूँ हा जान है। परायि यह मनु और याकृष्णन्य द्वये प्रमगों की गणना सन्यासकार मे करते हैं तथायि यह मौर्यों भन न दौड़ जान है। इसकिय भन मैं उन्होंने इन भगवत् के लिय मौर्य प्रायधित्त जानाया है— नवासनाय निकाप्यधर्म भारस्त्राद्य द्विः ( याज २ १३ मनु ८ ८ ४-८ ६ ) ।

कुछ दौरे भगवत् ने— दिनहै भद्रिता के भरतार के विषय मैं भावधन नहीं माल्यम हमा— हमारे शास्त्रारों के लक्ष्य के विषय मैं दार देने का याज दिता है। इसकिय यहा इन जात का द्वेषण किया जाता है कि लक्ष्य के विषय मैं प्रान्तर्दिक्ष इतार पदोन्नत्युक और नीतिशास्त्र के अद्वेष्ट प्रपत्ता कथा कहते हैं। इन्हों

अ इधर पौछ जानकर मे कहता है, यहि मेरे असत्य भाषण से प्रभु के सत्य की महिमा और कर्त्ता है ( अर्थात् ईश्वार भगवान् का अधिक प्रचार होगा है ) तो इससे मैं पापी क्याकर हो करता हूँ ” ( रोम ३ ० ) । ईश्वार भर्म के इतिहासकार मिल्डमैड ने कहा है कि प्राचीन ईसाँ भगवान्प्रेगङ्क का बार “सी तरह आचरण किया करते थे । पह बात सच है कि वर्तमान समय के नीतिशास्त्र किसी को धोखा दे कर या मुझ कर भर्मज्ञह करना न्याय नहीं मानेगे परन्तु वे मी यह कहने को देयार नहीं है कि सत्यमर्म आपवान्नहित है । उत्तरणाथ यह देखिये कि दिव्यकिळ नाम के किस परिषत का नीतिशास्त्र हमारे कौलेयों में पदाया जाता है, उसकी स्था यह है । कम और अक्षम के सबैह का निर्णय किस तरफ के आधार पर यह ग्रंथकार किया करता है उसमें ‘सब से अधिक लोगों का सब से अधिक मूल ” ( बहुत लोगों का बहुत मूल ) कहते हैं । ऐसी नियम के अनुसार उसने यह निषय किया है कि छठे सज्जों का और पाँगलों को उच्चर देने के समय और इसी प्रकार भीमार आग्नियों का ( यहि सब बात कुना देने से उसके स्वास्थ्य के फ्राँ चाने का मत हो ) अपने गतुओं को लोटी और ( यहि किना देने का मन न सकता हो तो ) वे अन्याय से प्रभ कर, उनको उच्चर देने के समय अथवा बर्षीआ को अपने व्यवसाय में बहु गोलमा अनुचित है । किस के नीतिशास्त्र के प्रध मैं भी इसी अपवान्न का समावेष किया गया हूँ । अन भपवानी के अतिरिक्त दिव्यकिळ अपने प्रध मैं यह भी कियता है कि

यद्यपि कहा गया है कि सब लोगों को सब बोस्मा चाहिय तबापि इस पह नहीं यह सबतु कि किन रात्रि नीतिशा को अपनी कारणा युत रात्रि पर्हती है वे औरों के साथ उपा व्यापारी अपने प्राहृष्टों महमेश्वा सच ही वैस्य करते ।” किंतु अन्य स्थान में यह कियता है कि यही रियावत पारियों और सिराहियों का कियती है । सम्मी स्तीकरन नाम का एक और अपेक्ष ग्रंथकार है । उसने नीतिशास्त्र का विवेकन भाष्यकौतुक दृष्टि से किया है । यह भी अपने प्रध मैं ऐस ही उत्तरण के कर अन्त में कियता है कि किनी काप के परिणाम के और यान देने के बाद ही उसकी नीतिशास्त्र निभित की जनी चाहिये । यहि मेरा यह कियाम हो कि हर बाढ़ने ही से कायाक दोगा तो मैं सत्य बोलनेके लिये कभी नेयार नहीं रहूँग । मेरे इस कियाम मैं यह भाव भी हो लूँगा तो

Sidgwick's *Methods of Ethics* Book III Chap XI 6. p 355  
( 7th Ed. ) Also see pp 315-317 ( same Ed. )

Mill's *Utilitarianism* Chap II pp 33-34 ( 15th Ed.  
Longmans 1907 )

<sup>t</sup> Sidgwick's *Methods of Ethics* Book IV Chap III § 7 p 454  
( 7th Ed. ) and Book II Chap V § 3 p. 169

कि इस समय कुछ बोझना ही मेरा कारब है । ” ग्रीन साहब ने नीतिशास्त्र का विचार अध्यात्मदर्शि से किया है । आप उक्त प्रत्यंगी का उल्लेख करके साथ रीति के कहते हैं कि ऐसे समय नीतिशास्त्र मनुष्य के स्वेह की निश्चित कर नहीं सकता । मन्त्र में आपने यह विद्वान्त किया है— नीतिशास्त्र यह नहीं कहता कि किसी चालारण नियम के अनुसार— यिर्क यह समझ कर कि वह है— हमेशा चलने में कुछ कियोप महसूब है जिन्हु उसका कठन किए यही है, कि ‘सामान्यता’ उस नियम के अनुसार चलना हमारे किये भेषलक्ष है । इसका कारण यह है कि ऐसे समय हम खोय केवल नीति के लिये अपनी औमूल्य नीच मनोवृत्तियों को त्यागने की विभा पापा करते हैं । ” नीतिशास्त्र पर ये कियनेवाले केवल आदि अन्य अधिक परिवर्ता का भी ऐसा ही भव है ।

यहि उक्त भ्रेष्ट प्रष्टकारी के भवी की गुस्माई हमारे समशास्त्रार्थों के कार्य हुए नियमों के साथ की रख तो यह बात छहव ही व्यानमें भा चायगी कि सत्य के किय में अभिमानी भैन है । इसमें लैट्र नहीं कि हमारे शास्त्रों में कहा है—

न पर्मसुरं वर्चनं हिनसि म चीमु राजव विवाहकाळे ।

पाणात्पदे सवधनापहारे पञ्चानुताम्याद्वारपातकानि ॥

मध्यम् १८८ी म विद्यों के साथ विवाह के समय जल जान पर भा को तब, और सपत्नी की रक्षा के लिये, कुछ बोझना पाप नहीं है ” (मा मा भा ८२. १६ और भा १९ ठथा मनु ८ ११) । परन्तु इससा मतभव यह नहीं है कि विद्यों के लाय हमेशा यह ही बोझना चाहिये । जिस मात्र से विवाहित साहब ने

ऐसे कुछ पापस भौर चीमार भास्मी के विद्यम अपकार कहा है वही भाव महामारु के उक्त कठन का भी है । अप्रब्र प्रपञ्चरपारत्वेकिं तथा भात्यालिङ्क दर्शि की और कुछ व्यान नहीं है । उन लोगों ने को सुखमनुष्य यहीं उक्त प्रतिपा इन विद्या है व्यापारियों को अपने भ्रम के लिये शुरु बोझना अनुचित नहीं है । किन्तु वह बात हमारे शास्त्रों को सम्मत नहीं है । न लोगों ने कुछ ऐसे ही मौर्छा पर बोझने की अनुमति दी है जब कि केवल सत्य एवं व्यापारण (अर्थात् वर्चन वाचिक सत्य) भौर सबभूतहित (भर्त्यात् वास्तिक सत्य) में किये गए हैं

Leslie Stephen's *Science of Ethics* (Chap. IX § 29 p. 369 (2nd Ed.) “ And the certainty might be of such a kind as to make me think it a duty to lie. ”

† Green's *Prolegomena to Ethics* § 315 p. 379 (5th Cheaper edition)

‡ Bain's *Mental and Moral Science* p. 445 (Ed. 1875), and Whewell's *Elements of Moral Philosophy* Book II Chaps. XIII and XIV (4th Ed. 1864).

आता है, और व्यवहार की इष्टि से इह घोष्णा अपरिहार्य हो आता है। इनकी राय है, कि सत्य आपि नीतिशर्म नित्य-अर्थात् सब समय एक समान अवधिभित्ति है। अतएव यह अपरिहार्य स्फुट घोष्णा मी योद्धा-सा पाप ही है; और इसी सिद्धे प्रायमित्तिं भी कहा गया है। सबसे है कि आकृष्ट के आधिमौतिक परिवर्त इन प्रायमित्तिं को निरर्पेत् हीका नहीं परन्तु किउने ऐ प्रायमित्ति कहे हैं और किस स्थेगों के लिये ये कहे गये हैं वे दोनों ऐसा नहीं समझते। वे तो सब उक्त सत्य अपवाह को गोण ही मानते हैं। और इस किष्म की कवाओं में भी यही अर्थ प्रतिपादित किया गया है। देखिये, शुभिहिर ने स्फुट के समय एक ही बार वही हुद आवाद के “नरो वा दुर्वरो वा कहा था। इच्छा फल यह हुआ कि उच्चरण, वे पहले अमीन से चार अंगुष्ठ त्वय चक्ष फूला था, अब और भासूखी धोगों के रथों के समान चरतीपर चल्ने लगा। और अंत में एक सूज मर के सिद्ध उसे नक्षत्रेषु मै रहना पड़ा (मा भौप १९१ ५७ ८८ तथा सर्ग ३ १८)। पूछता उडाहरण अर्जुन का चीरिये। मध्यमेष्टपर्व (८१ १०) में किया है कि यथापि अर्जुन ने मीम्प का वज्र शास्त्रर्म के भगुतार किया था; तथापि उसने शिलोदी के पीछे छिपकर यह राम किया था। इसिये उत्तरो अपने पुत्र वस्त्राहन से पराक्रित होना पड़ा। इन सब बातों से यही स्फुट होता है कि किष्म प्रतिगों के लिये वहे गय उक्त अपवाह सुख्य या ममान नहीं माने या लक्ष्ये। हमारे शास्त्रार्थों का अदित्य और तान्त्रिक सिद्धान्त वही है जो महादेव ने पार्वती से कहा है :-

भारमहोतो परार्थे वा नर्मदास्याभयात्प्रथा ॥

न यता व वद्यतीह ते नरा। स्वर्मयामित्तः ॥

‘ जो कोमा इह बगू मै त्वार्थ के किये पराप के किये या ममक के भी कमी इह नहीं थोड़े उन्हीं को सर्ग भी ग्राहि होती है’ (मा भौ. १४४ १)।

भगवी प्रतिश्व या वक्तन को पुरा वरना उत्प ही मै शामिय है। भगवान् भीहृष्ण और मीम्प पितामह वहत है ‘ चाहे हिमाक्ष पक्त भपने रथन से हट चाप अवशा अग्नि शीतल हो यद्य परन्तु हमाय वक्तन टस नहीं रक्षता’ (मा भौ ८ १ तथा ३ ४८) मर्दहरि ने भी सम्पुर्ण ये वरना इन प्रकार किया है -

तेजस्तिव शुरमसुतपि समयजमिति ।

सर्वदातप्यमनिको व पुरा प्रतिक्षाम् ॥

“तेजस्ती पुरप भानन्द है भगवी जन मै रे भोगे परन्तु भे भगवी प्रतिश्व का त्वाग कमी नहीं बरोग” (नीतिप ११) इसी तरह भीरमचक्रवीरे एक-पनीका के लाल उनका एक-साम और एक-वक्तन का अन भी प्राप्तिद है; ऐसा इति तुष्टिभित मै रहा है-“ दिग्गज नान्कितपत्र रामा निरामिमासते।” इरिभूत ने तो भपने स्वप्न

मैं दिये हुए वक्त को उत्त्व बरने के दिये रोमकी नीच ऐका भी की थी। इसके एका, वेट मैं पह बाजन है कि ईश्वरि देवताओं ने शशमुर के साथ जो प्रतिश्वर्ये की थी उन्हें मैं दिया और उसको मार डाला। एकी ही कथा पुराणों में हिरण्यकशिपु की है। व्यवहार में भी कुछ जील-करार ऐसे होते हैं, कि जो न्यायासय मैं ऐन्यदा उमसे बचते हैं या जिनक अनुसार उसका अनुचित माना जाता है। अकुन के विषय में पैसी एक कथा महाभारत (कथ १६) मैं है। अकुन ने प्रतिश्वर की थी कि जो कोर मुस से बोहग, कि “तू अपना गाहीक पशुप्य किसी दूसरे को दे दे उसका धिर में द्वर्तन्त ही काट दालू़गा।” इसके बाद युद्ध में जब युधिष्ठिर कण से परागित दुष्या दल उत्तरने निराप हो कर अकुन से कहा, ‘ऐता गाहीक हमारे दिल काम का है। तु ऐ छोड़ दे।’ यह कुन कर अकुन हाथ में उत्तरार से युधिष्ठिर को मारने दीड़ा। उत्तरार कमान् भीहृष्ण वही थे। उन्होंने उत्तरार की इष्टि से सत्यभान का मार्गिक विवेचन करके अकुन का यह उपरोक्त किया, कि “तु मूर्त है। तुम अब उत्तर एवं उत्तर मालम नहीं हुआ है। तुमसे इदं विषय की विज्ञा प्रहृष्ट करनी पाइये न इडा उद्दितात्मव्या” – तु मैं इदंव्यों की सेवा की है। यदि तु प्रतिश्वर की रक्षा करना ही आहता है तो तु मुधिष्ठिर की निमित्तना कर, क्योंकि सम्बद्धों को निमित्तना मृत्यु ही करमान है।” इति प्रशार चाह करके उन्होंने अकुन की स्वेच्छातृष्ण्य के पाप स बताया। इति उत्तरार भीहृष्ण ने भी उत्तरारत विवेच अकुन का स्वाया है उन्होंने भागे बल कर शान्तिवत् के उत्तरान्तर नामक भाष्याप में भीष्म ने युधिष्ठिर के बहारे (शा १)। यह उपरोक्त स्ववहार में द्वेरा के यम मैं रहना चाहिये। इसमें उड़ नहीं, कि इन शम्भु प्रलयों की जानवा बुद्ध अटिन बाम है। देखिये इस रूपन मैं उत्त्व की भेषजा भाग्यम ही भड़ माना गया है और यौवा मैं पह निभित दिया गया है कि देखिये की भेषजा भाग्यम प्रश्न है।

यह भारिता और उत्तर के विषय में इसना बाह-विकास है उत्तर भारतीय की यह नहीं कि पही हास नीतिव्यम के लीला उत्तर भयान् भल्लप का भी ही है। यह एत निर्विकार विद है, कि न्यायपूर्वक शास हुए विकी की उत्तरिका जुह व उन्हें पा दूर लेन वी अन्तराता दूरी की मिल द्वय की इम्य का उत्तर बरना वह ही बापगः उमाह की उत्तरा लिंग बायगौ बारों उत्तर अन्तराता हो जपानी और उमी की हानि होती। एक्कु इस विषय के भी भरपार है। यह दुर्लित है उत्तर पोल लेने महादूरी बरने पा लिंग मालने के वी भरपार नहीं लिंगा हुए देखी भारती मैं पी और पशुप्य थोरी करके भरपारपा बरे हों कथा बह पारी नमान बरपगा (नदाभारत (शा. १४)) मैं पह बका है कि लिंगी उत्तर बरप उत्तर दुर्लिय रहा और लिंगादिव वर बहु बहू भरनि भार तथ उद्दांते लें लिंगी शर्व (वारदात) के पर ने दुने पर भें तु पुराया भीर ते इन भरपार भेंत के भरमी रता बरने के लिये प्राण हुए। उत्तर उत्तर उत्तर ने विवानित कहे “पन्न

पश्चनता भरता ” (मनु ६ १८) १० “त्याति धारणार्थं स्तावा कर अमरत्य मा और वह भी धोरी से न करने के विषय में बहुत उपरोक्त किया । परन्तु विशामिन उसका ठौंक कर वह उत्तर किया :-

पिवन्त्येषोदर्कं मात्रो महूकेहु उवात्सवपि ।

न सेऽसिक्षारो धर्मेऽस्मि भा भूरात्मप्रश्नसक्तः ॥

ओर । यद्यापि ऐस्क दर्त न किया करते हैं तो भी गैरें पानी पीना क्षमता न करती चुप रह । मुझ का धर्मश्वन क्याने का तोरा अभिकार नहीं है । म अपनी प्रश्नाम तरु कर । ” उसी तमय विशामिन ने यह भी कहा है कि “ चीर्ण मरणात्मयो चीवन्धर्ममवाज्ञुयात् ” — धर्मात् पड़ि किंवा रहेंगे तो धर्म का भा रण कर सकेंगे । “सत्यिये धर्म भी इष्टि से मरने की अपेक्षा चीकित रहना भी अवश्यक है । मनुजी ने अबीगत वामपेत्र आदि अन्यात्म्य उद्दिष्टी के उत्ताह मिथे ह किंही ने ऐसे सकृद तमय इसी प्रकार आचरण किया है (मनु १ १५ - १८) । हाथ्य नामक अद्येत्र प्रकार लिखा है । फिरी अठिन अन के समय जब अनाद गौष न मिथे, या अन भी न मिथे तब यहि पैट मरने लिये छोर्व चोरी छाहस कर्म कर तो यह अपराध भाक उमसा ब्यता है । १० मिथ ने को यहों तक छिला है कि ऐसे तमय चोरी करके अपना चीकन क्य मनुष्य क्ष पर्त्तम है ।

मरने से किंवा रहना अवश्यक है । क्या विशामिन क्ष यह तत्त्व तर्व अपवाह्यहि रहा वा सक्ता है । नहीं । इष उत्तर मे ऐसुँ किंवा रहना

मनु और पाण्डित्य ने कहा है कि कुक्षा बदर आदि जिन जानवरों के पीछे प नह होते हैं उन्हीं मे स जलरोहा कहुआ जोइ आदि पीछे पक्षार के जानवरों का म महसू है (मनु १ । पाण्ड । १८) । इन पीछे जानवरों के अतिरिक्त मनुष्य क्षम अवात् येहे का भी महसू माना है । परन्तु वीकाक्षर का कथन है कि इह वि मे निष्क्रिय है । “म तत्काल को छोड़ देने पर तोर पीछे ही जानवर रहते हैं और त का माह महसू समझा याया है ।” एव वज्रनत्वा महस्याः का यह अर्थहै । तथापि भी सुको के जवानसार इष व्यवस्था का भावार्थ यही है कि जिस लोको को मारू साने लगती ही पह है तो उक वज्रनत्वी पीछे जानवरों के लिया और किसी जानवर का म न लाये । इसके मावार्थ यह मही है कि इन जानवरों का मारू साना ही आहिते । पातिमारिक अर्थ का ए लोक वरिष्ठना कहत है । पक्ष पञ्चनत्वा महस्या इर्ही १० वज्रनत्वा का मुख्य उद्दाहरण है । जब कि मारू साना ही निष्क्रिय माना जाया ह तत्त्व पीछे जानवरों का मारू साना भी निष्क्रिय ही समझा जाया आहिये ।

† Hobbes, Leviathan Part II, Chap XXVII p 139 (Morley Universal Library Edition) Mill's Utilitarianism, Chap V p 1 (15th Ed.) Thus, to save a life, it may not only be allowable to aduty to steal etc

कुछ पुरुषार्थ नहीं है। जौए मी कालजासि या कर कर वर्ष तक बीते रहत है। यही थोन कर थीरपली छिलुध अपने पुत्र से कहती है कि निलौने पर पड़े पा सह उने या मर में सी यदि की भाषु का यथ व्यतीत कर देन की अपेक्षा यहि तु एक लग भी अपने पराक्रम की चोति प्रकर करके मर जायगा तो अप्यज हमा - “मुहुरु व्यतिरिक्त भेयो न धूमायित चिरम्” (मा ठ. १३२ १६)। यहि यह आत उच्च है कि भाव नहीं तो कल और में सो वप के शब्द मरना चम्पर है (माग. १ १३८ गी २. २७) तो फिर उसके सिये रोने या टरने से क्या साम है! अप्यात्मशास्त्र की हाइ सु तो आपमा नित्य भीर अमर है। इस दिय मृत्यु का किचार करते उमय उक्ते उच्च शरीर का ही किचार करना जाकी रह जाता है। अप्यज पहुं तो उद जानते हैं कि यह शरीर नाशकान् है परन्तु आत्मा के कल्याण के लिये इस असू में जो कुछ करना है उसका पक्ष्मान सापन यही नाशकान् मनुप्यहै है। ऐसी सिये मनु ने बहा है आत्मान सुरु रखन् वर्तरपि खनैरपि” - अपात् जी भीर सम्पत्ति की अपेक्षा हमसा पहुं व्यव अपनी ही रथ करनी चाहिय (मनु ७ १३)। यद्यपि मनुप्यदेह दुर्बल भीर नाशकान् भी है तथापि उद उसका नाश करके उससे भी अभिक किंतु शाश्वत बलु की ग्रामि कर देनी हाती है, (भेंटेश चर्म और सत्य के लिये अपनी प्रतिष्ठ व्यत आर किरि की रसा के लिये एव अच्छन कीति और सच्चभूतहि के सिये) तब उस उमय पर अनेक महामाझों ने इस तीव्र कल्याणि में आनन्द से अपने ग्रामी भी भी आकृति डे दी है। उद रात्रि अस्तिप अपने गुड बलिष्ठ की गाय की रसा करन के लिय सिह को मरन शरीर का बलिष्ठ द्वे का तैयार हो गया तब उह सिह स गोका तक हमार समान पुरुषों की इस पर्वतमौतिन शरीर के दियम में अनात्मा रहती है। अतएव तु मर इस उद शरीर के बाढ़े पैर यशाम्बृष्टी शरीर की और च्याल है। (रसु ८ ८७)। क्यान्तरिकागर भीर नाशनन्द नाश में पर करन है कि उपों की रसा करन के लिय गैमूतवाहन ने गदह का व्यव अपना शरीर भर दिया। मृत्युरिक नाश (१ ८७) में आकृत बहता है -

म भीलो मरणादस्मि वर्गहू तृष्णित यद्याः ।

विशुद्धय हि मे शापुः पुत्रजग्मसमः किञ्च ॥

मै मृत्यु त नहीं जरा युसं यही दुर्घट है कि मेरी कीति कल्पित हो गए। यहि कीति दुर्घट रह भार मृत्यु भी आ जाय तो मै उनको पुत्र के उत्तर के नमान मानूगा।<sup>१</sup> इर्ती तत्त्व क आपार पर महामारत (कन १ तथा १३ शा ३८) में रात्रि दिवि और दर्शनि कर्त्तव भी क्षणाभी का करन दिया है। उद चम - (यम) रात्रि द्येन पर्ती का व्यव चारण करक वरोत क पीछे उन और उद वर करणान भर्मनी रात्रि के सिये रात्रि दिवि वी द्यात्र मै द्यात्र कर रात्रि ने व्यव भर्मन शरीर का मान कर उन द्येन पर्ती का दिया; और धरणागत वरोत की रथा

थी। दूषाकुर नाम का देवताभूमि का एक शुद्ध था। उसको मारने के सिये व्यक्तिगति भी हातियों के बड़ा भी आवश्यकता थी। तब उब देवता मिल कर उच्च जपि के पास गैये और बोले, “ शरीरस्यां मेषभीष्मार्यं मवान् कर्तुमर्हति । - हे महारथ ! लेगो मैं कस्याम के सिये आप देहस्याग भीक्षिये । - किन्तु मुझ कर इच्छीचि ज्ञापि ने यहे भानन्द से अपना शरीरस्याग दिया और अपनी हातियों देवताभूमि भी है दी। एक समय थी जब है कि इन्द्र ब्राह्मण का रूप चारम करके, दानपूर कर्ण के पात्र कर्तव्य और कुरुक्षेत्र मौमने आया। कर्ण इन कर्तव्य कुरुक्षेत्र को पहने तुप ही छमा था। उब सूर्य ने जाना कि इन्द्र कर्तव्य कुरुक्षेत्र मौमने जा रहा है तब उसने पहुँचे ही से कर्ण को सूचना है ती थी कि हुम अपने कर्तव्य कुरुक्षेत्र किसी से इन मरह देना। यह सूचना देते समय सूर्य ने कर्ण से कहा इसमे घोड़ नहीं कि तू बद बानी है परन्तु यहि तू अपने कर्तव्य कुरुक्षेत्र दान में देना सो क्तेर वीक्न ही की हानि हो जायगी। “किंचिये सु इन्हें किसी को न देना। मर जाने पर कीर्ति का क्या उपयोग है । - मृतस्य कीत्या कि क्यार्याम् । ” यह मुझ कर कर्ण ने स्वाह उत्तर दिया कि वीक्नेनापि मेरस्या कीर्तिस्तिर्थि मेर्वतम् । - अर्याम् जान पर्वी ज्यज्य तो मी कुछ परवाह नहीं परन्तु अपनी कीर्ति की रक्षा करना ही भेद अस्त्र है (म भा क्ल २९५. १८) जारी पह है कि यदि मर जायगा तो कर्ण की ग्रासि होगी और वीर ज्यज्यगा तो पृथ्वी का रास्य मिलेगा इत्याति श्याश्वर्म (गी २ ३७) और खज्जमें निष्पन्न भेदः (गी ३ १५) यह विद्वान्त उच्च दत्त्व पर ही अवस्थित है। इती तत्त्व के अनुसार भीरुमर्य रामाश खामी कहते हैं

कीर्ति की ओर देखने से छुट नहीं है और तुलसी थी और देखने से कीर्ति नहीं मिलती (दात १२ १ १६; १८ १ २५) और कै उपकेष मी करते हैं कि हे सज्जन मन ! ऐसा काम करो किंतु मरने पर कीर्ति अच्छी रहे। पहुँच प्रभ हो सकता है कि वयपि परोक्षार हे कीर्ति होसी है तपापि मूर्मु के बार कीर्ति अ क्या उपयोग है ! अपका किसी सम्य मनुष्य को अपनीर्ति भी अपेक्षा मर जाना (गी २ १४) या किंतु रहने से परोक्षार करना भाष्मिक मिल कर्त्ता मरहम होना चाहिये ! इस प्रभ का उचित उत्तर देने के लिये भास्म-अनास्म-विचार मैं प्रोत्त करना होगा। और इसी के साथ कर्म-अकर्मज्ञान ज्ञ मी विचार करके पह जन देना होगा कि किसी मौके पर जन देने के लिय तैयार होना उचित या अनुचित है। यदि इत ज्ञान का विचार नहीं किया जायगा तो जन देने के सक्ष की ग्रासि ही पूर ही रही फिर मुख्या से आमहस्या करने का पाप मावे चट ज्यज्यम् ।

माता पिता गुरु आदि बन्धीय और पूर्वीय गुरुओं की पूज्य तथा श्रद्धया करना भी उर्जमात्व बनों मैं कै एक प्रश्नान जर्म उमाश ज्यज्या है। यदि ऐसा न हो तो कुइन, गुरुकुर और तारे उमाश की ज्यज्यस्या टीक टीक कर्मी रह न सकेगी। पही कारण है कि एर्क सूति प्रस्त्री ही मैं नहीं किन्तु उपनिषदों मैं भी उत्त

“इ अर्मेंटर” कहा गया है। और इस प्रिण्ट का अध्ययन पूरा हो चक्का, भीर वह अपने पर बाने रखता सब प्रस्तेक गुरु का पही उपर्युक्त होता था कि “मातृत्वो भव । पितृत्वो मृत” (ते १ ११ ३ भीर ६) महामारण के द्वादश-स्थाप आस्थान का तात्पर्य भी यही है (भ. अ २१३)। परन्तु इस में भी कमी कमी अकस्मित बात यही हो चक्की है। ऐसिये, मनुष्यी बहवे हैं (२. १४०) —

उपाध्यायादृशाचार्यः भाषाध्याणी शर्तं पिता ।

सहर्वं तु पितृमाता भीरवेनातिरिच्छते ॥

“इ उपाध्यायी से आचार्य भीर सौ आचार्यों से पिता एवं हठगर मिलाभी से माता का गौरव अधिक है।” इतना होने पर भी पह कथा प्राप्तिश्च है (भ. ११९ १४) कि परजुगम की माता ने कुछ अपराज दिया था। इस सिये उसने अपने पिता की आशा से अपनी माता को मार दात्य। छान्तिपत्र (२६५) के निरुक्तारिकोपास्यान में अनेक साप्तक-आप्तक प्रमाणोद्दित इस बात का निस्तृत कित्रेत्वन किता गया है कि पिता की माता से माता का चक्र करना भेदलक्ष है या पिता की आशा का मंग करना भेदलक्ष है। इससे सब बता चाहा है कि महामारण के उमय एसे दृश्य प्रसंगों की नीतिशास्त्र की दृष्टि से चर्चा करने की पढ़ति चक्की भी। पह चतुर्ठोटी से क्षेत्र कर बांध उड़ उड़ स्वर्गों की मास्त्रम है कि पिता की प्रतिश्य वो हत्य बर्जे के छिये पिता की माता से रमन्त्र ने औदृष्ट कर्त्त्व बनाता लिया परन्तु माता के उपर्युक्त संबंध में वो न्याय ऊपर कहा गया है। वही पिता के उपर्युक्त में भी उपयुक्त होने का समय कभी कमी आ सकता है। ऐसे; मान धीरिये ओर छात्का अपने पराक्रम से राज्य हो गया और उसका पिता अपराजी हो कर इस्ताह के छिये उक्तके लाभसे राज्य गया; इस भवस्या में वह छात्का राज्य करे! — राज्य के नाते अपने अपराजी पिता वो इह है या उक्तको भास्ता पिता उमस्त कर देह है! मनुष्यी बहवे हैं —

पिताचार्यः सुहृत्माता भाषा पुत्रः पुरोहितः ।

शाश्वत्या नाम राहोऽस्ति या स्वदर्मे न तिरुति ॥

पिता भाषाय मित्र, माता भी पुत्र और पुरोहित — इनमें से कार भी पहि अपने चम के भनुतार न लें, तो वह राज के लिये अद्वितीय नहीं हो चक्का अपराज राज उक्तको उचित इह है” (मनु. ८ ११६ म. मा शा १२१ १)। इस संपूर्ण पुरात्मन की योग्यता के राजपत्र की योग्यता अधिक है। इस बात का उदाहरण (म. मा श १० राजा १८ मी) पह है कि दुर्विद्य के महापत्रकमी उग्र राज्य भे अचमक्त नामक भपने हाथके वो तेज से निकल दिया या क्योंकि वह दुराचरणी था भीर प्रण थे दुर्ग दिया करता था। मनुस्मृति में

मी यह कहा है कि अग्निरस नामक एक जपि को छोटी भवस्था ही में बहुत श्वन हो गया था। “समिये उनके काल्पनिका आदि को दूरे नातेश्वर इसके पाठ अप्यवन छरने लग गये थे। एक दिन पाठ पढ़ाते पढ़ाते आग्निरस ने कहा, पुण्ड्रा द्विः होवाच द्यनेन परित्य तान्।” यह यह सुन कर सब शूद्रन कोष से अड़ हो गये और कहने स्थें कि यह सज्जा मसा हो गया है। उसको उचित अष्ट दिव्यों के लिये उन सांगों ने देवताओं से शिकायत की। देवताओं ने गेनो और का कहना मुन मिष्ठा और यह निर्णय किया कि ‘आग्निरस ने ये दुष्ट मुम्हं कहा वही न्याय है।’ इतका कारण यह है—

न मेन शूद्रो मवति देवास्य पछित हिरः ।

यो वे मुखाप्यशीपानस्ते देवा रथविर विदुः ॥

सिर के बाब सोच हो जाने से ही काई मनुष्य शूद्र नहीं कहा ये सकता अवश्य उसी को शूद्र कहते हैं को दृश्य होने पर भी ज्ञानवान् हो” (मनु. २ १५६ और म भा का १३३ ११ शास्य १ ४७)। यह तत्त्व मनुष्यी और अपासकी ही हो नहीं किंतु शूद्र को भी मान्य था। क्योंकि मनुभूति के उस अधीक्ष का पहला चरण शम्पात् नाम के प्रसिद्ध नीतिविपयक पासी माया के गैर प्रथ में अवश्य आया है (शम्पात् २९)। और उनके आगे यह भी कहा है कि ये तिर्थ अवश्य ही हो गया है उचका चीना अवयं है यथार्थ में अद्वितीय और शूद्र होने के लिये सत्य, अर्थिता आदि भी आवश्यकता है। शुद्र वया नामक वृसरे प्रथ (६ १३ १) में स्वयं शूद्र भी यह आश्च है कि यथापि भर्म का निरपण करनेवाल भिन्न नया हो तथापि वह ऊपरे भाँचन पर ऐटे और उन वयोशूद्र भिन्नभौं को भी उपरोक्ष करे किन्तु ने उनके पहले दीना पार्न हो। यह कहा सब अध्ययनते हैं कि प्रख्यात ने अपने पिता हिरन्यकशिष्य की अवश्य करके भगवन्नामि ऐसे कर ली थी। “ससं यह ज्ञन पठता है कि चन कमी कमी पिता पुत्रों सर्वेषामान्य जाते से भी कोई कमरा भिन्न वद्य समर उपरोक्षत होता है सब उन्हें समय के लिये निरपाप होकर पिता पुनः का नाश भूल जाना पड़ता है। परन्तु ऐसे अवश्य के न होते हुए भी कड़ी भी शूद्र भी शूद्रव्येर शूद्रका उल्लं नीति का अवश्य करके अपने पिता को गालियों देने लगे यह कवच पद्म के समान

“शम्पात् १४ का आठवीं अनुशास शास्यवर्द्धुत्तमाका” (Sacred Books of the East Vol X) में किया गया है और शुद्रवान का अनुशास भी उसी भाला ४ १ । XXII भा. X १ में प्रकाशित हुआ है। शम्पात् का पाली लोक पह है—

न तस्म धरो हीति यजस्म पक्षिति सिते ।

पि पिता वका तस्म मोदितिवज्ज्वति ति शूद्रवति ॥

यह शूद्र शूद्र भिन्नों के लिये प्रथम हुआ है। यह उत्तम अवश्यक अप्राप्त है।

समय आया । पितामह भीष्म ने सुविद्धि से कहा है “गुरुर्सीयान् पितृते  
मनुत्तरेति मे मति” (शा १८८, १७) — अर्थात् गुरु माता पिता से मी ज्ञेय है—  
फलतु महामारत ही म यह मी लिखा है कि एक समय मरण राग के गुरु ने  
ओमकम हो कर स्वाप के लिये उसका स्पाग किया तब मरण ने कहा —

गुरोरप्यउडितस्य कार्याङ्काप्यमामत ।

उत्पथप्रतिपद्मस्य श्याप्य भवति शासनम् ॥

यदि भाव गुरु नम कात का विषार न कर कि क्या करना चाहिय और क्या  
नहीं करना चाहिय और यदि वह अपने ही भगवान् म रह कर छो याने से चले,  
तो उसका शासन करना उचित है । उच्छ लोक महामारत में भार स्थानों में  
पाया जाता है (शा १६२ २०३ उ १३, २४ शा ८७ ३ ४ ४८) ।  
नन्मे से पहले स्पान में वही पाठ है अ ऊपर किया गया है । अन्य स्थानों में  
चौथे चरण म दृष्टि भावसु अपवा परिस्थागो किनीयते पर  
पाठान्तर मी ह । फलतु यमीकिरुमायण ( १ ११ ) में उर्हे यह भाव है  
वही एमा ही पाठ ह सजा ऊपर किया गया है । न्यसिये हम न उ ग्रप में नमी  
का स्वीकार किया है । नम क्लोक म किये तत्त्व का उभन किया गया है नसी न  
भावार पर भीष्म फितामह ने परामुख से भार अकुल न द्राणानाय से युद्ध किया  
भार उप प्रस्तुत ने देख कि अपने गुरु, उन्हें हिरप्यउडिपु न नियन किया  
ह मात्रामि क लंबद उपेण्य कर रह है । तब उन्हें इसी तत्त्व क अनुगार  
उनका नियन किया है । शातिष्ठि मै र्मिष्म अनामह भीहृष्ण कु छ ज्ञात है, कि  
परवान गुरु संग पुर्णीय ह नपापि उनका भी ननि की मपान का अपलब्ध  
करना चाहिय; नहीं तो —

समपत्यामिते लुप्तपात्र गुरुत्वपि च केऽत्र ।

निहन्ति समर पापाद् ज्ञात्रियः न हि पमवित् ॥

इतेतत् । ऐ गुरु मपान नीति अपवा किरान्तार का भा करत है और जा  
लेमी का पापी ह उह समान मै मारनेका लक्ष्य ही उभन इहान्ता है  
(शा ८ १६) । एकी उह सक्तियाप नाम में मी ग्रपन भावय इयो न्य  
उह उर उमी क भागे कहा है । उह उपरे ज कम भन्द हा उन्ही ज भमुक्तम  
ज्ञा भीरा का नहीं — “याम्यमत्तु मुष रमानि : तानि स्वयापाम्यानि ना इत्यर गे  
(त १) । इस उपनिषद्या का वह किडान्त प्रमु हाना है कि पश्चिमिरिता  
भार भावाप का इत्ता क उमान मनना चाहिये नपापि यदि के द्वारा तीन ही  
तो युव और उप का उपन किला पा भावाप का भन्दरण नहीं करना चाहिये  
क्षयागि ननि नयाना उर उप का भवित्वर मावाप या गुरु म भविष्य पमान  
होया ह मनुर्दी नी निम भाल का मी यर्दी रहन्य है — भन ए रा ए  
यदि वैर उप का नाम वरान् भवत् उप की भावय क भनुमार भावाना नहीं

करेगा तो वह केवल मनुष्य का नाश किये जिना नहीं रहेगा” (मनु. ८ १४-१५)। यथा तो गुरु एवं भी अकिञ्च भेद एक देखता है (मनु. ७ ८ और म. मा. शा. ६८ ४)। परंतु वह भी इस भर्त्य से मुक्त नहीं हो सकता। यदि वह इस भर्त्य का स्वाग कर देगा तो उसका नाश हो जायगा। यह यह मनुस्मृति में कही गई है। और महामारत में वही मात्र जैन दृष्टि एवं राष्ट्रों और कुपा में, व्यक्त किया गया है (मनु. ७ ४) और ८ १२८ म. मा. शा. ५३ १२-१० तथा अस्त्र ४)।

अहिंसा, उत्तम आर अस्त्रोप के साथ इनिव्य निप्रह और भी गजना उत्तमस्य भर्त्य में की जाती है (मनु. १० ५३)। अम, ओषध और आदि मनुष्य के शाश्वत है। इह इन्हें उत्तम तथा मनुष्य इनको औंत नहीं कहत। उत्तम तथा उत्तम एवं कस्याच नहीं होगा। यह उत्तरेण सब राष्ट्रों में किया गया है। विदुरनीति और मात्राद्वीपा में भी कहा है -

त्रिविदं नरकरवेदं द्वारे जाश्वतमास्मनः ।

कामः कोवचाधा छोमस्तस्मादेतत् दद्य त्वं जेत् ॥

काम, ओषध और ओम वे तीनों नरक के द्वार हैं। इनसे हमारा नाश होता है। इस किंवद्दि इनस्य स्वाग करना चाहिये” गीता १३ २१ म. मा १२ ४)। परन्तु गीता ही मैं मात्रान् भीड़ण ने अपने लक्ष्य का यह वर्णन किया है, ‘भर्त्यविमुदो भृत्यु जामोऽरिम मरतपम्’ – है अनुमन। प्राणिमात्र में जो ‘काम’ भर्त्य के अनुकूल है वही मैं हूँ (गीता ७ ११)। इससे यह जात सिद्ध होती है कि जो ‘काम-भर्त्य’ के विवर है वही नरक का द्वार है। इनके अतिरिक्त जो दूसरे ‘मकार’ का ‘काम’ है असात् जो भर्त्य के अनुकूल है वह रंधर की मान्य है। मनु ने भी यही कहा है: “परिस्पेक्षकामो वौ स्वादा भमविद्यो” – जो अर्थ और काम के विवर हो उनका स्वाग कर देना चाहिये (मनु. ४ १०६)। यदि उत्तम ग्राणी कम से ‘काम’ का स्वाग कर है और गृहस्थयत वक्ष्यत्यन्तम् के रहनेका निष्पत्य कर से, तो उनी-पचाच वर्य ही मैं लापि तदीय सुषिका सम्य हो जायगा और जित्सुषिकी रक्षा के लिये मात्रान् बार बार अवतार चारक चरत हैं। उनका अवश्यक ही मैं उपेतु हा जायगा। यह जात तत्त्व है कि काम और ओषध मनुष्य के घटु है; परंतु कर! जब वे अपने का अविदाय हो जाय तब। यह जात मनु आदि शास्त्रार्थों का सम्मत है, कि सुषिका कम जारी रखने के लिय – उपितु मयार के भीतर – काम और ओषध की भाव्यत भावरपक्षा है (मनु ७ ८६)। इन प्रकृत मनोशुषिकों का उपितु रीति से निप्रह बरना ही उत्तम शुषारों का प्रयोग उत्तेज है। उनका नाश करना बीरं मुपार नहीं इहा या उक्ता क्याकि भागवत (११ ६ ११) में कहा है -

छोक दद्यवायामिवदुसेता विष्वासिति जग्नामहि तप्र चादमा ।  
दद्यरिष्विमुदु विष्वाद्यद्वसुराप्रद्वारामनिवृत्तिरिहा ॥

“ इस शुनिया में किसी से यह कहना नहीं पड़ता कि त्रैम ऐश्वन, मातृ और मठिया का संक्षन करो। ये बारे मनुष्य को स्वभाव ही के पक्षम हैं। इन सीनों की कुछ व्यवस्था कर देने के लिये — भयात् इनके उपयोग को कुछ भयादित करके स्वविभित कर देने के लिये — (शास्त्रकारों ने) अनुक्रम से लिखा है, सौमवाग और लोत्रामणी यह भी योग्या ही है परन्तु तिस पर भी निरूपि भयात् निष्काम आचरण इष्ट है।” यहाँ यह बात व्याज में रखने योग्य है कि जब निरूपि शम्भ का संवेद पद्मस्थल पर के साथ होता है, तब उसका अर्थ “अमुक कल्प से निरूपि भयात् अमुक कल्प का उत्थाय स्याय” शुभा करता है; तो यौ कर्मयोग में “निरूपि” लिये-पक्ष कर्म ही के लिये उपयुक्त शुभा है। इससिये निरूपितम्” का अर्थ निष्काम दुर्दि से लिया जानेकाम कर्म होता है। यही अर्थ मनुस्मृति और भाववत्पुराण में सह रीति से पाया जाता है (मनु १२.८ भाग ११ १ १ और ७ १६.४७) कोष के लिये मैं लिखताम्य मैं (१ ११) भावविका करन है—

भगवंद्युम्येन जनस्य जन्मुमा न जातहारेन न विद्वावाहर ॥

ऐसे मनुष्य का अपमानित होने पर भी कोष नहीं आता, उसकी मित्रता और देव दातों करावर है।” सावधन के अनुसार हेतु व्याय तो लियुम्य ने यही कहा है —

एतावाच युट्वो पद्मर्भं पद्मसमी ।  
समावाप्तिरमर्भं नेत्रं च तुमः पुमाद् ॥

ऐसे मनुष्य का (अप्याय पर) कोष आता है जो (अपमान की) उह नहीं लक्ष्य नहीं पूर्ण बदलता है। ऐसे मनुष्य मैं कोष या लिपि मही है उह नयुषक ही के नमान है” (म. य. १२ ११)। इन बात का उल्लेख उत्तर किया या तुम ६ कि इन सम्भ के स्ववहार के लिये न तो तग लेव या कोष ही उत्तरदाती है और न शमा। यही बात कोष के लिये मैं यौ कही या सक्ती है क्याकि सन्यासी का भी मात्र की इच्छा होती है।

प्रत्यक्षी ने महामारत में अन्तर श्यानी पर मिल लिपि विषाभी के द्वारा यह प्रीतिराज लिया है कि एक व्याय द्या र्हीम, नद्वा समता भावि सब नद्वुन भावन भरने लियज गुणों के भवितिरप लेग-कार भावि से लियागित है। उह नहीं श्यानी पाठिय कि वार एक ही नद्वुन तभी नमय शामा देना है। मारुदरि का उपन है —

पितरि वयमधाऽपुरुष शमा भर्त्वं वाहनाता शुचि विवरम् ॥

उपर दे लमय ऐसे भव्युर्य के लमय (भयात् वन शान्त वरने का कामय होता) शमा तभा मैं बहाना भीर पुर्व मैं द्याना गाँझ हैं ६” (वैरि ६३)। शमी दे लमय उत्तर के नमान उत्तर वरदेवन पुरुष कुछ वन नहीं है। उन देहे भवनी एवं वी जमी दे तैर अन्नेवरे अन्नैर दाँओ होते उनमे

से रणभूमि पर चनुपर वह अनेकात्म एवं भाष ही दीप पड़ता है। ऐसे भाडि सद्गुण ऊपर लिये समय पर ही शामा इत है इतना ही नहीं किन्तु ऐसे मौके के लिया उनकी उच्चता परीक्षा भी नहीं होती। सुन एवं शारीरी तो बहतरे इक्षा करते हैं परन्तु निकापात्रा तु देख पिण्ठा — विषयति ही उनकी परीक्षा भी सशीक्षाती है। 'प्रसुग शब्द ही मैं देख शाय के अनिरिक्ष पात्र आदि जाती का भी उमाकेश हो जाता है। उमता ऐ एवं वर काँड़ में गुप्त अद्व नहीं है। मात्राकृता में सद्ग रीति है लिखा है "सम सर्वेषु भूतेषु" यही सिद्ध पुस्ती का स्वाम है। परन्तु उमता कहते किसे हैं? यहि कोई मनुष्य योग्यता-अयोग्यता का विचार न करके सब जोगों को उमान धान करने वाले, तो क्या हम उसे अच्छ छोड़े? ऐसे प्रभ का निषय मात्राकृता ही मैं उस प्रनार किया है — देखे काँड़ एवं पात्र एवं उस उमान सात्त्विक विषु' — ऐसे काँड़ और पात्र का विचार कर के दो "उल रिया ज्ञाता है वही सात्त्विक वह ज्ञाता है (गीता ७३)। काँड़ की मर्यादा सिर्फ़ उमान जाष ही के लिये नहीं होती। दर्यों दर्यों उमता करता है स्त्रीं स्त्रीं द्यावद्यारिक घम में भी परिषत्तन होता जाता है। असत्त्वे उस प्रत्यीन समय की किसी जात की योग्यता या अयोग्यता का निषय करना ही उस उस समय के घम अवस्थाकी विश्वास का भी अवस्थ विचार करना पड़ता है। असत्त्वे मनु (१८) और भ्यास (मा शा १८) कहते हैं —

अस्ये उलसुये चर्माक्षतायां द्वापरेऽप्ते ।

अस्ये कछिपुये मूर्खां द्वुमन्त्रासामुक्तपतः ।

मुगमान के अनुवार इत देखा द्वापर और कछि के घम भी मिल होते हैं। महामारत (भा १२२ और ७१) में यह कथा है कि प्राचीन काँड़ में लियों के लिये विकाह की मर्यादा नहीं थी वे इस विषय में रखतन्त्र और अनाश्रुत थीं। परन्तु उस अध्यारण का बुरा परिणाम यीप वद्ध उप भेत्तेनु ने विकाह की मर्यादा स्थापित कर दी और मदिरापान का निषेचन भी पहुँचे पहुँच मुम्भनाय ही ने किया। साम्य यह है कि विस समय में निषय आरी नहीं के उस समय के घम अवस्थ का और उसके बारे के घम अवस्थ का विषेचन भी मिल रीति से किया जाना चाहिये। उसी उमर् यदि वर्तमान समय का मन्त्रित घम आगे कर जाय तो उसके साथ भविष्य काँड़ के घम अवस्थ का विषेचन भी मिल रीति से किया जायगा। काँड़मान के अनुवार देवात्मा, दुर्गाचार और बातिष्म का भी विचार करना पड़ता है। क्योंकि अन्धार ही सब चर्मों की वजह है। सर्वपि आचारों में भी उमत मिलता हुआ करती है। पिण्ठामह मीप बहते हैं —

न हि सर्वद्वितः कविद्वाचारः सम्पर्तसे ।

तेनैवायः प्रमदति सोऽपर वाष्टते पुनः ॥

“ऐसा भाषार नहीं मिलता, जो हमेशा एवं स्वर्गों के समान हिलाकर हो। यदि किसी एक भाषार का स्वीकार किया जाय, तो दूसरा उससे कह कर मिलता है यदि उस दूसरे भाषार का स्वीकार किया जाय तो वह किसी तीसरे भाषार का बिरोध करता है” (शा २६१ १० १८)। अब भाषाएँ मैं प्रेसी मिलता हो, तथा मीम्प भितामह के कृपन के अनुसार तारतम्य भयका तार असारटिंग से बिकार करना चाहिये।

मैं-अर्थ या घम अर्थमें कियम में एवं सौहों का यदि निषय करने स्वें तो दूसरा महामहरत ही भिज्जा पड़ेगा। उच्च विकेन्द्रन से पाठ्यों ज्ञान में वह घट भा आयगी कि गीता के भारत में भाषा घर्म और बुमेम के बीच समाध उत्पन्न हो जानेए असुन्न पर कठिनाई भार्म वह कुछ लोक निखलण नहीं है इस संसार म प्रेसी कठिनाइयों कार्यकर्त्ताओं और वे भाषमियों पर अनेक बार भाषा ही करती है और वह प्रेसी कठिनाइयों भाटी है तब कभी अहिंसा और आत्मरक्षा के बीच फर्मी सत्य और सर्वभूतित मे कभी शरीररक्षा और कीर्ति में और कभी मिम मिल जातों से उपस्थित होनेवाले कल्पयों में समाझ होने आता है। शास्त्रोक्त, सामान्य दृष्टि सर्वमान्य नीति-निपत्तों से काम नहीं चलता और उनके क्षिये अनेक अपदार्थ उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसे किछु समय पर लाभारप्य मनुष्यों से क्षे कर दें परिका भी यी वह जानने की स्वाम्पविष इच्छा होती है कि काय-अकाय की स्ववस्था - अपात् करम्य-अकर्त्तव्य घर्म का निषय - करने के क्रिय कोइ विरत्यागी नियम भयका सुकिं है या नहीं। वह बात तब है कि शास्त्रों में बुमिक्ष ऐसे उच्छव के रमय भापदम् बहकर कुछ सुकियाए भी गई है। उच्छवरणार्थ सृजिकारों ने कहा है कि यदि आपलाल में वास्तव किसी का मी अप्त प्राप्त कर दें, तो वह गोपी नहीं होता और उपलिपि चाकायम के दृष्टि तरह ज्ञाय करने की क्षमा भी स्वर्णोम्पोषनियद् (याल ३ ११ अ १ १) म है परन्तु इसम और उक्त कठिनाइयों में बहुत देज है। बुमिक्ष ऐसे आपलाल में शाम्भर्म और भूद्य व्यात आदि नियवृत्तियों के बीच में ही समाध दुमा करता है। उस रमय हमको नियों पक क्षें और लीजा करती है आर शाम्भरम दृश्यी और लीजा करता है। परन्तु किन कठिनाइयों का बाजल उपर विद्या योग है उनमें से बहुतरी प्रेसी है कि उत्त रमय नियवृत्तियों का आर शाम्भ का कुउ मी बिरोध नहीं होता किन्तु एक दो घमों द्वारा उत्पन्न विरोध नत्यम हो जाता है किंतु शास्त्रों ही ने किए तरह कहा है। और विर उत्त रमय शूरम विचार करना पड़ता है कि विर बात का स्वीकार किया जावे। यद्यपि कार्म मनुष्य भपनी उद्धि के भनुतार इनमें दृश्य जाता का निषय श्राविन सम्पूर्ण ५ एवं ही रमय पर विये एवं फ्लाव से बर उत्तता है तथापि भनन मैंन एक हते हैं। ५ उनमें इह दो बुद्धिमत्तों का मी मत पक्षर मैं पह आता है। बारण यह है कि किन्तु किन्तु भवित विचार किया जाता है उक्ती ही भवित उपरनियों और उक्त नत्यम होते ही ८४

है और अठिम निश्चय असंभव-या हो जाता है। अब उचित निर्णय होने नहीं पाता सब अभ्यर्थ या अपराध हो जाने की मौ समाजना होती है। इस दृष्टि से विवार करने पर मान्यम होता है कि अम अभ्यर्थ का विवेचन एक स्वर्गव घास्त ही है अस्याय तथा अ्याकरण के भी अधिक गहन है। ग्रांवीन उच्छ्रुत श्रीयो में 'नीतिशास्त्र' शास्त्र का उपयोग ग्रायः राजनीतिशास्त्र ही के विषय में किया गया है और कर्तव्य अक्षय के विवेचन को 'अमशास्त्र' कहते हैं। परन्तु आजमध्य 'नीति शास्त्र' ही में कर्तव्य अथवा सवाक्षरण का भी समावेश किया जाता है इसलिये इस ने बर्तमान पद्धति के अनुसार, इस प्रथ में अर्थ अभ्यर्थ या कर्म अभ्यर्थ के विवेचन ही को 'नीति शास्त्र' कहा है। नीति कर्म-अभ्यर्थ या अर्थ अभ्यर्थ के विवेचन का यह शास्त्र क्या गहन है यह भाव प्रकट करने ही के लिये सूक्ष्मा गतिर्हि अर्थत्य "— अर्थात् अम या अ्याकृतिरिक नीतिशम का स्वरूप सूक्ष्म है — यह वर्तन महामारुत में कहीं ज्ञात उपयुक्त हुआ है। योंच पाठ्योंने मिल कर अनेकी द्वीपशी के साथ किंशाहै से किया। इसकी के वस्त्रहरण के समय मीष्म श्रीय आठि सत्युम्ब अन्यहरु होकर तुपत्ताप क्यों हो रहे हैं? तुप तुयोंचन की ओर से मुद्र करते समय मीष्म और द्रोणज्ञार्य ने अपने पर्म का उम्मन करने के लिये ज्यों पह सिद्धान्त अस्तम्या कि अर्थत्य पुष्पो वासुः दासस्त्वद्वो न वस्त्यन्ति" — पुष्प अर्थ (समाप्ति) का दास है अर्थ किसी का दास नहीं हो सकता — (म. भा. भी ४३ १८) वह क्या है या क्युः? पीर सेवाप्रम कुर्वते की तृतीय के समान निन्दनीय माना है — ऐसे देवाश्वरूपिणरप्याता (मनु. ४ ६) तो अर्थ के दास हो जाने के बासे मीष्म आठिकों ने तुयोंचन की देश ही का त्याय क्यों नहीं कर किया। नके त्यामन और भी अनेक प्रभ होते हैं किनका निश्चय करना बहुत नात्मि है; क्योंकि "नके विषय में प्रस्तुत के अनुसार मिल मिल भनुत्यों के मिल मिल अनुमान या निर्णय हुआ नहर है। यही नहीं समझना चाहिये कि अर्थ के दास सिर्झ सूक्ष्म ही है — "सूक्ष्मा गतिर्हि अर्थत्य" — (म. भा. ३ ७); किन्तु महामारुत (अन २८२) में यह भी कहा है कि 'वृषाणा इनन्तिः' — अर्थात् उत्तरी शास्त्रादेशी भी अनेक है और उससे निर्भयेवाकै अनुप्रय भी मिल मिल है। तुम्भार और ज्ञात्वा के सवाइ में अम का विवेचन करते समय तुम्भार भी पहीं कहता है कि 'सूक्ष्मत्वाम त विश्वात् घस्तते वृषनिहृ' — अर्थात् अर्थ बहुत सूक्ष्म और ज्ञात्वा में दासेवास्त्र होता है। इसलिये वह लम्भ में नहीं नावा (था २६२ १०)। महामारुतकार श्वासकी इन सूक्ष्म प्रस्त्रों को अस्त्री लहर अन्तर में "सुखिये उन्होंने वह समझा देने के तौर पर ही ऐ अपने प्रथ में अनेक मिल मिल कथाभौ का यापह किया है कि ग्रांवीन समव क सत्युम्बो ने ऐसे कठिन मौलीं पर केसा कर्तव्य किया था। परन्तु शास्त्र पद्धति से सब विद्यों का विवेचन करके उक्ता सामान्य रक्ष्य महामारुत चरीरों अर्थप्रथ में कहीं ज्ञाता देना भावरपक्ष था। इस रक्ष्य पा मर्म का प्रतिपादन —

अनुन की कायदूता को दूर करने के लिय ममतान् श्रीहृष्ण ने पहले यह उपेश दिया था उसी के आधार पर - व्याख्यानी न मानवीता म किया है। इससे 'गीता' महामारत का रहस्योपनिषद् और चिराभूदण हा गा है। भार महामारत गीता के प्रधिकारित मूलमूल कमतस्ता का उत्तरारप्त्तित विस्तृत व्याख्यान हो गया है। उस बात की भार उन लोगों को अवश्य व्यान देना चाहिये जो यह कहा करते हैं कि महामारत प्रथ में 'गीता' पीछे से छुसेह भी गा है। हम तो यही समझने हैं कि यह गीता की काँ अपूरवता या विशेषता ह तो यह यही है कि जिसका उपेश ऊर किया गया है। कारण यह है कि यहाँपर केवल मौखिक अथान् केवलत का प्राप्तिवादन करनेवाल न्यूनिसद् आरि सभा आहिसा भारि सवाच्चार के सिर्फ़ नियम ज्ञानेवाल समृद्धि आरि अनुक प्रथ है सपापि केवलत के गहन उत्तरान के आधार पर 'कायाकायव्यवस्थिति' करनेवाला गीता के समान और दूसरा प्राचीन प्रथ संस्कृत गाहिस्य में देख नहीं पड़ता। गीतामर्कों को यह उत्तराने की आवश्यकता नहीं कि 'कायाकायव्यवस्थिति' शब्द गीता ही (१३ २४) मै प्रयुक्त हुआ है। यह शब्द हमारी मनवात नहीं है। मानवद्वीप ही क समान योगवाहिष्ठ में भी बलिदुमुनि ने भीरामचन्द्रभी का जन-मूलक प्राचिनाग ही का उपेश किया है। परन्तु यह प्रथ गीता के काँ ह भीर उसमे गीता ही का अनुमरण किया है। अतएव ऐसे संघों के गीता की उस भावर्बना या विशेषता मैं - जो ऊपर कही गा है - कोर बापा नहीं होगी।

---

उपगुणरूपं भूम्	१८ ६४ ८५६	सन्यासस्तु महावाहो	५ १ ११३
सदता पागिराह तत्	१९ ११ ८ १	सन्यासस्य महावाहो	१८ १ १०८
सदवाराराणि स्यम्य	८ १२ ७८४	सन्यासः कर्मयोगश्च	६ २ ११०
सर्वद्वैतेषु देहे लिङ्ग	१४ ११ ८११	सन्यास कर्मयोग इत्य	५ १ ११०
सर्वज्ञानात्परिक्ष ए	१८ ६६ ८६७	साध्यधोगी पृष्ठाख्य	५ ४ ११
सर्वभूतास्पदान	६ २९ ७१८	स्ताने हृषीकेश तत्	११ ११ ८८२
सदमूलतिष्ठत षो मा	६ ११ ७१८	लिङ्गत्रिपद्य का भूषा	२ ५४ ११०
सदम्भानि कौन्तेय	९ ७ ८५२	सद्यालक्ष्मा विहर्यान्	६ २७ ५६
सर्वस्मैतु येतैः	१८ २ ८५२	स्वरूपमयि चावेष्य	२ ११ १११
सदमेतदत् मन्य	१ १४ ७६९	सद्मार्गेन कौन्तेय	१८ १ ५५
सर्वयोनितु कौन्तेय	१४ ४ ८१	स्वप्नमेषावनाद्यान्	१ ११ ५११
सदस्य चाह इति	१६ ११ ८२१	त्वे स्ते कर्मच्यमिततः	१८ ४० ८०
सर्वात्मिन्द्रियक्षमापि	४ २७ ६८९		
सदेन्द्रियगुणामह	११ १५ ८ २	इन्द्र वै क्षयिष्यामि	१ ११ ०५
लहृ कर्ते कौन्तेय	१८ ४८ ८६१	इती वा माप्यस्थिति सर्वो	२ १० १११
नहयश्च प्रथा सारणा	१ १ ६६	इतीकैष तदावाक्य	१ ११ १११
साहस्रसुगुपर्यन्त	८ १७ ७४६		
साधिभूताविहै वा	७ ३ ७३७	विष्य मरुति कर्मत्वा	१ ११ ०५
सिद्धि प्राप्तो वया इत्थ	१८ ११६	सेन्द्रोक्षहपोरेष	११ १४ ८८
सीर्वन्ति प्रम गात्राणि	१ २९ ६९८	सेन्द्र चापि मा विद्धि	११ २ ०१०
सुप्रदृष्टे समे इन्द्रा	२ १८ ११९		
सुप्र भात्यनिक प्रकृत	६ २१ ७१६	शनवकेन चाप्यस्ते	१ १६ ५६४
सुप्र विश्वनी विद्धिव	११ १६ १६७	शनविश्वनदुसामा	१ ८ ७१२
सुप्राधामित कृप	२ ७८७	शनेन द्रु तद्वर्ण	६ १६ ०९
सुप्रमवाक्यादीन	६ ७१	शन कर्म च कर्ता च	१८ ११ ५६२
सुप्र नरकाप्य	४ ४२ १ १	शन तेऽह सविश्वन	७ २ ७२०
सुप्रमवाक्याम्भान	६ ४ ३	शन सेप परिक्षाता	१८ १८ ५६२
सुप्र मनह योगी	४ ३११	कृष च निष्पत्यस्यासी	१ ११ ११८
सुप्रियम्यन्द्रियप्रामम्	४ ८१	कैष च प्रकृत प्रकृत्वामि	११ १२ ११

देखिये प्रसमान	१७ ३ ७८९	अद्या परया हमे	१७ १७ ८१८
होमे गिनिद्विभिरा मिद्या	१ १ ६८४	भावावलनमूर्यधि	१८ ८१ ८६८
शम प्रवृत्तिराम्भ	१४ १२ ८०९	भडाकाँडमे जन	४ ८ ६९
		अविकिपिनिरामा ते	६३ ६८९
वक्तुमहस्यदरेण	१ १६ ७६	भयान्त्रम्यमयायाम्	४ ३१ ६ ३
वक्तव्यि तु त्वरमामा	११ ८३ ७८९	भयान्त्रमयमो चिरुण	४ ३६ ९७३
वानुपमाऽनिषद्वण	११ ३ ७८९	भयान्त्रमयमो चिरुण	१८ ४५ ८६१
वासाति शीषामि	२ २ ६१७	धेया हि जनमयाम्	१२ ४ ७३
विद्विवेनयसमद्वे	६ १८ ० ८	आत्मानीनियायन्य	४ ६ ६८
विभिन्नसम्प्रदाम	१७ १३ ८ ३	आत्म चातु नमन च	१६ ९ १ २
विविक्षेत्री व्याप्ती	१८ ८ ८६९	वामुपन्तुष्टव्येष	५ ० ६१८
विद्वा विनिष्ठत्व	६१ ६४८		
विष्टिनिद्रियस्थान्	१८ ३८ ८ ८	म पदाप मवा तेऽन्	४ ३ ६०३
विल्लेषान्मनो याग	१ १८ ७६	सच्च व्यायविक्षलो	३ ८६ ६६
वियाह कानन्या युवान्	७ ६	सर्वति मत्ता प्रसर्वे	११ ४३ ३८४
वीतरामयकाष	६ २ ६८	स चापा चानरपापा	१ २ ६२६
दृष्टीना वासुदेवांस्मि	१ ३० ००४	सरवत वीतयन्तो मा	१४ ४६३
दाना सामवेषोऽस्मि	१ ७०	स तया अद्या मुक्तो	७ २ ०३६
देवाविनाशिन नित्य	६३७	सुखरमानयुवाप	१७ १८ १३
देवहृष्टप्रभीकामि	७ ८६ ७१७	सुखान्तर्यायदत हन	१४ १३ ८१०
देवु यमेनु तप मु चद	८ ८ ०८९	सत्त्व रक्षन एति	१४ ८१
द्यक्तायामिना तुष्टि	१२ ११८	सत्त्व मुक्ते सुर्यपि	१४ ९ ८११
द्यामिभेषेष वास्पन	३ ६ ४	सुखानुशा सुक्ष्य	१३ ३ ८१८
द्यामप्रसादाऽनुवान	१८ ३ ८६	सुष्टुष वृष्टु द्यापा	३ १३ ६३
		सुडाव साप्तमाप च	१० ३ ८६७
एकार्त्तिव य वातु	३ ३ ४	समव रम्युग स्वस्या	१४ ८ ८१४
एन शनेवरमेन्	६ ८६ ७१३	सुमात्र तदभृतु	७६
एमा एमनाय शीत्व	८ ८ १८	तम कापिहारीष	१ १३ ८१३
एर्वर यद्यव्याप्ति	११ ८ १२	तम परपन्ह तवन	१३ ८८ १०
एर्विक्षाऽन्नानियन्	८ १ ८	तम गर्वेन भृतु	११ ३ १६
एवृत्य रत्ना धने	८ १ ०८८	तम शत्री च मिद च	१ ८ १४
एवृत्य रत्ना धने	८ १ ३ ३	तुगाल न विनाप्ति	१ ३ ३
एवृत्य रत्ना धने	८ १ ०८	तदक्षमिति भनता	६ १ ५ ३
एवृत्य रत्ना धने	१८ ४३ ८६	तदमायति एगा	१८ ६६ ८११
तीर्त्य तत्त्वा भृत्याप्ति	१८ ४३ ८६		
तीर्त्य तत्त्वा भृत्याप्ति	१ १ ८		

						१८७
क्षेपनिषद्	५६ ९३ १२	१४१	गमोपनिषद्			
१४६	१६ १७१	१८१	गाया ( द्वाष्टाम देवो )			
२१	२८, २९	२	गीतार्थपरामर्थ			२७
२३७	२४०	२५	गीता ( तालिका देवो )			
२६४	८८, ४१४, ४१९,	७३	गुरुक्षमन्त्रगित्तस्तत्त्वाराचारण ४ ६	१९७		
७७७	६१, ६१४, ७१७, ७४६	७४७	गोपालक्ष्मापनिषद्			५११
८१८	८२१	८४	गौडियाश्वामय	१६४	११३	
८१८	८२१	८४	गौडिय पश्चोक्त पुराण			४
कथमरित्यामर		८१	गौतमसूत्र			८१
कथाम		८६१				
कपिस	१६१	६४६, ६६७	चाणक्य			४९
कपिलमीता		३	चावाक	५५	८८	
क्षमस्तक मह		६	चुदामण ( पारी )	४४	४८१	४०६
कामिदास ४२	७३	८१ १२, १२८				
१२१	११९, १४	४ १ ६९४	छाडाम्बोपनिषद्	१२, १२०, १३१		
६६		१ ३ १०१ १७३ १८०		२ ७		
काति ( अ गु )	५३३	६६६ ६८	२२१	८२७ ८२९, २३२ २३३		
किरत ( मारवि देवो )			२३७	८४८ ८५३ ८५४, ८५८		
कुराण		२४	२८९	८ १ २९८ १ १ १		
कृमपुराण		४	२१६	१८४ १६१ ४१ ४१२		
क्षापनिषद् २ ८	२३१	१९२ ४ १	११८	२ ८ ११२ ५४६, ५४७		
केशव कामिली मध्याचार्य		१७	६४८	५६ ५७६, ५७१ १११		
केत्ती		२६	८ ३	७२८ ७३८ ७४३, ७४९		
कष्मयोगनिषद् २३७	१४१	१८८ ७३	७३६	८८८ ८९९, ८१ ८१०		
कौटिल्य ( वालक्य देवो )			८४			
कारितसुरनिषद्	६३	७२ ७ ८	सुरिषोपनिषद्			५१६
	८ ३८ ४८८					
कृष्णनिषद्		२७	शागमस्तकामारनिषद्	१६, ११६		
			१४१ ८८८ ४६			
कृति ( कर्मसूत्राल )	१ २		शमिनी ( भाजा ग, मी. तद ) ६८ ० ,			
			१ १ ८४९ ८८ ४	८	८	८
गायार्था	१ १		शमिनीर	२२ ६४ ०	११०	
गायार्था		१				
गद्यपुराण		१	शमन			११४

सूची

इन गूंजीरत वृंद ऊपर ऊपर से उनसीन करने ते बापर उनकी रपना वृंदी  
करना चाहे। प्रथम भौत प्रभुवारी के नाम भारानुकम्भ मे विष ह। एक ही स्वरूप  
के प्रथम वृंद वृंद ही वाणिजा दी गर है यह वाणिजा के नमस्ता मे भा शायगु। भीडा  
के राष्ट्र के स्वरूपरत्न के भिन्ने विवरितेभन के भनुरोप मे भानवासी व्यतिरियोगा  
निंद स्वनय धीरह के नीचे विवा गया है। भौत पारिम्परित घटा का समावेष  
नपास्यामी मे अन्न मे भावा है।

प्रथम और प्रथमार्थ

		प्रयोगीयारनियम	२८३१	३५
भैषज्यग्रन्थ	४	३२८ ३२२ ३२३ ३२२, ३२३		
भस्त्रो	२६८	११४ ११६ १२ ५१ ८१८		
भृष्णु रामायण	८६ ११८	७२९ ६१ ७१८		
भैषज्यराय	११	३		
भूर्लंग	३८	उत्तरार्द्धर्मलि		३२
भृष्णु गोपविदा	६१६	उत्तरार्द्ध		१ ११
भृष्णु द्वितीय	२४ ८ १३	उत्तर ( पाठ्य )		४४२
भृष्णु गुप्त ( पाठ्य )	६३८ ८६	उत्तर ( श्वराचार्य )		
भृष्णु क्रिप	१	३		
भृष्णु राय	१३	उत्तर		
भृष्णु राम	१० ८ ८ ३८		४	
भृष्णु राम-द्व	८	४२८ ३१ ३१	१ ४१६ १	
भृष्णु राम	१	५११ १ ५१	५१	५१
भृष्णु राम	१	१ १ १ १ १ १	१	१
	३	११८ ११३ १ ११८		
भृष्णु राम	१	५११ १ ५११ १		
भृष्णु राम	१	१		
भृष्णु राम	१	१५८८		
भृष्णु राम	१	१५८८		
	४			
भृष्णु	१	१ १ १ १		
भृष्णु	१	१ १ १ १		

मात्तुरिन् (मास ऐतो)		१८८, २८१ ३ १, ११६ ४४
माणसद्व	५९९	१४२ १८६, १९८ ४११ ४१०
मात्रायणाचार्य	१२, १	४२६ ४२ ४३१ ४३४ ४३७
मायक्ष ४ ३० १७४ १७ १९१		४७० ४७६, ५३ ८६९ ६ ०
३ ४		१४२ १४८ १९४ ४२८ ४३४
मुखरित	६०	७ ८ ७६, ७६ ७६६ ७५४
महाराज्यकोपनिषद्	११ १८ १११	माहारकर (श रा यो) १९ १
१११ १४६ १४८, १७१ १००		३३ ७५२ ५६३ ५९८ ६०६
११, २ ८ २ ९, २११ २१७		भारद्वि ४७ १११
११८ २२१ २२४, २२६ २२८		भास ६ १११ १३१ १४ ५५६
२२, ११ २२२ २२४ २२६		५०
२२७ २४९ २५१ २६३ २६८		भास्त्राचाय ४१२
२६४ २६६ २७८ २९१ २९६		मीष्म २ ६१६ १०
२९८ २९९, ३१८ ११६ ११६		मिशुगीता
३२३ ३५१ ३६१ ३६३ १८८		म
४१७ ४७ ४९८ ५११ २९		मत्स्यपुराण ५५८
५१२, ५४५ ५४६ ५५३ ५८		मधुष्ठन १८
८५ ६२८ ७३६ ७४ ४४२		महानाथप्रजोपनिषद् ५११
७४६ ८ ० ८६३		महाकमा ११४ ८७१ ४६ ८८
मोपगीता	१	महाकृष्ण (पार्णी) ५०६
मोपायनमूद्	१५३ ५६६	महापरिनियागतुष्ट (पार्णी) ८५
मोपायन एकप्रेषण	५३७	मध्याचाय (आनन्दीर्थ) १५ १०
मध्याचालमुच्च (पार्णी)	७८	८३७ ८१९, ८४९
मध्याचालपुराण	८०	मनुस्मृति १ ३१, ३४ ३६ १०
मध्यात् (वेगम्याद् यातीरिक ऐतो)		४ ४१ ४३ ४४ ४६ ४५ ४६
मध्याचालपुराण	४	८ ४६ ५ ० ४४ १ ४
माहात्म्यमित्रा (पार्णी)	५८१	१ ६ १ ८ ११२ १११ १५०
माहात्म्य (तात्कार्तो)		१२८ १६७ १८२ ११३, १ ४
म		११६ १७६ १८८ ११ १८६
मह तुमारिस	१	२ २ ८ ४ २ ६ ११ ११
मर्मीन	३६ ८२८	१७२ १६ १६ १५४ १५५
मनुही ३४ १० ८५ ११ १ ०		१०८ १ ६, ४ ४० ४०८
१ १०		६२२ ८७ ११२ ४१ १४६,
मगदा ४	१२ १०	४६ ८६२ १०८ ६०१ १



२४	२११	३८१	१०९	१११	रामायण-	
५	६२४	२७	५४१	५६६	बालकाणि	४३
७७	७७८	८१८	८१		मयोधपाकाणि	४
अष्टमोष्ट	२	१	१	११	१४१	१५१
				१५१	अरथकाणि	७७४
१८	१११	१२२	१२७	१२७	सुदकाणि	१३८
१४३	४४	४४३	४३३	८७	उच्चकाणि	५३
४८	४८६	५२६	५२	५६६		
५७६	७१६	७७	, ८१६	८१७	विष्णुपुराण	११३
८६	८६७					
मीमांसा	६	२	८	९	वस्त्रमूलनिष्ठद्	५६६
	६२६	५६			वस्त्रगाया (पास्ती)	६४३
स्वर्गार्थाहण		१८	१	५२८	वहमाचाय	१३, ५३१
आभमवाचिक				४८५	वराहपुराण	५
महाबला				५८	वारमा	८३६
					वाक्मुलेयी रहिता	२५८, ५६
ममनीता					वामन पण्डित (वयापटिभिता)	१९
यामायनीभिता					वामुपुराण	५
यामवस्त्रम्	३५	१९३	१५२	१५८	विविस्मृतीता	५
	३६१	१६६	४११		विशुर	५०६
याम (निरह)	१८	१	१	१२१	विष्णुपुराण	४, १२१ ११६ ६४९
	२१८	३	१५	६४१		
	४४६				६ ४१५ ७६६	
योगशाखिष्ठ	६	८५	३१	११६	वेत्र (तामिका देवी)	
	३३४	११०	४१	, ६४४	वेश्वर	२४३
यामतत्त्वोपनिषद्			६४०	६६	वेश्वल (शारीरक, वायरुत)	३२
					०६ ११ १ १४८ १६ १६०	
					१६६ १६६ १७३ १३६ १०८	
रद्यश	४१	७३	३१	३४	१८ १८७ १ १९३ १३	
रमायनका इति					१८ १ २ , २ ८ १२१ १४१	
रामपूराणामिसुपनिषद्		४२	४२३		१६ २६३ ६ २३१ १०४	
	५३३	६४३			७६ २७१ २८१ २८१ १०४	
रामानुजाचाय	६	११	०	११	१८ ११ २ १ १ १ १	११
	४	१३	११	११	११६ ११७ ११८ ११९ १११	
रामायना					११६ ११७ ११८ ११९ १११ १११	

४७ ७१८ ७४६ ७६६ ७७१	११९, ४	८२ १४ ६२१
७४ ८१२ ८३८ ८४ ८५९	६२२, ६२९, ६३० ६६९ ६८५	
मातुक्षयोपनिषद्	२२६ २४७	द्रोण
मिथि प्रभ (पाणी) ६	१७३ १८२	कर्ण
५८४ ६७८ ८६ ५८६ ८६		शस्य
मुहोपनिषद् १७१ २	२८२ ९	जली
२२१ २३२ २४६ २ २ १		शास्त्रिय १ ९ ७ ३ ३२ ३१
२६८, २७८, १ १	११६ ३४७	१४ ३ ३५ ३६, ४१, ४२ ४५
६७७ ६१९ ७२८ ७१		४६ ४८ ४९ ५१ ५३ ५५
मुरारि कथि		५५ ८ ११३ १२ १५
मैमुपनिषद् १ ५ १३६ १३७ १३८ १७१		१ ५ १११ ११ १११ १२
१११ ८४८ २ १, २८ ८८९,		१२७ ११७ ११६ १४ १
२१ ३७८ ५३१ ५४६ ५४७		१६१, १६ ११६ १०१ १०८
६ ३ ६ ६ ६८ ४४३		१८१ १८७ ११३ ३ ४ ११६
१२		२ २ ८ ६ २ ९, २१९
मोरोपत	११	२११ ८ १ २६२ २६६ २६७
मकिगीता	१	२७६ ०८ ७९ २८१ २९३
मृष्टकविक	४१	२ ४ ११ १६ ३ ३, ११६
महामारु		११६ ११८ ११९, १२ १२२
आति १ ११ ११ १४ १ १ १०		३२७ ११२ ११९ १४१ १४२
१८ ४६ ४८ ७० १ ६ ११		३४६ १४६ १४७ १६१ १७१
२६८ ४ ४ २ ४४८ १४		३८१ ३८९ ४ १३७ १३८
१७ ६२८ ११ १६६		४२३ ४४२ ४४ ४ १ ४४१
कथा	११ ४ २	४४ ६ १ ६ २ ६१४
स्त १ १६ ४२ ४१ ४४ ६ ०		६११ ५१ ६ ८ ६२ ६२
४४ १ २ ३ ६ १११ १११		४३ ४२ ४३ ११ ६
४० ७८ २ ६ ३ १ १०		८ ५ १ ११ ६६ ६८३
३४९ १८१ १११ ३ १८		६२० १३१ १४ ६६ १६१
४१२ ८ १ १४ २१ ०२		६१२ ११८ ०२ ०१ ७१८
६१ ५११ ५८२		७२४ ०३ ०३ ०३४ ०४६
विषा	१११	७४६ ०५ ० ३ ०५०
स्त्रोग १८ ४१ ४८ ४१ ४ १४		००२ ००५ ०८ ०१३ ८०
१ १ ३ ४ ३४२ ३ ४ ३१		८३ १९ १४ १४ १०
		मनुषाशन १ १८ ३१ ३ ५ १०३

प्राचीन

प्रक्रियाशी

४२४	४४२	६१९	६४०	६४१,	१७८,	१८७,	१९२,	४	४३०,
६४२,	६४३				६३	/	७		
देव (वित्तसम्पन्न किसान)		६१७			सरकार बाबू लियोडलाल				४३६
६१९,	६६२	६६३	६६५		बद्रम पुर्णीक (पाखी)	६७४,	६८१,		
स्वास्थ्यमीठा				४		६८६			
इतरगीठा				१	समाजसमुचित (पाखी)	५३८,	५८०		
दूषानेयभूति				३६३	सर्वोपनिषद्			१११	
प					उपस्थिती गीता				७
शत्रुघ्न बाल्मी				११८,	५००				
शत्रुघ्न				८३,	१२८	लिहुता (वालिका भेड़ी)			
यिष्ठगीठा				४,	५,	साक्ष्यकारिका	१५,	११४,	१६४,
यिष्ठगिरि देवरी				६६८		१६	१६	१६३	१६४
खतापेत्रपैत्रनियद्	१६४	१०३	१०६		१६६	१८	१०९	११२,	११३
१०७	१३	२१	२१	११९,	१२२		१३	८८	
१२६,	२०८	११६	१२७	१२७					
१११,	६४२	६३३	६४	६३					
०४	८	८१८	८१८						
दिष्टुष्टम									
धरमानाय	११	११	१६,	८१					
११८	१७४	१५६	१५९	१५					
१३	१८	१०	१३	१					
५३	३६	२८१	०	३					
४७	४	६६	६४३	६४					
६१०	४६	११	१	११					
१४									
धर्मगीठा				१					
धारमानाय	१	८१	१८८	१६					
द्वि यन्त्र				११					
भीर				१०					
प									
पर्वत				१४					
प्रथम (प्रथम दल अ५)	८	१२							
८	१	४११	४१						

## कर्मयोगशास्त्र

तस्माद्योगाय युम्यस्त योगः कर्मसु क्षीरासम् । ०

— गीता २ ६०

**यदि** किसी मनुष्य को किसी शास्त्र के अननेकी व्यष्टि पहचानी ही से न हो, तो वह

उस शास्त्र के इन को पाने का अधिकारी नहीं हो सकता । ऐसे अधिकारीहीं उस मनुष्य को उस शास्त्र की विज्ञा देना मानो उसनी में दूर दूहना ही है । विष्य को दो इस विज्ञा से कुछ व्यग होना नहीं परन्तु युरु की भी निरर्क्ष अम फरके समय नहीं करना पड़ता है । ऐसी और बातरायण के शूलों के भारम में इसी कारण से

भवातो कर्मविहारा और भवातो ब्रह्मविहारा कहा दुभा है । ऐसे ब्रह्मोपदेश मुमुक्षुओं को और कर्मोपदेश कर्मेभुक्षुओं को देना चाहिये ऐसे ही कर्मयोगशास्त्रोपदेश उसी मनुष्य को देना चाहिये जिसे वह अननेकी इच्छा या विज्ञासा हो जि सासार में कर्म ऐसे करना चाहिये । “सी लिखे इमने पहचें प्रकरण में भवातो कह कर, दूसरे प्रकरण में ‘कर्मविहारा’ का स्वरूप और कर्मयोगशास्त्र का महत्व कहलाया है । उस उक पहचें ही है “स बात क्य अनुमत न कर दिया व्यय कि अमुक काम में अमुक स्वाक्षर है । उस उक उस स्वाक्षर से कुकारा पाने की विज्ञा देनेवाले शास्त्र का महत्व व्याप्ति में नहीं भवता और महत्व को न अननेके से ऐसा रथ दुखा शास्त्र समव पर व्याप्ति में रहता भी नहीं है । यही कारण है कि जो उपर्युक्त है के पहचें वह ऐसे हैं कि विष्य के मन में विज्ञासा है या नहीं और यदि विज्ञारा न हो तो वे पहसु उसी को आएन करने का प्रयत्न किया करते हैं । गीता में कर्मयोगशास्त्र का विवेचन “सी पद्धति है दिया गया है । उस अर्जुन के मन में वह शका आ” कि जित इनाह मे भैरो इष्ट से पितृव्यप और युरुव्यप होगा तुपा जिसमे भवने सब व्युक्षुओं का नाप हो जायगा उसमे शामिल होना उनित है या अनुचित और उस वह मुद्र से परायगुल हो कर सम्बाल लेने का देशार दुखा; और उन मामान् के इस सामान्य पुष्टिवाद से भी उसके मन का समाधान नहीं हुभा कि उमय पर किये जानेवाले कर्म का त्याग करना मूर्खता और दुखता का स्वर है “उसे दुमको व्यग ही मिलेगा ही नहीं उसनी दुखीर्ति अवश्य होगी । सब श्रीमद्भान् ने पहचें अयोध्यानन्दयोगस्त्र

इति दृष्ट योग का आधर मे । कम करने की जो रोति चढ़ाई या दुराक्षय है उस पाव कहते हैं ” यह ‘योग शास्त्र की व्याख्या अर्थात् तत्त्वज्ञ है । इसके उच्चमे अदिक विचार इसी वकरण मे आवे वह कर दिया है ।



भीमचान्				मुख्यमा	२७१
भेलपुरी	४८७	२२९	११६	सेवन	११४
चौक			११९	चौकोष्ठिक्षण	५७३
				स्वाद	२२१
चन्द्रकुमार	८२१	२२७	३८	स्थूलरसि	३४१
सरोवराई (नरहर गोपाल)	५१९				
			५७	हरिभन्द	३८
साहेबीय			११८	हर्यच	३४
सुखमा			८९	हृष्टे	२९
सुमंत			६४	हिरण्यवर्म	३९

## पुरोपियन घ्राणकार

आरिल्डॉट्ट	११ प्र.	६८	०३	१८	गो	४९८
	३६	१०	४८९		मेह (गॉ पद.)	१८९ दी.
अँगल	५०८	६१	८८	१३	गार्ज	५४४ ५६८ ०४
	८२६	८८३	३८	१३	गिर (गायगर)	५०९
	५८					
आर्प्त छिणी	५१५	८	१ दी.			
इनाक ऐफ्नोस्ट		५	४ दी.			
इट ५४ ६८ ८८ ८९ ८९ १९६ १९६						
१४९ २१६ २१६ २१८ २२३						
२२६ २६ २१६ दी.						
१८२ ३८ ४८७ ४८८ ४८९						
६३						
वैरस (पाल)	८८	११	४९ दी.			
विग						
कोम्बुक						
भेल (गॉ)	७४	८१	८८ ८८			
वीन	१०	९८	१	२१३	२१६	१६६, १६८
	२१३	२२८	८८			



भप्पाल्मन्त्र	१२	१३	भाम-चरक्षण	४७	४८
भनत		४८	भासमनिष्ठ बुद्धि		४४८
भनाति		४९७	भारमा की स्वतन्त्र प्रहृति		५८२
भनारध्मकाय		४९८	भाष्यामिक विवेचन		५१
भगुमान्त्रैत		४९९	माग		५८१
भगुमान		४१०	" पथ		५१२
भवत		४११	" कुन्दुल		५५
भममवकोश		४१२	भाषिरेतिक विवेचन		५५
भपूर्व		४१३	," माय		५८२
भपूर्वता	२८	४१४	," पंथ		५१२
भप्पास्त्र	२१	४१५	भाषिरैतिक विवेचन		५१
भमूत २४, ४१६, ४१७, ४१८ ४१९			माग		५८२
भमूदत्त		४८९	," पथ		५१२
भमूदाम		४९१	भाषिरेतिक सुरक्षुल		५५
भमूलाधी		४९०	भाषिरैतिक पथ १२ ११ ११६ ११८		११८
भम्यकाड	२८	४१६	भाषिरैतिक पथ १४ १२८ १२		
भहैट्		४१८	भाषिरैतिक सुरक्षुल		५५
भविशा	२१२	४१९	भाषिरैतिक सुरक्षा		५५
	४२०	५११	भानह		२१२
भम्यक		५१	भानदमय		२११
भद्गम कमो भी विवरा		५१२	भानध्मकोश		२१२
भहैषा प्रहृति		५१३	भापद्धर्म		५१
भस्त्	१५६	४१३, २ १	भासवक्षन प्रमाण		४११
भस्तूर्ति		५१४	भापिटर हिक्षा		२१ वी
भहैस्त		५१५	भारत्य कार्य		२१४
भहैखुदि		५१६	भारम्बाड	१ २	४१३
भहिराष्ट्रम्		५१७	भाण्डाकी		५१
भजन	२२४	४११	भासूरी उपत		११
भहैत्र ब्रह्मसम्म		५६		१	
भस्तैष		५७	इष्म ल्लातम्य	२०१	२१२
	५८		इन्द्रिय		१०१
भावारसम्भ		५१८		१	
भावार वामतम्य		५१९			
भाम		५२१	ईमर की एकि		१११

		कर्मविपाक	
उदाहरण्यवा प्रेमसुख स्वार्थ	८१ ८४	कर्मयोगशास्त्र	५३, ६१, ४७६
कर्माण्डिततात्र	१५६	कर्मयोगशास्त्र का अंग्रेजी नाम	४७६
उपक्रम	२१ २२	कर्मयोगी स्पष्टप्रबन्ध	२७६
उपपत्ति	२२ २३, ४१९	कर्मस्याग्निषेष	११६ ११६
उपपादन	२३	कर्मस्यात्प्र	१ १
उपसहाय	२१ ४६८	कर्मत्रियो के स्वयंहार	११२ ११८
उपासना	१११	कर्मार्थादिसेवन	५१४
		कर्म १११ १२८ १२९, २१	
कर्मसुख	७२	कर्मयोगार्थनिश्चय	१४, १८
		कापिलशास्त्र १५, १५१ १५१, ११	
एकान्तिक कर्म		कर्मण	१६
एक्लामा	११६ १२३	कर्मस	२
एसि-एसिनपद	७१२	कर्मामार्ग	२१८
		कर्मार्थग	११४
कर्मस्यामृ	२७ २८	कर्मार्थपूर्वक कर्म	४१
कर्मस्यामर्ममोह २६ २६	२७ २८	कर्मसुक्ति	१
कर्म १ ५६ २१४	२६८	किम्यमात्र	२७४
कर्मठ	११६		
कर्मस्याग ( हामल )	१२१	किल्लती चिह्नशत्र	१५७ १५९
कर्मस्याग ( राजस )	१२१	किल्लती रम्यात्मागं	१६ ५ १
कर्मस्याग ( सात्त्विक )	१२२		
कर्मनिष्ठा	१ ४८		
कर्म ( निष्ठा )	१ १९	गति अथवा स्मृति	२१
कर्म ( प्राप्त )	१ १	गीता ( स्मृति ) ५२१ ५३६, ५४	५६
कर्मप्रवाह के पर्याय शब्द	७६ ७७		
कर्ममोग	२४४	गीता शब्दाप	१
कर्मगुक्ति	२४५	गीतार्थम् श्री चतुर्थी	११६
कर्मकिञ्चना	२	गीता-तात्पर्य	१ ११ १२ १४
कर्मयोग १ १११ १ १ १ ४		गुण	२ ४ २४
१ १ ८ ४ ३ ४ ० ४१७		गुणपरिणामशास्त्र अथवा गुणोत्तरं १७१	
४३८ ४४८ ४ ४ ४८ ४८			२५१
४७१ ४७६ १ १८		प्रवधरीक्षण	७
कर्मयोग ( गीता क्र )	१ ८	प्रथ तात्पर्य निष्प	११

मीतारहस्य अथवा कर्मयोगशास्त्र

१९६

			निशुल्कावीत १६८, २७ १७१ ४९६
करुर्विष पुरुषार्थ	५५	४९६	
करुप्पूर्ह	४९६, ४१७	निशुल्कावीत प्रदृष्टि	२९६
चिन्	२३, २४७	निशुल्का की लाभावस्था	१६८ १६९
चित्त	१३६	निश्चरण	१८६
चेतना	१४४		
चोटना	७ ७१	दानय	१९९
चार्नाभम	५ ३१	दुष्प	१६
चारुवायरम	५६	दुष्निशारक कर्मसार्थ	७६
चारोंरक्षम	०० ५८	देवकाल २१३, २१८ २३५ १	२७३ १२९
		दैव	
चर्मादृत	१९	देवी माया	२४३
चर्य	३ ६०८	देवदिवी सम्भाषण	१८
चीव	१३१ २११		
चौरमुल	३ २		
चीवामा	५८	धर्म (पारस्परिक)	५६
चेते को लैसा	११३ ४ ४९	धर्म (डेवल)	१२७
चीरिण में (इह में) है वह विद्यार्थी		धर्म (मीमांसा का धर्म)	
म (सुरिम) है (वृत्तमिति) १९		धर्म (ग्राहक)	
		धर्म (ज्ञानात्मिक धर्म)	६
दीक्षार्थ	११	धर्म (यहुदी)	६९२
		धर्म (सामाजिक धर्म)	
दृष्टमपि	१४	धर्म (भेदेक धर्म)	११ ५००
दृ०	२८०	धर्म (ज्ञ)	६७४ ८१
दृमागार्थ	१०३	धर्मविवरण	६८०
दृग	२८७ ११८	धर्म (उपनिषद्)	६९
दृम	१६८	धर्मवाच	६८
दृमनुदि	१४७	धर्म (गार्डन्य)	६१२
दीनता मार्य	१	धर्मोभनिष्ठाय	११, १०
दि	११	धर्मधर्म	६६६
दृक्षा	१ १	धात्र	११ १०
द्वयग	१६ ४८७	धारणार्थम्	०१ २२
द्वयित्वम्	२ २	धर्मात्मनिष्ठय के निष्ठम्	१ १
द्रवीर्णिंग	२	दृग्नि	



बुद्धि (राज्ञ)	१४१	महाभारत	१, ५२७
(वाचनारम्भ)	१३८ १३९	मात्रा	१ ६
	४ ७	मालवधर्म	५ ८
(स्वप्नसाकारम्)	११	माया १६१ २११ २२१ २२६ २५१	
, (सरलतिकेत्र)	१०६	२६४, २६६, २११	
बुद्धि के नाम	१७४	माया (हैकी)	२४१
बुद्धिमेत्र	१३३	मायाशृष्टि	२१२
बुद्धियोग	३८४	मिष्ठा	२१८
बृह	८१३	मीमांसक मार्ग	२१८, ६४५
ब्रह्मनिर्णय	२४०	मीमांसा अध्यक्षा मीमांसा सूत्र	१९२
ब्रह्मनिर्णय मोह	२६	मुक्त	१६३ ४६
ब्रह्मसूत्र	१२	मुक्ति (क्रम)	१
ब्रह्मशृष्टि	२६२	मुक्ति (विह)	१
ब्रह्मापण	११४ ६८८	मूलप्रवृत्ति	१८१
ब्रह्मापणार्थक कर्म	४२६	मूल्य	१६३
बौद्धसिद्धान्त	६८६	मोह	२२१, २१
	म	मोह (तात्को का अर्थ)	११८
मुक्ति	४१२ ५३१	मोह (ब्रह्मनिर्णय) २१ ४९६, ४९४	
मृत्युमार्ग	६६ ४१८ ४१६ ४३	मोह (वस्त्र)	१६
	४२१ ४१४ ५३१		
मृत्युयोग	४८७	यह	२११ ४०१
मा	१२१	योगा	५६ ६४
मायाभृत	१४४	योग (गीताय) १, १० १४१	
मायारम्भ	१४२ २ ५ १	१ १ ४४६ ४५१, ४७ ४८	
	म	योग (चालन)	५१
मन	१११	योगभ्रष्ट	२८६
मन के काय	११५ १४	योगविधि	१०
मन (स्पातरणसम्बन्ध)	१३	योगदात्य	११ ४७१
महायज्ञनियम	६८९ ८५		
मन मृत	१ ३	यह	१६८
मनुप्रस्थ	१	यग	१३
मनोदेशा	१ १०	यात्राय	४७ ४७१ ४९१
मनामय काय	६९१	यात्रातुर्दि	१४१
मरण का मरण	१३६ ५१	यित्र तिना दूर्मणीर	२५१



सास्य (दो अर्थ)	१६३	स्वार्थ (विनिक्षेपहेत्येश्चिपुर्) ८२, ८३
सास्य (धार्य)	१६४	इ
सास्य (कानी) ३ ४ १५४ १५५	१५६	हीनवान
	८५, ८५२, ८५८, ८५७	प
साम्य	४८२	करात्मकविचार अथवा व्यष्टिस्त्र
स्मार्त	१४४ १४५	विचार १४३, १५
स्मार्त कर्म	६४	भेदः (भासमा) १४८
स्मार्त यज्ञ	६४	भेदधेनविचार ११२ १४३
स्वर्गम्	८	प
हित्याक्षया	२ १	अन २ २ २७८, २७९ २८
स्वित्प्रद	१७६ ४३५	ज्ञानेत्रियों का व्यवहार ११३ ११४
सुरक्षाय	९६	खनी २९३
(आप्यायिक)	१७७	ज्ञान और विज्ञन ३१३ ४११, ४१४
(भाष्यायिक)	१७१	४१५
(आधिकैतिक)	१७१	ज्ञानकर्मलम्लमुच्चयपत्त
सुरक्षाय (भाष्यायिक)	७६	४१६
यज्ञ	१५९	ज्ञानकर्मलम्लमुच्चयपत्त
सूर्यशरीर	२६१	ज्ञानक्षण २१२
सेवर नैयायिक	१६२	ज्ञाननिष्ठा १४, १ ४, ४१६ ४१७
स्मृत	१६	ज्ञान की पूर्णावस्था ६११
स्वात्म (केवल आत्म) ७० ४८ ७	७	ज्ञान मध्यिकुल कर्मयोग ४७६
स्वार्थ (दूरवर्धी हॉम्स्)	८ ८१	ज्ञानमत्र कोश २६३
स्वार्थ (उत्तर-सुवर्याखे मेम्फुल)	८	ज्ञानमामा ४१६ ४१७ ४१

— — —

प्रश्नावधि भाष्ये” – अर्थात् जिस बास का शीक नहीं करना चाहिये उसी क्षति द्वारा दूर दूर कर रहा है और साथ साथ ब्रह्मशमन की भी वही वही बातें छोट रहा है – कह कर अर्जुन क्षुद्र घोड़ा-सा उपहास किया और फिर उसके कर्म के अन का उपेक्षा किया। अर्जुन की शाश्वत कुछ निरापार नहीं थी। गत प्रकरण में हमने यह दिलखाया है कि अष्टे अन्ते परितौं जो मी कभी कभी “क्षया करना चाहिये और क्षया नहीं करना चाहिये! यह प्रथम चक्र में आइ देता है। परन्तु कर्म अक्षम की जिन्होंने अनेक अड्डोंने आती है। इसलिये कर्म छोड़ देना उचित नहीं है। विचारकान् पुरुषों को ऐसी मुक्ति ‘अर्थात् योग का स्वीकार करना चाहिये जिससे साधारिक क्षमों क्षय छोप दो होने न पाये और क्षमाक्षम बनेगाम जिसी पापि या वर्षन म मी न पाए – यह कह कर भीहृष्ण ने अर्जुन को पहले यही उपेक्षा किया है ‘तमाचोगाम पुम्यस्त’ – अर्थात् तू भी इसी मुक्ति का स्वीकार कर। यही ‘योग कर्मयोगशास्त्र है। और यह कि यह बात प्रकृत है कि अर्जुन पर आया तुमा सक्ष कुछ छोड़-जिक्रकरण या अन्तर्य नहीं था – ऐसे अनेक छोट-बड़े उक्त संसार में सभी जीवों पर आया करते हैं – तब तो यह बात आप अपक है कि इस कर्मयोगशास्त्र का ये विवेचन मामद्वीपा में किया है, उसे हर एक मनुष्य सीमे किसी शास्त्र के प्रतिपादन में कुछ मुख्य मुख्य और गूढ़ अर्थ को प्रकृत करनेवाले द्वार्थों का प्रयोग किया जाता है। अतएव उनके सरल अर्थ के पहले बन देना चाहिये और यह मी दैव देना चाहिये कि उस शास्त्र के प्रतिपादन की मूल्यांकनी दीर्घी है। नहीं सो फिर उनके समझने में कई प्रकार भी आपरिणीयों और वापार्द द्वारी होती है। इसलिये कर्मयोगशास्त्र के कुछ मुख्य मुख्य शब्दों के अर्थ की परीक्षा महीं पर की जाती है।

उत्तर से पहल्य शब्द ‘कर्म’ है जो इसका बातु से बना है। उत्तर करना अप बनना अपापत्ति, इच्छावृत्ति होता है और इसी धाराम्य अर्थ में गीता में उत्तरका उपयोग हुआ है – अर्थात् यही अप गीता में विवरित है। एसा कहने का कारण यही है कि मीमांसाशास्त्र में भी अन्व स्थानों पर भी इस शब्द के ये उक्तवित अर्थ दिये गये हैं उनके कारण पाठी के मन में कुछ भ्रम उत्पन्न न होने पाये। किंतु भी कर्म को सीधिये उसमें इच्छा प्राप्ति के लिये कुछ-न-कुछ कर्म करने का क्षयात्पाता ही रहता है। प्राचीन ऐतिह शर्म के भनुसार देखा जाय तो यह-शाय का ही यह कर्म है जिससे इच्छा की प्राप्ति होती है। ऐतिह शंखों में वह-शाय की विधि क्षार्द गारं है; परन्तु उनके विद्यम भै कही कही परस्तर-विद्योधी क्षमन मी पाय जाते हैं। अतएव उनकी एकता और मैल दिक्षाभूत के ही लिये ऐमिनी के पूर्वनीमासाशास्त्र का मत्ता होने लगा। ऐमिनी के मतानुग्राम ऐतिह और भीत वह-शाय करना ही प्रवान भीर प्राचीन कर्म है। मनुष्य कुछ करता है वह तब यह के लिये करता है। महि उसे उन क्षमाना है तो यह के लिये

इसी सुग मे भाषाश्च महापुराण और भाषाश्च उपपुराण ऐसे वर्णित थे जिने गये हैं। और पृष्ठ पृष्ठ गीताओं का सम हुआ। गीतारहस्य मे निषेध किये हुए वेष्टस्मृति-पुराणादि प्रस्तोत्रों की वालिकाएँ अपेक्षा पृष्ठ पर ही गयी हैं।

**वेद - अथवं, ऋषेऽ।**

**संहिता :-** वैकिरीय मनु वाङ्मनेयी सूत ।

**ब्राह्मण ~** आरोग्य ऐतरेय वैकिरि, वैकिरीय वैयीक्षी घटपथ ।

**उपनिषद् :-** अमृतविनु इंशा (इशावास्य) ऐतरेय कठ फैन वैक्ष्य वैयीक्षी (वै. ब्राह्मण) गर्म, गौपाञ्चापनी छन्दोभ्यु बुरिका वाङ्मन सन्यास वैकिरीय व्याजन्ति, नारायणीय तुषिहोचतापनीय, प्रभ, बृहदारप्यक, महानारायण, मापूर्ण्य मुष्टक (मुष्ट) मैत्री (मैत्रायणी) योग्यत्व रामगूर्व (ताम्नी) वाङ्मनी वेताभ्यतर, सर्वे ।

**सूति - मनु वाङ्मनस्य हारीत ।**

**सूत ~** आपस्तम्भ, अमितासुमुक्त, आमध्ययन ग्रन्थेय गौतुम-न्याय वैकिरीय, नारद नारदपञ्चरात्र, पातिनी पातुञ्चल्प्योग वैयायनधर्म, वैयायनत्युष्य ब्रह्म (ब्रह्मस्य, शारीरक) भीमांश भेषज (ब्रह्म शारीरक) शारीरक (ब्रह्म) शारिस्य ।

**क्षरिकम :- साम्यवाचरिका ।**

**व्याख्यातम् :-** पाणिनी ।

**इतिहास ~** रामायण महाभारत (इरिष्य) ।

**पुराण -** अमि, नूम, गणेश गण्ड गौहीय पश्चोत्तर, देवी भास्तु नस्तु नरिह पश्च व्रशाण्ड मणगवत मन्त्र्य मार्क्षिकेय विह वरह विष्णु, सन्तु इरिष्ये ।

**गीतार्थ ~** अवधूत अष्टावक्र, ईश्वर, उत्तर, वैष्णव, गणेश देवी परायर पाण्डव विक्रृष्ट ब्रह्म, वेष्य मित्रु मकि, यम राम विविष्णु, व्यात्र ब्रह्म विष्णुमात्र, स्त्रा, स्त्री हरि इस हारीत ।

**पातीत्यन्य ~** अमितासुमुक्त, उग्न तुर्त्यमा, तारानाय वैकिरिक्षुत (वैकिरिक्षुत) ऐतरेयाथा व्यारपञ्चरात्र दीपदस वर्षक व्रह्मव्यामुक्त, ब्राह्म चार्मिन महापरि निष्पृष्ठमुक्त, महाकथा महावाय, मित्रिन्याम, वप्तुगाया रादर्मपुण्डरीक, सुखनिपात, ऐष्टमुक्त, सम्बाधमुक्त, वैनरामनन् ।

## हिन्दु धर्मग्रन्थों का सक्षिप्त परिचय

हिन्दुधर्म के मूलभूत ग्रन्थों में महाभागी और क्रमानुक्रम दर्शि से बैठ पह भेद और आद्य ग्रन्थ है और सहिता ब्राह्मण दृष्टा उपनिषदों का उसमें ही उमाकेश किया जाता है। वहयातारि के क्रमाण्ड और परमार्थ-विचारों के ब्राह्मण इन दोनों क्षमा मूल न दीना मैं है। तथापि स्फूर्तिग्रन्थ के मूलभूत आद्यात्मग्रन्थ उपनिषद हैं। हिन्दुधर्म के समाजिक व्यवहारों का नियन्त्रण सूक्षिग्रन्थों के द्वारा किया जाता है। परन्तु उनके मूल भाषार अद्यक्षता है। ग्रन्थों के लिए और भी अनेक सूक्ष्मग्रन्थ हैं। परन्तु उनमें भास्मव्यवहार से सम्बन्ध नहीं किन्तु विष के खलू के बार में उद्धारण करनेवाली विविध विचारपरम्पराओं से है। इन विविध विचारपरम्पराओं को ही पद्धर्णन कहते हैं। गीताम के स्पायस्त्र, वैदेशिक दूत ऐमीनी के पूर्वमीमांडा दूत बादरायण के वैदिक अपवा ब्रह्मूत पतञ्जली के योगशूल इत्यादि का पद्धर्णन में उमाकेश होता है; परन्तु पद्धर्णन के लिए भी अन्य अनेक सूक्ष्मग्रन्थ हैं। उनमें पाणिनीदूत शार्णित्स्यस्त्र और नरसूत इत्यादि की गणना होती है। प्राचीन मृत्युपूर्णारहित और निर्माल पारमा पिंड स्वरूप का वैदिक धर्म में परिकर्तन होकर उपास्य वैकामी को मनने की प्रवृत्ति घटी हनि के बाद पुराणों का अस्तु तुमा। महाभारत और रामायण में पुराण नहीं किन्तु इतिहास है। पुराणों में ही गीता का उमाकेश होता है। गीतात्मग्रन्थ में इस विषय का मुख्यानुसार ऋद्धापोह लिया है। परन्तु बाचका को उसका पक्ष उन हीपे अम उद्धय से इसका परिचय लान्तिका के स्वरूप में नीचे लात्र किया जाता है।

### (१) बैठ अवस्था भूलिप्रन्थ -

उहिता (जात्यामी का अवस्था ग्रन्थों का समाह)	}	अम अवस्था यज्ञसाण्ड
ब्राह्मण (आरध्यात्)		
ठगनिष्ठ (ज्ञानाण्ड)		

### (२) जाय -

- १ अमधर्म - ग्रामशूल, सूक्ष्मिप्रन्थ (अनु प्रमाणस्व और हसीत)।
- २ दूत - (पद्धर्णन) ऐमीनी (मीमांडा अवस्था पूर्वमीमांडा)।
- ३ दूर (वैदिक शारीरिक अवस्था उत्तर मीमांडा) स्पाय (गीताम) योग (पातञ्जल) लात्य (वैदेशिक त्रिग्राम्यवारिता)।

(३) अव्यय दूत - व्याहरण (पाणिनी) अविमान के (नरस शार्णित्स्य) नूत्रप्रन्थ।

(४) दृग्दर्शन - रामायण महाभारत (दृग्दर्शन)।

(५) तुग्गा - भद्रात्य महापुराण उत्तराम और गीता।

और चाल्य-संप्रह करना है, जो यह ही के लिये (म भा शा २६ २५)। यह कि यज फरने की आश्व ऐसे ही ने दी है तब यज के लिये मनुष्य कुछ भी कर्म नहीं; यह उसी वज्र नहीं होगा। यह कर्म यज का एक लाभ है—यह स्वतंत्र रीति से साध्य बहु नहीं है। इसमें यज से जो फल मिलनेवाला है उसी में उच कर्म का भी समावेष हो जाता है—उच कर्म का कोई अल्प फल नहीं होता। परन्तु यज के लिये किये गये ये कर्म वद्यापि स्वतंत्र फल देनेवाले नहीं हैं तथापि खर्च यह से स्वर्गप्राप्ति (अर्थात् मीमांसकों के मतानुसार एक प्रकार की सुखप्राप्ति) होती है; और इस खर्चप्राप्ति के लिये ही यजर्ता मनुष्य वह आव ऐ यज करता है। वही से स्वयं यजर्त्म 'पुरुषार्थ' कहलाता है भयोऽहि लिपि वस्तु पर विक्षी मनुष्य की प्रीति होती है और लिये पाने की उसक मत में अस्त्र होती है उसे 'पुरुषार्थ' कहते हैं (वे. स ४ १ १ और २)। यज का पर्वायवाची पक पूसरा 'कदु शम्भ' है। इसलिये 'यजार्थ' के लिये 'कदु' 'कदुष' यी लिया रखते हैं। इस प्रकार सब कर्मों के ले कर्म हो गये; एक 'यजार्थ' (कदुषर्थ) कर्म अर्थात् यो स्वतंत्र रीति से फल नहीं होते अतएव अवर्क्ष है और पूरे 'पुरुषार्थ' कर्म अर्थात् यो पुरुष को आमतारी होने के कारण वज्र है। उद्दिता में इन्द्र भागि देवताभी के स्मृति धनवी घृत है तथापि मीमांसकरण कहते हैं कि सब भुक्तिपूर्ण यह आदि कर्मों ही के प्रतिपाद्य हैं। क्योंकि उनका विनियोग यह के समय में ही किया जाता है। इन कर्मों, याकिं या देवत कर्मार्थीयों का कहना है कि देवोऽहि यज याग आदि कर्म फरने से ही स्वर्गप्राप्ति होती है नहीं तो नहीं होती। पाहे ये यह याग भजानता से किये जाये या ब्रह्मज्ञन से। पद्यापि उपनिषदों में यज प्राप्त मतने गये हैं तथापि 'नन्दी' योग्यता ब्रह्मज्ञन से कम ठहराई गई है। इसलिये निष्प्रय लिया गया है कि यह याग से स्वर्गप्राप्ति मत्ते ही ही जाय परन्तु इनके द्वारा मोक्ष नहीं मिल जाता। मौक्षप्राप्ति के लिये ब्रह्मज्ञन ही ही नितान्त भावशक्तता है। यग्नद्वीता के दूरे अध्याय में किं यज-याग आदि काम्य कर्मों का वर्णन किया है— देवतावरता: पार्व नाम्यद्वितीयि वादिनः (गी २ १२) — वे ब्रह्मज्ञन के किंतु किये जानेवाले उपयुक्त यह यज आदि कर्म ही हैं। वही तरह यह भी मीमांसकों ही के मत का अनुकरण है कि 'यज्ञार्थकर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मवन्' (गी ३ ९) अर्थात् यजर्त्म किये गये कम वज्र नहीं है देव द्वारा कर्म वज्र हैं। इन यह याग आदि देविक कर्मों के अतिरिक्त, अर्थात् भीत कर्मों के अतिरिक्त और भी चातुर्वर्ष्य के मेणानुसार दूरे आकर्षण कर्म मनुष्यति आदि कर्मकर्मों में वर्णित हैं। लेउ दक्षिय के लिये पुरुष और दैत्य के लिये जागिर्य। यहले पहल इन वर्णान्वय-कर्मों का प्रतिपादन लग्नि प्रस्त्री में किया गया था। चक्रिये इन्हे र्मातृ कर्म या स्मार्त यज भी कहते हैं। न भीत और र्मातृ कर्मों के लिया भीर मी जामिन् कर्म-



नहीं सिया चला चाहिये जितु उत्तरे अधिक व्यापक रूप में देना चाहिये। उत्तरे मनुष्य के कुछ करता है—जैसा जाना जिना देखना रहना, उठना देना आदि इसका करना हैं उन रोना सैकड़ा देना बोलना कहना चलना, देना देना साना बागना मारना, छड़ना मनन और प्यान करना आदा और निषेच करना उन देना यह याग करना लेती और व्यापारधर्षण करना इच्छा करना निषिद्ध करना तुप रहना इत्यादि—ऐ तब मानवीता के अनुसार 'कर्म' ही है; जाह वह कर्म कामिक हो वाचिक हो अयता मानसिक हो (गी ५ ८ ९)। और तो क्या जीना भरना भी कर्म ही है। मौका आने पर यह भी किसार पढ़ता है कि जीना या भरना न दो कर्मों में से किस का स्वीकार किया जाए? इर विचार के उपरिकृत होने पर कम शब्द क्य अर्थ कर्तव्य कर्म अयता किहित कर्म हो जाता है। (गी ४ १६)। मनुष्य के कर्म के विषय में यहाँ तक किसार हो तुम्ह। अब इसके आगे क्य कर उब चर भव अचर चहि के भी—अपेतन बलु के भी—व्यापार में 'कर्म' शब्द ही क्य उपयोग होता है। इस विषयका विचार आगे कर्मविदाक प्रक्रिया में किया जाबगा।

कर्म शब्द से भी अधिक भ्रम-कारक शब्द 'योग' है। भाक्षणिक इस शब्द का रूदार्थ प्राणायामादिक साक्षना है। किञ्चित्किंवौ या इन्द्रियों का निरोग करना' अयता पातङ्गस शौक समाधि या अ्यानयोग है। उपनिषदों में भी इसी अर्थ से इस शब्द का प्रयोग दुभा है (कठ. ६ ११)। परंतु अ्यान में रखना चाहिये कि वह सद्गुचित अर्थ मनवीता में विवक्षित नहीं है। 'योग' शब्द 'पुरु' बहुत हो जाता है; किञ्चन्न अर्थ बोइ, मेल मिलाप एवं एक्षय एवं अवस्थिति इत्यादि होता है। और ऐसी स्थिति भी ग्रासि के उपाय साक्षन पुक्षि या कर्म से भी योग नहीं है। पही उब अर्थ अमरक्षेष (३ १ २२) में इस तरह से दिये तुप हैं—

यैता सहनोपायप्यानसंगतियुक्तिषु। इसित व्योतिष मे भोई मह यति इष्ट अयता अनिष्ट हो तो उन महों का 'योग' इह या अनिष्ट असमर्ता है और 'योग' द्विष पठ मे 'योग' शब्द का अर्थ अमास बलु ओ ग्रस्त करना किया गया है (गी २ २२)। मारतीय पुरु के समय द्रोणाचार्य को अवेष देत कर भीकृत्य मे उहा है कि एको हि चोमोऽस्य मलेष्वाच (म मा द्वे १८१ ११) अचात् द्रोणाचार्य ओ किलने का एक ही 'योग' (साक्षन या पुक्षि) है, और आये चल कर उन्होंने पह भी कहा है कि इमने पूर्वक भू मे कर्म भी रखा के लिये अरासप भाडि राजाभौ को 'योग' ही दे देखे मारा था। उद्योगपूर्व (अ १०२) मैं ज्ञाना गया है कि जब भीप्य ने अस्त्र अग्निक्ष और अमासिका भी इरण किया तब अन्य राज्य योग देना देना अह कर उनका पौष्ट्र करने लो दे। महाभारत मैं 'योग' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में अनेक स्थानों पर दुभा है। यीता मैं 'योगी' अयता योग शब्द से भी तुप सामाजिक शब्द बनाना अस्ती बार आये

है ऐसे स्व, उपबास जारी । इन का विस्तृत प्रतिपादन पहले पहल सिर्फ़ पुराणों में किया गया है । इससिये इन्हें 'पौराणिक कम' नहीं कहेंगे । इन सब कमों के और भी तीन - नित्य, नैमित्तिक और काम्य - के किये गये हैं । लालन, संप्या आदि ये हमेशा किये जानेवाले कम हैं, उन्हें नित्यकर्म कहते हैं । इनके करने से कुछ किशेष फल भविता अर्थ की सिद्धि नहीं होती परन्तु न करने से दोष अवश्य स्मारा है । नैमित्तिक कर्म उन्हें कहते हैं जिन्हें पहले कियी जारण के उपरित छोड़ जाने से करना पड़ता है; ऐसे अनिष्ट महों की शान्ति, प्रायधित्त आदि किसके किये हम शान्ति और प्रायधित्त करते हैं वह निमित्त कारण यहि पहले न हो गया, तो हमें नैमित्तिक कर्म करने की बोर्ड भावधारणा नहीं । यह हम कुछ किशेष हृत्यकर्म रख और उसकी सफलता के किये शास्त्रानुसार बोर्ड कम करते हैं, तथा उसे काम्य कर्म कहते हैं । ऐसे चर्चा होने के किये या पुनर्जाति के हिते पश्चकरना । नित्य, नैमित्तिक और काम्य कमों के सिवा भी कर्म है ऐसे मठिरापान 'त्यागि' जिन्हे शास्त्रों ने त्याज्य कहा है । 'सचिये ये कर्म निषिद्ध कहब्रत हैं । नित्य कम कीन कीन है नैमित्तिक कीन कीन है और काम्य सभा निषिद्ध कर्म कीन कीन है - ये सब यादृ भवधारणा में निषिद्ध कर दी गई है । यहि बोर्ड किसी भर्त्याभी से पछ कि अमुक कम पुन्यप्रद है या पापकारक । तो वह सब से पहले 'स श्रुत का विचार करेगा कि शास्त्रों की भावा के अनुसार वह कर्म यक्षात् है या पुनर्जाति नित्य है या नैमित्तिक भवधारा काम्य है या निषिद्ध और इन बातों पर विचार करके जिस वह कर्म अपना निर्णय करेगा । परन्तु मानवीता की हाइटम से भी व्याप्त और विस्तीर्ण है । मान सीकिये कि अमुक एक अम शास्त्रों में निषिद्ध नहीं माना गया है भवधारा वह विहित कर्म ही वहा रखा है । ऐसे शुद्ध के समय ज्ञात्यम ही अमुक के सिये विहित कम या । तो इहने ही के यह सिद्ध नहीं होता कि हमें वह कम हमेशा करने ही रहना चाहिये भवधारा उस कर्म का करना हमेशा भवधार ही होगा । यह जात पिढ़ी प्रवर्तन में वही गर्ज है कि वही वही दो ज्ञात्रों की अागाँ भी परत्यर-विश्व होती है । पैरों तमय में मनुष्य को कितू मारा करना चाहिये इस जात का निषय करने के किये बोर्ड सुकिं है या नहीं ? यहि है तो वह कलसी ! वह पही गीता का मुख्य कियप ह । 'ए विषय में कम के उपसुक अनेक भैरों पर रपान देनेकी बोर्ड भावधारणा नहीं । यह यारा भादि विकिट कमों तथा वानुवर्ण के कमों के कियप में मीमांसकों ने ये सिद्धान्त किये हैं जो गीता मैं प्रसिद्धान्त कमयोग से नहीं तह मिस्टर है यह विषयने के किये प्रत्यग्यानुसार गीता में मीमांसकों के कप्तन का मैं कुछ विचार किया गया हूँ और भवित्व भवधार (गी ३८ ६) में 'ए पर भी विचार किया है कि इनी मुख्य की पश्चात्याग भादि कम करना चाहिये या नहीं । परन्तु गीता के मुख्य प्रसिद्ध कियप का तो इसकी भी रपान है । इससिये गीता में कम एवं का बेकल भौत भवधार ग्यात्र कम इहना ही वंशुविन भवध

मुझे योग के भनुसार उपर्युक्त कहा गया है (गी २.१९)। और फिर इसका वर्णन किया है, कि जो स्वेच्छा पश्चात्यागादि कार्य कर्मों में निमग्न रहत है उनकी बुद्धि फलमया के बैसी व्यग्र हो जाती है (गी २ ४१-४२)। इसके पश्चात् उन्होंने वह उपरोक्त दिक्षा है, कि बुद्धि को अव्यग्र, स्थिर वा शांत रख कर आसादि को छोड़ दें परन्तु कर्मों को छोड़ देने के आग्रह में न पड़ और योगस्थ हो कर कर्मों का आपरण कर (गी २ ४८)। पहली पर 'योग शृणु' का स्पष्ट अर्थ मी कह दिया है कि 'सिद्धि और असिद्धि दोनों में समतुद्दित रखने को योग कहते हैं। इसके बाद यह कह कर, कि फल की आशा से कर्म करने की अपेक्षा समतुद्दित का यह योग ही भेद है' (गी २ ४९) और बुद्धि की समता ही जाने पर कर्म करनेवाले को कर्मसंबंधी पाप पुण्य की बाधा नहीं होती। "उस्मिये तू एस 'योग' को प्राप्त कर। तु रुत ही योग का यह व्यग्र फिर मी क्षतियाँ है कि योगः कमसु दोषस्त्वम्" (गी २ ५)। इससे सिद्ध होता है कि पाप पुण्य से अस्तित्व रह कर कर्म करने की जो समतुद्दितस्म विशेष युक्ति पहले कर्मान्व गई है वही 'काश्यत्व' है और 'सी कुशाङ्गा अर्थात् पुकिसे कर्म करने को गीता में 'दोग' कहा है। 'सी अर्थ को अर्जुन ने आगे बताया योऽय योगस्थया ग्रीष्मं साम्येन मुकुद्धन' (गी ६ ११) एस क्लोन में स्पष्ट कर दिया है। "एसके सबव ऐं कि ह्यनी मनुष्य को इस समार में ऐसे चलना पाहिये भीशकराभायें कं पूर्व ही प्रवाणित युप ऐक्षिक कर्म के भनुसार जो मार्ग हैः एक मार्ग पड़ है कि ह्यन की प्राप्ति हो जाने पर सब कर्मों का सम्पाद अर्थात् त्याग कर दें; और दूसरा यह कि ह्यन की प्राप्ति हो जाने पर मी कर्मों को न छोड़ - उनको कर्म मर देखी युक्ति के द्वाय करता रहें कि उनके पाप पुण्य की बाधा न होने पावे। इन्हीं दो मार्गों को गीता में सम्पाद और कर्म योग कहा है' (गी ५ २)। सन्यास कहते हैं त्याग को और योग कहते हैं मेल को। अर्थात् कर्म के त्याग और कर्म के मैल ही के उक्त दो मिथ मार्ग हैं। 'नहीं दो मिथ मार्गों को छक्य करके आगे (गी ५ ४) 'साम्ययोगी (साम्य और योग) ये तत्त्वित नाम भी दिये गये हैं। बुद्धि का दिवर करने के लिये पातञ्जल्योग-शास्त्र के आसनों का वर्णन उन्हें अन्याय में है जहाँ; परन्तु वह विसके लिये है। उपरकी के लिये नहीं लिन्नु वह कर्मयोगी - अथ त् एविष्युर्वेदं कर्म करनेवाले मनुष्य - को 'समता भी युक्ति विद्य करने के लिये क्षतियाँ गया है। नहीं दो मिथ 'तपस्त्विम्बोऽभिनो योगी इस वाक्य का दुःख अर्थ ही नहीं हो जाता। इसी तरह इस अन्याय के अन्त (१ ४९) मै अर्जुन को जो उपरोक्त दिया गया है कि तत्त्वायोगी भवारुन उसका अथ एका नहीं हो जाता कि है अर्जुन। तू पातञ्जल्य योग का अम्यात्म करनेवाल ज्ञन ज्ञा। "सिद्धिये उक्त उपरोक्त का अर्थ 'योगस्था दुःख क्षमादि' (२ ४८) तत्त्वायोगाय पुरावस्थ योग कमसु दोषस्त्वम् (गी २ ) "योगमाचिदोचिद्व मारत" (४ ४२) इत्यादि वचनों के अथ के उमान ही होना

है परन्तु पाठ्याच्च स्थानों के सिपा (ठेण्यो गी ६ १२ और २१) योग शब्द से 'पाठ्याच्च योग' अर्थ कही मी भविष्यत नहीं है। सिर्फ़ मुक्ति, साधन कुशलता उपाय योग, मैं यही अप कुछ ऐसेरे से सारी गीता में पाये जाते हैं। अस्तपद वह सकते हैं कि गीताशास्त्र के म्यापक शब्दों में 'योग' भी एक शब्द है परन्तु योग शब्द के उक्त सामान्य अर्थों से ही — मैं साधन कुशलता, मुक्ति आदि से ही — अम नहीं अल सकता। क्योंकि उक्त शब्द के अनुसार वह साधन संस्थापन का हो सकता है कम और चित्तनिरोध का हो सकता है; और मोक्ष का अपवा और मी निर्व्वी का हो सकता है। उद्घारणाप कही कही गीता में अनेक प्रकार की अपक सृष्टि निर्माण करने की ईश्वरी कुशलता और अद्वृत सामान्य को 'योग' कहा गया है (गी ७ २५ ९६ १ ७; ११ ८) और इसी अर्थ में मात्रान् को 'योगीभर' कहा है। (गी १८ ७५)। परन्तु वह कुछ गीता के 'योग' शब्द का मुख्य अर्थ नहीं है। इसकिये वह जात स्वप्न रीति से प्रकृत वर्क डेने के लिये 'योग' शब्द से किंव विशेष प्रकार की कुशलता साधन मुक्ति अपवा उपाय के गीता में विविध समझना चाहिये। उस प्रन्थ ही में योग शब्द की वह निर्धित व्याख्या ही गई है— "योगः कर्मसु दोषात्म्" (गी २ ५) अपार्वत कर्म करने ही किसी विशेष प्रकार की कुशलता मुक्ति, चतुराई अपवा शैली का योग कहते हैं। शब्द मान्य में मी कर्मसु कौशलता का यही अर्थ दिया गया है— कर्म में स्वभावित एवजेकसे वर्धन को तोड़ने ही मुक्ति। यदि सामान्यता देवता जात हो एक ही कर्म को करने के लिये अनेक 'योग' और 'उपाय' होते हैं। परन्तु उनमें से जो उपाय पा साधन उच्चम हो उसी को 'योग' कहते हैं। मैं इस्त उपायन् करना एक कर्म है। इसके अनेक उपाय या साधन हैं: मैं जोरी करना व्यवसायी करना मीक मीमाना देवा करना ग्रन्त लेना मैहनत करना आदि। यद्यपि चातु व्यापार इनमें से हर एक को 'योग' कह रखत है तथापि यद्यपि यद्यपि मै 'द्रव्यवासिन्योग' उसी उपाय को कहते हैं जिससे हम अपनी स्वरूपता रख कर मैहनत करते हुए प्राप्त वर लें।

इत्य स्वयं मात्रान् ने 'योग शब्द' की निर्धित अंतर स्वतंत्र व्याख्या कर दी है (योगः कर्मसु दोषात्म्— अपार्वत कर्म करने की एक प्रसार की विशेष मुक्ति को योग कहते हैं)। तद तत्त्व पृथी ता इस शब्द के मुख्य अर्थ के लिये मैं कुछ मी शब्द नहीं रहनी चाहिये परन्तु स्वयं मात्रान् की कालपर तुर इत्य व्याख्या पर प्यान न हो कर गीता का मधिनाव भी मकमाना निकाल्य है। अतएव इस प्रम भी दूर करने के लिये 'योग' शब्द का कुछ भार भी स्वप्नोकरण होना चाहिये। यह शब्द पहले पहल गीता के दूसरे अपाय में आया है; और वही इत्य राह अर्थ मी बनाय दिया है। पहले उपर्युक्त शब्द के भनुतार मात्रान् ने भनुन ही वह उपर्युक्त दिया कि मुद्द स्वी करना चाहिये; इसक बाइ दन्हों ने कहा कि अप हम

उपर्युक्त 'कर्मयोग योगिनाम्' इत्यादि गीता के वचनों से उस शंख का उमाभूषण हो सकता है। इष्टिष्ठे अब यह निर्विकार सिद्ध है, कि गीता में 'योग शब्द प्रयुक्ति-मार्ग अर्थात् 'कर्मयोग के अर्थ ही में प्रसुक्त हुआ है। ऐसिकि वर्तं प्रयोग में शैलै छड़े पह 'योग' शब्द पाली और संस्कृत मात्राओं के बीच वर्तमान्योर्ध्वे में मी इसी अर्थ में प्रसुक्त है। उत्तराहरणार्थ संकल्प १५६ के खात्रमा लिखे गये 'मिलित्यम्' नमक याली ग्रन्थ में 'पुम्योगो (पूर्वयोग) शब्द आया है और वही उक्त अर्थ 'पुम्यम्' (पूर्वर्ध्म) किया गया है (मि प १४)। इसी तरह अथवोप विहृत - ये शास्त्रिकालहन शब्द के आरम्भ में ही गया है - 'कुद्धरित' नामक संस्कृत शब्द के पहले सर्व पञ्चासने भोक्त्र में यह वर्णन है -

शास्त्रार्थके योविष्टी विजातामप्राप्तिमन्त्रैर्यनको जगाम ।

अर्थात् शास्त्रणो योगविष्टि ये शिष्य देने रात्य अनक भास्तार्थ (उपेत्ता) हो गये। इनके पहले यह भास्तार्थत्व लिखी को भी प्राप्त नहीं हुमा था" यहाँ पर 'योग-विष्टि' का अर्थ निष्काम-कर्मयोग ये विष्टि ही समझना चाहिये। क्योंकि गीता अविभ अनेक प्रन्त्य मुक्त क्षेत्र से अह रहे हैं कि अनक्षयी के कर्त्तव्य का यह यही रहस्य है और अथवोप ने अपने 'कुद्धरित' (१.१९ और २) में यह डिन-मने ही के सिये कि यद्यस्पाभम् मैं रह कर मी मोक्ष ये प्राप्ति कैसे की जा सकती है अनक का उत्तराहरण दिया है। अनक के विस्तरमें हुए भार्ग वा नाम 'योग' है, और यह बात बोह वर्तं प्रयोग से भी सिद्ध होती है। इष्टिष्ठे गीता के 'योग' शब्द का भी यही अर्थ स्थाना चाहिये। क्योंकि गीता के वधनानुसार (गी १२) अनक का ही मार्ग उसमें प्रतिपादित किया गया है। उत्तम और योगमार्ग के विवर में अधिक विचार भागे किया जायगा। प्रस्तुत प्रभ यही है कि गीता में 'योग' शब्द अ उपयोग किए अर्थ में किया गया है।

अब एक बार यह चिद हो गया कि गीता में 'योग' का प्रथान अर्थ कर्म योग और 'योगी' का प्रथान अर्थ कर्मयोगी है तो फिर यह कहने की आवश्यकता नहीं कि भास्तव्यगीता का प्रतिपाद्य क्या है। स्वयं ग्रामान् अपने उपदेश के 'योग' कहते हैं (गी ४ १-३) विक्षिप्तत्वे (१.१३) अर्थात् मैं अर्जुन ने और गीता के अस्तित्व उपस्थार (गी १८ ५५) में सद्बन्ध ने भी गीता के उपेत्ता के 'योग' ही कहा है। इसी तरह गीता के फल्यक अथवाप के अन्त में ये अप्याव-तमाति ग्रन्थ संक्ष्य है उनमें भी साफ शाफ अह दिया है कि गीता का सुखम् प्रतिपाद्य विवर 'योगशास्त्र' है। परन्तु वान पहला है कि उक्त संक्ष्य के शब्दों के अर्थ पर भी दीक्षात्मक ने व्याप्त नहीं किया। आरम्भ के दो पदों - भीमद्वयग्राहीतानु उपनिषद्सु - के बाद इस संक्ष्य में दो शब्द वृषविद्याया योगशास्त्रे भीर भी देखे गये हैं। पहले दो शब्दों का अर्थ

पाहिये। अबाल-उत्सव कही भव्य सेमा उचित है कि, “हे अज्ञ! तू सुक्षि से कम करनेवाला थोगी अर्थात् कमयोगी हो।” योकि यह कहना ही सम्भव नहीं, कि ‘तू पातङ्गल योग का आभय सेमर मुद्रा के लिये उपार रह।’ इसके पहले ही लाकु लाकु कहा गया है, कि ‘कर्मयोगेऽप्य थोगिनाम्’ (गी १ ३) अबाल थोगी पुरुष कम करनेवाले होते हैं। भारत के (म. मा शा १४८ ६) नारायणीय अधिका मागवतप्रथम के विवेचन में भी कहा गया है, कि इस पर्व के द्वेष अपने द्वारों का स्वाग किये किना ही शुचिपूर्वक कम करें (सुमुक्तेन क्षमणा) परमेश्वर की प्राप्ति कर सके हैं। इससे पहले स्वाह हो जाता है कि ‘योगी और कम योगी दोनों शृणु गीता में समानाधन हैं भीर नक्षा भव्य सुक्षि से कर्म करने वाले होता हैं, सप्ता वहे भारी ‘कमयोग शृणु’ का प्रयोग करने के बड़े, गीता भीर महाभारत में दोटे-से ‘योग’ शृणु का ही अधिक उपयाग किया गया है। “कैने तुम गौ वह योग फूलाया है असी को पूर्वसाप में विवरान् से कहा था (गी ४ ३); और विवरान् ने मनु का क्षमाया था परम्परा योग के नह हो गने पर फिर योग तुस्त कहना पढ़ा — इस व्यवतरण में भारान् गा ‘योग शृणु’ का हीन चार उत्तरण किया है। उसमें पातङ्गम योग का विवरण होना नहीं पापा जाता; विन्दु ‘कम करने की किसी प्रकार की विशेष सुक्षि सामन पा मग भव्य ही किया गा सकता है। इसी तरह एव तथ्य त्रृण-भक्तु तंका’ का गीता में ‘योग कहता है। (गी ४ ३) तर मी यही अप पदा जाता है। भीशपुरुषाय स्वय त्रृण्यात्मयगाय य। ता भी उहोने भवन गीता माप्य के अरम ने ही विनिक्षेपन क दी भृत—प्रदूनि भार निरूपि—प्रत्याय है; भीर ‘योग शृणु’ का भव्य भीमाभान की त्रृट व्याख्या के भवुकार कमी ‘सम्याद्यनोरायममानुद्धनम्’ (गी ४ ५) भीर कर्मी योग सुनि (गी ४ ३) किया है। इर्वी तरह महाभारत में ना ‘पदा भीर इन’ दोनों शृणु के विवरण में नह लिया है कि पह भद्रलो यमा इन्ने त्रृण्यात्मयगाम” (म. मा अध ४३)। भवान योग का अप प्रदृश्माग भीर शन का भव्य त्रृण्यात्मया निरूप्यमय है श नदव क भान में, नारायणीया पातङ्गम में ‘त्रृण्य भीर योग श त इनी भव्य में भृत्य एर भाये हैं; भीर इनका भी बलन किया गया है कि वे दोनों महा सूक्ष्मे के भारवन में बदा भैर भैर निर्मल विवे लये (म. मा शा ४४ भीर ३८)। पहले व्यवतरण भे महाभारत में श द्वन उपृष्ठ विवे लये हैं उत्तम पदा त्रृण्यात्मय वाम वे गया है पही नरददैप भारता मात्तवायम व्याद्युत श व व त्रृण्य तथा प्रदन विवे दृ। इति व्यवतरण पहला है कि ‘त्रृण्य भीर देवा’ गाढ़ी क है त्रृण्नि भीर द र द्वैष्ट भव्य (त्रृण्य = निरूप्य यमा = प्राणि) त्रृण्दै प भव में लिया गया है एही भव्य है ग मै १८ १८ ६। य १८ वे २८ १४ गया है १८ १८ मै दी र्व इति त्रृण्यात्मय — त्रृण्य देवा उपृष्ठ । पदा देवा उपृष्ठ विवेष्मान — अप,

शुभ-अशुभ हितकर अहितकर, भेदस्कर-भभेदस्कर, पाप-पुण्य चर्म-मर्म इत्यादि शब्दों के उपयोग हमारा करता है। अय-अहार्य कर्म्म अकर्म्मय स्वाय अन्याय इत्यादि शब्दों का मी अर्थ बोला ही होता है। तथापि “न शब्दों का उपयोग करनेवालों के सुहित-रक्षनाधिपत्यक मत मिथ मिथ हनि के कारण ‘कर्मयोग’ शब्द के निष्पत्ति के पर्य मी मिथ मिथ हो मये हैं।” जिसी मी शब्दों से स्थिरिये उसके विषयों की चर्चा साधारणता सीन प्रस्तुत ही जाती है। (१) “स च चुहि के पार्थ ठीक ऐसे ही हैं जैसे कि वे हमारी नितियों की गोचर होते हैं।” यहके परे उनम और कुछ नहीं है। इस दृष्टि से उनके विषय में विचार करने की एक प्रथा है जिस आधिमौर्तिक विवेचन कहते हैं। उग्रहरणात् सूप को देखता न मान कर केवल पौष्टिकीय वह पदार्थों का एक गोचर माने और उप्पता प्रकाश पक्ष धूरी और आपत्ति इत्यादि उसके केवल गुणभावों ही ही परीक्षा हो तो उसे सूप का आधिमौर्तिक विवेचन होगे। दूसरा उग्रहरण पेह का स्थिरिये। उग्रका विचार न करते कि पेह के पौष्टि विवेचन दूसरा उग्रहरण भावि तियाँ, जिस अरुलत शरीर के द्वारा होती है जब केवल चाही दृष्टि से विचार किया जाता है कि अमीन म वीज बोने से अंडुर पुर्यते हैं फिर वे कहते हैं और उसी के पाच शारीर पूर्य “त्यादि इत्य विकार प्रकट होते हैं सब उसे पेह का आधिमौर्तिक विवेचन कहते हैं। रसायनशास्त्र पदार्थविद्यानशास्त्र विद्युम्भास्त्र इत्यादि आधुनिक शब्दों का विवेचन नहीं दृग का होता है। और तो क्या माधि मौर्तिक पीठ यह भी मात्र्य करते हैं कि उच रीति से किती बस्तु के इत्य गुणों का विचार कर सेंने पर उग्रका काम पूर्य हो जाता है—सुहि के पदार्थों का इससे अधिक विचार करना निष्पत्त है। (२) बत उच दृष्टि को छाड़ कर “स चात का विचार किया जाता है कि वह सुहि के पदार्थों के मूल्य में क्या है क्या इन पदार्थों का व्यवहार केवल उनके गुण घमों ही से होता है या उक्ते स्थिर विषय विषी दृष्टि का भाषार भी है; केवल आधिमौर्तिक विवेचन से ही अपना काम नहीं जाता।” उम्मो कुछ आगे पैर कहता है। उग्रहरणात् वह हम यह मानते हैं कि यह पौष्टि मौर्तिक दृष्ट नामहर एक देव का अधिग्रन है; और इसी के द्वारा इस भवेतन मिथे (सूप) के तत्र व्यापार या व्यवहार होते हैं तब उसको उस विषय का आधिमौर्तिक विवेचन कहते हैं। इस मत के अनुकार यह माना जाता है कि यह मै पानी मै होना मै अपान तत्र पदार्थों मै अनुक देव है औ उन वह तत्र अपेक्षन पदार्थों से निष्पत्त है जिन्हें उनके व्यवहारी का वही बनाते हैं। (३) परन्तु बत यह माना जाता है कि वह सुहि क हजारी वह पदार्थों मै इन्हों स्फुरन देक्षता नहीं है। जिन्हें चाही दृष्टि क तत्र व्यवहारीं वस्त्रनेतारी मनुष्य के दूरीर मै आत्मसर्वपूर्ण रहनेवाली और मनुष्य की लारी सुहि का शन प्राप्त करा देनेवाली एक ही विषय दृष्टि है जो कि इतिहासीत है और जिन्हें द्वारा ही इस कला का नाम व्यवहार बन पहा है तब विचार-प्रदत्ति को भाष्यार्थित विवेचन कहते हैं।

है—‘मातान् दै गये गये उपनिषद् में’ और पिछ्ले ही शब्दों का अप्रत्यक्ष-  
विद्या का वोग्राहक अर्थात् क्रमयोग शास्त्र है जो कि उस गीता जो विद्या है।  
ब्रह्मविद्या और ब्रह्मशान एक ही शात है; और इसमें प्राप्त हो शानेपर इनी पुराणे के  
लिये ही निरार्थ या माग चुके गुण हैं (गी ३ ३)। एक रास्त्य अपरा तम्भासु  
माग—अचार् वह माग जिसमें अन होने पर अप्रत्यक्ष बना छाई कर खिलक रहना  
पड़ता है और वृक्षरा पाग अपरा अम्भामाग—अपराद् वह माग, जिसमें कहों का  
त्याग न करके उसी मुष्टि से किस्त अम करते रहना पाहिय जिसमें भौत-प्राप्ति में  
इच्छा भी बाधा न हो। पहले माग का दूसरा नाम ‘ज्ञाननिश्चय’ भी है जिसका विवेचन  
उपनिषदों में अनेक शृणिवी ने और अन्य धर्मकारों ने भी दिया है। परन्तु ब्रह्मविद्या  
के अन्तर्गत क्षमयाद का या पागशास्त्र का लक्ष्मि विवेचन भावद्वितीय के बिंदा अन्य  
प्रेषणी नहीं है। इत शात का उद्देश्य पहले दिया जा सुना है कि अन्याय-क्रमागति  
द्वारा कुस्त गीता की तत्त्व प्रतिपोषी में पाया जाता है और “सम प्रकृति” होता है  
कि गीता की सद गीताभी के रूपे जैसे ही उक्ती रक्षना गुरु होगी। “स  
कुहार के रक्षिता न इस सहस्र में ब्रह्मविद्यायी पागशास्त्रे इन ज परों का  
रप्य ही नहीं शाई दिया है जिस उसने गीताशास्त्र के प्रतिपाद्य विद्या की भूमता  
दियन ही के लिय उक्त परों का उस सहाय में आधार और इन्द्रुमहित अपान दिया  
है। अब इस दत के नीचे सहज निषय हो सकता है कि गीता पर अनेक लघु  
शापिक दीवाभी के होने के पहले गीता का तात्पर्य कैसे भौत क्षमता जाता पा।  
एह हमारे लोभात्प की दृष्टि है कि इस क्षमयाद का प्रतिपाद्य तत्त्व भावन भीहृष्ण  
ही ने दिया है जो इस पोग्नाम के प्रकृति और तत्त्व यामी के काषायाद् इधर  
(= पाग + इधर) हैं भौत श्वेतहरित के लिय उन्होंने भ्रुन को अनेक लघुप्रया  
है। “गीता के पाग” भौत ‘पागशास्त्र’ शब्दों के हमारे क्रमपैदाग भौत क्षमयादयात्र  
एवं इच्छा दर ही नहीं परन्तु भौत हमने क्षमयंत्यास्त्र बरीच्या बना नाम ही इस  
प्रय तोर प्रसरण को “ना इत्यिय पत्र” दिया है कि जिसमें गीता के प्रतीपाद्य  
विद्या का तत्त्वप्रय में इच्छा दर न हो जाए।

एक ही कम करने के लिए भवित्व पैदा कारण या मामा है उनमें से कोई भी पूरा प्रगति द्वारा है उनके भवित्व परिवर्तन किया ज्याक्षरा है या नहीं जहाँ विषय का कारण तो ऐसे उन भवित्व अवश्य होते हैं जो वे की उपलब्ध हैं ताकि कारण : इसमें इनमें मन विषय है एवं उनमें किसी विषय मामा के हम पुरा नहोन्हे हैं एवं पुरा बरा है यह भवित्वों से कुछ अलग ज्ञान वा उन भवित्व पर दर्शाया जा जाता है भवित्व इन भवित्वों का पुराना एवं गम्भीर बरा है - इस एवं विषय इन भवित्वों में भवित्व की उपरी है उपरोक्त विषय का यह एवं विषय विवरणार्थ 'विषय' कहते हैं। भवित्व में पुरा एवं उन्हें विवरण कर दें इसी के अन्तर्वाचार में उन्हें उभी

एक ही अब मे लिया है; और मोहन का विचार किन स्थानों पर करना है उन प्रकारणों के क्षमिताम और 'भक्तिमार्ग ये स्वर्तन नाम रखे हैं। महाभारत में भर्म शुद्ध अनेक स्थानों पर आया है; और किस स्थान में कहा गया है कि किसी भी क्षम्य काम करना भर्म सुगत है' उस स्थान में भर्म शुद्ध से कर्मयोगशपथ अथवा तत्त्वस्थीन समाज व्यवस्थापाद ही का भर्म पाया जाता है उपरा किस स्थान में पाराधैलिङ्क वस्याण के माग खटकने का प्रस्तुत आया है उस स्थानपर अर्थात् शान्तिपर्व के उक्तरार्थ में 'मोहनभर्म इस विशिष्ट शुद्ध की योक्ता भी गई है। इसी दूरह मन्त्रादि सूति प्रस्ता म ब्राह्मण शृणिय वैश्य और शूद्र के विशिष्ट कमा अपर्णत् आदि वर्णों के कर्मों का वरण करते उमय के बड़े भर्म शुद्ध का ही अनेक स्थानों पर कर्म द्वारा उपयोग किया गया है। और मात्रद्वितीय में भी जब मन्त्रान् अर्थात् से यह कह न र छुन के किम्ये कहते हैं कि स्वधर्ममपि चात्मस्य (गी २.३१) तथा - और इसने शूद्र स्वधर्मे निधन देयः परम्मो मयावाह् (गी १.१५) इस स्थान पर भी - भर्म शुद्ध इस श्लोक के चातुर्वर्ष्य के भ्रम अर्थ में ही प्रसुच हुआ है। पुराने कमाने के शृणिया ने भ्रम विभागस्य चातुर्वर्ष्य सत्या इस त्रिय चतुर्वार्षी की किसी उपराज के नद व्यवहार सरज्ञा दे होते चाहे किसी एक विशिष्ट व्यक्ति या का पर ही चारा योग न पढ़ने पावे भीर समाज का सभी विधाओं से सुरक्षण और पोषण भक्ति मौति होता रह। यह बात मिस है कि कुछ समय के बाद पाठों वर्णों के अंग के इस चातुर्वर्ष्योपर्याप्ति हो गये अर्थात् सब स्वधर्म का भूलकर दे के बड़े नम्म-पारी ब्राह्मण शृणिय वैश्य अवका शूद्र हो गये। इसमें सद्गुरु नहीं कि भारतमें पहले व्यवस्था समाजभारणाभ ही की गा थी। और यहि पाठों वर्णों में नौर्ह मै एक बग आमना चम भभात् करुम्य कोह दे यहि बोह बग समूल नष्ट हा जाय और उनकी स्थानपुर्ति दुसरे लोगों से न की जाय, ही कुल समाज उठना ही पशु हा कर धीरे धीर नष्ट भी होने च्या जाता है अथवा वह निश्चय अवस्था में ही अवस्थ ही पृथुच जाता है। यद्यपि यह बात सच है कि यूरोप में एसे अनेक समाज हैं जिनका अमुद्य चातुर्वाय व्यवस्था के जिन ही हुम्भा हैं; तथापि अर्थ रहे कि उन देशों में चातुर्वाय व्यवस्था चाहे न हो परन्तु जाता वर्णों के नद भर्म चातुर्व्य से नहीं वा गुण विभागस्य ही के बायत अवस्थ रहत है। नाराय जय हम भर्म शुद्ध का उपयोग व्यवहारिक हृषि के बरत है तब हम पहीं जगा करते हैं कि तब समाज का वारथ भीर पोषण रूप होता है। मनु ने कहा है - 'अमुद्योर्ह भभात् विभाग पारणाम् दु वक्तारक होता है उस भ्रम की जह देना (मनु ४.१३६) भीर शान्तिपर्व के वस्यान्ततापाय (शा. १.१२) में अमभस्म व्यविचरन बरत एवं भीप्त भीर उनके पृथ वर्णपत्र में भीहृष्य कहते हैं -

भारतार्द्धर्मविधातुः चर्मो भारयते प्रजाः ।

यग्यपाद्मारणमंपुर्वते च भर्म इति निष्पत्यः ॥

उमाहरणाथ, अव्याप्तिकारियों का मत है, कि स्वर्य-चक्र आदि का स्वरूपार, यहीं उक्त निः दृष्टि के पत्तों का हिस्सा भी, इसी अधिनियम द्वारा की प्रणा से हुआ करता है। स्वर्य-चक्र आदि में पा अन्य स्थानों में मिल भिज तथा स्फुलन देखता नहीं है। प्राचीन काल से किसी भी विषय का विवेचन करने के लिये तीन मार्ग प्रबन्धित हैं; और उनका उपयोग उपनिषद्-प्राचीयों में भी किया गया है। उमाहरणाथ, श्वानेन्द्रियों द्वेष है या प्राण द्वेष है, इस बात का विचार करते समय बृहारम्भ आदि उपनिषदों में एक बार उक्त निद्रियों के अभिभव देखताही और और दूसरी बार उनके सूर्यम इपो (अव्याप्त) को के कर उनके सम्बन्ध का विचार किया गया है (१ १५, २१ और २२ अथ २ ८ भार ३ कोपी २ ८) और, गीता के सातवें अव्याय के अस्त म तथा भावन के आरम्भ में ईश्वर के स्वरूप का यौवन विचार करव्यया गया है, वह भी इसी दृष्टि से किया गया है। अव्याप्तमविद्या विद्यानाम् (भी १ १२) इस बाब्म के भनुतार हमार शास्त्रज्ञानों ने उक्त तीन मार्गों में से, आप्यारिम्ब विवरण को ही अधिक महत्व दिया है। परन्तु आज्ञाक उपसुक्त तीन शास्त्र (आधिमौतिक, आधिदैविक और आप्यारिम्ब) के अधिकारों द्वारा द्वारा उक्त विवेचन को ही अधिक महत्व दिया है। उक्ता कहना है कि सूर्य के मूल-काल का लोकते रहने कुछ स्वरूप नहीं यह तस्व अवगम्य है। अपर्याप्त इसकी समझ ऐसा कभी भी समझ नहीं। इसलिये इसकी कसियत नीति पर किसी शास्त्र की द्वारात को गठा कर देना न हो समझ है और न उचित। अवगम्य और ज्ञानी मनुष्यों ने पहले पहल जल पेह, जाड़ और ज्वालामुखी पकड़ आदि को देखा तब उन लोकों ने अपने मोसेपनसे इन सब पक्षयों को देखता ही मान दिया। यह बौट के मतानुसार, 'आधिदैविक' विचार हो सका परन्तु मनुष्यों ने उक्त कस्तनाभा की शीतल ही स्थान दिया ऐ समझने कि इन सब पक्षयों में कुछ-न कुछ आज्ञानुत्तम अवशय मरा हुआ है। बौट के मतानुसार मानवी ज्ञान की उपस्थिति की यह दूसरी भीटी है। इसे यह 'आप्यारिम्ब' कहता है परन्तु यह इस दीति से

---

प्राचीन इता म आधिकारि कार (Augustic Comite) नामक एक वर्ग परिवर्त आज्ञानाभी म हो जुका है। इनमें लगभग शास्त्रपर एक बहुत वर्ग विवरण वातावरणा है कि समाभृतना का शास्त्राधार दीति से किस पकार विवरण चाहिये। अनेक शास्त्र की आतावरणा वर्तक इतने पह निभित किया है कि किसी भी शास्त्र का सो उक्ता परिवर्तन पद्धति वैदिकीय म दिया जाता है, किंवा Metaphysical पद्धति के हातपाय है भाव अन्त म उहाँको Positive व्याप्ति दिलाया है। उन्हीं नीति पद्धतियों का इनमें इत्य व्याप्ति म आधिदैविक आप्यारिम्ब और आधिमौतिक पर्तीन प्राचीन वाच दिया है। ये पद्धतियों का वर्तक वर्ती निष्कार्षी हुई नहीं हैं ये उच्च पुणार्थी ही हैं तथाति उहमें उक्तका देतिहातिक वर्तम नहीं दीति से वर्ता है, भीत उक्त आधिमौतिक (Positive) पद्धति का ही भेद वरकापा है। वह इतना ही कार का वर्ता होप है। कार के अनेक इत्याँ का अदेवी से अद्वार हो वर्ता है।

खड़ि का विचार करने पर भी प्रत्यक्ष उपयोगी शास्त्रीय ज्ञान की कुछ इदि नहीं हो सकी। तब अस्त मैं मनुष्य सुहि के पदार्थों के दृश्य गुल घमों ही का और अधिक विचार करने चाहा; किंतु वह रेत और तार सरीने उपयोगी मार्गिष्ठारों को देख कर सुहि पर अपना अधिक प्रभाव अपने द्वा गया है। इस मार्ग को कौट न आधिमौतिक नाम दिया है। उसने निभित किया है कि निसी मी शास्त्र वा विषय का विवेचन करने के लिये अस्य मार्गों की अपेक्षा यही आधिमौतिक मार्ग अधिक भेद और अनुकारी है। कौट के मत्तानुकार उमाकथाल या कर्मयोगशास्त्र का वास्त्रिक विचार करने के लिये इसी आधिमौतिक मार्ग का अवस्थ्य करना चाहिए। इस मार्ग का अवस्थ्य करके इस परिव ने इतिहास की आलेखन की और उस अवधारणाको का वही मधिवाच निकास है कि इस सत्रार मैं प्रत्येक मनुष्य का परम धर्म यही है कि वह समलूप मानव ज्यति पर प्रभ रत कर सब सोगा ते कल्पाण के लिये उत्तेज प्रवल्ल करता रहे। मिथ और स्वेच्छर आदि अप्रेष परिव उसी मठ के पुरलवर्ती कहे जा सकते हैं। इसके लघटे काट हेगेल थोफेनहर आधिक अन्त वल्लभनी पुस्तोंने नीतिशास्त्र के लिये इस आधिमौतिक पद्धति को अपूर्ण माना है। हमारे भेदान्तियों की बाँई मध्यारम्भिक से ही नीति के उमर्जन करने के मार्ग को आज्ञान उन्होंने धूरोप मैं छिर मी लापित किया है। इसके किसी में और अधिक लिया जाएगा।

एक ही अर्थ विचारित होने पर भी अच्छा और बुरा के पर्यायवाची विचार मिल जाते हैं का — ऐसे 'कार्य अकार्य' और 'कर्म-अकर्म' का — उपयोग भी होने चाहा। उसका व्यरण यही है कि विषय-प्रतिपादन का मार्ग या इहि प्रस्तेक की मिल मिल होती है। अर्हुन के उमाने वह प्रभ था कि किस सुदूर मैं भीष्म ग्रोष्म आदि का वष करना पोगा उसमै शामिल होना उचित है या नहीं (गी २.७) वहि एसी प्रभ का उत्तर होने का मौका निसी आधिमौतिक पद्धति पर आता तो वह पहसु इस बात का विचार करता कि मधरतीषु सुदूर से ख्यय अर्हुन को इस हानि अम लितना होगा और कुछ समाव पर उत्तर का क्या परिणाम होगा। यह विचार करके उत्तर उसने निष्पत्ति किया होता कि सुदूर करना न्याय है या 'अन्याय'। उसका कारण वह है कि निसी कर्म के अन्त्येन या बुरेफ्न का निर्णय करते समय मैं आधिमौतिक परित यही धोखा करते हैं कि इस सुदूर मैं उत्तर कर का आधिमौतिक परिणाम अवलम्बन करना क्या हुआ या होगा — ये सोग इस आधिमौतिक क्षेत्री के सिवा और निसी शब्दन या क्षेत्री को नहीं मानते। परन्तु ऐसे उत्तर से अर्हुन का समावान होना समझ नहीं या। उसकी इहि उसके मौर अधिक व्यापक थी। उसे केवल अपने सासारिक हित का विचार नहीं करना था किन्तु उसे पारस्मैतिक इहि ते पह भी विचार कर लेना था कि इस सुदूर का परिणाम मेरे आत्मा पर अवलम्बन होगा या नहीं। उसे ऐसी बातों पर कुछ भी ज्ञान नहीं

“ अम शम्भ पू ( = भारत करना ) भागु से आ है। अम से ही सब प्रश्ना केवी तुर है। वह निष्पत्य किया गया है कि दिसुसे ( सब प्रश्ना क्या ) भारण होता है, वही अम है ” ( म. मा कण ६०८० ) । याँ यह अम हूँ क्या तो समझ देना चाहिये कि समाज के सारे जनन में दूर क्या और यहि समाज के जनन दूर, तो आपणगणकि के जिना आकाश में सूर्योदय एवं सालानों की ओर उड़ा हो जाती है अपना समुद्र में महाह के जिना नाव की ओर उड़ा होती है तीक वही उड़ा समाज की भी हो जाती है । “ सक्षिये उक्त शोक्तनीय अवस्था में पहचान समाज को नाश से बचाने के किये व्यापकी ने इद स्थानों पर कहा है कि यहि अर्थे या इत्यापाने भी इच्छा हो तो अम के द्वारा अपांत् समाज की रक्षा को न निशाढ़वे हुए प्राप्त कर्त्त्वे भार यहि काम भाड़ बाचनामा को लूट करना हा तो वह मीं ‘ अम से ही ’ कर्त्त्वे । महामारत के अन्त म यही कहा है कि —

उर्ध्वाहुर्विरौप्येऽ न च कमिष्युणोति माम् ।

समांकर्षभ कामन्त्र स अमः कि म सम्पत्त ॥

“ और । भुज उठा कर मैं खिला रहा हूँ ( परलु ) कोई भी नहीं सुनता । अम से ही भय और काम की प्राप्ति होती है ( अच किये ) ऐसे प्राप्ति के अम का आचरण तुम क्या नहीं करते हो । अब इससे पालकों के यान मैं यह जात अस्त्री तरह अम व्ययी कि महामारत को दिस अम हृषि से पौर्णका देत अपना ‘ धर्महिता अनन्ते है उस धर्महिता शास्त्र के ‘ अम शम्भ एवं मुग्य भय क्या है । यही कारण है कि पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा दोनों पारन्यकिङ् धय के प्रतिपादक प्रन्था के साप ही — अमप्रन्थ के नातं से — नारायण नमस्कृत्य अन प्रतीक शास्त्रों के द्वारा — महामारत का भी समावेश ब्रह्मपत्र के नित्यपात्र मैं कर दिया है ।

अम धर्म के उपर्युक्त निरूपण को सुन कर कोइ यह प्रभ कर के क्याँ तुम समाज भारण और दूसरे प्रकरण के गुप्तावृत्तिकिंड मैं कथित ‘ सबभूतीहृत य दीना तथा मान्य है तो तुम्हारी हृषि मैं और आधिमातिक हृषि मैं भैत ही क्या है । क्योंकि ये दोनों तथा धर्मप्रवृत्ति तिन्मेशास्त्र और भाष्मिर्मितिक ही हैं । अन प्रभ का विस्तृत विचार भव्य प्रकरणों मैं किया गया है । पर्ह इतना ही क्या अम है कि प्रथमि हमसो यह तत्त्व मान्य है कि समाज भारण ही अम एवं मुम्य वापि उपर्योग है तथापि हमार मत की विद्यासदा यह है कि वरिष्ठ भयवा अन्य सद जमों का भी परम उद्देश भाष्म-क्षम्यात्मा पा मोहि है उस पर भी हमारी हृषि की है । समाज भारण को क्षितिये भाहे सबभूतीहृत ही यह यहै कि वायोपपानी तथा हमारे भाष्म-क्षम्यात्मा के मार मैं जापा अपै सो हम इच्छी रक्षत नहीं । हम भाषुवेद-अन्य यहि यह प्रतिशान बरत है वै वै-शास्त्र मैं घरीररका के द्वारा मोक्षाति का जापन होने के कारण उपर्योगी

एक ही अथ मैं किया है और मोक्ष का विचार जिन स्थानों पर करना है उन प्रकरणों के अध्यात्म और 'भक्तिमार्ग' ये स्वतंत्र नाम रहे हैं। महामारत में घर्म शुद्ध भनेह स्थानों पर आया है और किस स्थान में वहा गया है कि किसी को काँ काम करना घर्म-संगत है। उस स्थान में घर्म शुद्ध से कठेम्पशास्त्र अथवा सन्कालीन समाज-न्यवासयादास्त्र ही का अथ पाया जाता है तथा किस स्थान में पारस्मैशिख इस्याण के माग छलने का प्रश्न आया है उस स्थानपर अर्थात् शान्तिपर्व के उच्चरार्थ में 'माहूर्धर्म' इस विद्याह शुद्ध की पोक्ता की गई है। इसी उद्धर्म मन्त्राति स्मृति-प्रन्थो में ब्राह्मण सत्रिय, दैत्य और दृष्ट के विद्याप्रकारों अर्थात् आरा वर्णों के कर्मों का वर्णन करते समय फैल घर्म शुद्ध का ही अनेह स्थानों पर कर्म वार उपयोग किया गया है। और समाजद्रीता में भी एवं मात्रान् अर्जुन से वह कह कर स्थाने के लिये बहते हैं कि स्वप्रभूपदि जात्येत्य (गी २. ११) तत्- और इसरे जा० स्वधर्मे निष्ठने भेद परभर्मो मसावह (गी ३. ३५) इस स्थान पर मी— घर्म शुद्ध इस छेद के चातुर्वर्ण्य के घर्म अथ में ही प्रसुल्त हुआ है। पुराने अपाने के अपिया ने अम-विभागस्य चातुर्वर्ण्य-सन्ध्या इस विद्ये पर्वती यी कि समाज के सब अवहार सरख्ता से होते जावे किसी एक विद्याह व्यक्ति या वर्त पर ही आरा बोक्ष न पढ़े पाव और समाज का सभी विशाभों से सरख्त और पोषण मस्ती भाँति हाता रहे। यह बात यिन्हे ही कि कुछ समय के बाद जारी वर्णों के छेद केवल आकिमात्रोपदीयी हो गये अर्थात् सब स्वक्षम का भूम्भार वे केवल नाम-धारी ब्राह्मण जातिय वर्म अवका दृष्ट हो गये। इसमें सदैह नहीं कि आरम्भ में यह अवस्था समाजधारणार्थ ही की गई थी। और यहि जारी वर्णों में से कोई भी एक वर्म अपना घर्म अवात् कर्तव्य छेद है यहि कोई वर्ण समूल नहीं हो आय और उत्तरी स्थानपृष्ठि बुलरे स्थंगों से न की जाय तो कुछ समाज उठना ही पर्य हो कर थेरे थेरे नप मी होने लग आता है अथवा वह निहृष्ट अवस्था में ही अवस्थ ही पर्हृच आता है। यथापि यह बात उच्च है कि दूरीप में एहे अनेह समाज ह किन्तु अम्बुद्य चातुर्वर्ण्य अवस्था के किना ही हुआ है तथापि स्मरण रहे कि उन दैरी में चातुर्वर्ण्य अवस्था आहे न ही परन्तु पाय वर्णों के सब घर्म ज्ञातिव्यप है नहीं तो युव विभागस्य ही से ज्ञात अवस्थ रहते हैं। आराद्य एवं इस घर्म शुद्ध का उपयोग आवहारिण इष्टि से करते हैं तथ इस यही देखा करते हैं कि सब समाज का भारण और पोषण ऐसा होता है। मनु ने कहा है— 'असुपोर्क अवात् विवृत्य पारेणाम दुर्भारक होता है उस घर्म को छेद देना (मनु. ४. १०६) और शान्तिपर्व के सत्यानुताप्याव (शा १. ९. १३) में घर्मघर्मर्म वा विवृत्य वर्त दुर्प भीप्य और उनके पृथक वर्णपद में भीहृष्ण कहते हैं—

आराद्यर्मभिष्यतुः वर्मो आरपते प्रजाः ।

यस्याद्वारप्रपुरुङ्क स वर्म इति विवृत्यः ॥

यी ही मुद में भीप्प डाण आजिंहों का वद होने पर उपा राय। मैल्ले पर नुस्खे ऐहिक सुन मिलेगा या नहीं और मरा अविनार ज्ञेया का दुखोभन से नाशक मुमायक होगा या नहीं। इस यही 'मना था ।' में ले कर रहा है वह 'भम है या 'अभम अथवा 'पुण्य है या पाप' वर गति का विकल्प नी न्स। इहि से निया गया है। केवल गीता म ही नहीं बन्नु कर स्थाना पर मानवत में भी अम नम का या विवेकन ह वह पारम्परिक अपात न यामाहारि स ही निया गया है। और वही निर्मी भी बम ए क्षन्टेन या बुरेन गिर्लाने ह लिय प्राय तबत फन आर 'भयम ।' है शब्द क उपयोग किया गया है। 'बन्नु भम भीर नसा प्रनियाग 'अभम य तन शब्द नमने घ्यायः अथ ए क्षरण कर्मी भ्रम ठप्प कर दिया परत ह। 'मान्य यहों पर नम बन एः दृश्य न ए भम मंसा फरना आवश्यक ।' वी अमयोगाचार्य म 'न गन्ना या उपयाग नरयन नेंस रथ में निया आता है।

नित्य ध्यानहार म 'भम य का नवयोग कहर पारम्पारिक सुन का नाम ऐसी अप में निया जाता है। यह हम निर्मी म ग्रन करत है । इ सह फन सा फन है' तब उसम हमार पुअं का यह हटु होता है । इ त अपन पारम निक अस्याद के लिये निम माग - बौद्धिक दाढ़ एन 'मान' मुहम्मदी या गारमी - म अस्या ह भार वह हमार प्रभ क अन्मार ही उचर ज्ञा ह। 'मी नरह म्यग प्राति क लिय शाश्वतनून यज्ञ याग भावि का ।' लियपा वी भीमला करते सम्पद अपाता अम अस्या आजि एमनवा में भी बम 'पुण्य ए पही अप दिया गया ह परन्तु 'भम शब्द का इन्हों ही भटु जत सध नहीं है। 'एन निया राज्यम प्रगतम अग्रपम, दुष्म अम मिवधम एव नीति अपनी का भी अम ज्ञात ह। अम शब्द क इन दो भयों का यहि वृभद करक दियाजाना हा सा 'पारम्परिक अम ए 'भोगधम अथवा लिक 'मान्म भार ध्यानहारिक अम अध्यया कहर नीति की रक्ष 'भम फहा करत है। छाहरणाथ ज्ञानिपुरुषों वी ज्ञना करत सनय हम 'न अम, अथ जाम माप ज्ञा करत है। 'मह एह शब्द 'भम य ही यहि माप ए अमादेय हा ज्ञना तो भन्न मैं माँ लो अपम युपरभ लम्पन वी भावध्यमसा न रहती। अपात यह बहना बहना है । अम एह भन्न ज्ञन पर बहार क समन नीतिधम ही शास्त्रगार्हः ए ज्ञनपत ह ज्ञीय दृग अन्ना भार ए एव बन्यरम नात नीतिमन अपम मान्मरण ज्ञत ह पर तु द्रवीन समृद्ध इसी म 'नीति अपद' ए लियार गर्जी का अपयग दिय एवर साझीत ही के अ अग ज्ञन ह इन्हें पुरान ज्ञन में बन्यरम अपद नाम्नार ए अन्य विषय ए । वी नीतिधम न ज्ञन कर 'अमध्याचन ज्ञा ज्ञन थ ए तु 'नीत गर 'भम ए ज्ञन का यह परिम्परिक वी भी अमृत प्रथा म वी ज्ञना एग । इ अप इन्ह एह स्वर्म म नात। बत र गर अम ए ए अदेय वी है।

है तो यह क्षणिक समझ नहीं कि विस शास्त्र में इस महान्य के विषय पर विचार किया गया है कि तालारिक व्यवहार विन प्रकार करना चाहिये उपकमयोगनाल्प को हमारे शास्त्रकार आधारित मानवता से अलग छोड़वा। इसुमिये इस समझदार है कि जो कम हमारे माझ अथवा हमारी आधारित उपचारिते के अनुकूल हो वही पुरुष है वही जम भीर वही गुमलम है भीर जो कम उसके प्रतिरूप वही पाप, अबम अभवा अनुम है। वही कारण है कि इस 'कमय' अपतात्य 'काव्य-आवाय भव्यां' के कारण वर्ते और और 'अभय' द्वाव्यां का ही (यथापि वे ही अर्थ के अवश्यक तुल्य सतिष्य ही तो भी) अविन टपयोग करते हैं। यथापि वाइ सुधि के व्याख्यारिक कमों अपवा व्यापारों के विचार करना ही प्रधान विषय हो तो भी उक्त कमों के व्याप्त परिणाम के विचार के द्वाय वही व्यापार हमें इस सेवा करते हैं कि वे व्यापार हमारे आव्याय के कर्याल के अनुकूल हैं या अविकूल। यहि क्षादिमातिक्षादी से कोई यह प्रभ करे कि म अपना हित और कर खेगों का हित क्या क्य? तो वह इसके सिवा और क्या समाधानकारक उत्तर है कि यह तो तामा न्यत मनुष्य स्वमाव ही है। हमारे शास्त्रकारों वी इदि इससे परे पर्वेषी तुर है और उत्त व्यापक आधारितक इदि ही से महाभारत मे कमयोगनाल्प का विचार किया गया है। प्राचीन भूनानी परिवर्तों वी भी यही राय है कि अस्यन्त हित अभवा सुदृगुण के पराकाश के समान मनुष्य का तुल्य-तुल्य परम उद्देश करित करके फिर उक्ती इदि से कर्म-अर्कम का विवेचन करना चाहिये। और ऐरिस्टोटेलो अपने नीतिशास्त्र के प्रन्य (१७८) मे कहा है कि आत्मा के हित मे ही "न सत्त चाता का समाकैष हो जाता है। तुषापि यह विषय मे आत्मा के हित के लिये अल्पनी प्रधानता वी चाहिय थी उत्तनी ऐरिस्टोटेल ने ली नहीं है। हमारे शास्त्रकारों म यह अत नहीं है। उन्होंने निभित किया है कि आत्मा का करयाच अभवा भा व्याधित प्राचावस्था ही प्रत्येक मनुष्य का पहच और परम उद्देश है। अस्य प्रकार के हितों की भेषेषा उक्ती का प्रधान व्याना चाहिये। अव्यासम विषय को ओह कर कम अर्कम का विचार करना ठीक नहीं है। जान पड़ता है कि वहमान समय मे प अभी ऐशा के कुछ परिवर्तो ने भी कर्म अर्कम के विवेचन की इसी पठाति को स्वीकार किया है। उदाहरणाम अमन तत्त्वज्ञानी जान्त ने पहसु ल्लाव (व्यक्त्यायामक) बुद्धि की मीमांसा नामक भाष्याधिक ग्रन्थ को लियर कर फिर उक्ती पूर्णि के लिये व्याख्यारिक (वास्तवायमक) बुद्धि की मीमांसा नाम का नीतिशास्त्रविषयक प्रन्थ लिया है और इसमे भी ग्रीन ने अपने नीतिशास्त्र के उपोद्घात का सुहि के मूल्याल्प

काम पर अमन तत्त्वज्ञाना था। स अवार्द्धाम तत्त्वज्ञानराज का अनक उम्हाते हैं। इष्टके *Critique of Pure Reason* (मुख बुद्धि की मीमांसा) और *Critique*

“ अम शम्भ दृ ( = भारण करना ) चाहु से आ है। अम स ही सब प्रवा मेंही तुह है। वह निष्पत्ति दिया गया है कि दिसंस ( सब प्रव वा ) भारण हाता है वही अम है ( मा कर्म १५५९ )। यहि यह अम उत्तर व्यय हो उपर खेला जाहिये कि समाज के सारे वचन भी दूर गय आर यहि समाज के वचन दूटे यो आपशमधारिके द्विना आकाश में सूर्योदै पृथ्वीमासभो भी ये ल्या हो जाती है, अपवा तमुद्र में मलाह के द्विना नाव भी यो दृश्य होती है ठीक वही दृश्य समाज की भी हो जाती है। इसलिये उक्त द्विनीय अवस्था मै पञ्चर अपाव को नाश से बचाने के किय म्यासवी ने कौ स्वानीं पर कहा है कि यहि अर्थ या दृश्य पाने की इच्छा हो तो ‘ अम के द्वारा अपाव समाज व्ये रखना को न दिलाए तुप प्राप्त रहो और यहि काम भावि वासनाभो हो तुप करना हो सा वह भी अम से ही ’ कहो। महामारण के अन्त मै यही कहा ह कि -

कर्मवाहुविरौप्येष च च कर्मिच्छूलोति माप ।  
अमादर्थव्य कामव्य सं पर्मः कि म सेव्यत ॥

ओर ! मुख उद्ध कर मै चिला रहा हूँ ( परन्तु ) कोई मी नहीं मुनता । अम से ही अप और काम भी प्राप्ति होती है ( अस्तिय ) अत प्रकार के अम का आचरण तुम क्या नहीं करते हो ? ” अब इससे पात्रको के भ्यान मै यह जात अप्यी तरह अम जायगी कि महामारत को जिस अम हाइ से पापवा वेड अपवा अमर्तिला मानते हैं उस ‘ अममहिता शम्भ के ‘ अम शम्भ अस्त्य अर्थ क्या है । यही भारण है कि पृथ्वीमासा और उत्तरमीमासा तोनों पारप्रविक अप के प्रतिवाक्य अप्यो के साथ ही - अमप्रव्य के नाति ऐ - नारायण नमस्कृत्य इन प्रतीक शम्भो के द्वारा - महामारत का भी समाकेद ब्रह्मपत्र के निष्पत्तिपाट मै कर दिया है ।

अम अक्षम के उपर्युक्त निष्पत्ति को सुन कर कोइ यह प्रस रहे, कि यहि मुझे भमाव भारण और तूमरे प्रकरण के गर्वानुताववेक मै कियि ‘ सबमूर्तिहत ’ य तोनों तत्त्व मान्य है तो तुम्हारी दृष्टि मै और आनिमीतिक दृष्टि मै भी ही क्या है ? त्योहि पै तोनों तत्त्व जावता यम तिप्रवासे और आपिमीतिक ही है । अत प्रस का दिल्लूत दिक्षार अप्या प्रकरणा मै किया गया है । यदुँ तना ही करना एम है कि यन्मि हमको यह तत्त्व मान्य है कि समाज भारण ही अम का मुख्य वाप्त उपयोग है तत्पापि हमारे मध भी दिल्लूता यह है कि विक भयवा अन्य सब अमों का भी परम उद्देश भावन-क्षयाण या माप है उस पर भी हमारी दृष्टि अभी है । समाज भारण को लीजिये जाए सबमूर्तिहत ही यो यो ये व्यापोनयोगी तत्त्व हमारे भावन-क्षयाण के मान मै जावा नान, यह हमे इन्ही बर्तत नहीं । हमरे भावुक्त-प्रप्त यहि यह प्रतिपादन करते हैं कि वै-ज्ञान मै शरीरभा के द्वारा मोक्षप्राप्ति का वापन होने के भारण समर्थीय

मी यहाँ थोड़ा किनार करना पाहिये। यह स्याक्ष्या मीमांकों की है “पोद्धार सहजोऽयोऽम्” (बृ. ४ १ २)। किंतु अधिकारी युध्य का यह कहना अध्यात्म कर कर ‘चौम्बा यानी प्रेरणा है। यम तक इस प्रसार का प्रवृत्त नहीं कर दिया था वर तर कोइ भी काम किंतु जो मी करने वी सदतशता होती है। इसका आशय यही है कि पहले पहल निर्वेष या प्रवृत्त के कारण यम निमाण हुआ। यम की यह स्याक्ष्या दुष्ट भैय में प्रसिद्ध अधिकार हॉम्य के मत से मिलती है। असम्य तथा उगाढ़ी अवस्था में प्रवृत्त मनुष्य का आचरण समय समय पर उत्पन्न होनेवाली मनोहृषियों की प्रकृत्या के अनुसार हुआ करता है। परन्तु वीरे वीरे कुछ समय के बाद यह माझ्म होने स्थित है, कि “स प्रसार का मनमाना चतुर्व भेयत्कर नहीं है; और यह विशात होने लगता है ति इनिद्रियों के स्वामानिक स्वापारों की दुष्ट मर्यादा निर्धित करके उसके अनुसार चतुर्व भरने ही में सब शोर्यों का क्षयाम है। तब प्रवृत्त मनुष्य देसी मयात्माओं का सामन कायदे के तौर पर करने लगता है; जो विश्वासार से अन्य रीति से मुश्किल हो च्यापा करती है। अब इस प्रकार की मयात्माओं की सम्या चतुर चतुर्व अस्ती है तब उगाढ़ी का एक शास्त्र जन चतुर्व है। पृथ चमय में विश्वाहृष्यवस्था का प्रचार नहीं था। पहले पहल उसे शेषकेनु ने स्वयम्भा और पिछले प्रकरण में चतुर्मया गया है कि गुरुदाचार्य ने मर्यादापान का निर्मित छारापा। यह न देख कर कि इन मयात्माओं जो नियुक्त भरने में शेषकेनु अध्यक्ष हुदाचार्य का क्षा हेतु पा केकड़ किंतु एक बात पर स्वान देकर कि “न मयात्माओं के निर्धित भरने का काम या चतुर्व “न ल्यगों का भरना पड़ा; वर्त शर्म की चोमाल्लणोऽयोऽमः स्वार्या न्माम् गा है। यम नी हुआ हो पहले उसका महत्व किंसी स्वयंकि के स्थान में भरता है और उसी उसकी प्रशृंखि होती है।

लगभग पीभो चन करो ये चर्त विसी को सिरलानी नहीं पढ़ती फौटि ये इनिद्रियों के स्वामानिक यम ही हैं। मनुष्यों ने ये कहा है कि न मातुमनुष्य बायो न मैत्र न च मेषुने (मनु. ६ ६) — अथात् मातृ मनुष्य भरना सम्यका मर्यादापान और मनुष्य भरना ऐसे सुधिकम-विस्त दोष नहीं हैं — उसका तात्पर्य यही है। ये सब बात मनुष्य ही के किये नहीं किन्तु मार्यादा के किंसे स्वान-प्रिय हैं — प्रहृष्टिरेया नूतनाम्। उमाक भारत के किये अथात् सब छोरों के मुन्न के किये “स स्वामानिक आचरण का उचित प्रतिवेष भरना ही यम है। माहामारत (शा २१४ २) में भी कहा है —

माहारविश्वामयमेषुन च सामान्यमेतत्पृष्ठभिर्वाचाद् ।

यमो हि तेषामधिका विशेषो चर्मेज हीनाः पश्चुमिः समानाः ॥

अथात् आहार, निद्रा मय और मेषुन मनुष्यों और पशुओं के किये एक ही समान स्वामानिक है। मनुष्यों और पशुओं में कुछ भैर है तो वेष्ट यम का

आत्मतुल्य से ही आरम्भ किया है। परन्तु इन प्रन्थी के काले केवल आधिकारिक पंडितों के ही नीतिग्रन्थ शास्त्रहृष्ट हमारे यहाँ अप्रवी शास्त्रभा म पढ़ाये जाते हैं किंतु उन परिणाम यह दीन पन्ना है कि गीता में ब्रह्मसम गथ कर्मयोगशास्त्र का घृततत्त्व वा— एम अथवा में अप्रवी छीपे रुठे बहुतर किश्चाना की भी— सरप्र ओप्र नहीं हाता।

उक्त विवेचन से ज्ञात हो जायगा कि स्याक्षरारिक नीतिवैधता के लिये अथवा उम्माह-शास्त्र के सिये हम 'धर्म' शब्द का उपयोग करी बरस है। मात्रमारत, मात्रकृति भावि सकृद प्रथा में तथा मापा-प्रथा में भी स्याक्षरारिक शब्द अथवा नियम के अप्र म प्रम शब्द का हमेशा उपयोग किया जाता है। कुछ-प्रम और कुस्तिशास्त्र शास्त्रों शब्द समानापद समाप्त जाते हैं। मारतीय मुड में एक तमय शब्द क रूप का पहिया तृप्ती न निगल किया था उम्मा ठग कर ऊपर आने के लिये इस कण स्वप्न रथ से नीचे ऊपर तर अकुल उम्मा ब्रह्म करने के लिये उपर उम्मा। यह ऊपर कर कण न कहा निश्चय शब्द को मारना अमरुड नहीं है।" इसी सुन वर भीहण ने बण को कौ पिल्ली बाती का स्मरण तिळाया है कि ड्रोपटी का ब्रह्मरण वर हिया गया था सब स्वेच्छा न मिल कर अकर्त अमिमन्तु का ब्रह्म कर दासा था "न्यायि। आर प्रयेक प्रसुग में यह प्रभ किया है ह कण। उस समय तुम भ्रम कहीं गया था? इन सब जाता का बर्णन महाराष्ट्र-कवि माराकुन ने किया है। तार महाभारत म मी न्यु प्रसुग पर कौ ते ब्रह्मलाल यन् प्रभ में ब्रह्म शब्द का ही प्रयोग किया गया है। तब भन्तु में कहा गया है कि ये न्यु प्रसार व्यथम कर उम्मा साध उसी तरह का ब्रह्म करना ही उम्मो उचित तरह देना है। खाराप क्या सकृद भीर क्या माया सर्वी प्रथा में 'धर्म शब्द का प्रयोग उम्म सुन' त्रिनि नियमों के बार में दिया गया है या समाज शास्त्र के लिये त्रिशृणों के द्वाय त्व यातम-हृषि त ज्ञाये गये हैं। इसनिय उसी शब्द का उपयोग हमने भी इस प्रभ म दिया है। इस दृष्टि पिचार करने पर नीति के उन नियमों क्षयज्ञा 'पिचारार' का भ्रम भी दुलियाँ वह सकत है या समाज शास्त्र के लिये त्रिशृणों के द्वाय प्रबन्धित किये गये हैं और या सक्षमान्त्य ही भुक हैं। खार, इसनिय महाभारत (मनु ३ १०३) में एक सूति प्रथामें भाजारप्रमो धर्म अथवा आज्ञार परमो धर्म (मनु ३ १८) अथवा धर्म का मूल कल्पते तमय कैश सूति त्रयाकार समय के प्रियमानन् (मनु ३ १०) इस्यायि वपन कह है। परमु क्षमप्रज्ञात्म में इतन ही कैश नहीं पड़ जाता इस जात का भी पूरा और मार्मिक द्वारा बना पड़ता है कि उन आज्ञार की प्रहृति ही क्यों इत्य-इत आज्ञार की प्रहृति ही का ज्ञाय क्या है।

'अम ए व वी दूरी यह और स्याप्या प्रार्द्धन दर्शी मैं ही गए हैं। उक्तम

of Practical Reason (सामाजिक वृद्धि का विविला) ए ए इत्य दर्शित है। दीन के दृष्टि का नाम Prolegomena to Ethics है।

आ लकड़ा। “उलिये महाकल किस माग से गव हूँ, वही ( चम का ) माय है ( म भा कल ११९ ११६)। ठीक है। परन्तु महाकल किस का पहना चाहिये ? उसका अर्थ वह अभ्यास बहुतधा करनेमुख् नहीं हो सकता। क्योंकि किस साधारण लंगों के मन में प्रथम अपम भी शक्ता भी उनपर नहीं होती उनके प्रत्याप्ते माग के आना माना कर्नापनिषद् में वर्णित “अ धर्मेष्व नीयमाना पथान्त्रा ” – वारी नीति ही को अरिताख करना है। अब यहि महाकल का अर्थ बड़े बड़े साधारी पुरुष ’ जिसा जाय – और यही अर्थ उक्त कोइक में अनिष्ट है – तो उन महाकलों के आचरण में भी ऐसा कहाँ है ? निष्पाप भीरामचन्द्र ने अभिद्वारा शुद्ध हा जानपर मी अपनी पत्नी का त्याग केवल स्मेक्षयवाऽ के किये किया और मुमीक को अपने पाल में मिलने के किय उससे ‘तुम्यारिमिन – अपात् जो तेरा शुद्ध वही मेय शुद्ध और जा तेरा मिन वही मेरा मिन एस प्रकार सधि करके केवार वासी का बद किया यद्यपि उसने भीरामचन्द्रका कुछ अपराह्न नहीं किया था। परम्पराम ने तो पिता की आत्म से प्रस्तुत अपनी माता का शिरच्छेद कर दास्त। यहि पाण्डुओं का आचरण देखा जाय हो पौर्वों की एक ही रुदी थी। लकड़ा के देवताओं का ऐसे तो कोई अहस्या का सर्वीत्व प्राप्त करने वाला है, और कार्ब ( ब्रह्म ) मूर्गात्प से अपनी ही कृत्या का अभिभूप करने के कारण स्वर के बाण से बिछ हो कर आकाश में पड़ा हुआ है ( दे, बा १ ११ )। “नहीं जातों को मन में ला कर ‘उत्तररामचरित नाटक में मन्त्रभूति ने रथ के मुख से कहस्या है कि शूद्रालं न विचारणीवचरितः – न शूद्रों के कृत्यों का बहुत विचार नहीं करना चाहिये। अप्रेती म शूद्रान का इतिहास किसेकाले एक प्रत्यक्षार ने किजा है कि शूद्रान के लाभियों और डेक्कूटों के लकड़ा का हास उसने ही माध्यम होता है कि कई बार देवताओं न ही इत्या की कपटवास में झेंसा किया है। इस प्रकार कौपीतकी ब्राह्मणोपनिषद् ( जीपी १ १ और ए, बा ७ २८ इंद्रो ) म एक प्रत्यक्ष से कहता है कि मैंने इन का ( यद्यपि वह ब्राह्मण था ) मार दास्त अहस्युप सन्त्वासिय क द्रुष्टै द्रुष्टै करके भेदियों का ( एवने के किये ) किये और अपनी कर प्रतिष्ठना का मा करके प्रह्लाद के नारेशरो और गोनदी का तथा पीछेम और काम्यवद नामक दैत्यों का बद किया। ( एससे ) मेरा एक बाल भी जौका नहीं हुआ – लक्ष्य में तब न स्मै च मा मीयद ! ” यहि कोई कहे कि तुम्हे इन महा त्याजी के बुर कर्मों की ओर ध्यान अम का कुछ भी कारण नहीं है ऐसा कि दैत्यी योपनिषद् ( १ ११ २ ) में कहस्या है उनके भो कर्म अम्ले हा उन्हीं का अनुकरण करो और सब छोड़ दो। उआहरणार्थ परम्पराम के समान पिता भी आज्ञा पालन करो परन्तु माता की हृत्या मर करो तो वही पहस्य प्रभ मिर भी उत्तरा है कि कुरा कर्म और लक्ष्य कर्म उम्मने के किये लाभन है क्वा ? “सुलिये अपनी करनी का उक्त प्रकार है बणन कर एन्द्र प्रत्यक्ष से फिर पहता है औ तूण आत्म शानी है ठें मानुवव विदृपष ममहस्या अपवा क्षेत्र ( बोरी ) त्याहि किंतु मी



भर्वान् परस्पर-विस्तृ भर्मो का दारकर्म भयवा सुनुता और उस्ता हेतु कर ही प्रत्येक मीठे पर, अपनी बुद्धि के द्वाय सब कर्म भयवा कर्म का निषय करना चाहिए (मा या इन १३ ११, १२ भीर मनु ५ २९९ ईतो)। परम् यह भी नहीं कहा जा सकता कि उन ही से कर्म अध्यम के सार भवार का किनार करना ही उच्चा ए समय भय निषय की एक सबी क्षमता है। क्योंकि व्यवहार में अनेक बार हेतु जाता है कि अनेक पश्चिम होग अपनी अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार सार-भवार का किनार भी मिल मिल प्रकार से किया करते हैं और एक ही जात की नीतिमध्य का निषय भी मिल रही है कि किया करते हैं। यही अर्थ उपमुक्त 'दक्षोऽप्यतिश्य' वचन में कहा गया है। उचित्य अन हम यह जनना चाहिए कि कर्म-अध्यम सदाय के न ग्रह्ये का अचूक निषय करने के सिये अन्य कार्य लाभन या उपाय है या नहीं; यहि है तो भीन-है और यहि अनेक उपाय ही तो उनमे भेद भैन है। उठ इष बात का निषय कर देना ही शास्त्र का काम है। शास्त्र का यही उच्चारण भी है कि अनेकसद्यायोग्येदि परोऽपार्थस्य दशकम् - अवात् अनेक शकाभो के उत्पन्न होने पर सब से पहले उन कियों के मिलन को भल्ला कर दें तो समझ में नहीं आ जाते हैं फिर उसके अर्थ का सूक्ष्म और स्पष्ट कर दें तो यहाँ अँगों से नीय न पड़ती हा उनका भयवा आगे होनेवाली बातों का भी अध्याय शान करा है। उन हम उच बात को सोचते हैं कि व्योटिष्ठाकर्त्ता सीझे से आगे होनेवाले प्रह्लाद का भी सब इष मालूम हो जाता है सब उक्त उच्चारण के परोऽपार्थस्य दशकम् इस बूलर मार्ग की सार्वत्रा अच्छी तरह दीप पड़ती है। परन्तु अन्य सद्यायो का समाप्तान करने के क्षिय पहले पहले यह जनना चाहिए कि वे कौन सी शकाप हैं। इसी क्षिये प्राप्तीन और अवाचीन भयवारों की यह रीति है कि किसी भी शास्त्र का किशानतपश्य करनेने के पहले उक्त कियय में किन्तु पन हो गये हो उनका किनार करने के दोष और उनकी न्यूनतार्द्दि गिराई जाती है। इसी रीति का स्कीकार गीता में कर्म अध्यम निषय के क्षिये प्रतिपादन किया हुआ किशान पनीष योग अवात् युक्ति ऊळाने के पहले इसी काम के क्षिये जो अन्य युक्तियों पश्चिम क्षम जलाया करते हैं उनका भी अन हम किनार करेंगे। यह बात सब है कि ये युक्तियों हमारे यहाँ पहले कियोप्रकार में न थी किशाप करने क्षमियी पश्चिमों ने ही उत्तमान समय में उनका प्रकार किया है परन्तु उन्हें ही से पह नहीं कह — सन्ता कि उनकी जर्ज इस प्रस्त्य में न थी आओ। क्योंकि न केवल तुम्हारी ही के क्षिय मिश्य गीता के आव्यापिक अन्योग का महात्म व्याप्ति मै आने के क्षिये न युक्तियों को — समेप में भी क्यों न हो — उन उन्होंना अस्पति व्याप्ति है।

कम का ग्रीष्म नहीं स्मरण। इस जात को मर्मी मर्ति समझ दें, कि आत्मा किसे कहते हैं – एक करने से तुर सारे सशम्भवी भी निवृति हो जायगी। इसके बाइ इन्द्रने प्रत्यन की आत्मकिञ्चिता का उपर्युक्त लिया। सारांश यह है कि महामनो यन गता स पाया” यह मुक्ति यथापि सामान्य लेखन के लिये सरल है तो भी सब शरण में इसे निर्वाह नहीं हो सकता और अन्त में महामनो के आचरण का सभा दत्त्व निवना भी गूढ़ हो तो आत्मश्वान में मुक्ति कर किष्मारणान पुरुषों को उसे हँड़ निकल स्ना ही पड़ता है। न ऐक्षविरत चरत् १ – ऐक्षाङ्गी के क्षवल बाहरी चरित के अनु सार आचरण नहीं करना चाहिये – इस उपर्युक्त कारण से ही यही है। इसके सिवा कर्म भक्त्य का निर्णय करने के लिये कुछ लोगों ने एक और सरल मुक्ति करनार्थ है। उनका कहना है कि कार्य भी सद्गुण हो उसकी अभिकृता न होन द्वे के सिये हैं एक्षेषा यत्न करते रहना चाहिये कर्योंकि उस अभिकृता से ही अन्त में सद्गुण दुर्गुण का भेटता है। ऐसे देना सचमुच सद्गुण है परन्तु ‘अतिगनादार्थिर्वदा’ – तान की अभिकृता होने से ही रात्रा बढ़ि चैस गया। प्रतिद्वंद्व यूनानी परिषद ऑरिस्टाटल ने अपने नीतिशास्त्र के प्रत्य में कर्मनकर्म के निष्पय भी यही मुक्ति करनार्थ है; और स्पष्टतया दिया गया है कि प्रत्येक सद्गुण की अभिकृता होने पर दुर्घटा निष्ठ हो जाती है। कार्तिकास ने भी एक्षेषा में बर्णन किया है कि क्षेवल धूरता स्याम सरीरे स्यापह का कुर काम है और क्षेवल नीति भी दरपोषण है; इसकिये अतिथि रात्रा तत्त्वार और राम्नीति के योग्य मिमण से अपने रात्र का प्रकर्षण करता था (एप. १३ ४७)। मतृहरि ने भी कुछ गुण ग्रीष्म का वर्णन कर कहा है कि यदि जड़ा देस्ता पाला ज्वला का उत्पन्न है और कम जोस्ता शुमापन है जड़ा गर्व कर तो उठाऊ और कम हरे तो कम्ल भाग के तो दुमाहसी और पीछे हटे ही टीला अतिशय आपह परे तो जिरी और न करे तो चबूत्र, जान बुधाम” करे ही नीच और देठ किये स्मर्ते तो भगवानी ह परन्तु “स प्रकार की स्थूल करीयी से अन्त तक निर्वाह नहीं हो सकता। क्योंकि ‘अति’ किसे कहते हैं और ‘नियमित’ किसे कहते हैं – इसका भी या कुछ नियम देना चाहिये न तथा यह नियम कीन किसे प्रकार है? किसी एक को भविता किसी एक मौके पर जो अत अति’ हेमी वही दूसरे का अपवा पूर्ते मौके पर कम हो जायगी। हनुमानजी भी पैशा हाते ही सर्व को फ़क्तने के किये दहुन मारना को जटिन काम नहीं मास्तम पटा (वा रामा ७ १५) परन्तु यह द त भीरी के किये जटिन क्या असम्भव ज्ञान पड़ती है। इसकिये ज्ञान पर्म-भवम के दिव्य में लगे उत्पन्न हीं तब प्रत्येक मनुष्य का ठीक ऐसा ही निष्पय करना पड़ता है ऐसा स्वन ने रात्र गिरी के कहा है –

अदिरोधात् यो वसः स वसः सत्यदिक्षम् ।

विरोपिष्ठु महीपाल निभित्य गुष्टावरम् ।

त वाप्ता विदते यत्र त दर्म समुपचरेत् ॥

उत्तरापूर्वक चर्चने और लेखनप्रबंध करने के लिये नीति नियमों की अत्यन्त आवश्यकता है। उसी लिये हम ऐसे हैं कि उन पीढ़ीों को मी कर्मयोगशास्त्र बहुत महत्व का मान्यम होता है कि जो खेड़ पारस्परीकिक विषयों पर अनात्मा रहते हैं, या जिन होगों का अध्यक्ष भृत्यामश्वन में (अर्थात् परमेश्वर में मी) विश्वास नहीं है। ऐसे परिणाम न परिषमी दृष्टि में उस बात की बहुत जरूरी की है—आर वह चर्चा अद्वलक बाती है—कि केवल आधिकारिक शास्त्र की रीति से (भयान केवल सालाहिक दृष्टि मुक्तिकार के ही) कर्म-भक्त्य शास्त्र की उपरचिति गिरावर्दि जा सकती है या नहीं। उस जरूरी से उन स्त्रीओं ने यह निष्पत्ति किया है, कि नीति शास्त्र का विवेचन करने में अप्यात्मशास्त्र की कुछ भी आवश्यकता नहीं है। जिसी कम के मूल या बुरे होने का निर्णय उस कर्म के बाइ परिणामों से—जो प्रत्यन शीघ्र पड़त है—किया जाना चाहिये और ऐसा ही किया भी जाता है। क्योंकि मनुष्य को कर्म करता है वह सब सुन के लिये या दुर्लिङ्ग का रणार्थ ही किया करता है। और ठी क्या सबे मनुष्यों का मूल ही ऐसीक परमार्थ है और पठि सब कर्मों का धैरिय दृष्टि फल न्य फक्त निष्पत्ति है तो नीति नियम का सच्चा मार्ग यही होना चाहिये कि सब कर्मों की नीतिमत्ता निष्पत्ति की जाव। बद कि व्यवहार में विसी बस्तु का मत्त छुटपन केवल बाहरी उत्तरास ही हो निष्पत्ति किया जाता है—वैसे को गाय छोट दीर्घोबाली और सीधी हो कर मी अधिक दूष होती है वही अप्यती समर्थी जाती है—तब इसी प्रकार किंतु कम ही सुन प्राप्ति या दुर्लिङ्ग नियारण्यात्मक यात्रा फल अधिक ही, उसी की नीति की दृष्टि स मी भयलकर उमसना चाहिये। बद हम स्त्रीओं को केवल यात्रा और दृष्टि परिणामों की उत्तुवा गुणता है तब नीतिमत्ता के निर्णय करने की पह सरल तर शार्दूल न्यास हो गए है तब उत्तुवा लिये आग्न अनात्म के गहरे किंचार-सागर में जहर गये रहने की काँ भावरपक्षा नहीं है। भर्ते भैमपु विस्तृत किम्य परत ब्रह्म “०—पास ही में मनु मिति यात्रा मपुमक्षडी क छोटे की यात्रा ह सिये ज्ञात मै कर्मों जाना चाहिये। जिनी मी कम के केवल यात्रा फल की भैम कर नीति और अनीति का निष्पत्ति करनेकासे उत्तुवा पठि को हमन भाधिकारित कुरारा” कहा है। क्यों कि नीतिमत्ता का निष्पत्ति करने के लिये इस मत के अनुसार जिन सुन दुर्गमों का विश्वार किया जाता है वे तब प्रत्यन विष्वारेवास और केवल यात्रा भयान् यात्रा परायों का ईत्रियों के लाय संयोग होने पर उत्पन्न होनेवाले यानी भाधिकारित है और वह पठि मै तब

इउ तात्र इति ज्ञात म भक्त राप्तह आह या महार क पठ का भी अप नह ह। पादु ब्रह्मपृष्ठ ३ । ४ । क होइरभाग्य की दीक्षा म आवश्यकिरि न भक्त राप्त का अप तर्माय किया ह। इति ज्ञात का दुर्लिङ्ग चाय पठ ह—“ विद्वाणाभवत् ह—तात्र का विद्वान्यभवत् तद्

चौथा प्रकारण

## आधिमीतिक सुखवाद

मुख्याशुद्धिजले सर्वे: सर्वस्य मुख्यमीप्सितम् । ०

- महामारत शान्ति १३६ ६१

मुख्याशुद्धिजाई ने अहिंसा वत्प्रमत्वेय "मुख्याशुद्धि" को नियम क्षाये हैं उनका

कारण क्या है वे नियम हैं कि भवित्व उनकी स्थापित किए जानी हैं उनका मूल  
कारण क्या है यह इनमें से कोइ दो परस्परविरोधी घर्म एक ही समयम आ पाए तो  
विच माग का स्वीकार करना चाहिये इस्याशुद्धि प्रभ्य का निश्चय ऐसी सामान्य  
युक्तियों से नहीं हो सकता ये महावनों से गत तरफ पद्धति या 'अति सद्वत्  
वन्यत्' भावि बचना से संचित होती है। "सुसिद्धे अब यह उग्रता चाहिये कि  
इन प्रभ्य का उचित निश्चय कैसे हो और भेदभाव माग के अभित्व करने के लिये  
निर्भाव युक्ति क्या है अर्थात् यह ज्ञानना चाहिये कि परस्पर विश्व चमों की  
जुड़ा और गुड़ा - न्यूनाभित्व महावा - किस दृष्टि से निर्भित की जावे। अन्य  
शाश्वत प्रतिपादनों के अनुसार क्षम अक्षम विवेकनसदाचारी प्रभाओं की भी बचा करने  
के तीन मार्ग हैं कैसे आधिमीतिक आधिमीतिक और आध्यात्मिक। इनके बीच का  
काम पिछले प्रवरण में कर सकते हैं - हमारे ज्ञानाशीर्ष के मरानुसार आन्या  
दिक्षक मार्ग ही न सब मार्गों में देखा है परन्तु अध्यात्ममाग का मानस्कपृण रीति से  
ज्ञान में बैठने के लिये दूसरे भी मार्गों का भी विचार करना आवश्यक है  
इसीलिये पहले "स प्रवरण में क्षम-अक्षम परिणाम के आधिमातिक मूलसत्त्वों की  
चक्र की गति है। किस आधिमीतिक ज्ञानों की आवश्यक युत उपायि तु"  
है उनमें स्वरूप पदार्थों के व्याप और दृष्टि गुणा ही का विचार विचारता  
है किया जाता है। "सुसिद्धे किस हार्यों ने आधिमीतिक ज्ञानों के अवयव  
ही में अपनी उप विद्या भी है और किनको "स ज्ञान की विचारपद्धति ना  
अभिमान रहे उन्हें व्याप परिणामों के ही विचार करने की आवश्यक सी पद्धति होती है।  
"उक्ता परिणाम यह होता है कि उनकी उत्पत्तिनाशी योरी चार उद्दिष्ट हो  
जाती है और किसी भी चार ज्ञ विचार करते समय वे ज्ञान आध्यात्मक  
पारमीतिक अवस्था पा आवश्यक कारण को। व्याप महत्व नहीं है। परन्तु व्यापि  
वे द्वय उक्त कारण से आध्यात्मिक और पारमीतिक होते ही ज्ञ हैं उपायि उन्हें यह ज्ञानना पर्याप्त है मनुष्य के कामारेक व्यवहारों को

"तु ज्ञ से सर्वा उद्दक्षत ह भार दृष्ट कृ इष्टा सर्वा वृष्ट है।"

इसमें पर उपके साथ साथ वह भी कह आता है। इसमें विद्वानोंका कहन्य है, कि आत्मविद्यार के शक्ति में न पर कर जब तक पह शरीर बीचित अवस्था में हो तब तक अग्रण के बर भी त्योहार मनावे — 'कल्प इत्वा पृथुं पिभ् । - भवोक्ति मरने पर इच्छ नहीं है। चार्वाक हिंदुस्थान में ऐसा हुमा या इसमें उसने पृथु ही हो अपनी तृष्णा बुझ ली। नहीं हो उक्त स्वर का स्वाक्षर कल्प इत्वा सुप धिभ् हो गया होगा। कहों का भर्म और कहों का परोपकार। इस संसार में किन्तु पार्व एवं परमेश्वर ने — यिद्य यिद्य। भूत हो गा। परमेश्वर भाषा कहों है। — इस संसार में किन्तु परायं है वे सब मेरे ही उपयोग के किंतु हैं। उनमें दूर्घट कोई भी उपयोग नहीं दिखाइ पड़ता — अपात है ही नहीं। म मरा कि दुनिया छाँटी। इसमें जब उक्त मैं चीता हूँ तब भाव यह सो कल वह; "अ प्रकार सब दुष्ट अपने अधीन करें अपनी छारी काम-कासनाभी को दूस कर देंगा। यहि मैं तब कहेंगा अपना दुष्ट दूस हूँगा तो वह उक्त मैं अपने महस्त को कठाने ही के किंतु दुर्घट होंगा और यहि मैं राजसूया या अस्मेष वह कहेंगा हो उस मैं पहीं प्रकट दर्शन के किंतु दर्शना कि मेरी सच्चा या अभिक्षर सर्वत्र अवधित है। सारांश इस अवल का मैं ही कहूँ हूँ और केवल यही सब नीतिशास्त्री का रहस्य है। यही सब कहूँ है। ऐसे ही भासुरी महाभिमानियों का कर्वन गीठा के सोख्त अप्याय मैं किया गया है — इत्यरोऽहमह मोरी दिदोऽह फल्मान् द्वुषी (गीता १६ १४) — मैं ही दंश्वर, मैं ही मोगदेशाव्य और मैं ही यिद्य फल्मान् और द्वुषी हूँ। यहि भीहृष्ण के कठोर व्यापारि के समान इस परवाय शोर्म भास्मी अर्कुन को उपदेश करने के किंतु होता तो वह पहसे अर्कुन के कलन मस्त कर पह कलमता कि अरे तू मूर्ख तो नहीं है। छद्यार मैं सब को दीत कर अनेक प्रकार के राजमोग और विषसों के मौजने का यह कटिया मौजा पालर मी दू यह कहूँ कि वह कहूँ। अस्याति व्यर्थ भ्रम में दुष्टना दुष्ट कर रहा है। यह मौजा किसे मिलने का नहीं। कहों के भाव्या और कहों के दुर्घटिस्तो के किंतु ऐसा है। उठ, तैयार हो सब झेंगों को द्वेष पीट कर धीरा कर दे और हृषिक्षापुर के राजाप्य का द्वुष्प से निष्कर्ष उपमौग कर। इती मैं तेरा परम कस्याण है। स्वयं अपने इस्य सवा ऐहिक द्वुष के किया। इस संसार में और रक्षा क्या है। परन्तु अर्कुन ने इस द्वुषित स्वार्थ द्वारा और भासुरी उपदेश की प्रतीक्षा नहीं की — उसने पहले ही भीदृष्टि से कह किया कि —

पताक्ष इन्द्रुमिष्ठामि अक्षोऽपि मधुसूक्ते ।

भवि ब्रह्मोऽप्यराज्यस्य देतोः कि तु महीकृते ॥

पृष्ठी कह ही क्या परन्तु यहि तीनों सभी का राज्य (इतना वहा कियव-मुन) मी (ये द्वुष के द्वारा) मुहे मिळ जाय तो भी मैं तीर्थों परे मारना नहीं चाहता। चाहौ ऐ मेरी मौहे ही गर्भन रथ है।" (गी १ ३५)। अर्कुनने पहले ही के किल स्वार्थपरावर और आविभैरिक द्वुषका क्य इस दरह निषेच किया है उठ भासुरी

सुलार का केवल आधिमौतिक दृष्टि से विचार करनेवाले परिवा में ही बहुमाया रहा है। इसका विस्तृत वर्णन “स प्रन्थ में करना असम्भव है— भिज मिथ प्रन्थ काठों के मता का निर्झ साराश डेने के लिये ही अन्तर प्राप्य छिग्ना पौगा इसलिये भीमद्वयगवर्तीता के क्षमयागणाम् का अस्तुप और महस्त पुरी तौर से ध्यान में आ जाने के लिये नीतिशास्त्र के “स आधिमौतिक पथ का जिनारा राजीकरण अस्याद्यक है उतना ही समझ रीति में न ग्रन्थण म प्रक्रिया विद्या रहा है। इससे अधिक जान जानन के लिये वाढ़ों का पश्चिमी विद्वान् ५ मुम्प्रभ ही पक्षा आहिये। ऊर वहा गया है कि परमेन के विषय म आधिमौतिशारी उत्तमीन रहा रहत है परन्तु “सका यह मतलब नहीं है कि “स पथ के सब विद्वान् एवं स्वाम्पाद्यक अपम्बार्षी अवश्य अनीतिमान दुआ करते हैं। यदि “न स्थंगा म पारमात्मिक दृष्टि नहीं है तो न मही। ये मनुष्य के क्षत्रिय के विषय में यही रहत है कि प्रन्थम मनुष्य को अपनी एहिक दृष्टि ही को— जितनी ज्ञ ज्ञे उतनी— अपाप्त कर समूचे शरण के कर्याण के लिये प्रयत्न करना आहिये। “स तरह अन्तरण से असाह एवं साध अपेत्ता वरनेवामे बोन मिल स्वन्मर आदि सार्विन दृष्टि के अनेन परिव इस पथ में है और उनके प्राप्य अनेक प्रकार के ज्ञान और प्राप्त विज्ञारी में भर रहने के कारण सब भगा के ज्ञन याम्य है। यद्यपि क्षमयागणाम् ५ पथ मिथ है तथापि उब तुम सलार का कर्यालय यह शाही उद्योग दृढ़ नहीं गया है तब तक भिज रीति से नीतिशास्त्र का प्रतिग्राहन करनेवाले जिसी मारग या सम्पद का उपहास करना अस्ती रहत नहीं है। अन्तु आधिमौतिकवादिया में इस विषय पर मतभट्ट है कि नीतिक वस्त्र रक्ष्य का निष्पत्य करन ५ लिये किन आधि मैतिक प्राप्य मुख्य का विचार करना है वह जिम्मा है? अप्य भपना ह या दूसरे पा; पक ही अप्यमि का ह या अनेन अप्यतिया का? भव नभप्य मि “स जात का विपार विषय ज्ञायगा यि तये भार पुराने सर्वे आधिभीमिन वार्तियों के मुम्प्यम् विज्ञ एवं हो सकत है भार उनके पर्याप्त वर्णन अप्यत अपदा निर्णय है।

इनमें ऐ पहच्य वह अप्य स्वाप-सुरामादिया का है। उत पथ का कहना है कि परमेन और परोपनार तब दृढ़ है। आप्यायिक भमणास्त्रो वा व्याम्पद स्त्रीय ने भपना पर मरन के लिये विज्ञा है “स दुनिया म स्वाप ही साध है विर विषयाव त स्वाप तित हा तु भवता विज्ञे तुरा स्वप भवन वाधिमीमप्य ५ वा दृढ़ि हा चर्ची का न्याय ग्राम्य या भेदान्तर नमाम्या आहिये। हनोर हिंदूग्रन्थ में बहुत पुराने समय से व्यापार ने दृढ़ गत्ताह त इन मन का प्रतिग्राहन विषय या भार रामायण में इन्द्राजि ने अवाप्यामाट के भल्ल में भीरामपत्नी का या दृढ़िल उपर्युक्ता है वह तथा महामारत में वर्जित विग्रहर्तिवि (म जा भा ३४) भी इसी मारग की दृढ़ व्यापार का मन है यि इन पर्याप्तमामारा व्याप्त होता है। तब उत्तम मिष्यार म आना नाम या एवं गुण दर्पण हो जाता है और तेह

माल कर यह कहता है कि इस दैवत में स्वार्थ के लिया और दुःख नहीं। याहूवस्तु 'स्वार्थ शब्द के लिए (भपना) पर के आचार पर दिक्षित हैं, कि भाष्यामध्ये स अपने एक ही भाष्य का अदिरीष भाष्य से समावेश है उसीलिए है। यह दिक्षित कर उन्होंने स्वार्थ और परार्थ में दीर्घज्ञेशाले द्वैत के स्वार्थ की जड़ ही को काट डाल दिया। याहूवस्तु के उक्त मत और संस्कारमार्गीय मत पर अधिक विचार आये लिया जायगा। यहाँ पर याहूवस्तु आदित्ये के मतोंका उद्देश्य यही दिक्षितों के लिये लिया गया है कि सामान्य मनुष्यों की प्रशुचि स्वार्थ विषयक अर्थात् भास्तुमुन्न-विषयक होती है — “स एक ही भाव को बोड़ा-बहुत महस्त है कर, भाष्यका इसी एक भाव को सर्वेषां अपवाहन्यहि भाव इसी एक भाव को सर्वेषां भन्नमार्गी ने उसी भाव से हॉम्स के विषय दुसरे भास्तुमान लेके निकाले हैं।

बत यह भाव लिया हो युक्ति कि मनुष्य का स्वमान भैवल स्वार्थमूलक अर्थात् समानुषीय या समस्ती नहीं है — ऐसा कि अद्वेष्य प्रत्यक्षार हॉम्स और कैच परिणत हैरेतिप्रस बहते हैं — किन्तु मनुष्य-स्वभाव में स्वार्थ के साथ ही फोफ्स्ट्राक्युरि भी सामिक्ष मनोशुचि मी भन्म से पाई जाती है। अर्थात् जब पह लिया हो युक्ति कि परोपकार भैवल पूर्वर्धी स्वार्थ नहीं है तब स्वार्थ अर्थात् स्वसुप्त और परार्थ अर्थात् दूसरों का सुप्त इन तीनों तरफों पर समझाइ रखने कर कार्य-अकार्य-अवस्थाशास्त्र की रचना करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। यही आदित्यौतिकाडियो का ढीसरा बर्ग है। “स एक में भी यह भाषिक्यौतिक मत मान्य है कि स्वार्थ और परार्थ दोनों सामारिक मुन्नमान्नक हैं। सामारिक मुन्न के परे दुःख भी नहीं है। भेद भैवल इतना ही है कि उन पन्थ के लोग स्वार्थकुरि के समान ही परार्थकुरि भी भी स्वामारिक मानते हैं। इसमिये वे कहते हैं कि नीति का विचार करते समय स्वार्थ के समान परार्थ की ओर ध्यान देना चाहिये। सामान्यठा स्वार्थ और परार्थ में विरोध उत्पन्न नहीं होता इसमिये मनुष्य को दुःख करता है वह सब प्रायः समाव के मैं हित का होता है। यदि किसी ने उनसचय किया तो उससे समझ समाव का भी हित होता है। क्याकि, अनेक ध्याक्षिका के समझ के समाव कहते हैं और यह उस समाव की प्रत्येक ध्यक्षिका दुसरेकी हानि न कर भपना भपना स्वम करने को तो उससे दुःख समाव का हित ही होगा। अठवद् “स पन्थ के लोग ने निर्धित लिया है कि अपने मुन्न की ओर दुर्लभ करके यदि को-“ मनुष्य भैवलित का दुःख काम कर लो, तो ऐसा करना उत्तम कराय होगा। परन्तु “स एक के लोग परार्थ की भैवला की तीकार नहीं करते किन्तु वे वही कहते हैं कि इह समय अपनी दुर्दि के अनुसार “स भाव का विचार करते हैं। यह स्वार्थ भेद है या परार्थ। “सका परिज्ञाम यह होता है कि जब स्वार्थ और परार्थ में विरोध उत्पन्न होता है तब “स पन्थ का निर्णय करते समय उन्होंने मनुष्य स्वार्थ ही की ओर अधिक सुप्त आया करता है कि लोक मुन्न के लिये अपने किसी का स्वाम करना चाहिये। उत्तरार्थार्थ, यदि स्वार्थ और परार्थ को एक समान

मन का ऐक्स उद्घाटन करना ही उसका लड़न करना कहा जा सकता है। दूसरों के हित-अनहित की कुछ भी परेक्स न बरक सिफ्र अपने "सुर" के विश्वापमागम्बुद्ध का परम पुरुषाय मान कर नीतिमत्ता और घम को गिरा देनेवाले आधिमौतिककारीयों नी यह अन्यन्त विनियु भेणी क्षमयोगशास्त्र के सब प्रत्यक्षार्थों के द्वारा भी और सामान्य अग्नोंने द्वारा भी चक्र वाही अनीति वी स्थाप और गद्य मानी गई है। अधिक स्था कहा जाय यह परम नीतिशास्त्र अथवा नीतिविवेचन के नाम का भी पात्र नहीं है। इससिय इसके बारे में अधिक विचार न करके आधिमौतिकमुग्धसार्थियों के दूसरे बग की भार ध्यान देना चाहिये।

"मुखमनुष्ठा या प्रकट स्वाध साधार में जब नहीं सकता। क्योंकि यह प्रथम अगुम्ब वी बात है कि यद्यपि आधिमौतिक विश्वमुग्ध प्रत्यक्ष को इष्ट होता है; तथापि वर हमारा सुन अस्य लगा के मुख्यमोग में वापर द्वायता है, तब वे स्वेग निना विस्त दिये नहीं रहते।" सहित्य दूसरे वह आधिमौतिक पण्डित प्रतिपादन विया बरत है कि यद्यपि स्वयं अपना सुन या स्वाध-साधन ही हमेणा उद्देश्य है तथापि सब लोगों को क्षपने ही उमान रियायत दिये जिना सुन का मिलन सम्भव नहीं है। इससिये अपने सुन के लिये ही दूरदर्शिता के साथ अन्य लाग्ये के सुन वी भी और भी ध्यान देना चाहिये। इन आधिमौतिककारीयों वी गणना इम दूसरे बग में करत है। एसिये यह बहुत चाहिये कि नीति वी आधिमौतिक उपसंहि का यथाय भारत्य यही स हाता है। क्योंकि इत बग के सांग व्याक के मतानुसार यह नहीं बहुत, कि समाज धारण के लिये नीति के अन्तर्भूती की कुछ भावध्यक्षता ही न। है। विन्यु इन स्थगा ने अपनी विचाररूपि व इत बात का धारण कलाया है ३ मना संगो का नीति का पासन करना चाहिये। इनसा बहुत यह है १ परि "म बात वा कृम विचार विया जाय कि उठार में भृदिला एम एम दिला र एग उत्तरा पासन करी बरत है तो पही माइम हाया कि एम एप्पलार्ड एम के मिया खला कुछ दूलरा आभिराण नहीं है ज एव बास्य मैं प्रम् १०८ ८ - यहि एम एग का मार्गना ता वे मुरा भी मार दायेंग; भीर तिर व भाव सूर्यो न हात खाना पहारा।" अहिंसा धम के भनुभार ही भग्य एव एम वा इसी दो एस ही स्वार्थमूलक कारणों न प्रवर्तित कुण है। इसे कुण एग व इम रोत है भीर दूरी के राजा तो इम इपा भाली है। क्यों? एसी

२ वि इन १०८ मन मैं पह एव देश हाता है कि वही भवध्य मैं इमरी भी हैं। ६ दुर्गम्य भवधारा न हो जाय। परोत्तरार उगरला एया मनता इगरला उपरा देखता इस्यादि वी कुछ लग्ये के शुर के लिय भावध्यक माइम हात है वे लद - ८ १ उत्तरा मायम्बन्द देश जाय ता - भरन ही दुर्गम्बरलाय है। आ जिनी वी सहायता करता है पा और जिनी वी तब देना है क्यों? एसी लिये न वि एव इम पर भी भा जिनी तब वे इमारी उत्तरापना भौंगे। एम भग्य

क्षेत्रों को अस्तित्व प्यार पर रखत हैं कि वे नी हमारे प्यार करे। भीर दुःख नहीं तो हमारे मन म अच्छा बहस्तने का स्थायमाल्क है तो गम्भीर है। परापर और परापर दोनों शब्द भेदभान्निमूल हैं। यदि दुःख सक्षम है तो स्वाप्न और स्वाप्न नहीं है भप्ते यित्य सुन्दर प्राप्ति या स्वप्न है गमनिवरण नो। माता द्वय औ दूष पिलाती है "सका कारण यह नहीं है कि वह वय पर ग्रन्थ रखती है। स्वयं वारण तो वही है, कि उसके स्वप्न म दूष मर जाने से उस तो वारण होता है उसे उस करने के लिये — अथवा भवित्व म यही सका मूले प्यार करने सुन्दर या इस स्वाप्न सिद्धि के लिये ही — वह द्वय को दूष पिलाती है। उस द्वय का दूषर का भावित्वीतिकारी मानते हैं कि स्वयं अपने ही सुप्त के लिये भी क्यों न हो परन्तु मविष्य पर इष्टि राम कर एस नीतिवाचका पासन करना चाहिये कि लिमसे शूरीरी का मी सुप्त हो। उस यही "स मत मैं और चाराम के मत मैं भेद है। तथापि चाराम मत के अनुसार "स मत मैं मी यह माना जाता है कि मनुष्य केवल लियम सुगम्य स्वाप्न के दृश्य इम्बा एक पुरुष है उसमें हौम और क्षमता मैं हेतु लियस ने इस उठ का प्रतिशाळन किया है। परन्तु इस मत के अनुयायी अपने तो "सेवा" मैं ही और न वही बाहर ही अधिक मिलेगा। हौम के नीतिवाचकी इत्य उपपादि के प्रसिद्ध हानि पर अल्लर सरीरेण विडानों ने उसका उच्चन करने सिद्ध लिया कि मनुष्य-स्वभाव केवल स्वार्थी नहीं है स्वाप्न के समान ही उसमें उस से ही भूताया भैम, इच्छाता आड़ि सद्गुण मी दुःख भय मैं रहते हैं। "सद्विय किसी का स्वप्नहार या कम का नैतिक इष्टि से विचार करते समय केवल स्वाप्न या दूरव्याप्ति स्वाप्न की ओर ही ध्यान न कर मनुष्य-स्वभाव के दो स्वामात्रिक गुणों (भवात् स्वाप्न और पराय) की ओर नित्य ध्यान देना चाहिये। अब हम देखते हैं कि स्वाप्न सरीके कर जानकार मी अपने बचों की रक्षा के लिये ग्राण बन की हत्यार हो जाते हैं तब हम यह कभी नहीं कह सकते कि मनुष्य के दृश्य मैं प्रेम आर परोक्षारुद्धि और सद्गुण केवल स्वाप्न ही से उत्पन्न हुए हैं। "ससे सिद्ध हाता है कि उस-उपमा की परीक्षा क्षम दूरव्याप्ति स्वाप्न से बनना शाम की इष्टि से मी उपस्थित नहीं है। यह जात हमारे प्राचीन परिक्षों को मी अच्छी तरह से मास्तु भी कि भेदभान्न उसे लिय रखने के कारण लिय मनुष्य की इष्टि शुद्ध नहीं रहती है यह मनुष्य को दुःख परोक्षकार के नाम से करता है वह बहुत अपने ही इत्य के लिय करता है। महाराजा मैं दुर्लभम महाराज एक दो मारी मग्निक्लस हो गये हैं। वे रहते हैं कि वह उसने के लिये दो रोती हैं सात के इत्य के लिये; परन्तु दृश्य का मात्र दुःख

हाल का यह उच्च �Leviathan नामक ब्रह्म म लक्ष्मीत है तथा बट्टर का मत उच्च �Sermon on Human Nature नामक निदान मैं है। इस्तोत्रिष्ठ का दुर्लभक का सारांश पार्श्व ने अपन Diderot लियक ब्रह्म (Vol II Chap 3) म लिया है।

प्रकृष्ट मान के तो सत्य के लिये प्राण देने और राय लो देने की जात का दूर ही रही परन्तु “स पन्द्र के मत स यह भी निर्णय नहीं हो सकता, कि सत्य के लिये उच्च वीं शानि सहना चाहिये या नहीं। यदि कोई ठगार मनुष्य पराय के लिये प्राण देते हैं तो इस पन्द्रवाले पराचित् उसकी सुविधा कर दी गई परन्तु बल यह मौका स्वार्थ भवने ही उपर आ आयगा तब स्वार्थ पराय देना ही अ आम्रप उत्तेवाले ये लेख स्वार्थ भी और ही अधिक मुझें। ये स्मैग हास्त के समान परार्थ को एक प्रकारक बूढ़ाई स्वार्थ नहीं मानते जिन्होंने ये समझते हैं कि हम स्वार्थ आर पराय को तरान् में लोछ कर उनके तारतम्य अर्थात् उनकी न्यूनाभिकता का विचार करके वही चतुराई से अपने स्वार्थ का निश्चय किया करते हैं। अतएव ये लेख अपने मान को ‘उच्च या ‘ठब स्वार्थ (परन्तु ही तो स्वार्थ ही) कह कर उसकी घट्टर्मारते फिरते हैं—  
परन्तु ऐश्विय मूहरि ने क्या कहा है—

पते सम्पुद्धाः परार्थवटका स्वार्थाद् परिष्यग्य ये ।  
मामाभ्याद् परार्थमुद्यमभातः स्वार्थाऽविरोधेम दे ॥  
तेऽमी मामवरशक्षमाः परहित ह्यार्थाय निहन्ति ये ।  
ये हु प्रसिद्ध निरर्थकं परहितं ते के म जानीमहे ॥

जो अपने शाम को स्थान कर दुसरा का द्वित बताते हैं वे ही सभे सत्पुरुष हैं। स्वार्थ का न छोड़ कर यो स्मैग स्मैकहित के लिये प्रयत्न करते हैं वे पुरुष सामान्य हैं और अपने लाम के लिये । दुसरी का नुस्खान करते हैं वे नीच मनुष्य नहीं हैं उनका मनुष्याद्वाति रास्त समझना चाहिये । परन्तु एक प्रश्न के मनुष्य और भी है जो अकहित का निरयक नाश किया करते हैं— मात्रम नहीं पढ़ता कि एसे मनुष्यों को क्या नम दिया जाय ” (मूँ नी श ७८) “सी उह राष्ट्रम् वी उच्चम स्थिति का बचन करते समय कालिङ्ग ने भी कहा है—

स्वसूक्ष्मिरभिक्षाप गियमे छाकहेसो ।  
प्रतिदिनमपवाने वृक्षिरेवविचेष त

अथात् तू अपने मुख वी परवाह न करके स्मैकहित के लिये प्रतिदिन कष्ट उत्त्वया भरता है । अथवा ऐसी इति (पेणा) ही पही ह ” (शासु ६ ७) मूहरि या कालिङ्ग यह भानना नहीं चाहते थे कि कमयोगदात्म मैं स्वार्थ और पराय की स्वीकार करके उन दोनों दलों के तारतम्य भाव से भर्म-अभ्रम या कम भ्रम का निर्णय बता करना चाहिये सपापि परार्थ के लिये स्वार्थ छोड़ देनवाले पुरुषों को उद्देश्ये वे प्रथम स्थान दिया है वही नीति भी इहि स मी स्वार्थ है । अस पर इस पन्द्र के लोगों का पह कहना है कि परपरि तात्त्विक इहि गे पराय भवते हैं

---

अनन्ती य इस enlightened self interest कहत है । इसने enlightened  
का मानवता उत्तम या ‘उच्च राष्ट्र’ के किया है ।

मान कर यह कहता है कि इस संसार में स्वाध के लिया भीर दुःख नहीं। यात्रनस्य ‘स्वाध शम्भु के लक्ष (अपना) पा’ के आशार पर गिरावते हैं कि अप्यासमद्विष्ट से अपने एक ही आत्मा का, भवितव्य मात्र से समाप्ति दिले होता है। यह दिक्ष्यम पर उद्घाने स्वाध भीर परार्थ में रीतेवाले द्वैत के लक्ष की ओर ही को बाट टाला है। यात्रनस्य के उक्त मन्त्र भीर संभ्यात्मार्गीय मत पर अधिक विचार आगे लिया जायगा। यहाँ पर यात्रनस्य आदिकों के मतोंका द्वेषपात्र यही दिग्दण्डने के विषय लिया गया है कि सामान्य मनुष्या भी प्राहृति स्वाध विश्वक भवात् आत्मसुप्त-विद्युत् होती है – “स एक ही व्यत को योनि नहुत महस्त द कर, क्षवका इती एक व्यत को सब्या अपवान् रहित मान कर, हमारे प्राचीन प्रस्त्रारी ने उची बात से हौस्त के विन्द्र बुधरे भवुमान देसे निकासे हैं।

बत यह व्यत लिद हो चुकी कि मनुष्य का स्वमाव लैक्स स्वार्थमूलक भवात् उमोगुणी या यासीनी नहीं है – ऐसा कि भवेष प्रन्यवार हौस्त और क्रेष परिण्ठ ऐस्थियस कहते हैं – लिन्दु मनुष्य-स्वमाव में स्वाध के लाय ही परापकाखुदि की साधिक मनोवृत्ति मी अम से पार्व जाती है। अबात् यह लिद हो चुका कि परापकार केवल दूरकर्ती स्वार्थ नहीं है तब स्वार्थ अथात् स्वमुप और परार्थ भवात् दृक्षया का सुर, न दोना उत्ती पर समाधि राप कर काप-भवाय-स्वदरयाशास्त्र की रचना करने की आवश्यकता प्रवीत हुई। यही आधिमीतिकशास्त्रियों का दीरुरा बगं है। इस पक्ष में भी यह आधिमीतिक मत मान्य है कि स्वार्थ भीर परार्थ दोना यासारिक सुखवाचक है। यासारिक सुर के परे दुःख भी नहीं है। में केवल इतना ही है कि इन पन्थ के लोग स्वार्थमुद्दिके समान ही परार्थमुद्दिके भी स्वामार्थिक मानते हैं। इसमिये ऐ कहते हैं कि नीति का विचार करते समय स्वाध के समान परार्थ की भीर व्यान देना चाहिये। सामान्यतः स्वार्थ भीर परार्थ में विरोध उपम नहीं हाता इसमिय मनुष्य ये दुःख करता है वह सब मायः समाव के मी हित व्य होता है। यदि लिंगी ने बनसचय लिया तो उससे समख समाव व्य मी हित होता है। क्योंकि, अनेक व्यक्तियों के समझ को समाव करते हैं; और यह तब समाव व्य फ्लेक व्यक्ति दुरुरेकी इनि न कर अपना अपना समझते थे, तो उससे कुछ समाव का हित ही होगा। अतपव इस पन्थ के लोगों ने लिभित लिया है कि अपने सुर की भीर दुर्लभ करके यह कार्य मनुष्य लेकरित का दुःख कर सके, तो ऐसा करना उच्चा करुष्य होगा। परन्तु इस कथ के लोग परार्थ की भेषजों को स्वीकार नहीं करते लिन्दु ऐ यही कहते हैं कि इर समय अपनी दुःख के अनुसार इस व्यत का विचार करते रहो कि स्वार्थ लेन्द है या परार्थ। इसका परिणाम यह होता है कि बत स्वार्थ भीर परार्थ में विरोध उपम होता है तब “स प्रम का निर्णय करते समय बहुपा मनुष्य स्वार्थ ही भी भीर अधिक छक्क लाया करता है कि लोक सुर के लिये अपने का त्याग करना चाहिये। उगाहरणार्थ यदि स्वार्थ और परार्थ व्य एक समान

भीर ही रहता है। 'प्रात ए पिछले तो इस्वियम् से भी भाग ले, गये हैं। अग्रहणाध, मनुष्य की स्वाध्यात्मि तथा पराप्त्यात्मि भी दोन्हमय हाती है'—  
प्रकृत्याम्भगा दाया। इस गोकुम-न्यायद्वय (१२१८) के आधार पर इन्द्रसुव  
भाष्य म भीषणराजाय ने जो कुछ कहा है (मेरे न शा मा २३३) उन पर  
ईसा बतते हैं भानश्चिरि हिंसा है कि उन हमारे हृत्य में काष्ठ्यात्मि  
बास्त हाती है और हमका उसम दुःख हाता है तथा उस दुःख को हटाने के  
लिये हम भूम्य द्वारा पर ज्या भीर परोपकार किया करते हैं। भानश्चिरि की  
यही मुक्ति ग्राम-हमार कुप सन्यानमार्गीय प्रभो में पार जानी है। जिसमें यह  
मिठ बरन का प्रयत्न दीय पहला है कि मन दम स्वाभूत्य इन के कारण  
स्थान्य है। वरन्तु बायारात्म्यसापनिषद् (५, ४७) में यात्रव्यय और उन्हीं  
पर्नी मित्रियों का ग्र सुकार दा स्थानों पर है उनमें इसी मुनेकार का यत्योग  
एवं दूरी ही भङ्गन रीति के किया गया है। मित्रियों ने पृष्ठा हम भूमर कमे।  
इस प्रभ का उत्तर हेतु तम्य यात्रव्यय उनसे कहते हैं— 'ऐर्य दी! मू भपने  
पति का पति ही के किय नहीं आहमि। अन्तु वह भर्नी आमा के लिय उमे  
पालनी है। इसी तरह हम भपने पुत्र स उमर। इताथ भेन नहीं वरम भेन्तु हम  
एवं भपन ही किय अपर भेम बरत हैं। इत्य एवं भार इन्य वस्तुधि। के लिय  
मी यही स्याय उपयुक्त है। आम्नमन्तु आमाय तव द्य नरते— भरन आमा  
के द्यन्य ही तव पाप द्यम लिय द्यगत है। भीर या इन तरह तप भेन जान  
स्थान है तो वया हृत्या त त पहले यह इनने का मरन नहीं हरना जा। ऐसे  
कि आमा (हम) द्या है। यह बहु वर तन म यात्रा क्य न यही यत्या  
किया है। आमा का नर द्यन्य भेन्त्या माना। त इस भेनाय— भपन।

तरन रहे थे तो ये भासा बैठे हैं कि उमस लिये मैं मैं दि-  
खा जाने वाले थे एवं वे इन उमसों के अन्तराल पर भासा है अपेक्षा  
मैले के पद्मन द्वारे पर तो उन्होंने भासमय द्वा पद्म लिया है और  
मैले तो दराय न कर ही सकते हैं इन नहीं द्वारा यहाँका वा-  
दहाँ विद्युत लियेगा है जब सा दूर ही है इस दूर तक नहीं ले  
सकते ही हैं कि इन द्वारा लिये दूर भासमय द्वा दूर किये हैं हैं जै-  
सा दूर ही है एवं दूर भोग दूर दूर दूर दूर दूर दूर

What is it of natural effect in the natural species of  
elk? Is All itself to be lost & alternate to identity & se-  
tionality yours? I say all reason And I say no  
thing is of a fit character to be done "we  
are engaged in a war". Of the D. P. I. I. says if  
it is to be preserved it must be effected

तथापि परम सीमा की धूम नीति की ओर न देख कर हमें सिर्फ़ यही निष्प्रद  
करना है कि साधारण व्यावहार में 'सामान्य मनुष्यों को लेहे चढ़ाना चाहिये।  
और इसप्रिये हम उच्च स्वार्थ को को अप्रस्थान भेते हैं यही व्यावहारिक व्यवहार  
के उचित है।" \* परन्तु हमारी समझ के अनुसार "ए सुकिलाव ते कुछ अम  
नहीं है। व्यावार में किन्तु माप सीढ़ी नित्य उपयोग में जाये जाते हैं उनमें योद्धा  
गुरुत फ़र रहता ही है क्यूँ क्या यही कारण करता कर यहि प्रमाणभूत सरकारी माप  
सीढ़ी में भी कुछ न्यूनालिका रखी जाय तो क्या उनके लाटे पन के किये हम  
अधिकारियों के दोष नहीं होंगे। इसी न्याय के उपयोग क्षमयोगशास्त्र में भी  
किया जा सकता है। नीति वर्म के पृष्ठ धूम और नित्य स्वरूप का शास्त्रीय निष्प्रद  
करने के किये ही नीतिशास्त्र की प्रवृत्ति दुर्बल है और एक काम को यहि नीतिशास्त्र  
नहीं करेगा तो हम उचित निष्प्रद कर उठते हैं। सिविक का यह क्षम उत्पन्न  
है कि उच्च स्वार्थ सामान्य मनुष्यों का मार्ग है। मदहरि का मत भी ऐसा  
ही है। परन्तु यहि इस चार जी कोड की जाव कि परकार की नीतिशास्त्र के  
किये मैं उक्त सामान्य स्वेच्छा जी क्य क्या मत है तो यह मास्तु होगा, कि  
सिविक ने उच्च स्वाय को क्ये महसूल दिया है यह भूल है। क्योंकि साधारण  
ज्ञेय भी यही उठते हैं कि निष्प्रद नीति के तथा सत्युपर्दो के आचरण के किये  
यह कामचरमक मार्ग बेचल्कर नहीं है। इसी चार का वर्णन मर्यादित में उक्त  
स्वेच्छा में किया है।

आधिकोरिक सुप्रवादियों के तीन कों का अब उक्त वर्णन दिया गया -  
(१) क्षम स्वार्थी (२) कूर्त्तार्थी स्वार्थी और (३) उम्मदारी अर्थात् उच्च  
स्वार्थी। इन तीन क्षमा के मुख्य दोष मी उद्यम किये गये हैं परन्तु "उन्हें ही से  
उच्च आधिकोरिक पन्थों में भेद पाय पाह है - किसम कुछ सारिक तथा आधिकोरिक परिषदों  
ने यह प्रतिपादन किया है कि एक ही मनुष्य के सुपर को न केवल कर - किन्तु  
उच्च मनुष्यवादि के आधिकोरिक सुपर कुर्त्ता के वारतम्य को केवल कर ही - न किंतु  
काम अकार का निष्प्रद करना चाहिये। एक ही कृत्व से एक ही समय म समाच  
दे या सासार के सब ज्ञानों को सुपर होना असम्भव है। कोइ एक चार जिसी को  
सुमाराह साधन होती है तो वही वृत्ते को कुराकायक हो जाती है। परन्तु

Sidgwick's *Methods of Ethics* Book I Chap II § 2 pp  
18-29 also Book IV Chap IV § 3 p 474 पहली सीधा पन्थ इह सिविक  
का निष्प्रद हमारा नहीं है। सामान्य शूश्रीकृति अवृत्त कांक शाय इसी पन्थ के महूपार्थी  
है। इस Common sense in reality उठते हैं।

\* वन्यम मिस आदि ए जात इह पन्थ के अनुका है। Greatest good of the  
greatest number का इसमें अधिकारी होये का अधिक सुन्दर यह मानवान्तर किया है।

प्रमु मान है, तो सत्य के लिये प्रयत्न और राय देने की जरु तो दूर ही रही परन्तु इस पथ के जरु से यह भी निषय नहीं हा सज्जा दि सत्य के लिये उम्म और हानि सहना चाहिये था नहीं। परि होइ चार मनुष्य परापु के लिये ग्राण हैं तो उस पर्यवाले काचित् न्यूनी सुनि कर दो परन्तु जब यह मात्रा स्वयं भरने ही चर आ जायगा तब स्वाय परापु ज्ञा ही तो आभय करनवाले ये स्वयं स्वाय भी आर ही अकिञ्चन हुएगे। ये सोग, हँप्प के समान परापु का एक प्रमाण दूरग्री स्वाय नहीं भानते ज्ञिनु मे समझते हैं कि हम स्वाय और परापु का उपर्युक्त में दोष भर उनक तासतम्य व्यापक उनकी न्यूनाविक्षा का विचार करक वही चतुराइ से अपने स्वाय का निषय दिया फरत है। अतएव ये सोग अपने भाग का 'उग्राच चा 'ठष्ट स्वाय ( परन्तु हो तो स्वाय ही ) कह कर उसी बार मारते शिरते हैं ॥० परन्तु ऐसिये ज्ञानहरि ने क्या कहा है -

पत सत्युरपा: परार्थपदकाः स्वायान् परित्यग्य दे ।  
मामास्यात्तु परार्थमुपममत् स्वायाऽविरोधेन दे ॥  
तेऽमी मात्रदराक्षमा परहित स्वार्थाप निष्ठन्ति य ।  
ये तु ब्रान्ति निरयम परहिते क त जानीमहे ॥

“ तो अपने आम को स्वयं पर दुमरी तो जिस करते हैं वही सबे सत्युरप है। स्वाय तो न होइ कर दो आग ल्येझैत के लिय प्रयत्न करते हैं वह पुराय सामान्य है भार अपने आम के लिय । दुमरी का तुम्हान परत है वह नीच मनुष्य नहीं है उनसे मनुष्याहनि राम समझना चाहिये । परन्तु एक प्रश्न के मनुष्य भार भी हैं ये ल्येझैत का निरपेक्ष नाय दिया फरते हैं - मात्रम नहीं पक्का दि एम मनुष्यों को क्या ‘अम दिया जाय ” ( भृ ती श ३६ ) भी तरह राम मन भी उन्न दियनि का एक करते समय कालिकाम ने भी कहा है -

स्वसुन्ननिरभिक्षापं दियम साङ्घमा ।  
प्रतिदिवमधग्न ने कृतिरपि धर ॥

भगवान् त् भगवने मुग भी सपाह न करक सारहित के लिय दर्शनिन वा उद्दाया करता है सप्ता तीर्थ इनि ( फेमा ) ही पर्ही ८ ( शान ५० ) जू दि या क्षमित्त यह उनना नहीं चाहते थे कि ब्रह्मोपग्राम में स्वाय और परापु का स्वधार करक उन दलों तालों के तालनम्य भाव में एम भगवन या ब्रह्म उम का निषय के बरना चाहिये नकानि परापु के लिये स्वाय छार लेन्द्राके पुरांगी की उन्हें भी प्रमम व्यन दिया है वही जी त भी दृष्टि भी स्वारप है । इस पर एस क्षम व पर्मा का यह कहना है कि “ परि तन्मित इहि म परापु भग है

अदेवी म इस ennobled self interest कहत ॥ इसन enlightened का सामान्य उत्तम या 'उत्तम राम' कहित ॥

यदि मुद्र में वय मिळने पर अधिकाद्य लोगों का भक्ति सुल होना सम्भव है तो भीप्रथा पितामह को भी मार कर मुद्र करना सेवा कर्तव्य है। इसमें को तो यह उपेश बहुत सीधा और सहज तीव्र पड़ता है। परन्तु कुछ विचार करने पर इसकी अपूरणता और अहंकर समझ में आ जाती है। पहले यही सोचिय, कि अधिक यानी किलना! पाष्ठवों की सात अष्टोहिणियों दी और लोरों की स्पाइ। "सभिये यदि पाष्ठवा भी हार दुई होती तो लोरों को सुन दुआ होता। क्या उठी सुकि वार से पाष्ठवों का पक्ष अन्याय वहा था है? मारतीय मुद्र ही की बात ज्ञेन कहो। और भी भनेक अक्षर एस है कि वहाँ नीति का निर्णय क्षमता सम्माने से कर लेना वही भारी भूल है। अष्टव्यार में सब ज्ञेन यही समझते हैं कि लागो दुर्घटों को सुन दोने की अपेक्षा एक ही उच्चता को बिल्डे सुन हो वही सच्च सत्ताय है।" ऐसे समझ को सब ज्ञानने के लिये एक ही उच्चता के सुन का अवर दुर्घटों के सुन वी अपेक्षा अधिक मूर्खवान् मानना पड़ेगा और ऐसा करने पर अधिकाद्य लोगों का अधिक जाग्र नुरगवाय (जो जि नीतिमत्ता की परीक्षा का प्रमाण लाभन माना गया है) चिदनन्त उतना ही शिकिष्ट हो जायगा। इसकिये वहना पड़ता है कि ऐसे सम्मान की भूनालिकता का नीतिमत्ता के साथ काँ निष्पत्ति नहीं हो सकता। यह बात भी अपन मै रखने चोक्ह है कि कभी जो बात लाभारप्त लोगों को मुर्खायक मालम होती है वही बात जिसी वृक्षर्थी पुरुष को परिणाम में उच्च के लिये हानिप्रद दीप पड़ती है। उत्तरणार्थ सारेनीह और न्यासमर्तीह का ही छींविये। हानों अपने अपने मरत का परिणाम में क्षयाणकारक समझ कर ही अपने देहक्षुओं को उसका उपेश रखते हैं परन्तु उनके देहक्षुओं ने इन्हे समाव के उत्तु समान कर मौत ही सच्च ही। इस विषय में अधिकाद्य लोगों का अधिक सुन अर्ती उच्च के अनुचार न्यू समय लेना ने और उनके नेतृत्वों ने मिल कर आचरण दिया था। परन्तु क्षय अस समय हम पर नहीं कर लक्ष्यते, कि उन लोगों का बहाव न्यायमुक्त था। कराय यदि अधिकाद्य लोगों के अधिक सुन का ही उच्च मर के लिये नीति का मूर्खायक मान स लो मै उक्ते हैं प्रभ हम नहीं हो सकते, कि लाला-करोंगे मनुष्यों का सुन लियम है। उसका निष्पत्ति कान क्षे बहते हैं। सापारण अपनी पर निष्पत्ति करने का यह काम उन्हीं लेना जो सीधे दिया जा सकता है कि लिनक फरे मै सुन हुए का यम उपमित हो। परन्तु लाभारप्त अक्षर मै इतना प्रयत्न करने की काई आवश्यकता ही नहीं रहती। और उत्तर दियेप द्विनार्थ का और समय आता है तब सापारण मनुष्यों मै यह जनने की आसानी शक्ति नहीं रहती कि इसाए सुन रिस जान म है। एकी अवस्था मै यदि इन सापारण और अधिक लोगों के हाथ नीति यह अनेक तत्त्व अधिकाद्य लोगों का अधिक लूप एवं जाप तो वही मपानन परिणाम हमा जा सकता है हाथ मै मर्गाण द्वन स दला है। यह जान उत्तर देना ग्नाहरवों (ग्नाहर्वी भीत आहर्व) से

ऐसे पञ्च को प्रकाश नापसन्न होने के पश्चात कोई प्रकाश ही का त्याप नहीं कहता, उसी तरह यदि जिसी विधिह सम्प्रकाश को भर्द वह अप्रकाशक मालूम न हो तो वर्षयोगशास्त्र में भी वह नहीं कहा जा सकता कि वह सभी लोगों को इतिवाह नहीं है। और, इसी लिये 'सब लोगों का सुभ' इन शब्दों का अर्थ भी 'अधिकाश लोगों का अधिक सुप्त' कहना पढ़ता है। इस फल के मत का बाराह यह है कि किसके अधिकाश लोगों का अधिक सुप्त हो उसी बात को नीति भी इसी से उचित और माझ मानना चाहिये और उसी प्रकार का आचरण करना "स सार में मनुष्य का उच्चा कर्तव्य है।" अधिमौतिक सुखवानियों का उक्त तत्त्व अत्यालिङ्क पन्थ का महूर है। यदि यह कहा जाय तो मैं कोई आपत्ति नहीं कि आव्यालिङ्कादिया ने ही "स तत्त्व का अस्त्यन्त प्रार्थना व्याल में हॉट निषाद था। और भें "ठना ही है कि अब आधिमौतिकादिया ने उसका एक विधिह रीति से उपयोग किया है। तुक्ताम महामारु ने कहा है कि सत्त्वानों भी विभूतिया क्षेत्र अप्सर के क्षयाण के लिये है—वे लोग परोपकार करने में अपने द्वारी को कष्ट लिया करते हैं। अर्थात् इस तत्त्व की सचाई भार योग्यता के लिये मैं कुछ भी संकेत नहीं हूँ। स्वयं अमिद्दगतव्याकृति में ही पूर्खयोगसुरुक्त अपात् वर्षयोगसुरुक्त इनी पुरुषों के लोगों का बयन करते हुए, यह बात दो चर सद्ग कही गयी है कि वे सेवा उच्चमूलिते रखा अर्थात् सब प्राणियों का क्षयाण करने ही में निमाम रहा करते हैं (गी ६ २५ १२ ४)। इस बात का पता दुसरे प्रकार म लिये हुए महामारु के यद्यभूतहित्यत्वत्व उत् सत्यमिति चारण बचन से स्पष्टतया चलता है कि वर्ष-अवधि का निर्णय करने के लिये हमारे धारकार "स तत्त्व की हमेशा व्याज में रखते थे। परन्तु हमारे धारकारों के क्षमानुसार सर्वभूतहितुं को इनी पुरुषों के आचरण का बाध अपन समझ कर वर्ष-अवधि का निर्णय करने के जिसी विधेय प्रसंग पर खूबसूरु से उस तत्त्व का उपयोग करना एक बात है। और उसी दो नीतिमत्त्व का उर्बन्ध मान कर—पूर्णी जिसी बात पर विचार न करके—केवल इसी नीति पर नीतिशास्त्र का मध्य मान निमाम करना बहुत मिलता है। आधिमौतिक परिच्छ दुसरे मार्ग को ल्लीकार करके प्रतिपादन करते हैं कि नीतिशास्त्र का अभ्यास-विद्या से कुछ भी लम्बाय नहीं है। इसकिये अब वह ऐसा चाहिये कि उनका कहना वही तत् पुष्टिशास्त्र है। तुप्त और दिति जेनी शब्दों के अर्थ में गहुत भेद है। परन्तु यदि इस में पर मी एवान न है भीर 'तत्त्वभूत' का अर्थ अधिकाश लोगों का अधिक सुख मान लै और काय-अप्रकाश-निर्णय के काम में वेदन इसी तत्त्व का उपयोग कर तो पहल ताप रीत्य पौड़गा कि पहीं वही अनेक अटिनार्पणी उपराम हासी है। मान लीजिये कि इत् तत्त्व का कोई आधिमौतिक परिचर भजुन को उपयोग देने भालू, तो वह भक्तुन से क्या कहता? पहीं न कि

अधिक स्वेगो के अधिक मुख वाले नीतिवर्त्त से ज्ञान छलने का नहीं। क्योंकि, यद्यपि बुद्ध देने से द्वारा वह गई यह बाहरी परिणाम अधिक मुख्यामुख्य भा तव्यापि इतने ही से बुद्ध देना न्याय हो नहीं सकता ।० दान करने की अपना धर्म ( धर्मात्म ) समझ कर निष्ठाम बुद्ध से डान करना और श्रीर्ति के लिये तथा भव्य फ़ज़ भी आशा से डान करना इन से हृत्यै का बाहरी परिणाम यद्यपि एक तो हो तथापि अभिमद्वागमाद्विता मे पहसु डान को साखिक और दूसरे को राम्भ कहा है ( गी २७ २ २१ ) । और यह भी कहा गया है कि यदि वही डान कुपादो को दिया जाय तो वह सामर्थ भव्यता गर्व है । यदि किसी गरीब ने एक आष घर्म-कार्य के लिये जार पैस दिये और किसी अमीर ने उसी के लिये सौ रुपये दिये, तो ज्ञेगों म दोनों की नैतिक योग्यता एक ही समझी जाती । परम्परा यदि ऐवज़ 'अधिकार्य स्वेगो का अधिक सुप्र निष्ठम है ' तभी बाहरी साधनद्वारा विचार किया जाय तो ये दोनों डान नैतिक हाहि से समान योग्यता के नहीं छोड़े जा सकते । 'अधिकार्य स्वेगो का अधिक सुप्र इस अधिमौसिक नीति तत्त्व मे जो बहुत बद्ध ढोप है वह यही है जि इसमे कर्ता के मन के हेतु या गाव का कुछ भी विचार नहीं किया जाता । और यदि अन्तात्म हेतु पर व्यान द तो 'स प्रतिष्ठा से विरोध रहता हो जाता है कि अधिकार्य स्वेगो का अधिक सुप्र ही नीतिमत्ता की एकमात्र क्षमीती है । कायदा सानूल कानेबाई समझ अनेक स्वकियों के सम्मूह से कभी होती है । इसलिये उक मठ के भगुसार इस सभा के कानाये हुए कावौं या निवामा भी योग्यता भव्यता पर विचार करते समय वह बनने की कुछ आवस्कहता ही नहीं कि समाजको के अन्तात्मरणों मे जैवा मूल या - हम स्वेगो को अपना निर्णय बेवज़ 'त बाहरी विचार के आधार पर कर देता जाहिये कि 'नके कावण से अभिन्नों की अभिक मुख ही स्वेग या नहीं । परम्परा उक उदाहरण से यह जाफ जाफ व्यान मे आ रहते हैं कि सभी रक्तनी मैं यह व्याय उपयुक्त हो नहीं सकता । हमारा यह कहना नहीं है कि अधिकार्य स्वेगो का अधिक सुप्र या इति - जाव तत्त्व निष्ठुर ही निष्पदोग्य है । बेवज़ जाव परिषामी का विचार करने के लिये उत्तरो कर दूसरा तत्त्व रही नहीं मिलेगा । परन्तु हमारा यह कथन है कि यह नीति की दृष्टि से किसी बात की न्याय अवधार अन्याय कहना हो दून बेवज़ जाव परिषामी को बाज़े से काम नहीं बढ़ा सकता । उच्चके लिये और भी कई जाता पर विचार करना पड़ता है । अत्रप्रब नीतिमत्ता का निश्चय करने के लिये पूज्यतया इसी तत्त्व पर अवध्यन्त नहीं रह लेते । इसलिये इससे भी अधिक निर्धित भीर निर्मेय तत्त्व का द्येव निवामा आवश्यक है । गीता मे यह यह कहा गया है, कि क्षम भी अपेक्षा से बुद्धि भूष्य है । ( गी २ ४९ ) उत्तरा भी यही अभिप्राय है । यदि बेवज़ जाव क्षमों पर व्यान है तो वे बुद्धा भासक हैंते हैं । जान-स्पृ

यह उदाहरण चाँक्य दाम वर्त की *The Ethical Problem* ( pp 58-59 and Ed ) नामक पुस्तक से किया है ।

मर्यादा में हो जाती है। इस उच्चर में कुछ चरन नहीं कि नीतिचर्म का इमार तत्त्व शुद्ध और सच्च है मूल लोगों ने उसका उपयोग किया तो हम क्या कर सकते हैं। कारण यह है कि यद्यपि तत्त्व शुद्ध और सच्च हो, तथापि उसका उपयोग करने के अधिकारी नैन हैं, वे उनका उपयोग कैवल और केवल करते हैं त्यारी घटा भी मर्यादा मैं, उसी तत्त्व के साथ देनी चाहिये। नहीं तो समझ है, कि हम अपने को धारकार्य के उपर नीति निषय करने मैं समर्थ मान कर अपने का अनुभव करते हैं।

वैष्णव सत्य की इसि से नीति का उचित निषय नहीं हो सकता और उस घटा का निषय करने के लिये कोई भी बाहरी साधन नहीं कि अधिकार्य लोगों का अधिक सुन लिए मैं है। इन तो आखेंपों के सिवा उस पन्थ पर भास भी कैसे भड़े आखेंपों लिये जा सकते हैं। कैसे विचार करने पर यह अपने आप ही मात्र हो अवश्य कि लिखी काम के केवल बाहरी परिणाम से ही उसका स्वात्मक अवश्यकता अस्याद्य नहीं बहुत असम्भव हो जाता है। हम लोग किसी पट्टी को उसके द्वैर दीक्षु उपर्युक्त उत्तराने न सकते तो पर, अन्यथा या ग्राहक कहा करते हैं। परन्तु इसी नीति का उपयोग मनुष्य के कामों के उपर्युक्त में करने के पश्चे हमें पर जल अवश्य अपना मैं रखनी चाहिये कि मनुष्य पट्टी के समान को यह नहीं है। यह बात सच है कि सब सत्यवाद अनुष्ठान कल्याणाद प्रयत्न किया करते हैं। परन्तु उससे यह उल्लंग अनुमान निष्पत्ति प्रवक्त नहीं किया जा सकता कि जो भी अपना चाहिये कि मनुष्यका अन्तर्भूत रूप है। यह और मनुष्य मैं यहि कुछ में है तो वही कि एक हृष्यकीन है भार दूसरा हृष्यकीन है आर न्सी लिये अपने से या भूल से लिये गये अपराह्न को बायें मैं समय मानते हैं। तात्पर्य कोइ बास अच्छा है या बुरा भूल है या अपना नीति का है अवश्य अनीति का अस्यादि जाती का सच्चा निषय नमूना काम के द्वेष बाहरी पर या परिणाम - अपार वह अधिकार्य लोगों को अधिक सुन लेगा कि नहीं उठने ही - ये नहीं किया जा सकता। उर्माने साथ साथ यह भी उल्लंग चाहिये कि उस काम को करनेवाले की बुद्धि बालना पा हेतु किसा है। एक समय की जल है कि अमेरिका के एक बड़ा दूहर मैं सब लोगों के सुन और उपराग के लिये दूमों की बहुत आवश्यकता थी। परन्तु सरकारी अधिकारियों की भाव याप्ति किया दूमों नहीं ज्ञान द्वा सहजी थी। सरकारी महारी मिल्ने मैं बहुत चौरी हु। तब दूमों के अपराह्नापक ने अधिकारियों का दिक्षित कर उस ही मजही ले ली। दूमों का गर भार जलसे दूहर के सब सेंगों की बुझीला और फलपन दुआ। कुछ लिंगों के बड़े दिक्षित की जान प्राप्त हो गए; और उस अपराह्नापक पर जीतगाड़ी मुकदमा लगाया गया। वहीं चूरी (पचासठ) का पक्षम नहीं हुआ इसनिये बहुती भूरी जुरी गए। बहुती ज्यूरी ने अपराह्नापक का दाती ठहराया। अपराह्न नमूना लग गई। इन उल्लंग मैं

गीता में यह अत्यन्त गया है कि यदि एक ही कर्मकार्य के लिये भी मनुष्य कर्त्तव्य अनप्रबल नहीं, तो भी—अयत दोनों के बीच का प्रस्तुतान होने पर भी—दोनों की दुखिया माव की मिथ्या के कारण एक दान सार्विक और पूर्वरा राज्य या दामस मी ही हो सकता है। इस कियत्य पर भी अधिक विचार पूरी और परिमी मर्ती की दृष्टि वाही परिणाम पर ही अवश्यिक रहने कारण आधिमौतिक मुद्रणाड़ की भेद भेणी भी नीति निषाय के काम में ऐसी अपूर्ण सिद्ध हो जाती है और उसे चिन्द रहने के लिये हमारी समझ में मिल जाइय की दुर्किं काफी है।

‘अधिकार्य दोगों का अधिक मुन्य—जाले आधिमौतिक पन्थ में उन्हें म्हणी दोष यह है कि उसमें कर्ता की दुखिया माव का कुछ मी विचार नहीं किया जाता। मिल साहृ के लेप्र ही से पह साश्वत्या सिद्ध हो जाता है कि उत्तर (मिल) की दुर्किं को उत्तर मान कर भी उत्तर तत्त्व का उपरोग सब स्पानों पर एक उमान नहीं किया जा सकता। क्यांति वह लेप्र जात्य फल के अनुचार नीति का निषाय करता है अर्थात् उसका उपरोग मिली विदेष मयाग के भीतर ही किया जा सकता है; पा यी कहिय कि वह एकत्रितीय है। इसक सिवा “उ मत पर एक और मी आलेप किया जा सकता है कि स्वार्थ की अपेक्षा परार्थ की और इसे भेद है।—“उ प्रम की दुर्ज भी उपराति न उत्तम कर ये लेप्र उस तत्त्व को सब मान किया करते हैं। कठ यह होता है कि उत्तर स्वार्थ की लेप्र दृष्टि होने ज्ञाती है। यहि स्वार्थ आर परार्थ दोनों बात मनुष्य के रूप से ही रहती है अर्थात् स्वामयित्व है; तो प्रम होता है कि मैं स्वार्थ की अपेक्षा स्पेक्षा के मुन्य को अधिके महत्वपूर्ण क्या कमर्हें! यह उत्तर तो सन्तोषदायक हो ही नहीं सकता ति तुम अधिकार्य दोगों के अधिक मुन्य को देत बर ऐसा करो। कर्वाहि मम प्रभ ही यह है कि मैं अधिकार्य दोगों के अधिक मुन्य के लिये यन क्या पर्हें! पह जात सब है कि अन्य दोगों के द्वित में आपना भी द्वित सम्भिक्त रहता है। इसमिय पह प्रभ हमेशा नहीं उड़ता परन्तु आधिमौतिक पाख के उक्त कीसों पर या दी अपेक्षा इत्त भन्तिम (पीभे) कर्म मैं यही कियेसता है कि इस आधिमौतिक पाख के लेप्र पह मानते हैं कि उत्तर स्वार्थ आर परार्थ भी कियेष पहार ही जाय तर उत्तर स्वार्थ का स्पान बरके परार्थ साखन ही के लिये यान बरा जान्य। उत्तर पर्य की उक्त दिये यता की दुर्ज भी उपराति नहीं ही गई है। उत्तर अन्यव का और एक किङ्गान क्षाधि भीति परिष्ठत का ज्ञान भक्तिपूर्ण रहा। उसने एवे कीर्ति मैं उत्तर मनुष्य तर तत्त्व नीति प्राणियों के व्यवहारी का उप निरीक्षण किया; आर भन्न मैं उसने पह मिद्दन्त निषाय मि उत्तर ति उत्तर कीन से उत्तर मनुष्या उक्त मैं पहीं गुण अधिका पित इन्ता आर प्रम इन्ता वर्ता ना रहा है कि देव ग्रन्थ अपन ही नमान अपनी तन्त्राना और गीता की रक्षा बरत है भर सिनी ही गुण न भेत्ते एवं भपने

हिन्दू-मात्र इत्याहि वाद कर्मों के होते हुए मीं 'पेन में कोशामि' का मान्यते रखना असम्भव नहीं है परन्तु यहि हृष्य का मात्र युद्ध हो तो वाद कर्मों का कुछ भी महत्त्व नहीं रहता। सुउमा के मुहीं मर चावड़ सरील अल्पत अरप वाद कर्मों की आर्थिक और नैतिक योग्यता अभिकाश छोगा को अधिक सुन्दर हेनेवाले हवासों मन अनाव के कालर ही समझी जाती है। इसी सिये प्रतिदू अमन तज्ज्ञानी कल्याण कर्म के वाद और इस्य परिणामों के तारतम्य विचार को गीण माना है। पर नीतिषाज के अपने विवेचन का प्रारम्भ कर्ता की युद्ध कुदि (युद्ध मात्र) ही से किया है। यह नहीं उमरना आहिये कि आधिमौलिक सुक्ष्मवाद की यह न्यूनता बड़े बड़े आधिमौलिक आर्थिक आर्थिक के एकान में नहीं आर्थिक। हृष्मनों स्वप्न लिखा है—पर कि मनुष्य का घम (कर्म या कर्म) ही उसके शील का शालक है और "सी लिये जब छोगों में कही नीतिमत्ता का वर्णक भी माना जाता है तब ऐसा व्याप्त परिणामों ही से उस कर्म को प्राप्तिनीय या गहरायीय मान सेना असम्भव है। यह बात मिल साहृदय को मीं मान्य है कि विसी कर्मों की नीतिमत्ता कर्ता के हेतुपर मधार् यह उसे किस कुदि या मात्र से करता है उस पूर्णतया अवश्यमित रहती है। परन्तु अपने पक्षमण्डन के लिये मिल साहृदय ने यह कुड़िकि मिहार्फ है कि जब उस वाद कर्मों में कां में नहीं होता तब उस कर्म भी नीतिमत्ता में कुछ फर्क नहीं हो सकता। आहे कला के मन में उस काम को करने की वासना किसी मात्र है हुर्र हो" ॥६॥ मिल की उस कुड़िकि में साप्ताधिक आपाह दीय पढ़ता है क्योंकि कुदि या मात्र में मिलता होने के कारण यथापि दो कर्म दीक्षने में एक ही से हीं तो मीं वे तत्त्वतः एक योग्यता के कर्मी नहीं हो जाते। और इसी सिय मिल साहृदय की कही हु— जब लक (वाद) कर्मों में भैं नहीं होता इत्याहि मयाडा की पीन साहृदय निर्मल करता है। गीता का मीं पहुँच मिलपाय है। इलका कारण

Kant's Theory of Ethics (trans by Abbott) 6th Ed. p 6

† "For as actions are objects of our moral sentiment, so far only as they are indications of the internal character passions and affections, it is impossible that they can give rise either to praise or blame, where they proceed not from these principles, but are derived altogether from external objects" — Hume's Inquiry concerning Human Understanding Section VIII Part II (p 368 of Hume's Essays — The World Library Edition)

§ Morality of the action depends entirely upon the intention, that is, upon what the agent wills to do. But the motive, that is, the feeling which makes him will so to do when makes no difference in the act, makes none in the morality" Mill's Utilitarianism p 27

Green's Prolegomena to Ethics § 292 note p 348. 5th Cheaper Edition

तुभा है या उसी के साथ उनम स्वाय द्विंदि द्वा उत्तरता दूरदृष्टि तक चला, पूर्ति भमा इन्द्रियनिपद्ध इत्याति अनेक भन्य सात्त्विक उद्गुणों की मौद्रिक दूर है। अब उस पर विचार निया जाता है तब उहना पढ़ता है जि अन्य सब सर्वेष प्राणियों की अपेक्षा मनुष्या म सभी उद्गुणों का उत्कर्ष तुझा है। इन सब सात्त्विक गुणों के उम्ह की 'मनुष्यत्व' नाम दीनिय। अब यह भाल ठिक हो जुही कि परोपकार की अपेक्षा मनुष्यत्व को हम भेष मानते हैं। ऐसी अवस्था मैं नियी कर्म की शोधता अव्याख्यता या नीतिमत्ता का निर्णय करने के लिये उठ कर्म की परीक्षा केवल परोपकार ही की दृष्टि से नहीं भी जा सकती—अब उस काम भी परीक्षा मनुष्यत्व की दृष्टिसे—भर्त्ता भनुष्यत्वमि म अन्य प्राणियों की अपेक्षा किन किन गुणों का उत्कर्ष तुजा है उन सब का व्याज राज कर ही—की ज्ञानी चाहिये। अनेके परोपकार को व्याज मैं रख कर कुछ न कुछ निर्णय कर लेने के बासे भव तो यही मानना पड़ेगा कि ये कर्म सब मनुष्या के 'मनुष्यत्व' या 'मनुष्यपन' को शोर्म हैं या किस कर्म से 'मनुष्यत्व' की दृष्टि हो वही सर्वकर्म और वही नीति कर्म है। यहि एक ब्रह्म उस व्याक द्विंदि को स्वीकार कर किया जाय तो अधिकाद लेगों का अधिक सुन उठ द्वाहि का एक अस्फल अद्य मान हो जायगा—इस मत मैं कोई स्वतन्त्र महात्म नहीं यह जायगा कि सब कर्मों के कर्म अकर्म या नीतिमत्ता का विचार कैकड़ अधिकाद लेगों का अधिक सुन तत्त्व के अनुसार निया ज्ञाना चाहिये—भौंर तब तो कर्म भर्त्ता का निर्णय करने के लिये मनुष्यत्व ही का विचार करना अवश्य होगा। और ब्रह्म हम इस जात का दूसर विचार करने लेंगे कि 'मनुष्यपन' या मनुष्यत्व का यथार्थ स्वरूप क्या है तब हमारे मन मैं याङ्गस्वरूप के अनुष्ठान आज्ञा वा भेरे ब्राह्मणः यह किम्य आप ही आप उपस्थित हो जायगा। नीतिशास्त्र का विवेचन करनेवाले एक अमेरिकन प्रस्त्रकार ने सभुजयामङ्ग मनुष्य के अम तो ही आज्ञा कहा है।

उपर्युक्त विवेचन से वह मालूम हो जायगा कि ऐकल स्थाय या अपनी ही किम्य सुन भी कनिह भेणी से कहते जात वा बेग्रातिक सुनवातिया को मैं परोपकार की भेणी तक और अन्त मैं मनुष्यत्व की भेणी तक भैसे भाना पढ़ता है। परन्तु मनुष्यत्व के किम्य मैं भी आधिमौत्तकात्मियों के मन मैं प्राय सब लेगों के जाग विप्रय-सुन्नत ही की बदला प्रधान होती है। भद्रएव आधिमौत्तकात्मियों की यह अन्तिम भेणी मी—किसमे अन्तर्जाति का कुछ विचार नहीं किया जाता—हमारे अप्यरमणात्मी शास्त्रारों के मठानुसार निर्णय नहीं है। यथापि इस जात की साधारण तथा मान मी से कि मनुष्य का सब प्रयत्न सुन्न प्राप्ति तथा तुम्हनिकारण के ही लिये तुझा करता है तथापि जब तक पहौड़े उस जात का निर्णय न हो जाय कि सुन किसी है—आधिमौत्तिक भवात् जातारिक विप्रयमौग ही मैं है अपना और किन मैं है—तब तक कर्म भी आधिमौत्तिक पन प्राप्त नहीं जामस्ता या उसका। इस

क्षमा की यासमन्त्र सहायता करते हैं तब हम कह सकते हैं कि सभीक सुषिद्धि के भान्तिक का यही — परस्पर-सहायता का गुण — प्रभाव नियम है। सभीक सुषिद्धि में यह नियम पहले पहले सन्तानोत्पादक और सन्तान के स्वरूप-साधन के बारे में भी प्रमाण है। ऐसे अस्तन्त सूझ जीवों की सुषिद्धि का ऐसों से — कि इसमें जीव पुरुष का कुछ भेत नहीं है — ज्ञात होगा — कि एक जीव की डेह कहते कहते पृथक जाती है और उससे ने जीड़े का बास है। अर्थात् यही कहना पड़ेगा कि सन्तान के सिये — पूर्णरूप सिये — यह जीव अपने शारीर को भी त्याग देता है। “सी उद्धु चर्वीव सुषिद्धि में इस जीड़े से कपर के ट्वेंके जीव पुरुषलम प्राणी में अपनी अपनी सन्तान के पालन पोषण के लिये स्वाध-स्वारा करने में लाननित दुआ करते हैं। यही गुण पहले कहते मनुष्य जाती के असम्म भार गंगाली समाज में मी न्स रूप म पाया जाता है कि ज्ञेन न केवल अपनी उत्तानी की रक्षा करने मैं — किन्तु अपने जानि भाद्र्या की सहायता करने मैं — मी सुप्र से प्रहृष्ट हो जाते हैं।” अस्तिय मनुष्य को — जो कि सभीक सुषिद्धि का विभेदणि है — स्वाध के लमान पराय में मी सुप्र मानते हृष, सुषिद्धि के उपयुक्त नियम की उपर्युक्त करने तथा स्वाध और पराय के बहमान विरोध को समझ नह करने के उत्तोग में ज्ञो रहना चाहिये। इस “सी म उसी निष्ठतायता है।” यह सुषिद्धिक बहुत त्रैक है परन्तु यह तत्त्व कुछ नया नहीं है कि परोपकार करने का सद्गुरु मूढ़ सुषिद्धि में भी पाया जाता है। इसलिये उसे परमात्मनि तन पर्युचाने के प्रयत्न में जानी मनुष्यों को सदैव लगो रहना चाहिये। इस तत्त्व म विश्वाता सिफ यही है कि भावकष्ट आधिमौतिक धारा के जान की जगत् जूँड़ि होन के कारण इस तत्त्व की आधिमातिक उपरिति उक्तम रीति से करुलाह गा है। यद्यपि हमारे धार्मनार्यों की इषि आप्यायिक है तथापि हमारे प्राचीन प्रम्यों में कहा है कि —

भद्रादशपुराणान् मार मारं ममूरपृतम् ।

परोपकार पुण्याप पापाप परपीडम् ॥

“परोपकार करना पुण्यक्रम है और दुश्चरा को पीछा देना पापक्रम है। यह यही अद्याह पुराणी का सार है।” मनुहरि ने मी कहा है कि त्वार्थों यस्य पराय एव स पुमान् पक्ष उठा अप्रणि ” — पराय ही की विक मनुष्य ने अपना स्वाध ज्ञा विया है वही उत्तर सत्पुरुषों म भेद है। अप्य अन्य यहि जीड़े जीड़ों से मनुष्य हर की सुषिद्धि की उत्तरात्मक क्षमत्य जाती है भेदियों का भैय, ता एव क्षीर मी प्रभ उठता है। वह यह है — या मनुष्यों म एव परोपकारदुष्टि ही का उक्त

यह उत्तरात्मक Data of Ethics वामक दर्शन म भी है। हमनें ने यित्र का एक पत्र हितम कर रख कह दिया था कि मर आह आपर मत म ज्ञाने में है। उह पत्र के भागात्मक उक्त दर्शन म दिय वर्ण है। pp. 57-123 Also see Baro & Mental and Moral Science pp. 721-722 (Ed. 1875)

अर्थात् भाषिमौलिक सुन ही के लिये अथवा अपने हुआओं के पूर करने के लिये ही उत्तर है।

इन्द्रियगम्य बास्तुओं की अपेक्षा बुद्धिगम्य अनुभुति की – अर्थात् आच्चामिक सुन की – योग्यता अधिक तो है ही परन्तु इसके साथ एक बात यह भी है कि विषय सुन अनित्य है। वह तथा नीति चर्म की नहीं है। इस बात को सभी मानते हैं कि अहिंसा सत्य आदि चर्म कुछ शाही उपाधियों अर्थात् सुप्रापुल्लोपर अवश्यमित नहीं है जिन्होंने सभी अवसरों के लिये और सब कर्मों में एक समान उपयोगी हो लक्ष्य किया है। अतएव ये नित्य हैं। बायं बातों पर अवश्यकित न रहनेवाली नीति चर्मों की यह नित्यता उनमें कहों से और वैसे आई – अर्थात् उस नित्यता का कारण क्या है? उस प्रम का भाषिमौलिक-चार से इस होना असम्भव है। अब यह है कि यह शास्त्रपूर्वि के सुन सुराओं के अवक्षेपन से कुछ सिद्धान्त निष्ठात्मक तथा तो सब सुन सुराओं के सम्बन्ध अस्तित्व होने के कारण उनके अपूर्ण आचार पर कर्म हुए नीति सिद्धान्त मी वैसे ही अनित्य होते। और, ऐसी अवस्था में सुन सुराओं की कुछ मी परवाह न करके सत्य के लिये बात देने के सत्य चर्म की यह निष्ठावापित नित्यता है वह अविकाश लेने का अधिक सुन के तत्त्व से सिद्ध नहीं ही सोचती। उस पर वह आवेदन लिया जाता है कि यह सामान्य व्यवहारों में सत्य के लिये प्राण देनेवा समय आ जाता है तो अप्पे स्वेच्छा मी असत्य पद्धति प्राप्त करने में सकोच नहीं करते और उस समय हमारे द्यावकार मी अशा सफली नहीं करते तब सत्य नाति चर्मों की नित्यता यो माननी चाहिये। परन्तु यह अवेदन या दृष्टिकोण नहीं है क्योंकि ये स्वेच्छा सत्य के लिये बाज देने का बाहर नहीं कर सकते वे भी अपने दैवत से उस नीति चर्म की नित्यता को माना ही करते हैं। इसी लिये महामारुत में अर्थ ताम आदि पुराणाओं की विद्वि परनेवाके सब व्यापहारिक चर्मों का विवेचन करके, अन्त में मारत साक्षी में (भार विनुरीति में यौ) व्यापहारी ने तब लोगों को पही उपरेष्ट लिया है:—

म जातु बामाप्त भयाप्त होमादूर्म त्यजेऽनीतिस्यापि हेतोः।

चर्मो लित्य सुगद्युन्दे त्यजित्ये जीतो लित्यो देहुरस्प त्वनित्यः ॥

अथात् सुन दूर सुन अनित्य ह परन्तु (नीति) इस नित्य है। उसपिये सुन की इच्छा से भय से लाप से अथवा प्राण वक्त आज पर मी चर्म को कर्मी नहीं छोड़ा चाहिये। यह शीत नित्य है और सुनदूर सुन आदि विषय अनित्य है।” इसी लिय व्यापहारी उपरेष्ट करते हैं कि अनित्य सुरदूराना का विचार न करक निष्प शीत का सदर नित्य चर्म से ही बाह देना चाहिये (म या य ५ दा ३, ११, ११) यह व्याप्ति के लिये कि व्यापहारी का उत्तर उपरेष्ट उपरेष्ट है या नहीं, इसे भय इस बात का विचार करना चाहिये कि सुरदूराना का व्यापह सत्य स्पा है और नित्य सुन स्पी कहते हैं।

पर को आधिमौतिकमुक्तवारी मी मानते हैं, कि शारीरिक मुक्त से मानविक मुक्त की पोष्यता भविष्यत है। पशु को किन्तु मुक्त मिल सकत है वे सब किंमी मनुष्य को दे कर उससे पूछे कि क्या तुम पशु होना चाहते हो ? ' सो वह कभी इस बात के खिलाफ रायी न होगा। इसी तरह अनी पुरुषों को वह अत्यन्तर्देशी की आवश्यकता नहीं कि तत्त्वज्ञान के गहन विचारों से बुढ़ि में जो एक प्रकार की आनंद उत्पन्न होती है उसकी पोष्यता सासारिक सम्पत्ति और जाग्रोपयोग से इच्छार गुनी कर कर है। अप्य यदि स्पैशलिट को ऐसे तो भी यही शाह होगा कि नीति का निषय करना कठोर संख्या पर अवश्यिक नहीं है। अगर तो कुछ किया करते हैं वह सब वेदान आधिमौतिक मुक्त के ही सिये नहीं किया करते - वे आधिमौतिक मुक्त ही हो भवना परम उत्तेज नहीं मानते। अस्ति हम सेग यही कहा करते हैं कि जाग्मुग्मी की जान वह विदेश प्रसग आने पर भवनी जान की भी परवाह नहीं करनी चाहिये। क्योंकि ऐसे समय में आप्यायिक दृष्टि के अनुसार किन सत्य आदि नीति चर्मों की पोष्यता भवनी जग्म से भी अधिक है उनका पालन करने के लिये मनानिष्ठ वरने में ही मनुष्य का मनुष्यत्व है। यही हाथ भवन का था। उनका भी प्रभ यह नहीं था कि अनाइकरने पर किन्तु को किन्तु मुक्त होया। उनका भीहाँग से यही प्रभ था कि मेरा भयात् मेरे भास्मा का भय किसी है सा मुझे अनाइये (गी २ ० ३ २)। भास्मा का यह निव का भेद और मुक्त भास्मा की आनंद में है। उठी किय बहारण्यजापनिपद (२.४) में कहा गया है कि अमृतलम्प्य तु नाशस्ति रिलेन भपात् सासारिक मुक्तम्पनि के योगे यिष इने पर भी भास्ममुक्त आर दानित नहीं किय गकती। इसी तरह क्योपनिषद् में किया है कि इस मृग्ये नविरेता का पुरु, वीर पशु पान्य द्रष्टव्य इस्यादि अनेक प्रसार वी। सासारिक सम्पत्ति जैवा चाहीं तो उनक साकृ व्याव किया कि मुझे भास्मरिया चाहिये लम्पति नहीं। और व्रेय भयात् इन्द्रिया वा दिय अनन्दनाले सासारिक मुक्त म तथा भय अर्पण भास्मा के तथे कारण में भेद कियात है (कट. १ २ म) कहा है कि -

भयभ भयभ मनुष्यमन्तम्। मपरीत्य विविमक्ति चीर ।

भया हि चीर। भिषणमा तृष्णाने धंवा मन्त्रा यावज्ज्ञेमाह एगान ॥

उप धय (तापातिः दाय इडिपलु) भीर धय (तप्त चिक्का अ अप्याय ) वे दाना मनुष्य के ताम्भे उत्तिता होते हैं तब तुडमान मनुष्य उन दाना में किसी तरफ जून लेता है तो मनुष्य पदाय मैं पुरिमान होता है वह ध्रेय वी भवता धय वी भवित वक्ता वक्ता । वरन्तु चिक्की तु उप मनुष्य होती है उमेष भास्मरन्याय की भौतिक ध्रेय भयात् दाय मुक्त ही भवित भूषा स्वयम् है। इन किय दाय मन्त्रा नहीं कि तकार न इन्द्रियाय किय मुक्त ही मनुष्य का ऐहिक परन्तु उत्तर दाय मनुष्य गे कुछ बरका है वह से भेद दाय

निवेद्य नहीं कह सकते। क्योंकि इस व्यास्त्या के भनुसार 'एष शब्द का भर्त्य एवं चलु या पठार्थ भी ही सकता है और इस भर्त्य को मानने से इष्ट पठार्थ को भी मुल कहना पड़ेगा। उत्तारणाय प्यास स्मृते पर पानी 'ह छोवा है परन्तु 'य शब्द पराय 'पानी' को 'मुल नहीं कहते। यदि ऐसा होगा तो नदी के पानी में झूँझेवास के बारे में कहना पड़ेगा, कि वह सुन में झूँझा हुआ है। सच वाल यह है कि पानी पीने से ये इन्द्रियतृप्ति होती है वहे मुल कहते हैं। 'सम उन्नेह नहीं कि मनुभ एवं इन्द्रियतृप्ति या सुप जो आहता है परन्तु इससे यह व्यापक उद्घान्त नहीं कहाया जा सकता कि किसी जाह होती है, वह सब मुल ही है। 'सी लिये नैयापिक्य ने मुखदुर्घट को बेना कह कर उनकी व्यास्त्या एस तरह से भी है 'अनुकूलमेन्त्रीय तुल - ये बेना हमारे अनुकूल है यह सुन है; और 'प्रतिकूल-वेन्त्रीय तुल - ये बेना हमारे प्रतिकूल है, वह तुल है। ये बेनाएं कमसिद्ध अर्थात् मूल ही की भौत मनुमत्ताम्ब हैं। 'समिय नैयापिक्यों की उक्त व्यास्त्या से कर मुखदुर्घट का अधिक उद्घान्त उत्तम उत्तम्या नहीं जा सकता। येर्व पह वह है कि ये बेनारूप मुख-तुल्य केवल मनुष्य के व्यापारों से ही उत्पन्न होते हैं तो यह वाल भी दीक्षा नहीं है। क्याकि, कभी कभी देवताभी के दोप से भी बड़े देरे रोग और तुल उत्पन्न हुआ करते हैं किन्तु मनुष्य को अवस्थ मोगला पान्ता है। 'सी लिये देवार्थ प्रथों में उमान्यठ इन मुख-तुल्यों के तीन में - आधिकैविक, आधिमैत्रिक और भाष्यामिक - किये गये हैं। देवताभी की इपा या दोप से ये मुख-तुल्य मिलते हैं उन्हें 'आधिकैविक' कहते हैं। शास्त्रज्ञ के - तृष्णी भाडि पञ्चमहाभूताम एवं पठारों का मनुष्य की उन्निधा से सबोग होने पर - धीरोण्ण भाडि के कारण ये मुखदुर्घट हुआ करते हैं उन्ह 'आधिमैत्रिक' कहते हैं। भीर ऐसे शास्त्रविदों के मिना ही होनेवाले अन्य तब मुखदुर्घटों को भाष्यामिक कहते हैं। यदि मुख तुल का यह वर्गीकरण स्वीकार किया जाय तो शरीर ही के वस्त्रपित्र भाडि दोरों का परिणाम भिन्न जाने से उत्पन्न होनेवाले एवं भाडि तुलों को - तथा उन्हीं दोरों का परिणाम यथोचित रहने से भनुमत में भानवाले, शारीरिक स्वास्त्य को - भाष्यामिक मुख तुल कहना पस्ता है। क्योंकि यद्यपि ये मुख तुल पञ्चभूताम शरीर से सम्बन्ध रखते हैं - भयान् पे शारीरिक है - तथापि इसेषा यह नहीं कहा जा सकता कि ये शरीर से बाहर होनेवास पठारों के नबोग न पेश करा है। भार न्यतिय भाष्यामिक मुख तुल के बंगलत दी दृष्टि में फिर भी या भेद - शारीरिक भार भानविक - करने पाते हैं। परन्तु इस प्रकार मुख तुल के 'शारीरिक' भी 'भानविक' दो में बर है तो फिर आधिकैविक मुख तुल का भिन्न भानवे की जाए जावन्यका नहीं रह जाती। क्याकि यह तो शरीर ही है कि 'वताभा' की इपा भयान् बोध से ही वास मुख तुल की की भी गरिमा मनुष्य भयन ही शरीर या मन के गरा मोगला है। अवधेह इससे इत



निर्णय नहीं कह सकते। क्योंकि इस व्याख्या के अनुसार 'ए शब्द का अप इष्ट चला पा परार्थ भी हो सकता है और 'ए अव का मानने से इष्ट परार्थ का भी मुख्य कहना पड़ेगा। उदाहरणात् प्यास स्मने पर पानी 'ए होता है; परन्तु 'स वाप पठाय 'पानी' को 'मुख नहीं कहते। यदि ऐसा होगा तो नहीं को पानी में डूफ्फेवाले के बारे में कहना पड़ेगा कि वह सुन में छोड़ा दुमा है। उपर जाठ पह है कि पानी पीने से ये इन्द्रियतृप्ति होती है उसे मुख कहते हैं। 'सम सन्देह नहीं, कि मनुष्य इस इन्द्रियतृप्ति या मुख को चाहता है परन्तु 'स से वह व्यापक सिद्धान्त नहीं बताया जा सकता कि किसी चाह होती है वह उद्द सुख ही है। इसी छिपे नैयायिका ने मुखदुर्घट को बेज्ञा कह कर उनकी व्याख्या 'र वरह से भी है 'अनुभूतिनीय मुख - जो बेज्ञा हमारे अनुभूति है वह सुख है और प्रतिकूल-बेज्ञानीय दुर्घट - जो बेज्ञा हमारे प्रतिकूल है वह दुर्घट है। ये बेज्ञाएँ कर्मणिक अर्थात् मूल ही भी और अनुमतिगम्य हैं। इसमिये नैयायिका भी उक्त व्याख्या से कह कर मुखदुर्घट का अधिक उच्चम स्तरम् बताया नहीं जा सकता। कोइ यह कहे, कि ये बेज्ञारूप मुख-दुर्घट के बल मनुष्य के व्यापारों से ही उत्पन्न होते हैं तो वह बत भी ठीक नहीं है। क्योंकि, कभी कभी देवताओं के द्वेष से भी बड़े बड़े रोग और दुर्घट उत्पन्न हुमा करते हैं किंतु मनुष्य को भवस्व मोगना पड़ता है। इसी छिपे केन्त्व-ग्रन्थों में चामायतः 'न मुख दुर्घटों के तीन में - आधिकैविक आधिग्रेतिक और आध्यारिक - छिपे गये हैं। देवताओं की रूपा या द्वेष से जो मुख-दुर्घट मिसते हैं उन्हें आधिकैविक कहते हैं। शास्त्रात् के - पृष्ठी आदि पदमहाभूतात्मक, परायों का मनुष्य की इन्द्रियों से उत्पन्न होने पर - शीतोष्ण आदि के कारण ये मुखदुर्घट हुआ करते हैं उन्हें आधिग्रेतिक कहते हैं। और, ऐसे बाह्यतयोग के किना ही होनेवाले अन्य सब मुखदुर्घटों की आध्यारिक कहते हैं। जब तुम मुख दुर्घट का वह कर्त्तव्यरूप न्यीकार किया जाय तो शरीर ही के बात-पिच आदि दोषों का परिणाम किया जाने से उत्पन्न होनेवाले ज्वर आदि तुम्हारे - तुम उन्हीं दोषों का परिणाम वयोक्ति रहने से भनुमत में आनंदमें, शारीरिक स्वास्थ्य की - आध्यारिक मुख दुर्घट कहना पड़ता है। क्योंकि यद्यपि ये मुख दुर्घट पञ्चमूर्त्यात्मक शरीर से सम्बन्ध रखते हैं - अर्थात् ये आधीरिक हैं - तथापि हमेषा यह नहीं कहा जा सकता कि ये शरीर से बाहर रहनेवाले परायों के सघोग से पैदा हुआ है। और 'सिद्धि' आध्यारिक मुख दुर्घटों के, बेग्नात् की दृष्टि से फिर भी ये में - शारीरिक और मानविक - करने पड़ते हैं। परन्तु 'ए प्रकार मुख दुर्घटों के 'शारीरिक और 'मानविक' ये में कर हैं तो किस आधिकैविक मुख दुर्घटों का मिष्ठ मानने भी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। क्योंकि यह तो सद्ग ही है कि देवताओं की रूपा अवता द्वेष से होनेवाले मुख दुर्घटों को भी आधिक मनुष्य अपने ही शरीर पा मत के द्वारा मोगता है। ठारपद हमने 'र

प्रत्य मे बेगम्त मन्था और परिमाणा के अनुसार सुन्दुखो का निषिद्ध कार्यकरण नहीं किया है। जिन्होंने को ही चांग (चाप आ आरीरिक और आन्वन्तर या मानसिक) लिये हैं, और उसी कार्यकरण के अनुसार इस मन्थ में सब प्रकार के शारीरिक सुख-दुःखों को 'आधिमीलिक' और सब प्रकार के मानसिक सुख-दुखों को 'आध्यात्मिक' कहा है। बेगम्त मन्थों में ऐसा दीसरा कां भावितेविक रिया गया है कि उसे हमने नहीं किया है। क्याकि, हमारे मतानुसार सुन्दुखो का शास्त्रीय रीति से विवेचन करने के लिये यह द्रिष्टिपक्ष कार्यकरण ही अद्वितीय सुमीत्रे का है। सुखदुःख का यो विवेचन नीचे किया गया है उस पढ़ते समय यह बात अवश्य व्याप्ति में रखनी चाहिये कि बगम्त-मन्थों के और हमारे कार्यकरण में भेद है।

सुख-दुखों को खाहे आप त्रिविव मानिय अथवा त्रिविष "समे सन्दह नहीं कि दुःख की खाह किसी मनुष्य को नहीं होती। इसी लिये बेगम्त और साक्ष्य घास (सा का १ गी १ २१ २२) में कहा गया है कि सब प्रकार के दुखों की अस्तित्व निष्ठा करना और आत्मनित्य तथा नित्य सुख की प्राप्ति करना ही मनुष्य का परम पुरुषार्थ है। तब यह बात निश्चित हो जाती है कि मनुष्य का परम साक्ष्य या उद्देश्य आत्मनित्य सुख ही है तब ये प्रभ मन में सहज ही उत्पन्न होते हैं कि आत्मस्त सत्य और नित्य सुख किसको कहना चाहिये। उनकी प्राप्ति होना एक बहुत ही या नहीं। यदि समझ है तो तब और भैले। "स्पाडि। और बन हम इन प्रभ्य पर विवार करने लगते हैं तब सब से पहले मही प्रभ उठता है कि नैयायिका के छह स्तरों पर उपर सक्षण के अनुसार सुन्दुख और सुख गोनो मिष्टि मिष्टि व्यक्तिवाले बनते हैं या बहुत हैं अथवा ये उपेक्ष्य नहीं यह अभिरा इस त्याद के अनुसार "न गोनो बेगम्तओं में से एक का अमाव द्वाने पर दूली सहा का उपयोग किया जाता है। भगवान् ने कहा है कि प्याय से जब मुँह कर जाता है तब हम उस सुख का विवारण करने के लिये पानी पीता हैं। सूर्य से जब हम व्याप्ति हो जाते हैं तब मिद्दाम या कर उस स्थान को हटाते हैं और काम काचना के प्रतीक होने पर उसको बीकुंड ढारा तूम करते हैं।" कहा कह कर अस्त में कहा है कि —

प्रकीडारो व्याप्ते: सुखमिति विपर्यस्याति जनः।

निसी स्वाधि अथवा सुख के हाने पर उसका यो निषारण या प्रतिकार किया जाता है उसी की लैंड्र भ्रमण 'सुख कहा करते हैं। सुखमिवारण ते अस्तिरिक्त 'सुख कोइ मिष्टि बलु नहीं है। यह नहीं उमसना चाहिये कि लिङ्गान्त मनुष्यों के लिंग उन्हीं उपहारों के लिये मैं उपसुख होना स्थाप ही के लिये किये जाते हैं। मिळम प्रवरच मैं भानमधीरि का यह मां ही गाया है कि बन हम किसी पर कुछ उपहार करते हैं तब उसका होता है कि उसके सुख के लैंगे से इमारी वास्त्वाति हमारे

जाती है और इस दुःखहत्या की व्यथा ऐसे बूर करने के लिये ही हम परोक्षर किया करते हैं। इस पथ के स्तीर्णद करने पर हम महामरण के अनुलाभ यह मानना पड़ेगा कि -

तृष्णार्तिप्रभव दुःखं तृष्णार्तिप्रभवं द्युखम् ।

पहले वह कोई तृष्णा उत्पन्न होती है वह उत्तमी पीड़िया के दुःख होता है, और उस दुःख की पीड़िा से फिर मुक्त उत्पन्न होता है' (शा २५. २२; १७४ ११)। सहज में यह पत्त्य क्या वह कहता है कि मनुष्य के मन में पहले एक-आद आद्या वाचना या तृष्णा उत्पन्न होती है और वह उसे दुःख होने लगे, तब उस दुःख का जो निकारण किया जावे वही दुःख कहता है। मुक्त कोई दूरी मिल जाता नहीं है। अधिक क्या कहे उत्त पथ के लोगों ने वह मी अनुमति निश्चय है, कि मनुष्य की तब साधारिक प्रृष्टियों के द्वारा वाचनाभ्रम और तृष्णाभ्रम ही हैं। वह तुक सब साधारिक घटों का स्वाम नहीं किया जायगा, तब तक वाचना या तृष्णा की वह उत्तर नहीं सकती और वह तुक तृष्णा या वाचना की वह नहीं हो जाती वह तक सत्य और नित्य सुन का मिलना भी सम्भव नहीं है। तृष्णारूपक (३ ४४ २२; वे स ३ ४ १५) में किल्स से और आचार-संस्कार आदि उपनिषदों में प्रधानता से उसी का प्रतिपादन किया गया है तथा भाषाकृ-गीता (१. ८; १ १-८) एवं भवदूमीता (३ ४३) में उसी क्ष अनुबाद है। इस पत्त्य का अन्तिम ठिकाना यही है कि किसी को आत्मनिक सुन या मौख प्राप्त करना है उत्ते उचित है कि वह कितना उसी हो लें उठना उसी उत्तर को छोड़ कर संन्यास ले ले। सृष्टिभूमि में किसका बर्णन किया गया है और भीषणराजाय ने कलिकुण में किसी स्वापना की है वह भीत स्मार्त कर्म-सम्यास मात्र इच्छी उत्त पर वर्णया गया है। तब है। वही सुन द्वेरा स्वतन बल ही नहीं है ये कुछ ही तो सुन ही है और वह मी तृष्णाभ्रम है तो इन तृष्णा आदि विचारों को ही पहले सनूम नष्ट कर देने पर फिर स्वार्थ भीर परार्थ की जारी होने से भ्रम-साम्बाद्यता तथा शान्ति है वही रह जायगी। इसी अमित्राय से महामरणाभ्रम शान्तिपर्व के प्रियमात्रा में, और मनिगति में मी रहा गया है कि -

इव कामसुन्दरं सोके वह दिव्यं सहन् द्युखम् ।

तृष्णासप्तमयस्तते नाईतः चोददीर्घं रक्षाम् ॥

" तात्त्वारिक व्याप्त वाचना की शुरू होने से ये तुल दाता है और ये तुल त्वय में मिलना है उन दोनों दुर्गों की वाचना तृष्णा के व्यथ से होनेवाले तुल के नाम्नद्वे दिव्ये के भास्त्र मी नहीं है (शा. १७४ ४८ १७५ ४०)। ऐसिक हृष्यालभाग यही भागे वह कर देन और शीदवर्ष में अनुकरण किया गया है।

प्रथम में बेश्मत प्रथमा की परिमापा के अनुसार सुख-कुण्डा का निषिद्ध वर्गीकरण नहीं किया है। जिसु उनके ने ही बय (याहू या गारीरिक और आम्बन्तर या मानसिक) किये हैं और उसी वर्गीकरण के अनुसार हमने उस प्रथम में सब प्रकार के गारीरिक सुख दुःखों को 'आधिमीलिक' और सब प्रकार के मानसिक सुख-कुण्डा को 'आध्यामिक' कहा है। बेश्मत प्रथमा में ऐसा ठीकाना बर्ग आधिरेतिक दिया गया है कि वह हमने नहीं किया है। क्याकि, हमारे मतानुसार सुख दुःख का शास्त्रीय रीति से विवेचन करने के स्थिते यह विषिद्ध वर्गीकरण ही भक्ति सुमीत्र का है। सुखदुःख का ऐसा विवेचन नीचे किया गया है तब एदूरे समय यह बात अवश्य यानि मरणी चाहिये, कि वर्णान्त-प्रथमा के छोर हमार वर्गीकरण में भेट है।

सुख-कुण्डा को चाहे आप द्विविद मानिय अथवा निषिद्ध "सर्वे मन्त्रह नहीं कि दुःख की चाह किसी मनुष्य को नहीं हाती।" उसी स्थित वडान्त और साम्म प्राप्त (था का १, गी ३, २) में कहा गया है कि सब प्रकार के सुखों की अत्यन्त निष्पुणि करना और आत्मनिक तथा नित्य सुख की प्राप्ति करना ही मनुष्य का परम सुखाया छ है। तब यह बात निष्पित हो चुकी, कि मनुष्य का परम साध्य का उद्देश आत्मनिक सुख ही है तब ये प्रभ मन में उद्देश ही उत्पन्न होते हैं कि अत्यन्त सत्य और नित्य सुख जिसको कहना चाहिये। उसकी प्राप्ति होना समझ है या नहीं? यहि समझ है तो क्या और क्यों? "त्याहि।" भार यह हम उन प्रभों पर विचार करने आते हैं तब सब से पहले पहरी प्रभ उठता है कि नयाँ विकारों के बलाये हुए उप इक्षण के अनुसार सब और कुण्डा दोनों मिल विष व्यवह बेनारें

अनुमत या बन्दु है अथवा ओ उद्देश नहीं यह भेदिरा उस न्याय के अनुसार इन दोनों बेनारासी में से एक का भगवान् हाने पर बूमी सहा का उपयोग किया जाता है। भूद्वारि ने कहा है कि प्यास से उत्तर मुँह सूख जाता है तब हम उस दुःख का निषादण करने के लिये पानी पीते हैं। भूर से उत्तर हम ज्याकूल हो जाते हैं तब निषादण या कर उस अथवा का इच्छन है लार काम-बालना भे प्रतिम होने पर उनको जीवन द्वारा तृप्ति करते हैं। "उना उद्द कर अन्त में कहा है कि -

प्रतीकारो व्यापे सुखमिति विपर्यस्याति जन।।

जिसी स्थानि भगवा दुर्घ के हाने पर उनका ओ निषादण या प्रतिमर किया जाता है उनी को द्वेष भ्रमण्य 'कुण्ड बहा करते हैं।' कुण्डनिषादण ते भविरिक 'सुख बहा' विष वस्तु नहीं है। यह नहीं नमस्ना चाहिये कि इक्षान्त मनुष्या के निष्ठ उनी अपवाहन के विष में उत्पुष्ट होना स्थाप ही के विष विष जाते हैं। विष्ट्रे प्रवरण में भानमसिरि का यह मही गया है कि यह हम जिनी पर दुर्घ उपग्रह करते हैं तब उसका होता है कि उनके कुण्ड के देखने से इमारी नास्पत्यामि हमारे

है, कि मुख की इच्छा किये जिना ही उस समय हमें चुप मिल्य। इन उदाहरणों पर ध्यान देने से वह भवस्य ही मानना पड़ेगा कि सन्यास-भागवाख्य की मुख की उच्च-भ्यास्या ठीक नहीं है और वह मैं मानना पड़ेगा कि इन्द्रियों में मध्ये दुरी बलुमों का उपयोग करने की स्कामाचिह्न यथाकि होने के कारण उब वे भयना भ्यापार करती रहती हैं और अब कभी उन्हें अनुकूल या प्रतिकृष्ट विषय की प्राप्ति हो जाती है तब पहले दृष्टि या इच्छा के न रहने पर मी हम मुख दुख का अनुमत्व दुआ करता है। इसी बात पर ध्यान रख कर गीता ( २ १४ ) में कहा गया है कि 'भाषास्पद' से शीत उषा आठि का अनुमत्व होने पर मुख-दुख दुआ करता है। सुरि के बाल्मीकीयों को 'भाषा कहते हैं। गीता के उच्च पर्योगशास्त्र का मध्ये 'यह है कि अब उन बाल्मीकीयों का इन्द्रियों से लक्ष्य अर्थात् उपासन होता है तब मुख या दुख की ऐज्ञा उत्पन्न होती है। यही कर्मयोगशास्त्र का मी सिद्धान्त है। कान को कभी आश्राम अप्रिय कर्मी माझम होती है ! जिन्होंने मधुर रस प्रिय स्या लक्ष्या है ! और उन्होंने को पूर्ण चन्द्र का प्रकाश आश्रामकारक कर्मी प्रतीत होता है ! "त्वादि शारी का कारण कोई भी नहीं करता सकता। इम द्वेष के सब "कना ही जनते हैं कि अमीम को मधुर रस मिलने से वह चन्द्र हो जाती है। इससे प्रकट होता है कि माधिमीतिक मुख का स्वरूप भेदभाव इन्द्रियों के अधीन है और इससिये कभी कभी इन इन्द्रियों के भ्यापारों को खारी रस्ते में ही दुख मालूम होता है - जाहे इच्छा परिणाम भविष्य में दुख भी हो। उदाहरणार्थ, कभी कभी पेशा होता है कि मन में दुष्प्रियता आने से उस विचार के सबक शाष्ट्र आप ही-भाष्य मैंह से बाहर निकल पत्ते हैं। ये शाष्ट्र दुष्प्रियता से बाहर नहीं निकाले जाते कि इन्होंने जाई जन के कलिक कभी कभी तो उन स्कामाचिह्न स्यापारों से हमारे मन की गुस बात मी प्रकट हो जाया करती है किससे हमसे उस सुखान हो जाता है। छोटे बचे अब सम्मानीकृत हैं तब वे फिनमर पहाँ बहाँ या ही चलते पिरते रहते हैं। इसका कारण यह है कि उन्हें कलन रहने की दिक्षा में ही उस उमय भानन्द मातृम होता है। "सुरिके अब तुली को दुष्प्रामाकरण हीन कह कर वही कहा गया है कि " इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे राघवेणौ द्यवस्थितौ " ( गी १ ३४ ) भर्यात् इन्द्रियों में और उसके द्यवस्थास्थ आठि विद्यर्थी में राग ( फ्रेम ) और द्रेष्ट है वे ऐज्ञा पहले ही से 'द्यवस्थित' भर्यात् द्यवस्था सिद्ध हैं। और अब हमें वही जनना है कि इन्द्रियों के पे स्यापार भाष्या के स्थानान्तर कैसे होंगे या कर दिये गए लंबे। इतक दिये भीहृष्ट भगवान का वही उपदेश है इन्द्रियों और मन की दृष्टियों का नाश करने का प्रयत्न करने के लिए उनको अपने भाष्या के स्थानान्तर कराने के भय भयन भर्यन रामना आहिये - उन्ह स्मरन नहीं होने देना आहिये। माधवन् क इन उपदेश म भार तुणा तथा उभी क लाय सब मनादृष्टिया की भी उन्म नह करने के दिये वहन म ज्मौन भास्तुमान का अस्तर है। गीता का यह तात्पर नहीं

इसी लिये इन दोनों भग्नों के प्रम्बो में तृष्णा के दुष्परिणामों का भार उक्ती स्थायता का वर्णन, उपर्युक्त बणन ही के समान - और कही कही तो उससे मीठा-कहा - विषया यथा है (उग्राहणार्थ अभ्यप के 'तृष्णा-कहा' को देखिये)। तिथ्यत के बीच घर्मप्रयोगों में तो वही तक कहा यथा है, कि महामारुत का उक्त अभ्य, दुश्टत प्राप्त होने पर गीतम् दुर्द के मुख से निष्क्रिय था।<sup>१०</sup>

तृष्णा के बो दुष्परिणाम ऊपर बताये गये हैं, जो श्रीमद्भगवद्गीता को भी मान्य हैं। परन्तु गीता यह पह लिङ्गान्त है, कि उन्हें पूर करने के लिये क्या ही का त्यग नहीं कर देना चाहिये। अतएव वहीं मुख-नुरास की उक्त उपपत्ति पर कुछ स्थम विचार करना भावस्थक है। उन्न्यासमाप्त के छोरी का यह क्षमन सर्वया उत्तम नहीं माना जा सकता कि सब सुपर तृष्णा आदि दुर्दों के निवारण होने पर ही उपच होता है। एक बार अनुमति भी दुर्द (टेपी दुर्द मुनी दुर्द इत्यादि) बलु कि बर फिर चाह हीठी है तब उसे काम बालना या इच्छा कहते हैं। बर इच्छित बलु अस्ती नहीं मिलती तब दुर्द होता है; और बर वह इच्छा हीष्ठ होने क्याती है अथवा बर अचिकारिक बलु के मिलने पर भी पूरा सुपर नहीं मिलता भीर उक्ती चाह अचिकारिक बलु के लिये ही तब उठी इच्छा का तृष्णा रहते हैं परन्तु इस प्रकार केवल अच्छ के तृष्णा-खलूप म बालन के पांचे ही यहि वह इच्छा पूर्ण हो जाय तो उससे हीनेवासे सुपर के बरे मैं हम यह नहीं कह सकते कि वह तृष्णा-खलूप के जय होने से उत्पन्न होता है। उग्राहणार्थ प्रतिभिन्न नियत समय पर मोक्षन मिलता है उसके बारे मैं अनुमत यह नहीं है कि मोक्षन करने के पांचे हमें तृष्णा ही होता हो। जर नियत समय पर मोक्षन नहीं मिलता तभी हमारा भी भूग्र से व्यादुस हो जाया करता है - अन्यथा नहीं! अच्छ यहि इम मान है, कि तृष्णा और इच्छा एक ही अर्थ के चोकल धन हैं तो ऐ यह लिङ्गान्त उप नहीं माना जा सकता कि सब सुपर तृष्णामूल ही हैं। उग्राहण के लिये एक छोटे बचे के मौह मैं अच्छनक एक मिभी की इसी डाढ़ है। तो क्या यह कहा ज्य सकता कि उठ बचे को मिभी ल्याने से ज्य सुपर तृष्णा वह पूर्णतृष्णा के ज्य से तृष्णा है? नहीं। इसी दरह मान लो कि यह चालन अस्तु हम मिसी रमणीय जाग मैं ज्य पहुँचे; और वहीं विसी फीजी का मधुर गान परापक मुन पथ। अथवा विसी मन्त्रिर मैं मालान् वी मनोहर छनि हीम पही तब एसी अवस्था मैं यह नहीं कहा ज्य सकता कि उठ गान के मुनने से या उस छवि के द्वान से होनेवासे मुख की हम पहसे ही से इच्छा किये दैडे थे। तब जात तो यही

Reckhill's Life of Buddha p. 33 वह भाष्य 'उत्तम' नामक लाली अभ्य (१९) में ह। परन्तु उसमें इस वर्णन की है कि वह ज्याह दूर्द व मुख व उन 'दूर्दत्त' प्रकार होवे के तमव विचार जा। इनम यह भाष्य मालाम हा जाना है कि वह भाष्य उसमें भाष्य दूर्द क तुल व नहीं विचार जा।

इति उत्तर म सुन भीर दुःख देनो मिथित है। इसी के अनुसार समर्थ भीरमगति स्वामी ने मी बता है, दै विचासान् मतुप्य इस बात की अस्तीति तरह दोष कर इस ले कि “स उत्तर मैं पूर्ण दुखी बैठते हैं।” इसके विषा श्रीपति ने सत्यमामा को यह उपरोक्त दिया है, कि :-

दुर्लभ सुखेन्द्रिय न जाहु तद्युत्तेन साप्ती छमते दुखाति ।

**अथात्** सुन से कर्मी नहीं मिथिता साप्ती जी को सुक-शास्त्रि के लिये दुःख या कष्ट रहना पड़ता है (मा अ २३३ ४) इससे कहना पड़ेगा, कि यह उपरोक्त इति उत्तर के अनुसार सत्य है। ऐसिये, यह अमृत विद्या के होठ पर भर दिया जाय तो भी उसको लाने के लिये पहले मुहूर्त व्योमना पढ़ाता है और यदि मुहूर्त में बदल जाय तो उसे लाने का कष्ट रहना ही पड़ता है। यह जाति सिद्ध है कि दुःख के बाहु द्वारा सुन पानेवाले मनुष्य के मुग्नास्तानन सारांश यह जाति सिद्ध है कि दुःख के बाहु सुन पानेवाले मनुष्य के मुग्नास्तानन में और हमेशा विषयोपमोगों में ही निमग्न रहनेवाले मनुष्य के मुग्नास्तानन में बहुत गंभीर भवति है। इसका कारण यह है कि हमेशा सुन का उपरोक्त करते रहने से सुन का अनुमति करनेवाली इनियों मी गिरिष्ठ होती जाती है। फहा मी है कि :-

प्रायेण भीमतो होके भावस्तु शक्तिर्व विषते ।

काहास्यपि हि जीयते दृश्याज्ञा च सर्वहा ॥

**अथात्** भीमानों में सुखातु भग्न को उत्तर करने को मी शक्ति नहीं होती; परन्तु गर्भीय स्त्री जाति को मी पाता जाते हैं” (मा अ २८ २९)। अठाएव यह कि हम का इस उत्तर के ही अवधारी का विचार करना है तब कहना पड़ता है कि इस प्रभ का अधिक हम करते रहने में बोन् अम नहीं कि मिता दुःख पाये हमेशा सुन का अनुमति दिया गा जाता है पा नहीं। इस उत्तर मैं पहीं कम होता ले सुन पढ़ रहा है कि कुपस्थानन्तर दुःख दुर्लस्यानन्तर सुप्तम् (अ २६ ४ ; अ २८ २१) अथात् सुन के बाहु दुःख भीर दुःख के बाहु सुन मिथ्य ही परता है। भीर महाकवि कालिकाल ने मी देवदृत (मे १ १४) मैं बचन किया है -

करयहान्ते सुरमुपनाम दुःखमेकानन्तो वा ।

नीर्वर्द्ध्यात्मुपारि च दहा चक्रमित्तमेण ॥

“मिती भी भी दियति हमेशा मुख्यमय पा हमेशा दुःखमय नहीं होती। दुन्दुःख की दशा पहिय के तमान ऊपर भीर नीरे की ओर हमेशा बदलती रहती है।” अब पाता यह दुःख हमारे सुन के मितान की अधिक ज्ञाने के लिय उत्तम दुःख हो भीर इन महति के तुकार मैं उठकी भीर भी दुष्प उत्तरयोग्य होता है उत्तम अनुमति निर्द जम के बारे मैं मतभेद हो मर्ही रहता। हीं यह बात क्षणिका

है, कि उत्तर के सब छन्दों और परामर्श का विस्तृत नाश कर दिया जाय चाहिए उसके अन्तर्गत भग्नाय (१८ २६) में तो कहा है कि काय-कर्ता में समुद्दित के जाय पूति और उत्तराह के गुणों का होना भी आवश्यक है। इस विषय पर विस्तृत विवरण आगे दिया जायगा। यहाँ हमलों के बारे यही बताना है कि 'मुल' और 'कुप' ऐना मिथ् तृष्णियों हैं या उनमें से एक पूर्णी का भग्नाय मात्र ही है। इस विषय में गीता का मत उपसुक्त विवेचन से पाण्डों के भायन में आ ही गया होगा। 'ऐन' का अथ क्तुर्वते समय 'कुप' और 'कुल' की भग्नाय भलग गमना की गई है (गी. १३ ६) वहिं यह भी कहा गया है 'मुल सख्युष का और 'कुप्पा रखेयुष का स्थान है' (गी. १४ ६ ७) और सख्युष तथा रखेयुष दोनों अव्यय हैं। 'सुरे' भी मावशीता का यह मत साफ़ मात्र हो जाता है कि मुल भी और कुप दोनों एक पूर्णर के प्रतिवीण हैं और मिथ् मिथ् भी तृष्णियों हैं। भग्नाह के अन्याय में राज्य त्याग की वै न्यूनता दिखायी है कि 'कोई' भी जाम यहि कुलसारक है, तो उसे लोह देने से त्यायपत्र नहीं मिलता मिन्हु ऐसा स्वाग राज्य कहना जाता है (गीता १८ ८) यह भी इस विद्वान्त के मिथ् है कि सब मुल तृष्णा-क्षय मूल ही है।'

अब यहि यह मान लें मि सब मुल तृष्णा-क्षय-क्षय जायदा कुलभग्नायप नहीं है और यह भी मान लें कि मुल-कुल दोनों स्वरूप बल हैं तो भी (इन दोनों वर्तनाओं के परम्पर विवेची या ग्रतिवीणी होने के कारण) यह बुलरा प्रभु उपरित्वत होता है कि मिथ् मनुष्य को कुप का कुछ मैं भनुमत नहीं है उसे मुल का स्वाइ मात्र हो सकता है या नहीं। कुछ लोगों का तो यहाँ उक्त कहना है कि कुप का स्वाइ मात्र होने के लिये कुल के पूजानुमत भी कार आवश्यकता नहीं है। इन तरह किनीं भी ऐसे पराये को पहुँचे जाए जिना ही शहृ गुट, शहर, आम, कम्प इत्यादि परायों का मिथ् मिथ् मीरामन मात्र हो जाया जाता है उसी लिए ताप के द्यौ भनेक प्रभार होने के कारण पूज-कुलपात्रुम के जिना ही मिथ् मिथ् प्रभार के कुर्यां (ऐसे वरान्तर गरी पर से उठ कर पर्ण भी गरी पर बैठना इत्यादि) क्ष मीर भनुमत करते रहना भी संभव नहीं है। परम्पुरा साकारिक व्यवहारों की दैर्घ्य से मात्र हो जायगा कि यह मुक्ति ही निरपक्ष है। पुराणी मैं दैक्षाभी पर मैं वृक्ष परने के कर उगाहरण हैं; और पुण्य क्ष माय परने ही कुछ तनय के पार त्वानुपर क्ष मैं जाय हूँ जाया जाता है। इत्यादि स्वर्णीय कुल क्ष उगाहरण दीक्ष नहीं है। भीतु, यहि ठीक मैं हो तो स्वर्णीय कुप का उगाहरण उमार मित्र अम का' यहि यह तनय मान से मि निम्नेत्र तुल सर्वों, तो इती के आगे (म. भा. छा. १४) यह भी कहा है मि कुप कुपमिहोमपम् - भर्त्यन्

वे आत्माहस्या नहीं करते परन्तु इसके ब्लरण का यहि स्लम किंचार किया जावे तो मात्रम होगा कि हर एक मनुष्य जो — जाहे वह सभ्य हो या असभ्य — ऐसल इसी जात में अन्यन्त आनन्द मात्रम होता है कि मैं पश्च नहीं हूँ। और अन्य सब मुख्यों की अपेक्षा मनुष्य होने के मुन्ह को वह इतना अधिक महसूपूर्ण समझता है कि यह सचार किंचना भी क्षमय ज्ञानों न हो उपायि यह उनकी और ज्ञान नहीं ज्ञाना और न वह अपने इस मनुष्यत्व के तुर्हम सुन जो यो ऐने के लिये कही तेवार रहता है। मनुष्य की जात तो दूर रही पश्च पक्षी भी आत्माहस्या नहीं करते। तो यह इसके हम फल सभ्य हैं कि उनका भी सचार या जीवन मुख्यमय है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य जो पश्च पक्षी आत्माहस्या नहीं करते वह जात से यह ग्रामक अनुमान नहीं करना चाहिये कि उनका जीवन सुखमय है। सच्च अनुमान यही हो जाता है कि सचार जैसा भी हो उसकी कुछ अपेक्षा नहीं लिखे अचेतन अर्थात् वह अवस्था से सचेतन यानी उच्ची अवस्था में जाने ही से मनुष्यम आनंद मिलता ह और उसमें भी मनुष्यत्व का आनन्द तो सभ्ये भेद है। हमारे शास्त्रज्ञाने ने भी यह है —

मूलानां प्राणिनां भेष्टां प्राणिनां हृदिमीदिन ।  
हृदिमातु मराः भेष्टा नरेह आद्यानाः स्मृताः ॥  
आद्यागेह च विद्वासः विद्वात् कृतहृदया ।  
कृतहृदिह कर्तारः कर्तृह नद्यावादिनः ॥

**अर्थात्** अचेतन पडार्थों की अपेक्षा उचेतन प्राणी भेद है। सचेतन प्राणियों में बुद्धिमान् बुद्धिमानों में मनुष्य मनुष्यों में ब्राह्मण ब्राह्मणों में विद्वान् विद्वानों में हृतुर्दिः (वे मनुष्य किनकी बुद्धि मुक्तस्तत रहे) हृतुर्दियों में कर्ता (काम करने वाले) और कर्ताभों में ब्रह्माणी भेद हैं। इस प्रकार शास्त्र (मनु. १ १७ म. भा. उद्यो ८ १ और २) में एक से दूरी की दुर्द भेदियों का जो वर्णन है उसका भी रहस्य यही है किंचना उक्तेष ऊपर किया गया है। और उसी व्याप से भावा-प्रभावों में यी कहा गया है कि चौराणी साम बानियों में नरेह भेद है नरों में मुमुक्षु भेद है और मुमुक्षुओं में विद्व भेद है। उत्तर में जो कहावत प्रचलित है कि तत् तो अपनी जन अधिक प्यारी होती है। उत्तरा यी कारण यही है जो ऊपर किया गया है। और उसी लिये सचार के दुर्द मय होन पर भी यह जो ए मनुष्य आत्माहस्या करता है तो उनकी सैमां पाण्डस कहते हैं और चमशान्त के भनुआर वह पारी समझा जाता है (म. भा. कर्ण ७ २८)। तथा आत्माहस्या का प्रपञ्च मी कानून के अनुत्तर बुम माना जाता है। सचेत में यह लिङ्ग ही गया कि मनुष्य आत्माहस्या नहीं करता — एव जात से संसार के सुरामय होने का अनुमान करना उचित नहीं है। ऐसी अवस्था में हम जो यह सचार

असम्भव न होयी, कि कार्ड मनुष्य हमेशा ही विषय-मुद्रा का उपभोग किया करे और उससे उसका भी भी न लगे। परम्परा इति अमूल्यी (मूल्यमोहक या उत्तर) में यह यत् अवश्य असम्भव है कि दुख का विस्तुत नाश हो जाय और हमेशा क्षुउ ही-मुख का अनुमत भिस्ता रहे।

यदि यह यत् सिद्ध है, कि संसार के बहुत सुभाव नहीं है, किन्तु यह सुभ-  
युक्तामूल्य है, तो अब तीसरा ग्रन्थ आप ही-आप मन में पैदा होता है कि संसार में मुख अधिक ही या तु ए ! जो पश्चिमी परिवर्त आधिमीलिङ् मुद्रा को ही परम शाश्वत मानते हैं उन्हें से बहुतरों का कहना है कि यहि संसार म मुख के दुख ही अधिक होता, तो (जब नहीं तो) अधिकाह लोग अवश्य ही आल्महत्या कर देंगे। क्योंकि जब उन्हें मालूम हो जाता, कि संसार दुःखमप है तो वे सिर उसमें रहने की क्षमता में क्यों पहुँचते ! बहुपा देखा जाता है कि मनुष्य अपनी आपु अपात् खीक्कन से नहीं बचता; इसकिये निश्चयपूर्वक यही अनुमान किया जा सकता है कि इति संसार में मनुष्य को दुख की अपेक्षा मुख ही अधिक मिलता है और इसीकिये घम-अघम का निर्णय भी मुख को ही सब खैगों का परम शाश्वत समक्ष कर, किया जाना चाहिये। अब यहि उपर्युक्त मत की अप्पी तरह चौंच की जब तो मालूम हो जायगा कि यहों आल्महत्या का जो तमक्ष सातारिङ् मुद्रा के द्वारा चौंद दिया जाया है वह बहुत शत्य नहीं है। हों यह यत् सच है कि कभी कभी कोई मनुष्य संसार से बचत ही कर आल्महत्या कर देता है परम्परा सब लोग उसकी गजना 'अपशाद् म अपशाद् पापात्मे' मैं किया जाते हैं। इससे मही बोध होता है कि सब-  
आशारण स्कैग मी आल्महत्या करने या न करने का सम्भव छातारिङ् मुद्रा के द्वारा नहीं चौंडते किन्तु उसे (आपात् आल्महत्या करने या न करने का) एक स्वतन्त्र यत् समझते हैं। यहि असम्भव और अल्पी मनुष्यों के उस 'संसार या खीक्कन का किनार किया जावे जो मुझे दुष्ट आर सम्य मनुष्यों की दृष्टि से अस्फूर कहायक और दुश्मन्य प्रतीत होता है तो भी वही अनुमान निष्पत्त होगा किसका खैक्कन उसके बाह्य मैं किया गया है। प्रशिद् नृषिद्याकृष्ण चास्त  
शारिन ने अपने प्रवास-ग्रन्थ में कुछ ऐसे अंगरी खेगों का वर्णन किया है कि है उसने दक्षिण-अमेरिका के अत्यन्त दक्षिण प्रान्ती मैं देखा या। उस वर्णन मैं किया है कि वे असम्भव खेग - स्त्री, पुरुष सब - कठिन जाते के लिंगों मैं भी नगे चूमते रहते हैं; "नके पास भनाव फा कुछ भी उपहान रहने ते इन्हे कभी कभी भूर्गी मरना पड़ता है तबाहि इनकी उम्मा दिनोंमिन दृश्य ही जाती है।"<sup>\*</sup> देखिये उगली मनुष्य मैं भफनी जान नहीं होते; परम्परा क्या दृश्ये यह अनुमान किया जा सकता है कि उनका संसार या खीक्कन दुखमप है ! नजापि नहीं। यह यत् सच है कि

हो जाय, तो कल सूची नहीं इस्तम उपर हो जाती है और मन में यह मात्र उत्तम होता है कि वह इस्तम भी उपर हो। ज्यों प्यो मनुष्य की इस्ता या वासना उपर होती जाती है, त्यों त्यों उसकी दौड़ एक विषम भागों ही करती जब्ती जाती है और, जबकि यह वात अनुमतिहासिक है, कि इन तीव्र इस्तमों या वासनाओं का उपर होना उत्तम नहीं तब इसमें सहेज नहीं कि मनुष्य दुर्ली तुए किना रह नहीं सकता। यहाँ निम्न हो जाती के मेंट पर अस्ती तरह आवान देना आहिये : ( १ ) तब सुख देवत गुणा-स्वप्न-रूप ही है, और ( २ ) मनुष्य की वित्तना ही सुख मिथे तो भी वह अस्तुतु दी रहता है। यह कहना एक बात है कि फ्लेन मुख दुर्लामावस्थ नहीं है। किन्तु सुख और दुख इन्द्रियों की हो सत्तम बदलाएँ हैं और यह कहना उससे फिल्डुल ही मिथ है कि मनुष्य किंचि एक समय पाये तुए सुख को भूल कर भी अधिकारिक सुख पान के किंचि अस्तुतु बना रहता है। इनमें से पहली बात सुख के वास्तविक स्वरूप के विषय में है; और दूसरी जाए यह है कि पाये तुए सुख से मनुष्य की पूरी तृप्ति होती है या नहीं ? विषय-वाचना इमेणा अधिकारिक बहरी ही जाती है इलिये जब प्रतिदिन नये नये सुख नहीं मिथ सकते तब वही मास्तम होता है कि पूर्खपात्र सुर्दों को ही बार बार मैग्ने रहना आहिये — और इसी से मन की इस्तम का उमन नहीं होता। विटेक्सियर नामक एक रोमन वाङ्घाना है। वह होते हैं कि वह जिक्का का सुख इमेणा पाने के किंचि, भोजन करने पर किंचि औषधि के द्वारा के कर दाढ़ता या; और प्रतिदिन भलेक बार मोजन किया करता या। परन्तु, भन्त में पछ्यानेवाले पवारि राज्य की कथा इससे भी अधिक गिरावचक है। यह राज्य गुरुनाचाव के द्वाप से कुद्र हो गया था। परन्तु उन्हीं की कृपा से इतको यह उत्तर मिथत मी हो गई थी कि अपना कुद्रपा किंचि को हे कर इसके पछट में उसकी बदानी से है। तब इसने अपने पुढ़ नामक ऐसे भी तदणावला मौंग सी और सौ गो सी नहीं पूरे एक हजार कर्द तक सब प्रकार के विषय-सुर्दों का उपनेग किया। अस्त मैं डले पही भगुन दुभा कि इस कुनिया के सारे पदार्थ एक मनुष्य की भी सुख-वाचना को दूत करने के किंचि पर्यात नहीं हैं। तब उनके सुख से यही डाक निष्क्रम पदा कि ।—

न जातु कामा कामानी उपमोयेन इम्प्याति ।

इविदा कृष्णवर्मेन शूष्य पवामि पते ॥

भगवान् “ सुर्दों के उपनेग से विषय वाचना की तृप्ति तो होती ही नहीं; किन्तु विषय वाचना दिनोंदिन उसी प्रकार कर्ती जाती है ऐसे अभि की ज्ञान इक्कपड़ाओं से कर्ती जाती है ” ( म भ भा ४६ ४९ )। पही भलेक मनुस्मृति मैं भी पाया जाता है ( मनु २ ४ )। तात्पर्य यह है कि सुख के वाचन जारे किन्तु उपनेग द्वा ले सी भी इन्द्रियों की इस्तम उत्तरोत्तर कर्ती ही जाती है। इससिय फैल सुनेग मात्र मैं सुख की इस्तम कर्ती कृप नहीं हो उक्ती उनको रोकने के किंचि

मुख्य ह या मुख्य ह ? इस प्रभ का निषय करने के लिये, पूक्खानुसार नरदेह प्राप्ति-रूप भजने नैसर्गिक मामय की बात हो जाए वह, ऐस इच्छ पश्चात् भर्यात् इति संसार ही की बात का विचार करना चाहिये । मनुष्य आत्महत्या नहीं करता किंतु वह जीने की इच्छा करता रहता है । तो यिस संसार की प्रकृति का कारण है । माधिमात्रिक पदितो के कथनानुसार संसार के सुखमय होने का यह कोई सबूत या प्रमाण नहीं है । पह बात इस प्रकार कही ज्य सच्ची है कि, आत्महत्या न करने की कुपि स्थामात्रिक है वह कुछ संसार के सुखानुग्रह के तारतम्य से उपर नहीं तुइ ह आर, इसी लिये इससे पह खिल हा नहीं सकता कि संवार सुखमय है ।

अब यह मनुष्यकल्प पान से शीमांग को और ( उच्च बाद के ) मनुष्य के संसारिक व्यवहार या 'जीवन' को भ्रमण एक ही नहीं समझ देना चाहिये । ऐस मनुष्यत्व, और मनुष्य के नित्य व्यवहार अपना संसारिक जीवन, य दोनों मिल मिल जाते हैं । इस भेद को व्यान में रख कर पह निष्पत्य करना है कि इति समार में भेद नरदेह भारी प्राणी के लिये सुप्रभिक है अपना तुल । इस प्रभ का पथाय निषय करने के लिये बेदल यही दोनों पक्षमात्र साधन या उपाय है, कि प्रमेत् मनुष्य के वर्तमान समय की बातुनाभा में से किसी बासनार्थे सफ़ल तुइ और किसी निष्पत्य । 'बुद्धान समय की' कहने का कारण पह है कि ये जाते रम्य या सुखी तुल दृश्य के समी लोगों ही प्राप्त हो जाया जाती है उनका नित्य व्यवहार में उपयाम होने ज्यादा है और उनके द्वे सुप्रहम्म मिलता है उत हम द्वय भूल जाया जाते हैं । एव जिन बलुओं को पान की नर इच्छा उपर होती है उनमें उ किसी हम प्राप्त हो जाती है जिसके उन्हीं के आधार पर हम इति संसार के सुख तुलाओं का निषय किया जाते हैं । इस बात की तुलना करना कि हमें बनमान काम में किसने जाय साधन उपलब्ध है और सी क्य पहल इनमें से किसने कुन्त-साधन प्राप्त है य य और इस बात का विचार करना आद के जिन मैं मैं सुखी हूँ या नहीं; य दोनों जात अन्यतु मिल है । इन जातों को समझने के लिये उत्तराहरण स्वीकृत । इसमें सह नहीं कि सी वर्त पहल की कल्याणी की यात्रा से बनमान तमय की रेखांगी की यात्रा भविक सुखानारक है । परन्तु अब इस रेखांगी से मिलनेवाले कुप्र क 'तुलामय' का हम भूल यांय है । और इसका परिणाम पह यीज पहला है कि किसी जिन दाक भर में भासी है और हमारी किसी हमें तमय पर नहीं मिलती, तो हमें अच्छा नहीं लगता - कुछ तुल ही ना होता है । अतएव मनुष्य के बनमान तमय के कुप्र तुलों का विचार 'न कुप्र-जापनी' के आधार पर नहीं किया जाता कि जो उपलब्ध है; किन्तु पह विचार मनुष्य की 'बनमान आवश्यकताभी' ( इच्छाभी पा जानाभी ) के आधार पर ही किया जाता है । और वह हम इन आवश्यकताभी इच्छाभी पा जानाभी का विचार करने चाहते हैं । तर मात्र ही जाता है कि उनका कोई भल ही नहीं - के भनन और भनर्यात्रित है । परि हमारी यह इच्छा आद तुल

फल यह होता है कि वह अपूर्णोंक पूर्णता भी और न या कर अभिकापिक अपूर्णता भी और चल जाता है। इसमा मतलब यही है कि बोर्ड मनुष्य किना थी मुखोपमोग के, उत्तरी सुलेष्म दिनोऽनि बद्धी ही जाती है किससे वह आणा करना अर्थ है, कि मनुष्य पूज सुनी हो जाता है। प्राचीन ग्रन्थ में किना मूल वा "सका विकार करते समय हम ऐसे इस अपूर्णोंक के अघ का तो पूर्ण घ्यान रखते हैं। परन्तु इस बात को मूल जाते हैं कि अघ भी अपेक्षा हर किना कड़ गया है। किन्तु जब हमें कुन दुर्लभी माना का ही निर्णय करना है तो हम किसी घाट का विचार न करके तिर्फ़ यही देखना चाहिये कि उच्च अपूर्णोंके अघ और हर में कैसा उत्तर है। जिस हमें आप-ही<sup>†</sup> भाषा मालूम हो जावगा, कि इस अपूर्णोंक का पूर्ण होना असम्भव है। न बात काम ज्ञाना इस मनुष्यचन का (२ १४) भी यही अर्थ है। संगत है कि बुद्धी को कुन दुर्लभ नापने की गणित भी यह रीति पसन्न न हो; अर्थात् यह उत्तरामापक यज्ञ के समान बोर्ड निर्धित साधन नहीं है। परन्तु इस युतिकाट से प्रछट हो जाता है कि उस बात को सिद्ध न करने के लिये मी कोई निर्धित उपाय नहीं कि संसार में कुन ही अभिक्ष है। यह भाषण शीर्णी की क्षमा के लिये समान ही है। इसकिये उक्त प्रतिपादन के साधारण छिद्रान्त में - अधीर्दृ उस छिद्रान्त में जो मुखोपमोग की अपेक्षा मुखेष्म की अमर्दीर्णित शुद्धि से निषम होती ह - यह भाषण दुष्क जाता नहीं जास जाती। अर्थ ग्रन्थों में उच्च संसार के इतिहास में इस छिद्रान्त के पोषक अनेक उदाहरण मिलते हैं। जिसी अमान स्पन देख में मुखस्मानों का राज्य था। वहाँ दौतरा अमूल रहमान० नमक एक बद्रु ही न्यायी और परामर्शी जाग्रथाहा हो गया है। उसने यह देखने के लिये - कि मेरे दिन कैसे बद्रु हैं - एक रोमानस्या ज्ञाया था। किस देखने के अन्त में उसे यह द्वात्र हुआ कि पचास कर्त्ता के शासन काळ में उन्होंके देखस्त पौराह दिन मुखस्मूर्द्ध थीं। जिनी ने हिताद करके देखया है कि उत्तारमर के - विशेषतः यूरोप के - प्राचीन और अर्द्धाचीन सभी दासानियों के मर्त्यों को देखें; तो यही मालूम होगा कि उनम से याक भाषे लेग संसार का दुर्गमय बहुते हैं भीर प्रायः भाषे उच्च कुरुमय बहुते हैं। अपार्दृ वर्तार को मुखस्मय उच्च कुरुमय बहुतेवाच्ये की उम्मा प्राप्त करायर है। † यदि इस तुम्ह तत्त्वा में हितु वर्तार के मर्त्यों को खट है, तो बहना नहीं होगा कि संसार की दुर्गमय मानेवाच्ये की उम्मा ही अधिक हो जायगी।

संवार के कुन दुर्ली के उत्त विदेशन का मुन कर कोई उम्मानमारीय पुरुष कह जाता है कि यशसि तुम इस छिद्रान्त की नहीं मानते कि मुन कार्दृ उच्च प्राप्त नहीं है परमा उच्च तुम्हामय क्षमों की ओरें जिन शान्ति नहीं मिल जाती।'

Moor in Spain p. 128 (Story of the Nations Series).

† Macmillan's Promotion of Happiness p. 26.

कुछ अन्य उपाय अवश्य ही करना पड़ता है। यह सब इमरे सभी धर्म-ग्रन्थकारों की प्रमहया मान्य है और इस्तिये उनका प्रथम उपचार पर है; कि मनुष्य मनुष्य का अपने कानोपमोग की मायाग काष्ठ स्त्री चाहिये। औ लेकिं वहा करते हैं कि इह लंतार में परमधार्य कैवल विवाहोपमोग ही है, वे यहि उक्त भगवन्त विद्वान्त पर पोदा भी प्याज है तो उन्हें अपने मन की निस्तारता दुरन्त ही मात्र हो जायगी। ऐसि धर्म का यह विद्वान्त बौद्धधर्म में भी पाया जाता है; और, यद्यां राग के उपर माधारा नामक पारागिक राग न भी मरते रहते कहा है -

न कहापववस्तेन तिति वामसु दिव्यति ।  
आपि दिव्येतु वामसु रति सो माधिमन्तुति ॥

' कायाचण नामक महामूस्तकान् लिख की यहि वजा होने व्यो, तो भी कामकारना की लिति भयात् तृती नहीं होती भार स्वरा का भी मुख मिथ्ये पर कानी पुरुष की कामच्छा पूरी नहीं होती। ' यह वर्णन घम्पट ( १८६ १८७ ) नामक घोष प्रथ में है। इसे कहा जा सकता है कि विवाहोपमोगमन्ती सूक्ष्म की पूर्ण कमी हो नहीं सकती भार इसी सिये दृष्टिकोण मनुष्य की हमेशा एता मात्रम होता है कि भी तुम्हीं हैं ! मनुष्यों की इह रिपति को विचारने से वही विद्वान्त स्थिर करना पड़ता है ग महाभारत ( शा २ ६ ६; ३१ ११ ) म कहा गया ह -

सुपाहुतरं दुर्गम जावित ताजित माया ।

भयान् इस शीक्षन में पानी लंतार में मुख भी भरेजा दुर्गम ही अप्ति है। वही विद्वान्त कापु दुर्गम ने इस प्रकार कहा है:- दुर्गम होना तो रात लात है भार दुर्गम पवन के तमान है। डपनियकारों का भी विद्वान्त ऐता ही (मिष्यु १ २-४)। गीता ( ८ १६ और .. ३१ ) में भी कहा गया है कि मनुष्य का राम भगवान् भीर दुर्गमों का पर है तथा यह लंतार भनिय और 'तुम्हारहि त' है। उमन परित शारेनहर का ऐता ही मन है जिसे निष्ठ करने के लिये उन न एक दिव्यिक एवं लिपि है। यह कहता है कि मनुष्य की तमान तुम्हेष्टाभीं मैं से लिनी दूषे पूर्व तमान होती है उनी परिमात्र मैं हम ठग्हे मुग्ही समान हैं; और यह दुर्गम द्याभीं भी भरेजा दुर्गमोग कम हो जाता है तब कहा जाता है कि यह मनुष्य इन परिमात्र में दूर्ती है। इन परिमात्र का गतिवीति ले तमाना हो तो दुर्गम एवं यह दुर्गमोग के जाग देना चाहिये और भगवान् के द्वार मैं दुर्गमोग एवं लिङ्गा परिवर्य परम्पुरा यह भगवान् है भी दिव्यिक दर्शक इतना हर ( भगवन् दुर्गम ) भरा ( भगवन् दुर्गमोरक्षेत्र ) की भरता हमला भरितारित इतना ही रहता है यहि यह भगवान् परमे ने ही भर दरि भरो - उन्होंना भगवा १ न १ ही दृश्य में उल्लता हर ५ न ३ ही दृश्य - भगवा एही भगवान् ने ही उन्होंना ८ दृश्य ८ दृश्य दर ८ वर्ष भगवन् उन्होंना ८ दृश्य है; लिङ्गा

सर्व परब्रह्म बुद्धिं सर्वमात्मवशा सुप्यम् ।  
पतादियात्समाप्तेन सक्षमं सुखबुद्धियो ॥

अर्थात् ये दूसरों की (बाइबलुमों की) अधीनता में है वह सब बुद्ध हैं और ये अपने (मन के) अधिकार में हैं वह सुप्त हैं। यही मुख्य बुद्धय का समिति सहज है (मनु ४ १६) नैवायिकों के ज्ञातस्थै दृष्ट लक्षण के 'कैवल्या शास्त्र' में धारीरिक और मानविक दोनों वैनाभों का समावेश होता है और उससे सुख बुद्ध का बाइबलुमस्त्रप मी मात्रम हो जाता है और मनु का विशेष व्याप्ति सुप्त दृष्टों के केवल भान्तरिक अनुभव पर है। इस इतत को व्याप्ति में रामने से सुप्त-बुद्धों के उच्च दोनों स्तरों में दुष्ट विशेष नहीं पैदा। इस प्रकार यह मुख्य बुद्धों के विषे निविया का अवसर्व अनावश्यक हो गया तब तो यही यह। आहिये कि ॥—

भैवस्यमतह बुद्धस्य पवेतकानुचितयेह ।

मन से बुद्धों की चिठ्ठन न करना ही दुरानिवारण की अचूक औपचि है (मा शा २ ५ २) और इसी तरह मन को त्वा कर सत्य तथा भग्न के लिये मुख्यपूर्व भग्नि में बद्ध र मन हो जानेवालों के अनेक उदाहरण इतिहास में भी मिलते हैं। इसलिये गीता का कथन है कि हमें ये दुष्ट करना है उसे निप्रह के लाय और उत्तरी पश्चिमा को छोड़ कर तथा सुप्त बुद्धय म सममात्र रख कर करना चाहिये। ऐसा करने से न सो हमें क्षमावरण का स्वाग करना पैदा भीर न हमें उत्तरे दुष्ट की बाधा ही होगी। पश्चिमा स्वाग का यह अर्थ नहीं है कि हमें ये कथ मिल जाए छोड़ दें अथवा हेमी न्यूना रख कि वह पक्ष विरुद्धी को भी न मिले। इसी तरह पश्चिमा मै— और यह करने की केवल इच्छा भाष्या हेतु या पक्ष के लिये विरुद्धी जात की चाहना करने मै— मै बहुत भावर है। केवल हात्यार हितने की इच्छा होने मै भीर अमुक मनुष्य को पराहने के लिये या भिन्नी मनुष्य की जात मारने के लिये हात्या हीर हितने की इच्छा मै बहुत भाव है। पहली इच्छा के स्वरूप कम करन की ही है। उनमें काह दूलय हेतु नहीं है। भाव यह इच्छा एवं यी शाय ता कम का करना ही उक्त जायगा। इन इच्छा के भवितिरिक्त प्रयोग मनुष्य का इस जात का ज्ञान मै होना चाहिये कि इरण्ड भर्म का दुउम दृढ़ पक्ष भग्ना परिणाम न्यूनत्व ही होता। वर्ती एवं ज्ञान के साथ साय तथा इन दो की इच्छा भी न्यूनत्व हिन्नी पाहिये कि मै अमुक पश्चिमात्रि के लिये अमुक प्रश्ना की याज्ञना करें ही अमुक कम करना चाहता है। नहीं को उत्तर गभी बाय पश्चिमा के स निरपर एवं वर्ती। ये सब इच्छाएँ हेतु याज्ञनार्ति परिणाम मै हैं भावक नहीं होती भीर गीता का यह कथन भी नहीं है कि कोइ उत्तरों द्वा रहना गमरण १६ कि रिर्पा से ज्ञान भाग कर उक्त मनुष्य के मन मै यह

तथा प्रति तुम्हारे ही कफनामुसार यह बात लिख दी है, कि सूक्ष्मा से भर्तोप और असंतार तु तुम उच्चम देखा है। सब देसी एवं स्पष्ट में यह कह दी मैं क्या इर्द है कि 'म भर्तोप को दूर करने के लिये मनुष्य को भक्ती दृष्ट्याभ्यां का और उन्हीं के लाभ सब लोगारिक बमों का भी त्याग करके सब सन्तुष्ट ही रहना चाहिये - फिर तुम्हें इस प्रति या विचार नहीं करना चाहिये, कि उन बमों का तुम परामर्शार के लिये करना चाहते हो या स्वार्थ के लिये। महामारत (अन २१ २२) में कहा है, कि 'भूतात्म्य नास्त्वन्तस्तु उद्दिष्टु परम मुमम्' मयात् भर्तोप का अन्त नहीं है और सदाचार ही परम मुख्य है। उन और जीड़ बमों की नीच भी इसी तस्व पर आशी गई है; तथा एवियों इसीं में शोपेनहरू<sup>१</sup> ने भक्ताचीन काल में इसी मत का प्रतिपादन किया है परन्तु 'उसके लिये यह प्रभ मी लिया जा नमता है' कि इन्हाँ से कभी कभी एवियों काल भक्ताचीन का उच्चरण करना पस्ता है तो क्या भीम का ही समूल कार कर पक्का ज्ञान चाहिये? अग्रि से कभी कभी मरान उस बात दूर तो क्या लेगी ने अग्रि का मनवा त्याग ही कर दिया है? या उग्होंने मोर्जन ज्ञाना ही छाड़ दिया है? अग्रि की जान बीन छहे तब हम दिग्गुज शक्ति को भी मराना में राप कर रखना निष्पत्त्यवरार के उपयोग में ज्ञान दूरी तरह सूक्ष्मा और असंतोष की भी सुप्रबन्धित मरान बीचना कुछ अनुमत नहीं है। ही यह असंतोष कुछाए में और कभी सुमधुर हानिसारक होगा तो जान दूरी भी परन्तु दिनार ज्ञान से मार्ग होगा तो सद्व्यवहार का नहीं है। अग्रन्तोष का यह अप दिग्गुज नहीं कि लिखी चीज़ को पान के लिये राम जिन हाय हाय करते रहे रहे रहे या न मिलने पर भिज गिरायत ही किया करे। ऐसे असंतोष को घास्तरारी ने भी लिया जाना है। परन्तु उस इच्छा का मूल्यन्तर भक्ताचार कभी लियनीय नहीं कहा जा सकता है यह कह कि तुम भर्ती जनमान लियनि में ही पहे यह नन्त मन रहा दिग्गुज रखने परामार्शित शास्त्र भार लभन्ति के अभिनाशित तुम्हार करने जामो तथा एवि के अनुभार ज्ञान उत्तम भवधारा में ज्ञाने का प्रयत्न करा। तो नन्त ज्ञान जार इनों में दिनक है उत्तम ज्ञाना न ज्ञान की अविद्या ने एवधय की भार दृष्ट्यां में ज्ञानव वी उत्तम द्वारा ही दृष्टा या जानना द्वारा ही तो बहना नहीं होगा कि यह ज्ञान दीप ही भर्ता त में पर्वत गया। उसी भन्नियाप के मन में इस कर दीपीन (ए १३) युक्तिर न कहा है कि जान दिग्गुज नमूद्यानमन्तरार लिय प्रीति - भवन यह दिग्गुज उत्तम भौंर ऐस्य दिल्लि में भक्ताचार (रामा) एवं यह ज्ञान है उसी तरह दिग्गुज ने भी भरने पुर दो उत्तेज बन ज्ञान (म ए ३. १३०-३१) ज्ञान के नामों से भिन्न ही - भवन गोंदे न देखय

का नाश होता है और विनी अन्य अक्षर पर एक बाक्षय (म. मा उमा ५६ ११) में यह मौजूदा गया है कि असन्तोषः भिषो मूलम् अर्थात् असन्तोष ही ऐश्वर्य का मूल है।<sup>१०</sup> ब्राह्मणधर्म में सन्तोष एक गुण बताया गया है उहाँ; परन्तु उसका अर्थ केवल यह ही है, कि वह चारुर्पर्यं अमानुषार इन्द्र्य और ऐश्वर्य के विषय में सन्तोष रखे। यदि क्षेत्र ब्राह्मण कहने स्थे, कि मुझे जितना जान मिल हो मूल है, उसी से मुझे सन्तोष है तो वह स्वयं अपना नाश कर देंगा। इसी तरह यदि क्षेत्र वैराय या शूद्र अपने अपने जन के अनुषार जितना मिल है उसना पा कर ही सजा सन्तुष्ट करा दें तो उसकी मौजूदी व्याप्त होती है। सारांश यह है, कि असन्तोष उच्च भावी उत्कृष्ट का प्रधान का ऐश्वर्य का और मोक्ष का भीष है। हमें इस बात का समैक्षण्यान रखना चाहिये कि यदि हम असन्तोष का पूर्णतापा नाश कर दास्ति, तो इस लोह और पर्णोक में मौजूद दुर्गति होती है। शीघ्रप्ल का उपर्युक्त सुनते समय यदि अनुज ने कहा, कि 'भूम' क्षय तुसिर्हि शूलवाना नास्तिमेऽमूलम् (गी १ १८) अर्थात् आप के अमूल्यतुस्य माध्यण को मुन कर मेरी तुसि होती ही नहीं। इसकिये आप फिर मी अपनी जिनूतियों का कर्मन कीदिये— तब भगवान् ने फिर से अपनी जिनूतियों का वर्णन आरम्भ किया। उन्होंने ऐसा नहीं कहा कि तू अपनी इच्छा को वश में कर। असन्तोष या अतुसि अपनी जात नहीं है। उससे यिद दोष होता है कि योन्य और क्षयाणकारक व्यक्ति म उचित असन्तोष का होना मानान् को मौजूद है। मुनुहरि का मी इसी अवधारण का एक अध्येता है। यथा : यद्यपि चामिक्षिमृदनं मूलो भयात् बचि या च्छ अवस्थ द्वानी चाहिये, परन्तु वह वश के किये ही। और एवत्तन मौजूद होना चाहिये परन्तु वह विषय का ही अन्य व्यक्ति का नहीं। कर्मनोप भावि विकारों के समान ही असन्तोष को मौजूद भनिकार्य नहीं होने देना चाहिये। यदि वह भनिकार्य हो जायगा तो निरस्तोह इमोरे तदस्त का नाश कर द्याएगा। इसी हेतु से देवद विषयमोग की ग्रीति के किये दृष्टा सद कर और एक भावा के बाह दूरी अद्या इस कर सासारिक मुर्ती के पीछे हमेषा अनुज्ञावाले पुरुषों की उम्मिद की गीता के साव्वदे अवसान में भासुरी उपर्युक्ति कहा है। देखी रसत-दिन की दृष्टि हाप करते रहने से मनुष्य के मन की रातिक शृणिया का नाश हो जाता है। उसकी भवोगति होती है और दृष्टा की दूरी तुसि द्वाना भवतम्भ द्वाने के बारण कामोपमोग-वालना नित्य अभिकाशित करती जाती है; तथा वह मनुष्य अन्त में दृष्टि दृष्टि में मर जाता है। परन्तु विपरीत पथ में दृष्टा और भवतम्भ होने के बाब्त दृष्टिरिताम से दृष्टने के किंव तब प्राप्त के दृष्टाभी के द्वारा तब कायों को एकत्र उठ केन्द्र मौजूद वास्तविक माम नहीं है। उक्त क्षमानुग्रह दृष्टा का असन्तोष मात्री उच्चर का भीष है। इसकिये जात के दृष्ट को ही मार दाढ़ने का प्रयत्न कर्मी

Cf. "Unhappiness is the cause of progress." Dr. Paul Carus. *The Ethical Problem*, p. 251 (2nd Ed.)

मर रहता है कि मैं जो कम करता हूँ, मेरे उस कम का भवुक पूँछ मुह मवद्य ही मिलना चाहिये — अपात् जब कमफल के विषय म, कर्ता की बुढ़ि में भवत्य की यह आसच्छि, अभिमान अभिनिषेध आप्रह या “अज उत्पम हा बाती है और मन उसी से प्रस्तु हो रहता है — और जब इच्छानुशार फल मिलने म जाप होने स्थानी ह तभी तुम्ह परम्परा का प्रारम्भ हुआ करता है : जहि यह जागा अनिषाय अवधा द्वयूत हो तो क्षेत्र निराशामात्र हाती है परन्तु वही कही मनुप्रहृत्य हुइ तो जिस ओप और ड्रेप मी उत्पम हो जाते हैं, किसमे कुक्षम होने पर मर मिटना पत्ता है। कम के परिणाम के विषय में जो यह ममत्यमुक्त आसच्छि हाती है उसी को ‘फसाया’ ‘उग और ‘अहकारबुद्धि कहत है और यह काव्यने के लिये कि उत्तार की तुम्हपरम्परा यही से बुढ़ होती है गीता के दूसरे अध्याय में कहा गया है कि विषय सम से काम, काम से क्रोध क्रोध से माह आर अनन्त में मनुप्य का नाश भी हाता है (गी २ ६३, ६४)। अब यह जल्त सिद्ध हो गा कि जब सुष्ठि के अचेतन कम स्वयं हुए के मूँछ बारम नहीं है किन्तु मनुप्य उनमें जो फसाया उग काम या “अज लगाये रहता है वही यथाय में हुए का मूँछ है। ऐसे तुम्हाँ से क्ये एहने का सहज उगाय यही है कि भिक्ष विषय की फसाया उग काम या आसच्छि को मनानिप्रहृत्या छोड़ देना चाहिये। सम्पाद्यमार्गिवाँ के क्षमानुशार सब विषया और ज्ञो ही को अधका सब प्रकार की इच्छाओं ही का छोड़ देन की ओर आकर्ष्यकता नहीं है। “सी लिय रीता (२.१४) म कहा है कि जो मनुप्य फसाया को छोड़ कर घण्टामात्र विषयी का निष्काय और निम्नगुद्धि से सदन करता है वही उग गिरत्यह है। सुनार क कम एवं हार कमी बढ़ नहीं सकत। मनुप्य जाहे इम नकार मै रह या न रह परन्तु प्रहृति भपने गुणमानुशार लैैै भपना एपापार करती ही रहगी। जब प्रहृति का न तो इद्यमें बुढ़ मूँछ है और न हुए। मनुप्य एवं अपनी महत्ता सुमन्त बर प्रहृति के एवं हारों में आसक्त हो जाता है। इसी लिय वह मूँछ हुए का भागी हुआ करता है। यहि वह इल आसक्त-बुढ़ि को अ— और भपने सब एवं हारों भाग्ना से करने लिये कि गुणा गुणेत्र बनन्त (गी ३ २८) — प्रहृति के गुणमानुशार ही सब एपापार ही रह है तो भयन्त्राएङ्ग्य काइ मी दुष्प लक्ष्या रह ही नहीं सकत। इन लिये यह उमन बर कि प्रहृति का भाग्ना एपापार करती ही रहती है उपर लिये सुनार को तुम्हप्रयत्न मन कर रख नहीं रहना चाहिये और न अनुका स्थान नहीं का प्रयत्न रखना चाहिये। महामारत (गी ४ १) मै एपासदी ने मुखिश्च वा वह उपरेष्ठ लिया है ति —

सुर वा पदि का हुए विषय वा पदि लाऽविषय ।  
प्राप्तं प्राप्तमुपामीत इषेषापराजितः ॥

सर्वं परवशा दुःखं सर्वमायमवशा सुखम् ।  
पताक्षियास्तमासेम छक्षर्णं सुखदुःखयोः ॥

अर्थात् ये दुर्दशों की ( बाध-बलुओं की ) भवनिता म है वह सब दुःख है और वह अपने ( मन के ) अधिकार में है वह सुख है । यही सुख दुःख एवं सख्ति सख्त है । ( मनु ४ १९ ) नैयायिका के अनुसार दुष्ट लक्षण के 'वृद्धना श्वास में धारीरिक और मानसिक दोनों वैद्यनाभों का समावय होता है और उससे सुख दुःख का वास पशुवरूप मी मालम हो जाता है और मनु का विदेश व्यान सुख दुःख के वैद्यन अनुभव पर है । मन "स वात को व्यान मै रखने से सुख-दुःखों के उच्च दोनों स्तरों मै दुष्ट विरोध नहीं पड़ेगा । इस प्रकार वह सुख-दुःखों के स्थिर इन्द्रियों का अवश्यक अनावश्यक हो गया तब तो यही वहाँ आहिये कि -

### मैत्रज्ञप्रमेतद् दुःखस्य पशुत्वासु विनाशयेत् ।

मन से दुर्दशों की विद्वन न करना ही दुखनिवारण की असूक्ष्म भीपथि है ( मा शा २ ५ २ ); और इसी तरह मन को दृश्य कर सत्य तथा धर्म के स्थिर सुखरूपक अभिन्न मै बल्कर मनम हो जानेवासमे के अनेक उत्ताहरण इतिहास मै भी मिलते हैं । इसकिये गीता का कथन है कि इसे जो दुष्ट करना है उसे निपट्टे के ताव और उसकी फलपदा को स्लोड कर तथा सुख दुःख मै समाचरण करना पड़ेगा भाव न हमें उसके दुःख की जापा ही होगी । फलपदा स्वाग का यह अर्थ नहीं है कि इसे जो एस मिथुने उसे स्लोड दे अथवा ऐसी इच्छा रखें कि वह फल विद्यी को मी न मिथै । इसी तरह फलपदा मैं - और कर्म करने की केवल "एज आशा हेतु" का फल के स्थिर विद्यी वात की बोझना करने मै - मी पहुँच भतर है । केवल हाथपैर हिलने की इच्छा होने मै भाव अमुक मनुष्य को पहलने के स्थिर या विद्यी मनुष्य को लात मारने के विद्य हाथ पैर हिलने की इच्छा मै बहुत भैर है । यहाँ इच्छा बेकाम करन की ही है । उसमे कोइ दूखय हेतु नहीं है भाव यहि पह इच्छा ठीक ही वाय तो करना ही यह वायगा । इस इच्छा के अतिरिक्त प्रयोग मनुष्य का इस वात का ज्ञान मै हाना आहिय कि दूरणक एम का दुउन दुःख एम अपना परिणाम भवाय ही होय । वन्ही ऐसे ज्ञान के माध्य वाय उभे इन वाय की इच्छा मै भवाय हानी आहिय कि मै अमुक फलपदा के स्थिर अमुक प्रश्नार की वाक्या करके ही अमुक करना जाहसा है । नहीं तो उभे नभी वाय वाक्यार्थ के न विरप्त आभा बैरग । ये नव इच्छाहेतु, वाक्यार्थ परिणाम मै दूरणकारण नहीं होती भीर गीता का यह कथन मै नहीं है कि कोइ ऊर्ध्वी थे । परन्तु व्याप्त रह कि विषति से वात भावे झूँ कर वर मनुष्य के मन मै यह

नहीं करना चाहिये। उचित मार्ग तो यही है, कि हम इस बात का भली भीति विचार किया है, कि विच तृष्णा या किंच असन्तोष से हमें दुर्घट होगा और जो किंचित् आशा तृष्णा या असन्तोष दुर्लक्षण हो उसे छोड़ । उनके लिये समस्त कर्मों को छोड़ देना उचित नहीं। केवल दुर्लक्षणी आशाओं को ही छोड़ और सरकार करने की इस युक्ति या कौशल को ही योग अथवा कर्मयोग छोड़ है (गी २.६); और यही गीता का मुख्यतः प्रतिपाद्य किया है। इसलिये यहाँ योग-सा इस बात का और विचार कर देना चाहिये, कि गीता में किंच प्रकार की आशा को दुर्लक्षणी कहा है।

मनुष्य का से सुनदा है तत्त्वा से स्वर्ग करता है भीतों से देखता है गिरा ते स्वाद लेना है तथा नास से सूखदा है। इन्द्रियों के पे म्यापार त्रिंश परियाम से इन्द्रियों की शुचियों के अनुकूल या प्रविन्दूल होते हैं उसी परियाम से मनुष्य को दूर अपार दुर्लक्षण होता है। मुन-दुर्ल के बलुस्वरूप के स्वरूप का यह वर्णन परते ही तुम हैं। परन्तु मुन-दुर्लों का विचार केवल इसी म्यापया से पृथ नहीं ही यता। भाषिर्भीतिः मुन-दुर्लों के उत्पन्न होने के लिये बाह्य परायों का वर्णन इन्द्रियों के साथ इन्ना यद्यपि प्रथमतः भावस्यक है तथापि इसका विचार करने पर — कि भागे इन मुन-दुर्लों का अनुभव मनुष्य को रीति से होता है — यह मात्र होगा कि इन्द्रियों के स्वामाविक म्यापार से उत्पन्न होनेवाले इन मुन दुर्लों को बनने का (अपार इन्हे अपने किसी स्वीकार या अस्वीकार करने का) एवं इरण अनुष्य अपने मन के अनुसार ही किया करता है। महाभारत में यहाँ है कि चमुः पश्यति व्यापि मनसा न दु चमुणा (म. म. शा. ११३, १३) — भयान् देखने का काम केवल भीतों से ही नहीं होता किंतु उस मन से भी मैं तदायता होती है। और यह मन म्यापुल रहता है तो भीतों से देखने वाले भी भन पाया हो जाता है। दृहगरम्यकोपनियद (१.६.१) में भी यह एन पाया जाता है; पाया (अन्यतमना भूर्व नाशपम्) मेरा मन दूरी भैर व्यज पा; इतनिये मुत्ते नहीं दीप पदा और (म्यापमना भूर्व नाभौपम्)

मैं पर मन दूरी ही और पा इसमिये मैं मुन नहीं सका — इससे यह गाराया गिर हो जाता है कि भाषिर्भीतिः मुन-दुर्लों का अनुभव होन के लिये इन्द्रियों के साथ मन की भी तदायता होनी चाहिये; और भाष्याभिः मुन दुर्ल की मनमिह रहने ही है। ताराय यह है कि तब प्रकार के मुन-दुर्लों का अनुभव भूल में इसते मन पर ही भवस्मिन्न रहता है भीर यहि पह एन तत्त्व है तो पर यै भार ही भान गिर हो जाता है कि मनोनिष्ठ से मुन-दुर्लों के अनुभव य भी निष्ठ अर्थात् एमन बरना दुष्ट अनुभव नहीं है। इसी बन पर एन एन दूर मनुष्य ने मुन-दुर्लों का स्वाम वैष्णविष्ठों के लक्षण से भिन्न प्रकार का व्याप्ता है। अन्य कथन है कि —

कर्योंकि दूरे परग में मात्रान् ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया है, कि तेरा अधिकार कर्मस्थल के विषय में कुछ भी नहीं है। अर्थात् किसी क्रम का फल मिलना — न मिलना तेरा अधिकार की वज्र नहीं है। वह सुधि के कर्मविपाक पर जा एक पर अकल्पित है। फिर किस बात में हमारा अधिकार ही नहीं है उसके विषय में आशा करना — कि वह अमुक प्रकार हो — केवल सूर्यों का स्वर्ग है परन्तु यह तीसरी वज्र भी अनुमान पर अकल्पित नहीं है। तीसरे परग में कहा गया है, कि इच्छिये तु कर्म-फल की आशा रखने कर किसी भी काम हो मत कर। कर्योंकि, कर्मविपाक के अनुसार तेरे कर्मों का जो फल होता होगा वह अवश्य होगा ही। ऐसी इच्छा से उसमें कुछ न्यूनाभिकरण नहीं हो सकती और उसके द्वारा से या चाही ऐसे हो जाने ही की सम्भावना है। परन्तु यदि तु ऐसी आशा रखेगा या आपहु बरेगा तो दुसे वैकल्प व्यर्थ दुर्घट ही मिलेगा। अब यहाँ कोई कोई — किसेपठ उन्यारुमात्री पुरुष — प्रभ बरेगे, कि कर्म करके फलमात्रा लेने के इसांडे में पहुँचे भी अपेक्षा कर्मांशरण को ही छोड़ देना क्या अस्थ नहीं होगा? इच्छिये मात्रान् ने अन्त में अपना निश्चित मत भी कहा दिया है कि क्रम न करने का (अक्रमणि) तु एक मत कर। तेरा जो अधिकार है उसके अनुसार — परन्तु फलमात्रा छोड़ कर — क्रम करता जा। कर्मयोग भी इसी से ये सब चिदान्त "रुनं महत्पूर्णं है वि उक्त कर्मों के जारी चरणी को यदि हम कर्मयोगशास्त्र या गीताकर्म के चतुर्षून में वह तो कोई अविश्वासित नहीं होगी।

यह मात्रम हो गया कि इस सचार में सुन दुर्घट हमेशा क्रम से मिल करते हैं और यहाँ सुन की अपेक्षा दुर्घट की मात्रा अधिक है। ऐसी अवस्था में मैं जल यह चिदान्त बताया चलता है कि साकारिक एमों को छोड़ नहीं देना चाहिये तब कुछ सौगां भी यह समझ हो सकती है कि दुर्घट की आत्मनितक निश्चित करने — भीर भाव्यन्त दुर्घट प्राप्त करने — के तब मानवी प्रयत्न व्यष्ट हैं। और, केवल आधिकारितक अधार् निद्रियगम्भ जाय विषयोपमोग्रसी सुनों को ही दें तो यह नहीं कहा जा रहता कि उनकी यह समझ ठीक नहीं है। उपर है यदि कोई वास्तविक प्रश्नक्रम का लकड़ने के लिये हाथ फैल्ये हैं तो ऐसे आकाश का अन्तर्मा उस क साथ मैं कभी नहीं आता उसी तरह भात्यनितक सुन की आशा रख बर केवल आधिकारितक सुन के दीड़े लगे रहने से भात्यनितक सुन की प्राप्ति कभी नहीं होगी। परन्तु व्यरज रह आधिकारितक सुन ही तमस्त प्राप्त के कुनों का माण्डार नहीं है। इतनिय उपरुच कटिनाई में भी आत्मनितक और निष्प कुनू प्राप्त का भाग दूर दिया जा रहता है। वह ऊपर ब्लास्टा जा जुका है कि सुना क या मा क ८ — एक आरीरिक भीर दूरघट माननितक। शीर अपना दृष्टिया क पायारा की भवाना मन का ही भन्त म भवित भैरव द्वा पढ़त है। उनी पृथग मैं यह चिदान्त पालात है कि शारीरीक (भर्यात् भावि

मात्र होता है कि मैं जो कर्म करता हूँ, मेरे उस कर्म का अमुक फल मुझ अवस्था ही भिन्ना आहिये — अपार् जब कर्मफल के विषय में कर्ता की बुद्धि म ममत्व की वह आसक्ति, अभिमान अभिनिकेग आपह या इच्छा उत्पन्न हो जाती है और मन उठी से प्रसा हो जाता है — और जब दर्शनुसार फल मिलने में जापा होने स्थगी है तभी दुर्ल परम्परा का प्रारम्भ हुआ करता है । यहि यह जापा अभिनार्थ अथवा दैवहत्य हो तो केवल निराशामान होती ह फलनु वही कही मनुष्यहृत हुए तो किंव कोष और द्वेष मी उत्पन्न हो जाते हैं विसरु कुरम होने पर मर मिटना पड़ता है । कम के परिणाम के विषय में जो यह ममत्वयुक्त आसक्ति होती है उसी की 'फलाशा' 'उग और 'अहंकारबुद्धि' जहत है और यह कल्पने के लिये कि ससार की दुर्घटपरम्परा यही से शुरू होती है गीता के दूसरे अध्याय में कहा गया है कि विषय-संग से काम काम से कोष द्वेष से मोह और अन्त में मनुष्य का नाश मी होता है (गी २ १२ ६१) । अब यह जहत खिद हो यर्दे कि यह सुहि के अचेतन कम स्वय दुर्घट के नूल व्यारण नहीं है विन्दु मनुष्य उनमें जो फलाशा सग काम या इच्छा स्मार्ये रहता है वही यथार्थ में दुर्घट का मूल है । ऐसे दुर्लभों से कर्म रहने का सहज उपाय यही है कि लिये विषय की फलाशा सग, काम या आसक्ति को मनोनिप्रहश्चारा छोड़ देना आहिये । सन्यासमार्गियों के दर्शनानुसार उग विषयों और इमों ही की अभिका सब प्रकार की 'स्पृष्टियां ही को ओऽ देने की कोई आवश्यकता नहीं है । इसी लिये गीता (२.१४) में कहा है कि ये मनुष्य फलाशा को छोड़ कर यथाग्राम विषयों का निष्काम और निर्माणबुद्धि से सेवन करता है वही सज्जा दिवतप्रश्न है । ससार के प्रम-स्वप्नहार की रुक्ष नहीं लकड़े । मनुष्य चाहे इस ससार मैं रहे या न रहे परन्तु प्रहृति अपने गुणवर्त्मानुसार सदैव अपना व्यापार करती ही रहेगी । उग प्रहृति को न को 'समे कुछ मूल है और न दुर्घट । मनुष्य स्वर्थ अपनी महासा सम्न फर प्रहृति के व्यवहारी मैं आवक्ष हो जाता है । इसी लिये यह मुख्य-दुर्घट का मात्री हुआ करता है । यहि यह "त भासक्ष-बुद्धि को छोड़ के और अपने सब व्यवहार इस भासक्षा से करने को कि गुणा गुणायु बलत्ते (गी ३ २८) — प्रहृति के गुणवर्त्मानुसार ही सब व्यापार ही रह ह सो भसन्तोपन्न्य को भी दुर्घट उसको हो ही नहीं सकता । "त लिये यह सम्न फर कि प्रहृति तो अपना व्यापार करती ही रहती है उसके लिये सलार को दुर्घटपरमान मान फर रहते नहीं रहना आहिये; और न उसको स्पाग्ने ही का प्रयत्न करना आहिये । महाभारत (शा २५. २१) में म्यासदी ने मुख्यिर की यह उपरोक्त लिया है कि :-

दुर्घट चा यदि चा दुर्घट विषय चा पदि वाऽविषय ।  
पासं प्राप्तमुपासीत इषेनापराजितः ॥

“ जाहे मुल हो या दुःख, पिव हो अधिका अधिक औ इस समय ऐसा प्राप्त हो वह उस समय वेषा ही मन की निराश न करते हुए ( अर्थात् निष्ठा क्षम्भ अपने कर्तव्य को न लोकते हुए ) देक्न करते यहो ! इस उपर्युक्त महात्म पूर्णवाया हमी रहत हो सकता है जब कि हम इस बात के व्यान में रहते हैं कि उसार में अनेक कर्तव्य रहे हैं किंतु हुआ सह कर भी करना पड़ता है । मात्रादीता में स्थितप्रब्रह्म का वह असुख व्यवधान है, कि “ य उर्बनानभिक्षेहस्तक्षयाप्य शुमाष्टम् ” ( २ ५७ ) — अर्थात् शुम अधिका अद्युम ये कुछ भा पहुँच के बारे में कोई रुक्षा निष्पाद्य या निस्तुर रहता है और कोई उत्तम अमिन्दन या देष्ट कुछ भी नहीं करता वही स्थितप्रब्रह्म है । इस पर्याप्त अध्याय ( ५ २ ) में लिखा है कि ‘ न प्रतिष्ठेत्प्रिय प्राप्य नीतिकल्पाप्य चाप्यिष्यम् ’ — मुल या कर कुछ न जाना चाहिये और कुछ मैं अक्षर भी न होना चाहिये । एवं दूसरे अध्याय ( २ १४ १५ ) में इन मुन मुरारी को निष्ठाम-कुद्धि से भेगने का उपर्युक्त किया है । मात्रान् शीरूप्त ने उसी उपर्युक्त को शार बार बुहराया है ( गी ५ ९ १३ ९ ) । वेदान्तशास्त्र भी परिमात्रा में उसी को ‘ तत् कर्मो ऽप्य ब्रह्मार्पण करना ’ कहते हैं । और भक्तिमार्ग में ब्रह्मार्पण के काले ‘ शीरूप्तार्पण ’ शब्द की योजना की जाती है । कर यही गैतार्य का उत्तराश्य है ।

कर्म जाहे इसी भी प्रकार का हो परन्तु कर्म करने की इच्छा और उद्देश इस किना ज्ञेये तथा फूल प्राप्ति की आसक्ति न रख कर ( अर्थात् निस्तुर्कुद्धि से ) उसे करते रहना चाहिये और साथ ही मृत्यु में परिजाम-त्वरण में मिलनेवाले सुख हुल्लो को भी एक ही समाज सोगने के किये हैयार रहना चाहिये । देता करने से अमर्यादित तृष्णादि और असन्तोषश्लित दुष्परिज्ञामों से वो हम कर्मणे ही; परन्तु बुद्धि लाभ यह होगा कि तृष्णा या असन्तोष के साथ साथ कर्म को भी त्वाग देने से शीक्षन के ही नष्ट हो जाने का भी प्रलग भा सकता है वह भी नहीं आ जाएगा; और हमारी मनोहरिकार्या शब्द ही कर ग्रामिमात्र के किये हितप्र हो जाएगी । इसमें सन्देह नहीं कि इस तरह फक्षणा ज्ञेयों के किये मी इन्द्रियों का और मन का दैराम्य से पूरा दमन करना पड़ता है । परन्तु स्मरण रहे कि नित्रियों को स्वाधीन करके त्वार्य के काले दैराम्य से तपापि निष्काम दुर्दि से लेन्द्रप्रग्रह के किये उग्ने अपने अपने भ्यापार करने देता कुछ भी जात है । और सन्यास-मासांगुठर तृष्णा को मारने के किये नित्रियों के सभी भ्यापारों के अर्थात् कर्मों का भ्य भाष्टहपूर्वक समूक नष्ट कर दाक्षना विहुकृष्ण ही मिल जात है । “ न दोनों मै अमीन-आचमान का अन्तर है । गीता म इस दैराम्य का और इस इन्द्रियनिष्ठ का उपर्युक्त किया गया है वह पहुँचे प्रकार का है दूसरे प्रकार का नहीं और उसी तरह अनुगीता ( महा अध्य ३२ १०-२१ ) में करक ब्राह्मण-सवाद में उच्च करक ब्राह्मणस्मरारी वर्ते से कहते हैं कि —

मौतिक) सुख और अपेक्षा मानविक सुख और योन्यता अधिक है उसे वे कुछ अपने ज्ञन और प्रमाण से नहीं बताते। प्रथिद आधिमौतिकताएँ मिल ने मीं मफने उपयुक्तताकार्यप्रयोग प्रन्त में साफ़ साफ़ मसूर किया है,\* कि उच्च विडलत में ही ऐउ मनुष्यवन्म की सभी सार्थकता और महत्त्व है। कुछ दूसर और ऐउ इत्यादि जो मीं इन्द्रियसुख का आलन्त मनुष्यों के समान ही होता है, और मनुष्य की यहि यह समझ होती कि संसार में सच्चा सुख विषयोपयोग ही है तो मनुष्य पशु उन्हें पर भी राखी हो गया होता। परन्तु पशुओं के सब विषय-सुखों के नित्य मिलने का अवसर आने पर भी काद मनुष्य पशु होने को राखी नहीं होता। उसे यही विभित्ति होता है कि मनुष्य और पशु में कुछ-न-कुछ विभेदता भवस्त्व है। उस विभेदता को समझने के लिये उस आस्मा के स्वरूप का विचार करना पड़ता है कि उस मन और बुद्धि द्वारा सब अपना और बाह्यतुर्दि का ज्ञन होता है; और, ज्याही यह विचार किया जायगा त्याही स्वरूप मास्त्र हो जायगा कि पशु और मनुष्य के लिये वौपर्योग-सुख वो पक्ष ही था है परन्तु उसकी अपेक्षा मन और बुद्धि के अस्त्वन्त उत्तम स्थापार में तथा शुद्धावस्था में वो सुख है वही मनुष्य का ऐउ भी आत्मनिक सुख है। यह सुख आमतज्ज्ञ है इसकी प्राप्ति किसी बाह्यस्त्रु पर भवसमिति नहीं है इसकी प्राप्ति के लिये पूरों के सुख को न्यून करने की भी कुछ भावस्त्वकर्ता नहीं है। यह सुख अपने ही प्रयत्न से हमीं को मिलता है। और ज्यों पर्यों हमारी उम्मति होती जाती है तो त्या इस सुख का स्वरूप मीं अधिकार-विकास घुट और निमल होता चल जाता है। मर्नुहरि ने सच कहा है कि मनवि-क परिलुप्ते को "र्घवान् च ददिः" — मन के प्रत्यक्ष होने पर स्वा ददिता और स्वा अपीरी देनी उमान ही है। लेकि नामक प्रथिद शूलानी दस्तबेदा ने भी यह प्रतिपादन किया है कि शारीरिक (अर्थात् शरीर आधिमौतिक) सुख की अपेक्षा मन का सुख ऐउ है और मन के सुखों से मीं बुद्धिमात्र (अर्थात् परम आप्यामिक) सुख अस्त्वन्त ऐउ है। त्रै र्घविये यहि हम भी मोक्ष के विचार को छोड़ दो मीं यही सिद्ध हाता है कि वो बुद्धि आत्मविचार म निमग्न हो उसे ही परम सुख मिल सकता है। इसी करण मात्रद्वितीय में सुख के (तात्त्विक राशत और कामण) तीन में किये गये हैं; और इनका सक्षण भी कलाया याता है।

\* "It is better to be a human being dissatisfied than a pig satisfied, better to be Socrates dissatisfied than a fool satisfied. And if the fool, or the pig, is of a different opinion, it is because they only know their own side of the question." *Utilitarianism* p. 14 (Longmans 1907)

कर्मोंकि दूसरे भरण में भास्त्रान् ने स्वप्न शब्दी में कह दिया है कि तेरा अधिकार कर्मकर्ता के कियम में कुछ भी नहीं है। अर्थात् किसी कर्म का फल मिलना - न मिलना तेरे अधिकार की बात नहीं है। वह सृष्टि के कर्मविपाक पर या "शर पर अवश्यित है। चिर किस बात में हमारा अधिकार ही नहीं है उसके कियम में आशा करना - कि वह अमुक प्रकार हो - केवल मूर्त्यु का समाप्त है; परन्तु पहल सीधी जात भी अनुमान पर अवश्यित नहीं है। तीसरे भरण में कहा गया है, कि इसविषये तृ कर्म फ़ूँड़ की आशा रख कर किसी भी काम को मत कर। कर्मोंकि, कर्मविपाक के अनुचार होरे कर्मों का ऐसे फल होता होगा वह अवश्य होगा ही। तेरी इच्छा से उसमें कुछ न्यूनाधिकता नहीं हो सकती; और उसके दोरी से या बस्ती से हो जाने ही भी उम्मादना है। परन्तु यहि हूँ ऐसी आशा रखेता सा आपह भरेगा तो दुसे केवल म्यर्थ तुग्यन ही मिलेगा। अब यहाँ का कोई - कियोपठ सम्पादनार्थी पुरुष - प्रभ वर्ग, कि कर्म करके चलाशा छोड़ने के फलाहे में पड़ने की अपेक्षा कर्माकरण का ही छोड़ देना क्या अप्यज नहीं होगा? "सृष्टिये मन्यान् ने अन्त में अपना निश्चित मत भी बताया दिया है कि कर्म न करने का (अकर्मणि) तृ इठ मत कर। तेरा भी अधिकार है उसके अनुसार - परन्तु फ़खाशा छोड़ कर - कर्म करता जा। कर्मयोग की इहि से ये सब चिदान्त तरने महत्वपूर्ण हैं कि उक्त क्षेत्रों के आदेशों को यहि हम कर्मयोगशास्त्र या गीतार्थकर्म के चलासूल भी वही तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

यह मात्रम हो गया कि "ए ससार मैं सूक्ष्मनुभव हमेशा कर से मिल जाते हैं; और यहाँ सुख की अपेक्षा तुग्यन की माना अधिक है। ऐसी अवस्था में भी वह यह चिदान्त बताया जाता है कि सासारिक कर्मों को छोड़ नहीं देना चाहिये तब तुम खेरों की यह समझ हो सकती है कि तुग्यन की आत्मनिक निश्चिति करने - और अस्वन्त सुख प्राप्त करने - के सब मानवी प्रयत्न म्यर्थ हैं। और, कबछ अधिमौतिक अर्थात् इन्द्रियगम्य जग्य कियोपभोगस्ती सुखों को ही देये तो यह नहीं कहा जा सकता कि उनकी यह समझ ठीक नहीं है। सब है यहि कोई बास्क पूण्यक्रम का पक्काने के लिये हाथ फैला देतो ऐसे आकाश का चक्रमा उस के साथ मैं कभी नहीं आता उसी तरह आत्मनिक सुख की आशा रख कर केवल अधिमौतिक सुख के पीछे ही रहने से आत्मनिक सुख की प्राप्ति कभी नहीं होती। परन्तु अरण रहे अधिमौतिक सुख ही समक्ष प्रकार के सुखों का माध्याकरण है। यह ऊपर बताया जा चुका है कि सुख के ही मंत्र हैं - पक शारीरिक आर वृत्तया मानसिक। शारीर अपना इन्द्रियों के स्वापारा की अपेक्षा मन को ही अन्त में अधिक धृहत्व देना पड़ता है। इनी पुरुष को वह चिदान्त बतायते हैं कि आरिरीक (अर्थात् अधि-

मृण्य हुद्दि च यो छात्वा सब्र विषयो भम ।  
नाइभास्मार्थमिच्छामि गच्छात् भरावमतानपि ॥

नाइभास्मार्थमिच्छामि भमो विषय मनान्तरे ।  
मनो मे विर्जित तस्मात् वही विष्वति सवदा ॥

— अर्थात् ‘किल (ऐउग्य)’ बुद्धि को मन में आरण करके मे सब विषय का ऐउन करता हूँ, उसका हाथ सुनो। नाक से मैं अपने लिये बाप नहीं लेता (अँखों से मैं अपने लिये नहीं लेता इत्यादि), और मन च्च मी उपयोग मे आस्मा के लिये अर्थात् अपने अम के लिये नहीं करता। अतएव मेरी नाक (अँख इत्यादि) और मन मेरे बद्ध मे है भयात् मैंने उन्हें चीत लिया है।’ गीता के वचन (गी ३ १ ७) का भी वही वास्तव है कि जो मनुष्य केवल इन्द्रियों की शृङ्खि को तो रोक लेता है और मन से विषयों च्च चिक्षण करता रहता है वह पूरा दोनों है और जो मनुष्य मनोनिप्रहृष्ट काम्य-बुद्धि को चीत कर, सब मनोशृङ्खियों को ओक्षरप्रह के लिये अपना काम करने लेता है वही भेद है। जाप काल् या इतिहायों के व्यापार हमारे उत्त्वप्र लिये हुए नहीं है वे स्वामाविद्व हैं। हम ऐसे हैं जब कोई सन्यासी बहुत भूता होता है वह उसको — जाहे वह लिना ही निपाही हो — मीन मार्गने के लिये कही जाहर बना ही पड़ता है (गी ३ ११) और, बहुत ऐर तक पक ही बगह कठे रहने से ऊपर कर वह उत्तर पड़ा हो जाता है। तात्पर्य यह है कि निप्रह जोह लिना हो परन्तु इतिहायों के जो स्वामाविद्व व्यापार है वे कभी नहीं दृश्यते। और यहि यह जात उत्तर है जो इन्द्रियों की शृङ्खि वया सब कमों को और सब प्रसार की अस्त्र या असुन्तोष को नष्ट करने के वूराप्रह मे न पड़ना (गी २ ४३ १८ ६) एवं मनोनिप्रह पुक्ष फ्राशा ठोड़ कर सुन बुन को एवं व्यापार समझना (गी २ १८), वया निष्कामतुष्टि से शोकहित के लिये कमों का शास्त्रोक रीति से करत रहना ही भेद वया आश्रम मार्ग है। ‘सी लिये —

कर्मचरेवाविकरते मा कट्टमु कहाचन ।  
मा कर्मचक्षुभुमर्मा त समोऽस्त्वकमणि ॥

इस कोड मे (गी ४०) भीमातान् भर्तुन को पहले यह बतात है कि वह इस कामभूमि मे वेश लगा है। नक्षिये तुसे कर्म करने का ही अधिकार है परम्पु इन जात को मी अपन मे रम कि तेरा वह अधिकार केवल (काम्य) कम करने का ही है। इत एव पक का भव है बेवल ; लिये सह उह लिति होता है कि मनुष्य ही अधिकार कम के लिया अन्य एतों मे — अपात् काम्यक के विवर मे — नहीं है। यह महत्वात् एव बेवल भर्तुमान पर ही भवभवित नहीं रम ही है।

प्रश्ना ।— भास्मनिष्ठ बुद्धि ( अर्थात् सब मूलों में एक ही आत्मा के पान का, भास्म के उसी रूपे स्वरूप में रत होनेवाली बुद्धि ) की प्रसन्नता से जो आध्यात्मिक मुख्य प्राप्त होता है वही भेद और सामिक्षण्य सुन है — “ उत्सुन सामिक्ष ग्रोर्क आम-बुद्धि प्रसादम् ” ( गी १८ ३७ ) जो आधिमौतिक मुख्य इन्द्रियों से और इन्द्रियों के विषयों से होता है वे सामिक्ष रूपों से कम दर्शन के होते हैं, और राक्षस फूलते हैं ( गी १८ ३८ ) । और विस मुख्य से विच को मोह होता है, तथा जो मुख्य, निष्ठा या आत्मस्य से उत्पन्न होता है उसकी योग्यता तामस अर्थात् बनिष्ठ भवेती की है । इस प्रकरण के आरम्भ में गीता का जो भ्योग दिया है उसका यही वात्तर्व है । और गीता ( ३ २२ ) में फूल है कि इस परम शुद्ध का अनुभव मनुष्य को यदि एक बार भी हो जाता है तो फिर उसकी यह मुख्यतया विषयति कमी नहीं दिखने पाती । बिल्ले ही मारी बुराय के उत्तरात्मा ज्ञाने को न लगते रहे यह आत्मगतिक मुख्य तर्ह के मी विषयोपमोगसुन्द में नहीं मिल सकता । इसे पानेके लिये पहुँचे अपनी बुद्धि प्रश्न छोड़ी जाहिये । जो मनुष्य बुद्धि को प्रश्न फूलने की पुक्षि को जिना दोनों-समझें केवल विषयोपमोग में ही निमग्न हो जाता है उसका मुख्य अनित्य और अग्रिम होता है । इसका कारण यह है कि जो इन्द्रिय सुन अब है वह कह नहीं रहता । इकना ही नहीं जिन्होंने जात हमारी इन्द्रियों को आब मुख्यात्मक फ्रीड होती है । वही जिसी कारण से दूसरे जिन बुरायमय हो जाती है । उदाहरणार्थं ग्रीष्म ऋतु में जो उन्हा पानी हमें अम्ल लगता है वही शीतकाल में अभिय हो जाता है । अलू इतना फूलने पर भी उससे मुख्यमय ही पूर्ण रुक्ष होने ही नहीं पाती । इसलिये सुन शब्द का व्यापक अर्थ के बर यहि हम सब शब्द का उपयोग सभी प्रकार के मूलों के लिये फैरे तो हमें मुख्य-सुन में भी मैर फूलना पड़ता । निष्प व्यवहार में सुन का अर्थ सुस्परुः निष्पसुन ही होता है । परन्तु जो निष्पातीत है अर्थात् जो केवल आत्मनिष्ठ बुद्धि को ही प्राप्त हो सकता है उसमें और विषयोपमोग की मुख्य में ज्ञान मिलता प्रकट करनी हो तब आत्मबुद्धि-प्राप्ति से उत्पन्न होनेवाले सुन को — अर्थात् आत्मगतिक मुख्य को — भ्रेय वस्याग इति आनन्द अपना जान्ति रहते हैं और विषयोपमोग से होनेवाले आधिमौतिक मुख्य को भेद सुन पा भ्रेय रहते हैं । पिछले प्रकरण के अन्त में विष्य हुए कठोरनिष्ठ के बाब्य में भ्रेय और भ्रेय में जन्मितो ने जो भेद मन्त्रमया है उसका भी अभिप्राय पहीं है । मन्त्र ने उसे अभि का रहस्य पहुँचे ही उत्पन्न दिया था । परन्तु इस मुख्य के मिस्त्रे पर भी ज्ञान उसने आत्मज्ञान प्राप्ति का बर मौंगा तब मन्त्र ने उसके बदले मैं उस अनेक साधारिक मूली का व्यापक विग्रहयाः । परन्तु नपिक्षता इन अनित्य आधिमौतिक मुख्यों को वस्यागत्तरक नहीं उमलता था । क्योंकि ये ( भ्रेय ) मुख्य बहरी दृष्टि से अच्छे हैं पर आत्मा के भ्रेय के लिये नहीं । इसी लिये उसने उन मूलों की ओर व्याप्त नहीं दिया । जिन्हु उस आत्मविद्या की

भौतिक) सुख की अपेक्षा मानसिक सुख की योग्यता अधिक है उसे वे कुछ अपने जल की परम्परा से नहीं बदल सकते। प्रसिद्ध भाषितौरिकारी मिल ने भी अपने उत्तरुक्तवाकाटकियवक ग्रन्थ में याकु साकु महूर किया है\* कि उक्त विद्वान्त में ही ऐष्ट मनुष्यवस्थ की सभी सार्थकता और महता है। कुण्डे, इन्हरे और ऐष्ट व्याख्या को भी इन्डियसुख का आनन्द मनुष्यों के समान ही होता है भीर मनुष्य की यहि यह समझ होती, कि उचार मै सच्चा सुख विषयोपयोग ही है तो मनुष्य पशु करने पर भी राजी हो गया होता। परन्तु पशुओं के सब विषय-सुखों के नित्य मिळने का अवसर भाने पर भी कोई मनुष्य पशु हनने का राजी नहीं होता। इससे यही विचित्र होता है कि मनुष्य और पशु में कुछ-न-कुछ विशेषता अवस्था है। इस विशेषता को समझने के लिये, उस आत्मा के स्वरूप का विचार करना पड़ता है जिसे मन भीर बुद्धि द्वारा स्वयं अपना और बाह्यरूपि का रूप होता है और, ज्योही यह विचार किया जायगा त्याही स्वप्न मास्त्र हो जायगा कि पशु और मनुष्य के लिये विषय योपमेण-सुख तो एक ही रूप है; परन्तु इसकी अपेक्षा मन भीर बुद्धि के अस्त्वन्त उत्तर स्वापार में तथा शूद्रावस्था में ये सुख है वही मनुष्य का ऐष्ट भीर भास्त्वन्तिक सुख है। यह सुख भास्त्ववद्य है इसकी प्राप्ति किसी बाह्यवस्थ पर अवस्थित नहीं है इसकी प्राप्ति के लिये दूरदृष्टि के सुख को स्फूट करने की भी कुछ भावस्ववता नहीं है। यह सुख अपने ही प्रबन्ध से हमी को मिलता है। और ज्यों ज्यों हमारी उत्तमति होती जाती है त्यों त्यों इस सुख का स्वरूप भी भविकापिक दृष्टि भीर निमित्त होता चल जाता है। गर्वुहरि ने सब कहा है कि मनवि च परिदृष्टि कोउर्ध्वान् का दरिं - मन के प्रसरण होने पर क्या इच्छिता और क्या भग्नीती दोनों समान ही हैं। ऐसे नामक प्रसिद्ध पूजानी तत्त्ववेचा ने भी यह प्रतिपादन किया है कि शारीरिक (अर्थात् बाह्य भाषितौरिक) सुख की अपेक्षा मन का सुख भेद है और मन के सुखों से भी बुद्धिप्रसाद (अर्थात् परम भाव्याभिक) सुख अस्त्वन्त भेद है।† इसलिये यहि हम अभी मोहक के विचार को छोड़ के ला भै यही सिद्ध होता है कि जो बुद्धि भास्त्वविचार में नियम हो उसे ही परम सुख मिल रहता है। इसी कारण भगवान्नीता में सुख के (चालिक राजस और ताम्र) दीन में किये गये हैं और इनसे स्वरूप भै करनाया गया है।

\* "It is better to be a human being dissatisfied than a pig satisfied, better to be Socrates dissatisfied than a fool satisfied. And if the fool, or the pig, is of a different opinion, it is because they only know their own side of the question." *Utilitarianism* p. 14 (Longmans 1907)

† Republic Book II.

तथा—भवात् प्रेय (मुख) की प्राप्ति के सिये आवस्यक यह आदि कर्मों का हन प्राप्त हो जाने पर उसी की अधिक आशा न करके—नविकेता ने इस बात का आग्रह किया कि भव मुझे भेय (आत्मविकल्प मुख) की प्राप्ति कर प्रेनेवासे ब्रह्मशन का ही उपर्युक्त करो। सारांश यह है कि इस उपनिषद् के अन्तिम मन्त्र में जो बर्णन है उसके अनुसार 'ब्रह्मविद्या' और 'योगविधि' (अपार्त् यज्ञ-याग आदि कर्म) दोनों को प्राप्त करके नविकेता मुख हो गया है (कठ ६ १८)। इससे ज्ञान और कर्म का सुमधुर ही इस उपनिषद् का तात्पर्य भास्त्व होता है। इसी विषय पर 'न्द्र' की भी एक कथा है। कौपीतत्त्वी उपनिषद् में कहा गया है, कि इन्द्र तो सर्व ब्रह्मशनी था ही, परन्तु उसने प्रश्नान को भी ब्रह्मशन का उपर्युक्त करके कहा कि भेय 'सी' में है—एतावच्छेय इति—परन्तु इससे इन्द्र का उमाधान नहीं हुआ। उसने फिर प्रभ किया क्या और भी कुछ भविक है।—को विशेषो मतेत्।—उस शूहसुति ने उसे शुक्रचार्य के पात्र में जा दी वहाँ भी वही हाल हुआ और शुक्रचार्य ने कहा कि प्रस्ताव को वह विशेषता मालिम है। उत्तर अन्त में 'न्द्र ब्राह्मण का रूप पारम करके प्रस्ताव का विषय कर सेवा करने क्या। एक चिन प्रस्ताव ने उससे कहा कि हीष (रत्य तथा वर्म से जड़ने का स्वर्यव) ही विशेष का रास्ता पाने की कुर्बी है और यही भेय है। अनन्तर, उत्तर प्रस्ताव ने कहा कि मैत्रेयी तृष्णा से प्रत्यन्त हूँ, तु वर मौमि, तथा ब्राह्मण केशधारी इन्द्र ने वही वर मौमि कि भाप अपना धीरु मुख दीक्षिये। प्रस्ताव के 'तत्पात्रु वहते ही उसके 'धीरु' के लाल चम सत्य तृत भी अपना ऐश्वर्य भादि उत्तर देवता उसके शरीर से निकल कर इन्द्र-शरीर में प्रविह हो येते। प्रस्ताव इन्द्र अपना रास्ता पा गया। वह मार्त्तीन क्षमा भीष्म ने शुभिद्विर से महा मारत व शाश्वत्युष (षा ३२४) में कही है। इस सुन्दर क्षमा से हमें यह बात लाक मालम हो जाती है कि देवता ऐश्वर्य भी अपेक्षा केवल आमशन की घोगता में भविक हो जाती है परन्तु किसे इस संसार में रहना ह उनको अस्त लेगो के समान भी अपने सिय सुषा अपने हैं के किय ऐहिक शमुद्दि प्राप्त कर दें की भावरथक्ता भीर नैतिक हृषि ही है। इत्यस्मिये जब यह प्रभ ठंडे कि इत्य सुसार में मनुष्य का लबोत्तम रूप यरम उदय क्षमा है तो हमारे कर्मपोगण्यात्म में अनित्य ठहर ही भिजता है कि शाश्वत भीर पुषि भ्रेय और भेय अपका ज्ञान और ऐश्वर्य होनो को एक साथ प्राप्त करो। मोक्षन की बात है कि चिन मारान से कर कर लगार में कोर भइ नहीं भीर चिन शिश्यव हुए साम में भन्य सभी कर्मण वस्त्रे हैं (गी १ २१) उन मारान ने ही क्षमा ऐश्वर्य भीर नम्यापि भी ठोक दिया है।

प्राप्ति के लिये ही हठ किया जिसका परिणाम आमतों के लिये भेदभाव या करण्याण-कारण है, और उसे अन्त में पापकर ही छोड़ा। साहस यह है कि आत्मजुद्धि प्रयत्न से होनेवाले ऐसल बुद्धिगम्य मुख्य थे — अर्थात् आध्यात्मिक सुख को — ही हमारे आत्मकार भेद सुख मानते हैं। और उनका कथन है कि यह नित्य आत्मक है इच्छिये सभी को प्राप्त हो सकता है तथा सब लोगों को पाहिये, कि वे इनकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न कर। पश्चु-भर्तु स होनेवाले मुख्य में, और मानवी मुख्य में भी कुछ विशेषता या विवरणता है वह यही है और वह आत्मानन्द भेदभाव उपाधियोग्य इनी निर्मान द्वारा करण सब सुखा में नित्य स्वरूप भौत भेद है। उसी को गीता में निर्वाण, अर्थात् परम धान्ति कहा है (गी ३ १८) और यही रिक्तपर्यामी की आधी अवस्था की परमात्मिका सुख है (गी २ ७१; ६ २८ १२, १३; १८ १२ टेला)।

अब इस घटना का निर्वय हो जुता कि आमा की धान्ति या सुख ही अत्यन्त भेद है और वह आत्मक होने के कारण सब लोगों को शान्ति भी है। परन्तु यह प्रकट है कि यद्यपि सब आत्मजुद्धि में सोना भविक्ष मूस्यवान् है तथापि भेदभाव सोने से ही — जोहा इस्यादि अन्य भाग्यभौतों के लिना — जैसे सचार का कम नहीं वह सकता अपका ऐसे भेदभाव शहर से ही — लिना नमक के राम नहीं वह सकता उसी तरह आत्मसुख या धान्ति को भी समझा जाहिये। इसमें सनेह नहीं कि इस धान्ति के साथ — द्वारी भारत के लिये सही कुछ सांतारिक बलुआं की आवश्यकता है और इसी भविष्यात् से आधीरांश के सफल्य में भेदभाव 'धान्तिरल्लु' न कह कर धान्ति पुष्टिसुद्धिभास्तु — कि धान्तिके साथ पुष्टि और तुष्टि भी जाहिये वहने की रीति ह। यदि शास्त्रार्थी की यह लक्ष्य होती कि भेदभाव धान्ति से ही तुष्टि हो या सद्गति है तो इस लक्ष्य में 'पुष्टि धान को व्यर्थ पुष्टे ह देने की कार्य भावशक्ति नहीं थी। इसका यह मतलब नहीं है कि पुष्टि — अभ्यात् एतिह शुर्यों की तृष्णि के लिये एतद्विन द्वाय द्वाय करते रहे। उक्त उपर्य का म्यावाय पही है कि तुम्हें धान्ति पुष्टि और तुष्टि (लक्ष्योप) तीनों उचित परिणाम से मिले और इनकी प्राप्ति के लिये तुम्हें यस भी करना जाहिये। क्योंपनिषद् का भी यही तात्पर्य है। नविक्षेत्र वह मूल्य के अधार यम के लोग में गत्या तय यम ने उससे कहा कि तुम भी तीन बर मौंग सो उस समय नविक्षेत्र ने पक्ष्यम यह बर नहीं मौंग भी नुस्खे ब्रह्मस्त्र का उपेत्य करो। किन्तु उसने कहा कि मेरे पिता मुक्तपर अप्रसर्प है, इच्छिये प्रवाय बर आप नुस्खे यही लीकिये कि है मुक्तपर प्रवाय ही जाओ। अनन्तर उसने पूर्ण बर मौंग कि अपि है — अपात् एतिह समृद्धि प्राप्त कर्य भेदभाव से पर भागि करो के — शान का उपेत्य करो। इन दीनों बरों को प्राप्त करने अन्त में उसने तीर्ता बर पर मौंग कि नुस्खे भात्मविद्या का उपेत्य करो। परन्तु उक्त उपराज्य वहने करो कि इस दीनों बर के बासे में नुस्खे और भी भविक्ष उपराज्य देता है

## छठवाँ प्रकरण

# आधिदैवतपक्ष और क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचार

सत्यपूर्ण विवेकार्थ मनमूर्ति लमाचेरेत् । ६

— मनु १ ४९

कर्म अकर्म की परीक्षा करने का — आधिमौतिक मार्ग के भवितरिक — पूर्सय पन्ने आधिदैवतपक्षकीयों का है। इस पाठ के छोग्रा का पहला कर्म है कि जब कोई मनुष्य कर्म अकर्म का या कर्म अकर्म का निर्णय करता है, तब वह इस ज्ञाने में नहीं पहला कि किस कर्म से निर्णय मुख्य अपदान होगा अपदानमें से मुख्य का ओह अधिक होगा या दुःख का। वह आत्म भनात्म विचार के ज्ञान में मी नहीं पहला; और ये ज्ञाने बहुतेरों की तो लमाच में मी नहीं आते। वह मी नहीं कहा या सकता कि प्रत्येक प्राणी प्रत्येक कर्म को ऐसा अपने सुन्दर के लिये ही करता है। आधिमौतिकवारी कुछ मी कहे परन्तु वह इस बात का बोडारा विचार किया जाय कि पर्म-अपर्म का निर्णय करते समय मनुष्य के मन की विधियाँ कैसी होती हैं तो यह ज्ञान में आ जायगा कि मन की स्वाम्यादिक और उद्यात्म मनोतृष्णियों — करणा इया परोपकार आति — ही किसी काम को करने के लिये मनुष्य को एकाएक प्रहृत किया करती है। उद्यात्मार्थ जब कोई मिथ्यारी दीप पढ़ता है; तब मन में यह विचार आने के पहले ही — कि दान करने से ज्ञान का अपदान अपनी आत्मा का किरना हित होगा — मनुष्य के हृष्य में करणात्मिक जागृत हो जाती है और वह अपनी शक्ति के अनुसार उस पान्क को कुछ दान कर देता है। इसी प्रकार जब करणा होता है तब मात्रा उसे दूष पिसाते समय इस बात का कुछ मी विचार नहीं करती कि जास्त की पिसाते समय इस बात का किरना हित होगा। अर्थात् ये उद्यात्म मनोतृष्णियों ही कर्मयोगशास्त्र की यथार्थ नीति है। हम किसी ने ये मनोतृष्णियों की नहीं है; किन्तु ये निर्णयित्व अवात् स्वाम्यादिक अपदान स्वयम्भू देखता ही है। अब स्वायाधीश स्वायात्मन पर देखता है तब उसी दुर्दि मैं स्वायोदेवता की प्रेरणा हुआ करती है और वह उसी प्रेरणा के अनुसार स्वाय विषय करता है। परन्तु जब कोई स्वायाधीश इस प्रेरणा का भनात्म करता है तभी उससे अस्वाय ज्ञाना करते हैं। स्वायोदेवता के दृष्टि ही करणा इया परोपकार हृतकर्णा कर्त्तव्य प्रेय भाति लक्ष्युणा की गै स्वाम्यादिक मनोतृष्णियों हैं जै मी देखता है। प्रत्येक मनुष्य स्वाम्यकर्ता इन दृष्टिभावों के द्वारा स्वरूप से परिचित रहता है। परन्तु वह

वही वान्या चाहिए जो करणा अर्थात् सुह किय जाए। और वही आचरण ज्ञाना चाहिए जो मन का एह जाकृम हो।

ऐश्वर्यस्य समप्रस्य चर्मस्य पश्चातः भिषं ।  
द्वानपैराग्ययोच्चैष पण्डी भव इतीरणा ॥

अथर् ‘समप्रैश्वय चर्मं यथा सपैषि, शान और बैराम्य दन सः याता भ्वे  
‘भग अहते हैं’। भग शम्भ की ऐसी व्यास्त्या पुराणी में है (विष्णु ६ ५ ४४)।  
कुछ जीव इस स्तोक के ऐश्वय शम्भ का अर्थ ‘धोमैश्वय किया करते हैं’।  
स्तोकि भी अर्याल् सम्पत्तिश्वल् शम्भ आगे आया है। परन्तु व्यवहार में ऐश्वय  
शम्भ में उच्च यथा और सम्पत्ति का तथा शान में बैराम्य और चर्म का समाख्य  
दुष्मा करता है। इससे हम जिना किसी वाप्ति के कह सकते हैं कि व्यक्तिके दृष्टि से  
उच्च स्तोक का उच्च अप्रैश्वय शम्भ और ऐश्वय इन्हीं हो शायदी से व्यक्त हो जाता है।  
और जबकि स्वप्न मालान् ने ही ज्ञान और ऐश्वर्य को अंगीकार किया है, तब हम  
मी अप्रैश्वय करना चाहिये (गी १ २१ म भा शा. १४१ २८)। कर्मयोगमार्ग  
का उद्दिष्ट यह क्यापि नहीं कि कोया आप्तव्यन्य ही उच्च उच्चार में परम साप्त  
वस्तु है। यह तो सन्मालामार्ग का उद्दिष्ट है और कहता है कि सचार दुर्लभम् है  
इतिहासे पक्षम् अंड़ ही होना चाहिये। मिम विष्म मार्गो के अन उद्दिष्टव्यो  
की एक अक्षरके गीता के अर्थ का अनर्थ करना उचित नहीं है। स्मरण रहे गीता  
का कर्म है कि शान के जिना केवल ऐश्वर्य उचिता भासुरी सम्पत् के और कुछ नहीं  
है। इससिय यही उद्दिष्ट होता है कि ऐश्वय के साप्त शान और शान के साप्त ऐश्वर्य  
अपवा शान्ति के साप्त पुष्टि इमेया होनी चाहिये। ऐसा कहने पर, कि शान के  
साप्त ऐश्वय होना अस्यावस्यक है; कर्म करने की आपस्यक्षता आप ही-आप उत्पन्न  
होती है। स्तोकि मनु का कर्म है क्षमाप्यारम्माण हि पुरुष भीनियेष्वते (मनु.  
५ ३) – कर्म करनेवाले पुरुष की ही इस काल् में भी अपवा ऐश्वर्य विष्वता है,  
और प्रस्तु भनुमत से मी पर्ही वात उद्दिष्ट होती है एवं गीता में ये उपग्रह भनुम  
को उचित योगा है वह मी ऐसा ही है (गी १ ८)। अत पर कुछ स्तोत्रों का कहना  
है कि मोक्ष की दृष्टि से कर्म की आपस्यक्षता न होने के कारण अस्तु मै – अपात्  
शानोप्सर अपवा मै – तब कमों का अद्वैत ज्ञान ही चाहिये। परन्तु यहाँ हो केवल  
सुप्त पुरुष का विचार करना है। और भव तक मोक्ष तथा कर्म के स्वरूप की परीक्षा  
मी नहीं की गा है उस्तिहासे उच्च आधेप का उत्तर यही नहीं उचिता जा सकता।  
आगे नीते तथा उत्तरे प्रकरण में अपवा भी क्षमित्राल् का स्वाह विवेचन कर के  
प्यारहे प्रकरण में अत्यन्त उचिता जापगा कि यह भाषेष भी वैष्णव-पैर का है।

मुख भीर दुर्ग दो मिम तथा स्वप्नम् जेन्नार्दे हैं। मुखेष्या वज्र सुग्रीवमार्ग  
है ही दृग्न नहीं हा सकती। इससिये उच्चार मैं द्वापरा दुर्ग का ही भक्षित भनुमत  
होता है। परन्तु इस दुर्ग का द्वापर के लिये दृष्णा या भक्त्वन्तोष और तब कमों का  
मी समूल नाप करना उचित नहीं। उचित पर्ही है कि परमपा ठोक कर तब कर्मों

को करते रहना चाहिये। केवल विषयोपनीय-मुख भी पूर्ण होनेवाला नहीं। वह अनित्य पश्चात्यमें है। अठपत्र इस सुधार में बुद्धिमान् मनुष्य का सच्च भ्येष इस अनित्य पश्चात्यमें से कंबे द्वेष का होना चाहिये। आत्म-बुद्धि प्रवाह से प्राप्त होनेवाला शास्ति-मुख ही वह सच्च भ्येष है। परन्तु भाष्यामिक मुख ही यथापि इस प्रकार कंबे द्वेष का हो राधापि उल्लेख साथ इस सात्यारिक बीजन में पेण्डिक क्षुद्रओं भी मी लक्षित भावस्थक्षणा है, और इसधिये उत्ता निज्ञाम-बुद्धि से प्रभल अर्पात् भर्ते ही रहना चाहिये। — इतनी उत्ता अब कर्मयोगश्चाच के अनुसार उद्देश हो मुक्ति तो अब मुख भी दृष्टि से मी विचार करने पर यह करनने की ओर भावस्थक्षणा नहीं रह जाती कि आधिमौलिक मुख्यों को ही परम साध्य मान कर क्षमों के केवल मुक्त-मुख्यालम्भ व्यापरिणामों के तारतम्य से ही नीतिमत्ता का निषय करना अनुचित है। कारण यह है कि ऐ बहु कभी पूर्णवस्था को पूर्ण वही नहीं सकती उसे परम साध्य करना मानो 'परम शक्ति का बुद्धपर्योग करके गूरुकल के स्थान में वह भी स्वेच्छ करना है। अब हमारा परम साध्य ही अनित्य सूप्ता अपूर्ण है तब उसकी आशा में ऐसे रहने से हमें अनित्य-बलु को छोड़ कर और मिथ्या ही क्या! 'क्षमों नित्यः मुख्यालम्भे त्वनित्ये इस बचन का मर्म मी यही है। अधिकाद्य लोगों का अधिक मुख' इस घटसमूह के 'मुख शक्ति के भर्ते के विषय में आधिमौलिकवादियों में मी बहुत मतभेद है। उनमें से बहुतेरी का रहना है कि बहुता मनुष्य उत्त विषय मुखों को अब मार कर केवल सत्य अथवा अम के सिंपे जान देने की तैयार हो जाता है। इससे वह मानना अनुचित है कि मनुष्य की 'अम सदैव आधिमौलिक मुख प्राप्ति भी ही रहती है। इसमें उन पश्चिमों ने यह उत्तना की है, कि मुख अम के बजाए में हित अथवा कस्याज शक्ति की बोक्ता करके अधिकाद्य लोगों का अधिक मुख' इस दूर का व्यापन्तर अधिकाद्य लोगों का अधिक हित या कस्याज' कर देना चाहिये। परन्तु इतना करने पर मी इस मत में यह दोष का ही रहता है कि वहाँ भी बुद्धि का बुद्ध मी विचार नहीं दिया जाता। अप्पा यहि यह कहे कि विषय मुखों के साथ मानविक मुखों का मी विचार करना चाहिये; हो उक्ते आधिमौलिक पश्च की इस पहच्ची ही प्रतिश्च का विरोध हो जाता है कि विसी मी क्षम भी नीतिमत्ता का निषय केवल उसके जाय परिणामों से ही करना चाहिये और उप तो विसी न विसी अंश में अप्यायम पश्च को स्वीकार करना ही पहच्चा है तो उस अपूरा या भृत्यत् स्वीकार करने से क्या अम होगा? इसी लिये हमारे क्षमयोग शास्त्र में वह अनित्य उद्दान्त मिथित दिया गया है कि सर्वभूतहित—अधिकाद्य लोगों का अधिक मुख—और मनुष्यस्व का परम उत्तर इत्याति नीतिनिषय के उत्त जाइताक्षणी भी अथवा आधिमौलिक मारा की दीर्घ या भृत्यत् समझना चाहिये। भीर भाग्यप्रसाद-क्षमी भावस्थनित मुख तथा उत्ती क ताक रहनेवाली कता की गुद-बुद्धि को ही भाष्यामिक अमीठी अन्त कर उनी से कम भक्ति की परीक्षा करनी चाहिये। उन लोगों की बात

सेम ऐप, भक्ति आदि क्षरणों से वह इन देवताओं की परवाह न करे, तो अब देवता क्या करें? यह बहुत सच है, कि कई बार देवताओं में भी किरोष उपम हो जाता है। और तब ऐप कार्य करते समय इसे इस का सनेह की निश्चय करने के सिये न्याय करना आदि देवताओं के असिरिक किसी दूसरे की सज्जाह लेना आवश्यक था तो पड़ता है। परन्तु ऐसे अक्षर पर आप्यायिकियां अपना मुख्य-उल्ल की न्यूनाधिकता के लागे में न पढ़ कर यहि हम अपने मनोवेष की गवाही लें, तो वह एकम इस बात का निर्णय कर देता है, कि इस डोना में से कौन-सा मार्ग भेयल्कर है। पहीं कारण है कि उक्त सभ देवताओं में मनोवेष भेद है। 'मनोवेषता' सम में एकम कोष सेम सभी मनोविकारी को शामिल नहीं करना चाहिये। किन्तु 'एक सम से मन की वह ईश्वरत्त्व और स्वामादिक शक्ति ही अमीर है कि किसी सहायता से मलेन्हुरे का निर्णय किया जाता है। 'ही शक्ति का पक वह मारी नाम 'सदसदिदेव-मुदि'<sup>†</sup> है। यहि किसी सनेह-उल्ल अक्षर पर मनुष्य समय अन्तरण ले और शान्ति के साथ विचार करे तो वह सदसदिदेव-मुदि कमी उत्तम शान्ति नहीं होगी। इतना ही नहीं किन्तु ऐसे सौँहों पर हम दूसरों से यही कहा करते हैं किन्तु अपने मन से पुछ। इस बड़े देवता के पास एक कुनी हमेण मौक रहती है। उसमें यह छिपा होता है कि यिस उद्देश्य का किस समय विज्ञान महात्म दिया जाना चाहिये। यह मनोवेषता समय समय पर इसी एकी की मनुष्यार अपना निष्ठय प्रकट किया करता है। मान भी किये किसी समय आत्मरक्षा और भवित्वा म विरोध उपर्युक्ता और यह जाका उपरिकृत दुर कि दुमित्त के समय अमरत्व मध्यम उत्तम जाहिय या नहीं। तब इस उद्देश्य को दूर करने के किये यहि हम शान्ति किस से उक्त मनोवेषता की निपत करे तो उसका मही निष्ठय प्रवर्त होगा कि अपन्य निष्ठय करो। इसी प्रकार यहि कमी स्वाय और पराय अपना परामर्शार के बीच किरोष हो जाय तो उसका निष्ठय भी उक्त मनोवेषता को मिला कर करना चाहिये। मनोवेषता के बार की - अम अभ्यम के म्यूनादिक मान की - यह एकी पक अभ्यकार की शान्तिपूर्वक विचार करने से उपसम्पर्द हुँ है किस उसने अपने पक्ष में प्रसाधित किया है। † एक एकी में नदेतामुक्त पृथ्यमात्र को पहला अभ्यास असुख स्थान दिया गया है और इसके बाद क्षण इकराता, लगाता बास्तव्य आदि याकी को क्षमता नीच की भविष्या में शामिल किया है। इस अभ्यकार

— एक मनोविदेव-मुदि का ही अन्तर्जी में Conscience कहते ह आर लाइब्रेरी  
Institution School कहानाह है।

<sup>†</sup> इस अभ्यकार का नाम James Martineau ( जेम्स मार्टिनो ) है। इसके बारे में *Types of Ethical Theory* ( Vol II p. 266. 3rd Ed ) नामक बुक में भी है। कार्टिन अब एक का Idio-psychological कहता है। इसके बारे में आर्द्ध विवरण ही म शामिल करता है।

छठवाँ प्रकरण

## आधिदैवतपक्ष और क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचार

सत्यपूता बोद्धार्थ मनपूर्त समाचारेत् । ८

- मंग. ६ ४५

कर्म-भक्त्ये भी परीक्षा करने का - आधिमौलिक मार्ग के अतिरिक्त - वृष्टय कर्म-भक्ति वहताडियो क्य है। "स पर्य के लेगो क्य यह कहन है कि जल कोई मनुष्य कर्म भक्त्ये का क्या कर्म भक्त्ये का निर्णय करता है तब यह इस सम्बोध में नहीं पड़ता कि किसी कर्म से कितना सुपर अथवा तुल द्वारा अपवा उनमें से कुछ का जोड़ भक्ति होगा या तुल का। यह आत्म भनात्म-कित्तार के ज्ञानाट में भी नहीं पड़ता और ये सम्बोध करतेरो भी तो समाज में भी नहीं आते। यह मी नहीं कहा क्य पड़ता कि प्रत्येक प्राणी प्रत्येक कर्म को केवल अपने सुख के लिये ही करता है। आधिमौलिकतारी कुछ मी कहे परन्तु यहि "स बात का बोडाचा कित्तार किया जाय कि घर्म-भक्त्ये का निर्णय करते समय मनुष्य के मन की स्थिति ऐसी होती है तो यह प्यान मैं आ जायगा कि मन की स्वामानिक और उदात्त मनोवृत्तियों - कल्पना इया परोपकार आति - ही किसी काम को करने के लिये मनुष्य को एकपक्ष प्रवृत्त किया करती है। उदाहरणार्थ यह कर्म मिशारी दीक्षा पड़ता है; तब मन में यह कित्तार आने के पहले ही - कि यह करने से काम का अपवा अपनी आत्मा का कितना हित द्वारा - मनुष्य के इच्छ मैं कल्पना वृत्ति बदल हो जाती है और यह अपनी शक्ति के अनुसार उस यात्कर्ता को कुछ गत कर देता है। इसी प्रकार यह बाल्क देता है तब माता उस दूध पिलाते समय "स यह यह कुछ मी कित्तार नहीं करती कि बाल्क को पिलाते उमय इस बात का कितना हित द्वारा - ये उदात्त मनोवृत्तियों ही कर्मबोगात्म की यापाप नीच है। इसे किसी ने ये मनो-वृत्तियों नी नहीं है; किन्तु ये निर्दर्शनिद भर्तात् स्वामानिक अपवा स्वयंभू देखता ही ह। सब स्वामाधीश न्यायासन पर बैठता है तब उसकी तुलि मैं न्यायवेत्ता की प्रेरणा हुमा करती है और यह उसी प्रेरणा के अनुसार न्याय किया करता है। परन्तु जल कोई न्यायाधीश इस प्रेरणा का अनात्म करता है तभी उसके अपवा दुमा करते हैं। स्वायवेत्ता के उद्दय ही कल्पना इया परोपकार, दृष्टव्य कर्त्तव्य-प्रेम ऐसे भाति उद्गुणों की ओर स्वामानिक मनोवृत्तियों है जो मी देखता हैं। प्रत्येक मनुष्य स्वयंकरता "न देवताओं के द्वारा स्वरूप से परिवित रहता है। परन्तु परि-

\* यही वाल्मीकि जा छन्दोऽनविद् या छन्दोऽनविद् द्वाद द्वितीय गाया है और वही व्याप्तरूप करता जाहिर जा मन को छुट्ट माझम हो।

छोटे हो, किंतु यह कठम लग जी हो, कि हम इस सुधि के परे उत्तमान में प्रवेश ही न करेंगे। किन लोगों ने ऐसी कठम लाई नहीं है उन्हें युक्ति से पहल मास्त्र हो चक्रवर्य कि मन और दुष्कृति के भी परे चढ़ कर नित्य आत्मा के नित्य कल्पनाग की ही कल्पयोग-शास्त्र में प्रशान मानना चाहिए। कोइ बोर्ड मूँछ से समझ बैठते हैं कि उन्होंने एक वेगात्म में मुड़े कि इस फिर उभी कुछ अद्यमय हो चक्र है; और वही अब द्वारा भी उपर्युक्त का कुछ पता ही नहीं चलता। आखिल कितने वेदान्त-विषयक मन्त्र पढ़े चाहते हैं, वे प्रायः सम्पाद-माग के अनुपायियों के ही लिखे हुए हैं और सम्पाद मार्गिकाओं इस तृणाकृपी संचार के तब स्वयंहारों को निर्सार समझते हैं इसलिये उनके मन्त्रों में कल्पयोग की टीक टीक उपर्युक्त सचमुच नहीं मिलती। अधिक कथा है इन परस्पर्याय-असहिष्णु प्रत्यक्षारों ने सन्यासमार्गीय कोटिकम या सुचिपाठ के कल्पयोग में उपर्युक्त कर के ऐसा भी प्रबल लिया है किससे छोग समझने स्वो है कि कल्पयोग और सम्पाद हो स्वरूप्न मार्ग नहीं हैं; किंतु सन्यास ही अवेष्य शास्त्रोरुप मोहमाग है। परन्तु यह समझ टीक नहीं है। सन्यास-माग के समान कल्पयोग-माग भी ऐसीकै घम म अन्तारि काल से स्वरूप्नतापूर्वक चला आ रहा है और इस माग के संचालकों ने केवलतास्थों को न छोड़ते हुए कल्पयोग की टीक टीक उपर्युक्त भी लिया है। स्वाक्षीर्ता मन्त्र इसी पन्थ का है। यहि गीता को अट है तो भी उन पढ़ेगा कि अप्याध्य इहि से जाय-अन्याय शास्त्र का विवेचन करने की पद्धति ग्रीन सरीये प्रत्यक्षार द्वारा तुर अस्ति मे ही दुर्ल कर ही गा ह ० और उमनी मे तो उससे भी पहले यह पद्धति प्रचलित थी। इस्पत्ति का किनाना ही विचार करो परन्तु उन तक यह बात टीक मास्त्र नहीं हो जाती कि इस विषयसुधि से इस विषय का भी किनार पूरा हो नहीं उच्छता कि इस उच्चार में मनुष्य का परम साध्य भेद अवश्य या अनितम अध्येय कथा है। इसी सिये यात्रस्त्रम का यह उपदेश है कि आत्मा वा अर द्रष्टव्य भोत्तर्यो मन्त्रम्यो निरिष्यातिरुम्य । ” प्रमुख विषय में भी अस्त्रण उपसुक्ष होता है। इस्पत्ति की परीक्षा करने से यहि परोपकार सरीये उत्तम ही भक्त में निष्पत्त होते हैं तो इससे आत्मविद्या का महाम तम वो हाता नहीं किंतु उत्तम उससे तब ग्राणियों म एक ही भामा के होने का एक और तपूत मिम जाता है। उत चात के लिये वो कुछ उपाय ही नहीं है कि आधिर्मितिकारी भपनी न्यार हुर मपादा ले स्वयं बाहर नहीं आ लक्ष्य। परन्तु इमार शास्त्रसारों की इहि इन सदृशित मयान के पर पर्तुच गर है; और इसलिये उन्हीं न आप्यान्मित दृष्टि से ही कल्पयोगाश्रम की पूरी उपर्युक्त ही है। इस उपर्युक्त की प्रका करने के पहल कम मन्त्र परीक्षा के एक भीर पूर्वाप्त का भी कुछ विचार कर केना आवश्यक है। इतनिय भन् इसी पन्थ का विवेचन किया जायगा।

अ मत है, कि वह उपर और नीचे की भेणियों के सद्गुणों में विरोध उत्पन्न हो तब उपर की भेणियों के सद्गुणों को ही अधिक मान देना चाहिये। उनके मत के अनुसार काय-अकार्य का अध्या धर्म-धर्म के निर्णय करने के लिये "लक्ष्मी अपेक्षा और ओरेर सचित मार्ग नहीं है।" एसम्ब जारण यह है, कि वर्षापि इस अत्यन्त पूरवादि से यह निर्मित कर से कि 'अभिन्नता ओर्यों का अधिक द्रुत' कहिये है। वर्षापि इस स्मूलाधिक माव में यह कहने की सत्ता या अधिकार नहीं है, कि 'किस बात मैं अधिकार स्वेच्छा कर सुल हो पाही तू कर।' इस लिये अस्त मैं इस प्रम का निर्वय ही नहीं होता कि 'किसमे अभिन्नता लैपों का हित है, वह बात मैं कर्यों कहै।' और यारा सगड़ा द्व्यो-का स्वीं कला रहता है। यारण से किना अभिन्नतर प्राप्त किये ही वह ओरेर स्पावार्थीष्ट स्पाप करता है तब उनके निर्वय की यो दशा होती है ठीक वही रथा उस कार्य-अकार्य के निर्णय की मी होती है ये पूरवादिपूर्वक सुपरवुप्यों का विचार इनके किया जाता है। ऐसल यूरवादि यह बहु लिखी से नहीं कह सकती कि तू यह कर, दुसे यह करना ही चाहिये। इसम्ब जारण यही है कि किनी मी पूरवादि हो तो मी यह मनुष्याङ्क ही है और इसी कारण वह अपना प्रमाव मनुप्यो पर नहीं अमा सकती। ऐसे समय पर आद्य करनेवालम् हम से भेड़ ओरेर अभिन्नती अवस्थ मनुष्य होना चाहिये। और यह अस्त अवरदत्त सउसदिकेकुदित ही कर चकती है। स्पौकि यह मनुष्य की अपेक्षा भेड़ अवरएव मनुप्य पर अपना अधिकार अमाने मैं समर्प है। यह सउसदिकेकुदित पा उठता स्वयम् है। इसी जारण स्ववहार मैं यह कहने की रीति पह गई है कि मेरा 'मनोदैव अमुक प्रकार की गवाही नहीं है।' वह ओरेर मनुप्य एक-आव तुरा कम कर देता है तब पश्चात्याप से वही स्वयं अवित हो जाता है और उसम्ब मन ले हृषीशा देखता रहता है। यह मी उपर्युक्त देखता के शासन का ही फल है। इस बात से स्वतन्त्र मनोदैवता का अस्तित्व उत्तम हो जाता है। जारण कि आधिकैवत पर्य के मतानुसार यहि उपर्युक्त यिदान्त न माना जाय तो इस प्रम की उपपत्ति नहीं हो सकती कि हमारा मन हमें स्वीं देखा करता है।

अपर दिया तुम्हा तृत्यान्त पर्यमी आधिकैवत पर्य के मत क्य है। पर्यमी ऐसो मैं 'स पर्य का प्रचार विशेषद ईशाई दर्मोपदेशों ने किया है। उनके मत के अनुत्तर धर्म-धर्म का निर्णय करने के लिये केवल आधिनीहित लाइनों की अपेक्षा यह ईश्वरदत्त साधन सुखम् भेद एव भाव है। पर्यपि इमारे देश मैं प्राचीन इस मैं कर्मयोगाचार का देशा ओरेर स्वन्तरम् कर्य नहीं का तथापि उपर्युक्त मत इससे प्राचीन प्रस्त्री मैं नहीं कहूँ जाऊ पाया जाता है। महामारत मैं भेड़ स्पानीपर मन की मिल मिल हृतियों को देखताभी कर लक्ष्म दिया गया है। पिछसे प्रकरण मैं यह अद्यमा भी गया है कि वर्म तत्त्व एव, शीक भी आड़ि देखताभी ने प्रस्ताव के द्वारा को छोड़ कर इन्ह के द्वारा मैं ऐसे प्रदेश किया। कार्य-अकार्य का अध्या

थेम, द्रेप, मस्तर आदि कारणों से वह इन टेक्नामी थी परवाह न करे, तो अब टेक्ना क्या करे ! यह बात यह है, कि कट्टे चार टेक्नामी में भी विरोध उत्पन्न हो जाता है। और तब को<sup>१</sup> कार्य करते समय हमें इस का सन्देह था निश्चय करने के लिये न्याय करणा आदि टेक्नामी के अविविक्त नियी दूसरे की सच्चाह लेना भास्कर्यक घटन पड़ता है। परम्परा ऐसे अवसर पर अप्यामविचार अपना सुन्दर-शुभ भी न्यूनाधिकता के फ़राई में न पढ़ कर यहि हम अपने मनोवेद की गताही थे, तो वह एकदम इस चात का निर्णय कर रहा है कि इस दोनों में से कौन-सा मार्ग भव्यत्वरूप है। यही कारण है कि उच्च सब टेक्नामी में मनोवेद भेद है। 'मनोटेक्ना शब्द में इच्छा कोष थोम समी क्लोडिक्सरों को आमिल नहीं करना चाहिये। किन्तु इस शब्द से मन की वह ईश्वरत्त्व और स्वामानिक शक्ति ही अभीष्ट है कि किसी सहायता से मझे दुरे का निर्णय किया जाता है।' इसी शक्ति का एक धरा पारी नाम 'साइक्लोपेड-नुडि० है। यहि किसी सन्देह-प्रस्ता अवसर पर मनुष्य सब्द अनुत्तरण से और धार्मि के साय विचार कर, तो यह साइक्लोपेड नुडि कभी उसना खोगा नहीं देगी। इसना ही नहीं किन्तु ऐसे मीठी पर हम दूसरा से यही फ़हा करते हैं किन्तु अपने मन से पूछ। इस दो टेक्ना के पास एक सूची हमेशा मौजूद रहती है। उठमै यह किस्मा होता है कि किस उद्देशुण को किस समय नितना महस्त तिथा बना चाहिये। यह मनोटेक्ना समय समय पर इसी सूची के अनुरूप अपना निष्पत्त प्रकर किया करता है। मान स्मीविये किसी समय भास्करणा और अहिंसा में विरोध उत्पन्न हुआ और यह इसका उत्पत्तित्रुप्ति कि उमिस्ते के समय अमान्य मध्यम करना चाहिये या नहीं ? तब इस उद्देश्य को पूर करने के लिये यहि हम सान्त चित्त से उत्त मनोटेक्ना की मिहत कर, तो उसका यही निष्पत्त प्रसर होगा कि अमस्त मस्तम करो। इसी प्रकार यहि कभी स्वार्थ और परापर अपना परोपकार के बीच विरोध हो जाय तो उसका निष्पत्त मी इस मनोटेक्ना को मना कर करना चाहिये। मनोटेक्ना के पर की - धम-धर्म के न्यूनाधिक मात्र ही - यह सूची पक्ष प्रत्यक्षार की शास्त्रियूर्क्ष विचार करने से उत्पत्त त्रुप्ति ह किस उसने अपने समय में फ़काशित तिथा है।<sup>†</sup> इस सूची में नम्रतापुक्त पृथ्यमात्र को पहल्य अर्थात् अस्तुष्य स्वान तिथा गया है जीर उसके बात करणा इतरता उदारता चार्तस्य आदि मात्रों की कमशा नीचे की अधियों में शामिल किया है। इस प्रत्यक्षार

<sup>१</sup> इस अवसर का नाम James Martineau ( जेम्स मार्टिनो ) है। इनमें यह कही भल Types of Ethical Theory ( Vol II p. 266. 3rd Ed ) नामक शब्द में भी है। यादिन भल शब्द का Idio-psychological रहता है। परन्तु इस उत्त अधिकृताम्भ भी माना जाता है।

सेग का अधिक हित और 'मनोरेकता' इन दोना पक्षों का इस क्षेत्र में एक राय के सा द्वेष दिया गया है। मनुस्मृति ( २३ ५ १७ ) में भी कहा गया है कि द्वितीय करने में छाता मासूम नहीं होती — एवं अन्तरसमा उत्तुप होता है — यह सत्त्विक है। चम्पद नामक वाद्यपत्त्य ( ६७ और ६८ ) में भी इसी प्रकार के किंचार पाये जाते हैं। कालिकार मी यही कहते हैं कि बन कर्म-अकर्म का नियम करने में दुष्ट रहनेह हो, तब —

सत्ता हि सन्नेहप्रेह वस्तुहु प्रमाणममतः करणप्रपूर्तयः ।

सत्यस्य सेग अपने अन्तररज्ज ही की गताही को प्रमाण मानत है" ( शातु १२ )। पातकम बोग "सी जात की विचार देता है कि विचारियों का विरोध करके मन को किसी एक ही विषय पर ऐसे स्थिर करना चाहिये और वह योग-शास्त्र इमारे यहाँ बहुत प्राचीन समय से प्रचलित है। अतएव जब कभी अमानवर्म के विषय में दुष्ट सन्नेह उत्पन्न हो तब इम सेगों को किसी से यह न सिराये जाने की आवश्यकता है कि 'अन्तररज्ज का स्वरूप और शान्त करने से ये अपेक्षित मासूम हो यही करना चाहिये। सब स्मृतिभूत्यों के आरम्भ में "स प्रकार के वज्रन मिलते हैं कि स्मृतिकार इष्टि अपने मन को एकाम करके ही कर्म अपम अस्त्वया करते हैं ( मनु, २ १ )। यो ही दैनंदी से तो किसी काम में मन की गताही सेग यह मार्ग अस्पृष्ट सुष्ठुप्ति होता है। परन्तु जब इम तत्त्वज्ञान की इष्टि से इस जात का स्वरूप विचार करने लगते हैं कि 'मुह मन' विसे फहना चाहिये तब यह सरस पन्थ अन्त लक्ष काम नहीं हो रहता। और यही कारण है कि इमारे धार्मकारा न कर्मयोगशास्त्र की "मारत इन कर्त्त्वं नीवि पर गर्वं नहीं की है। अत इस जात का विचार करना चाहिये कि यह सत्त्वज्ञान कीन सा ह। परन्तु इतका विचार करने के पहले यहाँ पर इस जात का द्वैष्ट विचार करना आवश्यक है कि पक्षिमी भाषिमीतिकारियों ने इत भाषिमीतिकार का विस्त प्रकार 'कर्त्त्वं विद्या है। कारण यह है कि पक्षिमी इस विषय में आप्यासितिक और भाषिमीतिक पक्षों के कारण विच मिच है तथापि उन दोनों का भनितम निषय एक ही सा है। अतएव पहले भाषिमीतिक कारणों का उत्तर तर देन से आप्यासितिक कारण की महत्ता और मानुक्ता पाठकों के यान में शीम भा जायगी।

उत्तर कर भावे है कि भाषिमीतिक पक्ष में दुष्ट मन को ही अप्रवक्तन दिया गया है इसमें पहले प्रवर्त होता है कि भाषिमीतिक भाग का भवित्व कुप - जासे भाषिमीतिक नीतिविषय में कला की दुड़ पा हेतु के दुउ भी विचार न किये जाने का यो दाव पहले बाणाया गया है वह इस भाषिमीतिक पक्ष के कारण विच मिच है तथापि उन दोनों का भनितम निषय एक ही सा है। परन्तु उत्तर इस इन जात का नाम विचार करने लगा है कि तत्कालद्विदेवप्युपी दुष्ट मना'का विच वहना चाहिये तब इस कर्त्त्व में भी दूनही अनेक भावरिद्वाय जावार्हे उपभित्ति

स्मृति-भवन का लिंगय करनेवाले देवता का नाम मी 'चर्म' ही है। ऐसे बर्णन पाये जाते हैं कि विविध देवता के रूप की परीक्षा करने के लिये एवेन का स्थ पर कर, और पुरुषिद्वारा की परीक्षा करने के लिये प्रणम यज्ञस्त्रप से तथा यूत्सुकी शर कुसा बन कर, उभयाव प्रस्तु दुष्ट है। स्वयं मगवहीता (१० १४) में मी कीर्ति भी बाहु, स्मृति मेषा, इति भौर घमा ये सब देवता माने गये हैं। इनमें से स्मृति मेषा, इति भौर घमा मन के घन हैं। मन मी एक देवता है; और पञ्चम का फलीक मान कर, उपनिषदों में उत्तरी उपाखना मी बठावार गद है (ते १४ ढा. ३ १८)। अ मनुशी कहते हैं, कि मनापूर समाचरेत् (३ ४३) — मन ही जो पतिन मास्म हो, वही करना चाहिये — तब यही बोध होता है कि उन्हें 'मन' शब्द से भनोड़क्या ही भमिप्रत है। साधारण म्यवहार में हम यही कहा करते हैं, कि जो मन ही अच्छा मास्म हो, वही करना चाहिये। मनुशी ने मनुष्ठेहिता क पीथ भव्याव (४ १६१) म यह जात विशेष स्वष्ट कर दी है कि —

पत्नम् शुक्रमोऽस्य स्यात् परिशाऽन्तरामना ।

पाप्यपात्रम् हृषीक विपरीते तु चर्मयेद् ॥

“एह अम प्रयत्नपूर्वक करना चाहिये जिसके करने से हमारा भव्यताला उत्पुष्ट हो भौर गो वम इन्हें विपरीत हो उसे छोड़ कैसा चाहिये ।” इती प्रकार चानुर्बन्ध्य एव भावि स्यावहारिक नीति के मूलनस्त्री का उल्लेख करते समय मनु, यात्पत्तम् भावि स्मृति-प्रस्त्राकार मी कहत ह —

वेदः स्मृतिः महावारः स्यस्य च विषयमात्मनः ।

दत्तव्यहृषीकं प्राहुः मात्ताद्दमस्य लभयत् ॥

‘यह स्मृति विषयाकार और भवने भाव्या का विषय मात्तम होता — ये दम के पार सूक्ष्म हैं’ (मनु २ १२)। भवने भाव्या हो जो विषय मात्तम हो । — इन का भव्य यही है कि मन का शुद्ध मात्तन हो। इसमें स्वष्ट होता है, कि भूति, स्मृति और तात्त्वाकार से सिर्वा काय की घमना या भवमना का नियम नहीं हो जाता या तब नियम बनने का वीथा लाभन ‘मनापूर्वा लमझी जाती थीं। दित्तम प्रसरण म वही गर प्रस्त्रा भौर इन्हें की कथा इन्हें सुन्ने पर ‘हीस के लाल के रित्र म, भवतादु न महाप्तरत मैं यह बहा है —

पद्मयत्वा हित च रपाम् भावमनः चर्म पीत्वम् ।

अप्यप्रदत्त वायन य स्युप्यात् कथम् ॥

भद्रा — हमारे जिन कथा से स्मृति का हित नहीं हो जाता भवमना जिसके करने में विषय अस्त्र ही वह लाभ मात्तम होती है वह कर्म नहीं बरना चार्दृप (म च ३८ १ १ १५) इसके पाठ्यक्रमे क्यान ये यह बन भा चर्दृप के लिए कहा दित हा नहीं कर्मा भौर लाभ मात्तम होती है इन ही पर्वों से अधिकार

कि गुणाकार करने की उन्नती तकि या ऐकता किसी अप्ते गणितद से मिल है। काँच काम अभ्यास के कारण "हना अप्ती तरह सब जाता है, कि जिन विचार किए ही होई मनुष्य उत्तम शीघ्र और सरलतापूर्वक कर देता है। उत्तम उत्तमतेरी मनुष्य उठते हुए परिवार की बन्दूक से सहज मार दिहता है इससे भी भी यह नहीं कहता कि उस्यमें एक स्वतन्त्र देखता है। इहना ही नहीं किन्तु निशाच मारना उड़ते हुए परिवार की गति द्वारा जानना इस्यादि शास्त्रीय जाती को भी निरर्झन और स्थान नहीं कह सकता। नेपोसियन के विषय मैं पह प्रतिक्रिया है कि वह वह समरणात्मक मैं लगा हो कर जाते और सूख दहि से दैजता या तब उसके घ्यान में यह बात प्रकटम भा जाया करती थी कि यहु मिस्त्र स्थान पर कहते हैं। इहने ही से किसी ने यह विद्वान्त नहीं निशाच है कि मुद्रकाम एक स्वतन्त्र देखता है और उसका अन्य मानविक शक्तियों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। इहम सम्बेद नहीं कि किसी एक काम मैं किसी भी बुद्धि त्वमावता अधिक काम है और किसी भी इम परम्परा विर्क "स असामान्यता के भावार पर ही इम यह नहीं कहते कि तानों की बुद्धि बस्तुतः मिस्त्र है। इसके अठिरिक्य यह जात मी उस नहीं कि कर्म-अनाय का अयशा भर्म-भर्म का निर्णय एक-एक हो जाता है। यदि ऐसा ही होता तो यह प्रभ ती कमी उपरिषत न होता कि अमुक काम करना आहिये अप्ता नहीं करना आहिये। यह जात प्रकृत है कि इस प्रकार का प्रभ प्रसंगानुसार अमुक भी तरह सभी लोगों के सामने उपरिषत तुम्हा करता है, और कार्य-कार्य निर्णय के कुछ विषयों में मिस्त्र मिस्त्र लोगों के अभिप्राय भी मिस्त्र मिस्त्र तुम्हा करते हैं। यदि सदस्त्रिवेचनस्य स्ववाम्भू देखता एक ही है तो फिर यह मिस्त्रता क्यों है? दुरुते यही कहता पड़ता है कि मनुष्य भी बुद्धि किन्तु सुधिक्षित अवश्या सुरक्षित होती उतनी ही योग्यतापूर्वक वह किसी जात का निर्णय करेगा। बहुतेरे जाती लोग ऐसे भी हैं कि जो मनुष्य का वक्त करना अपराज तो मानते ही नहीं किन्तु वे मारे हुए मनुष्य का मातृ मी सहर्ष या जाते हैं। जाती लोगों की जात जाने दीक्षिये। सभ्य देशों में भी यह देखा जाता है कि देश के अनुगार किसी एक देश मैं जो वह गद्य समझी जाती है वही किसी दूसरे देश मैं सर्वमान्य समझी जाती है। उत्तर नार्य एक लड़ी के रहते हुए बुचरी लड़ी के साथ विकाह करना विकायत मैं शाप समाज जाता है परम्परा हितुस्थान मैं यह जात विदेष यूप्रजीय नहीं मानी जाती। मरी समा मैं सिर की पगड़ी ढाराना हिन्दु स्त्री के साथ विकाह करना विकायत मैं शाप समाज जाता है परम्परा अन्येष लौग किर की दोपी ढाराना ही सम्पत्ता का बहुत मानते हैं। पाठे यह जात सच है कि ईश्वरका या स्वाभाविक उत्तस्त्रिवेचन शक्ति के कारण ही कुरे कर्म करने मैं सम्बन्ध मालूम होती है तो क्या उस लोगों को एक ही इत्य करने मैं एक ही समान सम्बन्ध नहीं मालूम होनी जाहिये! जो नहे कुतेरे और दाकू लोग मी-एक बार विकाह नमक रहा देते हैं उच पर इष्टिवार ढाराना निष्ठ मानते हैं किन्तु

हो जाती है। कोई भी बात लीखिये; कहने की आवश्यकता नहीं है, कि उसके बारे में मध्य मेंही विचार करना — वह प्राप्त है अथवा अप्राप्त है करने के योग्य है या नहीं, उससे स्पष्ट अथवा सुन्दर होगा या नहीं ॥ त्याही बातों को निश्चित करना — नास अथवा भौंग का काम नहीं है। किन्तु वह काम उस स्वतंत्र इन्द्रिय का है, किंतु मन कहते हैं। अर्थात् बाय अकाय अथवा घम अधर्म का निषय मन ही करता है। चाह आप उसे निन्द्रिय कह या देखता। यदि आधिकैविक्ष पाप का सिर्फ़ वही कहना हो तो वो आपसि नहीं। परन्तु पश्चिमी आधिकैवलय पक्ष “सुसे एक स्पष्ट और मी आगे का हुआ है। उसका यह क्षण है, मठा अथवा बुरा (सद् अथवा असद्) न्याय अथवा अन्याय घम अथवा अधर्म का निषय करना एक गत है और इस गत का निषय करना दूसरी गत है कि अमृत पराप्र मारी है या इच्छा है, योग है या काय अथवा गणित का कोई उत्ताहरण सही है या गलत। ये दोनों बाँहें अस्यन्त मिल हैं। इनमें से दूसरे प्रकार की जाती का निषय स्याय अस्य का आधार के कर मन कर सकता है परन्तु पहले प्रकार की जाता का निषय करने के लिये केवल मन असुमित्र है। अतएव वह काम सउत्तिलेक द्युसिक्षप देखता ही निया करता है, जो कि हमारे मन में रहता है। इसका कारण ये यह अन्तर्मत है कि वह हम किसी गणित के उत्ताहरण की बैंच करके निष्ठय करते हैं कि वह वही है या गलत। तब हम पहले उसके गुण जो आदि की बैंच कर लेते हैं और तिर अपना निष्ठय दिप्त बरतते हैं। अर्थात् “सु निष्ठय के दिप्त होने के पहले मन को भय किया या स्यापार करना पड़ता है परन्तु भौंग बुरा का निषय इस प्रकार नहीं किया जाता। तब हम यह सुनते हैं, कि किसी एक आदमी ने किसी पूरे की जन से मार डाय तब हमारे मुँह से एकापक यह उद्गार निष्ठय पड़ते हैं “राम राम। उसने बहुत बुरा काम निया। और इत दिप्त में हमें कुछ भी विचार नहीं करना पड़ता अठपक यह नहीं रहा या उकता कि कुछ भी विचार न करें भाष-ही-भाष जो निर्णय हो जाता है और जो निषय विचार-युक्त किया जाता है वे दोनों एक ही मनोहृति के स्यापार हैं। इससिये यह मानना आदिय कि उत्तिलेकनष्टि भी एक स्वतंत्र मानसिङ्क देखता है। सब मनुष्यों के अस्त-जरण में यह देखा या देखि एक ही ती जाएत रहती है। “तसिय हत्या करना तभी सार्थक को देव प्रीत होता है और उसके दिप्त में किसी को कुछ किञ्चलना भी नहीं पड़ता। इस आधिकैविक्ष पुस्तिकाल पर आधिमीठिक पाप के लागी का उत्तर है कि मिल

इम एक-भाष बात का निषय एकाम कर सकते हैं इतन ही कि यह नहीं माना ये उक्ता मि दिन बात का निषय विचार पूढ़क दिया जाता है वह उसने निम ह। मिली काम का स्पष्ट अथवा धीरे करना स्पष्टात्म पर अवश्यित ह। उत्ताहरणप द्युसिय का दिप्त मीठिये। स्यापारी लाग मन के भाव से मेरे उद्याक के जाम एकम पूर्णप गमित भी रीति से दरकारा करत ह। इत कारण यह नहीं रहा या उक्ता दी ह।

ईस्त्रीय प्रसाद है। प्राचीन समव में इस बात का निरीक्षण सूक्ष्म रीति से किया गया है, कि मनुष्य को ज्ञान विच प्रकार प्राप्त होता है और उसके मन का पा तुष्टि का प्यापार किय तरह हुमा करता है। इसी निरीक्षण को 'सेव-सेवन-विचार कहते हैं। सेव का अर्थ 'शरीर और भेत्रह का अर्थ आत्मा' है। यह सेव-सेवन-विचार अच्छात्मकिया की बात है। इस सेव-सेवन-विचार का ठीक ठीक हाल हो जाने पर, सदस्त्रिकेह-पादिकि ही क्षम बैन कहे किंतु मी मनोवैज्ञानिक विचार के परे का स्वरूप नहीं माना जा सकता। ऐसी अवस्था में आधिकृत परा आप-ही-आप कमशोर हो जाता है। स्वरूप अब यहाँ इस सेव-सेवन-विचार ही का विचार उत्तेज में किया जायगा। इस विवेचन से मात्राद्वीप के बहुतेरे विद्वान्तों का सत्यार्थ मी पाठ्यों के व्याख्यान में अच्छी तरह आ जायगा।

यह कहा जा सकता है कि मनुष्य का शरीर (पिण्ड सेव या देह) एक बहुत अच्छा कारखाना ही है। ऐसे किसी कारखाने में पहले बाहर का माल भीतर विद्या जाता है किंतु उस माल का जुनाव पा अवस्था औरके इस बात का निश्चय विद्या जाता है कि कारखाने के किये उपयोगी और निरुपयोगी परावर्त जैन से हैं। और उप बाहर से अपेक्षये कर्त्ते माल से नई चीज़ बताते और उन्हे बाहर मेकर्त्ते हैं। ऐसे ही मनुष्य की देह में मी प्रतिक्षण अनेक प्यापार हुआ करते हैं। इस सुष्टुपि के पौर्णमीतिक पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करने के किये मनुष्य की इनियों ही प्रथम ज्ञान है। इन इनियों के द्वारा सुष्टुपि के पदार्थों का यथार्थ अवश्य मूलस्वरूप नहीं ज्ञाना जा सकता। आधिमीतिकवादियों का यह मत है, कि पदार्थों का पदार्थ स्वरूप कैसा ही है कैसा कि वह हमारी इनियों को प्रतीत होता है। परन्तु यदि कम विद्या को बोई नक्कन इनिय प्राप्त हो जाय तो उसकी इष्टि ते सुष्टुपि के पदार्थों का गुण घर्म कैसा आव है कैसा ही नहीं रहेगा। मनुष्य की इनियों में मी ही भेज है — एक कमोनियों और तृष्णी ज्ञानेनियों। हाथ पैर, जाणी गुड और उपस्थ ये पौर्ण कमोनियों हैं। हम जो तुम्ह व्यवहार अपने शरीर से करते हैं वह सब इन्हीं कमोनियों के द्वारा होता है। नाक औंगे कान, जीम और स्वच्छा ये पौर्ण ज्ञानेनियों हैं। औंगों से रूप विद्या से रस कानों से शुद्ध नाक से गूंप और स्वच्छा से त्वचा का ज्ञान होता है। किसी किसी मी बाह्य-प्रश्न वा यो हमे ज्ञान होता है वह उस पदार्थ के रूप रस गूंप स्वर्य के विका और कुउ नहीं है। उड़ाहरणार्थ एक लोने का द्रुक्षा हीकिये। वह पीछ्ये देह पदार्थ है त्वचा को और मात्रम होता है पीने से अम्ल हो जाता है 'स्याहि तो गुण हमारी इनियों को गोचर होते हैं लहरी का इस लोना कहते हैं और ज्ञ ये गुण बार बार एक ही पदार्थ में एक ही से उपयोगर होने जाते हैं तब इमारी दृष्टि से जाना एक ही पदार्थ का जाता है किंतु प्रकार बाहर का माल भीतर लोने के लिय और भीतर का माल बाहर मेकर्त्ते के किये किसी कारखाने में रखावा

इह वह सभ्य पक्षिमी राष्ट्र मी अपने पड़ोसी राष्ट्र का अब करना स्वयंगमकि का अस्त उमस्ते है। यदि सदस्यदिव्यक्षन शक्तिस्पृष्टि का एक ही है तो यह ऐसा क्या है? और यदि यह कहा जाय, कि शिक्षा के अनुसार अपवाह देश के वस्त्र के अनुसार लक्षणपूर्वकेनशक्ति मी भी में हो जाया करते हैं तो उसकी स्वर्यमूल नित्यता में जागा आती है। मनुष्य प्यो—या अपनी असभ्य ज्ञान को छोड़ कर सभ्य करता जाता है त्यों स्था उसके मन और बुद्धि का विकास होता जाता है। और इस तरह बुद्धि का विकास होने पर जिन जाती का विचार वह अपनी पहचानी असभ्य दशा शीक्षा से करने स्था जाता है। अपवाह यह कहना चाहिये कि “यह बुद्धि का विकास होना ही सभ्यता का लक्षण है। यह सभ्य अपवाह सुशिखित मनुष्य के इतिहास निष्ठा का परिणाम है कि वह औरत की बलु को ले करे या मौगली की “प्याज नहीं करता।” ऐसी प्रकार मन की वह शक्ति भी—जिससे बुर-ज्ञान का निषय किया जाता है—धीरे धीरे बढ़ती जाती है। और अब तो बुद्ध जाती में वह “तनी परिपक्ष होती है कि जिसी विषय में बुद्ध विचार किये जिन ही हम लेंग अपना नैटिक निषय प्रकार कर दिया करते हैं। अब हमें भौगोली से कोई दूर या पास की बलु दैर्घ्यी होती है तब भौगोली की नसी को उन्नित परिणाम से गाँवना पड़ता है; और यह किया इतनी शीक्षा से होती है कि हमें उसका कुछ बोध भी नहीं होता। परन्तु क्या “तने ही से जिसी ने इस जात की उपरिपति को निषययोगी मान रखा है? याराय यह है कि मनुष्य की बुद्धि या मन सब सभ्य और सब कामों में एक ही है। यह जात यथाय नहीं कि कालेगारे का निषय एक प्रकार की बुद्धि करती है और दुरे मल का निषय इसी असभ्य प्रकार की बुद्धि से किया जाता है। केवल अस्तर इतना ही है कि जिसी में बुद्धि कम रहती है और जिसी की अधिकैवित अपवाह अपरिपक्ष रहती है। उक्त में की ओर तथा “मूल अनुमत की ओर भी उक्तिव व्याप ते वर जि किसी काम का शीक्षनापूर्वक कर सकना केवल आनंद का अस्ताय ज्ञान का फल है परिमी भाविमीनिकावादियों ने यह निषय किया है जि मन की स्वामानिक शक्तियों से परे नमस्तिव्याकारपूर्वक नामक कार्य मिम स्वामान्य और विष्टत शक्ति के मानने की भावनाकरना नहीं है।

इस विषय में हमारे प्राचीन धार्माद्यों का अस्तित्व भी पक्षिमी भाविमीतिव्यादियों के मुद्दे ही है। वे इत जात का मानन हैं कि सभ्य भीर शास्त्र अनुश्वरण से जिसी भी जात का विचार करना चाहिये। परम्परा उन्हें यह जात सभ्य नहीं कि यस भूमि का निषय करनेवाली बुद्धि भय्या है भीर वाला भीर पहचान ने की बुद्धि भलगा है। उन्होंने यह भी प्रतिशासन किया है कि मन किनना बुधितिल हांगा उक्तना ही वह मान का बुरा निषय वर लेंगे। अन्यत भीर मन का सुशिखित करन का प्रयत्न प्रावेद का उक्ता ले करना चाहिये। परम्परा द्वे इस जात की नहीं मानते जि नमस्तिव्येवन शक्ति सामान्य बुद्धि द्वे कार्य मिम बन्ने या

ज्ञानेनिर्दियों के द्वारा मन पर ये सम्भार होते हैं उन्हें प्रथम प्रकृति करके और उनकी परस्पर गुरुत्वा करके इस बात का निर्णय फरता पढ़ता है कि उनमें से अच्छे कौन से और भुले कौन से हैं। प्राप्त अवश्यकत्वात् कौन से और अभ्यासात् उपर्युक्त ज्ञान से हैं। पहुँच निर्णय हो जाने पर उनमें से ये बात अच्छी प्राप्त अभ्यासात् उपर्युक्त अवश्यक फरते योग्य होती है, उन्हें फरने में हम प्राप्त गुरुत्वा करते हैं। यही सम्मान्य मानसिक व्यवहार है। उदाहरणात् जब हम किसी कार्ये में चर्चा है तब आँखें और नाक के द्वारा बात जाग रही है और फूट्ये के संलग्न हमारे मन पर होते हैं। परन्तु जब उक्त हमारे भाल्मा को पह ज्ञान नहीं होता कि 'न पूर्ण ते से किसी मुकालब अच्छी और किसी गुरुत्वी है तब उक्त किसी पूछ को प्राप्त कर लेने की 'अच्छा मन मैं उत्पन्न नहीं होती और न हम उसे ठोड़ने का प्रयत्न ही करते हैं। अतएव उन मनोभ्यापारों के द्वारा सूक्ष्म मान्य हो सकत हैं:- (१) ज्ञानेनिर्दियों के द्वारा जाप पठायों का उन प्राप्त करके उन सम्भार को गुरुत्वा के लिये व्यवस्थापूर्वक रखना (२) ऐसी व्यवस्था ही ज्ञाने पर उसके अनुग्रहन या गुरुप्रेषण का सार असार किंचार करके पहुँच निश्चय करना कि कौन सी बात प्राप्त है और कौन सी त्याज; और (३) निश्चय हो जुने पर, प्राप्त करने को प्राप्त कर लेने की और अप्राप्त को त्यागने की इच्छा अपनी हो कर जिस उसके अनुसार प्राप्ति का होना। परन्तु पह आवश्यक नहीं कि ये तीनों व्यापार जिन स्कारट के व्यापार एक के बाट एक होते ही रहे। सम्भव है, कि पहले किसी समय में भी उन्होंने एक की 'अच्छा आद' हो जाय। जिन्होंने 'उन्हें ही स यह नहीं कह उक्ते कि उक्त तीनों क्रियाओं में से किसी भी किया की आवश्यकता नहीं है। यद्यपि न्याय करने की क्षमताएँ एक ही होती है तथापि उसमें काम का विमान इस प्रकार किया जाता है:- पहले बाती और प्रतिकारी अवश्यकता उनके कर्त्तव्य अपनी भावनी गताहियों और उच्चत् न्यायाधीश के सामने पेश करते हैं। उसके बाद न्यायाधीश द्वितीय पक्ष के उच्चत् देवत कर निर्णय दिखार करता है और भन्तु मैं न्यायाधीश के विर्द्ध के मनुष्यर नाभिर कारणात् करता है। ठीक इसी प्रकार किस मुद्दी को अमीं उक्त हम उमाम्प्रताः 'मन प्रहरे आये है उसके व्यापारों के भी विमान गुरुत्वा करते हैं। इनमें से सामने उपस्थित बातों का सार-असार-किंचार करके पहुँच निश्चय करने का काम (असार के बाद व्यायाधीश का काम) 'बुद्धि' नामक 'नित्रिय का है कि कार्य एक बात अमुक प्रसार ही की (एकमैव) है वृत्तरे प्रकार की नहीं (नाऽन्यथा)। उपर कहे गये सब मनो-व्यापारों में से इस सार असार-विवेद्यशक्ति को अभ्या कर देने पर इर्कु जैव द्वारा व्यापार ही किस इनिय के द्वारा गुरुत्वा करते हैं उसी को उपर्युक्त और भेदान्वयास्त्र में 'मन प्रहरे है (सा का २१ और २७ श्लो)। पहुँच मन कर्त्तव्य के साथ बाई बात देती है (सक्त्वा) अवश्यकता उसके विस्तर देती है (विकृप्त) इन्द्रादि कर्त्तव्याभी को बुद्धि के सामने निश्चय करने के लिये देख किया करता

होते हैं, उसी प्रकार मनुष्य के अह म आहर के माझ की भीतर लेने के लिये ज्ञाननियन्त्रिती द्वारा हैं और भीतर का माझ आहर में लेने के लिये केन्द्रोन्मुक्तपक्षी द्वारा है। सब की किसी किसी पश्चात्य पर गिर कर अब स्थानी है और हमारे नैश म प्रवाप करती है तब हमारे आमा को उस पश्चात्य के रूप का जन होता है। किसी पश्चात्य से आनेवाली गम्भीर के शुभ परमाणु जब हमारी नाक के मजाकन्तुओं से छलत है तब हम उस पश्चात्य की आस आती है। अन्य ज्ञानेन्द्रियों के स्पायार मी इसी प्रकार हुमा करते हैं। जब ज्ञानेन्द्रियों इस प्रशार अपना स्पायार करने व्यती हैं तब हम उनके द्वारा जाइ-सूचि के पश्चात्यों का यन होने व्यती है। परन्तु ज्ञानेन्द्रियों जो कुछ स्पायार करती हैं उसका जन स्वर्य उनसे नहीं होता उसी लिये ज्ञानेन्द्रियों को 'होता' नहीं कहते लिये उन्हें लिये जाहर के माझ की भीतर म आनेवाले 'द्वार ही कहते हैं। इन इसार्यों से माझ भीतर आ जाने पर उसकी स्वरूप्ता करना मन का काम है। उनाहरणार्थ बाहर के बड़े बड़े पट्टी में पर्यावरणे लगते हैं तब एकत्र हमारे कानों को यह नहीं समझ पाता कि किन्तु वे हैं किन्तु ज्यों ज्यों पर्यावरण में टन-टन की एक एक आवाज होती रहती है स्था स्था की बहर हमारे कानों पर आकर बहर मारती है और अन्त मजाकन्तु के द्वारा प्रवेष आवाज का हमारे मन पर पहुँचे अङ्गों अथवा सुखार होता है और अन्त म 'न सहो का आड कर हम निखित किया करते हैं कि 'न सहो बह है। पशुओं में भी ज्ञानेन्द्रियों होती है। उन पट्टी की टन-टन आवाज होती है तब प्रवेष किनी का सुखार उनके कानों के द्वारा मन का पूर्ण खता है। परन्तु उनका मन 'उन्होंना किसित नहीं रहता कि के उन सब सुखारों का एकत्र करके यह निखित कर दें कि बाहर चढ़े हैं। यही अप्य शास्त्रीय परिमापा में इस प्रकार कहा जाता है कि यत्परि अनेक सुखारों का दृष्टि-पृथक् रूप पशुओं को हो जाता है तथापि उन अनेकों की एकता का बोध उन्हें नहीं होता। मगालीठा ( १ ४२ ) में कहा है - 'इन्द्रियाणि परम्याहुः इन्द्रियेन्म्यं पर मनः भपात् इन्द्रियोः ( आप ) पश्चात्यों से भेद है, और मन इन्द्रियों से भी भेद है। 'उन्होंना माझार्थ भी वही है जो किंतु ज्ञान यथा है। पहुँच कह आय है कि वही मन लिपर न हो तो वही अर्थे कुप्ति होने पर मी कुछ दीप नहीं पहुँचा और कान लुप्त होने पर मी कुछ सुन नहीं पहुँचा। तात्पर्य यह है कि इस दृहस्ती बारात्तने में 'मन' एक मुर्दी ( द्रक् ) है; जिसके पास बाहर का सब माझ ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा भेजा जाता है। और यही मुर्दी ( मन ) माझ की जैव लिप भरता है। अब इन जाती का विचार करना चाहिये कि यह शीघ्र लिप प्रकार की रहती है; और लिपे हम अन्तक नामाम्बरों 'मन बहुत भाव है उनके मीं और जीन-जीन-से मैं लिये जा सकता है अपना एक ही मन की निम्न लिप भवित्वारे भवुकार के जीन-जीन-से लिप लिप नाम प्रम दो जात हैं।

अथवा भर्त है (पृ १५३ मैत्रु ३ ३)। ऐसी ऐसी ये मनोवृत्तियों आकृत हाती आती है ऐसे ही कर्म करने की आर मनुष्य की प्रश्ना हुमा करती है। उग्रहणार्थ, मनुष्य चाहे कितना बुद्धिमान् हा और चाहे वह गरीब स्त्रीर्णों की दुर्दशा का हाल मर्थि चानता हो तथापि यहि उच्छेद इत्य में करणावृत्ति चाहत न हो तो गरिबों की सहायता करने की इच्छा कमी होगी ही नहीं। अथवा यहि धैव का अमाव हो तो सुद करने की इच्छा होने पर मी वह नहीं लगेगा। तात्पर्य यह है कि बुद्धि सिफ यही करणाम क्या होगा। इच्छा अथवा धैव आदि गुण बुद्धि के भर्त नहीं हैं। इसस्मिंसे बुद्धि स्वय (अर्थात् किना मन की सहायता किये ही) कमी इन्द्रियों का प्रेरित नहीं कर सकती। इसके विश्व शोष आदि वृत्तियों के बध में होतर स्वय मन चाहे इन्द्रियों का प्रेरित भी कर सके तथापि वह नहीं कहा जा सकता कि बुद्धि के सार भावार विचार के किना केवल मनोवृत्तियों की प्रेषण से किना गया काम नीति भी इहि सं प्रद ही होगा। उग्रहणार्थ यहि बुद्धि का उपयोग न कर केवल करणावृत्ति से कुछ बान किया जाता है, तो सम्भव है कि वह किंसी अपार्थ को किया जाए और उसका परिणाम भी बुरा हो। सारांश यह है कि बुद्धि ही सहायता के किना केवल मनोवृत्तियों अन्वी है अतएव मनुष्य का कोई कम प्रदर्श नहीं हो सकता है अब कि बुद्धि शुद्ध है। अर्थात् वह मसे कुरे का अचूक निर्भव कर सके, मन बुद्धि के भगुहेष से भावरण कर, और इन्द्रियों मन के भावीन रहें। मन और बुद्धि के किया अन्तररण और 'किञ्च' से दो शब्द भी प्रकटित हैं। इनमें से 'अन्तररण शब्द का चालवर्ण गीरुरी कृष्ण अर्थात् इन्द्रिय' है। इसस्मिन्दे उसमें मन बुद्धि किया अहस्तर आदि उमी का सामान्यतः उमाकेष किया जाता है और वह 'मन' पहले पहस काम कियो अ ग्रहण अर्थात् किन्तुन करने चाहता है, तब वही 'किञ्च' हो जाता है (मा शा २७४ १७)। परन्तु सामान्य अवहार में इन सब शब्दों का अर्थ एक ही तो माना जाता है। इति क्रमण क्रमक में नहीं आता कि किस स्पान पर कौन सा अर्थ कियाजित है। इस गद्वारी को दूर करने के किये ही उक अनेक शब्दों में से मन और बुद्धि इन्हीं दो सब्दों का उपयोग शास्त्रीय परिभाषा में ऊपर कहे गये निर्मित अर्थ में किया जाता है। अत एस तरह मन और बुद्धि का में एक धूर निर्मित कर दिया गया तब (न्यायाशीश के समान) बुद्धि को मन से भेड मनना पड़ता है और मन उस न्यायाशीश (बुद्धि) का मुखी का जाता है। मनससु परा बुद्धि। — अच गीता वाक्य का ग्राहार्थ भी वही है कि मन की अपेक्षा बुद्धि अह एव उच्छेद परे है (गी ३ ४२) तथापि ऐता कि उमर वह भावे है उस मुखी को मी तो प्रकार के काम करने पड़ते हैं — (१) शनेश्वियों द्वारा अथवा बाहर से आये हुए उत्तरारों की अवज्ञा करके उनको बुद्धि के ताम्से निषय के किये उपरिषित करना और (२) बुद्धि का निषय हो जाने पर उच्छी

इ। इती लिखे इस 'संकल्प विकापामङ्क अर्थात्' किना निष्पत्र किये क्वचिं करना करना करनाली इन्द्रिय द्वारा गया है। कमी हमी 'संकल्प सूक्ष्म में 'निष्पत्र' का भी अथ शामिल हर दिवा आता है (छपोम्य ७ ४ २ देखो)। परन्तु महों पर 'संकल्प सूक्ष्म' का उपयोग — निष्पत्र की अपेक्षा न रखते हुए — शात अमुक प्रसार की मात्रा होना, मानना, करना करना, समझना अभक्षा कुछ बोलना करना इत्यर्थ करना वित्तन करना, मन में स्थना भावि व्यापार के लिये ही किया गया है। परन्तु, इस प्रसार वर्णन के साथ अपनी करनाली को बुद्धि के सामने निष्पत्राय सिर्फ उपस्थिति हर हेने ही से मन का काम पूरा नहीं हो आता। बुद्धि के द्वाय मठ बुर का निष्पत्र हो जाने पर, किंतु शत की बुद्धि ने श्राव्य माना है उसका कर्मनियों से आवश्यक करना अपात् बुद्धि की आशा को काम में परिष्ठित करना — यह नाभिर का काम मी मन ही को करना पड़ता है। इसी कारण मन की व्याक्षया दूसरी तरह मी की जा सकती है। यह कहने में कार आपत्ति नहीं कि बुद्धि के निष्पत्र की कारणां पर ये विचार किया जाता है वह मी एक प्रकार से संकल्प विकापालमङ्क ही है। परन्तु इसके लिये सम्भवतः में 'व्यापारण विचार करना' यह स्वतन्त्र नाम दिया गया है। उसके अतिरिक्त देह द्वारा फायद दुद्धि के है। महों तरफ कि मन स्वयं अपनी ही करनाली के सार असार का विचार नहीं करता। सार असार-विचार करके किसी भी वस्तु पा यथाप शब्द भालमा को करा देना अभक्षा कुनाव करके यह निष्पत्र करना कि अमुक बस्तु अमुक प्रसार की है या तक से काय-कारण-सम्बन्ध को डाय पर निष्पत्र अनुपान करना अभक्षा काय-अकाय का निष्पत्र करना इत्यादि तत्त्व व्यापार बुद्धि के है। सकृदृष्टि में न व्यापारों का 'व्यवहाराय या 'अव्यवहाराय कहते हैं। भद्रपद और शाहन का उपयोग करके 'बुद्धि और 'मन' का ऐसा व्याप्ति के लिये, महाभारत (शा २६१ २२) में यह व्याख्या दी गई है —

व्यवहारायमित्रा बुद्धिः मनो व्यापारणामङ्कम् ।

'बुद्धि ( 'निष्पत्र ) व्यवहाराय करती है; अपात् तार असार विचार करके कुछ निष्पत्र करती है और मन व्यापारण अपेक्षा विलार है। वह भयर्थ्य अवस्था करनाली मनवत्त इन्द्रिय है — अपात् बुद्धि व्यवहारायमित्रा है और मन व्यापारणामङ्क है। मनवद्वीपा में भी व्यवहारायमित्रा बुद्धि दण्ड पाय जाते हैं (मी २.४४) और यहीं भी बुद्धि का अप तार-भसार-विचार करके निष्पत्र बनाली इन्द्रिय ही है। व्यापार में बुद्धि कष्ट एवं तत्त्वार है। दो बुद्धि उसमें आता है या व्यापा आता है उसकी काट-र्झित करना ही उत्तमा काम है उसमें दूसरा काम भी गुप्त अभक्षा अम नहीं है (म. म्य अ १८१ १)। उत्तम्य काकना इत्यर्थ, मृति बृति, भद्रा उत्ताह करणा ऐसा द्वया लाहामुनृति इत्यरना काम लज्जा भानम् अप रुग्म, रुग्म, देह सोम मर मन्त्रर, काय इत्यादि का मन ही के गुण

और मन पहले शनेनिद्रियों के साथ सक्षम-किलपात्रम् हो जाया करता है; उपा चिर कर्मेनिद्रियों के साथ व्याकरणामक या कारणां करनेवाल्य अपात् कर्मेनिद्रियों का उपात् प्रकर्त्ता हो जाता है। इसी बात का 'व्याकरण' करते समय कर्मी कर्मी मन पहले सक्षम भी किया करते हैं कि बुद्धि की आशा का पालन किस प्रकार किया जाय। इसी कारण मन की व्यास्था करते समय समास्थान-सिर्फ यही बहा जाता है कि 'सक्षम-किलपात्रम्'। परन्तु, व्याप्त रह, कि उस समय भी 'स व्याख्या में मन के शब्दों व्यापारों का समावेश किया जाता है।'

'बुद्धि' का ओर अभ उपर किया गया है कि पहले निषय करनेवाली इनिद्रिय है वह अर्थ केवल शास्त्रीय और सम्बद्धिकेवन के छिपे उपयोगी है। परन्तु 'न शास्त्रीय अर्थों का निर्णय हमेशा पीछे से किया जाता है। अतएव यहों 'बुद्धि' शब्द के उन व्यवहारिक अर्थों का भी किचार करना आवश्यक है ये 'न शास्त्र के सम्बन्ध में शास्त्रीय अर्थ निर्धित होने के पहले ही प्रचलित हो गये हैं। उन तक व्यवहारायामक बुद्धि किसी घट का पहले निषय नहीं करती तब उन हमें उसका ज्ञान नहीं होता और उन तक ज्ञान नहीं हुआ है तब उन उसके प्राप्त करने की 'अच्छा' या बासना भी नहीं हो सकती। अतएव किस प्रकार व्यवहार में आम पैद और पस के छिपे पक्ष ही आम शब्द का प्रयोग किया जाता है उसी प्रकार व्यवहारायामक बुद्धि के छिपे भी उस बुद्धि के बासना आड़ि पक्ष के छिपे भी एक ही शब्द 'बुद्धि' का उपयोग व्यवहार में कई बार किया जाता है। उग्रहरणार्थ शब्द इन कहते हैं कि अनुकूल मनुष्य की बुद्धि लोटी है। शब्द हमारे लोकों का पहले अर्थ होता है कि उसकी बासना 'लोटी है। शास्त्र के अनुसार इच्छा या बासना मन के अर्थ होने के कारण उन्हें शब्द से समोक्षित करना पुरुष नहीं है। परन्तु बुद्धि शब्द की शास्त्रीय चेष्टा होने के पहले ही से उन उचावरण शेषों के व्यवहार में 'बुद्धि' शब्द का उपयोग 'न दोनों अर्थों में होता जब्त आया है - (१) निषय करनेवाली इनिद्रिय; और (२) उल इनिद्रिय के व्यापार से मनुष्य के मन में उत्पन्न होनेवाली बासना या 'अच्छा'। अतएव आम के मेड उत्सवों के समय किल प्रकार 'पैद और 'पक्ष इन शब्दों का उपयोग किया जाता है उसी प्रकार उद्दुक्षि के उक्त दोनों अर्थों की मिलता व्यती करनी होती है तब निषय करनेवाली भवया शास्त्रीय बुद्धि को 'व्यवहाराय भित्ति' किया जाता है और बासना को केवल 'बुद्धि भवया' 'बासनामक बुद्धि' कहते हैं। गीता (८.४) ४४ ४५; और १ ४२) में 'बुद्धि शब्द का उपयोग उपयुक्त दोनों अर्थों में किया गया है। कर्मयोग के किलेवन का दीक्ष दीक्ष समझ सेने के लिये 'बुद्धि शब्द के उपयुक्त दोनों अर्थों पर हमेशा व्याप्त रहना चाहिये। उन मनुष्य बुद्धि शब्द करने सकता है तब उनके मनोव्यापार का उपयोग उत्पन्न होता है - पहले वह 'व्यवहारायभित्ति' बुद्धीनिद्रिय से किचार करता है कि पहले व्याप्ता है या बुद्धि करने का योग है।

मात्र अपना शाह कर्मेन्द्रियों के पास भेज कर बुद्धि व्य हेतु सफल करने के लिये आवश्यक बाहर किया करताना । किस तरह दूकान के लिये माल लारीजने का काम और दूकान में उठ कर बेचने का काम भी कहीं कहीं उस दूकान के एक ही नीकर को करना पड़ता है । उसी तरह मन को भी दूसरा काम करना पड़ता है । मान स्थ कि हम एक मिथ शील पट्टा और उसे पुकारने की इच्छा से हमें उसे 'मेरे करा । अब भैमा चाहिये कि उठन समय में अनुच्छरण में बितने व्यापार होते हैं । पहले भौंता ने अपना आनेन्द्रिया ने यह सत्कार मन के द्वाया बुद्धि को मन कि हमारा मिथ पास ही है और बुद्धि के द्वाया उस सत्कार व्य शन आमा को हुआ । यह हु शन हने की किया । बद आत्मा बुद्धि के द्वाया यह निष्पत्ति करता है कि मिथ का पुकारना चाहिये और बुद्धि के इस हेतु के अनुकार कारबाद करने के लिये मन में चाक्के की चूज उत्पन्न होती है और मन हमारी बिजा (कर्मेन्द्रिय) से भरे । शुच का उत्कारण करता है । पाणिनी के लिया ग्रन्थ में शुभ्नोचारण दिया का बगन उसी भार को व्यान में रख कर किया गया है ।

मात्मा हुद्या मदेत्याऽर्थात् मनो शुचं विवक्षया ।

मनः कापासिमाहृष्टि स प्रेतपति माठसम् ।

माठतस्त्रूपि चरन् मन्दं जनपति स्वरम् ॥

अपात् । पहले आत्मा बुद्धि के द्वाया सब ग्राहा का मारण करके मन में बोछे की इच्छा उत्पन्न करता है और बद मन कामामि को उत्पन्न करता है, तब कामामि पायु को प्रेरित करती है । तद्दन्तर यह पायु छाती में प्रवेष करके मह खर उत्पन्न करती है । यही खर आगे कण्ठ-ताह आति के बग मेड रूप से मुग के बाहर आता है । उक्त खोड़ के अन्तिम ढा खरण मैमुपनिषद् में भी मिलते हैं (पैम्प. ७ ११) और, "सर्वे प्रवीत होता है ति ते भौक पायिनि ते भी प्राचीन हैं ।" आपुनिक पारीरणालो म कामामि का मारणनु कहते हैं । परम् पश्चिमी पारीरणालय का बगन है ति यन भी ने हैं । क्यों बाहर के पड़ायों का ज्ञान मीतर घनेकाष और मन के द्वाया बुद्धि की भाङ्ग कर्मेन्द्रियों को अनुभवेनाके मजाकुन्तु शारीर म मिथ मिथ है । हमारे दात्कार दो मन नहीं मानत उसी ने मन और बुद्धि को मिथ क्षम्य कर लिफ यह करा है कि मन उमसारमङ्क है । अपात् वह कर्मेन्द्रियों के दाय कर्मेन्द्रियों के लमान और शनन्द्रियों के साथ आनेन्द्रियों के समान काम करता है । शार्नों का दात्यव एक शी है । शेना की दृष्टि से यही प्रकट है ति बुद्धि निष्पत्तिक्षण न्यायाधीश है ।

\* ऐस्मद्भाव बाहर के लिया है कि मनुषनिराकारिति की जपसा प्रवर्तन हाता रखिये । Sacred Books of the East Series Vol. XV pp. 317-18. इन ग्रन्थ शारिक द्रष्टावर में अविह विचार किया गया है ।

समावेष 'भन' में नहीं किया जा सकता और किसी भी बात का विचार करके निष्ठ उत्तेजाती व्यक्तियात्मिक बुद्धि केरम एक ही है इहकिये उत्तरद्विभेदस्य 'देवता' के लिये काई स्वतन्त्र स्थान ही नहीं रह जाता। हों इसमें सन्देह नहीं कि किंतु बातों का या विषयों का सार-असार-विचार करके निष्ठ उत्तर पड़ता है, वे अनेक और भिन्न गिरि देवता हो सकते हैं। ऐसे व्यापार, छार्ट और आरी या दीवानी मुकद्दमे, पातुलारी इपि आपि अनेक व्यक्तियों में हर मीठे पर सार असार-विकेन्द्र उत्तर पड़ता है। परन्तु इतने ही से यह नहीं कहा ज्या सकता कि व्यक्तियात्मिक बुद्धियों मीं गिरि गिरि अथवा कई प्रकार की होती हैं। सार असार विकेन्द्र नाम जी किसा सर्वेष एक ही सी है और उसी कारण विकेन्द्र अथवा निर्णय उत्तेजाती बुद्धि वीं एक होनी चाहिये। परन्तु मन के साथ बुद्धि भी शरीर का भर्ता है। असरेष पूर्वार्थ के अनुसार — पूर्वपरम्परागत या आनुपमिन्द सलाही के कारण अथवा विद्या आपि अन्य कारणों से — यह बुद्धि कम या अधिक सात्त्विकी राजती या तामती हो सकती है। वही कारण है कि जो बात किसी एक की बुद्धि में ग्राह्य प्रतीत होती है, वही दूसरे की बुद्धि में अप्राप्य रैचती है। अर्थात् ही से पह नहीं समझ लेना चाहिये, कि बुद्धि नाम की इनिष्य ही प्रत्येक समय गिरि गिरि रहती है। और ही ज्या हरण लिये। किसी भी और से दिखती रहती है तो किसी भी मही और किसी भी कानी किसी भी हाहि मन और किसी की चाक रहती है। इससे हम यह कही नहीं सकते कि नेत्रिष्य एक नहीं अनेक हैं। यही स्याय बुद्धि के विषय में भी उपमुख होना चाहिये। किंतु बुद्धि से जाकर अथवा गेहूं जाने चाहते हैं किंतु बुद्धि से पत्तर और हीर का मेद जाना चाहता है किंतु बुद्धि से काढ़े गोरे या मीठे फले का झन होता है वही 'न तन बातों के वारहम्य का विचार करके अनिष्ट निर्णय भी किसा करती है कि मय किसमें है और किसम नहीं भर्ता अथवा अथवा अथवा अथवा अकार्य में क्या मैं हूँ है, इस्याति। साधारण व्यवहार में 'मनोउत्तरा' का कर लघुष्म जाहे किनता गौरव किया जाय तथापि उत्तरायन जी हाहि से वह एक ही व्यवसायात्मिक बुद्धि है। उसी अभिज्ञाय की ओर ज्वाल हो कर गीता के अद्यरहने अन्याय में एक ही बुद्धि के तीन में ( सात्त्विक, राजत और तामत ) करके मानाने ने अर्द्धन ज्यों पहले मह व्यवसाया हूँ कि:-

प्रहृष्टि च विहृष्टि च कार्याकार्यं भवामयं।

बन्धं सोहसं च या वेति हुद्धिः सा पार्यं सात्त्विकी॥

अर्थात् सात्त्विक बुद्धि यह है कि किये इन बातों का व्यवाय ज्ञन है:- कैन-का व्यवहार जानना चाहिये और कौन का नहीं कौन-का काम करने चाहिये है और कौन का अवोध्य किस बात से इनना चाहिये और किस बात से नहीं किसमें कृच्छन है और किसमें मौख्य " ( गी १८ ३ ) । "सके बार" पह व्यवसाया है कि:-

या नहीं और फिर उस क्षम के करने की दृच्छा या बासना (भयात् बासनात्मक बुद्धि) उत्पन्न होती है भार तब वह उक्त काम करने के लिये प्राप्त हो जाता है। काय भक्त्य का निषय करना इस (म्यवसायात्मिक) बुद्धिनिय का व्यापार है वह सत्य और धार्ता ही तो मन म निरपक अन्य बासनाएँ (बुद्धि) उत्पन्न नहीं होते पाती और मन भी किंगने नहीं पाता। अतएव गीता (२ ४३) मे कमयोग-शास्त्र का प्रथम विदान्त यह है, कि पहले म्यवसायात्मिक बुद्धि को शुद्ध और रिपर राखा चाहिये। ऐस गीता ही मे नहीं किन्तु बासने<sup>१</sup> भी बुद्धि के असी प्रकार दो भेद किये हैं; और शुद्ध अभात् म्यवसायात्मिक बुद्धि के पव म्यवहारिक भवन् बासनात्मक बुद्धि के व्यापारो का विवेचन दो स्वतंत्र प्रणीत मे किया है। बल्कुत् ऐसा से को यही प्रतीत होता है कि म्यवसायात्मिक बुद्धि को रिपर करना पात्रक योगशास्त्र ही का विषय ह कमयोगशास्त्र का नहीं। किन्तु गीता का विदान्त है कि कर्म का विचार करते समय उसके परिणाम की ओर व्यान दे पर पहले किफ पही ऐसा चाहिये कि क्षम करनेवाले की बासना अर्थात् बासना मक बुद्धि नहीं है (गी २ ४१)। और इस प्रकार अब बासना के विषय मे विचार किया जाता है तब प्रतीत होता है कि इसी म्यवसायात्मिक बुद्धि रिपर और शुद्ध नहीं रहती उसके मन मे बासनाभा की मिस्त्र मिस्त्र तुरंग उत्पन्न हुआ करती है। और असी बाबत कहा नहीं क्य सकता कि वे बासनाएँ सौंदर शुद्ध और पवित्र ही हांगी (गी २ ४१)। तब कि बासनाएँ ही शुद्ध नहीं हैं तब भाग कर्म मी शुद्ध कैसे हो सकता है। इसी लिये कर्मयोग मे भी — म्यवसायात्मिक बुद्धि का शुद्ध भवने के लिये — साक्षरों अथवा उपायी का विकारपुर्वक विचार करने की आवश्यकता होती है और इसी करण भवनशृंखला के छठे अध्याय में बुद्धि को शुद्ध करने के लिये एक लाभन के लौर पर पात्रक्षयोग का विवेचन किया गया है। परन्तु अस सम्बन्ध पर एक न दे कर इस साप्रधारिक टीकाकारी ने गीता का पह तात्पर्य निकाला है कि गीता मे केवल पात्रक्षयोग का ही प्रतिपादन किया गया है। अब पाठको के व्यान मे पह बात भा चाहयगी कि गीताशास्त्र में 'बुद्धि' एवं के उपयुक्त दोनों अर्थों पर और उन अर्थों के परतर उसमें पर व्यान राखा वितने महसूब का है।

"स बात का बाबत हो जुता कि मनुष्य के अन्तर्ब्रहण के व्यापार विच प्रकार हुआ करते हैं तथा उम व्यापारी का ऐसे हुए मन और बुद्धि के काय कीनक्ष हैं तथा बुद्धि शुद्ध के लिये अर्थ होते हैं। अब मन और म्यवसायात्मिक बुद्धि को इस प्रकार शुद्ध कर देने पर देखना चाहिये कि सरसाहितेक्षेत्रा का व्यापार एवं क्षया है। इस देखता का काम किंवदं मलेन्दुरे का जुनाव करना है। अतएव असका

८१६) में भी वही रूपक शोन्तीन स्थाना में कुछ हेरफेर के साथ किया गया है। इन्द्रियनिष्ठ का उस काय का बर्णन करने के लिये उक्त इष्टान्त इतना अप्पा है कि ग्रीष्म के प्रथिद तत्त्ववेत्ता देवा ने भी इन्द्रियनिष्ठ का बर्णन करते समय इसी रूपक का उपयोग अपने प्राय में किया है (फिल्स २४१)। भगवद्गीता में यह इष्टान्त प्रत्यक्ष रूप ले नहीं पाया जाता। तथापि इस किएव के सन्दर्भ की ओर भी व्याख्या आया उसे यह यात अवस्थ माप्तम हो जायगी कि गीता के उपर्युक्त भेदों में इन्द्रियनिष्ठ का बर्णन इस इष्टान्त को उक्त बरके ही किया गया है। सामान्यतः अवश्य उक्त शास्त्रीय सूत्रमें करने की आवश्यकता नहीं होती तब उसी का मनोनिष्ठ भी कहते हैं। परन्तु उक्त 'मन' और 'बुद्धि' में—जैसा कि ऊपर कह आये हैं—भेद किया जाता है तब निष्ठ करने का काय मन को नहीं, बिन्दु अवस्थायात्मिक बुद्धि को ही करना पड़ता है। इस अवस्थायात्मिक बुद्धि को शुद्ध करने के लिये—पाठंबल्ल-योग की समाधि से महिं से, यत्न से अथवा व्यायाम से परमेश्वर के यथार्थ रूपरूप को पहचान कर—यह तत्त्व पूर्णतया बुद्धि में मिल जाना चाहिये कि 'सब मायिमों में एक ही भावमा है'। इसी को आमनिष्ठ बुद्धि कहते हैं। इस प्रकार यह अवस्थायात्मिक बुद्धि भात्मनिष्ठ हो जाती है और मनोनिष्ठ की सहायता से मन और इन्द्रियों उसकी अधीनता में रह कर आशुभुवर आचरण करना सीख जाती है। यह इष्टम् जातना आदि मनोबर्म (अर्थात् वासनात्मक बुद्धि) आप ही आप शुद्ध और पवित्र हो जाते हैं और शुद्ध सात्त्विक कर्मों की ओर भेदेन्त्रिया भी सहज ही प्रवृत्ति होने जाती है। अव्याप्त इष्ट से पहीं उन संग्रहरण की जह अर्थात् कम्योगशाला का रहस्य है।

ऊपर किये गये विवेचन सं-पाठक समझ आवेदों कि हमारे शास्त्रभरों ने मन और बुद्धि की स्वामानिक शृंखियों के अतिरिक्त उत्तरदिवेश शक्तिरूप त्वरत्त्व देवता का अलिङ्गन कर्त्ता नहीं माना है। उनके मतानुसार गी मन या बुद्धि का ग्रेव करने के लिये उन्हें देवता कहने में कोई हड्ड नहीं है, परन्तु तात्त्विक इष्ट से विचार करके उन्होंने निष्प्रित उक्तान्त निष्ठा है कि लिये हम मन या बुद्धि कहते हैं उससे मिल और त्वयम् 'उत्तरदिवेश' नामक लिंगी सीधे देवता का अस्तित्व हो ही नहीं सकता। उता हि उन्नेष्टपैदेषु कवन के 'सता पद ही उपमुक्तता और महाया भी अव ममी मौटि प्रकट ही जाती है। लिंगों मन शुद्ध और भात्मनिष्ठ है ऐ यहि अपने अनुष्टानण भी रखाही है तो कोइ भनुष्टित ज्ञात न होगी अथवा यह भी कहा ज्ञ उक्तता है कि लिंगी काम का करने के पहले उनके लिये यही उक्तित है कि वे अपने मन को अप्पी उत्तर शुद्ध करके उसी भी गताही किया कर। परन्तु वरि नोई और कहने लगे कि मैं भी 'सी ग्राकार भाचरण करता हूँ तो यह तथापि उक्तित न होगा। असीकि, दोनों की सर्वदिवकरण उक्ति एक ही सी नहीं होती। उत्पुर्यों की बुद्धि तात्त्विक और जोरी की वामसी होती है। वापर आधीक्ष

पण् चर्ममधर्म च कार्यं चाकार्यमेव च ।

ल् पथाबस् प्रजाकामि हुदिः सा पार्थं राजसी ॥

मध्यम् चर्म और अचम अयका काम और अकार्य का यथार्थ निषय को बुद्धि नहीं पर एक ही यानी को बुद्धि हमेशा भूल किया करती है वह राजसी है (१०. ११)। और अन्त में कहा है कि —

मर्ममेव चर्ममिति पा मम्पते तमसामृता ।

सर्वायांहविपरीतोऽथ बुद्धिः मा पार्थं तामसी ॥

मर्म त् अचम को ही चर्म माननेकाली अयका सब चाता का विपरीत या उम्मा ने यथा करनेकाली बुद्धि तामसी कहत्याती है” (गी १८ ३२)। इस विवेचन से यह ही चाता है कि देवता मध्ये बुद्धि का निषय करनेकाली अयका उत्सविक्षेक बुद्धिरूप खट्टात् और मिज्ज देवता गीता को समझ नहीं है। उम्मा अप यह नहीं है, कि सौत्र ठीक ठीक निषय करनेकाली बुद्धि हो ही नहीं सकती। उम्मा अप यह नहीं है, कि बुद्धि एक ही है और ठीक ठीक निर्णय करने का तात्त्विक युग इसी एक बुद्धि में पृष्ठस्त्वार्तों के कारण यिन्हा से तथा इन्द्रियनिष्ठह अयका भाइस भाइ के कारण उम्मा हो जाता है और उन पृष्ठस्त्वार प्रधृति कारणों के अम्बाव से ही — वह बुद्धि क्यों काव-मकाव-निषय के विषय में ऐसे ही अन्य दूसरी जाता मैं भी — राजसी अयका तामसी हो सकती है। इस सिद्धान्त नी उहायता से मध्ये गौंत्रि मालम हो जाता है कि चोर और चाह की बुद्धि में तथा मिज्ज देवता के मनुष्यों की बुद्धि में यिहता क्या तुभा करती है। परन्तु यह हम सदस्तीहृष्टव्य शृंखि को खम्भत्र देवता मानते हैं तब उक्त विषय की उपपत्ति ठीक ठीक यिद्ध नहीं होती। फ्रत्येक मनुष्य का कठरय है कि वह अपनी बुद्धि की तात्त्विक ज्ञाते। यह काम इन्द्रियनिष्ठह के यिन्हा हो नहीं सकता। तथ एक व्यक्तसाधायामिन् बुद्धि पह चलने मैं समर्प नहीं है कि मनुष्य का हित किस जात मैं है और यद तब वह उस जात का निषय या परीका किये यिन्हा ही “निर्णयों की अचमकुलार भावरण करती रहती है तब तब वह बुद्धि ‘यह नहीं ही य सकती। भवएष बुद्धि को मन और इन्द्रियों के भवीन नहीं होने देना चाहिये। यिन्तु ऐसा उपाय करना चाहिये कि किसी मन और “निर्णयों बुद्धि के भवीन रहे। मात्रात्तिवा (२. ६७ ६८ ३ ७ ४१ ६ २४-२६) मैं यही सिद्धान्त अनेक स्थानों मैं बताया गया है और यही कारण है कि कठोपनिषद् मैं शारीर की रूप की उपमा दी गई है; तथा यह उपक लौका गया है कि उप शरीरकी रूप मैं तुते हुए इन्द्रियोंकी ओहों को विषयोपमीग के माम मैं अचली तरह अम्भने के किंवदं (व्यक्तसाधायामिन्) बुद्धिरूपी जारी की मनोमय आम भीरता से नीचे रहना चाहिये (कर १ ३- )। महामारत (कर २१ ६७ जी ७ १३) अप

पृष्ठ पृष्ठ म्यापार हुआ छठते हैं। इनका एकत्र सब होने के लिये भी एकत्र कर्मयोगी पड़ती है, वह एकत्र या एकीकृत जैन छठता है। तभा दसी के अनुतार भागे दस इन्द्रियों को अपना अपना म्यापार तानुकूल करने की जिया जैन विकल्पता है। वह नहीं कहा या सकता कि वह सब काम मनुष्य का कद शरीर ही किया करता है। न सब काम यह है कि जब शरीर की चेतना अथवा सब हस्तकृत करने के म्यापार न हो जाए है। तब कद शरीर के बड़े रहने पर मीं वह इन कामों को नहीं कर सकता और कद शरीर के कठकायथव जैसे माल, म्यामु इत्यादि तो अब के परिणाम हैं सभा के हमेशा ऐर्ग हो कर नये हो जाया करते हैं। इच्छिये कहने को मिल अनुक एक बात ऐसी यी कही मैं आज बूढ़ी होन रहा हूँ। इस प्रकार की एकत्र-बुद्धि के विषय में वह नहीं कहा या सकता कि वह नित्य कठबोक्खादे का शरीर का ही भर्त है। अप्ता अब यह छोड़ कर चेतना को ही स्थामी माने तो पह अपाचि दीन पायी है, कि गाह निद्रा भै प्राणादि वामु के वास्तो-स्मारक प्रवर्ति म्यापार अथवा बिरामितरण आदि म्यापार - अर्थात् चेतना - के रहते हुए मीं 'म' का रूप नहीं रहता (पृ. २ १ १६-१८) अतएव वह किंवद्दं होता है, कि चेतना - अथवा माप प्रवर्ति का म्यापार - मीं कद पदार्थ में उत्पन्न होनेवाला एक प्रवर्ति का विधिष्ठ गुण है। वह इन्द्रियों के सब म्यापारी की एकता करनेवाली मूल्यांकिता स्थामी नहीं है (कृ. ६ ८)। मिरा और तीरा नन तमस्कारक शर्मों से केवल अहंकारस्ती गुण का बोध होता है; परन्तु यस बात का निर्णय नहीं होता, कि 'भद्र अर्थात् मैं' क्यैन हूँ। किंवद्दं मीं या अहु को केवल भ्रम मान लौं, तो प्रवर्ति की ग्रनीति अथवा अनुमत ऐसा नहीं है; और यस अनुमत को 'छोड़ कर किसी अन्य बात की कराना करना मानो भीतरमर्यादा स्थामी के निम्न करनों की साधनता ही कर दियाना है - ग्रनीति के लिया कोई भी क्षम अप्यनु नहीं स्थाना। वह कम्प देगा हाता है जैसे कुत्सा मूर्ख फैला कर रो गया हो! (ग ९ ५, १५)। अनुमतों के विपरीत यम बात का मान भेदों पर मीं इन्द्रियों के म्यापारी की एकता की उपरांति का कुछ भी पक्ष नहीं स्थाना। कुछ लोगों की राय है कि 'मैं' कोई मिस्र पदार्थ नहीं है भीतर यम भै जिन - मन पुदि चेतना कद हेठ भाडि - दस्तों का समानेय किया जाता है। उन सब के सामने या अनुष्य का ही मैं कहना चाहिये। अब यह बात हम प्रयत्न देगा करते हैं कि लक्ष्यी पर स्थानी रूप हेने से ही कठकूल नहीं यम गानी अपवा तिनी पही के लक्ष कीम पुर्णी औं एक स्थान में रूप हेने ही उनमें राति उत्तम नहीं हो सकती। अतएव वह नहीं कहा या लक्ष्य कि केवल सपात या समुष्यप से ही कर्तृत्व उत्पन्न होता है। वहने की आवश्यकता नहीं, कि देव के लक्ष म्यापार भीनी सरीर नहीं होते। किम्बु उनमें कोई विधिष्ठ विद्या उत्पन्न पा हेनु रहता है। तो फिर लक्ष्यी कारणमें मैं काम करनेवाले मम गुड़ आदि नव नीकरी का इन विधिष्ठ जिया पा जहा की और बीन प्राप्त

फ्रमवाली का 'सुदूरदिवेश्वर-देवता' उत्तराखण की दृष्टि से स्वतंत्र देवता चिन्द नहीं होता रिन्दु हमारे धार्मकार्य का उदान्त है कि वह तो अवधारणामिक बुद्धि के समर्पणी ही य से एक आत्मनिष्ठ भर्यान् सात्त्विक स्वरूप है। और अब यह उदान्त रित हो गया है तब आधिकैश्वत पक्ष की अपने आप ही क्षमता द्वारा ही जाता है।

अब चिन्द हो गया कि आधिकैश्वत पक्ष एकेश्वीय तथा असूर्ण है और आधिकैश्वत पक्ष की सहज मुद्दिभी किसी काम की नहीं तब यह जानना आवश्यक है कि कर्मयोगशास्त्र की उपपत्ति दृष्टिकोण के लिये कोइ अस्य माग है या नहीं। और उक्त मीं पह मिलता है कि हों माग है और उसी को आप्यात्मिक कहते हैं। इसका कारण यह है कि यद्यपि जाग्रत्कर्मों की अपेक्षा बुद्धि भेद है तथापि अब सुदूरदिवेश्वर-बुद्धि नामक स्वतंत्र और स्वयमभू देवता का अखिल चिन्द नहीं हो सकता। उप कर्मयोगशास्त्र में मीं इन प्रकृति का विचार करना आवश्यक हो जाता है कि शुद्ध कम करने के लिये मुद्दिको विकल प्रकार शुद्ध रक्षणा चाहिये शुद्ध बुद्धि लिये कहते हैं। अपका बुद्धि विकल प्रकार शुद्ध की यह सकली है। और यह विचार केवल अप्यस्यादि का विचार करनेवाले आधिकैश्वतपक्षों का लेके लिना, तथा अप्यामृतस्त्रमें प्रवेश लिये लिना युग नहीं हो सकता। ऐसे विश्वमें हमारे धार्मकार्यों का भन्ति लिङ्गान्त पर्ही है कि विकल बुद्धि को आमा का अपका परमेश्वर के सब एकाएक यथाप्रस्तुत्य का पुण ज्ञान नहीं हुआ है। वह बुद्धि शुद्ध नहीं है। गीता में अप्यामृतशास्त्र का निरूपण यही बताने के लिये किया गया है कि आप्यनिष्ठ बुद्धि लिये कहना चाहिये। परम्परा ऐसे दृश्यापर-सम्बन्ध की ओर अप्यामृत न हो कर, गीता के कुछ माप्याप्रयित गीताकारों ने यह लिख्य लिया है कि गीता में मुराय प्रतिपाद वेगान्त ही है। भागी लग कर यह जात विस्तारपूर्वक बताया जायगी कि गीता में प्रतिपादन लिये गये विषय के सम्बन्ध में उक्त दीताकारा का किया राजा निष्पय दीक्ष नहीं है। यहाँ पर लिये यही बताया है कि बुद्धि को शुद्ध रक्षणे के लिये आप्या का मीं अपरप्रिचार करना पड़ा है। आप्या के विषय में यह विचार तो प्रकार लिया जाता है—  
 (१) स्वय अपने पिण्ड क्षेत्र अपका धारीर के और मन के ग्रापार्ही का निरीक्षण करने पर यह विचार करना कि उस निरीक्षण से क्षेत्रकी आप्या के उत्तराध होता है (मी न ३३)। जीव का धारीरिक अपका भेदभावहविचार कहते हैं और जीव कारण व्याप्तिमूर्ति का धारीरक (धारीर का विचार करनेवाले) तून कहते हैं। स्वय अपने भम्ने धारीर और मन का इस प्रकार विचार होने पर (२) ज्ञानना चाहिये कि उस विचार में निराप्रहानेकाम्य तत्त्व—भार दूसरे जारी भोर की दृश्यस्युद्धि अपार्ण व्याप्तिके निरीक्षण से विष्पम्भ होनेकाम्य तत्त्व—दोनों एक ही हैं अपका विष्प लिये हैं। इन प्रकार लिये गये दृष्टिके निरीक्षण की भर-भस्तर-विचार अपका व्यक्त-अप्यक विचार कहते हैं। मुद्दिके द्वय नापकान् पक्षयों को 'हर' या 'प्यक' कहते हैं और यहिके उम्म नापकान् पक्षयों में ये चारभूत विष्पत्तम है, उसे भार या अपक

होते हैं (गी. ८ २१; १८ १६) सेवने मर्यादितार और उत्तर भाष्ट-विचार से प्राप्त होनेवाले ज्ञ दोनों वर्गों का फिर से विचार करने पर प्रकार होता है कि ये दोनों वर्ग इससे निष्पत्त हुए हैं और ज्ञ दोनों के पर वा उपर का मूलभूत एकत्र है, उसी का 'परमात्मा भवता' 'ुप्योगम कहते हैं (गी ८ २)। ज्ञ वर्गों का विचार मात्राद्वीप में किया गया है और अन्त मर्यादयोगशास्त्र की उपपत्ति उत्तराने के लिये यह विकल्पमया गया है, कि मूलभूत परमात्मात्मी तत्त्व के शब्द से बुद्धि किस प्रकार हुआ हो जाती है। भवतपत्र उत्तर उपपत्ति को अच्छी तरह समझ लेने के लिये हम भी उन्हीं मार्गों का अनुकरण करना चाहिये। ज्ञ मार्गों में से ब्रह्माण्ड अन अवता उत्तर विचार का विवेचन अग्रके प्रकार में किया जायगा। उत्तर प्रकार में सउसद्विन्द्र देवता के यथार्थ स्वरूप का निर्णय करने के लिये पिण्ड ज्ञन भवता ऐक्षेत्र का जो विवेचन आरम्भ किया गया वह अभूत्य ही रह गया है। इस लिये अब उसे पूछ कर देना चाहिये।

पौच्छमीतिक स्थूल वेद पौच्छ वर्णनिक्तियों पौच्छ वानेन्द्रियों इन वानेन्द्रियों के शब्द स्वयं रूप-रस-गत्तामङ्क पौच्छ विषय तत्त्वस्य-विकासस्यात्मक मन और अवकलतामात्र-विकल्प बुद्धि - इन सब विषयों का विवेचन हो जुका। परन्तु, इतने ही से शरीरस्यात्मीय विचार की पूर्वता हो नहीं जाती। मन और बुद्धि के बीच विचार के सामन अवता अन्तिरिक्ष विवेचन न हो तो मन और बुद्धि का होना न होना बराबर ही - अर्थात् जिसी अवस्था का नहीं - समझा जायगा। अर्थात्, शरीर में उपर्युक्त वातों के अविरिक्ष वेतना नामक एक और वस्त्र का मीं समावेष होना चाहिये। कभी कभी 'वेतना शब्द का अर्थ वैतन्य नहीं माना गया है करन् बड़ेह में हमोचर होनेवाली ग्राणी की हस्तय, ऐसा या शीक्षावस्था का अवहार चिर्क वही अर्थ विषमित है। जिसका हित शक्ति के द्वारा बड़े पश्चायों में मीं हस्तस अवस्था स्थापार उत्पन्न हुमा करता है, उसको वेतन्य कहते हैं और अब इसी शक्ति के विषय में विचार करना है। शरीर में हमोचर होनेवासे सदीकता के स्थापार अवस्था वेतना के अविरिक्ष विकल्प कारण मिरा तेजा वह ऐसे स्वरूप होता है वह मीं एक मित्र गुण है। उत्तरा कारण पहले है कि उपर्युक्त विवेचन के अनुसार बुद्धि उत्तर-अवता का विचार करके वेतन स निर्णय करनेवाली एक अन्तिरिक्ष है भवतपत्र मिरा तेजा इस में मात्र के मूल को अपोद्ध अवहार को उत्तर बुद्धि से पृथक् ही मानना पड़ता है। 'चान्द्रेष मुख्य-युत भासित दृष्ट मन ही के गुण हैं। परन्तु नैयायिक इन्हें आत्मा के गुण समझते हैं। इसी लिये इस भ्रम को इटाने के अध्य वेतनस्यात्मा ने 'सका समावेष मन ही में किया है।' 'सी प्रकार जिन मूलतात्मी से पञ्चमाहामूल उत्पन्न हुए हैं उन प्रकृतिस्म तत्त्वों का मीं समावेष शरीर ही में किया जाता है (गी १३ ८ ६)। जिस साड़ि के द्वारा ये तत्त्व रिपर रहते हैं वह मीं इन सब से ज्ञायी है। उत्ते शृति कहते हैं (गी १८ ११)। इन सब वर्गों की एकन करने से जो समुच्चयत्वपूर्ण प्रार्थना होता है

करता है? संघात का अर्थ कबल समूह है। कुछ पश्चातों को एकत्र करके उनका एक समूह का जाने पर भी बिल्ला न होने के क्षिये उनमें भागा शाखा पड़ता है। नहीं यह वे फिर कभी-न-कभी अस्त्र भस्त्र हा आयेगे। अब हमें सोचना चाहिये, कि यह भागा क्या कहता है। वह जात नहीं है कि गीता को संघात मान्य न हो परन्तु उष्णी गणना सब ही में भी आती है (गीता १३ ६)। संघात से इस जात का निषय नहीं होता कि जन का स्वामी अथात् भक्त हीन है। कुछ स्मृति तमस्ते है कि समुद्दय में काँ नया गुण उत्पन्न हो जाता है। परन्तु पहले तो यह मत ही ठत्य नहीं क्यामि तत्त्वज्ञ ने पृथग विचार करके उद्घास्त कर दिया है कि जो पहले किसी भी रूप से अन्तित्व में नहीं था वह इस बगान् में नया उत्पन्न नहीं होता (गीता ८ १६)। यदि इस उद्घास्त को लग भर दिये एक आर भर द ता भी यह प्रभ सहब ही उपस्थित हो जाता है, कि संघात में उत्पन्न होनेवाला यह नया गुण ही ज्ञेय का स्वामी व्याप्ति न माना जाय। उस पर का अवासीन आधिर्वित्तिकालाक्षणी का क्षम्भ है कि द्रव्य भीर उष्णे के गुण स्थिर निष नहीं रह सकें; गुल के क्षिये दिसी-न दिसी अधिग्रान वी आवश्यकता होती है। उसी भारण समुद्दयोन्यम गुल के दृढ़े लक्षण समुद्दय ही की उल सब का स्वामी मानत है। टीक है: परन्तु स्वयंभार में भी अभिग्रान के बड़े स्फटी विषुल ॥ वास में भवता दृष्टि की आवश्यकता शक्ति के क्षम्भे दृष्टि ही स्वीं नहीं कहा जाता ॥ यदि यह जात निषिद्धि दित है कि ज्ञेय के सब ग्यारार अवश्यापूर्वक उचित रीति से भिन्न-जुष्ट कर जाने के क्षिय - मन भीर बुद्धि के क्षिया - किसी भिन्न शक्ति का भविग्रान व्यवहार आवश्यक है। भीर यदि यह जात नष्ट हो कि उन शक्ति का भविग्रान व्यवहार तक हमार लिय असम्भव है भवता उस शक्ति या अधिग्रान का पृथग भवत्य टीक यीँ नहीं असम्भव जा सकता है तो यह कहना भ्यायोत्तम करते हो सकता है कि यह शक्ति ही नहीं। ऐसे कोइ भी ननुप्य भवते ही क्षम्भे पर ऐ नहीं सकता दित ही यह भी नहीं कहा जा सकता कि ज्ञानात्मकाली ज्ञान स्वयं ज्ञान ही प्राप्त कर सकता है। भवत्य तक की इद्धि से भी यही इस अनुमान किया जाता है कि दूर्दिव्य भावि ज्ञान के ग्यारार भिन्न उपमोग के क्षिये भवता ज्ञान दुआ ॥ क्षिये हैं यह संघात के भिन्न ही हैं। यह नष्ट - जो कि ज्ञान में निष्ट है - भवत्य तज ज्ञानों वा ज्ञानों है। इसमिय यह जात नष्ट है कि मृदि के भवत्य परायों के जात्य यह स्वयं रखने ही क्षिये रूप भवत्यत्व याकृत ही नहीं कहता। परन्तु इसके भवित्व में इष्ट जापा नहीं पठ सकती। क्योंकि यह निषय नहीं है कि तज परायों वा इन ही भी या दग (ऐन डेय) मैं शामिल कर भेज अभिष्टे। तज परायों वा दग या विषय होते हैं ऐसे हाला भार रूप - भवत्य उन्नेवाल भीर उनमें व वसु। भीर ज्ञ बोर्ड वसु दूर ज्ञ (रूप) मैं शामिल नहीं होती। तज अनुसा नमोदेय

पृष्ठ पृष्ठ व्यापार तुभा करते हैं इनमें एकन ज्ञान होने के लिये औ एक्षता करनी पड़ती है, वह एक्षता या एक्षेक्षण कौन करता है वहा उसी के अनुसार आगे तथा इन्द्रियों के अपना अपना व्यापार तदनुकूल करने की विधि कैसे दियाता है। पर नहीं कहा च्य उक्ता कि यह सब काम मनुष्य का बह शरीर ही लिया करता है। इसका कारण यह है, कि चर शरीर की जेतना अथवा तत्र हस्तात्म करने के व्यापार नहीं हो जाते हैं तब कि शरीर के अन्ह इन पर भी यह इन कामों के नहीं कर सकता और अब शरीर के पठन्त्रवयव के लिये मात्र लायु इत्याति तो अप्त के परिणाम हैं; तथा ऐ इमेशा वीर्य हो कर नये हो जाया करते हैं। इसकिये 'कल ये मैंने अमुक एक जात भेदी थी जहाँ मैं आज दूसरी देख रहा हूँ' इस प्रकार की एक्षत-कुठि के विषय में यह नहीं कहा च्य उक्ता कि यह नित्य क्षम्भेशात्रे बह शरीर का ही रहने है। अच्छा अप मन देह छोड़ कर जेतना को ही सामी माने तो यह आपति वीर्य पड़ती है, कि गाँ नित्रा में प्राणादि वायु के शास्त्रोच्चात्म प्रमदति व्यापार अपवा रविरामित्रण आदि व्यापार - अर्थात् जेतना - के रहते हुए मैं अ ज्ञान नहीं रहता (१ २ १८-१८) अतएव यह लिख होता है कि जेतना - अपवा प्राण प्रमदति का व्यापार - मैं यह परार्थ में उत्पन्न होनेवालम एक प्रकार च्य लिखिए गुज है। यह इनियों के सब व्यापारों की एक्षता करनेवाली मूल्याति पा सामी नहीं है (कठ. १ ५)। 'मेरा' और 'तेरा' इन सम्बन्धकरण शब्दों से जैसे व्याहक्षरसी शुग च्य बोध होता है परन्तु "स जात क्ष निर्णय नहीं होता कि 'भह' अर्थात् 'मैं' कैन हूँ।" यदि इस 'मैं' या 'जह' के जैसे भ्रम मान दें तो प्रत्यक्ष की प्रतीति अपवा अनुमति देता नहीं है और इस अनुमति के लोड कर लिखी अन्य ज्ञान की क्षम्भा करना मानी भी प्रथमर्थ रामतात्म सामी के निम्न जचनों की दार्थता ही कर लियाजा है - प्रतीति के निम्न जोई मैं क्षम्भ अच्छ नहीं आता। वह क्षम्भ ऐसा हाता है जैसे कुण्ड मूँह फैला कर रो नया हो।" (१ १ १५) अमुम्भके विवरीत इस बात को मान सेने पर भी इनियों के व्यापारों की एक्षता की उपपत्ति चुक्क मी पता नहीं सकता। चुक्क जेता की राय है कि 'मैं' जोई लिख परार्थ नहीं है जैसे चाह में लिन - मन शुक्ति जेतना चर देह आदि - तत्त्वों च्य समान्तर लिया जाता है उन तत्र के उचात या समुच्चय को ही मैं करना चाहिये। अब वह बात हम प्रत्यक्ष देखा करते हैं कि ज्ञाती पर ज्ञाती रख देने से ही सन्तुक नहीं अन्याती अपवा लिखी जही के सब कीच-पुदो के एक त्यान में रख देने से ही उच्चे गुण उत्पन्न नहीं ही आती। अतएव यह नहीं कहा च्य उक्ता कि जैसे तंपत्ति या समुच्चय से ही कर्तृत उत्पन्न होता है। एकने की आकस्मकरा नहीं कि जैसे के सब व्यापार कीदू खी चरीये नहीं होते। लिन्दु ज्ञाने जोई लिखिए लिया देख पा देह रहता है। तो फिर जैसहपी कारखाने मैं काम करनेवाले मन शुद्ध आदि सब नौकरी के च्य लिखिए लिया या देख जी भीर जैसे प्राप्त

उसे शास्त्र में सविकार शरीर भवना लेने कहा है और व्यवहार में इसी वस्त्रा प्रिरका (सविकार) मनुष्य शरीर अपना पिण्ड कहत है। लेने गए की यह व्याख्या गीता के आधार पर भी गा है परन्तु दृच्छान्वेष आदि गुणों की गणना करते समय कभी उस व्याख्या में कुछ हेरफेर भी कर दिया जाता है। उग्रहरणात् शान्ति पय के उत्तम-सुखमा-सवार (शा ३२) में शरीर की व्याख्या करते समय पचक्षमेन्त्रियों के काले काल सर्वसदामात् विधि शुद्ध भार कर का उमावेष किया गया है। उस गणना के अनुसार पचक्षमेन्त्रियों को पचमद्वामूलों ही में शामिल करना पड़ता है और यह मानना पड़ता है कि गीता की गणना के अनुसार काम का अन्तमात्र भूत्तात् में और शिवि का आविका का अन्तमात्र अन्य महाभूता में किया गया है। उछ भी हो इसमें सन्तृप्त नहीं कि लेने गए से सब व्यापा का एक ही अध भवित्व देता है। भयात् मानसिङ्क और शारीरिक तत्त्व उच्चा भीर गुण एवं भाषणपी विगिर्ष वेक्षनायुक्त ये समुदाय हैं उसी को लेने कहते हैं। शरीर शर्व का उपयाग मृत देह के लिये भी किया जाता है। अन्तर्द्वारा लेने का विचर करते तमय लेने दाता ही का भवित्व उपयाग किया जाता है। बयानि वह शरीर गाय में भिन्न है। 'लेन' का मूल अध लेने है परन्तु प्रमुख प्रस्तरण में सविकार भार सर्वेव मनुष्यदेह' के अध में उक्ता व्यापार उपयोग किया गया है। पहले दिन इम्मन वद्य शारणाना कहा है वह पहीं सविकार भार सर्वेव मनुष्य देह है। शाहर एवं मास घैतर लेने के लिये भीर कारणाने के भीतर का मास शाहर भूत्तन के लिये शान्तित्रियों एवं कारणाने के यथाक्रम ग्राह है आर मन दुष्टि जहाज एवं उत्तना उत्त कारणाने में काम करनेवाले नीतर हैं। ये नीतर जो कुछ व्यवहार करते हैं या करते हैं उन्हें इस लेने के व्यापार सविकार अपना क्रम कहत है।

इन प्रकार 'लेन' शब्द का अध निभित हो जाने पर यह प्रभ महब ही ढट्ठा है कि यह लेन भवना 'मन है किनका?' शारणाने का शार व्यामी भी है या नहीं? भाषा शब्द का उपयोग व्यापा मन अन्तात्तरण तथा स्वयं अपन लिये भी किया जाता है। परन्तु उत्तरा प्रभन अध 'लेन' भवना शर्पिर का व्यामी ही है। मनुष्य के लिये व्यापार दुभा करते हैं - पादे व मानसिङ्क हा या शारीरिक - वे दो उनमी दुष्टि भारि अन्तित्रियों पर्यु भारि अन्तित्रियों नवा दूसरा पाइ भारि व्येन्द्रियों ही किया करती है। इन्हिया के इन गूदू भुजि भरि मन सब स भट्ट है, परन्तु पावरि व भट्ट है तापारि अध इन्हिया के नमने के भी भूत्त म भट्ट है या पहारि क ही किया है (अपारा प्रसारण देवा) अन्तर्य व्यापा मन तर दृष्टि नमधेय है तापारि दृ भवन अपन रित्तिया व्यापार के अन्तित्रिक भारि दुष्ट करते भरते नहीं अन्त भार न वर मनना करत ही है यही नहीं है कि मन रित्ति भरत है तर दुष्ट किया भरती है परन्तु इनमें पठ निभित ही हारा है इन व्यापा का भार भार मन व लिये करते हैं भवना तिच नियंत्रण मन भर दुष्ट के हैं ॥

पहले वर्ग ( शर्ता ) में ही आता है । एवं उसका अस्तित्व भी ऐसे बस्तु के समान ही पूर्णतया लिङ्ग होता है । इतना नहीं किन्तु यह भी कहा जा सकता है कि संधार के परे भी अस्तित्व है वह स्वयं आता है । “सखिये उसको होनेवाले शब्द का यही वह स्वयं विषय न हो तो काह भाव्यर्थ की बात नहीं है । ”सी अभिप्यव से वृहद्यारण्यकापनिपद में याहवस्त्य ने कहा है और ! जो सब चारों को आवश्यक है उसको ज्ञानेवालम् दूसरा कहों से भा सकता है ? — विष्वामिरे केन विजानीमात् ( वृ २ ४ १४ ) । अतएव भन्त मैं यही विजान्त इतना पद्धता है कि इस वेळनापिधि उच्ची शरीर ( सेन ) में एक ऐसी शक्ति रहती है, जो हाथ-पैर भाड़ि इन्द्रियों से सेनर प्राण वेळना मन और बुद्धि जैसे परतन्त्र एवं एकदेशीय नौकरों के भी परे हैं ये उन सब के भ्यापारों की पक्षता करती है और उनके कार्यों की लिंग ज्ञाताती है; अथवा जो उनके नर्मा की नित्य साक्षी रह कर उनसे मिथ अविष्ट भ्यापक और समर्थ है । साम्य ओर वेदास्तुशास्त्रों का यह सिद्धान्त मान्य है और अर्वाचीन समय में भर्तन तत्त्व ज्ञान ने भी कहा है कि बुद्धि के भ्यापारों का स्फुम निरीक्षण करने से यही तत्त्व निष्पत्त होता है । मन बुद्धि अहकार और वेळना ये सब शरीर के अर्थात् शेष के गुण अवश्य अवश्य हैं । इनका प्रबलक “ससे मिथ स्वतन्त्र और उनके परे है — यो बुद्धि परतन्त्र स ( गी ३ ४३ ) । साम्यशास्त्र में इसी का नाम पुष्प है । वेदान्ती इसी को शेष अर्थात् शेष को ज्ञानेवालम् आत्मा कहते हैं । मैं हूँ यह प्रत्येक मनुष्य को होनेवाली प्रतीति ही आत्मा के अस्तित्व का सबोत्तम प्रमाण है ( वै ख, शा भा ३ १ ३ ५४ ) । विसी को यह नहीं साक्षम होता कि मैं नहीं हूँ । इतना ही नहीं किन्तु मुझ से मैं नहीं हूँ शम्भो का उचारण करते समय मैं नहीं हूँ इस विद्यापर के कर्ता का — अर्थात् ‘मैं का — अथवा आत्मा का या ‘अपना का अस्तित्व वह प्रत्यक्ष रीति से माना ही करता है । इस प्रकार ‘मैं’ इत अहकारसुक संगुण रूप से शरीर में स्वयं अपने ही को व्यक्त होनेवालम् आत्मतन्त्र के अपात् शेष के असही श्वर और गुणक्षिति तत्त्व स्वप्न का अपदानकि निजत्व करने के लिय वृग्नान्तशास्त्र की उपचिति हुर है । ( गी ११ ४ ) । तथापि यह निर्णय केवल शरीर अपात् शेष का ही किंचार कर के नहीं किंचा जाता । पहले कहा जा चुका है कि धन धन्त्र के किंचार के अतिरिक्त यह भी सोनना पद्धता है कि वायसुष्ठि ( वृग्नान्त ) का किंचार करने से कीन-त्वा तत्त्व नित्यम होता है । वृग्नान्त के इस किंचार का ही नाम ‘सुर अधर किंचार’ है । शेष धन्त्र किंचार से उस चाल का निषय होता है कि उनमें ( अर्थात् शरीर या किंच में ) कीन-त्वा मूलतन्त्र ( धन या आमा ) है और सर अधर से वायसुष्ठि के अर्थात् वृग्नान्त के मूलतन्त्र का ग्रन होता है । यह स प्रकार मिह और प्रसारण के मूल तत्त्वों का पहले धूपर वृष्टि निषय हो जाता है तब वृग्नान्त में अस्तित्वम् गिरान्त

अला है' सपात का अर्थ अब उम्ह है। इच पश्चों को एक बड़े उनका एक उम्ह का जने पर भी विद्या न होने के लिये उनमें जागा जाना पड़ता है। नहीं तो वे ऐसे क्षमी-ज्ञ-क्षमी अष्टग अलग हो जायेंगे। अब हमें सोचना चाहिये, कि यह जागा कौनसा है? यह जात नहीं है कि गीता को संपात मान्य न हो। परन्तु उसकी गणना सब ही में की जाती है (गीता २ १६)। संपात से इस जात का निषेध नहीं होता कि खन का स्वामी अपात् अन्त हीन है। इच सेवा समझते हैं कि उम्हवय में कोइ नया गुण उपभ द्वा जाता है। परन्तु पहले तो यह मत ही सत्य नहीं; क्योंकि दत्तवश्य न पृथ विचार करके सिद्धान्त कर दिया है कि ओ पहले किसी भी कृप से अस्तित्व में नहीं या, वह इस अन्त् में नया उत्पन्न नहीं होता (गीता २ १६)। यदि हम इस सिद्धान्त को भण मर लिये एक और भर दे तो भी यह प्रभ सहब ही उपरिक्त हो जाता है कि उंपात में उत्पन्न रानेशास्त्र यह नया गुण ही खेत का स्वामी क्यों न माना जाय। इस पर कृ अवानीन भाषिमैतिक्षण्यास्त्रे का क्यन है कि ब्रह्म और उसके गुण भिन्न नहीं रह सक्ये; गुण के लिये किसी-जूँ किसी अधिद्यन भी मात्रस्यक्षया जाती है। इसी कारण उम्हवयोपभ गुण के बहसे लग सम्बन्ध ही को उस खेत का स्वामी मानत है। दीर्घ है परन्तु व्यवहार में भी 'अमित' शब्द के कड़े अक्षरी विषु व वर्ण मेव अपवा पृष्ठी की 'माक्षण-शक्ति' के बहसे पृष्ठी ही क्यों नहीं कहा जाता? यदि यह जात निर्विकार मिद है कि खेत के सब स्यापार व्यवहारपूर्वक उचित रीति में मिस-कुप कर जाते रहने के लिय—मन और बुद्धि के सिवा—किसी मिस शक्ति का अलित्य अप्यनु आवश्यक है। और यहि यह जात सब हो कि उस शक्ति का अधिद्यन अब तक हमारे लिय असाम्य है भयवा उस शक्ति या अधिद्यन का पृथ उम्हवय दीर्घ गीड़ नहीं ज्ञातया जा सकता है तो यह कहना स्यापातित फैले ही उसना है कि यह शक्ति ही ही नहीं। ऐसे बारे भी मनुष्य अपने ही काष पर फैल नहीं सकता फल ही यह भी नहीं कहा जा सकता कि उग्रतपमन्त्री जन स्वय संपात ही प्राप्त कर सकता है। भनएव तक भी हाथि से भी यही हृष अनुमान लिया जाता है कि इहत्रिय आदि संशाल के स्यापार विसुख उपर्योग के लिये भयवा भोग शुभा के लिय हैं यह संपात से मिल ही है। यह तत्त्व—जो कि संपात में लिय है—स्वय सब जाता जा जानता है। इसलिय यह जात सब है कि शृष्टि के अन्य पश्चों के लाल यह स्वय भयने ही लिये जाये भयान् गोचर हो नहीं सकता। परन्तु उन्ह अभिन्न में इच जाता नहीं पह उकती। क्योंकि यह नियम नहीं है कि सब पश्चों का एक ही भग्नी या दग (जैवे रैप) में शामिल कर देना चाहिये। सब पश्चों के दग या विभाग होता है ऐसे जाता भार भैप—भयान् ज्ञानेशास्त्र और ज्ञानने की बस्तु। और उम्ह वार्द बस्तु दूरे क्या (रैप) में शामिल नहीं होती। तब उनका ज्ञानेश

सावर्णी प्रकरण

# कापिलसारव्यशास्त्र अथवा क्षराक्षरविचार

महात्मि पुर्ण चेद् विश्वधनार्थी उभास्यपि । \*

- गी १३१९

**पि**छ्वे प्रकरण में यह बात कहाय ही नहीं है कि शरीर और शरीर के सामी वा अधिकारा - क्षेत्र भौत और क्षेत्र - के विचार के साथ ही साथ दृस्यस्तु और उसके भूलक्षण - भर और भस्तर - का भी विचार करने के पश्चात् फिर आल्मा के स्वरूप का निर्णय करना पड़ता है। "स शर-अक्षर स्थापि का योग्य रीति से वर्णन करनेवाले तीन शास्त्र हैं। पहल्य न्यायशास्त्र और दूसरा कापिलसारव्यशास्त्र। परन्तु इन दोनों शास्त्रों के सिद्धान्तों की अपूर्ण व्यर्थ कर वेदान्तशास्त्र ने ब्रह्म स्वरूप का निर्णय एक तीसरी ही रीति से किया है। इस कारण वेदान्तप्रतिपादित उपराजि का विचार करने के पहले हमें न्याय और शास्त्रशास्त्रों के सिद्धान्तों पर विचार करना चाहिये। बादरायणाचार्य के वेदान्तशूद्धों में "सी पद्धति से काम किया गया है। और स्याय तथा तास्य के मठों का दूसरे अप्याय में स्मृद्धन किया गया है। यद्यपि "स विद्य का घर्हों पर विलूप्त वर्णन नहीं कर रखते तथापि इमने उन बातों का उल्लेख इस प्रकरण में भी और अग्रेम प्रकरण में स्वप्न कर दिया है कि किनी भावद्वीता का रहस्य उमसने में भावरपक्षता है। नैयायिकों के सिद्धान्तों की अपेक्षा लास्यवादियों के सिद्धान्त भवित्व महत्व के हैं। इसका कारण यह है कि क्षात्र के न्यायमतों की किंतु भी प्रमुख वेदान्ती ने स्वीकार नहीं किया है परन्तु कापिलसारव्यशास्त्र के क्षुत्र से सिद्धान्तों का उल्लेख मतु भावित के सृष्टिमन्त्रों में तथा गीता में भी पाया जाता है। वही बात बादरायणाचार्य ने भी (वे स. २ १ १२ और २ २ १७) कही है। इस कारण पाठ्यों की तास्य के सिद्धान्तों का परिचय प्रभम ही हाना चाहिये। इस में सनेह नहीं कि वेदान्त में तास्यशास्त्र के क्षुत्र से सिद्धान्त पाये जाते हैं। परन्तु असर यह है कि तास्य और वेदान्त के आन्तिम सिद्धान्त एक दूसरे से क्षुत्र मिल है। यहाँ एक ग्राम उपरिक्षेत्र हाता है कि वेदान्त और तास्य के दो सिद्धान्त भावपत्र में मिलते जूते हैं उन्हें पहले विचारने विकल्प या - वेदान्तियों ने या तास्य वादियों ने। परन्तु इस ग्राम में इसने गहन विचार में प्रवेश करने की आवश्यकता नहीं। इस ग्राम का उच्चर तीन प्रकार से दिया जा सकता है। पहला यह है कि शायद उपनिषद् (वेदान्त) और तास्य दोनों की हृषि वा उनसे भयाद्यों के समान साप ही साप दूर हो और उपनिषद् में वा सिद्धान्त वास्त्या के मता के समान हीरे पढ़त हैं।

इहाँ भी दूसरा ग्राम का नव्याहि जातो।

किया जाता है\* कि ये दोनों उच्च एकलूप्त भवान् एक ही है—यही 'ये' पिण्ड मैं है वही ब्रह्माण्ड मैं है। यही अवश्य सृष्टि म अनिम सत्य है। परमिती देखी मैं मी इन शब्दों की अर्थ है और कान्त ऐसे कुछ परमिती उच्चशक्ति के उद्घास्य हमार व्याख्यान के उद्घान्तों से बहुत कुछ मिस्त्र-कुरुते मैं हैं। जब हम इस ब्रह्म पर अप्याल लेते हैं, और जब हम यह भी लेते हैं कि कठमान उम्मय की नाइ प्राचीन काल मैं आधिमौलिक शास्त्र की उपर्युक्ति नहीं हुई थी तब ऐसी अवश्या मैं किन श्वेतों ने वेगन्त के अपुष्ट उद्घान्तों को दृढ़ निष्काळा उनक अधीक्षिक उद्घिकेम्ब के बारे मैं भावधर्म तुष्ट निष्ठा नहीं रखता। भार न केवल भावधर्म ही होना चाहिये बिना उसके बारे मैं उपर्युक्त अभिमान भी होना चाहिये।

\* हमार शास्त्रों के हर महार विचार नार सब क्षमत्वविचार के वर्गीकरण से जीन तात्त्व परिचित न थे। तथापि उन्होंने म अपन *Prolegomena to Ethics* इन्ह के भारत्य मैं जन्मायम का जा विवरण दिया है उसम पहल Spiritual Principle in Nature भार उसक Spiritual Principle In Man इन शब्दों द्वारा का विचार दिया है भार तिर उनकी एकत्र दिताई गई है। तत्त्वत्वान्तर विचार मैं Psychology भावि मनव शब्दों का ब्यर सत्त्वत्वविचार मैं Physics, Metaphysics भावि शब्दों का उमाहस रखता है। इस बात का पर्यामी पर्याम सी मानत है तिउ तत्त्व तत्त्व शब्दों का विचार कर सम चर ही गामत्वत्वत्व का निर्वाचन करता पड़ता है।

सूम और नित्य परमाणुओं से मरा हुआ है। परमाणुओं के लिए सरार और मूल्कारण और दुष्ट भी नहीं है। जब सूम और नित्य परमाणुओं के परस्पर संयोग का भारम्भ होता है तब सुष्ठि के व्यष्ट पदार्थ बनने लगते हैं। नैयायिक शास्त्र प्रतिपादित सुष्ठि की उत्पत्ति के सम्बन्ध की कल्पना को 'भारम्भ का' कहते हैं। दुष्ट नैयायिक इसके आगे कभी नहीं कहते। एक नैयायिक के द्वारे मैं कहा जाता है कि मूल्य के समय जब उससे दूसरे का नाम लेने को कहा गया तब वह पीच्छा! पीछा! - परमाणु! परमाणु! परमाणु! - किंतु उठा! दुष्ट दूसरे नैयायिक यह मानते हैं कि परमाणुओं के संयोग का निमित्तारण दूसर है। "स प्रकार वे सुष्ठि की कारण-परम्परा की शृंखला को पूर्ण कर लेते हैं। ऐसे नैयायिकों का संघर कहते हैं। वेणुन्दृश्य के दूसरे अध्यात्म के दूसरे पाव में इस परमाणुकांड का (२२११-१७) और इसके साथ ही साथ दूसरे वेणु निमित्तारण है इस मत का भी (२२१७-१९) गणन किया गया है।

उक्तिप्रिय परमाणुकांड का वर्णन पर कर अपेक्षी परे स्थिते पाठ्यों से अर्थात् चीन रसायनशास्त्र दास्तान के परमाणुकांड का अवस्थ ही समझ होगा। परम्पुर परिमी शौंगा में परिदृश्यशास्त्र शार्विन के उत्तरान्तिवाड़ ने किंतु प्रस्तर दास्तान के परमाणुकांड की यह ही उगाढ़ दी है उसी प्रकार हमारे देश में भी चाचीन समय में सास्य मत ने कणाड के मत की कुनियाद हिम शास्त्री थी। कणाड के अनुयायी यह नहीं कहते कहते कि मूल परमाणु को गति देते मिलते। इसके अतिरिक्त वे देखा इस बात का भी योग्यित निर्णय नहीं कर सकते कि दूष पष्ट, मनुष्य इत्यादि उच्चेतन प्राणियों की क्रमसंक्रान्ति दूर भैंशियों के से अनी; और अचेतन को उच्चेतनता देते ग्रास दूर। वह निर्णय परिमी देशों में उभीकरणी सरी में असार्व और शार्विन ने उपा इमारे पर्हों माचीन तमय में कपिलमुनि ने किया है। दोनों मतों का यही तात्पर्य है कि एक ही मूलपदार्थ के गुणों का विकास हआ और फिर वीरे भीरे तब सुष्ठि की रक्षा होती गई। इस कारण पहले हिंदुस्तान में भी उन परिमी देशों में भी परमाणुकांड पर विश्वास नहीं रहा रहा। भव तो आपुनिक पाण्यधारणों ने यह भी किंद कर दिया है कि परमाणु भविष्यत नहीं है। आज्ञाल देश सुष्ठि के अनेक पाण्यों का पूष्पवरन और परीक्षण करके अनेक मूलशिक्षणों के आचार पर परमाणुकांड या उत्तरान्तिवाड़ का किंद कर के लक्ष्य है वैसे माचीन तमय में मही कर सकते थे। सुष्ठि के पदार्थों पर नय नय भीर मित्र मिष्ठ प्रयोग करना भविष्यत अनेक प्रकार है उनका प्रयोग वरन् उनके गुण भव निर्वित करना या उत्तीव सुष्ठि के नये पुराने अनेक प्राणियों के शारीरिक भवयों की एक तुम्हा करना इत्यादि भापिर्भृतिक शास्त्रों की भवाचीन पुतिर्भी कणाड या वरिस दो मालूम नहीं थी। उस तमय उनकी दृष्टि के तामन दिनी तमयी भी उच्ची के आचार पर उन्होंने अपने विद्वान्त

उन्हे उपनिषद्कारों ने स्वतंत्र रीति से खोड़ निकाल दी है। बूरह यह, कि कपिलित् इष्ट चिदानन्त साम्यशास्त्र से ऐस्त्र वेणुन्ति ने उन्हे वेणुन्त के अनुकूल स्वरूप दे दिया है। तीसरा यह कि प्राचीन वेणुन्त के चिदानन्तों में ही कपिलचाय ने अपना मत के अनुसार कुछ परिवर्तन और सुधार करके साम्यशास्त्र की उपराखि कर दी है। इन तीनों में से तीसरी शब्द ही अधिक विषयवस्त्रीय शब्द होती है क्वाहि धन्तपि वेणुन्त और साम्य दोनों बहुत प्राचीन हैं तथापि उनमें वेणुन्त या उपनिषद् साम्य से मीठी अधिक प्राचीन (भीत) है। असु यहि पहले हम न्याय और साम्य के चिदानन्तों का अन्तर तरह उभास छ तो फिर वेणुन्त के — किंतुपत्तं गीता-प्रतिपादित वेणुन्त के — तत्त्व अस्ती समझ आ जायेगे। “सखिये पहले हम इस शब्द का विचार करना पाहिये, कि इन दो स्मारु शब्दों का, सर भगव-सृष्टि की रचना के विषय में क्या मत है।

एक और एक न्यायशास्त्र का यही उपयोग समझते हैं कि निर्विवित अपवा एही शब्द से तक के डारा कुछ अनुमान करने निकाल चाहे और उन अनुमानों में से यह निर्णय किया जाए कि बीन से यही है और बीन से गठत है। परन्तु यह नहीं है। अनुमानादि प्रमाणपत्रण न्यायशास्त्र का एक माम है सही परन्तु यही कुछ उसका प्रधान विषय नहीं है। प्रमाणों के अतिरिक्त सौरि की अनेक बलुओं का यानी प्रमेय पदार्थों का वर्गीकरण करके नीचे के बग ते ऊर के बग की ओर चढ़ते जाने से सूरि के सब पदार्थों के मूलवर्ग छिन्ने हैं उनके गुण घम घम हैं उनसे अन्य पदार्थों की उत्पत्ति ऐसी होती है, और ये बातें जिस प्रकार सिद्ध हो सकती हैं इस्पाति अनेक प्रमाणों का भी विचार न्याय शास्त्र में किया गया है। यही कहना उचित होगा कि यह शास्त्र वेणुन्त अनुमान एवं का विचार करने के लिये नहीं बरन् उक्त प्रमाणों का विचार करने ही के लिये निर्माण किया गया है। कणार के न्यायसूत्रों का आरम्भ और आगे की रचना मीठी प्रकार की है। कणार के अनुयायियों को काणाड़ कहते हैं। इन दोनों का कहना है कि काणाड़ का मूलकारण परमाणु ही है। परमाणु के विषय में क्याड़ की और पर्याप्ती भाषिमौरित्स-शास्त्रों की स्पष्टिया एक ही समान है। निर्वि मीठार्थ का विषयक बनते बनते अन्त में जब विभाग नहीं हो सकता तब उसे परमाणु (परम + अनु) कहना पाहिये। ऐसे हित ये परमाणु एक शब्द होते हैं ऐसे हेसे सूयोग के कारण उनमें नये नये गुण उत्पन्न होते हैं और निम्न मिस पदार्थ बनते जाते हैं। मन और आत्मा के भी परमाणु होते हैं और उन दो एक होते हैं तब वैरूप्य की उत्पत्ति होती है। शृण्वी उस तेज भार आमु के परमाणु खमात ही से पृथक् दृथ है। शृण्वी के मूलपरमाणु में पार गुण (न्य रुच गन्ध त्वरण) हैं पानी के परमाणु में तीन गुण हैं तेज के परमाणु में दो गुण हैं और आमु के परमाणु में एक ही गुण है। इस प्रकार उन उच्च पहले से ही

करके ब्रह्मशान निमग्न रहनेवाले देवानितियों का भी समावेश किया गया है। शुष्ठि शास्त्र का कथन है कि 'साम्य शुष्ठि' संख्या शान्ति से बना है। 'सुखिये' इसका पृष्ठभूमि 'गिनेवाला' है और अपिष्ठशास्त्र के मूलतत्त्व निरिने सिर्फ़ पचीस ही है। इससिये उसे 'गिनेवाले' के भर्त्य में वह विशिष्ट 'साम्य' नाम दिया गया। अनन्तर फिर 'साम्य शुष्ठि' का भर्त्य बहुत व्यापक हो गया और उसम सब प्रकार के तत्त्वज्ञन का समावेश होने लगा। यही कारण है कि जब पहले पहले कापिष्ठ मिश्चार्थी का साम्य रहने की परिपाटी प्रचलित हो गई, तब देवान्ती उन्न्यासियों का भी यही नाम दिया जाने लगा होगा। कुछ भी हो इस प्रदर्शन का हमने बान बृक्षकर यह सम्भव-चीड़ 'कापिष्ठशास्त्रशास्त्र' नाम 'सुखिये' रखा है कि साम्य शुष्ठि के उत्तर अप्यभेर के कारण कुछ गम्भीर न हो। कापिष्ठशास्त्रशास्त्र में भी क्षणार्थ के न्यायशास्त्र के समान दूर है। परन्तु गीटपाण्डिताचार्य या शारीर-भाष्यकार भी शक्तराचार्य ने इन स्त्री का आधार अपने प्रन्थी में नहीं लिया है। 'सुखिये' बहुतेरे विद्वान् समझते हैं कि वे दूर कापिष्ठ प्राचीन न हों। ईश्वरहृष्ण भी 'साम्यकारिका' उक्त स्त्री से प्राचीन मानी जाती है; और उक्त पर शक्तराचार्य के गदागुड गीटपाण्डि ने माप्य लिया है। शक्तराचार्य में भी उसी कारिका के कुछ अक्षरण लिये हैं। सन् ८३ इत्युक्ति से पहले 'स प्रत्य का जो भवुतार्थीनी भाषा म हुआ जा वह 'स समय उपकृष्ट है०। ईश्वरहृष्ण ने अपनी 'कारिका' के अन्त में कहा है कि 'प्रतिष्ठान नामन्त्र चाढ़ प्रकरणों के एक प्राचीन और विस्तृत प्रन्थ भाषाय (कुछ प्रकरणों को छोड़) सुधर भाषाय-यदी में इस प्रन्थ में दिया गया है। यह प्रतिष्ठान प्रन्थ अन उपकृष्ट नहीं है। इसी लिये 'न कारिकाभी' के भाषार पर ही कापिष्ठशास्त्रशास्त्र के मूलसिद्धान्ती का विवेचन हमने यहाँ किया है। महामारत में साम्य मत का निर्भय वह अप्याधी में किया गया है। परन्तु उनमें देवान्त मतों का भी भिन्न हा गया ह 'सुखिये' कपिष्ठ के द्वादश साम्य मत का जानने के लिये दूसरे ग्रन्थों को भी देखें वही भाषाद्वयता हासी है। 'स शाम' के सिव उक्त प्राम्यकारिका भी

हुए निकाले हैं। तथापि यह आव्वर्द की बात है कि सूषिटी की शृदि और उसकी पट्टना के विषय में साम्बाद्यास्तरों के तात्त्विक विद्वान्त में और अवाचनीन आधि मीतिक व्याख्यानों के तात्त्विक विद्वान्त में, बहुत-सा भेद नहीं है। इसमें सन्तोष नहीं कि सूषिटीमध्य के ग्रन्थ के कारण बर्तमान समय में इष मठ की आधिमीतिक उपराति का बगत अधिक नियममुद्ध प्रणाली से किया जा सकता है और आधि मीतिक ग्रन्थ की शृदि के कारण हमें व्यवहार की दृष्टि से भी बहुत अम तुआ है। परन्तु आधिमीतिक व्याख्यान भी एक ही अम्बुज प्रदृष्टि से अनेक फ्रार की व्यक्ति सूषिटी के द्वारा है जिसमें व्यवहार की दृष्टि से भी बहुत अम तुआ है। परन्तु आधिमीतिक व्याख्यान भी एक ही अम्बुज प्रदृष्टि से अनेक फ्रार की व्यक्ति सूषिटी के द्वारा है जिसमें व्यवहार की दृष्टि से भी बहुत अम तुआ है।

इस विषय में कपिल की अपेक्षा मुख्य अधिक नहीं बताया सकते। “स ग्रन्थ का मर्यादी मान्ति उमस्त्र देव के किये ही हमने भागे बल कर, यीच में कपिल के विद्वान्तों के साप ऐकेल के विद्वान्तों का भी तुल्या के किये संक्षिप्त ग्रन्थ किया है। ऐकेल ने अपने ग्रन्थ में साप साफ किया है कि भीने य विद्वान्तु कुछ नये सिरे से नहीं खोदे हैं बरन् दार्किन स्वेन्तर, इन्वाडि विछुडे आधिमीतिक पदिका के ग्रन्थ के भाषार से ही मैं अपने विद्वान्तों का प्रतिपादन करता हूँ।” तथापि पहले पहल उसी ने इन सब विद्वान्तों को ठीक ठीक निवामानुसार लिप्त कर तुल्या पृष्ठ “नका एक व्यष्ट व्यष्ट विश्व की पहेली \* नामकप्रथम में किया है।” स वारण मुम्हीते के किये हमने उसे ही सब आधिमीतिक वत्तव्य का मुग्धिया माना है और उसी के मर्यादी का इस प्रकरण में तथा अग्रेष प्रकरण में विश्व उक्तेल किया है। उन्हें की आवश्यकता नहीं कि यह उक्तेल बहुत ही सक्षिप्त है परन्तु उससे मधिक इन विद्वान्तों का विदेशन इति प्रथम में नहीं किया जा सकता। किंतु इति प्रथम का विलूप्त व्यष्ट व्यष्ट फ्राना हा उन्हें स्वेन्तर, दार्किन ऐकल भाडि परिण्टी के मृत्युग्रन्थ का अवश्योक्त बताना पाहिंये।

कापिल के साम्बाद्य का विचार करने के पहले यह कह देना उनित होगा कि ‘वात्य’ शब्द के ही मिन मिन भय होत है। पहला अथ वरित्पाचार्य हारा प्रतिपादित ‘साम्बाद्य’ है। उसी का उद्दग इति प्रकरण में तथा एक बार मात्राक्षीता (१८. ११) में भी किया गया है। परन्तु इस विशिष्ट भय के लिया उत्तर प्राचार के वत्तव्यान का भी सामान्यतः ‘वात्य’ ही बहन की परिपाणी है; और इसी ‘वात्य’ शब्द में वेदान्ताद्य का भी समावेश किया है। ‘साम्बाद्यनिदा अथवा ‘वात्यवाग शब्द में ‘वात्य’ का यही सामान्य भय भर्तीर है। इति मिदा के उनी पुराणी का भी मात्राक्षीता में रहता है (गी ३ ३१ ८४,

और ३ ८४) ‘वात्य’ कहा है वही वात्य का अथ वर्तम वारिन वात्यवागी ही नहीं है बरन उनम् भावम् भनाम-विचार से तब क्यों का मृत्युग्र

करके ब्रह्मद्यन निम्न रहनेवाले देवानिंदियों का भी समावेश किया गया है। शुद्ध शास्त्रों का कृपन है कि 'धास्य' शुद्ध 'सास्या चातु से बना है।' 'सुहिते इतका पहला अर्थ 'गिननेवाल' है और विष्णुज्ञान के मूलतत्त्व 'निगिने चिकुं पचीरि ही है। इसकिये उसे 'गिननेवाले' के अर्थ में पहले विधिएँ 'सास्य नाम दिया गया। अनन्तर जिस 'सास्य शास्त्र का अर्थ बहुत स्थापक हो गया और उसमें सब प्रकार के हस्तक्षण का समावेश होने आए। यही कारण है कि बद पहले पहले कापिल मिथुना को 'सास्य रहने वी परिणामी प्रचलित हो गई तब देवान्ती सम्यातियों को भी यही नम दिया जाने आया होगा। बुद्ध भी हो इस प्रकरण का हमने आनंद-कूपकर पहले सम्बन्धीय 'कापिलसास्यशास्त्र' नाम 'सुहिते रखा है कि सास्य शास्त्र के उक्त अर्थ ऐसे कारण कुछ गहराई न हो। कापिलसास्यशास्त्र में भी क्षणाद के न्यायशास्त्र के समान दृष्ट है। परन्तु गौडपादाचार्य या शारीर-माप्यकार भी शक्तराचार्य ने 'न मूर्ती का आचार भपने प्रन्दी में नहीं किया है। इसलिये बहुतेर विडान् उमस्ते हैं कि ये उक्त कापिल प्राचीन न हो। अंगरक्षण की 'सास्यकारिणा उक्त सूत्र से प्राचीन मानी जाती है और उस पर शक्तराचार्य के दावागुह गौडपाद ने माप्य किया है। शक्तराचार्य में भी इसी कारिणा के बुद्ध भपतरण किये हैं। सन् ८७ इसकी ले पहले 'स प्रन्य का ओ अनुवाद चीनी मापा म हुआ या वह 'स उमय उपखम्ब है०। अंगरक्षण ने अपनी 'कारिणा के अन्त में कहा है कि 'पितृन्य नामक शाठ प्रकरणों के एक प्राचीन और विस्तृत प्रन्दी भाषाय (बुद्ध प्रकरणों को छो) उच्चर आयो-यों में इस ग्रन्थ में दिया गया है। वह पितृन्य ग्रन्थ अव उपखम्ब नहीं है।' 'सी सिये 'न कारिणाभा के भाषार पर ही कापिलसास्यशास्त्र के मूस्तिकान्तों का विवेचन हमने पहर्ते किया है। महाभारत में संग्रह मत का निर्णय कई अप्यायों में दिया गया है। परन्तु उनमें देवास्त मतों का भी मिथुन हा गया है 'सुहिते विष्णु के बुद्ध सास्य मत का ज्ञानने के लिये दूसर प्रक्षय को भी ऐस्तों की आवश्यकता होती है।' 'स वाम के लिये उक्त सास्यकारिणा की

अब बीज पद्धतों त अंगरक्षण का बहुत बुद्ध राज जाता जा सकता है। बीज पद्धति बहुतानु का बुद्ध अंगरक्षण का तमहान्तीत परिपक्षी था। बहुतानु का जा जीवन चालित परामर्श न (हन है) १ - २ म। चीनी भाषा म दिया था वह भव प्रकाशित हुआ है। इस दावार ट्राईल न वह बहुतानु दिया ह इंगरक्षण ३१ नम्र लेन ५ इंगरक्षण ५, Journal of the Royal Asiatic Society of Great Britain & Ireland 1905 pp 33-53 दानु इंगर विल्लम रिपर्ट वी राव ६ इंस्टी बहुतानु कासमन वी चीनी भाषी म (नम्र वर्ष -३६)। हाय चाहिए। चाहिए उत्तर अन्तरा वा बहुतानु नम्र ५ चीनी म चीनी भाषा म हुआ है। बहुतानु का नम्र है इन प्रकार जह बीच हइ जाता है वह उनी प्राप्त अंगरक्षण का नम्र वी चीनी वह विवाद वह विवाद हइ जाता है अर्थात अंगरक्षण का नम्र भी विवाद है। Vincent Smith's Early Hindu in India 3rd Ed p 328

मनोधा कोई भी अधिक प्राचीन प्रत्य इस समय उपलब्ध नहीं है। मात्रान् ने मात्रावृत्ति में कहा, 'सिद्धाना कपिले मुद्दि' (गी १ २६) – सिद्धा में कपिलमुद्दि मैं हूँ – उस से कपिल की योग्यता मर्ली मोंति सिद्ध होती है। उपायि यह यह गत मात्रम नहीं कि कपिल आपि कहों और क्य हुए। शान्तिपर्व (३४ ६७) में एक ज्ञाह लिया है कि सनत्कुमार सनक उन्नन्दन सन, उनत्सुचात सनातन और कपिल ये साता ब्रह्मत्रय के मानसपुत्र हैं। इन्हे उन्हें ही जान हो गया था। यूठेर स्थान (शा २१८) में कपिल के शिष्य आसुरि के द्वेष प्रतिशिष्य ने उनके का साम्यशास्त्र का बो उपरेक्षा किया था उसका ठहराय है। 'सी भक्तार शान्तिपर्व (१ १ १८१) में मीष्म ने कहा है कि साम्या ने सृष्टि-रचना 'स्याति के बारे में एक बार ये शमन प्रतिशिष्य कर किया है वहों पुण्य निहास, अर्पणात्' आदि उत्तर में पाया जाता है। वही क्या यहों तक कहा गया है कि हान च द्वेषे यतिहासि विद्वित् साम्यागत तथा महर्महात्मन् – अथात् 'उस काल का सन शमन साम्या में ही प्राप्त हुआ है (म.भा शा ३ ११)। यहि इस बात पर व्यान किया जाय कि उर्मान समय में पर्विमी प्रम्भकार उर्मानितवाद का उपयोग उत्तर लगाह के सा किया जाते हैं; तो यह यह आश्वयकल नहीं मात्रम हार्गी कि 'उत्तरे' के निषाचिद्गो ने भी उर्मानितवाद की उपरामी के साम्यशास्त्र का सन छुड़ अथ में स्वीकार किया है। 'गुरुस्त्वाक्यण सृष्टिरचना के 'उर्मानितत्वं० पा 'त्रिसामैस्य के समान उत्तर विचार द्वैक्षण्ड वरसं में ही किसी महात्मा के व्यान में आया जाते हैं। इष्टिष्ये पह यह सामान्यता सभी देशों के प्रधारी में पाइ जाती है कि किस समय ओ सामान्य उत्तरान्त या व्यापक तत्त्व समावृत्त प्रतिशिष्य रहता है। उस के भाषार पर ही विसी प्रथा के कियम का प्रतिपादन किया जाता है।

आज्ञाल कापिलसाम्यशास्त्र का अन्याय प्राप्त कुस हो गया है। 'सी विद्वे यह प्रत्याक्षना करनी पड़ी। अब इस यह देखेंगे कि इत शमन के मुख्य सिद्धान्त ऐसे हैं। साम्यशास्त्र का पहला विद्वान्त यह है कि 'उत्तर उत्तर में नह उत्तर भेद भी उत्तर नहीं होती। क्योंकि शून्य से – अथात् ये पहले वा ही नहीं उत्तरे – शून्य को छोड़ भी फुल भी प्राप्त हो नहीं सकता। 'तत्त्विय पह यह सदा व्यान में राम्ली जाहिये कि उत्तर हुँ बस्तु मै – अथात् काय मै – ये गुण वीक्ष पहते हैं वे गुण विलेपे पह उत्तर उत्तर हुँ है उत्तर (अथात् कारण में) साम रीति गे तो अवस्थ होने ही जाहिये (शा का ९)। दौद भी जाप्तात् पह मानते हैं कि पराय वा नाय हो कर उत्तरे पूर्णा नया प्रशाप करता है। उत्तरारणाय

Evolution Theory के बर्व म 'उर्मानितत्वं० ता उत्तराग नात्रहृति किया जाता है। इत्तिव इमन भी वही उमी बाह का प्रशाप किया है। वस्तु उत्तर में 'उर्मानित तत्व का अर्थ मूल्य है। इत बाह उर्मानित के बाह दूर्विकाल गुणार्थ या उर्मानिताम आदि जाप्तवाचिष्यों के बारों ता उत्तराग इमारी नमज्ज में उपरिव धारण होता।

जीव का नाश होने के बारे उससे अंकुर और अंकुर का नाश होने के बारे उससे पैदा होता है। परन्तु साध्याक्षिया और केवलियों को पह मत पहर नहीं है। मैं कहते हैं कि दृष्टि के बीच में ये 'द्रम्य' हैं उनमें नाश नहीं होता किन्तु वे ही द्रम्य अनिय से और वायु से दूसरे द्रम्यों को पीछ लिया करते हैं और इसी कारण से वीच के अंकुर का नया स्वरूप या अवस्था प्राप्त हो जाती है (वे संशा गा २ १८)। इसी प्रकार जब अक्षी बदलती है तब उसके ही राज या मुख्यों भावि स्वप्नतर हो जाते हैं। अक्षी के मूल 'द्रम्यों' का नाश हो कर मुख्यों नामक और नया पदार्थ उत्पन्न नहीं होता। अपोम्योपनिषद् (६ २ २) में कहा है क्यमसतः सज्जावेत् — या है ही नहीं — उससे या है — वह केवे प्राप्त हो जाता है। ज्ञात् के मूलाभारण के लिये असत् शब्द का उपयोग कभी कभी उपनिषदों में किया गया है (अ १ १५ १ हि २ ७ १) परन्तु यहाँ असत् का अर्थ अभाव—नहीं नहीं है किन्तु वेदान्त-शब्दों (२ ३ १६ १७) में यह निष्पत्ति किया गया है कि 'असत् शब्द से केवल नामस्वायम् व्यक्त स्वरूप या अवस्था का अभाव ही निष्पत्ति है। दूसरे ही शब्दों से जानी से नहीं ठिक से ही तेष्ठ निष्पत्ति है वाल्मीकि स्वयाति प्रस्तु द्वारा अनुमतों से भी यही उपाधानता प्रकट होता है। यदि हम यह मान के, कि 'कारण म य एष नहीं है वे 'कार्य में स्वतन्त्र रीति से उत्पन्न होते हैं' तो ऐसे हम इसका कारण नहीं करते उपाधानता की नहीं बनता। समाचार यह है कि या मूल में ही ही नहीं उससे अभी ये अस्तित्व में है वह उत्पन्न नहीं ही बनता। लक्षिय साध्यवाक्यों ने यह उपाधानता किया है कि किसी कारण के कर्ता मान द्रष्टाण्ड और गुण मूलाभारण में भी किसी न किसी रूप से रहते हैं। इसी उपाधानता का सत्त्वापयाद् कहते हैं। भवानीन पराय विज्ञान के शतार्थी ने भी यही उपाधानता किया है कि पदार्थों के बारे द्रष्टव्य और कर्मशक्ति दोनों सबका मौजूद रहते हैं। किन्तु पराय के याहूद विज्ञाने द्वारा उपाधानता का अस्ति त्वा नहीं रहता है। उपाधानता, वर्त हम अपेक्षा का अस्ति भी नहीं है तब तर भी अपेक्षा करता है और अन्त में वह नहीं रहता दीप पड़ता है। यथापि यह सब तेह वसु बनता है तथापि उत्तर के परमाणुभा का उपाधानता ही नाश नहीं हो जाता। उन परमाणुओं का अस्तित्व दुर्घट का बाहर या अन्य तरफ द्रष्टव्यों के रूप में ज्ञा रहता है। और अन्त में उन इन सभी द्रष्टव्यों की एकत्र वर्त तोन ता प्राप्त होता है। यदि उनका हील या वसु तेह और तेह के अपेक्षे अस्ति उत्तर मिम इष वायु ही पदार्थों के बराबर होता है। अब तो यह भी किदृ द्वा पुरा है कि उत्तर निष्पत्ति कर्म द्वारा के विषय में भी स्थानाद्य यह बनता है। यह जाति पाद् लक्ष्मी पादिष्ये कि पराय भावुनिष वजायविहानयाम् का और लाप्यधार्म का उपाधानता केरल एक पराय से दूसरे पराय की उत्पत्ति के भी विषय में — अपात् निष्पत्ति करना याच ही द्वारा अस्ति में — उपसुक्त होता है। परन्तु अर्बांशीम परायविरान्

शास्त्र का चिन्हान्त इससे अधिक भावक है। 'कार्य' का बोद मी गुण 'कारण' के पाहर के गुणों से उत्पन्न नहीं हो सकता। इतना ही नहीं किन्तु अब कारण को ज्ञान का सम्पूर्ण प्राप्त होता है। तब उस काय में रहनेवाले उत्पाद और कम पृथक का कुछ भी ज्ञान नहीं होता। पठार्थ की मिम मिम अवस्थाभाव के उत्पाद और कमशार्थि के बोड का बन्न मी सत्रै एक ही सा रहता है—न तो वह पटता ह और न फटता है। यह जात प्रत्यक्ष प्रयोग से गणित के द्वारा चिन्द कर गी गद है। यही उच्च दोनों चिन्हान्तों में भावत्व की विशेषता है। ऐस प्रकार अब हम विचार करते हैं तो हमें जान पड़ता है कि मायक्ट्रीता के नास्तो विचरे मावः—नो है ही नहीं उत्पक्ष कभी भी अस्तित्व हो नहीं सकता—“त्याति चिन्हान्त बो दूसरे अप्याय के आरम्भ मैं त्रिये हैं (गी ८८) वे वृत्तिपैदने मैं सत्कायवाड के समान वीप पहे, सा भी उनकी समता केवल कार्यकारणात्मक सत्कायवाड की अपेक्षा अवाचीन पठाय-चिन्हान्तशास्त्र के चिन्हान्तों के साथ अधिक है। आओग्योपनिषद् के उपयुक्त वजन का भी यही भावाय है। साराण्य सत्कायवाड का चिन्हान्त वेदान्तियों को मान्य ह परन्तु अद्वैत वेदान्तशास्त्र का मत है कि इस चिन्हान्त का उपयोग सुगुण सृष्टि क पर उष्ण भी नहीं किया जा सकता। और निगुण से सुगुण की उत्पत्ति केवे दीप पर्ती है ऐस जात की उपर्युक्त भीर ही प्रकार से स्थानी चाहिये। अम वेदान्त मत का विचार अमो उल कर अप्यायम प्रकारमैं विस्तृत दीति से किया जायगा। ऐस उमय थो हम त्रिय वही विचार करना है कि वास्तवान्तियों की पर्ती कही तर है। उसकिये अब हम ऐस जात का विचार करेंगे कि सत्कायवाड का चिन्हान्त मान कर तार्यों ने सत-असत एकमें उत्पक्ष के उपयोग के लिया है।

साम्बन्धमतानुसार अब सत्कायवाड चिन्द ही जाता है तब यह मत भाव ही भाव गिर जाता है कि इत्यसृष्टि की उत्पत्ति एत्य से हुआ है। व्याकि एत्य से भयस्त बो कुछ भी नहीं है उत्पत्ते अलिकान्म मैं है वह उत्पन्न नहीं हो सकता। ऐस जात से यह साक राक चिन्द होता है कि सृष्टि किसी न किसी परापर से उत्पन्न हुआ है ऐस उमय सृष्टि मैं जो गुण हमें दीन पहुते हैं वे ही अम मूलप्रगति मैं भी होने चाहिये। अब यह ऐस उमय सृष्टि की और इन तो हमें ऐस पर्तु, मनुष्य पत्तर, सौना चींडी हीय उल वामु इत्याति अनेक पठार्थ दीप पड़त ह और ऐस तब के रूप तथा गुण भी मिम मिम हैं। वास्तवान्तियों का चिन्हान्त है कि यह मिमता या नानात्म भावि मैं—अर्पात् मूलप्रगति मैं—नहीं है। किन्तु मूल मैं न व वसुओं का इत्य एक ही है। अवाचीन रकायतशास्त्रीरों ने मिम मिम इत्या का वृप्तप्ररण करके पहले ६२ मूलद्वारा ही निकार देये; परन्तु अब पधिन विज्ञानवज्ञानी ने भी यह निष्पत्ति कर दिया है कि ये ६२ मूलद्वारा लकड़न या लकड़तिङ्ग नहीं हैं। किन्तु इन सब की दृष्टि में काइन-जॉन एक ही परापर है गिर उप परापर से ही मूल तारागण वृष्टी इत्याति कारी सृष्टि उत्पन्न हुए हैं।

अ भिक्षि विवेचन आवश्यक नहीं है। अमृत के लब पदार्थों का थे वह मूलद्रव्य है उसे ही साम्यव्याप्ति में 'प्रहृति' कहते हैं। प्रहृति का अर्थ 'मूल अ' है। इति प्रहृति से भागे थे पदार्थ कहते हैं उह 'प्रहृति अर्थात् मूलद्रव्य' के किसार कहते हैं।

परन्तु पद्धति सब पदार्थों में मूलद्रव्य एक ही है तथा पद्धति यहि इष्ट मूलद्रव्य में गुण मी पक्ष ही हो, सो सत्कार्यवादानुसार 'न पक्ष ही गुण से अनेक गुणों का उत्पन्न होना सम्भव नहीं है। और इधर तो जब हम इस अमृत के पत्त्वर, मिठी, पानी सोना आदि मिल मिल पदार्थों की ओर देखते हैं तब उसमें मिल मिल अनेक गुण पाये जाते हैं। इससिये पहले सब पदार्थों के गुणों का निरीक्षण करके साम्यव्याप्तियों ने 'स गुणों अ' सत्त्व रब और तम ये तीनों में जा कर्ग कर दिये हैं। दूसरा कारण यही है कि जब हम किसी भी पर्याय को छोड़ते हैं तब स्वभावका उल्लंघन हो मिल मिल भवस्थारें बीमर पड़ती हैं— पहली शुद्ध निर्मल या पूर्णावस्था और दूसरी उसके मिलद्वय निहारवस्था। परन्तु जाप ही साथ निहृष्टावस्था से पूर्णावस्था की ओर करने की उस पर्याय की प्रहृति भी दृष्टिगोचर दुमा करती है वही तीसरी अवस्था है। इन तीनों भवस्थाओं में से शुद्धावस्था या पूर्णावस्था थे तामिळ, निहृष्टावस्था थे तामिल और प्रत्युत्तमवस्था थे राष्ट्रपिल कहते हैं। इति प्रकार साम्यव्याप्ति कहते हैं कि सत्त्व रब और तम तीनों गुण सब पदार्थों के मूलद्रव्य में अर्थात् प्रहृति में आरम्भ से ही रहा करते हैं। यहि पह बहा ज्ञाय कि 'न तीन गुणों ही की प्रहृति कहते हैं तो अनुचित नहीं होगा। इन तीनों गुणों में से प्रत्येक गुण का बार आरम्भ में समान या बराबर रहता है न्सी सिये पहले पहसे वह प्रहृति साम्यावस्था में रहती है। यह साम्यावस्था अमृत के आरम्भ में भी और अमृत का अर्थ हो जाने पर वैसी ही फिर हो जायगी। साम्यावस्था में कुछ भी इच्छण नहीं होती क्योंकि रबोगुण के कारण मूलप्रहृति से मिल मिल परापर होने लगते हैं और सुहित का आरम्भ होने लगता है। अब यहाँ पह प्रभ उठ सकता है कि पदि पहले सत्त्व रब और तम ये तीनों गुण साम्यावस्था में ये तो 'नमे न्यूनामिक्ता भैसे हुई है' 'स प्रभ का साम्यव्याप्ति यही उच्चर होते हैं कि यह प्रहृति का मूलमूल ही है (ता का ११)। पद्धति प्रहृति अ है, तथा पद्धति वह भाव ही भाव अवश्यक फरती रहती है। 'न तीनों गुणों में से सत्कर्मण का अवश्यक रूप अर्थात् अज्ञना और तमोगुण का अवश्यक अज्ञनता है। रबोगुण कुरे या मधे कार्य का प्रवर्तक है। ये तीनों गुण कभी अज्ञन अस्त्वा नहीं रह सकते। सब पदार्थों में सत्त्व रब और तम तीनों का मिश्रण रहता ही है। और यह मिश्रण हमेशा इन तीनों की परस्पर न्यूनामिक्ता से दूल्हा करता है। इससिये पद्धति मूलद्रव्य एक ही है तो मैं गुण-ऐसे के कारण एक मूलद्रव्य के ही तीनों मिठी, अमर, आमाश मनुष्य का छोटी इत्तामिक्ता मिल मिल अनेक किसार हो जाते हैं। मिसे हम सामिल गुण का पराय बहते

है उसमें रब और ठम भी अपेक्षा, सत्त्वगुण एवं बोर या परिणाम अधिक रहता है इस कारण उस प्राय में हमेशा रहनेवाले रब और ठम दोना गुण एवं जाते हैं और वे हमें शील नहीं पाते। बस्तुतः सत्त्व रब और ठम दोना गुण अन्य पदार्थों के समान सांख्यिक प्राय में भी विभागान रहते हैं। केवल सत्त्वगुण का केवल रबोगुण का, या केवल ठमोगुण का कोट प्राय ही नहीं है। प्रत्येक प्राय में दोना का रगड़ा-समान प्रभाव ही करता है और, इस ज्ञाने में जो गुण प्रभाव हो जाता है उसी के अनुसार हम प्रत्येक प्राय का सांखिक, राज्य या तामस कहा करते हैं ( श.का १२ मा भा भव - अनुगीता - ३६, और शा ३० )। उदाहरणार्थ अपने शहीर में वह रब और ठम गुणों पर सत्त्व का प्रमाण अभ्य जाता है तब अपने अन्यराज्य में इन उत्पन्न होता है सत्त्व का परिचय हानि छान्ति जाता है और चित्ताच्छिद्धि जाती है। उस समय यह नहीं उमसना चाहिये कि अपने शहीर में रबोगुण और ठमोगुण मिलकुप्त ही नहीं बरिके सत्त्वगुण के प्रमाण से एवं जाते हैं। इसलिये उनका कुछ अधिकार स्वरूप नहीं पाता ( गी १४ ७ )। यदि सत्त्व के बासे रबोगुण प्रभाव हो जाय तो अन्यराज्यमें अभ्य आएत हा जाता है अच्छा बद्दों का जाती है और वह हम अनेक कार्यों में प्रशृत करती है। उसी प्रसार व्यवस्था और रब की अपेक्षा ठमोगुण प्रभाव हो जाता है तब निभा आस्त्व स्मृतिप्रश्न 'त्यारि द्वाप शहीर में उत्पन्न हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि इस उपर्युक्ते पदार्थों में साना व्याहा पाठ 'त्यारि ये अनेकता या मिस्रता भीन पाती है वह प्रहृति व सत्त्व रब और ठम इन सीनों गुणों भी ही परम्पर-न्यूनाधिकता का फूल है। मूलप्रहृति यद्यपि पक्ष ही है तो भी उनना चाहिये कि पक्ष अनेकता या मिस्रता ऐसे उत्पन्न हो जाती है। कुछ उच्ची विचार की 'किंजन रहत है। उच्ची में सब, भावित्वातिक शास्त्र का भी समावेश हो जाता है। उदाहरणार्थ रक्षायनशास्त्र विद्यर्थीज्ञ प्रायविज्ञानशास्त्र, सब विविध ज्ञान या किंजन ही हैं।

साम्यावस्था में रहनेवाली प्रहृति का सास्त्वशास्त्र में 'अस्पष्ट' भाष्यान 'निर्दिष्टी' का गोचर न होनेवाली कहा है। 'स प्रहृति के सत्त्व रब और ठम 'न सीनों गुणों भी परम्पर-न्यूनाधिकता के कारण या भेदक प्रायार्थ हमारी 'निर्दिष्टी' का गोचर होता है भाष्यान निहें हम देखते हैं बुक्त है पापते हैं दैर्घ्यत है या स्पष्ट करते हैं उद्देश साम्यशास्त्र में 'भ्यष्ट' कहा है। स्मरण रह कि ये प्राय हमारी इन्द्रियों का स्पष्ट रीति स गोचर हा नहत है वे सब 'भ्यष्ट' कहते हैं। जाहे फिर वे प्राय भाष्यानी भाविति व कारण स्पष्ट के कारण गत्व व कारण या किंजी अस्य गुण के कारण स्पष्ट हान हा। स्पष्ट प्राय भनन है। उनमें से कुछ ऐसे प्राय, पक्ष प्राय इत्यारि स्पष्ट कहते हैं और कुछ ऐसे मन दुर्दि भावाश्च इत्यारि ( यद्यपि वे इन्द्रियगोचर भाष्यान स्पष्ट है तथापि ) नाम कहलात है। यही 'नाम से छोरे या मक्तुव नहीं है। क्याकि अक्षम्य यद्यपि स्पष्ट है तथापि वह लार उपर्युक्त में उत्तर एवास है इसमिव तप्तम शास्त्र से रबून के विवर या कामु से भी अधिक

महीने यही भय मेना चाहिये। 'स्वस' और 'सुस्म' शब्दों से किसी बस्तु की शरीर रखना का शब्द होता है और 'म्बक्ष एवं अव्यक्ष' शब्दों से हम यह शब्द हास्ता है कि उस बस्तु का प्रस्तुत शब्द हमें हो सकता है या नहीं। अतएव मिथ मिथ पश्चात्या म से ( चाहे के अना सूक्ष्म हा तो भी ) एक अव्यक्ष और दूसरा अव्यक्ष हो सकता है। उदाहरणार्थ यद्यपि हवा सूक्ष्म है तथापि हमारी स्पष्टेत्रिय से उसका अन होता है। इसलिये उसे व्यक्ष कहते हैं। और सब पश्चात्यों की मूल्यवृत्ति ( या मूल्यव्याप्ति ) वायु से मी अत्यस्त सूक्ष्म है और उसका शब्द हमारी किसी नित्रिय को नहीं होता 'सुलिये उसे अव्यक्ष कहते हैं। अब पहाँ प्रभ द्वा रक्षता है कि यहि एस प्रहृति का शब्द किसी मी इन्द्रिय को नहीं होता तो उच्चा अस्तित्व सिद्ध करने के लिये क्या प्रमाण है। इस प्रबन का उत्तर साम्यवादी इस प्रकार ऐसे हैं कि अत्यन्त पश्चात्यों के अवलोकन से सूक्ष्मर्वेष्याका के अनुसार पहाँ अनुमान सिद्ध होता है, कि इन सब पश्चात्यों का मूल्यप ( प्रकृति ) पश्यति 'निद्रियों को प्रस्तुत गोचर न हो, तथापि उसका अस्तित्व सूक्ष्म रूप से अवस्थ होना ही चाहिये ( या का ८ )। विग्रहितयों ने मी ब्रह्म का अस्तित्व सिद्ध करने के लिये इसी मुक्ति को स्वीकृत किया है ( कठ ६ १२ १३ पर शास्त्रस्याप्य खेलो )। यदि हम प्रहृति को इस प्रकार अत्यन्त सूक्ष्म और अव्यक्ष मान ले तो नेयादिका के परमाणुवाद की वजह ही उत्तर आती है। क्योंकि परमाणु यद्यपि अव्यक्ष और अस्तर्व हो सकते हैं तथापि प्रस्तेत्र परमाणु के स्थृतन्त्र व्यक्ति या अवश्य हो जाने के कारण पहाँ प्रभ फिर मी शेष राह्याण्या है कि वो परमाणुओं के बीच मे र्वैन-टा पदार्थ है। इसी कारण साम्यवाद का सिद्धान्त है कि प्रहृति मैं परमाणुप्र अवश्य भेद नहीं है। विन्दु पह सदैव एक से एक अच्छी तुर्ह - बीच मे योद्धा भी अन्तर न लेवटी तुर्ह - एक ही उमान है अपवा यो कहिये कि वह अव्यक्ष ( अर्थात् इन्द्रियों को गोचर होनेवाले ) और निरवद्यवस्थ से निरन्तर और उत्तेज है। परमाणु एवं वर्णन करते तुर्ह गतव्येष ( २ २ १ ) मे भी समर्थ रामदासस्वामी कहते हैं कि प्रहृति उपर ही वह अपार है उसका किसी और पार नहीं है। वह एक ही प्रकार का और स्वतंत्र है उसम द्रुत ( या और कुछ ) नहीं है। \* साम्यवादीयों की प्रहृति कियम मैं भी यही वर्णन उपसुक्ष्म हो सकता है। मिथ्यावर्क प्रहृति अव्यक्ष स्वयम्भू और एक ही प्रकार की है और यादि वे सूक्ष्म हैं तथापि अव्यक्ष है और 'न सब अस्त्री मूल प्रहृति एक ही सी तथा सर्वव्यापी और अव्यक्ष है। अस्त्रण रहे कि केशनितयों के 'पञ्चम' म और चाप्य वादिया की 'प्रहृति' मे ज्ञानात्म पावात्र एवं अस्तर है। उसका कारण यह है कि पञ्चम चेतन्यस्थ और निर्मुक्त है परन्तु प्रहृति जाह्यम और सत्त्वर उमोगमी अव्यात् रुग्ण है। 'एस वियम पर अविक्ष विचार आगे किया जायगा।

यहाँ भिक्षु यही विचार है कि सौरायमार्गियों का मत क्या है। उन्हें हम 'स प्रधार 'मृद्गम' और 'भूषण' और 'आयच्छ शम्भा' का अप्य समझने ल्ये तब कहाना पर्याप्त नहीं कि भारतम् म प्रन्दल पराय सूर्य भौर भव्यन् प्रहृति के रूप से रहता है। ऐसे वह (जाहे सुम हो या स्तूप हा) व्यक्त अपात इन्द्रिय गोचर होता है आर वर प्रव्यवास म 'स व्यन्त स्वरूप का नाय होता है तब परि वह पराय भव्यल प्रहृति म मिथ्यर भव्यन् हो जाता है। गीता में भी पही मत गीय पता है (गी ३ २१ भार १ १)। साम्प्रदायक में 'स अव्यन्त प्रहृति ही का भार भी कहत है और प्रहृति से होनेवाले सब 'आपों' को 'शर कहत है। यहाँ रर शब्द का अप्य सम्बूँ नाम नहीं है मिन्हु भिक्षु व्यक्त स्वरूप का नाय ही भोग्यित है। प्रहृति का भार भी भक्तेश नाम है। उसे प्रदन गुण धोग्नियी, वायवानक प्रसुव भर्मिणी 'स्यादि। सूर्यि का उत्तर पापों का नुग्य मूल हनि के वारप उत्तर (प्रहृति का) प्रपान कहत है। तीनों गुणों एवं साम्यांग्भा श्वभग स्वय भाव ही करती है 'मसिद्य उसे गुण-व्याख्यिती कहत है। गुणव्यव्याख्या पराय भेद के द्वीप प्रहृति म है 'मसिद्य उस वायवानक कहत है। और प्रहृति से ही सब पराय उत्तम हनि है 'मसिद्य उस प्रसुवधर्मिणी कहत है। 'स प्रहृति ही का वेगन्तशास्त्र म 'माया भपान मायिन गिरावा कहत है।

मृदि के मुद पदार्थों का 'ध्यम' और क्षेत्रफल या 'धर' भार भासर इन गी विज्ञान में रखने के दौर भव यह साफ़ना चाहिये कि भत्ते क्षेत्रफल विज्ञान में उत्तराय गये आगमा मन दुष्टि भहगर और निरिया का नामप्रसन्न में भवुतार, दिये विज्ञान या दूर में रखना चाहिये। दूर और इन्हीं सा — ही है इन कारण उनका समाप्तेज एवं पदार्थों में हा सकता है। परन्तु मन भहगर, दुष्टि भीर विद्येय वरके आगमा के विद्य में क्या अद्वा ज नम्ना है? पूराव के बताना नम्पय के प्रभित्ति मृदियामाल हैकेव न भवने प्राप्त में लिया है कि मन घटि भहगर और आगमा प नव धर्मार के एम ही है। उनाहरणाप्त, दूर लेणे हैं कि दूर मनुप्य का मनिक विद्य बना है कु चुक्की ध्यरण शुक्ति नष्ट हो जाती है भार दूर पार्वती ही हा जना है इसी प्रवार विर पर आर लग्न न इर मनिक व्य कार्त्ति नाम लिया राना है तर की ज्ञ भव की मानमिह शुक्ति नष्ट हो जाती है। माराप्त यह है कि मनोप्रसन्न की दूर मनिक ही दूर है भवनप्रद य दूर बन्न स कर्त्ति

राय नहीं बिध या अपने और इसी बिध नियन्त्रक के साथ जाग मनोरम भी भास्मा का रखने परावी करने में लगभग असता चाहिए वर्ष या उत्तरांश में बिध शाय जो तस्वीरेव भास्म और वर्ष तृष्णि ही ऐसे हए जानी करवी करने परावी करने परावी है। भास्मा घृणि में ही वर्षे इसी अपना मधुरी व अस्त्रा राया वा वाया दा उत्तरांश दूसरा है। यही ही असता तदनु पर्याप्ती असता होता है। विष्णुर्वा वी घृणि वर्षे वर्षे लाली हो वार भजि।

उसी को चैतन्य या आत्मा का स्वरूप प्राप्त हो गया। सत्कार्यकार के समान, इस मत्थाहति के कुछ कायड़े या नियम के द्वारा है। और उन्हीं नियमों के अनुसार सब ज्ञान् और साथ ही धाय मनुष्य भी ऐसी के समान कर्त्तव्य किया करता है। यह प्रहृति के विषय आत्मा को<sup>१</sup> मिष्ठ बता है ही नहीं तब बहना नहीं होता, कि आत्मा न सो अदिनाशी है और न स्वरूप। तब मोक्ष या मुक्ति जी आवश्यकता ही नहीं है। प्रथमक मनुष्य को मास्त्र होता है कि मैं अपनी इच्छा के अनुसार अमुक जाम कर देणा; परन्तु वह सब केवल ग्रन्थ है। प्रहृति निम्न भोग विविधी उल्ली और मनुष्य को छुटना पेहँगा। अधिकार किसी कवि के अनुनुसार बहना चाहिये कि यह धाय विषय एक घटुत बन कारणार है प्राणिमात्र ऐसी है और पापों के गुण घम वेदियों को कोई तोड़ नहीं सकता। वह यही देख के मत्र का सारांश है। उसके मत्तानुसार सारी सुष्ठि ज्ञ मुल्कारण एक बाँ और अन्यक प्रहृति ही है। “सलिये उसने अपने विदान्त को सिर्फ़ ‘अौत’ द्वारा है। परन्तु यह अौत बहमूल्क है अर्थात् अौती वह प्रहृति में ही सब बातों का समा देख करता है इस कारण हम इसे बाहौदूर या आधिमौरिक शास्त्रादीत कहेंगे।

हमारे साम्यवादिकार न्यू चाहैत को नहीं मानते। वे कहते हैं कि मन, दुखि और आहार पद्ममहामुदान्मक वह प्रहृति ही के भर्त हैं और साम्यवादिक में भी यही लिखा है, कि अम्यक प्रहृति से ही दुखि आहार त्यागि गुण क्रम से उत्पन्न होते आते हैं। परन्तु उनका कफन है कि वह प्रहृति से चैतन्य जी उत्पन्न नहीं हो सकती। इन्हाँ ही नहीं; वरन् निम्न प्रकार को<sup>२</sup> मनुष्य अपने ही क्षो पर भैठ नहीं सकता। उसी प्रकार प्रहृति ज्ञ ज्ञानेवासा या देवनेवासा वह तक प्रहृति से मिम न हो तब तक वह मैं यह ज्ञानता हूँ – वह ज्ञानता हूँ इस्याति मध्या व्यवहार का उपयोग कर ही नहीं सकता। और इस कानू॑ के व्यवहारी की ओर देखने से तो सब लोगों का यही अनुमत जान पड़ता है कि मैं जो कुछ देखता हूँ, या ज्ञानता हूँ, वह मुझ से मिष्ठ है। इसलिये साम्यवादिकार्ये ने कहा है कि ज्ञाना और देव देवनेवासा और देखने की बत्त या प्रहृति को देवनेवासा और वह प्रहृति न तोनो बाधी को मूल से ही पृष्ठ पृष्ठ मानना चाहिये ( सा का १७ )। पिञ्चे प्रकरण में किसे देखना या आत्मा कहा है वही पह देवनेवासा ज्ञाना या उपमोग करनेवासा है और इसे ही साम्यवादिक में ‘पुरुष या ‘ह’ ( हाता ) कहते हैं। पह ज्ञाना प्रहृति से मिम है। “न कारण निर्दर्शन से ही प्रहृति के तीनों ( सब रब और तम ) गुणों के परे रहता है। अर्थात् पह निर्विद्वार और निर्गुण है और ज्ञाने पा देखने के विषय कुछ भी नहीं करता। न्यूसे यह मी माल्यम हो जाता है कि कानू॑ में जो पञ्चार्द ढारी रहती है वे सब प्रहृति ही के देख है। सारांश वह

देखना वास्तव तत्त्व माना जाता है। और इस विषय पर उन्होंने तत्त्वात्मक मत्र भी लिखा है।

यहाँ सिफ पहरी दिखार है जि साख्यशारिया का मन क्या है। इस इस प्रभुम' भीर शूल 'त्यक्त और 'अत्यक्त गत्ता का अथ समझन द्यो, कहना पड़ेगा कि मुहिषु भारग्म में प्रत्यक्ष पाप शूल भीर भास्यक प्रहृति रूप से रहता है। फिर यह (जाहे थाम हा या थ्यू हा) व्यष्ट भथात् इनि गाथर हता है और उर प्रद्यमान्य में उस व्यक्त व्यष्टि का नाम हता है, फिर उस पाप अव्यक्त प्रहृति में मिलकर भास्यक हो जाता है। गीता में यही मन गीत पड़ता है (गी २८ भार ८ १)। साम्यगाम्य में उस भास्यक प्रहृति ती का लाल भी कहत लार प्रहृति से हेतेयासे सब पापों की लालत है। यहाँ तर गत का नप, समुद्र नाश नहीं है जिन्हुंनु भिक्षु रुप स्वप्न का नाम ही अपेतिन है। प्रहृति के गर भी भनेत नाम है। उस प्रधुण शोकिणी ब्रह्मान्द प्रसव गर्भिणी च्याहि । मूर्ति के सब पापों का ग्राव दून के बाल रुम (प्रहृति का) प्रसन्न कहत है। तीसी गुण भी साम्यादभान्ना स्वयं भाप ही करती है इनिय उस गुण-शोकिणी कहत है। गुणवत्यन्ना पर भेद के दो दो प्रहृति में उसनिय उस ब्रह्मान्द कहत है। जार प्रहृति के ही पाप उपर्युक्त हान है उसनिय उस प्रसवगर्भिणी कहत है। इस प्रहृति दी ब्रह्मन्त्यान्य में 'माया भयान मायिक विगता कहत है।

मूर्ति के लद पापों का यक्ष और व्यवह या 'जार भार भान भान ता गिमान में र्यान के जार भर यह गान्ना लाहिदे नि धन अनह निचापा पान्नय गय ना मा मन तुडि गहरा और इन्हिया का लालमान के भनु विन विभाग या ज्ञा म रामा लाहिय। धन और इन्हियों का यह ही उपराण लक्षा नमोदेत एक पापों में हा लक्षा है। परम्परा मन भद्रगत, भीर विद्युत वर्ण ना मा के विद्युत में क्या ज्ञा ग लक्षा है? यूरोप के वा युरोप के प्रभिद मुहिषान्नक हेतु न अनेप्राप्त मै क्या है जि मन तुडि भान भीर भाना य लद शुरी के घर्म ही है। उपराणाप हम रामो हि इव व्यवह का व्यक्तिक विन लक्षा है लद उन्ही लक्षण लानि नह हा जानी है जार पागा वी है। लक्षा है इसी द्वारा विर रर लाल ग उप समिक्ष का नग लिह लक्षा है तर नी इत नग भी लानसिंह लानि नह हा जानी है। अपरे हि फलापम जा उप मूलिक ही रा हि भान य उप लक्षा न लक्षा नहीं लिह लाला जैर इसी विवरिक के लाग लाय लक्षणम् उमा का उपर एको के दर म लाक्षि लक्षा का है वर्ष यह उपर विन लाय जा जा मै उप भास्यक भीर उप दृष्टि ही देत रह गयी लक्षा के लद रवान दाल लक्ष रामा लृपि स ही ला हि दृष्टि लक्षा दृष्टि लक्षा रामा हि लक्षा का उपर लक्षा है। नील लक्षा है।

इसका कारण यह है कि सगुण ईश्वर काल और स्वरूप ये सब व्यक्त होने के प्रवरण प्रहृति से उत्पन्न होनेवाले व्यक्त पदार्थों में ही आमिस हैं। और, यहि ईश्वर की निर्गुण मात्र से सल्लाह्यवाचनुसार निर्गुण मुख्यत्व में निर्गुणात्मक प्रहृति कभी उत्पन्न नहीं हो सकती। इसलिये उन्होंने यह निष्क्रित चिदान्त दिया है कि प्रहृति और पुरुष का ऐसे कर "स सुधि का और कोई विचार मूल्यार्थ नहीं है।" स प्रकार वह उन लोगों ने जो ही मूल्यार्थ निष्क्रित कर सके तब उन्होंने ने अपने मत के अनुसार इस बात का भी सिद्ध कर दिया है कि "न दैना मूल्यार्थ से सुधि ऐसे उत्पन्न नहीं है।" ये कहते हैं कि यद्यपि निर्गुण पुरुष कुछ भी कर नहीं सकता तथापि वह प्रहृति के साथ उसका स्वयंग होता है तब द्वितीय प्रकार गाय अपने कल्हे के छिपे वृक्ष भेटी है या ओहनुक पास होने से क्लेह में आकर्षण शक्ति आ गयी है, उसी प्रकार मूल अव्यक्त प्रहृति अपने गुणों (मूल्य भी और सूक्ष्म) का व्यक्त फैलव पुरुष के सामने पैराने लगती है (सा का ७७)। यद्यपि पुरुष सचेतन और हाता है तथापि देवत अर्थात् निर्गुण होने के कारण स्वयं कर्म करने के कार्य साधन उपरे पास नहीं है और प्रहृति यद्यपि काम करनेवाली है सुधापि वह या अचेतन होने के कारण वह नहीं लगती जिसका करना आहिये। उन प्रकार दूसरे और अर्थे की वह बोधी है। ऐसे अस्ये के कर्मपे पर झाँका भैठ और ने शोनी पक दूसरे की सहायता से मार्ग बदले समा भैसी ही अचेतन प्रहृति भी और सचेतन पुरुष का स्वयंग ही आने पर सुधि के सब कार्य भारम्भ हो जात है (लृ. का १)। और द्वितीय प्रकार नारी की रगमूलि पर फ्रेश्का के मनोरक्तार्थ एवं ही नहीं कभी एक तो कभी दूसरा ही स्वयंग क्वा कर नाचती रहती है उसी प्रकार पुरुष के व्याम के लिये (पुरुषार्थ के स्थिर) यद्यपि पुरुष कुछ भी पारिहासिक नहीं हैं; तो भी यह प्रहृति सख-सख-उम गुणों की न्यूनाधिकता से अनेक इप भारम्भ करके उक्ते सामने स्वगतार नाचती रहती है (सा का ४)। प्रहृति के इस निये

वह आर्या शिष्य भी नगर वन्दर्म (जर्म दा भाव) से दीक्ष मिलती भी है। इस आर्या म निरीक्षण का परिवार है। इतनिये जात वहां है कि शिष्यों ने इह लीड से निराल हाता हाता। वास्तु इन आर्यों का आधिन कारवाचा मनु-न इसका भाव भी निकाल हातवा भए गया। इतनिये नव इन आर्यों का दीक्ष दीक्ष क्वा तथा तरत है भीर इनी त उठ मनु-न का भववाह है (१३ आर्या ३ वर्षाभ्यासानिति ५ छटव अभ्यास ५ लहने मन्त्र त प्रसर हाता है कि याचिन नाम में दुष्ट नाम स्वामी भार काल का - भार वरामती ता उक्ते भी आग एवं कर दिया का - जगत् दा मूलराग सानन त। एवं मन्त्र ५ है -

वरमावमहे वरवया वदमित वासि तथार्थ परिमद्वामाकाः॥

रेवम्पद्मा महिमा तु साद वदेऽ प्राप्यत वद्वाचक्रवत्॥

वास्तु ५ इन न वर्षाव भावों का वर्तमान ३ वीं आर्या के वार निर्म एवं वन्दन के तिव भाव हैं त य तीं। दू. १३ व भावों वन्दन वार भी वर्षा (वर्षा) लाल्वद्वावितो का भाव त नहीं है

कि प्रहृति अचेतन या क्षम है भार पुरुष मध्येतन है। प्रहृति सब क्षम किया रखती है और पुरुष उत्थानील या अवता है। प्रहृति शिगुजामूर्ति है भार पुरुष विगुण है। प्रहृति अधीर है भार पुरुष साक्षी है। उस प्रकार उस सदि में यही एक मिथ्या मिथ्या तत्त्व अनादितिद्वय स्वतन्त्र भार स्वयम्भू है। यही सार्यशास्त्र का विशेषज्ञत है। इस बात को ध्यान में रख करके ही सार्यशास्त्र में पहुँच कहा गया है कि प्रहृति पुरुषं लैव विद्यमानी उमावपि — प्रहृति भार पुरुष दोना अनादि है (गी ११ १९)। उसके बाहर उनका वर्णन इस प्रकार किया है। कापिलसौर्यशास्त्र के द्वारा प्रहृति क्षम्यते अर्थात् ऐह और अन्तिया का ध्यायार प्रहृति करती है और पुरुष सुगुजुर्वाना भीकृत्वे हेतुरप्यते — अर्थात् पुरुष सुगुजुर्वानोका उपर्योग करने के लिये कारण है। यद्यपि गीता में भी प्रहृति और पुरुष अनादि माने गये हैं तथापि यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि सार्यशास्त्रियों के समान, गीता में ये अन्य तत्त्व स्वतन्त्र या स्वयम्भू नहीं माने गये हैं। कारण यह है कि गीता में सामान् भीहृष्ण ने प्रहृति को अपनी 'माया' कहा है (गी ७ १४ १४ १) और पुरुष के किम्य में भी यही कहा है कि र्मस्तात्यो वीष्ट्येऽ (गी १६ ७) अद्यात वह मी मंहा अश्व है। उसके मात्रम् ही आता है कि गीता सार्यशास्त्र से मी आता क्षम है। परन्तु अभी उस कारण की जार ध्यान न कर हम त्रिपति के सार्यशास्त्र स्थान परहता हैं।

सार्यशास्त्र इन सुमार सूर्य के सब रूपों के लीन जग हत है। पहला अध्यक्ष (प्रहृति सूर्य) दूसरा व्यक्त (प्रहृति के विशर) आर तीसरा पुरुष अध्यत है। परन्तु उनमें से प्रस्यकार के समय व्यक्त पराया का स्वयम्प नहीं हो जाता है। उसका व्यक्त मूल में केवल प्रहृति जार एवं पुरुष। ही तात ऐप रह जाते हैं। ये तीनों सूर्यकृत सार्यशास्त्रियों के मननुमर अन्य और स्वयम्भू हैं। उसकी सार्यों का इनकारी (या सार्यशास्त्र माननेमें) पहत है कि प्रहृति नीर पुरुष के पर उसे काल स्वप्नाद या उन्य किमी भी मन्त्राद का नहीं मानते।

इसके बाद निर्वाचनका है। उनके एन्द्र वर वरकारका की वाल्मीकि-प्रस्तावान्महात्मान भावाना में क्षमा है इसके विषयम् गीता — परन्तु इनके लिए विषयत के लियाह के बाब वस्त्र में भीवल ताहोगम तात्त्वा न आ पूर्णस भावत की है इष्टम भृत विषय पर कुर्व लाया है। इन्हिन्ह विषयत सात्त्व न वास नमुद्धार में वह वस्त्र प्रस्तु विषय कि जा राया जानकी है। परन्तु वह भावी उत्तर एवं निर्वाची वीर्य उत्तर भक्ता का वस्त्राधान तरी हुआ इमारी में है कि वह वस्त्राधान वीर्य जाता के नाम नारी। जात्र वह है कि वीर्य भावा पर वाल्मीकि का जा त्वं वह कुर्व रह ही जाता पर नहीं किम्। जात्राना वह है जार वहि इन भाव के प्रतीक वह जा कर जाता वनाइ जाव ता वह एवं वकार इर्मी —

कापिलसौर्यशास्त्र वास पर स्वयम्भू या।

परन्तु वीर्य विर्याण्डो व्यक्त जाव स्वप्नाद स्वप्नाद ता।

नहीं है जो 'पुरुष' को कही बाहर से प्राप्त हो जाती हो। अथवा यह कहिये, कि वह 'पुरुष' की मूल और सामाजिक स्थिति से कोई मिस्त्रि विवरण भी नहीं है। प्रहृति और पुरुष में ऐसा ही सम्बन्ध है जिसके बाहरी छिक्क और अन्दर के गुण में रहता है। या कैसा पानी और ऊपरे रहनेवाली मछली में। सामान्य पुरुष प्रहृति के गुणों से मोहित हो जाते हैं और अपनी यह सामाजिक मिस्त्रा पहचान नहीं सकते। यही कारण के सचार-चक्र में छोड़े रहते हैं। परन्तु जो इस मिस्त्रा के पहचान छोड़ा है वह मुख्य ही है। महाभारत (शा ११४ ७८ २४८. ११ और १३-१८) में किया है कि ऐसे ही पुरुष को 'श्वारा' या 'दुर्द और 'इतरहस्य' कहते हैं। गीता के कच्चे 'एतद् दुर्द्भावुकिमान् स्यात्' (गी १६. २) में दुकिमान् शब्द का भी यही अर्थ है। अप्यामध्याज्ञा भी दृष्टि से मोहित का सच्चा स्वरूप भी पही है (जे षु या मा १४)। परन्तु साम्यवादियों की अपेक्षा अद्वित वेदान्तियों का विशेष कल्पन यह है कि आत्मा ही मैं परमात्मात्वस्य है; और जब वह अपने मूलत्वस्य का अर्थात् परमात्मा के पहचान करता है तब वही उत्तमी मुहित है। जे स्मेग वह कारण नहीं बताते कि पुरुष निर्वर्गत 'केवल' है। साम्य और वेगान्त का यह भैं अग्रस प्रकरण में स्पष्ट दीति से बहस्त्रया आयगा।

यद्यपि अद्वित वेदान्तियों को साम्यवादियों की यह बात मान्य है पुरुष (आत्मा) निर्दुण उत्तरासीन और अकर्ता है; तथापि वे स्मेग साम्यात्मक की 'पुरुष'-तत्त्वनिव इच्छ बहुती इस्तमा के नहीं मानते कि एक ही प्रहृति को देखें-काले (साधी) स्वतन्त्र पुरुष मूल में ही असम्भव है (गी ८. ४; १३. २ -२२; मूला शा १५१; और जे षु या मा २. ११ देखो)। वेदान्तियों का कहना है, कि उपाधिमेत्र के कारण सब यीव मिथ मिस्त्र मालूम होते हैं परन्तु बहुत सब ब्रह्म ही है। साम्यवादियों का मत है कि जब हम ऐसे हैं कि प्रत्येक मनुष्य का जन्म मूल्य और जीवन अस्य अम्य है; और जब इस जन्म में हम यह भैं पाते हैं कि कोई मुमी है तो कोन दुर्घटी है तब मानना पहला है कि प्रत्येक भारतीय का पुरुष मूल से ही मिस्त्र है और उनकी तरफ्या मी अनन्य है (ठा का १८)। केवल प्रहृति और पुरुष ही जब सूर्य के सूक्ष्मत्व से ही पहलु उनमें से पुरुष शृण्म में साम्यवादियों के मतानुकार असम्भव पुरुषों के लमुदात्व का लमावद्ध होता है। इन असम्भव पुरुषों के और विगुणात्मक प्रहृति के सबों से सूर्य का तत्त्व प्रवहार हो रहा है। प्रत्येक पुरुष और प्रहृति का जब सबोंग होता है तब प्रहृति अपने गुणों का जात्य उत्त पुरुष के लामने फैसली है; और पुरुष उत्तमा उपर्योग करता रहता है। पेरा हृष्ट एवं हृष्ट इस पुरुष के जारी और की प्रहृति के रूप सामिक हो जाते हैं उस पुरुष का ही (जब पुरुषों का नहीं) साम्य लग्न प्राप्त होता है; और उत्त पुरुष के विषय ही प्रहृति के तत्त्व गिर्म कर्त्त हो जाते हैं; एवं वह अपने मूल तथा ईदस्वप्न के पर्वत जाता है। परन्तु बग्गी उत्त पुरुष की गोप मिस्त्र गवा,

को रख कर—माह से भूल जाने के कारण या दृश्याभिमान के करण—बर तक पुरुष इस प्रहृति के करुत्व का स्वयं अपना ही करुत्व मानता रहता है और उन तक वह सुप्रसूचन के काल में स्वयं अपने को ऐसा रखता है तब तक उस मोन मा मुक्ति की प्राप्ति फर्मी नहीं हो सकती (गी १ ७)। परन्तु इस समय पुरुष को यह जान हो जाय, कि निगुणामर प्रहृति मिल है और मैं मिल हूँ तब समय वह मुक्त ही है (गी १३ २९ ३ १४ २)। क्योंकि यथार्थ म पुरुष न को कहा है और न ऐसा ही है—वह सब प्रहृति ही का मेल है। यहाँ तक कि मन भी तुम्हि भी प्रहृति के ही विचार है। इसलिये तुम्हि का ये होता है वह मी प्रहृति के काथ का फस है। यह जान तीन प्रकार का होता है ऐसे : सात्त्विक राज्ञि और तामस (गी १८ २०-२२)। यह तुम्हि का तात्त्विक जान प्राप्त होता है तब पुरुष को यह मालम होने जाता है कि मैं प्रहृति से मिल हूँ। सब रब तमोगुण प्रहृति के ही फर्म हैं पुरुष के नहीं। पुरुष निगुण है और निगुणामर प्रहृति उसका वर्णन है (म य शा ८ ४ ८)। बर यह बणन स्वप्न या निमिल हो जाता है अथात् जब अपनी यह तुम्हि-जो प्रहृति का विचार है—सात्त्विक हो जाती है तब उस निर्मल बणन म पुरुष को अपना सात्त्विक स्वप्न दीर्घने रखता है और उसे वह जीव हो जाता है कि म प्रहृति से मिल हूँ। उस समय यह प्रहृति अविनाश हो कर उस पुरुष के जामने नाचना रेखना या बाल फैलना कर देती है। बर यह अवस्था प्राप्त हो जाती है तब पुरुष सब पापाद्या या आँखों से मुर्छ हो कर अपने स्वामाकिङ दैवत्य पर को पूँछ रहता है। 'अवस्था जाए का अर्थ है करता हो अवस्थापन या प्रहृति के साथ सद्योग होना। पुरुष के उस नैसर्गिक या स्वामाकिंट दिवति को ही सार्व जाग्र म माल (मुक्ति या द्वूषकार्य) कहते हैं। उस अवस्था के विषय मैं सास्त्र यात्रिया ने एक बहुत ही नाजुक प्रभ का विचार उपस्थित किया है। उनका प्रभ है, कि तुम्हि प्रहृति को छाड़ देता है या प्रहृति पुरुष को छाड़ देती है।' तुम्हि स्त्री की समस्त में यह प्रभ दमा ही निरर्फत प्रदीप होता है उस यह प्रभ कि तुम्हि के छिये दुर्गिन रूची है या तुकड़िन के छिये तुम्हा दिनता है। क्योंकि बर वो दस्तुओं का एक दूसरे से विभीत होता है तब हम देखते हैं कि दोनों एक दूसरे को झाड़ देती है। इसलिये देसे प्रभ का विचार करने से तुम्हि याम नहीं है कि विद्युते विद्युते घोड़ पिया। परन्तु तुम्हि अधिक लौचने पर भाट्य हो जायगा कि सास्त्र्यवादियों का उक्त प्रभ उनकी रुद्धि से अपोष्य नहीं है। सार्वयशाम के अनुसार 'पुरुष निगुण भक्त और उनसीन है। इसलिये उस्तद्विसे 'छेड़ना या पकड़ना दियाओं का एक पुरुष नहीं हो सकता (गी १३ ३१ १२)। इसलिये सास्त्र्यवादी कहते हैं कि प्रहृति ही 'परश्य' को और दिया करती है। अर्थात् वही 'पुरुष से अपना पुरुष कारा या मुक्ति कर देती है। क्याति करत्वात्म 'प्रहृति ही का है (सा का १२ और गी १३ १४)। सारांश यह है कि मुक्ति नाम की ऐसी कार्य निराकी अवस्था

भवन्नास ही होता है भार श्वन तथा वैद्युत्य (चम्पाय) से माझ या फिर स्वप्न मास होता है तथा पुरुष के तुरंतों की आत्मनिक निष्ठिं हो जाती है।

जब देहनिया और बुद्धि में पहले सत्त्वगुण का उन्नयन होता है; और जो भी और उससे होते होते भन्त में पुरुष को यह श्वन हो जाता है कि मैं चिगुणात्मक प्रहृति से मिथ दूँ तब उसे साम्यवादी चिगुणातीत अर्थात् उत्तर रव तम गुण के पर पर्वत तुम्हा कहते हैं। इस चिगुणातीत अवस्था में सत्त्व रव तम में से नोर्म मी गुण योग नहीं रहता। तुम सूझ लिचार करने से मानना पड़ता है कि वह चिगुणातीत अवस्था सात्त्विक राक्षस और तामस न दीनी अवस्थाओं से मिथ है। यही अभियाय से मानवत में महिं के तामस राक्षस और चात्तिक में करने के पश्चात् एक और जीवा में किया गया है। दीनी गुणों के पार ही जानेवाला पुरुष निर्देश कहता है और अमेघाय से जो भयि भी जाती है उसे

निर्गुण भवि कहते हैं (भाग १ २९ ५—१४) : परन्तु सात्त्विक राक्षस और तामस इन दीनो वर्गों का अपेक्षा वर्गीकरण के तत्त्वों को व्यर्थ अधिक छाना चाहित नहीं है। इसलिये साम्यवादी कहते हैं कि सत्त्वगुण के अस्त्यन्त उन्नयन से ही अन्त में चिगुणातीत अवस्था मास तुम्हा करती है और चात्तिके जैसे अवस्था की गणना सात्त्विक वर्ग में ही परत है। गीता में भी यह मत स्वीकार किया गया है। उत्ताहरणार्थ वहाँ कहा है कि विस अमेघात्मक ज्ञान से पहले मासम हो कि उब तुम्ह एक ही है उसी को लालिक लान कहते हैं (गी १८ २)। इसके लिया सत्त्वगुण के वर्णन के बात ही गीता में १४ ते अव्याय के अन्त में चिगुणातीत अवस्था का वर्णन है। परन्तु मानवातीता का मह प्रहृति और पुरुषवाल्मीक्रैत मास नहीं है। चात्तिके अवस्था जाहिये कि गीता में 'प्रहृति' 'पुरुष' 'चिगुणातीत' 'त्याति' साम्यवादियों के पारिभाषिक शब्दों का उपयोग तुम्ह मिथ अर्थ में किया गया है अथवा यह कहिये कि गीता में लालिक वादियों के द्वैत पर भौत परमात्मा की 'शाप सर्वेन शरीर तुर्व' है। उत्ताहरणार्थ साम्यवादियों के प्रहृति पुरुष मेड का ही गीता के १३ ते अव्याय में वर्णन है (गी १४ १९—१४)। परन्तु वहाँ 'प्रहृति' भार 'पुरुष शब्दों एवं उपयोग भेद और भेद के अर्थ में हुम्हा है। चात्ती प्रकार १४ ते अ याय में चिगुणातीत अवस्था का वर्णन (गी १४ २९—२७) मी उस लिद्ध पुरुष के विषय में किया गया है जो चिगुणात्मक माया के कर्ने के सूखर ठस परमामा का पहचानता है कि वो प्रहृति और पुरुष के भी फेर है। यह वर्णन साम्यवादियों के उप लिटान्ट के अनुलाल नहीं है किसके द्वारा के यह प्रतिपादन करते हैं कि 'प्रहृति' और 'पुरुष शब्दों दृष्टिपूर्ण दात्त हैं और पुरुष का 'केवल्य ही चिगुणातीत अवस्था है। यह मेड आगे अप्याम प्रकरण में अच्छी तरह समाप्त किया गया है। परन्तु गीता में यत्परि अव्यायम पर ही प्रतिपादित किया गया है तथापि जो चात्तिक तत्त्व का वर्णन द्वैत समय मानान भी हृष्ण

तो मौ शेष सब पुरुषों को संसार मे ऐसी ही रहना पड़ा ह। क्यानित् फौर यह समझ, कि प्याही पुरुष इस प्रकार केवल्यपद को पर्वत जाता है त्याही यह एकदम प्रहृति के जाल से छूट जाता हाँग। परन्तु साक्षमत के भनुत्तर यह समझ गलत ह। वह और इन्द्रियरूपी प्रहृति के विकार उस मनुष्य की मृत्यु तक उसे नहीं छोड़ते। साक्षमतार्थी इसका यह कारण बताते हैं, कि किस प्रकार मुम्हार का पहिया - यथा ज्ञान कर निकाल लिया जाने पर मी - पूर्ण संखार के कारण दुष्ट देर तक भूमता ही रहता है, उसी प्रकार केवल्यपद की प्राप्ति हो जाने पर मी "स मनुष्य अ शरीर तुल उमय तक द्येत रहता है (सा का ३७)। तथापि उस शरीर से केवल्यपद पर लारूद होनेवाले पुरुष को तुल मी आचरण या सुखदुःख की जाग नहीं होती। क्योंकि, पह शरीर वड़ प्रहृति का विकार होने के कारण खय वर्त ही है। इसलिये इसे सुखदुःख देना समान ही है; और यहि यह कहा जाय कि पुरुष को सुखदुःख की जाग नहीं है तो पह भी यीक नहीं। क्यों कि उसे मात्रम है कि मैं प्रहृति से मिल हूँ, यथा कर्त्त्व प्रहृति का है मेरा नहीं। ऐसी अवस्था मे प्रहृति के मनमाने गेतु दुआ करते हैं। परन्तु उसे सुखदुःख नहीं होगा और वह सदा उत्तरीन रहता है। या पुरुष प्रहृति के सीनों गुणों से छूट कर यह स्नान प्राप्त नहीं कर सकता वह कर्म-मरण से बुझी नहीं पा सकता। जाहे वह सत्त्वमुण के उत्तर के कारण देवयोनि मे कर्म से या रक्षेगुण के कारण मानवयोनि मे कर्म से या तमोगुण की प्रकृताके कारण पशु कोटि मे कर्म से (सा का ४४ ५४) कर्ममरणरूपी चक्र के ये फल प्रत्येक मनुष्य का उसके जारी और की प्रहृति अर्थात् उसकी तुष्टि के उत्तर-उत्तर-तम गुणों के उत्तर-उत्तरर्थ के कारण प्राप्त दुआ करते हैं। गीता मे भी कहा है कि उत्तरार्थान्ति सत्त्वस्थाः सात्त्विक तुष्टि के पुरुष रक्षण को जाते हैं; और तामस पुरुषों का अधौरगति प्राप्त होती है (गीता १४ १८)। परन्तु स्कण्डि फल अनित्य है। किंतु कर्म-मरण से पुढ़ी पाना है या साक्षमा की परिमाणा के भनुत्तर किंतु प्रहृति से अपना मिलता अथात् केवल्य विकल्प रूप तामन से प्रहृति और पुरुष की भूमता को पहचान कर प्रत्येक पुरुष को अपनी तुष्टि द्युष्ट कर देना का जन करना चाहिये। ऐसे प्रयत्ना के बत तुष्टि सात्त्विक हो जाती है तो फिर उसमे ज्ञान वैराग्य देश्वय आठि गुण उत्तम होते हैं; और मनुष्य को अस्तु मैं कवल्यपद प्राप्त हो जाता है। किंतु वसु का पाने की मनुष्य इन्द्र बरता है उसे प्राप्त कर देने के योग्य सामन्य को ही यहाँ देश्वय नहा है। साक्षमत के भनुत्तर अम की गणना सात्त्विक गुण म ही की जाती है। परन्तु कपिलाचार्य ने अस्तु म यह भेद किया है कि केवल अम से

स्वगम्भास ही होता है भार शन तथा दैरास्य (सन्यास) से मोक्ष या निःसंवाद प्राप्त होता है तथा पुरुष के दुर्घट की अत्यन्तिक निहिति हो जाती है।

इन ऐनियों आर शुद्धि में पहले सत्त्वगुण का उल्लङ्घ होता है और चूं  
धीरे चौरे उपर्युक्ति होते होते अन्त में पुरुष को यह शन हो जाता है कि मैं  
शिगुणात्मक प्रदृष्टि से मिल हूँ तब उसे साम्यवादी 'शिगुणातीत भर्त्यात्' सत्त्व-रद्ध  
तम गुण के पर पहुँचा हुआ कहते हैं। इस शिगुणातीत अवस्था में सत्त्व रद्ध-उम्म  
में से कोई भी गुण शेष नहीं रहता। कुछ सूख विचार करने से मानना पड़ता  
है कि वह शिगुणातीत अवस्था सात्त्विक राक्षस और तामस राक्षस और शात्त्विक  
में करने के पश्चात् एक और चौथा में लिया गया है। तीनों गुणों के पार ही  
मानेवाले पुरुष निर्देशुक्त कहते हैं और अमेऽमात्र से यो मूर्ति की जाती है उसे

निर्गुण मृष्टि कहते हैं (मात्र ५ ८ ३-१४)। परम्पुरा सात्त्विक राक्षस और  
तामस उन तीनों गुणों का अपेक्षा गतिवरण के तत्त्वों को अपर्याप्त भूमिका  
उन्नित नहीं है। सात्त्विक साम्यवादी कहते हैं कि सत्त्वगुण के अत्यन्त उपर्युक्त से  
ही अन्त में शिगुणातीत अवस्था प्राप्त हुआ करती है और अन्नियों के इस अवस्था  
की गणना सात्त्विक कर्ता में ही करते हैं। गीता में भी यह मत स्वीकार किया जाता  
है। उत्तरणार्थ पहाँ बहा है कि जिस अमेऽमात्र ज्ञान से यह मात्रम् ही नि-  
यम कुछ एक ही है उभी को सात्त्विक ज्ञान कहते हैं (गी ३८ २)। उन्हें  
मिथ्या सत्त्वगुण के वर्णन के बात ही गीता में ८ वें अध्याय के अन्त में शिगुणातीत  
अवस्था का वर्णन है। परम्पुरा मानवीता को यह प्रदृष्टि और पुरुषवास्त्र द्वैत मान्य  
नहीं है। इन्नियों द्वारा रामना शात्त्विक कि गीता में 'प्रदृष्टि' 'पुरुष' 'शिगुणातीत'  
तथा 'शिगुणात्मक' वा पारिभासित शब्दों का उपयोग कुछ मिल अथ में  
लिया जाया है भवता यह कहिये कि गीता में शाम्यवादियों के द्वात् पर अद्वैत  
परम्परा की 'आप सब लगी हुए हैं। उत्तरणार्थ शाम्यवादियों के प्रदृष्टि पुरुष  
में का ही गीता ५ ८ व अध्याय में वर्णन है (गी ३८ २-१४)। परन्तु  
वहाँ प्रदृष्टि कि 'पुरुष एवं तात्त्वों वा उपर्याप्त भव और धूम्रज के अथ में हुआ है।  
उभी प्रशार ८ व अध्याय में शिगुणात्मक अवस्था का वर्णन (गी १४ २२-२३)  
भी उन मिठे पुरुष वा शियों में लिया गया है जो शिगुणात्मक मात्रा के पक्षे न  
रात्त्वर उग दरमामा वा उत्तेजनका है कि जो प्रदृष्टि और पुरुष के भी पैर है।  
यह वर्णन शाम्यवादी वा उन शित्तान्त वा त्रुमार नहीं है जिसके द्वारा यह यह  
प्राप्तवान वरा है कि 'प्रदृष्टि और 'पुरुष' ऐनो दृष्टि पुरुष तात्त्व वा उपर्याप्त  
वा उपर्याप्त दी विग्रहातीत अवस्था। यदृ एव शाम्यवादियों अध्याय प्रसरण में भवती  
तात्त्व तमार दिया द्वया २ पर २ गीता में पक्षी भप्याम पा ही प्राप्तातीत  
लिया द्वय २ द्वयी गायामिर गामा का वर्णन वर्णन मध्यम मानव मानव भी हृष्ण

साम्यपरिमाण का और मुक्तिवाड़ का हर काह उपयोग किया है। इसमें सम्मत है की गीता पर्याप्त समय को यह समझ देने, कि गीता को सारायतियों के ही सिद्धान्त ग्राह्य है। ऐसे भ्रम को हटाने के लिये ही सांख्यशास्त्र और गीता के तत्त्वात्मा सिद्धान्तों का मेड फिर से यहाँ बताया गया है। बेदान्तसूत्रों के माध्यम भीशमनाचार्य ने कहा है कि उपनिषद् के इस अद्वैत सिद्धान्त को न छोड़ कर—कि ‘प्रज्ञति और पुरुष के पर’ इस ब्रह्म का परब्रह्मस्वर्गी पक्ष ही मूलभूत तत्त्व है और उसी से प्रहरितपुरुष भावि सब सुषिख्यी उन्मत्ति हुआ है— सांख्यशास्त्र के शेष सिद्धान्त हमें अप्राप्य नहीं है (वे सु. गा. भा २१३)। यही बात गीता के उपराजन के लिये मौजूदा वरिदार्थ होती है।

---

## विश्व की रचना और संहार

गुणा गुणेषु जायन्ते तत्त्वैव निविष्टन्ति च । ०

- महामारत शांति १ ५ २३

**इष्ट वात का विकेन्द्र हो सुना कि कापिलसाम्य के अनुसार सहार में जो हो सकता है मूलतः - प्रहृति और पुरुष - है उनका स्वरूप क्या है, और उन दोनों का उंयोग ही निमित्त कारण हो चहा है। तब पुरुष के सामने प्रहृति अपने गुणों का अध्य ऐसे विद्यया करती है और उस जाले से इम को अपना सुखारा किस प्रकार कर देना चाहिये। परन्तु अब वह इष्ट का सद्वीकरण नहीं किया गया कि प्रहृति अपने गुणों को (अपना देख सहार या इन्द्रेष्वर महाराष्ट्र के शहरों में प्रहृति की अव्याप्ति को) किस क्रम से पुरुष के सामने फैलाया करती है; और उसका स्वरूप निर प्रकार हुआ करता है। प्रहृति के इष्ट भ्यापार ही को विश्व की रचना और सहार कहते हैं; और इष्ट कियम का विकेन्द्र प्रलूब प्रकरण में किया जावगा। सास्यमत के अनुसार प्रहृति ने इष्ट क्षमता या सुहि को असुख्य पुरुषों के स्वरूप के लिये ही निर्माण किया है। 'दास्तोऽम मैं भीषणर्थ रामात् स्वामी ने मी प्रहृति से लारे ब्रह्माण्ड के निमाय होने का बहुत अच्छा वर्णन किया है। उसी वर्णन से विश्व की रचना और सहार यथा इष्ट प्रकरण में लिये गये हैं। इसी प्रकार, मातृदीवा के सामने और भाटों अप्यायों के आरम्भ में अर्जुन ने भी हृष्ण से जो यह प्रार्थना की है कि**

मात्पर्यौ हि भूताना सुरी विद्यारष्टो मया (गी ११ २) - भूती की उत्पादि और प्रक्षम (ये आपने) विकारपूर्वक (बहुत्यमा डलको) मैंने सुना। अब मुझे अपना विश्वरूप प्रकरण निवासकर इताप जीविये - उठाए पह बाल सप्त हा जाती है कि विश्व की रचना और सहार सर-भूत-विचार ही का एक मुख्य म्याय है। 'शन पह है दिसे पह जात मात्स हो जाती है कि सुहि के भनेक (जाना) म्याल पदार्थों में एक ही अम्बक्ष मूलद्रव्य है (गीता १८ २); और 'विजान' उत्ते कहते हैं दिसे पह मात्स हो कि एक ही मूम्भूत अम्बक्ष इम्ब से मिम्ब मिम्ब भनेक पदार्थ जिन प्रकार अस्या अस्या निर्मित हुए (गी ११ १); भार इन मैं न केवल दूर अल्प विचार ही का उपायेय होता है किन्तु ऐसे उपर जन और अप्यायम् विद्यया का भी उपायेय हो जाता है।'

साक्ष्यपरिमाण का और मुखियाव का हर ज्ञाह उपयोग किया है। “समिये सम्भव ह की गीता परंतु समय क्षेत्र यह समझ भैठ, कि गीता को साम्यवाचियों के ही सिद्धान्त प्राप्त है। इस भ्रम को हटाने के लिये ही सारायद्याम और गीता के उत्तराध्य सिद्धान्तों का ऐसा फिर से यहाँ अनुस्थित गया है। वेगन्तशूलों के माप्य म भीषणकराचार्य ने कहा है, कि उपनिषदों के इस अवैत सिद्धान्त का न छोड़ कर—कि प्रहृति और पुरुष के पर इति ज्ञान का परामर्शस्पति पक ही मूळभूत रूप है और उसी से प्रहृतिपुरुष आदि सब सुषिटि उत्पत्ति हुआ है— साम्यवाचम् के ज्ञेय सिद्धान्त हमें अव्याप्त नहीं है (व. सु. चा. मा २ १ ३)। यही जात गीता के उपपादन के विषय म भी जरिताम होती है।

---

कह जा सकता है कि यहाँ पर साम्य शब्द का प्रयोग 'शन' के व्यापक अर्थ ही में किया गया है। कपिलाचार्य ने सुहिते उत्सचिक्रम का वर्णन शास्त्रीय इहि से विशेष पद्धतिपूर्वक किया है और भगवान्नीता में भी विशेष करके उसी साम्यक्रम का स्वीकार किया गया है। उस कारण उसी का विवेचन उस प्रकरण में किया जायगा।

साम्यो का विद्वान्त है कि इन्द्रियों को भगोचर अर्थात् अव्यक्त सूक्ष्म और चार ओर अव्यन्दित मर तुप एक ही निरवयष मूलद्रव्य से सारी अव सुहिते उत्पन्न है है। यह विद्वान्त परिमी विश्व के अवानीन आधिमात्रिक शास्त्रों को प्राप्त है। प्राप्त ही क्यों अन तो उन्होंने यह मी निश्चित किया है कि इसी मूल द्रव्य की शक्ति का नमाण किंवद्द इतना भावा है और इस पूर्वापार क्रम को छोड़ अवानक या विरपक्ष कुछ भी निर्माण नहीं तुना है। उसी मत को उत्कान्तिकार्य या किंवद्द विद्वान्त कहत है। उन यह विद्वान्त परिमी राणे म गत शताब्दी म पहले पहले द्वे निकाल गया तब वहाँ भी गलती मन्त्र गई थी। उसाँ भर्तु पुस्तकों में वर्णन है कि उच्चर ने पञ्चमहामूर्ती को और अग्नमार्ग के प्रत्येक प्राणी भी जाति का मिस मिस समय पर पृथक् पृथक् आर अवन्त निमाण किया है और उसी मत को उत्कान्तिकार्य के पहले मन्त्र र्सार्दि शोण सत्य मानते थे। अतएव उन र्सार्दि भर्तु का उक्त विद्वान्त उक्तान्तिकार्य से असत्य ठहराया जान स्था तब उत्कान्तिकार्यों पर एव जार से भावान्त और कठाल होने स्था। ये क्याहा आवक्तु भी न्यूनाधिक होते ही रहते हैं। तथापि शास्त्रीय सत्य में अधिक शक्ति होने के कारण सूक्ष्मपृष्ठि के सम्बन्ध म सब विद्वानों का उत्कान्तिमत ही आवक्त अधिक मात्र होने लगा है। उस मत का सारांश यह है— सर्वमात्रा में पहले कुछ एक ही सूक्ष्मद्रव्य या। उसकी गति अपना नावका का परिणाम प्राप्ता गया। तब द्रव्य का अनिकाधिक सकाच होने लगा और एक्षुपीसमवेत सब प्रह त्रमण उत्पन्न हुए। अस्तु मैं ये शाप भग एका वही कर्त्ता है। एक्षुपी का भी सब का साधा पहले एक उच्च गोला था। परन्तु व्योंगों उक्ता उत्पन्नरा क्रम होती गा त्योंगा मूलद्रव्यों में भुज द्रव्य पताँ और कुछ पत दो गोपे। इस प्रकार एक्षुपी के ऊपर की दृश्या और पा तथा भक्ते नीचे का एक्षुपी का बड़ा गोला— ये तीन पताँ ज्ञ और उसक दृश्य न होना के मिलन अधिका लक्षण से सब सशीव तथा निष्ठाव गति उत्पन्न होत है। हाविन प्रभुति परिषट्टा ने तो यह प्रतीयान मिला है कि इसी तरह मनुष्य की छाँ बींग रास्ते कल भगवान्नी बत्मान भवत्वा में आ पर्वता है। परन्तु उन तर गाधिमानिकार्यों म भार अप्यामगार्दियों में इस जात पर इन मन्त्रों हैं कि मारी सुहिते मूल में भासा भूमि किसी मिस भी और अवन्त तथा का मानना चाहिये या नहीं। हेतु व सहज कुछ परिष्ट पह मान कर कि इह पदार्थों ग ही ज्ञन जामा और जाप्य की उपलि हो उत्पन्न का प्रत्यान करत है गर इसे गिर्द कान्द मर्हिग भग्या मजानियों का यह वर्षन है कि हम सुहिते ज्ञन जाए है ज्ञानी जामा का ज्ञान व्यापार का पा है। इसपैरे

भास्त्रीय के मतनुसार प्रहृति अपना खेल करने या भूषि का काम बदलन के सियं स्वरूप नहीं है जिन्होंने यह काम इन्हर की "च्छा" के मतनुसार करना पड़ता है (गी ५१)। परन्तु पहले अवधारणा या उक्ता है कि विद्यवाय ने प्रहृति को स्वरूप माना है। साम्यवास्त्र के अनुसार, प्रहृति का संसार भारम होने के लिये पुरुष का संयोग ही निमित्त-कारण मत हो चाना है। इस विषय में प्रहृति और विश्वी की अपेक्षा नहीं करती। सारथा का यह कथन है कि व्याही पुरुष और प्रहृति का संयोग होता है त्योही उसकी असाध अर्थी हो चाती है। इस प्रकार असन्द अनु मन्त्रे परे रीढ़ पड़ते हैं, और अमर्याः फूल आर फूल लगते हैं (म. म. घा २११ ७१ मन् १ ३)। उसी प्रकार प्रहृति की मूल साम्यावस्था नष्ट हो चाती है, और उसके गुण का विस्तार होने आवता है। इसके विपर्द केऽसहिता उपनिषद् और स्मृति मन्त्रों में प्रहृति को मत न मान कर परजाप का मूल माना है और परजाप से सुषिरि की उत्पत्ति होने के विषय में मिथ मिथ बण्ण किये गये हैं—“हिरण्यगमः समवत्तामे नृत्य चतुर पतिरेक आसीत्”—पहले हिरण्यगम (क. १ २१ १) और इस हिरण्यगम से अपवा सत्य से सब भूषि उत्पन्न हुए (क. १ ७२ १ ११)। अपवा पहले पानी उत्पन्न हुआ (क. १ ८२ ६ ते. आ १ १ १ ४; पे. उ. १ १ २) और छिर उससे भूषि हुए। “स पानी में एक अपवा उत्पन्न हुआ और उससे ब्रह्मा उत्पन्न हुआ ब्रह्मा ते अपवा उस मत अप्त रे ही साथ चतुर उत्पन्न हुआ (मन् १ ८-१३ घ. ३ १)। अपवा वही ब्रह्मा (पुरुष) भावे हिस्ते रे भूषि हो गया (२ १ ४ ३ मन् १ ३२)। अपवा पानी उत्पन्न होने के पहले ही पुरुष या (कट ४ ६) अपवा परजाप से तेज, पानी और दृष्टि (अप) पहली तीन तत्त्व उत्पन्न हुए, और पश्चात् उनके मिथम से सब पश्चाय भो (घ. ६ २-५)। यथापि उक्त ब्रह्मा मै बहुत मिथता है; तथापि ब्रह्मन्तस्मा (२ ३ १-१६) में अनितम निषय यह किया गया है कि भास्त्रमधी मूलजप्त रे ही भाकाय भावि पौत्रमहाभूत क्रमण उत्पन्न हुए हैं (ते उ. ३ १)। प्रहृति, महत् भावि तत्त्वों का भी उत्पन्न कर. (१ ११) मैत्रायणी (६ १) ऐताख्यतर (४ १ ६ ११) भावि उपनिषदों में लाल रीति से किया गया है। इसल दीप पैदेगा कि यथापि बेश्वरमतवाकासे प्रहृति को स्वतन्त्र न मानते ही तथावि उत् एक बार दुष्क ब्रह्म ही मै सावात्मक प्रहृतिरूप विसार हर्योन्नर होने आवता है तब, आगे भूषि के उत्पत्तिक्रम के उत्तरांश में उनका और सारमतवाक्यों का अन्त मै मेल ही गया भीर अची कारण महामारत मै कहा है कि “गिहास पुरुष अपशास्त्र भावि मै गे तु उठ जन भरा है वह उब साम्यो ले प्राप्त हुआ है” (घा. ३ १ ८ ३)। उच्चका यह मतन्त्र नहीं है कि बेश्वरियों ने अपवा पौत्रायणी न यह जन विप्रिय से प्राप्त किया है किन्तु पहाँ पर बदल उत्तमा ही अप लभित्रेत् इ कि भूषि के उत्पत्तिक्रम का शान सब एक-जा दीप पक्षा है। इन्होंने नहीं किन्तु यह भी

कह रह सकता है कि यहाँ पर साक्ष्य धूम का प्रयोग 'आन' के स्थापक अर्थ ही में किया गया है। ऋषिलक्ष्माय ने सुहि के उत्पत्तिक्रम का वर्णन शास्त्रीय हस्ति से विशेष पढ़तिपूछ किया है और भगवान्नीता में भी विशेष करके "सी साक्ष्यनम् का स्वीकार किया गया है। ऐसा कारण उसी का विवेचन एवं प्रकरण में किया जायगा।

साम्बोद्धा का विद्वान्त है कि इन्द्रिया का अगोचर अर्थात् अभ्युक्त सूक्ष्म और चारा भार अग्रविहृत मर तुप एक ही निरवयव मलक्ष्यम् से सारी स्वयंसुहि उत्पन्न हुँ है। यह विद्वान्त परिमी देशी के अर्थात् आधिर्मातिक शास्त्रों को प्राप्त है। प्राप्त ही बया अब तो उन्होंने यह भी निश्चित किया है कि "सी मूल द्रव्य की घटकी का नमस्ता विकात होता आया है और एवं पुष्टापार कम को छोड़ अपानक्त या निरपक्त दुष्क मी निमाण नहीं हुआ है।" उसी मत को उत्कान्तिकार्य या विकात मिश्वान्त बहते हैं। अब यह विद्वान्त परिमी राष्ट्री में गत वातावरी में पहुँचे पहुँचे हुए निश्वास गया तब वहाँ वही गम्भीरी मच गई थी। "साइ इम् पुष्टाको में वर्णन है कि इन्हरे ने पञ्चमहाभूतों को और चतुर्मार्ग के प्रकृति प्राणी की आत्म को मिश्व मिश्व नमय पर प्रकृति प्रकृति और स्वरूप निर्माण किया है और इसी मत के उत्कान्तिकार्य के पहले सब ईर्षाई स्वेग सत्य मानते थे। अतएव स्व ईर्षाई सर्व का उठ विद्वान्त उत्कान्तिकार्य से असत्य ठहराया जाने लगा। एवं उत्कान्तिकार्यों पर लग्न भार से आन्तर्मण और कराम होने लगा। ये कटाभ आन्तर्मण मी ग्यूनाशिक होते ही रहते हैं। तथापि शास्त्रीय सत्य में अधिक सुहि होने के कारण सूक्ष्मपृष्ठि के सम्बन्ध में सब विद्वानों को उत्कान्तिकर ही आन्तर्मण अधिक प्राप्त होने समा है। इस मत का सारांश यह है — सर्वमात्रम् मैं पहुँचे दुष्क एक ही सूक्ष्मद्रव्यम् या। उसकी गति अभ्युक्त उत्कान्तिकार्य का परिमाण छठता गया। तब द्रव्य एवं अधिकाधिक छोर्व होने लगा और पृथ्वीसमक्षे सब प्रह त्रमाद्य उत्पन्न हुए। अन्त में ये शेष अश भूता वही सर्व है। पृथ्वी का भी सप्त के साथ पहुँचे एक उत्तरा गोला था। परन्तु प्या स्वा उत्तरांश उत्पत्ता कम होती गई त्यो स्तो मलक्ष्यम् में से कुछ द्रव्य पहुँचे और कुछ फ्ल हो गये। इन प्रमाण दृष्टिकोण के ऊपर की हवा और पा। तथा सकं नीचे का पृथ्वी का बड़ा स्तर — सं तीन पार्श्व और और इसके ग्राव न हीनों के मिश्वन अध्यया संबोग से तब सर्वीय तथा निर्बोध सुहि उत्पन्न हुँ है। शार्किन प्रश्नति पण्डितों ने तो यह प्रतिपादन किया है कि "सी तरह मनुष्य भी ऊरे ईर्षा से उत्तर उत्तर अपनी कर्त्तव्यान अवस्था में भा पर्वत्त्वा है। परन्तु अब तक आधिमी/उत्कान्तिकार्यों में आर अभ्यालम्बान्तिकार्यों में इस बाल पर बद्रुत मत्तमेत है कि सारी सुहि के मूल में आत्मा ज्ञाते विद्वि मिश्व और स्वरूप तथा की मानना पाहिये जा नहीं।" ऐसे के साथ दुष्क परिवर्त वह मान कर कि अह गणर्णी से ही कहते आन्तर्मण और उत्तर्य की उत्पत्ति हुँ है बद्रुत का प्रतिपादन करते हैं। आर एवं के विवर काल सरीय अभ्यालम्बानिया का यह कफ्न है कि हमें सुहि का जी जान होता है वह हमारी आत्मा के पक्षीकरण व्यापार का फ़ल है इसकिये

भास्मा को एक स्कृतन्म तत्त्व मानना ही पर्याप्ता है। क्योंकि यह कहना — कि ये भास्मा बास्तविक का ज्ञाता है वह उसी सूधि का एक मार्ग है अपेक्षा उस सूधि ही से वह उत्तम हुआ है — उक्तस्थिति से ट्रीक ऐसा ही असुमास्त या भ्रामक प्रतीत होगा जैसे यह लक्षि कि हम स्वयं भागने ही कृद्दे पर विन सज्जे हैं। यही कारण है कि चाक्ष्यशास्त्र में प्रहृति और पुरुष ये दोनों स्कृतन्म तत्त्व माने गये हैं। चाराय पह है कि भाषिर्मौतिक सूधिज्ञान ज्ञाहे किनारे गया हो तथापि अब उक्त पश्चिमी देशों में भ्रूतेरे वह दो पर्मित यही प्रतिपादन किया करते हैं कि सूधि के सूक्ष्मत्व के स्वरूप वा विवेचन मिथ्या पद्धति ही से किया जाना चाहिये। परन्तु, यहि क्षेत्र उन्ना ही विचार किया जाय, कि एक वा प्रहृति ऐसे भागों सब व्यक्त पराय मिथ्य कम से अने हैं तो पात्रका को मात्रम ही ज्ञायगा कि पश्चिमी उल्कान्ति मर में और साक्ष्यशास्त्र में विनित प्रहृति वा काय-सम्बन्धी तस्वीर में को-ए किंशुप अन्तर नहीं है। क्योंकि “ए स्वयं मिठान्तु स दोना सहमत है कि अच्छक सूर्यम और एक ही पुरुषप्रहृति से जन्मता (सदम और स्तूल) विविव तथा व्यक्त सूधि निर्मित हुए हैं। परन्तु अब आषिर्मौतिक शास्त्रों के ज्ञान की गृह इडि ही ज्ञन के कारण साक्ष्यशास्त्रियों के सब रक्ष, तम उन सींगों गुणों के काले भावुकिक सूरियशास्त्र ने गति उप्पाता और आषिर्णशुकि को प्रवान गुण मान रखा है। यह एवं सब है कि सब रक्ष तम गुणों की न्यूनानिकता के परिमाण की अपेक्षा उपराता भव्यता आषिर्णशुकि की न्यूनपिकता की जात भाषिर्मौतिकशास्त्र की दृष्टि से सुरक्षापूर्वक सम्बन्ध में आ जाती है। तथापि गुणों के विकास अमृता गुणात्मक का बीं यह तत्त्व है कि गुण गुणोंपुरवत्तने (गी ३ ८) यह दोना और समान ही है। साक्ष्य शास्त्रज्ञान का कथन है कि किस तरह मार्गार पर्ये की बीरे बीरे गोस्ते हैं नरी तरह सुख रक्ष-तम की लाप्यादरत्या में रहनेशास्त्री प्रहृति की तह वर्ष बीरे बीरे एक्स्ट्रे उपली है तब वर्ष व्यक्त सूधि निर्मित होती है — एस कथन में भी उल्कान्तिकार म बल्लुत् इष्ट भेद नहीं है। तथापि यह में तारिख घमटिक से ज्ञान में रखने योग्य है कि “सार वर्ष के लमान गुणात्मकत्व का अनाश्र न करते हुए, गीता में भी भगवत् उपनिषद् भावि देविक प्रन्थों में भी अद्वैत देवात्म के साम ही जाप, ज्ञान विस्तीर्ण विरोध के गुणात्मकदात स्वीकार किया गया है।

अब इसलोकात्मकार्ये के प्रहृति के विवर में साक्ष्यशास्त्रार्थों का कथा कथन है। इत तम ही जी गुणात्मक भव्यता गुणवरिपामत्वा कहते हैं। यह स्वरूपने की जावश्यकता नहीं कि जो काम भारत्य करने के पहले मनुष्य द्वारे अपनी बुद्धि से निर्धित कर देता है भव्यता पहले काम करने की बुद्धि या इच्छा उसमें उत्पन्न हुआ करती है। उपनिषद् में जी इस प्रकार का कथन है कि भारत्य में मूल परमामा को यह बुद्धि पा “अथ हु” कि हमें भनेस हाना चाहिये — बहु स्वा प्रश्नप्रय — और इसके काव वृद्धि उत्पन्न हर (गा १२३ है २६)।

कहते हैं। भहकार मुद्दि ही का एक माग है। न्युलिये पहले यह तक मुद्दि न होगी, तब तक भहकार उत्पन्न हो ही नहीं सकता। अतएव सास्था ने यह निश्चित किया है कि भहकार यह दूरा - अर्थात् मुद्दि के बाट का - गुण है। अब यह क्षमत्वे की आवश्यकता नहीं कि सांख्यिक राज्य और तामस भेद से मुद्दि के समान के भहकार भी अनन्त प्रभाव हो जाते हैं। इसी तरह उनके बाट के गुणों के भी प्रभाव के विषाव अनन्त में हैं। अथवा यह कहिये कि व्यक्त मुद्दि में प्रभाव बलु के न्यौ प्रकार अनन्त सांख्यिक राज्य और तामस भी दूना करते हैं और ऐसी सिद्धान्त की सत्य करके गीता में गुणवत्य विमाग और भद्रवत्य विमाग स्वत्वात् गये हैं (गी अ १४ और १७)।

व्यवसायालिङ्ग मुद्दि की भी भहकार दीना व्यक्त गुण वर्ष मूल साम्बाद्यस्थ की प्रहृति में उत्पन्न ही जाते हैं तब प्रहृति की एकता मात्र हो जाती है और उससे अनेक परायन बनने जाते हैं। तथापि उसकी सरमता अब तक काबम रहती है। अपार्द यह कहना असुध न होगा कि अब नैयायिका के सरम परमाणुओं का आरम्भ होता है। स्याहि भहकार उत्पन्न होने के पहले प्रहृति अवर्गित और निरक्षय भी। बल्कुत देखन से तो प्रीत होता है कि निरी मुद्दि और निया भहकार के बीच गुण है। अतएव, उपसुक्त सिद्धान्तों से यह मतस्थ नहीं देना चाहिये कि (मुद्दि और भहकार) प्रहृति के प्रक्ष्य से एक रहते हैं। वास्तव में यह यह है कि वर्ष मूल और भवयवरहित एक ही प्रहृति में इन गुणों का प्रायुर्मात्र ही जाता है तब उसी को विविध और भवयक्तव्यहित व्याप्ति एक एक प्राप्त हो जाता है। इस प्रभाव वर्ष भहकार से मूलप्रहृति में निय मिस परायन बनने की शक्ति भा जाती है तब आगे उसकी मुद्दि की वा शारणी हो जाती है। एक - पट, मनुष्य भाड़ि सेन्ट्रिय प्राणियों की युद्धि और दूसरी - निरिन्द्रिय पश्चायों की सुष्ठुपि। यहाँ इन्द्रिय शक्ति से बेकछ निरियवान् प्राणियों की इन्द्रियों की शक्ति "तना ही अप स्ना चाहिये। इसका कारण पह है कि सेन्ट्रिय प्राणियों के वर्ष तेह का रक्षावैश वह जाती निरिन्द्रिय सुष्ठुपि में होता है; भार न प्राणियों का भारमा पुराय नामन भन्य वग म शामिस निया जाता है; इसी विषे शारायदात्र म सन्तिय सुष्ठुपि का विचार करन तमय वह और भारमा का दाट वर्ष इन्द्रिया का ही विचार निया गया है। इस वर्ष में ऐन्द्रिय और निरिन्द्रिय पश्चायों के निरिन्द्रिय किसी नीमर पश्चाय का होना सम्भव नहीं। इसनिय वहन की शारायदाता नहीं कि भहकार ने वा त अभिस शास्त्राएं निरु दी नहीं सकती। इनमें निरिन्द्रिय पश्चायों की भावसा इन्द्रियगुणि भढ़ते हैं। इत विष इन्द्रिय सुष्ठुपि का लार्य रस ( अपार्द सम्बन्ध के उन्कर स हानगार्म ) वहन ह और निरिन्द्रिय सुष्ठुपि का तामन ( व्यप त तमाद्युग के उन्नर्वं न हानगार्म ) वहन ह। शाराय वह ह विष वर्ष भहकार भारती शक्ति के विन विष पश्चाय उत्पन्न वर्षे लगता है तब

नाम भी है। मात्रम् होता है कि इनमें से 'महत्' (पुर्विंग कर्ता का प्रकाशन महान् - वा ) नाम "सु गुण की भेदता का कारण दिया गया होगा अथवा इससिये दिया गया होगा कि अब प्रहृष्टि जहाँने आसी है। प्रहृष्टि में पहले उत्पन्न होनेवाला महान् अध्या तुष्टि-नुस उत्पन्न-रक्तम् के मिलाग ही का परिणाम है। इससिये प्रहृष्टि की वह दुदि यज्ञपि तेजसे म एक ही प्रतीत होती हो तथापि यह आगे का प्रकार की हो सकती है। क्योंकि ये गुण - सत्य रब, और सम - प्रथम इष्टि से यज्ञपि तीन हैं तथापि विचार इष्टि से प्रकार हो सकता है, कि नक्क मिथ्या में प्रत्येक गुण का परिणाम अनन्त रीति से मिथ्या मिथ्या बनता है, और, इसी छिपे इन तीनों में से एक प्रत्येक गुण के अनन्त मिथ्या परिणाम से उत्पन्न होनेवाली तुष्टि के प्रकार मी तितात अनन्त हो सकते हैं। अध्यक्ष प्रहृष्टि से निर्मित होनेवाली यह तुष्टि मी प्रहृष्टि के ही सदृश होती है। परन्तु यिन्हें प्रकरण में 'व्यक्त और अव्यक्त' तथा 'सूक्ष्म का ये अर्थ बदलाया गया है उसके अनुसार मह तुष्टि प्रहृष्टि के समान सूक्ष्म होने पर मी उसके उमान अध्यक्ष नहीं है - मनुष्य का इसका जन हो सकता है। भतएव अब यह सिद्ध हो जुता कि इस तुष्टि का समावेश स्वरूप में ( अयात् मनुष्य को गोचर होनेवासे पातालों में ) होता है, और सत्रय शास्त्र म न केवल तुष्टि किन्तु तुष्टि के आगे प्रहृष्टि के दब विचार मी व्यक्त ही माने जाते हैं। एक मूल प्रहृष्टि के दिवा काँई मी भन्य तत्त्व अध्यक्ष नहीं है।

इन प्रकार यज्ञपि अध्यक्ष प्रहृष्टि म व्यक्त अव्यक्तायामिक तुष्टि उत्पन्न हो जाती है तथापि प्रहृष्टि अब तर एक ही की रहती है। इस एकता का मैत्रा होना और भृत्यान्यन या विविष्टत्व का उन्नप्र होता ही प्रथमत्व बहस्त्रता है। उड़ा हरणाय तार का उमीन पर गिरना और उसकी अव्यक्त अभ्या लोगी छोटी गोमित्रों का जना। तुष्टि के बार बद तक यह दृष्टकरा या विविभाता उत्पन्न न हो तब तक प्रहृष्टि के अनेक पात्र ही व्याना सम्बद्ध नहीं। तुष्टि से जागे उत्पन्न होनेवाली दृष्टकरा के गुण का ही अहकार बहुते हैं। क्योंकि दृष्टकरा 'म-ह शब्दों से ही प्रथम व्यक्त ही जाती है नार 'मन का अर्थ ही अह-कार अथवा अह-आह ( म-मैं ) करना है। प्रहृष्टि म उत्पन्न होनेवासे अहकार के "सु गुण को यदि भाष चाह तो अस्त्रय बैठ नपीन रखने भाष का जन न होनेवाले अहकार कह सकते हैं। परन्तु स्वरूप यह नि भन्यन म प्रकट होनेवाला अहकार और वह अहकार कि दिलके कारण पर पायर पानी नववा मिथ्या मिथ्या मृत्ति परमाणु एक ही प्रहृष्टि से उत्पन्न होते हैं - य जना एक ही जानिते हैं। मैत्र कारण जुना ही है नि परवर मै भन्य न हान ए कारण उम अह का जन नहीं होता भीर मौह न हान के कारण 'म-ह वह कर स्वामिमानप्रवक्त वह अपनी दृष्टकरा किसी पर प्रकट नहीं कर सकता। ताराय पह है कि दूसरा से दृष्टकरा का - अर्थात् अमिमान या अहकार का - तत्त्व तर व्यक्त समान ही है। "स भहकार ही को तैक्त अमिमान भूतादि भीर भातु भी

सचि ह तथापि हम लेखते हैं कि गधे का मिथ्या, दृष्ट का मिठातु गुड़ का मिश्रण और शहर का मिनास मिथ मिथ होता है; तथा इस प्रकार उत्तु एक ही 'मिठास' के अनेक भेद हो सकते हैं। जिति मिथ मिथ गुणों के मिथ मिथ मिथगुणों पर विचार किया जाय तो यह गुणवैचित्र्य अनन्त प्रकार से अनन्त हो सकता है। परन्तु यहाँ जो हो पश्चातों के मूलगुण पौच्छ से कमी अधिक हो नहीं सकते। क्योंकि इनियों क्षेत्र पौच्छ हैं और प्रत्येक भेद एक ही एक गुण का बोध हुआ करता है। "सचिये ताप्यो" ने यह निश्चित किया है कि यद्यपि लेकस शब्दगुण के अधिकार क्षेत्र स्वर्णगुण के दृष्ट दृष्ट यानी दूसरे गुणों के मिथपरहित प्राप्त हम दील न पहुँचे हों तथापि इसमें सन्दर्भ नहीं की मूलगृहति म निरा शब्द निरा स्वर्ण निरा रूप निरा रुप आर निरा गन्ध है। अर्थात् शब्दतन्मात्र स्वर्णतन्मात्र रूपतन्मात्र, रुपतन्मात्र और गन्धतन्मात्र ही हैं। अथात् मूलगृहति के ये ही पौच्छ मिथ मिथ सूक्ष्म तन्मात्रिक्षर अधिकार इस नि सन्देह है। आगे "स तात क्ष विचार किया गया है कि पञ्चतन्मात्राभौं अथवा उनसे उत्पन्न होनेवाले पञ्चमहाभूतों के सामन्य में उपनिषद्भूतों का कफ्फन रखा है।

इस प्रकार निरिन्द्रिय-सूहि का विचार करके यह निश्चित किया गया है कि उसमें पौच्छ ही मछलीत्व है। और जब हम लेनियों सूहि पर दृष्ट बाजते हैं तब भी यही प्रतीत होता है कि पौच्छ लेनेनियों पौच्छ लेनेनियों और मन इन गायत्र लेनियों की अपेक्षा अधिक लेनियों लिती के मी नहीं है। स्वृक्ष ऐह में हायपैर आदि लेनियों यद्यपि स्वृक्ष प्रतीत होती है तथापि इनमें से प्रत्येक की वर्त में किसी मूळ दूसरे तत्त्व का अक्षित्व माना किया लेनियों की मिथता का याचोचित करते मान्दूम नहीं होता। वे कहते हैं कि मूळ के अस्तित्व लेटे और गायत्कार लेनुमों में किसी 'तत्त्वा ही एक' लेनिय होती है और इच तत्त्वा से अन्य लेनियों लेनमध्य उत्पन्न होती है। उद्याहरणार्थ मूळकन्तु की तत्त्वा से प्राप्त असंयोग होने पर ऑपर उत्पन्न हुई लेनिय होती है और इच तत्त्वा से अन्य लेनियों लेनमध्य उत्पन्न होती है। उद्याहरणार्थ मूळकन्तु की तत्त्वा से प्राप्त असंयोग होने पर ऑपर उत्पन्न हुई लेनिय होती है और इच तत्त्वा से अन्य लेनियों लेनमध्य उत्पन्न होती है। लेनेनियों का प्राप्तुमूर्त्ति होता है - सत्स्यों की भी प्राप्त है। महामारत (शा २१६ १६) में साम्यप्रदियों के अनुसार लेनियों के प्राप्तुमूर्त्ति का वर्णन इस प्रकार पाया जाता है:-

शब्दरामात् भोत्रमस्य जापम भावितात्यमः।

स्वप्नरामात् तत्त्वा चक्षुः ज्ञात ब्रह्मादिपृक्षया॥

अर्थात् प्राप्तियों के आला को जब मुनने की माफना हुई तत्त्व उत्पन्न उत्पन्न; रूप पहचानने की इच्छा से ऑपर दृष्टन भी "चक्षा से नाक उत्पन्न हुई।" परन्तु सारचो का यह कफ्फन है कि यद्यपि तत्त्वा का प्राप्तुमूर्त्ति पहुँचे होता हो तथापि मूलगृहति भी ही यिति मिथ मिथ लेनियों के उत्पन्न होने की शील न हो तो सभी तत्त्वों का अस्तित्व छाँ भीता की तत्त्वा पर सर्वप्रकाश का जाहे किया

दमी म एक बार तमागुण का उत्पन्न हो कर एक और पैंच शानेन्द्रियों पर्वि कर्मे शिर्यों भार मत मिष्ठ कर नित्य-सृष्टि की मूलभूत व्यारह नित्रियों उत्पन्न होती है और दूसरी भार, तमागुण का उत्पन्न हो कर उसमें निरिनित्य-सृष्टि के मूलभूत पैंच तमाक्षुरय उत्पन्न होते हैं। परन्तु प्रहृति की सामता भव तद वायम रही है असृष्टिये भक्त्वार से उत्पन्न होनेवाले ये साहृदय तत्त्व में शुभ ही रहते हैं।<sup>१०</sup>

शुभ व्यग्र रूप क्षेत्र रम की उन्मादार्थे — अथात् मित्र मिथुन हुएं प्रत्यक्ष गुण के जिस जित भवि शुभ मृग्यवृप — निरिनित्य सृष्टि के मूलग्राह हैं और मन सहित व्यारह इन्द्रियों भन्त्रिय सृष्टि की भीद है। ऐसे विषय की सार्वयाप्ति की उपर्युक्ति दिचार फल योग्य है कि निरिनित्य सृष्टि के मूलवृत्त्य (कल्माच) पौच ही क्या और अनित्य सृष्टि के मूलवृत्त्य व्यारह ही क्यों जाने जात है। अथात् जीवन सृष्टियाँ सृजने सृष्टि के परायों के तीन भेद — फल उब और कायुम्पी — दिये हैं। परन्तु सम्बन्धमालाराय का वर्णनकरण इन्द्रुण मिलता है। उनका कथन है कि मनुष्य का सृष्टि व सत्र परायों का शन केवल पौच शानेन्द्रियों में हआ करना है; और उन ज्ञाननित्यों की रक्षना कुठ ऐसी विस्तुता है कि एक इन्द्रिय का विष एक ही गुण का ज्ञान दुभा करना है। और वे सुखन्त नहीं मालम होती और न कान न गीणना ही होता है; नाक न सफ़ और काँचे रुग्न का भंड भी नहीं मालम होता। शुभ व्यग्र प्रवार शैंच ज्ञाननित्यों भवार उनके पौच विषय — शुभ व्यग्र रूप रम और राय — मिथित है तब यह प्रवर्त है कि गृष्टि के सत्र गुण भी पौच से अधिक नहीं जाने जा सकता। वर्णाति यहि इस उत्पन्नों में यह मान भी है कि पौच से अधिक ही तो कहना नहीं होगा कि उनका ज्ञान के विष्ये हमारे पात्र का साधन या उपाय नहीं है। इन पात्र गुणों में स प्रवेश के भवेत् भेद हा तरह है। उत्तराहणाप यत्त्वि 'शुभ गुण एक ही है तथापि उपर्युक्त गुण मोरा वक्त भवा परा भवा कामन, भवता गायनशास्त्र व भनुमार दिवार व्यवहार पर्याप्त भावि; और व्याग्रलग्नाशास्त्र के भनुमार वक्त तात्पर्य भावन भविति भवेत् भवा तरह है। इनी तरह यत्त्वि 'शुभ एक ही गुण है तथापि उपर्युक्त मी भवेत् भवा तरह है उपर्युक्त भवा काय नीन वीक्ष्य होय भावि। इसी तरह यत्त्वि 'रुप पा रवि त्त ही गुण है तथापि उपर्युक्त भवा मीन तीक्ष्य वक्त भवा भवा नहीं तरह हा भवा है। और मित्र यत्त्वि एक विभिन्न

व्यग्र म एक व्यग्र भवत्वी भवा म एक वक्त भवा त भवन ह —

The Pitrival mudras first as first known to us were 8 in number and by the principle of division of human knowledge into 4 main branches 4 main Pitr Sections were organized under each of the other major 4 heads / Then as per benefits of the organs and use of the motto etc creation was made of the characters different from those 4 for members of the ten sages.

साम्यमतानुसार प्रहृति से प्रादुर्भूत होनेवाले तत्त्वों का इस विज्ञा कल्प अब तक किया गया है निम्न विवित कथाएँ से अधिक स्पष्ट हो जायगा ।

### प्रादुर्भूत का वशात्तर्स

पुरुष → ( दोनों स्वयंभू और अनादि ) ← प्रकृति ( भव्यक्त और सद्गम )  
( निर्गुण पर्यायशास्त्र - ३, ब्रह्म १ ) । ( सच्च-रज तमोगुणी पर्यायशास्त्र - प्रवर्ण, अम्बक्त माया, प्रसव भास्मिकी भावि )

महात् अथवा तुष्टि ( अम्बक्त और सद्गम )  
( पर्यायशास्त्र - भास्मुरी मति शन, स्वाति १ )

भावकार ( स्पृक्त और सूक्ष्म )  
( पर्यायशास्त्र - अभिमान तैवस आदि )

( शास्त्रिक सुष्ठुपि अर्थात् स्पृक्त और सूक्ष्म इन्द्रियों ) ( तामस भयात् निरिनिय सुष्ठुपि )

पौच्छ तुष्टिगिरियों पौच्छ कर्मेन्द्रियों मम पञ्चतत्त्वमात्रार्थं ( एस्म )

विहोत्र या पञ्चमहात्म ( स्फूर्त )

सूक्ष्म पञ्चमहात्म और पुरुष को मिला कर कुछ तत्त्वों की सर्वस्या पर्याप्ति है । इसमें से महात् अथवा तुष्टि के बाड़ के सर्वस्य गुण मूल्यवृहति के विवार है । किन्तु उनमें भी यह मत है कि सूक्ष्मत मात्रार्थं और पौच्छ सूक्ष्म महात्म ब्रह्मास्पद विवार है और तुष्टि भावकार सुष्ठा निन्द्रियों के बड़ा शक्ति या गुण है । ये दोनों दत्त्व स्पृक्त हैं और सूख्यवृहति अम्बक्त है । साम्यवा ने इन तामस तत्त्वों में से आञ्चल्यतत्त्व ही मैं धिक् और काढ़ को मी सम्मिलित कर दिया है । वे प्राण को मिला तत्त्व नहीं मानते । किन्तु वह सब इन्द्रियों के आपातर आरम्भ होने आवेदि हैं तब उसी को वे प्राण कहते हैं ( शा का २९ ) । परन्तु ऐश्वर्यियों को वह मत मान्य नहीं है । उन्होंने प्राण को स्वतन्त्र तत्त्व माना है ( वे दृ. २ ४ ९ ) । यह पहले ही अवधिवा या चूना है कि ऐश्वर्यी ओग प्रहृति और पुरुष को स्वयम्भू और स्वतन्त्र नहीं मानते, ऐसा कि साम्यमतानुशास्त्री मानते हैं किन्तु उत्तरका कथन है कि दोनों ( प्रहृति और पुरुष ) एक ही परमेश्वर की विभूतियों हैं । साम्य और ऐश्वर्य के उठ में से खोड़ कर दोष स्वरूपत्वात् नोनी की पात्री का प्राण है । उग्राहणार्थ महानारत में अनुगीत्य में 'त्रिष्टुत्य अथवा 'त्रिसक्त' का जो शे बार वर्णन किया गया है ( मा अथ-१ - ३ और ४३ १२-१ ) एह साम्यतत्त्वों के अनुसार ही है ।

अवधिवास्तवप्रमत्ता तुष्टिस्तव्यत्वमप्यो महात् ।

महाभावकारविवरः इन्द्रियपात्तरकोत्तरः ॥

भाषणत संयोग होता रह तो मी उन्हें भी देंगे — भारते भी शहीर के एक विशिष्ट भाग ही म — केसे प्राप्त हो सकती है ? व्याख्या का सिद्धान्त सिर्फ यह भाग्यव प्रकृति करता है कि ही प्राणिया — एक चमुखाल्म भार दूसरा चमुराहित — के निर्मित होने पर, “स सहित क्षेत्र में वासुदाम अद्वितीय समय तक यिक सकता है और दूसरा शीघ्र ही नह हो जाता है। परम्पुर विभिन्नी भाषिभातिक मुद्रिशास्त्रम् “स बात का मुझारम नही बदल सकते कि नेत भाड़ि मिल मिल निर्दियों की उत्पत्ति पहल तु दी ही रहे। वास्त्वका का मत यह है कि ये सब इनिर्दियों किमी एक ही मह निरिय से अभ्यु उत्पन्न नही होती। किन्तु जब अहकार के कारण प्रहृति में विविधता आरम्भ होने लगती है, तब पहल उस अहकार से ( पौन दूधम कमेनिर्दियों पौन दूधम छानेनिर्दियों और मन न यह बात का मिला था ) यारह मिल मिल गुण ( शक्ति ) सब के सब एक साथ ( युमपत् ) स्वरूप हो जर मल्लमहति में ही उत्पन्न होते है और फिर “सके भागे लूळ-सेनिरिय सहित उत्पन्न दुना बरती है। न यारह निर्दियों में मन के बारे में पहल ही छठी प्रकरण में बदल दिया गया है कि वह शनेनिर्दियों के साथ सकारात्मक होता है अर्थात् शनेनिर्दियों से प्रहृण किये गये सखारा की व्यवस्था करके कह उन्हें दुर्दि के सामने निर्णयार्थक उपस्थित बरता है और कमेनिर्दियों के साथ वह द्यावरणात्मक होता है। अर्थात् उसे दुर्दि के निषण को कमेनिर्दियों के द्वारा अभ्यु में जाना पड़ता है। इस प्रकार वह उभयदिव अर्थात् निरियमत्र के अनुसार मिल मिल प्रकार के काम करनेवाले होता है। उपनिषदों में निरियों को ही ‘ग्राण कहा है और सास्यों के महानुषार उपनिषदों का मी वही मत है कि ये ग्राण पञ्चमहाभूतात्मक नही है किन्तु परमात्मा से शुष्क उत्पन्न हुए हैं ( मु० २ १ ३ ) न ग्राण की — अथवा निरियों की — सरया उपनिषदों में कही सात कही इस स्थारह बारह और कही कही तेरह बतार्थ गए हैं। परम्पुर देशस्त्रमा के आवार से भीषणराजार्थ ने निर्मित किया है कि उपनिषदों के सब वाक्यों की एकवर्पता बरते पर निर्दियों की सुस्थया यारह ही मिल होती है ( वे सु या मा २ ४ ५ )। और यहाँ में तो “स बात का सराए उज्जेष किया गया है निरियार्थ शब्द स ( गी १३ ६ ) — अथवा इनिर्दियों से और एक अर्थात् स्थारह है। अब “स विषय पर सार्व और देशन्त गोनों में काम मतभेद नही रहा।

साक्ष्यों के निर्मित किये हुए मत का सारांश यह है — सात्त्विक अहकार से सेनिरिय सहिती की मस्तूत स्थारह निरियार्थकियों ( गुण ) उत्पन्न होती है और वास्तव अहकार से निरिरिय सहित के मस्तूत पौन दूधमात्मकम् निर्मित होते हैं। इतने काम पञ्चत-मान्डल्यों से उत्पन्न लूळ पञ्चमहाभूत ( किन्तु विषेष भी कहते हैं ) और लूळ निरिरिय परापर बनते रहते हैं; तथा वयावरम्भ न पड़ाया का सर्वोत्तम स्थारह इनिर्दियों के साथ हो जाने पर ऐनिरिय सहित ज्ञ जाती है।

और इसी व्याय के अनुसार अहकार तथा पञ्चतन्मात्राओं का समावेश भी 'प्रहृति-विहृति' वर्ग ही में किया जाता है। जो तत्त्व भवता गुण स्वर्य वृत्ते से उत्पन्न (विहृति) हो और आगे वही स्वर्य अन्य तत्त्वों का मूलभूत (प्रहृति) हो जाते रहे 'प्रहृति-विहृति' कहते हैं। इस वग के सात तत्त्व ये हैं :- महात् अहकार और पञ्चतन्मात्राएँ। (१) परन्तु पौच्छ ज्ञानेनिर्दियों पौच्छ कर्मेनिर्दियों, मन और सूक्ष्मपद्म महाभूत अन सोम्य तत्त्वों से फिर और अन्य तत्त्वों की उत्पत्ति नहीं हुई। किन्तु ये स्वर्य वृत्ते तत्त्वों से प्राप्तभूत हुए हैं। अतएव इन सोम्य तत्त्वों को 'प्रहृति-विहृति' न कह कर केवल 'विहृति' अथवा विकार कहते हैं। (२) 'पुरुष' न प्रहृति है भार न विहृति। वह स्वतन्त्र और उत्तरासीन ब्रह्म है। इस्मरहस्य ने इस प्रकार वर्णकरण करके फिर उसका स्पष्टीकरण यो किया है -

मूलप्रहृतिरविहृतिः महारात्या। प्रहृतिविहृतयः सप्त।

शोदशाकस्तु विकारो न प्रहृतिर्विहृतिः पुरुषः ॥

**अर्थात्** यह मूलप्रहृति अविहृति है - अर्थात् विसी का भी विकार नहीं है महाराति तात (अर्थात् महात् अहकार और पञ्चतन्मात्राएँ) तत्त्व प्रहृति-विहृति है और मनसुहित एवरह इनिर्दियों तथा सूक्ष्म पञ्चमहाभूत मिल्लर तोम्य तत्त्वों को केवल विहृति अथवा विकार कहते हैं। पुरुष न प्रहृति है न विहृति (चट्टा ३)। आगे 'नहीं पञ्चीत तत्त्वों के और तीन में विहृति गये हैं - अम्बक, अफक और छ। इनमें से अबक पक मूलप्रहृति ही अम्बक है प्रहृति से उत्पन्न हुए तेर्तुष्ट तत्त्व अफक है और पुरुष 'छ' है। ये हुए लास्या के वर्गीकरण के मेड। पुरुष स्मृति, महाम्यरत आठि वैतिकमार्गीय प्रन्या म प्रायः इन्हीं पञ्चीत तत्त्वों का उत्तेजन पाया जाता है (मैन्य ६ १ मनु. २ ४ १ देखो)। परन्तु, उपनिषदों मैं वर्णन किया गया है कि ये तत्त्व तत्त्व पञ्चम से उत्पन्न हुए हैं और वही 'नन्द' विहृत विहृत या वर्गीकरण भी नहीं किया गया है। उपनिषदों के बाबू को प्रन्य हुए हैं उनमें इनका वर्गीकरण किया हुआ दिय पड़ता है, परन्तु वह उपर्युक्त लास्यों के वर्गीकरण से मिल है। कुछ तत्त्व पञ्चीत हैं। इनमें से सौम्य तत्त्व तो लास्यमत के अनुसार ही विकार, अर्थात् दूसर तत्त्वों से उत्पन्न हुए हैं। इति कारण उन्हें प्रहृति मैं अपना मूलभूत पदाया के क्यों मैं सम्भिक्षित नहीं कर सकते। अब ये तत्त्व होप रहे - १ पुरुष २ प्रहृति ३ - महात् और पौच्छ तम्मात्राएँ। इनमें ये पुरुष और प्रहृति को लेह जात तत्त्वों को लास्यों ने प्रहृति-विहृति कहा है। परन्तु वेगमत्तायाम से प्रहृति की स्वतन्त्र न मान कर यह लिङ्गात्म लिङ्गित किया है कि पुरुष और प्रहृति ऐसा पक ही परमेश्वर से उत्पन्न होते हैं। इस लिङ्गात्म को मान करने से सास्यों के 'मह-प्रहृति' और 'प्रहृति-विहृति' में को स्मृति रखन दी नहीं रह जाता। क्षाकि प्रहृति भी परमेश्वर से उत्पन्न होने के कारण मूल नहीं कही जा

महामृतविशालम् विशेषप्रतिशालयाद् ।  
 सदापर्वतः सदापुष्पः शुभाशुभकलोदपा ॥  
 आजीव्यः मर्दमूलानां ब्रह्मपूर्वः सनातनः ।  
 एव चित्ता च भित्ता च तत्त्वद्वानासिमा तुच्छः ॥  
 हित्वा सहायतापाद् पाशान् पूर्णपुण्ड्रमरोदयाद् ।  
 निर्मलो निरहकारो मुच्यते साम्र तंशाय ॥

‘भगवन्’ “अम्बुक (प्रहृति) विचका वीज है, बुद्धि (महान्) विचका रुदा या पिंड है भट्टकार विचका प्रथान पहचन है मन और उस इन्द्रियों विचकी अन्तर्गत व्याप्ति या लोहर है (तुम्ह) महाभूत (पञ्चतत्त्वानार्थे) विचकी वही वही धाराएँ हैं और विशेष भवान् रूप महामूल विचकी खेड़ी छोड़ी ठहनियाँ हैं “सी फ्लार सम पात्र, पुण्य और शुभाशुभम् फूल घारण बरनेवाला समस्त प्राणिमात्र के लिये आधारभूत यह उनातन रूहद ब्रह्मपूर्व है। शनी पुरुष को चाहिये कि वह उसे उच्च शब्दनामी तत्त्वावार से कार कर दूक दूक कर जाके रूप बढ़ा और मूसु उत्पन्न बरनेवाले तंत्रमय पाण्डा को नष्ट कर और ममत्वबुद्धि तथा भट्टकार को खाग कर दे; वह निर्विशेष मुक्त होता है।” संभाव में यही ब्रह्मपूर्व प्रहृति भगवना मापा का ‘ऐसा ‘आणा या ‘पाणारा’ है। अस्पत्त प्राचीन काल ही से – कल्याणाङ्क ही से – इसे ‘तुष्ट’ कहने की शीति पह गा है और उपनिषद में भी उसको उनातन भवत्पूर्व कहा दिया गया है (कठ. ६ १)। परन्तु वेदों में उसका ऐसा पहरी बाण किया गया है, कि उस शृणु का मूल (परतत्त्व) ऊपर है और शायार्याँ (इस्य चृष्टि का फैलाव) नीचे हैं। इति ऐसिक उन्नत की ओर साम्बद्धी के तत्त्वों का फिल्म फर गीता में अस्पत्त तुष्ट का उपन दिया गया है। इसका स्पष्टीकरण हमन गीता के १५, १-२ क्षेत्रों की अफनी दीक्षा में कर दिया है।

उत्तर ब्राह्मण ग्रन्थ पञ्चीत तत्त्वा का वर्णनक्रिया लोक्य और ब्राह्मणी मित्र मित्रीनि से किया जात है। अतएव यहाँ पर उस वर्णक्रिया के विवर में कुछ विचार चाहिये। ताम्बूदी का यह कथन है कि इन पञ्चीत तत्त्वों के बार बग हात हैं – भगवन् मूलपूर्वि प्रहृति विहृति विहृति और न प्रहृति। (१) प्रहृति-तत्त्व विचकी दूनर म उपर नहीं रहा है अतएव उस ‘मूलपूर्वि पहले है। (२) मूलपूर्वि से जाम करने पर वर इस दूनरी लीनी पर आत है तब ‘महान् तत्त्व का पता लगता है। यदि महान् तत्त्व प्रहृति से उपर नु-ना है इकमिये एव प्रहृति भी विहृति या विचार है और इसके बाद महान् तत्त्व से भट्टकार विचका है अनेक ‘भट्टान् भट्टकार’ की प्रहृति भगवा मूल है। इन प्रकार महान् भगवा बुद्धि एक भारत भट्टकार की प्रहृति या मूल है और दूनरी भौति से वह मूलपूर्वि की विहृति भगवा विचार है इसीमिये ताम्बूदी ने उन ‘प्रहृति विहृति नामक बग में रखा;

( १३ ६ ) में वर्गीकरण के भगवान् में न पढ़ कर तस्यों के पर्वीस तस्यों का वर्णन आया कान्त्या पृष्ठ पृष्ठ किया गया है और इससे यह चात स्पष्ट हो जाती है कि वाहे वर्गीकरण में कुछ मिलता हो तथापि तस्यों की सम्या डोना स्थाना परक्षाकर ही है।

### पर्वीस मूलतत्त्वों का वर्गीकरण

साम्या का वर्गीकरण।	तत्त्व।	विद्यनित्या का वर्गीकरण।	गीता का वर्गीकरण
न प्रहृति न विहृति	१ पुरुष	परब्रह्म का भेष स्वरूप	परा प्रहृति
मूलप्रहृति	१ प्रहृति		अपरा प्रहृति

७ प्रहृति विहृति	१ महान्	{ परब्रह्म का वनिष्ठ स्वरूप	{ अपरा प्रहृति
	१ भक्तिकार		आठ भक्ति
११ विभार	६ तन्मालार्थ	{ (भाठ भक्ति का)	आठ भक्ति
	१ मन	{ विकार होने के कारण	
११ विभार	६ शुद्धीनिधियों	{ इन तात्त्वों तत्त्वों की	{ विकार होने के कारण
	६ कर्मेनिधियों	{ विकार होने के कारण	गीता में उन फलों
	६ महामन	{ विकार होने के कारण	तत्त्वों की गतिजा मूल-
		{ नहीं मानते।	तत्त्वों में नहीं की गई है।

—  
२६

पहाँ उक्त इस चरण का विवेचन हो तुम कि पहले मूलतात्माकात्पत्ता में इनेवाची एक ही अवयवरहित वह प्रहृतिम् व्यक्तमूर्ति उत्पत्ति करने की अस्तित्वेत् 'तुद्धि' ऐसे प्रकृति तुर्वे विर उत्पत्ति भक्तिकार से अवयवरहित विविषणा ऐसे उत्पत्ती और इसके बाद गुलो से गुण इस गुणपरिणामस्थान के अनुसार एक और चार्तिक (अर्थात् लेनिय) सृष्टि की मूलभूत व्यापर इनिधियों संपर्क दूसरी और तात्त्व (भावात् निरिनिय) सृष्टि की मूलभूत पात्र एकमत्त्वात्मार्थार्थ ऐसे निर्मित तुर्वे। अब इतके बाहर की सृष्टि (अर्थात् श्वृच्छ पद्ममहाभूता या उत्पत्ति उत्पत्ति होनेवाल अस्ति वह प्राप्तियों) की उत्पत्ति के नम का बर्णन किया जावेगा। साम्यवाचमें सिर्फ वही लहा है कि सम्भवत्यानांभो मैं स्वूप पद्ममहाभूत अप्यता विशेषण गुणपरिणाम के कारण उत्पत्ति रहे हैं। परन्तु वेगान्तराचम के प्रत्यों में इस विशेष का अधिक विवेचन किया गया है इससिए प्रस्तावनुसार उत्पत्ति भी समिक्षण वर्णन — इस सूक्तना के साथ कि पह वेगान्तराचम एक मन है सारयों का नहीं — कर देना व्यापकरक चान पड़ता है। रक्त पृथ्वी पानी तेज, वायु और आकाश को पद्ममहाभूत अप्यता विशेष बहत है। इनका उत्पत्तिक्रम तैतिरीयावनिषद् में इस भक्ति है — भास्तुः आकाश लम्बूत्। आकाशाद्वायुः। वायोरप्तिः। अप्तस्य वृष्णिवी। पृथिव्या ओपत्तम्। इ (त ३ २ १) — अर्थात् पहसे परमात्मा है (वह मूल प्रहृति से नहीं ऐसा कि साक्षयादिया का कथन है) आकाश भास्तु वायु से अपि भवि भवि से पानी और विर पानी से पृथ्वी उत्पत्ति तुर्वे हैं। तैतिरीयावनिषद् में वह नहीं उत्पत्तवा गवा कि इस नम का कारण क्या है। परन्तु प्रतीत होता है कि उत्पत्तेवान्तप्रस्ता

तक्ती किन्तु वह प्रहृति-विहृति के ही बग में घासिल हो जाती है। अतएव, गुणपूर्णता का बगन करते समय वेगन्ती कहा करत है कि परमेश्वर ही से एक और वीष निमाण दुभा दूसरी ओर (महाराजि सात प्रहृति विहृतियाद्वित) भगवा अथवा भाड़ प्रकार की प्रहृति निर्मित दुरु (मा मा शा ३ ६ २९ और ३० १ देखो)। अबात् वेगन्तिया के मन से पश्चिम तत्त्वों में से साक्ष तत्त्वों को छोड़ शप नी तत्त्वों के क्षेत्र दो ही बग किय जात है — एक 'वीष और दूसरी भगवा प्रहृति'। मगवार्डीया में वेगन्तियों का यह कर्माकरण स्तीर्त्व किया गया है। परन्तु इसमें भी अन्त में घोल सा फ़क हो गया है। सार्वजनिकी किसे पुरुष कहते हैं उसे ही गीता में वीष कहा है आर यह कल्याण है कि वह (वीष) अपर की परा प्रहृति अबात् भद्र स्वरूप है भार सार्वजनिकी किस गम्यहृति कहते हैं वह ही गीता में परमेश्वर का अपर भगवान् कनिष्ठ म्यरूप कहा गया है (गी ३ ४—) इस प्रकार पहले थे वह दो दर्ता वर स्त्री पर उनमें से दूसरे बग के अबात् कनिष्ठ म्यरूप के ब्रह्म भीर भी मर या प्रकार ब्रह्मन पढ़ते हैं तब उस कनिष्ठ म्यरूप के अतिरिक्त असमें उपरोक्त दो दर्ता तत्त्वों का मी गम्यना भावनम्यक होता है। क्योंकि यह कनिष्ठ म्यरूप (भगवान् मात्या की मृत्युहृति) स्वयं भगवा ही एक प्रकार या भेद हो नहीं सकता। उत्तरस्थाप जब यह बन्धनाना पत्ता है कि शप के कान्दे किसने हैं तब उन सातों में ही शाव की रणनी नहीं बी जा सकती। अतएव परमेश्वर के कनिष्ठ म्यरूप के अन्दे में वह को ज्ञानते कमय कहना पत्ता है कि वेगन्तिया की भगवा प्रहृति मैं न म्यरूप है कि उआ शप सात तत्त्व ही (भगवान् महान् भहक्ष्यर और पञ्चनम्याकारी) उन म्यरूप हैं के में या प्रकार हैं। परन्तु एका बरने से बहना पटेग्य कि परमेश्वर का कनिष्ठ म्यरूप (भगवान् मृत्युहृति) सात प्रकार था है और उत्तर कह भाव ई नि वेगन्ती का प्रहृति भगवा भगवान् भाड़ प्रकार की मानन है। अब इन स्थान पर यह विरोध नीय पत्ता है कि किन् प्रहृति का वेगन्ती भगवा या भाड़ प्रकार की वह उत्ती का गीता नमस्ता या नात प्रकार की कहै। परन्तु गीताकार को भवीत या कि उत्त विरोध दूर हो गय भार भगवा प्रहृति का बगन आया रह। इसीस्थिव महान् भहक्ष्यर और पञ्चनम्याकारी इन ताला में ही भाड़व मननम्य वी नमिन्दिन बर के गीता मैं बगन किया गया है कि परमेश्वर का कनिष्ठ म्यरूप भगवान् मृत्युहृति भगवा है (गी ३ ५)। इनमें न कहन मन ही मैं इन इन्द्रियों भीर पञ्चनम्याकारी मैं पञ्चमहान्ती का नमायेग किया गया है। भव यह प्रतीत हो जायगा कि गीता मैं किया गया कर्माकरण मात्या आर वेगन्ती व वीषवरण न बदलि कुछ भिन्न है नगरायि इनमें कुछ तत्त्वों की नमस्ता मैं कुछ न्युना विकला नहीं हो जाती। नाव वाह तत्त्व पर्वीन ही याने गये हैं। परन्तु कर्माकरण की उन विभागों के बराबर किनी के मन मैं कुछ भ्रम न हो जाय इन्द्रिय के गीती कर्माकरण वाह व व्यप मैं उक्त बराबर भाग दिय गये हैं। गीता के नारायण भगवा

होते हैं (या १३ वा १०-१६)। परन्तु पश्चीमरण से केवल वह पदार्थ वस्तुएँ शरीर ही उत्पन्न होते हैं। यानि रहे कि जब उस वह देह का संयोग प्रप्त मुख्य अन्दियों से और फिर भास्त्रा से अपर्णि युक्त से होता है तभी उस वह देह से सचेतन प्राणी हो सकता है।

यहाँ यह भी फ़लम देना चाहिए कि उत्तर-देशन्तर-भूम्या में वर्णित यह पर्याप्तरण ग्रामीन उपनियाँ म नहीं ह। अन्तोम्यापनियद् म पौष्ट कन्मान्धारे, या पौच महाभूत नहीं माने गये हैं किन्तु कहा है कि सेष, आप (पानी) और भूम (पृथ्वी) नहीं तीन मूलमात्राओं के भिन्नप से अवश्यक 'निवृत्करण' से सार विविध लुप्ति भी है। आर ऐताभ्युतरोपनियद् मैं कहा है कि "अव्यवेसा ऐत्रित-प्रदृष्ट्यो दक्षी प्रद्या मृगमाना सूख्या" (ऐता ८६) अथात् व्यष्ट (तेजोम्य), सुकेन (स्वप्नप) और साक्षे (पृथ्वीम्) रंगों की (अथात् तीन तत्त्वों की) एक अव्य (फ़री) से नामस्वप्नान्मन प्रश्न (मृप्ति) उत्पन्न हुआ। स्वोम्यापनियद् के छठे अध्याय म ऐतुकेनु और उसके पिता एवं संबाद है। संबाद के भारम्य मैं ऐतुकेनु के पिता ने सदृ कह दिया है कि भर "य इन् के भारम्य म पक्षमवाक्त्रीय सत्" के अविरिन्द्द-अथात् यहाँ वहाँ सब पक्ष ही भीर नित्य परमात्म के अविरिन्द्द-और कुछ भी नहीं या; जो असन (अथात् नहीं है) उससे सत् कैसे उत्पन्न हो सकता है? अतपश आकिर्म सबत्र सत् ही भ्यास या; उसके बार उसे अनेक अथात् विविध हीन की इच्छा हुआ और उससे कनका मूल्य तेब (अमि) आप (पानी) आर भूम (पृथ्वी) की उत्पत्ति हुआ। पथात् न तीन तत्त्वों म ही वीक्ष्य से पराम

की वरक्ष कीदिया रहत गई हासी। इन एक नाले शीघ्रतापन्न न गरित क द्वारा लिया जाया है कि बांसी में एकलकारी छाटी छाटी शत्रुंगियों के तुकड़ों का विकाल हाल होवे उसी का घनु-घनाघय प्राप्त होने में निष्ठ निष्ठ जानिया की जाता है ५३ हाल ५४ इसमें  
कीदियों रहने चुर्ची है नार मलाह ५५ कि इन कीदियों की जाप्ता कशाखिल इन तक हुई  
ही है। यह दृष्टि बांसी में एकलकारी उपचारा न कर सकु-तक रही जाती है। नव वहि इनमें  
की छाट उपचारा न प्रयत्न क वध्य अनुभाव का नमायेस कर दिया जाता है याकूब जिसे  
बाल कीदियों की कल्पना करती है। इन मालूम ही जाप्ताएँ कि इमार गुणज्ञा में वर्णित  
बांसी काल यानियों की कल्पना की जाता है निष्ठ जाप्ताक गुणज्ञा के गुणमें वर्णित  
कीदियों की कल्पना की भवित वर्ती-पर्ती है। कल्पनानन्द-१८५८ यह न्याय कान् (नम्र) कार्यी  
इत्युक्त ही नहीं है धार्मिकतावालों का करने कि इन बाल का दृष्टिकौण्डि न निष्ठ  
ही किया जा सकता कि नामाकूर्मि क वध्य अनु-तप वर्ती ही कर न्याय हुए। और यह  
उपचारा की उपचारा का करार वरी के रूप हुई है। इन विरुद्ध यह विवरण The Last  
Link by Ernst Haeckel with notes, etc by Dr H Gadow (1898)  
नामक दृष्टि में दिया गया है। इसमें यह न इन दृष्टि में जो बांसी उपचारा कीदिया  
जाती है उसके रीत रूप दर्शक दर्शन की रहत है इसके दूरान में बांसी उपचारा की जिसी रूप  
प्रकार की रहत है— नाम उपचार नाम वर्ती नाम दृष्टि नाम दृष्टि नाम दृष्टि

म पश्चमहाम्ना के उत्तरिक्षम कार्णा का विशार सम्बन्धात्मक गुप्तपरिणाम व तत्त्व पर ही किया गया है। इन उत्तर वेणुनित्या का यह कथन है, कि 'गुणा गुणापु वस्त्रे इति न्याय मु पहले एव ही गुण का पदाय उत्पन्न हुभा। उससे दो गुणों क भार किंतु तीन गुणों के पदाय उत्पन्न हुए।' मी-प्रसार कृदि हासी ग'। पश्चमहाम्ना में से आकाश का सुध्य एव गुण क्षेत्र वापर ही है। इसकिय पहले भासाद्य उत्पन्न हुआ। इति जात्याय कायु की उत्पत्ति हु। क्योंकि उसमें शम्भ और रघु जाय गुण है। जब जाय जार से असर्वा है तब उत्तरी भासाद्य मुन पर्वी है और हमारी न्यायेन्द्रिय क्षम भी उत्तरा जान होता है। जाय के जात अग्नि की उत्पत्ति होती है। क्याकि शम्भ और रघु क भवित्वित्य उत्तर्म दीक्षिय गुण (क्षम) भी है। इन तीनों गुण के काय दीक्षिय पानी में चौथा गुण (क्षमि या रघु) होता है। इसकिये उत्तरा प्राकुरुतीय अग्नि क जात ही हाना पाहिय। और भन्त भै इन आसी गुणों की अपेक्षा पृथ्वी में 'क्षम गुण विशेष इन्हें से पह चिह्न किया गया है कि पानी के जात ही पृथ्वी उत्पन्न हु। याम्बाद्याय का यही विद्यन्त है (विश्व १८ ४)। तेजिरी वापनिवर में आमा पत्त वर किया गया है कि उत्तर क्षम से रघुप वश्चमहाम्नों की उत्पत्ति हो जुड़ने पर किंतु - 'प्रुपित्या भौववय'। भौवविम्बोऽप्तम्। भौवापुष्टय।' पृथ्वी के बनस्ति अनश्वति में भौव और भौव से पृथ्वी उत्पन्न हुभा (तं २ १)। पह भौवि पश्चमहाम्नों के विभण से मरती है। इसकिये इस विभणकिया को वेणुन व्याख्या में 'पश्चीकरण कहते हैं। पश्चीकरण का अप पश्चमहाम्नों में से ग्रन्थेक का स्वत्नारिक्ष भाग से वर वर के विभण ने किसी नय पदाय का कहना" है। यह पश्चीकरण स्वभावत अनेक प्रशार का हो सकता है। भीकुमय रामगायस्त्रामी भै भौव जाताय भै जा बजन किया है वह की इसी जात का किंड बला है। शम्भिय - काला और नपर मिलान में नील इनका है भौव काय और वीण मिलान में हरा इनका है (द ६ ४)। पृथ्वी में भनन्त काटि गीजों की उत्पत्तियों हाती है। पृथ्वी और पानी का मेष हीन पर जन दीजों में भूर विक्षन है भौवे प्रशार की दृष्ट हाती है वर पृथ्वी हीन है और भौवे प्रशार क स्वत्नारिक्ष हीन है। क्षम्भ ज्ञापुर स्वत्न उत्तर की दृष्ट पृथ्वी और गानी है। वही त्रिविम्बना का भूरभूत वस्त्रकार है। इस प्रशार वार जली वर दीर्घी वारानी व्याप्ति गीर्वदीनि तीन एव विन्द विन्द विन्द विन्द विन्द विन्द विन्द विन्द

चाहिए कि सुधि के उपेक्षन भर्यात् उच्चीव प्राणियों की उत्पत्ति के समन्वय में साम्यशास्त्र का विद्युप क्षण भया है और फिर वह ऐसा ज्ञाहिय, कि वेनन्त-साम्ब के विद्वान्तों से उक्ता छहों तक मेल है। अब मूलप्रहृति से प्रापुर्भृत पृथ्वी भागि स्थूल पञ्चमहामूर्ती का सद्योग सूक्ष्म इनिद्यों के साथ होता है, तब उक्ते उच्चीव प्राणियों का शरीर कहता है। परन्तु वर्णियि वह शरीर सेनिद्रिय हो तथापि वह वह ही रहता है। अन इन्द्रियों का प्रेरित करनेवाल तत्त्व वह प्रहृति से मिल होता है, किंतु 'पुरुष कहते हैं। सास्यों के अन सिद्धान्तों का क्षण पिछले प्रकृति में किये थे तुम हैं कि वर्णियि मूल में 'पुरुष भक्ता है तथापि प्रहृति के साथ उक्ता सद्योग होने पर उच्चीव सुधि का आसम्भ होता है और मैं प्रहृति से मिल हूँ वह श्वेत हो जाने पर पुरुष का प्रहृति से सद्योग घूट जाता है; उसा वह मुख ही जाता है। यहि ऐता नहीं होता वा अन्म मरण के अक्षर में उक्ते मुस्ता पड़ता है। परन्तु इस अत का विवेचन नहीं किया गया कि किस 'पुरुष' की प्रहृति और पुरुष की गिरिदारा का ज्ञान हुए किना ही हो जाती है उक्तो नये क्षम के द्वारा प्राप्त होते हैं। अतएव यही विद्युप कुठ नविक विवेचन करना अवश्यक उक्त पड़ता है। यह स्वाह है कि ये मनुष्य किना ज्ञान प्राप्त किये ही मर जाता है उक्ता आज्ञा प्रहृति के अक्षर से उक्ता के किये घूट नहीं रहता। भर्याहि यहि एक ही तो उक्त भवता पाप पुण्य का तुछ भी महत्व नहीं रह जायगा। और फिर आवाक के मतानुसार वह कहना पड़ेगा। कि मूल्यु के बाट हर पक्ष मनुष्य प्रहृति के छुटे से घूट जाता है - भर्यात् वह माल पा जाता है। भर्या यहि वह कहे कि मूल्यु के बाट क्षेत्र भास्ता आज्ञा भर्यात् पुरुष उक्त जाता है और वही त्वय नये क्षम लिया करता है तो यह मन्मनूल उद्दिष्ट - कि पुरुष भक्ता और उद्गारीन है और उक्त वक्तुव्य प्रहृति ही का है - किस्या प्रतीत होने लगता है। इसक सिंह वर हम यह मन्मठ है कि आज्ञा त्वय ही नय नय क्षम लिया करता है तब वह उक्ता गुण पा रहे हो जाता है। और तब तो एकी भनवास्ता प्राप्त हो जाती है कि वह क्षम मरण के आवागमन में कभी भूत ही नहीं रहता। इनिद्यि यह किंद होता है कि वहि किना ज्ञान प्राप्त किये बाट मनुष्य मर जाय तो वी भाग नया क्षम प्राप्त करा देने के किये उक्त भास्ता से प्रहृति का सम्बन्ध अवश्य रहता ही जाहिय। मूल्यु के बाट गूह्य देह का नाप हो जाया करता है। इसिये यह प्रसर है कि भव उक्त सम्बन्ध रक्षा महाभूतामर प्रहृति के साथ नहीं रह जाता। परन्तु वह नहीं कहा जा जाता कि प्रहृति क्षम गूह्य पञ्चमहाभूता ही ग ज्ञी है। प्रहृति से तुम तर्हम त्वय उत्तम होत है और त्वय पञ्चमहाभूत उम नीति में स भनितम पौनि है। इन भनितम पौनि ज्ञान (गाय रक्षमहाभूत) का नाम नामों में स भल्लय करन पर १८ तत्त्व गाय रहत है भगवन् भव यह बहना जाहिय कि वा पुरुष किना ज्ञान प्राप्त किये ही मर जाता है वा पञ्चम पञ्चमहाभूत मर गाय जारीर ग - भर्यात् भनितम पौनि

इन दस वर्षों से इन्हें बहुत ज्यादा लोकों की ओर से धूमधारी के रूप में चिना जाता है।

मठानुसार उस आर्था का उल्लेख किए हुए वात का व्यापक कठबना ही है कि कुदि आदि ऐहे ह वर्णों के साथ प्रकृतन्मात्राभी का भी समावेश स्थिताधीर में क्या किया गया। उसके अतिरिक्त अन्य फौर्इ ऐहे नहीं हैं। ०

कुछ विचार करने से प्रतीत हो जायगा, कि सूक्ष्म अठारह सूक्ष्मों के सौख्यों स्थिताधीर में और उपनिषद् में वर्णित स्थिताधीर में कियो भेद नहीं है। वहाँरम्य कापनिषद् में कहा है कि— किस प्रकार बोक (बल्लमुद्द) वात के दिनके ऊपर तक पहुँचने पर दूसरे तिनके पर (सामने के पैरों से) अपने शरीर का भागमात्रा रम्हती है और इस पहले तिनके पर से अपने शरीर के अन्तिम भाग को गीच लेती है उसी प्रकार भारमा एक शरीर छोड़ कर दूसरे शरीर में जाता है (२ ४ ४ १)। परन्तु केवल इस दृष्टान्त से ये नानी अनुमान किया नहीं होते कि निया आत्मा ही दूसरे शरीर में जाता है। आर वह भी एक शरीर से छूटते ही जूम जाता है। स्वाक्षिणी स्थाराम्यकोपनिषद् (४ ४) में आगे उस पर वह कथन किया गया है कि भारमा के साथ साथ पौष्टि (सूक्ष्म) भूत मन इन्द्रियों प्राण और भर्माभर्म में शरीर से बाहर निकल जात है। और यह भी कहा है कि भारमा को अपने अर्म के अनुसार मिथ मिथ थोड़ा प्राप्त होते हैं। एवं वहों उसे कुछ आज्ञयत निकाल करना पड़ता है (२ ३ २ १४ और १)। उसी अकार, छान्दोग्योपनिषद् में भी आप (पानी) मूलतात्त्व के साथ अीच की किया गया का कथन किया है (अ ५ ३ ३ ६ ९ १) उससे और बेदाम्बस्त्रों में उनके अर्थ का यो नियन्य किया गया है (वे दृ ३ १ १-७) इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि स्थिताधीर में— पानी देव और अप्य— उन सीनों मूलतात्त्वों का समावेश किया जाना छान्दोग्योपनिषद् को भी अभिभृत है। सारण्य यही दीर्घ पाठ्यता है कि महाग्राति अठारह तूल्यतात्त्वों से जैसे हुए सार्वांकी के ‘स्थिताधीर’ में ही प्राण और भर्माभर्म अपर्ण अर्म को भी शामिल कर देन से बेदान्तमतानुसार स्थिताधीर हो जाता है। परन्तु साम्यशास्त्र के अनुसार प्राण का समावेश व्याप्त है इन्द्रियों में ही भार भर्म-भर्माभर्म का समावेश कुदीश्वरीयों के स्वापार में ही हुआ करता है। भद्रपद उक्त भेद के कियम भै यह

मृ ३२० अनुसारिक दृष्टि ‘स्थिताधीराक्षाक्षात्कालिक’ व्याप्त के इस भै (भारमद्वाद वाक् १२) इस वक्ता कि उक्तान इन आर्था का जर्म इसार अनुसार ही किया है। इह वाक् यह है—

अस्ति तप्तस्त्रेहा हि देव्यत विश्ववासिता ।

तद्विश्वत्वं प्रसादते हि न विद्विश्वव्यप्तः ।

अस्तराम्ब लक्षण विग्रही लक्ष व्युत्प्रभारी का रीचकार लक्ष का विष्ववासी लक्षण है। यह अन्तर के लिये वार्ड प्रमाण कहा है कि उक्त प्रकार का वार्ड लक्षी है। विचार के विष्ववासी वक्ता यह इतना भा इतनी उत्तमा विश्ववासी कहा है। अस्तराम्बकारी का भार्मर्व भी उक्त है— भारमद्वाद ३ ३ ३ भार उक्तर्व भी हुएकारी वादिन्द भारमद्वाद वक्तानि विश्ववासी की गीका तक उक्त व्याप्त की वलाहना हुड़ व्याप्त

तस्वीर - छूट आता है, तथापि "स प्रकार की मूल्यु वह प्रहृति के अवय १० तस्वीरे के साथ उच्चका सम्मुख कमी छूट नहीं सकता। व अगरह तस्वीरे हैं - महान् (बुद्धि) भक्तार मन "स निदिर्यो और पौष्ट तमावाप ("स प्रवरण में किया गया ब्रह्माण्ड का विद्युत शृङ्ख १८ इतिय)। ये सब तत्त्व सम्म हैं। भवत्य इन तत्त्वों के साथ पुरुष का सवाग स्थिर हो कर वो जीर्ण बनता है उस स्पूष्टारीर के विश्व शृङ्खम अधिका स्थिरारीर बहन है (या का ५)। ३३ काइ मनुष्य किना जान प्राप्त किय ही मर जाना है तब मूल्यु के समय उसके आभ्या के साथ ही प्रहृति के उस १० तस्वीरे में क्या हुआ यह स्थिरारीर भी स्थिर है से बाहर हो जाता है। आर वय तक उस पुरुष को जान की ग्राति ही नहीं जाती तब तक उस स्थिरारीर ही के कारण उसका नय नय उम्मे लेने पड़ते हैं। उस पर कुछ स्पेगा का यह प्रभ है कि मनुष्य की मूल्यु के पाठ शीष के साथ साथ "म वह वह म तुमि, भर्तगर मन और उस इन्द्रियों के स्पायार मी नए होने शुरू हमें प्रव्यस में गैरि पड़ते हैं। इस बारण स्थिरारीर म "न तरह तत्त्वों का समावेश किया जाना तो गतित ह परन्तु "न तरह तत्त्वों के साथ पौन्त सम्म लम्मावाजा का भी समावेश स्थिरारीर में क्यों किया जाना चाहिय ? इस पर सास्यों का उच्चर यह है कि ये तरह तस्वीरि - निरी बुद्धि निरा भक्तार मन और उस निदिया - प्रहृति के ब्रह्म गुण हैं। आर किं तरह लाया का किनी न किनी प्रश्नाय का - तथा कित्र का गीजार जागड़ आदि का - आभय जाक्षयक है किनी तरह इन गुणाम्भ तरह तत्त्वों का भी एकत्र रहने के किये किनी इस्य के आभय की आप्यस्तुता हासी है। अब आभ्या (पुरुष) प्रव्यस नियुक भार भक्ता है इतिय वह स्थिर किनी भी गुण का आभय हो नहीं सकता। मनुष्य की गीवितारम्भा म उसके शरीर के स्थिर पश्चमहानूत ही इन तरह तस्वीरों के आभयस्थान रभा करत है। परन्तु मूल्यु के पाठ आधार स्थिर शरीर के नद ही जने पर तत्त्व पश्चमहानूतों का यह भाषार शृङ्ख जाता है। तब उन आभयों में इन नेह गुणाभर तस्वीरों के किये किनी अन्य श्वयाम्भ आभय की आप्यस्तुता हासी है। कई स्मृत्यूहरि ही को आभय मान २ तो वह भाषार और भवित भवयों का - भवित भवन्त भार स्वयारी हासी के कारण - एक छोड़े-न गियरारीर के भक्तार बुद्धि भादि गुण का भाषार नहीं हो सकती। भाद्य स्मृत्यूहरि २ ही इस्यामह गियरा म तु स्थिर पश्चमहानूतों के दर्ते उसके पश्चमनूत पौन्त कृम सम्माम इस्या का नमाम्य उपरुप तरह गुण के साथ ही-साथ उनके आभयस्थान की दरि म गियरारीर म बनना पड़ता है (या का १३)। इत्यर जान्य जाप्यसार गियरारीर भार स्वयारीर २ दीन पद और तीनर शरीर ( रव्यामावाजा भ म व्य र० ) की बन्धना करन ग्राहा न करत है कि वह तीनर शरीर गियरारीर का भाषार है। परन्तु इमारा मा यह है कि वह कारप्रकारिण की इस्यामहीनी आपां का यथाय ज्ञात बना नहीं ८ गीविता न इन में तीनर शरीर की बनना भी है। इमार

समुद्दय से क्षिप्तरीर निपाय इत्ता है। उसमें काँ मन्त्र नहीं कि वहाँ वहीं  
क्षिप्तरीर रहेगा वहाँ वहाँ ज्ञ अनाह तत्त्वों का समुद्दय अपने अपने  
गुण और के अनुसार माता पिता के स्मृत्तरीर में से तथा आगे स्मृत्त-स्मृति के अप्त  
से हस्तपाण आगे स्मृत्त अवयव या स्मृत्त निरिवों उत्पन्न करगा अथवा उत्पन्न  
पौष्ट्र करगा। परन्तु अप्त यह कल्पना आगे कि अन्यरह वर्णा के समुद्दय के  
कला शुभा क्षिप्तरीर पाँ, पर्वी मनुष्य आगे भिन्न भिन्न वहीं क्षया उत्पन्न रखता  
है। सबीच स्मृति के सुचेतन तत्त्व को साम्बद्धारी 'पुष्ट' कहते हैं आर मास्त्यमता  
नुसार य पुष्ट चाहे असीम्य भी हा तथापि प्रन्यात पुष्ट प्रमात्रता उत्तमीत तथा  
अकृता है। उसक्षिप्ते पशु-पारी आगे प्राणिवों के भिन्न भिन्न शरीर उत्पन्न करने का  
कृत्य पुष्ट क हित्स म नहीं था बल्का। ऐश्वर्यतात्त्वमें कहा है कि पाप पुष्ट  
आगे कलों क परिणाम से य में उत्पन्न शुभा करते हैं। उस क्षम विपाक का विवेचन  
भागे पक्ष कर किया जायगा। साम्यग्राम के अनुमार क्षम को (पुष्ट भी ग्रहण  
से भिन्न) दीक्षित तत्त्व नहीं मान सकते और जद कि पुष्ट डाक्सीन ही है तब  
वहना पड़ता है कि क्षम प्रहृति क साथ रक्षसमागृहों का ही कितार है। क्षिप्तरीर  
में इन अनाह तत्त्वों का समुद्दय है उनमें सुष्ठिरत्व प्रवान है। उसका कारण  
यह है कि बुद्धि ही से आगे अहकार आगे भन्त हत्या उत्पन्न होते हैं। भवति,  
जिस ऐश्वर्य में क्षम कहत है उसी को सार्यशास्त्र में सच्च रक्ष-तम गुणों के  
न्यूनाभिन्न परिणाम से उत्पन्न होनेवाला बुद्धि म्यापार फल या विकार कहते हैं इन  
फल का नाम 'माव' है। सच्च रक्ष-तम गुणों के दारकाम्य से ये 'माव' का प्रसार के  
हा जाते हैं। इस प्रसार पृथ म सुगन्ध तथा कर्पोर म रग किरण रहता है उसी  
प्रकार क्षिप्तरीर में य माव भी किरण रहत है। (सा का ४)। ज्ञ योगों के  
अनुगार अपका ऐश्वर्य-परिणाम से क्षम क अनुगार, क्षिप्तरीर नय नये कल्प  
किया करता है भार क्षम में तमय माता पिताभ्यों क शरीरों में से भिन्न इम्पी  
का वह आवश्यक दिया करता है उन इम्पों में मी दूसरे भाव आ जाया करते हैं।

ऐश्वर्यनि मनुष्योनि पशुयोनि तथा शूद्रयोनि ये तत्र ये इन मात्रा की  
तमुपयना क ही परिणाम है। (सा का ४१- )। इन तत्र मात्रों में मात्रिक  
गुण का अक्षय कारण होन में य पशुप्त का जन भी ग्रहणम की प्राप्ति होती है  
आगे उनक कारण प्रहृति और पशुप्त की भिन्नता तमस में आगे लगती है तब  
पशुप्त अपने सूक्ष्मदृष्टि अपाने रक्ष्यता का पूर्ण बनता है और तब तर  
क्षिप्तरीर दूर जाता है। एक मनुष्य क हुआया का पृष्ठतया निवारण हो जाता है।  
परन्तु प्रहृति और पशुप्त की भिन्नता का जन न होते हैं यदि वह लाभिन्न गुण  
हो का उपकर हो तो क्षिप्तरीर इश्वरनि म अपान स्वयं में क्षम मना है रक्षणुप  
की प्रकृता हो तो मनुष्योनि में भपान दृष्टि पर पशु होता है और दमागुण  
की भपिन्नता हो जान न उमे तिवार्योनि में प्रवेश करना पड़ता है (गी १८ १८)।

कहा जा सकता है कि यह ऐतिहासिक है - वसुंत लिंगारीर के पठावपद के सम्बन्ध में वेशन्त और साम्यमता में कुछ भी भेद नहीं है। इसी सिये मैत्र्युपनिषद् (११) में महाराटि सूखपयत यह साम्योक्त लिंगारीर का स्वरूप 'भृगुप' कियेपान्त एस पर्याप्त से 'वा-का-स्यो' रूप किया है। \* मात्रदीर्घा (१६७) में पहले यह बहुध कर कि 'मन्यहानीमित्राणि - मन और पौच स्वनेत्रिणा ही का सूख शरीर होता है - आगे ऐसा वर्णन किया है 'वासुगन्धानिवाचयात् (१६८) - जिस प्रकार हमारा पूर्णों की मुग्धता को हर क्षेत्री है उसी प्रकार वीच त्वृत्यारीर का त्याग करते समय उन लिंगारीर को अपने साथ ले जाता है। यथापि गीता में जो अध्यात्म ज्ञान है वह उपनिषद् ही में से किया गया है। इससिये कहा जा सकता है कि मनसहित छः निरियों न दाख्ला में ही पौच क्षमेन्द्रियों पश्चलमालार्थं प्राण और पाप पुण्य का तपाद्ध मात्रान् को अभिप्त है। मनुस्मृति (१२ १६ २०) में भी यह वर्णन किया गया है कि मरने पर मनुष्य को "स अन्म में किये तुए पाप पुण्य का एक मोग्ने के लिये पश्चत्यमालार्थं सूखमारीर प्राप्त होता है। गीता के 'वासुर्वन्धानिवाचयात्' उस द्वारान्त से केवल 'दृढ़ा ही किंद्र दृढ़ा है' कि यह शरीर सूख है। परन्तु उससे यह नहीं मान्यम होता कि उसका अक्षर किन्तु बड़ा है। महामारत के साथिशी उपाद्धान में यह वर्णन पाया जाता है कि सत्यान् के (सूख) शरीर में से अङ्गूठे के अक्षर एक पुण्य को यमराष ने बाहर निकास्य - भगुद्धामार पुण्य निष्पर्ण घमो भवात् (मा भा अ २९३ १६)। इससे प्रतीत होता है कि द्वारान्त के किये ही क्यों न हो लिंगारीर अङ्गूठे के आकार का माना जाता था।

"स जात का विवेचन हा तुका कि यथापि स्थिरारीर हमारे नेत्रों को गोचर नहीं है उथापि उत्तम अस्तित्व जिन भगुमालों से किंद्र हो सकता है और उत्त परीर के पठावपद जौन से है। परन्तु केवल यह कह देना ही परेष प्रतीत नहीं होता कि ग्रहणि और पौच सूख-माहाभूता के अतिरिक्त अठारह उत्तों के

---

नामत्वात्म इन से प्रकाशित द्वाविभृतपनिषद् की जारी मैत्र्युपनिषद् में उपसूख मत्य का महाराष विहारान्त पाया है जिसका दीक्षाकार न भी माना है। वहि यह पाठ लिंगा जात तथा लिंगारीर में नाराम का महत्व का समावेश करक विहारान्त पद में इच्छा किया जाता है पश्चमावता का ज्ञात इन्द्र दृढ़ा होता है। जानी यह अर्थ करना पड़ता है कि महाराष में नाराम का उद्देश्य भाव विहारान्त में से विहार का ज्ञात दृढ़ा जाहिन। परन्तु यही आप्तवान का उपयोग किया जाता है वही इन दात्य को ज्ञातेन्द्र दृढ़ा होता है। अपरब प्रेर्णविषय का कथन है कि महाराष पद के अनिष्ट वसा का भगुत्वार लिकान्तर 'भृगुप' विहारान्तम् (महाराष + विहारान्तम्) वाठ कर देना चाहिये। इसका उत्तर वह लिंगारीर पद का जान से मरत नहीं जावितर अर्थात् नाहि वार जान देना का भी एह इसी न्याय पर्याप्त होगा जार लिंगारीर में जानो एह इसी उपर्युक्त किया जा सकता। यही इन पाठ का विस्तर गुप्त है परन्तु उपर्युक्त एह कि पाठ काँई भी किया जाव जर्व म वह नहीं पड़ता।

ओर तीन मा वर्य का, द्वापर के पहले भाग प्रत्येक भौत औ ची वर का कमिशुण  
के पूर्व तथा अनन्दर प्रत्येक ओर ची वर का सन्धिकाल होता है। सब मिथ्य कर  
चारों मुगा का आति-अस्ति-सहित सन्धिकाल द्वे हवार वर्य का होता है। ये दो हवार  
वर्य और पहले फलस्थल तुए साम्यमतामुगार चारों मुगों के इस हवार वर्य मिथ्य कर  
इष्ठ बारह हवार वर्य होते हैं। ये बारह हवार वर्य मनुष्यों के हैं या देवताओं के!  
यदि मनुष्यों के माने जायें तो कवियुग का आरम्भ तुए पौन्च हवार वर्य ऐत मुनों  
के कारण यह इहाना पढ़ेगा कि इहार मनवी वर्यों का कमिशुण पूरा हा मुका। उठें  
जाएं निर से आनेवाल इसमुगा यी खमाल हा गया और हमने भर सेतामुप मैं  
प्रख्या लिया है! यह विरोध मिद्यों के लिये पुराणों मैं निष्ठित लिया है कि ये  
बारह हवार वर्य देवताओं के हैं। देवताओं के बारह हवार वर्य मनुष्यों के १६ ×  
१२ = १९२ (संवार्षीस लाग चीस हवार) वर्य होते हैं। कमल  
पञ्चांगों का मुग परिमाण न्सी पद्धति से निष्ठित लिया जाता है। (देवताओं के)  
बारह हवार वर्य मिल कर मनुष्यों का एक महायुग या देवताओं का मुग होता है।  
देवताओं के इकहर युगों को मन्दन्तर कहते हैं और ऐसे मन्दन्तर चौंह हैं। परन्तु  
पहले मन्दन्तर के आरम्भ तथा अन्त मैं और आगे चलार प्रत्येक मन्दन्तर के आगे  
मैं जोना और इत्युग की भासरी के एक एक दोसे १६ सन्धिकाल होते हैं। ये पन्द्रह  
सन्धिकाल और चौंह मन्दन्तर मिल कर देवताओं के एक हवार मुग अवश्य ब्रह्मेष  
का एक दिन होता है (सूर्योदिशान्त १ १ -२) और मनुस्मृति तथा महामारुत  
मैं लिया है कि ऐसे ही हवार मुग मिल कर ब्रह्मेष की रात होती है (मनु. १  
१९-३३ और ३९ म भा. ११ १८-११ और भासक का निष्कृ १४ ३  
पर्यों)। एस गणना के अनुसार ब्रह्मेष का एक दिन मनुष्यों के चार अम्ब छींच  
करों वर्य के चलार होता है और इसी का नाम है कस्य १० माहात्रीता (८ १८  
भार. ७) म रहा है कि बन ब्रह्मेष के एस दिन अर्यांश् कस्य क्य आरम्भ होता  
है सुन :—

अव्यक्ताद्यपक्षयः सर्वा प्रमत्यन्यहरायमे ।  
राष्ट्र्यामें प्रस्तीयत्वे तत्त्वादपक्षसंहारक ॥

५ अव्यक्त से सृष्टि के सब पर्याय उत्पन्न होने लगते हैं और जब ब्रह्मेष की राति  
आरम्भ होती है तब सब अक पर्याय पुनर्भ अव्यक्त में लीन हो जात है।  
समितिन्द्र और महामारुत मैं मैं पहरी चलाया है। इसके अस्तिरिक्त पुराणों मैं  
अन्य प्रस्त्या का भी बर्णन है परन्तु न यस्यों मैं सूर्य चन्द्र आति उत्ती मुहिं का

“बाल भासक के आशर पर इगारिगना का विचार त्वरित भक्त बालहर  
पूर्वान ग भवन मार्गीव च्छालि व्याच भासक (माराठी) व्याच मैं लिया है १ १ ३  
१ १ ३१ व्या।

गुणा गुणेयु जावन्ते उम रुप्त के ही आचार पर साम्बद्धशास्त्र में वर्णन किया गया है कि मानववानि म इस इन के बारे ऐति निहू म अनुसार कृष्ण मुद्रुरुप सात पट्टी भौंर मिष्ठ मिष्ठ नित्रियों इस इनती जाती है (सा का ४३ म मय शा. ६)। गर्वोपनिगद् का वर्णन ग्रायः सारवद्याम्ब के उष्ण वर्णन क समान ही है। उपर्युक्त विवेचन से यह जात मान्य हो जायगी कि साम्बद्धशास्त्र में 'भाव शब्द का जो पारिमापित्र अध्य फ्लाया गया है वह यथापि वर्णनत्रयों में विविध नहीं है तथापि मानवीता म (१ ४ ६ ७ १२) त्रितीयानमसम्मोहन अमा भूत्य त्रिमा द्यमा अन्यादि गुणा का (उसके आगे क स्तोत्र में) का 'भाव नाम' दिया है वह यथापि साम्बद्धशास्त्र की परिमापा का सोध कर ही दिया गया हांगा।

इस प्रकार साम्बद्धशास्त्र म अनुसार मूल-अध्यक्ष-प्रहृति से अपेक्षा वर्णनता के अनुसार मूल उद्योगी पञ्चम से सुर्वि के भूत्र सर्वीक और निर्विक अध्यक्ष पदाय अमरा उत्पत्ति हुए। और उन सुर्वि के सहार का समय आ पूर्वोत्तरा है वर्तम सुर्वि रचना का जो गुणपरिणामक्रम ऊपर फ्लाया गया है तीक उसके विकल क्रम से सब अध्यक्ष पदार्थ अव्यक्त प्रहृति में अभ्यरा मय ब्रह्म में लीन हो जात है। यह विवान्त सारुज और वेदान्त ऐना शब्द का मान्य है (वे म २ ३ १८ म. मा शा २५२)। उग्रहरणाथ पञ्चमहाभूता में एप्टी का अव्य पानी में पानी का अमिति म अमिति का वायु में वायु का आकाश म आकाश का तन्मात्राभौति का अद्विकर में अद्विकर का त्रुटि म और त्रुटि या महान का अव्य प्रहृति में ही जाता है तथा वेदान्त के अनुसार प्रहृति का सब मूल ब्रह्म में हा जाता है। साम्बद्ध शारिका म विनी स्थान पर यह नहीं अत्यव्यया गया है कि सुर्वि की उत्पत्ति या रचना हो गए पर उसका सब तथा सहार हान तक शीज में द्विना समय द्या जाता है। तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि मनुसहिता (१ १३-३१) मानवीता (१ १०) तथा महापरत (शा ११) में वर्णित शास्त्रगता साम्बो का भी मान्य है। हमारा उत्तमाधर देवताओं का दिन है भार हमारा दक्षिणायन उत्तरी रात है। क्योंकि भूतित्रयों म और त्यातिरिक्त त्रीयों की दिनरात के वरापर है भार हमार १६ कर देवता तो के ३६ दिनरात अपेक्षा १८ दिन के प्राप्त है। इत ऐना द्वापर रीत कमि हमार पार पुग है। मुग की काश्गता "म प्रकार १-हत्युग म चार हत्यार द्वय देवतामुग म लीन हत्यार नापर म दो हत्यार और कठि म एक हत्यर द्वय। परन्तु एक पुग नमाम होत ही दृप्तरा द्वय १८नम जारीम नहीं हा जाता द्वय म तो मुग क नाम-दरात्र म दुउ द्वय तीन जात है।" म प्रकार हत्युग भाव और भूत म से प्रयत्न और चार द्वय का देवतामुग क आग और चीड़ प्रधिक

है। उग्राहरणार्थं शेष उपा पाद्युपत व्यानो मे शिव एवं निमित्तकारण मान कर यह कहते हैं कि उसी से कार्यकारणात् पौच्छ पड़ाव उत्पन्न हुए। और नारायणीय या मार्गशत्रुमें मे पासुदेव का प्रचान मान कर यह कह करन किया है कि पाहुडे वासुदेव ऐ सक्षम ( चीव ) हुआ सक्षम से प्रश्नम ( मन ) और प्रश्नम से अनिष्ट ( अहाकार ) उत्पन्न हुआ। परन्तु वेदान्तशास्त्र के अनुसार चीव प्रस्त्रेव समव यथे सिरे से उत्पन्न नहीं होता। वह नित्य आर सनातन परमेश्वर का नित्य - अवश्य अनात्मा - अस्ति है। इसलिये वेदान्तशस्त्र के दूसरे अव्याय के दूसरे पाँड ( वे स २-४२-४३ ) मे मार्गशत्रुम म वर्णित चीव के उत्पत्तिशिपयक उपयुक्त मत का लक्ष्य करते कहा है कि वह मत वेदविष्ट अतपव त्याज्य है। गीता ( १३ ४-१५ ७ ) मे वेदान्तशास्त्रो के इसी सिद्धान्त का अनुवाद किया गया है। उसी प्रारंभ साम्यवाची प्रहृष्टि और पुरुष दोनों को स्वरूप तत्त्व मानते हैं परन्तु उस द्वैत के स्वीकार न कर वेदान्तिया ने यह किछान्त किया है कि प्रहृष्टि और पुरुष दोनों दोनों एक ही नित्य और निरुण परमात्मा की विभूषिता है। यही सिद्धान्त मात्राद्वैता को भी बाब्द्य है ( गी ९ १० )। परन्तु उस का विस्तारपूर्वक विवेचन अग्रसे प्रकरण मे किया जायगा। मर्हों पर केवल उन्ना ही कठलाया है कि मार्गशत्रु या नारायणीय यम म वर्णित वासुदेवमधि का आर प्रहृष्टिप्रभान यम का तत्त्व विद्यार्थीता को मान्य है तथापि गीता मार्गशत्रुम की उस कसमना से सहमत नहीं है कि पाहुडे वासुदेव से सक्षम या चीव उत्पन्न हुआ और उत्तरे आग प्रश्नम ( मन ) उप प्रश्नम से अनिष्ट ( अहाकार ) का मारुर्ध्वं हुआ। सक्षम प्रश्नम या अनिष्ट का नाम उक्त गीता मे नहीं पापा जाता। पाद्युपत मे कठलाये हुए मार्गशत्रुम मे उपा गीता-प्रतिपादित मार्गशत्रुम म यही तो महत्व का मेर है। उस बात का उल्लेख पहुँच जान चून कर किया गया है। क्योंकि कश्च इतने ही से - कि मात्राद्वैता मे मार्गशत्रुम कठलाया गया है - कोई यह न समझ सके कि सुष्ठुप्तिकम विषयक अथवा चीव परमेश्वर स्वरूप-विषयक मार्गशत्रु आदि मारुर्ध्वायाय के मत भी गीता को मान्य है। अब इस बात का विचार किया जावगा कि लाम्ब्यवाच्चोह प्रहृष्टि और पुरुष क भी पर सद व्यक्तायक तथा भरायर अग्र के मृढ मे काइ तत्त्व है या नहीं। उसी को ज याम या वेदान्त कहते हैं।

नाश नहीं हो जाता इससिये ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति भी और सहार का विषेषज्ञ करते समय "नसा विचार नहीं किया जाता । कर्य ब्रह्मेष्व का एक दिन अपेक्षा रात्रि है और ऐसे १६ दिन तथा ३६ रातियों मिल कर ब्रह्मेष्व का एक वर्ष होता है ।" यही से पुराणार्थिक (विष्णुपुराण २ ३) में यह वर्णन पाया जाता है कि ब्रह्मेष्व की क्षायु ऊँके छा वर्ष की है । नसम भी आधी भीड़ गा । दोप धायु के अपार्वत् इक्ष्याक्षनवं वर्ष के पहले दिन का अपेक्षा शतवाराह नामक कस्य का अब भारतम् हुआ है और इस कस्य के चौथे मन्त्रन्तर में से ४८. मन्त्रन्तर भीतुं शुक्र तथा शात्रुं (अपार्वत् वक्त्सत्) मन्त्रन्तर के ७२ महायुगों में से २३ महायुग पूरे हो गय । एवं अब ८वें महायुग के कस्तियुग का प्रथम अवधीन् चतुर्प भाग चरी है । संकृत १ ६ (शङ्क १८ १) में "स कस्तियुग क वृद्धि ८ वर्ष शीत चुके ।" स प्रसार गणित करने से मात्रम हाया कि "स कस्तियुग का प्रथम होने के लिये दीवृत् १ ६ म मनुष्य के ३ साल १ हजार वर्ष धूप ये पिर बतमान मन्त्रन्तर के अन्त म अपेक्षा बतमान कस्य के अन्त में होनेवाले महायुग की वर्त ही क्या । मानवी चार भव्य भव्य भव्य भव्य करो" वर्ष का ये ब्रह्मेष्व का दिन "स समय जारी ह उसका पूरा मध्याह्न भी नहीं हुआ । अर्थात् सात मन्त्रन्तर भी वर्ष सक नहीं चीड़े हैं ।

मृष्टि की रचना और सहार का सो अब तक विषेषज्ञ किया गया बहुतेकान्त क - आर परखास का छोड़ देने से सार्वयशास्त्र क तत्त्वज्ञान क आधार पर दिया गया है । इसकिये मृष्टि के उत्पत्तिक्रम की यही परम्परा का हमारे धार्मकार लौटे व्यापार मानत है भीर पर्ही कम मानवीता में भी दिया रहा है । "स प्रसरण के भारतम् ही म अवधि दिया गया है दि मृष्टिगणनिक्रम के बारे में कुछ निप्र मिम विचार पाये जाते हैं । उसे अभिन्नमतिपुराण में कही कही कहा है कि प्रथम मृष्टिव या हिरण्यगर्भ उपर्युक्त हुआ अपेक्षा पहले पारी अवधि हमा नार उपर्युक्त परमेश्वर क वृद्धि से पहले मृष्टिगम्य अप्या निमित्त रहा । परन्तु "न सर विचारा का गोंग तथा उपर्युक्त उपर्युक्त उपर्युक्त उपर्युक्त उपर्युक्त उपर्युक्त उपर्युक्त का समय क्षात्रा ह तब यही क्षा जाता है कि हिरण्यगर्भ अपेक्षा मृष्टिव है । प्रहनि है । मानवीता (१८ ३) म विष्णुगामक प्रहनि ही का मृष्टि वर्ष है - मम यानिनहन वर्ष ।

"र भगवान ने पह भी कहा है कि हमार दीर्घ स इस प्रहनि के विगुणों के द्वारा भव विविध उपर्युक्त होती है भव व्यापारों म एसा वर्गन दि क्राम्य स भारत म अप्रभवी काल मानवयुक्त भवग मनु उपर्युक्त नार उम्हान भव वर्ष चरन्पर भृष्टि का विभाग किया (म भा ५६-५७ म भा ३ मनु १ १८-१९) और इन का गोंगा म भी एवं वर्ष उपर्युक्त किया गय । भी १) परन्तु व्यामध्य वा प्रायान वर्ष है कि इन वर्ष निप्र निप्र व्यामा मे ब्रह्मेष्व वा ही प्रहनि मनु एवं उपर्युक्त नान्दिक्ष मृष्टिगम्य इन वर्ष मा हो जाता है भीर पर्ही व्याप एवं व्यामा मे भी उपर्यार्थ हा व्यामा

निष्पत्त होनेवाली सच्च-रज सम-गुणमयी अख्यक्त प्रहृति ये शेना स्कन्दन हैं और इस प्रकार ज्ञान के मूल्यकल्प को द्विषा मानना आवश्यक है। परन्तु बाह्यन्त तक के भागे जा कर या कहता है कि यास्त्य के 'पुरुष निर्गुण ऐही ही हा तो मेरे वे असच्चय हैं।' 'समिष्ये वह मान छेना अधित नहीं कि इन असच्चय पुरुषों का व्याप्ति किंवद्ध भाग में हो उसे च्यन कर प्रत्येक पुरुष के साथ तनुसार व्याप्त करने का सामाज्य प्रहृति में है। ऐसा मानने की अपेक्षा सात्त्विक तत्त्वज्ञान की इष्टि से तो यही अकिञ्चित पुरुषसम्बन्ध होगा कि उस पक्षीकरण की स्थिति किया का अन्त तक निरपक्षाद उपयोग किया जाए और प्रहृति द्वया असच्चय पुरुषों का पक्ष ही परमतत्त्व में अभिमुक्त्य से समावेश किया जावे ज्यो अधिमक्त्य विमुक्त्य के अनुसार नीचे स ऊपर उक्त की अणीया मैं भीतर पड़ती है और किसी उदायता से ही उष्टि के अनेक व्यक्त पक्षों का पक्ष अख्यक्त प्रहृति में समावेश किया जाता है ( गी १८ २०— )। भिन्नता का यहां होना अहकार का परिणाम है भार पुरुष यही निर्गुण है तो असच्चय पुरुषों के अलग अलग रहने का गुण उसमें रह नहीं सकता। असच्चय यह कहना पड़ता है कि बसुता पुरुष असच्चय नहीं है। केवल प्रहृति की अहकारमयी उपाधि से ऊनमें अनेकता दीप्त पट्टी है। दूसरा पक्ष प्रभ यह उठता है कि स्कन्दन प्रहृति पा स्कन्दन का पुरुष के साथ जो सयोग हुआ है वह सत्य है या भिन्न्या ! यही सत्य माने, तो यह सयोग कमी भी घट नहीं सकता। अतएव यास्त्यमतानुसार आत्मा का मुक्ति कमी प्राप्त नहीं हो सकती। यही भिन्न्या माने तो यह सिद्धान्त ही निर्गुण या निराचार ही ज्याता है कि पुरुष के सयोग से प्रहृति अपना एक उसके भागे भेज करती है। और यह इश्वरा भी ठीक नहीं कि विष्ये प्रकार गाय अपने बछौरे के भिष्ये दूष देती है उसी प्रकार पुरुष के शाम के भिष्ये प्रहृति उन कार्यविनाश रहती है। स्वीकृति वहाँ गाय के पेट से ही पैदा होता है। न्यस्तिय उस पर पुरुषवास्तव्य के प्रेम का उत्तराखण देना उत्तमित होता है ऐसा प्रहृति और पुरुष के विषय में नहीं कहा जा सकता ( व त शा मा ३ )। यास्त्यमत के अनुसार प्रहृति और पुरुष होना तत्त्व अस्ति भिन्न है – यह भी है दूसरा सचेतन। अ-आ ज्यव ये शेना पक्ष यहाँ के उत्तराधि काउ से ही पक्ष दूसरे में अल्पम भिन्न और स्कन्दन है, तो फिर पक्ष की प्रहृति दूसरे के पक्षाङ्क ही के भिष्ये क्यों होती जाहिय ? यह तो कार्य समाचारनाशक उसक नहीं कि उनका स्वयमाव ही देता है। स्वयमाव ही मानना हो तो फिर हेतुप का ज्ञानात्मकाद क्यों तुग ह ? हेतुप का भी भिन्नाम यही है न कि मूलप्रहृति के गुण की उद्दिहत हात उमी प्रहृति म अपन ज्ञाप का दरमन की और स्वयं अपन विषय में विचार करने की वित्तपराहिति उत्तम हो जाती है – अपान यह प्रहृति का स्वयमाव ही है। परन्तु इस मत का स्वीकार न कर यास्त्यमत ने यह भेज किया है कि 'इष्टा भव्य है और इष्ट्यमृदि अल्प है। अब यह प्रभ उत्तराधि हाता है कि यास्त्यमती विष्य गाय का व्याप्त्यमत वर इष्टा पुरुष और इष्ट्यमृदि म भद्र क्लासन हैं उमी

नीर्वाँ प्रकरण

## अम्यात्म

परस्तम्भानु भायाऽन्योऽन्यक्षत्रिक्षात् सनातमः ।  
य ए मद्देषु भूतपु न द्यत्तु न दिव्यति ॥०

- गीता ८ २

पिंड । प्राणों का भाग यही हि धारण बनार में भिन्न भरत है,  
भी वा लालायन में पुण्य बरत है । मगध भाग वा पर भार भूर्ति के  
भाग और उत्तर का दिवार बरन पर लायमा के भनुमार भन्न म बरउ प्रही  
भर पुण्य व ही । लाल नदी लाल लाल रह रह है और पुण्य वा भान  
प्रा की विजिनि का न लाया मैलान इ प्रास कर ल्ले । ऐसे प्रही म भमा  
नि उ लाया राह रह दिलाई हन ना देय । प्रही भार दुष्ट वा  
प्रदाह रह वा प्रही लाल उ पुण्य के सामन भिन्न दृश्य एवं व्यक्ति है इन  
ऐसे का प्रभ रासन्नन गुलाम लभी न लाल लायन म तुल दिलाल लाया  
हि रि ॥ ८ १ ॥ दि वा लभि लाये की वा वा उत्ती दार्त व्या ल्ली  
हाल अम म लाल लिलुर हाल राम गहा इग लालेला लंबे क । शार प्रह  
- रह समा इह राह राह प्रही म ही तार राह राह प्रगाकर के  
भाग अम इन म लंका हाल । राह राह लालेली इन ऐसे का भमा  
ए लम्भा - यह इय लाया का लिय ह इर्त उ रह इग दिय वा वा  
- ॥ नीर्वाँ दा इन लम्भा म वर्त वा यह लाल इ लिय  
दह ॥ ८ ८ ॥ दि रह लाल ली ॥ राम लेवा का भद्र कर रह और लकुप्प  
म लु ॥ लम्भे लम्भे दा लाला है । भावु लहू लेवा लकुग ॥ लाल  
लाल लम्भे लम्भे लिय लाल म भाव लिय लाल लाल लाल लाल लाल । लिय  
८ ॥ ८ ॥ ८ ८ ॥ लाल लम्भे लम्भे लाल लाल पुर हाल ॥ ८ ८ ॥ भाव लिय  
८ ॥ ८ ॥ लाल लम्भे लम्भे लाल लाल लाल लाल ।

लाल लम्भे लाल लिय लाल लिय लाल ।  
लाल लिय लाल लिय लाल लाल लाल ॥

“ लाल लम्भे लम्भे ॥ ८ ८ ॥ लाल लिय लाल लाल लिय लाल  
- ॥ ८ ८ ॥ लाल लम्भे लम्भे ॥ ८ ८ ॥ लाल लिय लाल लाल लिय लाल ॥

की आवश्यकता ही क्या है ? हों यदि प्रत्येक मनुष्य का मन या अन्तःकरण लमान रूप से शुद्ध हो तो फिर वह प्रभ भीक होगा । परन्तु जब कि अपना यह प्रत्यक्ष अनुमति है कि सब व्येगों के मन या अन्तःकरण की शुद्धि और घटि एक सी नहीं होती तथ जिन व्योगों के मन अन्यन्त शुद्ध पवित्र और विशाल हो गय हैं ; उन्हीं की प्रतीति “स विषय में हमार जिसे प्रमाणभूत होनी चाहिये । यो ही

मुझे ऐसा मालम होता है और तुम देसा मालम होता है ” कह कर निरर्थक बात करने से क्षम्य सामन न होगा । वेदान्तशास्त्र तुम्ह सुसिद्धि का उपयोग करने से किन्तु उच्छ नहीं रोकता । वह सिफ यही कहता है कि “स विषय में निरी सुसिद्धि वही तर मानी जायेगी वहाँ तक कि इस सुसिद्धि से अन्यन्त विशास पवित्र और निमल अन्तःकरणवासे महामाझों के विषयसम्बन्धी साधात् अनुमति किंवद न होता है । क्योंकि अ यामशास्त्र का विषय स्वयंवर है — नर्षान् देवता भाद्रिमीठिक सुविद्या एव उपका निर्णय नहीं हो सकता । दिस प्रकार भाद्रिमातिकशास्त्री में है अनुमति त्याज्य माने जाने हैं कि जा प्रवृत्त के विषद हा उसी प्रकार वेदान्तशास्त्र म सुसिद्धि की अपेक्षा उपर्युक्त स्वानुमति की ( अग्रह भास्त्रमप्रतीति की दोष्प्रता ही अधिक मानी जाती है ) । जो सुक्षि इस अनुमति क अनुकूल हो उसे देवान्ती अवस्थ मानता है । भीमान् ध्यकरणात् ने अपने वेदान्तशास्त्री के भाष्य में वही सिद्धान्त दिया है । अ यामशास्त्र का अभ्यास करनेवालों को “स पर हमेशा भास रामा चाहिये ।

अचिन्तया गगु ये भावा न तोस्तकेष्व साधयेत् ।

प्रकृतिस्पृष्टः पर यस्तु तदचिन्तयस्य लक्षणम् ॥

ये वज्र अनिवार्यता है । और इसी खिय किनका किन्तुन नहीं किया यह सकता उनका निर्णय केवल तक या अनुमान से नहीं कर लेना चाहिये । यारी सुषि की मूल प्रहृति से भी पर ये वज्र है वह इस प्रकार अचिन्तय है । — यह एक पुराना स्मैक है जो मटभारत ( भीष्म १ ) में पाया जाता है ; भार जा भीष्मक्षय वज्र क वेदान्तभाष्य म भी ‘सापयन के पाठ्यमूल से पाया जाता है ( वै. ल. शा. मा २ ३ ) । मुहूर भास क्षयनिमद् म मी दिया है कि भास्त्रशन केवल सर ही न नहीं प्राप्त हो सकता ( मृ ३ ३ कर २८ और २९ ) । अव्याप्तमात्र म उपनिमद् मन्त्रों का विशय महसूस भी “सी दिय है । मन की एकाप वरन क उपाया क विषय म प्राचीन काम म हमार दिन्दुस्तान में पात ज्ञात है चुरी है भार भल म इष विषय पर ( शातक्रूर । यामशास्त्र नामह एव मन्त्रम् वायर ही नियमा ह । यो है श. र. करि इष यामशास्त्र म अन्यन्त प्रतीष एव तथा जिनक मन इष्यन्त ही म ३ तल वायक और विशाल ए उन महामाझों न मन का न अनुय वरन आ मा क इष्यन भार विषय म जा अनुभव प्राप्त किया ।

न्याय का उपयोग करते हुये और आगे क्या न चांड़ ! इस्य सृष्टि की कोई किवनी ही सूखता से परीक्षा कर और यह जान है, कि किन नेत्रा से हम पश्यों को ऐसी परापरता है उनके मन्दिरन्तुओं में अमुक असुक गुण घम है। तथापि इन सब जातों को बननेवाला या 'शृणा' मिल रहा ही जाता है। क्या 'स शृणा' के विषय म—जो इस्य सृष्टि मिल ह— किनार करने के लिये कोई साधन या उपाय नहीं है ? और यह जानके कल्पि भी कोई मार्ग है या नहीं कि 'स इस्य सृष्टि का सभा स्वरूप ऐसा हम अपनी अन्तियो से अनुकूल है जैसा ही है या उससे मिल है' साम्पर्कारी अहंता है कि इन प्रभों का निषय होना असम्भव है। अतएव यह मान लेना पढ़ता है कि प्रहृति और पुरुष दोनों लक्ष्य मध्य ही में स्वतन्त्र और मिल है। यदि केवल भाषिमौतिक शास्त्रों की प्रशास्त्री से किनार कर देंगे तो सार्यज्ञानिया का मत अनुचित नहीं कहा या सकता। कारण यह है कि सृष्टि के अन्य पश्यार्थों को ऐसे हम अपनी अन्तियो से देखमाल कर उनमें गुणघमों का किनार करते हैं वैसे यह ब्रह्म पुरुष या देवमेवाण—अर्थात् किन्तु देवता में 'आत्मा' कहा है वह—ब्रह्मी (अपात् अपनी ही) अन्तियों को मिल रूप में कभी गोचर नहीं हो सकता। और किस पश्यार्थ का 'स मकार अन्तियगात्मर होना असम्भव है यानी वो वलु अन्तियातीत है उसकी परीक्षा मानवी अन्तियो से कैसे हो सकती है' उस आत्मा का विषय मनसान् ने गीता (गी ३) में 'स प्रकार किया है—

नम छिद्रिः शास्त्राजितेन वृहति पावक ।  
न चन द्वेषपश्यापां म शापयति माटतः ॥

**अथात्** आत्मा ऐसा कोई पश्यार्थ नहीं कि यदि इस सृष्टि के अन्य पश्यार्थों के समान उत्त पर ऐकाय आकृति द्वय पश्यार्थ इसका इकलूप हो जाय अवश्या प्रयोगशास्त्र के ऐसे दास्तों से काट-छेँट कर उसका आन्तरिक स्वरूप देख स या आग पर भर जैसे उसका बुधी हा जाय अवश्या हवा म रखने से वह सूक्ष्म जाय। माराय सृष्टि के पश्यार्थों की परीक्षा करने के भाषिमौतिक शास्त्रज्ञानाभा ने किन्तु तुष्ट उपाय द्वारा है एवं सब पर्हीं निष्पत्त हो जैसे ? प्रभ है स्तो दिनर पर निचार करने सु तुउ अठिनाम् दीप नहीं पड़ती। मसा शापयज्ञानिया ने मी 'पुरुष को नियुक्त और स्वतन्त्र केन जाना' कर्तव्य अपने भन्तुज्ञरण के अनुमति से ही जाना है न ? फिर उसी रीति का उपयोग प्रहृति और पुरुष के सबे स्वरूप का निशय करने के लिये क्या न किया जाए ? भाषिमौतिकशास्त्र ज्ञार अप्यामशास्त्र म जो ज्ञा मरी भेद वह यही है। भाषिमातिकशास्त्र के विषय इन्तियगात्मर होते हैं और अभ्यामशास्त्र का विषय अन्तियातीत अपात कैप्रस स्वरूप है यानी उसने भाव ही जानने योग्य है। कोई पह वह कि यदि आत्मा स्वप्नदेश है तो प्रयेक मनुष्य का उत्तर विषय म उसा ज्ञान होने दो पिर भ याप्यशास्त्र

भयात् “अम मा प्रहृति मे या शरीर मे वद रहता है, दन उसे खेल या खीवात्मा कहते हैं और वही प्राहृत गुण से यानी प्रहृति या शरीर के गुणों से मुक्त होने पर ‘परमात्मा कहता है’ (मा शा. १८७ ८४)। समझ है कि ‘परमात्मा श्री उपर्युक्त वा व्याख्यार्थ मिष्ठ मिम जान पह परन्तु बल्कुत नै मिम मिम नहीं हैं। भर-अस्त-सृष्टि और चीव (अथवा लास्यशास्त्र के अनुसार अभ्यक्त प्रहृति और पुरुष) नन गोनी से मी पर एक ही परमा मा है।” सन्ति भी कहा जाता है कि वह भर-अस्त के पर है आर कमी कहा जाता है कि वह चीव के या चीवात्मा के (पुरुष के) पर है—एव एक ही परमात्मा की ऐसी विशेष व्याख्यार्थ कहने म बल्कुत कोई मिष्ठता नहीं हो जाती। श्री अमित्राय ही मन मे रख कर कालिङ्ग ने मी कुमारसम्बद्ध म परमेश्वर का बाण इस प्रकार किया है—

पुरुष के साम के लिये उन्नुक होनेवाली प्रहृति भी तू ही है और स्वय उगाईन रह कर उस प्रहृति का द्रष्टा भी तू ही है (कुमा २ १३)। उसी भौति गीता म मगवान कहते हैं कि मम योनिमहद्वरम् — यह प्रहृति मेरी यानि या मेरा एक स्वरूप है (१४ ३) और चीव या आत्मा भी मेरा ही भग है (१५ ७)। सावध अव्याय मे मी कहा गया है—

शूमिरापोऽनसा वायु ये मना भूद्विरेव च ।  
आह्वार इतीप मे मिष्ठा प्रकृतिरघाता ॥

भयात् शूभी चल अमि वायु आकाश मन तुडि और भहकार — “स तद्द भाट प्रकार की मेरी प्रहृति है; और उसके मिष्ठा (अपरेयमितम्बन्ना) सारे सतार का चारण विस्तर किया है वह चीव भी मेरी ही दूसरी प्रहृति है (गी ७ ४ ७)। महामारत के शान्तिपद म सास्यों के पश्चीत तस्ता का क० स्पृहम पर विदेशन है परन्तु वही यह मी कह दिया गया है कि पश्चीत तस्तों के परे एक उच्चीर्ण (प्रत्यक्षिय) परमताव हूँ विद्युत पहचाने मिला मनुष्य तुझ नहीं वा सतता (शा १ ८)। सृष्टि के पश्चातों का ये ज्ञन हम भजनी श्रवनेन्द्रिया मे होता है वही हमारी यादी सृष्टि है। अतएव प्रहृति या सृष्टि ही का क० स्थानों पर ‘ज्ञन रहा है और उसी रूप से पुरुष ‘शता’ कहा जाता है (शा ३ ६ १६-१७)। परन्तु वा मध्य भेद है (गी १३ ३) — वह व्रजति और पुरुष — ज्ञन और ज्ञाता — म भी पर है। इमलिय मामर्शीता म ज्ञे परमपुरुष वहा है। तीनों व्यों का व्याप्त कर उन्ह मौद्रिक पारण करनेवाला वा यह परमपुरुष या परपुरुष है उने पहचाना। वह एक ही भयन है निय ह भजत है। यह जात केवल मामर्शीता ही नहीं किन्तु बेगन्नगाम्य क सार ग्रंथ एक स्वर म कह रह है। सागरपश्चात्य में भजत और ज्ञात जात्या या विज्ञाना का ग्रंथात प्रहृति के विषय किया जाता है। क्याति वाप्या का विडाल है कि प्रहृति की भव वा भवित गृह्ण और वाई

अभक्ता आत्मा के स्वरूप के विषय में इनकी धूम और पान्त बुद्धि में जो सूर्ति हुई — उसी का बणन उम्हाने उपनिषद् प्रन्थों में किया है। “सहिये किसी भी अव्याप्त तत्त्व का निर्णय करने में ”स भृतिमन्था में कहे गये अनुमतिक लान का सहाया केन के अतिरिक्त का” यूसुरा उपाय नहीं ह (कृ ४ १)। मनुष्य के लाल अपनी बुद्धि की तीक्ष्णा से उस आत्मप्रतीति की पीणक किम मिम मुक्तियों फलम सकेगा परन्तु ”ससे उस भूल प्रतीति की प्रामाणिकता में रखी भर भी शूलादित्तता नहीं हो सकती। मात्रकीता की गणना स्मृतिप्रन्थों में की जाती है सही परन्तु पहले प्रसरण के आरम्भ ही में हम कह चुके हैं कि इस विषय में गीता की यात्यरा उपनिषद् की कठाकरी की मानी जाती है। अतएव ”स प्रसरण में भव आगे चल कर एक यह फलाया जायगा कि प्रहृति के परे वा अचिन्त्य पराये हैं उसके विषय में गीता और उपनिषदों में भीन भीन-से मिलान्त किये गये हैं और उनक कारण का (अर्थात् शास्त्रीति से उनकी उपपत्ति का) किनार पीछे किया जायगा।

सारथकाणियों का द्वैत — प्रहृति और पुरुष — मात्रकीता को मान्य नहीं है। मात्रकीता के अव्याप्तशान का और वेगन्तशास्त्र का भी पहला ठिडान्त यह है कि प्रहृति और पुरुष से मी पर एक सबम्पापक, अव्यन्त और अमृत तत्त्व है जो चर अन्तर सहि का मस्त है। साम्यों की प्रहृति यद्यपि अम्बक है तथापि वह अनुग्रामक अपान चगुण है। परन्तु प्रहृति और पुरुष का किनार करते समय मात्रकीता के आनन्द अव्याय के लीसवे क्लोक म (इस प्रसरण के आरम्भ म ही यह अमृत दिया गया है) कहा है कि चगुण है वह नाईनान् इ “सहिये इस अव्यक्त और सगुण प्रहृति का यही नाश हो जाने पर भल म जो तुड़ अम्बक गौप रह जाता है वही सारी सुष्टि का सज्जा और नित्य तत्त्व ह। और आगे पञ्चाहके अ वाय (१ १७) में भर और अभर — अमृक और अम्बक — ”स मौति साम्याधास्त्र के अनुसार तत्त्व फलम कर यह वर्णन किया है —

तत्त्वम् पुरुषस्त्वन्यः परमामेत्पुद्धाहतः ।  
या होक्त्रयमाग्निहय त्रिमर्यहय ईश्वर ॥

अबान् अ न गाना थे मी मिम है वही उत्तम पुरुष है उसी का परमात्मा कहत है वही भव्य और तर्बद्यरिमान् है और वही तीना छोरों में व्यास हो कर उनकी रक्षा करता है। यह पुरुष भर और अभर (व्यात् अमृक और अम्बक) न गाना में मी परे ह। ”सहिये उस पुरुषोक्तम् कहा है (गी १ १८)। महाभास म मी द्यु श्रवि ने मरदाङ से ‘परमात्मा शक्ति की व्याप्ति फलमते हुए रहा ह —

आत्मा शक्ति इम्पक सपुत्र शाकृतंगुणं ।  
तत्त्वं तु विष्वेष्क परमामेत्पुद्धाहतः ॥

उपर हा गंव है। यह चिङ्गास्त सब स्वर्गों का एक सा प्राप्ति है कि जीव भीर करन् के सार स्वरूप परमेश्वर नी इच्छा से हात है। परन्तु कुछ स्वर्ग ता मानते हैं कि जीव, करन् और पठाय इन तीनों का मन्महाप्रभाकाश के समान एक ही भीर भगवन्नित है तथा तूने बड़ास्ती कहते हैं कि जैन भीर चेतन्य का एक होना सम्भव नहीं। अतपश्च अनार या शादिम क फल में वद्यनि भवन्त तामे होते हैं ता भी न्सस ऐन फल की एकता नहीं होती बले ही जीव भीर उग्र पश्चिम परमेश्वर में मेरे हृष्ण हैं तथापि ये मुख में उमस निष्ठ है और उपनिषद में वृत्त प्रेसा बनन भावा है कि तीनों 'एक हैं तथ उसका भव शादिम के फल के समान एक अनन्त चाहिये। बद जीव के स्वरूप के विषय में यह मतान्तर उपरिधित हा गया तब मिथ्य मिथ्य साम्प्रदायिक गीकाकार अपने अपने मत के अनुसार उपनिषदों और गीता का वद्यनि स्वरूप — उत्तम प्रतिपादित वद्यनि कमयाग विषय — सो एक और रह गया और अनेक साम्प्रदायिक गीकाकार के मत में गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय यही हा गया कि गीताप्रतिपादित वेदान्त द्वन्द्वत का हा या अद्वैतमत का ! अस्तु 'सर्वे वार में अविक्ष विचार करने के पहले यह उग्रता चाहिये कि ज्ञात् (प्रहृति) जीव (ज्ञानमा अवका पुरुष) भार पठाय (परमात्मा अवका पुरुषात्म) के परस्पर सम्झौत के विषय में स्वयं मावान् भीहृष्ण ही वद्यना कि 'स विषय में गीता भीर उपनिषदों का एक ही मत है भार गीता में कहु गये सब विचार उपनिषद में पहले ही आ चुके हैं।

प्रहृति और पुरुष के मी पर यो पुरुषोत्तम परपुरुष परमात्मा या पठाय है उसका वाणन करते समय मगावद्वीता में पहले उसके ते स्वरूप उत्तमते गये हैं यहा स्वरूप और अस्यक्ष (भाग्य से निष्ठनेवाला और अस्मिया से न निष्ठनेवाला)। अप इसमें संत्वेत्त नहीं कि स्वरूप स्वरूप अर्थात् अनियगोचर रूप संगुण ही होना चाहिये। और अस्यक्ष स्वयं यद्यपि इन्द्रियों को अगोचर है तो भी 'नहने ही से यह नहीं कहा या उक्ता कि वह निरुण ही हो। क्योंकि यद्यपि वह हमारी जाग्या से न दील पढ़े तो मी उसमें सब प्रकार के गुण एवं रूप से रह सकते हैं। 'समित्य अस्यक्ष के भी तीन में विषय गये हैं जेसे संगुण संगुणनिरुण और निरुण। यहौं 'गुण शब्द में उन सब गुणों का समोकेता किया गया है कि किनका ज्ञन मनुष्य को वेकल उत्थकी वास्तेनिया से ही नहीं होता किन्तु मन से भी होता है। परमेश्वर के मूर्ति भाव अवसार भावान् भीहृष्ण स्वयसामात् अर्कुन् के सामने सौं ही कर उपरोक्ष कर रहे थे। इसमित्य गीता में ज्ञात् ज्ञात् पर उन्होंने अपने विषय में प्रथम पुरुष का निर्देश इस प्रकार किया है — अहं प्रहृति मेरा स्वरूप है (८) जीव मेरा भव्य है (९) सब ज्ञात् का अत्ययमी ज्ञानमा मैं हूँ (१०) ता तू

उसार में किनी भीमान या विभूतिमान मृतियों है वे सब मेरे ज्ञान से ऊपर दूर हैं (११) मुझमें मन ज्ञान कर मेरा मत हो (१२) ता तू

मी मध्यारण एवं गति का नहीं है (सा. का ६१)। परन्तु यहि वेश्वरत की इष्टि से तथा वा परदाय ही एक अभाव है। यानी उत्तर कभी नाय नहीं हाता भार वही अव्यक्त है—अथात् अनियगाचर नहीं है। अतएव इस में पर पाठक सब व्याप्ति राग, कि भाववर्तीता में अभाव भीर अव्यक्त शब्दों का प्रहृति से पर ए परदाय व्यष्टि का विस्तरने के लिये भी किया गया है (गी. १ २३ १५ १७)। यह इस प्रसार वेश्वरत की इष्टि का स्वीकार रिया गया तद इसमें सन्दर्भ नहीं, कि प्रहृति को अभाव पहना उचित नहीं है—आह वह प्रहृति अव्यक्त भव ही हो। भुषि के उत्थापिक्रम के लिये मैं सामांयों के विद्वान्त गीतों का भी मान्य है। इसलिये उनकी निष्प्रित परिमाणा में मुछ अस्वरूप न पर, जन्हीं के गाया म लार भासर मा व्यक्त अस्वरूपि का घमन गीतों में रिया गया है। परन्तु स्मरण रह कि इस व्यज्ञन से प्रहृति भार पुकार के पर ये तीसरा उत्थाप युक्त है उसके उत्थापित्व में युछ भी जापा नहीं होने पानी। “सरा परिणाम यह हुआ है कि जहाँ नगदीता म परदाय के व्यष्टि का घमन रिया गया है वहा सामाज भार द्वान्त के मनास्तर का सन्दर्भ मिग्नि के लिय (सामाज) भावक क भी पर का अस्वरूप भार (सामाज) अभाव से भी पर का भासर इस प्रसार के घमन का उपमाण बतना पाया है। उत्थाहरणात् इस प्रसरण के व्याप्ति में जो खोड़ रिया गया है उसे देखा। सारांश गीतों घमन व्यमय इस घात का गया व्याप्ति रामना आहिय कि ‘अस्वरूप भीर भासर य दोना व्यक्त कभी सामाया की प्रहृति के लिय और कभी व्यानिया के परदाय के लिय—भण्डू वा भिज्म प्रसार से—गीतों में प्रयुक्त रह रहा है। उत्थान का दूसरा व्यष्टि का लिया व्याप्ति की पर दूसरा अव्यक्त तत्त्व है। उत्थान के भावित्व के व्याप्ति में व्यष्टि के भी पर दूसरा अव्यक्त तत्त्व है। आगे इस लिय का विवरण किया जायगा कि इसी में से अस्यामशास्त्रविग्रहात् मास्तक्ष्य भीर सामाया के मास्तक्ष्य में भी भेद किया हो गया।

सामाया के इन—प्रहृति भीर पुरुष—का न मान वर यह यह मात् रिया रखा। इन उत्थान की उठ मेरमध्यरूपी अपदा पुरुषास्त्रव्यष्टि एवं तीसरा ही लिय तथा इ भीर प्रहृति तथा पुरुष रामा उसकी विनृतिया है तब तद्वारा ही पह त्रभ रामा इ भी उत्थान मास्तक्ष्य के व्यष्टि करा है प्रहृति तथा पुरुष से इतना बान सा मास्तक्ष्य है। प्रहृति पुरुष भीर परमधर इसी वर्षीय का नाय जास्त व्यक्ति से होना भी रामधर बहन है तार इन तीनों रम्जुओं के एवं एवं इन यात्राएँ कास्तक्ष्य का लिय बहनों ही जान्त्रान्त्र का प्रवर्तन बन्द है। एवं वर्गांश में भी यर्षी रक्षा की गई है रक्षा से वर्गांशों का मन अन वर्षीय है। लिय म एवं नीर वाह उत्थान है कि य वर्षीय दर्शा भार्ति में देव ही है भीर वाह पर म एवं इ भीर वाह वामधर म ए ही में वाह या वर्षीय भर उत्थी भर उत्थी भर

माया इष्टा मधा सुहा यन्मी पश्चसि नारद।  
सर्वसुखुमैर्दुर्घुके नैव त्वं हातुमर्हसि ॥

तुम मेरा जो रूप देंग रहे हो वह मेरी उत्पत्ति की हुई माया है। इससे तुम वह न समझो कि मैं उत्पृथ्वी के गुणों से सुख हूँ। और किसे वह मीठा है कि मेरा उत्था स्वरूप सर्वभ्यापी अव्यक्त और नित्य है। उसे चिद् पुरुष पहचानते हैं (चा ३३..४४ ४८)। इससे कहता पढ़ता है कि गीता में बर्णित मात्रान् का अर्जुन को विषयवाक् दुमा विश्वस्य मीठा मायिक था। साराज्ञ, उपर्युक्त विवेचन से “स विषय मैं दुष्क मीठे हूँ नहीं रह जाऊ कि गीता ज्ञ यही विज्ञानतु होना चाहिए कि व्यापि भेदभाव उपासना के लिये अव्यक्त स्वरूप की प्रशासा गीता में मात्रान् ने की है तथापि परमेश्वर का अह अव्यक्त अर्थात् नित्रिय क्षेत्र अगोचर ही है और अव्यक्त से व्यक्त होना ही उसकी माया है। और “स माया से पार हो कर वह तुम मनुष्य का परमात्मा के द्वारा सत्या अव्यक्त रूप का ज्ञान न हो तब तक उसे मोम नहीं मिल सकता। अब इसका अधिक विचार आगे करेंगे कि माया का वस्तु है। उपर लिये गये वचनों से “तनी बात स्पष्ट है कि यह मायावाद भीषणपूर्ण थार्ये ने नये लिये से नहीं उपस्थित किया है किन्तु उनके पहले ही भावद्वीपा महामारत आर मागवतभर्म में भी वह प्राप्त माना गया था। शेताभेतरोपनिषद् मैं मी सुषिकी उत्पत्ति “स प्रकार कही गई है— माया द्वा प्रहृति विज्ञानमायिन त्रू महेश्वरम् (शेता ४ १) — अर्थात् माया ही (सम्पूर्ण की) प्रहृति है और परमेश्वर उस माया का अधिपति है और वही अपनी माया से विश्व निर्माण करता है।

अब “तनी बात व्यापि स्पष्ट हो चुकी है कि परमेश्वर का भेद स्वरूप अव्यक्त नहीं अव्यक्त है; तथापि योहा सा यह विचार होना भी आवश्यक है कि परमात्मा ज्ञ यह भेद अव्यक्त स्वरूप संगुण है या निर्गुण। अब कि संगुण अव्यक्त का हमारे सामने यह पक्ष उदाहरण है कि साक्षयात्मकी प्रहृति अव्यक्त (अर्थात् नित्रियों का अगोचर) होने पर मी तंगुण अपादृ सच्च रब तम गुणमय है; तब दुर्ज लेंग पर कहते हैं कि परमेश्वर का अव्यक्त और भष्ट रूप भी उसी प्रकार संगुण माना जाव। अपनी माया ही से न हो परन्तु जब कि वही अव्यक्त परमेश्वर अव्यक्त सुषिक निर्माण करता ह (गी ८) और सब स्त्रीयों के हृत्यमें रहकर उनसे सारे द्यापार करता ह (१० १२) जब कि वह सब यज्ञों का मोक्षा भीर प्रमु है (५ २४)। अब कि प्राणियों के कुरुक्षुर्य आदि तब “मद्य उसी से अपम होते हैं (१ १)। आर जब कि प्राणियों के हृत्यमें भद्रा उत्पत्ति करनेवाला भी वही है परं लम्हे ए तत् कामान मर्येव विद्विनान हि तान (७ २७) — प्राणियों की जातना का पत्र तेवेषात्म भी वही है तब तो वही जात चिद् होती है कि वह अव्यक्त अव्यक्त इन्द्रियों का नगापर भल ही हो उपापि वह द्या करूऽन भादि गुण से सुख अपार-

मुझमे मिल जायगा तू मेरा प्रिय मक्क है "सखिये मैं तुम्हे यह प्रीतिपूर्वक बत सकता हूँ" (१८ १७)। और उपने विश्वरूपन्दर्शन से अङ्गुल को यह प्रस्तुत अनुमति करा दिया कि सारी चरणचर सूर्पि मेर व्यक्त रूप म ही याहान मरी है है तर मगावान ने उसको यही उपदेश किया है कि अच्युत रूप से घ्यन रूप की उपासना करना अधिक सहज है। "सखिये तू मुझे म ही अपना महिमाव रख" (१२ ८) मैं ही ब्रह्म का अव्यय मोज का यात्रत धर्म का भार अनेक सुप्र का मूलस्थान है (गी १४ २७)। इससे धिनित होगा कि गीता म आदि ऐ अन्त तक अधिकाश मैं परमात्मा के व्यक्त स्वरूप का ही ध्यान किया गया है।

"तने ही से क्षेत्र महिं क अभिमानी कुञ्ज परिता और टीकाकारो ने यह मत प्रकट किया है कि गीता म परमात्मा का व्यक्त रूप ही अनित्य साध्य माना गया है। परन्तु यह मत सच नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उक्त वर्णन क साथ ही मगावान् ने स्पष्ट रूप से कह किया है कि मेरा व्यक्त स्वरूप मायिक है भार उसके परे का ओ अच्युत रूप - भर्ता जो निरियो का अगोचर - है वही मेरा सच्चा स्वरूप है। उदाहरणाय सातव अध्याय (गी ७ २४) म कहा है कि -

अच्युतं व्यक्तिमापर्वतं मन्यमे भास्मदुर्दयः ॥

परं भास्ममात्मतो ममास्पदमनुत्तमम् ॥

यद्यपि म अस्य अर्थात् इनियो को अगोचर हूँ तो मूल स्थंग मुझे व्यक्त समझे हैं और व्यक्त हो भी पर के मेरे भेद सदा अस्यक रूप को नहीं पहचानते।" और "सके भग्ने भोक मैं मगावान् कहते हैं कि मैं अपनी यागमाया से आकृति हूँ, "सुखिये सूर्य स्थंग मुझे नहीं पहचानते" (७ ६)। पर जौधे अध्याय मैं उन्हाने अपने व्यक्त रूप की उपपत्ति "स प्रकार कुञ्जर्त है मैं पश्चिम अस्मरहित और अस्यय हूँ, तथापि अपनी ही महरि मैं अधिकृत हो कर मैं अपनी माया से (स्वास्माया से) बन्म किया करता हूँ - अर्थात् व्यक्त दुमा करता हूँ" (४ ६)। वे आग सातवे अध्याय मैं कहते हैं कि यह किञ्चुमात्मक प्रकृति मेरी ऐसी माया है। "स माया को जो पार कर जाते हैं वे मुझे पाते हैं भार "स माया से किम का जान नहीं हो सकता है व मूर नराशम मुझे नहीं पा सकते" (७ ७)। अन्त मैं अटारहै (१८ ६१) अध्याय मैं मगावान् ने उपदेश किया है है अङ्गुल। सब प्राणियों के दृश्य म जीवरूप परमात्मा ही का निष्ठात है और वह अपनी माया से बन्न की मौक्ति प्राणिया को दुमाता है। मगावान ने अङ्गुल को जो विश्वरूप कियाया है वही नारूल को मी दिग्दद्याया था। इसका बासन महामरत के शान्तिपर्वान्त्यत नारायणीय प्रस्तर (शा ३३९) मैं है भार इस पहले ही प्रस्तर मैं बन्न कुन्हे है कि नारायणीय यानी मागवतभम ही गीता म प्रतिष्ठित किया गया है। नारद को इत्तरा नेत्री रगी तथा अन्य दृश्य गुणों का विश्वरूप दिग्दद्या कर मगावान् ने कहा -

पुरुष क्षमय है। किलका भिना कनु (निध्य) हा उसे मूल्य के प्रभाव बहा ही फल भी मिलता है। और मात्राक्षीता भी कहती है— व्यतार्थी की महिं करनेवाले वेयताओं में भी विद्वां भी महिं करनेवाले भिना में ज्ञ मिस्त है (गी १ १) अब वा या यच्छ य एव स— त्विकी इसी भड़ा हो उस दसी त्रिदि मात्र होती है (१७ १)। तात्पर्य यह है कि उपराख क अधिकारमें क अनुमति उपाख्य अस्यक्ष परमात्मा के गुण मी उपनिषद्मा में मिथ्य मिथ्य कहे गये हैं। उपनिषद्मा के इस प्रकरण का विद्या कहत है। विद्या इत्प्राप्ति का (उपाधनात्म) मात्र है, भार यह मार दिस प्रकरण में व्यताया गया है उस भी विद्या ही नाम अन्त में दिया जाता है। शास्त्रस्यविद्या (छ. १ १४) पुरुषविद्या (छ. ३ १६ १७) पवकविद्या (कौटी १), ग्राणोपासना (कौटी १) इत्यादि अनेक प्रकार की उपा चनाभी का वर्णन उपनिषद्मों में विद्या गया है और इन सब का विवेचन केवल उन्होंने घृतीवाच्याप के तीसरे पाठ में किया गया है। उन प्रकरण में अस्यक्ष परमात्मा का सुगुण वर्णन इस प्रकार है कि यह मनोमय प्राणशरीर, मात्रप लक्षणस्य आकाशात्मा सदकर्मी, सदकाम सर्वगत्प और सर्वरत्त है (छ. ३ १४ २)। वैतिरीय उपनिषद् में दो अम प्राण मन अन या आनन्द— ज्ञ रूपा म मी परमात्मा की कहती हुई उपाचना व्यतायर्थ गर्व है (तै २ १—३ २—३)। वह ग्रन्थपत्र (२ १) में गार्व वालकी ने अवाक्यात् को पहले पद्धत आदित्य चन्द्र, विषु अकाश वासु असि अज्ञ मा विश्वामी मे रहनेवाले पुरुषों की ब्रह्मरूप दे उपाचना व्यतायर्थ है परन्तु आगे अवाक्यात् ने उत्तरे यह कहा कि सब ब्रह्म इन्हें भी परे है और अन्त मे शास्त्रोपासना ही को मुख्य द्वाराया है। उन्हें ही से यह परम्परा कुछ पूरी नहीं हो जाती। उपर्युक्त सब ब्रह्मरूपों का प्रतीक अपात् इन सब का उपाचना क विद्या कस्तिरु गौण ब्रह्मस्वरूप अवता ब्रह्मनिर्वाक चिन्ह कहते हैं और अब यही गीणकप विद्यी मूलि के स्वरूप में नेंवों के सम्मे रखा जाता है तब उन्हीं को 'प्रतिमा' कहते हैं। परन्तु स्मरण रहे कि सब उपनिषद्मों का सिद्धान्त यही है कि सब ब्रह्मरूप उससे मिलते हैं (कैन १ २—८)। उस ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करने समय कहीं दो सत्य श्वनमनन्त ब्रह्म (तैति २ १) या विद्वन्मानस्त ब्रह्म (२ १ ९ २८) कहा है। अपात् ब्रह्म सत्य (छ. ८) रान् (विदि) और आनन्दस्त इ— अपात् सविद्वन्नन्तस्यरूप है— इस प्रकार सब गुणों का तीन ही गुणों म लगावेद्य करके वर्णन किया गया है। और अन्य स्वानों मे मात्राक्षीता के समान ही परस्परविक्षय गुणों को प्रकृति कर के ब्रह्म का वर्णन उस प्रकार किया गया है कि ब्रह्म छ. ८ मी नहीं और उत्तर भी नहा (छ. १ १२९ १) अवता अपोरक्षीया महतों महीयान अर्थात् अनु से भी दोग और इन से भी महा है (कृ २ २) नुदेवति तत्प्रवृत्ति तन् वूरे तद्वन्तिके अर्थात् यह हित्ता ह भार हित्ता भी नहीं यह दूर है और समीप भी है (इष. ५ भू १ १ ७) अवता 'सर्वेन्द्रियगुणास्त'

‘संगुण अवश्य ही हाना चाहिए। परन्तु इसके विरुद्ध मालान् देखा भी कहते हैं कि न मा अमापि चिम्पित’— मुझे कमों का अपात् गुणा का भी कमी स्पष्ट नहीं होता (५ १६) प्रहृति के गुणा से मोहित हो कर दूल आमा ही तो कहा मालते हैं (१ २३ १४) अथवा यह अध्यक्ष आर भक्ता परमेश्वर ही प्राणियों के हृदय में शीघ्रत्व से निषास करता है (१३, ३१) और इसी क्रिया द्वारा यह प्राणियों के कर्मसुख और कर्म से क्लीन्य अभिस है, तथापि भक्त्यन में केवल हुए लाग माहित हो जाया करते हैं (६ १४ १६)। इस प्रकार अध्यक्ष अपात् अन्तिमों का भगवान् परमेश्वर के रूप— संगुण और निरुण — तो तरह के ही नहीं हैं किन्तु सङ्क भविरिक्त कही कही न जाना रूप का एकत्र मिल कर भी अप्यस परमेश्वर का बन्धन सिया गया है। उग्हाहरणाप भूतभूत न च भूतस्या (९ ६) में भूता का भाषार हा कर मी उनमें नहीं हैं परन्तु न तो युद् है भीर न असुर् (१३ १) सबोन्तियवान् होने का किञ्चम भोक्ते हो परन्तु जो सर्वोन्तियरहित है भीर निर्णुण हा कर गुणोंका उपर्योग करनेवाला है (१३ १४), दूर ह और सर्वोप मी है (१५ १६) भविमस्त है भार विमल भी शीघ्र पद्धता है (१६ १६) — ‘न प्रकार परमेश्वर के स्वरूप का संगुण निरुण मिभित भक्त्यन परम्पर विरापी दण्डन भी किया गया है। तथापि भारगम में शुचर ही स्पष्टाप में कहा गया है कि यह आमा अध्यक्ष अनिन्त्य और अविकाप है (२६) भीर फिर तरहके अप्याय में — यह परम रूपा अनादि निरुण और अपात् है। इसकिये शरीर में रह कर भी न तो यह कुछ करता है भीर न किसी में किस दृता है (१६ १७) — ‘न प्रकार परमामा के युद्ध निरुण निरवद निर्विशाद, अनिन्त्य अनादि छीर अद्यक्ष रूप की भेदना का दण्डन गीता में सिया गया है।

जग्नार्थीका भी जीति ज्यनिरपा म मी अप्यस परमाम्भा का अप्यव भैन्द्र प्रसार का पापा होता है — अपात् कमी उपर्युक्त यानी संगुण निरुण मिभित और कर्म निरुण इस द्वारा काँ भाक्त्यवक्ता नहीं कि उपासना के क्रिय सुरा प्रस्तुत मति ही रूपा क तामन है। एस स्वरूप की भी उपासना हा करती है कि ज निहरर अप्यत या भादि अनन्तिया का रापर भड़ ही न हो तो मी मन का रापर हुए निला उमर्द अनामन होता तप्त्यन नहीं है। उपासना करते हैं जिन्हें मनन या दण्ड का रूप जनिता वन्नु तो कोइ रूप नहो तो न तहीं। परन्तु उपरूप उपर्युक्त मन का मात्रम न हो तप्त्य तप्त तप्त वह जिन्हें रूपा ही रूपा अनादि उपनिषदी में उठी गही अप्यस भक्त्यन भेदी त न विशाद इत्याप ररमान्त (जिन्हें मनन यान) उपासना इत्याप गरे पर्ही वही अपात् रामधा तप्त्या है करिति किया रूपा है रामामा मैं करिति जपे रूपा उपासन अप्यरम्भात् न्यूनाद्वित रूपाक पा कार्ति रक्ष होते हैं और जिन्हीं उसी जिता हो तप्त्या का है एवं नीं विश्वा है लामेषानिरह (१ १४) मैं करते हैं कि

हर्षो च मेष किंव तरह मिथ्या बाहे ! यह बहा य उक्ता है कि इन दीनों में से जो उगुण निगुण भर्यात् उमयात्मक रूप है, वह सुगुण से निर्गुण में (भयमा अद्वेष में) आने वौ सीढ़ी या सापना है। कर्याक्षि (पहुँचे उगुण रूप का शन हने पर ही) और वैरि एक एक गुण का स्याग करने से निगुण स्वरूप का भगुमत हो रहता है; और इही रीति से ब्रह्मरीक की कठी तुर उपाधना उपनिषदी में उत्तम गर्त है। उत्तारणार्थ सैक्षिकीय उपनिषद् की भगुमती में वस्त्र ने भगु वो पहले यही उपदेश किया है कि अस ही ब्रह्म है; तिर क्रम कम से प्राण मन विज्ञान और आनन्द — “न ब्रह्मरूपो का शन लेने वरा दिया है (तीर्ति ३ २-५)। भयमा ऐसा भी कहा य उक्ता है कि गुणबोधक विधेयों से निर्गुण रूप का वशन उठना भस्यम् है। भवतपव परस्परविरोधी विदेयों से ही उठका वर्णन करना पड़ता है। इत अथ अरथ यह है कि कद हम विद्वी वस्त्र के तम्कन्त में ‘दूर या ‘रुद्’ वाचों का उपचोग करते हैं तब हमें विद्वी अन्य वस्त्र के ‘चमीप वा ‘असत्’ हने का भी अप्रत्यक्ष रूप से बोक हो जाया करता है। परन्तु यहि एक ही ब्रह्म सर्वज्ञापी है तो परमेश्वर के ‘दूर या ‘रुद्’ कह कर ‘चमीप वा असत्’ लिखे छहे ? ऐसी अवस्था में दूर नहीं चमीप नहीं असत् नहीं — “स प्रकार वी माता उपचोग करने के पूर और चमीप रुद् और असत् इत्यादि परस्परचार्ये गुणों की वेदिङ्गी मी स्मा वी जाती हैं। और यह बोध होने के लिये परस्परविस्त विदेयों भी माता का ही अवहार में उपचोग करना पड़ता है कि वो कुछ निर्गुण सर्वज्ञापी, उर्वग निरपेक्ष और स्वतन्त्र बना है वही सच्चा ब्रह्म है (गी ११ १२)। यह कुछ है यह तब ब्रह्म ही है। “समिय दूर वही चमीप भी वही रुद् मी वही और अलद् मी वही है। अतपव दूसरी दृष्टि से उसी ब्रह्म का पक ही समव परस्परविरोधी विदेयों के द्वारा वर्णन किया य उक्ता है (गी ११ १० ११ १५)। अथ चन्द्रपि उमयविभ सुगुण निर्गुण वशन का वौ उपपत्ति इत ब्रह्मार भूत्य मुक्ते द्वापारि इस ब्रह्म का स्वाधीकरण रह ही जाता है कि एक ही परमेश्वर के परस्परविरोधी दो स्वरूप — सुगुण और निगुण — ऐस हो सक्ते हैं। माना कि यह अम्बुज परमेश्वर अम्बुज रूप भर्यात् निद्रियगोचर रूप आरज करता है तब यह उसकी माता कहस्थी है परन्तु अब यह अम्बुज — यानी निद्रियगोचर — न होते हुए अम्बुज रूप में ही निर्गुण का दर्शन हो जाता है तब उसे क्या कहे ? उत्तारणार्थ एक ही निराकार परमेश्वर को कार्त नेति नेति कह कर निर्गुण मानते हैं आर कार्त उसे सत्त्वात् समव परमेश्वर कीन-सा है ? “स किंव और अम्बुज ब्रह्म से घारी अम्बुज सुषि भार वैष भी उत्तराति करु इ ? ” त्याति जाता का जुशाता हो जाना आवश्यक है। यह उत्ता माना अभ्यात्मगामी ही का कार्या है कि सब सकारा का जाता अम्बुज परमेश्वर की विद्याप म संगम है आर उपनिषदों में या गीता में निर्गुण स्वरूप का वै वशन

हो कर भी 'सर्वेन्द्रियमियर्थित है (स्ता ३ १०)। मृत्यु न ननिकेता एव यह उपर्युक्त किया है कि अनन्त म उपर्युक्त भव एवं जीवा पा आह ता और ज भव भार अभ्यम् है, हृत और अद्वृत के भवष्य भूत और भवष्य के मी पर है, ज्ये ही ब्रह्म ज्ञाना (कठ. २, १८)। इनी प्रसार महामारण के नारायणीय भव में प्रवाप सु भ (म भा धा ३५० ११), और मात्रवत्तम में नारायण द्वारा ही जहर है (३५० ८८)। शहरारथ्यमापनिषद् ( ३ ) में मी वृष्टी, जम और अमि—इन तीनों का ब्रह्म का मूल रूप कहा है। किर पायु तथा भासाद्य एवं भमूल रूप वह कर नियाया है ति न भमूला के नारभूल पुरुषा के रूप या रग ब्रह्म बने ह और अन म यह उपर्यु किया है कि निति, निति भवष्यात् भव तद यो कहा गया है वह नहीं ह वह ब्रह्म नहीं है—इन सब नाम-उपर्युक्त भव या भमूल पदार्थों के पर य नएय या भवणीय है उसे ही परायम समझा (शह ३ ६ और व य ३ )। भधिक क्या कहें; किन किन पदार्थों का कुछ नाम दिया गा यक्ता है उन सब में मी पर यो है वही ब्रह्म ह भीर उम ब्रह्म का अव्यक्त तथा नियुष ब्रह्म भिन्नसान के क्षिय 'निति' निति एवं अव्यक्ता लियेश भायेश या मूल ही हा गया है और शहरारथ्यक उपनिषद् में ही उमसा आर बार प्रवाप भाया है (शह ३ ८, ३ ८ ४ ४ २ ४ ६ २ )। अभी प्रसार द्वारे उपनिषद् में मी परायम एवं नियुष भीर अचिन्त्य रूप का वजन पाया जाता है। ज्ये 'यता वाचा निकल त भवाय भवष्य भवष्या भव (धर्मि) भद्रस्य (भद्रस्य) भद्राय' (मु १ ६) न वज्ञाय एवं नात्रपि वाचा (मु ३ ८) भवता—

भद्राम्भपद्माम्भपमर्यपे नवाऽरने विष्यमम्भवज पतु ।

अनायनगती मात्रा पर अस्ति विचार्य तथ्यापुनर्व्याप्तये ॥

भगवन् वह परदाय पश्चमरात्रिंशति शुभ्र रात्रि रथ रथ भार गन्ध - अन पौच  
गृष्णा म रहित भजा भनन्न र्थीर आपय है (कठ ३ १६ ऐ श. ३ -  
४ इतो ) महाभारताम्बन्न शान्तिरद में नारायणीय या भागवतपरम ए प्रभन में  
मी भगवान ने नारा औ अरना सद्गुरु स्वरूप भहय भप्त्र भन्नाय लिया  
निष्पत्ति ( निरवद्यन ) अब निष्पत्ति शास्त्र भार निरिक्षय इन्द्रिय वर कहा है ति  
वी मृदि वी उपान तथा प्रथ वराजाग मिश्वानीति परमेश्वर है गर इसी वा  
गम्य रथमामा वान है ( म न शा ३३ - १ )

उत्तरान् चना म यह प्रवृत्ति है एवं वह ज्ञानीता म ही बतल महा  
ज्ञाना दाता ज्ञानपौर्ण था। ज्ञानात्म म आर ज्ञानिम् थे एवं परमानन्दा  
र उन उनके ही एवं इसमें भवत मना रहा है ऐसे यही ज्ञान अद्वा  
यन यहाँ र्वन ग्यारा म बहु द ज्ञान लगुण लगुण ग्याप भव धन्त म  
द्वय निष्ठा प्रभ यद्वै रि भायां भव भव द्वय उच र्वन दरम्परिसर्वा  
र्ती ५ ५

१६—१७)। इस हिंसे पानी उत्तरकालीन वेदान्त की हिंसे से ऐसे दो एक ही माया के स्वरूपयाता गौ भेद बरने पड़ते हैं—अथात् परब्रह्म से 'म्यस इस्म' के निमाण होने का कारण माया और 'जीव' के निमाण होने का कारण अविद्या मानना पढ़ता है। परन्तु गीता में 'स प्रकार का भेद नहीं किया गया है। गीता कहती है, कि किस माया से स्वयं मगान् भ्युक्त रूप यानी सुगुण रूप धारण करते हैं (७ २६) अथवा किस माया के द्वारा अपृष्ठा प्रहृति भवात् न्युषि वी सारी विभूतियाँ उनसे उत्पन्न होती हैं (४ १)। उसी माया के अशान ऐ जीव मोहित होता है (७ ४—१७)। अविद्या शब्द गीता में वहीं भी नहीं आया है आर भैताभ्यरोपनिषद् में वहाँ वह शब्द आया है वहाँ "लक्ष स्वप्नीकरण मी "स प्रकार किया गया है कि माया के प्रपञ्च को एक ही अविद्या छोड़ते हैं (भेदा ६ १)। अतुर्यज उत्तरकालीन वेदान्तप्रश्नो में केवल निरूपण की सरस्वता के सिये—जीव और ईश्वर की हिंसे से—किये गये क्षम में—अर्थात् माया और अविद्या—का स्वीकारन कर हम 'माया', अविद्या और 'भवान् शब्द' के समानार्थ ही मानते हैं। और व्यव शास्त्रीय ऐसी ऐ उत्तर में 'स विद्य का विवेचन करते हैं कि दिगुणामूल माया अविद्या वा भवान् और मोह का यामान्यवा दारिक्षक स्वरूप क्या है और उसकी ऊहायता के गीता तथा उपनिषद् के सिद्धान्तों की उपराहि ऐसे लग सकती है।

निगुण और सुगुण शब्द दोनों में छोट हैं परन्तु वे इसका विचार बरने स्थै कि 'न दृश्या मैं किन किन बातों का समाप्तिहोता है तब सचमुच लाय ब्रह्मण्ड हिंसे के सामने ग़जा हो आता है। ऐसे 'स सुसार का मूल वे वही अनादि परब्रह्म है जो एक निपित्य और उत्तरीन है तब उकी मैं मनुष्य की अनिमा को गोचर होनेवाल अनेक प्रकार के व्यापार और गुण के से उत्पन्न हुए। तबा इस प्रब्रह्म उसकी अपरम्परा मग देते हो गए।' अथवा जो मूल मैं पह एक ही है उसी के बहुविध मिमिति पदार्थ के से विद्यां भूते हैं। जो परब्रह्म निर्विकार है और किसमें यह मिटा-कुड़ा पा गाढा पतल्य अप्यथा शीत उष्ण आदि भेद नहीं है उसी मैं नाना प्रकार की विद्या अनुभाविक गाढा पतलापन मा शीत और उष्ण सुप और दुर्घ प्रकार और अपेक्षा मूल्यु और अमरता अनेक प्रकार के इन्द्र देते उत्पन्न हुए। जो परब्रह्म शान्त और निषात है उसी मैं नाना प्रकार की विद्या और शब्द के से निर्माण होते हैं। किस परब्रह्म मैं भीतर बाहर या गूर समीप का द्वेरा भेद नहीं है उसी मैं भागे पा पीछे तर या समीप अप्यथा दुर्घ पक्षिम अत्यादि निरूपत या स्वप्नहृत मैं देते हो गय जो परब्रह्म अविद्यारी विकालवापित निव और अमृत है उसी के अनुभाविक काम्यमान मैं नाशवान पदार्थ कर्म करे।' अप्यथा किस कायकारणमात्र का अप्यथा भी नहा हाता उसी परब्रह्म के कायकारणहृप—ऐसे मिही और एन—स्वी दिग्यां भूते हैं ऐसे ही भार मी अनेक विद्या का उक्त छोटे से हो शब्दा मैं तमावेष्ट हुआ है। नप्यथा सद्यो मैं कहा आय दी भव 'स व्याप का विचार करना है कि

किया गया है वह केवल अतिशयोक्ति या प्रशस्ता है। जिन लड़े को महात्माभीं और श्रद्धिया ने पक्षाप्रम मन करके सरम तथा शान्त विचारों से यह उिदान्त है इन्होंने कि यहाँ बाथों निवासन अपाप्य मनमा मह “ (सि ८०) — मन को मीं मैं तुगम है और बाणी मीं किसका बधन कर नहीं रक्ती वही अनितम ब्रह्मस्वरूप है — उनक आत्मानुभव की अतिशयोक्ति कैस कहे ! कबल एक साक्षात्तण मनुष्य अपन सुदृढ मन म यहि अनन्त निर्गुण ब्रह्म का प्राप्त नहीं कर सकता इसकिये यह कहना कि सक्ता ब्रह्म सगुण ही है। मानों सूक्ष्म की अपेक्षा अपने छोटे-से दीपक का भेट करनाना है। हीं यहि निर्गुण रूप की उपरचि उपनिषदों में और गीता में न भी गद हासी तो बात ही शुभरी भी परम्पुरा यथात् में वैमा नहीं है। ऐसिये न। मायदीर्घा म तो स्वप्न ही कहा है कि परमेश्वर का सक्ता भद्र स्वरूप अम्बुज है और स्वरूप सुहि का चारण करना का उत्तर्वी माया है (गी ४ ६)। परम्पुरा मायदान् ने यह भी कहा है कि प्रहृति के गुणों से माह मैं कैरु कर मूल खीय (मम्बुज और निर्गुण) भात्मा के ही कला मानते हैं (गी १ २४—२५)। जिन्हे इस्मरता कुछ नहीं करता। योग केवल भड़ान से चोका लाते हैं (गी ७ १५)। अपात् मायदान् ने स्वप्न शब्दों में यह उक्तेष्ठ किया है कि यथापि अम्बुज भात्मा या परमेश्वर वसुन्त निर्गुण है (गी १३ ११) तो मीं स्वग उस पर ‘मोह या भजन स कल्पुष भाति गुणों का अध्यारोप करते हैं और उसे अम्बुज सगुण क्ला नहीं है (गी ७ १४) उक्त विवेचन से परमेश्वर के स्वरूप के ‘विशेष में गीता क ये ही उिदान्त माध्यम होते हैं :— (१) गीता म परमेश्वर के स्वरूप स्वरूप का यथापि बहुत-सा विवर है तथापि परमेश्वर का मूल और भेद स्वरूप निर्गुण तथा अम्बुज ही है आर मनुष्य मोह या अहान से उस सगुण मानत है (२) सास्त्रों की प्रहृति या उक्तका स्वरूप फैलाव — यानी अविद्या भवाया यथात् मेर परमेश्वरी परमेश्वर के समान ही निर्गुण भार भक्ता है परम्पुरा भड़ान क काल स्वग उसे कला मानत है। बान्तश्चाय के उिदान्त मीं एसे ही है परन्हु उक्तके गति फल्या म “न उिदान्ति क। उक्तवन समय माया भी अविद्या म कुउ में किया जाता है। उक्तवन समय पक्षाद्वी म पहले वह कल्पया गया है कि भात्मा भार रत्रय बाना म एक ही यानी ब्रह्मस्वरूप है। और यह उिदान्त मीं विवरणी ब्रह्म रूप माया म प्रतिविभिन्न हाता है तब सत्त्ववद्वान्मगुणवती (साम्बों की सूक्ष्म) प्रहृति रा निवाग हाता है। परम्पुरा अग चर कर न या क ही । भेद — ‘मया भार अविद्या — विव गय है। भार यह कल्पया गया है कि रूप मया क नैन गुण म से धुइ न चढ़ा र उसप हता है सर उन रूप माया कहते हैं तर उस माय म प्रतिविभिन्न रूप है नैन के ग्रन्थ म रूप निरुद्ध है त उन अविद्या कहत है तथा उस अविद्या म प्रतिविभिन्न रूप का ‘अपि कहत है (पञ्च १)

यहि अमूरतत्व को मिष्या कह तो मनुष्यों की यह स्वमालिक इच्छा दीन पड़ती है, कि ऐसी एक रुद्धि होना हो सिद्धेशाले पुरखार या पारिखोपिक का उपमोग न केवल भगवन् सिये बरन् अपने पुनर्जीवनाति के सिवे भी – अर्थात् चिरकाल के सिवे – करना पाहते हैं। अथवा यह भी देख जाता है कि चिरकाल रहनेवाली या शास्त्रत जीति का यह अक्षर आता है तब मनुष्य अपने जीवन की भी परवाह नहीं करता। कर्मों के समान अत्यन्त प्रार्थीन प्रवृत्ति म भी पूर्व-कारणिका की प्रार्थना है, कि ‘हे इन् ! तू हमें ‘अधिक्षित भव अपार् अक्षय जीति पा जन है’ (अ १ १७)। अथवा ‘हे सोम ! तू मुझे विवस्तुत (यम) छोड़ म अमर कर है’ (अ १ ११३ ८)। और अर्थात्तीन समय मे एसी दृष्टि को स्वीकार कर के सेवनर कोटि प्रधाति के बहुत आधिमौतिक परिष्ठिति मी यही कहते हैं, कि इह संसार म मनुष्यमात्र का नैतिक परम कर्त्तव्य पही है कि वह किसी प्रकार के धार्णिक सुप्र म न फैस कर करमान और भावी मनुष्यज्ञाति के चिरकालिक सुप्र के सिये उठोग कर। अपने जीवन के पश्चात् के चिरकालिक कर्त्तव्याण की अर्थात् अमूरतत्व की यह क्षमता आई कही मे ? यहि कहे कि यह स्वमालिक है तो मानना परेगा कि “स नाश्वान् देहे के सिवा और तोरं अमूरत वल्लु भवस्य है” नहीं है यो हम जिस मनोज्ञाति की साक्षात् प्रतीति होती है उसका अन्व तोरं वारन मी नहीं करत्वते अन पछता ! पेसी कठिनार भा पढ़ने पर कुछ आधिमौतिक परिष्ठिय पह उपेत्ते करते हैं कि इन प्रभ्यों का कमी तमाजानकारक उच्चर नहीं मिल सकता। अतएव इनका किवार न करके इस्तुति के पार्थों के गुणधर्म के परे आपने मन की दीड़ कमी न जाने तो। यह उपेत्ता है तो सरल परन्तु मनुष्य के मर मे तत्पञ्चन की ये स्वामालिक साक्षा होती है उसका प्रतिरोध तोन और किस प्रकार ते कर पछता है ! और “सु दुर्बर किम्भा का यति नाश कर दाँडे तो फिर द्वन भी दृष्टि हो जैसे ! यद से मनुष्य इन पृथ्वीतङ्क पर उत्पन्न हुआ है सभी से वह इह प्रभ का किवार करता अस्य भावा है कि सारी इस्य और नाश्वान सुष्टि का मूलमूल अमूरतत्व करा ह ! और यह युजे करे ग्राम होगा ! आधिमौतिक शास्त्रों की जाहे ऐसी उच्चति हो तथापि मनुष्य की अमूरतत्वसम्बन्धी द्वन की स्वामालिक प्रज्ञाति कमी कम होने की नहीं। आधिमौतिक शास्त्रों की जाहे ऐसी दृष्टि हो तो मी तरे आधिमौतिक स्थिरिक्षण का काळ मे द्वा कर आध्यात्मिक तत्पञ्चन सदा उच्चे आगे ही बढ़ता रहेगा। तो जार हवार यर्य के पहले सही दृष्टा भी भार अव परिष्ठिमी देशी मे भी वही यत दीर्घ पहती है। और तो क्या मनुष्य की दुष्टि की शानत्पञ्चना किस दृष्टगी उस दिन उसके विषय मे वही कहना हागा कि त ते मुक्तोऽप्यवा पशुः।

ठिकास से अमवारित अमूरत अनाति स्वतन्त्र एव निरन्तर तत्पात्री और निर्गुण तात्पर के अधिक्षिय के विषय म अथवा उस निर्गुण तात्पर के संग्रह सूचि

एक ही म अनेकता निर्दिष्ट में नमा प्रदार की दृढ़ता भद्रत मैं दैत और निर्दग में सग केर हो गया। चारया ने तो कस झाटे से बचने क लिये यह दैत करित कर सिया है कि निरुण आर नित्यपुरुष के साथ त्रिगुणात्मक यानी सगुण प्रहृति मी नित्य आर स्वदत्त्व है। परन्तु ज्ञान के मूलवर्त को दैत निकाळने की या स्वामादिक प्रहृति है उसका समाधान इस दैत से नहीं होता। उक्ता ही नहीं किन्तु यह दैत सुक्तिशब्द के मी शास्त्र ठहर नहीं पाता। सुक्तिय प्रहृति और पुरुष के मी परे या कर उपनिषदकारी ने यह चिदानन्त स्पापित किया कि सक्तिशब्द ब्रह्म स भष्ट भेणी का 'निरुण' अथ ही ज्ञान का मूल ह। परन्तु अब इसकी उपपत्ति द्वारा आहिय कि निरुण से सगुण देखे हुआ। क्योंकि सास्त्र के समान वेदान्त का भी यह सिद्धान्त है, कि ये बल नहीं है वह ही ही नहीं सकती और उससे जो बस्तु है उसकी कभी उत्पत्ति नहीं हो सकती। इस लिदान्त के अनुसार निरुण (ज्ञान द्वित म गुण नहीं उप) ब्रह्म से सगुण सृष्टि के पर्याय (कि किन में गुण है) उत्पत्त हो नहीं सकते। तो फिर सगुण आया कहीं से। यदि कहे कि सगुण दुष्ट नहीं है तो वह प्रस्तुत है कि अस्तित्वगोपर हानेवात् शुद्ध स्वदृ त्य रत्त आठि सव गुलो के स्वरूप आव एक है तो वह दूसर ही—अध्यात् वे नित्य परिकलनशील होने के कारण नाशकान विनारी और अशास्त्र है। तब तो (ऐसी कसना करक कि परमेश्वर विमात्य ह) वही बहना होना कि देश सगुण परमेश्वर मी परिकलनशील एवं नाशकान है। परन्तु जो विमात्य और नाशकान् हाकर सृष्टि के निषमा की पकड में नित्य परतन्त्र रहता है उसे परमेश्वर ही है कहे। चाराय चाह यह माना कि द्वित्तिवगोपर सभे सगुण पर्याप्त पद्ममहाभूता से निर्मित रुप है भवता साम्यानुसार या भावितीतिक दृष्टि से वह अनुमान कर सके कि सार परायो का निमात्य एक ही अम्बुद तगुण सूक्ष्माहृष्टि से हुआ है। किंतु मी परा का स्वीकार करा यह चाह निर्दिष्टा उड़ि है कि जल तक नाशकान् गुण रत्त मूल्यहृष्टि से मी भूत नहीं गये है तब तक पद्ममहाभूता की या प्रहृतिश्वप्त इस सगुण मूल पर्याय की ज्ञान का अविनाशी, स्वदत्त्व भार अमृत तत्त्व कह सकते। अतुरेक किंतु प्रहृतिका का स्वीकार करना है उसे उपित्त है कि वह या तो यह बहना छा है कि परमेश्वर नित्य स्वदत्त्व और अमृतश्वप्त है या इस बात की जाव भरे, कि पद्ममहाभूतो के परे भवता तगुण प्रहृति के भी पर भी छौनया तत्त्व है। इसक सिवा अन्य काह माग नहीं है। किंतु प्रदार मूलगत्वा ने प्यान नहीं दुहरी या बाद से तस नहीं निकलता उसी प्रकार प्रस्तुत नाशकान बस्तु न भवता भी यामि भी भावा करना मी व्यव है। नीर अमीत्य पात्तवस्तु ने अपनी स्त्री मैत्रेयी का सद्ग उपदेश किया है कि चाह किसी तम्भति क्यों। न प्राप्त ही जाव पर उससे अमृतन्त भी भावा करना व्यव है— अमृतन्तश्वप्त तु नाशात्मि विनेन (१८ .. १२)। भवत अव

उसका रूप भार उसकी गति और कर हम निष्पत्ति करते हैं कि यह एक 'सौबी चिपाही' है और वही सम्भव मन में ज्ञान रहता है। इसके बाद जब कोई वृत्त्य पराय नहीं रूप और गति में दृष्टि के सामने भासता है तब वही मानसिक विचार फिर शुरू हो जाती है; और हमारी दुर्दिका का निष्पत्ति हो जाता है कि वह मैं एक 'सौबी चिपाही' है। ऐस प्रकार मिस्त्र मिस्त्र समय में (एक के बाद दूसरे) जैसे अनेक सक्षात् हमारे मन पर होते रहते हैं उन्ह हम अपनी स्वरणाशक्ति से याद कर एक रसात् है और जब वह परायंसमूह हमारी दृष्टि के सामने भा जाता है तब उन सब मिस्त्र मिस्त्र दृम्यादी का ज्ञान एकता के रूप में हास्कर हम कहने लगते हैं कि हमारे सामने से 'सौबी' चा रही है। ऐस सना के पीछे ज्ञानेवाले परायं का रूप देख कर हम निष्पत्ति करते हैं कि वह 'राजा' है। और 'सौबी-सम्बद्धी' पहले सक्षात् की तथा 'राजा'-सम्बद्धी ऐस नूतन सक्षात् एवं एकत्र कर हम कह सकते हैं, कि वह राजा की दृक्षारी चा रही है। इसुलिये इन्हना पड़ता है कि सूक्ष्मिक्यन वैवर्ण नित्रियों से प्रत्यक्ष विद्यार्थ इनेवाद्य इड परायं नहीं है किन्तु नित्रियों के द्वारा मन पर होनेवाले अनेक सम्भवादी या परिणामों का चो 'एकीकरण इष्टा भास्मा दिया करता है उसी एकीकरण का छठ ज्ञान है। 'सौबीस्त्रिय मगान्त्रीदा' में भी इन एवं लक्षण ऐस प्रकार भहा है— अविमत्त विमत्तेषु अयात् ज्ञन नहीं है कि विमत्ते विमत्त या निरालेपन मै अविमत्त या एकता का ज्ञान हो ॥ (गी १८ २)। परन्तु ऐस विषय का बहुत सूक्ष्म विचार किया जावे, कि इनित्रियों के द्वारा मन पर ये ज्ञान पढ़ाया कि यथापि आँखें कान नास इत्यादि इनित्रिया से परायं के रूप शब्द गमन नाहि गुणों का ज्ञान हमें होता है। तथापि इस परायं में ये ज्ञानगुण हैं उसक भान्तरिक स्वरूप के विषय म हमारी 'नित्रियों हम कुछ मै नहीं ज्ञान लक्ष्य कि किंतु हम गीली मिद्दी का ज्ञान भनता है परन्तु वह नहीं ज्ञन सकत कि किंतु हम गीली मिद्दी कहते हैं उस परायं का यथार्थ सात्त्विक स्वरूप ज्ञान है। विकनार्थ गीव्यफल मेला रग या गोब्बकार (रूप) इत्यादि गुण एवं इनित्रिया के द्वारा मन का पृथक् पृथक् मात्रम हो जाते हैं तब उन सक्षात् का एकीकरण करके 'इष्टा भास्मा' कहता है कि वह गीली मिद्दी है। और आगे इसी इष्टा की (क्षीरि वह मानने के लिये कोई कारण नहीं कि इष्ट्य का तात्त्विक रूप उड़ाना) गोल तथा पोषी भान्तिया का रूप उन आकाश और क्षुगापन इत्यादि गुण एवं इनित्रिया के द्वारा मन को मालूम हो जात है तब भास्मा उनका पकीकरण करके उसे 'ज्ञान' कहता है। जाएगा जाए ऐस रूप या भास्मार मै ही होता रहता है। और वह 'नहीं गुण' के सम्भादी का (जो मन पर शुभा करते हैं) 'इष्टा' भास्मा

Cf "Knowledge is first produced by the synthesis of what is manifold" Kant's Critique of Pure Reason p 64 Max Müller's translation 2nd Ed

ही उपरिके विषय में ऐसा स्वास्थ्यान हमारे प्राचीन उपनिषदों में विदा गया है। उत्तरे अधिक सुखिक स्वास्थ्यान अन्य देश के दूसरों ने अब तक नहीं लिया है। अषाढ़ीन अमृत दूसरों कान्त ने इस बात का सूच विचार किया है कि मनुष्य का व्याघ्रसृष्टि की विविधता या विभिन्नता का ज्ञान एकता से बढ़ो और ऐसे होता है। और फिर उक्त उपरिके ही उसने अषाढ़ीन शास्त्र की रीति से अदिक स्पष्ट कर दिया है। और हेतुवाच यद्यपि अफसे विचार में जान्म से कुछ भाग बढ़ा है, तथापि उसके भी विद्वान्त विचार के ज्ञान बढ़े हैं। यापेनहर का भी पहरी हाथ है। ऐस्त्रिय मापा में उपनिषदी के भगुत्ता का अध्ययन उसने किया था— और उसने यह बात भी किया रखी है कि संसार के साहित्य में भक्तुकम् १३८ प्रथा से कुछ विचार मैंने अपने प्रश्नों में सिखे हैं। इस छाटे-से प्रथा में इन उक्त जातीं का विलारपूर्वक निरूपण करना सम्भव नहीं है कि उक्त गम्भीर विचारों और उनके नालगड़ाएक प्रमाणा में अपका वेगन्त के सिद्धान्ता भी उक्त गम्भीर विचारों और उनके नालगड़ाएक प्रमाणा में उमानाथ कियानी है और अन्तर लियना है। ऐसी प्रकार इस बात की भी विचार से चर्चा नहीं कर सकते, कि उपनिषद् और वेगन्त-सूत्र वैसे प्राचीन प्रथा के वेगन्त में और तुलसीदारीन प्रश्नों के छाटे में भी कौन-कौन से हैं। अतएव मालवीना के भवामविद्वान्तों की सत्यता महस्त भार उपरिके समझ में के लिये जिन जातों की आवश्यकता है किंतु उन्हीं जातों की पर्हे तिन्मध्यन किया गया है और एस जपा के लिये उपनिषद्, वेगन्त-सूत्र भार उसके शास्त्ररामायण का आवार प्रथान व्यप्त लिया गया है। प्रहृष्टि पुण्यकर्त्ता कार्यक्रोक्त इति के परे कहा है— “लक्षा मिशय करने के लिये करस इष्टा और दृश्यसृष्टि के देवमें पर ही दूर ज्ञान उपरित नहीं। जिन्नु इस बात का भी मूल विचार करना चाहिये कि इष्टा पुरुष की व्याघ्रसृष्टि का यो जन होता है उग्रका स्वरूप क्या १३९ वह ज्ञान कियन होता है? व्याघ्रसृष्टि के पावर मनुष्य का नेतृत्व से इसे नियम देने हैं किंतु हमें युग पश्चात्तरों द्वीपिकार १४०। मनुष्य मनुष्य में यह विभासता है कि भीष्म, जन इत्यादि अनन्तिर्या ने उनपे मन पर जा सकार राजा करते हैं उनका एकीकरण करने की शक्ति उनमें है भार इसी लिये व्याघ्रसृष्टि के पावरमान का ज्ञान उससे हुआ करता है। पहले भक्तुकम्-विचार में ज्ञान कुछ है कि लिये एकीकरणकरण का फल उपदुर्ग विभरता है वह पर्हे मन जार तुष्टि के भी परे है— भपात् वह भाग्मा की शक्ति है। वह बात नहीं कि किसी एक ही पारापर का ज्ञान उक्त रीति से होता है। जिन्नु सृष्टि के लिये लिये पापायों में कायाकरणमय भावित गंग अनेक तरम्भ १४१— लिये हम गृहि के निष्पम वहत है— उनका ज्ञान भी इसी प्रकार हुआ करता है। इसका कारण वह १४२ कि व्याघ्रि हम लिये लिये पापायों को दृष्टि से देखते हैं तथारि उनका कायाकरणमय प्रमध दृष्टियोक्तर नहीं होता किन्तु हम अपन मानविक व्यापारी ने निखित लिया करते हैं। उग्राहणाय इस व्याघ्रि पक्ष पाप इमार नव्यों के जाम्बल भाग्म है तब

यह सिद्धान्त निष्ठता है, कि पत्तर, मिथी चौड़ी, सैद्धा, सूखी इत्यादि अनेक नामस्पात्मक पराय, जो नकूर भाते हैं वह किसी एक ही द्रव्य पर मिथ या मिथ नाम-रूपों का मुख्यमा पा गिर्हन कर उत्पन्न हुए हैं अर्थात् सारा भैरव के बल नामरूपों का है मूलद्रव्य यह नहीं। मिथ मिथ नामरूपों की वह म एक ही द्रव्य नित्य निवाप ब्रह्म है। वह पदार्थों में उस प्रकार से नित्य रूप से सैद्ध रहना — उक्त ये 'सचासमान्यस्य' कहता है।

वेदान्तशास्त्र के उक्त सिद्धान्त का ही अन्त आठि अर्द्धनीन परिमी वस्त्रशास्त्रियों ने मी स्वीकार किया है। नामस्पात्मक चक्र की घड़ में नामरूपों से मिथ ये तुष्ट अरहस्य नित्य द्रव्य है, उसे काल ने अपने प्रण्य म 'ब्रह्मतत्त्व' कहा है; और नेत्र भादि इतिरियों को गोचर होनेवाले नामरूप को 'ब्रह्मी हस्य' कहा है।<sup>10</sup> परन्तु वेदान्तशास्त्र म नित्य ब्रह्मनेवाले नामस्पात्मक हस्य घटत को 'मिथ्या' या 'नामधारन्' और मूलद्रव्य को 'सत्य' या 'भूमृत' कहते हैं। सामान्य सोग सत्य की स्पाक्ष्या या करते हैं कि 'ब्रह्मी सत्य' अथात् जो अर्द्धनी से गैर पढ़े वही सत्य है और स्पष्टहार म भी होते हैं कि किसी ने स्वप्न म स्वाय इपवा पा किया अथवा स्वप्न इपवा मिथ्ये की बात कान से सुन सी तो इस स्वप्न की बात में और उच्चमुख छाने इपवे की रक्षा के मिथ्ये बाने में बन मारी अन्तर रहता है। इस कारण एक दूसरे के सुनी हुए और अर्द्धनी से प्रवृत्त भैरवी हुए — उन दोनों बातों में मिथ पर भैरव विश्वात बर ! अर्द्धनी पर या कल्पी पर ! उसी दुष्प्रिया को मेघने के मिथ्ये ब्रह्मारहस्य उपनिषद् ( १४ ४ ) में पह 'ब्रह्मी तत्त्व' बात्य आमा है। किन्तु किंतु शास्त्र म इपवे ग्यारे होने का निष्प्रय 'इपवे' की गोत्तमोऽस सरत और उक्त प्रचलित नाम तो करता है वहाँ तत्त्व की इस सापेक्ष स्पौष्यया का क्या उपवाय होगा ! हम स्पष्टहार में होते हैं कि यहि किसी की बातचीत का ठिकाना नहीं है और यहि पढ़े पढ़े मैं अपनी बात ब्रह्मने लगा तो छोग उसे छुड़ा कहते हैं। सिर उसी स्थाय ते 'इपवे' के नामरूप का ( भीतरी द्रव्य को नहीं ) ग्योदा अथवा ब्रह्म रहने म बना हानि है ! क्याकि इपवे का या नामरूप आब इस पर्नी है उसे दूर करके उनके बाले 'ब्रह्मनी' या 'भैरोरे' का नामरूप उसे दूसरे ही दिन किया या सृक्ता है, अथात् हम अपनी भैरवी ने होते हैं कि यह नामरूप हमेहा करता रहता है — निष्पत्ति कही है ! अब यहि कह कि ज भैरवा मैं हीप पाना है उसके भिन्ना अन्य तुष्ट सत्य नहीं है तो एकीकरण की किम मानसिक किया म सृष्टिशान हाना है वह भी

वास्तव ज्ञाने Critique of Pure Reason नामक ग्रन्थ म वह दिक्षा किया है : नामस्पात्मक तत्त्व की जात म ज्ञात्वा ह उस उत्तम हिंग भाव द्वितीय ( Ding an sich-Thought in itself ) कहा है भीर द्वितीय का बातान्तर ब्रह्मतत्त्व दिक्षा है ! नामस्पात्मक तत्त्व का वास्तव नामावलनुग्रह ( Erscheinung-appearance ) कहा है ; वास्तव द्वितीय है फ वस्तुताव नहीं है

एक एवं द्वितीय एक ही तात्त्विक परायण का अनेक नाम प्राप्त हो जाते हैं। इच्छा सब से सरल उत्तराहरण समुद्र और दरगा का या सोना और अस्त्वार का है। क्याकि इन शाना उत्तराहरणों में रह, गदापन पतञ्चायन बड़न भारि गुण एक ही से रहते हैं और ऐवल रूप (भास्त्वार) तथा नाम ये ही ये गुण करके रहते हैं। इसी छिपे वर्णन्त में वे सरल उत्तराहरण हमेशा पाये जाते हैं। शाना दो एक परायण हैं परन्तु मिथ्या मिथ्या समय पर अपश्ववाल उच्चो आकार्य के सहस्रार इन्द्रियों के द्वारा मन पर होते हैं उन्हें एक एक तत्त्व साजे के ही – कि या तात्त्विक दृष्टि स ही मूल परायण है – कभी 'कृष्ण' कभी नेगठी पा कभी पिंचली, 'पुंजी' और 'कृष्ण' न्त्यारि मिथ्या मिथ्या नाम दिया करता है। मिथ्या मिथ्या समय पर परायणों का ये एस प्रसार नाम दिये जाते हैं, उन नामों का (तथा परायणों की जिन मिथ्या मिथ्या आहृतियों के कारण वे नाम कर्त्तव्य रहते हैं उन आहृतियों का) उपनिषद में नामरूप कहते हैं और अहीं में अन्य सब गुणों का भी समावेश कर दिया जाता है (ठो १ ३ और ४ १ ४ ७)। और एस प्रसार समावेश होना दीक्षा भी है। क्वांति काइ मी गुण छीक्षिय; न्युका कुछ न कुछ नाम या रूप अवश्य हमगा। यथापि एन नामरूपा में प्रतिमण परिवर्तन होता रहे तथापि कहना पछ्ता है कि – इन नामरूपा के मूल में भाषारभूत का तत्त्व या इत्य है या इन नामरूपा स मिथ्या है पर कभी बद्धता नहीं – मिथ्या प्रकार पानी पर सरह होती है उनी प्रकार ये सब नामरूप किसी एक ही मूलरूप पर तरहा क समान है। यह सच है कि हमारी इन्द्रियों नामरूप के अतिरिक्त भार कुछ मी पहचान नहीं सकती। अदृष्ट इन इन्द्रियों को उन मूलरूप का ज्ञान हाना सम्भव नहीं कि या नामरूप से मिथ्या ही परन्तु उच्चा भाषारभूत है। परन्तु सारे सकार का भाषारभूत यह तत्त्व में ही अवक्ष हो अथात् इन्द्रियों से न ज्ञान या सौंके तथापि हमका अपनी बुद्धि स पही मिथ्या अनुमान करना पड़ता है कि वह सत है – अयात यह सचमुच सब काल सब नाम रूपों के मूल में तथा नामरूपों म भी निकाल करता है और उच्चा कभी नाश नहीं होता। क्याकि या इन्द्रियगाचर नामरूपा के अतिरिक्त मूलरूप का कुछ मानौ ही नहीं तो किर 'कृष्ण' गाँ मिथ्या मिथ्या परायण हो जायेगे। एवं इन समय हमें या यह ज्ञान उभा करता है कि व तत्त्व एक ही जानुके (लोने क) बने हैं उन ज्ञान क लिये कुछ मी भाषार नहीं रह जायेगा। ऐसी भवल्या मैं देवत इन्होंना ही कहत जायगा कि 'कृष्ण' है यह 'कृष्ण' है। यह ज्ञापि न वह सौंके कि वहा लाने का है नार कृष्ण भी लोने का है। भनेष्व यायत् यह मिठ होता है कि वहा जान का है कृष्ण जान का है इन्यार्दि जाकर्यों मैं है तथा म जिन ज्ञान क जाय नामरूपा मर जट भार कृष्ण का नमरूप जोहा गया है वह ज्ञान कहा जाय राखत भवल्या नहीं है। किन्तु यह उन इत्यायण का ही दोष है कि वह जारे भाषार्यों का भाषार है इसी का इतरथाग मृदि क तरों परायणों मैं बोरे जा-

दल्व है और उम्भान का सबा कियम है भी यही। व्यवहार में यह प्रत्यक्ष दर्श आता है कि गहना गम्भाने में ज्ञाहे जितना भेदनताना देना पड़ा हो पर आपसि के समय जब उसे बेचने के लिये सराह की दृक्कान पर ले जाते हैं तब वह साफ साफ कह देता है कि मैं नहीं ज्ञाना घाहता कि गहना गम्भाने में तोड़ पीछे क्या उच्छत देनी पड़ी है यहि सोने के चक्कन् मात्र में बेचना चाहो, तो हम ले लेंगे! बेदान्त की परिमापा में इती किचार को इस टेंग से व्यक्त करेंगे — सराह को गहना मिष्या और उनका सोना मर सत्य दील पढ़ता है। इसी प्रकार वहि किसी नये मजान का भौति तो उसकी मुन्हर ब्लावट (रूप) और गुड्डाइश भी काह (आहति) क्लाने में जो एक स्मा होगा उसकी ओर भरीउठार जरा भी अपान नहीं देता। वह कहता है कि ऐर जुता छक्की पत्तर और मजदूरी भी अपर्याप्त में यहि बेचना चाहो तो लेन दख्ले। अन दानांतों से बेगन्तियों के इस क्षमन भे पाठक मझी भौति उम्भा चाको कि नामरूपात्मक अमृत मिष्या है; और वह उस है। इस अमृत मिष्या है “सका अथ यह नहीं कि वह अँगोंसे से दील ही नहीं पढ़ता। किन्तु उच्छ भीक ठीक अर्थ नहीं है कि वह अँगोंसे से तो दील पढ़ता है पर एक ही द्रव्य के नामकप-मेन के कारण अमृत के बहुतरे जो स्फल्गत अथवा काम्हत इस है जे नाध्यान है और इसी से मिष्या है। इन उब नाम रूपात्मक इस्यों के आच्छादन में लिया जुभा सैव बर्तमान जो अकिनाशी और अकिनाशी द्रव्य है वही नित्य और सत्य है। उत्तर को कै बहन गुड़ और अँगूष्ठियों लोगी बेचती है। उसे सिर्फ उनका सोना सबा बेचता है। परन्तु सहि जुनार के कारणमें मूम म पेसा एक द्रव्य है कि किसके मिल मिल नामरूप दे कर जाना चाही लोहा पत्तर, छक्की दूषा-पानी आदि सार गहने गहनावे जाते हैं। इसलिय सराह की अपेक्षा बेदान्ती जुड़ और अपेक्षा बन्धर जाना चाही जा पत्तर प्रभावि नामरूपा जो बेचर के ही समान मिष्या समझ कर ठिक्कात्त बरता है कि इन उब पश्चातों के मूस में जो द्रव्य अथवा बस्तुतत्त्व मीमृत है वही उबा अर्पान अकिनाशी सत्य है। इस बस्तुतात्त्व म नामरूप आदि काँ भी गुण नहीं हैं। इस कारण इस नेत्र आदि अँगियों कभी नहीं ज्ञान सकती। परन्तु अँगोंसे मे न दीप पहुँच नाक से न धैरि ज्ञाने अथवा हाय से न ढटोडे ज्ञाने पर भी बुद्धि से निष्पत्त पूर्ण भनुभान लिया जाता है कि अथवा तप से वह हीगा अवश्य ही। न क्षम इतना ही बहि यह भी निष्पत्त बनता पायता है कि इस अमृत मै कभी भी न बद्धनेवाम जो जुड़ है वह पही सत्य बस्तुतत्त्व है। उत्तर का मूल सत्य इती का बहत है। परन्तु ये नाममत्त्र — विश्वी क्षीर जुड़ स्वर्णशी पश्चित मर्य मी (सन्य और मिष्या दूषा क बास्तुतात्त्वावे पारिम्यात्ति अर्थ जो न तो लोचन नमस्त्र है और न यह देखन का ही वह उत्तर है कि नाम दूषा का ये अथ हमे बहता है उत्तरी भपथा नामा अथ जुड़ भी ही कैरगा जा नहीं है)

ता भींगो से नहीं दीप पड़ती। अठरैंड उसे मी सून कहना पड़ेगा। इस कारण हम जो कुछ खेल हाता है उसे भी अलस्य, दूर कहना पड़ागा। इन पर (और ऐसी ही दूसरी कठिनाईया पर) ध्यान बर लक्ष्य सत्य ' ऐसे सत्य के व्यक्तिक और लापेश लक्षण को ठीक नहीं माना है। किन्तु उसोपनियद में सत्य की यही व्याप्ति की है कि सत्य वही है किन्तु अन्य शर्तों के नाम हो जाने पर भी कभी नाम नहीं होता। और "सी प्रधार महामारन में भी सत्य का यही सद्गम अस्पता गया है—

माप नामांक्षण्यप नित्यसंविकारि मर्येव च । \*

भयान् युत्त्व वही है कि यो अम्बिय है भयान् निष्कर्ष कर्मी नाप नहीं होता या नित्य है भयान् सदातत्त्वा ज्ञा रहता है और अविद्यारी है भयान् निष्कर्ष मूल्य कर्मी कर्मजा नहीं (म. मा शा १६२ ३)। अम्बी कुछ और थोरी देर में कुछ करनेवाले मनुष्य का ज्ञान रहने का ज्ञान यही है कि वह अपनी पात पर रिखर नहीं रहता - इधर उधर गमगता रहता है। तत्त्व के न्तर निरपेक्ष स्वरूप की व्यक्तिगत कर में पर कहना प्रश्ना है कि आँखों से शीघ्र पड़नेवाला पर हर पही म पड़स्टेवाल्य नामरूप मिथ्या है। ऐ नामरूप से हृषा हुआ और नहीं क मृत में तर्वे पक ही ता विष रहनेवाल्य भ्रमून वस्तुतत्त्व ही - वह आँखों न यह ही न शीघ्र पह - टीक टीक सत्य है। ग्रगचटीका मैं ब्रह्म का बनन इमी नीति मे दिया गया है या स तर्वेयु न्तेत्रु नापत्त्वा न विनापत्ति (गी १ २ ११ २३) - भारत ब्रह्म यही है कि श तद पाप भयान् सभी पण्यों के नामरूपामर घटीर न रहने पर भी नप नहीं होता। महामारुत मैं नारायणीय अपशा ग्रगचटपत्तम क निर्वापम मैं यही क्षोण पाठमेड ल फिर य त तर्वेयु भूत्तु क श्याम मैं नुत्प्रामण्यपूरु होकर भाया है (म. मा शा ३३ - २३)। एसे ही शीता क दुर्गे अप्याय के सामृद्ध छार क्षम्भृत्य भोगा का तात्पर मी वही है। बेगल मैं उत्त भाभूता का 'मिथ्या भीर शुद्ध का तप्य बहने हैं तद उत्ता यह मनम नहीं है कि वह उत्तर निश्चयागी या विष्कृष्ट नाप है - भयान् भर्त्ता ने दिग्गद नहीं पाया ता मिही पर पथी विरक्त कर ज्ञाया गया है - भयान् वह अभिव मैं है ही नहीं। यहाँ मिथ्या उत्त का प्रयाग पश्चात के दूर, यह आदि गुणा क विष भीर भावूति क विष भयान् उत्तरी दृश्य क विष विज्ञा द्वया है। भीतरी दृश्य मैं उत्त क प्रयाग्यन ही ह स्वरूप रह कि नामित इत्य ता न दृश्य नाप है। दृश्यनी पही दृश्या ह कि पश्चापत्तम के नामरूपामूर भास्तुत्तम के नीच मूप क उत्त-का

Whatever  
anything is really true or false is Prolegomena to Ethics

समझना चाहिये, कि बाइमूरि का हस्य नामरूप असर्व अवात् विनाशकान् है। नामरूपात्मक बाय हस्य मिष्या करा रहे पर उसे इस सिद्धान्त में रची मर मैं औंच नहीं समाती कि उस बाइमूरि के मूल में कुछ न-कुछ अनियातीत सत्त्वरूप है। ऐसा वेदान्तविचार में किस प्रकार यह सिद्धान्त किया है कि देहनियं भावि विनाशकान् नामरूपों के मूल में "नित्य आमतत्त्व है उसी प्रकार कहना पट्टा है कि नामरूपात्मक बाइमूरि के मूल में मीं कुछ न कुछ नित्य आत्मतत्त्व है। अतएव वेदान्तविचार ने लिखित किया है कि देहनियं भी और बाइमूरि के लियिनि वर्णनेवारे अवात् मिष्या हस्या के मूल में - दोनों ही ओर - काँच नित्य अपार् सत्य द्रव्य लिया हुआ है। यह आगे अब प्रभ छोता है कि दोनों भी ओर ये नित्य तत्त्व हैं व अब्दा अस्ति हैं या एकरूपी हैं। परन्तु "सका विचार फिर करेंगे। इस मत पर मींके ऐमौर इसकी अवाच्चीनता के सम्बन्ध में जो साथेप हुमा करता है, उसीका घोषण-सा विचार करते हैं।

कुछ सारा कहते हैं कि दीदा का विश्वनवार् यदि वेदान्तशास्त्र के उम्मत नहीं है तो भीशकराचार्य के मायावार् का भी प्राचीन उपनिषदों में वर्णन नहीं है इसलिये उसे मीं वेदान्तशास्त्र के मूलमार्ग नहीं मान सकते। भीशकराचार्य का मत - कि दीदा मायावार् कहते हैं - यह है कि बाइमूरि का भौतिकी से ग्रीष्म पद्मनेषास्म नामरूपात्मक स्वरूप मिष्या है। उसके मूल में यह अव्यय और नित्यद्रव्य है वही सत्य है। परन्तु उपनिषदों का मन या कर अप्यवन करने से काँच मीं सहज ही यह च्यवेगा कि पह भाषेप निरापार है। पह पहले ही ऊपर कुछ है, कि 'सत्य यत्ता का उपरोग सापारम व्यवहार में औंची से प्रत्यभ दीप पड़नेषार्थी भक्तु के लिये किया जाता है। भठा 'सत्य यत्ता के 'सी प्रचलित अर्थ का के कर उपनिषदों में कुछ स्थानों पर औंची से ग्रीष्म पद्मनेषास्म नामरूपात्मक बाय पदार्थों को 'सत्य और न नामरूपों के आप्तादित व्रष्टि को अमृत नाम किया गया है। उत्तरण जीविते। वृहदारण्यक उपनिषद् (१ १ १) में तृतीयमृत सत्यन चक्रम - वह अमृत सत्य से आप्तजातित है - कह कर फिर अमृत और सत्य द्वारों की वह व्याप्ति की है कि प्राणी वा अमृत नामरूपे उत्प ताभ्यामय प्रस्तुता अर्थात् प्राण अमृत है और नामरूप सत्य है। एव एस नामरूप सत्य से प्राण का हुआ है। यहीं प्राण का अब प्राणास्वरूपी परदफ़ा है। इससे प्रकृत है कि आगे के उपनिषदों में किस मिष्या अंतर सत्य वहा है पहले उसी के नाम जम से 'सत्य और अमृत ये। अनेक स्थानों पर 'सी अमृत को सत्पत्य सत्य - औंची से दीप पड़नेषार्थे सत्य के भीकुर का अन्तिम सत्य (२ १ १) - कहा है। किन्तु उच्च आधेप इन्होंने ही से उठ नहीं ही आता कि उपनिषदों में कुछ स्थानों पर औंची से दीप पड़नेषार्थी सुहिं को ही सत्य कहा है। स्मृति वृहदारण्यक म ही अन्त म पह लिद्धाम्त किया है कि अप्मरूप परदफ़ा को ओड नीर सर 'नारम' अर्थात् विनाशकान् है (१ १

पह एवं वर भौति वास्तु का उपराम बिना करते हैं कि हमें जो जगा भौति  
न प्रकार ऐसा दिला है जो मी वान्नी सौंग मिथ्या वहन है। अब यह वाइ  
पाठ ११ एल्फ यास्त क शापा में बहु सका है, जो यह अमर का वास्ता नहीं  
ममास्ता, तो इक्का याही बुउ वास्ता नहीं है। लालाय (११ और ३१)  
बहुपालप (१११) मृग्न (३१८) और प्रभ (१११) भारि उर्नियम  
म घारार पागया गया है कि निष्प वास्त रहनेवाले भवत नामदान नामदाप  
क्षय नहीं है। जिस सब लक्ष्यारूप निष्प विवर तथ्य भैना है उस भूमती दृष्टि का  
इन नामदानों में जगा जग वर्णना पाइय। इसी नामदाप का इन ( ) भार  
मृग्न (१११) भारि उर्नियम। म नरिया तथा भवाभवतर उर्नियम (१११)  
में माया है है। जल्दीजा म याया 'नाह भीर 'अमन छाँ' न पौ भग  
रिक्षित है। इन क भारम्न म तु था। एट बिना नामदाप का था—भग्न  
मियुग क्षीर भाव्यम् था। जिर आग का कर नामदाप निर इन म बही एक भार  
मृग्न अवश्यक है (१११८३ छो १११३)। भारम्न विवाहान् भवया  
नामदान नामदाप का ही 'माया नाम है कर बैन है कि या सगूँ भवया एक  
गुणि इन मृग्नरूप वास्तु इधर वी माया का है या नीचा है। अप इन दार न  
का स याया ही वही चायम द्वीर्णी है जो दू स वर्णन गुमर्ही है  
जो नामदाप म दुण माया ही है एम प्रहरी म विष की जो चर्वन या वार  
हाजा है। जिस दून भारव "मरत मै विषा १) एवं न तो उन माया का  
माया नामदाप विष है। वयोर्विवाह भग्न हा एट इन्हीं का इन्हीं  
एन्हीं भव ची मै नामदाप भग्न ही इहा जब तर्फार्थित इष्य मै इन्हीं  
"वाया व वहमे ग दाह ही तान भूलाय तुलाय लालाय लालाय  
दर्वाजित तर्ह वाया नामदाप का ही तो इन  
जहा—वाया पी दूव हाजा है विग्नी वायप का एव नामदाप का ग  
वा "कुला दून रहन विषा १) एहुलाय नामदाप का ही तर  
इन वायप का एव रहा है—ऐस रही विष नाम १) एव नाम  
वे नामदाप वायप का एव तर्हाहै के दू इन्हीं  
१) एव वायप का एव नामदाप का एव नामदाप  
१११८३ नामदाप का एव नामदाप के दू इन्हीं  
१११३ नामदाप का एव नामदाप के दू इन्हीं  
१११११ नामदाप का एव नामदाप के दू इन्हीं  
१११११ नामदाप का एव नामदाप के दू इन्हीं

नारा<sup>१</sup> ने कहा, कि 'मैंने इतिहास-पुराणस्पी पौन्त्रव वेशहित कर्त्त्वे प्रभृति उपर्युक्ते वेद स्थाकरण यानितु, लक्ष्मीवाच, कामद्यावाच, सभी वेदांग, पर्वद्यावाच, भूतविद्या वेद विद्या नष्टविद्या, और सप्तवक्तव्यविद्या प्रमाणित रूप कुछ फ़ड़ा है। परन्तु वह इसलेक्षण आत्मज्ञान नहीं हुआ, वह अब तुम्हार यहाँ आया है। इसको सनद्गुमार ने यह उच्चर दिया कि कुने जो कुछ तीता है वह तो खारा नामस्वपात्मक है। तब वह इस नामद्वय से बहुत आगे है और फिर नारा को ज्ञानः इस प्रकार पहचान फ़र्दा है कि इस नामस्वप के अर्थात् साम्या भी अस्तक प्रहृति से भवता जानी आणा सक्षम मन, बुद्धि ( ज्ञान ) और प्राण से मी परे एवं ऊर्जे-कट-कट कर यो है, पर्हि परमात्मालीपी अमृततत्त्व है।

यहाँ तक को चिवेतन किया गया उत्तर तात्पर्य यह है कि यद्यपि मनुष्य की इनिवाको नामस्वप के अविरिक्त और किसी का भी प्रश्नद्वय ज्ञान नहीं होता है तो भी इस अनित्य नामस्वप के आप्तव्यमन से दैन्य तुमा ऐसिन आँखों से न बिल पढ़नेवाला अर्थात् कुछन कुछ अस्तक नित्य द्रव्य रहना ही चाहिए, और इसे अपरज घासी सुहि अ ज्ञान हमे एक्षता से होता रहता है। जो कुछ ज्ञान होता है तो आत्मा का ही होता है। ऐसे चिये आत्मा ही ज्ञान यानी जानेवाला हुआ। और इस शब्दा को नामस्वपात्मक सुधि का ही ज्ञान होता है। अतः नामस्वपात्मक ज्ञानद्वयी शब्द दुर्द ( म मा शा. २ ६ ४ ) और इस नामस्वपात्मक सुधि के मूल मे कुछ बस्तुउन हैं वही तेज है। इसी गर्वाकरण को मान कर भावद्वाराजा ने शहर के भेदभ भात्ता और भेद को इनिवाकीत नित्य परदास कहा है ( गी १६ १२-१३ ) और फिर आगे ज्ञान के तीन में करके कहा है कि मिलता या नानात्म से वो सुहि ज्ञान होता है तथा ऐसे नानात्म का जो ज्ञान पक्षत्वस्वप से होता है वह शास्त्री ज्ञान है ( गी १८ २०-२१ )। इस पर कुछ व्यंग अहते हैं कि इस प्रकार ज्ञान अन और तेज का तीसरा भेद करना ठीक नहीं है। एवं यह मानने के चिये हमारे पास कुछ भी प्रमाण नहीं है कि इसे जो कुछ ज्ञान होता है उसकी अपक्षा ज्ञान में और भी कुछ है। गाय, भोइ प्रधानि जो बाष्प बलुर्दे हमे शीघ्र पड़ती है वह तो ज्ञान ही है जो कि हमे होता है। और यद्यपि यह ज्ञान सत्य है तो भी यह क्षत्यन्ते के सिये ( कि वह ज्ञान है काहे का ) हमारे पास ज्ञान को छोड़ और जोई मार्गी ही नहीं रह जाता। भरपूर यह नहीं कहा जा सकता कि "स ज्ञान के अविरिक्त नाम पराय के नामे कुछ स्वतन्त्र बलुर्दे है अपवा "न बाष्प बलुआ के मूल में और कार्य स्वतन्त्र है। क्योंकि जब ज्ञान ही न रहा तद बन्द कही ले रहे" "स इति से विचार करन पर उक्त तीवरे गर्वाकरण मे— अर्थात् ज्ञान ज्ञान भार लेव मे— सत्य नहीं रह पाता। ज्ञाना भार उपका होनेवाला ज्ञान यही ही बन जात ह भार "की बुद्धि अ और अगु सा आगे से बहे तो 'ज्ञाना सा 'इति भी तो एक प्रकार का ज्ञान ही है। इसलिये नन्त मे ज्ञान के तिका बुद्धी

७ २३)। जब पहले पहल कल्प के मूरुत्तम की गोद हाने स्थी उप धारण क्षेत्र और अंगों से दीन पहुँचेवासे उग्र को पहले स ही कृत्य मान कर हँडने स्थो, कि उसके पेट म और फैलना शूष्म सत्य छिपा हुआ है। किन्तु फिर शत दुमा, कि इन इत्य मृशि के रूप का हम सत्य मानत है वह सा भृत्य में चिनाएवान् है और उसके मीठर कोइ अकिनाशी या अपन तत्त्व मीश्ह है। दानों के बीच क "स में का ऐसे ऐसे अधिक इत्य करने की आवश्यकता हाने स्थी, किसे में 'भृत्य आर अमृत' शास्त्र के स्थान में भवित्वा और विदा, एवं भृत्य में माया और तथा अपवा मिष्या और सत्य "न पारिमाणिक दुष्टों का प्रचार हस्ता गया। क्योंकि 'भृत्य का भाववय समेव रहनेवाला है। इस कारण निष्य फलमनवामे और नाएवान् नामव्य को तत्य कहना उपरोक्त आर मी अनुचित रूपने स्थग्न। परन्तु इत्य रीति से माया अधवा मिष्या शम्भी का प्रचार पीछे स्थं ही हुआ हा या मी ये चिनार बहुत पुराने शम्भने से चमे आ रहे हैं कि उग्र की वलुभा का वह इत्य, ये नम्र ते शीघ्र पछाड़ है चिनाशी और भृत्य भृत्य है। एवं उक्ता आपारभूत 'व्याख्यिक इत्य ही तत् या सत्य है। प्रत्यभ उपनिषद में मी कहा कि एवं उद्दिष्टा बहुभा बहनित ( १ १६४ ४६ ५६ और १ ११४ ८ ) - सूक्त में जा एक और निष्य ( तत् ) है, टसी का विष ( जाता ) विष विष नाम है इत्य - अधात् एक ही गत्य बहु नामव्य से विष विष गीण पश्ची है। एवं एवं अनेक एवं विषव्यन एवं अव में यह 'माया शम्भ व्याख्ये' में मी प्रयुक्त है और वहीं यह व्यन है कि इन्हों मायामि पुरुष्य इत्यते - इन्द्र अपनी माया से अनेक एवं धारण करता है ( अ. ६ ४० ८ )। उत्तिरीय उद्दिष्टा ( ३ १ ११ ) में एवं श्याम पर 'माया शम्भ का इनी अव में प्रयोग छिपा गया है और अताभ्यर उपनिषद् में इन 'माया शम्भ का नामव्य के लिये उपराग इच्छा है जहा नामव्य के विष 'माया शम्भ' के प्रयोग लिये अन भी रीति भेलाभ्यर उपनिषद् एवं तमय में मसे ही व्यन निष्यनी है; पर इक्ता ता निर्विका है कि नामव्य क अनिष्य अपवा भृत्य इन वी कस्तना इत्यत पहले की है। 'माया शम्भ का विरीति भृत्य करौ भीष्मवरापाय ते यह व्यनना भर नहीं पत्त्र ती है। नामव्यामङ्ग मृहि क स्वयम् वी ये भीष्मवरापाय एवं तमान वेष्टक 'मिष्या एवं ती टिष्पन न कर तक भृत्य देना तीका मैं प्रत्यवान ने उमी नव म 'माया शम्भ का उपराग छिपा है देना करन ते जा हिष्पत्त है। ३ पाठ ता गुरी न दहरारप्यक उपनिषद् क 'तत् य और भृत्य शम्भे वा उपराग वर। तुष्ट मी रकी न व्यदा व्यवे पर इन विहान म व्यदा ती चाह एवं नहीं इत्यां विनाएवान् है और वा तत् यन्म भाष्यानिते यह भृत्य या शक्तिवासी है। एवं यह भा वार्षीन वैष्ण वास म व्यन भा रहा है।

भरने भाया वा नामव्यामङ्ग उपनिषद् के तार परायो वा इत्य इन विष 'तुष्टन तुष्ट एवं ती विष मूल इत्य हंसा वार्द्धे ति वा भाया वा ती १ १५

घमना वाहिये कि बाइक्षणिक का हृष्य नामरूप असत्य अथात् विनाशकान् है। नामरूपात्मक वायु हृष्य मिथ्या को रहे पर उससे नाम विदान्त में रखी भर में औंच नहीं लगती कि उस बाइक्षणिक मूल में कुछ न-कुछ ग्रन्थियातीत सत्त्वरूप है। ऐसे ऐक्षण्यविचार में किस प्रकार यह विदान्त किया है कि वहेन्द्रिय आदि विनाशकान् नामरूपा के मूल में काह नित्य आमतर है उसी प्रकार कहना पड़ता है कि नामरूपात्मक बाइक्षणिक के मूल में भी कुछ न कुछ नित्य आमतर है। अनेक वेगन्तशास्त्र ने निषिद्ध किया है कि ऐक्षिण्डिया और बाइक्षणिक के निषिद्धिन अननेकासे अपार्थ मिथ्या हृष्या के मूल में - दोनों ही भार - कोई नित्य अपार्थ सत्त्व ग्रन्थ दिया हुआ है। उसके आगे अब प्रभ छोता है कि शोना और दो ये नि प सत्त्व हैं वे अपना अस्त्र हैं या एकरुपी हैं? परन्तु उसका विचार फिर करें। इन प्रभ पर भी भौमै भौमै उसकी अर्थात्तिनता के सम्बन्ध में जो सामेप हुआ करता है उसीका योगान्त्रा विचार करते हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि शौदो का विकासात् यहि वेगन्तशास्त्र के घमना नहीं है वही भीष्मकरात्मक का मायावाद का भी ग्रन्थीन उपनिषदों में वर्जन नहीं है, तरहिये उसे यही वेगन्तशास्त्र का मूल्यांग नहीं मान सकते। भीष्मकरात्मक का मत - कि उन्हें मायावाद कहते हैं - यह है कि बाइक्षणिक का अर्थात् दो दीप पद्मनेत्रास्त्र नामरूपात्मक खूब प्रिय है। उसके मूल में ये अन्यथा और निष्पत्रम् है वही सत्य है। परन्तु उपनिषदों का मत स्थग कर अप्ययन करने से कोई भी सहज ही ज्ञन अवैक्षणि कि यह भाषेप निराचार है। यह पहले ही ब्रह्म सुने हैं कि 'सत्य गत्वा उपनिषद साचारण अवबहुर में और्ज्ञों से प्रत्यक्ष गीत पद्मनेत्रासी वस्तु' के लिये किया जाता है। अत उसी प्रवारित अर्थ को से कर उपनिषदों में कुछ स्पाना पर और्ज्ञों से दीप पद्मनेत्राके नामरूपात्मक वायु पदार्थों को 'सत्य' और इन नामरूपों से आप्यज्ञित इस्त्र को अमृत नाम दिया गया है। उदाहरण स्मैदिय। बहुरात्मक उपनिषद् (१ ६ ३) में ततेतद्गृह्णं सत्येन अस्त्र - यह अमृत सत्य से आप्यज्ञित है - कह कर फिर अमृत और सत्य द्वारा की यह व्याप्ति जी है कि प्राणो वा अमृत नामरूप सत्य नाभ्यामय प्रस्तुतः अर्थात् प्राण अमृत है; और नामरूप सत्य है। एव एस नामरूप सत्य से प्राण दैक्षा हुआ है। यही प्राण का अप्य प्राणम्बरुरी परिवहन है। तरहसे प्रकृत है कि आग के उपनिषदों में किंच मिथ्या जार सत्य कहा है पहले उसी के नाम नम से 'सत्य और 'अमृत' थे। अनेक स्थानों पर इसी अमृत की सत्यस्त्र सत्य - और्ज्ञों से दीप पद्मनेत्राके नत्य के गीतर का अनिम सत्य (१ ३ ६) - कहा है। किन्तु उक्त भाषेप उन्हें ही से विद नहीं हा ज्ञाता कि उपनिषदों में कुछ स्थानों पर और्ज्ञों से दीप पद्मनेत्राकी मृषि को ही तथ्य कहा है। स्वर्णादि बृहत्परायन में ही अन्त में यह विदान्त किया है कि भाष्मरूप परिवहन को यह नीर से अनुम् अपार्थकिनाशान है (१ १



भावारभूत हो और उसीके में ज्ञान हो। एवं बादाशुदि के नाना पदार्थों भी ज्ञान में अर्थमान रहता हो नहीं तो यह ज्ञान ही न होगा। फिन्दु इतना ही निष्पत्ति कर देने से अव्याख्याताम् ज्ञान समझ नहीं हो जाता। बादाशुदि के मूल में अर्थमान इतने नित्य इत्य ज्ञो ही विद्यार्थी जोक 'ब्रह्म ज्ञाते हैं' और ज्ञान हो सके तो 'स ब्रह्म के स्वरूप का निर्णय करना भी आवश्यक है। लार नामरूपात्मक पदार्थों के मूल में कर्त्ता मान यह नित्य तत्त्व है अव्यक्त। इससिये प्रकृष्ट ही है, कि इतना स्वरूप नामरूपात्मक पदार्थों के समान अच्छ क्ति और लूप (जड़) नहीं रह सकता। परन्तु जटि अच्छ और लूप पदार्थों के ज्ञेय हैं तो मन सृष्टि बातना ग्राह और ज्ञान प्रसिद्धि बहुत से ऐसे अव्यक्त पदार्थ हैं कि जो सूख नहीं है। परं यह असम्भव नहीं, कि पराया 'नमं' से किसी भी एक आवश्यक स्वरूप का हो। कुछ अंग फैले हैं, कि प्राण ज्ञ और परब्रह्म ज्ञ स्वरूप एक ही है। यहाँ परिषिद्ध शोपेनहार ने पराया ज्ञ वाचनात्मक निष्पत्ति किया है और बातना मन का भर्त है। अतः 'स मन के अनुकार ब्रह्म मनोमय ही कहा जावेगा (गी १ ४)। परन्तु, अब तक जो विवेचन हुआ है उठाए तो यही कहा जावेगा कि - प्रशान्त ब्रह्म (गी १ १) अपका विकान ब्रह्म (गी ३ ७) - बादाशुदि के नानात्व ज्ञ ज्ञान एवं स्वरूप से हमें जात होता है वही ब्रह्म ज्ञ स्वरूप होगा। ऐसा का सिद्धान्त इसी तर्फ ज्ञ है। परन्तु उपनिषदों में जिद्युपी ज्ञान के साथ सत् (अर्थात् असत् भी जारी वस्तुओं के अविद्या के द्यामान्त्र भन या सच्चासमानता) ज्ञ और आनन्द ज्ञ भी ब्रह्मस्वरूप में ही अनन्तमात्र करके ब्रह्म ज्ञ सचिवानन्दरूपी माना है। इसके अतिरिक्त वृत्तरा ब्रह्मस्वरूप कहना हो तो वह अङ्कार है। 'एकी उपपत्ति 'स प्रकार है:- पहुँचे कमल अनादि अङ्कार से उपजे हैं और वे जो कि निकृष्ट तुल्ये पर उनके नित्य शब्दों से ही अस्त कर ब्रह्म ने वह जारी सुनि का निर्माण किया है (गी १७ २१ मा गी २१३ ६६-८), तब मूल आरम्भ मैं अङ्कार ज्ञ जोड़ और कुछ न जा। इसके बिन्दु होता है कि अङ्कार ही सच्च ब्रह्मस्वरूप है (माधृक्षम् १ हैटि १ ८)। परन्तु ऐसा अव्याख्याताम् ज्ञान की दृष्टि से विचार किया जाय तो परब्रह्म के वे सभी स्वरूप जोड़े हुए नामरूपात्मक ही है। ज्ञानकि 'न समी स्वरूपो ज्ञ मनुष्य अपनी अनिको से ज्ञान उठता है और मनुष्य ज्ञ 'स यैति स ज्ञो कुछ जात हुआ कहता है वह नामरूप की ही भेणी म है। किंतु 'स नामरूप के मूल में जो अनादि गीतरवाहर सर्वत्र पक्ष-सा मरा हुआ एक ही निष व और अमृत तत्त्व है (गी ११ १२-१०)। उसके वास्तुकिं भवत्य का निष्पत्ति ही तो ज्ञोवर हो। किंतु ही अव्याख्याताम् ज्ञानकी परिषिद्धि ज्ञाते हैं कि कुछ भी हो; वह तत्त्व हमारी इनिकों ज्ञो अहेतु ही गेया और अङ्कार ने तो 'स प्रभ पर विचार करना ही जोड़ उठा है। इसी प्रकार उपनिषदों म भी परब्रह्म के अङ्केय स्वरूप का वर्णन 'स प्रकार है नेति नेति - अर्थात् वह नहीं है कि किसके विषय में कुछ कहा जा सकता है ब्रह्म इसके परे है।

७ २३)। वर पहसु पहसु काल् के सूक्ष्मतर की गोद हाने स्थी, उत्तर शास्त्र अथवा औंगों से दीप पट्टनेशासे बाल् को पहसु से ही सत्य मान कर छोड़ने स्थी, कि उल्लेख पैर में और बौन-जा सूक्ष्म सत्य छिपा हुआ है। किन्तु फिर अत दुभा, कि इन दृश्य सूक्ष्म के रूप को हम सत्य मानते हैं वह तो भूत्य म विनाशकान है और असूक्ष्म, भीतर काँइ अकिनाई या अमृत तत्त्व मौजूद है। बांहों के शीघ्र के इस में का ऐसे जैसे अधिक रक्त करने की आवश्यकता हाने स्थी, जिसे जैसे 'भूत्य और 'भूमृत शम्भा के स्थान में 'भूकिया और पिण्डा, परं अस्त में 'माया और मृत्यु' अपवा मिष्या भार लत्य' इन पारिमाणिक शब्दों का प्रचार हाता गया। क्योंकि 'सत्य का शान्त्य न एव रहनेवाल्य है। इस कारण नित्य कर्मभेदामे भीर नाशकान् नामस्प को सत्य कहना उचितात्म और भी अनुष्ठित छेंबने चाहा। परन्तु इह रीति से माया अपवा मिष्या शब्दों का प्रचार पीछे स्थै ही हुआ हा तो भी ये विचार बातु पुराने ज्ञाने से चले आ रहे हैं कि उन् की बलुओं का यह दृश्य, गे नगर से दीप पटला है विनाई और भूमृत्य है। एव उसका भापारभूत 'तात्त्विक इत्य ही तत् या सत्य है। अपवा क्रांति में भी कहा कि एक निष्प्रा शम्भा वशिति (१ १६४ ४६ ५६ भार ११४ ८) — सूक्ष्म में जा पक भार नित्य (नत.) ह उनी का विष (ज्ञान) मिष्म मिष्म नाम हेत ह — भूमृत पक ही सत्य बस्तु नामस्प से मिष्म मिष्म दीप पान्ती है। एक एव अनेक एव निष्प्रदने के अप में यह 'माया शम्भ कांड में भी ग्रन्थ है और यह बगते हैं कि इडी मायामि पुरुषप एवते — इडी अपनी माया से अनेक एव भारण करता है (८ ६ ४३ १८)। किन्तिरीष कहिता (३ २ २२) एव रथान पर 'माया शम्भ एव इनी भूप में ग्राहण किया गया है; और भूताभ्यन्तर उपनिषद् म इन 'माया शम्भ का नामस्प देव विषे उपर्योग हआ है जो हा नामस्प के विष 'माया शम्भ देव ग्राहण विषे होने की रीति भेत्राभ्यन्तर उपनिषद् ८ नमव म स्थै ही पत्र निकली हा पर इतना का निर्विकाढ है कि नामस्प क अनित्य अपवा भूमृत्य हाने की क्षमता इतन एवते की है। 'माया शम्भ का विरीति भूत वरके भीत्यरात्रापाय ने यह क्षमता नहीं चल्य री है। नामस्पामन सूक्ष्म क शब्द वा जा भीत्यरात्रापाय क नमान देवदेव भिष्या एव इत्या न वर तक अपवा भेत्रा गीता मै न-व्याप्त ने उनी भूत म माया शम्भ क उपर्योग किया है देता वरन न जा दिच्छत हा व चाँद ता सूर्यी ने बहुग्रामव उपनिषद् क नमव भीर भूमृत शम्भ एव उपर्योग वर तुउ यी वरी न वहा रहे पर इन निडान म उग-नी चाँद न नी ल्यानि कि नामस्प भिष्या ग्राहन ८ भीर ज नमव ज्ञान भाष्यार्थित है एव अमृता का भवित्वानी ८ एव पह के प्राचीन दैत्य वास न पाय भा रहा है।

भस्ते भासा वा नामस्पाभ्य रक्षयूक्ति के नार वगायो वा ज्ञान हान एव विष 'तुष्ट-न तुष्ट एव देता विष स्व इत्य हासा पर्वते कि जा भासा का वी १ १८

पदार्थ स्वरूप से मिल हों तो उनके परिणाम अपवा काय भी मिल मिल हमें चाहिये। अतएव हमें एवं पाण्यों के मिल अपवा प्रबन्ध हमें का निष्ठा उन पाण्यों के परिणामों से ही किसी भी शास्त्र में किया करते हैं। एक उडाहन स्थिति ने दूध के छल, छल पर छिक्के भार बढ़ का भव कर हम निष्ठा करते हैं कि वे दोनों अस्त्र अलग हैं या एक ही हैं। यदि "सी रीति" का अवसर्मन करके वहाँ विचार करें, तो दील पाण्या है कि आत्मा और ब्रह्म एक ही स्वरूप के होते। क्योंकि द्वयर कहा जा सकता है कि स्थिति के मिल मिल पाण्यों के द्वारा सलाह मन पर होते हैं उनका आत्मा की किया से एकीकरण होता है। ऐसे एकीकरण के साथ उस प्रकीरण का मेल होना चाहिये कि किसी मिल मिल वाद पाण्यों के द्वारा में रहनेवाला बलुतत्त्व अर्थात् ब्रह्म उन पाण्यों की अनेकता को मेल कर निष्ठा बरता है। यदि इस प्रकार इन दोनों में मेल न होगा तो सम्भवा ज्ञान निष्ठार और असत्त्व हो जायेगा। एक ही नमूने के और छिक्कुछ एक दूसरे का घोर के एकीकरण करनेवाले ये तत्त्व दो स्थानों पर भवेही हों परन्तु वे परम्पर मिल मिल नहीं रह सकते। अतएव यह भाव ही मिल होता है कि उनमें से आत्मा का दो रूप होगा वही रूप ब्रह्म का भी होना चाहिये।\* सारांश किसी भी रीति से कियार क्यों न किया जाय यिद्ध पर्ही होगा कि वादस्थिति के नाम भार रूप से आप्तिव ब्रह्मठत्त्व नामवाचामक प्रहृति के समान जर्ता हो ही नहीं; किन्तु बासनाल्ल ब्रह्म मनोमय ब्रह्म शानमय ब्रह्म याज्ञवल्ल अपवा बैकारसी शास्त्राद्य—ये ब्रह्म के रूप में मिल भेजी के हैं; और ब्रह्म का बालकिं रूपरूप इनसे परे है एवं इनके अधिक वौमवा का अपार शुद्ध आत्मस्वरूपी है। और इच विषय का मीता में अनेक स्थानों पर ये उल्लेख हैं उससे स्पष्ट होता है कि गीता का किंवान्त भी यही है (देखो गी २ २ ६ ६ ८ ४ २३ ३१; १५५ ७ ८)। विर भी यह न उमस लेना चाहिये कि ब्रह्म और आत्मा के प्रबन्धरूप रहने के लियान्त दो हमारे करिकों ने देखी तुष्टि प्रशुक्तिवा न ही पहल जाओ या। इसका कारण ऐसी प्रकरण के आरम्भ में काम्य तुष्टि है कि आप्यात्मणाद्य में अक्षयी तुष्टि भी ही तदापवा न जाइ भी एक ही भगुमान निष्ठित नहीं किया जाता है। उस उमस भास्त्रमणीनि का सहारा जाहिये। उमेरे वर्तिरिक्त संक्षेप देखा जाता है कि आपि स्थिति शास्त्र में भी भगुमज पहुँच होता है; और उक्ती उपरानि पा तो पीड़ि ने मात्रम हा जानी है पा इस ती जाती है। इसी श्याय से उल्ल ब्रह्माल्लभी भी तुष्टिरूप उपरानि निष्ठमन के दैवही रूप पहुँचे हमार प्राचीन करिकों ने निष्ठा कर किया था कि नह नानावृत्ति किष्टन (३ ८ ८ १; ४ ८ ११)—  
स्थिति में तीव्र वरदेशादी अवस्था नहीं है। उल्ल रूप में भार एक ही

वह भेदभाव से रीए नहीं पड़ता वह बाष्पी क्या और मन को मी अग्रोचर है—  
 ‘यहो बाचा निकटस्तु अप्राप्य मनवा सह ।’” फिर मी अध्यात्मामणि ने निष्प्रय  
 किया है कि “न अगम्य स्थिति मैं मी मनुप्य अफनी बुद्धि से ब्रह्म के स्वरूप क्या  
 एक प्रकार से निगम कर सकता है । क्योंकि बासना स्मृति श्रुति, माणा प्राण  
 और शन प्रथमि अम्बर पश्चाये गये हैं उनमें से जो तत्त्व से अविद्यय  
 भास्क अवश्या सब से भेद निर्णित हो, उसी का परज्ञान का स्वरूप मानना चाहिये ।  
 क्योंकि वह तो निर्विकार ही है कि सब अव्याकृष्ट पश्चातों म परज्ञान भेद है । अब इत्य  
 ही से माणा, स्मृति बासना और श्रुति भावि का विवार है, तो ये सब मन के  
 चर्चम हैं । अतएव अन्ती अपेक्षा मन भेद हूँमा । मन से ज्ञान भेद हैं और ज्ञान है  
 बुद्धि का चर्च । अतः ज्ञान से बुद्धि भेद हूँदे । और अन्त मे यह बुद्धि मी विद्यार्थी  
 नीकर है वह आसमा ही सब से भेद है (गी ३ ४२) । शिव-ब्रेत्वं प्रकरण म  
 “सका विचार किया गया है । अब बासना भार मन भावि अम्बर पश्चातों से यहि  
 आत्मा भेद है तो आप ही किंवद्दं हो गया कि परज्ञान का स्वरूप मी वही भात्मा  
 होगा । आनन्देय उपनिषद् के सातों अध्याय मैं इसी युक्ति से काम किया गया है ।  
 और उनसुमार ने नारद से कहा है कि बाष्पी की अपेक्षा मन अविकृष्ट बाष्पता का  
 (भूयस्) है । मन से ज्ञान शन त बह और इसी प्रकार बहुते बहुते तत्त्व कि  
 आत्मा उन से भेद (स्मृत) है तब भात्मा ही का परज्ञान का सक्षम स्वरूप कहना  
 चाहिये । अन्द्रेब अन्यकारी मे ग्रीन ने इसी विद्यान्त को माना है; किन्तु उसकी  
 युक्तियाँ बुद्ध बुद्ध मिल हैं । इष्टिक्ष्ये यहाँ उन्हें स्वेच्छे से वेदान्त की परिमाणा म  
 कहत्वाते हैं । ग्रीन कहा है, कि हमारे मन पर इन्द्रियों के द्वारा बाह्य नामरूप के  
 संक्षार द्वारा करते हैं उनके एकीकरण से भात्मा को ज्ञान हाता है । उस ज्ञान के मैत्र  
 के लिये बाह्यस्थिति के मिल मिल नामरूपों के मूल मे मी एकता से रहनेवाली कोई न  
 कोई बलु होनी चाहिये । नहीं तो भात्मा के एकीकरण से ज्ञान उपभ द्वारा होता है वह  
 सक्षमतास्त्रियत और निराशार हो कर विद्यनवार के समान असत्य प्रामाणिक हो  
 जायगा । “स वौद्व न कार्य वलु को हम ब्रह्म कहते हैं । मेर ज्ञान ही है कि  
 काम की परिमाणा को मन कर ग्रीन उसको बलुत्व कहता है । बुद्ध मी कहो;  
 अन्त मे बलुत्व (ब्रह्म) और भात्मा ये ही हो पश्च इह जाते हैं कि ये परत्पर  
 हे मैस के हैं । न मै ते भात्मा मन और बुद्धि ते पर अर्थात् इन्द्रियातीत है ।  
 तथापि अपने विभाव के प्रमाण पर हम माना करते हैं कि आसमा इह नहीं है ।  
 वह या तो चित्ती है या वैत्यन्यक्षी है । “स प्रकार भात्मा के स्वरूप का निष्प्रय  
 करक तेजना है कि बाह्यस्थिति के ब्रह्म का स्वरूप क्या है । इस विद्यव मे यहाँ ही ही  
 पर हा लगते हैं यह ब्रह्म का बलुत्व (३) भात्मा के स्वरूप का होगा या  
 (४) भात्मा से विभ स्वरूप का ? क्योंकि ब्रह्म और भात्मा के लिया अब हीरही  
 बलु ही नहीं रह जाती । परम्पु तभी का अनुमत यह है कि बड़ि कोई भी श

किन्तु 'उकेड़ा' और अभिरा इन शब्दों की यह शेषी ही उसको सह न पढ़ेंगी। तर् और मस्त् शब्दों की ओही (इन्द्र) के स्थिरे वही न्याय उपयोगी है। जब हम ऐसे हैं कि कुछ बलुओं का नाश होता है तब हम सब बलुओं के अस्त् (नाश होनेवाली) और उत् (नाश न होनेवाली), ऐ ने मेह करने मर्यादे हैं अथवा सत् और अस्त् शब्द सूत् पद्धते के स्थिरे मनुष्य की दृष्टि के आगे दो ग्राहर के विस्त्र चमों की आवश्यकता होती है। मध्या यदि भारतम् में एक ही बलु यी तो दैत के उत्पत्ति होने पर ऐ बलुओं के उत्तेज से किन सापेक्ष सत् और अस्त् शब्दों का प्रचार हुआ है उनका प्रयोग उस मूलस्तु के स्थिरे ऐसे किया जातेगा। क्योंकि यदि इसे सत् कहते हैं, तो यका होती है कि क्या उस समय उसकी ओह का कुछ अस्त् भी या? यही कारण है क्योंकि के नाशीय सूक्ष (१ १२१) में परजाप्त काई भी विशेषज्ञ न ते कर सूषि के मूलमूल का वर्णन उस प्रमार दिया है, कि जगत् के भारतम् में न तो उत् या और न अस्त् ही था। ये कुछ या यह एक ही था। "न सत् और अस्त् शब्दों की व्येदियों (अथवा इन्द्र) तो पीछे से निकलती है और गीता (७ २८ २ ४८) में कहा है कि सत् और अस्त्, शीत् और उत्ता इन्द्रा से किसी दुष्टि मुक्त हो जाय यह "न सब इन्द्रों से परे अर्थात् निर्विन्द्र ब्रह्मप" को पर्तुच जाता है। इससे दीक्ष पत्ता कि भूत्यासाधारण के विचार दिवाने गएन और उपम है। ऐसा तर्कदृष्टि द्वे विचार कर, तो परजाप्त का अथवा भारता का मी अनेक स्त्रीप्रति किये किना गति ही नहीं रहती। परसु ब्रह्म एव प्रक्षर अहेय और निर्गुण अतएव इनियातीत हो तो मी यह प्रतीति हो सकती है, कि परजाप्त का भी वही स्वरूप है; जो कि हमारे निर्गुण तदा अनिर्बाध्य भारता का है और जिसे हम साधारण से पहचानते हैं। "सर्व कारण यह है कि प्रत्येक मनुष्य जो अपने भास्त्रा की सामान प्रतीति होती ही है। अतपव अन एव उत्तिकान्त निर्वर्तन नहीं हो सकता कि ब्रह्म और भारता एकस्वरूपी है। इस दृष्टि ते दें, तो ब्रह्मस्वरूप विषय में "सभी अपेक्षा कुछ अधिक नहीं कहा जा सकता कि ब्रह्म भारतस्वरूपी है। योग वारों के सम्बन्ध में अपने अनुमत को ही पूरा प्रमाण मानना पड़ता है। किन्तु दुर्विगम्य शास्त्रीय प्रठिपादन में किन्तु शब्दों से हा सहजा है उठना कुछसा कर देना भारतस्त है। "कहिले ब्रह्मपि ब्रह्म सर्वत्र एक सा स्वास अकेव और अनिकास्य है तो मी ब्रह्महि का और भारतवर्षी ब्रह्मठत्र का मेर अप्यक करने के किये भारता के सामित्र से अत्यपूर्णि मै चेतन्वस्त्रपी या गुण इर्मै द्वयोपर होता है उसी को भारता का प्रबन्ध लक्षण मान कर भूत्यास्त्यात्म में भास्त्रा और ब्रह्म दोनों को किन्तु या ऐतन्वस्त्रपी छहते हैं। क्योंकि पड़ि ऐसा न हर, तो भारता और ब्रह्म दोनों ही निर्गुण निरक्षन एव अनिर्बाध्य होने के कारण उनके स्वरूप का अर्थन करने में या तो कुपी साव जाना पड़ता है या शास्त्रा में किनी ने कुछ वर्णन किया तो नहीं नहीं या यह मन्त्र रखना पड़ता है कि नेति नेति।

अमृत भगव और नित्य तत्त्व है (गी १८)। और फिर उन्होंने अपनी अनुशासि से यह सिद्धान्त देंदू निश्चाण, कि बाइशसाहि के नामरूप तं भाष्टातिव अविनाशी तत्त्व और अपने शरीर का यह आत्मतत्त्व - कि ये तुदि से परे है - ये वानी पक ही अमर और अवश्य है अबका जो तत्त्व ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड में वानी मनुष्य की शह में जाव करता है। एवं शृणुरभ्युक्त उपनिषद् में यात्मसम्पदे ने मैनेवी का गार्भ-वासिं प्रवर्ति को और चन्द्र का (२ ३ ८-८ ४ २-४) पूरे वरान्त का पहार रहस्य बताया है। इसी उपनिषद् में पहले इहा गया है कि बिल्लन अन दिया कि आई ब्रह्माण्डि - मैं ही परजाह हूँ - उसने सब कुछ जान दिया (२ ३ ४ १) और छान्दोम्य उपनिषद् के छठे अध्याय में खेत्रेनु भे उसके दिता ने अद्वैत वेगान्त का यही तत्त्व अनेक दीतियों से समझा दिया है। वह अध्याय के आरम्भ में खेत्रेनु ने अपने पिता से पूछा कि "मित्र प्रश्नर मिही के एक औंडा का मैं जान देने से मिही के नामरूपामङ्क सभी विश्वर जाने चाहत है उसी प्रकार मित्र एक ही बल्लु का जान हो जाने से सब कुछ तमक्ष में जा जाव। वही एक वस्तु मुझे बहस्थओं मुझे लुपका जान नहीं। तब पिता ने नदी समुद्र पानी और नमक प्रवर्ति अनेक इशान्त है कर समझाया कि बाइशसाहि के मठ म जो ब्रह्म है वह (तत्) और तु (त्वम्) अर्थात् तेरी देह की आत्मा वानी एक ही है - 'तत्त्वमस्ति एव व्याही दुने अपने आत्मा का पहचाना त्वोही मुझे आप ही मात्रम हो जायेगा कि समस्त व्यान् के मूल म क्या है।' एस प्रकार पिता ने खेत्रेनु को मित्र मिम्म नी इशान्ता से उपेत्त दिया है और प्रति चार 'तत्त्वमसि - वही तू है - 'एस सून भी पुनराहृति भी है (छट ६ ८-१६)। यह 'तत्त्वमसि और व्यान्त के महावास्यों म मुम्प जाक्य है।

इति प्रकार निश्चय हो गया कि ब्रह्म आत्मतत्त्वी है। परन्तु आत्मा चिह्नी है। इसलिंब सम्मद है कि कुछ लोग ब्रह्म का मौजूदी समझ। अतएव यहाँ प्रस के और उच्चर साव ही साय आत्मा के तत्त्वे स्वरूप का बोझ-उड़ा कुछाता कर देना आवश्यक है। आत्मा के लाभिक्ष्य से बाहरमुक्त तुदि में उत्पन्न हुनेवाले भर्त का चित्र अर्थात् जन कहते हैं। परन्तु जब कि तुदि के इन चरण को आत्मा पर मानना उचित नहीं है तब तात्त्विक दृष्टि से आत्मा के मूलतत्त्व का मौजूद और भ्रम्य ही मानना चाहिये। अतएव कर्त-रक्षी का मत है कि ब्रह्म आत्मात्मात्वभी है तो "न दोनीं को पा ननम से किसी मौजूदे एक को चिह्नी पूर्णा कुछ भर्ती म दीज ही है। यह आत्मेष अपेक्षे चिह्नी पर ही नहीं है। किन्तु वह आप-ही आप मिठ हाता है कि परजाह के लिये 'तुम्हा' चिह्नेष्व का प्रयोग करना उचित नहीं है। अपावि सत् और भवत् वे दोनीं जर्म परस्परविष्ट और लड़ेव परस्पर जाप्ते हैं। अपावि मिष्ट मौजूद है वसुभावधि निर्भृत करने के लिये वहे जाते हैं। दिमेव वही उक्ता न देना हो वह औंचर की वस्त्रना नहीं कर लकड़ा। यही नहीं।

लापरवाह है — उत्र व दीप ही नहीं पदतः और उत्रका भौतिक ब्रह्मत्वम् का आम ही भाव पुर्ण चालाकार होता जाता है। पुण ब्रह्मत्वम् ए अन्त म परमाबधि की जा पह विष्टि प्राप्त होती है उत्रमें ज्ञाता हेय और ज्ञान का सीतरा भू अर्थात् निषुटी नहीं रहती; अथवा उपास्य और उपालक का दैत्याव भी नहीं ज्ञने पाता। अतएव यह अदत्या और किसी दूरुर का बत्साइ नहीं आ रहती। क्याकि प्याहि 'दूरुर शुद्ध का उपारण किया स्थाही अदत्या किंगड़ी और फिर प्रकृत ही है कि मनुष्य भौतिक से दैत्य में आ जाता है। और तो क्या ! यह जहना भी मुश्किल है, कि तुह इत्र अदत्या का ज्ञान हा गया। क्याकि 'मैं कहते ही भौतों के मिथ होने की याकना मन में आ जाती है; और ब्रह्मत्वमैक्य होने में यह याकना पूरी जापत है। इसी कारण से याङ्गस्त्वम् ने बृहदारम्भक (४ ६, १६ ४ ३ २७) म इस परमाबधि की विष्टि का ज्ञन यों किया है : 'यज हि ईतमित्र मत्ति विदितर इतर पश्यादि विष्टि शृणुति विज्ञनाति। यज स्वत्व सर्वमार्मिकाभूत तत्त्वेन क पश्येत् किमेत् शृणुतात् विज्ञनीयात्। विज्ञातारमंत्र केन विज्ञनीयात्। एतावश्च एकु ममूदत्वमिति। इसका याकार्य यह है कि देखे जाए (इष्ट) और देखे का पश्य जब तक ज्ञना हुआ था तब तक एक दूसरे का देखता था दैत्यता था जुनता था और जनता था। परन्तु जब सभी भालमेव हो गया (अर्थात् अपना और पराया भैं ही न रहा) तब जोन किसी भेदेगा देखिए जुनेगा और जानेगा ! और ! ये सब ज्ञान अर्थात् ज्ञननेताव्य हैं उसी का ज्ञननेताव्य और दूसरा व्यर्थों से लग्जोये ! " इस प्रकार सभी भालमभूत या ब्रह्मभूत हो जाने पर व्यर्थों मीठि शोक अदत्या सुखदुःख आरि इष्ट भी रह व्यर्थों सकते हैं (इष्ट ७)। क्योंकि किसी दरना है कि या विकल्प शोक ज्ञना है वह सो भफने से — हम से — बुझ होना चाहिये और ब्रह्मत्वमैक्य का मनुष्य हो जाने पर "स प्रकार की किसी भी मिज्जता को अक्षम्य ही नहीं गिरता। इसी तु कल्पोकविरहित अदत्या की 'आनन्दमय' नाम है कर हैत्तिरीप उपनिषद् (८ ८ १ ३) मैं कहा है कि यह आनन्द ही प्रकृत है। किन्तु यह कर्णि भी गौण ही है। क्योंकि आनन्द का अनुमत करनेवाला भव रह ही व्यर्थों जाता है। अतएव बृहदारम्भक उपनिषद् (४ १ १२) मैं कहा है कि यौविक आनन्द की अपेक्षा आल्मानन्द दुःख विलक्षण होता है। इष्ट के वर्णन में आनन्द शुद्ध ज्ञाना भूता है। उचकी गौणता पर अध्यान के कर अस्व स्थानों मैं ब्रह्मत्वम् पुरुष का अनित्य वर्णन ( 'आनन्द' शब्द को बाहर निष्पक्षकर) इतना ही किया जाता है। इष्ट मत्ति व एव वेन (१ ४ ४ २)। अथवा इष्ट वेन ब्रह्मैव नवति (मु १ २ ९) — किसी ब्रह्म का ज्ञन किया जह ब्रह्म ही हो गया। उपनिषदों (१ २ ४ १३; इ. १ ११) मैं इष्ट विष्टि के किंव वह ब्रह्मत्वम् किया गया है कि नमक भी उपर वह पानी मैं तुल जाती है उप विष्ट प्रकार वह गेत नहीं रहता कि इतना मग लारे

एतस्मादन्यतरम् लितु ।<sup>७</sup> – यह नहीं है यह (ब्रह्म) नहीं है (यह तो नामस्वरूप हो गया) । सच्चा ब्रह्म इससे परे और ही है । “स नकायत्तम् पात् का आवतन करने के अतिरिक्त और वृस्या मार्गी ही नहीं रह जाता (वृ. २. ३. ३) । यही कारण है क्यों सामान्य रीति से ब्रह्म के स्वरूप के स्वरूप चित् (ज्ञान) सत् (सच्चामात्मक अवश्या अस्तित्व) और आनन्द उत्साह जाते हैं । “सम होद सन्देह नहीं कि ये छब्बी अन्य उमी उम्मगां की अपेक्षा भेद है । ऐसे भी स्मरण रहे कि जग्मा से ब्रह्मस्वरूप की जितनी पहचान हो सकती है उक्तनी कह देने के लिये ये उम्मग्य भी कहे गये हैं । बालचिन्द्र ब्रह्मस्वरूप निरुण ही है । उसका ज्ञान होने के लिये उसका अपरोक्षानुमत्व ही होना चाहिये । यह अनुमत्व कैसे हो सकता है ? – इन्द्रियातीत होने के कारण अनिर्बन्ध ब्रह्म के स्वरूप का अनुमत्व ब्रह्मनिष्ठ पुरुष की कल और कृति होता है । – इस विषय में हुमारे शास्त्रज्ञानी ने यह विवेचन किया है उसे यहाँ संक्षेप में क्रृतये हैं ।

ब्रह्म और आत्मा की पक्षता के उक्त समीकरण जो सरल माया में “स प्रकार म्यक्त कर सकते हैं कि जो विषद् में है वही ब्रह्मात् में है । यह “स प्रकार ब्रह्म खैस्य का अनुमत्व हो जावे तब यह मैमात् नहीं रह पक्षता कि जाता अपात् ब्रह्म मिल बलु है और ऐसे अपात् भेदभाव की बलु अस्ता है । किन्तु “स विषय में शक्ता हो सकती है कि मनुष्य जब उक्त व्यक्तित्व है तब उक्त उससे नेत्र आदि अन्तिर्यामी यति दूर नहीं जाती है तो इन्तिर्यामी पृष्ठ हुए आर उनको गान्चर होनेवाले विषय पृष्ठ हुए – यह में दूरेगा तो कैसे ? और यदि यह भट्ट नहीं दूरता तो ब्रह्मात्मक्य का अनुमत्व कैसे होगा ? तब यदि अन्द्रियात्मि से ही विचार कर तो यह घाता एकाधक अनुकृति भी नहीं जान पाएती । परन्तु हीं गम्भीर विचार करने स्थां तो ज्ञान पड़ेगा, कि इन्तिर्यामी बाइ विषयों को देखने का काम बुद्ध मुख्याती से – अपनी ही मर्जी से – नहीं किया जाती है । पहले क्षमत्य दिया है कि अभ्युपाति व्यापाति मनसा न तु असुपा (म. म. दा १११ १७) – किसी भी बलु को भेदभाव के लिये (और मुनने भावि के लिये भी) नेत्रा का (ऐसे ही कान व्यक्ति को भी) मन की सहायता आवश्यक है । यदि मन इन्य हो विची और विचार में हुया हो तो आईनी के आगे परी हुए बलु भी नहीं जाती ? म्यवहार में होनेवाले “स अनुमत्व पर र्यान देने से सहज ही अनुमान होता है कि नेत्र आदि अन्द्रियों के अभ्युपाति रहते हुए यी मन की यदि उनमें से निकाल ले तो इन्द्रियों के इन्द्र व्याप्त्युषि में क्षमान होने पर यी अपने लिये न होने के क्षमान रहते । परि विषयम् यह होगा कि मन देवता आत्मा म अथात् भाष्यम्बन्धी ब्रह्म में ही रत रहेगा । “उसे हमें ब्रह्मात्मक्य का उत्पत्तिकार होने लगेगा । व्यान से उमाति से उकान्त उपानुना से अवगत अस्पन्दत ब्रह्मविचार करने से अन्त में यह मानसिक विषति भिन्नका ज्ञान हो जाती है । परि उसमें नक्ष नक्ष के आगे हरब दृष्टि के दूर या भेद नापते रखे रहा करे पर वह उसे

भैं - पनतारुपी देवमय इस स्थिति में इब ज्ञाता है। नह हो ज्ञाता है। अतएव कुछ सोग शका किया करते हैं कि पह तो फिर आत्मनाष्ट का ही एक तरीका है। लिन्दु प्याही समझ में आया कि यद्यपि "स स्थिति का अनुभव करते समय "कुका बर्जन करते नहीं ज्ञाता है परन्तु पीछे उक्का स्मरण हो ज्ञाता है साही उक्का शका निर्मूल हो जाती है। १० "कुकी अपेक्षा और मी अधिक प्रस्तुत प्रमाण सामुदान्ता का अनुभव है। बहुत प्राचीन चिन्ह पुरुष के अनुभव की बातें पुरानी हैं। उन्हें ज्ञाने श्रीकृष्ण। लिस्तु उम्भ अमी के प्रसिद्ध म्याकद्वक तुकाराम महाराज ने मी इस परमात्मापि ही स्थिति का ज्ञान आरंकारिक मापा मै जौनी गूढ़ी से घम्यापूर्वक "स प्रकार किया है कि 'हमने अपनी मूल्य भावनी ओंकार से देव भी वह मी एक उत्तम हो गया। अब अपवा अन्यकुल सरुण प्रद्वय की उपासना से ज्ञान के द्वारा भीरे भीरे कृत्वा तुआ उपासक अन्त में अह ब्रह्मामैक्यस्थिति का उसे सासाक्षार होने लगता है। फिर उसम उत्तना मम हो ज्ञाता है कि इस बात की भौत उत्तर अपवा मी नहीं ज्ञाता कि मैं लिस्तु अपवा किसका अनुभव कर रहा हूँ। इसम जाएंसी की रहती है। अतः "स अवस्था को न ठो स्पृष्ट कह उठते हैं; भीर न मुकुति। यदि जागृत कह सो "समें के सब अवहार स्थ जाते हैं कि जो ज्ञात्य अवस्था मैं सामान्य रीति से हुआ करते हैं। इसलिये स्पृष्ट मुकुति (नीन) अपवा गुरीय नवव्या शान्ति ने कही है। "त स्थिति को प्राप्त करने के सिये पाठङ्गत्योगी की दृष्टि से मुख्य लाभन निर्विकल्प ज्ञानादियोग सम्पन्ना है कि दिसेंग हैं जो ज्ञाना भी सबलेण्य नहीं रहता। और यही कारण है जो गीता (१ २०-२१) में कहा है कि इस निर्विकल्प ज्ञानादियोग को अन्यात्र से प्राप्त कर सके मैं मनुष्य की उत्तमता नहीं जाहिये। यही ब्रह्मार्मिक्य स्थिति ज्ञान की पूर्णवस्था है। क्योंकि इन भग्नशुभ्र उपर्युक्त अपात् एक ही ही चुरा तत्र मीठा के अन्तिकाश इन स्थान की पुण्यता हो जाती है कि अविमुक्त विमुक्तेयु अनेकव तो उक्ता वस्त्री चाहिये - नार फिर इसक आगे किसी को मी अधिक ज्ञन हो नहीं सकता। इसी प्रकार नामकरण ने परे इन भग्नशुभ्र का शही मनुष्य को अनुभव इभा कि उपर्युक्त

---

ज्ञान व भार ज्ञानात् त इन हामदानी भद्र की अपवा भवद्वय की एक भग्नशुभ्र gaseous-oxyde gas वात्तर एक प्रहार की रात्रावनिर वाय का वैतर व ज्ञान व ज्ञान कर्त्ता है जीव व ज्ञानी वैतर व ज्ञानी वैतर है। 11/11/10 Behavior and Oile Essays on Popular Philosophy by William James pp-294 293 एक एक वर्ती भग्नशुभ्र है ज्ञानादि व ज्ञान भग्नशुभ्र है एक वर्ती भग्नशुभ्र - है ज्ञान व ज्ञान व भग्नशुभ्र है। यह जीव वैतर उक्ता उक्ता इन्द्रिय द्वारा है वैतर इन्द्रिय भग्नशुभ्र के वैतर वैतर के विवर म इष्ट मी वाय वैतर वाय।

पानी का है और इतना मग मामूली पानी का है – उसी प्रकार ब्रह्मामैक्ष्य का ज्ञान हा ज्ञान पर सब ब्रह्ममय हो जाता है। किन्तु उन भी नुकाराम महाराज ने (कि ‘किसी कहे निव्व देवान्त जाणी’ ) “स गार पानी के दृश्यंत के बाले गुड़ का यह भीठ दृश्यंत \* कर अपने अनुभव का वर्णन किया है –

यह का सुइ है मवदाह चाहर भीतर दक समान ।  
किमका ध्यान कहे सदिवेक ! जह-तरंग मे है इम पक ॥

इसीसिये कहा जाता है कि परज्ञ इन्द्रियों का भगोचर और मन का भी अगम्य हाने पर मै स्वानुभवगम्य है अपान् अपने अपने अनुभव से ज्ञाना जाता है। परज्ञ भी किस भक्तवत्ता का वर्णन किया जाता है वह ज्ञाना और हेतु -कासी द्वैती रिपति की है और भौदेत-काभासार-काली शिवति नहीं। यह तक यह बुद्धि ज्ञानी है कि मैं अस्य हूँ और दुनिया अम्या हूँ तब तक कुछ मैं क्या न किया जाय ब्रह्मामैक्ष्य का पूर्य ज्ञान हाना सम्भव नहीं। किन्तु नहीं यहि समुद्र का निगम नहीं सम्मी - उक्ता ज्ञान मे भीन नहीं कर लक्ती – तो किंतु प्रकार समुद्र मे गिर कर नहीं तटप हो जाती है उसी प्रकार परज्ञ मे निमग्न हाने से मनुष्य का उक्ता अनुभव हो जाया करता है और उसकी परज्ञ रिपति हा जाती है कि तदनुभवस्थमात्माने सर्वभूतानि जात्मनि (गी १ ३) – सब प्राणी मुझम ह और मैं सब मै हूँ। उन उक्तनियदि मे कही शुश्री के साथ परज्ञ के स्वरूप का विराभामानात्मक वर्णन इस अथ का स्वरूप करने के किय किया गया है कि पूर्ण परज्ञ का ज्ञान केवल अपने अनुभव पर ही निर्मत है। वह ज्ञान इन प्रकार है : भविष्यत विज्ञानता विज्ञानम विज्ञानताम (केन २ ३) – या कहत है कि हमें परज्ञ का ज्ञान हा गया उन्ह उक्ता ज्ञान नहीं रहा है और किंह ज्ञान ही नहीं पड़ता कि हमन उक्ता ज्ञान किया उन्ह ही वह ज्ञान रुभा है। क्योंकि जब कार कहता है कि मैंन परमे शर का ज्ञान किया तब उसक मन मै वह दैत्यबुद्धि उपरम हो जाती है कि मैं (ज्ञाना ) उगा हूँ और मैंने ज्ञान किया वह (त्रय) ब्रह्म भव्या है। भव्या उक्ता ब्रह्मामैक्ष्यकी भैती अनुभव उन समय उत्तना ही क्षया और भव्या हाना है। एक उमी व मैंह से एकी मारा का निष्कर्षा ही सम्मर नहीं रहता कि मैंन उत्त (भव्या भास्म ने मित्र और कुछ) ज्ञान किया। भव्या इन गिरति मैं अपान् ब्रह्म कार का उनी पूर्ण वह ज्ञानमै भव्यमय हाना है कि मैं ब्रह्म की ज्ञान गया तब कहना पड़ता है कि उन ब्रह्म का ज्ञान ही गया। इन प्रकार हैन कि किय कुछ नहीं हा कर परज्ञ मै ज्ञान क्य कृपया रंग ज्ञाना क्य पा लेजा किंतुम पुर दृजा भरता उक्ती हा ज्ञाना कामाम्य क्य म दीन ता कुधर पड़ता है। परन्तु हमार शास्त्रकारा ने भव्या न विध्यत किया है कि प्रकारक कुछ फर्जीन हानेदारी ‘विषय विषये भव्या भार वैताम्य ने भास्म मै मनुष्य का कारण हा जाती है

आत्मस्वरूपी शुद्ध नित्य सर्वम्भाषी और अविकारी ब्रह्म ही के आगे वह कह हिरण्यगर्भ नामक संगुण पुरुष या भाष (पानी) प्रमत्ति सुहिते के व्यक्त पश्चार्य कर्मसु निर्मित हुए अथवा परमेश्वर ने इन नामरूपों की रचना करके फिर स्थिरता से उन्हें प्रदेश किया (तै २ ३ अ ८ २ ३ अ १ ४ ७) ऐसे सब हौरपूर्ण वर्णन भौतिकस्थिति से यथाव नहीं हो सकते। क्याकि हानिकार्य, निगुण परमेश्वर ही वह चारों ओर महा हुआ है, तब तात्त्विक दृष्टि से पहल कहना ही निमूल हो जाता है, कि एक ने दूसरे को पैन किया। परन्तु सापारण मनुष्यों की सुहि की रक्षा समझा देने के लिये व्याकरणारिक अर्थात् दैत भी मापा ही तो एक सापन है। इस कारण व्यक्तस्थिति भी अर्थात् नामरूप भी उत्पत्ति के वर्णन उपनिषद् में उल्लेख है, जैसा कि उपर एक उगाहरण किया गया है। तो मैं उल्लेख भौतिक सा तत्त्व बना ही है और अनेक स्थानों में इह दिया है, कि इस प्रकार हीसी व्याकरणिक मापा बर्तने पर भी मूल में भौतिक ही है। ऐसिये, अब बिल्ल शो कुका है कि सूर्य भूमता नहीं है रिवर है फिर शाकचाल में विस्त प्रकार वही बहा जाता है कि सूर्य निष्ठ भाषा अपेक्षा हृष गया। उसी प्रकार यथापि एक ही आत्मस्वरूपी परब्रह्म चारों और भूमण्ड महा हुआ है। और वह भूमिकावें हैं। उत्तापि उपनिषद् में मी पेची ही मापा के प्रयोग मिलत है कि परमस से व्यक्त अर्थात् की उत्पत्ति होती है। इही प्रश्न गीता में मी यथापि पहल कहा गया है, ति “मेरा सब्द व्यक्त भूमसु और अब है (गी ७ २५) उत्तापि भाषान् ने कहा ह कि मैं तारे कर्म का उत्पन्न करता हूँ (४ १)। परन्तु इन वर्णनों के सम को किना समझें दूसे दूसे पाणित वौग अनेक शास्त्र सबा मान लेते हैं और फिर इन्हे ही मुख्य समझ कर यह सिद्धान्त किया करते हैं कि ऐत अथवा विधिश्वैत मत का उपनिषद् में प्रतिपादन है। वे कहते हैं कि पर्दि वह मान किया जाय कि एक ही निर्गुण ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त हो रहा है; तो फिर इल्ली उत्पत्ति नहीं लगती कि “त भूमिकारी ब्रह्म से विकाररहित नाश्वान् त्वयुन् पश्चार्य” के निर्मित हा गये। क्याकि नामरूपात्मक सूडि का यहि ‘मापा’ ही तो निर्गुण ब्रह्म से संगुणमापा का उत्पन्न होना ही उपराह्या घटन नहीं है। इस अद्वैतात्मकमापा ही जाता है। अनेक तो कहीं अस्त्र यह होगा नहीं कि लाक्षण्यात्मके मतानुसार प्रहृति के उत्तर नामरूपात्मक व्यक्तस्थिति के किंतु लगुण परन्तु व्यक्त रूप की नित्य मान किया जाए और उत व्यक्त रूप के अस्त्रन्तर में परब्रह्म को “दूर्जा निष्पत्ति ऐसा भौतिकोद मरा हुआ रूप जाए, जैसा कि पर्व की नसी में माफ रहती है (व ३ ७)। एवं उन दोनों में ऐसी ही एकता मानी जाए जैसी कि शादिम वा भवार के छस भौतिकी गानों के लाभ रहती हैं। परन्तु इसारे मत में उपनिषद् के उत्तर्य का ऐसा किंवार करना दोग्य नहीं है। उपनिषद् में कहा कही जैसी और कही कही भौती वजन पाए

का पक्ष मी आप ही से बूट जाता है। क्योंकि अमरण सो नामहृष में ही है और यह मनुष्य पौर्ण ज्ञाता है उन नामरूपा से परे (गी १ २९)। “सी से महात्माभा ने “स रिति का नाम ‘मरण का मरण’ एवं लोड़ा है। और “सी कारण से याज्ञवल्य “स रिति को अमृतत्व की सीमा या पराक्रम्य कहते हैं। यही शीक्षनमुद्दावस्था है। पातञ्जलयोगस्मृति और अन्य रूपाना में भी बोलन है, कि “न अवस्था में भावाशयगमन आदि की कुछ अपूर्व अस्थीतिक मिहियों प्राप्त हो जाती है (पातञ्जलयू १६-५६) और इन्हीं को पाने के लिये कितने ही मनुष्य योगास्त्रास भी मूल में स्त्रा चाहते हैं। परन्तु योगकार्याद्यगता कहते हैं कि भावागमनम् प्रभृति मिहियों न तो ब्रह्मनिष्ठरितिका साथ है आर न न्यूका कोई भयग ही। अठ शीक्षनमुद्द पुरुष “न मिहियों को पा रखना का नशाग नहीं करता और शुभा उसमें खेली भी नहीं जाती (आगे यो ८९)। इसीकारण न्यू मिहियों का उल्लाप न तो योगकार्याद्य में ही और न गीता में ही वर्णी है। बहिष्ट न राम से स्वप्न कह दिया है कि ये चमकार तो माया के गेल हैं कुछ ब्रह्मदिव्या नहीं हैं। फग्नचित्र ये सब है। हम यह नहीं कहते कि ये हाँगे ही नहीं। या हो “रुना तो निर्विकार है कि यह ब्रह्मदिव्या का विषय नहीं है। अतएव (ये मिहियों मिल तो आर न मिल तो) “नकी परवाह न करनी चाहिये। ब्रह्मदिव्याशास्त्र का कथन है कि इनकी “स्त्रम अपवा भाजा भी न करके मनुष्य का कही प्रश्नन करन रहना चाहिये कि किसी प्राणिमात्र में यह भात्ता - जाती परमात्मि की ब्रह्मनिष्ठ रिति शास हो अथे। ब्रह्मज्ञान भाजा की शुद्ध भवस्था है। वह कुछ अपूर्व करामत या लिङ्गमाती लक्ष्या नहीं है। “न कारण “न मिहिया ते – “न चमकाय से – ब्रह्मज्ञान क गोरख तो कृता तो शूर, जिन्हु उसके गोरख के – उसकी महत्वा क – ये चमकार प्रमाण भी नहीं हो जाता। पक्षी तो पहले भी उक्त थे; पर अब विमानावासे स्त्रोग भी भावाग में उठाने लगे हैं। जिन्हु जिक न्यू गुण क हाने ते कार इनकी गिनती ब्रह्मदेवताभा में नहीं करता। और तो क्या जिन पुरुषों को ये भावाशयगमन आदि मिहियों प्राप्त हो जाती है वे ‘मात्मी मात्रव नायकवासे भपारपर्वत के तमान त्रूर और भात्ती भी हो जाने हैं।

इष्टाभैष्टप्रस्त्र भावनमय रिति का भनिकार्य अनुमति और किसी दूसर का प्रणतया अन्यथा नहीं ये बनता। क्योंकि उप उसे दूसरे का स्त्रासने स्थान, उप “मै तू”-जाती इत भी ही माया से काम केना पहगा; आर इत ईती माया में भर्द्धत का तमस्त अनुमति स्वप्न करते नहीं जाता। अतएव उपनिषदों में इत परमा तपि की रिति के तो बनत है उन्हें भी अपूर्व गणन तमज्ज्ञा चाहिये। और उप ये बनान गाव है तब स्त्रि की उत्तरिण एवं रक्षा तमस्त के विषय भनेष भ्याना पर उपनिषद में ही निर ईती बनत पाये जाते हैं उन्हें भी गोंग ही मानना चाहिये। उपादरण स्वीकृति; उपनिषद में उत्तरिण भी उत्तरिण के विषय में एवं बनत है कि

उपर्युक्ति मी भौद्रित को छोड़ और दूसरे प्रकार की वेदान्तस्थिति से नहीं भवती है। उससे कोई हमारा वह आधार न समझ चै कि भीषणतार्थ के समय में अस्ता उनके पश्चात् भौद्रितमत को पोषण करनेवाली वित्तनी युक्तियाँ निकली हैं अपना प्रमाण निकल है वे सभी यज्ञयात् गीता में प्रतिपादित हैं। वह तो हम मी मानते हैं कि दैत भौद्रित और विद्युश्वैत्र प्रभावि सम्बन्धियों की उत्तरति होने से पहले ही गीता अनुभव है और इसी कारण से गीता में किसी भी विद्युप सम्बन्ध की युक्तियों का समाकेत होना उम्मत नहीं है। किन्तु इस उम्मति से वह कहने में कोई भी वाचा नहीं आती कि गीता क्या वेदान्त मास्तूपी दौर पर शाहूरसम्प्रदाय के अन्तर्गत उम्मार भौद्रिती ह - दैती नहीं। इस प्रकार गीता और शाहूरसम्प्रदाय में तत्त्वज्ञन की दृष्टि से सामान्य मेल है तब्दी पर हमारा मत है कि आचाराद्विति से गीता क्षम्भित्यात् की अपेक्षा कर्मयोग का अधिक महत्व देती है। उस कारण गीतार्थी शाहूरसम्प्रदाय से मिल हो गया है। उसका विचार आगे किया जाएगा। प्रसुत विषय तत्त्वज्ञन सम्बन्धी है। उससिये पहुँच इच्छा ही कहना है कि गीता और शाहूरसम्प्रदाय में - दोनों में - वह तत्त्वज्ञन एक ही प्रकार का है अर्थात् भौद्रिती है। अन्य साम्बन्धियों की अपेक्षा गीता के शाहूरमाध्य को जो अधिक महत्व हो गया है उसका विचार भी यही है।

शानदात्रि से छोरे नामरूपा क्या एक आर निष्ठा देने पर एक ही अपिक्षणी और निर्गुण तत्त्व स्थिर रह जाता है। भूतपूर्व पुर्व और सूक्ष्म विचार करने पर भौद्रित विद्यान्त का ही स्वीकार करना पड़ता है। वन वना विद्य हो कुछ तत्त्व भौद्रित वेदान्त की दृष्टि से वह विकेन्द्र करना आवश्यक है कि इस एक निर्गुण अवलम्बन से नाना प्रकार की व्यक्त सुगुण उत्पत्ति करें। पहले वर्तमान भावे हैं कि साम्ययोग ने तो निरुण पुरुष के द्वारा ही विद्युतसम्बन्ध भवात् सुगुण प्रदृष्टि का अनादि और स्वतन्त्र मान कर, उस प्रभ का हृष्ट कर किया है। किन्तु यहि इस प्रकार सुगुण प्रदृष्टि को स्वतन्त्र मान कि तो अपने गुलठन्त्र दो तुए चारे हैं। और ऐसा करने से उस भौद्रित मत में व्यापा आती है कि विद्यका ऊपर अनेक व्यर्ती के द्वारा पूर्णवा निष्ठय कर मिला गया है। यहि सुगुण प्रदृष्टि का स्वतन्त्र नहीं मानते हैं तो पर व्याप्ति नहीं भवता कि एक मूल निर्गुण इस से नानाविवर सुगुण सुष्ठि द्वारा उत्पन्न हो गई। कर्मादि सत्कार्यवाद का विद्यान्त वह है कि निर्गुण से सुगुण - जो कुछ मैं नहीं हूँ उससे और कुछ - क्या उत्पन्ना यहत्व नहीं है; और वह विद्यान्त भौद्रित कार्यों को भी साम्य ही कुछ है। इलमिय दोनों ही ओर अद्वचन है। पर पर उत्पन्न मुख्य हैं। मिला भौद्रित का लाई ही निरुण से सुगुण की उत्पत्ति होने का मान अवश्यना है और उत्कायवाद की दृष्टि से वह तो स्वा कुआन्या ही है। तथा ये च है - एकीर्थी उत्पन्न नहीं है। और तो क्या! कुछ ज्ञानों की समझ में भौद्रित विद्यान्त के मानने में यही ऐसी भव्यता है जो सब मुख्य ऐसी ही और कठिन है।

जाते हैं। तो इन शर्तों की कुछ-न-कुछ एकवाक्यता करना तो ठीक है परन्तु अद्वितीय को मुख्य समझे और यह मान लें तो कि वह निरुप ब्रह्म सगुण इसे स्वता है तब उठने ही समय के किये माधिक द्वेष की स्थिति प्राप्त ही हो जाती है। तब वचनों की ऐसी व्यवस्था स्वती है, जिसी व्यवस्था द्वेष पश को प्रथान मानने से स्वती नहीं है। उग्राहण सीढ़िये एस तत् स्वप्नासि वाक्य के पक्ष का अन्धय द्वेषी मठानुसार कभी मी दीक्ष नहीं ल्याता। तो क्या "एस अन्धन को द्रष्टव्यवाच्छं ने समझ ही नहीं पाया। नहीं समझा द्वर है। तभी तो एस महावाक्य का वैकार्या अव ल्या कर अपने मन को समझा लेते हैं। 'वस्त्रमासिं' को द्वितीय एस प्रकार उल्लिखते हैं - तत्त्वम् = वस्त्र त्वम् - अथात् उड़का तू है कि ये काँ तुम्हे मिल है तू वही नहीं है। परन्तु जिसको सकृद का यात्-सा मी जान है आर जिसकी बुद्धि आपह में बैठ नहीं गा है वह तुरन्त ताँ ल्या कि यह विचारनी का अथ नीक नहीं है। वैक्षय उपनिषद् ( १ १६ ) म तो एस व्याप्त द्वारा "एस प्रकार 'तत् और 'त्वम्' को उड़ पाल्य कर उड़ महावाक्य के अद्वितीयान होने का ही सिद्धान्त ल्याया है। अब और क्या अद्वितीये ? समन्व उपनिषद का बहुतसा म्यग निकाल लाले किंतु अवश्य बन बूल कर उड़ पर तुरन्त मिले किंतु उपनिषद्धम में अद्वित को लो" और काँ दूसरा रहस्य विवरण देना तरम्भ ही नहीं है। परन्तु ये बाँ तो पेंच है कि किंतु कोइ ओर-आर ही नहीं तो किर यहाँ हम "नकी विशेष चक्षा क्या कर ? किंहूँ अद्वित के अनिरिक्ष अन्य मत व्यवहरते हुए जुर्ही से उन्ह स्वीकार करते हैं। उन्ह ऐक्षता बैत है। किं उआर महस्तमाओं ने उपनिषद्धे में भागना यह ल्यष किशात अद्वितया है नेह नानार्थि विक्षन ( व ४ ४ ११; कठ ४ ११ ) - "एस सुष्टि म किसी मी प्रकार की अने क्षया नहीं है ये को कुउ है वह नूँ म सब 'एकमेवाहितीपद्' ( अ ३ २ .. ) है और किन्हनि भागे यह वगन किया है कि मूल्यों स मूल्यान्वाति व इह नानेव पश्यति - किंतु इस चक्ष में नानात्म गैरप पड़ता है वह अन्मरण के अहर म कैरहा है - हम नहीं समझते कि अन महामाभी का आशय अद्वित को लोह और मी किसी प्रकार हो उड़गा। परन्तु अनेक वैदिक धाराभा क अनेक उपनिषद् होने के कारण ऐसे इस एका का यादी-सी गुणरूप मिल जानी है कि कुछ उपनिषद का तात्पर क्या एक ही है। ऐसा हास गैरा अ नहीं है। वह गीरा एक ही अव्य है उच प्रकट ही है कि उठमे एक ही प्रकार के बेदान्त का प्रतिपादन होना चाहिये। और ये किचारने क्यों कि वह कान-का बेदान्त है ? तो वह अद्वित प्रथान किद्दान्त करना पड़ता है कि उच सूता का नाश हो जाने पर मी यो एक ही अधिकर हता है ( गी ८ २ ) वही व्याप्त में अव्य है। एव ऐह और किस में मिल कर उच वही व्याप्त ही रहा है ( गी १३ १२ )। और क्या क्या ! असमीपव्यकुद्धि का यो नीविताल गीरा में बहाया यया है उक्ती पूरी पूरी

से उस एक ही वस्तु के हस्त छाप्ते रहते हैं। उग्रहणार्थ कानों को मुनार्दे देनेवाले शब्द और झोंकों से विनाश देनेवाले रह - ऐसी ही गुण की स्वीकृति। इनमें से कानों को जो शब्द या आवाज मुनार्दे देती है उनकी सूचिता से शब्द परक आधिमीतिष्ठानियों ने प्रशंसना किए कर दिया है कि 'शब्द' का तो शब्द पी स्वर है या गति। और अब सभी शब्द करने से निश्चय हो गया है कि अँगों से डीग पड़नेवाले शब्द हरे पीछे आड़ि रह में मूळ में एक ही सर्वप्रकाश के विकार है और तृष्णप्रकाश साथ एक प्रक्षर की गति ही है। तब कि 'गति' मूल में एक ही है पर कान उसे शब्द और झोंकों उसे रह बताती है तब यहि 'सुी न्याय का उपदेश शुच अधिक रथापक रीति से सारी इनियों के लिये किया जावे तो सभी नामस्पा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सत्कार्यकारी सहायता के लिया टीक उपयोगि 'एक प्रकार लगार्द या सकती है कि किसी भी एक अविकाश वर्तु पर मनुष्य की मिम मिम इनियों अपनी अपनी और से शुभ्रत्य आड़ि अनेक नपर-स्था मह गुणों का अन्यारोप करके नाना प्रकार के हस्त उपजापा करती है। परन्तु कोई आवश्यकता नहीं है कि मूल की एक ही वस्तु में ये हस्त ये गुण अथवा वे नामस्प होके ही। और इसी अप का सिद्ध करने के लिये रसी में उप या, अपय सीप में चांडी का भ्रम होना, या झोंप में ठेंगली ढाढ़ने से एक के दो फ़ाय दीन पड़ना आड़ि अनेक रहों के चर्पे लगाने पर एक पर्याय का रह मिलाना जीव पहना आड़ि अनेक द्वास्त भेदन्तशास्त्र में लिये जाते हैं। मनुष्य की इनियों उच्चे कभी पूर्ण नहीं जाती है। इस वारण अस्त् के नामस्प अथवा गुण उससे नवतपय में गोचर हो अवश्य होगे परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि इनियकान् मनुष्य की इहि ये अस्त् का ये मापस स्वरूप वीर्य पहता है, वही इस अस्त् के मूल का अर्थात् निरपेक्ष और नित्य स्वरूप है। मनुष्य की करमान् इनियों की अपेक्षा यहि उठे न्युन्याधिक इनियों प्राप्त हो जाये तो यह सुषित उठे जैसी आवकास जीप पहती है जैसी ही न दीरही रहती। भीर यहि यह दीक है तो जब कोइ वृत्ते कि द्रष्टा की - ऐसेवाले मनुष्य की - इनियों की अपेक्षा म करके करमाओं कि सुषिते मूल में ये तत्त्व है उपका नित्य और तत्त्व स्वरूप कहा है। तब यही उत्तर देना पड़ता है कि यह मूलत्व है तो मिगुण; परन्तु मनुष्य का संग्रह दिग्गम्बर देता है - यह मनुष्य की इनियों का घर है न कि मूलत्व का गुण। भाधिमीतिष्ठानिय में उन्हीं कहाँ की अप होती है कि या इनियों का गोचर हुआ करती है। भीर यही वारण है, कि वहा इस दींग के प्रभ होन ही नहीं। परन्तु मनुष्य भीर उनकी इनियों के नह प्राप ही जाने से यह नहीं कह सकता कि इधर मी उपाया हो जाना है; अपवा पनुष्य का यह नमुक प्रकार का जीप पहता है। इत्यसिवे उनका विषयप्रणालिन नित्य भीर निरपेक्ष स्वरूप भी वही होना चाहिए। अतापि दिल भाव्यात्मशास्त्र में यह दिपार करना होता है कि वारण के मूल में करमान् तत्त्व या मूलत्व स्वरूप कहा है।

इसी अवधन से उड़ कर वे हैत औ भंगीकार कर लिया करते हैं। किन्तु अद्वैती पण्डितों ने अपनी दुर्दि के हारा इस किंवद्ध अवधन के फल से बूद्धके लिये मी एक मुख्याद्वार वेगाद मापा है जिसे लिया है। वे कहते हैं कि सत्कार्यवाद भयवा गुणपरिणामवाद के सिद्धान्त का उपयोग तब होता है जब कार्य और कारण ऐसा एक ही श्रेणी के अपवा एक ही वर्ग के हात हैं और इस कारण अद्वैती वेगान्ती मी इसे स्वीकार कर द्द्ये, कि सत्य और निरुल ब्रह्म से सत्य और सगुण मापा का उत्तम हीना शक्य नहीं है। परन्तु पह ल्लीहति उस समय की है। जब कि वेनों पश्चाप सत्य ही जहाँ एक प्राप्त सत्य है पर दूसरा उपका लिंग इस्त है जहाँ सत्कार्यवाद का उपयोग नहीं होता। साम्यमतवादे पुरुष क समान ही प्रहृति जो स्वदत्त्व और सत्य पश्चाप मानते हैं। यही कारण है जो वे निर्गुण पुरुष से सगुण प्रहृति की उन्नति का विवेचन सत्कार्यवाद के अनुसार कर नहीं सकते। किन्तु अद्वैत वेगान्त का सिद्धान्त पह है कि मापा अनादि जी रहे फिर भी वह सत्य और स्वदत्त्व नहीं है। वह तो गीता के कथनानुसार 'माह, भजन' भयवा 'निर्गुण की विद्या' देवेषाण इस्त है। इसलिये सत्कार्यवाद से जो आधेप निष्पम हुआ था, उपका उपयोग अद्वैत सिद्धान्त के लिय किया ही नहीं था सकता। बाप से सन्ता पैदा हो तो कहंगे कि वह उसके गुणपरिणाम से हुआ है। परन्तु पिता एक म्यक्ति है और जब कभी वह कथे का कभी अवान का आर कभी कुरुदे का स्वींग कनाये हुए श्रीप पठता है तब हम सौंव दृश्य करते हैं कि उस म्यक्ति में और इसके अनेक स्वींग में गुणपरिणामस्पी कापकारणमात्र नहीं रहता। ऐसे ही जब निष्पम हो जाता है कि जय पक्ष ही है तब पानी में झौल्ये की विद्यादेवेषादे उसके प्रतिविम्ब का हम अम वह देते हैं और उसे गुणपरिणाम से उपश्च हुआ दूसरा सम्म नहीं मानते। इसी प्रकार दूरीन से निर्मी प्रह के पश्चात स्वरूप का निष्पम हा ज्ञाने पर व्याकिंशास्त्र स्वरूप वह देता है कि उस प्रह का ज्ये स्वरूप निरी भौत्या से दीप परता है वह इष्टी की कमगोरी और उसके अस्त्वन्त दूरी पर रहने के कारण निरा इस्त उपम हो गया है। 'संस ग्रन्त हा गया कि कोइ भी जात नेत्र आदि निर्गुणी का प्रवक्ष गोचर ही जाने से ही स्वरूप और सत्य बहु मानी नहीं था तक्ती। फिर उसी न्याय का अप्यामाशास्त्र में उपयोग वर्ते थे वह वह तो कथा हानि है कि ज्ञानानुरूप दूरीन से भिन्नका निष्पम कर दिया गया है वह निर्गुण पञ्चम सत्य है। और ज्ञानहीन अमन्त्रगुओं का ज्ये नामस्त्र गुप्तर होता है वह इत पञ्चम का काय नहीं है - वह तो निर्गुणी की गुणमा से उपश्च हुआ निरा भ्रम भयवा भीहायम इस्त है। यहाँ पर वह भालेप ही नहीं पमा कि निर्गुण ते लगुल उपम नहीं हा सकता। कथोलि जैनो बसुए एक ही भजी की नहीं है। इनमे एक ही सत्य है और दूरी है लिंग इस्त। एक भनुमत पह है कि मूल मे एक ही बहु रहने पर भी देवेषादे पुरुष के दृष्टिमे से भरता नवरक्षी

सारांश निरिया के द्वारा अन्यारोपित गुणों के अविविक परमाणु में यहि और कुछ दूसरे गुण हों तो उनके बान छेना हमारे चामर्पण के बाहर है और जिन गुणों को बान छेना हमारे कल्पन में नहीं उनके परमाणु में मानना मीं न्यायशास्त्र भी हड़ि से योग्य नहीं है। अतएव गुण शास्त्र का मनुष्य को स्वत होनेवाले गुण 'अर्थ कहे बेशान्ती स्वेग सिद्धान्त किया बहरते हैं कि इष्ट निर्गुण है। न तो अद्वैत बेशान्त ही यह कहता है और न कोई दूसरा भी कह सकता कि मूल परमाणुस्त्रपत्र में ऐता गुण या ऐसी घटिक मरी होगी कि जो मनुष्य के लिये अतुर्क्य है। किन्तु तो पाँ तो पहले ही ब्रह्म डिया है, कि देशान्ती स्वेग मीं इनिरिया के उठ अश्वन अस्त्र माया की सरी गूँज परमाणु भी एक अठस्त्र घटिकि कहा करते हैं।

किनुणामक माया अथवा प्रदृष्टि क्षेत्र दूसरी स्वतन्त्र बस्तु नहीं है किन्तु एक ही निर्गुण इष्ट पर मनुष्य की निरियों अश्वन से सगुण इस्त्रो का अन्यारोप किना करती है। उसी मत को 'किवत्यात्' कहते हैं। अद्वैत बेशान्त के अनुसार वह उपर्युक्त वात की दृढ़ि कि वह निर्गुण इष्ट एक ही मूलतात्त्व है सब नाना प्रकार का लग्न अग्रह पहले निर्गुण कैसे देने चाहा। क्षयाद्वयीत न्यायशास्त्र में अस्त्रस्त्र परमाणु कल्पन के मञ्जकारण माने गये हैं और नैयायिक इन परमाणुओं को सत्य मानते हैं। इसकिये उन्होंने निर्भय किया है कि उन्होंने 'न अस्त्रस्त्र परमाणुओं का तंत्रोत्ता है तथा वहों सुष्ठि के अनेक पदार्थ क्षमते तमाते हैं। परमाणुओं के उंचोग का आस्त्रम हाने पर उस मत से सुष्ठि का निमाम होता है। इसकिये इसको 'आरम्भात्' कहते हैं। परन्तु नैयायिक के अस्त्रस्त्र अपराध परमाणुओं के मत को साम्यमार्गकाले नहीं मानते। वे कहते हैं कि ब्रह्मसुष्ठि का मञ्जकारण एक सत्य किनुणामक प्रदृष्टि ही है। एव उस किनुणामक प्रदृष्टि के गुणों के किनास से अथवा परिणाम से अवक सुष्ठि स्तरी है। उस मत का 'गुणपरिणामवात्' कहते हैं। क्योंकि 'समै वह प्रतिपादन किया जाता है कि एक मूल लग्न का प्रदृष्टि के गुणपरिणाम से ही सारी अवक सुष्ठि पैदा हुई है। किन्तु 'न देना चाहे' का अद्वैती बेशान्ती स्वीकार नहीं करते। परमाणु अस्त्रस्त्र है। 'वर्तिवे अद्वैत मत के अनुसार वे लग्न का मृद्ग हो नहीं सकते। आर रह गाँ प्रदृष्टि। तो पद्मपि वह एक हा तो यी उसके पुराय से मिष्ठ और स्वतन्त्र हाने के कारण अद्वैत किनान्त से पह इन यी मौखिक है। परन्तु 'न प्रकार इन देना चाहों को त्याग देने से और कारण का न का' उपर्युक्त 'न सात की देनी होगी कि एक निर्गुण से लग्न इष्ट से लग्न सुष्ठि किमे उपत्ति है। क्याति सत्कारवात् के अनुसार निर्गुण से सगुण हो नहीं लगता। उन पर बेशान्ती कहत है कि सत्कारवात् के इत्य किनान्त का उपयोग वही होता है। उहों काय और कारण इनका बन्नुर्ती सत्य हा परम्पर उहों मूलतात्त्व एक ही है और उहा उसके लिये निष्ठ इष्ट है पवित्र है वही इत्य स्पाय का उपवाग नहीं है। क्याति इम नैय देना है कि एक ही बस्तु के लिये निष्ठ इष्ट का दीया परम्पर उन बस्तु का अप नहीं रिष्यु इष्टा - देवमन्त्रामें पुराय - के दृष्टिभेद के कारण ये लिये

उसमें मानवी इन्डिया की साफेहराइ और उनी पक्षी हैं भार किसना हो सके उतना दुष्टि से ही नीतिम किचार करना पक्षना है। ऐसा करने से इन्डिया का गान्धर इन्वेक्शन सभी गुण जाप ही आप दूर जात है। भार यह मिठ हो जाता है कि ब्रह्म का निष्प स्वरूप "निर्वातीत अपाल निरुगुण एव सब म भड़ है। परनु अद्वय हाता है कि ज निरुगुण है उच्छव वर्णन करगा ही जान? भार किस प्रकार करगा?" जीवित वन्त वशन्त म पह सिद्धान्त रिचा आया है कि परमद्वय का अनित्तम अयात निरपेक्ष भीर निष्प स्वरूप निरुगुण ता ही पर अनिकात्य भी है। भार ज्ञी निरुगुण स्वरूप म मनुष्य का अपना अन्तिया प याग मगुण हृष्ट वी इन्द्र वीय पक्षी है। अब यह प्रभ हाता है कि निरुगुण पा सगुण करने की यह गति अन्तिया न पा कहीं स र्थि। अब पर वैतद्वशन्तव्याद्वय का यह उत्तर है कि मानवी जान का गति दही तक है। "मह द्वाग उम गुजर नहीं।" अस्तित्वे यह अन्तिया का रञ्जन है तार निरुगुण परमद्वय म सगुण वर्णन का हृष्ट द्वाना यह ज्ञी भृत्यन का परिणाम है। भृत्या पहीं इतना ही निखिल भगुमान करके निखिल हा द्वाना पक्षना है कि अन्तिया भी परमेश्वर की मूर्दि वी ही है। इस कारण यह सगुण मूर्दि (प्रह्लि) निरुगुण परमेश्वर की ही एवं ईक माया है (पी ३ १८)। गान्ध का समझ म भव गीता के अ वर्णन की तस्व वा शब्दगा कि अपर इन्तिया से इन्द्रमाण रथगुड लगा का परमेश्वर व्यक्त भव लग्न वीय रव मर्ति पर उमफा सद्य भार भट्ट व्यरूप निरुगुण है। उसका इन्द्राइ म शम्भु म ही जान की परमाद्वय है (पी ३ १४ ८)। अब प्रवार विद्युत ता पर किया कि परमेश्वर भव म निरुगुण है तार मनुष्य की अन्तिया का ज्ञी ने सगुण मूर्दि का विदेश हृष्ट वीय पक्षना है। किर भी इस द्वान का यात्रा का दृष्ट्यावर उना भावधर है कि उन मित्रान्त मैं निरुगुण हा इस कथ द्वया समझा है यह मन है कि हका वी भवते। पर इन्द्रमाण भी गुणा का अप्यमा भीत पर भारी का इव हनारी अन्तिया कथाराम परती। पर ह्या १८ प्र॒ रा न द १२ र ३० ४ वथमा भीत म वारी के गुण तहा द्वा वा नक्तु य वि अन्म अवश्यावित गुण न हा तथाम पर नहीं करा वा नक्ता के उल्ल अप्यगुण मृत प घो म हृष्ट ही नहीं। कथामि अब प्रयत्न गम्न ८ कि पद्म भीत म वारी गुण नहीं ८ ग १८ वारी १८ ८ तरम भीत गव गुण उम रहत ही

बहुत प्रहृति का दृश्य पक्ष थार दिया हुने स्थान वहाँ फिर इन इन्हाँ के भागे चलकर निकलनेवाले दूसरे दृश्यों को स्वतन्त्र न मान कर अन्त बेग़त को यह माया हेत्में मुझ मी आपत्ति नहीं है कि पक्ष दृश्य के गुणों से दूसरे दृश्य के पक्ष और दूसरे से उसिरे आपि के इस प्रकार नानागुणा मह दृश्य उत्पन्न होते हैं। अतएव यथापि गीता में मायान् ने स्वतन्त्रा है कि यह प्रहृति मेरी ही माया है' (गी ३ १४ ४ १)। फिर मी गीता म ही यह कह दिया है कि 'अथर एव द्वाय अधिष्ठित' (गी १ १) 'स प्रहृति का अगाढ़ा विस्तार एव गुण गुणोऽप्यकर्त्ता' (गी ३ २८ १८ २३) के न्याय से ही होता रहता है। 'रुसे श्रुत होता है कि विवदवार के अनुसार मूद्यनिगुणपरम्परा म एव तर भाया का दृश्य उत्पन्न हो जुनने पर 'स मायिक दृश्य की अर्थात् प्रहृति के अगाढ़ा विस्तार की - नयपति के लिये गुणोऽप्य का तत्त्व गीता भी मान्य हो जुता है। वह समूचे दृश्य काल भी ही पक्ष थार मायामह दृश्य कह दिया तब यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं है कि 'न दृश्यों के अन्यान्य रूपों के लिये गुणोऽप्य के ऐसे कुछ नियम हाने ही चाहिये। वेणुनितियों को यह अस्तीकार नहीं है कि मायामह दृश्य का विस्तार में नियममद्द ही रहता है। उनका तो 'कना ही कहना है कि मृगप्रहृति के समान वे नियम मी मायिक ही है और परमेश्वर 'न सब मायिक नियमों का अधिपति है। वह 'न से परे ह और उसकी सत्ता में ही इन नियमों की नियमत्व अपारत नित्यता प्राप्त हो गा' है। दृश्यरूपी सगुण भवतएव विनाशी विहृति में ऐसे नियम का भै का सामर्थ्य नहीं रह सकता कि वा विकाष में मी अवधित रहे।

यहाँ तक का विवेचन किया गया है तसुरे कारु रहना कि भान् जीव और परमेश्वर - अयवा अभ्यामयात्मा की परिभाषा के भनुगार माया (अर्थात् माया के उत्पन्न द्विता दृश्या काल) आमा और परद्वय - का रूपरूप क्या है। पक्ष इनका परत्यय तया सम्भव है। अ यामद्वयि ते चरण् भी उमी वलुधी के वी वर्ण होते हैं। नामरूप आर नामरूप सं आन्तर्गति निष्प तत्त्व। इनमें से नामरूपों को ही सगुण माया अपवा प्रहृति कहते हैं। परम्पुरा नामरूपों की निकाल दाढ़ने पर को निष्प उत्प भव रहता है वह निरुण ही रहना चाहिये। याकि वा' मी गुण किना नामरूप के रह नहीं सकता। यह निष्प और अत्यक्ष सम्भ ही परद्वय है। आर भनुधी की 'दृश्य अन्तिया का 'स निरुण परद्वय में ही सगुण माया उपर्युक्त दीप पड़ती है। यह माया सन्य पराय नहीं है। परद्वय ही सन्य अपारत विकास में मी भवापत आर कभी भै न पलटनकाली बल्नु है। दृश्यद्वयि के नामरूप और ऊपरी सान्तानित परद्वय क भवतपतमन्त्यी ये सिद्धान्त दृष्टः। तर इसी स्वाव से मनुष्य क विचार कर तो तिह होता है कि मनुष्य की ऐह आर इन्द्रियों दृश्यमा क नय य पर व का न मरणा मह । यां वनिप माया क वर्ण म ह आर 'न अन्तिया म रहा रहा आ मा नि यस्तद्वयि परद्वय की वजी का

मिथ दृश्य उत्पन्न हो सकते हैं। ६ इस न्याय के उपयोग निगुण ब्रह्म और सगुण जगत् के मिथ करने पर होते हैं, कि ब्रह्म वा निगुण हैं पर मनुष्य के अन्तिरिक्षम के व्यरण उसी में सगुणत्व की सतत उत्पन्न हो जाती है। यह विवरणात् है। विवरणात् में यह मानत है कि एक ही मूल सत्य ब्रह्म पर अनेक असत्य भवात् सग बदलते रहनेवाले दृश्यों का अ यात्याप होता है; और गुणपरिणामजात् में पहले से ही ऐसे सत्य ब्रह्म मान लिये जाते हैं मिथ से एक एक में गुणों का विवाच हो कर जगत् की नज़ारा गुणमुक अन्यान्य बलूपें उपलब्ध होती रहती हैं। रस्मी में सप का भास द्वारा विवर है और वूप से दृढ़ी जैसा ज्ञान गुणपरिणाम है। ऐसी कारण विज्ञानस्थार नामक प्रन्य की एक प्रति में ज्ञन दोनों धाराओं के लक्षण उस प्रकार काढ़ाय गय है -

पसास्त्विकोऽन्यथामावा परिणाम उद्दीर्णितः ।

असास्त्विकोऽन्यथामावो विवरः स उद्दीर्णितः ॥

\* निर्वी मूलब्रह्म से ज्ञन तात्त्विक भवात् सचमुक्त ही दूसर प्रकार की जगत् जाती है तब उसको (गुण) परिणाम कहते हैं। और जब ऐसा न हो कर मन्त्रस्तु ही कुछ-भी-कुछ (अतात्त्विक) मानने जाती है, तब उसे विवर कहते हैं” (वे सा २३)। आरम्भजात् नियापिका वा है गुणपरिणामजात् सत्याका है और विवर वाड भविती वेजन्तिया का है। अईसी वेजन्ती परमाणु या प्रहृति ज्ञन दोनों सगुण बम्भुओं को निगुण ब्रह्म से मिथ और सत्तत्व नहीं मानत एवं फिर यह आत्म होता है कि सत्तायदात् के अनुसार निगुण से सगुण की उन्नति होना भस्ममय है। इस दूर करने के मिथ ही विवरणात् निरप्य है। परन्तु “नी से कुछ लग जा यह समाप्त है” कि वेजन्ती सभा गुणपरिणामजात् को कभी कभी स्वीकार नहीं करते हैं; अधिकार आगे कभी न करते यह उन्हीं नहीं है। अईक्षणिक पर सार्वयमनवाच्ये का भवयता अन्यान्य वृत्तमनवाच्य का भी यो यह मूर्ख भास्त्र होता है कि निगुण ब्रह्म ने सगुण प्रहृति का अवात भासा का उत्तम हो नहीं सकता जो कह राखेप तुष्ट अपरिहाय नहीं है। विवरणात् का मुख्य उद्देश ज्ञन ही निगुण देना है कि एक ही निगुण ब्रह्म में साया के दृश्यों का हमारी अनिया का रौप्य पक्षना सम्मय है। यह उड़ान सक्षम हो जाने पर - भवात् जहाँ विवरणात् में वह मिथ दूभा कि एक निगुण परदर्श में ही निगुणामक तागुण प्रहृति के दृश्य का रौप्य पक्षना यस्त है वही - वेजन्तीयाच्य का पह श्वीकार करने में काह भी हानि नहीं कि इस प्रहृति का भगान विस्तार गुणपरिणाम से दूभा है। अहन वेजन्ती का नुराय विपत्त यही है कि गृह्य मृत्युहृति एवं दृश्य है - गृह्य नहीं है।

अन्दरी स वेजा एवं का दृश्य जाता है तथा दृश्य - appearances, are the results of subjective conditions, i.e. the senses of the observer and not of the thing itself

अहम्य होने पर भी नित्य है भार नामरूपालक चक्र इस्य होने पर भी पछ कष्ट में करुनेवाला है। इस सत् या सत्य धर्म का व्याख्यातिक अर्थ है: (१) भौतिक के आगे आगे प्रत्यक्ष शीत पठनेवाला - अर्थात् ध्यक् (फिर कष्ट उसका इस स्वरूप जाह कर्म, जाहे न कर्म) और वृत्तरा अर्थ है (२) वह अम्बुज स्वरूप, कि वे सद्व एक सा रहता है। भौतिक से मर ही न दीय पक्षे पर जो कभी न कर्ते। "नमे से पहला अर्थ बिनको सम्मत है वे भौतिक से दिलाई देनेवाले नामरूपालक चक्र को सत्य कहते हैं और परब्रह्म को इसके विष्व अर्थात् भौतिक से न दीय पठनेवाला भवतश्च अथवा अवश्य कहते हैं। उग्राहणार्थ उत्तिरीक्ष उपनिषद् में इस्य सुष्ठुपि 'सत् और या इस्य सुष्ठुपि से परे है उसके लिये 'तत् (अयात् जो कि पर है) अथवा अनृत (भौतिक जो न नीय पठनेवाला) धर्मों का उपयोग करके ब्रह्म का वर्णन इस प्रकार किया है कि जो कुछ मूल में या आरम्भ में या वही द्रव्य सब स्वचाभवत्। निवक्त चानिदृक्त च। दिल्लीन चालियनन च। उत्त्य चादृत च।' (हि २ ३) - इत् (भौतिक से दीय पठनेवाला) और वह (जो परे है) चाल्य और अनिवार्य, साधार और निराधार जात आर अधिक्षित (अहेत्य) सत्य और अनृत - इस प्रकार दिल्ली जना हुमा है। परन्तु इस प्रकार ब्रह्म को 'अदृत कहने से अनृत या अर्थ कुछ या असत्य नहीं है। क्योंकि असी अल कर उत्तिरीक्ष उपनिषद् में ही कहा है कि यह अनृत ब्रह्म चक्र की 'प्रतिद्वा अथवा आधार है। इसे अंत इसे आधार की अपेक्षा नहीं है। एव दिल्ली इसका जान किया वह अम्बुज हो गया।'" इस वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि शुभमेष्ट के कारण मात्राभ में कुछ अस्तर नहीं होता है। देखे ही अनृत में कहा है कि अस्त्रा इत्यमप्र आसीत् - यह एव चक्र (ब्रह्म) या और चक्रमेष्ट के (१ १२ ४) वर्णन के अनुसार भागे एव वर उसी से सत् यानी नामरूपालक व्यक्त चक्र निष्ठा है (से २ ७)। इहते मी स्पष्ट ही हो जाता है कि वहाँ पर असत् शब्द का प्रयोग 'अम्बुज अर्थात् भौतिक से न दीय पठनेवाले के अप म ही हुआ है। और वर्णनको (२ १ १५) में व्याख्यायानाय न उस वक्तों का पेका ही अप किया है। दिल्ली दिल लिये जो 'एव अथवा 'सत्य धर्म का वह अप (ज्ञात ज्ञात्यये हुए अपों म वै वृत्तरा अप) सम्मत है - भौतिक से न दीय पठने पर भी उत्त्य रहनेवाले अस्त्रा दिक्षाद् - वे उस अहम्य परमद्वा का ही सम् या सत्य कहते हैं कि जो कभी नहीं बढ़ता; और नामरूपालक मात्रा की असत् यानी असत्य अयात् दिलायी बढ़ते हैं। उग्राहणाय उग्राहणाय में वर्णन किया गया है कि सत्य साम्बेदिम आसीत् वर्षमन्त्र सुज्ञायत - परमे यह सारा उग्र उत् (ब्रह्म) या अनृत ही यानी नहीं उससे उत् यानी जो दिल्लीन है - मोक्ष है - वै उपम होय (अ १ ३ १ २)। फिर भी अग्राय उपनिषद् म ही इस परब्रह्म के लिये

है अधिक बहुत भार भावा पक ही है। एमे अब से शाय का स्वरूप सत्य परापर  
न माननेवाल भईतमिदान्त का और बाजासद्वान्त का मेड अव पार्कों के ध्यान में  
आ ही गया हुआ। विजनकारी बीड कहत है कि पाइलटिंग ही नहीं है। वे अप्रैले  
स्थान पां ही सत्य मानत है। भीत बेडान्तग्रामी बाइमृष्टि के नित्य बर्लने रहनवासे  
नामस्प का ही असत्य मान कर यह मिदान्त करत है कि "स नामस्प के मूल में  
और मनुष्य की इह में - शना में - एक ही आमतपी नित्य ब्रह्म मरा हुआ है।  
एव पह एक भाग्यताम् ही अनितम सत्य है। साम्यमतवास्य ने अधिकतः  
विमत्त्यु क भ्राय से मूल परायों की अनकता के एकीकरण का वर्ण प्रहृति भर क  
लिय ही भीकार कर लिया है। परन्तु बनानियों ने सम्भायवाद की शाचा का दूर  
करक निभय किया है कि श विच में ही वही ब्रह्माण्ड में है। "स कारण अब  
तार्यों क असत्य पुराया का भार प्रहृति वा एक ही परमामा म अईत से या  
अधिकाग म समावय हा गया है। मुझ भाखिमौतिक परिष्ठ्र हुडेल अद्वीत है सही  
पर पह उसी वर्ण प्रहृति म ही वैतन्य का भी समर्ह करता है। और बनान्त वह  
को प्रधानना न कर पह मिदान्त भिर करता है कि शिवाय स अमयाति  
शमन भार ब्रह्म नित्या परब्रह्म ही मारी गई का मूल है। हृष्ट क वर्ण अईत  
में भीर जाया मगायर क रूप म यह अन्यत्व महस्त्युण म है। अद्वीत बेडान्त  
का यह भडान गीता म ह भी एक पुराने विने समय अद्वीत बेडान्त के सार  
का बर्णन या लिया है -

भारतपेत्र प्रदृश्यामि पदुक्ष प्रमथरोनिभि ।  
ब्रह्म समय जयमित्यधा जाया ब्रह्मण नापर ॥

करान् द या का नार याप भास म स्तम्भता ह (१) इदं सत्य ह (२)  
 आ। स्थान रह कर्मी नामस्वर मिष्ठा अपवा नापवा नह भीर (३) मनुष्य  
 का नाम एव इन मध्य म ऐह ही ह - तो नहीं उस कोइ का भिष्ठा याप  
 यहि लिखि क काना म युगला हा तो यह बहुतायस उत्तमिति क अनुकार इमर  
 सीधेर चरण का श्रद्धा या इन्हें यम याग्निर युगी म का ह परन्तु परस्त ही  
 दाता या है ति इनम ज्ञाप नहीं दाता ह तिर कृष्ण देवली इन एत की  
 भाव या इन्हें दाता ह ति यमने दाय इन्हें क भट्टय निन्दा निष्प  
 परब्रह्म तीक्ष्ण दाता (दाता) ह या यम (भट्टय भट्ट) भावय  
 इयो यहि दाता याग्नि दिव दाता ह ति इन द्वा त द्वारा दीन दीर  
 कर ह दाता ह तो या सत्य य बृशि निष्प निष्प वय हा ह  
 ही वाप त दाता मध्य दाता ह वीर दर्द यक्ष म या दाता हि  
 व्रद्ध दाता ह त बृशि या य नवयोग दाता ह ता तुम भी  
 यहि दाता ह त वीर दर्द यक्ष म या दाता हि इदम्

अत जीव और परमधर (परमात्मा) के परम्पर सम्बन्ध का ऐसे प्रमाण निष्पत हा जाने पर गीता म भगवान् ने ये कहा है कि जीव मरा ही भग है (गीता १६ ७) आर ऐ ही एक अद्य से सार जगत् म स्वाप्त हूँ (मी ३ ४२) — एव बाद्यायणाचाचाय ने मी विगत (२ ३ ४३ ४ ४ १९) में वही जात कही है — अपवा पुरुषसंक में ज्ञे पाठ्यस्य विद्या भूतानि विद्याम्यामृत विदि यह विषय है उसक 'पाठ या 'अद्य शब्द के अद्य का विषय भी सहज ही हो जाता है । परमेश्वर या परमात्मा यथापि सबस्यापी है तथापि वह निरविषय और नामस्वरहित है । अतएव उसे हार नहीं सकते (भूतान्) आर उसम विकार भी नहीं होता (अविकार्य) आर 'सुखिय उसक भलग भलग विभाग या द्वारा नहीं हो सकते (गी ८ २) । अतएव या परब्रह्म सामनाता से अकेला ही आर और स्मारत है उसका और मनुष्य के शरीर में निवास करनेवाले आत्मा वा भूत जलने के लिये यथापि यज्ञहार में एसा कहना पड़ता है कि शारीर आ मा परब्रह्म का ही भग है तथापि भग या भाग वा का अर्थ कर कर भलग विद्या द्वारा या अन्नार के अन्न का जाना म से एक जाना नहीं है । किन्तु यात्किंच इसे उत्तराह अर्थ यह समझना चाहिये कि ज्ञे गर के भीतर का आकाश और एक का आकाश (मराकाश आर दग्धाकाश) एक ही सबस्यापी आकाश का आए या मार इ उसी प्रकार शारीर भावना भी परब्रह्म का अद्य है (अमृतमित्यनिष्ठ १३ श्लो) । चास्ययादिया की प्रहृति और हेतुर के अदादृत म भावना गया एक वस्तुतत्त्व ये भी "सी प्रकार सत्य निर्मुण अर्थात् भयाविष्ट भय है । अतिक भा वह" आधिमात्रिक शास्त्र की प्रणाली से तो यही मालम द्वारा है कि जो कुछ अद्य या अव्यक्त मत्तुतत्त्व है (फिर चाहे वह आकाशमत् कितना भी व्यापक हो) वह सब स्पष्ट और जाल से भूमि से देखन नामरूप अतएव मर्यादित और नामधान है । यह जात सच है कि उन तत्त्वों की व्यापकता भर के लिये उठना ही परब्रह्म उनके आध्यात्मित है । परन्तु परब्रह्म उन तत्त्वों से मर्यादित न हो कर उन सब मै औत्प्रोत भरा हुआ है जौर उसके अविनियिक न ज्ञाने वह कितना बाहर है कि जिसका दुःख पड़ा नहीं । परमेश्वर की व्यापकता दस्य शृदि के बाहर कितनी है यह जलने के लिये यथापि 'विषाड शब्द का उपयोग पुरुषसूक्त मै विद्या गया है तथापि उठना अर्थ अनन्त ही इह है । वस्तुत ऐसा जाय तो दृश्य और जाल माप और होक वा सद्या "स्यादि सब नामरूप के ही प्रकार ह आर यह बताया जुके है कि परब्रह्म उन सब नामस्या के पर है । "सीमित उपनिषदों म ब्रह्मवरूप के ऐन वर्णन पाये जाते है कि जिस नामस्या मर 'जाल से सब द्वाधित है उस 'जाल का भी फैलने वाल्य या पचा जानेवाला वा तन्त्र ह वही परब्रह्म है (म १ १) । और न तद् भावनम् भूर्या न जागानो न पाक्ष — परमेश्वर की प्रकाशित करनेवाला सर्व चक्र अग्नि इयातिका क समान ओर प्रकाशक वाप्त नहीं है किन्तु वह स्वयं

एक स्थान पर अप्यक्त भय म 'असत् द्वाष्ट्र ग्रुष्म हुआ है (छा ३ १०.)'। \* एक ही परज्ञ को मिथ्र मिथ्र समझा और भयों म एक बार 'सत्, तो एक असत्' या परस्परविद्वद् नाम ऐने की यह गम्भीर - अथात् बाच्य भय के एक ही होने पर भी दिया द्वाष्ट्राम भवनाने में द्वाष्ट्राम - प्रणाली आगे चल कर एक गढ़। और अन्त म द्वन्द्वी ही एक परिम्प्रया स्थिर हो गा है कि ब्रह्म सत् या सत्य मानी सैव स्थिर रहनेवाला है आर द्वय सृष्टि असत् अथात् नाशवान् है। मत्स्यशीता म यही अनित्यम परिमाणा मानी गा है और इसी के अनुसार दूसर अप्याय (२ १६ १८) में कह दिया है कि परज्ञ सत् भीर अविनाशी है। एवं नामरूप असत् अथात् नाशवान् है और बड़ान्तसूक्ष्मा का भी देसा ही मत है। फिर भी द्वयसृष्टि का 'सत्' वह कर परज्ञ का जस्ता या 'स्त्र' (पृ० = पर का) वहने भी वच्चिरीयोपनिषद्वाली उस पुराणी परिमाणा का नामाद्विष्टा अद्य भी किंद्रुल जाता नहीं रहा है। पुराणी परिमाणा से 'सुका' भर्ती मौति गुलभादा जाता है कि गीता के इस अंत सत् ब्रह्मनिर्देश (गी १७ २०) का मूल भय स्पा रहा हांगा। यह ॐ गृद्धभरमणी पृष्ठिक मन्त्र है। न्यूनिर्देश में इसमा अन्त रीतिया में व्यापारान किया गया है (प्र ५ या ८-१२ छा १०)। 'तत् यानी वह अपना द्वय सृष्टि के पोरे दूर रहनेवाला अनिवाच्य तत्त्व है और 'सत्' का व्यथ ह आंखों के सामनवाली द्वय सृष्टि। 'म महारूप' का अथ यह है कि य तीना पिस कर सब ब्रह्म ही है। और न्यूनी अव म मातान ने गीता म पहा है कि 'मामाश्वरमुन' (गी १) - जन यानी परज्ञ भीर अनुन भयान द्वय सृष्टि, देखा म ही है। तथापि इन्हि कि गीता में कमयाग हीं प्रतिपाद है तथ सबहृष्ट अत्यावध के अन्त में प्रतिपादन किया है कि 'तत् ब्रह्मनिर्देश से भी कमयोग का पूर्ण समर्पन हताता है। ३० नम्बर के 'तत् द्वाष्ट्र' का अथ स्मृतिक द्विग्रं य यथ अर्थात् सद्गुरुषि से किया हुना अपना वह कम है कि किसका अस्त्र वह मिथ्रता है और तत् का अथ पर का या फलदाता छाइ कर दिया हथा कम है। तत्त्व म किंसे 'तत्' कहा है वह सृष्टि यार्दि कम ही है (भगवा प्रवरण दर्शा)। अतः इह ब्रह्मनिर्देश का यह कमप्रयत्न अथ मह अथ स महारूप हीं निष्प्रभ होता है। ३० नम्बर नेति नेति सविग्रहन लार मत्यमय मत्य क अनिरिक्त भीर भी कुउ ब्रह्मनिर्देश देस्तिप्रण में है यत्नु उनसा यही इस्तिय नहीं दक्षादा कि गीता का अथ कमप्रयत्ने म उनका उपर्याप्त नहीं है।

**अस्त्राशास्त्रायहा** नम्बर द्वाष्ट्रामा प्र५० इव चित्र म द्वन्द्व ए इव चित्र नम्बर तद द्वय तत् के द्वय माता क विष्य द्वृक हा तत्त्वा ब्रह्मनिर्देश क विष्य। द्वय द्वय का तत् तत्त्व है। इवां विष्य द वा भवत्तरी तत्त्वा ह तद द्वय तैर्दीर्घ्यमें द्वय का अस्त्र उत्तरां र्मा वा द्वयनाम का चित्र है।

भाचरण किंच पुरुष मैं खिला- न है, उसे क्षमा समझना चाहिये— क्षमी कह ब्रह्मशानामि मैं पूरा फ़क नहीं पाया है। उसे साधु और निरे वेशान्तरशास्त्रियों मैं देखें हैं, वह यही है। और “सी अभिप्राय से मात्राभीता मैं इन का सद्गुण भट्टज्ञों समय यह नहीं कहा कि भाइस्त्रिके मूलतत्व को केवल बुद्धि से जान सेना शान है। इन्द्रु यह कहा है कि क्षमा ज्ञन वही है किंतु अमानित्व ज्ञानिति, आत्मनित्व, सम्बुद्धि’ इत्याति उत्तर मनोवृत्तिर्था आगत हो जाए और किंतु विचार की पूरी अवधार भाचरण मैं सत्रेव व्यक्त हो जावे (गी ११ ३—११)। किंतु की अवधारणा-तत्त्व सुर्यों शान से आत्मनित्व (अर्थात् आत्म अनात्म विचार में रितर) हो अदै है और किंतु मन को सर्वभूतात्मेक्य का पूरा परिचय हो जाता है उत्त पुरुष की वासनामूलक बुद्धि मी निस्तन्त्रे शुद्ध ही होती है। परन्तु यह समझने के किंतु कि किंतु बुद्धि ऐसी है उसके भाचरण के किंवा दूसरा जाहरी जापन नहीं है। अवश्य केवल पुरुषकी देव प्राप्त क्षेत्रे ज्ञानप्रसार के आधुनिक वास मैं उस जात पर किंतु व्यान रहे कि ‘ज्ञान या ‘सम्बुद्धि शब्द मैं ही शुद्ध (म्यक्षामूल) बुद्धि, प्रद वासना (वासनामूल बुद्धि) भार शुद्ध भाचरण इन तीना शुद्ध जातों का उमानेषि दिया जाता है। इष्ट के विषय मौरा वाक्याणित्य विक्षणनेवाले और उसे सुन पर वाह! वाह! कहते हुए दिर हिसानेवास या किंतु नामक के दर्शकों के समान पक वार फिर से— क्षस मोर कहनेवाले कहते होगा (गी २ १९ क २ १)। परन्तु यह कि क्षपर वह आये है— वो मनुष्य अन्तर्बाय शुद्ध अपात जामधीक हो गया हो— वही क्षमा आत्मनित्व हे भार उसी को मुक्ति मिलती है। न कि क्षेत्रे परिषित को— जाहे वह कैसा ही दृश्यमुक्त और कुशिमान् क्षी न हो! उपनिषदों मैं लाप वहा है कि नायमात्मा प्रवृत्तने अम्बों न मेष्या न शुद्धना भुण्णन (क २ २२ मु ३ ३)। और “सी प्रकार शुकाराम महायज्ञ मी कहत है— ‘यति द परिषित होगा तो त पुराण क्षण होगा। परन्तु त् यह नहीं ज्ञान सम्भवा कि मैं क्षम हूँ। तैरिये हमारा ज्ञान किरना शुद्धित है। शुक्ति मिलती है’— वे शब्द तरह ही हमार मुख से निकल पड़े हैं। माना यह मुक्ति आत्मा से कार विष भृत्य है। इष्ट भार आत्मा की पक्षता का ज्ञान होने के पहले इष्ट और इष्ट्य भृत्य मैं मैड य तरी परन्तु हमारे अर्थात्मशास्त्र ने निश्चित कर के रखा है कि वह ब्रह्मात्मेक्य का पूरा ज्ञान हो जाता है तर आत्मा इष्ट मैं ज्ञाना है ब्रह्मानी पुरुष भाष ही ब्रह्मत्व हो जाता है। उस अव्याप्तिक भवस्था को ही ‘ब्रह्मदिव्यं मातृ कहते हैं। पह ब्रह्मदिव्याग किसी से किसी को दिया नहीं जाता। यह कही दूसरे रूपन से आज नहीं या इसकी प्राप्ति के किंवदं किसी अन्य लोक मैं ज्ञाने की भी आवश्यकता नहीं। पृथ आप्यज्ञन वज्र भीर वर्ण होगा उभी धर्म म और उनी स्थान पर मोक्ष परा हूँभा है। व्याकु गोक्ष या आप्या ही की पृथ शुद्धावस्था है। वह उत्त निरामै शक्तन्य वज्र पा व्यान नहीं। त्रिवर्गीया (११ १२) मैं यह ज्ञोऽ है:-

प्रसारित है - "त्यारि का व्यापक उपनिषद में भी गीता म ह, उनसे भी अध्ययन ही है (गी १६ ६ कर १ थे ६ १४)। गृह-कन्त्र भारागण सभी नाम व्यापात्मक द्विलाली पराय है। इस व्यालिश व्याप्ति (गी १४ १३ वह ४ ४ १६) कहत है कि व्यवप्रसाद भी और जनमय ब्रह्म उन सब के पर अनन्त मरा जाता है। जैसे दूसरे प्रसाधक पश्चातों की अपेक्षा नहीं है भी और उपनिषद में कोई व्यष्टि नहीं है कि व्यवप्रसाद भारि का व्यापक प्रसाद है कि वह भी अभी व्यवप्रसाद ब्रह्म सही मिलता है (मु. १)। आधिर्मनित शास्त्र की युक्तियों से व्यवप्रसाद हानेकाम अतिमहत्म पा अन्यन्त दूर का कार्य पराय स्त्रिय - य सब पदाय प्रियाम भारि नियमा की फूल म पर है। अनपद उनसे समावेश 'मातृ' ही में होता है। सभा परमधर उन सब पश्चातों में रह कर भी उनसे निराशा नहीं उनसे दर्ही भविष्य व्यापक तथा नामरूपा के द्वारा सु अनन्त है। अनाय बदम नामरूपों का ही दिनार व्यवप्रसाद भारि व्यालिश शास्त्र की युक्तियों या साधन बनाने व्या से आहे साधुन भवित गृहम भी ग्रन्थम हा शब्द तथापि सूचि के मुख्य समूह तथा का राम पता लगता नाममय नहीं। अस दिनाली रक्षिताय भी भव्यत सद का व्यवप्रसाद व्यवप्रसाद के अन्यायाम सही लगता व्याप्ति।

न अनेक दृश्यान्त व कर ब्रह्मभूत पुरुप श्री साम्यावस्था एवं अत्यन्त मनोहर और चरक्षित निष्पण किया है। और यह कहने में कोई दृश्य नहीं कि "स निष्पण मेरी गीता के चारा स्थानों में वर्णित ब्राह्मी भवस्था एवं सार आ गया है" यथा ।—'हे पाप ! जिसके दृश्य मेरे लिखना का नाम तक नहीं है जो शत्रु और मिथ द्वेष के समान ही मानता है अद्यता हे पापद्वा ! इष्टके समान जो "स बात एवं मेत्यस्त्र नहीं ब्यनता कि यह मेरा पर है" उत्तिष्ठे यहाँ प्रकाश करें और वह पराया कर है "सुखिष्ये वहा भ धरा करें"। यीज शोनवासं पर और पहुँच काटनवाले पर भी इस ऐसे समाप्त संघाता करता है "त्यादि ( शा १८ १ ) । "मी प्रकार पूर्णी के समान वह "स बात का भेद किञ्चुल नहीं ब्यनता कि उत्तम का ग्रहण करना चाहिये आर अत्तम का स्वायग करना चाहिये। ऐसे हृषपाणु प्राण "स बात को नहीं लोचता कि राजा के अतीर का चलाऊ और रहने के शत्रीर का गिराऊ ( ऐसे इस यह में नहीं करता कि गो की दृष्टि तुमार्ज और व्याप्र के लिये विष कर एवं उत्तम का नाश करें ) ऐसे ही सब प्राणियों के विषय में लिङ्गकी प्रकारी मिश्रता है जो स्वयं हृषा की मूर्ति है और यह "मै आर मरा का स्वप्नहार नहीं ब्यनता और किम सुप्रब्रह्म का मान भी नहीं होता "त्यादि ( शा १२ १३ ) । अत्यामरिता से जो कुउ अन्त मे प्राप्त करना है वह यही है।

उपमुक्त विवेचन से लिखित होगा कि सारे मोक्षधर्म के मुख्यभूत अत्यामरित की परम्परा हमार यहाँ उपनिषद्वारा से लगा कर जानेश्वर तुकाराम रामानाथ कीर डास छरणस तुम्हीनासु "त्यादि आवृनिक लाभपुरुषा तक लिख प्रकार अम्बाहर्त वर्षी भा रही है। परन्तु उपनिषद के भी पहले यानी अत्यन्त प्राचीन काल में ही हमारे देश में इस जात का मातुभाष्य तुना था और उप से उम जम है आमे उप निष्पण के विचारा की उपशिष्टि होती चली गय है। यह जात पान्त्रा का मरी मौति नमस्ता ऐन के लिये जावेड का एक प्रसिद्ध सुन भाषान्तरमहित यहाँ अन्त मे उत्तिवा गया है। जो उपनिषदामृतगत ब्रह्मरिता का आधारमूल है। सूक्ष्म के अगम्य मूलतत्त्व भार उसमें विविध दृश्यमहित की उप न के लिये मैं उम विचार इस सूक्ष्म में प्रशिक्षित रिये गये हैं वसु प्रगत्यम्, स्वतन्त्र भार मूल तक की दोष करनेवाल दृश्य-जन के मामिन विचार अन्य लिमी भी उम प मूलमृत्यु म उत्पाद नहीं हैं। इतना ही नहीं लिन्जु इस अत्यामरितविचारा से परिपूज और जनना प्राचीन ऐपर भी उम सद कही उपस्थित नहीं हआ है। "सत्तिष्ठे अनन्त पश्चिमी पश्चिमता न पामिन इतिहास की इष्टि स मी एम गुल जा अन्यत महाक्षयुण जान कर आध्यपनकित हो अपनी लगनी भाषा ता म एमका इनूचा" यह लियगान के लिये किया है कि मनुष्य के मन की प्रकृति एवं नामाजान भार नामकपात्यमह गति के पर लिये और भवितव्य घारनि की तर तहज्ज्ञी के उक्त जाता करती है। यह लालड के इतन महान् १४ गुण है और इसक प्रारम्भिक शास्त्र से इस नागरीय गृह वर्त

मोक्षस्य च हि वासोऽस्ति न प्रामाण्यरमेव च ।  
महानवृत्प्रथिकाशो मोक्ष इति स्मृत ॥

अर्थात् मोक्ष कोई ऐसी बलु नहीं निरा जिसी एक स्थान में रखी हो अपना वह मीं नहीं, कि उसकी प्राप्ति के लिये किसी दूसरे गोंप या प्रेषण को आना पड़े ! बालब में हृषि की अज्ञानप्रथि के नाम हो जाने को ही मोक्ष कहते हैं । “सी प्रकार अध्यात्मगान्धि ने निष्पत्ति हानेवाला यही मात्रद्वीता के ‘ अभिमतो ब्रह्मनिषाण वर्तते वित्तित्तमनाम् । (गी ७ २६) – किन्तु पृथ आनंदन हुआ है, रहे ब्रह्मनिषाणस्पी मोक्ष भाष ही आप प्राप्त हो जाता है तथा य सर्व मुक्ष पृथ च । (गी ८) इस स्तोक में बर्णित है और ब्रह्म वेद ब्रह्मोऽ मनति – किन्तु ने ब्रह्म बना वह ब्रह्म ही हो जाता है (मु ३ २ ९) “त्याति उपनिषद्वाक्या में मी वही अर्थ बर्णित है । मनुष्य के आमा की आनंदद्वीति से जो यह पुर्णावस्था होती है उसी को ‘ब्रह्मभूत । (गी १८ ५८) या ब्राह्मी दिवति कहत है (गी २ ७) आरस्त्वनप्रति (गी २ ६६-७) ननिमान (गी १ १३-१४) या विगुणातीत (गी १८ १०) पुरुषों के विशय में भावद्वीता में ग वर्णन है जो मी अमी लवस्था के है । यह नहीं समझना चाहिये कि ईसे सारप्यवारी ‘विगुणातीत पृथ से प्रहृति भार पुरुष नेतों का स्वतन्त्र मान कर पुरुष के वैष्णवन या वैष्णव्य का माप मानने हैं विना ही माप गीता का भी सम्भव है । विभु गीता का अभिप्राय है कि अध्यात्मशास्त्र में वही ग ब्राह्मी भवत्स्था – अह ब्रह्माग्मि – म ही ब्रह्म हैं (१ ४ १) – कही तो मनिमान च पर्मी चित्तनिराघक्षप पातङ्गव्योगमाग ऐ और भी गुणागुणाविदेवन्तर्मुख साम्यमाग से भी प्राप्त होती है । ज्ञन मागो म अध्यात्मविचार क्षम मुठिगम्य माग है । इससिये गीता म बहा है कि सामान्य मनुष्या वा परमधर्म म्बस्थ का ज्ञन होने के लिये भक्ति ही मुगम्य साधन है । ज्ञन साधन का विस्तारपूर्वक विचार हमने आगे चल कर नरहृषि प्रकरण में विया है । जापन तुड़ भी हो इतनी ज्ञान निर्विकार है कि ब्रह्मात्मस्य का भयानक क्षय परमधर्मक्षम पा ज्ञन होना सब प्राणियों म एक ही भाज्ञा पहचानता और उसी भाष के भनुमार लांद जाना ही अध्यात्मज्ञन भी परमात्मित ह तथा यह भवत्स्था रिसे प्राप्त हो जाय वही पुरुष भव्य नथा इनहृष्य होता है । यह पहल ही ज्ञान पुरुष है कि वृष्ट्य इनिष्ट्यमुख्य पातुभा और भनुत्या एक ही समान होता है । इनिष्ट्य मनुष्यक्षम की जापका भयमा मनुष्य की भनुष्यता ज्ञनप्राप्ति ही म है तब प्राणियों के विशय में काया पाका मन में न व उभी ही जापयुक्ति रख कर ज्ञने सब क्षमों का करन रहना ही लिये मृत्युरामया पृथवीय या भित्तामया है । इस भयमा क ज्ञन र्हना म है उसमें न नरहृषि भयावशमे मनिमान पुरुष के ज्ञानर दीका करन है ज्ञनधर महाराज ०

तथा प्रदाता क उपर्युक्ती एव वा विनी भवत्स्था और वृक्षाव वृक्ष  
ज्ञान वा वृक्षर ज्ञान वा ज्ञान है भव वृक्ष इन्हा वृक्ष ज्ञान है ।

आसीद्विदं तमोभूतमपहातमक्षमम् ।  
अपतकर्त्यमविहेय प्रसुपमिव सर्वतः ॥

अर्थात् । 'यह सब पहले तम से आनी अच्छार से ब्यास था । मैरामेड नहीं बना चुका था । अगम्य और निश्चित-था । फिर मारे इसमें अम्बुज परमेश्वर ने प्रबोध करके पहले पानी उत्पन्न किया" (मनु ३ ७-८) । सृष्टि के भारतम् के मूल्यान्वय के सम्बन्ध में उक्त वर्णन या ऐसे ही मिथ्या मिथ्या वर्णन नारथीय सूक्त के समय भी अवश्य प्रचलित रहे होंगे और उक्त समय मी यही प्रथा उपस्थित दुम्भा होता, कि इनमें कौन-सा मूल्यान्वय सत्य माना जावे । अतएव उक्तके सत्याग्रह के विषय में इष्ट सूक्त के लक्षण यह कहत है कि :-

सूक्त

भगुवान्

नासदासीजो सदासीतदानीं

१ तब अर्थात् मूल्यान्वय में अस्त्वा

नासीजो नो व्योमा परो यत् ।

नहीं था और उत् भी नहीं था ।

किमावरीवः कुइ कस्य दार्त

अस्तरिष्य नहीं था और उक्तके परे का

अगम्य किमासीद्वग्नानं यमीरम् ॥१॥

भास्त्राद्य न था । (देखि अवस्था

में) किंतु ने (किम् पर) आवरण  
किम् । कहो ! किंतु के तुम्हें किम्ये  
अगाध और गहन ऊँ (मी) कहो  
या ॥१॥

२ मूरुरासीद्वतं न तद्विं

२ तब मूल्य अर्थात् मूल्यान्वय नाप-

न वाच्या भाव भासीत्प्रवेतः ।

धान इसमें सृष्टि न थी अतएव (वृत्तरा)

भासीद्वातं स्वप्यया तदेकम् ।

अमृत अवात् अविनाशी नित्य पदार्थ

तद्माद्वास्यप्य परः किंचनाऽस्ति ॥२॥

(मह में) मी न था । (मी फ्लार)

रात्रि और दिन का भी तमल्ले के  
सिये काद साधन (-फ्लेज) न था ।  
(ये कुछ था) वह अपेक्ष्य एक ही  
भक्ती शक्ति (स्वप्न) से कामु के किमा  
क्षारीकृत्वास सेना अर्थात् रक्तिनान्  
होता रहा । इसके अविरिक्त का इक्के  
पर भीर कुछ भी न था ।

---

इस वर्णनी - भाव अवश्य के अवासीन किंव वह अन्वय वरक इसमें उत्तर  
किमा । और उनका वासीर्थ है वासी तब नहीं था (त था ) ।

है। यही मन क्षेत्रीय प्राण ( १ ) में विद्या गया है और महामारु न्तराल नारायणीय या भागवतसम में उमी मृष्ट के भावग पर यह वात क्षेत्रीय गई है, कि भगवान की अस्त्रों में पहले पक्ष सूर्य के विश्वस है (म ३४ ८)। तपानुकमाणग के अनुसार उम वृष्ट का क्षेत्रीय परमाणु प्राणपति है क्षेत्रीय इत्यता परमाणुमा है तथा उसमें विद्युत वृष्ट व पानी ग्यारह इत्या के पार परणा की भूत करने हैं। मन भार इनके शुभा के १८ वात इत्याहै। अनेक सूर्य के मुख्य एवं सुन का विश्व में उत्तिष्ठाणग के जिस गतिने पा उत्तर यहस हम इस प्राणग में करते हैं यही मनमा क्षेत्रीय में भी पाया जाता है। ग्राहणाप उम मुख्याणग के विद्युत में वर्णित है। ता यह क्षेत्रीय है जि एवं महिमा प्राणाद नि (क ३४ १६८ इ)। अधिकार एवं मन्त्रशुभ्रा क्षेत्रीयनि (क ३४ १८)।—एह एवं भीर सा यानी लक्ष्य प्रिय रहनेवाला है परन्तु उमी का यह अनु नामा भ सुरात्त है और वही इसके बद्दल यह भी क्षेत्रीय है कि व्याज एवं युक्ति गत्वायत (क ३४ ३)।—ज्ञानाद भी इस गत्वायत अपने भाष्यमें सबु अपान एवं यूर्दि उत्तम है। इसके अधिक विविच्छिन्न विविच्छिन्न एवं इस तत्त्व में यूर्दि की अनुनि इनके विश्व में क्षेत्रीय है जिसके द्वारा यानी याम जलते हैं इसे मृष्ट व खारम्भ में प्रदर्शित है (क ३४ १९)। एवं विश्वासी पुराण भार अम्ब यह है ज्ञाना नारी ते व्याप्त है (क ३४ २०)। यहाँ ॥ १८ ॥ या अम्ब प्राणवाने अप्त इत्या (क ३४ २१)। १८ २१ कल भीर तय यहत उत्तम है विश्वविति (उत्तर) भार मह ते त्रिपानी। सरकर इत्या इत्यादाता (क ३४ २२)। एवं मर्दार एवं मर्दु या का भार अम्ब व याना में इस प्रमाण उत्तम विद्या इत्या है ( १८ २२)। एवं वर्तीय वहाँ में याना वा इत्यन्देश एवं मर्दु — यहस है ( १८ २२)। यानी यह ते इत्यादाता ( १८ २२)। भार २३ य एवं य अम्ब इत्यादाता ( १८ २२)। यह अम्ब व य इत्यादाता ( १८ २२)।

तिरस्वीनो विनतो रदिमरपम्  
अथ स्विडामादुपरि स्विडामीद् ।  
ऐतोबा ग्रासद् महिमात् जामन्  
स्वप्ना भवलतात् प्रयतिः परस्तात् ॥ ॥

को अद्वा देव क इह प वाचत्

इस भाजाना इस अ्य रिस्टि ।

भवीयु देवा अस्य विमनमा -

अ को वह पत भावधूप ग्रै॥

इय विश्विर्यत भावभय

यदि वा इधे यदि वा इधे ।

या भस्याप्यक्ष परम इषामन्

या एम वह पदि वा म वह आज॥

आर यग्नन्याम्ब का रहस्य यही ८ विनेता का या सामान्यत तर इडियी  
की गार हनवाम विनाशी भीर विनाशी नामस्पामह भनक हृषी क फने मैं की  
न १८ वर शनवामि म यह जानना चाहिये विन रहस्य क पर छाँई म छोई  
पर तार इमूल तार है । इस वरमन के गाँव का ही पान क विय उस गुरा क  
क १८ दुर्जन १८ दर्दी १८ वरम यह तर दीन पाला । विन रा भगवन  
ग्रामीन १८ मार म गणत वरि क गार पश्चात के र यज ताम ने प १८

१८ वर गया ग्राम युप या ग्राम; वास्तव या या १८  
१८ वर ग्राम प्राप्त वरमा व गाँव दर्दी रह न करा ।  
१८ वर ग्राम य व १८ वरमा गार ग्राम १८ ।  
१८ वर ग्राम न करा ग्राम १८ वरमा १८ ।  
१८ वर ग्राम ग्राम १८ वरमा ग्राम १८ ।

६ (यह) रघुम या विनम या  
घागा नमै भाण फूर गया भीर यहि  
रट कि यह नीचे था तो वउ ऊर  
भी या । (नमै स कुछ) रेता या  
अवात् वीम्पड हुए भीर (कर)  
वहे भी हुए । उन्ही की स्वशक्ति इस  
बोर रही भार प्रयति अपात् ग्रमार  
उम आर (ध्यात) हा रहा ।

६ (मत का) यह विनग शनी  
प्रमारा विनम या कहो मे भाया ८ यह  
(नम अधिक) प्र यानी विनारपक्ष  
यही कान कहेगा ? इसे र्हीन निभवामर  
जानता है ? ऐ भी न्स (सत् सृष्टि के)  
विनग क पक्षात् हुए है । फिर यह गही  
मे है उम कान जानेगा ?

३ (मत का) यह विनग अधार  
फैस्याद जही स हुआ अधवा निर्मित  
किया गया या नहीं किया गया - उसे  
परम भाकाग म रहनगाम इन मृष्टि की  
या भव्यत (हिरण्यगर्भ) ८ वही  
जाना होगा या न भी जानता ही !  
(र्हीन कह मे ?)

तम आपीचमसा यहमें  
प्रकैत महिले सर्वमा इहम् ।  
तुरुद्दाम्बपिहित यदामीत्  
तपसस्तम्भहितजापतकम् ॥३॥

३ जो (यह) पेसा कहा जाता है  
 कि अबसार या, भारत में यह सदा  
 अबसार से व्याप्त (आई) दशम  
 रहित जष या (या) आमु भर्फठ  
 उद्यप्यापी ब्रह्म (पहच ही) तुच्छ से  
 अपन् शक्ति मात्रा से आच्छापित या  
 वह (वह) मूल म पक (ब्रह्म ही) वप  
 भी महिमा से (भाग व्यान्तर स)  
 प्रकृत इभा या। \*

**कामस्तुष्म समवत्साधि**  
मनमो हेत प्रथर्य यद्यामीद् ।  
**सनो चशुप्रसति निरविन्दृत्**  
इति प्रसीप्या कषयो मनीषा ॥५४॥

४ इसके मन का यह रेत अर्थात्  
वीज प्रथमां निष्क्रिय वही भारतम् में  
काम (अधार् युक्ति निर्माण करने की  
प्रक्रिया या दृष्टि) हुआ। अवाभी ने  
अन्वेषण में किसार करके बुड़ि से  
निश्चित किया कि (यही) भलत् में  
अथात् शूल पञ्चम म चन् का यानी  
किनारी रस्यमुक्ति का (पद्धति)  
सम्बन्ध है।

कला दारी - कुड़ी लाए इनके प्रबन्ध मीन बरला का स्वतंत्र मालवां इनका छोड़ हिंदूशास्त्रमें ऐसे बताए गए हैं कि इनका ले प्यास दारी या कुड़ी में जटान्हिंद लानु। इन्हाँने या। परन्तु हमारे भूमि में इन कुड़ी हैं। क्षेत्रीक परम्परा या कलाओं में इनकी ही इन कुड़ी हैं कि शूलारम्भ में कुड़ी मीन दो तथा उसके विरोधी ही शूल में इन कहाँ उत्तरा वस्त्रव लाई जाती है जैसा कि शूलारम्भ में इनका दारी दो। अपेक्षा इदृश बना भई हर मीन दो ही लग दारी के पूर्ण विवर का विवरण मालवा हात्तों। अन्यत्र नीरां आग के 'पूर्ण का चार विवर' तथा 'पूर्ण विवर' जैसा कि इनका दारी हिंदा है। इन विवरों विवरण का

(मु. ११ ९ ऐंगो) एताकान् भस्य महिमाऽत्थो त्वायाभ्य पूर्णः' (क. १ ३)। 'य त्वाय से सारी सृष्टि ही किंचन्ही महिमा कहस्तः, उस मूलभूत के निषय में कहना पड़ेगा कि वह 'न सद के परे सक्त भेद और मिथ है। परन्तु इसका और द्रष्टा भौता और भौग्य आन्तरिक करनेवाले भौत और आन्तरिक अवकाश और प्रकाश, मस्त आर अमर त्यागि द्वारे दैत्यों को 'स प्रार भूम्बन्ध भर यथापि यह निष्ठय किया गया कि केवल एक निमस चिङ्गी किंचनण परब्रह्म ही मूलारम्भ म था तथापि जब यह ज्ञानाने का समय आया कि 'स अनिर्बन्ध निर्गुण भौतिक एकत्रित्व से आवाय ज्ञान इन्द्रियात्मक किंचनी संगुल नम रूपारम्भ किंचित्प्रथम सृष्टि वा इस सृष्टि की मूलभूत निर्गुणात्मक प्रवृत्ति किंस उपर दुर्ब द्वं तो इसार प्रस्तुत भवित्वे ने भी मन काम भ्रष्ट और सदृक्षी दैती मारा ही ही उपयोग किया है। आर अन्त में स्पष्ट कह दिया है कि यह प्रभ मानवी तुर्हि की पूर्वुच के बाहर है। चाँधी शृंखला में ही स्पष्ट कहा है कि यह उपर उपर उपर अप तुर्हि नहीं यह नहीं मान सकते। क्वोऽपि ज्ञाना में ही स्पष्ट कहा है कि यह है। न वैष्ण इसी रूप में किन्तु अन्यन भी आवश्यक भावा से स्त्रीवर भर के ही कम्पेत और बाक्तुनेवी सहिता भै गहन किया का किंचार देख प्रभी के द्वाय किया गया है। (क. १ ११ ७ १ ८१ ४ वाच. स. १४ २ ऐंगो) - ऐसे इस्यसृष्टि को यह भी उपमा कर प्रभ किया है कि 'स यह के लिये भावदयक पूर्व समिक्षा त्यागि सामग्री प्रथम जहाँ से आई (क. १३ ३)। अवका भर का दृष्टान्त के कर प्रभ किया है कि मूल एक निर्गुण से जैवों ही प्रवृत्ति निरार्थ द्वैवासी आवाय तृष्णी की इस स्पष्ट इमारत के ज्ञाने के लिये रक्षी (मुख्यहति) ऐसे मिथी! - कि स्विद्वन् क त य तृष्ट व्यास यतो चामोऽपूर्विकी निष्ठतासुः। इन प्रभों का उक्त उपर्युक्त सूक्ष्म की चौथी और पौंचवी कक्षा में भी तुर्हि कहा गया है उससे अधिक किया जाना सम्भव नहीं है (वाच. त. ११ ७४ ऐंगो) और वह उक्त यही है कि उस अनिर्बन्ध अमेघ एक वृत्ता ही के मन में सृष्टि निमाण करने का 'काम रूपी सत्त्व किंची तुर्हि उपभ तुभा; और वस के भाग समान वा सूर्यप्रकाश के समान उसी की दास्ताएँ तुरन्त नीचे ऊपर और चढ़ू भी ओर पल गए। तथा सन का सारा फैक्षाव हो गया - अयात् भावाय-तृष्णी की यह स्पष्ट इमारत अ गई। उपनिषद्भास्तु म 'स सूक्ष्म के अप के लिये भी 'स प्रार प्रकृति किया है कि एकाकामयत। तबु स्या प्रवायेयति। (तै. २ ६ वा. ६ २ ३) - उत परब्रह्म के ही अनेक हानि की 'स्त्र दुर्ब (इ. ४ ४ ऐंगो); और अपवित्र में भी पंसा बण्डन है कि इस सारी इस्यसृष्टि के मूलमूरु इत्य से ही पहसे पहल काम तुभा (अयर्व. २ १)। परन्तु इस सूक्ष्म में विकेतता पह है कि निर्गुण से नगुण की असत्तु से उत की निश्चल से इन्द्र भी अवका भ्रष्ट स दह भी उत्पत्ति का प्रभ मानवी तुर्हि के लिये अगम्य रूपारम्भ कर साक्ष्यों के समान केवल तत्पत्ति ही

उत्पत्ति के अनन्तर की है। अतएव मुष्टि में न इन्द्रों के उत्पम होने के पूर्व अपार् ज्ञ एक और वृद्धा यह में ही न था तब कौन किसे आप्तप्राप्ति करता ? इसलिये भारम्भ ही में इन सूक्ष का लायि निमय हो कर यह कहता है कि मूल्यरम्भ के एक द्रव्य को सत् या भ्रष्ट भ्राक्षय या ब्रह्म प्राप्ति या भन्धकार अमृत या मृत्यु अत्यादि काद् भी परत्परत्यापेभ नाम देना उचित नहीं। जो कुछ या वह न उभ पश्चियों से विकल्प या और वह भ्रष्ट या ब्रह्म प्राप्ति या भन्धकार शक्ति से मृत्यिमान् या। उसकी जाती में या उसे आप्तप्राप्ति करनेवाला अन्य कुछ भी न था। दूसरी जल्दी में या उसे आप्तप्राप्ति करनेवाला भ्रष्ट या भ्रष्ट होना भ्रष्ट भी ज्ञात है। परम् ये न सत् है और न भ्रष्ट उसके विषय में कान वह सरता है कि वह सबीक प्राणियों के समान भ्रातोन्भ्रात ऐसा था । और शासीन्भ्रात के लिये वहें कामु ही कहें हैं ? अतएव आनीन् पट के साथ ही — भ्रात = जिना भामु के और 'न्वयना' = स्वयं भपनी ही महिमा से 'न दोना पता को छोड़ कर मुष्टि का मूल्यरम्भ वह नहीं था यह भ्रातान्भ्रात का अथ इति भी मापा में यही पुष्टि में 'स प्रकार कहा है वह एक जिना भामु के कष्ठ अपनी ही जाति से शासीन्भ्रात उन्होंना या मृत्यिमान् हस्ता था । इसमें अप्रदृष्टि से ज्ञे विरोध जिना गता है वह द्वेषी मापा की अपुणना से उत्पम हुना है।

नति नति एक्षेषादिनीयम् या ये महिमन प्रतिद्विद् ( अ ७ २४ ) — अपनी ही महिमा से अपार् अन्य जिनी की भ्रोप्ता न करते हुए भ्रलाहि रहनेवास्य इत्यादि जो परमात्म के दण्ड उपनिषदों में पाते थात है वे भी उपरोक्त अथ के ही योगद हैं । यारी मुष्टि के मूल्यरम्भ में पारी और जिस एक अनिवार्य तत्त्व के सुरुण होने की घट इस सूक्ष में कही गई है वही तत्त्व सुष्टि का प्रस्तुत होने पर भी नित्यनेह थार रहेगा । अतएव गीता में इसी परमात्म का कुछ पदाय से इस प्रकार कथन है कि तत्त्व पश्चियों का नाम हीन पर भी जितका नाम नहीं हाता ( गी ८ ० ) । और भाग्य इसी नृष्टि के अनुकार दाप्त कहा है कि वह सत् भी नहीं है और भ्रत् भी नहीं है ( गी १६ ३० ) । परम् प्रभ यह है कि उस सुष्टि के मूल्यरम्भ में नियुक्त तत्त्व के जिना और कुछ भी न था तो विर को में जो ऐसे वष्टन पाये जाते हैं कि भारतम् में पानी भन्धकार या भामु और कुछ भी जोही भी उनकी क्षया अपरम्भ होती है । अलग्य जीलती जल्दी में जिन न कहा है कि इस प्रकार है किन्तु बहन है [ भगवान् ते — मुष्टि के आरम्भ में भन्धकार या या भन्धकार में भाप्तप्राप्ति पानी या या भामु ( ब्रह्म ) और उनको आप्तप्राप्ति करनेवाली मापा ( कुछ ) या जला यहम तथे इत्यादि ] व यह उन कुमय के हैं कि उन भ्रम्भ एवं मूल्यरम्भ के नामादात्याप्त में उनका लिपिक व्याप्त तथा उपस्थित हो गया था । ये वज्ञन मूल्यरम्भ की विष्टि के नहीं हैं । इत्य जल्दी में 'तत्त्व दाप्त से मूल्यरम्भ की इनमय विकल्प शक्ति दिखाई है और उनी ज्ञ वज्ञ वीर्य जल्दी में दिया गया है । गी. र १०

कुल के ही किंवद्य क्षमा गे ब्राह्मणो (सैचि ग्रा २८) में उपनिषदों में और अनुन्तर वेगन्तशास्त्र के प्रण्यों में कुल रीति से विवेचन किया गया है और परिभ्रमी देशों में भी अवाचीन काल के क्षम्यन् इत्यादि तत्त्वानिया ने उसीका अस्यन्त स्मृत परीक्षण किया है। परन्तु स्मरण रहे कि एस स्कूल के क्षम्य की पवित्र बुद्धि में किंवद्य विद्यान्ता की स्मृति तुर्ह है वही विद्यान्त आगे प्रतिपत्तियों को विवरणों के समान व्यवित्र उच्चर दें कर और मी इट स्पष्ट या तकदीर्घ से निर्दलेह किये गये हैं। इसके आगे अभी तक न ज्ञेय क्षमा है और न क्षमाने की विद्या आज्ञा ही भी न स्कृती है।

अन्याम-प्रकरण समाप्त हुआ। अब आगे क्षम्यों के पहले 'क्षम्य' की वाक्य के अनुसार उस माग का कुछ निरीक्षण हो जाना चाहिये कि ये वहीं तक वह स्थापित हैं। कारण यह है कि यहि एस प्रकार विद्यावस्थेकरन न किया जाये तो विद्यान्तुस्यानान के क्षम्य जले के सम्बन्ध है कि और विसी अन्य मात्रा में सुन्नार होने लगे। अन्यामस्म में पाठ्यों का किंवद्य में प्रवेश कराक कर्मयोगशास्त्र का सुलिख स्वरूप बताया है; और तीसर प्रकरण में यह दिल्ल्यादा है कि कर्मयोगशास्त्र ही गीत्या का मुख्य प्रतिपाद्य किंवद्य है अनुन्तर चौथे, पाँचव और छठे प्रकरण में सुन्नारपूर्वक यह बताया है कि कर्मयोगशास्त्र की वापिसीतिक उपपत्ति प्रक्षेत्रीय सुधा अपूर्ण है और वापिसीतिक उपपत्ति सँगही है। फिर कर्मयोग की भाष्यालिङ्क उपपत्ति बताने के पहले — यह अनन्ते के लिये कि आत्मा विच बहुत है — छठे प्रकरण में ही पहले — ऐत देशह विचार और आगे उत्तर तथा आत्मव प्रकरण में साम्यव्याप्तान्तर्गत ऐत के अनुसार जर असुर विचार किया गया है। और फिर इन प्रकरण में असुर एस किंवद्य का निरूपण किया गया है कि आत्मा का स्वरूप ज्ञा है। तथा पिंड और ब्रह्मण्ड में दोनों और एक ही अमृत और निरुग्ण भालमुख विज प्रकार भोग्योत और निरन्तर व्याप्त है। असी प्रकार वहीं यह मी निभित किया गया है कि ऐसा समझुदियोग मास करके (कि सब प्राणियों में एक ही भास्मा है) ऊपर सौंदर राज्ञा ही भास्मज्ञन की भी आप्यमुक्ति की पराक्रम है। और फिर यह बताया गया है कि अपनी बुद्धि को इस प्रकार उत्तर आत्मनिष्ठ अवस्था में पहुँचा जाने में ही मनुष्य का मनुष्याल अवस्था नहेह की उपर्युक्ता का मनुष्य का परम पुरुषार्थ है। इस प्रकार मनुष्यवाति के भाष्यालिङ्क परमता य का का निष्पत्ति ही ज्ञानपर कर्मयोगशास्त्र के इस मुख्य प्रभ का भी निष्पत्ति भाष्य ही आप ही आवा है कि सुवार म हमे परितिन ये भ्यवहार करने पहते हैं के किस नीति से किये जाव ? अपवा किस द्युष्मुदि से वन जासारिक भ्यवहारों का करना चाहिये उसका पराय स्वरूप क्या है ? क्याकि अब यह बताने की आवश्यकता नहीं जिये सारे भ्यवहार उसी रीति से किये जाने चाहिये कि किससे वे परिवाम मे प्रकारमैक्यरूप समझुदि के पोषक या अविरोधी हों। मात्रदीवा म कर्मयोग के इती

स्वयंहृति ही को या उसके साथ किसी दूसरे तरफ नो स्वयम् और स्वतन्त्र नहीं माना है। किन्तु ऐसे सूक्ष्म का क्षणि कहता है कि जो बात समझ में नहीं आती, उसके क्षिये साक्ष साक्ष कह दो कि यह समाप्त म नहीं आती। परन्तु उसके क्षिये शुद्धजुदि से और आत्ममतीति से निभित क्षिये गये अनिवार्य प्रकृति की घोगता का इस्यसुधिकृप माया की घोगता के चराकर मत समझे और न परवाह के विषय में अपने औदृतमाय ही को छोड़ो। "सके क्षिका यह घोगना चाहिये कि, यद्यपि प्रहृति को एक मिल जिगुणात्मक स्वतन्त्र प्रयाप मान भी क्षिया जाव तथापि इस प्रभ का उचर को दिया ही नहीं जा सकता कि उसम सूधि का निर्माण करने के क्षिये प्रथमता शुद्धि (महार) या अहंकार के सुध दृश्य हुआ। और, जब कि यह शेष कमी व्यष्ट ही नहीं सकता है तो फिर प्रहृति का स्वतन्त्र मान स्वें मैं क्षया अन्य है? किंव इतना कहा कि यह जात समझ में नहीं आती कि मल्लद्वारा से सत् अवान् प्रहृति के निर्मित हुए।" ऐसके क्षिये प्रहृति का स्वतन्त्र मान स्वें की ही दुल आवश्यकता नहीं है। मनुष्य की जड़ी भी कान है परन्तु देवताओं की शिक्षजुदि से भी सत् की उत्पत्ति का एस्य समझ म ना जाना समझ नहीं। क्योंकि ज्ञाता भी इस्यसुधिके आरम्भ होने पर उत्पन्न हुए हैं। उन्हें पितृल हात क्षया मार्यम् (गी ३ ८ अंगो)। परन्तु हिरन्यगर्भ देवताभा से भी कानून प्राप्तीन और भय है। और क्षम्य में ही कहा है कि भारम्भ म वह अक्षम ही कूतम्य जात वितरक भासीन् (का १२३ २) — जारी सूधि का "पठि अवान् राज्या या अव्याप्त था। फिर उसे यह जात क्षमाकर मास्त्रम न होगी भार यदि उस मास्त्रम होगी तो फिर काँ पृथ तरता है कि "स जात को दुर्गोऽया अगम्य क्षया कहत हो? अतापि इस मृक्ष के क्षणि ने पहले तो उक्त प्रभ का यह आपचारिक उत्तर दिया है — तो यह इस जात का ज्ञानता होगा। परन्तु अपनी तुड़ि से द्रव्याद के भी ज्ञानसाक्ष की याह भैनेकासे इस क्षणि ने भावधय से जागर हो भल म तुरन्त ही कह दिया है कि अपना न मी ज्ञानता हो! कान कह तरन्ता है? क्योंकि वह भी मन ही की भणी म है। इस दिय 'परम वहमान पर मी 'आजाए ही म रहनेवाल' गत क इस न यासु का सत् रखन भाषाम और अप क भा पुढ़ की — तो जा जान निभिन मृप मृक्षे ही सज्जा है? परन्तु पायपि यह जात समझ म नहीं नहीं कि एक अमर्त्य अवान् अवान् भार नियुग ड्रव्य ही क जाय विदिव नामम्पामेव मृक्ष का अपार्य मृद प्रहृति का सम्भव है इस द्वारा तथापि मृक्षाद्व क प्रकृति क विषय म जूधि न भयने अंद्रेत मात्र का दिग्भै नहीं दिया है। यह इस जात का एक उत्तम यज्ञाहरण है कि भासीक भजा भार निमात प्रतिभा के पृथ पर मनुष्य की तुड़ि भैनिल्य रम्भुओं क गयन मन मैं भिह क समान निभय हो कर कृष्ण भजार दिया कर्ती है भार दर्ती ही तत्क्षय जाता का यथापार्थि कैसे निभय दिया करती है यह मनवृत ही आध्यप ज्या गीरव की जात है कि एका मृत्यु कारद म पापा जाता है। हमार दृष्टि मैं इस

दसवाँ प्रकरण

## कर्मविपाक और आत्मस्वातन्त्र्य

कर्मणा वप्यते कामुर्विषया तु प्रमुच्यते । ०

- महाभारत शास्त्रि २४ ७

यथापि यज्ञ किद्दान्त अन्त में सच है कि इस स्तरां में जो उछ है वह परब्रह्म ही है परंपरा के लोह कर अन्य कुछ नहीं है तथापि मनुष्य की इन्द्रियों का गोप्त्व होनेवाली दृश्य सृष्टि के पदार्थों का अव्यासमयात्म की चलनी में वह इस उद्योगन करने सकते हैं तब उनके नित्य अनित्यहर्षी जो विमाग या सम्झ हो चर्हत है। एक तो उन पदार्थों का नामरूपात्मक दृश्य है जो इन्द्रियों का मन्त्रपूर्ण दीन्य पद्धता है परन्तु हमेशा बदलनेवाला होने के कारण अनित्य है। और दूसरा परमालंबन्त है जो नामरूपों से आप्तमार्गित होने के व्यरण अदृश्य परन्तु नित्य है। पह सच है कि रक्षायनशास्त्र में विस प्रकार सब पदार्थों का वृत्यवरण करके उनके पटकद्रव्य अलगा अलगा निकाल हिये चारे हैं सर्वी प्रकार ये तो विमाग भींगों के सामने वृक्ष पृष्ठ नहीं रखे जा सकते। परन्तु जानसृष्टि उन दोनों को अलग करके शास्त्रीय उपपादन के मुमीतों के सिये उनको भमय 'व्रज और 'माया रुपा कर्मी कर्मी ब्रह्मसृष्टि आर मायादृष्टि नाम दिया जाता है। तथापि स्वरण हो कि ब्रह्म मूर्ति से ही नित्य और सत्य है। ऐस कारण उसके साथ सहित शर्म ऐस अक्षय पर भनुमासाध लगा रहता है और ब्रह्मसृष्टि शर्म से यह मतल्लू नहीं है कि ब्रह्म को लिखी ने उत्पन्न किया है। अन ही सृष्टियों में से विकाल भावि नामरूप से अमयादित, अनादि नित्य अविनाशी अमृत स्वतन्त्र और सारी दृश्य सृष्टि के लिये आधार भूत हा कर उसके मीतर रहनेवाली ब्रह्मसृष्टि म अनश्वर से सङ्घार करके आमा के द्युम स्वरूप अपवा अपने परम साध्य का विचार पितृस प्रकरण में किया गया। और तभ वृष्टिय सो शुद्ध अव्यासमयात्म कही जामास हो गया। परन्तु मनुष्य का आमा यथापि भावि म ब्रह्मसृष्टि का है तथापि दृश्य सृष्टि की अस्य बस्तुभी की तरह वह मी नामरूपात्मक ब्रह्मिया से आप्तमार्गित है और ये देहत्रिव भावित नामरूप विनाशी है। इसलिय प्रथम मनुष्य की यह स्माधिक इच्छा होती है कि इनसे पूर्ण कर अमृतत्व रूप प्राप्त करें? और इस इच्छा की वृत्ति के लिये मनुष्य को व्यवहार में कैसे चलना चाहिये? - कमयोगात्मक है इस विषय का विचार करने के लिये कम के कार्यों में वैष्णी एवं अभिष्य भायादृष्टि क उनी प्रथा में ही अव हमें आना चाहिये। इन्ह आर ब्रह्माण्ड जाना यौवन म वर्गि एक ही नित्य और स्वतन्त्र भामा ह सो

रम न पर्वी वैष्ण जान ह न दिय न ज्ञाना स्वरूपान ह जान ह।

आध्यात्मिक दर्शन का उपरोक्त अनुज्ञा का किया गया है। परन्तु कर्मयोग का प्रतिपादन ऐसबल “तन ही से पूरा नहीं होता।” क्योंकि तुछ साँगो का कहना है, कि नामहृषीकेश सुहित क म्यवहार भास्त्रपत्र के विस्तृत हैं। अतएव ज्ञानी पुरुष उनको छोड़ दें। और यहि यही मान सत्य है, तो सुसार के सारे म्यवहार स्थान्य समझ आयेगे और जिर क्षम-अक्षमण्डात्म मी निरर्थक है ज्ञानगा। अतएव इस विषय का निश्चय करने के लिये कर्मयोगशास्त्र में ऐसे प्रभ्य का भी विचार भवश्य करना पर्याप्ता है कि भम क नियम बोनसु हैं। और उनका परिणाम क्या होता है। अपका तुदि भी शुद्धता हन्ते पर म्यवहार भवान् क्षम क्या करना चाहिये! मात्रकीर्ता में ऐसा विचार किया भी गया है। भम्यासमागतामें स्थेगो का इन प्रभो का कुछ भी महस्त नहीं ज्ञान पटता। अतएव योगीहि मात्रकीर्ता का बदान्त या यक्षिता का निरपेक्ष समाप्त हुआ भ्याही ग्रायः व लोग अपनी पोषी समझ ल्या जाते हैं। परन्तु ऐसा करना हमार मन से गीता व मुख्य उद्देश भी भार ही तुलस करना है। अतएव अब आगे भम से इस जात का विचार किया जायगा कि मात्रकीर्ता में उपर्युक्त प्रभो के क्या उत्तर दिय गय हैं।

---

के कर्म का परिणाम है। गीता में वेदात्मकमूर्ति में और उपनिषद में सब कहा है कि यह कर्म लिङ्गाधरीर के भावध से अपर्याप्त आवाह के रहा करता है और जब आत्मा इकलौते खेड़कर आने लगता है तब यह कर्म मी लिङ्गाधरीर द्वारा उक्ते सामय ज्ञ कर बार बार उसको भिज्म मिथुन कर्म स्थान के लिये जाए जरूर करता है। इतिहास नामरूपतमन कर्ममरण के चक्कर से छूट कर नित्य परब्रह्मर्थी होने में अधिका मोहन की ग्रामिण म पिण्ड के आत्मा को जो अन्तर्मन हुआ करती है उसका विचार करते समय लिङ्गाधरीर आर कर्म गीता का भी विचार करना पड़ता है। उनमें से लिङ्ग धरीर का सास्य और वैदान्त गोनों दृष्टिया से पहुँच ही विचार दिया जा सकता है। उसपरिय यहाँ फिर उसकी चक्का नहीं की जाती। उस प्रकरण म सिफू इसी घट का विवेचन किया गया है कि जिस कर्म के कारण आत्म को ब्रह्मज्ञान न होते हुए भवेत् कर्माके चक्कर म पड़ना होता है उस कर्म का स्वरूप क्या है? और उसमें सूख कर आत्मा का अमूर्तत्व प्राप्त होने के लिये मनुष्य को उस सुसार मेरे लिये चलना चाहिये।

सुधि के व्यापकता और निर्गुण परब्रह्म किस दृष्टिकोण मार्ति नामरूपात्मक संगुण धक्कि से व्यक्त अथवा दृश्यसंक्षिप्त हुआ सा दीन पड़ता है उसी को वेदात्मशास्त्र में 'माया कहत है' (गी ७ ८ २) और उसी में कर्म का मी समापेक्ष होता है (उ १ ६ १)। किन्तु यह मी कहा जा सकता है कि 'माया और कर्म गोनों समानार्थक हैं। स्वार्थ पहले तुलना कुछ कर्म अवश्यक व्यापार हुए मिला अवश्यक का व्यक्त होना अधिका निर्गुण का संगुण होना सम्मत नहीं। 'सीधिये पहले यह कह कर कि मैं अपनी माया से प्रहृति में उत्पन्न होता हूँ' (गी ८ ६) फिर आगे आठवें अ याव में गीता में ही कर्म का यह व्यक्त किया है कि अमर परब्रह्म से पञ्चमामूर्त्यानि विद्वित सुधि निमाग होने की बोल किया है वही कर्म है (गी १ ३)। कर्म कहत है व्यापार अधिका दिया जाता है। उसके अन्य पाण्यों की किया हो अधिका मूल शृंहि के उत्पन्न होने की ही है। 'उना व्यापक कर्म उत्पन्न विषयित है। परन्तु कर्म को ही उसका परिणाम सूक्ष्म केवल इतना ही होता है कि एक प्रकार का नामरूप बदल कर उसकी जगह वृत्तरा नामरूप उत्पन्न किया जाय। कर्मोऽहि इन नामरूपा के आधारित मूलव्यक्ति कभी नहीं कहता - वह सदा पक्ष-सा ही यहता है। उत्तरणाप कुलन की दिया हो 'स्था यह नाम कर कर उसी त्रैम का 'कर्म' नाम मिल जाता है; और तुम्हार के व्यापार से 'किन्त्यै नाम के स्थान में 'कर्म' ग्राम हो जाता है। 'संस्कृते माया की व्याप्ति देते समय कर्म को न से कर नाम और रूप को ही कभी कभी माया कहते हैं। उपायि कर्म का व्यक्त स्वरूप विचार करना पड़ता है तब यह कहने का समय आता है कि कर्मव्यक्त और मायाव्यक्त एक ही है। इसस्के भारतम ही मेरे यह कह देता अपित्क मुमीति की बात होगी कि माया नामरूप और कर्म ये हीना मर्म मेरे एक



स्वाभ्यामनिष्टक्तीवे संचारप्रक्रीष्टभूते सबहस्येद्धरस्य 'माया' 'शृणि' 'प्रहृति' रिति च भुतिस्फूर्योरमिलप्पेते (वे सू. शा. भा. २ १ १४)। "सका मायार्थ यह है - (निष्ठा के) अज्ञान से मूलज्ञान में इतिहित किये हुए नामरूप को ही भुति और सूक्ष्मिक्या म सबह असर की 'माया' शक्ति अथवा 'प्रहृति' कहते हैं। ये नामरूप सर्वतः परमेश्वर के भागमनुह से ज्ञान पड़ते हैं। परन्तु उनके बह ऐसे एकाण यह नहीं कहा जा सकता कि ये पराज्ञ से निष्ठ हैं या अभिष्ठ (द्रष्टव्यात्मत)। और यही बह सुष्ठि (हस्य) के विनार के मूल हैं भार अम माया के दोगे ही ये ही सुष्ठि परमेश्वरनिर्मित दीर्घ पड़ती है। इस कारण यह माया चाहे विनारी हो तथापि हस्य सुष्ठि की उत्पत्ति के लिये आवश्यक और अस्तन्तु उपसुक्त ह तथा "सी को उपनिषद् म अस्यक, भासाग भसर इत्यादि नाम दिये गये हैं (वे सू. शा. भा. १ ४ ३)। "सर्वं तीरुप फङ्गा, कि चित्तमय (पुष्टप) और भ-  
चेतुन माया (प्रहृति) इन तोना सक्ता को साम्यवाची स्वयम्भू ऋतन्त्र और अन्तादि मानते हैं। पर माया का भनात्तित वयपि बेन्ती पक्ष तरह से खीकार करते हैं तथापि यह उन्हे मान्य नहीं, कि माया स्वयम्भू और स्वतन्त्र है। भार अची कारण सद्वात्मक माया का दृष्टव्य से बहन करते समय गीता (१६ ६) में कहा गया है कि न उपमन्त्येह तपोपसम्यते नान्तो न चाद्रिन च सम्पत्तिश्च - इस सुधार दृष्टि का रूप अन्त आदि मूल अथवा तैर नहीं निष्ठता। इसी प्रकार तीसरे अध्याय में जो ऐसे वर्णन हैं कि कर्म ब्रह्मद्वय विदि (३ १६) - ज्ञान से कर्म उपसर्व हुआ। यह कर्मनुद्देश (३ १८) - यज मी कम है ही उपसर्व होता है। अथवा सहयात्रा प्रवा सूक्ष्मा (३ १) - प्रज्ञातेष ने प्रव्य (सुष्ठि) यह (कर्म) गीता को साप्त ही निर्माण किया। "न सब का तात्पर्य मी यही है कि कर्म अथवा कर्मस्पी यह और सुष्ठि अवैति प्रवा ये सब साप्त ही उपसर्व हुए हैं। फिर वाहे इस सुष्ठि का प्रत्यक्ष प्रज्ञातेष ने निर्मित हुए कहो अथवा मीमांसकों की नाई वह कहो कि उस ब्रह्मदेव ने नित्य तेऽशक्ता से उसको भनाया - अथ तेनोऽप्य एक ही है (म. मा. शा. २३१ मनु. १ २१)। सारांग हस्य सुष्ठि का निर्माण हानि के समय पक्ष निर्गुण ब्रह्म म जो व्यापार त्रीणि पड़ता है वही कम है। न-स व्यापार की ही नामकरात्मक माया कहा गया है भार मुक्तन म ही पूर्वचन्त्र आदि सुष्ठि के सब पड़ाचों के व्यापार भागे परम्परा से उपसर्व हुए हैं (व. ३ ८)। जानी पुरुषा ने अपनी त्रुटि से निर्मित किया है कि सुधार के लारे व्यापार का मूलभूत जो यह सुहृफ्पत्तिकाल का कम अथवा माया है सो ब्रह्म की ही कोइ न कोई अत्यर्थ लीला है स्वतन्त्र बह नहीं है। १० परन्तु जानी पुरुषों की गति यहीं पर कुठित हो जाती है

What belongs to mere appearance is necessarily subordinated by reason to the nature of the thing in itself." Kant's Metaphysics of Morals (Abbot's trans. in Kant's Theory of Ethics, p. 81.)



सुगुण शक्ति भी कमों में ही रहे हुए हैं। इन्ह आडिका का क्या युद्ध है? सुगुण का अर्थ है नामरूपात्मक, और नामरूपात्मक का अर्थ है कर्म या कर्म का परिणाम। उत्तर कि यही सत्याया नहीं जो सक्षम है मायात्मक कर्म भारतम में ऐसे दृष्टव्य हुआ उत्तर वह है कि सत्याया यह कि तद्वासूत्रे मनुष्य इस कर्मचर में पहुँचे पहुँचे कैसे गया? परन्तु किनी भी रीति से क्यों न हो उत्तर वह एक बार कर्मचर में पहुँच जुना तत्त्व कि आगे चल कर उसकी एक नामरूपात्मक शैर का नाश होने पर कर्म के परिणाम के कारण उसे उस सृष्टि में मिल मिल स्पौता का मिलना की नहीं पूछता। क्योंकि आपुनिक आधिमैतिकघोषकरों ने भी अब यह निश्चित किया है\* कि कर्मशक्ति का कर्मी भी नाश नहीं होता। किन्तु यो शक्ति भाव किसी एक नामरूप से नीच पहुँची है वही शक्ति उस नामरूप के नाश होने पर दूसरे नामरूप से प्रकृत हो जाती है। और उत्तर कि किसी एक नामरूप के नाश होने पर उसके मिल मिल नामरूप प्राप्त हुआ ही करते हैं उत्तर यह भी नहीं माना जा सकता, कि ये मिल मिल नामरूप निर्णीत ही होंग अबता ये मिल प्रकार के हो ही नहीं सकते। अत्यामरुद्धि से उस नामरूपात्मक परम्परा को ही कर्ममरण का जन या लोग बहते हैं। और उन नामरूपों की आवारन्तु शक्ति को समरिद्धि से ब्रह्म और अविद्या-रूप से शीतामा छोड़ते हैं। ब्रह्म भेद से यह विभिन्न होगा कि यह भ्रात्यन जो कम भारत करता है और न मरता ही है। अर्थात् यह नियंत्र भीर स्वर्णी है। परन्तु कर्मचर में पर्याप्त ज्ञान के कारण एक नामरूप के नाश हो जाने पर उसको दूसरे नामरूपों का प्राप्त होना यह नहीं सकता। भाव का कम कम मास्तना पहुँचा है और कम का परसा। तत्त्व ही नहीं किन्तु इस कम में जो कुछ किया जाय उस भवगते ज्ञान मैं भारता पहुँचा है। उन तरह यह कर्मचर सौंदर्य बद्धता देता है। मनुस्मृति तथा महाभारत (मनु ८ १७३; मा मा आ ८ १) में यह कहा गया है कि उन कर्मफलों का न केवल हम किन्तु कभी कभी हमारी नामरूपात्मक ऐह से उत्पन्न हम हमारे मन का भी मामला पड़ता है। यही पर्याप्त यज्ञित्रि भै कहत है -

मात्र वह ही जुलाई की शरणका का कहा हिन्दूर्भव न का कहन आतिर्क  
बाहिधान ही माना हा । यदि ऐसा भास्मा का नहीं मानत होगा ? ऐसिए वर्षे महरिल  
जुलाई की बात । तो इसात भावन वर्षे महरिल स्थान चिना ह । और वीरभीषणही  
महरिल स्थान चिना ह । अपनाएँ वह विरापदारी जर्मन विहित तिक्तान भी जुलाईमारा  
का वीरभाग चिना ह । अब इन्होंने ॥ ५८ ॥ कम हाथ उ जो इमान इसात दूधा दात है ।  
मध्यरिल ८ तथा काल वर्षल ८ इविव वहा परता ह ॥ ५९ ॥ यह यार या गोदान ह तु  
ह ॥ ६० ॥ यह यार वर्षात इनी न वर्षी नववर्ष उत्तम हात हो है नीं इस वर्ष या ६१  
॥ ६१ ॥ इस वर्ष अपेक्षात हृषि न या विद्य हा जान दे उत्तम वर्ष भी नियो है जि  
सा इमान या जानि नह जाना लर्न न मानन्म हुए है ॥ Nietzsche's *Fictional  
Reinterpret Complete Works*, Engl Trans Vol XVI pp 15-56)

इतिहास द्वारा का पता नहीं द्याता कि यह स्वीकृत नामवृप अपना मायामक कम 'क' उपलब्ध हुआ ? अतः केवल कर्मसूक्ष्म का ही चिनार बन करना होता है तब उस परतन्त्र और चिनाई माया की तथा माया के साथ ही वाह्यभूत कर्म को मी देशनशास्त्र में अनादि कहा जाते हैं ( य सू. २. १ ३८ ) । स्मरण रहे कि ऐसा साम्यवाची कहते हैं उस प्रसार अनादि का यह मनस्त्र नहीं है कि माया मूल में ही परमेश्वर की कराफरी की निरारम्भ और स्फुरन्त है – परन्तु यहाँ अनादि शक्ति का यह अप विवित है कि वह तुङ्गेयारम्भ है – अयात उसका आदि ( भारम्भ ) मात्रम् नहीं होता ।

परन्तु यथापि हम इस घात का पता नहीं द्यता कि चित्रुप कर्मालम्भ अयात् एवंसुष्टुप्तिपृष्ठ क्व और क्यों होने द्या ? उथापि उस मायामक कम के अगले सब भ्यापारी के नियम निर्भित हैं अतः उन्म से कुतुर्वे नियमों को हम निर्भित वृप से ज्ञान मी सज्जा हैं । आत्म प्रसरण म सारमधार्म के अनुसार उस घात का विवेचन किया गया है कि मूल्यवृत्ति से अयात् अनादि मायामक कम से ही आगे वर्ष कर सुर्दि के नामवृपालम्भ विविष्ट पत्राप विस कम से निर्मित हुए ? और वही आनुनिक आधिकैतिक शास्त्र के चिदान्त भी तुल्या के लिये कठालये गये हैं । यह सच है, कि देशनशास्त्र प्रहृति को परज्ञ की तरह व्यवमू नहीं मानता परन्तु प्रहृति के अगले विलार का कम जो साम्यशास्त्र म कहा गया है वही देशनशास्त्र को मी मान्य है । इतिहास यहाँ न्यूक्ली पुनरुक्ति नहीं की जाती । कर्मालम्भ मूल्यवृत्ति से विच की ऊरति का ये तम पहले कठालया गया है उल्लेख उन सामान्य नियमों का कुछ भी विचार नहीं है कि किनके अनुसार मनुष्य को क्षमत्वा मौजने पाते हैं । उसिये अब उन नियमों का विवेचन करना आवश्यक है । उनी का 'कर्मविपाक' कहते हैं । इस कर्मविपाक का पहला नियम यह है कि यहाँ एक जार कम का भारम्भ हुआ फिर उसका भ्यापार आगे छार अपर्ण गारी रहता है आर कम ब्रह्म का द्वितीय समाप्त होने पर उपरि का सहार होता है तब मी यह कम शीघ्रता से कला रहता है । एक फिर ब्रह्म सुरि का नामम्भ होने माना है तब उसी कमदीन से फिर पुरक्ष अनुर पृथ्वे ल्पन ह । महामारत का कथन है कि –

एको ये पानि कमागि प्राक्षमृष्टयो व्रतिपदिरे ।

ताम्यं परिपथन्ते त्रुत्यमाता पुन शुलुपु ॥

अयात् एव की सुरि म प्रायः क्षमा गारी ने श शो कम लिये हाये, दीक्ष व ही कम उसे ( जाहे उसी 'स्ता हा न पा हा ) फिर फिर यथापूर्व ग्रास होने रहते हैं ( ऐसो म मा धा ११ ४८४ भार यी ११ नया १ ) । गीता ( ४ १३ ) में वहा है कि क्षमता गहना यकि – कम की दृष्टि कठिन है । 'हना ही नहीं मिन्नु कम का क्षमता भी दृष्टि कठिन है । क्षम लिखी से मी नहीं क्षुर सज्जा । शानु कम से ही चलती है त्रयचन्त्रान्तिक कम क ही तुमा करते हैं भार ब्रह्म विशु महत्त्व भावि-

“स अनादि क्षमप्राप्ति के और भी पूर्व अनुष्ठान नाम है। ऐसे सदार प्रहवि माया इस सुष्टि सुष्टि के कामे पा नियम “स्थाति। क्योंकि सुष्टिशास्त्र के नियम नामरूपों में हृषीकेश परिकल्पना के ही नियम है। और यहि “स उष्टि से देवों द्वारा लग आण्मीरिक शास्त्र नामरूपाभक्त माया के प्रत्यक्ष म ही आ जाते ह। “स माया के नियम सभा बनन सुहाट एवं सर्वव्यापी है। “चीजिये हेकेस ऐसे आधिमारिकशास्त्र—जो “स नामरूपाभक्त माया किंवा इस सुष्टि के मूल म भवया चक्षु पर—विही नित्यतत्त्व का होना नहीं मानते उन लोगों ने विद्यान्त विद्या है कि यह सुष्टिक मनुष्य का विवर देखता है उपर ही उसे बना पड़ता है। “न पण्डितों का इस है कि प्रत्येक मनुष्य का जो ऐसा भाव्यम् होता रहता है कि नामरूपाभक्त किनारी व्यवहर से हमारी मुख्य होनी चाहिये अथवा अनुक व्यवहर करने ले हमें अमूल्य मिळगा—यह सब वैष्णव भय है। भा मा या परमात्मा कोइ स्वरूप व्यवहर नहीं है और अमूर्तत्व भी इह है। इतना ही नहीं किन्तु “स चक्षुर में कोई भी मनुष्य अपनी “स्त्रा से कुछ काम करने को स्वरूप नहीं है। मनुष्य आब जो कुछ कार्य करता है वह एवंशब्द में किये गये स्वयं उसके पूर्वान्तर के क्रमों का व्यवहरण है। “स से उक्त कार्य का करना या न करना भी उक्तकी इस्तम्ह पर कभी अवश्यिक नहीं हो सकता। उत्तराहरणात् किसी ही एक आप उक्तम् वस्तु को देव वर पूर्वकों ले अथवा वैष्णवपरम्परागत उल्लारा ले उसे चुहा लेने की बुद्धि कर्तृ लोगों के मन मे इस्तम्ह न रहने पर भी उसमें हो जाती है और वे उस वस्तु को चुहा लेने के लिये प्राप्त हो जाते है। अर्थात् इन आधिमीरिक पण्डितों के मत का सारांश यही है कि गीठा मै ये यह तत्त्व कलमया गया है कि अनिष्टन् अपि वाच्येव क्वाप्यि निमोक्तिः (गी. ३. ११) इस्तम्ह न होने पर भी मनुष्य पाप करता है।—यही सभी जगह एकत्रमानं उपयोगी है। उसके लिये एक भी अपवाह नहीं है; और “स से उच्चने का भी कोई उपाय नहीं है। “स मत के अनुसार यहि देवा जाय तो मानना पड़ेगा कि मनुष्य की जो बुद्धि और “स्त्रा आब होती है वह कह के क्रमों का फूल है तथा फूल ये बुद्धि उत्पन्न हुई थी वह परसी के क्रमों का फूल या और ऐसा होते होते “स व्यवहरण परम्परा का कभी अस्ति ही नहीं मिळेगा तथा वह मानना पड़ेगा कि मनुष्य अपनी स्वरूप बुद्धि से कुछ भी नहीं कर सकता। जो कुछ होता है वह सब पूर्वकम् अर्थात् देव का ही फूल है। क्योंकि प्राकृतकर्म को ही लोग देव करते है। इस प्रकार यहि विची कर्म का करने अथवा न करने के लिये मनुष्य का कोई स्वरूपता ही नहीं है तो फिर यह कहता है व्यवहरण है कि मनुष्य के अपना आवरण अनुक रीति ले सुचार लेना चाहिये और अनुक रीति से ब्रह्मार्थमपश्चान् यास करके अपनी बुद्धि को शुद्ध करना चाहिये। तब तो मनुष्य की वही उद्धा होती है कि जो नहीं के प्रवाह में वही इस स्फीटी की हो जाती है। अर्थात् विच और माया प्रहृति सुष्टिरम् या कर्म का प्रवाह उसे विचेगा, जर्जी और उसे चुपचाप छल बना चाहिये। फिर

पाप कर्म सूतं विभिन्नादि तन्मित्त तुष्यत ।  
मृपते तस्य पुत्रेषु पौत्रव्यपि च नप्तुपु ॥

अर्थात् । ह रात्र ! जाहे किंची आश्चर्यी को उसके पापक्रमों का कल उस समय मिला तुझा न गीत पाई, तथापि वह उसे ही नहीं किन्तु अम पुणा, पाणा आर प्रीणा तत्र का घोग्या पत्ता है ( १ २ ) । हम स्वग्रह व्रयस ऐगा करते हैं कि काँ काँ रांग वद्यपरम्परा में प्रचलित रहते हैं । असी तरह काँ हम से ही दिली होता है और काँ अभ्यर्युण राष्ट्रकुल में उत्पन्न होता है । अब तब जाती ही उप पर्याप्ति वेष्टल कमवार से ही एवार जा जाती है । और जटुता का मत है कि यही कमवार की सज्जा का प्रमाण है । अम का यह चक्र अप एक बार आरम्भ हो जाता है तब अम फिर परमेश्वर मी नहीं रोक सकता । वह इस दृष्टि से ऐसे कि सारी सृष्टि परमेश्वर की अच्छा से ही चल रही है तो कहना होगा कि कमकुल का इनेकाला परमेश्वर में भिन्न काँ दुष्टरा नहीं है बक्का ( वे स ३ ३८ की ३८ ) । और अधीक्षिये मत्तवान् ने कहा है कि सम्मेच तत्त्व कामान मध्ये विहितान् हि तान् ( यी ४ २२ ) — मैं विष्णु का निभ्य कर दिया करता हूँ वही इप्पित फल मनुष्य का मिलता है । परन्तु कमपर का निभित कर इन का जाम यज्ञवि अश्वर का है तथापि वशन्त्यास्त्र का पार सिद्धान्त है कि वे फल हर एक के द्वारे द्वारे कर्मी की अर्थात् कम भक्ति की योग्यता के अनुरूप ही निभित किये जाते हैं । अधीक्षिये परमेश्वर इस सम्बन्ध में बलुत ज्ञानीन ही है । अपान यहि मनुष्यों में भूमि-बुर का देह ही जाता है तो उसके लिये परमेश्वर वाम्य ( विश्वमुडि ) और नैष्वाय ( विश्वका ) जाती को पात्र नहीं होता ( वे स २ २ ४५ ) । इसी आशय की देखर गीता में भी कहा है कि तमोऽह मवन्मतेऽ ( २२ ) अर्थात् अभ्यर पूज के लिये तम है भयवा —

तात्त्व वस्यविश्व पापं त चेत् सुहृत्वं विभुः ॥

परमेश्वर न ता किंची के पाप का संता है न पुण्य को । अम का मापा के स्वभाव का चक्र चल रहा है जिसके प्राणिमात्र का अस्त्र भवने क्वानुसार मुद्राय मानने दर्शते हैं ( यी ६ १८ १६ ) । शाराय वद्यर्थी मानसी बुडि से इन पात्र का पात्र नहीं क्षमता कि परमेश्वर की रक्षा से नकार म वर्म का आरम्भ कर तुम्हा आर तात्त्वभूत मनुष्य कम क स्वतन्त्र मैं पहुँच देंगे वैन गया । तथापि वह हम देखते हैं कि कम क भविष्य परिणाम या वर्म के स्वतन्त्र कम के नियन्ता त ही उत्पन्न तुझा करते हैं । तब हम जनी बुडि न इन्हाँ तो भवष्य निभ्य कर नक्को हैं कि तुमाँ क भारम्भ न प्रयत्न प्राप्ती नामक्षण्यमन्त भनाति अम की दिन में दैन-जा गया है । वस्तु दृष्ट्यां एवु — एका ग इन प्रकरण के आरम्भ में ही वर्म दिया रआ है तुम्हा भव मैं पही ॥

यही अनिम निषय हो आय कि मनुष्य को उठ सी प्रदृक्षिणातन्त्र नहीं है फिर भनुक प्रद्वार से बुद्धि गुद्ध करना चाहिये अमुक नहीं करना चाहिये अमुक जन्म है अमुक अधर्म इत्यादि विधिनियेवशास्त्र के सब इसाँही ही भाव ही-आप मिट जायेंगे (वे स. २ । ११) १ और तब परम्परा से या प्रत्यक्ष रीति से महामाया प्रहृति के ग्रन्थ से सैव रहना ही मनुष्य का पुण्यार्थ हो जायगा । भवता पुरुषार्थ ही कहे का । अफ्ने बद्ध की बात ही तो पुण्यार्थ ढीक है परन्तु ऐसे एक रक्षीमर मी अपनी सत्ता भार अच्छा नहीं रह जाती वहाँ गम्भ और परतन्त्रता के लिया और हो ही क्या सकता है ? हक मुझे हुए ऐसों के समान सब स्मृतों का प्रहृति की आज्ञा में चल कर एक आनुनिक कृति के कफनानुसार पश्चार्थम की अपर्क्षभाओं से खोप जाना चाहिये । हमारे मारतवर्ष में कर्मवाड या ठेकबाड से और पश्चिमी घोड़ों में पहले पहले जैसाँही जर्म के मरितम्बवाड से तथा भयान्तीन काल में शुद्ध भाविति मौतिक शास्त्र के सुहितम्बवाड से इन्द्रास्त्रातन्त्र के “स विषय की ओर परिषदों का व्याप्त आकर्षित हो गया है और इनकी बहुत कुछ चर्चा हो रही है । परन्तु वहाँ पर उसका वर्णन करना असम्भव है । ”सिद्धिये “स प्रकरण में यही विद्याया ज्ञानमां कि वेगन्तश्याम और भगवद्गीता ने “स प्रभ का क्या उत्तर दिया है ।

यह सच है कि कर्मप्रवाह अनाडि है और यह एक बार कर्म का ज्ञान शुद्ध हो जाता है । तब परमेश्वर भी उसमें हस्तगोप नहीं करता । तथापि अ यास्मशास्त्र का यह सिद्धान्त है कि इस्पत्निये के लिये नामकृप या कर्म ही नहीं है लिन्दु इस नाम व्यापारम् आवरण के लिये भाषारम्भ एक आत्मरूपी व्यक्तन् और अविनाशी व्यक्तिही है । तथा मनुष्य के शरीर का आत्मा उस नित्य एवं स्वतन्त्र प्रजाति ही का अस्ति है । “स सिद्धान्त की सहायता से प्रत्यक्ष में अनिवार्य दीप्तिवाची उठ अहंकर से भी कुरुकारा हो जाने के लिये हमारे शास्त्रवारों का निश्चित किया हुआ एक मर्त्य है । परन्तु इसका विचार करने के पहले कर्मविपाक्षक्रिया के द्वेष अस्ति का वक्तव्य पूरा कर सेना चाहिये । जो उस करे सो उस फल जाना । यानी ऐसी करनी कैसी मरनी । यह नियम न केवल एक ही व्यक्ति के लिये लिन्दु उद्गम जाति राष्ट्र और समस्त समाज के लिये भी उपयुक्त होता है । और ऐसे कि प्रत्येक मनुष्य का किसी-न किसी उद्गम जाति अभक्ता देश में समाजेष्ट हुआ ही करता है । इन लिये उसे स्वप्न भप्ने कर्मों के द्वाये कुरुक्ष भाडि के सामाजिक कर्मों के फलों की भी अद्यता मोगला पद्धता है । परन्तु व्यवहार में प्रायः एक मनुष्य के कर्मों का ही विवेचन करने का प्रयत्न आया करता है । इसलिये कर्मविपाक्षक्रिया में कर्म के

---

वेदान्ताच इह भवित्वरूप को जीवरूपवित्वरूप कहते हैं । उच्चका पक्ष ही इस कर्ता शास्त्रवाचकार जर्तीत विधिनियेवशास्त्र में जर्तीत होने के लिये जीव की कर्ता मानना चाहिये । वास्तुली के स्वतन्त्र कर्ता (वा १ । ४ ५) इस के कर्ता काल से ही नामस्त्रातन्त्र का वोष होता है और हस्त माटूम होता है कि यह नामित्वरूप इती विवर कहा है ।

चाहे उसमें अधागति हो अथवा प्रगति 'स पर कुछ अन्य भाविमौतिक उत्तरान्ति शारिया का कहना है कि प्रहृष्टि का स्वरूप मिथर नहीं है और नामश्वर यज्ञ शुण म इस्ता करते हैं। इसलिये जिन सुश्रितियमा क अनुसार ये परिवर्तन होते हैं उन्ह ज्ञानकर मनुष्य का जाग्यस्थिरि म पठा परिवर्तन कर देना चाहिये कि ये उन्हें हित कारक हो। और हम \*रस्ते हैं कि मनुष्य "सी न्याय से प्रयत्न म्यवहारे म अभिया विकुञ्जकि का उपयोग अपने पाय" क लिये किया करता है। "सी तरह यह भी अनुसव की चाहत है कि प्रयत्न से मनुष्यस्वरूप मै खालाबद्ध परिवर्तन अवश्य हो जाता है। परन्तु प्रस्तुत प्रभ यह नहीं है कि सुश्रितना में या मनुष्यस्वरूप में परिवर्तन होता हो या नहीं ? आर फरना चाहिये या नहीं ? हमें तो पहले यही निष्पत्ति करना है कि ऐसा परिवर्तन करने की यो बुद्धि या "अप्य मनुष्य में उत्पन्न होती है उसे रोकने या न रोकन की स्वाधीनता उस में है या नहीं। और, आधिमौतिक धार्म की दृष्टि से इस बुद्धि का हाना या न होना ही यहि बुद्धि क्रमानुसारिणी के न्याय के अनुसार प्रहृष्टि कम या सुष्ठि क निष्पत्ति से पहले ही निष्पत्ति हुआ रहता है तो यही निष्पत्ति होता है कि इस भाविमौतिक धार्म क अनुसार दिनी भी कम का करने या न करने के लिये मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है। 'स उड़ की

शासनास्वातन्त्र्य "अष्टस्वातन्त्र्य या प्रहृष्टिस्वातन्त्र्य कहते हैं। केवल क्रमविपाक भवना केवल भाविमीसिङ्क धार्म की दृष्टि से विचार किया जाय तो अन्त में यही चिदानन्त करना पड़ता है कि मनुष्य को दिनी भी प्रगति का प्रवृत्ति स्वातन्त्र्य या "शास्वातन्त्र्य नहीं है। यह कम के अमेव क्षमता से देखा ही जड़ा हुआ है क्यों किनी गार्ही का परिवा चारी सरफ से छाँहे भी पही से चर्का लिया जाता है। परन्तु "स चिदानन्त की सत्यता के लिये मनुष्यों के अन्तर्भूत का अनुमत रखाई इन को मेयार नहीं है। प्रथेव मनुष्य अपने अन्तर्भूत में यही कहता है कि यथाविभूतम् शून्य का उन्नय पश्चिम दिशा में कहा देने की शक्ति नहीं तो मी शून्य मै इतनी शक्ति अवश्य है कि म भवन हात से हानिकार कायों की भवन तुरां का विचार कर क उन्ह अपनी "स्त्रा क अनुसार कर्त्ता या न कर्त्ता। भवना उप पर सामन पाय वीरा पूज्य तथा अन वीरा भवन क तो मार उपरिक्षण है। तब उनमें दिनी एक का वीक्षण कर स्त्रे के लिये मै शून्य हूँ। अब यही गम्भा है कि यह अमरत सत्य है या नहीं ? यहि "स समरण की कृत कर्ता हम "पत्र है कि इसी क भावार वारी हत्या भारी भवताय वरन्नामा का भवतार्पी दहरा कर लगा ही जानी है और या तत्त्व मान सौ क्रमाड क्षमियाद पा दृष्टि लेने के लिये मिथ्या प्रतान हात है। भाविमौतिक धार्म म उड़ जा पायों की कियाज्ञा का ही विचार किया जाता है इसलिये सही पर प्रभ उपय नहीं हैला। परन्तु जिन अव्याप्तिगम्यम् मै उन्नान मनुष्य क उत्तराय अवश्य करना हाता है उनमें पहुँच कर मरम्बण प्रभ है भार उड़का उत्तर देना भी भाष्यप्रभ है। क्योंकि उप कार वहि

एट इ भार कुछ कमों की धार्मिक रीति स करना रह सा पह भाष ही भार मृद हो गया। क्योंकि प्रारम्भ कमों का इस इग्न मे उपभोग कर स्ने स उनका भल ही आता ह। भार इस इग्न मे सब निष्ठनमिनिः कमों का करन रहन स तथा नि इन स्ने गे करन रहन स नरक म नहीं जाना पड़ता। पर काम्य कमों का इग्न दन त श्वा भी मुरो इ भाग्न की भी आवश्यकता नहीं रहती। तार इग्न इहत्यर नरक भीर सम ये तीनों गति इस प्रकार एक जाती है तब भाग्न क लिय मात्रा क बिंदा बार दूरी गति ही नहीं रह जाती। इग बाट का कममुण्ड या नैष्काम्यमिन्दि रहा। इन करन पर भी ज न करन क समान ह। नगाड़ जर बिंदि कम क पारापूर्ण वा अन्य वाकों की नहीं हा तक्ता तार उग लिखित का नैष्काम्य बहत ह। परन्तु रेष्टनाम्य मे निध्य लिय रखा है कि मीमांसा की उफ युक्ति मे यह नैष्काम्य पूर्ण न ही लप्त सकता (प ५ गा भा ८ ३ ११) भी इगी भनिश्वाप से ऐसी नहीं रहती ह कि कम न करन ग नैष्काम्य नहीं होता; भीर आर न स लि नहीं लिया (प ३ ४)। परमाणुमे इन रखा ह कि पहन तार निष्कृत कमों का तरजु बग्ना ही अन्तर ह। भार यों बाह लिखित कम हा रहा। इ बद्ध नैष्कृति प्राप्तित ग रुक्ष तर ता। का नाम भी नहीं हाता। भ “ दा श्वान ” कि रख तार ताक्षर ह तो नै मीमांसा क इन काम मे ही दुष्ट तर्क नहीं होता यह तरा कि प्रार ए कमों का लाने। तथा इन इम मे लिय रखने कमों का उफ युक्ति क भनुगार बग्न या न बग्न। तर नैक्ता कमों का तर्क तमन दा रहा हे बर्ताव ता साथा कमों क एक परमार्थविद्वान्-उद्दृतात्म दक ता परम वर्तमा तथा दूर का एक तर यादना - ह। ग ३ ६ ता ११ १२ १३ १४ तर एक तर ही ताम नैक्ता भवा एक इति के इसी उपर मे प्रसाद दूर कमों के तरा इ ति अम य लिय रहा बग्न। तर नैक्ता कमों क एक तर तथा दूर की तरा रहा हे परमार्थविद्वान् नैक्ता १५-

कराचित्तुम् ताम् युवत्पाद्य विजृति ।

मराठाश द गावां याचक्कु लादिल्यापत्र ॥

१८ अप्यनुभवात् विद्युत्प्रकाशं न देहं भवति  
स्तु तदाप्यनुभवात् विद्युत्प्रकाशं न देहं भवति  
१९ एवं विद्युत्प्रकाशं न देहं भवति  
यत्कामे न एव विद्युत्प्रकाशं न देहं भवति  
२० एवं विद्युत्प्रकाशं न देहं भवति

विमाग प्रायः एक मनुष्य का ही स्वयं करके किये जाते हैं। उग्रहरणाथ मनुष्य से किये जानेवाले अधिक कमों के मनुष्यी तो — कायिक वापिक और मानविक — तीन में किये हैं। ध्यक्तिकार हिंसा और चोरी — उन तीनों को कायिक कहे गिर्दा वानामारना और भसगत शोषणा — इन चाहय को कानिक भार परखयामिस्तापा वृक्षय का महितचिन्तन भार द्वय आप्रह करना — उन तीनों को मानविक पाप कहते हैं। उच्च मिश्न कर उस प्रकार के अधिक या पापकम फलत्वये गये हैं (मनु १ ५-७ म मा भनु १३) और उनके फल भी कह गये हैं। परन्तु ये में उठ स्वाधी नहीं हैं। क्योंकि उसी अध्याय म सब कमों के पिर में — सामिक रास्त और तामस — तीन में किये गये हैं और प्रायः भगवद्विना म ऐसे गये इण्डन के अनुचार उन तीनों प्रभर के गुणों या कमों के लक्षण भी कलात्मक गये हैं (गी १४ ११ १६ १८ २३-२ मनु १० ११-१४) परन्तु कर्मविपाक प्रवरण म कम का जो सामान्यतः विमाग पाया जाता है वह उन तीनों से भी भिन्न है। उसमें कम के सक्रित प्रारम्भ और वियमाण ये तीन में किये जाते हैं। किसी मनुष्य के द्वारा इस उच्च कम किया गया वे कम हैं — चाहे वह इस कम म किया गया हा या पृथक्कम मैं — वह सब 'सक्रित अधार' 'एकत्रित कम' कहा जाता है। उसी 'सक्रित का दूसरा नाम भारप्र और भीमासुका' की परिमाणा म अपृष्ठ भी है। उन नामों के पहले का कारण यह है कि किस समय कम या विया भी जाती है उसी समय के किये वह दृश्य रहती है। उस तमय के बीत जन पर वह विया स्वरूपतः द्वय नहीं रहती किन्तु उनके सकम भरपूर अदृश्य अपात अपृष्ठ और किञ्चित परिणाम ही जाती रह जाते हैं (वे सू. घा. भ्य ३ २ ३ ८)। उठ मी हो; परन्तु इलमें उमेह नहीं कि 'उस दृश्य तक जो जो कम किये गये हाँग उन तम के परिणामों के उपरांत जो ही 'सक्रित' अदृश्य पा अपृष्ठ कहते हैं। उन तम सक्रित कमों की पक्षरम जोगना असम्भव है। क्योंकि इनके परिणामा सु उठ परम्पराविरोधी भवान में भी तुर देना प्रकार के एक देनेवाले हा सकते हैं। उग्रहरणाथ का 'सक्रित कम' स्वयम्प्रत भीर और नरक्ष्या भी होते हैं। 'कियिए इन दोनों के पास को एक ही समय जोगना सम्भव नहीं है — इन्हें एक के जा एक जोगना पड़ता है। अतएव 'सक्रित' में से किन्तु कमों के पास को जोगना पहले थर्ह हाँग है उनमें ही को 'प्रारम्भ' दृश्य का दृश्य उपयोग किया जाता है परन्तु यह नहीं है। ध्याक्तव्य में यही प्रकट होता है कि सक्रित के अर्द्धान समस्त भूतवृत्त कमों के उपरांत के एक एवं में वो ही प्रारम्भ कहते हैं। 'प्रारम्भ' उठ नमस्त तक्रित नहीं है। सक्रित के किन्तु दृश्य के पासों का (कायों का) जटगना भारम्भ हा रक्षा ही उनका ही प्रारम्भ है भीर इही कारण स इस प्रारम्भ का दूसरा नाम भारपूरम्भ है। प्रारम्भ भीर तक्रित के अक्तिरिक कम का कियमाण नामक एक भीर तीक्ष्णा में है। 'कियमाण कर्मविपाकात्मक जातुकामित दृश्य है भीर उक्ता भृष्ट है — ये कम भवी हो

एहा है भपशा जो कम भमी निया जा रहा है। परन्तु कलमान समय में हम जो कुछ बता है वह प्रारम्भकम का ही (भपश् लक्षित कर्मों में से किन कर्मों का मांगल्य शुरू हो गया है उनका ही परिणाम है) अतएव नियमाण की कर्म का सीखण ऐस मानने के लिये हम और कारण भी नहीं पाता। हाँ यह ऐड दोनों मैं अवश्य किया जा सकता है कि प्रारम्भ कारण है और नियमाण उसका फल अपरन् काम है। परन्तु कम-विपाक प्रतिया में 'स ऐ' का कुछ उपयोग नहीं हो सकता। सक्षित में तो किन कर्मों के कर्मों का मांगल्य भमी तर आरम्भ नहीं हुआ है उनका—भर्त्ता—तक्षित में से प्रारम्भ का परग ऐसे पर जो कम पक्षी रह जाए उनका—जोप कराने के लिये नियी वृमत शुष्ट की आवश्यकता है। 'सक्षिये वडान्तमन् (४११६) म प्रारम्भ ही का प्रारम्भकम और जो प्रारम्भ नहीं है उन्हें अनारम्भकार्य कहा है। हमार मर्यानुचार सक्षित कर्मों के इस रीति से—प्रारम्भकाय और अनारम्भकाय—जो मैं करता ही शास्त्रदृष्टि से अधिक सुक्षितूर्ण मान्य होता है। इसक्षिये 'नियमाण का शब्दाणि भित्र बतमानकाल्याचक न समाप्त कर बतमानसामीप्ये वर्तमानकदा इस परिनीत्य के अनुसार (पा. १११३१) मविष्यकासमाचक समझें, तो उनका भर्त्ता जो आगे शीघ्र ही मांगल्य का है'—किया जा सकेगा और तब नियमाण का ही भर्त्ता अनारम्भकाय हो जायगा। एवं प्रारम्भ तथा 'नियमाण ये जो शुष्ट कर से बोगत्य सत्र के आरम्भकाय और अनारम्भकाय शुष्टोंसे उमानार्थ हो जायेंगे। परन्तु नियमाण का पेसा अर्थ आज्ञाकाल का नहीं करता रुक्षा अप प्रविष्टि कर्मों ही किया जाता है। 'स पर यह आधेष्ट है कि पेसा अप स्त्रेसे प्रारम्भ के पक्ष की ही नियमाण कहना पड़ता है और जो कर्म अनारम्भ कार्य है उनका जोप करने के सिय सक्षित प्रारम्भ तथा नियमाण 'न तीना हामा मैं जो' भी शुष्ट पर्वत नहीं होता। 'सक्षिय कर्मविपाककिया मैं सद्वित प्रारम्भ और कियमाण कम के 'न स्मैक्षिय में' को न मान कर हमने उनके अनारम्भकार्य और प्रारम्भकार्य ये ही जो कर्त्ता किये हैं और यही शास्त्रदृष्टि से मी सुमिति के हैं। 'मांगल्या निया के क्षमदृष्ट तीन भेद होते हैं—जो मांगा जा चुका है (भूत) जो मांगा जा रहा है (वर्तमान) और किस आगे मांगला है (मविष्य)। परन्तु कम विपाक किया मैं 'स प्रकार कर्म' के तीन में नहीं हो सकते। क्योंकि सक्षित मैं से जो कर्म प्रारम्भ हो कर मोग आते हैं, उन्हें परम फिर दी जानी नहीं मांगा जायेगा। 'सक्षिय कर्ममोग का किचार करते हमन् सक्षित मैं ही ये जो मैं ही सकते हैं—( ) वे कर्म किनका मांगल्य शुरू हो गया है असार प्रारम्भ और ( ) किनका मांगला शुरू नहीं है अर्थात् अनारम्भ। इन तीनों के अन्य दो कर्मों की कर्म आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार सब कर्मों के फलन क्षम विष्व वर्गीकरण करके इनके उपयोग के सम्बन्ध में कर्म विषयक्षम निया यह कहनार्थी है कि सक्षित ही कुछ मोग्य है। 'नम से किन कर्मकुलों का उपयोग

से स्वाधित किया गया है। परन्तु यह तक मी अस्त तक नहीं दिखता। सार्थक कम के द्वारा कम से छूटकारा पाने की आगा रखना देखा ही स्यव है जैसे एक अन्धा दूसरे अन्धा का रास्ता डिग्रेट कर पार कर डे। अ छा अब यदि मीमासुरी भी इत्युक्ति का मशहूर न कर और कम के कल्पना से छूटकारा पाने के लिये सब कमों को भाग्यपूर्वक छाड़ कर निरोधोगी अन बढ़े, तो मी कम नहीं चढ़ सकता। क्याहि अनारथपमों के फल्ये का मोगना तो बहुती रहता ही है और इसके बाषप कम छोड़ने का आपह तथा चुपचाप बड़े रहना तामस कर्म ही चाहता है। एव इस सामर्त्य कमों के फल्ये को मोगने के लिये किर भी कम देना ही पड़ता है (गी १८ ७ ८)। इसके लिया गीता में अनेक स्पष्ट पर यह भी बताया गया है कि यत तक शरीर है तब उठ धासोच्छास साना बड़ना अस्यादि कम हाते ही रहत है। इस लिये सब कमों का छोट अन वा आपह भी ध्यय ही है — ध्ययर्थ में इस सुसार में छाड़ उपभर के लिये भी कम करना छाड़ नहीं सकता (गी ३ ६ १८ ११)।

कम चाहे भय ही या कुरा परन्तु उमका फल मोगने के लिये मनुष्य को एक-न एक कम से कर हमेशा तथार रहना चाहिये। कर्म अनादि है और उसके अपर्ण अपार में परमंधर भी हृष्टवेष नहीं करता। सब कमों का छाड़ देना सुमत्त नहीं है और मीमासुरा के कल्पनानुसार युउ कमों का करने से भार युउ कमों का छाड़ देने से भी कमज़बन में उत्कारा नहीं मिल सकता — अत्यादि यता के लिये ही जन पर यह पहला प्रभ विर भी हाता है कि कमात्मक नामवेष के विनाशी चक्र से छूट जाने (एव उमके मृत्यु में रहनशामे भमून तथा अविनाशी तत्त्व में मिल जाने) की मनुष्य की या म्यामाकिं इच्छा हाती है उत्तरी दृष्टि करने का एन-जा माय है। ऐ और स्मृतिदर्शी में यहापास ध्यान पार्वीदिक कम्प्याण के अनेक साधनों की वजन है परन्तु माधवाक्ष भी इसे य सब कलिष्ठ भेणी कहता है। कर्यादि यहापास भावि पुण्यकमों के द्वारा म्यामाकिं तो ही जाती है परन्तु उव उन पुण्यकमों के फल्ये का अन्त ही जाता है तर — नाई दीपकास में ही क्या न हा — कर्मी न कर्मी नम कमन्मूलि में विर लीट कर आना ही पक्षा है (म मा बन १ ५ २६ गी ६ २६ और ८ ६)। इनम अष्ट ही जाता है कि कम के पद्म में विकल्प दृग् कर भमून्त्र में मिल जाने का और उपभरण की रूपजग का माय के लिये दूर कर देने का यह तथा माय नहीं है। इन शशार्द्र वा दूर करने का अपार मीथप्रामि वा अप्यात्मग्राम्य के कल्पनानुसार 'अन ही' एव तथा माय है। 'अन' शब्द की भय अप्यहारण या नामरुपाम युरिगाम का जन नहीं है लिये यही उमका भय ब्रह्मायैक्य जन है। इसी का विग्रह एव बरत है और इत्य प्रसरण के भारम्य में कमणा बन्धन उन्तु रित्या तु मनुष्यन — कम से ही ग्राती बीमा जना है और विद्या में उमका दूरकरा होता है — यह से बरन विषा गया है उममि विद्या का भय 'अन ही' दिव्य है। म्यान ने भमून न बहा है दि:-

लोके और मुख्य कर्मों को शास्त्रोक्त रीति से करता रहे तो वह आप ही आप मुक्त हो जायगा। भौतिक प्रारम्भ कर्मों का इस बन्ध में उपयोग कर देने से उनका भूत हो जाता है। और ऐसे बन्ध में सब नित्यमिहिक कर्मों को करते रहने से तभा नियिद्ध कर्मों से बचते रहने से नरक में नहीं जाना पड़ता। यद्य काम्य कर्मों का छोड़ देने से स्वर्ग आति दुर्लभ के भोगने की भी आवश्यकता नहीं रहती। और जब हल्केक नरक आर रहा, ये सीमा गति इस प्रकार दूर जाती है तब आत्मा के लिये मोक्ष के सिवा कोई दूल्ही गति ही नहीं रह जाती। ऐसे बारे की 'अमुकि' या 'नैष्कर्म्यसिद्धि' कहते हैं। कम करने पर भी ये न करने के समान हो अर्थात् जब किनी कर्म के पापपुण्य का बन्ध कर्ता को नहीं ही रखता तब उस स्थिति को 'नैष्कर्म्य' कहते हैं। परन्तु देवात्मगति में निष्पत्य किया गया है कि भीमासंका की उच्च युक्ति से यह 'नैष्कर्म्य' पृण रीति से नहीं सब सफला (वे स. शा. मा ४ ३ १४) और ऐसी अभियाम से गैरि भी कहती है कि कर्म न करने से नैष्कर्म्य नहीं होता और छोड़ देने से निहित भी नहीं मिलती (गी ३ ४)। अमरात्मा में कहा गया है कि पहले तो तब नियिद्ध कर्मों का त्याग करना ही असम्भव है। और यहि कोर्त्त नियिद्ध कर्म हो जाता है ये देवस नैमित्तिक प्रायक्षित से उसके सब दोष का नाश भी नहीं होता। अन्य बहि मान दें कि उच्च जात उम्मत है तो भी भीमासंका के इस बन्ध में ही कुछ उत्तराय नहीं दीप रखता कि प्रारम्भ कर्मों को भोगने से तभा ऐसे बन्ध में किये जानेवाले कर्मों का उच्च युक्ति के भनुसार करने या न करने से सब 'संक्रित कर्मों का उत्तराय समाप्त हो जाता है। क्योंकि दो 'संक्रित कर्मों के फल परायरियोधी' – उठाइरणात्, एक का फल स्वर्गमुन्न तथा दूसरे का फल नरक यातना – हीं दो उन्हें एक ही उम्मत में और एक ही स्वर्ण में भोगना असम्भव है। असंक्षिय ऐसी बन्ध में 'प्रारम्भ' हुए कर्म हैं तभा इसी अन्य में किये जानेवाले कर्मों से सब 'संक्रित कर्मों के फल' का भोगना पूरा नहीं हो सकता। महामारत में परायरगीता में कहा है :-

वदापिरसुकृत तात दृदस्पमिद लिष्टुति ।

सञ्चमाकर्त्य समर्ते पावद्युत्तात्तिमुप्यते ॥

कभी कभी मनुष्य के तासारिक दुभासा से धूये तक उसका पूरकाळ में किया गया पुण्य (उसे अपना पहले दी राह डैस्ता हुआ) पुण धैय रहता है। (म. म. शा १०); और यही न्याय संक्रित पापकर्मों को भी व्यग है। इस प्रकार तक्षित कर्मोंपर्योग एक ही कर्म में नहीं कुछ जाता; किन्तु तक्षित कर्मों का एक मात्र अवात अनारम्भकाय दृमणा करा ही रहता है। और इस अन्य में कर्मों की बड़ी उपयुक्त युक्ति से करते रहे तो भी उसे एक अनारम्भकाय तक्षितों से भोगने के लिये पून अन्य स्वर्ण ही पाना है। इसीलिय बड़ाल का किछात्त है कि भीमासंका की उपयुक्त सरब माभयुक्त जाती तभा भ्रान्तिमुक्त है। कर्मक्रमने तर्फे कि यह मात्र किनी भी उपनिषद् में नहीं काम्यपाया गया है। यह कर्म तरह व भावार

आरम्भ होने से मह शरीर या जन्म मिथ्या है (अर्दात् उधित में से आ कम प्रारम्भ हो गया है) उन्हें मात्रे किंतु बुद्धिमत्ता नहीं है - प्रारम्भकरणीय भोगादेव धृपा ।' इन पक्ष बार हाथ से जाण दूर चलता है तब वह लंग कर आ नहीं सकता अन्त तक चला ही जाता है। अशक्ता दूसरे पक्ष बार बुद्धिमत्ता का एक उमा दिया जाता है तब उसकी गति का अन्त होने तक वह पुनर्जाता ही रहता है। शीर और 'प्रारम्भ' कमों भी (अधारूप जिनके पक्ष का भौग होना दूर हो गया है उनकी) मी भवस्था हठी है। शो दूर हो गया है उसका अन्त ही होता जातिय। इसके लिका दूषीरी गति नहीं है। परन्तु अनारम्भकायन्म का ऐसा हाल नहीं है - 'न सत्र कमों का ज्ञान से पुज्जतया नाम किया जा सकता है। प्रारम्भसाय और अनारम्भसाय में ये यह महायश्च में है अनुके कारण ज्ञानी पुनर्जय का रूप होने के बाद मी नेतरिक रीति से मृत्यु होने तक (अथात् जन्म के साय ही प्रारम्भ दूर कमों का अन्त होने तक) ज्ञानिक साय राह गम्भीरी पैदा है। ऐसा न करने यति वह हठ से दृहत्याग करे, तो - ज्ञान से उत्पन्न अनारम्भकमों का लय हा ज्ञान पर मी - दृहारम्भ प्रारम्भ कमा का भग भपण रह जायगा और उन्हें मानने के लिय उसे फिर मी जन्म देना पड़गा। एव उसके मौल में मी जापा आ जायगी। पर वेदान्त और तात्पर ज्ञानों द्वारा का नियम है। (व. स. ४, १३ ३६ तथा सा का १३)। उच्च जापा के लिका हठ से जामहत्या करना एव नपा कम ही जायगा भार उसका पक्ष भोगनम के सिय नपा उभ्य केने की फिर मी भाष्यकर्ता हागी। इसम साक्ष मार्हीर द्वारा ह कि क्षमगामी है मी जामहत्या परना मास्ता ही है।

छेष्टकर्त्ता की दृग् से कन के भोज का बनान हा दुषा । अब उसका विचार  
स्थित इयमा के अमरणन म तुष्णाय एवं अगत दिस पूर्णि म हा सकता है ।  
पर्याप्ति पूर्णि वज्रसिद्धि का है । ऊर इत्याया श वर्ण है वि लालप्रसाद  
कृष्ण व न तुष्ण इनकाम तदिक्षितम का वहन है - विर एवं एवं का द्वादृष्टि  
है - न वास्तवा पर्याप्त या उभयं इत्य भीतर नी दृष्टा हैं एवं वह एवल्य इस भवेष  
पर वर एवं वर कुउ मीमांसा त अमरणन है भू वर गाव वर का  
गम प्रस्तुतम एवं वहव वर्ण व्य निराच्य है भीतर व्रश्वरण मे क भगुमार  
दिग्मध्य व है स वमन एवं व्य निय निर्विज व्याय आ निरिद्वेष  
पर्याप्त इत्य एवं समस्त या गी नव्यस्तो का न व्यन म पद गम्य है  
वि - नीति व्य एवं व्य व्य

४८ शंख और नमिता की दलवाली विजय की घटना से बदल गया है। उसी घटना को एक प्रेरणा का रूप भी ले लिया गया है। इस घटना को एक अत्यधिक विवरण देते हुए विजय की दलवाली का विवरण दिया गया है। इस घटना की विवरणीयता इसकी विशेषता है।

हानाप्तिः सर्वकर्माणि भस्मसाकृतेऽस्तुम् ।

‘हानरूप अप्ति से सब कर्म मरम ही जाते हैं (गी ४ १७)। और ही रक्षा पर महाभारत म भी कहा गया है कि –

शीघ्रान्यभ्युपद्गवानि म रोहनित पथा पुन ।

हानहरैस्तथा हेतुनीर्तमा सम्पर्ते पुनः ॥

मूला हुआ शीघ्र ऐसे उग नहीं सकता, ऐसे ही ब्रह्म ज्ञान से (कर्मोऽ) ब्रह्म दग्ध हो जाते हैं तब वे आमा को पुनः प्राप्त नहीं होते (मा चन १०८ १६ १७ शा. २११ १७)। उपनिषद् में भी इसी प्रकार ज्ञान की महत्त्वा ब्रह्मस्वरूपेषामें अनेक वचन हैं। ऐसे – य एव वेणुं ब्रह्मस्मीति स एव भवति । (इ १४१) – जो यह जानता है, कि मैं ही ब्रह्म हूँ, वही अमृत ब्रह्म होता है। इस प्रकार ब्रह्मस्वरूप में पानी एव नहीं सकता उसी प्रकार ऐसे ब्रह्मज्ञ दोष होता है। इस प्रकार ब्रह्मस्वरूप में पानी एव नहीं सकता उसी प्रकार निषे ब्रह्मज्ञ होता है। इसी अमृत ब्रह्म होता है। विद्वान् ज्ञानेषामें को मोर्च मिलता है (वे २ १)। ऐसे यह मालूम हो जाता है कि सब दुष्ट भावमय हैं उसे पाप नहीं समा सकता (इ ४ ४ २३)। जात्या देव मुख्यते सर्वंपापे । (वे ५ १३ ६ ११) – परमेश्वर का ज्ञान होने पर सब पापों से मुक्त हो जाता है। शीघ्रन्ते ज्ञात्य कर्माणि तगिमन्देष्टे परावरे (मु २ २ ८) परज्ञान ज्ञान होने पर उसके सब कर्मों का भय हो जाता है। ‘विद्वामूलमस्तुते । (शा ११ मैत्र्यु ७ १) – विद्वा से अमृतरूप मिलता है। तमेव विद्वाऽऽतिमूल्यमेवि नान्यं पञ्चा विद्वतेऽप्यनाप (वे. १ ८) – परमेश्वर का ज्ञान खेदे से अमरता मिलता है। इसको छोड़ मोक्षप्राप्ति का दूल्हा मान नहीं है; और शाश्वतता से विद्वार बरने पर भी वही विद्वान् एव होता है। क्योंकि इस्य सूष्टि म जो कुछ है वह तब पश्यति भावमय है तपापि एव सूष्टि के आधारन्तर परज्ञ जी ही वह सब दीवा है। इस लिये पह अप्य है कि बोइ मी कम परज्ञ को बाधा नहीं एव सकते – भधान् सर कर्मों को करते भी परज्ञ भर्तिही रहता है। इत प्रत्यरुप के भारग्म में ज्ञानात्मा वा चुना है कि अप्यामाशास्त्र के अनुसार इस उत्तार के सब पापों के कम (मापा) और ब्रह्म वा ही कम होते हैं। इनसे यही प्रत्य होता है कि इनमें से दिनी एव वर्ष में अपाप्त कम से गुरुत्वात् पाने वी इरजा हो। तो मनुष्य को दूसरे वर्ग में भयता, ब्रह्मस्वरूप में प्रवृण्य करना आहिय। उनके लिये और दूसरा मान नहीं है। क्योंकि एव सब पापों के बेतत्व वी ही वर्ग होते हैं तब कम स मुक्त भवन्त्या विद्वा ब्रह्म स्वरूप के लिये अप्य अप्य नहीं रह जाती। परन्तु ब्रह्मस्वरूप की इन भवन्त्या वी प्राप्त करने के लिये अप्य अप्य न ज्ञान भेदा वादिय कि प्रथम का अप्य वर्ग क्या है? नहीं तो करने वालों एवं भीर हीण्य कुछ दूसरा ही। विद्वापरुष प्रमूलाणो रचन नाम बनारम – मर्मि गीं व्याप्ति वी ज्ञानी भी दरम्भु (पह न अव वर) अ वा ६ ८

से स्थापित किया गया है परन्तु यह तत् मी भगव तक नहीं रिक्ता। सारोऽपि, कम के हारा कम से दुर्लभा पान की भाषा रखना कैसा ही स्वप्न है कि एक अचान्क भाव का रास्ता शिक्षण कर पाए कर डा। भृष्णा अब यहि मीमांसका भी इस पुस्ति का महान् न कर और कम के कथन से दुर्लभा पान के किय सुप कमों को आप्रह्लाद की छोट कर निरोक्तारी कर दें, तो मी काम नहीं चल सकता। क्याकि अनारक्षण्यमोऽपि कफ्य का भोगना तो जाकी रहता ही है और उसक साथ कम अज्ञे का आप्रह तथा दुर्लभाप के रहना तामस कम हा जाता है। एक इन तामन कमों के काफी का मानन कि ये किय फिर भी कम सेना ही पड़ता है (गी १८ ४ ८)। इसक मिथा गीता म अनुरक्षण्यमो पर यह भी कमज़ाया गया है कि यह तक दौरीर है तब तक आप्राप्तूकात् साना बड़ना इत्यादि कम होत ही रहत है। इस किये सुप कम का छोट दन का आप्रह भी स्वप्न ही है — यथापि कम में इस समार में घोर दण्डन के किये भी कम करना जट नहीं सकता (गी ३ ६ १८ ११)।

कम प्वाह भव्य ही या दुरा परन्तु उसका कृष्ण मानन के किय मनुष्य को एक न एक उम से कर हमेशा तपार रहना आदित्। कम अनादि है और उक्त अनुरक्षण्यागत में परमधर्म भी इसके नहीं करता। कृष्ण कमों का छोट देना सुम्बद्ध नहीं है और मीमांसका कृष्णनामार कुउ कमों का करन से आर कुउ कमों का छोट देने से भी कममध्यन से दुर्लभा नहीं किय सकता — इन्द्रादि वार्ता के किय हा शने पर यह वह प्रभ किय भी हाता है कि कमामङ्क नामकर के किनारी चन से दूर रहने (एक अन्य दूर में रहनेरामे अमृत तथा अकिनारी तत्त्व में किय जाने) की मनुष्य का ज्ञ व्याकादिर इस्त्य हाती है उक्ती तृष्णि करन का कीन-सा मार्ग है। यह और स्मृतिप्राणी में यथासा भारि पारकीसिक कृष्णाण के अनेक साधनों का बनन है परन्तु मारामार्ग वी हरि भ य सर बनिर भर्णी क है। क्याकि यहयाम आदि पुष्पयमा कृष्ण स्वाक्षरानि तो हा उत्ती है परन्तु उन उन पुष्पकमों क पृष्ठ का अन्त हा गता है — पाह नीरसात् म ही सर्वो न हा — कन्ती न कर्मि इस कमभूमि में किय है कर अना ही पृष्ठा है (म भा बन ५ २६ गी ६ ५६ और ११)। इसम यह हा गता है कि बन क पृष्ठ म कियम दूर कर अमृतमें किय गन का गत उममरण की दृष्टिका तत्त्व के किये दूर कर देन का यह सूक्ष्म मार्ग नहीं है इस सूक्ष्म का दूर करन का लक्ष्य न मालग्रामि का भृष्णायम्प्रदायम् कृष्णनामुमर उन ही एक नया मार्ग है। उन शब्द का भय व्यवहारन्तर य नामस्ता मर्म सर्विद्यामर का उन नहीं है किन्तु वहाँ उम्भ भय व्यवहारमें उन ही की विद्या वी उन्हें है भार इन प्रशासन के भारतमें कमता कायदे उन् किया तु मनुष्यन — कम न ही प्राणी दृष्टि उत्ता है और दि- त त उत्तरा दृष्टिरा हता है — यह तो उन्हें उत्तरा दृष्टि उत्तम विद्या का भय उन ही किय लै है मन्त्रने भजा है कि:-

अथवा नामरूप कर्मात्मक प्रहृति बिभर लीजि उभर ही उसे छले आना चाहिये । मगान् गीता मे कहते हैं कि प्रहृति वानिं भूतानि निप्रहु कि करिष्यति ।' (गी ३ ११) - निप्रहु से भया होगा । प्राणिमाद अपनी अपनी प्रहृति के अनुसार ही चढ़ते हैं । मिष्यप म्यष्टशायस्ते प्रहृतिस्त्वा नियोदमति । - देखा निष्पत्र वर्ष है । बिभर दून चाहेगा उभर तेरी प्रहृति द्वारे स्त्रीष्व स्त्री (गी १८ ६९ २ ६) - और मनुष्यी कहते हैं कि बस्तान् इन्द्रियप्राप्तो विद्वामयि कर्त्तति (मनु ३ २१५) - विश्वाना को गी इन्द्रियों अपने वश में कर लती हैं । कर्मयोगकर्मणिका एवं भी निष्पत्र यही है । क्योंकि जब ऐसा मान जिया जाय कि मनुष्य के मन ऐसे सब प्रेरणाएँ पूर्वकों से ही सत्पत्त होती हैं तब तो यही अनुमान करना पाया है कि उसे एक कर्म से बूझर कर्म म अर्थात् सैव मनचक्र म ही रहना चाहिये । अधिक न्या कहे । कर्म से सुखारा पाने की प्रेरणा और कर दोना जाते परस्परिष्ठ है । आर यदि यह सत्य है तो यह आपत्ति आ पड़ती है कि शन प्राप्त करने के लिये कार्य भी मनुष्य स्वयन्त्र नहीं है । इस विषय का विचार अध्यामध्याक्ष में इस प्रसार किया गया है कि नामरूपात्मक यारी इस्तराहि का आचारभूत ये तत्त्व है यही मनुष्य की बदलूँ मेरी निकास करता है । "सुसे उसके हृत्यों का विचार ऐह और आत्मा दोनों की इष्टि से करना चाहिये ।" नमे ए आत्मस्वस्पी ब्रह्म मूल म केवल एक ही होने के ब्रह्म कमी नी परत न नहीं हो सकता । क्योंकि किसी एक बलु को बूझर की अधीनता म होने के लिये एक से अधिक - कर्म-से-कर्म दो - बलुओं का होना निरान्त आवश्यक है । यहों नामरूपात्मक कर्म ही वह बूझते बलु है । परन्तु यह कर्म अनिष्ट है और मूल मे वह परब्रह्म की जीव्य है । किसे निर्विद्या उसके होता है कि यथापि उसने परब्रह्म के एक अश्व को आनन्दवित कर दिया है तथापि वह परब्रह्म के अपना गत कमी भी करा नहीं सकता । इसके अतिरिक्त वह पहले ही ब्रह्माया का तुक्ष है कि वो आत्मा कर्मशूष्टि के व्यापारों का एकीकरण करके सुशिष्यन उत्पन्न करता है उसे कर्मशूष्टि से भिन्न अर्थात् ब्रह्मशूष्टि का ही होना चाहिये । "सुसे उसके होता है कि परब्रह्म और उसीका अप्य शारीर आमा दोना मूल मै स्वलक्ष्म अर्थात् कर्मात्मक प्रहृति की सका से मुक्त है ।" नमे से परमात्मा के विषय मै मनुष्य को "सुसे अधिक हान नहीं हो सकता कि वह अनन्त सुर्वम्यापी नित्य द्वाद और मुक्त है । परन्तु इस परमात्मा ही के अशुद्धप बीबात्मा की बात मिल है । यथापि वह मूल मै द्वाद मुष्टस्वमाव निर्मुक्त रुप अकृता है तथापि शरीर और कुदि आदि निर्विद्या के कन्दन मै कैछा होने के बाबत वह मनुष्य के मन मै जो सूर्ति उत्पत्त करता है उसका प्रत्यक्षानुमत्वापी रुप हमें ही सकता है । भाव का उश्वरण लीजिये । बन वह कृष्णी कण्ठ मै रहती तब उसका दूष और नहीं जाना परन्तु वह बन किसी कर्त्तन मै कठ कर ही जाती है सब उसका दशव तत्त्व बनने पर जैर से होता हुआ दीर्घ पालने लगता है । और

ही। यीँ यही श्वा होती। इसलिये अव्यालगाम के सुचिवात से मी यही चिठ्ठ होता है, कि ब्रह्मस्वरूप का ज्ञान (अधार ब्रह्मालगाम का तथा ब्रह्म की अस्तित्व का ज्ञान) प्राप्त करके उसे मृत्युपयन्त्र मिहर रखना ही कमपाप्य से मुक्त होने का सबा माग है। गीता में महावान् ने मी यही कहा है कि अमों में मेरी कुछ मी आस्ति नहीं है “सुलिये मुझे कम का कमन नहीं होना — और उस उत्तर का समझ जाए है कह कमपाप्य से मुक्त हो जाता है। (गी ४ १४ तथा १३ २३)। स्मरण रहे, कि यहीं ‘अन’ का अप केवल शान्तिक ज्ञान या कष्टमानसिक निया नहीं है किन्तु वह समय भार यन्मेष स्थान में उत्तमा अप पहले मानसिक ज्ञान होने पर (और पिर इन्द्रियों पर बद्य प्राप्त कर लेने पर) ब्रह्मीभूत हान की अवस्था या ब्राह्मी स्थिती ही है। यह उत्तर वेगन्तमूर के शास्त्रमाप्य के भारम्भ ही न कही गई है। पिछले प्रकरण के अन्त में ज्ञान के समक्ष म अव्यालगाम का यही चिठ्ठान्त फलनाया गया है। और महामारुत में मी बनने ने मुक्त्यु से बहा है कि— ज्ञेन कुस्ते यन यनेन प्राप्तते महत् — ज्ञान (अधार मानसिक नियात्मी ज्ञान) हा ज्ञान पर मनुष्य यत्न खरना है और घन के इन माग से ही अन्त म उस महरम (परमेश्वर) प्राप्त हो जाता है (शा ३ ३)। अव्यालगाम “हना ही बृहस्पा सुकृता है कि मात्रायामि के लिये किसी माग से भार कहों जाना चाहिये। “मुझे अधिन वह नार कुछ नहीं करना सकता। शाक से य यत्न घन कर प्रयत्न मनुष्य को शास्त्रोन माग से स्वयं भाग ही बदला जाहिये। और उस माग में ज्ञान की मां आधार है। उह निशाष कर व्यवना रात्मा शूद्र साक कर देना चाहिये। एव उसी माग म वस्त्रे एव स्वयं घनने प्रयत्न से ही अन्त मैं इयेयस्मृ की प्राप्ति कर देनी चाहिये। परन्तु यह प्रयत्न मी पातुकुलयाग अव्यालगिचार, जिन कमक्षम्याग अन्तार्म अनेक प्रकार से किया जा सकता है (गी १० ८-९) वार इह कारण मनुष्य ब्रह्मा उत्तम म र्वेष जाता है। “मीलिय गीता म पहले निष्कामक्षम्याग का मूल्य माग ब्रह्मया गया है भार उम्मी चिठ्ठि के लिये एव अव्याप्य म यमनियम भासन-प्राणायाम प्रसाहर भारजा घ्यन-समाधिष्ठ अहभूत साधना का मी बणन किया गया है तथा भाग ब्रातव अव्याप्य म यह ब्रह्मया है कि द्येष्याग का भोपरण करते रहने से ही परमेश्वर का ज्ञान अव्यालगिचार-हात अपका (मुझे मी सुखम रीति से) यकिमाग आए हा जाता है (गी १८ ५६)।

कमस्वरूप से धूमपाप होने के लिये उम अह देना कान ठकिन माग नहीं है किन्तु ब्रह्मामस्वज्ञान से कुछि का शुद्ध के करते परमेश्वर के सुमान भास्तरण करते रहने से ही अन्त म मात्र निष्कृता है। कम का आह देना भरू है। क्याहि कम दिनी से दूर नहीं उठता — “त्याहि जात व्यापि व्यापि व्यव निर्विवात चिठ्ठ हा गइ तथापि यह पहले का यम विर मी उठता है कि क्या न्म मत्ता म उपस्थिता पान के लिये भास्तरण ज्ञनयामि का उपयत्न बदला पाना है वह मनुष्य के पद में है।

मिला किसी उपराखि के बदल प्रस्तुतिह कह कर इस बात से भवस्य मानवा है, कि प्रमल से मनुष्य अपने आचरण और परिस्थिति से सुधार सकता है।

यद्यपि यह चिन्ह हो कुछ, कि कर्मयात्रा से मुक्त ही कर एवंभूतान्तर्गत एवं आत्मा को पहचान लेने की से आप्यात्मिक पूर्णवस्त्वा है उसे प्राप्त करने के लिये ब्रह्मातैन्यस्थन ही पक्षमात्र उपाय है और इस ज्ञान का ग्रास कर ज्ञा हमारे अधिकार की बात है। दधारि भरण रहे कि यह स्वतन्त्र आनन्दा मी अपनी अटी पर छोड़ दुए प्रहृति के दोष को एवं अर्थम् अर्थात् एक ही सूज म अख्या नहीं कर सकता। ऐसे कोई अरीगर जितना ही कुशल क्षो न हो परन्तु वह हमें यारो के मिला दुष्कर्म नहीं कर सकता। और यदि हथिकार एवं हो तो उन्हें ठीक करने भै उसका बहुत-सा समय नहीं हो जाता है। वैसा ही जीवात्मा का मी हाथ है। ज्ञानप्राप्ति की प्रेरणा करने के लिये जीवात्मा स्वतन्त्र दो अवस्थ हैं परन्तु वह तात्काल हाइ से मूल म निर्गुण और बदल है। अवश्या चाहते प्रसरण में कल्याण अनुसार नेत्रसुक्ष परन्तु चेष्टा है। (मैथ्यु, ३ २ १ गी ११ २)। "सुलिये उक्त प्रेरणा के अनुसार कम करने के लिये किन साधनों की आवश्यकता होती है (ऐसे दुमार को जाक भी आवश्यकता होती है) के इस आत्मा के पास स्वयं अपने नहीं होते - जो साधन उपलब्ध है (ऐसे देह और शुद्धि आदि अन्तिर्यामी) व सब मायालक्षण प्रहृति के किन्त्रि हैं। अवश्य जीवात्मा को अपनी मुद्दि के लिये मी ग्रामस्कल्मानुसार ग्रास देहन्दिय आदि राम्भी (साधन या उपाधि) के द्वारा ही सब काम करना पड़ता है। इन साधनों म दुष्कृति मुक्त्य है। "सुलिये दुरु काम करने के लिये जीवात्मा पहले दुष्कृति का ही प्रेरणा करता है। परन्तु पूर्वकर्मानुसार और प्रहृति के समावानुसार यह कार्य नियम नहीं कि यह दुष्कृति हमेण्या शुद्ध तथा उचित ही हो। इसलिये वह लियुकात्मक प्रहृति के प्रपञ्च से मुक्त हो कर यह दुष्कृति अस्तमुख शुद्ध तात्काल या आत्मनिष्ठ होनी चाहिये। अर्थात् वह दुष्कृति पेशा होनी चाहिये कि जीवात्मा की प्रेरणा के माने उठकी भाष्य का पालन करे और उन्हीं कर्मों को करने का निष्पत्ति कर किंसे आनन्दा का कर्याण हो पेशा होने के लिये अपेक्षित तर्फ पैराम्य का अन्याय करना पड़ता है। "तना होने पर मी भूत प्यास भारि देहस्म भार उद्दित करा के ते पछ - किनका मौगला भारम्य हो गया है - मृदुसम्पर्त तरु पृते ही नहीं। तात्पत्य वह है कि यद्यपि उपाधिम् जीवात्मा देहनिर्यो को मोभानुकूल कम करने की प्रेरणा करने के लिये स्वतन्त्र है तथापि प्रहृति ही के द्वारा दुष्कृति उसे सब काम करने पड़ते हैं इसलिये उठने भर के सिव्य (कर्द दुमार आदि शरीरगता के समान) वह पराकर्षम् हो जाता है और उसे देहनिर्य आदि हथिकारों का पहचे शुद्ध करने अपने अधिकार में कर लेना पड़ता है (३ ८ २ १ ४)। वह काम एवं अर्थम् नहीं हो जाता। इसे भीरे भीरे बख्ता।

इसी तरह जब परमामा का ही अद्भूत चीज़ (गी ५ ७) अनादि पूर्वकर्माद्विन  
जब दह तथा इनिदियों में कष्टना से कदम हो जाता है तब इस बद्धावस्था से उसको  
मुक्त करने के लिये (मात्सानुद्गुण) कम करने के की प्रहृति देहनिदियों में होने चाही  
है और इसी को भावहारिक दृष्टि से आमा की स्वतन्त्र प्रहृति कहते हैं।

भावहारिक दृष्टि से कहने का कारण यह है कि शुद्ध मुक्तावस्था में या तात्त्विक  
दृष्टि से आमा अभ्यर्हित तथा अकर्ता है — तब कर्त्त्व क्षमता प्रहृति का है  
(११८ वे सूचा मा २ १४)। परन्तु ऐशान्ती अग साक्ष्यमत भी भौति  
यह नहीं मानते कि प्रहृति ही स्वयं मोक्षानुद्गुण कम किया करती है क्योंकि पेशा  
मान खेले स यह कहना पोछा कि जटप्रहृति अपने अवेषन से अभ्यनिदियों का भी  
मुक्त कर सकती है। और यह मी नहीं कहा जा सकता कि जो भावमा मूल ही में  
अकर्ता है वह स्वतन्त्र रीति से — अर्थात् किना किसी निमित्त के — अपने नैसर्गिक  
शुद्धा से ही प्रकर्त्ता हो जाता है। अस्तित्व आमस्वातन्त्र्य के उक्त सिद्धान्त और  
ऐशान्तव्याज्ञ में यह प्रकार क्षुलाना पाता है कि भावमा यथापि मूल में अकर्ता हैं  
दधापि क्षमता के निमित्त से वह अतन ही किंवदं विराक्ष प्रेरक कम जाता है और  
वह यह भावनुक प्रेरकता उसमें एक बार किसी भी निमित्त से आ जाती है तब  
यह कर्म के नियमों से किस अर्थात् स्वतन्त्र ही रहती है। स्वातन्त्र्य का अप्य  
निमित्तिक नहीं है और भावमा अपनी मृद शुद्धावस्था में रहा भी नहीं रहता।  
परन्तु बार बार यह अमीर्चीही क्षमत्या को न करता हो रह कर इसी का संक्षेप में  
भावमा की स्वतन्त्र प्रहृति या प्रेरणा कहने की परिपाठी हो गई है। क्षमता में पढ़ने  
के कारण भावमा के द्वारा इनिदियों का मिलनवाली स्वतन्त्र प्रेरणा में और व्याप्तिक  
के पड़ावों के स्थान स इनिदियों में उत्पन्न होनवाली प्रेरणा में व्युत्पन्न होता है।  
याना पीना बैन करना — ये सब सब इनिदियों की प्रणार्थ हैं। और भावमा की  
प्रेरणा भोजानुद्गुण कर्म करने के लिये शुद्धा करती है। पहस्ती प्रेरणा के क्षमता व्याप्ति  
अर्थात् क्षमसृष्टि की है। परन्तु दूसरी प्रेरणा भावमा की भयान् व्याप्ति की है।  
और ये दोनों प्रेरणार्थ प्रायः परस्परक्षितीपी हैं किंसु अन के ज्ञाने में ही मनुष्य की  
एव भावु दीन जाती है। अनुकूल के समय कम मूल में सम्भव उत्पन्न होता है उक्त  
क्षमसृष्टि की प्रेरणा को न मान कर (माग ११ १ ४) यहि मनुष्य शुद्धात्मा की  
स्वतन्त्र प्रेरणा के अनुसार चलने चाहे — और इसी का तथा भावमान वा आत्मनिदिय  
कहन ह — तो इसक तरह अवहार स्वतन्त्रता मात्सानुद्गुण ही होगा। और मन्त्र म —

रिद्वुद्धप्रमा शुद्धेन दुर्देव च म दुर्दिमाद् ।

प्रमहात्मा च मदनि ममस्य दिमहात्ममा च

स्वतन्त्रव्य द्वितीय द्वितीयमपान्तुते ।

यह शीरामा या शारीर भावमा — ये मूल में स्वतन्त्र हैं — एसे परमामा में निष्ठ  
जाता है जो नित्य शुद्ध दुर्द निमल और स्वतन्त्र है (म मा शा १ ८

२७—३ )। उपर थे कहा गया है कि शन से मोक्ष मिलता है, उसका वही मर्यादा है। इसके विपरीत वह इन्द्रियों के प्राहृत् पर्व की — अर्थात् कमसुद्धि की मेरण की — प्रकृत्ता हो जाती है वह मनुष्य की अधोगति होती है। अतीर में ऐसे तुरंत चीजात्मा में ऐन्द्रियों से मोक्षानुरूप कर करने की तथा ब्रह्मात्मेकमश्चन प्रोत्तु ते प्राप्त कर सके की जो यह स्वतन्त्र शक्ति है उसकी ओर ध्यान है कर ही मरण ने भर्तुन का आत्मस्वातन्त्र्य अर्थात् स्वाक्षरमक्तन के तत्त्व का उपलेख किया है कि —

उद्धरेद्वामनाऽऽमानं जात्मानमवसादयेत् ।

मात्मेव द्वामनो बन्धुरात्मेव रिपुरात्मनः ॥

मनुष्य को चाहिये कि वह अपना उद्धार आप ही करे। वह अपनी अस्तित्व आप ही न करे। योंकि प्रथम मनुष्य स्वयं अपना बन्धु (हितकारी) है और स्वयं अपना शत्रु (नाशकर्ता) है (गी ६ ५) और इसी बन्धु से पोक्षणिष्ठ (२ सर्ग ४-८) में ऐसा का निराकरण करके पौरुष के महात्म का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। ये मनुष्य इस दास का पहचान कर आचरण किया करता है कि सब प्राणियों में एक ही आत्मा है उसी के आचरण को सदाचरण या मोक्षानुरूप आचरण कहते हैं। आरं चीजात्मा का भी यही स्वतन्त्र भम है कि देसे आचरण ही ओर ऐन्द्रियों को प्राप्त किया करे। इसी भम के कारण तुरात्मारी मनुष्य का भर्तु वरण मी सदाचरण ही की तरफ़कारी किया करता है कि उसे अपने मिये तुरंत दुष्टमों का पश्चाचाप होता है। आधिकैवत पर्म के परिष्ठित इसे सदस्तियेऽनुप्रिष्ठी देखता ही स्वतन्त्र रक्षित कहते हैं। परन्तु तात्पिक हाथि से विचार करने पर विचित्र होता है कि बुद्धीन्द्रियों का प्रहृति ही का विचार होने के कारण स्वयं अपनी ही मेरण से भम के निषमन्तरनों से मुक्त नहीं हो सकती। वह प्रणा उसे कमसुद्धि के पाहर के आत्मा से प्राप्त होती है। यसी प्रकार परिष्ठी परिष्ठता का 'इच्छात्मात्मनः' पर्म मी वैदान्त की हाथि से दीर्घ नहीं है। योंकि इच्छ मन का भम है। अति भाव्यं प्रसरण में कहा जा चुका है कि बुद्धि सभा तुम्ह साध भाष मम मी अमी रमल वह प्रहृति के भस्त्रपदेव विचार है। इतनिय ये दानों स्वयं आप ही भम के कर्पन से पूर्ण नहीं लकड़े। भतपद वेशनशास्त्र का निष्पत्ति ८, कि सभ्य स्वसम्मय न तो मुद्दि का है भर्त न मन का — वह कवच न भासा है। वह स्वतन्त्र मन तो भासा को बाँट देता है और न बोइ उसम लैन लकड़ा है। स्वतन्त्र परमात्मा तो भगवान्य त्रीजायमा उप उपाधि के द्वयम म पह जाता है सब वह स्वयं स्वतन्त्र रीति भ उपर बढ़ धनुलार बुद्धि तथा मन म प्रेणा किया करता है। भस्त्रपद वी इन प्रणा का भनात्म वरव बाँट दात वरणा तो यही कहा जा लकड़ा है कि वह स्वयं भरने पिता म ताप तुम्हारी मारन का नियार है। भागवतिना मैं इनी तत्त्व का उद्देश या किया गया है न दिनस्वरमनामानम — ता स्वयं भासा पाए भास ही नहीं

चाहिये। नहीं तो घमणे और भड़केकाले शेषे के समान अन्तियों कटपा करने यमगी आर मनुष्य को पर बदलेंगी। असीसिये मात्रान ने कहा है कि इन्द्रिय निमह करने के लिये बुद्धि का धृति या धैर्य की सहायता मिथ्यी चाहिय (गी ६ २) और आगे ज्ञानरहने अ याय (१८ ३३-४) में बुद्धि की भौति धृति के मी-सात्त्विक रास्ते आर तामस - तीन नसरिंग्ह में कठबाय गय है। इनम से तामस और गमस को छोड़ कर बुद्धि का सात्त्विक कानन के लिये अन्तियनिप्रह करना पाया है। और असी से छन्दे अन्याय म इसका मी संक्षिप्त वर्णन किया है कि एसे इन्द्रियनिप्रहात्मात्वरूप योग के लिये द्वितिय स्थल आसन और आहार कान कीन-से हैं। यह प्रकार गीता (६ २८) में बताया गया है कि शुन भने अमास करने पर खिच मिर हो जाता है अन्तियों बश म हो जाती है और आग झुल समय के बार (एकदम नहीं) ब्रह्मात्मक्यहान होता है। एवं फिर आत्मकन्त न अमागि निबन्धनि भनक्षय - दस ब्रह्म से कमज़बन दृढ़ जाता है (गी ४ ३८-४१)। परन्तु मगानान् एकान्त म योगात्मास करने का उपाय नहै (गी ६ १)। असं गीता का तात्पर्य यह नहीं समझ द्वाना चाहिय कि ससार के कुर मवहारों को छोड़ कर योगात्मास म ही सारी व्यायु किया दी जाय। किंतु प्रकार कोइ भ्यापारी अपन प्याय की रूपी से ही - जाहे वह बात थाही ही ख्या न हो - पहले भीर भीर भ्यापार करने सकता है और उसके इतर अत्त में भ्यापार सम्पति कमा सकता है उसी प्रकार गीता के कर्मयाग का मी हाल है। अपन से किन्तु हो सकता है उन्होंना ही इन्द्रियनिप्रह करके पहले कर्मयाग को शुभ करना चाहिये भार असी से अन्त में अधिकाधिक इन्द्रियनिप्रहसाम्प्य प्राप्त हो जाता है। तथापि औराह में ऐड कर मी योगात्मास करने से काम नहीं पहल सकता। क्याहि असे बुद्धि की एकाप्रता की ओर आग झुल होगी उसके पट जाने का नय होता है। एसकिये कर्मयाग का भावरण करते हुए झुल समय तक नित्य या कमी कमी एकान्त का लेकन करना मी भावस्थक है (गी १३ १)। असके लिये उत्तार के समस्त मवहारों को छोड़ देने का उपर्योग मगान् ने कही मी नहीं किया है अमुत वातारिक मवहारों का निष्कामबुद्धि प करने के लिये ही इन्द्रिय निप्रह का अस्यास क्षमताया गया है। और गीता का यही वर्णन है कि अ इन्द्रियनिप्रह के ताप साव वधाएकि निष्कामकर्मयोग का यही भावरण प्रत्येक मनुष्य को हमेशा करते रहना चाहिये। पृथ इन्द्रियनिप्रह के लिङ्ह होने तक यह देखने के नहीं रहना चाहिये। मैम्पुपनिप्रह में और महामारत मै वह गया है कि यही कोर मनुष्य बुद्धिमान् और निप्रही हो तो वह एस प्रकार के पोगात्मात्व से छः महिने म ताम्पुड्डि यात कर रहना है (मै ६ ८१ मा गा २१-२२ अध भनुगीता २ १९)। परन्तु मगान् ने किंतु वातिह तम या भास्मनिप्र बुद्धि का वर्णन किया है वह बुत्ते खेगों को छः महिने मे-

२७-३ )। उपर बो कहा गया है कि इन से मोक्ष मिलता है, उसका यही मर्म है : “सेवे विपरीत चर चर निद्रियों के प्राहृत चर्म वी – अर्थात् कर्मसुष्ठुपि की प्रेरणा वी – प्रमाण्या हो जाती है तब मनुष्य की अधोगति होती है। शरीर में ऐसे हुए चीजाएँ मैं ऐहेन्ड्रिया से मोक्षानुदृत करने की विधा ब्रह्मात्मक्यव्याप्ति मोक्ष से प्राप्त कर सके वी या वह स्वरूप इकिं है उसकी ओर ध्यान है कर ही मात्राद् ने अक्षुन दो भालम्ब्यात्मन्य अर्थात् स्वावसम्भव के दल का उपाय किया है, कि ।-

उद्धरेदायमाऽऽमानं नामानमवसाद्येत् ।

आर्मीव द्यात्ममो च पुरास्मेव रिपुरामनः ॥

मनुष्य को पाहिये कि वह अपना उदार आप ही करे। वह अपनी अपनायी आप ही न कर। स्पाकि प्रत्यक्ष मनुष्य स्वयं अपना कु (हितकारी) है और स्वयं अपना शुतु (नाशकर्ता) है (गी ६ ८) और इसी हेतु से योग्यताप्रिया (२ सग ४-८) में ऐस का निराकरण करके पीड़िय के महात्म का विलापपूर्वक वर्णन किया गया है। जो मनुष्य इस दल को पहचान कर आचरण किया करता है तो सद्ग्राहियों में एक ही भात्ता है, उसी के आचरण को लगाचरण या मोक्षानुदृत आचरण कहते हैं। और जीवात्मा का यही स्वरूप भम है, कि एसे आचरण वी भार ऐहेन्ड्रियों को प्रहृत किया करे। उसी घम के कारण तुरानारी मनुष्य का भन्ता करण भी सआचरण ही भी तुरफारी किया करता है जिसमें उस अपने विच हुए दूषकर्मों का पश्चात्ताप होता है। भापित्वदत पथ के पश्चित् इस उत्सविभेदतुर्द्विष्टी देवता की स्वरूप रूप्ति बहुत है। परन्तु तात्त्विक हृषि से विचार करने पर विचित्र होता है कि दुर्धीभित्रिया च प्रहृति ही का विचार होने के कारण सब अपनी ही प्रेरणा से कर्म के निष्पमनभन्नी से मुक्त नहीं हो सकती। यह प्रेरणा उसे कर्मसुष्ठुपि के बाहर क आग्ना ये प्राप्त होती है। “सी प्रकार पश्चिमी पश्चिमा का ‘इष्टात्मानन्दर्थ’ एवं भी बगान भी दृष्टि से द्यौर नहीं है। स्वयंकि इष्टप्र मन का घम है। और भाद्रप्र प्रसरण म बहा या चुरा है ति तुक्ति तप्ति भास्तव्य भाप ही कर्म से अपन से गूर्ह नहीं बरत। भत्तव्य बेगानलगाम्य का निष्पत्ति है, कि उपर भवत्तव्य न तो तुक्ति का है भर्त न मन का – पह करत रहन का है। यह स्वात्मक्य न तो भासमा की बात नहीं है तीर न बौद्ध उत्तम लीन सकता है। उत्तम परमामा का निष्पत्ति दीक्षा का रूप उपाधि क स्वरूप म पट गाता है तब वह स्वयं स्वत्तम रीति ग उत्तर क भन्तार पृष्ठि विधा मन म प्रेरणा किया करता है। अगत वरम की इन प्रेरणा का अमात्म वरह काह दात बरगा तो पहीं बहा ज नक्ता है ति वह स्वयं स्वयं पृथग् ग गत वृद्धारी मरन का तप्तव है। भावरीता मैं दीनी तप्त का दोषरा या किया गाता है न दिनम्यामना मानम् । – ग भव भासमा पात भाप ही नहीं

करता, उसे उच्चम गति मिलती है (गी १३ २८) और दासताव में भी इसी का स्वप्न अमुकार किया जाया है (दा बो १७ ७ ३-१)। यद्यपि श्रीग पड़ता है कि मनुष्य कमसुखि के भवेत् नियमों से छक्कर कर भेंता हुआ है, तथापि स्वभावतः उसे ऐसा मात्रम होता है कि मैं किसी वाम का स्वतन्त्र रीति से कर छेंगा। अनुभव के “स तत्त्वं की उपपत्ति उपर कहे अमुकार ब्रह्मसुखि का चर्म सुखि से मिल माने किंतु किसी भी भव्य रीति से नहीं करताह ता सक्षी। इससिय जो भव्याभगात्म को नहीं मानते उन्हें “स विषय में या तो मनुष्य के नित्य दासत्व की मानना प्याहिये पा प्राप्तिक्षात्वात्मन्य के प्रभ का अगम्य समझ कर याही छोर देना प्याहिये उनके सिंघ को” उत्तरा भाग नहीं है। अहंत भेदान्त का यह चिदान्त है कि शीकात्मा और परमामा मूल में एकम्य है (दे ग ३ १ ४)। और “सी सिद्धान्त के अमुकार प्राप्तिक्षात्वात्मन्य या अक्षाम्यात्मन्य की उच्च उपपत्ति ब्रह्मद गत है। परन्तु किंहै यह अर्थ मत मान्य नहीं है अपवा ओ मकि के हिये इन का स्वीकार किया करते हैं उनका कफ्न है कि शीकामा यह सम्भव्य रूप उत्तरा नहीं है। अतिथ यह उसे परमधर्म से प्राप्त होता है। तथापि न उक्त भाम्यात्म सम्भाय देता।” (कृ. ४ ३३ ११) - यहाँ तक प्रवल करनवाले मनुष्य के अनिरिक्ष भव्य को अवशा लाग मर्य नहीं करते - अतिथ के “स उत्तामुकार पह कहा जाता है कि शीकामा को यह सामर्थ्य प्राप्त करा दन क सिंघे पहसु स्वय ही प्रयत्न करना प्याहिय - अथात आत्मप्रयत्न का और पवाय मे भाम्यात्मन्य का तत्त्व फिर मी स्विर ज्ञा ही रहता है (दे ग ३ ४३ ४२ गी १ और २)। अतिथ क्या कहे ? शीदधर्मी स्वेच्छा आमा का या परज्ञ का भनित्व नहीं मानत भार यद्यपि उनका अप्रहरण तथा भाम्यान मान्य नहीं है तथापि उनका धमप्रभाम यही उपरेत्तु किया गया ह कि अक्षना (आम्ना) ज्ञायन्द्यन - अपने आप का स्वय अपने ही प्रयत्न से राह पर ल्याना प्याहिय। इस उपरेत्तु का समर्थन करने के लिये कहा गया ह कि -

अक्षा (आम्ना) हि अक्षनो वायो अक्षा हि अक्षना यति ।  
तम्मा तक्षमपउत्तारी अम्मे (भार्द) भाइ व धागिजा ॥

हम ही मूढ़ अपने स्वामी था मात्रिक ह भार आमा के मिला हम तारनेकाम दूसरा ता नहीं है। “सुसिय किस प्रकार का” व्यापारी अपन उत्तम घोरे रा उपरेत्तु करता है उसी प्रकार हम अपना तप्यमन भाप ही वर्धि मात्रि करना प्याहिय” (परम्परा ३८)। भार शीका की मात्रि भाम्यात्मन्य के अनित्य वृषा उनकी भावम्यवता का मी बनन किया गया है (डेना महापरिनिष्ठाम-मुनि २ १३-१५)। आविर्भूतिक वृन्द परिन्त बीट की मी गणना नमी बग मे करनी प्याहिये। क्षयादि बन्धरि वह किसी भी भव्याभगात्म का नहीं मानता तथारि वह

किना किसी उपपति के बेल प्रत्यक्षिद् कह कर इस बात को अवस्थ मानता है कि प्रयत्न से मनुष्य अपने आचरण और परिवर्णन की मुख्य उपत्यका है।

वद्यपि वह सिद्ध हो चुका कि कर्मयोग से मुक्त ही कर सर्वमृतान्वयत् एक भाल्मी क्षमतान वही एकमात्र उपाय है और इस बात की प्राप्ति करने के लिये ब्रह्मात्मीक्षमतान ही एकमात्र उपाय है और इस बात की प्राप्ति करने के लिये अभिकार की बात है। तथापि ग्रन्थ इह कि यह स्वतन्त्र भाल्मी भी भल्ली छाती पर स्टैंड गूप्त प्रहृति के बोझ को पकड़म भर्यांत् एक ही तर्ज म अम्भा नहीं कर सकता। ऐसे कोई कारीगर कितना ही कुशल क्यों न हो, परन्तु वह हवि यारों के किना कुछ काम नहीं कर सकता। और यहि हयियार परम ही ही उन्ह ठीक करने में उसका बहुत सा समय नहीं हो जाता है। ऐसा ही शीघ्रता का भी हाल है। हानप्राप्ति की प्रेरणा करने के लिये शीघ्रता स्वतन्त्र तो अवस्थ है परन्तु वह तात्काल हवि से मूल म निर्गुण और बेल है। अपना दार्त्ये प्रकरण म अवश्यक अनुचार नेत्रमुक्त परन्तु छंगाय है। (मैम्पु. १ २ ३, गी १८० २)। “सुखिये उक्त प्रेरणा के अनुचार कर्म करने के लिये किन सामग्री की आवश्यकता होती है (ऐसे कुम्हार को खाक की आवश्यकता होती है) के इस आध्यात्मा के पास स्वयं अपने नहीं होते — ये सामग्र उपकरण है (ऐसे देह और बुद्धि आदि अन्तिर्यों) वे सब मायामक प्रहृति के किनार हैं। अतएव शीघ्रता की अपनी मुक्ति के लिये भी प्रारम्भकर्मानुचार प्राप्त ऐहेन्द्रिय भावि सामग्री (सामग्र या उपायि) के द्वारा ही सब काम करना पड़ता है। इन सामग्री ने बुद्धि भूम्प है। “सुखिये कुछ काम करने के लिये शीघ्रता पहले बुद्धि को ही प्रेरणा करता है। परन्तु पूर्कमानुचार भाव और प्रहृति के स्वमानानुचार वह ऐसे नियम नहीं कि यह बुद्धि हमेषा शुद्ध तथा शारिरक ही हो। “सुखिये पहले किन्युगामक प्रहृति के प्रपञ्च से मुक्त हो कर यह बुद्धि अन्तर्मुख शुद्ध शारिरक या आत्मनिष्ठ हीनी जाहिये। अर्थात् वह बुद्धि पेसा हीनी जाहियि नि शीघ्रता की प्रेरणा को माने उसकी भाव्य का पालन करे आर उन्हीं कर्मों को करने का नियम कर किनसे भाल्मी का कायाज हो पड़ा होने के लिये गीर्वाच तक ऐराय का अस्याद् करना पड़ता है। “उन्हा हीने पर भी भूर यास आदि ऐहस्म और उक्तिकर्म के वे पद्म — किनका गोगना भारम्भ हो गया है — द्युमुखमय उक्त हृत्ये ही नहीं। तात्पर्य यह है कि वद्यपि उपायिन्द्र शीघ्रता ऐहेन्द्रियों की मोक्षानुकूल काम करने की प्रेरणा करने के लिये स्वतन्त्र है तथापि प्रहृति ही के द्वारा जूँकि उसे सब काम करने पड़ते हैं इसलिये उतने मर के लिये (अर्द्ध कुम्हार भावि कारीगर के समान) वह परमदम्भी ही जाता है और उसे ऐहेन्द्रिय भावि हयियारों को पहले शुद्ध करके अपने अधिकार मे कर सका पड़ता है (पृष्ठ १ ४ १ ४)। यह काम पक्षम नहीं हो सकता। “उसे भीरे भीरे करना

चाहिये। नहीं तो उमस्तुति भीर महान्देवाले भोगे के समान "निर्विर्यो फलवा करन अमासी भीर मनुष्य को पर रखा करी।" न्सीनिये मात्रान ने कहा है कि निय नियन्त्रण के लिये बुद्धि की शृंति या धर्य की सहायता मिस्ट्री चाहिये (गी ६) और आगे अटाएँ अन्याय (१८ ३३-३८) में बुद्धि की भौति शृंति के भी-सास्त्रिक राष्ट्र, आर तामस - तीन नैयरिक भेद धर्याय गये हैं। "नम से तामस भीर राष्ट्र को छोड़ कर बुद्धि का सास्त्रिक ज्ञान के लिये इन्द्रियनियन्त्रण करना पस्ता है। और न्सी से छप अन्याय में उसका भी सहित बगन किया है कि ऐसे इन्द्रियनियन्त्रणायामध्ये योग के लिये उचित स्थल, आसन और आहार कीन कोन से हैं?" यह प्रकार गीता (६ ८) में घटाया गया है कि गीता: गीता अभ्यास करने पर जिन स्थिर हो जाता है इन्द्रियों वश में हा जाती है और भागे बुद्धि समय के बार (एकम नहीं) भग्ना मन्त्रज्ञान होता है। एब फिर आमन्त्रन क्रमाग्नि निवासित भनकृत्य - दस ज्ञान से क्रमक्रमन दूर जाता है (गी ४ ४८-४९)। परन्तु मात्रान एकान्त में योगाम्यास करने का उपदेश भेट है (गी ६ ९) "सम गीता का ताम्य यह नहीं उमस्तुति द्वारा चाहिये कि सकार के लम्ब अवश्यारो का ऊर्जा कर योगाम्यास में ही सारी आयु दिया गी जाए।" जिस प्रकार कार्य अभ्यासी अपने प्यास की दैर्घ्य से ही - जाई वह बहुत यारी ही क्या न हो - पहसे भीर रीत अभ्यास करने लगता है और उसके द्वारा अन्त म अभ्यास समर्पि द्वारा ज्ञाता है उसी प्रकार गीता के कर्मयोग का भी हाल है। अपने से किनारा हो जाता है उतना ही इन्द्रियनियन्त्रण करने के पहले अभ्यास को शुरू करना चाहिये भार न्सी से अन्त म अधिकारित इन्द्रियनियन्त्रणामध्ये प्राप्त हो जाता है। तथापि दीराहे में भै कर भी योगाम्यास करने से काम नहीं लग सकता। स्वार्थि "उसे बुद्धि को एकान्त की ओ भाइत्य हुए होगी उसके पर जाने का मय होता है।" इसलिये अभ्यास का भाइरण करते हुए कुछ उमय तक निय पा करी भी एक एकान्त का सेवन करना भी भाइरण है (गी १३ १)। "एक लिय सकार के लमस्त अवश्यारो को छोड़ देने का उपदेश मात्रान ने कही भी नहीं दिया है प्रमुख तात्त्वारिक अवश्यारो का निष्कामबुद्धि ये करने के लिये ही इन्द्रिय नियन्त्रण का भभ्यास ज्ञानापाद गया है। भीर गीता का पहीं बगन है कि इन इन्द्रियनियन्त्रण के द्वाय द्वाय द्वायाहिति निष्कामक्षमयोग का भी भाइरण प्रयेक मनुष्य को हमेषा करते रहना चाहिये। पृष्ठ इन्द्रियनियन्त्रण के लिय हीने तक यह दास्ते के नहीं रहना चाहिये। मैत्रुपनियन्त्र मैं भीर महामारत मे कहा गया है कि यहि कार मनुष्य बुद्धिमान् भीर नियही हो तो वह एस प्रार के योगाम्यास से उप महिने म भाष्यमुद्धि प्राप्त कर लक्ष्य है (मे १ २१; म भा. २३ ११ अथ भनुगीता १ ८६)। परन्तु मात्रान ने किं जारिग्न तम पा भाग्मनिय बुद्धि का उपन दिया है वह बहुतेरे लोग्य का उ. महिने मे

क्या उन वर्ष में मी प्राप्त नहीं हो सकती। और इस अस्यास के भाषण रह जन के कारण इस अन्म में तो पूरी सिद्धि हासी ही नहीं पल्लु दूसरा अन्म ले लर फिर मी शुरू से वही अस्यास करना पर्यग; और उस अन्म का अस्यास मी पूर्वान्म के अस्यास की मौति ही अधूरा रह जायगा। इसलिये ६ ह अप्प उत्तम होती है कि देखे मनुष्य का पूर्ण सिद्धि कमी मिल ही नहीं सकती। फलत ऐसा भी मालम होने जायता है कि कमयोग का आचरण करने के पृथक् पाठङ्गस्यास की लहायता से पूर्ण निर्विकल्प समाप्ति पहले सीधे देना चाहिये। अंकु ७ के सम म यही एक उत्तम शुरू थी और उसने गीता के छठे अध्याय (६ १४ - ११) म भीहृष्ण से पूर्ज है कि एसी दशा म मनुष्य को क्या करना चाहिये तो उत्तर म मालवान ने कहा है कि भामा अमर होने के आरण उस पर हिम्म द्वारा उस अन्म म यो योद्देश्यतु उस्कार होते हैं तो भागे मी यो के स्थीर रहते हैं; वर्षा यह 'योगभ्रष्ट पुरुष असात् कर्मयोग की पूरा न साध उसने कारण उससे भ्रष्ट होनेवाला पुरुष अगस्ते अन्म मे अपना प्रबल वही से शुरू करता है कि जहों से उसका अस्यास घट गया था। और देखा होते हैं कि क्य से अनेकान्मसिद्धत्वात् याति परा गतिम् (गी ६ ४५) — अनेक अन्मों मे पूर्ण सिद्धि हो जाती है एव अस्ति मे उसे माल प्राप्त हो जाता है। एसी सिद्धान्त का सम्पूर्ण करके दूसरे अध्याय मे कहा गया है कि स्वस्मवस्तु भमस्य आयते महतो मयात्। (गी २ ४) — उस अर्थ का अर्थात् कर्मयोग का स्वरूप आचरण मी वै वै उक्तों से कहा देता है। उत्तराय मनुष्य का आत्मा मूळ मे पश्चापि स्वतन्त्र है तथापि मनुष्य एक ही अन्म मे पूर्ण सिद्धि नहीं पा सकता। क्योंकि पूर्वान्मों के अनुचार उसे मिली शुरू होए का प्राहृतिक स्वामी अप्पत होता है। परन्तु इससे नालानमवमन्येत् पूर्वामिस्तमुद्दिष्टमि। (मनु ४ १३७) — किसी का निराश नहीं होना चाहिये और एक ही अन्म मे फरम दिक्षि पा जाने के शुरामह मैं पर वर पासङ्गात् योगाभ्यास मैं भर्त्यात् इनिष्टो का वर्त्यात्सी अमन करने मैं ही चर आयु तृष्ण यो नहीं इनी जाहिये। आत्मा का कोई सर्वी नहीं पड़ी है। कितना आज हो लो, उसन ही योगस्थ की प्राप्त करके कमयोग का आचरण शुरू कर देना चाहिये। उससे दीर दीर शुक्ति अभिना भिन्न चालिक तथा शुद्ध होती जायगी— और कर्मयोग स्वस्माचरण ही — नहीं, किष्यसा तक रह्य मैं कै तु पर मनुष्य की तरह भागे अनेकों दक्षसे अन्त म भाव नहीं हो क्य — इस अन्म मे नहीं हो भगवत् अन्म मै — उसके आत्मा के पूर्ण वृष्टि प्राप्ति करा देगा। इसीक्षिये मालवान ने गीता मै साकृ जहा ह तो कर्मयोग म एक विदेष गुण वह है कि उसका स्वस्म से भी स्वस्म आचरण कमी व्यर्थ नहीं होने पाता (गी ६ ४ पर इमारी दीका देखो)। मनुष्य का उचित है नि वह एक इसी अन्म पर व्याप्त है और धीरज के न लोड। दिनु मिष्टाम कर्म करने के अपने

चाहिये। नहीं तो चमकने और भासनेथाएँ पोटे के समान इन्द्रियों स्वल्पा करने व्यापी और मनुष्य को भर उठाकर्ती। न्सीसिय मालान् ने कहा है, कि नित्रिय निप्रह करने के लिये बुद्धि का शृति या क्षेय की उहायता मिळनी चाहिये (गी ६ २) और आगे अटारहवें अध्याय (१८ ३३-३) में बुद्धि की गति शृति के भी— सात्त्विक राष्ट्र स और तामस— सीन नैखिंगिर्में बहुत्यय गये हैं। “नम से तामस और राष्ट्र का छाड़ कर बुद्धि का सात्त्विक फ्लान के लिये नित्रियनिप्रह करना पड़ता है। और न्सी से छन्द अ याय म इसका भी समित बणन किया है कि ऐसे इन्द्रियनिमहायासरूप यान के लिये उपर्युक्त भूल आसन भी और आहार कौन कान से है? ” न्स प्रकार गीता (६ ८) में ज्ञाताया गया है कि शन भी अम्यात्म करने पर चित्त निर हो जाता है नित्रियों बग में हो जाती है आर आगे तुछ समय के बाट (एक्षम नहीं) ब्रह्मस्मैस्यज्ञन होता है। एव फिर आत्मकन्त न क्षमाणि नित्यनिति भनद्वय— उस शन से क्षमक्षबन दूर जाता है (गी ८ ४८-४९)। परन्तु भगवान् एकान्त म योगाम्यात्म करने का उपर्युक्त रुद्धि (गी ६ ९) उसम गीता का तान्यर्थ यह नहीं उमस खेना चाहिये कि सुधार के सब अवश्यार्थी का द्वारा कर योगाम्यात्म मैं ही सारी आयु किता ही थ्ये। किस प्रकार कोई अपार्यापी अपने प्यास की दृष्टि से ही— चाह वह बहुत यादी ही रुद्धा न हो— पहसे भीर भीर अपार अपार करने लगता है और उसके द्वारा अन्त में अपार सम्पति कमा सकता है उसी प्रकार गीता के कर्मयोग का भी हाउ है। अपने से किनारा हो सकता है उतना ही नित्रियनिप्रह करके पहसे कर्मयोग को शुरू करना चाहिये भार इसी से अन्त म अधिकारिक इन्द्रियनिप्रहसामप्य प्राप्त हो जाता है। तथापि चौराहे म फैट कर मी योगाम्यात्म करने से बाह नहीं चल सकता। कर्मणि “सुसे बुद्धि को एकाम्रता की ओर आकृत हुए होगी उसके पर जाने का मत होता है। इससिय कर्मयोग का आचरण करते हुए तुछ तमय रुद्ध नित्य पा करी कर्मी एकान्त का सेकन करना भी आवश्यक है (गी १३ १)। इतके लिये उतार के समक्ष अवश्यार्थी को छाड़ देने का उपर्युक्त मालान् ने कही भी नहीं किया है; प्रसुत लालारिक अवश्यार्थी का निष्कामबुद्धि ये करने के लिये ही नित्रिय निप्रह का अम्यात्म बहुत्यय गया है। और गीता का यही कथन है कि इत नित्रियनिप्रह के साथ लाल यथागति निष्कामकर्मयोग का भी आचरण प्रयेक मनुष्य का हमेशा करते रहना चाहिये। पृष्ठ इन्द्रियनिप्रह के लिद होने तक राह भेजते हैं नहीं रहना चाहिये। मैथ्युपनिषद् में भीर महाभारत में कहा गया है कि यहि कोइ मनुष्य बुद्धिमान् भीर निप्रही हो तो वह इत प्रकार के योगाम्यात्म से उप नहिने में ताम्बबुद्धि प्राप्त कर लक्ष्य है (मे. १ २८ म या ए. २३ ३२ अथ अनुगीता १..६६)। परन्तु भगवान् ने किन लाभिम तम पा भास्मनिप्र बुद्धि का बणन किया है वह चतुरे लागी को छा महिने में

बधाना है, वह यही बल्लु है। सब प्राणियों के विषय में समझौदि रख कर अपने एवं  
स्थापाता और "स ममत्वाद्वि" को किसने ज्ञान (नष्ट कर) दिया है वही भन्न है।  
वही धृव्यहृत्य और मुक्त है। सब कुछ भरते रहने पर भी उसके सब कर्म हानादि ते  
रथ्य समझे जाते हैं। (गी ४ १३ १८ २६)। इस प्रकार कर्मों का इथ्य होना मन  
की निर्विकल्पता पर और ब्रह्मात्मेक्षय के अनुभव पर ही सर्वेषां अवलम्बित है। मरण  
प्रकृत है कि किसे तरह आग कर्मी भी उत्पन्न हो; परन्तु वह वहन करने का असन्ना  
कर्म नहीं छोड़ती उसी तरह ब्रह्माैस्वरूप के होते ही कर्मात्मक्षय परिणाम के होने  
में कास्यविधि की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। जोही ज्ञान दुमा, कि उसी समय कर्म  
अथवा हो जाता है। परन्तु अन्य सब काँचों से मरणकाळ "स उम्मक्षय में अधिक महान्  
का माना जाता है। क्योंकि मह आमु के किल्लूस भन्त एवं काढ है। और इसके पूर्व  
किसी एक काल में ब्रह्माशन से अनार एवं-संस्कृत का पठि सम हो गया हो तो भी  
प्रारम्भ नहीं होता। इसकिये यहि यह ब्रह्माशन भन्ता तक एक उमान स्थिर है  
तो प्रारम्भ-कर्मानुसार मूर्ख के पहुँचे जो भी अप्ते पा द्वारे कर्म होगे ते सब उम्मक्षय हो  
जाएंगे और उनका कुछ मोगने के किये फिर भी कर्म ज्ञेना ही पड़ेगा। इसमें सर्वेष  
नहीं कि जो पूरा चीज़नुक हो जाता है उसे वह समय करानि नहीं रहता। परन्तु  
जब "स विषय का शास्त्रद्वि" से विचार करना हो तब इस बात का भी विचार  
अवश्य कर सेना पड़ता है कि मूर्ख के पहुँचे जो ब्रह्माशन हो गया या वह ध्यानित  
मरणकाळ तक स्थिर न रह तके। इसकिये शास्त्रकार मूर्ख से पहुँचे के अब भी  
अपेक्षा मरणकाळ ही को विशेष महत्वपूर्ण मानते हैं। और यह कहते हैं कि इस  
समय यानी मूर्ख के समय ब्रह्मात्मेक्षयान का अनुभव अवश्य होना चाहिये वही  
तो मोश नहीं होगा। इसी अभियाय से उपनिषदों के आचार पर गीता में यहा यहा  
है। कि अन्तकाळ में मेरा अनन्यभाव से स्मरण करने पर मनुष्य मुक्त होता है  
(गी ८)। इस चिन्हान्त के अनुधार वहना पड़ता है कि यहि आई दुराचारी  
मनुष्य अपनी सारी आमु दुराचारण में स्पर्तीत कर और केवल भन्त समव में वस  
जाने हो जाए तो वह भी मुक्त हो जाता है। "स पर किसने ही ज्ञेनों का कहना है  
कि यह बात मुस्तिरहत नहीं है। परन्तु वोडा-क्षा विचार करने पर मात्रम होना,  
कि यह बात अनुचित नहीं कही जा सकती। यह विलुप्त उत्तम और समुचित है।  
वलुत यह समव नहीं कि किसका सारा कर्म दुराचार में बीता हो उसे केवल  
मूर्खउत्तम भै ही ब्रह्माशन हो जाए। अन्य सब बाँतों के उमान ही ब्रह्मित होने के  
क्रिय मन का आनंद इसनी पानी है। और किसे "स कर्म मैं एक बार भी ब्रह्माै  
मरणक्षयान का अनुभव नहीं हुआ है उसे केवल मरणकाळ भै ही उसका एकम अन  
हा जाना परम दुष्ट पा असमव भी है।" तीसिये गीता का दूसरा महत्वपूर्ण कवन  
यह है कि मन का विषयवात् नने के क्रिये मूर्खेक मनुष्य की सही अभ्यास  
करने रहना चाहिये। किल्ला

उत्तोग का स्वरूपन्धन से और और और पथाशकि जारी रहे। प्राचन-र्त्तकार का उत्तर ऐसा मात्र होता है कि प्रदृशि की गेंट हमसे "ए कम मै आज नहीं दृष्ट सुन्दरी। परन्तु कहीं बन्धन कम कम से कर्त्तव्योग के अस्यास से कम पा दूसरे कमा मैं आप ही-भाषण दीखा हा चला है। और ऐसा होत होत बहुत अन्वयामन्त अनवान्मा प्रपञ्च है (गी ७ १) — कमी-न-कमी पृथग ज्ञान की प्राप्ति होते से प्रहृति का अवधारणा पराशीनता दृष्ट जाती है। एवं आत्मा अपने मूल की पृथग नियुक्त मुकुवापत्ता को अव्यान् मालाम्या को पहुँच जाता है। मनुष्य कमा नहीं कर सकता है। जो यह कहावत प्रबस्त्रित है, कि नर करनी करे तो नर का नारायण होय वह बग्नात्त के उद्द रिद्धान्त का ही अनुषार है। और इसीकिय बोगवातिप्रकार ने मुमुक्षु प्रकरण में उत्तोग की गृह प्रद्यासा की है तथा असन्दिग्ध रीति से कहा है कि अन्त मै सब कुछ उत्तोग से ही बिल्कुल है (यो ८.४ १०-१८)।

पह उक्त हो कुना कि शानत्राप्ति का प्रयत्न करने के लिय जीवात्मा मन में स्वरूप है और स्वावसरज्ञपृष्ठ गीर्वाणाग से उठे कमी न-कमी प्राचनकम के पांडे से उक्कारा भिल जाता है। भव योद्धा-सा "स शात का स्पर्शीकरण और ही ज्ञान आहिये ति कमघय दिसे करुत है। और वह कर होता है। कमस्य का अर्थ है — कमा के अधना से पृथग अव्यान् नियोग मुक्ति होना। परम् पहुँचे वहे भाष्य है कि कां पुरुष जानी मी हा खय तथापि जय तक शहीर है तब तक जाना करना भूद् प्यास "त्यारि कम दृष्ट नहीं होते; और प्रारम्भकम का भी मिना भगो खय नहीं होता। इसकिय वह आपह दे ह का स्पर्श नहीं कर सकता। एस्मे सन्ह नहीं कि जन होन के पूर्व दिये गये सब कमों का जाय जन होन पर हा जाता है परन्तु जद कि जानी पुरुष का यावज्जीवन ज्ञानोचकरकाम मैं भी कुछ न कुछ कम करना ही पाता है तब ऐसे कमों से उसका उक्कारा भिल हमा। भार यहि उक्कारा न हो तो मह शहा उत्पन्न होती है कि फिर पुरुषस्मन्त्र या ज्ञान मात्र न होगा। एस पर बग्नात्तापात्र का उत्तर यह है कि जानी मनुष्य की नामस्पात्तमक दृष्ट का नामस्पात्तमक कमों से बद्धि कमी उक्कारा नहीं भिल सकता तथापि "न कमा के फल का अपन ऊपर लाए या न स्व मै भाज्मा पृथग रीति मै स्वरूप है। एसकिय यहि अन्त्रियों पर दिक्ष्य प्राप्त करें — कम के विवर म प्राणिमात्र की जा भालूनि होती है — केवल उनका ही खय दिया जाय तो जानी मन्त्रय कम करने मी नहीं होता। उक्त कम का भाषी नहीं कम स्वमासक वा जा बनना या मूल होता है। वह न तो भिली का रम्य परम्परा है और न भिली का जाता ही है। वह स्पृष्ट न अन्तर है न शुरा। मनुष्य अपन भीव को "— कमा न फला कर नह भासी भासीकु स अस्त्रा या दुरा और दुरा सा क्षणम भो सकता है। इसकिय वहा ज लक्षा है जै एक ममस्वपुष भालूनि के उद्यमपर अम के अन्तर भाषण ही हृष जाते हैं स्त्रि जाहे के कम कर रहे या घल जाये। गैता

में भी स्थान स्थान पर यही उपरोक्त दिया गया है कि सब नैषङ्कम्य "सी मैं हूँ कर्म का स्थान करने में नहीं (गी ३ ४)। तेरा अधिकार केवल कम करने का है फल का मिळना न मिलना ऐसे अधिकार की जात नहीं है (गी ० ४३)। 'कर्मेन्द्रियः कर्मयोगमसुच' (गी ३ ७) — फल की आशा न रख कर्मेन्द्रिया को कर्म करने हैं। स्वकृत्वा कर्मफलसुगम (गी ४ १) कमच्छ का स्थान हर। 'सर्वभूता ममतामा कुषस्ति न किष्यते (गी ६ ७) — किस पुरुषा की समर्थ प्राणियों में समझुँडि ही चाही है उनके किसे हुए कम उनके कर्मन का कारण नहीं हो सकते। सर्वकर्मपरस्त्याग त्रुत (गी १ ११) — सब कर्मफलों का स्थान हर।

कार्यमित्येव चर्तुर्मय नियत दियते (गी १८ १) — केवल चर्तुर्मय समझ कर ये प्राप्त कम किया जाता है वही सात्त्विक है। जैसुका सर्वेकमीषि ममि सन्त्वत् (गी १८ ३) सब कर्मों का मुख्य अर्पण करके छोड़ो बना दें। "न सब उपरोक्तां का रहस्य वही है किसका उल्लेख इपर किया गया है। अब यह एक खतरनाक प्रती है कि जानी मनुष्या को सब व्यावहारिक कर्म करने चाहिये या नहीं। इसके सम्बन्ध में गीतार्थात् का जो सिद्धान्त है उसका विचार अगस्ते प्रकरण में किया जायगा। अमीं तो केवल यही देखना है कि ज्ञान से सब कर्मों के मरम हो जाने का अद्य क्या है! और ऊपर किंच गये बच्चों से उस किष्य में गीता का ये अभियाव है यह मर्मी मौंडि प्रस्तु हो जाता है। घ्यवहार म मौं हस्ती न्याय का उपयोग किया जाता है। उत्तरणाय यहि एक मनुष्य ने किसी दूसरे मनुष्य को थोगे से ज्ञाने के दिया तो हम उसे उत्तर नहीं कहते। इसी दरह यहि केवल वर्षट्टा से किसी जी हत्या हो जाती है तो उसे जौकारी जानने के अनुराग यज्ञ नहीं समझते। भगवि से पर अप्य जाता है भवता पानी से उँड़द्दे इस जह बृत है तो क्या भगवि और पानी का कोई जापी समझता है? केवल कर्मों की ओर होने से मनुष्य की इसि से प्रस्त्रेष कम मैं कुछ न तुल दोप या अवगुण अवस्था ही मिलता — तर्वरिम्य दि गारेन गृभेनामिरिषाहता (गी १८ ४८)। परन्तु यह वह दोप नहीं है, कि किस छाने के लिये गीता कहती है। मनुष्य के किसी कर्म का जब हम भव्या या कुप्र कहते हैं तब यह अप्यपन या मुरापन यथार्थ में उस कम में नहीं रहता तिन्ह कम करनशामे मनुष्य की बुद्धि में रहता है। "सी जात पर च्यत्ने के बर गीता (३ ४ ६) में कहा है कि इन कर्मों के कुरेपन की दूर करने के किये कहा जो चाहिये कि वह अपन मन और बुद्धि का गुड राप और सप्तनिर्गति मैं भी कर्ता की बुद्धि का ही प्रशानना की गई है। तैम —

मन एव मनुष्यानीं कारण चर्वतास्तपाः ।

चर्वताय विषयामयि मांशे निर्विवर्य स्मृतम् ॥

मनुष्य के (कर्म में) कर्मन पा माभ का मन ही (एव) कारण है। मन के विषयानक इन में कर्मन भी निष्काम या निर्विशय भवत् विशेष होने से मोह

रहेगी और मुक्ति भी अवश्य हो जायगी (गी ८६७ तथा २७२)। परन्तु शास्त्र की स्थानपैक करने के लिये मान स्थिरिते कि पूर्वसंस्कार भाँड़ि कारणों से किंतु मनुष्य का ऐसा मृत्युजन्मय में ही बदलाव हो गया। निम्नलिखे ऐसा उत्तराहरण द्वारा भी और करोड़ मनुष्यों में एक भाव ही मिल जायगा। परन्तु यहाँ ऐसा उत्तराहरण मिथ्या न मिथ्ये; इस विचार का एक और रूप कर हमें यही 'अन्ना' है कि यहि ऐसी विचारिता ग्रास हो जाय तो क्या होगा? जैन चार मरणकाल में ही क्यों न हो; परन्तु उमस मनुष्य के अनारोधसुखित का धय हाता ही है भीर इस अन्न के भोग से आरम्भसुखित का धय मृत्यु के समव हो जाता है। 'विचित्र उत्तर कुछ भी कम मान्यमानी नहीं रह जाता है भीर यही विद्ध हाता है कि वह सब क्षमों से अपात् अन्नपात्वन सं सुख हो जाता है। यही विद्धान्त गीता के 'स वाक्य में कहा गया है

भवि पैत मुदुरान्नाये मष्टन मामनन्यमात् (गी ८३) - यहि कोइ कठा दुराकारी मनुष्य मी परमेश्वर का अनन्य मात्र सं स्मरण करगा तो वह मी मुक्त है। जायगा भीर यह विद्धान्त सुकार के अन्य सब खर्मों में मी जायगा गया है। अनन्य भाव का यही भर्य है कि परमेश्वर में मनुष्य की विचारूति पूर्ण रीति से स्तीन हो जाय। स्मरण रहे कि मैंहै तो ता राम राम बद्दद्यत रहे; भीर विचारूति कृमी ही नोर तो इस अनन्य भाव नहीं कहेगे साराए परमेश्वरज्ञान की महिमा ही पेसी है कि 'याही ज्ञन की ग्रामि एव स्तोही सब अनारोदक्षिति का दक्षम धय हो जाता है। यह भवस्था कर्मी मी जाय हो तैव इस ही है। परन्तु इष्टक जाय एक आवरणक जात यह है कि मृत्यु के नमय यह विवर की है; भीर यहि यहैं प्राप्त जाय न रहे ह। तो क्षमन्ते-कम मृत्यु के नमय यह जाय हो। नहीं तो हमारे शास्त्रार्थी के अन्नानुग्रह मृत्यु के नमय कुछ-न कुछ जाना भवस्था ही दर्शी रह जायगी, जिसमें पुन अन्न नहीं पायेगा भार मात्र मी नहीं मिथ्येगा।

इत्या विचार हो पुरा कि क्षमन्तेन रुपा है क्षमताय जिस कठन है! वह अन सार कर हाता है! अब अनहूलम्भार इन कठन का भी कुछ विचार विया जायगा कि कि ६ क्षमन्तेन नहीं हा धय ह उनका जार विनेक क्षमन्तेन नहीं हूँ है उनका मृत्यु के अन्नानुग्रह वैकिं परम के अनुकार ज्ञान की लति मिथ्या है। इसके क्षमन्तेन में इन्द्रिया में प्राप्त धयों की ज्ञान है (गी ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०, ९१, ९२, ९३) ग्रीष्म दक्षावधाना व गमनमृत के भवस्था के नीमर जाए म वी गर है। एव तु इन तद-पचास का यहा अन्नान की वजह भावस्थकता नहीं है इस कठन उन्हीं के पक्षा का। इवार ज्ञान है जो ज्ञानठीका (गी ९०-९१) में वह धय है। दृष्ट एवं क्षमन्तेन भीर क्षमन्तेन के वक्तु नहीं है क्षमन्तेन का 'उत्तर यह है' तु दूर विवर एवं वहर एवं ज्ञान एवं वक्तु एवं ज्ञान है जो यह जाय तून्न गी ९२ ये उन्न प्रका स इन ताद म दृष्ट वज्र नहीं वर्त्ति वज्र एवं भव, एवं अन्य नहीं गमन के वक्तु एवं उत्तर एवं ज्ञान म वरन् पर वक्तु विवर

बहाना है वह यही बल है। सब प्राणियों के विषय में सम्मुचित रूप कर भल्ले तक  
भ्यागारों की इस भमल्लुकि को दिसने चाहा (नह कर) दिया है वही बल है;  
वही इतनूत्य और मुक्त है। सब कुछ करते रहने पर मी उसके सब कर्म छोड़नीप्रीत है  
इतन समझे जाते हैं। (गी ४ १९ १८-२६)। इस प्रकार ज्ञानों का इतन होना मन  
की निर्विषयता पर और ब्रह्मात्मैक्य के भनुमत पर ही उर्ध्वा भवत्तिक्षण है। भवत्ति  
प्रकृत है कि किंतु तरह आग कमी भी उत्पन्न हो परन्तु वह दैन भरने के भवत्ता  
भ्य नहीं ढोड़ती; उसी तरह ब्रह्मात्मैक्यशन के होते ही क्षम्भयरूप परिणाम के होने  
में कामचारि की प्रतीक्षा नहीं छूटी पड़ती। उसीही रूप तुम्हा कि उठी उष्ण अर्थ-  
अय ही जाता है। परन्तु अन्य सब जातों के मरणकाळ इतन सम्बन्ध में अधिक महत्व  
का माना जाता है। क्योंकि वह आपु के किंतु अन्त का काल है। और इसके पूर्व  
किंतु एक काल में ब्रह्मात्मैक्यशन का विनियोग हो गया हो ये मी  
प्रारम्भ नहीं होता। इसकिये यहि वह ब्रह्मात्मैक्य अन्त तक एक उमान स्थिर हो,  
जो प्रारम्भ कमानुसार मूल्य के पहले दो यो भव्यते पा द्वारा क्षम्भ होनी ऐ सब सम्भव हो  
जातेहों और उनका फूल घोपने के सिय फूल भी अभ्य छेना ही पड़ेगा। इसमें उन्हों  
नहीं कि यो पूरा जीवभूत हो जाता है उसे वह मय क्यापि नहीं रहता। अल्लु  
जय इस विषय का शास्त्रात्मि से विचार करना हो तभ उस जात का यी विचार  
अवश्य कर छेना पड़ता है कि मूल्य के पहले दो ब्रह्मात्मैक्य हो गया था, वह क्षम्भित्  
मरणकाळ तक स्थिर न रह सके। उसीकिये शास्त्रात्मैक्य मूल्य से पहले के काल की  
अपेक्षा मरणकाळ ही का विशेष महत्वपूर्ण मानव है। और वह कहते हैं, कि इतन  
समय यानी मूल्य के उमय ब्रह्मात्मैक्यकान का भनुमत अवश्य होना चाहिये। नहीं  
सा मोक्ष नहीं होगा। “सी अभियाय से उपनिषद्ग्रंथ के भाष्यार पर गैता में कहा गया  
है। कि भवत्तास में मेरा अन्यमाद से खराब करने पर भनुप्य मुक्त होता है  
(गी ८)। इस उक्तिके भनुषार कहना पड़ता है कि यहि कोई दुराचारी  
मनुप्य नयनी लारी आपु दुराचार में अतीत कर और क्षेत्र भनु उमय में ब्रह्म  
होना हो जावा वह मी मुक्त हो जाता है। इस पर दितने ही ल्पेगा का कहना है  
कि वह जात भनुषित नहीं जही जा जाती। यह मिल्लुष सत्य और उपुक्तिक है।  
बस्तुत वह नम्मन नहीं कि किन्तु सारा कम दुराचार में जीता हो उसे केवल  
मनुप्यमय म ही ब्रह्मात्मैक्य हो जाते। अन्य सब जातों के उमान ही ब्रह्मनिष्ठ होने के  
विषय मन का जागत शास्त्री पन्नी है। और किम्बे इस उम में एक जार मी ब्रह्मा  
मिल्लुषात्मैक्य का भनुमत नहीं होता है उसे केवल मरणकाळ में ही उक्ता पक्षाद्य होते  
हो उन्होंना परम दुराचार में जीता ही है। इसीकिय गीता का दूसरा महत्वपूर्ण कहन  
यह है कि मन का विषयबातनारहित ज्ञाने के लिय प्राप्येक भनुप्य भी सौंप्रभायाम  
करन रहना चाहिये। किन्तु इस पर हाया कि भवत्तास म भी वही उक्तिक जी

होता है' (मिथु. १ ३४ अमूर्तविद्)। गीता में यही बात प्रधानता से कठाद्य गई है कि ब्रह्मात्मक्यश्चन से बुद्धि की उक्त साम्यावस्था के साथ कर सेवी चाहिये। ऐस अवस्था के प्राप्त हो ज्ञान पर कम करने पर भी पुण्य क्षमयज्ञ हो जाया करता है। निरग्नि होने से - अर्थात् सन्यास के कर अमिहोन आर्थि कर्मों का छेद देने से - अथवा अक्रिय रहने से - अबाल निर्धी भी कम हो न कर बुप्तनाप के रहने से - कम का भय नहीं होता (गी ६ २)। याहू मनुष्य की इच्छा रह या न रह परन्तु प्रहृति का चक्र हमेशा पूर्णता ही रहता है जिसके पारण मनुष्य को भी उम्रके साथ अवस्था ही बदला पड़ेगा (गी ३ ११ १० ६)। परन्तु अज्ञानी जन ऐसी विद्वि म प्रहृति की पराभीनता म रह कर उसे नापा करते हैं किंतु न करके जा मनुष्य अपनी बुद्धि को 'नियनिश्च' के द्वारा स्थिर पक्ष पुढ़ रखता है और सद्विनम के अनुसार अपने हिस्से के (प्राप्त) कर्मों को कमज़ कराय समझ कर अनादान बुद्धि से पक्ष शान्तिपूर्वक किया करता है वही सत्य विद्यायज्ञ है और उसी का ब्रह्मपत पर पर्तुचा रूपा कहना चाहिये (गी ३ ७ ८ १ ५ ७-९ १८ १२)। यदि कोई श्रानी पुरुष जिसी मी व्यावहारिक कम को न करके सन्वाद से कर अस्त में जा दै तो 'तत् प्रकार कर्मों का द्वारा द्वै मे यह समझना बड़ी मारी भूष है कि उसके कर्मों का भय हो गया (गी ३ ८)। 'म तत्त्व पर हमेशा ध्यान देना चाहिये कि कोई कम करे या न कर परन्तु उसके कर्मों का सब उत्तरी बुद्धि की साम्यावस्था के कारण होता है न कि कर्मों का घटने से या न करने से। कर्मधय का एका स्वरूप विद्यायने के क्षिये यह उत्ताहरण दिया जाता है कि जिस दूरह अभिय से उक्ती बुद्धि जाती है उसी दूरह ज्ञान से सब कम भग्न हो जाते हैं। परन्तु 'सुके उपनिषद् म और गीता म दिया गया यह दृष्टान्त अधिक लम्फैक है कि जित दूरह कर्मधय करके अथवा भावकि छेद कर कम करनेवाले को - कर्मों का क्षेत्र नहीं होता (अ ८ ३४ ३ गी ८ १)। कम स्वरूपतः कर्मी अप्त ही नहीं और न उन्हें उक्तने की कोई आवश्यकता नहीं। जब यह बात सिद्ध है कि कम नामूलप है और नामूलप दृष्टसुधि है; तब यह सुमन्तु हृष्य सूहि कर्मी किए? और कश्चित् दृष्ट मी ज्ञाय तो उत्काष्ठात् क मनुकार विर्क यही होग कि उक्ता नामूलप करत जायगा। नामूलपात्मक कम या माया हमेशा पर्वती रहती है। इसस्थिय मनुष्य अपनी विनिक ननुकार नामूलपा म ज्ञप ही परिक्रम करते। परन्तु इह जन को नहीं भूम्ना चाहिये कि यह चाहूँ दिनना ही शर्नी हो। परन्तु 'म नामूलपात्मक कम या माया का लम्ह नाश करायि नहीं कर लक्षता। यह काम करन परमेश्वर से ही हो लक्षता है (प. न ४ ४ ४ ०)। ही भूम म न दृष्ट कर्मों में भव्यर बुराइ का ग दीव ही नहीं और जिन मनुष्य उनम भपनी मपञ्चबुद्धि ने उत्पन्न दिया करता है उक्ता नाश बना मनुष्य के हाथ में है। और ये जा कुछ गी ८ १९

हाथे। बर्तमान अस्त्र में यह यहांग आदि भोक्तुर्भर्म प्राप्त हो गया है। इससे उक्त उद्देश को सिद्ध करने के लिये योग ऐषमकि सुधा गन्धर्म आदि शास्त्रोंके पुस्तकर्म किया करते हैं। कल्पेष से सप्तरक्ता मात्रम् होता है कि प्राचीन वास्त्रमें योग — न केवल स्वार्थ के लिये कल्पि एवं सम्प्रब्रह्म के कस्त्राण के लिये भी — यह द्वारा ही त्रेवताभा भी आराघना किया करते थे। इस काम के लिये किन इन्ह भार्दि देवताभा की अनुकूलता का सम्पादन करना आवश्यक है उनकी स्मृति हो ही कल्पेषके सूक्ष्म मर पड़े हैं। आर उद्दम स्थल पर यही प्राप्तना भी गई है कि हे अहम् हमेसन्तनित और समुद्दित है। हमेशा जातासु फ्लो। अहम् हमारे सद्वकान्त्रये को और हमारे वीरपुश्चा को तथा हमारे व्याकरण को न मारो। ९ ऐ याग-यज्ञ तीनों देवोंमें किहित है। उद्दिष्टे इस माग का पुराना नाम लयी घम है। और ब्राह्मणपत्नी में इन यज्ञ की विधिया का विलूप्त व्यावहार किया गया है; परन्तु मिष्ठ मिष्ठ ब्राह्मणपत्नीमें घम करने की मिष्ठ मिष्ठ विधियों हैं। उससे आगे यहां हमेशा ल्यानी, कि गौतमीविधि प्राप्त है उन "न परस्परविकद् वास्त्रो भी एकवास्त्रता करने के लिये ऐसीनी ने अर्थनिर्णायक नियमी का संप्रह किया। ऐसीनी के "न नियमों को ही मीमांसाकृत्या पूर्वीमास्त्रा कहते हैं। और उसी कारण से प्राचीन कर्मकाण्ड का मीमांसक मर्मनाम निष्ठ तथा हमने भी उसी नाम का इस प्रक्षय में कई बार उपयोग किया है। क्योंकि आक्षर यही प्रचलित हो गया है तथापि यहांग का यह मार्ग बहुत प्राचीन काल से प्रस्त्रा आवा है। यही कारण है कि गौतमा में 'मीमांसा शुद्ध' ही मी नहीं आया है मिन्दु उसके बड़छ लयी घम (गी ३०.२, २१) का जीविता नाम आये हैं। यहांग आदि भारुकर्मपतिपात्रक ब्राह्मणपत्नी के बाइ भारुकर्म और उपनिषद् क्षेत्र। इनमें यह मतिपात्रम् किया गया कि यहांग आदि घम गैरिहैं और ब्रह्मण ही भह है। उसकिये उनके घम को 'शतकाण्ड' कहते हैं। परन्तु मिष्ठ मिष्ठ उपनिषद् में मिष्ठ मिष्ठ विचार है। इसकिये उनकी भी एकवास्त्रता करनेकी आवश्यकता नहीं और उस काय को आवश्यकावश्यम ने अपने बेगाल्याद्यमें किया। उस प्रक्षय की ब्राह्मस्त्रा गारीरस्त्रा पा उक्तमीमांसा कहते हैं। इस प्रकार पूर्वनीमांसातथा उक्तमीमांसा नम से — कर्मकाण्ड तथा अनकाण्ड — सम्मुखी प्रवान ग्रन्थ है। बल्कु ये दोनों प्रक्षय मूल में मीमांसा ही हैं — अर्थात् कल्पि व्यवहार के अपरीक्षण करने के लिये ही आये गये हैं। तथापि आक्षर कर्मकाण्ड प्रतिगाम्का को विवरणी व्याख्या करते हैं। कर्मकाण्डव्याख्या

---

इ प्रक्षय का स्वरूप यह होते जाते हैं करन्तु उप तत्त्व का न व व कर वही करन् तत्त्व ही प्रक्षय व्यवहार का द्वारा होता है जो बहुत प्रबलित है व यह है — मा वस्त्राद् तत्त्व मा व आपी मा वा गारु मा ना नभू रिति। वीराम्या ना उड़ प्राप्तिता वर्दीविचारम् तत्त्वमित्याद्याम्य वह १८१

रहेंगी और मुक्ति मी अवश्य हो जायगी (गी ८ ६ ७ तथा २ ७२)। परन्तु शास्त्र की छन्दधीन करने के लिये मान लीजिय, कि पृष्ठस्त्वार भाड़ि कारण से किसी मनुष्य का ऐसा शृंखल मृत्युसमय म ही ब्रह्माण हो गया। निष्पत्ति हेतु उग्राहण आपो और करोगे मनुष्यों में एक-भाष इसी मिल सकता। परन्तु, जाहे देखा उग्राहण मिले था न मिल इस किचार को एक और राय कर हमें यही शक्ता है कि परि ऐसी रिपति प्राप्त हो जाय, तो क्या होगा? जान जाहे मरणकाल में ही स्थान न हो परन्तु उससे मनुष्य के अनारम्भ-संवित का अय हास्ता ही है और इत जन को के भोग से भारम्भक्षित का अय मूल्य के समय हो जाता है। इसकिय उसे कुछ भी कर्म जागना भासी नहीं रह जाता है और पहीं सिद्ध होता है कि वह उन घटों से अपार् चंचारखन सं सूच हो जाता है। यही सिद्धान्त गीता के इस वाक्य म कहा गया है,

भवि भेत सुदुराचारो मब्दो मामनन्यमाह् (गी १ १) — यदि कोइ जहा दुराचारी मनुष्य मी परमेश्वर का भनन्य भाव स स्मरण करेगा, तो वह भी मुक्त हो जायगा और वह उद्दान्त सुसार क अस्य सब घटों में भी प्राप्त माना गया है। भनन्य भाव का यही अर्थ है कि परमेश्वर में मनुष्य की विचारृति पृष्ठ रीति से छीन हो जावे। स्मरण रहे कि मैंह से तो यम यम ब्रह्मात रहे और विचारृति दूसरी ही भोर तो इसे अनभ्य भाव नहीं कहें। लाहौष परमेश्वरवत की महिमा ही ऐसी है कि याही जान की प्राप्ति हूँ त्याही उन अनारम्भरुदित का एकम सब हो जाता है। यह अवश्य कभी भी प्राप्त हो सकै इष्ट ही है। परन्तु इसके साथ पक्ष आवश्यक बात यह है कि मूल्य के समय वह रिपत की रहे और यदि पहसु प्राप्त न हो हाँ तो कम-से-कम मूल्य के समय वह प्राप्त होने। नहीं तो हमारे शास्त्रमारो के विवादानुसार मूल्य क समय कुछ-न कुछ जापना भवश्य ही जागी रह जायगी किसके पुनः जन कम ज्ञान पर्याप्त और मोह मी नहीं मिलेगा।

इसका किचार हो चुका नि कमरुदन स्पा है? कर्मशय निम बहत है। वह हमें भार कर हाता है? भव प्रसादानुसार उम जात का भी कुछ रिचार किया जायगा कि किनके कमरुदन नह हा गर्य है उनका नार किनक कमरुदन नहीं है उनको मूल्य क भनन्तुर वैतिक अम व अनुसार कान की यति मिल्यी है? इसके समर्पण में इतनिराम में जात जाता की गय है (छा १ ३ १ ५ २-२६ की १ -३) किसी एकवाक्यना वायामग्रन्थ क अप्याय के हीनेरे पार मी की गय है। पर तु इन उन चत्ता की पर्ही ब्रह्माने की क्या आवश्यकता नहीं है। हमें कष्ट उन्हीं ने मारप का विचार करना है जो मारडीता (१ ३-३) में वह गय है। दैवित अम व इनकाम और कमरुदन दा प्रसिद्ध भेत है। कमरुदन का मूल उदय यह है कि यव नभि इन्ह वदन रुद अप्याय दैवि क देवताओं का यज नारा पृथ्वी नजा इष्ट उनक प्रसाद ने इन लाल म पुन वीन न्ना लक्ष्मि तथा ग भव अन जान्य न्ना नम्यनि प्राप्त कर भी ज्यह और भन्त में मरन पर नहिं प्रज

भारम्मपङ्का भात्राभ्य इविर्पङ्का विशः स्मृता ।

परिचारपक्षाः सुद्धार्थ नवयहा विजातपः ॥

भारतम् ( लंदोग ) हवि नवा और बप्त पे आर पढ़ क्षिय विस्त शूद्र भीर  
ब्राह्मण न आर बगो के सिये यथानुनम विहित है ( म भा शा. २३३ १० ) ।  
आराध इत्य सुधिं के तब मनुष्या का पत्र ही के सिय प्रदीप्ति ने उत्तम लिया है  
( म मा भनु. ८८ ३ भीर गीता ३ ४ १२ ) । कल्पा व्याकुर्वन्त्य भाव  
सद शाश्वोम कम एक प्रकार के यत्न ही है । और प्रदेव क मनुष्य अपने भनने  
भविकार के भनुमार इन शाश्वात्क कमों पा पश्च वौ - पश्च रथवत्ताप या वनप्य  
रथमहार का - न करे ता ममने तमाज वी हानि होगी । आर मम्पत है कि भनन  
म उत्तमा नाय भी हो आवे । इत्यक्षिय ऐसे रथवत्त अध से भित्त होता है कि  
सोइयप्रद के सिये पत्र वी सद्व भावरपक्षा होती है ।

निर्माण नहिं का वक्तव्य है - आवश्यक है आपराधिक गाहपत्रों  
चर्चाओंमें वक्तव्य दृष्टि दृष्टि एवं भूमि भूमि अपनायिते हैं।

का अर्थात् भीमल्लो का कहना है कि भौतधर्म में चानुमान्य, न्यातिशय प्रकृति यज्ञयाग आदि कम ही प्रयत्न हैं और जो इन्हे करेंगे उसे ही देखो कि आश्रुत्सार मोक्ष प्राप्त होगा। इन यज्ञयाग आदि कमों का कोई भी ऐसा नहीं सकता। यदि उड़े रेगा तो समझना चाहिए कि वह भौतधर्म से विद्वत् हो गया। न्याकि वैष्णव पहली उपचि सुष्ठि के साथ ही हुआ है। और यह चक्र अन्नादि काढ़ से चलता आया है कि मनुष्य यज्ञ करके देखताआ का तूम करे तथा मनुष्य की पर्वन्य आदि सब आदर्शयज्ञाओं को बदला पुरा करे। आज्ञाकृहि हम किसाय का कुछ महसूल माल्यम नहीं होता। न्याकि यज्ञयागरूपी भौतधर्म अब प्रचलित नहीं है। परन्तु गीताकाल की रियनि मिमी थी। \*सुखिय मगदीता (१ १६-२७)। मैं मी यज्ञचक्र का महसूल ऊरु कह अनुसार बदलता गया है। तथापि गीता से यह सह माल्यम होता है कि उस समय मी उपनिषदों में प्रतिपादित अन के कारण माल्यहारि से “न कमों को गौणता आ जुही थी (गीता ४१-४६)। वही गौणता अहिंसाधर्म का प्रचार होने पर आगे अविकाशिक रूपी गई। मागवतधर्म में स्वाधृत्या प्रतिपादन किया गया है कि यज्ञयाग देखिए हैं तो भी उनक सिद्धे पशुबध नहीं करना चाहिए। भाव से ही यह करना चाहिए (गीता मा शा ३१६, ३ और ३१७)। इस कारण (तथा कुछ वर्णों में आगे देखियों के मी ऐसे ही प्रयत्न करने के कारण) औरतधर्मार्थी की आदर्श वह दृष्टा हो गई है कि काशी सरीरे वड़ छड़े चमकेंगे मैं भी भौताग्निहात्र पाद्म करनेवाले अग्निहोत्री वहुत ही शाह गीत पात्र हैं। और प्लोटिशीम आदि पशुपती का होना तो उस-बीच वर्णों मैं कमी कमी मुन पड़ता है। तथापि भौतधर्म ही सब वैष्णव वर्णों का मूल है; और इतीश्वर उसक विद्य में इस समय मी कुछ आनुचुंडि पार्वती आती है। और देखियों के मूल भूतनिष्ठायक शास्त्र के तार पर प्रमाण माने गए हैं। पश्चिपि भौतयज्ञयाग आदि उस इस प्रकार दियिष्ठ हो गया तो मौ माल्लादि स्मृतियों मैं बर्जिन वृत्तर यज्ञ - किंतु पात्रमहापात्र कहते हैं - भगव तद प्रपत्नित हैं। और उनक सम्बन्ध में भी भौतयज्ञ यागस्त्र आदि के शी उक्त न्याय का उपयोग होता है। उत्तरणाय मनु आदि सूक्षिकारा पाँच अहिंसा भूमक तथा नित्य गृह्यत्व कहताय है। ऐसे बृत्यव्ययन व्रजवन हैं तथा पितृवृक्ष हैं जिन नृतयज्ञ हैं और भूतिप्रिणत्ययम मनुष्यवश हैं तथा गाहृत्यवृत्यम में यह जहा है कि इन पाँच वर्णों के हारा त्रिमनुसार अपियों पितृरा देखताभीं प्राणियों तथा मनुष्यों का पहल तूम बरब पिर विनी गृह्यत्व का स्वय मौजूद भरना चाहिए (मनु ३ १८-१ ३)। न यज्ञ के कर में पर जा अप्त इस बाता है उपर्योग भूमत बहत है भीर पहले तूम मनुष्यों का माल्लन कर में पर जाओ अप्त इस तूमे विष्म बहत है (म ३ १८)। यह भूमत भार विष्म अप्त ही गृह्यत्व के लिय दियहि एव भयन्तर है। ऐसा न करक जा कोइ सिर्व भूमें पर के लिय ही मौजूद पक्षा गावे तो एव भप भयान् पाप का मलाग भरता है। और उन्हे क्या

म राम कर द्यानिष्ठाम भावि पठवाग करागे तो ऐड में वह अनुभार स्वर्णकृष्ण द्वारे निम्नलिख मिलेगा। क्योंकि वेऽप्य कभी भी छात नहीं हो सकती। परन्तु स्वर्णकृष्ण नित्य अथात् हमेशा निकनकाला नहीं है। इनसिये कहा गया है (१४४५१ प ८३ १०८) म मा बन २६ १०) —

प्राप्यामाने कर्मणस्तस्य यतिकृष्णह करोत्ययम् ।  
तस्माद्वोकान्युत्तरेष्यस्म लाकाय कर्मजे ॥ ०

इस संक में जो यज्ञायाग भावि पुण्यकृष्ण किय रखते हैं उनका फळ स्वर्णीय उपर्युक्त स समाप्त हो जाता है और उत्तम यज्ञ करनेवाले कर्मकृष्णी मनुष्य का स्वर्गलौक से इस कर्मद्वारा अपात् भूमाल म फिर भी आना पड़ता है। आद्यायापनिषद् (६ १० ३— ) में तो स्वर्ग से नीचे भाने कर्म माग भी कठाकाश गया है। भावद्वीतीय मैं कामायामानः स्वगपराः तथा नेत्रुण्यविषया वेदा (गी १४३ ४६) एव प्रकार दुर्ल गोणत्वमनुक जो धणन किया गया है वह इन्हीं कर्मकृष्णी द्वयों को अद्य करक कहा गया है। और नीचे अव्याय में फिर भी स्वप्नदधा कहा गया है कि गतागत कामकामा छमन्ते। (गी ९ २१) — उहै स्वगपोक और इस द्वेष में बार बार आना जाना पड़ता है। यह आवागमन इनप्राप्ति के किना यह नहीं सकता। यद तद यह यह नहीं सकता तद तद आना को सबा समाधान पुण्यकृष्ण उपा माझ मी नहीं मिल सकता। एस किये गीता के समस्त उपेश का थार यही है कि यज्ञायाग भावि की कौन कह ? चातुर्वर्ष के उत्तम कर्मों को भी तुम ब्रह्मत्वेत्व अन से तथा ताम्यतुर्धि स आयकि छोड़ कर करते रहा — वह इस प्रकार कर्मनम की जारी राम कर मी तुम मुझ ही घो रहोगे (गी १८ ५ ६)। विचि देवता के नाम से तिथि, चाकृष्ण या विचि पशु को 'इ अमुक्तेवताय न मम कह कर अभिमै हृष्ण कर देने से ही दुर्ल यह नहीं हो सकता। प्रस्तुर्धि पशु को मारने की अपेक्षा प्रस्तेष मनुष्य के शरीर में कामकाष्ठ भावि दो अनेक पशुत्विर्यां हैं उनका ताम्यतुर्धि अप सयमाप्ति में हीम करना ही अभिष्ठ भयत्वकर यह है (गी ४ ३१)। इसी अभियाज से गीता में सभा नारायणीय द्वंद्व में मत्तान् ने कहा है कि मैं बड़े मैं बापवश अपात् भृष्ट हू (गी १ २ म मा शा १ १७)। मनुस्मृति (२ ८७) म गी कहा गया है, कि बाह्य और दुर्ल करे या न करे, परन्तु वह देवता अप से ही लिखि या लक्षता है। अभिम म आहुति दास्तुं समय न मम (यह बहु मेरी नहीं है) कह कर उत्त वसु से अपनी ममत्वदुर्धि का रायाग दिलाया अर्था है — वही यह का मुख्य तत्त्व है और वह आकिं कर्मों का भी यही तीव्र है।

— — — — —

इस मन्त्र के द्वारा चरन का पवत तत्त्व द्विभावि और 'अस्म इति तत्त्वं तत्त्वं चाहिय'। तथ इस चरन म अक्षरों की इसी कही मालय होगा। बहिर्क चरन का भवते तुमन इति वक्षुशा करना पड़ता है।

अब यह प्रभ उठता है कि यहि बेद और चाहुर्वद्य भाटि स्मारुव्यवस्था के अनुसार गङ्गास्ती के लिये वही यशोधान धृति चिह्नित मानी गयी है, कि जो ऐवह कर्ममय है तो क्या इन सासारिक कर्मों को भर्मेश्वान के अनुसार यथा विहि (भवात् नीति से और कर्म के भावानुसार) करते रहने से ही कोई मनुष्य कर्म-मरण के चक्र से नुक्क हो जायगा? और यहि कहा जाय कि यह नुक्क हो जाता है, तो मिर ज्ञान की काश और योग्यता ही क्या रही? जानकाण्ड अपात् उपनिषद का साफ यही रहना है कि जब तक ब्रह्मान्मैक्यवान हो फर कर्म के विषय में विरुद्धि न हो जाय तब तक नामस्पात्मक माया से या अन्मरण के चक्र से युक्तारा नहीं मिल सकता। और श्रीकृष्णारुद्धरण को ऐसा तो यही मात्रम् पाया है कि प्रत्येक मनुष्य का गाईम्ब्यकर्म कल्पवान् या स्वापक अर्थ में यम्मय है। इसके अतिरिक्त ऐश्वर्य का भी क्यन है कि वज्राय लिये गये कम कल्पक नहीं होते और यह से ही स्वर्गप्राप्ति होती है। स्वर्ग की कर्मों छोड़ दी जाय तो भी इम ऐसे हैं, कि ब्रह्मेष्व ही ने यह नियम बना लिया है कि इन्ह भाटि वृत्तामा के सन्तुष्ट हुए किना यथा नहीं होती और यह है कि ज्ञा देवतागण मी सन्तुष्ट नहीं होते। ऐसी अवश्या में यत्र अर्थात् कर्म लिये किना मनुष्य की मिलाई देसी होती। इस छोड़ के कर्म के विषय में मनुस्मृति महामारति, उपनिषद् तथा गीता में भी कहा है कि —

आपौ प्राप्ताहृतिः सर्वयावित्यसुपतिष्ठते ।

मादिष्पाज्ञापते वृत्तिर्वृत्तेरक्त ततः प्रजा ॥

यह में इहन लिये यदे सब श्रम्य अग्र ज्ञाय क्षम्य को पूँछते हैं, और क्य से पर्वन्य और पदन्य से भ्रम तथा अम से ग्रवा उत्पत्त होती है (मनु. ३ ७६, म मा शा २६२, ११; मैस्यु. ३ ३७; गी ३ १४)। और यह कि ये यत्र कम के द्वारा ही होते हैं तब कर्मों को छोड़ देने से काम छोड़े जासेगा? यम्मय कर्मों को छोड़ देने से संसार का ज़क्र बन्त हो जायगा और विसी को याने को भी नहीं मिलेगा। इत पर मागवत्पर्म तथा गीताश्वान का उत्तर यह है कि यत्रयामा भाटि विक्षि कर्मों को या अन्य विसी मी स्मारु तथा भ्यावहारिक यम्मय कर्म को छोड़ देने का उपदेश हम नहीं करते। हम तुम्हार ही तमान यह मी कहने को तयार हैं कि ये यम्मय कर्मों को ये करार चलता आया है उसके बन्द हो जाने से तकार का नाश हो जायगा। इच्छिये इमाप्य यही चिदान्त है कि “स यत्र का कभी नहीं छोड़ना चाहिये (म मा शा ३४; गी ३ १६)। परन्तु जानकाण्ड म अपात् उपनिषद् ही में स्वप्नप से कहा गया है कि ज्ञान और देरात्य से कर्मभय हुए किना मोक्ष नहीं मिल सकता। इच्छिये “न होना सिद्धान्ता का मेस करके हमारा भनिम अस्त यह है कि तब कर्मों का ज्यन से अपात कराया छोड़ कर निष्काम या विरक्तुदि से करते रहना चाहिये (गी ३ १७)। यहि तुम स्वप्नकळ की काम्पनुदि मन

है। हमारा उत्तमण उत्तर हुबस्थल में रहनेवाले भेदभाँडी का दिन है। और हमारा दक्षिणायन उनकी रात्रि है। इस परिमाण पर भवन देने से मालूम हो जाता है कि उन गीतों मार्गों में से पहले अद्वितीय (अद्वितिय) मार्ग भारत से भवत तक प्रकाशमय है; और उसका घूमाहि मार्ग आपकारमय है। जल श्वासमय है और परापर चोटिया स्वौत्तिः (गी १६ १७) — ऐसो का देख है। इस कारण ऐहापात होने के अनन्तर, जानी पुरस्ता के मार्ग का प्रकाशमय होना उचित ही है। और गीता में उन दोनों मार्ग को 'शुद्ध' और 'कृष्ण अस्तित्वे कहा है कि उनका भी अर्थ प्रकाशमय और आपकारमय है। गीता में उत्तरायण के बाद के लोपनी का वरन नहीं है। परन्तु यास्क के निष्ठ में उत्तरायण के बाद देवताएँ सूर्य लैकर और मानसु पुरुष का वरन है (निष्ठ १४)। और उपलिपिया म देवतान के विभव में थो वरन हैं उनकी एकवाक्यता करके ब्रह्मन्तस्त्र में यह कम दिया है कि उत्तरायण के बाद सकास्तर, वायुस्त्रेषु सर्व अन्न किञ्चुल ब्रह्मस्त्रेषु इत्येष प्रव्यपतिकां और अन्त म ब्रह्मस्त्रेषु है (१ ६ १ १२ १५; गी ६ १ गीती १ ३; वे ८ ४ १ १—५)।

देवतान और पितृयान मार्गों के शोपानी या तुकांडी का वरन हो चुका। परन्तु इनमें थो दिक्षु शुद्धपात उत्तरायण इत्यादि के वर्णन हैं उनका तामस्य अथ कामवाचक होता है। 'उत्तिष्ठे स्वमन्तिः' ही यह प्रभु उपनिषत् होता है कि क्या देवतान और पितृयान मार्ग का काल से कुछ सम्बन्ध है? अथवा पहले कर्मी पा पा नहीं? यद्यपि दिक्षु रात्रि शुद्धपात इत्यादि शामा का अर्थ कामवाचक है सद्याचारि अभिप्ति ज्ञास्य वायुस्त्रेषु किञ्चुर भाति थो अस्य लोपान है उनका भी कामवाचक नहीं हो रहा। और यहि कहा जाय कि उनी पुरुष की दिन अवधि रात्र के समय मरने पर मिष्ठ भिष्म गति भिष्टी है तब तो हल का कुछ मरन ही नहीं रह जाता। इसलिये अभिप्ति दिक्षु उत्तरायण इत्यादि सभी शामों थो कामवाचक म मान कर केशस्त्रनुत्र में यह निर्दात्त किया गया है कि वे यह इनके अभिमानी देवताओं के लिये बस्तित किय गय है या जनी और कमसार्थी पुरुषों के भास्त्रा की मिष्ठ भिष्म मार्गों म ब्रह्मस्त्रेषु और वायुस्त्रेषु म से यहने हैं (१ नृ ४ २ —२१ ४ ३ ४)। परन्तु इस में सम्भेद है कि भगवद्गीता का यह मन मास्य है पा नहीं। कर्मादि उत्तर पर के बाद लोपानी का — कि थो कामवाचक नहीं है — गीता में वरन नहीं है। इनका ही नहीं; कलि इन मार्गों का कामने के पहले भगवान ने काम का स्वरूप उत्तर इस प्रवार किया है कि म गुसे वह काम काम्यता है कि दिन काल में मरने पर कमवार्थी रीत वर भासा है पा नहीं जाता है (गी ८ ३)। और महामारुत में भी यह वर्णन पाया जाता है कि वह भीष्मपितामह शत्रुघ्न्या में वह व तब व शरीरन्त्यम बरन है किय उत्तरायण की — गीता नृष्ट व उत्तर की और भूत्तने की — प्रार्थि-

इसकिय उन कमों की योग्यता भी यत्र के बरोबर है। अधिक क्या कहा जाय कि इनमें अपना दर्शन भी स्वार्थ नहीं है ऐसे कमों को उद्दिष्टि से करने पर क्ये यत्र ही क्षण या सहरे हैं। यत्र की उस आवश्यकी को स्वीकार करने पर को मुख्य कम निष्काम बुद्धि से किये जायें तो सब एक महायज्ञ ही होगे। आर ब्रह्मयमय यत्र का स्वयं हाले वास्त्र मीमांसकों का यह न्याय कि यथार्थ किये गये कोई भी कर्म क्षमता नहीं होते उन सब निष्काम कमों के किये भी उपयोगी हो जाता है। उन कमों का करते समय फलाशा भी छोड़ नी जाती है। किमके कारण स्वर्ग का भाना-बाना भी छटा जाता है और इन कमों को करने पर भी अन्त में मोक्षस्वरूपी सङ्गति मिल जाती है (गी ४ १)। सारांश यह है कि उत्तार यममय क्षमता है उही परन्तु कर्म करनेवाल्य के तो कर्ण होते हैं (कमलाण्डी लोग) और दूसरे तो या निष्काम बुद्धि से - क्षेत्र कर्तव्य समझ कर - कर्म किया करते हैं (जनी लोग)। इस सम्बन्ध में गीता का यह किणान्त है कि कमलाण्डियों का समग्रातिरूप अनित्य फल मिलता है और शान से व्याहृत निष्कामबुद्धि से कम करनेवाले ज्ञानी पुरुषों को मात्रक्षमी नित्य फल मिलता है। मौल के किये कमों का लोकना गीता में कही भी नहीं कहाशा गया है। उसके विपरीत अदारहृष्ट अप्याय के आरम्भ में स्वरूपया कहा गिया है कि स्याग = लोकना शब्द से गीता में कमत्वाग कभी भी नहीं समझना चाहियें; किन्तु उसका अप फलत्वाग ही सबका विवरण है।

उस प्रत्यार कमलाण्डियों और क्षमयोगियों को ग्रिम मित्र फल मिलता है। इस कारण ग्रन्थके बात मित्र मित्र लोगों में मित्र मित्र मांगों से जाना पड़ता है। इन्हीं मांगों का इस से 'पितृयान और 'वृत्यान' कहते हैं (गी १५ १६ ११) और उपनिषदों के आचार से गीता के आठव अप्याय में इसी लोकना मांगों का वर्णन किया गया है। वह मनुष्य किसको ज्ञन हा यमा हि - और वह शान कम से कम भरतवाह में तो भवय ही हा यमा हा (गी २ ७) - वैष्णव हैने के अनन्तर और जिता मे द्वारीर बहु जन पर उस अग्नि से ज्वानि (ज्ञात्य) किएस बुद्धिपति और उत्तरायण के उस महीने में प्रपाण करता रहा ब्रह्मपद की जा पर्वता ह तथा वहीं उस मौसूल ग्राम हाता है। उसक कारण वह पुनः ब्रह्म से वर मृग्युयोक मेरि जित नहीं लैद्यता। परन्तु वो केवल क्षमताण्डी है अवाहृत किये जान नहीं है वह उसी अग्नि त बुझीं राखि हृष्णाम और दण्डिणायन के ले, महिन इस कम से प्रपाण करता रुक्षा चन्द्रस्त्रोक का पर्वता है भार भयने किय एवं मद पुण्यकमों का भीम करक छिर इस लंबे में झन्म सेता है। इन दोनों मांगों में यही भव है (गी ८ २१-२३)। 'जानि (ज्ञान) शब्द के बड़े उपनिषदों में अनि ('द्वान) शब्द का प्रयोग किया गया है। उसे पहले मांग का निरिति भी और दूसरे का 'पूजाति' मांग भी कहत

समझिये परन्तु "सभे इस विद्वान्त में कुछ में नहीं होता, कि वहाँ वेवान और पिन्डायन शम्भा का सदाचार मागवाचक है।"

परन्तु क्या वेवान और पिन्डायन, तोना मार्ग शास्त्रोक्त अर्थात् पुष्पकर्म करनवाले का ही प्राप्त हुआ करते हैं क्योंकि पिन्डायन यज्ञपि वेवान से नीचे भी भेणी का मार्ग है तथापि वह मी बन्द्रसोक का अर्थात् एक प्रकार के स्वर्णसोक ही का पौर्णानेवाका मार्ग है। इसकिये प्रकार है कि वहाँ सुख भोगने की पात्रता होने के लिये इस सोक में कुछ शास्त्रोक्त पुष्पकर्म अवश्य ही करना पड़ता है (गी ८ ८१)। जो अंग योद्धा मी शास्त्रोक्त पुष्पकर्म न करके उत्तरार में अपना उमस्त जीकन पापाकरण में किंतु नहीं है क्योंकि उन डानों में से किसी मी मार्ग से नहीं आ सकते। उनके विषय में उपनिषदों में कहा गया है कि ये स्वेच्छा मरने पर एकदम पापु पापी आदि विर्यहृष्णानि म ऋग्म सेवे ह और जात्वार परमधेन अर्थात् नरक में जात हैं। इसी को 'तीव्ररा मार्ग कहते हैं (अ ८ १ ८ कर २६७); और भावशीला में भी कहा गया है कि निपट पापी अथात् भासुरी पुरुषों का पही नित्य गति प्राप्त होती है (गी १३ १ -२१ ९ १२ वे सू ३ ११, १३ निकल १४)।

उपर उन बात का विवेचन किया गया है, कि मरण पर मनुष्य की जड़ों कमानुष्य वर्त्ति दर्श के प्राचीन परम्परानुसार तीन प्रकार की गति विवर उम से प्राप्त होती है। उनमें से बन्द्रसोक वेवान मार्ग ही मोत्तवायक है; परन्तु यह मार्ग उम से अथात् अर्चिराति (एक के घाट एक, ऐसे कोई सोपानों) से जारी जाते अन्त में मिलता है। इसकिये "स सम्य को 'कमसुक्ति' कहते हैं। और देहात होने के अनन्तर अपात मृत्यु क अनन्तर ब्रह्मसोक में जाने से वहाँ अन्त में मुक्ति मिलती है" अमीरिक्ये उन विशेष-मुक्ति भी कहत है। परन्तु उन सब बातों के अतिरिक्त दूसरे अस्यामयाम्य का यह भी क्यन है कि जिनके मन में ब्रह्म और भासा के प्रकार का पृथ्य यात्ताकार नित्य बायत है उमे ब्रह्मप्राप्ति के विषय कही दूसरी आह क्यों जाना पड़ता? अथवा उम मृत्यु-कास की जी बाट क्यों ज्ञेहनी पड़ती? वह यह सब है कि उत्तराना से जी ब्रह्मण्ण होता है वह पहले पहले कुछ भाग्य रहता है; क्याकि इतने मन मृत्युसोक या ब्रह्मसोक इत्यादि की कायनार्द्देश उमपर ही जाती है और वही मरण-अमय में भी मन मृत्युनाभिष विरिणाम में ज्ञानी होती है। उत्तरान इस भाग्यता का दूर करने मात्र की प्राप्ति के विषय उम स्थंयों का वेवान मार्ग से ही जाना पड़ता है (व न ८ ३२६)। क्याकि अस्यामयाम्य का यह अर्थ तिवान्त है कि मरण नमय म जिनकी भूमि भास्ता या नक्ष ए हा उम जैनी ही 'गति' मिलती है (ण ३ ८) परन्तु मायूज उपासना या अन्य किसी कारण से जिनके मन में भवने गाया और ब्रह्म के बीच कुछ भी परंपरा या ब्रह्मात्मा (त २ ०) होना नहीं रह सका वह नीच ब्रह्म स्वयं ही है। अतएव प्रसर है कि ऐन पृथ्य का

पर रहे थे (मी १२ अनु. १६७)। “सुसे विनित होता है कि दिवस अप्सरा और उत्तरायणकाल ही मूल्य होने के लिये कमी-ज्ञ-कमी प्रदाता माने जाते थे। ज्ञों (१ ८८ १५ और २ ३ २ १०) में भी देवयान और पितृयान मानों का यहाँ पर बग़न है, वहाँ काष्ठाचक अर्थ ही विवरित है। इससे तथा अन्य अनेक प्रमाणों से हमने यह निष्पत्ति किया है कि उत्तर गोद्धार के लिये स्थान में सूर्य वित्तिक पर छः महीने तक हमेशा वीत पड़ता है उस स्थान में अर्थात् उत्तर मुख के पास या मेस्टर्यान में यह पहले अधिक अपियों की जल्दी थी, तब ही से छः महीने का उत्तरायणस्पी प्रकाशकाल मूल्य होने के लिये प्रदाता माना गया होगा। इस विषय का विलूप्त विवेचन हमने अपने दूसरे प्रम्य में किया है। कारण यहाँ इच्छा मी हो उचित सन्देह नहीं कि यह समझ बहुत प्राचीन काल से पर्याय भाती है और वही समझ देवयान तथा पितृयान मानों में प्रकृत न हो तो पर्याय से ही—मन्त्रभूत हो गई है। अधिक क्वान्त है हम तो पर्याय मान्यस्म होता है कि “न दोना मायों का मूल इस प्राचीन समझ में ही है। यह ऐसा न मानें तो गीता में देवयान और पितृयान का सम्बन्ध बरके और एक वार ‘काष्ठ (गी ८ ३) और दूसरी वार ‘गतिं’ वा ‘भूति अर्थात् मार्ग (गी ८ २७) कहा है भासी इन दो मिथ्य मिथ्य अप्यों के शब्दों का ये उपयोग किया गया है उक्ती कुछ उपराति नहीं लगाए गए उक्ती। देवान्तरमूल के शाश्वतमात्र में देवयान और पितृयान का काष्ठाचक अप्य लगात है जो क्षमयोग ही के लिये उपमुक्त होता है और वह मेड बरके कि सच्च ब्रह्मशनी उपनिषदों में वर्णित भीत्र मार्ग से अवात ऐताप्यमुक्त प्रकाशमव मार्ग से ब्रह्मवेष को जाता है ‘काष्ठाचक’ तथा देवताकाचक अप्यों की व्यवस्था भी गई है (वे स शा मा ४ २ १८-२१)। परन्तु मूल सबों का इतने से अक्षत होता है कि काम की आवश्यकता न इन उत्तरायणादि शब्दों से देवताभाको वस्तित कर देवयान का जो ऐताप्यमव अप्य ब्रह्मायणाकाय न निष्पत्ति किया है वही उनके मतानुसार सबल भवित होगा और वह मानना भी उचित नहीं है कि गीता भे वर्णित मार्ग उपनिषद की उत्तर देवयान गति का-ठोड़ कर व्यवन्व हो उक्ता है। परन्तु वहाँ इतने गहर पानी में पैठने की काँ आवश्यकता नहीं है; अर्थात् पश्चि उत्तर विषय में मतभेद हो कि देवयान और पितृयान के दिवस रात्रि, सक्षरायण भावि शब्द पृष्ठिहातिक इति से मूल्यरसम में काष्ठाचक ये या नहीं तथारि यह ज्ञात निषिकार है कि आगे वह काष्ठाचक अप्य छाँ दिया गया। अस्त में इन दोनों पर्याय का यही अप्य निष्पत्ति तथा उत्तर हो गया है कि—काल की अपेक्षा न इन ज्ञाने काँ रात्रि किमी लम्बय मौर—यह जानी हो तो अपन अर्मानुसार ब्रह्मायण मार्ग मार्ग से और केवल कमराजी हो तो अभासारमय मार्ग ने परम्पर का जाना है। याहे पर दिवस और उत्तरायण भावि शब्दों से ब्रह्मायणाकाय के कथनानुसार देवता कुमहिते; या इनके लम्बय से प्रसाद्यमय मार्ग के कमराजी इन एवं जापान

है आर भीमर्ष्यद्वाचार्य ने अपने शारीरक माध्य (वे द. १ ४ १४) में प्रतिषाद किया है कि यही अध्यात्मशान वी अत्यस्त पूर्णवस्त्या या परमात्मा है। उहि शा चाय कि ऐसी स्थिति प्राप्त होने के लिये मनुष्य को एक प्रकार के परमेश्वर ही हो जाना पड़ता है तो कोई अविद्यायोगिक न होगी। किंतु इन्होंने वी आवश्यकता नहीं कि उस रीति से जो पुरुष ब्रह्ममूर्त हो जाते हैं वे कर्मसुहि के सब विधिनिषेद्य की भक्त्या से भी परे छुटे हैं क्योंकि उनका ब्रह्मशान सौन व्याप्त रहता है। इसलिये ये कुछ ले किया करते हैं वह इमेश्य शूद्र और निष्काम बुद्धि से ही श्रेत्रित हो कर पाप पुर्व से भर्त्या रहता है। इस स्थिति वी प्राप्ति हो जाने पर ब्रह्मप्राप्ति के लिये किसी अस्य स्थान में जनने वी अवका देहपात्र होने की अव्याप्ति मरने वी भी कोई आवश्यकता नहीं रहती। इसलिये ऐसे स्थितप्रब्रह्मनिष्ठ पुरुष को 'बीचन्मुकु भृत है (यो ३ १)। यद्यपि शौद्ध-धर्म के लोग ब्रह्म या आत्मा को नहीं मानते तथापि उह यह जात पूर्णठया मान्य है कि मनुष्य का परम साम्य बीचन्मुकु की यह निष्काम भक्त्या ही है और इसी तत्त्व का संग्रह उन्होंने कुछ शब्दभेद ले अपने धर्म में किया है (परिषिद्ध प्रकरण देखा)। कुछ लोगों का कहन है कि परमात्मा के निष्कामत्व की उस अवस्था में और लगारिक कर्मों में स्वामानिक परस्पर किरण है इसलिये दिये यह अवस्था प्राप्त होती है उक्तके उब कर्म आप ही आप कुर जाते हैं और कह सन्याची हो जाता है। परन्तु गीता के यह मत मान्य नहीं है। उसका वही सिद्धान्त है कि स्वर्य परमेश्वर किया प्रकार कम करता है उसी प्रकार बीचन्मुकु के लिये भी — निष्काम बुद्धि से शोषणप्रह के निमित्त — मूल्यवर्त्तन तत्त्व स्वयंहारों का करते रहता ही अधिक भेषजकर है। क्योंकि निष्कामत्व और कम में कोई किरण नहीं है। यह जात अप्येष्ट ग्रन्थ के निष्कर्ष से स्वप्न हो जायगी। गीता का यह तत्त्व यामवाचिष्ठ (३ उ १ ०) में भी स्वीकृत किया गया है।

ब्रह्म प्राप्ति के किये किसी दूसरे स्थान में ज्ञाने की कोई आवश्यकता नहीं। इसी लिये बृहदारण्यक में याज्ञवल्क्य ने अनुष्ठान से बहा ह कि जो पुरुष पुढ़ ब्रह्मशान से पुण निष्काम हो गया हो — न तत्प्य ग्राण न्यग्रामति ब्रह्मव सन ब्रह्माव्येति — उसके प्राज्ञ दूसरे किसी स्थान में नहीं जाते किन्तु वह नित्य ब्रह्मभूत है और ब्रह्म में ही सब पाता है (१ ४ ४ ६) और बृहदारण्यक तथा कन्द शेना उपनिषदों में बहा गया है, जिसे पुरुष अब ब्रह्म समझते (कठ १ १४) — यही का यही ब्रह्म का अनुमत फरता है। इन्हीं भूतियों के आधार पर उिवगीता में भी बहा गया है, मौख के लिये स्थानान्तर करने की आवश्यकता नहीं होती। ब्रह्म का ऐसी बहनु नहीं है कि जो अमूर्ख स्थान में हो भी और अमूर्ख स्थान में न हो (स्थ. ७ २८ मु. २. २१)। तो फिर पुण ज्ञानी पुरुष का पुण ब्रह्म प्राप्ति के लिये न्यग्राम भूयसोऽ आवि मार्गे से ज्ञाने की आवश्यकता ही क्या इनी प्लाहिये ? ब्रह्म ऐति ब्रह्मिक मत्तति' (१ ३ २) — किसने प्रद्युम्नवृप को पहचान लिया वह तो सब यही का यही — दूसरे दोइ में ही — ब्रह्म हो गया। किसी पक्ष का दूसरे क पास ज्ञाना तभी हो सकता है वह 'एक और दूसरा ऐसा स्पलहूत या कालहूत मेंह द्वेष हो और वह भेद दो भनितम मिथिति मै अधात् अदैत तथा भेद ब्रह्मानुमत में रह ही नहीं चलता। इनकिये किसके मन की ऐसी नित्य मिथिति हो जुही है कि यस्य नदमात्मेताऽभूत् (१ २ ४ १४) या सब ग्रस्ति ब्रह्म (छा ३ १४ १) अधका मै ही ब्रह्म है — 'अह ब्रह्मात्म' (१ १४ १) उस ब्रह्मप्राप्ति के लिये भार तिन आग ज्ञाना पड़ेगा १ वह तो नित्य ब्रह्मभूत ही रहता है। पितृष्ठ प्रकरण के अन्त में ईश्वरा हमने बहा है जीता ही जीता मै परम ज्ञानी पुरुषों का ज्ञान इस प्रकार किया गया है जि अभिनो ब्रह्मनिषाण बर्तत कितितामनाम (गी ८ ४६) — निष्पन्न ईश्वरमात्र को घोट कर भाग्यस्वरूप का ज्ञान लिया है उसे पाहे ग्रारथ-क्रम-भय के लिये देहपात होने की राह लेनी पढ़े, तो भी उसे मौख प्राप्ति के लिये कही मी नहीं ज्ञाना पाया क्योंकि ब्रह्मनिषाणस्य मात्र तो उसके समने हाथ गाँ गद्य रहता है। भयका ईश्वर तीर्तिः तर्गो देवा गाम्ये रिष्टु मन (गी १)।— किसके मन मै तुव्यूक्तान्तरम ब्रह्मात्म्यक्यरूपी साम्य प्रस्तुरिम्यन हा गया है एह (तेनपान माग भी ज्ञेया न राप) यही का यही क्षम मरण को भीत स्तीया है। अपका 'भूतपूर्पाद्यन्तमस्यमनुपश्यति' — किसकी इन्द्रादि मै तुमस्तु प्राप्तियों की मिष्टता का नाम हा जुहा और किन के सब एकमय ज्ञान परमधर-महर ईश्वर समने है एह ब्रह्म सम्भाले — ब्रह्म मैं भिक जाना है (गी १३ १)। जीता का क्य पक्षन ऊपर दिया गया है जि 'ज्ञयन और विज्ञान मागों को तात्त्व ज्ञानने साम्य क्षमतोर्गी माइ क्य प्राप्त नहीं होता (गी ८) उसम भी तुम्हार ज्ञाननिषाण पड़ क्य भय परमार्थि क स्वरूप का पहचाननासा ही गिरभिन है (तेना याम्यन १ १६ ७६)। यही पुण ब्रह्मभूत या परमात्मवि की आस्ती मिथिति

होते हैं। आर न म ले जा परम भेद नहरे उमी की ओर प्यान हे कर पहले से (अषाव् साक्षात्कारस्था मे ही) कर्मचर करना सुनिश्चाब्लाक होगा। इसलिये उत्तमों परमा के गारणम्य का विवार किय मिना कम और अकर्म का को भी भाष्यात्मिक विवेष्णन पूर्ण नहीं हो सकता। अबुन से यिर्क यह कह देने से कम नहीं चढ़ सकता था कि पृथग् ब्राह्मणन प्राप्त हो जानपर कर्मों का करना और न करना एक जा है (गी १ १८) क्याकि समस्त व्यवहारा मे कर्म की अपेक्षा बुद्धि ही की भज्ञा होने के कारण ज्ञान से किसी बुद्धि समस्त भक्ता म सम हो गा है उसे किसी भी कम के द्विमाणमन्त्र का ऐप नहीं समझा (गी ४ २ , २१)। क्षणान् का हो जो यही निखित उपेक्षा था कि - मुठ ही कर - मु यत्व। (गी २ १८) और एक ग्रन्त उपास उपवेद के समयन म लड्डाइ करो तो अच्छा, न करो तो अच्छा। ऐसे मन्त्रिक उत्तर की अपेक्षा और दूसरे कुछ समझ कारणों का क्लाना भावभूमिका था। और तो क्या गैत्राणाम् की प्रकृति यह क्लाने के किये ही हुई है कि किसी कम का भवकर परिणाम हाइ के सामने देखते रहने पर मी बुद्धिमान् पुरुष उत्ते ही कर्मों कर। गीता की यही तो कियेष्वता है। यदि मह सत्य है, कि कर्म से क्लान् क्लान्ता और ज्ञान से मुक्त होता है तो अनी पुरुष को कम करना ही कर्मों पाहिजे। कम यत्व का अप कर्मों का क्लाना नहीं है बेवस फलाण्या छोड़ देने से ही कर्म का भय हो जाता है भव कर्मों को छोड़ देना यत्व नहीं है न्यायि क्लान्त्व वर्णनि सत्य है उधापि न्मसे भवी मौति यह किंद्र नहीं होता कि कर्म यह उड़ उड़ ठहने मी न छोड़ द्यें। और न्याय से अम्ले पर मी यही भवं निष्प्रभ होता है न्यायि गीता ही म कहा है कि चारों ओर पानी ही पानी हो जाने पर किस प्रकार यिर उत्तम किय का कुण की गोद नहीं करता उसी प्रकार कर्मों से किंद्र होनेवाली अनग्रामि ही भूम्न पर अनी पुरुष को कम की कुछ मी अपेक्षा नहीं रहती (गी २ १९)। इसी किये कीदर अर्थात् के भारम्य मे अबुन ने भीर्पा ने प्रथम पही पूछा है कि आपकी सम्मति मे यदि कम की अपेक्षा निष्प्राम अपर्णा लायबुद्धि भइ हा तो रिष्टप्रथम के उमान मि मी अपनी बुद्धि को हुए किये देना है - पर मेरा मनलय पुरा हो गया; भव किस भी लड्डाइ के इस पार कम मे मुहे कर्मों पंगान हा' (गी ३ १) इनसा उत्तर इन हृष मारान ने कम किसी ने मी यह नहीं कहत 'न्यायि कारण बनत्य वर न्याय अर्थात् मे कम का उत्तमन किया है परन्तु साम्य (सम्यान) और कर्मदोग इनी ही माय यदि शास्त्रे ते काल्याय गय है तो यही कहना चाहिया कि शन की प्राप्ति हा जाने पर इनमे ते किस ज्ञ माय भवना प्या उमे वह स्वीकार कर से। एही इता मे फौर्व भवाय के गारण म अबुन ने पर क्रापना की कि इनी माय गौत्याल वर के कुना न दास्तर्य निष्प्रयुक्त मूरो एक ही ता लक्ष्याय कि उन गौती मे ते नार्थक भइ र्वन है (गी १)। कि जनानर कम करना भीर न करनी

ੴ ਰਾਮ

१५ वाम श्री रमेश्वराना

*Opus est in fratre et in  
fratre vestrum quod te operis*

चारी रखा है। इहना नहीं होगा, कि सेन्टर और मिल प्रशृति अन्वेषणशास्त्र के मत कार्य के लिए है। परन्तु इन सब के अगे कह कर हाथ के अपने के आदि भौतिक कर्मन पण्डित निती ने अपने ग्रन्थी में, कर्म छोड़नेवाले पर ऐसे शीर चक्र किये हैं कि यह कर्मसंन्यास-पठनाधि के लिये 'मूर्ख शिरोमणि' शब्द के मर्क सौम्य शब्द का उपयोग कर ही नहीं सकता है।\*

मूर्ख में अरिस्टाटल से लेकर अब तक कितने प्रकार इस सम्बन्ध में दो पत हैं उभी प्रकार भारतीय ऐतिहासिक शर्म में भी ग्राचीन काल से लेकर अब तक "स तमन् के गैर सम्बन्धिय एह से जड़े आ रहे हैं (मा शा १४९ ७)। इनमें से एक का उन्नास-मार्ग, साक्ष्य निष्ठा या केवल साक्ष्य (अपवा इन में ही निष्ठा किसी रहने के अरण इन-निष्ठा मी) कहते हैं; और दूसरे को कर्मयोग, अपवा उद्देर क्षेत्र योग या कर्म निष्ठा कहते हैं। हम सीधे प्रकरण में ही कह भावे हैं, कि वहाँ 'सात्रय और योग शब्दों से सात्रय क्षमता: कर्मिक-क्षमत्य और पाठ्यक्षमता' के नहीं है परन्तु 'सन्धार शब्द भी मुछ सन्दिग्ध है। इसकिये उसके अर्थ का दुष्कृ अधिक विवरण करना यहाँ आवश्यक है। 'संस्यास' शब्द एक विवाह न करना, आर परि किया हो तो 'वाष्प-क्षमों की ओट मात्रे कपड़े रंग लेना अपवा 'क्षमत्य व्यौथे आभ्रमका प्रहृष्ट करना इतना ही अर्थ यहाँ विविहित नहीं है। क्योंकि विवाह न करने पर भी भीमपितामह मरणे दम तक राज्यकार्यों के उद्योग में जो रहे और भीमत् शङ्खपात्रार्थ ने व्रजक्षर्य से एकदम पौषा भाभम प्रहृष्ट कर, या महायदूरैष में भीसमर्थ रामगति ने मृत्युपयन्त्र व्रजकारी - गोम्यामी - रह कर, इन पैदा करके ठंडर के उद्धारार्थ कर्म किये हैं। यहाँ पर मुख्य प्रभ पहरी है कि श्योल्चर उत्तर के अवहार केवल कर्त्तव्य समझ कर लोन क्षयाम के लिये किये जावे अपवा मिष्या उमस वर एकदम छोड़ किये जावे। इन अवहारी या कर्मों का करनेवाले कर्मवोगी वहाँवाई है किंव जाहे वह म्याहा हो या कर्त्तोरा मात्रे कपड़े पहने या उपेत। हीं वह भी वह या सकता है कि ऐसे काम करने के लिये विवाह न करना मात्रे कपड़े पहनना

कर्मवाग और कर्मवाग (क्षयाम या उमसात) इनी दो मार्गों को उनी ने जर्ने Pessumप्रका नाम सम्बन्ध में इस से Optumप्रका और Pessumप्रका नाम दिये हैं ता हमारी जात में यह नाम ठीक नहीं। Pessumप्रका शब्द का अर्थ उत्तर विराजकारी वा धर्मी व्याप्ति है। पालु नवार का अद्वितय उमड़ कर इन छाँड़ लेनाने विवाही नामनी इन है और वे जाय उत्तर वा भावना त ही छाँड़ है इनमें इमारी धर्म वे उत्तर Pessumप्रका इसी हीर मही। इन दोनों कर्मवाग को Dik्षाप्रका और नवार वा नीत्यान भारी का Quicquidप्रका कहा भविष्य इसका होगा। ऐसीर वर्ते के अनुग्रह लोटों बर्ती में व्रजवाल एक ही ना है इनमें शायद या नानां और शालि भी एक ही-नी है। हम लें यह वह वाल जिए इस मात्र भवनकरद ह और दूसरा दूसरा है भववा एक भावावारी है और दूसरा विवाहारी।

एक ही सा है तो फिर म अपनी मर्दी के अनुसार वही चाहेगा तो कम करेगा नहीं तो न करेंगा। यदि कम करना ही उसम प्रभ हो तो मुझ उसका कारण समझान्ये तभी मैं आपके कथनानुसार आचरण करूँगा। भक्त जा यह प्रभ कुछ अपव नहीं है। योगाबासिष्ठ ( ५६ ३ ) म भीरामचन्द्र ने ब्रह्मिष्ठ से भार गणन्य गीता ( ४० ) म वरेष्य राज्य ने गणेशजी से यही प्रभ मिला है। कवय हमारे ही पर्ही नहीं करने यूरोप म इहाँ तत्त्वज्ञान के विचार पहले पहल शुरू हुए थे उस मीठे भेद म भी प्राचीन काल में यह प्रभ उपमित शुभा या। यह बात भरिस्यायक क्रम्य से प्रकर होती है। ऐसे ग्रनिष्ठ यूनानी शर्नी पुस्तक न भरने नीतिशास्क सम्बन्धी प्रथा के भल्ल ( १ ० भार १ ) म यही प्रभ उपनिषद मिला है भार प्रथम अपनी पहल सम्मति थी ह कि सुमार क या राजनीतिक मानव म विजयी शिकान वी अपेक्षा जानी पुस्तक से विजय क विचार म वीष्णव निनाना ही सच्च आर पुणे राजनीत्यायक है। तो यी उसके अनन्तर विष्व गव अर्पा राज्य के सम्बन्धी प्रथा ( ३ भार ३ ) म अरिस्यायक ही छिपता ह कि तुम जानी पुस्तक विचार म तो कुछ राजनीतिक काव्यों म निमित्त शीघ्र पत्ता है गर यदि पुष्टा राय कि "न जाना मायों म जानना प्रहृत अन्या है तो यही कहना पत्तेगा कि प्रभाय माग भाज्ञ न पाया हु। तथापि ऐसे कि जपा भैक्षण का भाज्ञ रहना नूम ह ०" अपेक्षि यह कान म कान हानि नहीं कि आनन्द नी तो एक कम ही ह आर यदि भव प्राप्त मी भनेक अर्था म जनयुक्त तथा नीतिशुल्क क्रमा न ही है। श रूपाना पर अरिस्यायक के निम्न निम्न नका का अन्तर गीता क ऐसे स्वरूप क्षम जा महस्त पानका क यान म जा छेक्का कि कम यायो व्यक्तमणा ( गी ३ १ ) - अग्रम की भवेता कम भवते हैं। गल घटास्ती का ग्रनिष्ठ देवत विश्व भाग्यम् जा अपने भाषित्यालिक तत्त्वज्ञान में कहता है पर वहाँ भावित्यालिक ह कि वस्त्रविचार ही म निमित्त रह कर छिपती निनाना भवेत्वर है। तो ताज्ज यूनिय इन द्वारा राजुयनन का अद्वैतात्मक बत्ता है जार भवन हाथ में हाने याएँ पारा का कव्यण वरना और ज्ञान है उसके विष्व में यही कहना चाहिय कि वह जपने प्राप्त नाम्नों का दृश्ययोग करना है जपन म उमन तत्त्वज्ञा शापेनहर न जहा है कि सुमार क उमन भवेत्वाहर - यहा तरह ईदिन रहना नी - इत्यमय ० अस्तित्व तत्त्वज्ञान प्राप्त कर ज्ञ भव करा वा शिखनी ही हा भई नाम बना ही इन सुमार में मनुष्य का जप्ता ज्ञाय ० जार मन ० ० म रिश्वारहर का ०८ १ म लमार म विष्व दारेत्वहर का पथ उक्ति न हास्येन ने

"And it is equally a mistake to place our i t in action for h ipmises is acti uly and th actions of the just and wise are the realisation of much that is noble" (Aristotle's P luse trans by Jowett, Vol I p 12 The Iatines are ours )

चानुवर्ण्य के यहांपाग आदि कर्म अथवा भूतिस्मृतिवर्णित करने से ही मोक्ष मिलता है। परन्तु मीमांसको का यह पक्ष गीता को मान्य नहीं (गीता २.४१)। (१) बूद्ध अर्थे यह है कि चिन्ताद्वयि के स्थित करने (कमयोग) की जानकारी है। इसके लिये देवल चिन्ताद्वयि के निमित्त ही करना चाहिये। इस भव के अनुसार कर्मयोग सन्त्यासमाग का पृष्ठाङ्क ही चाहता है परन्तु यह गीता म वर्णित कमयोग नहीं है। (२) जो जानता है कि मेरे आ मा का कर्त्याश विष म ह वह शब्दी पुरुष स्वधर्मोक्त बुद्धार्थि जासारिक कर्म मूल्यप्रयत्न करे या न करे! वही गीता मे मुख्य प्रस द्वि। और उसका उत्तर यही है कि जानी पुरुष का चानुर्वर्ण्य करने कर्म निष्कामकुद्धि से करना ही चाहिये (गी ३.६)। यही कमयोग शब्द का तीसरा अर्थ है और गीता मे यही कमयोग प्रतिपादित किया गया है। पहले कमयोग सन्त्यासमार्ग का पृष्ठाङ्क करायि नहीं ही सकता। क्योंकि एस माग म कर्म कमी दूर्घट ही नहीं। अब प्रश्न है केवल मोम्पासि के किम्य म। इस पर गीता म संप्र कहा है कि ज्ञानप्राप्ति हो जाने से निष्कामकर्म अनुभव नहीं हो सकते प्रकृत सन्यास मे ऐ मोक्ष मिलता है वही इस कर्मयोग से भी मास होता है (गी १३)। इसमें गीता का कमयोग सन्त्यासमाग का पृष्ठाङ्क नहीं है किन्तु शब्दोक्तर ये डीनों माग में दृष्टि से अवश्यक अपाराहन्यस्त है (गी २)। गीता के मार्क-सिन्दूर-विषय निष्ठा (गी ३.३) का यही अर्द करना चाहिये। औं एसी हेतु ज्ञानान न अन्त अरण म—ज्ञानयोगिन सारण्यस्ता कमयोगेण योगिनाम्—एस ज्ञानों मार्गो का दृष्ट दृष्ट स्वप्नीकरण किया है। आगे चल कर तरहवे अप्याश म कहा है: अन्ते साम्पन्न योगेन कमयोगेन चापरे (गी १३.८४) एस कोक दे—‘अन्ये’ (एक) और अपर (दूसरे)—ये पड़ उक्त ज्ञानों मार्गों को स्वतन्त्र माने जिन अनुर्धव कर्म नहीं लगते। इनके जिता किंतु नारायणीय प्रम का प्रश्निमाग (योग) गीता म प्रतिपादित है उसका इतिहास महाभारत म देखने से यही सिद्धान्त है होता है। सुषिक्षा भारतम मैं मग्नान ने हिरण्यगम अध्यात् ब्रह्म को सृष्टि रचने की भावण भी। उसे मरीचि आदि प्रमाण भात मानसपुत्र है। सृष्टिकर्म का अप्त्ते प्रकार भारतम करने के लिये उन्होंने योग अथात् कममय प्रश्निमाग का अवसरमन किया। ब्रह्मों के नन्दनुमार भार विष्णु प्रभुति कुरर भात पुषा ने उपम हैंति ही निष्क्रिमाग अथात् मार्ग एव अवश्यकमन किया। एस प्रसार इनों मार्गों भी उत्पत्ति बताय कर आगे स्वरूप कहा है कि ये ज्ञानों मार्ग मार्गात्पृष्ठि से गुरुमस्त अवान जामुदस्वरूपी एक ही परमभर भी प्राप्ति कर इनेकाम विष्म निष्प भार स्वतन्त्र है (म भा शा ३४/३८-४६३-३५)। एसी प्रसार यह भै में द किया गया है कि योग अध्यात् प्रश्निमाम एव प्रत्यक्षित्यगम है और मार्गमाग के स्वप्नकर्म कपिल है। परन्तु यह जरी नहीं कहा है कि भाग। दूर यगम न करना का योग कर दिया। इसके विपरीत एक वर्णन है कि मार्गान ने गृहि का व्यवहार अप्त्ति तरह भै एवं के लिये

अपवा बसी से बाहर चिरक ही कर रहना ही कमी कमी विद्युत सुभीति का होता है। क्यांसि पिर कुन्नम के मरणपोषण की जंजर अपनी पीठे न रहने के कारण अनना सारा उमय और परिष्म सोक कायों में स्था इन के सिव दुउ मी अद्वन नहीं रहती। यहि देसे पुरुष में से सन्यासी हा ता भी वे तत्त्वदृष्टि के कर्मयोगी ही हैं। परन्तु विश्वीन पक्ष में — अध्यात् ता और ग न्म सचार के समल व्यवहारों के निष्कार लम्फ उनका स्थान करके चुपचाप हैं रहत हैं — उम्ही का सन्यासी रहना चाहिये। पिर चाहे उम्हाने प्रथम नीडा आधम ग्रहण किया हा या न किया है। सारांश गीता का कश्यप म्लां अपवा सफूट फल्द्य पर और विदाह या ब्रह्मचर्य पर नहीं है प्रत्युत उम्ही एक शात पर नहर रग कर गीता में सन्यास और कर्मयोग इनों मागों का दिमें किया या है कि आनी पुरुष कल्प के व्यवहार करता है या नहीं? यह बातें गीताप्रमाण में महत्व की नहीं हैं। सन्यास या चतुषाधम इम्हा की भवता कर्मन्यासु अपवा कर्मयोग इच्छ यहाँ भविष्य अस्यक्त और निष्कारिष्य है। परन्तु न इन गीता की भवता किंकु सन्यास इच्छ के व्यवहार की ही अधिक रीति के कारण उम्हें पारिभाविष्य अप का यहाँ विवरण किया गया है। किंहैं इस सचार के व्यवहार निष्कार गीता के इत्यन्तर्मात्रा में प्रवेश करत है। इससे कर्मयोग के इस माग को सन्यास कहत है। परन्तु इसके प्रयत्न माग कर्मन्यास ही है गम्य करने नहीं।

यद्यपि इस प्रकार इन गीतों पदों का प्रचार हा कि पृथ शत हान पर भाग कम करो (कर्मयोग) या कम दां ग (कर्मन्यासु)। सधारि गीता के साम्याविष्य शीरकारी ने भव यहाँ यह यम इच्छा है कि क्या अन्त में मोक्ष प्राप्ति कर इन के विष शीता माग स्वतन्त्र अधात् परम्परा लम्फ है? अपवा कर्मयोग केरप पृष्ठान्त यानी परम्परा भी है भीर गीता के इस अंत कर सन्यास स्था ही चाहिये। गीता के दूसर भीर गीता के अध्यायों में इन्हें है उनसे इन पदों है कि ये गीता माग शनन्त्र हैं। परन्तु इन दीर्घकारी का मन है कि क्या नक्कन तन्यासु आधम की भविष्यकार कर गम्या सामारिक वर्मों वा छाई लिया मात्र ही। निष्प सम्भा — आर या हांग इम्ही गुद भी गीता की दीप्ति करने में प्रहृत हैर है कि यही इन गीतों में दीर्घ लंब गर है — व गीता का मह मात्रप्र निरान्त्र है कि कर्मयोग स्वतन्त्र दीर्घी ल मात्रप्राप्ति ही माग नहीं है। परन्तु विच की युज्ञता के विष वम कर अन्त में लग्नासु ही लग्ना चाहिये। सन्यास ही भविष्य नुस्ख निष्ठा है। परन्तु इन अप का स्वीकार कर अंत स नक्कन ने ये या कहा है कि सारय (तन्यासु) है या दां (कर्मयोग) भविष्य भवता या प्रकार की विच इन नक्कन में है (१ ३ ३)। उग विष्य वा का स्वरम्य विष्कृत नह हा गीता (कर्मयोग या व गीता भव द्वा लक्ष्य ही लक्ष्य है) परम् अप पर है कि इन ही पदों में हो।

अपेक्षा कम भष्ट है (गी ३ ८)। “सिद्धिये तू कम ही कर (गी ४ १६) भक्ता ‘योगमाचित्तोचित्पु (गी ४ ४२) – कर्मयोग अद्वीकार कर सुद के लिये जरा हो।

(योगी) शनिम्योक्ति मतोऽपित्ता – शनिमार्गवाङ्मे (सन्यासी) की अरेष्ठ कर्मयोगी की योग्यता अधिक है। तत्त्वाद्योगी मतार्हन्’ (गी ६ ४६) – “तत्त्वे है भक्तुं! तू (कम –) योगी हो। अपका ‘मामनुग्रह तुष्य च (गी ८ ३) – मन मे मेरा ग्नरण रख कर सुद कर “स्यादि अनेक वचनो से गीता मे भक्तुं जो जो उपदेश स्थान स्थान पर हिया गया है उसमे भी सन्यास या भक्त्यं भी अपेक्षा कर्मयोग की अधिक योग्यता दियते हैं लिये ज्याएः अधिका और विशिष्यते इत्यादि पर स्पष्ट है। भडारहवे अभ्यास के उपसहार मे भी मतार्हने फिर कहा है कि नियत कर्मो का सन्यास करना उपरित नहीं है। आसांचित्तिर्व सब काम सदा करना चाहिये। यही मता विवित और उत्तम मत है (गी १८ १ ७)। इसमे निर्विद्वाव सिद्ध होता है कि यीता मे सन्यासमाग की अपेक्षा कर्मयोग को ही भेदता भी गई है।

परन्तु जिनका साम्प्रदायिक मत है कि सन्यास या भक्ति ही अनिम और भेद कर्त्त्य है कम से नियत विचल्युदि का साधन है वह सुख साप्त या भक्त्यं नहीं हो सकता उन्हें गीता का यह लिङ्गान्त ऐसे प्रसन्न होगा? वह नहीं कहा यह सकता कि उनके यान मे यह बात आई ही न होगी कि गीता मे सन्यासमाय की अपेक्षा कर्मयोग की स्पष्ट रीति से अधिक महत्व दिया गया है। परन्तु कहि यह मान भी जाएँ सो यह प्रकट ही है कि उनके सम्प्रदाय की योग्यता कम हो जाती। इसी से पौर्वके अभ्यास के व्याख्य मे – अवृत्त के प्रभ और मतार्हने के उत्तर सर्व, सुविकित और स्वप्नार्थक रहने पर भी साम्प्रदायिक दीक्षाकार “स वज्र मै पड़ गये हैं कि “नका देसा क्या अथ दिया ज्याएः पृष्ठी अहन्त्वय यह थी कि सन्यास और कर्मयोग इन दोनो मार्गों मे भेद नहीं है” यह प्रभ ही दोनो मार्गो को स्वतुल्य मने लिना उपरित हो नहीं सकता। क्योंकि दीक्षाकारों के कर्मानुसार कर्मयोग यहि शक्ता विर्क पूर्णाङ्ग हो तो यह बात सम्बिद्ध है कि पूर्णाङ्ग गौण है और यान अपका सन्यास ही भेद है। किर प्रभ करने के लिये गुञ्जाय ही नहों रही। अस्त्रा यहि प्रभ को उपरित मान से ही तो यह स्वीकार करना पड़ता है कि ये दोनो मार्ग स्वतुल्य हैं। और उब दो यह स्वीकृति “स कर्म का विरोध करनी कि केवल इमारा सम्प्रदाय ही मोक्ष का मार्ग है। इस अवृत्त को पूर करने के लिये इन दीक्षाकारों ने पहली तो यह दुर्ग दिया है कि अर्हन का प्रभ ठीक नहीं है। और किर यह दियते हैं प्रथल लिया है कि मतार्हने के उत्तर का तात्त्वर्य भी देखा ही है। परन्तु “उन्हों ने अपका करने पर मी मतार्हने के “स स्पष्ट उत्तर – कर्मयोग की योग्यता अपका भेदता लियेय है (गी १८ १ ७) – का अथ नील नीक मिर भी समा ही नहीं। उब अन्त मै नहों मन का – पूर्णांगर स्वतुल्य के विवद – दूसरा यह दुर्ग स्या वर इन दीक्षाकारों की

चहचड़ का उत्तम किया और हिरण्यगम से उपा अन्व बेकामी से बहा, कि इसे निरन्तर बढ़ी रखा (मा शा १४ ४४-३ और ११९.६६ ६७ टेलो)। इसमें निर्विकाङ्क सिद्ध होता है कि साम्य और योग ऐना माग भारम्भ से ही स्वतन्त्र है। इसमें यह भी गीर पक्षा है कि गीता के साम्याधिक वीराकारों ने क्रमयोग का भी गोपन्त्र ज्ञे का प्रयत्न किया है वह केवल साम्याधिक भाग्यह का परिणाम है। और इन गीताओं में स्थान स्थान पर यह तुर्ता आमा रहता है, कि क्रमयोग श्वनप्राप्ति अवश्या सन्यास का केवल साधनमात्र है वह इनकी मनग्रन्थ है। बालम म गीता का सभ्य मात्राप देखा नहीं है। गीता पर जो सन्यासमर्गीष विचारें हैं उनम हमारी समझ से यही मुम्प्य दाप हैं। भार वीराकारों के इस साम्याधिक भाग्य में क्षुट किसी सम्बद्ध नहीं कि गीता के वालविक रहन्य का जाप हा जाव।

यदि यह निष्पत्ति कर कि क्रमसन्यास और क्रमयोग उनी स्वतन्त्र रैति से मार्गयह हैं – एक दूसरा का पूछाह नहीं – तो भी प्रता निषाह नहीं होता। क्याकि, यदि इनको माम पक्ष ही से मोम्पायक है तो कहना पक्षगा कि जो माम हम पक्षम्भ हाया उसे हम भीकार करें। और फिर यह सिद्ध न हो कर – कि अद्वृत का मुद्द ही करना चाहिय – ये दाना पद्ध सम्बद्ध होते हैं कि मगवान क उपर्युक्त से परमधर का ज्ञान हान पर मैं जाए वह अपनी र्घ्नि के भनुसार मुद्द कर भपवा लड़ा मरता छार कर मम्पास महण कर स। “सीकिय अद्वृत ने स्वामारिह रीति से यह गुरु प्रभ किया है ज्ञ दाना मामों में जो भधिक प्रदान हा वह एक ही निष्पत्ति स मुद्द ज्ञानाता (गी १) किसक भावरण करने में काढ गडवह न हो। गीता क पाँचव नाम्याय के भारम्भ म उस प्रकार अद्वृत क प्रभ कर युक्ते पर अग्रज कर्त्तव्य म भगवान ने स्पष्ट उत्तर किया है कि सन्यात और क्रमयोग उनी माया निष्पत्तिकर भयान मालायक है रथजा भोधरपि से एक ही पोष्यता क है। तो भी कालों में क्रमयोग की ज्ञहता पा योग्यता विद्वेष है (विद्यिष्पते)’ (गी २) और पही भोक्त हमने इस प्रकरण क भारम्भ में किया है। क्रमयोग के भयान क सम्बद्ध म यही एक वचन गीता म नहीं है किन्तु अन्त वचन है। ऐसे – नम्मामायाय मुपम्भ (गी ५) – “तपिये त् क्रमयोग ही भीकार त् मा ते मुड्डाम्भम्भि (गी २ ४३) – क्रमन करने मा भाग्य मन कर।

पन्निगिदिपाणि मनसा नियम्पारम्भम्भुर्मुत्।

क्रमेनिष्पत्ति वृमयोगमनक्तः स विद्यिष्पते ॥

जब तो उद्वृत क इष्टमेन पक्ष कर “इन्द्रिया की मन से राह कर भगवान् तुदि व ज्ञ एवा क्रमिया म व्य न करनेवाल वी योग्यता विद्यिष्पत्ति भवान् विद्वेष है” (गी १ ३) क्याकि भी क्या न हा व्य त्वावी इक्ष्मा भवन वी

कम का उपयोग नहीं है और न इसीनिये कम उपयोग ही हुए है। इसमें कठा व्यक्ति है जिसके अतिरिक्त अन्य कारणों के लिये स्वधमानुषार प्राप्त होनेवाले कर्मदृष्टि के समस्त स्वव्याहार निष्कामदुदि से करते ही रहने की शर्ती पुरुष को मैं कहत है। एस प्रकरण म आगे वित्तारहस्यित्र विचार किया गया है कि ये मन्त्र कारण कीतर्से है। यहें इतना ही कह देते हैं, कि जो अर्द्धन संन्यास से के लिये तैयार हो गया या उसको ये कारण बहुआन के निमित्त ही गीतारहस्य की प्राप्ति प्राप्त है। भार एसा अनुमान नहीं किया जा सकता कि चित्त की शुद्धि के पश्चात् मौलिक लिये कमों की अनावस्थरता करना कर गीता में सन्यासमाग ही का प्राप्तिपादन किया गया है। शाङ्करसम्बाद का यह मत है सही कि ज्ञानप्राप्ति के अनन्तर उप्यात्माभूमि से कर कमों को छाड़ ही भेजा जाहिये। परन्तु उसे यह नहीं चिन्ह होता कि वैदिक का तात्पर्य भी वही होना चाहिये। और न वही बात चिन्ह हाती है कि मन्त्रे शाङ्करसम्बाद को या अन्य किसी सम्बन्ध को 'कर्म' मान कर कमों के अनुभव गीता का दियी प्राप्त अथ स्मा सेना जाहिये। गीता का तो वही रिपर चिन्हान्ति है कि ज्ञान के पश्चात् भी सन्यासमाग प्राप्त करने की क्षेत्रों कर्मयोग का स्वीकार करना ही उत्तम पद है। फिर उसे जाहे निराला सम्बन्ध कही या भार उछ उसका नहीं रखो। परन्तु इस बात पर भी व्याप्त इन ज्ञानप्राप्ति के यत्परि गीता को कर्मयोग है ऐसा ज्ञान पड़ता है। तपापि अन्य परम असहिष्यु सम्बन्धयोगी की भौति उसका वह आपह नहीं सन्यासमाग का सबूता तात्पर्य मानेना चाहिये। गीता में सन्यासमाग समन्वय में कही भी अनावस्थरमात्र नहीं चिन्हितया गया है। एसके चिन्ह मन्त्रान् रूप कहा है कि सन्यास और कर्मयोग इनी मार्ग एक ही से निष्पेयतर - मार्ग शायक - अपदान मानाइ दें समान मार्गान है। और आगे एस प्रकार की तुलिता से इन दो मिल भिन्न मार्गों की एकत्रिता भी कर चिन्हान्ति है कि एक सामान्य व दोनों च या पश्चति स पश्चति (गी ८) - द्विते यह मामम हो गया कि ये दोनों मार्ग एक ही है - अचानक समान झटकाल है - उसे ही तत्त्व तात्पर्यन हुआ। या 'कर्मयोग हा तो उत्तम भी कर्मयोग का मन्त्रान करना ही पश्चता है - न हमस्वस्तरान्तरे पर्याप्ती भवनि कर्मन (गी ९)। यत्परि ज्ञानप्राप्ति के अनन्तर (पहले ही नहीं) कर्म का मन्त्रान करना पा कर्मयोग स्वीकार करना दोनों मार्ग भालहारि से एक ही याम्यना क है तत्परि स्वव्याहार की दृष्टि से विचारने पर पर्याप्ती मार्ग नहीं है कि तुलिति में सन्यास रूप कर - अपान निष्कामदुदि से देखियों क शायकीयता लोकमहारक सब बाय दिय जाय। कर्मयोग मन्त्रान का विभिन्न उपदेश है कि उन उपाय में सन्यास और कर दोनों द्विपर रहत हैं। एस तत्त्वान् रिपर अर्द्धन युद्ध क दिय प्राप्त हो जा है। जानी भीर ज्ञानी म वही तो इन्होंने है। कर जारीर अपान उद्दित्या क कर देय, तो दोनों के एक से होगी ही परन्तु अर्द्धनी मन्त्रान उन्हे गतिशुद्धि म भीर जानी मनुष्य ननामत्तुदि से विप

किंतु प्रक्षर अपना समाधान कर लेना पड़ा, कि 'कर्मयोग विद्यिप्यते' – कर्मयोग की दोषता विशेष है – यह रूचन कर्मयोग की पौर्णी प्रथा करने के लिये यानी अर्थवाचारमन्त्र है। यात्राव में सन्यासान् के मठ म मी सन्यासमाग ही भव ह (गी शी भा ६ २ ६ १, २ १८ ११ देखो)। शाङ्करमाप्ति म ही क्यो? यामानुबमाचाय में मी पह श्वेष कर्मयोग की केषु प्रशंसा करनेवाला – अपवाचत्तमन्त्र – ही माना गया है (गी या भा ५ १)। यामानुबमाचाय यथापि अदृती न ऐ वा मी उनके मठ में क्षेत्र ही मुख्य याच्यवस्था है इस लिये कर्मयोग अनुपुक्त मक्षिका साधन ही हो चक्षा है (गी या भा ३ १ देखो)। मूलप्रत्य से टीकाकारी का सम्प्राणय मिल है; परन्तु टीकाकार एवं हृद समझ से उत्त प्रथ की गीका करने स्था कि हमारा माग या सम्प्राणय ही मूलप्रत्य म विभित्ति है। पाठ्य दण्ड, कि 'मुने मूलप्रत्य की केषु शीघ्रावानी दुर्व' है। सन्यासान् भीहृष्ण या व्यास का सुन्दर मापा में दरूष शम्भो के छारा क्या यह कहना न आवा वा कि 'अनुन! तुरा प्रभ दीक नहीं ह' परन्तु ऐसा न करके जब अनेक लक्षण पर स्पष्ट रीति से यही कहा है कि 'कर्मयोग ही विशेष योग्यता का है तर कहना पछात् कि साध्यभविष्य टीकाकारा का गोप्यमिति भय सरल नहीं ह'; और पूजापार सन्दर्भ देखने से मी यही अनुमान है इत्यहाता है। कर्माकि गीता में ही अनेक स्थानो में ऐसा बतान है कि शनी पुण्य क्षम का सन्यास न कर शनप्राप्ति के अनन्तर भी अनाउचकुदि से अपन सब व्यवहार दिया करता है (गी ८ ६४ ३ १० ३ २६; ११ देखो)। इस स्थान पर भीष्मद्वाराचाय ने अपने माप्य म पहले यह प्रभ किया है कि मात्र ज्ञान से मिलना है वा भीर कर्म के समुपय से। भीर यह गीतापि निभित्ति किया है कि क्षम्य ज्ञान से ही कर्म पर्य दर्श हो कर मोक्षप्राप्ति होती है। मांहप्राप्ति के लिये क्षम की भावध्यकर्ता नहीं। इससे आगे यह अनुमान निकाल्य है कि तर गीता की दृष्टि से मी गोप्य के लिये क्षम की आवश्यकता नहीं है तर विचारुद्दिह वा विवेक सब क्षम निरपेक्ष है ही भीर के लक्ष्य से ही क्षम्य अवान् अवदिष्ट है। इत्यिय शनप्राप्ति के अनन्तर शनी पुण्य का क्षम लौट देना चाहिय – यही मन मात्रान का भी गीता में प्राप्त है। इन के अनन्तर ज्ञानी पुण्य का भी क्षम करना पाहिय इन मन का 'ज्ञान कर्मण्यमुष्यपराप्त' कहते हैं भीर भीष्मद्वाराचाय भी उपुक्त इनीस ही उम पर्य के विष्ट मुण्य भाषेत्र है। ऐसा ही युक्तिवाच मात्राचाय न भी स्मीहृत दिया है (गी भा ३ ११ देखो)। इनारी दाय म पह युक्तिवाच तमाधानरात्र व्यवहा निरम्भ नहीं है। कर्माकि (१) यथापि कर्मकर्त्त्वे दृष्ट्व हो कर ज्ञान के विष्ट है तथापि पह स्याय निष्काम क्षम का दाग्य नही। भीर (२) शनप्राप्ति के अनन्तर मन के लिये क्षम भनावरय भवती ही रभा करे परन्तु उमसे यह निष्ट वरन के लिये वह वाचा नहीं पर्वती कि भन्य काँड़ कारण से शनी पुण्य का उम का लाय ही क्षम उरना भास्यद्व दृष्ट्व युक्त विज्ञ गुढ़ करन के लिये ही ज्ञानार में

नहीं कह सकते। इसीसे कहना पड़ता है कि साम्बादिक आपहीं यह कोई रहीं सर्वेषा त्याग्य और अनुचित है तथा गीता में ज्ञानमुक्त क्रमयोग का ही उपर्युक्त किया गया है।

अब तक यह कहस्याया गया कि विद्यारहस्य के अवधार के विषय में मी ज्ञान त्याग ( साक्ष्य ) और कर्मयोग ( योग ) ये दोनों मार्ग न केवल हमारे ही लैस में, बरन् अन्य लैसी में भी मान्यीन समय से प्रचलित पाये जाते हैं। अनन्तर, इस विषय में गीताशास्त्र के ने मुख्य विद्यान्त स्तुतये गये—( १ ) ये दोनों मार्ग स्वतंत्र अर्थात् मोक्ष की दृष्टि से परस्परनिरपेक्ष और तुस्यजल हैं पक्ष दूरे का अहङ्क नहीं और ( २ ) उनमें कर्मयोग ही अधिक प्रशस्त है। और इन दोनों विद्यान्तों के अन्तर्मुख होते हुए मी दीक्षाकारों ने इनका विपर्यास किए प्राचार और कथा किया। “सी बात को विवरणने के लिये यह सारी प्रस्तावना हिंसी पढ़ी। अब गीता में लिये हुए उन वार्ताओं का विवरण किया जायगा जो प्रस्तुत प्रकरण की इस मुख्य बात का सिद्ध करते हैं कि विद्यारहस्य में भी कर्मत्याग की आपका आमरण कर्म करते रहने का मार्ग अर्थात् कर्मयोग ही अधिक अप्रसर है। उनमें से कुछ बातों का खुलासा तो मुनद्वायविदेश नामक प्रकरण में पढ़ा ही हो चुका है। परन्तु वह विवेचन आ उपर्युक्त सुनायुक्त का। “सभिये वहों इस विषय पी पूरी चचा नहीं की जा सकी। अतएव उस विषय की चचा के लिये ही यह स्वतन्त्र प्रकरण दिया गया है। वेणुष्ठ भर्तु फ़ दा भाग है : कर्मकाण्ड और इनाहाण्ड। पिछले प्रकरण में उनके में कठोरता लिये गये हैं। कर्मकाण्ड में अर्थात् ब्राह्मण भारि भीत्र प्रत्या में आर अद्यता उपनिषदों में भी पैदा स्वरूप बचन है कि प्रस्तेक यद्यस्य—पिर वाहे वह वास्तव हो या अत्रिय—अग्निहोत्र करके यथानिकार घोटिशेम भारीय यक्षयोग करे और विदाह करके वह क्षात्र। उदाहरणाथ यतद्वै कर्मर्वै तथ यग्मिहात्मम्—इस भग्नि होवस्य का मरणप्रयत्न जारी रखना चाहिए ( घ दा १२ ४ १ १ ) प्रश्नवातु मा व्यवच्छेत्ती। —वह के घोगे की हूँने न दो ( तै उ १ १ १ )। भग्ना यग्मिहात्मिन् सर्वम्—समार में जो कुछ है, उस परमेश्वर म नविद्धित कर—भग्ना एका यमास, कि मेरा तुउ नहीं, जी का है। और इस निष्ठामनुद्दित से :—

कुवर्प्रह कर्माणि गिजीविवच्छत समा।

परं व्यवि नान्यवातोऽस्मि न इम लिप्यते वरे ॥

कम करन रह कर ही मा कर अद्यता वाकुय की मरान के अन्त तक जीने की इच्छा रहे। एक एकी इशारात्मक कुछिते कम करना तो उन कमों का तुत (पुरुष की) लिय ( कर्मन ) नहीं लगेगा। इसक अनिरिक्ष ( ऐप अद्यता व्यवन से व्यवन के लिये ) दूसरा मार्ग नहीं है ( एव १ और ) अ्याति व्यवनी का होतो। परन्तु यह इस

रहा है (ये ३-२६)। मान करि न गीता के सु भिदाम्भ का वगन भान  
आक में इत प्रसार दिया है -

प्राह्णस्य मूर्त्येष च कायपाम् ।

समाप्तमध्यति ततुर्मुद्दिः ॥

शनी और मूर्त मनुष्या के कम करने में शरीर का पक्ष-गा रहता है। परम्  
गुदि में मिस्रता रहती है (अधिकार ५५)।

यदि किसी का शक हो कि अनन्त आदि पूर्ण व्रहशत्नी न थे तो योगवाचिष्ठ में लाभिता है कि ये सब 'वीक्ष्युक' थे। योगवाचिष्ठ में ही क्या? महामार्त भी भी क्षय है कि व्याधिनी ने अपने पुनरुत्थान के मोक्षवक्तम का पृष्ठ अन प्राप्त कर लेने के लिये अन्त म अनन्त के यर्हा भेद्य था (म भा शा ३२८) और यो २ १ हेतो। इसी प्रकार उपनिषदों में भी क्षय है कि भक्षयति वैदेव राजा ने उदार्कर्त्ता की का (अ ५ ११—२४) और काशिराज अबातहनु ने गार्व वास्त्रकी का (इ २ १) व्रहशत्न किया था। परन्तु यह वर्णन कहीं नहीं मिलता कि भक्षयति या अनन्त ने राजपात्र छोड़ कर कर्मस्याग्रस्य सन्यास छ लिया। इसके विपरीत अनन्तमुख्यमारुद्धर में अनन्त ने स्वयं अपने विद्य मैं कहा है कि हम मुक्तसङ्ग हो कर—भावक्षि धोड़ कर—रात्र करते हैं। यदि हमारे एक हाथ को अनन्त स्वामी और दूसरे के द्वीप ढालो तो भी उसका सुन और दुर्घट हमें एक बा ही है। नफनी स्थिति अ रुप प्रकार बनन कर (म भा शा ३२ ३६) अनन्त ने आगे सुछमा के कहा है—

मोक्ष हि विविधा निष्ठा तृष्णाऽप्येमोक्षविज्ञमः ।  
झाने लोकान्तर यज्ञ सर्वस्यामध्य कर्मजाम् ॥

ज्ञाननिष्ठा वदस्येद्ये मोक्षशास्त्रविदो ज्ञाना ।  
कर्मनिष्ठा तदेवान्ये पथयः सृष्टमद्विशिष्टः ॥

प्रह्लादायमप्ययेद्य ज्ञान कर्म च केवलय ।  
तृष्णीयेष मामाम्पाता निष्ठा तत्त्व महात्मना ॥

अपान मोक्षशास्त्र क ल्यता मामपाति के लिये तीन प्रकार की निष्ठाएँ बताते हैं—( ) ज्ञान प्राप्त कर सब कर्मों का त्याग कर देना—इसी की कुछ मापदण्डमें ज्ञाननिष्ठा बहत ह।( ) इसी प्रकार दूसर संभवती दोष कर्मनिष्ठा बहत है। परन्तु उक्त ज्ञान और भेदभन्न कर्म—इन दोनों निष्ठाओं का छान कर ( १ ) पर तीसरी ( ज्ञान ज्ञान से भावक्षि का भव कर दम करने की ) निष्ठा (मुर्त) उत्तमाम्पा ( पञ्चशिंग ) न ज्ञान है (म भा शा ३२ ३८-९)। निष्ठा उत्तम का सामान्य अथ अनिम विधि ज्ञानार पा भवत्ता ह। परन्तु उत्तम पर जारीना मैं भी निष्ठा उत्तम का अथ मनुष्य क वीक्षन का यह माय, और इनि का उत्तम है विष्व ज्ञान पित्तान पर भवत म मोक्ष की प्राप्ति होती है। गीता पर ज गाद्वरका य ह उसमें भी निष्ठा = भावुहृष्टापर्यवर्त्तम्—भर्तुत भावुप्य या वीक्षन म तु ननुष्य ( भावरण करन याए ) हो उत्तम तन्त्रता ( विष्व रहना ) पही रह दिया ह। भावुप्यपम पा वीक्षनवक्तम क इन मार्गों । वैष्वनि प्रकार मीमांसका न ज्ञान का महस्य नहीं दिया है विष्व पर कहा है कि व्रहशत्न गाः कर्म बरन स ही मात्र की प्राप्ति होती है।-

कर्मकाण्ड से श्वनकाण्ड म जाते हैं तब हमारे ऐतिक प्रथा मैं ही अनेक विस्तृपक्षीय चर्चन मैं भिजते हैं। ऐसे ब्रह्मकिञ्चित्प्राप्ति परम् (पृ २००) — ब्रह्मकान से मोक्ष प्राप्त होता है। नान्यं पथा विश्वेष्यनाय (पृ ३८) — किना जन के मोक्षप्राप्ति का दूसरा मार्ग नहीं है। पूर्वे विद्वांसु प्रथा न आमवन्ते। कि प्रथा करित्यामो येवा नो अभावमाऽय ल्येक न्ति ते ह रम पुरेषणाम्यात्म विशेषणाम्यात्म अपेणाम्यात्म मूर्खायाय फित्ताच्चय चरन्ति” (इ ४ ४ २२ आर ३ ६ १) — प्राचीन जनी पुरुषा को पुरुष आदि की “च्छा न थी और यह उमस कर [कि उन समस्त संकट ही हमारा आत्मा हो गया है तब हम (दूसरी) सन्तान किस मिये चाहिए?] वे शोग सन्तुति उपत्ति, और लगा आदि मैं से दिकी की मैं ‘पथा अधार चाह नहीं करते थे। विन्दु उससे निरूत हो कर वे जनी पुरुष मिशाटन भरते हुए शुमा करते थे। अपथा असु रीति से जो धार्ष विरक्त हो जाते हैं, उन्हीं को मोक्ष मिलता है (मु १ २ १०)। या नन्त मैं यश्वरेत्र विरक्तं प्रवर्णन् (ज्ञान ४) — किस दिन बुद्धि विरक्त हो उसी दिन सन्यास से लें। इस प्रकार वे की आशा विविध अधार वा प्रकार की होने से (मा भा शा २८ १) प्रदृष्टि या कर्मयोग और काल्पन्य नम से जो भेद मार्ग हो उसका निषय करने के लिये यह देखना आवश्यक है कि कौन दूसरा उपाय है या नहीं? आचार अधार शिष्ठ लगा के भवष्टहार या रीति माति वा तेज कर अस प्रभ का निषय हो सकता। परन्तु अस समक्ष मैं शिष्ठाचार मैं उमयविष अधार वा प्रकार का है। निरास से प्रस्त होता है कि दूसरे और याकृत्यकाय प्रभुति ने तो स यात्माग का — एव उनक भीहृष्ण और विश्वीपत्र्य प्रसुत इनी पुरुषों न कर्मयोग का ही अवश्यक्त निया था। उसी अमित्याय से विद्वान्त पात्र की उच्ची म धार्मायपाकाय ने कहा है तुरय तु दशनम् (पृ ८, ३ ८) — अधार आचार की राहि से ये दोनों पात्र समान बल्दान हैं। स्मृतिवचन\* मैं पैसा है —

विवेकी सद्वदा युक्त त्रुपता नामि बन्तुरा।

अहेपदाद्माधित्य भीकृष्णजनका यथा ॥

अधार एव ब्रह्मकानी पुरुष तद कम करक मैं भीहृष्ण न्तार उनक के उमान अक्षरों अमित्य पव उष्ण मुक्त ही रहता है। प्रता ही भाग्नीका मैं मैं कर्मयोग की परम्परा स्वात्मत हुए मनु “अबादु भादि व नाम उत्तर उर उहा है कि एव जन्मा हृत कम पूर्वर्ति मूरुमुक्ति। (गी ४ १) — एका जन कर प्राचीन उनक भादि इनी पुरुषों ने कम निया। यागमाभिष भार भाग्नम मैं उनक के विचार इसी प्रकार के दूसर प्रकृति के ग्राहण किय गय है (या ८ ३; नाग ८ ४-५)।

इन लक्षणिकाचन मन का भाग्नर्ति न उठारन्तर रीका मैं उड़ान करता है। जो मालव यह कर्ता का बदल है।

क दाहरामादरी

प्रमाणि दूसरे सात मानसपुत्र इनमें से ही विरक्त अर्थात् निष्ठुरित्वी हुए - इन कथ्य का उल्लेख महामारत म बर्गित नारायणीय भगवनिकृपण में है (म मा शा ११० भार ३५)। ब्रह्मशानी पुरुषा ने और ब्रह्मवेद ने भी कर्म करते रहने के ही एह महात्मिकार्य का क्षयो अद्वीक्षण किया। इसकी उपपत्ति भैरान्द्रसूत्र में इस प्रकार ही है -

याऽब्रह्मिकारमवभियतिरथिक्षिकारिणाम् । (३४ श. ३ ३२)

किसका ज्ञे इन्द्रनिर्मित अधिकार है उसके पूरे न होने वाले क्षयों से कुछ ही नहीं मिलती। इस उपपत्ति की चोख आगे भी जावेगी। उपपत्ति कुछ ही क्षयों न हो ! पर यह कथ्य निर्विवाद है कि प्राप्ति और निष्ठुरि तानो पाप्य ब्रह्मशानी पुरुषों में संसार के भारम्भ से प्रकृतिहृषि है। इससे यह मी प्रकट है, कि उनमें से किसी भेदता का निर्णय तिर्क आचार की ओर आने कर किया नहीं ज्ञ उकता।

“स प्रकार पूर्णाचार विविध होने के व्यारण केवल आचार से ही बचपि यह निर्णय नहीं हो सकता कि निष्ठुरिति भेद है या प्रवृत्ति। तथापि सन्यासमानं के स्थेनो ची यह दूसरी दलील है कि - यदि यह निर्विवाद है कि किना कर्मकृप है घृटे मोक्ष नहीं होता तो अनप्राप्ति हो जाने पर तृष्णामूळक कर्मों का इत्याच्छिन्नी चासी हो सके, तो इनमें से ही भेद है। महामारत के युक्तानुशासन में - इर्णी को ग्रन्थनुग्रह भी करते हैं - सन्यासमार्ग ज्ञ ही प्रतिपादन है। वहाँ दृढ़ ने स्नासनी से पृछा है :-

पवित्रं वेदवचनं कुठं कर्मं स्यन्नेति च ।

कौं दिशो विषया पापिति कौं च मच्छुरिति कर्मणा ॥

ऐन कर्म करने के लिये भी कहता है और जोड़ने के लिये भी। तो भव उसे एह आइये कि विद्या से अर्थात् कर्मरहित शमन से और केवल कर्म से कौन सी वर्ति मिलती है? (शा २४ ३) इसके उत्तर में व्यासजी ने कहा है :-

कर्मणा वर्ष्यते जन्मनुर्विषया तु प्रमुच्यते ।

तस्मात्कर्मं तु कुशलित यतया पारदर्शित ॥

कर्म से ग्राणी बैंध जाता है। और विद्या से मुक्त हो जाता है। इसी से पारदर्शी यति भवन्ति कर्मका सन्यासी कर्म नहीं करते (शा २४ ०)। इस क्लोक के पहले वर्तमान का विवेचन हम पितृके प्रकरण में कर आये हैं। कर्मणा वर्ष्यते जन्मनुर्विषया तु प्रमुच्यते “स उद्धान्त पर कुठ जा” नहीं है। परन्तु स्मरण रहे कि वहाँ वह उद्गम्यता है कि कर्मणा वर्ष्यते का विचार करने से उद्धर होता है कि वह अप्याभनेतुन कर्म किसी का न तो बैंध उकता है और न छाड़ उकता है मनुष्य भगवान्न से भवन्ति अपनी ज्ञातिकि से कर्मों में बैंध जाता है। इस ज्ञातिकि से अलग हो न पर वह परि क्लेश जाय उकियों से कर्म कर तब भी वह मुक्त ही है। उमानन्दस्त्री इसी अप्य को मन में लाकर भगवान्न गमावन् (२ ४ ४२) में क्लेशम से बहते हैं कि :-

इजाना बहुमिं पहोँ जाह्नवा वेदपारमा ।

शाश्वाणि चत्प्रभाष स्मुः प्राप्तास्ते परमा मतिम् ॥

क्यांकि ऐसा न मानने से धार्म की भर्त्यांत वै भी आश्रा थ्यथ हा अक्की (वे स ८ ० ०३ पर जाहरमध्य तेमा) अत्र उपनिषद्कार तथा जाहरायणाचार्य ने यह निश्चय कर - कि यज्ञयाग आर्य समी कम गाण है - सिद्धान्त किया है, कि मोक्ष भी प्राप्ति इन से ही होती है । अन के सिवा और किंची स मी मोक्ष पा मिलना शम्य नहीं (वे स ३ ४ ० २) । परन्तु उनक हहते हैं कि एन तो निश्चार्यों को छाँ कर आसादिकिरहित क्षम करने की एक तीसरी ही निश्च पश्चाद्यिग ने (स्वय सारथमारी हो कर मी) हमें ज्ञानां है । तांना निश्चार्यों का छाँ कर उन शम्न से प्रवर्त होता है कि यह तीसरी निश्च पश्चाद्य दो निश्चार्या म से तिरी भी निश्च का नहा नहीं - प्रमुख स्फुरन्त रीति से वर्णित है । बाणल्लालभ (३ ४ ३ -३) म मी उनक की एस तीमरी निश्च का उत्त्यग किया गया है और भावद्वीक्षा म उनक की उमी तीसरी निश्च का - असीम भक्ति का नया चारा बरक - धणन किया गया है । परन्तु गीता का तो यह निश्चान्त है कि तीमासना का ब्रह्म क्षममाग भयान जानकिरहित क्षममाग मोक्षदायक नहीं है । वह केवल स्वगम्य है । (गी ८ -४४ ०) असुलिय ग माग मोक्षगम्य नहीं है एसे निश्च नाम ही नहीं ही भिया जा सकता । क्यांकि यह अ्याग्म्या भमी का स्वीकृत है कि किसी भल म मार्ग मिल उमी मार्ग का निश्च कहना चाहिय । अतपव यत मता का सामान्य विवेचन उरसे समय यथापि उनक न तीन निश्चाप ज्ञानां है तथापि तीमासना का ब्रह्म (भयान जानकिरहित) क्षममाग 'निश्च म से शूष्ट फर किंशान्ताप्तम म भियर होनेकाली दो निश्चर्ण ही गीता क तीमर अ याय ह आरम्भ में कही गा ह (गी ४ ३) । ब्रह्म जान (साम्य) भार ज्ञानयुक निष्कामर्म (याय) यही जा निश्चर्ण है । भार किंशान्ताप्तीय एन इना निश्चार्यों म से दूसरी (भयान उनक क क्षानानुसार तीमरी) निश्च ए समर्थनाय यह ग्राचीन ज्ञानहम भिया गया है कि क्षमशब्द हि समिद्धिमात्रिता उनसामा - उनक प्रवृत्ति ने एन प्रकार क्षम करने की किंठि पार है उनक भावित धर्मिया की जान ग्रोड तो यह नवधन ह ही कि यास न विचित्रधीय क बश की रथा क निये भूताप्त भो वाहू दा भवह पुत्र निमाय भिय थ । भार तीन यत तक निरन्तर परिभ्रम परक समार क उडार के निमित्त उन्हान महाभारत भी भिया है । एष ब्रह्मियुग ए ग्न्यात भयान कैन्यालमाग क ग्रामक भीज्ञाराचार्य न नी भासन क्षेत्रो विक उन तथा उक्तोग ए स्वरम्भग्यास्ता का चाय किया था । वहीं तर कह । एष ग्राम उत्तराप्त क्षम करने क ग्रिय प्रकृत उठ तभी गृहि का भारम्भ रआ ह । उत्तराप्त म ही भर्त्यि प्रवृत्ति ताल मानसपुत्रा ने उत्तरप्त हो वर म यात्र न स, भूरिक्षम का जारी राप्त ए निये मरणावयन प्रहृष्टिमाग का ही भद्रीतार भिया; भर्त तनक्तुनार

नहीं रहते। यिफ हम ही उत्त प्रकार के भी भनुमान नहीं करते, वहिं शास्त्रदेवी ने मी पाही अप्य धूमनुप्रभ के निम्न ऋोक म स्पष्टतया कहतया है -

द्वाविमादय पाचानां दस्मिन् देवा प्रतिष्ठितः ॥  
पृथुतिलक्षणो पर्मः निष्ठुतिभ्य विमापितः ॥\*

“न गोनो मत्ता को बता का (एक-सा) नाभार है - एक मात्रा प्राचिकियक से का और दूसरा निष्ठुति अर्थात् सन्यास ऐसे का है (मा शा २८ ६)। पहले किम ही कुने है कि इसी प्रकार नारायणीय धर्म म भी इन गोनो कर्मका पृष्ठ पृष्ठ खत्तन्त्र रीति से एव सृष्टि के आरम्भ से प्रचलित होने का बहुत किया गया है। परन्तु स्मरण रहे कि महामारत मै प्रसङ्गानुसार इन गोनो कर्मका बर्णन पाया जाता है। “सलिले प्राचिमार्ग के धार ही निष्ठुतिमार्ग के समर्थक बहुत मी उसी महामारत मै ही पाय जाते हैं। गीता की सन्यासमार्गीय दीक्षाओं म निष्ठुति मात्रा के इन बच्चनों को ही मुख्य समझ कर ऐसा प्रतिपादन करने का प्रयत्न निका गया है। माना इसके लिका और दूसरा पन्थ ही नहीं है। और यदि ही मी तो यह गौण है। अथात् सन्यासमार्ग का कबस अह है। परन्तु यह प्रतिपादन साम्बद्धिक आप्रह का है और उसी से गीता का अर्द्ध सरल एव स्पष्ट रहने पर भी आज्ञाने बहुता को दुष्कौश ही रहा है। ल्लेपस्मिन्दिविषा निष्ठा (गी ३ १) उस क्रोक की व्याप्ति का ही द्वाविमादय पाचानी यह क्रोक है। इससे प्रकट होता है कि “स स्वान पर ते समान क्लवाणे मार्ग क्ललाने का हैतु है। परन्तु “स स्पष्ट अप भी और लघाता पूछापार सन्दर्भ की ओर भ्यान न देकर कुछ लौग उसी क्रोक मै यह निष्ठाने का यत्न किया करते हैं कि गोनो मार्गो के कठोर एव मी मात्रा प्रतिपाद्य है।

“स प्रकार यह प्रकट हो गया कि कर्मकल्पास (याम्य) और निष्ठाम धर्म (योग) गोनो विक्र बत के स्वतन्त्र मार्ग हैं और उनके विषय मैं गीता का यह निष्ठित सिद्धान्त है कि ते वेक्षिष्ठ नहीं है। किन्तु सन्यास की अपेक्षा कर्मयोग की धार्यता विशेष है। अब कर्मयोग के सम्बन्ध मैं गीता मै भाग कहा है कि किन संसार म हम रहते हैं यह संसार भार उसम हमारा क्षणम् अद्वित रहना मी अम ही है तब कम ल्लेप कर जाव कहूँ। और यदि इस संसार मै अथात् कर्मभूमि मै ही रहना हो तो कम उठने ही लैसे। हम पह मत्यभै लैसे हैं कि यह तक देह है तब तक भूम और ध्यास जैसे विकार नहीं पूछते हैं (गी ८)। और उन्हे निष्ठारणार्थ भिजा मागना जैसा सम्भित कम करने के लिये भी सन्यासमार्ग के भनुतर यदि स्वतन्त्रता ह तो अनाधरत्तुष्टि से अन्य ध्यावहारिक धाराओं कम करने के

इस अलिम चरण के निष्ठित कुभापित और निष्ठित विमापित एव बाह्यनदी भी ह। बाह्यनद छुट भी हा पर मत्यम “द्वाविमी” यह बहुत है। जिमस इतना तो निष्ठित है पर ते द्वाविमी रन्ध त्वत्तन्त्र है।

प्रवाहपतितः कार्ये कुर्वन्वयि न छिप्यते ।  
वाद्ये सर्वत्र कर्तृत्वमावहन्वयि राष्ट्रम् ॥

‘कर्मय सदाचार के प्रवाह में पड़ा हुआ मनुष्य बाहरी सद्ग प्रकार के कर्तृत्वकर्म करके भी अस्ति रहता है। अध्यात्मशास्त्र के “स उिद्घास्त्र पर ख्यान ऐने से शीघ्र पट्टा है मि कर्मो तो युग्मय मान कर उनके त्यागने की आवश्यकता ही नहीं रहती। मन का शुद्ध और सम करके फलमाण ओह ऐने से ही सद ज्ञान हो जाता है। तात्पर्य यह कि यत्क्षणपि शान और काम्यकर्म का विरोध हो रुयापि निष्कामकर्म और श्वर के बीच कोइ भी विरोध हो नहीं सकता। “सी से अनुगीता में तत्त्वात्मकर्म न कुर्वन्ति’ – अहंपत्र कम नहीं करते – इस वाक्य के कले,

तत्त्वात्मकर्मसु निःस्लेहा ये केचित्पारदर्शिनः ।

इससे पारदर्शी युक्त ज्ञम में आसक्ति नहीं रहते (अब ७१ ३३) यह वाक्य भाषा है। इससे पहले कर्मयोग का सद्ग प्रतिपादन विषय गया है। असे –

कुर्वते ये हु कर्माणि भ्रह्मामा विपक्षित ।

ज्ञानाद्वीपोर्मसंपुक्तास्ते धीराः साहुदर्शिनः ॥

अर्थात् ये उनीं पुरुष भद्रा से फलमाण न रान कर (कम ) यागमाण का अवलम्बन करके ज्ञम करते हैं वही शाश्वती है (अब ८ ६७)। इसी प्रकार –

यदिव वेदवचन हृष कर्म त्यजेति च ।

इस पूराण में तुम हुआ ही चनपत्र म पुष्पित्र को शौलक का यह उपरोक्त है –

तत्त्वात्मकमानिमात् सर्वाचाभिमानात् समाचरेत् ।

अथात् एव म कम करने भीर आठने की भी आशा है इसकिय (कर्तृत्व का) भभिमान छात्र कर हम अपने सद कर्म करना चाहिय (कम ७३)। युगानु प्रभ म भी व्यासर्थी ने शुक्र से हो जार सद्ग कहा है कि –

पपा पूर्वतरा तृतीयात्मास्य विधीयते ।

त्वाक्यनेत्र वर्माणि कुर्वन्व सर्वत्र सिष्यति ॥

व्यासन की एव की पुराणी (पुरातत्र) इनि वही है कि शानकान हा कर वर काम करके विद्व व्याम करे (मा मा शा ५३ १ ३८)। यह भी प्रभ है कि पहाँ ‘शानकानव एव मे शानकान भीर शानसुख कम ही विद्वित है। अब यह शाना करो व उन तत्र वक्तव्यों का विरोध तुदि से विचार विषय का मार्यम होगा कि कर्मण अपने शुक्र इन इतीय ते निर्द कर्मयोगविशेष यह एक ही भनुमान विषय नहीं होता कि तत्त्वात्मकर्म न कुर्वन्ति (इससे जाम नहीं करत) किन्तु उनी इतीय स पह विषयम कर्मयोगविशेष तुलना भनुमान भी उनी ही व्याप्ता का विद होता है कि तत्त्वात्मकर्म विषयहा – इसके कम मे आसक्ति

या विष्णु करने का दोष भी न क्लोणा सभा ब्रह्मसुधि पर्यायासुहि — परमेश्वर  
“हृष्टक” — दानों के कर्तव्यपात्रन का भेद में मिथ्या जायगा। ईशोपनिषद् में “सौ दा-  
ना प्रतिपादन है (इय. ११)। भुक्तिकर्ता का भागे किचारसुहित विचार कि  
जायगा। यहाँ इतना ही कह भेद है कि गीता में यो कहा है कि ब्रह्मसैनी  
के भनुमती जानी पुरुष पायासुहि के व्यवहार क्षेत्र घटीर अथवा केवल ईश्वर  
से ही वरद है (गी ४ २५ ८ १२) उसका तात्पर्य भी यही है: भ-  
भी उद्देश में भट्टारहम अथवा मै पह उद्दिष्टात्म किया है कि निष्ठात्मा  
से फलामा छोड़ कर (क्षेत्र इत्यस्य समस्त कर) कर्म करना ही सच्च ‘कालि-  
कर्मन्याग है — कम आकर्षा सज्जा कर्मत्वाग नहीं है (गीता १८ ९)।  
पायासुहि के ही क्यों न हा परन्तु इसी भगव्य उद्देश से परमेश्वर ने ही  
उन्ह ज्ञाया है। उन्होंने करना भनुप्य के अधिकार की जात नहीं। वह परमेश्वर  
के अधीन है। भद्रपद यह व्यव निर्दिष्टा है, कि उद्दि निष्ठात्म एवं कर के  
घाटीर कम करने से व मात्र क व्यापक नहीं होते। तब चित्र व्ये दिक्ष एवं के  
नियों से घास्त्रसिद्ध कर्म करने में हानि ही क्वा है! गीता में कहा ही है कि

न हि विच्छत् अन्मपि जातु तिष्ठन्ममंहत् (गी ३ ८ १८ ११) — इस म-  
में कोई एक व्यवहार भी दिता कर्म के ए नहीं सकता। और भनुपीठा में कहा  
नम्य न च स्वेदेतिन् भुक्तैतमपि स्वमदे (अस्त्र २ ७) — इत व्यक्त  
(किसी से भी) वर्णीमर के स्विध भी कम नहीं कूलत। भनुप्यो श्री सी तिळत  
क्वा! सूक्ष्मक प्रभृति भी निरन्तर कर्म ही करते रहते हैं। भक्ति क्षमा कहे!  
निरिचत् सिद्धान्त है कि कम ही सहि और सहि ही कर्म है। असीक्षिये हम प्रभु  
भासते हैं कि उद्दि की पद्माभावा का (अपावान्म की) व्यवहार के क्षिये भी विद्य-  
नहीं मिलता। ऐसिये एक ओर मात्रावान् गीता में कहते हैं — कर्म क्षेत्रे ते ए  
का भी न मिलेगा (गी ३ ८) दूसरी ओर बनपत्रे में द्वौपदी शुभिहित ते एह  
है — अन्मपा व भूताना तृचि स्वाम हि काचन (१२. ८) अर्थात् कर्म के स्विध-  
प्राप्यमात्र क्वा निवाह नहीं और उची प्रकार रात्रिकोप में पहले व्यवहार कर्म  
भी उमर रामरात्रस्वामी भी कहत है कि प्रपत्ति छोड़ कर परमाय करोम तो ए-  
क क्षिये अस भी न मिलेगा (गी ३ १ ३)। अन्मपा मात्रावान् का ही विद्य-  
रहतो। मात्रम हैंगा कि आप प्रपत्ति युग में मित्र मित्र भवतार ले कर उच मात्रिम-  
मन्म भे लातुना की रक्षा भार तुझी का किनाध्यक्ष कर्म करते भा रहे हैं (गी ४  
भी उर मा श्व. १ १ १ ३ अग्नो)। उन्होंने गीता में कहा है कि यदि मे-  
कम न कर्म तो सदार उक्त कर नह हो जावेगा (गी ३ २४)। उससे चिह्न है कि  
कि उच व्यव भगवान् ब्यवहार क पारणाव करते हैं सप्त उच कर्म से ए  
प्रपादन है कि ज्ञानात्म कर्म निरपर है भनुप्य य दिवावान् त पश्चिम  
(मा भा चन ३ १ ८) — या दिवावान् है वही पश्चिम है — इत व्याप-

सिये ही प्रवराम कौन-सा है ? यदि काँच चर से अन्य कमों का त्याग करता है, कि क्रम करने में क्रम कर ब्रह्मानन्द से बद्धिर रहगे भयका ब्रह्मानन्दस्य  
रूप अद्वैतबुद्धि विचित्र हो आयगी तो कहना चाहिये कि अप तक उसका मनानिप्रद  
कथा है । और मनानिप्रद के क्षेत्र रहत हुए किया तुमा क्रमन्याग गति के अनुमार  
माह का क्षयात् तामस अपका मिथ्याकरण है (गी १८.३ ३६) । ऐसी भयम्या  
में यह भय आर ही आप प्रकृत इता है कि एम क्षेत्र मनानिप्रद का विकल्पबुद्धि के  
द्वारा पुण करने के लिये निष्कामतुद्दि ब्रह्मनवास्य पह, “न प्रकृति यहस्याभम् के भाव  
या स्वात् कम ही सु मनुष्य का करना पाहिय । मारात् एता क्रमन्याग कभी भयम्यर  
नहीं हता । यदि कहे कि मन निर्विजा है और यह उसक कर्त्तीन ह तो पिर उस  
कम का चर ही किमनिय है ? अथवा कमों के न करने का रूप आपर ही वह स्या  
परे । क्रमाती छोड़ दी परीभा किस प्रकार पानी म ही हानी है उसी प्रकार या—

विकारहेता मति विकिष्टम्भे येषां म चतीमि त पर चीरा ।

जिन कारणों से विकार उत्तम होता है वे कारण अथवा विषय इहि के क्षाग रहन  
पर भी जिनका अस्त करण माह के पश्च म तीर्ती फैलता वे ही पुण्य भयम्यासी कह  
अत इ (उमार ३) । कातिग्राम के इस द्व्यापक न्याय में कमों के द्वारा ही  
मनानिप्रद की बद्ध रुमा करती है भार स्वयं कायदता का दृष्टि नार स्वगा का भी  
शत हा आता है कि मनोनिप्रद इष्ट रुमा या नहीं । इस दृष्टि म भी यही भिड़  
होता है कि शास्त्र में प्राग (भवान प्रगाहयति) क्रम करना ही पाहिय (गी १८.१) । अर्था यदि कहो कि मन एष म है और यह इर भी नहीं । के बां  
विकल्पबुद्धि शास्त्र हा चूसी है इह क्रम करने म निर्व शास्त्री । परन्तु एसे द्वय क्रम  
करने घटीर का कह देना नहीं आहत्, कि यो मात्रमासि के लिय ज्ञानात्मक है तो  
यह क्रमन्याग ‘रात्म ब्रह्मानन्द’ । क्षाति यह ज्ञानात्मक का नय कर क्षम इस  
सुद्ध बुद्धि से किया रखा है कि इह का कह होता । और न्याय से ज्ञ एष द्विक्षा  
पाहिये पह त्वे रात्म ब्रमन्यासी को नहीं मिलता (गी १८) । पिर यही  
प्रभ है कि ‘न उम ही क्षया’ । यदि नाह कह कि मन क्रम मायामृदि कहि  
भन्नेत्र ननिय है । इनस इन कमों की शास्त्र में पर शास्त्र ब्रह्मसूहित लिय जाना  
का उचित पहरा । तो यह नी नीर नहीं है इसके इह द्वय परखत ही मात्रा ते  
भावात्मित है तर पहि मनुष्य भी इनी के नन्दनार माया में इन्द्रान वर तो क्षया  
होनि है । मायामृदि रीत इमर्हा के नेत्र ते लिय प्रकार नम रात् व य द्वय विद  
एव । भी प्रगर रात् रीत इतिहा के नेत्र मनुष्य भी ज्ञा है इनमे  
म नामा नर इस का लयाग वह इस में रात् का एव कर द्य वीर इन  
इस नन्दनार में दुर्द्वि वा विकल्प रात् वर इस में पिर वहउद्या रा मायामृ  
व एव नन्दन वर ते इन प्रकार द्वय वरन । माया म वह नन्दन भा न  
नीर नम रात् वर्ते वा इन मायामृदि विकल्प वही उत्तम

दस्तीव इमं कारणमुख्यतः (गी ६ ३) — या योगास्त्र हो मता त्वं गम ही कारण है। इन वचनों के अतिरिक्त 'भक्षारम्भपरिस्थापी' (गी १ १६) अथात् समस्त उच्चांश छोड़काल्प और अनिवार्ता (गी १ १५) अर्थात् किं च परद्वार का 'त्वादि' किंचेष्ट भी जनी पुरुष के लिये गीता में प्रमुख हुए हैं। वे सब बातों से कुछ ख्याता भी यह राय है — मगानीता का यह मात्र्य है कि इन के पश्चात् कम हो भाष-ही-भाष धूट जात है। परन्तु हमारी समझ में गीता के शास्त्रों के बे अप और उपर्युक्त सुनिष्ठार्थ भी टीक नहीं। न्मी से न्मोंके विषद् इसे क्या उद्देश्य है ? उसे अप सहेप में कहते हैं।

'मुक्तुपरिवेष' प्रकरण में हमने विस्तृलासा है कि गीता 'स बात ने नहीं मानती कि जानी होने से मनुष्य की सब प्रसार की 'अच्छाई' या 'जाएनाई' पर ही जानी चाहिये। उिर्के 'न्म या बासना रहने में कोई दुःख नहीं। दुःख की सभी यह है उसकी आसक्ति' इससे गीता का सिद्धान्त है कि सब प्रसार की बासनाओं को नहीं करने के कारण जाता को उचित है कि केवल आसक्ति जो छोड़ कर कम हो। पहल नहीं दि 'स आसक्ति के धूटने से उसके साप ही कम ही दुःख मी दुःख जाव। भार तो क्या ! बासना के धूट धूटने पर भी सब कमों का जट्टना दृश्य नहीं। बासना ही जान हो इम देखत है कि बासोन्दूषास प्रभृति कम नित्य पक्ष से दुःख करत है। और आग्रह जगान्तर भीक्षित रहना भी तो कर्म ही है एवं वह पूर्ण जान होने पर भी अपनी बासना से अपेक्षा बासना के भय से धूट नहीं सकता। यह बात प्रम्यप्रमित है कि बासना के धूट जाने से कोई जानी पुरुष अपना प्राण नहीं रो जैत्या और इसी से गीता में यह वचन कहा है — न हि कवित्यमगमि चालु तिहत्यमहृष् (गी १ १) — कार्य क्यों न हो ! किना कम किये रह नहीं सकता। गीतापाठ्य के कर्मयोग का पहल्य सिद्धान्त यह है कि 'स ज्ञानमूर्मि मैं कम हो। निरांग से ही प्रक्ष, प्रकाशप्रतिति और अपरिहाय है। वे मनुष्य की बासना पर अवशिष्ट नहीं है। इस प्रसार यह सिद्ध हो जाने पर — कि कम और बासना का परम्पर नित्य सम्बन्ध नहीं है। बासना के भय के साथ ही कम का भी अव मानना निराशारहा जाता है — सिर पहल प्रभ सहज ही होता है कि बासना का भय हो जाने पर भी जानी पुरुष को प्रक्ष कम किसी रीति से करना चाहिये। 'स ज्ञान का उत्तर गीता के तीव्रते अध्यात्म में उल्लिखित गया है (गी १ १३—१) और उस पर हमारी टीका देंगो। गीता को यह मत मान्य है कि जानी पुरुष का जान के पश्चात् स्वयं अपना कार्य करने नहीं रह जाता। परन्तु 'स क आगे इस कर गीता का यह भी कथन है कि कोई भी क्या न हो वह कम से दुश्मी नहीं पा सकता। कर लेंगो को ये होना सिद्धान्त परम्पर विराची जान पठन है कि जानी पुरुष को कम्य नहीं रहता और कम नहीं दूष सकत। परन्तु गीता की यह ऐसी नहीं है। गीता ने उनका या मात्र मिळाया है — वह कि कम अपरिहाय है जब ज्ञानप्राप्ति के बाद भी जानी पुरुष को कम करना ही

भनुमारा भनुत का निमित्त कर भगवान् सब का ग्रहण करते हैं जि एस इनका म  
कम लिखी म पूरी नहीं समर्पते। ये वो ही भाषा म इनके क सिये मनुष्य अपने भगवान्  
मुख्यार प्राप्त करने का काम कर अधोन् निरामयुद्धि म यत्का करता रहे—  
यही एक माग ( याग ) मनुष्य क अधिकार म ह; और यही उपम मी है। प्रहृष्टि  
ता अपने व्यवहार समूचे ही करनी रहेगी। परन्तु उपम कृत्य क भास्मान की बुद्धि  
आज ऐसे मनुष्य मूल ही है ( गी ३ ३५ : ३४३ ३०५ )। मुक्ति  
के सिये कम आड़न की या बारबा क अभनानुमार क्षमत्वामन्यासरूप भराय की बरतते  
नहीं। यसाँकि एस क्षमत्वामन्यासरूप कम का पूर्णतमा स्थाग कर यत्का शक्ति ही नहीं है।

इन पर मी सुछ अवगत हैं - ही माना जि क्षमसंघ लाइन के द्विय क्षम छाइन की रक्षण है किंक क्षमस्पदा अल्प से ही सब निकाह हो जाता है। परन्तु उप ज्ञानग्राम से हमारी सुदृढ़ निष्काम हा शर्ती है सब दृढ़ शासनाभा का लेप हा जाता है और क्षम करन की प्रवृत्ति होने के लिये काएँ भी कारण नहीं रह सकता। तब ऐसी अवश्या में भयान् शासना के भय स - कामारथमय स नहीं - उच्च क्षम भाव ही नाप छूट जात है। इस लक्ष्यार म भनुप्य का परम पुरुषाभ मोहर ही है। जिस जन स वह माझ प्राप्त हा जाता है उसे प्रदा क्षमति अवश्या स्वागति साम्य के सुपर में स लिखी की भी धृष्णा (इन्द्र) नहीं रहती (१३६१ और ८८)। उसकिय क्षमो का छाइन पर भी अन्त में उन जन का स्वामा कि परिषाम यही इभा करता है कि क्षम भाव ही भाव दृढ़ जन है। ऐसी अविद्याय म उत्तरविना स कहा है -

क्षानामूलन त्रुपस्य द्वितीयस्य योगिन ।

ଶ୍ରୀମତୀ ପାତ୍ନୀ କିମ୍ବା ଶ୍ରୀମତୀ ପାତ୍ନୀ କିମ୍ବା

इनमें से कर हमेस्य है। इनेकामे पुरुष का चिर भागे वार अत्यन्त नहीं रहता और या र श्यय तो वह तार्याति भवान जानी है। (३ ३) ० यहीं सिर्फी ह इस हि कि यह इनी पुरुष मा दा ह तो तो जहीं स्वार्थ भी उत्तराध्ययन न देता ह। इसारे व्यवस्थम् इ पदाध्यामावस्था तथा तप काव्याहारनि (वे तु दा मा ३ ४) — भवान पर तो इत्यानी पुरुष कर एक इन्द्रिय ही ह जीव व्यवस्था मेरी तो तनन १ तन — तप द्वारा १ एक (३ ५ ६) — इनी का भवान दर्शन तो । युग्म जी इन : अम तम १ दृश्य द्वारा द्वारा द्वारा द्वारा । एक (३ ७) १८ यामावस्था

१८५ विजय देव नाथ कुमार बहुल  
विजय देव नाथ कुमार बहुल  
विजय देव नाथ कुमार बहुल

अखलनी ही था यह युक्ति ठीक नहीं है। “सुके अद्विरिक्ष यति ‘तत्सात् शम वा’ अथ इस प्रकार गीचारातानी कर लगा मी जिमा तो न मे पाशारभि करन्वस्” प्रस्तुति ऋषेहों म भगवान् ने— अपने विनी करन्वय के न रहने पर भी मैं अभ बरता हूँ यह जो अपना उत्तरण मुख्य छिद्रान्त के समर्थन म दिया है उसमा मेल भी “स पश्च म अच्छ नहीं अमता।” सुक्ति ‘तत्स्य काय न विष्टते’ वास्तव में ‘काय न विष्टतु’ शब्दों को मुख्य न मान कर ‘तत्स्य शम को ही प्रशान्त मानना चाहिये। भीर ऐसा करने से उत्तमासर्व उत्तर काय अभ समाचार का अर्थ पही करना पड़ता है कि तृतीयी है “सुक्ति यह एव त्वं है कि तुम आपने आपने के क्षिये कम अनावस्यक है परन्तु स्वयं तेरे छिये कम अनावस्यक है इसीक्ति अब तू उन कमों को (जो शास्त्र से ग्रास हुए हैं) मुझे आवस्यक नहीं उस तुम्ही से अपात निष्कामतुष्टि उ कर। योहे मे यह अनुमान निष्कर्षना है कि अभ लेने का यह कारण नहीं हो सकता कि यह हमें अनावस्यक है। किन्तु कर्म अपरे हाय है। उस कारण ध्याय से ग्रास अपरिहाय कमों को स्वायत्त्वागतुष्टि म करते ही रहना चाहिये। यही गीता का कथन है। और यहि प्रकरण की समता वी ही से होती हो भी यही अप लेना पड़ता है। कर्मत्वास और कमबोग “न द्रना मैं जो बाय अस्तुर है वह यही है। सन्यासप्रसादे कहत है कि तुम्हें कुछ करना धार नहीं लगा है।” उस तू कुछ भी न कर। और गीता (अपात कमबोग) का कथन है कि तुम्हें कुछ करन्वय दोप नहीं लगा है। “सतियं क्षय तुम य तु जु बरना है यह स्वाधसंग्रही वासना लो” कर अनावस्यकुष्टि दे कर। अब प्रथम यह है कि एक ही हेतुवाक्य से “स प्रकार मिम भी अनुमान कमों निष्कर्ष इतना उत्तर इतना ही है कि गीता कमों का अपरिहाय मानती है। इसकिय दीर्घ क स्वाप्निकार क अनुमान यह अनुमान निष्कर्ष ही नहीं सकता कि कम ठोड़ नै। अनेक तो अनावस्यक है इस हेतुवाक्य से गीता म यह अनुमान किया गया है कि स्वाप्नुष्टि छान कर। बिष्टुष्टि ने योगाशास्त्र मे श्रीरामचन्द्र के गद ब्रह्मजन करने कर निष्कामकर्म की और प्राप्त करने के लिये हा तुलियों करन्वार है वह भी इसी प्रकार ही है। योगाशास्त्र क अन्त मे यमरीता का उपमुक्त छिद्रान्त ही अपात इतना भा गया है (पा ५ उ ३ और १६ १८ तथा गी ३ ३ क अनुकार पर हमारी दिप्पत्ति रहता)। योगाशास्त्र के लकान ही शीक्षणम क महायात्रा पाय क कम्हों म भी इस सम्बन्ध मे गीता का अनुकार किया गया है परन्तु दिप्पत्ति रहने के कारण उसकी वज्रा यही नहीं भी का मती। हमने इसका दिनार भागे परिविष्ट प्रकरण म कर दिया है।

आगमजन इन मे ‘म और ‘मेरा वह अहंकार की मात्रा ही नहीं रहती (गी ११ ६ और ५) एव इनी म इनी पुण्य का ‘निर मम बहा है। निमिम का ११ मेरा मरा (मम) न करन्वाय ६ परा१ न ३ न रहा

जाहिये। शैक्षि उसका सबूत अपने लिये कोंच करवय नहीं रह जाता। न-सहित्य भ्रष्ट उसे अपने सब कम निष्पामतुदि से करना ही चाहित है। सारोग तीसरे अभ्याय के २७ वें काण्ड के तत्त्व काय न विद्यते' वाक्य में काय न विद्यते 'न सर्वे एव अपहा 'तत्त्व ( अथात् उत्तमानी पुरुष के लिये ) शुद्ध अभिन्न महस्त्र का है। और उसका मार्ग यह है कि स्वयं उसका अपने लिये कुछ प्राप्त नहीं करना होता। न-सहित्य भ्रष्ट ( जान हो जाने पर ) उसको अपना कर्तव्य निरपेक्षतुदि से करना चाहिये। भाग १९ वें खोड़ में कारणोधक 'तत्त्वान् पठ का प्रयोग कर अनुन का नई अप का उपर्युक्त दिया है 'तत्त्वावृत्तस्तु सतत काय कम समाप्त ' ( गी ३ ३ ) - नई से तू शास्त्र से प्राप्त अपने कलाय की आसक्ति न रख कर छोरा जा। कम का त्याग मत कर। तीसरे अभ्याय के २० से १ तक तीन श्लोकों से यह कार्यकारणमात्र व्यक्त होता है उत्तरपर और अभ्याव के समूचे प्रकरण के सन्तम पर नीक नीक ध्यान इन से वीर्य पड़ेगा कि संन्यासमार्गीया के क्षयनानुसार तत्त्व काय न विद्यते 'से अनुस्त्र मिदान्त मान सेना उचित नहीं। इसके लिये उनम प्रयाज भाग लिये हुए उगाहरण है। शनिवारि के पश्चात् कोंच कर्तव्य न रहने पर भी शास्त्र से प्राप्त समस्त व्यवहार करने पड़ते ह - 'न मिदान्त की पुढ़ि में मगान कहत है -

न म पाथोऽस्मि कर्तव्यं भिष्टु सोकेहु किञ्चन ।  
तामवाप्तमाप्त्य वर्ते पथ च कर्मणि ॥

ह पाप ! 'मेरा 'न म विमुक्तन म तुछ भी कलाय ( शाकी ) नहीं है भयना भोई अपाम बम्लु पाने की ( जासना ) यही नहीं है। तपापि मैं कम करता ही हूँ ( गी ३ ३ )। न म कर्तव्यमस्ति ( मूँह कलाय नहीं रहा है )। ये शुद्ध पूर्वोक्त भाव के तत्त्व काय न विद्यते ( उसकी कुछ कलाय नहीं होता ) इही शुद्धा का काय परम कह गये हैं। इसम लिङ्ग होता है कि 'न चार शास्त्र श्लोकों का मार्ग यही ह - जान से कलाय के द्वेष न रहने पर भी ( किन्तुना इसी कारण भे ) शास्त्रां प्राप्त समस्त व्यवहार जनानुसुदि से करना ही चाहिये। यहि ऐना न हो तो तत्त्व काय न विद्यते 'त्याहि श्लोक में कलावे हुए मिदान्त का है करन के लिय मारान ने भी भयना उगाहरण दिया है वह ( भ्रष्ट ) अमम्दन्ता हा जायगा और यह अनवस्था प्राप्त हा जायगी कि मिदान्त तीन तुउ भीर ह और उगाहरण तीन उपर्युक्त विष्टु तुछ भीर ही है। उन अनवस्था का ग्रस्त के लिय मन्यान्तमार्गीय गीकानार तत्त्वानुसार सतत काय कम त्रमाप्त के तत्त्वान् एव एव भी नहीं 'त्याहि - 'तत्त्वान् - मगान ने उम कम करने के लिय ज्ञा है तम ऊर वह जाप है कि गीता के उर्वारु के पश्चात् मीं अर्दुन

(अथवा त्वय बनु को पाने की वासना न रहने पर मी) यहि अनकृष्णिये महात्मा उस कानून का कर्त्याण करने के लिये प्राप्त न होंगे तो यह सहार उत्तम (उबड़) हो जायगा — उत्सीर्वुरिम आका । (गी १ २४)।

कुछ लोगों का कहना है कि गीता के इस चिदानन्द में — कि फलाण्डा और चाहिये सब प्रकार की "प्लाज्मा" को छोड़ने की आवश्यकता नहीं — और बालों द्वारा के चिदानन्द में कुछ बहुत मेड नहीं कर सकते। क्योंकि चाहे वासना बदूँ लोंगों पर लगाए जाएं तो वासना और कम करने की प्रवृत्ति होने के लिये कुछ भी कारण नहीं होता। "सुधे चाहे लिये पन का स्वीकार करे अन्तिम परिणाम — कम का करना" — ऐसों भोर भरावर है। परन्तु यह भाष्यप भशानमूल्क है। क्योंकि 'चलाऊ' शब्द का द्वैष ठीक भव्य न बानने के कारण ही यह उपभूत हुआ है। फलाण्डा लाने का अथ यह नहीं कि सब प्रकार की "प्लाज्मा" को छोड़ देना चाहिये। अथवा वह कुछ या भाव हमना चाहिये कि मेरे लोगों का कर्त्य लिखी को कर्मी न मिले। और यही लिये, तो उस कानून की न सें प्रमुख पौचब प्रवरण में पहले ही हम कह भाव हैं कि अमृत पान के लिये ही मैं यह कम करता हूँ — इस प्रकार की फलाण्डा ममताकुप भासकि को या तुम्हि के आप्रह का 'फलाण्डा' 'महङ्ग या 'काम' न हम गौता म दिये गये हैं। यहि कानून या मनुष्य करने की इच्छा आप्रह या तुम्हि आमतकि न रखे तो उसके यह मतवेद नहीं पाया जाता, कि वह अपने ग्रन्थम का क्षेत्र करन्त्य समझ कर — करने वी कुछि और उन्हाँह का भी इत भावह के साथ ही साथ नहु कर जाते। भवन फायर क मिळा इस सतार म लिहे दृष्टि कुछ नहीं राय पड़ता और जो पुण्य करन कर्त्य वी उच्चि से ही कम करने मैं मन रहत है उस नवमुप पराणा और कर कम करना शायद न चेतेता। परमु मिलौ तुम्हि ज्ञन म सम और विरक्त हो गइ है उनक लिये कुछ बहिन नहीं है। वहमें तो यह समझ ही गया है कि हमें किमी काम का जा कम करना है, वह तेहर उपार ही कम का कम है। यहि पानी की इच्छा और अमि की उच्चता नी उदाहरण न मिलता मनाय द्यिना ही निर क्या न रखाव उमड़ प्रयत्न ले पारमिति कमी हो नहीं लड़ती — भद्रन पराणा ही नहीं और अमि भाडि मैं गृहापमों को मीठे रखना या न रखना कुछ मनुष्य क जल पा उपाय की जात नहीं है। इर्ही तो कम गृह क इन ग्रन्थिति दिविष व्यापारा उच्चि लोंगों का पहल पराणा शिव ज्ञन प्राप्त कर मनुष्य का रही। तज म भगवन उपर्युक्त वरन पन्त ह लिमि हि के लालप राज प्रय न कर जात हा इसम करना भादिये कि प्रयना म मनुष्य का जा प मिला त कर तज ही प्रयना का जल नहीं ह तरन उमड़ काय भीर कममूर्ति क त न। तज रखाइ गम — तन तना — त तयाग का जूँ रह है। या त प्रयना की तज तज त कि य इत प्रगार दिन नानारिष गृहिण्यातारा है तन। या भारायर हे त तज इत तज का मनुष्य का यथाग जान न। ८८८

चाहिये, कि यद्यपि ब्रह्मशान से 'म' और 'मेरा' यह अहसारद्वय मात्र दूर जाता है, तथापि उन शोषणों के बाले 'ज्ञात् और 'ज्ञात् का - अपवा मक्षिपथ में 'परमेश्वर भार परमेश्वर का - ये शब्द आ जाते हैं। सचार का प्रत्यक्ष सामान्य मनुष्य अपने समस्त व्यवहार 'मेरा या मेरे' क्षिये ही समझ कर किया करता है। परन्तु जानी हाने पर, समस्त की जासना बृट जाने के कारण वह "स कुछ भ (निममुद्दि से) उन व्यवहारों का करने लगता है कि व्यरनिर्मित संकार के समस्त व्यवहार परमेश्वर के हैं भाग उनका करने के क्षिये ही इधर ने हमें नपभ किया है। भगवानी आर ज्ञानी म वही तो मेड ह (गी ३ ३ २१)। गीता के "स किङ्कान्त पर ध्यान देने से ज्ञात हो जाता है कि योगास्त्र पुरुष के क्षिय जाम ही कारण होता है (गी ६ ३ भार उठ पर हमारी गिर्वणी देखा)। "स शोङ्क का सरष भय स्या होगा" गीता के दीक्षाकार कहत है - "स शोङ्क म कहा गया है कि योगास्त्र पुरुष के भागे (जान हो जान पर) जाम भयात धार्मित का शीकार कर; और कुछ न कर। परमु यह अप ठीक नहीं है। जाम भन की ज्ञानित है। उस अनितम 'काय न कह कर इस शोङ्क म यह कहा है कि यहम अपवा ज्ञानित दूरे किसी का कारण है - जाम" कारणमुच्यते। अब यहम का 'कारण मान कर जाना चाहिये कि भाग उमसा 'काय क्या है' पुकार पून्नम पर दिक्षाकर करने से यही निष्पाप हाना है कि वह काय 'क्या ही है। भार तद 'स शोङ्क का भय हेसा है कि योगास्त्र पुरुष अपन चिन का जान कर, तथा उस धार्मित या जाम मे ही अपन सब लक्ष्ये व्यवहार कर - दीक्षाकारों के कपनाकुतार वह अप नहीं किया जा सकता हि योगास्त्र पुरुष क्या ओँ है। "सी शकार 'मकारमपरित्यागी भार अनिक्षेत्र प्रदृष्टि पदा का भय मेरी क्षम्यागविरयक नहीं पम्यास्यागवियक ही करना चाहिये। गीता के अनुष्ठान म (उन व्यवहार पर वही ये पर आय ह) हमन गिर्वणी मे यह जान न्याह ही है। जानान ने यह किंड करने के क्षिय - कि जानी पुरुष का मी पक्ष्या स्वाग कर जानुवस्थ आदि सब कम यथाध्याप करन रहना चाहिये - भगवन अतिरिक्त दूसरा द्याहरण उनक का किया है। उनक एक वर्ष कम यांती है। उनी श्वाष्मुद्दि के दृग्देश का परीपत्य उर्हा क मूर ल यो है - ग्रीष्मियद्या प्रदीप्त्याया न मे दायति दिक्षन (गी ३ ८ भी १ १) - मेरी राज्यानी मिथिला क इन जान पर मी मेरी कुछ हानि रही। इन प्रसार जनना स्वाध भयवा जामास्यम न रहने पर मी गान्ध इ समस्त व्यवहार जाने का कारण जानात एव उनक स्वय कहत है -

इवेभ्यश्च पितृमयभ्य मृतस्याऽनिधिमि भद्रः ।

इवाप्य भय एवं समारम्भा मरमित य ॥

इव पितृर सम्भूत (प्राणी) भार गतिधियों के क्षिय समस्त व्यवहार जानी है मेरे क्षिये नहीं (म न भय ३ ४), जनना बोइ क्षाय न रहन पर

फलगा से उसका चित्र पता जाता है, कि मेरा सहका अन्य हो जाय। ऐसे से उसे या वो दूसरा वैष्ण भुवाना पड़ता है या दूसरे वैष्ण की उम्मीदी भावधृता होती है। उस लिए से उत्तरण से आप होगा कि कर्मफल में ममतास्प आसक्ति किए छहना चाहिये। और फलगा न रहने पर मी निरी उत्तमदुक्ति से काँ मै कम लिये प्रकार किया जा सकता है। उस प्रकार फलगा को नष्ट करने के लिये बदली लयन की उदायता से मन मै वैराग्य का मात्र अवस्था होना चाहिये। परन्तु जिसी वज्रे का रह (राग) दूर करने के लिये जिस प्रकार कों कपड़े को फाटना उचित नहीं समझता उसी प्रकार यह कहने से (कि जिसी कर्म मै भावक्ति, काम सह राग अधिका प्रीति न रखो ) उस कम को ही छोड़ देना नीक नहीं। वराग्य मै कर्म करना ही यहि अधिक्य हो तो निरासी भाव है। परन्तु इस प्रम्पत ऐसे हैं कि वैराग्य से मी मझे मौति कम किया जा सकते हैं। "दोना ही क्यों" यह मी प्रकार है जिसके लिए से चूते ही नहीं। इसीलिये अश्रुनी दोग किन कमों का फलगा से लिया जाये है उन्हें ही मानी पुराप जानप्राप्ति के जो भी साम-अभ्यास तथा सुग्रुणाप को पक का मान कर (गी २ ३८) वैष्ण उत्ताह से—जिन्हु शुद्धदुक्ति से—पक्ष के लिये मै विरक्ष या उत्ताहीन रह कर (गी १८ २६) कवच कर्त्तव्य मान कर जोसे अपने अधिकारानुसार धान्त लिखे करते रह (गी ६ १)। नीहि भार माल की दृष्टि से उत्तम शीघ्रनक्षम का पाही माला न लवह। अनेक रिक्षप्रह, महामगवद्यमक और परम जानी पुराप ने—एक स्वयं मालान न मी—"मी माला का स्वीकार किया है। मालाकी पुराप कर दृष्टि है कि अम कमवागमाला मै ही परागाद्य का पुरापाथ या परमाच है।" उसी 'योग से परमेश्वर का मञ्जनपञ्च होता है; और अन्त मै लिहि मी लिम्ही है (गी १८ २९)। "उने पर मी यहि काँ स्वय जानकृत कर गैरसमझ कर से तो उस कर्मी छहना चाहिये। स्वन्मरणाहेतु की पश्चात् अभ्यासहापि सम्मत न भी तपादि उत्तरने मी अपने समाजाद्य का अभ्यास नामक प्रनय के अन्त मै गीता के समन ही यह लिदालन किया है—यह जान भाविमैतिह रीति ने भी लिह है कि इस अन्त मै जिसी मी काम का एकत्र पर गुडरना जाप्य नहीं। अम क लिय कारबीभूत और भावधृत दृढ़ी हवारो भाव परम लिय प्रकार दूर हागी, उमी प्रकार मनुप्य के प्रदन लक्ष्य लियप्य या स्वूनाप्ति लक्ष्य रक्षा करते हैं। इस करत्त यद्यारि सापरण मनुप्य किंगी भी काम क करने मै पराप्ता भी ह। अम हात है तवापि दुक्तिमन् पुराप का जानि और उमाह मै परमाम्भी भाप्त है कर भरना इमप्य करते रहना चाहिये।"

Thus admitting that for the sanyaks some old and useful a stimulus, and recognizing the usefulness of his dharma as a guide in his particular nature and his particular function the man of this type must be content with fully

भीर कुछ स्थाना पर का हाना शक्ति भी नहीं है। 'स ही विष' कहते हैं। यहि फृष्टगिरि के लिये एमे उद्दिष्टापारों की सहायता अस्यस्तु आवश्यक है — जो हमारे अधिकार में नहीं; भीर किस्त हम बनते हैं — तो आग कहना नहीं हागा दि ऐसा अभिमान करना मूरक्षा ह कि 'कबल अपन प्रयत्न से ही भै अमुख चाल कर संगा (गी १८ १४-१६)। कर्यालि कमसूरि से जात भार अग्रात ख्यापारों का मानवी प्रयत्ना से संयुक्त हम पर व्य हाना है वह कबल कम के नियमों से ही तुआ करता है। इसलिये हम पक्ष की अभिमान कर यान कर — कल्पिति म इसमे कार पक्ष नहीं पड़ता। हमारी पर्याप्ता अवश्यक हो जाती है। परन्तु गमण रहे कि मनुष्य के लिये गावरपक्ष व्यत भक्ते मृष्टिख्यापार स्वयं अपनी भार से मंषटित हो कर नहीं कर देते। जन की रात्रि का स्वार्पित बनाने के लिये प्रसार भार में यादा तो नमक मी भिकाना पड़ता है जसी प्रसार कमसूरि के उन स्वयंसिद्ध ख्यापारों का मनुष्यों के लघुपारी होने के लिये उनमे मानवी प्रयत्न की व्यावृत्ति माना भिक्षानी पड़ती है। इसी से जानी भार किसी पुरुष सुमान्य स्वयं के समान पक्ष की आसक्ति अथवा अभिमान मा नहीं रखते किन्तु जे व्यग ज्ञान के स्वप्नहार की गिरि के लिये प्रवाहपत्रित कम का (अग्रात कम के भनारि प्रवाह म ज्ञान के प्राप्त यज्ञाभिकार कम का) जो लाय-ज्ञान माग मिले उसे ही शार्णित्युक्त करत्य समान कर दिया करते हैं। भीर पक्ष पान के लिये कमसूरि व्य पर (अपाल महित्तरि से परमेश्वर का इष्टा पर) निर्मर हो कर निर्भिन्न रहते हैं। 'तत्र अधिकार केवल कम बन का है पक्ष हाना तेर अधिकार की जात नहीं (गी ८०) इत्यादि उत्तरा जे भजन का किया है उमरा रहन्य भी यही है। इस प्रसार कमसूरि का स्वाग का कम करते रहते पर आग कुछ कारण से क्षयित कम निष्पत्त हो जाये तो निष्पत्ता का दुर्घ भानन के लिये हमे काँड़ कारण ही नहीं रहता। क्षारि हम तो अपन अधिकार का काम कर दुः। उग्राहण शीलिय औषध्यात्म का मत है कि भासु भी ज्ञान (ज्ञानी की पाठ्य करनार्थी निर्मित ज्ञानभा भी शक्ति) कमत्र रह दिया दिरी जीवाध्यों से कर्मी कायजा नहीं होता भीर इस द्वार कि स्वयंज्ञा अन्तर प्राप्तन भवता पूर्णिमी सम्भारा का पक्ष है यह एवं दिव्य के हाप से होने योग्य नहीं। भार ज्ञ इष्टा विभ्याप्ति ज्ञन हो मी नहीं सकता। इसा इति एवं भी हम प्राप्तन ज्ञान के कि रात्रि संग्रह का जीवधि इन भवनो कायज समाप्त कर केवल एवं इति की पुष्टि मे ऐ ज्ञनी विडि के भनुतार हजार गमिष्ठो का इति प्राप्तन है एवं प्राप्त विष्णवयादि से जाम करन पर यहि कर्म गर्वी ज्ञन है त इस वह वेद अद्वितीय इति दृष्टि इति विष्म से यह इत्यादीय विषम ज्ञ विकाला है कि गमु ज्ञन मे ए जीवनिम वी भवता इति ज्ञन गमिष्ठो का गराम होता है परन्तु इसी दिव्य का इति उप दीप्ति पर होता त उप भासी। १ उपद्रव वर गमु वी द्विवर्ती इति दृष्टि दृष्टि है। भीर इस सम्भव्यु

निराभार नहीं है। यह समाज शक्ति का अर्थ हुआ परन्तु वहाँ वह मीठाका चाहिये कि 'स्वेकसम्राट्' में 'स्वेक' शक्ति के बाब्द मनुष्यवाची नहीं है। यद्यपि वह सच है कि शक्ति के अन्य प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य भेद है और उसी से मानव शक्ति के ही कायाण का प्रभावनावा से 'स्वेकसम्राट्' में समावेश होता है। तबापि मनवान् की ही एसी इच्छा है कि भूलोक सत्यव्येक्ष, पितृव्येक्ष और देवव्येक्ष प्रस्तुति घो अनेक लाल अर्धांत अप्सर मनवान् ने कहा था है उनका भी मरी मौति भारत पोषण हो और वे सभी अप्सी रीति से असह रहें। इसकिये फूहना पड़ा है कि इतना सब व्यापक अर्थ 'स्वेकसम्राट्' पढ़ से यहाँ विवक्षित है कि मनुष्यव्यक्ति के साथ ही उन सब स्त्रीओं का व्यवहार मी सुस्थिति से भक्त ( भैक्षना सम्राट् )। उनके किंवद्दुए अपने व्यक्ति के वर्णन में - वो ऊपर लिखा जा चुका है - वे भैरव पितृरा का भी उल्लेख है। एवं मनवद्वीपा के दीसर अध्याय में तथा महामहरत के नारायणीयापायवान में किंस यज्ञवक्त का वर्णन है उसमें भी यह है, कि व्यक्षेन और मनुष्यव्यक्ष गैरों ही के भारत-पोषण के लिये ब्रह्मवृत्त न यह उत्पन्न किया ( गी ११ - १२ )। इससे न्यूर होता है कि मनवद्वीपा में 'स्वेकसम्राट्' पढ़ते इतना अथ विवक्षित है कि - भैक्षेन मनुष्यव्येक्ष का ही नहीं किन्तु देवव्येक्ष आदि सब स्त्रीका का भी उचित भारत पोषण होवे और के परस्पर एक दूसरे का भेद सम्मान कर। मारी सुषिका पासमन पोषण करके स्वेकसम्राट् करने का जा यह भवित्वर मनवान का है वही जानी पुराय को अपने द्वय के कारण प्राप्त हुआ करता है। जानी पुराय को जा जात प्रामाणिक बेंचती है अन्य लोग भी उसे प्रमाण मान कर तद्दुकुल व्यवहार किया करते हैं ( गी १२१ )। क्याकि साक्षात् लोगों की उम्मत है कि जान्तवित और समदुर्दित से विचारने का काम जानी ही का है कि उपर का भारत और पायण कैस होगा ? एवं तद्दुसार प्रमाणव की मर्दाग का देना भी उसी का काम है। इस समझ में कुछ भूल भी नहीं है। और यह भी कह लत है कि सामान्य लोगों की समझ में ये जांत मरी मौति नहीं भा सकती। इतीजिए तो वे जानी पुराय के मराने रहते हैं। इसी अभियाय को मन म लाकर जानिवृत्त में सुधितिर न भीष्म न कहा है -

कोऽप्यमृद्दुपुरुषं विधात्रा विहितं पुरा ।

द्वृप्मधर्मोर्धनियतं सतो चरितमुभमम् ॥

अथात् लोकप्रद्वाकारक भारत सूधम प्रमद्वा पर भमाय का निषय कर देनार्था माधुपुराय का उत्तम चरित व्यवहार ने ही कहाया है" ( म भा शा २६८ - २६९ )। व्यवहार मुख गत वैद की कार व्याकामवा या लगा का अक्षान में व्यतेर राम की तरकीब नहीं है। किन्तु जानमुत्त कर्म के समार मन रहने स लगा के नह हा जान की सम्भावना है। इसकिय वही किंद होता है कि व्यवहारनिर्मित लाभ पुराय के कलाया म से 'लालमप्रह' एक प्रशान कलाय है। और इत भावावधन का

बतायि यह सिद्ध हा गया कि ज्ञानी पुरुष इस समार में अपने ग्रास कमों को छलधारा छें कर निष्कामकुर्दि से आमरण भवस्य करता रहे तथापि यह कर्तव्ये किना कर्मयोग का विवेकन पूरा नहीं होता कि मेरे कर्म किसके और किसे किये ग्रास होते हैं। अतएव मगावान ने कमयाग के समर्थनार्थ अर्जुन को अन्तिम और महस्त का उपर्युक्त दिया है कि लोकसप्तरमेवापि सप्तश्चन् करुमहसि (गी ३ २) — लोकसप्तर की ओर दृष्टि के कर मी तुमे कम करना ही उचित है। लोकसप्तर का यह अध्य नहीं कि कोइ ज्ञानी पुरुष मनुष्यों की केवल अमर्त्य कर अपना यह भये नहीं कि स्वयं कर्मन्याग का अधिकारी होने पर मी ऐसे किये कम करने का तींग कर, कि अज्ञानी भनुप्य कहीं कर्म न छें के और उन्हें अपनी (ज्ञनी पुरुष की) कर्मतत्त्वरता भाष्यी लो। कथाकि गीता का पहले सिद्धान्तों का हेतु नहीं कि लोग अज्ञानी या नूर के रहे अपना उन्हें ही काम रखने के किये ज्ञानी पुरुष कम करने का दाग किया करे। ताकि तो दूर ही रहा; परम् लोक तरी अपर्णीति गावगे (गी १४) —त्याति मामान्य लोगों को लंबनेवाली युक्तिया से बद अर्जुन का उमावान न हुआ तब मगावान उन पुकियों से मी अधिक लोटार और सत्त्ववान की दृष्टि से अधिक उमावान कारण अब कह रह है। उसलिये कोश म जो 'सप्त ह शश के अमा करना' उद्द्योग करना रम्मा पालना नियमन करना प्रश्निति अध्य है उन सभ का यथानमस्त घण्ट करना पड़ता है। और ऐसा करने से सागा का सप्तर करना ज्ञानी यह अध्य होता है कि उन्हें पक्ष उम्म उम्म कर ऐसे रीति त उनका पालन पोषण और नियमन करे कि उनकी परम्पर अनुकूलता से उत्पम हानेवाला तामस्य उनमें आ जावे एव उसके द्वारा उनकी सुरिति को रिवर रद्द कर उन्हें भेषजासी के माग स्थान है। राष्ट्र का सप्तर अश्वी अध्य म मनुस्मृति (७ ११४) म भाषा है और धारकभाष्य म "स शश की र्याद्यमा या है — लोकसप्तर म्योक्ष्यो मागप्तृपूर्णितिवारणम्" उससे ऐसे पहेजा कि सप्तर ह शश का श्व हम ऐसा अध्य करने हैं — अज्ञान से मनमाना ज्ञान करनवाले लोगों को ज्ञानवान् फ्ला कर मुसिति में एक रामना और भातीभृति के माग म उगाना — वह अपुर्व या

*moderated expectations while he perceives with undiminished efforts. He has to see how comparatively little can be done, and yet to find it worthwhile to do that little so uniting philanthropic energy with philosophic calm.* — Spencer's *Study of Sociology*, 8th Ed. p. 403 (The italics are ours.) इस वाक्य म फारूकी व व्याक म पहिति के गुण म दियह (गी ३ १) का 'अहसारविद्वा' गी ३ १) वरदा व्याक म वहि का वह वाक वार man of higher type क व्याक म दियह (गी

वह greatly moderated expectations क व्याक म उत्तमीत्य व्याक 'क्षमावाद' इस उमावादा व्याक की वाक्यता इस अ इस विषय व्याक म हि अन्तर्गताव त माना जाता है विद्वान का अनुवाद कर देता है

या। परन्तु ज्ञानप्राप्ति के बाहर सब सागर का आत्मा ही उसका भान्मा है। उसी वेदोगवाचिष्ठ में राम संविष्ट ने कहा है—

पाषङ्गोऽपरामश्चो निष्ठां नास्ति योगिनः ।  
साक्ष्मृद्धसमावित्वं न भवत्येव निमलम् ॥

जब तक स्वेग के परामर्थ खेले का (अर्थात् स्मैक्षसमाह का) काम शोषण मी चली है— समाप्त नहीं हुआ है— तब तक यह कभी नहीं कह सकते कि योगास्त्र पुरुष मि लिपति निर्वौप है (यो १ पृ १२८ १७)। क्वचिं भपन ही समाप्तितुम मैं हुआ बना मानो एक प्रकार से अपना ही स्वार्थ लापना है। सन्वासमार्गशास्त्रे इह बहुत ही आस दुर्लभ करते हैं। यही उनकी युक्तिप्रयुक्तियो का मुख्य गोप है। मरणाद की अपेक्षा किसी का भी अधिक हानी अधिक निष्काम वा अधिक योगास्त्र हैना शब्द नहीं। परन्तु जब स्वयं मरणान भी लाप्तुभी का सरकार तुषी का नाय और भर्त्यसत्यापना ऐसे स्मैक्षसमाह के काम करने के लिये ही समाव पर अवश्य खेले हैं (गी ४ ८)। तब छेक्षसमाह के कर्त्तव्य को छोड़ देनेवाले जानी पुरुष का यह कहना सर्वथा अनुभित है कि किस परमेश्वर ने इन सब स्वेगों के ऊपर किया है वह उनका ऐसा आहेगा ऐसा भारत-पोपण करेगा। उभर भेजना में यह अपन नहीं है। न्योक्ति ज्ञानप्राप्ति के बाबू 'परमेश्वर' में और 'छेग'— यह भेत ही नहीं रहता। और यहि रह तो उसे दीर्घी कहना चाहिये जानी नहीं। यही अन वे जानी पुरुष परमेश्वरलूपी हो जाता है तो परमेश्वर जो काम करता है वह परमेश्वर के समान अर्थात् निष्ठां शुद्धि दे करने की आवश्यकता जानी पुरुष के लाईगी (गी १ २५ और ४ १४ एवं १५)। इसके अतिरिक्त परमेश्वर जो दुःख करना है वह भी जानी पुरुष के रूप मा जारा हो ही करगा। अतएव किसे परमेश्वर के स्वरूप का ऐसा अपरोक्ष जान हो गया है कि सब ग्राहियों में एक आत्मा है। उसक मन मैं सर्वभूतानुकूल्या आठि उत्तात् दृतियों पूर्णता से बाहर रह कर स्वरूप से ही उसके मन की ग्राहियों छेक्षणरूप की ओर हो जानी चाहिये। इसी अभियन्त्र से दुकाराम महाराज साकु पुरुष के कल्पना इस प्रकार बनती हैं— ये अन तुरियों को भपनाता है वही साकु है— श्वर मी उसी के पास है। अबका किसने परोक्षशर मैं भपनी शाति का स्वयं किया है उसीने आमरिति हो जाना। न आर अन्त म सल्लक्ष्मी के (अर्थात् भक्ति से परमेश्वर का पूर्ण अन-

इसी मार का कावितर चार मर्दिर्वाहक शुल त यो भव दिया है

बाह उसी मैं है विमुक्त वा है वह सबा साकु वही—

जिसन दृष्टिना का अपनाया वह कर उसी वाह गही।

नामरिति जानी उसने ही परिव जितन सबा तहीं

परहिताव जितना दितन है है उनक ही अन मही।

मार्कार्प मी यही ह, कि मैं यह काम न करें तो ये समस्त सोक भयात झग्न् न पहुँचा जावेगा' (गी ३ ४)। ज्ञानी पुरुष सब लोगों के मेजे हैं। यदि वे अपना काम छोड़ दया तो सारी दुनिया आ भी हा जायगी और 'स सुखार का सचलापरि नाथ हुए किना न रहेगा। ज्ञानी पुरुष का ही उचित है कि लोग को ज्ञानवान कर उभयत काढ़। परन्तु यह काम खिल चीम हिल भेज स भयात कार उपर्युक्त में ही कमी नहीं होता। न्योकि किन्तु सशक्तरण की आडत नहीं और जिनकी तुड़ि मी पृथग शुद्ध नहीं रहती उन्ह यहि कोरा भ्रमज्ञान सुनाया जाय तो ये स्वेच्छा उस ज्ञान का उत्पन्नयोग उस प्रकार करते रहे गये हैं— तेरा मा मेरा और मेरा ता मेरा ही ही। इसक सिया किसी क उपर्युक्त की कृत्यता की चौंच भी तो साग उत्पुक्त भ्रमज्ञान से ही किया करत है। 'मस्टिष्क यदि ज्ञानी पुरुष स्वयं कम न करेगा या वह लंगोग को भाल्मी ज्ञान का एक बहुत बड़ा कारण हा जायगा। 'मेरी ही 'तुड़िमेड कहत है; और यह तुड़िमेड न होने पावे तब सब स्वयं सचमुच निष्काम हा कर अपना करुण्य करने के लिये जाएग हा जावे इसकिय भ्रमार में ही रह कर अपन कमों में सब लंगोग का सदाचरण की— निष्कामतुड़ि से कर्मयोग करन की— प्रत्यक्ष शिखा देना ज्ञानी पुरुष का कर्तव्य (जाग नहीं) हा जाता है। भ्रुणक गीता का कथन है कि उमे (ज्ञानी पुरुष को) कम छोड़ने का अधिकार कमी प्राप्त नहीं होता। अपने लिये न भही परन्तु ज्ञानमप्रहाय चानुषष्य क सद कम अधिकारानुभार रखे करना ही पाहिये। किन्तु तन्याममार्गामी का मत है कि ज्ञानी पुरुष को चानुषष्य के कम निष्काम तुड़ि में करन की भी कुछ बहरत नहीं— वही क्षण ! करना भी नहीं पाहिये। इसकिय 'स समग्राशय के दीक्षाकार गीता क ज्ञानी पुरुष को स्वेच्छमप्रहाय कम करना चाहिय इस मिठान्त का कुछ गार्दन क्षय कर (प्रत्यक्ष नहीं तो पदाप से) वह कहन के लिय मैवार—से हो गये हैं कि सब समग्रान दाग का उपर्युक्त करते हैं। पुरावर नन्दम से प्रकृत है कि गीता स्वेच्छमप्रहाय का वह लिप्तिमुख या पाता अथ नष्टा नहीं। गीता की यह मत ही मञ्जूर नहीं कि ज्ञानी पुरुष को कम छोड़ने का अधिकार प्राप्त है। और इस मञ्जूर म गीता में से कारण लिये गये हैं उनम लोकमप्रहाय क मुरुर जारय है। इसलिय यह मान कर (कि ज्ञानी पुरुष क कम तूर जान है) स्वेच्छमप्रहाय पदाका लौगी अथ करना लक्ष्य भव्याप है। इन ज्ञान में मनुष्य के दूस अपन ही लिये नहीं उत्पन्न होता है। यह तत्त्व है कि सामाज्य जाग नाममधी म स्वाप में ही बने रहत है। परन्तु तबभूतस्थानान्मन करभूतानि ज्ञानमि (गी. १ १) मै तब भूता म ह भी तब भूत मूल म है— 'म रीति से जिनका नमाज्य ममार ही नामभूत हो गया है उनका अपन मूल से यह बहुत ज्ञान म छहा लगाना है कि मुरुं ता मील निक गया अथ पहि जाग दुर्दी हा तो मत इनी क्षया परपाह' ज्ञानी पुरुष का भास्मा क्षया कीद स्वान्त्र व्यक्ति है उनक भास्मा पर उत्तर भग्नन क्षय या तब तुक्त भग्ना भीर 'पराया' यह भी काष्यन

किय उरु भरन समय की समाज्यवस्था में पहि काँ न्यूनता है, तो वे जो ऐसेहेतु क समाज गवाणमुख्य परिभास्ति कर; भीर नमार्द भी विष्टि तथा पाप शक्ति की रक्षा करत ता उनको उपनावस्था में त जान का प्रबन्ध करत रह। उन प्रगति का सम्बन्ध करने के लिये राजा इन सन्यास न ले कर अद्वितीयता यात्र करते रह; और मनु न परम राजा अनन्त स्वर्गकार किया। एव इती कारण क स्वयममपि आदर्श न दिविष्टिमुमहि (गी ३ ३०) — स्वप्नमें अनुसार व क्षम प्राप्त ह उनक विष्ये राजा तुम्हे उचित नहीं — भाग्य स्वनामनयत सम उपमाग्राहि विश्वाम (गी ३१ ८३) — स्वभाव रीर गुण क अनुष्ठय मिथ्यि चानुरुद्धर्यवस्था क अनुसार निषमित कम करन म तुम काँ पाप नहीं छोटा — अस्यादि प्रसार मे चानुरुद्धर्यक्षम क अनुसार प्राप्त तुउ का करन के लिये गीता में चारवार अनुकूल का उपराज किया गया ह। यह कार मी नहीं कहता कि परमेश्वर का यथार्थता क्षम प्राप्त न करी। गीता का भी मिहान है कि इस जन की सन्दर्भ करना ही मनुष्य का इस जन म इतिकल्प है। परन्तु “सब भाग्य व वर गीता का विषय क्षम वह है कि भपने भाग्य के क्षमात्र ही समिष्टि अस्मा क कर्याकार्य यथाशक्ति प्रयत्न करन का भा समावेश होता है।” सुखिये सोनसम्भ करना ही व्रजात्मक्यक्षम का लक्ष्य पद्यक्षमान ह। उन पर मी वह नहीं कि कोई पुरुष व्रजशानी हाने से ही भव प्रसार क व्यापाहारिक व्यापार अपने ही हाप से वर दाक्षन योग्य हो जाता है। भीष्म भार व्याप्त इन महागानी भीर परम सम्भवतः थ। परन्तु यह कोई नहीं कहता कि भीष्म के समान स्वाम ने भी सदा का कम किया हैता। व्रजवाभा की आर ऐन ता वहों भी समार के बहार करने का कम गङ्गार के स्वयं विष्णु का दीपा इन्हा नहीं दीप पड़ता। मन की निषिप्यवधा की तरु और शुद्धिकी तथा भाष्याभिन्न उप्रति की अन्तिम सीढ़ी श्वेतनुसुधावरपा है। वह कुछ आदिगीतिक उशोगा की उष्टुता की परीक्षा नहीं है। गीता के एकी प्रकरण म यह विषय उपरोक्त तुलारा किया गया है कि स्वभाव भार गुणी क अनुष्ठय प्रचलित चानुरुद्धर्य जाति व्यवस्थाओं के अनुसार विष कम को हम उन से करते क्षेत्र आ रहे हैं स्वभाव के अनुसार उसी कम भयका व्यवस्था को शानोच्चर भी जानी पुरुष स्मैक्षमप्रह के निमित्त करता रहे। क्योंकि उसी म उसके निषुण हाने की सम्भवता है। वह यहि काँ और व्यापार करने होगा तो “ससं समाव की हाति होपी (गी ३ १ १८ ८७)। प्रभेष मनुष्य मे इधरनिर्मित प्रदृष्टि स्वभाव नीर गुण क अनुष्ठय को मिल मिल प्रकार की शोम्यता होती है उसे ही अधिकार कहते ह। भार ऐनवस्तु म कहा है कि “स अधिकार के अनुसार प्राप्त क्षमों को पुरुष व्रजशानी हो करके भी लोकप्राप्ति ररनापवत करता जावे छाँ न है — वार्षि पिकारमविष्टिरधिकारिणाम (वे घु १ १ २)। कुछ स्वर्गो का करन है कि देवनवस्तुर्दा का यह नियम केवल के अधिकारी पुरुषों की ही उपयोगी है।

पानेवाले भहात्माओं के ) अथवा का बतन ऐसा प्रकार किया है : सन्ता की विभूतियों खण्ड के कस्याण ही के लिये हुआ करती है । ये स्वेग परोपकार के लिये अपने एहीर का कष्ट डिया करते हैं । भद्रहरि न वधन किया है कि परार्थ ही विद्वन् स्वाप हो गया है वही पुरुष साधुओं में भेष है — 'स्वार्थो यत्य पराप एव पुमा नेका सत्तामप्रणी । क्या मनु आर्हि धार्मप्रणाता ज्ञानी न वे ? परन्तु उन्होंने तृष्णा दुर्योग को इन भारी हौवा मानकर तृष्णा के साप ही-साप पराप्ताखुदि आर्हि सभी उद्गत्तहरियों को नष्ट नहीं कर दिया — उम्हान लाक्ष्मप्रहृष्टरक चानुर्वर्ष्य प्रमृति धार्मीय मयार्थ क्वन इन उपचारी छाप दिया है ! ज्ञानण को ज्ञन भवित्व का पुद्द विश्व का एती गोरक्षा और स्वापार अयक्षा इड का सेवा — ये जो गुणकर्म और समाज के अनुरूप मिल मिल क्षेत्राङ्गों में वर्णित हैं के क्षमता स्वर्कि के हित के ही लिये नहीं है प्रसुत मनुस्मृति ( १ ८७ ) में कहा गया है कि चानुर्वर्ष्य के स्वापार्ती क्य विमाग छोन्सप्रह के लिये ही ऐसा प्रकार प्रहृष्ट हुआ है । यार समाज के क्षमात के लिये कुछ पुरुषों द्वे प्रतिद्विन पुढ़कथ का अभ्यास करके उन तैयार रहना चाहिये और कुछ स्वगत द्वे देशी स्वापार एव ज्ञानार्थन प्रमृति उद्योगों से समाज की अन्यान्य आवश्यकताएँ पूज करनी चाहिये । गीता ( ४ १३ १८ ४१ ) का अभिग्राह भी देखा ही है । वह पहले कहा ही या 'कुका है कि ऐसे चानुर्वर्ष्यधम में से यति को' एक भी घम झूँप अथवा तां समाज उतना ही पंगु हो जायगा और भन्त में उसका नाय ही जान भी भी सम्भालना रहती है । यमण रहे कि उद्योगों के विमाग वौ यह स्वयंस्वय एक ही प्रकार वी नहीं रहती है । प्राचीन यूनानी दास्तावेजों ने एतद्विषयक अपने प्रथा म और अबाचीन केवल धार्मक भौग ने अपने भाषिकैतिन तत्त्वज्ञान में समाज की स्थिति के लिये या स्वयंस्वय लिखित भी है वह पश्चिम चानुर्वर्ष्य के सहस्र है तथापि उन हृषि प्रस्त्रा का पढ़ने से कोई भी अनु चक्रगति कि उस स्वयंस्वय म नैतिक प्रभ की चानुर्वर्ष्य स्वयंस्वय से कुड़न तुल मिलता है । 'नम से जान-सी समाजस्वयंस्वय भप्ती है । नपका यह अप्तापन सापस है भार युमान से इनम कुठ फेरफार हा सकता है या नहीं ' 'स्वार्हि अनेक प्रभ पर्ही न्यन्ते हैं और नाकम हो पश्चिमी देश मे छोक्सप्रह एक महस्त का शास्त्र उन गया है । परन्तु यीठा का तात्पर्यनिषय ही हमारा प्रलुत कियप है । 'सुखिय का' नाकमकना नहीं कि यहां उन प्रभा पर मी विचार करे । यह ज्ञत निकिताड है कि गीता के भमय में चानुर्वर्ष्य की स्वयंस्वय जरी भी नार लानुर्वर्ष्य करने के हृतु में ही वह प्रहृति की गा वी । 'सुखिय गीता के छोक्सप्रह पर का भय यही होता है कि स्वयं का प्रवध दियक्ष दिया जाव कि चानुर्वर्ष्य की स्वयंस्वय के अनुपार अपने प्राप्तसर्व मिष्ठामनुद्दि से लिय प्रकार करना चाहिये ' वही जान मर जाता है यहा इत्यनी है । ज्ञनी पुरुष तमाज के न उक्ष नव है बरन गुरु मी है । 'सके आप ही आप उक्ष हो जाता है कि उपसुत प्रकार का स्वयंस्वप्रह करने

४६ ३ )। परन्तु य समाच-प्रमुख महात्माओं के व्यवहार की ओर उत्तरी धरातल है उससे — और किंवद्दि एव पञ्चाशिष प्रभृति ने राम तथा कर्तु भार्दि जो अपने अपने भक्तिकार के अनुसार लगाव क प्रारम्भ पोषण "स्यामि" के बाहर ही मर्म-प्रबन्ध करते क लिय जा रहा है उससे — यही प्रकृत होता है कि कर्म व्याप्ति के सन्यासमागमशास्त्र का उपर्युक्त एकाशीय है — ( सब्या चिन्ह होनेवाला शास्त्रीय तत्त्व नहीं )। अतएव कहना पाहिय कि ऐसे एकाशीय उपर्युक्त की ओर ध्यान देकर सब्या मगान क ही उग्राहरण के अनुसार अनन्यासि के पश्चात् भी अपने भक्तिकार का परायन कर अनुसार अक्षयप्रदकारक कर्म वीक्षनमर्त करते रहता ही शाश्वेत भौत त्रुत्तम माय है। तथापि "स लोकसंप्रह का छक्षणा राय करन कर। अर्थात् लोकसंप्रह की ही क्षया न हो पर छक्षणा रामने से कर्म यदि निष्प्रकृत हो जाव तो दुःख दुःख किना रहेगा। इसी से भी अक्षयप्रद करेंगा" इस अभिमान या फक्षणा की हार्दिके मान न रायकर काष्ठप्रह भी केवल कर्त्तव्यादि ये ही करना पड़ता है। इसकिये गीता में यह नहीं कहा कि 'अक्षयप्रहार्यं भयात् स्वेच्छमहस्तरप वस पाने के लिये कर्म करना चाहिये। किन्तु यह कहा है कि अक्षयप्रह की ओर दृष्टि कर ( सम्प्रवन् ) द्वारे कर्म करना पाहिय — आक्षयप्रहमेवापि सम्प्रवन् ( गी १ २ )। एव प्रकार गीता म ये कर्त्तव्यी चौक्षी शम्भोक्ता की गत है उसका रहस्य भी यही है अक्षयप्रह उद्देश्य ऊपर लिया ज्या तुला है। अक्षयप्रह सचमुच महत्त्वपूर्वं कर्त्तव्य है, एव यह न भूलना चाहिये कि इसके पहले व्योक ( गी १ ११ ) में अनादिकुरुति के कर्म करने का मगान न अनुन का यो उपर्युक्त दिया है यह लोकसंप्रह के लिये भी उपयुक्त है।

जल भार कर्म का जो विरोध है कह रान भौत ताम्बङ्गो का है। इन नौर मिकाम कर्म में आम्बामिक दृष्टि से भी कुछ विरोध नहीं है। कर्म अपरिहार्व एव भार लोकसंप्रह की दृष्टि से उनसी व्याकरणका भी बहुत है। इसकिये उनी पुस्तकी शैक्षनप्रथत निस्सगात्रिक से व्याख्याकार चारुर्वर्ष के कर्म करते ही रहना पाहिय। यदि यही धार शास्त्रीय मूर्तिप्रयुक्तियों से चिन्ह है और गीता का भी यही इतर्वर्त है तो मन म यह दृष्टि सहज ही होती है कि दृष्टिकर्म के मूर्तिप्रयोगों में वर्णित वार आभ्यों में सम्बास आभ्यम की क्षया दृष्टा होयी है। मनु भारि सब स्मृतियों में ग्रहस्त्री, ग्रहस्त्र, बानप्रस्त्र और सम्पाती — ये भार आभ्यम दृष्टा कर कहा है कि भजस्त्र यन्माग, दान आ चारुर्वर्षर्वर्म के अनुसार ग्रास अन्य कर्मों के शाश्वेत आपर्व द्वारा पहसु सीन आभ्यमा में भीर भीर चित्र भी शुद्धि हो जानी चाहिये और भन्ति मैं समस्त कर्मों को लवक्षण घट देना चाहिये तथा सन्यास छो कर मारा ग्रास करना चाहत्य ( मनु ६ १ और १३—१४ वें )। इससे सब स्मृतियाँ का यह भनिष्यत प्रस्तु होता है कि यन्माग भार तज प्रभृति कर्म ग्रहस्त्राभ्यम मैं वर्णयि विहित ॥ तथापि क सब चित्र भी शुद्धि के लिय है — अर्थात् उनक बही उद्देश्य है कि विष्वा-

और इस सूत्र के मध्यमध्यनाथ उग्रहरण किये गये हैं उनसे ज्ञान पाहा जिकि वे सभी उग्रहरण न्याय प्रवृत्ति के बहु अधिकारी पुरुषों के ही हैं। परन्तु मन्त्रमूल में अधिकार की भूत्यान्-बद्धान् के समाचर में कुछ भी उल्लेख नहीं है। ऐसे अधिकार शक्ति का मतलब आपे वह सभी अधिकारी से है। और यह ऐसे ज्ञान का सूक्ष्म तथा स्फुरन्त्र विचार कर कि यह अधिकार किस का विस्त प्रभाव प्राप्त होने हैं तो ज्ञान होमगा जिस मनुष्य के साथ ही उमाद के नाथ ही मनुष्य का परमेश्वर ने उत्पन्न किया है। अचित्य किनारा उद्दिष्ट सच्चास्त्र उत्पन्नकम या घारीरकम स्वमात्र ही से हो भयना स्वधम से ग्राप्त कर लिया जा सके उसी हिसाब से यथाशक्ति नमार के पारण और पोषण करने का यात्याकृत अधिकार ( चातुर्यष्य जाति अपवा भन्य गुण और कमदिमागान्प सामाजिक अवधारणा से ) प्रवृत्ति को बन्न से ही प्राप्त रहता है। इसी कस का अन्तर्गत रीति से प्रवर्णन के लिये वह वह के समान किस प्रभाव आपे से प्राप्ति की मी आवश्यकता रहती है। उसी प्रकार समस्त सुसार की भपार उन्नाभा भपना कार्यों के विस्तरिते को व्यवस्थित रखने के लिये याति जाति के बहु अधिकार के नमान ही ऐसे शक्ति की भी आवश्यकता है कि अन्य मनुष्यों के स्तरे अधिकार भी पूर्ण और योग्य रीति से अमृत मध्यम हों। यह उग्रहरण भी भार कुर्याहा बहु तथा तयार न करेगा तो राशि के द्वारा योग्य रक्षण होने पर भी छोड़सप्त्र का काम पुरा न हो सकेगा। अपवा यह रेत का काम अर्थों शक्तीवास्त्र या पान्द्रसुमेन भपना कर यह न कर तो ये रेत्याजी आज्ञान वायु की जाह द्वे रात्यरिति अवधारणे उन करनी है वह फिर पेसा कर न सकेगी। अत वेग्मत्वमुक्तया की उद्दिष्टिस्त्र मुक्तिप्रयुक्तिया में नष्ट यह निष्पत्ति तुम्हा कि व्याप्ति प्रवृत्ति वह जड़े अधिकारियों को ही नहीं भन्नुन अन्य पुरुषों को भी — फिर वाह वह राशि हो या रुद्ध — लोकसप्त्र करने के लिये जो लोटे-बहे अधिकार यथान्याय प्राप्त हुए हैं उनको ज्ञान के पश्चात मी ऊह नहीं ज्ञाना चाहिये। किन्तु उन्हीं अधिकारों को निष्कामदुष्टि से भपना करन्य समझ यथा दक्षि यथाभवि और यथासम्भव भी भपनपर्यन्त करते जाना चाहिये। यह कहना दीक्षा नहीं है मी न लही तो को वृत्तरा उम काम को करेगा। क्याकै ऐसा करने से समूचे काम में किसने पुराणा की आवश्यकता है उनम से एक यह ज्ञाता है। और सुप्रशक्ति कम ही नहीं हो जाती अस्ति अनी पुरुष उसे किसनी अस्ती रीति करेगा उन्हीं अस्ती रीति से जीर के द्वारा उमका होना धृष्ट नहीं। परन्तु ऐसा हिसाब से लोकसप्त्र भी अपूरा हो जाता है। अन्यकै नितिरिति वह ज्ञाये ह जिसनी पुरुष के क्षमत्यागकर्त्ता उग्रहरण से भोगी भी उद्दि भी भिन्नती है। कभी ज्ञी सापाम सार्गंजामे वहा करते ह जिकर्म से जिस भी शुद्धि हो जाने के पश्चात भपन भास्त्रा भी मोरच्यामि ते ही मन्त्रपूर रहना चाहिये। समार का नाम सही हो जाव पर उसकी उत्त परवाह नहीं करना चाहिये — लोकसप्त्रभम य नैव उपास करपैत — भपन न तो होकरपह कर और न करें ( म भा अध्य भनुगीता

मनुमूर्ति में ही सिन्धा है, कि प्रथेषु मनुष्य कन्म के साथ ही भपनी पीठ पर झगिरक  
पिठौर और ऐताङ्गी के ( तीन ) कला ( करुण्य ) से कर उत्पन्न हुआ है। एवं इस  
केाव्ययन से कलियों का पुकोत्पादन से पितरा का और वज्रमूर्ति से वैकामा भागिभों  
का - उत्प प्रकार - पहले इन तीनों कला को कुकाय बिना मनुष्य सहार छोड़ पर  
सन्यास नहीं के सकता। यदि वह देखा करेगा ( क्षयात् सन्यास लेगा ) तो उन्हें  
ही पाये हुए कर्ने का लेकाक न करने के कारण वह अध्यागति का पूर्णाग्र ( मृ० १  
३६-३७ और पिछले प्रकरण का तैरि संग्रहण ) प्राचीन हिन्दुमण्डाम के भनुमत  
शाप का कर्व मियां गुदर जाने का सबव न जल्दी कर देये या नाती को भी कुमाना पक्ष्य  
या और किसी का वज्र कुमाने से पहले ही मर जान मैं कही कुगनि मानी गई  
थी। इस बात पर ज्ञान श्वर से पाठक सहब ही जान आयेंगे कि उन्हें से ही प्रक  
और उक्तिप्रिय महात्म के सामाजिक कर्तव्य का 'जल' उहने म हमारे शास्त्राय वा  
स्वया हेतु था। काढिग्राम ते रम्पुक्ष म कहा है कि शूलिकाय वी उत्तमाद एवं  
मर्यादा के अनुसार सूक्ष्मी राश्य स्वेग जल्दते थे अब ज्येष्ठा रात्र वरने बोझ हो  
जाता सब उसे गहीपर बिठान कर ( पहले से ही नहीं ) स्वयं यहस्याम्भम से निष्प  
होते थे ( रु० ४ ३८ )। मागवत म लिया है कि पहले उम प्रजापति के इदपर्वत  
पुर्वों का और फिर शश्वत्स्वरूप दूसरे पुर्वों को भी उन्हें बिवाह से पहले ही नारू  
ने निष्टिमाय का उपेश्य ने कर मिलु कना दाया। उससे उस अधार और कर्व  
स्वयम्भार के कारण नारू की निर्मलना करके उम प्रजापति ने उह शाप दिया ( मृ०  
५ ३ -५२ )। उससे ज्यो द्वेषा है कि इह भाभमयवस्था का कूदेतु वा  
या कि अफ्ना गाहस्यवीक्षन यमाद्याम पुरा कर यहस्ती जलाने मोम्य छाँगों के  
खाने हो जानेपर कुपाय वी निरपेक्ष भाष्याभा उं उनकी उमाह के आडे न जा निय  
मोभरयण हो मनुष्य स्वयं आनन्दपूर्वक सहार से निष्पत्त हो जावे। उसी हेतु ते  
विदुरनीति में भृत्यादु से विभुर ने कहा है -

उत्पाय पुनामनुगाम्य कृत्वा दृति च तेऽप्योऽनुविदाय कौचित् ।

स्वातं कुमारा प्रतिपाय सर्वा भरण्यमस्योऽथ दुष्टिर्दृश्येत् ॥

एहस्याम्भम न पुन उत्पन्न कर ( उह को० कला न छोड़ भार उनकी जीविका के  
मिये दुल योद्धा-सा प्रकृत्व कर तथा सब व्यक्तियों के योग्य स्थानों म है उन्हें पर )  
जलप्रस्त्र हो सन्यास लेने वी उच्छा करे ( मा० ३ ३ )। आहस्य  
हमारे पहुँच साक्षात् स्वेगों की सासारसम्बन्धी समर्प मी प्राप्ति विदुर के कलानुवार  
ही है। तो कमी न कमी सहार को छोड़ लेना ही मनुष्यमात्र का परमसाम्य मन्नने  
के कारण सहार क म्भवहारा भी नियत कर भी वह द्वार भीर भीरे स्थाने ल्यी। फिर  
पहुँच तक दियनि भा पर्वती कि यदि किसी का पैग होते ही नपरा अप्य अरम्भ्य

सत्ति या स्वायपरियंक बुद्धि का कर पठापकाखुड़ि इतनी का जावे कि प्राणिया में एक ही भात्ता का पहचानने की शक्ति मास हा जाय। और यह शिष्टि ग्रास हाने पर मोम की प्राप्ति के लिये अन्त म सब कर्मों का स्वरूपता स्याग कर सम्बासाभ्यम ही लगा चाहिये। भीशङ्कराचाय ने कस्तियुग म द्विस सन्यासचर्म की भ्यापना की कह माग यही है और स्वातमार्गवासे बालिंगस न भी रुक्ष के भारभ्य मे -

दीशबेऽभ्यस्तविद्यामां योवत् विषयैविजाम् ।

वार्षके मुनिहृसीनी योवेनाम्ते तत्पूर्यजाम् ॥

<sup>4</sup> इस्यन मे भन्यास (प्रश्नचय) करनेवाले तदगावस्था मे विषयोपभागलपी सहार (यद्यस्थाभ्यम) करनेवाले उत्तरती अवस्था मे मुनिहृषि से या जानप्रस्थ भ्यम से रहनेवाले और अन्त म (पाठुडुष) योग से सन्यासचर्म के अनुसार ब्रह्माण्ड म आग्मा को क्ष कर प्राप्त होइनेवाले - येहा सूर्यवद्य के पराकर्मी रात्रिकर्मों का वर्णन किया है (ख १ ८)। ऐसे ही महाभारत के उक्तानुग्रह मे यह कह कर कि-

चतुर्पदी हि तिष्ठेति ब्रह्मवैद्या प्रतिक्रिता ।

पतामाहद्य निष्ठेभी ब्रह्मणोके भ्रातीयते ॥

<sup>4</sup> आर आधमस्यी चार शीर्षियों का यह जीना अन्त मे ब्रह्मपद के क्ष पर्युषा है। इस जीने से - अर्थात् एक भाभ्यम से ऊपर के दूसर भाभ्यम मे - "स प्रद्वार चक्षुते जन पर अन्त मे मनुष्य ब्रह्मज्ञेन मे ब्रह्म्यन पाता है (शा २४१ २६)। आये इस तम का वर्णन किया ह -

कवाय पाचवित्वाऽनु शेषिरथानहु च त्रिष्ठु ।

पद्मजेत्परं स्थार्ण पारिक्षाम्यमनुशमद् ॥

एस जीने की उन शीर्षिया मे मनुष्य भफ्ने विष्टिक्य (पाप) का अचात् स्वाप पठायण भामुडि का अधका विषयासविष्टिक्य गप का शीघ्र ही क्षम करक पिल सम्याप छ। पारिम्य अर्थात् सन्यास ही सब म भग्न स्थान है (शा २५४ १)। एक भाभ्यम से दूसर आध्यम मे जाने का यह चिकित्सिक्य मनुम्मुनि मे भी है (मनु ६ ३४)। परम्मु यह जात मनु के ज्यान मे अप्ही तरह आ ग भी कि इनमे हे भनितम (भण्ट सन्यास आध्यम) की आर आग्म की विष्ट ग्रनुषि हाने से लमार का अन्य नष्ट हो जायग भीर समाज भी पर्य हो जायगा। यही से मनु ने मनुष्य मयारा कहा ही है कि मनुष्य पृष्ठाभ्यम म यहचर्म के अनुसार पराक्रम और सोनमप्रह के सब कम अवस्थ करे इसके पश्चात् -

मुहस्यस्तु पदा पदवेहुलीपहितमात्मन ।

अपत्यस्पृष्ट चापाय तदारक्ष्य समाप्तयेत् ॥

<sup>5</sup> गरीर म सुरियों पठने व्य भीतर नाती का मुह दीम पड़ तब यहस्य जानप्रस्थ हे कर तम्यास ख स (मनु ६ )। तब द्याता का पाठन करना चाहिये। यसा

साधनरूप समझ कर अगुचित नहीं कह सकते। आयुष्य जितने के सिवे "स प्रसादं  
पदती हुईं सीरिया की शब्दस्था से समार के व्यवहार का सेप न हो कर बढ़ायि  
पैदिक कम और औपनिषदिक लक्ष्यन का मेल हो जाता है तथापि अन्य दैनों  
आभासों का नज़ाराता गृहस्थाभम ही होने के कारण मनुस्मृति और महाभारत में  
भी अन्त में उसका ही महान् स्वाधेया स्वीकृत हुआ है -

यथा मातरमाभिष्य सर्वे जीवन्ति जन्मवाः ।

यथा गार्हस्त्वपमाभित्य बतल इतराभमाः ॥

माता के (पृष्ठी के) आभय से जिस प्रकार सब अनु जीवित रहते हैं उसी प्रकार  
गृहस्थाभम के आस्ते अन्य आभास है (शा २६८ ६ और मनु ३ ७३ देख)।  
मनु ने तो अन्यान्य आभासों को नक्षी और गृहस्थाभम को नामर कहा है (मनु-  
३ १ म भा शा ६ ३)। उन गृहस्थाभम की भेष्टा "स प्रसाद निरियं  
है तत्र उसे छोड़ कर 'क्षमसन्यास' करने का उपाय देने से अम ही क्षमा है। उना  
ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर भी गृहस्थाभम के कम करना अनाय है। नहीं तो जिस  
इच्छा क्षमा अर्थ है कि हमनी पुरुष साकार से निरूप हो ? योगीवत्त आपदुर्दि के  
क्षणिक करनेवाले साकारण अंगों की अपेक्षा पूर्ण निष्क्रमतुर्दि से व्यवहार करनेवाले  
हमनी पुरुष होकरह करने में अधिक समर्थ और पात्र रहते हैं। भरु श्वर से उन  
उनका सामर्थ्य पूर्णवस्था का पर्दूचला है तभी समाज को छोड़ जाने की स्वतंत्रता  
हमनी पुरुष को रहने देने से उन समाज की ही अत्यन्त हानि हुआ करती है जिसी  
महार के लिये चानुबर्वस्यवस्था की गत है। घारीरसामर्थ्य न रहने पर पर्दि को  
अपारक मनुष्य समाज को छोड़ कर उन में चम्प जाए तो जात निराली है - उन्हें  
समाज की ओर्डि लिहाय हानि नहीं होगी। जल पड़ता है कि सन्यास आभास की  
हुदाये भी मायाक से छेष्टने में मनु का हेतु भी पही रहा होगा। परन्तु ऊपर इह उन्हें  
ह कि वह भेषल्लर मर्वाण व्यवहार से बचती रही। इतस्मिये कर्म कर और अभ  
छोड़ देसे द्विविष्ट देवतानों का मेल करने के लिये ही वहि स्मृतिकरताभा ने आभासों की  
चाती हुड़ भणी जाँची हो तो भी "न मित्र मित्र वैश्वाकमों की पक्षाक्षता बरने  
का स्वतिकारों की ज्ञाती का ही - और तो क्या उन्हें भी अधिक - निरिया  
मविकार जिन मायान् भीहृष्ण को है उन्हीं ने करक प्रवर्ति के प्राचीन इनमें  
समुक्षवायम् माग का मायवत्तम के नाम से पुनरजीवित और पुण समवत्त दिया  
है। ग्रन्थकर्त्तर्म में केवल अन्यान्यनिवार्दि पर ही निर्मर न रह कर बासुरेवमनिवारी  
सुसम साक्षन को भी उसमें मिला दिया है। इस विषय पर आम तरह प्रसरण में  
विस्तारपूर्वक विवेचन दिया जावेगा। मायवत्तम किफियतान मध्ये ही ही पर उन्हें  
भी उनके माग का यह महाभृण तात्पर दिक्षान ह कि परमेश्वर का इन पी  
जुन्ने पर क्षमत्वागत्प उन्यात न के। केवल फ्रायां छोड़ कर हमनी पुरुष को भी

म हैं अब भी प्रसिद्ध उन नामों की वर्तमान पर अन्य भी आवश्यक नहीं । एह एकम भव्याम ॥ ८ ॥ ता शर हानि नहीं । इद्वया र प्रवाह  
प्राप्य स्वाम ॥ ९ ॥ । उसी सन्दर्भ महान रत शारीरिक वृद्धा  
मे र र न गुमायि ॥ १० ॥

“रीरायनि वसाणि द्वार्चे तु परमा गति ।

प्रधान रम्भिं एवं रम्भान् ए तिटि ॥

ESTATE PLANNING

$\frac{1}{2} \cdot \frac{1}{2} = \frac{1}{4}$  and  $\frac{1}{2} + \frac{1}{2} = \frac{2}{2} = 1$ , which are true.

तब 'स्मात् नीरं भागवतं शम्भुं क्रमेत्' जब और 'कैश्चिद्' शम्भु के सम्मानात्मक हो गये। और अन्त में आदुनिक भागवतभगवियों का वर्णन (द्वेष या विशिष्टादेव) मिल हा गया तथा बैद्यन के समान ही व्योतिप्रभ अर्थात् एकार्थी और उन्हें स्मान की रीति तक स्मात्भाग से निराली हा गा। किन्तु स्मात् शम्भु से ही भल होता है कि यह में सका और मृष्ट का (पुराना) नहीं है। भगवत्तम्भु में स्मान शा ही प्राचृत किया गुजा है। उन्हिये 'सर्वं कार्यं आश्रव्य नहीं कि 'सका उपास्त एवं मी भीहम्या या किण्यु है। परन्तु 'स्मात् शम्भु का आश्रव्य 'स्मृत्युष्टे' - इस इतना ही - होने के कारण यह नहीं कहा या उकता कि स्मात् तर्मं का उपास्त धिव ही होना चाहिये। कर्वांकि मनु भार्ति प्राचीन धर्मेश्वर्या में यह निम्नम् नहीं नहीं है कि एक धिव की ही उपासना करनी चाहिये। इसके विपरीत किण्यु का ही वर्णन अनिवार्य पाया जाता है। और कुछ स्पष्ट पर तो गत्पति प्रस्तुति को मैं उपास्त अस्तमा है। इस के सिवर धिव और किण्यु दोनों उकता ऐतिह है। भर्व एवं एवं म ही इनका वर्णन किया गया है। इससिये इनमें से एक का ही स्मार्त वहन ढीक नहीं है। भीड़गुरुराचाय स्मात् मत के पुरुष्कर्त्ता कहे ज्यते हैं। पर शाहूर मठ में उपासन 'उकता शारण है। भीर शाहूरमाचाय में बहुत बहुत प्रतिमाप्रकृत का प्रचार किण्यु है कि वही वहाँ आचाय ने शिवकिंग का निरोग न कर शाहूरमाचाय अर्थात् किण्युप्रतिम्य का ही उपेन्द्र किया है (वे सू. या २ ७ ३ ६ १४ और ४ १ १ अ. या ८ १ १)। इसी प्रकार कहा जाता है कि पवर्तेष्वप्युष का प्रत्यक्ष भी पहल शाहूराचाय न ही किया था। न एवं जाता का विचार करने से वही किण्यु होता है कि पहले पहल स्मार्त और भगवत् पर्वतों में ('शिवमणि' या 'किण्युप्रतिम्य' ऐसे उपास्त म) दोनों के कारण ज्ञात ही नहीं थे। किन्तु किनकी इहि से स्मृतिश्वर्यों में स्वरूप रीति से वर्णित आभगम्यवस्था के अनुसार तदेव अक्षया में यजायाच स्वरूप के सब काम करके कुआप में एकाएक कर्म छोड़ चतुर्षांभम् या त्रिसार हेना अनित्यम् साक्ष या वे ही स्मार्त वहस्तते थे। और जो श्वेत भगवान् के उपोक्तानुसार वह समर्हते थे कि ज्ञान एवं उत्तराचल स्मावकृतिके द्वाय ही साक्ष मरणपर्यन्त एकत्वात् के ही काम निष्कामकुर्दि से करते रहना चाहिये उन्हें मामवत् कहते थे। इन दोनों शास्त्रों के मूल अध्ययन ही ही है। और इसी से ये दोनों शम्भु साक्ष और दोस्रे अश्वा सन्मान और कर्मदोग्म के क्रमशः समानाप्यक होते हैं। समानात् के अक्षाराहस्त ते कहा या ज्ञानयुक्त गाहृस्पर्यकर्म के महत्व पर ध्यान न कर कहा उप्यास-अनुभव अप्य हा गया था और कमिक्ष्यन्ते प्रकरण में सामिल कर दिया गया था। अर्थात् कमिक्ष्य म किन जाता का द्वाय ने निर्मित माना है उनमें सन्वाद की गिनती वीर्ग ही ही।\* फिर ऐसे और जौङ तर्मं के प्रकर्त्तों ने कापिल द्वार्य भगवान् का स्वीकार

किर्बाचारन्तु रुद्राचर परिच्छद् म कमिक्ष्यं प्रकरण रहते। इह म जलिकात् वदा हस्त वस्त्रात् वन्दीत्युक्तम्। द्विरात् तत्त्वात्पति कन्तो एव विवरेत् और तत्त्वात्पति

ऐसर्वंगह के निमित्त सम्म व्यष्टिहर यात्रीकर निष्कामनुदि से करते रहना चाहिये अन् अमरणि से ये शेनों मारा पक्ष-के अधार जानकरमनुषयामक या प्रवृचि-प्रथान होते हैं। साधारू परमात्म के ही अकार - नर और नारायण रूपि - "म प्रातिप्रथान घम के प्रथम प्रकृतक हैं और इसी से इस घम का मान्यन नाम नारायणीय घम है। ये दोनों रूपि परम जनी से भार द्वेषा का निष्कामकम करने का उपर्युक्त देवकाल तथा स्वयं करनवाले थे (मा ३४१)। और इसी से महामारत में इस घम का बणन इस प्रकार किया गया है - 'प्रवृचिक्षणभैष घमी नारायणामक' (मा द्या ३४०) अथवा 'प्रवृचिक्षण घम जपिनारायणोऽपीति - नारायण जपिय का भारतम् निया दुमा घम आश्रण प्रवृचिप्रथान है (मा द्या ३४२)। मन्यासन म व्यष्टि कहा है कि यही सात्कार या मायदत्तघम है भार "म मान्यन या नृप मायदत्तघम का स्वरूप 'नीक्ष्यव्यवृत्त अथवा निष्कामप्रवृचिप्रथान या (मारा ३५१ भार ३१४६)। अनुग्रहीता के अनुकूल से - प्रवृचिक्षणाय धारा जाने सन्यासुरक्षणम् - प्रकृत होता है कि एस प्रवृचिक्षणाय का ही एक भार नाम 'योग' भा (मा अथ ३२)। और इसी से नारायण के अकार भीहृषि न नर के अद्यतार अनुग्रह या गीता म इस घम का उपर्युक्त दिया है उसको गीता म ही 'यात्र बहा है। आज्ञानउ बुद्ध व्यग्रा वी समस है कि भूग्रहन धीर ग्राम दोनों पाप उपास्यमें के कारण पहले उपर्युक्त यह था। पर हमारे मन म यह व्याप्त नीत नहीं। इसादि इन दोनों मायों के व्याप्ति निष्पत्ति यही है किन्तु उनमा अप्यात्मक्षण एक ही है। और अप्यात्मक्षण की नीत एक ही होने से यह अप्यमत्त नहीं कि उनमा ज्ञान म परद्वार प्राप्तीन इनी पुराय देवत्व द्वयात्म के में को से वर उपलब्ध होते हैं। इसी बातल मे मायकीता (३५४) एवं विद्यर्गीता (३५५) दोनों घटाया मैं कहा है कि मनि सिभी वी करो पर्वती वह पक्ष ही परमधर का। महामारत के नारायणीय घम मैं दो इन दोनों घटाओं का अभ्यर्थ या ज्ञानाया गया है कि नारायण और एक एक ही है। ये एक के घम हैं वे नारायण के घम हैं भार जो एक एक ही है ये नारायण के दो देवी हैं (मा द्या ३४१-३५२ भीर ३५२३ देव)। हमारा यह बहना नहीं है कि प्राप्तीन ज्ञान मैं देव भार देवत्वी वा मेड ही न भा। पर हमारे अप्यम का तात्पर्य यह है कि ये दोनों - ज्ञान और ज्ञानम् - घट्य दिव्य और दिव्य के व्याप्ति देवत्वादे कारण निष्पत्ति नहीं है इन्होंकर निष्पत्ति या प्रवृचिक्षण एक ही नहीं - देवत्व इनी मायाय के दिव्यम मैं ज्ञानमें होने से ये दोनों घट्य अप्यम उपर्युक्त हैं भाय कुरा नमय के एक एवं दूसरा ज्ञानानप्यम का प्रवृचि-मायं या अप्यमाया एस हा र्या और एन नी एवं दिव्य दिव्य मनि प्रयत्न ज्ञान ज्ञान देवत्वा म निष्पत्तिर भाग्निक घट्य प्रयत्न हा र्या। एवं इसी के कारण इन घट्यमनि मन्य से एस ह्याह होने लगे कि तरह इन्होंने एवं है भार मरा ज्ञान दिव्युः

करते हैं—भार इन् पर हि राजेन्द्र लक्ष्मी न मण्डनम् (गा २३ ४६)। इष्ट से लिंग का भारण धारण करना ही धर्मिय का भम है मुण्डन करा देना नहीं। परन्तु “सुसे यह मी न सुमझ द्वा चाहिय कि सिर्फ़ प्रवृत्पासन के अधिकारी धर्मियों को ही उनके अधिकार के कारण कर्मयोग चिह्नित था। कर्मयोग के ठिक्कीस वर्ष का ठीक म्याय यह है, कि ये किन कर्म के करने का अधिकारी हो वह उनके पश्चात् भी “स कर्म का करता रहे। भार “सी कारण से महाम्प्रत में रहा है, कि

एष पूरुष बुद्धिमाणस्य विवीपते (गा २४७)। इन के पश्चात् श्रावण में अपने अधिकारकुसार यज्ञयोग आदि कर्म प्राचीन काल म आरी रखते थे। मनुष्यों म भी संन्यास आभम क करने सब वर्णों ने लिय विक्ष कर्मयोग ही विनाय के चिह्न माना गया है (मनु ६ ८६-९३)। यह कही नहीं सिय है कि मनुष्य एम के बल लक्ष्मी के ही लिय है। मनुष्य उसकी महत्त्व यह कह कर गाए है कि श्री अर्द्ध अदि भर लक्ष्मी को वह मुम्म है (गी १८ ३२)। महामारत मे ऐसी कथाएँ हैं कि दुलबार (धृष्ट) और व्याप (व्हैसिया) एसी भम का आचरण करते थे और उन्होंने ब्राह्मणों को भी उसका उपयोग किया था। (गा २५; एन २१५)। निष्कर्मकर्मयोग का आचरण करनेवाले प्रमुख पुरुषों क ये उपारण मागमतप्रमप्रया मे दिये जाते हैं के क्षेत्र उनक श्रीहृष्ट श्रीविद्यों क ही नहीं है प्रकृत उनमे विष्ट भैष्य अर्द्ध व्याप प्रमूलि जनी ब्राह्मण का भी समावेष रहता है।

यह न भूला चाहिये कि यात्रि गीता म कर्मयोग ही प्रतिग्राह है तो भी निरे कर्म (भपात् अनरहित कर्म) करने क मार्ग को गीता मोक्षद नहीं मानती। अनरहित कर्म करने के भी तो भी है। एक तो इम भ या आमुरी सुदिते कर्म करना और दूसरा भड़ा से। अनम इम क मार्ग था आमुरी माय को गीता न (१६ १६ और १० ४८) भार भीमानका ने भी गद्य तथा नरक्षण माना है; एष कर्मये मे भी अनेक कथाएँ पर भद्रा भी महत्त्व दिल्ली है (स. २ ६० ११३ आर २ १२६)। परन्तु दूसरे मार्ग क विषय म—भवान जन अनिरिक्त इन्दु शास्त्रों पर भड़ा रणकर इन करने क मार्ग क विषय मे—भीमानका का कहना है कि परमेश्वर के अवृत्य का व्याप इत न हो तो भी शास्त्र पर विभाव रण कर केवल भड़ागुपत यज्ञयोग भारि इस मरणप्रयत्न करन जान भ भन्न म मात्र ही मिलता है। इठें प्रतरप्य मे वह दुर्देरि है कि कर्मसाक्षय न भीमानका का यह म ग राजा ग्राचीन वाढ मे अप भा रहा है। वर्णटिता और ब्राह्मण म त सात भाभम भावायक वही नहीं बहा गया है। उत्त्य विभिन्नों न याता का यही एष मत इत्यादा है कि एहम्भाभम मे रहने न ही मात्र मिलता है (२ ४ १ ४ २३-५ आरो)। भीर उनका या बनन कुछ निरा पार भी न हो। यादि कर्मसाक्ष क इन ग्राचीन मार्ग का गाँव मनन का भारभ उपनिषद म ही वह उपनिषद नहा जाना है। वायुपि उपनिषद न। कहूं तथारितवृष्टि व भागवत न प्रभ रहता है कि व भागवत भार ब्राह्मण के दो ४ ८ इति भनी

कर इस मत का विचार प्रचार किया कि सदाचार का त्याग कर सन्यास छिय जिना मात्र नहीं मिलता। इतिहास म प्रखिद है कि बुद्ध न स्वयं तरुण भवस्वा में ही राजपाट श्री भौत भाष्म वर्ण का लोड़ कर सन्यास गीता से स्थी थी। यथापि श्रीशङ्कराचार्य ने ऐन और शैदा का वर्णन किया है तथापि उन भार शैदा ने जिस सन्यासभम का किंचित् प्रचार किया था उसे ही श्रीतम्भात सन्यास कर कर भास्त्राचार ने कायम रखा। और उन्होंने गीता का अत्यधि भी एसा निकाल्य कि वही सन्यासभम गीता का प्रतिपाद्य विषय है। परन्तु बास्तव म गीता स्मातमाग का प्राप्त नहीं। यथापि सम्प्रय या सन्यासमाग से ही गीता का भारम्भ हुआ है तो मी आग चिढान्तपत्र में प्रतिप्राप्ति विषयान मागवतभम ही उसम प्रतिप्राप्ति है। यह त्वय महामारनसर का वक्तन है जो हम पहले ही प्रकरण म \* आये हैं। ज्ञ तनो पापा के विक ही होने के कारण सब अद्या में न सही तो अनेक अद्या म ताना की एकवाक्यता करना शर्म है। परन्तु एकी एकवाक्यता करना एक बात है और यह इहना दूसरी बात है कि गीता में सन्यासमाग ही प्रतिपाद्य है। यदि कहीं उम्मार्ग का मौजूदप्र कहा हो तो वह एक अष्टवाड या पासी भूति है। उपर्यैचित्र के कारण किसी का भगवतभम की भाषेभा स्मातभम ही भवत प्यारा र्वेचंगा। अप्यत्र क्लसन्यास के लिय जो कारण सामान्यतः अद्य है ही उस विक वस्त्रान प्रतीत होते। नहीं कौन कहे? उआहरणाथ सम्म किसी का धरा नहीं कि श्रीशङ्कराचार्य की अपनी या सन्यासभम ही मान्य था। अस्य सब मार्गों का म अश्वनमूर्ख मानते थे। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि एक उक्ती कारज से गीता का मात्राच भी वही द्वाना जाहिय। यदि तुम्हे गीता का चिढान्त मात्र नहीं है तो कौन जिस्ता नहीं। उसे न माना। परन्तु यह उन्नित नहीं कि अपनी ऐक रस्मे के लिय गीता के आरम्भ म जा यह है कि इस ससर में भाषु जितान के दो प्रकार के अत्यन्त मात्रप्रद माग अद्यवा निष्ठार्प है इसका एका अप किया जाय कि मन्यासुनिश्च ही एक सच्च और भूष मात्र है। गीता म बणित ये ताना मात्र ऐक रस्म म अद्य और याह वाक्य के प्रह्ल ये ही स्फन्द रीति से जड़ भा रहे हैं। पक्ता सरग्मा है कि अद्य के उपान समावृ क पारण और पारण करने के अधिकार धारयम क अनुकार वह परम्परा से या अपन साम्प्रय से किनसो प्राप्त हो जात ये व शनग्रासि के पश्चात भी निष्कामकुडि से अपन काम जारी राप कर उग्न का कन्याच बरने म द्वी अपनी सारी भाषु एगा ज्ञ व। उमात्र क "म अधिकार पर र्प्यान वे वर ही महामारत म अधिकारम" म तुहरा शप्त आया है कि मुप नीबन्ति तुनया भस्यहनि तमाभिला- (या १०८ १) - उहाँ म रहनगाल मुनि ज्ञानन्त न मिलाति का स्वीकार करन्त जाहरन विज्ञाना इपारि भूतिहन है तद - अधिकार जाहर उमात्र आद में मात्रवत्त भी निवार कन्याग म दे जाता निरिद्वे इसम उमात्र का निर्विवृत्त उपर्याप्त न दाह न निवार हाना

बीज, इन में यहि विधि है कि तो भी स्थन और निष्कामकरण में कोई विधि नहीं। इसीलिये गीता का कथन है कि निष्कामदुष्टि से सब कम सर्वंग करते रहो। और कभी भन उठा। अब इन चारों मतों की तुलना करने से दीपन पक्षगा कि ज्ञन हेमे के पहले कम की आवश्यकता सभी का मात्र्य है परन्तु उपनिषद् और गीता का कथन है कि ऐसी विधि में भड़ा से किये हुए कम का पहले स्वर्ग के सिवा दूसरा कुछ नहीं होता। उसके आगे अपारं ज्ञानप्राप्ति हो जून पर—कम विने ज्ञव का नहीं एक विषय म—उपनिषद् तत्त्वाभीं में भी मतहृत है। कह पहले उपनिषद् कहाँओं का मत है कि ज्ञन से समस्त क्रम्यतुष्टि का न्वास हो जून पर जो मनुष्य मौत का अधिकारी हो गया है उसे केवल स्वर्ग की प्राप्ति करा देनामुख काम्यकरणे का कुछ भी प्रशोङ्ग नहीं रहता। परन्तु शाश्वत भावि दूसरे कई एक उपनिषदों में प्रतिपादन दिया गया है कि मृत्युधक के म्यवहारण को जारी रखने के लिये अंकुरना ही चाहिये। यह प्रकरण है कि उपनिषदों में वर्णित ज्ञन दो मार्गों में तेरूसरा मार्ग ही गीता में प्रतिवाचित है (गी ६ ८)। परन्तु वद्यापि यह नहीं कि माम के अधिकारी ज्ञानी पुरुष को निष्कामदुष्टि से ज्ञानप्रहारण तुन म्यवहारण करना चाहिये। तथापि एस स्थान पर पह प्रभ भाष दी होता है, कि किंव वस्त्राम्य भावि कर्मों का फल स्वर्गयाप्ति के सिवा दूसरा कुछ नहीं ऊहं पह करे ही स्तो। इसी से भगवान् अव्याय के आरम्भ में इसी प्रभ को ऊह कर म्यवहारण ने स्वानिर्णय कर दिया है कि यत् तान् रुप भावि कर्म सैद्धं विलक्ष्युद्दिकारं है—अव्याय निष्कामदुष्टि उपनिषद् और कानेकार्ह है। इसस्थिय इन्हें मी (प्रताप्तिर्विभिन्न) अन्य निष्कामकरण के समान अक्षसप्रहार्य रूपी पुरुष को फलाद्या और सहृद्देश कर सका करन रहना चाहिये (गी १८ ६)। परमेश्वर को अर्पण कर एस प्रसार उपर कर्म निष्कामदुष्टि से करते रहने से व्यापक अर्थ में यही एक बड़ा मारी भव हो जाता है। और फिर एस पह के सिवा जो कर्म दिया जाता है वह कृष्णन नहीं होता (गी ४ ६३)। किंतु सभी ज्ञान निष्कामदुष्टि से करने के कारण यह संबोध स्वर्गयाप्तिरूप वापरक प्रभ मिलनेवाल्य या वही नहीं निलेता और ये सब काम मौत के भावों आ नहीं सकत। सारांश भीमानका का क्रमागत यहि गीता में कायम रखा गया है, या वह इसी रीति से रखा गया है कि उपरोक्त व्यवहारण का भाना ज्ञाना दूर भवत है। और कभी कम निष्कामदुष्टि से करने के कारण अन्त में मालाप्राप्ति हुए किंवा नहीं रहती। व्याज रखना चाहिये कि मीमांसकों के क्रमाग और गीता के कर्मवासा में यही महत्व का भेद है—जाना एक नहीं है।

पहोंचना दिया जि भारतीयों में प्रश्नोत्तरान मानवतावाद के बहुतायी है। अतिपात्र है भारत में सभाग में तथा सीमांचलों के कलाश में भौमिका भी है। अब ताकि इसी से नए जल का यान्त्रिक विकास करते हैं कि गीता के बहुतायी में और शनकोष का क्षेत्र कर सकिए जो भी उत्तर भारत-उक्ता में रहा।

यह नहीं कि उसके पहले परमेश्वर का ज्ञन हुआ ही न था। हों उपनिषद्काल में ही यह मत पहले पहले अमात्य में संवाद आने था, कि मात्र पाने के क्रिये ज्ञन के पश्चात् देखाय से क्षमतान्यास करना चाहिये। और इसके पश्चात् उठिठा एवं ब्राह्मण में वर्जित क्षमताण्ड को गीणत्व था गया। इसके पहले क्षम ही यज्ञान माना जाता था। उपनिषद्काल में देखाय युक्त ज्ञन अथात् सन्यास की रूप प्रकार कृती होने लगने पर यज्ञाग्राम प्रयत्नि क्षमों की ओर भा चानुबन्ध क्षम की ओर भी शनी पुरुष या ही दुर्लभ करने लगे और तभी से यह समझमान्त होने लगी कि स्वर्गसंपद करना हमारी क्षतय है। स्मृतिप्रेताभी ने अपने मन्त्र्या में यह कह कर — कि यज्ञाग्राम में संवाद आदि भाव या चानुबन्ध के सामान् करना ही चाहिये— यज्ञस्थानम् भी क्षात् गया है सही परन्तु स्मृतिकारों के मत में भी भन्तु में देखाय या सन्यास भाभम् ही भय माना गया है। उपनिषद्ग्रंथों के ज्ञनप्रवाह से क्षमताण्ड का यो गैरिता यास हो गढ़ थी उसको हानि का सामन्य स्मृतिकारों की आभ्यन्तरिक भावम् में नहीं रह सकता था। ऐसी अद्यता में जनकाण्ड और क्षमताण्ड में से विसी को गौण न कह कर मर्ति के साथ इन दोनों का मरण कर देने के क्रिये गीता की प्रारूपि हुआ है। उपनिषद् प्रगतिकामा के ये विज्ञान्त गीता का मान्य है जिसके ज्ञान माण्ड्यासि नहीं हाती भार यज्ञाग्राम भादि क्षमों से यहि वात दुभा तो श्वग्यासि हो जाती है (मु ११११ गी ४१-५०)। परन्तु गीता का यह मी विज्ञान्त है कि स्वाधिनेभ को बड़ी रूपता के क्रिये यह अथवा क्षम के वक्त को भी कायम रखता चाहिये— क्षमों को छोड़ देना निया पागम्बरन था मूलस्ता है। उपनिषद् गीता का उपर्याह है कि यज्ञाग्राम भादि भावक्षम अथवा चानुबन्ध भादि व्यावहारिक क्षम भजनपूर्वक भजा जै न करके जनवैराग्यमुक्त दुर्दि के निरा क्षतय समर्पण कर दये। तरसे यह वक्त नी नहीं मिलने पायगए और तुम्हारे क्रिये हृषि क्षम मोक्ष के भाव में नहीं आवाज़ी। यहना नहीं होगा कि ज्ञनकाण्ड और क्षमताण्ड (सन्यास भार क्षम) का मैल मिलने की गीता भी यह ईही स्मृतिकामा की धरोऽज्ञा भविष्य तरस है। क्षमादि प्यादिक्षप भावमा का क्ष्याण यक्षिक्षित भी न पदा कर उसके लाप सृष्टि के समादिक्षप भावमा का क्ष्याण भी गीरुमामा में सापा जाता है। मीमांसा कहते हैं कि यम भनादि भार व्याप्रतिगीत है। उपनिषद् युक्त जन न हो तो भी उन्हें करना चाहिये। निश्च ई (तन नहीं) उपनिषद्ग्रन्थाना क्षमों को गैर भनत है। भार यह कहत है— का यह मानन में कोई द्विन नहीं कि निश्च उनसे दुर्लप एक्षा ही है— कि क्षमों को देखाय से द्वारा द्वा चाहिये। और स्मृतिकार भाषु जै मेड— अथवा भावनपूर्वक्षमा कु उक्त जना मता भी रूप प्रकार एक वाक्याता— करत है कि पूर भावमा में न क्षमों का वरत रहना चाहिये। भार मिलद्युदि हा जन पर दुर्लप में विद्युत तै तन क्षमों का द्वारा वर नव्यान उ सेना चाहिये। परन्तु गीता का माप इन तीनों पर्याय में निष्प है। जन भार व्यापक्षम के

विषय प्रमाण कर साक्ष माना गया है (वे स. ३४ ६ १४ १२-१५)।<sup>१०</sup> अब यह कठबन्धना आवश्यक है कि निष्कामदुद्दिश्य से ही क्वो न हो, पर उपर सर्व पर्यन्त कर्म ही करना है तब मनविग्रही म वर्णित कर्मत्यागही प्रदूष आभ्यं वा सन्यास आभ्यं की क्षया होगी। अर्द्धन अपने मन में पहरी सोच रहा था कि मनवान् कभी न कमी क्षेत्रे ही कि कर्मत्यागही सन्यास लिये मिना भौम नहीं मिलता और तब मनवान् के मुख से ही युद्ध छेदने के लिये मुख स्वरूपता मिल जाएगी। परन्तु उब अर्द्धन ने देखा कि सत्त्वहर्व अध्यात्म के अन्त तत्त्व मनवान् ने कर्म त्यागहप सन्यास आभ्यं की बात भी नहीं की; बारहप्र केवल यही उपोक्त लिया कि फलाशा का छोड़ देतब अठारहर्व अध्यात्म के आस्तम मै अर्द्धन ने मनवान् से प्रम लिया है कि वा फिर मुख स्वरूपता और त्याग मै क्षया मै है। अर्द्धन के इस प्रभ का उघर ऐते हुए मनवान् छहते हैं—‘अर्द्धन। यहि दृम्ये समझा हो कि मैंने इतने समयक जो कर्मयोगमार्ग करायावा है उसमे सन्यास नहीं है वा वह उपराह गवत है। कर्मयोगी पुरुष सब कर्मों के दो भेत करते हैं—एक एवं छहते हैं ‘काम्य अर्थात् भावक्षयुद्धि से लिये गये कर्म और दूसरे एवं कहते हैं, निष्काम अथात् आसाधि जो छा’ कर लिये गये कर्म। (मनुस्त्रिंश्च २१ ८९ में नहीं कर्मों के जम से ‘प्रशुषि और निकृषि नाम लिये हैं)। इनमे से ‘काम्य’ कर्म म लिये कर्म है उन सब के कर्मयोगी एकाएक छोड़ देता है—अर्थात् वह उनका ‘सन्यास’ करता है। वास्त्री यह गम ‘निष्काम या निकृषि कर्म’। तो कर्मयोगी निष्काम कर्म करता हो है पर उन सब मे फलाशा का ‘त्याग’ तर्केव रहता है। साराज कर्मयोगमार्ग मै भी ‘सन्यास और ‘त्याग छूटा छर्हो है। ऊर्ध्वमार्गके कर्म का स्वरूपता सन्यास करते हैं तो उसके स्वान मै कर्ममार्ग के योगी कर्मफलाशा का सन्यास करते हैं। सन्यास ठीकी भौत क्षमता ही है (गी १० १-६ पर हमारी टीका देखो)। मायवरपर्व का यह मुख्य तत्त्व है कि ये पुरुष अपने उभी कर्म परमेश्वर के अपूर्व कर निष्कामदुद्दिश्य से करने ज्ञा कर परस्ताभी हो हो भी उसे नित्य सन्यास ही कहना चाहिये (गी ५ १)। और मायवरपुरुण मै भी पहले सब आभ्यं वर्य करम्य कर अस्त मै नारद ने त्रुपि द्वितीय की तत्त्व कर उपेष्ठ लिया है। बामन परिष्ठ ने जो गीता पर याकौरिय टीका लियी है उसके (१८ २) कर्मनानुषार लिता बोधुनि होकिम होय मैर्द्वृद्वाम मये सन्यास—वा हात मै दण्ड से कर लिया मौयी भवका सब कर्म अद कर बहुत मै वा रह वा उची से सन्यास नहीं हो जाता। सन्यास और पैराम्प

वामनवरपर्व के इस निरिति का नई साक्षरतावाच म इत्य निराता है। परन्तु विलिंग वामनवरपर्वाति (३ ४ ३) का नई हमार मन मै रेता है कि इत्याती पुरुष आभ्यं वर्य भी कर जा है। यह कि वह विलिंग है। लालाम हमारी तमज से वामनवरपर्व ते रोत रह लौटत है कि इत्याती पुरुष कर्म करे जावे न करे।

में है। यह मेरा बहुत ही सूक्ष्म है। आर सच पुर्जे तो उसके विषय में बात बदलने का कारण भी नहीं है। ऐना परम मानता है कि ज्ञनप्राप्ति होने सक विच की शुद्धि के सिव्य प्रथम ऐ भाभमा ( ब्रह्मचारी और यज्ञम् ) के हृष्य सभी का करना पाहिये। मतमह सिफ रहना ही है कि पृण जान हाँ बुद्धि पर कम कर या सन्यास में सूक्ष्म है युक्त लाग यह समझे कि सब ऐसे ज्ञानी पुरुष किसी समाज में थे तो ही रहगे। "सत्त्विद्य अन धोइ स ज्ञानी पुरुषों का कम करना या न करना पक्ष ही सा है।" उस विषय में विद्याय चत्ता करने की आवश्यकता नहीं। परन्तु यह समझ ठीक नहीं। स्पाकि ज्ञानी पुरुष के कठाय का और स्वयं प्रमाण मानते हैं। आर अपन अनिम साक्ष्य के अनुसार ही मनुष्य पहले में भावत जाता है। "सत्त्विद्य लानिक इष्टि में पह प्रभ भन्दन महात्मा का हो जाता है कि ज्ञानी परम का क्षय करना पाहिये।" स्मृतिप्रन्थी म बहा ता है कि ज्ञानी पुरुष अन्त म सन्यास में रहे। परन्तु ऊर नह भाये हैं कि स्मात के अनुसार ही "मु नियम के कुछ भवयार" भी हैं। उहरण सीक्षिय दृह्यारात्र्यकापनियद् में याज्ञवल्य न अनुस का ब्रह्मशन का बहत उपर्युक्त रिया है। पर उन्होंने अनुस में यह कही नहीं कहा कि अब तुम रात्र्याट ऊर कर सन्यास ले लो। उल्लेख यह कहा है कि ज्ञानी पुरुष ज्ञन के पश्चात समार को ऊर लेने हैं ये "सत्त्विद्य ऊर ऊर" हैं है कि समार हम रखता नहीं है— न कामयने ( व. ४ ४ )। "ममे दृह्यारात्र्यकापनियद् का यह भवि प्राय व्यक्त होता है कि ज्ञन के पश्चात सन्यास का अन्ता नार न ऐना अपनी अपनी गुणी अधार वक्षित्र कात है। ब्रह्मशन ऊर सन्यास का कुछ नियम नहीं रहता। आर ऐडान्स्मूल म दृह्यारात्र्यकापनियद् के "म वचन का भव बोहा ही" गाया गया है ( व. म ३ ४ )। शङ्कराचार्य का निखिल मिदाल इ है कि ज्ञानात्मकमन्यास किये भिन्ना मात्र मिल नहीं सकता। "सत्त्विद्य अपने मात्र में उन्होंने उस मन की पुष्टि में नव डृपनियर्थ की अनुदृस्तता दिया अनेक प्रयत्न किया है। तथापि शङ्कराचार्य ने भी स्वीकार किया है कि उनके आदि के समान ज्ञानात्मकी अधिकारानुसार गीवनमर कम करते रहने में कार्र जनि नहीं है ( वे ग. शा. ना ३ ३ ३ ऊर गी जा भा २ एव ३ देखा )। "मम स्वप्न विनित होता है कि सन्यास या म्यानमारवात्म को भी ज्ञन के पश्चात कम विचुक्त ही स्पाय नहीं रहत। कुछ ज्ञानी पुरुषों को अपवाह मान अभिवार के अनुसार कम करने की स्थितता इस मार म भी भी ग है।" जी अपवाह का और स्पाय कम कर दीका कहती है कि आद्याचार के लिय विनित कम ज्ञनप्राप्ति हो सूखने पर भी लाक्षमद्वय के निमिल क्षमय समझ कर प्रन्यन ज्ञानी पुरुष का निष्काम-उद्धी में करना पाहिये। "कुम गिद देता है कि गीताचार्य स्पाय हा शा भी उमका तत्त्व सन्यासमारवात्म की इष्टि स भी निशाय है। ऊर बदान्स्मूले वे स्वप्नव रीति में पहले पर ज्ञन पर्याय कि उनम भी ज्ञनपुरुष क्षमयाग सन्यास जा

कमयोग को गीणता प्राप्त हने सभी भार कमन्याग्रष्टी समान और ऐसे प्रबार आने स्था। यह पैदिक चमनुभ की शुद्धि की दूसरी सीरी है। वरनु एम समय मी (उपरिपादा क ब्रह्म का कमकार में मैम मिल्य कर) उनक प्रवृत्ति या पुरुष अपने कम निष्कामदुड़ि में शीक्षनभर दिया करते हैं—अथात इनका पत्तरिये कि पैदिक चमनुभ की यह दूसरी सीरी वा प्राप्त भी थी—एक उनक भारी की भार दूसरी याहृस्तम प्रमाणि थी। स्मात् ऋभमस्यनम्या रस्म गली अथात् तीसरी सीरी है। दूसरी सीरी के समान दूसरी के भी वा मेड ह उत्तिष्ठापा म कमन्याग्रष्ट चौथ ऋभम की महामा गाँ सा उत्तम्य यह ह पर उक्ते साथ ही उनक भाड़ि के श्वसन्युक्त कमयोग का भी—उनको सन्यास ऋभम लिख्य समझ कर—समविप्रज्ञेताओं न वर्णन किया है। उत्तरणाथ, मत्र स्मृति या म सूख्य सनुमति का ही लीदिये। उस स्मृति क छठ अस्याय में कहा है—  
 मनुप्य ब्रह्मचर्य गाहृस्य और बानश्रस्य ऋभम से उनका कमन्याग्रष्ट चौथा ऋभम ले परनु सन्यास ऋभम अथात् यतिष्ठम का निष्कपण जमास होने पर उनु ने पहले यह प्रस्तावना की कि यह यतिष्ठा का अथात् सन्यामियों का उस तथापा। अब उन सन्यासियों का कमयोग कहते हैं और उन पर उत्तम्य कर—  
 उन्ह अन्य ऋभमां की अपेक्षा यहस्याभम ही भेष देते हैं—उन्हा ने सन्यास ऋभम उत्तिष्ठम को ऐपिक्य मान निष्काम गाहृस्यशृणि के कर्मदोग का वर्णन किया है मनु, ६ ८६—९६)। और आगे उत्तरके अ याद में इसे ही वैक्य कमयोग गाम के कर कहा है कि यह माग भी उत्तुप ऋभम के समान ही निष्कपणलक्ष्य अस्याय है(मनु, १ ८६—९६)। मनु का यह सिद्धान्त याकृत्यस्मृति में सी भावा है। उस स्मृति के तीसरे अस्याय म यतिष्ठम का निष्कपण हो तुक्तनेपर अपेक्षा पाँ का कमयोग करके मिला है कि आगे बाननिष्ठ और सत्यवाकी यहस्य भी (सन्यास न से कर) उत्तुक्ति पाता है (यात्र १ २ ४ और २ ६)। उसी प्रकार घास वे भी अपने निष्कपण के स्थिता है कि कम औद्देश्यसे तपस्वियों और बानयुक्त कम करनेवाले कर्मदोगियों हो एक ही त्रैवान गति प्राप्त होती है (नि १४ १)। उसके अतिरिक्त उस विश्व द वृष्टरा प्रमाण चमस्तकारी नह है। ये चमस्तक गत्र में हैं और विद्वानों का सत है कि द्वौकों में रुची गर्व स्मृतियों से ये पुराने होते हैं। उस समस्त हमें यह नहीं उपलब्ध है कि यह मत सही है या गलत। चाहे वह लदी हो या गलत। उस प्रस्तुत यर मुख्य बात यह है कि ऊपर मनु और याकृत्यस्त्रम स्मृतियों के बचना में यहस्य ऋभम या कमयोग का यो महत्व दियाया गया है उससे भी अधिक महत्व चमस्तक द्यो वर्णित है। मनु भी याकृत्यस्त्रम ने कमयोग को अनुरूप ऋभम का विकल्प कहा है। पर वीचायन और आपलम्य ने ऐसा न कर स्पष्ट कह दिया है कि यहस्याभम ही मुख्य है और रुची से आगे अमूरत्व मिलता है। वीचायन चमस्तक म चाह माना है याकृत्यस्त्रमिर्णियों द्यते—कम में ही प्रत्येक याकृत्य अपनी पीर पर

बुद्धि क भर है जब चाही या उनक क नहीं। यहि कहा दिय रख भावि क ही भर है बुद्धि क अवान् ग्रन क नहीं तो राज्ञ अवश्य उत्तरी की अपनी परम्पराएँ का भी वह माध्यमिक्ता चाहिये जो सन्यासी जो प्राप्त होता है। उनकमुख्यसंबोध में इसी ही कहा है—

त्रिष्णादिषु यथलि माझो ज्ञान म कस्यचित् ।

उत्तिष्ठु कथ म म्यातुर्पत्तेतो परिग्रहे ॥

(शा. ३८ ४९)। क्याकि हाथ में रख चारण करन में यह माध्य का हुदू डरों स्थानों में एह ही है। तात्पर्य— कपिक वाचिक और मानसिक खंडम ही सज्जा किया ह (मनु १० १) भार सज्जा सन्यास काम्यबुद्धि का सन्यास है (गी १८)। एक वह किय प्रभार मानवत्वमें नहीं सृजता (गी ६ ८) उसी प्रकार बुद्धि को स्थिर रखन का कम या माऊन आवि कम भी सारयमाग में भव्य लक्ष दृष्टा ही नहीं है। फिर देसी धुड़ शङ्काएँ करक भयो या सफ़र करने के लिय इग्नोरें से क्षया स्थान होय कि किण्ठी या कर्मन्वागमप सन्यास कमयागमाग में नहीं है। इसलिये वह माग स्मृतिकिरण या स्पात है। मगावान ने तो निरपिण्डन दृष्ट बुद्धि से यही कहा है—

एक सांगम्य च योग च यः पद्धति म पद्धति ।

अवान् किसने यह ज्ञन किया कि साथ्य और कमयाग मास्टरहि से यो नहीं— एक ही है— वही परिणत है (गी ८ ७)। और महान्वारन में भी कहा है कि एग्नातिस भव्यता भागवत्वम सारवत्वम की घटानी का है— साम्ययागेन तुम्हो हि चम एक्जनसिद्धि (शा १४८ ३८)। साराय सब स्वाय का पराय में कथ क्ष अपनी अपनी याप्तता के अनुकार एवज्ञार में प्राप्त अपनी कम सब ग्राणियों के हिताप मरणपरयन निष्कामतुद्दि से कवय कल्य उमस कर करत राना ही सज्जा द्विराप्य या निन्यतसम्यास है (गी १)। अनी कारण कमयागमाग में स्वप्न म अन ए तन्यात कर जिता कर्मी भी नहीं मोगत। अर्थु इही आपरण भ गम्भे म यहि एम प्रकार भव तिय तो भी तन्यात भार ध्यान के सुषें तत्त्व क्षय यागमाग में भी रानम ही रहत है। निष्कित रूपा का लक्षित सिद्धान्त है कि सू तप्त्या भी ज्ञात्वमत्वमन्ता का भी निष्क्यन्द्रियमाग वा विराज नहीं।

सम्भ है एव विचक्षन से छठ द्वारा भी काव्यिक एसी लक्ष्य हा भाष्य कि सन्यासधम क साय क्लवाग का मृष्ट एव तो राना इन उद्याग गीता में किया गया ह उत्तरा भारण यह है कि भ्रन या सुम्यत्वम प्राप्ति होग। भीर कमयाग उपर दाइ न हो। वरन् इनिहाय की दृष्टि से विचर बहले पर भाइ भी ज्ञान सक्ता हि अर्थी किन्ति एसी नहीं है। यह वह ही वह भाष्य है कि वैष्णव कथ क वस्तुन प्राप्ति न स्वप्न कमयागमान ही था। भागे परम कर उपनिषदों के इन

पर भगवतीता ही मुख्य और प्रमाणभूत प्रथा है। और काव्य की इषि के दीक चेष्टना हि कि मारतभूमि के क्वा पुरुषा के नरिल इषि महामारत मै बिंदिहि हैं, उठी मै अप्यानमगाम्य को लेकर कमयोग की भी उपयचि क्वलाई चाहे। एस चाहे का भी भव अप्येति तरह से पढ़ा स्मृत चाहा है कि प्रस्थानबधी मै भगवतीता का समावेश क्यों लिया यदा है? यद्यपि उपनिषद् मूलभूत है तो भी उनके कहनेवाले क्षमिता अनेक है। एस कारण उन्हें विचार सम्ब्रित भाव कुछ स्थानों मै परम्परविदीभी भी हीर पात्र है। इतिहाय उपनिषद्गों के धाय-ही-धाय उनकी एन्वास्यता करनेवाले वेगात्मकमूलों की भी प्रभानन्दधी मै गमना करना भावस्पर चा। परन्तु उपनिषद् और वेगान्वास्य ठानों भी अपेक्षा यदि गीता मै कुछ अधिकता न हाती तो प्रस्थानबधी मै गीता के समर्ह करने का छोर भी कारण न चा। किन्तु उपनिषद्गों का सुनाव प्रायः सन्यासिमाग की ओर है। एवं विशेषता उनमें अनन्माग का ही प्रतिवाङ्मन है और भगवतीता मै इस झन का ऐसर मधिष्ठुक वर्म चाग का समझन है—एस “उना कह इन्हें से गीता प्रथ्य की अपूर्वता लिद हो चाही है। और साथ ही साथ प्रस्थानबधी के तीनों मागा की सार्वत्रा भी अप्यक हो चाही है। क्वाकि वैष्णव वर्म के प्रमाणमूल प्रथ्य मै यदि इन और कर्म (सास्म और योग) ठानों वैष्णव मार्गो का विचार न हुआ होता तो प्रस्थानबधी उत्तरी अपूरण ही रह चाही। कुछ अंगों की समझ है कि जब उपनिषद् सामान्यतः निष्ठातिविषयक है तब यीता का प्रौढिविषयक अर्थ स्वाने से प्रस्थानबधी के तीनों मार्गो मै विरोध हो चाहता। उनकी प्रामाणिकता मै भी न्यूनता भा चाहती। यदि सास्म अर्थात् एक सम्भार ही चाहा वैष्णव मोभमाग हो तो वह एड़ा दीक होती। परन्तु कृपर विश्वाया ये खुला है कि कम से कम इशावास्य आपि कुछ उपनिषद्गों मै कर्मयोग का सप्त उल्लेख है। इषि सिये वैष्णवमध्यपूर्वक ज्ञे केवल एकहत्ती अर्जात् सन्यासप्रभान न समझ कर बड़ि गीता के अनुसार ऐसा विद्यान्वय कर कि उस वैष्णवमध्यपूर्वक के वृष्णविद्याकृप एक ही मरक है और मोभहाहि से तुस्वकृ दास्य भाव कर्मयोग उसके बाहिने-बाहरे हो चाहे है तो गीता और उपनिषद् मै कां विरोध नहीं यह चाहा। उपनिषद् मै एक मार्ग का समझन है भाव गीता मै कूले मार्ग च्छ। इतिहाये प्रखानबधी के ये ठानों मास भी ये हाथों के समान परम्परविद्या न हो सहाय्यकारी भीर पैदेंगे। ऐसे ही—गीता मै क उपनिषद् का ही प्रतिवाङ्मन मानने से—पिष्ठेष्य च्छ ज्ञे वैयाप्य गीता की प्राप्त हो चाहा वह मै नहीं होता। गीता के साम्यग्याविक दीक्षकारों ने इषि विषय भी उपेक्षा की ह। “स कारण दास्य भीर योग ठानों मार्गो के पुरुलकाँ अपने अपने पन्थ के समझन से विन मुख्य कारणों का क्षत्याया करते हैं उनकी समझ और विषयमता चर्यपट च्वान मै भा बाने के सिये नीचे छिले गये नफ्सों के डो गानों से वे ही क्षरप परत्पर एक दूसरे के सामने लज्जेप से उिय गये हैं। सृष्टिप्रन्थों मै प्रतिपादित स्मार्त आधमाध्यवस्था और मूल भागवतभर्म के मुख्य मुख्य भद्र “सुये ब्रात हो चाहेंगे।

तीन कल से भागा है— “त्याति तैकिरीय महिता क कचन पहुँचे ट कर कहा है कि उन लड़ों को चुकाने के लिये यज्ञाग्र आठिपुष्कर शृण्याभ्यम का आभ्य करन वाल्य मनुप्य ब्रह्मद्वेष को पहुँचता है। भार ब्रह्मचर्य या सैन्यास की प्रशंसा करन वाल्य अन्य स्थग घूँट म मिठ जाते हैं (वा २६ ११ ३३ भार ३४)। एव आपस्ताम्भम म मी ऐसा ही कहा है (आप २८ ८)। यह नहीं कि उन दोना भगवतो मै उन्यास आभ्य का बर्णन ही नहीं है किन्तु उसका मी वर्णन करके शृण्याभ्यम का ही महत्व अधिक माना है। इससे और विभाग मनुस्मृति मै कमयाग को ‘वैष्णव विशेषण अने से स्पष्ट लिह होता है कि मनुस्मृति के समय म भी कमयागमन्त्रप सैन्यास आभ्य की अपेक्षा निष्काम कमयोगम् वृथृत्याभ्यम ग्राचीन समझा जाता था और माध की दृष्टि ने उसकी याग्यता चतुर्य आभ्य के क्रान्तर ही मिली जानी थी। गीता के नीकाकारा का भार सैन्यास या कमत्यागम्युम महिं पर ही होने के ऊर्ध्व उपस्थुक स्मृतिकर्त्ता का लक्षण उनकी दीका म नहीं पाया जाता। परन्तु उन्होंने उस ओर हुन्मा मछे ही किया हो किन्तु उससे कमयोग की प्राचीनता खटी नहीं है। यह कहने म कां हानि नहीं कि उस प्रकार ग्राचीन हानि क कारण— स्मृति-काय की यतिक्रम का विकल्प— कमयोग मानना पड़ा। यह हु वैष्णव कमयोग की बात। भीकृष्ण के पहुँचे उनक भागि उसी का आचरण करते थे। परन्तु आगे “सुमं मात्रान् ने भक्ति का भी मिळा दिया और उसका बहुत प्रसार किया। उस कारण उसे ही ‘महाकृतप्रम नाम प्राप्त हो गया है। यश्चपि भगवतीता ने उस प्रकार सूचारु की अपेक्षा कमयोग को ही अदिक अद्वितीय ही है, तथापि कमयोगमार्ग को आगे दैणता क्या प्राप्त हुआ? और सैन्यासमार्ग का ही व्योधनास्त्र क्या हो गया? उसका विचार एविहाउिक दृष्टि से आगे किया जावेगा। यहों “कहा ही कहना है कि कम योग मानवाय के पश्चात् का नहीं है। वह ग्राचीन वैष्णव काय से चक्ष भा रहा है।

मात्रातीता के प्रस्तवक अव्याय के अन्त म “ति भीमद्वग्वातीतामु उपनिषद्मु ब्रह्मविद्या यागद्याम् यह हो उड्डस्य है उसका मम पात्रों के रूपान म अब प्रणतया जा जावेगा। यह सङ्क्षय कठब्बता है कि भगवान क ग्रन्थे हुए उपनिषद् मै अन्य उपनिषदों के समान ब्रह्मविद्या ता है ही पर असेही ब्रह्मविद्या ही नहीं। प्रस्तुत ब्रह्मविद्या मैं ‘तात्त्व और ‘धर्म’ (वैशासी सैन्यासी अर्थ वैशासी कमयोगम्) ये दो एवं उपर्युक्त हैं उनम त योग का अधार् कमयाग का प्रतिग्राहन ही मानवीयता का मुख्य नियम है। यह कहने मै भी कोई हानि नहीं कि मात्रातीतों निष्पद् कमयोग का प्रधान मन्त्र है। क्याकि यश्चपि वैष्णव काल से ही कमयोग क्य भा रहा है तथापि उपर्येह क्षमाणि (श्व २) या भारम् क्षमाणि गुणान्विता नामि (श ६ ८) अधवा विद्या के तात्परीकाय स्वाध्याय भागि कम करना चाहिये (सं १)। इत के बुठ धार्दे-से उत्तरी क अनिरिक्त उपनिषद् मै इस कमयोग का विस्तृत विवरण कही भी नहीं किया गया है। उस दिनप

(६) उड़ के अर्थ किये गये अम संख न हम के काण एहस्याभम मे लेने के लिये गये समख अम एक उनके करने मे हानि नहीं है।

(७) निष्कामकुदि से या व्रद्धापन-विद्वि से लिया गया समख अम एक मारी 'यज्ञ ही है।' निष्कामविद्वि उम का निष्कामकुदि से लेवल कराय सुमन्त्र कर उठाव करत रहना चाहिये।

(८) ऐह कम कमी दूखे नहीं इस कारण सन्वास लेने पर पेट के लिये निष्का मौगला शुप नहीं।

(९) पर के लिये मीठ मौगला भी तो अम ही है आर बन ऐसा 'निष्कामता' का अम करना ही ह उड अन्यान्य अम भी निष्कामकुदि से क्यों न लिये जाय। एहस्याभमी के अतिरिक्त निष्ठा देगा ही कौन।

(१०) अनप्राप्ति के अनन्तर अपना निर्णी कराय कुछ खोप नहीं रहता आर अंकुषप्रह करने की कुछ आवश्यकता नहीं।

(११) जानप्राप्ति करने के अनन्तर अपने लिय मूँड कुछ प्रसः करने को न रहे; परन्तु अम नहीं छृत। निष्कामविद्वि जो कुछ शास्त्र मे प्राप्त हो उम शुप नहीं चाहिये ऐसी निष्कामकुदि से अंकुषप्रह की ओर इधि रज वर वर्ते जाओ। अंकुषप्रह निर्णी से भी नहीं शूलता। उदाहरणात्, मात्रान का अरित देंगो।

(१२) परन्तु यदि अपवाहस्याभम का अपिकारी पुरुष ज्ञन के प्रबन्ध मी अपने व्यापरारिक अधिकार अनु आरि के दमान गीरनप्रयत्न जारी रखे तो कार हानि नहीं

(१३) गुणप्रिमागम्य चानुष्य लवदता के भक्तार छोटे अधिकार उभी हो अम त ही प्राप्त होत है। लभ्यानुभार ग्राम होनदाके इन अचि कारा का अंकुषप्रहार नि नहुदि ने उभी का निरपवाहस्य म अरी रखन्त

ब्रह्मविद्या पा आत्मज्ञान मात्र होने पर

कमभास ( मौस्य )

कर्मयाय ( योग )

(३) माझ भायमन स ही मिस्त्रा  
ट क्षम से नहीं। आनंदिति गिरु  
भडाउषर रिय गय यज्ञयाग आरि कमो  
स मिस्त्रेवाला स्वामूल अनित्य है।

(१) माम भास्त्रान से ही मिला है कम म नहीं। अनिरुद्धित स्त्रिय भड़ापृष्ठ किये गये यह प्राण भाँि कमों से मिलनाया स्कासाप भवित्व है।

(२) भान्मगन हान के लिये इन्द्रियनिपट से बुद्धि का खिर, निष्काम कर्त्तव्य कीर मम वस्त्रना पर्वता है।

(५) आन्मगान हाने के लिये इतिहासिप्रह तु हुठि थो स्थिर निष्काम, विरक्ष और सुम सरना पश्चा है।

(५) एमरिय इंडियों के विषयों  
का पाश्च नाम बर मुग (स्वास्थ्य)  
हा आओ।

(३) इसकिय इन्डियो क विषयों  
में न आ जर उन्हीं में भौतिक्य से  
भयान निष्कामतुष्टि से व्यवहार कर  
इन्डियनिष्ट की गाँधी बढ़ी। निष्काम के  
मानी निपित्रिय नहीं।

(४) दार्शनिक वर्म औ व्याप कीर्ति।

( ८ ) पहि इतना एक दिवार कर  
वि दुप भीर स्पष्ट रियम है । तो  
सीए पारा डि अपाल कम रिक्ति  
ने धारन या राहा नहीं है उन  
मध्य म स्त्रा क मन में ये अम पा  
पण होती है यही स्पष्ट भीर दुप  
ही है ।

(६) इसलिये विस्तारित होना चाहिए और उसकी भवन की अपेक्षा इसकी संरचना

( ) ਇਸ ਦੇ ਵਿਸ਼ੇ ਵੀ ਪ੍ਰਸੰਸਾਰ ਕਰਨ ਵਾਲੇ ਮਾਤਰ ਤੋਂ ਸਾਡੇ ਹੋ ਗਏ ਹਨ ਅਤੇ ਬਹੁਤ ਸਾਡੇ ਹੋ ਗਏ ਹਨ।

(१२) यह माग अनादि भीर भुविस्मृतिप्रतिपादित है। (१३) यह माग अनादि और भुविस्मृतिप्रतिपादित है।

(१४) शुक्ल-यात्रवरक्षण आदि नम माग से गये हैं।

(१५) व्यास-चरिष्ठ वैप्रीरथ्य आदि और उनक भौदृष्टि प्रमाणि इस माग से गये हैं।

### अन्त में मोक्ष

ये दोनों माग अवका निष्ठाएँ ब्रह्मविद्यामूलक हैं। दोनों और मन की निष्काम भवस्था भार धारित पक्ष ही प्रकार की है। इस कारण दोनों मार्गों से अस्त म एक ही मात्र मात्र दुमा करता है (गी ८८)। ज्ञन के पश्चात् क्षम का ऊट खेलना भार काम्यक्रम छार कर निय निष्काम्यम करने रहना यही इन दोनों में मुख्य में है।

ऊपर कल्पयत् दुष्क्रम ऊटन आंग करने भाग अनमूलक है। भयान् रान के पश्चात् जानी पुस्त्या के द्वारा भीतृत भीर भावरित है। परम्परा क्षम छान्ना और क्षम करना दोनों बातें ज्ञन न रहने पर मी हा सकती है। इससिंह भग्नामूलक क्षम की भीर क्षम क त्याग का मी यही धारा ता विवेचन करना भावस्थक है। गीता के अठारहवें अध्याय में त्याग क ऐ सीन भेद करनाये गए हैं उनका रहस्य पही है। ज्ञन न रहने पर मी तुउ लाग निरे काव त्रेश भव त क्षम छोड़ दिया करते हैं। इन गीता में राज्यक्षम त्याग कहा है (गी १८८)। इसी प्रकार ज्ञन न रहने पर मी तुउ लाग कोई भक्ता ने ही वक्ष्याग प्रध्यनि क्षम दिया करते हैं। परम्परा गीता का कथन है कि क्षम करने का यह माग मौभाग्य नहीं—केवल स्वग्रहण है (गी ८८)। तुउ लाग की वापस है कि भाग्यास वक्ष्याग प्रध्यनि भीतृपत्ति का प्रकार न रहने का कारण भीमानती क इन निर कमसाग क नमस्कर में गीता का निष्ठाल इन दोनों में विद्युत उपवासी नहीं। वरन् यह नीर नहीं है। क्योंकि भीता वक्ष्याग भैरों ही इन गय हा पर विमात्रयत्र नया चानुराग क क्षम क्षम भी जारी है। इननिय भग्नाम (परम्परा भजायुपरक्ष) वक्ष्याग भावि काम्यक्रम करनेवाल दोनों क विद्युत में गीता का निष्ठाल है १८ इनपरिच्छिति कि त भजात्तित चानुराग भावि क्षम करने का वा भी कामानभिति ये वक्ष्याग उत्पन्न हैं। इन के व्यवहार वै और इरि इन दो दो होता है कि सप्ताह म इनी प्रकार के व्यवहार की भक्ष्या शास्त्रों पर भड़ा राय का भीति म भवने रहने क्षम करनेवाली ही ही विद्या भवित्वा रही है तो यह व्यप्रधार के इन वक्ष्याग दो नहीं रहता। इरि ते विद्याम् वा यही व्याप्ति नहीं जिसी विद्या विद्या की ही।

जाए। क्योंकि यह वह बात है जो भारत करने के लिये परमेश्वर ने ही बनाया है।

(१) इन्होंने पर मी कम स्वागती सन्त्यास ही भुग्त है। अन्य भाभमों के कम चित्तगुड़ि के साथनामान है। जान भार कम का तो स्वामान से ही विराप है। इसलिये पूर्व भाभम म छित्तनी उच्ची हो सके उन्हीं बनी चित्त-गुड़ि करके अन्त म अमन्यागती सन्त्यास लेना चाहिये। चित्तगुड़ि अमर ही या पूर्व भाषु में हो जावे तो यह स्वामान के कम करते रहने की मी आवश्यकता नहीं है। कम का स्वामान स्वाग करना ही उच्च सन्त्यास भाभम है।

(२) यह सब है, कि शाश्वेत रीति से साधारिक कम करने पर चित्त-गुड़ि हाती है। परन्तु करने चित्त की गुड़ि ही कम का उपयोग नहीं है। उग्र का अवहार चमत्कार लेने के लिये भी कम की आवश्यकता है। उसी प्रकार शाम्यकम और जान का चिरंग मूल ही हो पर निष्काम कम और जान के बीच चित्तगुड़ि विराप नहीं। इसलिये चित्त की गुड़ि के प्रभाव भी फैलता जाता है। कर निष्कामगुड़ि के उच्च के समर्हाय चानुकम्भ के पूर्व कम आमरण जाती रहता। यही उच्च सन्त्यास है। कम का स्वामान स्वयं करना बड़ी मी उचित नहीं; और एकम भी नहीं है।

(३) सन्त्यास से चूँटे पर मी शम-शम भाटि घम पास्ते जाना चाहिये।

(४) शनश्रवि के पश्चात् शमदा स्वागतर सन्त्यास से कर शम-शम भाटि घमों के लिया भाष्योरम्बाट्ठि से यात्रा होनेवाले तभी घमों का पास्त किया कर। और इन भयात् शान्तगुणि न ही शाम ने प्रातः लम्फन कम लाक्ष्मीद न निमित्त मरणपद्म लेना चाहे। निष्काम कम न छाँट।

आधु वित्तानेका मार्ग	भजी	मति
१ कामापमाग को ही पुण्याप मान कर भक्तार हे, आमुरी शुद्धि से रम्म से था और स कबल आमसुप क लिये कर्म करना (गी १६ १६) — आमुर अथवा रामनी माय है।	अधम	मात्र
२ इस प्रकार परमधर के स्वरूप का विवर ज्ञन न होने पर भी (कि प्राणिमात्र में एक ही आनंद है) वही भी आश वा शास्त्र कि आश क भगुत्तार भग्ना और नीति से अपने अपने काम्यकर्म करना (गी २ ४१-४४ और २) — केवल कम वही कम अथवा मीमांसक माग है।	मध्यम (मीमांस का के मत में उच्च)	मध्यम (मीमांसा के मत में मोष)
३ शास्त्रात् निष्काम कर्मों से परमधर का ज्ञन हा बने पर अन्त में ही देवास्त्र से समस्त कम छोट कबल ज्ञन में ही तूम हा रहना (गी ६ ०) — केवल ज्ञन काम्य अथवा स्मारु माय है।	उच्चम	मोष
४ पहल निच वी शुद्धि क निमित्त और उत्तम परमधर का ज्ञन याम हा बने पर तिर कवय स्वरूपहार मरणप्रयत्न भवान ए यमान निष्कामकर्म करने रहना (गी ८ २) — ज्ञानकर्मसमुद्दय कर्मयोग वा भागवत माग है।	मीमांसम	मात्र

लाराह वही पद गीता में उत्तम ठहरावा गया है कि मोक्षाति के लिये विषयी कम की भावन्यकर्ता नहीं है परंपरि उत्तम वाप ही जाप इत्तर वारणी के लिये — भवान एव ता वर्गितावं नमस्त कर और इत्तर ज्ञाते के भावन्यापय के लिये भावस्पर मान कर — निष्कामशुद्धि स तदै नमस्त कर्मों का करने रहना चाहिए। अथवा गीता का भवित्वम यह ऐसा है कि इत्तुद्धिः ज्ञातः पश्यु ब्रह्मगानिः। (पनु ३) पशु क इत्तर वचन क भवुत्तार कर्तु व और ब्रह्मगाव वा ज्ञात वा मात्र ही पशु स उत्तम है कि ज्ञाता ब्रह्म का कोरा ब्रह्मगान प्रयोग ऐक्टिगीह है।

हितात् स्वानवाले लेगा के समान इन भड़ासु आर कमर मनुष्यों की अवस्था रुभा करती है। "सम कोई सन्तेह नहीं कि सभी कम शास्त्रोक्त विजि से भार भड़ापुक्त करने के कारण निभान्त (प्रद) हात हैं पर उसी से के पुण्यप्र ध्यात् स्वग के देवाखे हैं। परन्तु शास्त्र का ही लिदान्त है, कि जिन ज्ञान क माध नहीं मिलता। इसलिये स्वग्रामि की अपेक्षा अधिक महत्व का कोइ मी छल इन कमठ सोगां को मिल नहीं सकता। भवप्र जो अमृतत्व, स्वगमुख से भी परे है उसकी प्रस्ति किसे कर देनी हो — अत यही पक परम पुण्यापाप है — उस उचित है कि वह पहल साधन समझ कर और आगे लिदावस्था मध्यकालप्राप्त के लिये अध्यात् ग्रीकन पथन्त समल्प प्राणिमात्र में एक ही आमा है "स अनयुक बुद्धि से निष्कामकम करने के माग का ही स्वीकार करे। आयु क्लिन के सब मार्गों मध्य ही मार्ग उच्च है। जीता का अनुसरण कर ऊपर दिये गय नक्शे में "स माग का कमयाग कहा है। और ऐसे ही कुछ दोग कममाग या प्रश्निमाग भी रहत हैं। परन्तु कर्ममाग या प्राणिमाग, दाना शम्भा में एक धोप है। वह यह कि उनस शनविरहित किन्तु भड़ासहित कम करने के स्वग्राप्र माग का मी सामान्य वाप रुभा परता है। "मौसिये शनविरहित किन्तु भड़ासुर कम आर ज्ञानयुक्त निष्कामकम "न होता का ऐसे निष्कालन के लिय श मिल भिल शन्तों की योजना करने की आवश्यकता होती है। और "सी कारण से मनुस्मृति उपा मागवत म मी पहल प्रकार क कम अध्यात् शनविरहित कम का प्रह्ल कम और दूसर प्रकार के अध्यात् शनयुक्त निष्कामकम का "निष्काम रहा है (मनु १० माग ३ १६ ४७)। परन्तु हमारी राय मध्य मी जितने होने चाहिय उन्न निष्कालित्य नहीं है। क्याकि "निष्कालि" शम्भ का सामान्य भय कम से पराकृत होता है। "स शम्भ का दूर करने के लिये नितु शम्भ क आगे कम विशेषण गोहने हैं। और पेता करने से "नितु दिव्यप्र ए व्यप कर्म स पराकृत नहीं होता और नितु शम्भ = निष्कामकम यह अप निष्प्र हो जाता है। कुछ भी हा वर तक नितु शम्भ रम्यम है तर तर कमयाग की ज्ञानमा मन म ज्ञाय जिन नहीं रहती। "मौसिय शनयुक्त निष्कामकम करन के माग का नितु या नितु शम्भ न वह कर कमयाग नाम "ना हमारे मन में उच्च है। क्याकि कम क ज्ञान याग घ ३ तुम रहने म स्वामायन ज्ञाना भय माझ म शाशा न कर कम करने की युक्ति होता है और ज्ञानयुक्त कम का ज्ञा भाव ही ने निरलन हो जाता है। तिर भी यह न भूप ज्ञाना चाहिय कि जीता का कमदाम ज्ञनमृत्य है। जार यह इत ही कममाग या प्रश्निमाग ज्ञाना जिनी का भीषीष कैवल्य हो जा लेंगा करने में वार हानि नहीं। शनविरह म ज्ञानविचाय ६ दिये गिया क कमयाग का लाय कर इसम भी इन शम्भ की योजना ही है। एव इस प्रकार कम करन या कम ऊन क ज्ञानयुक्त ग में है इनम स प्रयत्न क लाभप में जीता जाय का अन्तिम रम्य द्वगर है —

रुद्राहरणार्थं, "श्यावास्य उपनिषद्" को स्मीक्षिये। यह उपनिषद् छोटा भाग एिए क्षद्वारा स्लोका का है, तथापि "सबी योग्यता अन्य उपनिषद्दी की अपेक्षा अधिक समझी जाती है। क्योंकि यह उपनिषद् स्वयं बाक्तुनेवी सहिता में ही कहा गया है और अन्यान्य उपनिषद् आरम्भक मन्त्र में कहे गये हैं। यह बात सम्भान्य है, की सहिता की अपेक्षा ब्राह्मण और ब्राह्मणों की अपेक्षा आरम्भक प्रथा उच्चरीतर क्षमत्वात् के हैं। यह समूचा ईशावास्योपनिषद् — अथ उपनिषद् कर इतिप्रथा — शनक्षमसमुच्चयपत्रा रूप है। उक्ते पहले मन्त्र (भीक) म पह कर कर, कि ज्ञात म जो कुछ ह उसे ईशावास्य भवात् परमेश्वराभिष्ठित समझना चाहिये। दूसरे ही मन्त्र में स्पष्ट यह दिया है कि चीजेनमर या क्य निष्काम करते रह कर ही चीजे रहने की अप्य रखो। ऐशान्तर्दृश म कमयाग के विवेचन करने का क्य गमय भावा तब और अन्यान्य ग्रन्थों में भी "श्यावास्य का यही वर्णन शनक्षमसमुच्चयपत्र का समर्थन समझ कर दिया तुम्हा मिलता है। परन्तु "श्यावास्योपनिषद्" इहने से ही पूरा यही हो जाता। दूसरे मन्त्र में कही गया बात का समर्थन करने के लिये आगे अविद्या' (क्षम) और 'विद्या' (ज्ञान) के विवेचन का आरम्भ कर नींव मन्त्र म कहा है, कि निरी अविद्या (क्षम) का सेवन करनेवाले पुरुष आचार में खुश हैं और दोरी विद्या (ज्ञानरूप) में मम रहनेवाले पुरुष अविद्या अविद्या में ज्य पड़ते हैं। केवल अविद्या (क्षम) और केवल विद्या (ज्ञान) की — अलग अलग प्रवेश की — इस प्रकार लकुता विवरण कर म्यारह ग्रन्थ में नीचे लिये धनुषार 'विद्या और अविद्या' शब्दों के समुच्चय की आवश्यकता "उपनिषद्" में वर्णन की गई है—

विद्या चाऽविद्या च पसाहेदामय सह ।

अविद्यामृत्यु तीर्त्या विद्याऽमृतमहनुते ॥

**अपार्यत्** विद्यन् विद्या (ज्ञान) और अविद्या (क्षम) दोनों को एक दूसरी के साथ जान मिया वह अविद्या (क्षमों) ए मृत्यु को अवात् नागकृत मापान्तिके प्रपञ्च को (भूमि भैंडिये) पार कर, विद्या से (ज्ञानरूप से) अमरत्व को प्राप्त कर सेया है। "स मन्त्र का यही स्पष्ट और सरल अथ है। और यही अथ विद्या को 'सम्भूति' (साकृत भावि कारण) एक उससे लिये अविद्या को असम्भूति' या 'विनाश में दूसरे ताम ते कर 'मके आग के तीन मनों म दिये दुहराया गया है (शा १२-१४)। "ससे अच्छ हाता है कि सम्पूर्ण "श्यावास्योपनिषद्" विद्या और अविद्या का एकाकीन (उभय उपनिषद्) नमुच्चय प्रतिपादन करता है। उद्दित्रित मन्त्र म 'विद्या' भार अविद्या द्वाद्य के समान ही मृत्यु और भूत शम्भ परम्पराहितोगी है। "नम अमृत द्वाद्य से अविद्याभी ज्ञान अथ प्रकर है; और उक्ते विवरीत मृत्यु द्वाद्य से नागकृत मृत्युभेद द्वा देहिक तामार यह अथ निष्पम होता है। ये दोनों उपनिषद् इसी अर्थ म ज्ञानके तामीय उपनिषद् म भी आवृ हैं (शा १२-१५)। विद्या भावि द्वाद्य के थे सरल अथ से कर (अपार्यत्

वास्तव में यह प्रत्यक्ष यही समाप्त हा गया। परन्तु यह विचारण के लिये — कि गीता का सिद्धान्त शुद्धिसूत्रित्वादित्व है — उपर मिथ्या स्थाना पर ये बचन उद्भव किये हैं उनके सम्बन्ध में कुछ कहना आवश्यक है। क्योंकि उपनिषदें पर ये साम्बद्धादिक माप्य हैं उनसे बहुतरा भी यह समाप्त हा गा है, कि समस्त उपनिषद् सन्यास्यधारण या निष्ठादिधारण है। हमारा यह कथन नहीं कि उपनिषद् में सन्यासाधारण है ही नहीं। बृहदारण्यकापनिषद् में कहा है — यह अनुभव हा जाने पर — कि परब्रह्म के किंवा भीर कार बल्ल सत्य नहीं है — 'कुछ ज्ञानी पुरुष पुरुषा विज्ञाना आर स्वैर्यण्या' की परवाह न कर हम सन्तुति से क्या काम! सुंचार ही हमारा भाष्या है यह कह पर आनन्द से मिथ्या मौणमे हुए शुभते हैं। (४ ४ २२)। परन्तु बृहदारण्यक में यह नियम यही नहीं लिया कि नमस्त्र ब्रह्मनिदो भी यही परम स्वीकार करना चाहिय। और क्या कहा है। किंवा यह अपश्य लिया गया उसका इसी उपनिषद् में बतान है कि यह अनन्त रात्रा ब्रह्मज्ञन के शिखर पर पूर्ण कर अमृत हो गया था। परन्तु यह कही नहीं भृत्याद्या है कि उसने पात्रमय के समान रूप का छोड़ कर सन्यास ले लिया। इसके बाद होता है कि उनके कान वा निष्कामक्षयाद् भीर पात्रमय का कमसन्यास — दीना — बृहदारण्यकापनिषद् को विस्तृप्तये ले सम्मन है भीर ब्रह्मनमूलमता ने भी यही अनुमान लिया है (वे. नृ ५ १६)। कठोरपनिषद् इससे भी आग छा गया है। पत्तव महरण में हम यह विचार आये हैं कि हमारे मन में कठोरपनिषद् में निष्कामक्षयाद् ही श्रेष्ठियाद्य है। अस्मीन्द्वायपनिषद् (८ १६ ३) में यही भृत्याद्या प्रतिपाद्य है। भीर भूमि में ल्पाय कह दिया है कि गुह न अप्यवन कर, पिर कुरुम में रह कर भर्तु वन्मेवाद्य जनी पुरुष ब्रह्मस्त्रेषु का जाना है। वही ले किर नहीं ल्पयता। तैनिरीय तथा भूताभ्यर उपनिषदी के इसी भृत्य के वास्तव ऊर लिये गये हैं। (वे १ भीर वे ५ ४)। इनके किंवा यह भी एकल द्वे वोष्य जात है कि अपनिषदी में किंवा न दूलरा का ब्रह्मज्ञन का उपश्य लिया है उनमें सा उनके ब्रह्मज्ञनीयों में पात्रमय के समान एक भृत्य दूलरे पुरुष के भौतिक वाइ ऐसा नहीं मिलता लिया कमस्याग्रव्य सन्यास लिया है। इनके किंवर्तित उनके वजनी न दीप लड़ा है कि वे एक्षुयाभ्यां ही थे। भूत्याद् कहना पड़ता है कि नमस्त्र उपनिषद् प्रपादन नहीं है। इनमें न कुउ में तो नम्यान भीर कम्बाय का लिया है भीर कुउ में लिये शम्भवमनमूष्यव्य ही प्रतिपादित है परन्तु उपनिषदी के लाघवादिक सार्वों में वे भैर नहीं लियाये गए हैं। लिन्दु वही कहा गया है कि नमस्त्र उपनिषद् करने पर ही भृत्य — लिन्दुता नम्यान — प्रवृत्तिराज्ञ बताते हैं। लारोष लाघवादिव लैवायरा के हाथ से गौता वही और उपनिषद् की भी एक ही रक्त ही बद है। भृत्य गौता के कुउ शंखा के नमस्त्र उपनिषद् के कुउ मात्रा भी भी इन प्राप्यवारों की निष्पाकारी बरनी पही है।

उक्तिभित्ति ग्यारहबो मन्त्र ही अमरणः से सिंहा है और उससे सर कर ही उत्तेष्ठ पूछ में कठ. २ ४ और आगे कठ. २ ६ में मन्त्र सिंहे हैं। अमरण् से सीनों मन्त्र पक्ष ही स्थान पर एक के पश्चात् एक दिय गये हैं और विचरण मन्त्र शाकास्य का है। सीना में 'विद्या शक्ति वत्तमान है। इसहिते करोपनिषद् म विद्या शक्ति का वै अथ है वही (ज्ञान) भय शाकास्य मैं भी ऐना चाहिये— मैष्मुपनिषद् का ऐना ही अभियाय प्रकृत होता है। परन्तु शाकास्य के शाक्तरमात्म में कहा है कि

विद्या = ज्ञानमत्तन और अमृत = मोक्ष ऐसे अथ ही शाकास्य के शाक्तरमात्म मन्त्र में से ल तो कहना हागए कि ज्ञान (विद्या) और कम (अविद्या) का तमुच्चम च उपनिषद् में वर्णित है। परन्तु जब कि यह तमुच्चम स्थान से मुक्त नहीं है तब विद्या = देवतापासना और अमृत = देवत्योक् वह गौण अथ ही इति स्थान पर ऐना चाहिये। सायद प्रकट है कि हान होने पर लंस्यात् से ऐना चाहिये। कम नहीं करता चाहिये। क्षाकि शक्ति और कर्म का समुच्चेद कभी भी त्वाय्य नहीं शाक्तरमप्रशाय के 'स मुख्य सिद्धान्त क विद्यु ईशाकास्य का मन्त्र न होने पर्ये; इसविद्य विद्या भक्ति का गौण अथ स्वीकार कर समल भुतिवस्त्रों भी अपने तम्पदाय के अनुशय एकाकास्यता करने के लिये शाक्तरमात्म मैं ईशाकास्य क शाक्तरमात्म मन्त्र का ऊपर लिये अनुसार अथ चिन्या गया है। ताम्पत्यिक इहि से ऐन तो वे अथ महत्व के ही नहीं प्रस्तुत आवश्यक भी है। परन्तु किन्तु यह मृक्ष सिद्धान्त ही मात्य नहीं कि समल उपनिषद् में एक ही अथ प्रतिपादित रहना चाहिये— वे मार्गोक्ता भुतिप्रतिपादित होना शक्ति नहीं— उन्हें उक्तिभित्ति मन्त्र में विद्या और अमृत शक्ति के अर्थ उपनिषद् के सिंहे क्षार्ह भी आवश्यकता नहीं रहती। वह तत्त्व मान लेने से नहीं— कि परदाय 'पक्षेशादितीय' है— यह सिंह नहीं होता कि उसके खन का लक्ष्य एक हो अधिक न रहे। एक ही अद्यरी पर उपनिषद् के लिये दो भीने वा एक ही गोंद को ज्ञान के सिंहे विस्त प्रस्तुत तो मार्ग हो सकते हैं उची प्रस्तुत मोक्षप्राप्ति के उपाया वी पा निष्ठा की जात है। और 'सी अभियाय ते भास्तव्यदीता मैं सह यह चिन्या है— द्वयः लिन विविदा निष्ठा।' ये निष्ठाओं का होना सम्भवनीय कहने पर कुछ उपनिषद् म लक्ष्य अननिष्ठा का तो कुछ मैं ज्ञानकर्म समुच्चम निष्ठा का बोन अन्ना कुछ अशक्ति नहीं है। अर्थात् अननिष्ठा का विद्याय होता है। इसी से ईशाकास्यावनिषद् के शक्ति का सरक स्वामिक और लग्न अर्थ उपनिषद् के लिये कार कारण नहीं रह जाता। वह इन्हें के लिये— कि भीमस्तुत्यपात्र का स्थान सरक अर्थ ही अपेक्षा तन्यात्मनिष्ठप्रशान्त एकाक्षरता की ओर लियेता वा— एक और बूलता जाता भी है। तैलीव उपनिषद् के शाक्तरमात्म (३२ ११) मैं ईशाकास्य मन्त्र का उत्तरा ही मार्ग चिन्या है कि अविद्या मूल तीव्रा विद्ययामृतमस्तुते और उसके साथ ही वह मनुकनन भी है चिन्या है— उपनिषद् वस्त्र विद्ययामृतमस्तुते (मनु १२ १ ४)। और इन दोनों

दिव्या = स्थन, अविद्या = क्रम, अमृत = ब्रह्म मार मृत्यु = मृत्युलेख, ऐसा समझ कर ) यहि इशावास्त्व के उल्लिखित ग्यारहवें मन्त्र का अभ कर तो शीघ्र पोगा, कि मन्त्र के चरण में विज्ञा और अविद्या का एककालिन समुच्चय वर्णित है; आर असी यत को इट करने के लिये दूसरे चरण में न झोनी में से फ्लैप का तुग्र तुग्र फ्लैप लगाया है। इशावास्योपनिषद् का ये दोनों फ्लैप इष्ट हैं और असीसिये उस उपनिषद् म जान भीर कर्म दाना का एककालीन समुच्चय प्रतिपादित हुआ है। मृत्यु लेख के प्रपञ्च का अन्ती रौटि से चलाने या उससे मरी भौंति पार पड़ने को ही गीता में 'मात्समध्ये' नाम दिया गया है। यह सच है कि मात्स प्राप्त करना मनुष्य का कर्तव्य है परन्तु उसके द्वारा उसे लेकरमध्ये करना भी आवश्यक है। इर्ही से गीता का सिद्धान्त है कि यज्ञी पुरुष लेकरमध्यकरण म क्रम छोड़े और यही सिद्धान्त शम्भवेर से अविद्या मृत्यु तीक्ष्णा विश्वामृतमद्वयुते इस उल्लिखित मन्त्र में आ गया है। असे प्रकट होगा, कि गीता उपनिषद् का एक ही नहीं ह प्रत्युत इशावास्योपनिषद् में स्पष्टतया वर्णित अथ ही गीता म विकारसहित प्रतिपादित हुआ है। इशावास्योपनिषद् द्वितीयांशनेत्री सहिता में ह, उसी बाइमनेत्री सहिता का माग शुद्धपथ द्वारा है। उस शुद्धपथ द्वारा ह के आरम्भक म इशावास्योपनिषद् भावा है। जिसमें इशावास्त्व का यह नीर्वाचन मन्त्र असुराद्यु ले दिया है कि दोही दिव्या (ब्रह्मदान) में मम रहनेवाले पुरुष अधिक अधिकर म ये पड़त ह (१ १ ४ १)। उस ब्रह्मदारमध्यकोपनिषद् में ही उनके दार्शन की कथा है और उनी उनके उसान्त्वं क्रमयाग के सम्बन्ध के लिये भगवान् ने गीता में सिया है (गी ३ २)। इसे इशावास्त्व का भीर मग्नादीना के कर्मयोग का या सबमध्य हमन ऊर गिराया ह वही अधिक इट भीर निष्पत्ति लिया होता ह।

फरन्तु इनका लाभ्यादिक सिद्धान्त ऐसा है कि कभी उपनिषद् में मात्स प्राप्ति का पक ही माग प्रतिपादित ह - भीर वह भी दराय का या सन्यास का ही है। उपनिषद् म नि शो मागो वा प्रतिपादित होना शुद्ध नहीं - उन्हें इशावास्योपनिषद् के स्पष्टाधर मन्त्रों की भी गीतालाली वर विभी प्रकार निराका भप स्वाना पक्षता है। पेक्षा न वर सा ये मन्त्र उनके सम्प्रदाय क प्रतिष्ठित ह लीर एसा होने ज्ञान उन्ह इष्ट नहीं। इसीलिये ग्यारहवें मन्त्र पर ग्यारहवान् वरन् समय गार्दरमध्य में 'दिव्या' दृष्ट का भप 'ज्ञान न वर 'उपासना दिव्या ह। तुउ यह नहीं। जिसिग दृष्ट का भप उपासना न होता हो। गार्दिस्यदिव्या प्रभनि ग्याम म तुग्र भप ग्याक्षना ही होता ह पर वह मुख्य क्षम्य नहीं ह। यह मौ नहीं, जिसका ग्यारहवाय क एपन म वह दात भाइ न होगी या भाइ न थी। भाइ तो क्षमा ? ग्यारहवान में भाना शुद्ध ही न था। दूसरा उपनिषद् म न्य एम वसन ह - दिव्या दिव्या शूष्म (कल २ १०) भपदा शास्याधाम विश्वामृतमद्वयुत (प्रभ ३ २)। विश्वामृतमद्वयुत म दिव्या द्वादिव्या व इर्या इशावास्त्व का

पह तो हुआ सब्य न्यायास्योपनिषद् के मन्त्र के सम्बन्ध का विचार। भगवान्नरमाण्य में द्व्ये 'तपसा कर्मय इति विद्या'मृतमस्तुते यह मनु का वचन दिया है उसका भी खोड़ सा विचार करते हैं। मनुस्मृति के बारहव भण्याय में पृष्ठ ४ ४ नम्बर का लोक ह आर मनु १२ ८५ से विद्यित होगा कि पह प्रकरण शैक्षणिक कमयाग का है। कमयोग के इस विवेचन से—

तपो विद्या च विप्रस्य निष्ठेयसकरं परम् ।

तपसा कर्त्तव्य इति विद्याऽमृतमस्तुते ॥

पहसु चरण में पह कत्ता कर—कि तप और (च) विद्या (अपार वीना) बाह्यण को उठाना मात्रायक है— फिर प्रकरण का उपयोग विवेचने के लिये दूसरे वचन में कहा है कि तप से आप नद्द हो जाते हैं और विद्या से अमृत अर्थात् मौत दियता है। असर प्रकर होता है कि एस त्यान पर शनकर्मसमुच्चय ही मनु को अभिषेत है और न्यायास्य के न्यायरूप मन्त्र का अर्थ ही मनु ने एस श्वार के वचन कर दिया है हारीतस्मृति के वचन से भी यही अप अधिक दृष्ट होता है। यह हारीतस्मृति लक्षण तो उपसम्बन्ध है ही उसके विद्या दृष्टिहपुराण (भ ५८-६१) ही भार्त है। एस दृष्टिहपुराण (११ -११ में और हारीतस्मृति ७ १-११) में शनकर्मसमुच्चय के सम्बन्ध में ये स्मोक हैं—

यथात्वा रथात्मात्वं रथात्वाचेविना यथा ।

परं तपश्च विद्या च उमावपि तपस्तिनः ॥

पथात्मं मनुसमुक्तं मनु चाप्तेव सपुत्रम् ।

परं तपश्च विद्या च सपुत्रं भेषणं महात् ॥

इत्यपादेव हि पश्चात्यां पथा दे पक्षिणो विति ।

तथेच श्वानकर्मस्यां पाप्यते वद्य शाश्वतम् ॥

भवान् जित प्रकार रथ के विना घोड़े और घोड़े के विना रथ (नहीं पछते) उसी प्रकार तपस्ती के तप और विद्या की भी स्थिति है। जित प्रकार अप शहर ते समुक्त हो और शहर अप से समुक्त हो उसी प्रकार तप और विद्या के तुकुल होने से एक मर्हीपदि होती है। ऐसे पश्चिमी भी गणि दोनों पद्मों के योग से ही होती है ऐसे ही अन भार कर्म (वीना) के शाश्वत वृक्ष ग्रास होता है। हारीत स्मृति के ये वचन इहावेषस्मृति के दूसरे भाग्याय में भी पाये जाते हैं। इन वचनों में— और विद्या कर उनमें द्विय गये इहावेषी से— प्रकर हो जाता है कि मनुस्मृति के वचन का क्या अप लगाना चाहिए? यह तो पहले ही कह दुके हैं कि मनु तप शहर में ही शाश्वत्य कर्मों का समाप्त बनाये जाते हैं (मनु ११ ८११)। और अप हीप वहांगा कि विश्वित्रीशापनिषद् में तप और स्वाप्यावग्रहण अस्तिति का ये आनंदण करने के लिये कहा गया है (ते १ ) वह भी शनकर्मसमुच्चय-पदों

वचनों में 'विद्वा' शब्द का एक ही सुम्मत्याप (भपान् ब्रह्मश्चन) अनन्याय ने स्वीकार किया है। परन्तु यही आन्याय का वचन है कि दीन्या = तैर कर या पार कर "सु पा" से पहले मृत्युस्थेष को तर जान भी किया पर्यं हो अन पर फिर (एक योगी ही नहीं) विद्वा से अमृतत्व ग्रास होन की किया सङ्केत हाती है। मिन्हु वहना नहीं हाता कि यह भय युक्ताप के "न्यय सह" शब्द के विश्व द्वारा होता है। भार प्रायः इसी कारण से "शाकास्य" क शाङ्करमाप्य में यह भय अर्थ भी दिया गया है। इच्छा भी हा "शाकास्य" के व्याख्य मन का शाङ्करमाप्य म निरास्य ल्पास्यान करने का अंदर कारण है वह "समे व्यक्त हो जाता है। यह कारण साम्प्रशयिक है और साम्यकता की साम्प्रशयिक इष्टि स्वीकार न करन्याय का प्रमुख स्वाम्भ का यह व्यास्यान मान्य न होग। यह शब्द हम भी मज़र है कि श्रीमद्भृत्याचार्य "ऐ भयक्षिक श्रद्धी तुम्हप के प्रतिपादन किय हुए भय को छो" अन का प्रमुख उर्हा तड़ रुप वहीं दरु रुचा है। परन्तु साम्प्रशयिक इष्टि त्यागन ये ये फलग तो आधेरो ही भीर "सी कारण हमस्व पहले भी "शाकास्यमन्त वा अभ शाङ्करमाप्य मे दिनिष्ठ (भपान् ब्रा हम कहत है वसा ही) अन्य माम्यकाय ने रुग्या है। उश्चरणाप वाक्तव्यी गृहिता पर अपान श्वाकास्योपनिषद् पर भी उदयाचार का अ भाय है अम विद्वा आविदा च "सु मन्त का व्यास्यान करन रुप ऐसा भय किया है कि विद्वा = भान्मश्चन भार अविद्वा = अम "न ला क एकीकरण से ही अमूर भथान माम भिज्जा है। अनन्याचाय ने "त उपनिषद् पर अप्ते माप्य मे "ठी अनस्तु-समुद्धया मक लध को स्वीकार कर अन म साप किय दिया है कि

"सु मन्त का विडान्त और वस्तास्य ग्रामपत ल्पान त्यागरपि गम्यने (ये ६) गीता क "स वचन का अभ एक ही है। एव गीता के "सु लोक में ग 'ताप्य और 'यस्त शुद्ध ह व वक्त से 'अन और 'अम क लोक है। श्री प्रसार अपराकर्म न मी याक्षवक्ष्यमूर्ति (३ ८७ आर ) की अपनी वीक्षा मे इशावास का व्याख्या मन्त इ कर अनन्याचाय के उमान ही उमा अनस्तु समुद्धयमन्त भय किया है। "समे एक्का के ल्पान म ला जायेगा, कि भाव हम ही नय किरे ले श्वाकास्योपनिषद् के मन का शाङ्करमाप्य मे नित उरते हैं।

---

इन के लालन्यायम म इशावासावनिषद् का जा पाई जाती है उपरे द सर्व लालन और श्वाकास्यमूर्ति पर लालन की दीक्षा भी अनन्याचाय म ही दृष्ट होती है। यह मन्त दृष्ट उपर्युक्त का जा लालन कर दिया ह उत्तम इशावास का लालन श्वाकरमाप्य क अनुकार की है। उमा न मालाकार क लाल म इव ह काल वाचाद ह Sacred Books of the East Series Vol I pp. 314-320)। लालनाचार का अन्य मन्तस्यामूर्ति श्वाकरमाप्य का अन्य न हुआ था लोर उनक लाल म वह वाल भाइ हुई भी नहीं एक्की इशावास म लिगान अभ क्या किया गया है

भृतिस्मृतिप्रतिपादित न मान केवल सम्यात्ममाग को ही भृतिस्मृतिप्रतिपादित कहा जाया निमूल है।

“स मूर्त्युस्पृह का स्वप्नहार चढ़ने के लिये या स्वरूपग्रहार्थ यज्ञाधिकार निष्ठाम  
अथ और मोक्ष की मासि के लिये ज्ञन अन ज्ञान का एककालीन समुद्दय ही, अथवा  
महाराष्ट्र के शिवायिन के विज्ञानानुसार —

प्रपञ्च साकुर्मि परमार्थाच्चा लाहो ज्यामें क्लाँ ।

तो नह महा भष्टा रे भष्टा महा ॥ १ ॥

यही अथ गीता में प्रतिपाद्य है। कर्मयोग का यह मार्ग प्राचीन काल न चला आ  
रहा है। काल प्रभति ने “सी का भाष्टरण किया है और स्वयं मात्रान के डारा  
युक्त प्रकार और युनस्त्रीकरण हनें के कारण ऐसे ही मार्गकार्यम कहते हैं। ये मन  
वात अच्छी तरह यिद्ध हो चुकीं। अब ध्यानग्रह की दृष्टि से यह वेदना भी आवश्यक  
है कि ऐसे मार्ग के लकड़ी युस्त्र यरमायसुख अपना प्रपञ्च — क्लाँ का स्वप्नहार —  
किस रीति से चलाव है? परन्तु यह प्रमरण बहुत कर गया है। इसकिये इस विषय  
का स्वार्थकरण अगले प्रकरण में करेंगे।

यही नह महा है त्रिलक्षण यज्ञ ज्ञर (महार के ज्ञन उपर्याका का व्याख्या  
पालन कर) परमार्थ वानी मार्ग की शासि भी कर रही है।

स्वीकार कर ही कहा गया है। समूत्र योगवाचिष्ठ प्राय ऐसा तात्पर्य भी यही है। क्योंकि इस प्राय के आरम्भ म सुरील ने पृष्ठ है कि मुझ अनलभ्ये कि मौजूद कर्मे मिलता है। क्षेत्र ज्ञान से क्षेत्र कर्म से, या जोना के समुच्चय से! और उसे उत्तर देते हुए हार्यतम्भुति का (पर्मी के पद्मोवाल्य) इशान्त के कर पहले यह अवस्था है कि 'किस प्रकार आकाश म पर्षी की गति दाना पद्मो दे ही होती है। उसी प्रकार ज्ञान और अन्हीं ज्ञान से माझ मिलता है। क्षेत्र एक से ही यह सिद्धि मिल नहीं आती।' आर भाग इसी अथ का विलारणहित शिगलन के लिये समूत्रा योगवाचिष्ठ प्राय कहा गया है (मा ३ ३ ६-८)। असी प्रकार असिष्ठ ने राम को मुख्य कथा में स्पात स्थान पर वार-चार यही उपर्युक्त दिया है कि शीबन्धुक क समान तुदि को छुट रख कर तुम समन्वयवहार करो (यो ६ १८ १३-२६) या क्षमो अ छाइना मरणपर्यन्त उचित न होने के कारण (मा ६ उ २ ४२) स्वर्णम् क अनुषार मान हुए रात्रि के पास्ते का नाम करते रहो" (यो ७ ६ ७४ और ६ उ ११ ६)। "स प्रत्यक्ष का उपरस्थार और शीरमन्त्र के किये हुए अथम मी इसी उपर्युक्त के अनुषार है। परन्तु योगवाचिष्ठ के दीमधार ये संन्यासमार्गीय।" समिष्ट फटी के। पद्मोवाल्यी उपमा के स्पष्ट होने पर मी उन्होंने अन्त म अपने पास से यह दुर्दाया ही दिया कि ज्ञान और कर्म जोनों सुगमन् अवांत् एक ही समय म विहित नहीं है। जिन दीका मूरुप्रन्वय पद्मे से किंतु के मी ज्ञान मै उहवा ही आ जावेगा कि दीकाक्षय का यह अथ गीतास्तनी का है एवं क्रिष्ण और लक्ष्मणायिक है। मद्रास प्रान्त म योगवाचिष्ठस्तरीया ही गुरुज्ञान-वाचिष्ठ तत्त्वसाधारण नामक एक प्रत्यक्ष प्रक्रिया है। "सुके ज्ञानकाण्ड उपासनाकाण्ड और क्रमकाण्ड—ये तीन मार्ग हैं। इम पहले कह सुक है कि यह प्रत्यक्ष किनना पुराना अवस्था आता है उठना शिग्ना नहीं है। यह प्राचीन भूमि ही न हो पर बर कि ज्ञानकर्म-समुच्चय-पथ ही "समे प्रति पात्र है तब इस रथान पर उसका उद्देश्य करना आवश्यक है। इसमें भैरव वेगन्त है और निष्काम-कर्म पर ही बहुत घोर दिया गया है।" तस्मिष्ट यह कहने में काँहानि नहीं कि "सका सम्प्राप्त भद्रोत्तात्त्व के सम्प्राप्त से भिन्न आर स्वरूप है।" मडास की आर "स सम्प्राप्त का नाम अनुभवादेत्" है। आर वालादिन शम्भो स शब्द हांगा कि गीता के कर्मयोग की यह एक नम्भ ही है। परन्तु क्षेत्र भगवत्तीता क ही ज्ञानार मै इत्य सम्प्राप्त का भिन्न न कर इत्य प्रत्यक्ष मै कहा है कि कुम ८ उपर्युक्त से भी यही भय भिन्न हांगा है। इसमें रामगीता आर नृपगीता ये जोनों नर गीतार्थ भी ही कुर्व है। कुउ होगा भी यह यह पर उमरा है कि भद्रत मत को अद्वीकार करना मानी कर्मस्पात्तुपति को स्वीकार करना ही है यह इस प्रत्यक्ष से दूर हा जायगी। ऊपर दिये गये प्रमाणों से भय स्पष्ट हा जायगा कि सहिता ज्ञान उत्तरनिरद् भगवून् मनुषाशब्दस्त्वयस्मृति महाभारत मात्रीना योगवाचिष्ठ भारी अस्त मै तत्त्वसाधारण प्रवृत्ति प्रस्त्री मै भी जा निष्काम-कर्मपापम श्रवितानि है उनको

द्वारा प्राप्त होनेवाली साम्यकुद्धि अथवा निष्क्रम अवस्था भी गीता का मान्य है। उपरि गीता का संन्यासमार्ग का यह कर्मसम्बन्धी मत प्राप्त नहीं है कि माध्यमिक के लिये अन्त में कभी का प्रकृत्य छाइ ही चेन्ना आहिय। पिछले प्रकरण में हमने विस्तारसहित गीता का यह विशेष विद्वान्त विस्त्रया है कि व्रामकन से प्राप्त होने वाले धरात्मक अथवा समाता से ही ज्ञानी पुरुष को ह्यनमामि हो जुने पर मी सर अवहार करते रहना आहिये। अत् ते ज्ञानयुक्त कम को निकास ढाके, तो तुनिहा अच्छी हुई आती है; और उससे उत्तरा नाश हो जाता है। तब कि माध्यान की ही अच्छा है कि उस रीति से उत्तरा नाश न हो वह मर्ती मौति चढ़ती रहे तब ज्ञानी पुरुष को भी अत् करत् के सभी कर्म निष्क्रमकुद्धि से करते हुए सामात्य लेगी का अच्छे वर्ताव का प्रत्यक्ष नमुना दिग्दर्श नेना चाहिये। ऐसी मान का अधिक भेदभाव और प्राप्त कर तो वह डेक्कन की अस्तर पड़ती है कि उस प्रकार का ज्ञानी पुरुष अत् अवहार विस्त प्रकार करता है। क्योंकि एसे ज्ञानी पुरुष का अवहार ही खोयें के सिये आत्म है। उसे कर्म करने की रीति का परम स्त्रे से धर्म-अपर्म धर्म-अथवा कराय अनुरूप का निषय कर डेवाण्य साफ्तन सा बुद्धि — किसे हम न्योज रहे ये — आप ही-आप हमारे हाथ स्था आती है। संन्यासमार्ग की अपेक्षा कर्मदोषमार्ग में यही तो विशेषता है। इन्द्रिया का निपट करने से किस पुरुष की व्यक्तियांसम्बन्ध तुक्ति रिघर ही कर तब भूता मैं एक आत्मा इस साम्य का परम स्त्रे मैं समर्थ हो जाय उत्तरी जासना मी शुद्ध ही होती है। उस प्रकार जासनात्मक तुक्ति के शुद्ध तम, निमम और पवित्र हो जाने से फिर वह कोइ भी पाप या मोक्ष के लिये प्रतिक्रिया कम कर ही नहीं सकता। क्योंकि पहले जासना है किर तजुदुल कर्म। तब कि उस एतो ह तब शुद्ध जासना से होनेवाला कम शुद्ध ही होगा; और ये शुद्ध है वही मोक्ष के लिये अनुरूप है। भवात् हमारे भागे का धर्म-धर्म-विविक्षण का धर्म अकाय अवकरिति का भिन्न प्रभ या — कि पारबोद्धिक वस्त्राल के मार्ग मैं जाने न आ कर उस सहार म मनुष्यमात्र का वरा वर्ताव करना आहिये — उत्तरा भारती करनी मैं प्रश्न उन्नर डेवाण्य शुद्ध भव हमे धिष गया (ते १ ११ ५; गी ३ ८९)। अर्कुन के भागे एमा शुद्ध भीहाय के हप मैं प्रस्तुत ग़जा था। तब अर्कुन का यह ग़दा दूर दि क्वा ज्ञानी पुरुष शुद्ध भाटि कभी का कम्पकारण समझ कर आह त ' तब यमा इस शुद्ध ने दूर पहा दिया। और भवात् भारती के महार भाजुन का जरी मर्ति समाल दिया कि ज्ञान के व्यवहार दिय मुक्ति ते करते रहने पर पाप नहीं अग्ना? ज्ञान वह शुद्ध के विष प्रश्न दूर गया। अन्तु गेहा चोगा ज्ञान विश्वा न्देवामे गुरु प्रस्तुत मनुष्य की ज्ञान जाहे तब नहीं धित तड़न। भोर लींग व्रद्धाण के रन्न प महाज्ञा यन ज्ञान न पक्षा। इस उन्नर का दिनार इति त तम ज्ञान जाय है कि त्वे महापुरुषोऽपि ऊरी काय पर अनुरूप-वर्गादिता रह नहीं त्वा भगवन् उग्र का भास्त भावरण है एतो भेदवाने

## सिद्धावस्था और व्यवहार

सर्वेषां यः सुखजित्य मर्येषां च हिते रत ।

कर्मणा मनमा वाचा स धर्मं वेद जामदे म ॥

महाभारत शास्ति ६२

जिस माग का यह मन है कि ब्रह्मचरण हा बन त बन उड़ि धन्यवन सम और निष्काम हो जाव तब फिर मतुर्प्य का कुछ भी कल्प्य आग के लिये रह नहीं आता । और “सीक्षिय विरक्षुद्धि” से जली पुरुष को जगमगुर समार के तु अप्यय आर गुण स्वयंहार एकत्रम छोड़ देना चाहिये । उस माग के परिणाम ने यह स्वयंभूमि के भवाव का भी कोई एक विचार करने योग्य दात्त्र है । सन्यास लेने से पहले विचार की छुट्ठि हो कर जाग्रामि हो जली चाहिये । जली लिये उन्हें मध्रे ह ते कि समार - तुनियापारी - के काम उत्तम से ही करना चाहिये ते कि किसी विकलालियि शुद्ध होये भएत् वह सार्विक बने । इसीक्षिये ये समाप्ते ह ते कि सवार मे ही सद्व बना देना पागल्पन ह । किननी जस्ती हा सह उठनी जस्ती प्रन्येक मनुष्य सन्यास ये मे । “स काल म उत्तमा पहीं परम ब्रह्म हूँ । पेशा मान सेन स कमयोग का अतुल्य महान् दृढ़ भी नहीं रह जाता । और “सीक्षिय सम्याक्षमाग के परिणाम सामारिक व्याख्या के किरण मे कुउ धोना-सा प्राप्तिक विचार करक गाहृप्य धम के कम अनुम के विवेचन का “सकी अनेका और अधिक विचार कभी नहीं करते कि मनु भारि गाहृकासा के कलाये दृष्ट चार भाभम जपी दीने से चर कर सन्यास भाभम भी भवित्व मीरी पर जस्ती पट्टू च जामो । “सीक्षिये करियुग मे सन्यासमाग के पुरम्भना भीहाहृत्पाय न अपने गीतामाप्य भै गीता के क्षमप्रबन बचना भी उपेषा भी ह । अथवा उम्हे केवल प्रश्नाम्भम ( भप्तवाय्यवान ) करियन दिया है और भन्त मे गीता का यह परिणाम निराला है कि क्षमप्रव्याप्त धम ही गीताम्भ प्रतिपाद्य है । और यही कारण है कि वृभरे दिन ही दीक्षाजारो ने भयने तप्त्यगाय के भनुवार गीता का यह रहस्य बनान दिया है कि भगवान ने रथभूमि पर भनुज का निष्पत्ति प्रसन भएत् निरी महिं या पात्रक्षक्षयोग अथवा मालमाग का ही उपदेश दिया है । इनमें का सम्भेह नहीं कि सम्यासमाग का भप्तवाय्यवान निर्देश है । और इनके

इ आप्तवाय्यवान उनी न कम का जल्प हा कम ग दृष्ट भार जागी ते तब तो हिं वारन म द्वागा हृष्ण ह नार जान । का दिय भी है ।

किंतु नहीं होते। “सत्ये उन् तत्त्व पुरुष के ही निषेद को प्रमाण मान लेना चाहिये। अरिस्टॉटल नामक दूसरा भी तत्त्वज्ञ अपने नीतिशास्त्रविषयक ग्रन्थ (१४) में कहता है कि अपनी पुस्तकों का निया इत्था फिरखा सबक इच्छिके अचूक रहता है कि वे सभ्ये तत्त्व को ज्ञान रहते हैं; आर अपनी पुस्तक का पहला निषेद या व्यवहार ही भौतिक का प्रमाणभूत है। एपिकृष्ण नाम के एक और भी कृष्णशास्त्रवेच्छा ने “स प्रकार के प्रामाणिक परमज्ञनी पुस्तक के बचन में कहा है कि वह शान्त समनुद्दिवाज्ञा और परमव्यर के ही समान रूप अनन्तमय रहता है तथा उसका सैमग्र स्वधरण से अथवा उससे संभव का बहु सा भी कष्ट नहीं होता ।” पाठ्यक्रम के स्थान में आ ही ज्ञानगता कि मगायश्रीता में वर्णित विनाशक, भिगुणार्थीत अथवा परममक या ब्रह्मभूत पुरुष के बचन में “स विषय की सिन्नी समता है।” यमाज्ञोद्दिव्यम भ्यंतो यमकाज्ञोद्दिव्यते व य (गी १ १) — किससे व्येष उद्दिष्ट नहीं होते आर ये छोड़ों से उद्दिष्ट नहीं होता ऐसे ही वे हृष्ण-कर्म विषया मुख्य-कुण्ड आदि अन्तर्गत आत्मा से मुक्त ह सदा अपने भाव में ही कल्पना है (आत्मन्यवालम्ना तुष्ट — गी ५५) विगुण से किसका अनुकरण अद्यता नहीं होता (गुणया न किञ्चात्यत — १४ ३) सुन्दरि या निन्दा और मान या अपमान किसे पक्ष से है तथा प्राणिमान के अन्तर्गत आत्मा की एकता का परम कर (१८ ४) साम्यवृद्धि से आसक्ति छात कर, ऐसे आर उन्माद से अपना कृतव्यक्षम करनेवाल्य अथवा सम सोइ अस्त-कास्त (१४ १४) — “त्यक्ति प्रसर से मात्राद्वितीया में भी विषयक्षम के इव्यञ्जनीय तीन-चार वर विस्तारपूर्वक कृतव्य गवे हूँ।” ऐसी अवस्था को सिद्धावस्था या ब्राह्मी विधिति कहत है। और यागयामिष्ठ आदि के प्रत्येका “सा विधिति का वीजनमुच्चादम्भा कहत है। इस स्थितिका प्राप्त हा ज्ञाना अत्यन्त उपर्युक्त है। नवएव बहन तत्त्ववेच्छा कान्त का बचन है कि प्रैन परिष्ठर्ता ने “स विधिति का ये बर्चन निया है वह किसी पक्ष वास्तविक पुरुष का बचन नहीं है अर्थे पुरुष नीति के तत्त्वों को लागा के मन म भर देने के लिये वह युद्ध वासना को ही मनुष्य का खोला के कर उहों ने परले सिरे के ज्ञानी आर नीतिमान् पुरुष का किस अस्ती विषयों के वैयाकी नहीं भिन्न-भिन्न सर्वी ह और मन का निप्रह तथा प्रवस्तु करने से इसी लिये वे प्राप्त हो जाती है। “स जात का प्रस्तुत अनुमति मी हमार ज्ञानव्यौक्ति का प्राप्त है। तथापि वह जात लानारम नहीं है। गीता (७ ३) म ही स्पष्ट कहा

Epicurus held the quietus war to be unequal, undisturbed, non-contestive competition of men which approached most nearly to the perfect happiness of the Gods, who neither suffered vexation in themselves, nor caused vexation to others. Spencer, *Days of Ethics*, p. 278. But *Vedas and World-Savior* Ed. 1875 p. 530 इनी स उद्दिष्ट विद्वान् ज्ञानी है।

इन जानी पुरुषों के काम की दस्ती बारीकी से झेंच कर विचार करना चाहिये, परं इनका अर्थ का विचार रहन्य या मुख्यत्व क्या है? ऐसे ही कमयोगजात्यक हृष्ट हैं और उपर ऐसे पुरुष कलायत्र गये हैं उनकी भित्ति शीर इति ही ऐसे शास्त्र का आवार है। ऐसे लोगों के सभी पुरुष यदि ऐसे प्रकार के भास्तव्यानी भार कमयोगी हों तो कमयोगजात्यकी क्षरण ही न पड़ेगी। नारायणीय धर्म में एक स्थान पर कहा है -

पक्षान्तिको हि पुठा दुर्लमा बहुतो नूप ।  
पयेकान्तिभिराकीष्यं जमत् स्पात्वुठनमृत ॥  
अहिंसकरामविनिः सर्वभूमहिं रता ।  
भयत् द्रुतयुग्मपासिः माशीः कर्मविवर्गिता ॥

एजानिटर भाषात् प्रवृत्तिप्रशान भगवन्तपर्वत का पूर्णतया भाजरण करनवाले पुक्षया का अदिन मिस्त्री कहिन है। भास्मजानी भहिसुक पकास्तभम् क शानी और प्राणिमात्र की भवा करनवाले पुक्षया के यह बग्गु भर बाबू तो आदी ज्ञम् - अभात् काम्य रथवा स्वाधेनुडि से किय हुय लार ज्ञम् - उस जगत् के दूर हा कर दिल हृषक्षुपा प्राम हा जागणा (या ३४८ ६ ३३)। क्योंकि ऐसी रिखति म सभी पुरुषों क अलवान रहन का किनी का नुकसान तो होगा ही नहीं प्रमुख प्रवृत्त मनुष्य सब क कम्यात्पर पर एवन् ४ कर तम्हुसार ही युड अन्तर्करण भार निष्पाम तुडि क भवना छाव करणा। हमार शास्त्रजारी का मत है कि यहुत पुराने उपचर म उनाइ भी ऐसी ही रिखति थी और वह किर कमी-न-कमी प्राम होगी ही (म. मा या ६ ३४)। परन्तु पक्षिमी परिच्छन्न पहुँची यात्रा का नहीं मानत - व नवार्थीन इनिहास क भाषार ने कहते हैं कि पहुँचे कमी उमी रिखति नहीं थी। किन्तु नविय म मानवतावित क मुखाय की दर्ताल्प ऐसी रिखति दिय गला कमी-न-कमी उपचर ही गग्ना : ये हा यही निहास का विचार उस उपचर कल्य नहीं है। हा यह करन म तो इनी नहीं कि नमाइ की इन उत्तम्हात्म रिखति भवता उपचरण म प्राप्त उपचरण परमजानी द्यगा क्षीर वह तो एवदहार करणा, उक्ति के युड पृथ्यपरार एवं उपचरा बहाव की पराकाया मानना चाहिय। इन मत का गला ही मानत ह। प्रकिन्द भग्नश्च मुद्दिष्याम्भान्ना भग्नर ने इनी मत का भरने नीतिषाक्षात्प्रयत्न प्रयत्न क भग्न में प्रतिवाचन किया ह। और वहा ह कि प्राचीन काम न दीन इस क तत्त्वज्ञानी पृथ्या ने यही विडाल्न किया था। उपचरण युजानी ताप-सा त्रय भग्ने इन्द्र भग्न में चिक्का है - ताप-सी युज का तो उस उपचरण दूर दौर युजशास्त्र और उपचरण दूर दौर युजापारण मनुजों का व उप-

रात्र का अनुवाद किया गया है (ऐतो प्रम्पट स्प्रेक २९४ और २९५)। १० नहीं बाहक मे एसा के लिये पाठ ने क्ये यह कहा है कि मुझे भी बत (एक ही सी) चम्प है (१ कारि. ६ १२; राम १ २) उसका आशय शब्द के या एसा वाक्य का आशय भी — कि जो मानवान के पुण (पुणमक) हो गये उनक हाथ से पाप नहीं हो उक्ता (बा १ ३) — हमारे मत मे ऐसा ही है। जो शुद्धजुड़ि को प्रकान्ता न दे कर बेकछ ऊपरी बोले से ही नीठिमचा का निष्टय करना सीखे हुए है यह सिद्धान्त भद्रभुत सा मालूम होता है और विभिन्नियम से परे का मनमाना मन्त्रमुद्धुर करनेवाला — ऐसा अपने ही मन का उत्कृष्ण अथ करने कुछ अस अलिप्तित सिद्धान्त का एस प्रकार विपर्यास करते हैं कि स्वितप्रह को भी दुर अर्थ करने की स्वतन्त्रता है। पर अन्ये को गम्भीर रीत पढ़ तो किस प्रकार गम्भीरों नहीं है उसी प्रकार फलाभिमान के अन्ये ज्ञन आसेक्षण्डाभा को उत्तिमित सिद्धान्त का ठीक दीक अथ भवगत न हो तो उसका दोष भी इस सिद्धान्त के मत्ये नहीं थोपा जा उक्ता। ऐसे गीता भी मनवी है कि किसी भी शुद्धजुड़ि की परीक्षा पहले पहले उत्तरे ऊपरी आचरण से ही करनी पड़ती है। और यह एस प्रसादी पर वीक्षण सिद्ध होने मे अभी कुछ कम हैं उन अपूर्य अवस्था के खोलो को उक्त सिद्धान्त सामूह करने की एस अध्यात्मकारी भी नहीं करते। पर जब किसी भी शुद्धि के पुण अथ निष्ट आर निर्व्वीम निष्काम होने मे लिङ्गमर मी सन्तैह न रहे तब उस पुण अवस्था मे पहुँचे हुए सत्युरूप की शृणु निराकी हो जाती है। उसका कोइ एक भाष्य काम यहि लीकिक इति से विपरीत दीर्घ पढ़े तो उक्त वही कहना पड़ता है कि उसका वीक्षण निर्गोप ही होगा। अथवा वह शास्त्र की इति से कुछ योग्य कारण के हाने के

कोरितिहृ ता बाब्द पह है — वा मा विजानीवाज्ञास्त्र वैनिष्ठित् कर्मणा  
होक्तो यीवत न प्राप्तुर्वेन न भिन्नकल ए लक्ष्मण ग मन्त्रहरवका। रम्पट का भार इह  
प्रकार है

मातरं पितरं इत्या राजानो इ च स्मृतिषे ।  
रहं सातुर्वर्त इत्या जनीशो पाति ब्राह्मणी ॥  
मातरं पितरं इत्या राजाना हे च सातिष्प ।  
वैष्णवपञ्चमे इत्या जनीशा पाति ब्राह्मणा ॥

एक है कि अवस्था म वह उसका कोरितिहृ इतिहृ न ही होते। शिष्य वाद ब्रह्मकाम प्रकार मानुष वा शिष्यकर्त नहीं न करत माता का दृष्ट और जिन्होंने अविमान नहीं करत है। अरित इमारे मत म इत भाव का जीविताव योह ब्रह्मकाम जा जनी जर्ते हान नहीं हो जाता। इनी न उसा न यह नीतिकारिक नहीं लगाता है। जीवितिहृ उत्तिहृ म मानुषके विषुवर्तन प्रकार क यह इत है कि वर्षति मिल तृत नवीन ब्रह्मका वह किसा है तो वही हुँह जाए तो जाना। इस न लगता है कि वर्षा एक प्रवर्ष वह ही विष्टित है रम्पट क अद्वारी अनुवाद म (S B E Vol X pp. 70 71) वैष्णवका वाद न इस भाषा की जा रीका ही है इमारे मत म वह भी दीर्घ नहीं है

है कि हमारी मनुष्या के काँच-आब मनुष्य "सभी श्राति के लिये प्रयत्न करता है, और इन हमारे प्रयत्न करनेवाले में किसी विरोध क्षमा ही अनेक अन्मो के अनन्तर परमावधि की स्थिति अन्त में प्राप्त होती है।

मिथुपद्म-अवस्था या चीड़नमुक्त अवस्था कितनी ही दुष्प्राप्य क्या न हो ? पर किस प्रश्न को यह परमावधि की मिद्दि एक बार प्राप्त हो जाय उसे कार्य असाध के अवश्या नीतिशास्त्र के नियम उत्तीर्णे की कमी आवश्यकता नहीं रहती। किंतु ऐसे तत्त्वप्रकाश आये हैं उन्हीं से यह बात आप ही निष्पत्त हो जाती है। क्योंकि परमावधि की शुद्ध सम और पवित्र त्रुटि ही नीतिका मद्दत्त है। इस कारण एसे मिथुपद्म पुरुषों के लिये नीति नियमा का उपवाग इतना माना स्वर्यप्रकाश सर्व क समीप अन्मकार होने की क्षमता करके उस मध्यात्म विकल्पने के समान असमझते में पड़ता है। किसी पक्ष-आब पुरुष के ऐसे पुण्य अवस्था में पहुँचने या न पहुँचने के सम्बन्ध में शहा हो सकती। परन्तु किसी भी रीति से वह एक बार निष्पत्त हो जाय कि काँच पुरुष ऐसे पुण्य अवस्था में पहुँच गया है तब उसके पापपुण्य के के सम्बन्ध में अप्यात्मप्राप्ति के उत्तिष्ठित सिद्धान्त का छोट और कोई करपना ही नहीं भी ज्ञ सकती। तुम पवित्री राजनीतिशास्त्रा के मतानुयार इस प्रकार एक स्वतन्त्र पुरुष में या उपर्याप्तमुद्ध में राजसत्त्व अधिष्ठित रहती है और राजनीतिशास्त्र से प्रवृत्ति के बीचे रहने पर भी राजा नियमा से भक्ता रहता है। ठीक उच्ची प्रकार नीति के राज मिथुपद्म पुरुषों का अधिकार रहता है। उनके मन में काँच भी काम्यकुदि नहीं रहती। अन्त केवल शास्त्र से प्राप्त हुए करम्या का आइ और किसी भी हृतु से कमी करने के लिये प्रयुक्त नहीं होना करते। अतएव अन्मत्त नियम और शुद्ध बाधना काल इन पुरुषों के अववाहर की पाप या पुण्य नीति या अनीति शास्त्र क्षमा प्राप्ति समग्र नहीं होती। वे तो पाप और पुण्य से बाहर बूट आगे पहुँच जाते हैं। भीषणराजाय ने कहा है -

विकल्पपूर्ण पवित्र विवरतों का विवि को विवर !

जो पुण्य प्रियुणानीत हो गये उनका विविनियवर्णी नियम बीच नहीं रहता। और शुद्ध प्रम्पकारी ने भी कहा है कि किस प्रकार उच्च हीरे को विलना नहीं पड़ता। उच्ची प्रकार ज्ञ विवाचपद का अधिकारी हो गया उसके कम का विविनियमी का भव्यगा स्वानन्द नहीं पाता (मिल्नप्रभ ४ ८)। शौपीतकी उपनिषद् (३) में यह बतान है - कि भहकारुदि भ नवया विमुक्त पुरुष पवित्र द्वोरी का मार भी जान तो भी वह पापपुण्य से बचता क्षमग ही रहता है - उनका तात्पर्य भी यह है (उनके पञ्चशी २४ १६ और १०)। 'अम्मवान नामक रीढ़ व्रत में इनी

सहित यही सिद्ध कर शिष्यम् है। उस प्रकार नीतिनियमा के कभी मी र्हंडल न होने वाले मुख फिरने था निर्गोप पाठ (धर्म) का उस प्रकार निष्पत्ति हो चुके पर आप ही मिठ हो जाता है कि नीतिशास्त्र या कर्मयोगशास्त्र के उत्तर ऐसे की दिक्षे अभिष्टाया हो उस उत्तर और निष्पत्ति सिद्ध पुरुषों के परिपूर्ण का ही एकम अवश्यकन करना चाहिये। उसी अभिष्टाय से मात्रद्वीपा में अर्हुन ने भीहृषा से पूछ है कि स्थितिशी यह प्रमाणेत्र किमासीत भैक्ष त्रिम् (गी ५४) — स्थितप्रब्रह्म पुरुष का भोगना भैक्षना और चलना भैक्षा होता है। अथवा 'केसिहैसीन गुणान् एतान् अतीतो मरुति प्रभो त्रिमात्मार' (गी १४ ११) — पुरुष प्रिमुणातीत भैक्ष होता है। उषका भावार क्या है? और उसको जिस प्रकार पहचानना चाहिये? जिसी सराफ के पास उनका बैवर भेदवान के लिये जाने पर अपनी वृक्षान में रखे हुए १ उत्तर के सामने के दुकड़े से उसको परत्त कर वह जिस प्रकार उत्तरका एकमप्रोटापन अवश्याता है, उसी प्रकार काय अकार्य या वर्त्म अवर्त्म का निष्पत्ति करने के लिये स्थितप्रब्रह्म का वर्त्माव ही क्षमात्री है। अतः गीता के उक्त प्रभों में यही अप्य गर्भित है कि मुझे उत्तर क्षमीयी का अन करा दीजिये। अर्हुन के उस प्रम का उत्तर ऐसे भ मात्मान् ने स्थितप्रब्रह्म अथवा निमुणातीत की स्थिति के जो वर्णन लिये हैं उन्हें कुछ लग उन्यादमार्गाद्वारा अपनी पुरुषों के उत्तराते हैं। उन्हें वे कर्मयोगियों के नहीं भाजते। कारण वह करुष्यम् जाता है जिस उन्यादियों को उत्तर कर ही निराभय (४ २) विद्येषण का गीता में प्रयोग हुआ है। और वारहै अथवा भैक्ष्य में स्थितप्रब्रह्म भगवद्वर्त्मों का वर्णन करते समय 'सर्वारम्भपरित्यगी (१२ १६) एव अनिषेत' (१२ १) उन स्पष्ट पौर्ण प्रयोग किया गया है। परन्तु निराभय अथवा अनिषेत पदों का अप्य परदार छंड कर बहास्ये मैं स्वतन्त्रेषाम् विवक्षित नहीं है। किन्तु 'उत्तरा अप्य अनाक्षिणः कर्मफल (६ १) के समानाप्त ही करना चाहिये — तद इतका अर्थ कर्मफल का आप्यम् न करनेषाम् अर्थवा लिखे मन मैं उस फल के लिये दौर नहीं इस देश का ही आवगा। गीता के अनुवाद में 'न क्षेत्रों के नीचे वो दिव्यगिरीं दी हुरै है उनपै यह बत स्पष्ट हीन पढ़ेती।' उसके अतिरिक्त स्थितप्रब्रह्म के वर्णन में ही यहा है कि 'नित्या का अप्त्वे काष्ठ मैं राम कर अवहार करनेषाम् अर्थात् वह निष्पत्ति कर्म करनेषाम् जाता है (गी ६४)। और जिस क्षेत्र में वह 'निराभय' पा आया है वहाँ यह बतात है कि कर्मभ्यमित्यात्मीयपि तैव विश्विकराति च अर्थात् उम्भुत वर्त्म करक मी वह अक्षित रहता है। वारहै अथवा के अनिषेत भावि पदों के लिये 'सी न्याय का उपयोग करना चाहिये। क्षोऽहि 'स अथवा मैं पहले कर्मफल के स्वाग ही (कर्मत्वात् की नहीं) प्रयत्ना कर कुक्षने पर (गी १२ १२) पक्षासा

उत्तम दृष्टि का (Supreme) जो वर्णन होता है उत्तम इतने कहा है कि उत्तिति इत्य अप्य जात् दूर ते वह राज्य है। उत्तम राज्य का नाम भी *Beyond Good and Evil* है।

ही हुआ होगा। या साधारण मनुष्य के कामा के समान उसका अस्त्रूक या अनीति का हाना सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि उसकी तुष्टि की प्रभवा घुटना और उसका पहल से ही निश्चित रहती है। वाइकल म लिंग है कि अशाहम अपन पुरुष का बिज्ञान देना चाहता था तो भी उसे पुरुषस्या कर नहीं सकते व प्रयत्न का पाप नहीं आता। या बुद्ध के शाप से उसका समूर मर गया तो मी उसे मनुष्यहत्या का पातक व तक नहीं गया। अवश्य मारा का मार नहीं पर मी परशुराम के हाथ से मारुष्यस्या नहीं है उसका कारण मी वही तत्त्व है कि उसका उद्देश्य ऊपर किया गया है। गीता मे अड्डन का ये यह उपत्यका किया है कि तेरी तुष्टि यहि पवित्र भार निमित्त हो तो फलग्ना छाड कर केवल साक्षमतम क भनुसार बुद्ध म मीप्प थार द्रोष का मार आळने से मी न तो तुझ पितामह के बद का पातक स्वेच्छा आर न गुरुष्यस्या का तौप। क्याकि एस समय इच्छी सकृत की लिंगि के लिय त तो कक्षण निमित्त हो गया है (गी १२ ११)। उसम मी यही तत्त्व मरा है। अब हर में मी हम यही भेगते हैं कि यहि किसी लग्नपति न निसी वीरमारो के गे पसे औन लिय हा तो ज्ञ लग्नपति तो तो बोइ और कहता नहीं। ऊपरा यही समझ किया आता है कि मितारी ने ही बुद्ध अपराध किया हीग कि किसका लग्नपति ने उसका दण्ड किया है। यही न्याय उससे भी अधिक समर्पण रीति मे या पुण्यता से रिक्तप्रति भहन और माष्ठूक के बताव को दग्धयोगी हाता है। क्याकि लग्नाचीम की तुष्टि एक शर मह ही किंग यद्य परन्तु यह आनीकूसी चात है कि किसीप्रति की तुष्टि को ये विनार कमी स्वरु तक नहीं कर सकते। सुरिकता परमेश्वर सब कम करने पर मी किस प्रकार पापपुण्य से अविस्त रहता है उसी प्रकार "न द्रष्टव्यत लाकुपुरुषों की लिपति सौदैव पवित्र भार निष्पाप रहती है। और तो क्या समय समय पर एसे पूर्ण म्बन्डा भपान् अपनी मर्दी से या अव्यहार करत है जही से आगे चल कर किधिनियमों के निम्न बन जाते हैं। और जही से कहत है कि ये सत्यपुण्य न विधिनियमों के बनक (उपजानकाले) हैं - के "नके गुणम कमी नहीं हो सकते। न केवल विकिं खर्म मे मत्स्युत बोड और निधियन खर्म म भी यही लिद्दन्त पापा चाता है; तथा ग्राचीन धीरु उत्तमशानिया का भी यह सब गुण्य हो गया या भार भवाचीन काल मै काट ने" अपने नीतिशास्त्र के प्राय मे उपराजि

A perfectly good will would therefore be equally subject to objective law (i.e., if good), but could not be conceived as obliged thereby to act as if by because of itself from its subjective constitution it can only be determined by the conception of good. Therefore no imperatives hold for the Divine will, or general for *Any* will such as being out of place because the volition is already of itself necessarily in accordance with the law. Kant's Metaphysics of Morals p 31 (Abbott trans in Kant Theory of Ethics, 6th Ed.)  
मिट्टि किसी भी अवश्यमर्ह उत्तरानि रा लक्षित रहा रहता। ताकि "नके गुणम कमी नहीं हो सकते।"

भेद स्वाप म ही डूबे रहते हैं। उसी कलिमुगी समाज म यह क्वात करना ह। कर्मयोग सनुष्य का जन किना ही पुण क्या न हो गया हा और उसी कुदि भास्यावस्था में कितनी ही क्या न पहुँच गा हो तो भी उसे पेस ही सेगा के साथ क्वात करना ह ये काम-कोष आवि क पक्कर में पडे हुए ह आर किनकी कुदि भनुष्ट है। अतएव "न स्येगा क साथ भवहार करते समय यहि वह भहिता इया धार्ति और उसा क्या नित्य एव परमाववि क सद्गुणों को ही सब प्रकार से लवंपा शीकार कर तो उसका निर्वाह न होगा।" अथात वही सभी स्थितप्रति हैं उस समाज की बटीचटी हुए नीति और भन अधम से उस समाज के अम-अधम तुछ तुछ मिल रहगे ही — कि जिसमें सभी पुइपो का मी झंभा होगा — उसना सातु पुण का यह भवत् छा इन पहें आर सबन दुर्घो का ही बाल्याल्य हो जावगा। "मका अय यह नहीं है कि तापु पुण को अपनी समवाकुदि छाँ भेजा जाहिय। फिर भी तमग्न-समता म भी नहीं है! मीता मि कहा ह, कि ब्राह्मणों गवि हस्तिनि (गी ८ ११) — ब्राह्मण गण आर हाथी में पवित्रा की समुदि होती है। नक्षिये यहि कां गाय क निये स्येगा हुमा जाय ब्राह्मण को भीर ब्राह्मण क विय क्लाद गा रखों गाय क गिर्माने थ्ये, तो क्या उसे पवित्र कहें? सन्यासमाग्रामे इस प्रभ का महत्व भेजे न मान-पर कमयामयाल्य की बहु दक्षी नहीं है। दूसरे प्रकरण के विवरन से पाठ्य उन गव हाग कि इत्युगी समाज के पुणावयवाकाष यम अधम के भवय पर खाल रख कर स्वामरणवय लोगों के समाज में स्थितप्रति यह निभय करके भनता है कि ग्रेनाम क अनुसार उसम कीन कान फ़क कर इना जाहिये। आर कमयागमाल्य का यही तो निष्ट प्रभ है। तापु पुण स्वायपरायण स्त्री पर नाराय नहीं हात अपना उनकी लामकुदि देण करके व अपने मन की समता भिगने नहीं देत। जिन्हु नहीं थोक्के कन्याल के विय अपने उद्याग फैक्स कतम्य समझ कर द्विराष्य मे जारी रखत ह। इसी तर्थ का मन म त्वं पर भीनमय शमदासम्भाप्ती न दातव्यव क पुण मे पहुँचे प्रभ ज्ञान बाल्याहा है। भीर फिर (शत १ १३ १-१ १६ १) इतका वस्तु भारम्य किया है कि स्थितप्रति या उपम पुण्य सक्षात्पराय स्पग्नों की चतुर ज्ञाने

I the second place, ideal conduct such as ethical theory is concerned with, is no possible for the Ideal man — the "I" of our otherwise committed A brotherly just or perfectly sympathetic person could not live and act according to his nature in tribe of cannibals. Among people who are treacherous and utterly without scruple entire untruths and open lies must bring home. Spencer, *Dist. of Ethics*, Chap. XV p. 730 अन्तर न तरीके अन्तर न तरीके On the evolution hypothesis — the to (Absolute and Relative Ethics) presuppose one another and only when they co-exist, her can the Ideal conduct which Absolute Ethics has to set reward & kick Relative Ethics has to set the standard by which to estimate all experiences from high or degree of wrong.

त्वाग कर कम करने से भिन्नबाली शान्ति का विकर्षण करने के लिये भाग मगाकद्रव्य के सम्बन्ध बदल्ये हैं। और एसे ही अद्वाह अप्याय में भी यह विकल्पने के लिये — कि आसचिपिरहित कम करने से शान्ति मैंने मिली है — ब्रह्मभूत का पुनर्वयन आया ह (गी १८)। अतएव यह मानना पर्याप्ता है कि ये सब वर्णन उन्नासमावालों के नहीं हैं किन्तु कमयोगी पुरुषों के ही हैं। कमयोगी स्थितप्रब्रह्म और सन्यासी स्थितप्रब्रह्म इन्होंना का प्रवक्ष्यन् शान्ति आसौपम्य और निष्कामकुटि भवना नीतित्व पृष्ठ दृष्ट करने वाली है। उन्होंने ही पूर्ण ब्रह्मानी रहते हैं। ऐसे कारण उन्होंना भी ही मानसिक स्थिति भार शान्ति पक्ष-की होती है। इन उन्होंना में कमाद्धि से महसूस का मेव यह है कि पहला निरी शान्ति में ही उत्ता रहता है और निरी भी भी निवाच नहीं करता तथा दूसरा अपनी शान्ति एवं आस्मापम्यकुटि का स्ववहार में उपासनमत्र लिये उपयोग किया करता है। उदा यह न्याय से सिद्ध है कि स्वावहारिक प्रम-भवन विवेचन के कम में जिनके प्रस्तुत स्ववहार का प्रमाण मानना है कह भिन्नप्रब्रह्म कम करनावाला ही होना चाहिये। यहाँ कमयोगी सामु भवना मिलु का विना सम्भव नहीं है। गीता में भवन का किम गाये समग्र उपोक्ता का सार यह है कि कमों के छाँ देने भी न तो बहरत है और न व दूर उकत है। ब्रह्म लैक्षण्य का ज्यन प्राप्त कर कमयोगी के समान स्ववहारालम्बुद्धि का साम्यावस्था में रहना चाहिये। ऐसा करने से उमके साथ ही साथ जासनामक बुद्धि भी भवन उद्ध निमम और पवित्र रहेगी। यह कम का भवन न होगा। यही कारण है कि ऐसे प्रस्तरण के भासम्य क ओर में यह भमदत्त्व भवत्या गया है कि एक वाणी और मन ही नहीं किन्तु वह प्रस्तरण कम से मज़ कर लही और हितकरा हो गया हा। उत ही भवन कहना चाहिये। जावसि का भमतत्त्व भवत्यात समय तुल्यपार न वाणी और मन के साथ ही — अधिक उससे भी पहले — उसम कम का भी प्रधानता से निर्भै दिया है।

कमयोगी भिन्नप्रब्रह्म की अपवा गीवन्मुक्ति की बुद्धि के भवनुपार सब प्राणियों में विभिन्नी साम्यकुटि हो गई और पराप म जिनके स्वाय का सबथा इव हो गया उत्ता विलूप्त नीतिगाम्य मुकाब की बहरत नहीं। यह तो आप ही स्ववकाश भवता 'बुद्ध हो गया। अबुल का अविकार इसी फ्कार का था। उसे इसम अधिक उपेत्य करने की बहरत ही न थी कि त भवनी बुद्धि का तम और रिष्ट कर्त तथा कम का स्वाय देने के बावध म न पर भिन्नप्रब्रह्म की-जी बुद्धि रप और स्वर्वम के भवनुपार प्राप्त हुए सभी लाकारिक कम किया कर। तथापि यह माम्य बुद्धित्व दाग सभी का एक ही कम में प्राप्त नहीं हो लकड़ा। इनी के लापारण संग्रह व अन्य भिन्नप्रब्रह्म के स्वाय का और पाण-ना विवेचन करना चाहिये। परन्तु विवेचन करत लम्य लूप समरण होते हैं कि हम जिन भिन्नप्रब्रह्म का विचार करते, वह इन्हें उपर्युक्त भवत्या में परन्तु उपर्युक्त में रहनेवाला नहीं है। अधिक जिन समाज में वर्तते

आपि सर्व किप्योपमोग नामरूपात्मक है। अतपेक्षे ये अनित्य और मिनास्तान माया की ही सीमा में रह जाते हैं। इसस्थिति के बाहर नहीं आवेदन की कस्तुरा भौति भौतिक नीतिनियम नित्य नहीं हो सकता। आधिमौलिकमुण्डुप की कस्तुरा ऐसी ऐसी कष्टती आवेदी वैसे ही वैसे उसी बुलियाद पर रखे हुए नीतिचमों को भी बदलने रहना चाहिये। अतः नित्य कष्टती रहनेवाली नीतिचम ही इस विषय का दाढ़े के लिये मानवाद्वाहिके किप्योपमोग स्त्रों कर नीतिचम ही अमारत एवं सप्त भूतों में पक्ष व्याप्त अ यात्मज्ञन के बबन्धूत पाये पर ही सर्वै करनी पाती है। ज्योकि वीचे नीति प्रकरण में वह आय है कि भावाना को छोड़ जगत् में वृत्तिरी कार्य भी बद्ध नित्य नहीं है। यही तात्पर्य अासदी के एवं बद्धन का है दि घमों नित्य मुण्डुप स्वनित्ये — नीति अध्यात्म साक्षरण का घम नित्य है और मुण्डुप अनित्य है। यह सच है कि हुए और लेभियों के लमाव में अहिंसा एवं सत्य प्रवृत्ति नित्य नीतिचमों को देना उचित नहीं है। गृह्य की किरणी से किसी पठार्य की परताह और मैरान पर सपाट और छेदेनीच स्थान पर छेदी नीची पठारी देख भैं वह अनुमान नहीं किया जा सकता कि वह परमात्मा भूमि में ही ऊँची नीची होगी उसी प्रकार जब कि बुद्ध के समाव में नीति भर्त का पराकाश का युद्ध स्वरूप नहीं पाया जाता तब वह नहीं कह सकते कि अपर्ज अवस्था के समाव में पावा जाने वाला नीतिचम का अपूर्ण स्वरूप ही मुख्य अपका भूमि का है। वह दोप समाव का है श्रीनि का नहीं। असी के बाहर पुरुष युद्ध और नित्य नीतिचमों में झगड़ न मचा कर ऐसे प्रयत्न किया करते हैं कि जिन समाव ऊँचा ऊँचा दूभा पुण भवत्ता में जा पहुँचे। शामी मनुर्यों के लमल में एवं प्रद्वार क्षत्र समप ही नित्य नीतिचमों के बुउ भावात् यदृपि अपरिहाय मान कर हमार शास्त्रों में कलाये गये हैं तथापि इसके लिये शास्त्रों में प्रायधिक बनाय गये हैं। परम्पुरा पक्षिमी आधिमौलिक नीति-शास्त्र इन्हीं भावाशा का मुख्य पर ताव इकरार करना प्रतिपादन करते हैं एवं इन प्रतिपादनों का निर्भय करते समय वे उपरामा में भावेवाल वाय पक्ष्ये के तात्पर्य के ताव को ही भूमि में नीति का मृक्षनभ मानत हैं। अब पाठ्य समाव जारी, कि पिउडे प्रसरणी में इसन एका में वर्णी द्वारा किया गया है:

यह कलाय दिया हि विष्णवग्र जनीं पुरुष की बुद्धि और उमसा ज्ञात ही नीतिग्राम्य का भावार है। एवं यह भी ज्ञाता दिया हि उसने विष्णवेवाल नीति के विषयों का — उद्देश नित्य हान पर भी — समाव की भूमि भवत्ता में भावाग्रहण द्वारा पक्ष्या है। तथा इस श्रीनि स वर्णने जन पर मीं नीतिनियमों की नित्यता में उन परिवर्तन से वाह वाय नहीं भावती। अब इन पहुँचे प्रभ का दियार करते हैं कि विष्णवग्र जनीं पुरुष प्रण भवत्ता के लमाव में जो ज्ञाप करता है उससा मूल भवत्ता दीप्तताव द्वारा है। लोके प्रकरण में वह भाव है कि वह दियार से प्रस्तर है

के लिये बराम्य से अपात निःसूखता के लैफ्सप्रैट के निमित्त व्याप या उथाग किये प्रकार किया करते हैं' आर आगे अद्वरह्य इश्वर ( शुभ १८ २ ) में कहा है, कि सभी का जानी पुरुष अपात बानकार के ये गुण - क्षमा वातचीन सुकृत व्यवहार प्रवाह, प्रयत्न तक चतुर्या राज्ञीति सहनशीलता, सीमता उद्गरता अप्यात्म अन भौक्ति अस्तिता ऐराम्य ऐप उत्त्वाह, निप्रह समना और विकेन आदि - चिरमन्ता चाहिये । परन्तु इस निःसूख सामु को सभी मनुष्यों में ही कहना है । उस कारण अन्त में ( शुभ २ .. ३ ) भीमपथ का यह उपरोक्त है कि ' एक का सामना हड़ ही से करा देना चाहिये । उद्गु के लिये उद्गु चाहिय व्यौर निर्गुर + समने नगरु भी ही आवश्यकता है । वात्य यह निर्विकार है कि पृष्णावस्था से व्यवहार में उत्तरने पर असुख भणी के घर्म अधम म पाणावक्तु अनुकर उत्तर देना पड़ता है ।

'उ पर आविभौतिकवार्तियों की शङ्खा है कि पृष्णावस्था के समावृत्त से नीति उत्तरने पर अनेक बातों के सार भवार का विचार करके परमात्मि के नीतिपथ म बढ़ि दोषावशत फ़क़ करना ही पड़ता है तो नीतिपथ की नित्यता कहों रह गए ? और मारत्याविजी म स्वासु ने ये यह भौमो नित्यः तत्त्व ज्ञात्याया ह उसकी क्षमा क्या रहा होगी ?' के कहते हैं कि अ यान्महाद्वि से चिद् हनेवस्म चम का नित्यत्व काफ़नामस्तु है । आर फ्रेन्ट लमाव की विधिके अनुकार उत्तर उत्तर व्यवहार म अविकल खंग के अभिक्ष मुन - बाले तत्त्व से ये नीतिपथ प्राप्त होग, वही ओपे नीतिनियम है । परन्तु यह उत्तीर्ण द्वीप नहीं है । अमिनिश्चाल के नियमानुसार बढ़ि कार दिना चालाह की तरफ रेण्या अथवा तवाण में निर्गेय गोलकार न ग्रीष्म सुने तो दिव्य प्रकार इठने ही से रेण्या की अथवा शुद्ध गोलकार की शास्त्रीय व्याप्त्या गत्तन या निरपक नहीं हो जाती उसी प्रकार उठन भीर शुद्ध नियमों की जात है । अब उक नीति बात के परमात्मि के शुद्ध व्यवहार का नित्य पहसुन पर दिया जाए तब तक व्यवहार म दीप वडनेवाली उस बात की अनेक शुग्ना में सुधार करना अपयो धार भवार का विचार करके अन्त में उसके तारतम्य का पहचान लेना भी लुम्बन नहीं है । और यही कारण है ये सुराफ पहले ही निषय करता है कि ' उच का भोजन कान सा है ' दिव्यापक्षक भ्रुवमन्त्य यन्त्र अथवा शूर नभन की भोर तत्त्व कर नपार महाविधि की उत्तरा और बासु क ही तारतम्य को इय कर ज्ञात्व के व्याप्ति बराबर भास्ते बहाव की फतवार शुमान स्वीं तो उनकी जा विधि होगी वही विधि नीतिनियमों के परमात्मि के तत्त्व पर व्यवहार न हो बर कबल देशवास के अनुकार करनेवाले मनुष्यों की हीनी चाहिये । भत्तप्त यहि निरी भाविर्मातिक द्यहि ते ही विचार बर तो ये यह पहसु भवाय नित्यिन बर मेना पड़ता है कि शुद्ध रूपा अख भीर नित्य नीतितप्त जीन-जा है ' भीर इन भावावक्तु वा पक्ष बार माल ऐमे भी ही समूचा राविर्मातिर पत म्यान हा ज्ञाना है । क्योंकि मुमुक्षुय

नीति की दृष्टि से किसी कर्म की गोप्यता अथवा अबोग्यता का विचार प्रसार से किया जाता है - ( १ ) उस कर्म का छेष बाय पूर्ण होने कर अपने यह हेतु करके कि उसका इस्त परिणाम बल्कि पर कर्म हुआ है या होगा ! ( २ ) यह हेतु कर, कि उस कर्म के करनेवाले की बुद्धि अर्थात् बातना किसी की पहचान के माध्यमीतिक मार्ग पर्हते हैं। दूसरे मैं किसी हो पर्हते हैं और । तोना के दृष्टि दृष्टि नाम है। ये सिद्धान्त पिछ्ले प्रकरणी में बताये थे कुछ कि गुरु एवं हाने के लिये बासनात्मक बुद्धि शुद्ध रामी पाइती है। और बासनात्मक बुद्धि शुद्ध रखने के लिये व्यवसायीत्मक अर्थात् काय अकार्य का निष्पत्ति करनेवाली बुद्धि मी रिष्ट, सम और दृष्टि रखनी पाहिये। इन सिद्धान्तों के अनुसार किसी नी कर्मों की शुद्धता चेतने के लिये देखना पड़ता है कि उसकी बासनात्मक बुद्धि है या नहीं। और बासनात्मक बुद्धि की गुरुत्वा चेतने एवं तो अन्त में हेतु ही पड़ता है कि व्यवसायी नहीं बुद्धि पाय है या अग्रदृश। बाराय कर्ता की गुरु अर्थात् बासना का शुद्धता का निर्णय अन्त में व्यवसायीत्मक बुद्धि की शुद्धता करना पड़ता है ( गी २, ४१ )। इसी व्यवसायीत्मक बुद्धि के स्वरूपित्वेतत्त्विक रूप में स्वतन्त्र बेता मान लेने से आत्मित्विक मार्ग हो जाता है। परन्तु यह शुद्ध स्वतन्त्र दैवत नहीं है किन्तु भास्त्वा भी अन्तरिमीय है। अतः बुद्धि का प्रभाव न हो कर भास्त्वा को प्रभाव मान करके बासना की शुद्धता का विचार करने से नीति के निर्णय का आत्मात्मिक मार्ग हो जाता है। इमारे शास्त्रार्थो का मत । कि "न सब मार्गो म भाष्यात्मिक मार्गं भेद है। और प्रथिद अर्थन तत्त्वों कान्त ने यथापि ब्रह्मात्मेत्व का सिद्धान्त स्पष्ट रूप से नहीं दिया है तथापि उन अपने नीतिशास्त्र के विशेषज्ञ का भारम्भ गुरुबुद्धि से अर्थात् एक प्रकार से भाष्यात्म दृष्टि से ही किया है। एवं उसने इसकी उपपत्ति भी ही है कि ऐसा क्यों करना चाहिये।" प्रीत का अभिप्याय भी ऐसा ही है। परन्तु "स विषय भी पूरी गुणात्मक तर छोड़े से ग्राव्य में नहीं की जा सकती। इस दौरे प्रकरण में तो विभागहरण के कर स्पष्ट उत्तर भुक्त है कि नीतिमत्ता का पूरा निर्णय करने के कि कर्म के बाहरी फल की अपेक्षा कर्ता की शुद्धबुद्धि पर विशेष रूप देखा पड़ता है और "स सम्बन्ध का अधिक विचार आये - पन्नहृष्टे प्रकरण में पाश्चात्य भी पीरन्त्य नीतिमार्गों की तुलना करते समय - किया जायेगा। अमीं इसना ही नह है कि कोई भी कर्म दमी होता है अब कि पहुँचे उस कर्म के करने की बुद्धि उत्प ही।" सधिये कर्म भी गोप्यता अपेक्षाकृता के विचार पर भी समी अद्यो मैं बुद्धि। शुद्धता भगुरुत्वा के विचार पर ही भवत्तमित रहता है। बुद्धि बुद्धी होगी; तो कमी बुद्धा होगा। परन्तु देवस बाय कर्म के बुर होने से ही यह अनुमान नहीं किया

कियो जा सकता है। एक तो कहा की कुड़ि का प्रबान मान कर और दूसरा उम्ह क्षयी कहा है। अनम से यहि ऐकल दूसरी ही दृष्टि से विचार कर, तो खित्तित होता है कि स्थितप्रभ जो भी अवधार करते हैं वे प्राय सब संगा के हित क ही होते हैं। गीता में श शर कहा गया है कि परम गणी सन्तुष्ट भवभूतहि रता — प्राणिमात्र के कम्प्याज म निमग्न रहत है (गी २, ४) भार महामरण म मी यही अप अन्य क्षयानो म भाया है। हम ऊर कह पुर है कि विष्णु-प्रभ उद्ध पुरुष अहिंसा भावि जिन नियमों का पालन करता है वही भग भपदा अशार का नमना है। न भहिंसा भावि नियमों का प्रयोग भपदा अप भग उभय फलात हुए महामारण म भग का बाहरी उपयोग दिक्षणेवाय ऐसु अनह वचन ह — अहिंसा सन्यवचन भवभूतहि रतम (कन ३, ३) — अहिंसा और अप्यमायन की नीति प्राणिमात्र के हित क रिय है। भारताद्भवित्वार (गी २, २) — इन् का चारण करने मे भग है। अमों हि भग अन्याह (भनु १, ६, १४) — कम्प्याज ही भग है। यमगाय भूताना भमप्रवचन रतम (गी २, २) — लंगो ह अस्मुद्य क सिद्धि ही भग उभयाय ज्ञा ह भपदा स्वाक्षयाकायमेवह भमस्य नियम है। उभयव भुव्याद्व (गी १, ४) — भग अप्यम क नियम अन्तिय रखे गये हैं कि स्मर्तवक्षार नव भार गाना स्वारा म कम्प्याज है अन्याहि। अमी प्रकार कहा है कि भग अप्यम-अप्यम भग्य जनी पुरुष का भी — साक्षात्रा व इट्टपा भवभूतहितादि च।

एक अवधार नीतिवस्तु भी भमान कम्प्याज — न जहरी जाना का तारमाय से विचार करें (भनु ३३, १६; कन ३, १) फिर तो कुउ बरना हा अन्या निष्पत्ति करना पाहिय और अनरव म राज दिनी न भग रथम क निययाय इमी शुक्ति का उपयोग निया है (इत्यो कन ३३, १ भार १)। इन वचना म प्रस्त होता है कि अपाव का उपय ही भित्तिग्रह क अवधार की जग्य नीत होती है। भीर यहि यह मीक है तो आग महाद ही प्रभ होता है कि अधिक्षित वानिंदा क एव भवित्वा स्वया क भवित्व स्वया (सुर दग्ध का ल्यापन करें) हित का कर्यालय का नीतिवस्तु का भवयान्वती भी क्या। नहीं भीकर कर देने ! वीप प्रकरण मे हमनि गिरा निया है कि इस भवित्वा स्वया क उप्रति का भीर पर उप्रविष्ट वस्याला का भवत्वन्वय नहीं होता — इसम पर बल जारी नाहि है। दिनु 'अन्य ग ३ का अग भी उप्रविष्ट वस्याल का यह शेष अनक भागी भवित्वा देना तो तरका भार नीतिवस्तु की भित्तिका के सम्बन्ध मे उत्तर भी इस भवयान्वती उपरति १ कुउ ज्ञा का नियम नह द भी न उत्तरी अन्तिय भवित्वान्वय के गाया मह भीर भवित्वान्वती जाग म है मह य का नः ६ मक्षा पहा भार देना दूल्हा निय वर देना राष्ट्रदर ४

उमस्तु बुद्धियोग की अपेक्षा (कारा) कम अवलोकन निहृष्ट है—“सुरा तात्पर्य यही है। और कब भक्तुन् ने यह प्रभु किया कि मीप्पम् द्राशुण का कैसे मारें ? तब उसका उत्तर मी यही किया गया।” उसका मात्राधर्थ यह है कि मरने या मारने की निरी किया की ही ओर व्यान न देकर देखना चाहिये कि मनुष्य किन बुद्धि से उस कम को करता है ? अतएव “सु करों क तीसरे वरण में अपश्य है कि तू बुद्धि भवात् समनुद्दिकी वरण न्य।” और आगे उपस्थितायात्मक भगवरहस्य अन्याय में मी भगवान् ने पिर कहा है कि बुद्धियोग का भास्त्रय करके तू अपन कम कर। गीता के बुद्धर भव्याय के एक और क्रोक से अपक्ष होता है कि गीता निर कम के विचार को कठिन समझ कर उस कम की फ्रेक बुद्धि के ही विचार को भेद भानती है। भट्टरहस्य अन्याय में कम के भेदे बुद्धर धर्मात् सामिक्ष राजन और लाम्भु मेड अलाय गये हैं। यहि निरे कमफल की आर ही गीता का लक्ष्य होता तो भगवान् ने यह कहा हाया तो भगवान् ने यह कहा हाया कि ये कम बुद्धेयों की सुप्रशंसक हो यही सामिक्ष है। परन्तु पेशा न अवश्य कर भट्टरहस्य अन्याय में कहा है कि फ्रव्याय छोड़ कर निष्पत्तिद्विक से किया हुआ कर्म सामिक्ष अध्याय उच्चम है (गी १८ ३)। अर्थात् “सुसे प्रश्न होता है कि कम के व्याप्ति पक्ष की अपेक्षा कहा की निष्पत्ति सम और निष्पत्तिद्विक का ही कर्मभर्म का विवेचन करने में गीता अधिक महस्त रही है कि स्थितप्रश्न किंतु साम्यबुद्धि से भपनी कर्मरीकार्य स्त्रेय और सक्षसाचारण के साथ अवतार है वही साम्यबुद्धि उसके आचरण का मुख्य उल्ल है। और “सु आचरण से ये प्राणिमान का महाप होता है वह “सु साम्यबुद्धि का निय उपरी और भागुपहिक परिणाम है। ऐसे ही किसी बुद्धि पूज भवस्था में पर्वत गढ़ हो वह लंगा की लेजस आधिमीतिक सुप्र मास करा इने के लिये ही भपने यम अपवहार न करेगा। यह व्येक है कि वह वृक्षरो का नुक्खान न करेगा। पर यह उत्तरा मुख्य व्येक नहीं है। रिष्टप्रश्न देसे प्रय न किया करता है किंतु समाद के शोण की बुद्धि अधिक अधिक धुद्ध होती जावे और के लोग अपने समान ही अनु में भाव्यान्वित पूज अवस्था में जा पर्वत। मनुष्य के कर्तव्य में यही भेद और लातिन्द करत्व है। केवल आधिमीतिक सुप्रबुद्धि के प्रयत्नों को हम गौण अवस्था राखन गमनते हैं।

गीता का लिङ्गात्म है कि कम अनुम के निष्पत्ति कम के व्याप्ति पक्ष पर यान न है कर कहा की बुद्धबुद्धि को ही भगवान्ता ठनी चाहिये। “सु पर कुछ भाग्य का यह लक्ष्य मिष्या भासेप है कि यहि कमफल को न देय कर कर्म बुद्धबुद्धि तो ही “त प्रकार विचार कर, तो मानना होया कि शाम्यबुद्धिलाल्म भनुय का” मी बुरा कर कर लड़ा है। और तब तो वह तमी बुर कम करने के लिय लक्ष्य हो जायगा। “सु भासेप को इमने भपनी ही कल्पना के लक्ष से नहीं चर चर्चीग है। किन्तु गीताभर्म पर कुछ पाठी कल्पना के लिय हुए “सु हैंग के भासेप हमारे हैंगे

वा सकता कि बुद्धि मी दुरी होनी ही चाहिये । क्योंकि नूस से दुष्ट का दुष्ट उमल स्मै से अपवा अज्ञान से मी ऐचा कम हा सकता है और जिर उसे नीतिशास्त्र की दृष्टि से दुरा नहीं कह सकते । अविकाश लोगों के अभिक्ष मुन् - वाला नीतिवल्ल केवल बाहरी परिणामों का निभित रीति से मापने का बाहरी साफन अब तक नहीं मिला है तब नीतिमत्ता की एस क्षेत्रीये से सैव यथार्थ निर्जव होने का मरोधा मी नहीं किया ग्या सकता । एसी प्रकार मनुष्य नितना ही सदाना क्षो न हो जाय जिति उसकी बुद्धि गद्द न हो गा हा यह नहीं कह सकते कि वह प्रत्येक अवसर पर खर्म से ही छलेगा । विजेषत अर्हा उसका स्वाय आ उग घर्हो तो जिर कहना ही क्या है । ज्ञाये सबै विशुद्धनित येष्पि घमविने ज्ञाः (म या वि ७२ ४) । सारांश, मनुष्य कितना ही बड़ा ज्ञानी घमवेचा और सदाना क्षो न हो किन्तु जिति उसकी बुद्धि प्राणिमात्र में सम न हो तो यह नहीं कह सकते कि उसका कर्म सैव शुद्ध अवका नीति की दृष्टि से निर्मोप ही रहेगा । अतएव हमारे शास्त्रज्ञाना ने निभित कर डिया है कि नीति का विचार करने में कर्म के बाइ फूल की अपेक्षा कर्ता की बुद्धि का ही प्रबन्ध से विचार करना चाहिये । साम्यबुद्धि ही अप्ये ब्रह्माव ग्य चोग्या चीव है । यही मायार्थ भगवद्गीता के एस उपेश्य में मी है -

द्वैत इवरै कर्म बुद्धियोगाद्वन्नप्रय ।

हृदौ शरणमन्विष्ठु कृपणाः फलोद्देवः ॥ ४ ॥

दुष्ट अग एम (गी ८ ४९) भोक्ता म गङ्कि का अय ज्ञान समल कर कहते हैं कि कम सौर ज्ञान देना मै से यर्हो ज्ञान को ही भड़ता गी है । पर हमारे मत म यह अय नूँ से ग्रासी नहीं ह । एस स्वल पर शास्त्रज्ञान्य म बुद्धियोग का अर्थ समल बुद्धियोग दिया दुमा है । और यह भोक्ता कमयोग के प्रकरण म भाषा है । अतएव वास्तव म एसका अर्थ कमयोग ही करना चाहिये और वही सरल रीति से समाजा मी है । कर्म करनेवाले स्थग दो प्रकार के होते ह । एक फूल पर - उदाहरणार्थ उससे किन्तु देखों को कितना सुन होगा एस पर - दृष्टि ज्ञान कर क्षम करते हैं भार दूसरे बुद्धि को सम और निष्काम राप कर क्षम करते ह । जिर कमयमयोग से उत्तम ज्ञानेशाम होना हो तो दुष्टा करे । एनमै से 'फलोद्देव' अवात् फूल पर दृष्टि राप कर क्षम करनेवाले लोगों का नेतिन दृष्टि से कृपण अधार् कनिष्ठ भर्णी के अत्यन्त कर समनुदि से कर्म करनेवाला को एस भोक्ता में भड़ता गी है । एस भोक्ता के पहले गे परणा म या पह कहा है कि द्वैत इवरै कर्म बुद्धियोगाद्वन्नप्रय - हे भन्नज्ञव !

इन भाष का नाम अर्थ यह है - हे ज्ञानज्ञ (नम - ) बुद्धि के ज्ञान की अपवा (ज्ञान ) कम विन्दुम गी लिहा है । ज्ञानज्ञ (नम ) बुद्धि का ही ज्ञानज्ञ कर कर तर तर है । एस कर करनेवाल (दुरा ) दृष्टि अर्थात् जात रहत है ।

करा की उद्दि पर वह सर्वदा भविष्यत रहती है। आगे गीता (१८ २५) में ही कहा है कि “स भा यामिन तत्त्व के ठीक सिद्धान्त को न समझ कर यति को मनमानी करने थे। तो उस पुरुष को राहस्य या तामसी बुद्धिकाश कहना चाहिये। यह और समझदार हो जाने से फिर उस पुरुष को कठन्य असंभव और भविष्य उपशेष नहीं करना पर्याप्त।” इसी तत्त्व पर ध्यान देकर सातु तुकाराम ने चिन्हाची महाराज का जा यह उपशेष किया कि “ज्ञा एह ही कस्याज्ञारक अर्थ वह है कि प्राणिमात्र म पक आ मा को होगो।” इसमें मासकद्वीपा के अमुचार कर्मयोग का पक ही तत्त्व ज्ञानात्मा गया है। वहाँ फिर भी कह देना अवित है कि चिन्हि सामनुद्दिखी ही सामार का बीज हो तथापि “ससे यह भी अनुमान न करना चाहिये कि जब तक इस प्रकार की पृण धुमदुद्दिख न हो याके तब तक कर्म भरनेवाल तुप चाप हाथ पर हाथ बर बैठा रहे। तिळप्रज्ञ के समान बुद्धि कर देना तो परम व्येष है। परन्तु गीता के आरम्भ ( ४ ) में ही यह उपशेष किया गया है कि “य परम व्येष के पृणतया चिद्ध होने तक प्रतीक्षा न करके— जितना हो सके उठना ही— निष्कामनुद्दिख से प्रत्यक्ष मनुष्य भावना कर्म करता रहे।” इती से बुद्धि अकिञ्च शुद्ध होती चायगी और अन्त म पृण चिद्धि हो चायगी। ऐसा आश्रह करके समय को मुक्त न रोका ते कि जब तक पूर्ण चिद्धि पा न चाहेंगा तब तक कर्म करेंगा ही नहीं।

‘तत्त्वमुत्तरित अवका अविकाश लोगों के अधिक कस्यात्— बाल नीतिवर्तम के बड़क जाग्रनम को उपसुक्ष होने के कारण जाग्रामाही ओर बृप्त है। परन्तु यह प्राणिमात्र म पक गाया—जात्यी रित्युप्रज्ञ की ‘साम्यबुद्धि मूल्यमाही है। भार इसी का नीतिनिर्णय के काम में भह मानना चाहिये। चिन्हि “स प्रवार यह बात दिद हो पुकी लभारि “स पर कहे एकी के आवेष है कि “स चिद्धान्त से व्याकहारिक क्षाय की उपयोगि दीक तीक नहीं चाहती। ये आवेष प्राया व्याकहारिक मार्गी चित्तप्रज्ञ के भसारी व्यवहार को देख कर ही “न लोगों को सके हैं। जिन्ह वाचमा दिचार करने से किसी को भी सहज ही दीय पेंगा कि ये आवेष चित्तप्रज्ञ क्षमयागी के यनाक को डपयुक्त नहीं होत। और तो क्या! यह भी कह तरने हैं कि प्राणिमात्र म पक गाया भवका भावीपम्यनुद्दिख के तत्त्व से व्याकहारिक नीतिवर्तम की किसी लक्ष्यी उपयोगि चाहती है कैनी नीर किसी भी तत्त्व से नहीं लगती। उग्रहरण के लिय उस परोपकारकम को ही लीदिये कि ये तब देखी में भाव भज नीतिशास्का म प्रयान माना गया है। दूसरे का आरम्भ ही मेरा आमा है “स व यामकात्य मे परोपकारकम की किसी चयपति लगती है कैही किसी भी गमनिक यात्र म नहीं लगती। बाल “आ तो भाद्रिमीठिस्तानम रहना ही कर सकत है।” परामर्शदाता एक जैसगिरु गुण है भार वह उत्तरानिर्गत के भवत्याक यह यात्र है जिस तरह से की लालसाकी विजय किए जाएँ।

में भी आये हैं। ४ किन्तु हमें यह कहने में काम मी चिह्न नहीं आन पड़ती कि ये आरोप या आरोप विकल्प मुख्य के अथवा तुरामह के हैं। आर यह कहने में भी बोर्ड हानि नहीं है कि आक्रीका अ जो काल्य-कला बहुधी मनुष्य मुझे हुये राष्ट्र के नीतितत्त्वों का आनन्द करने में विश्व प्रकार अपार्ण और असमर्थ होता है। उसी प्रकार इन पार्श्वी मध्ये मानसी की बुद्धि वैशिष्ठ घम के स्थितिगम की आप्यामिक पृष्ठ वस्था का निरा आनन्द करने में भी स्वभम के अर्थ तुरामह नियमा आर तुछ आरोप एवं तुछ मनोविकारों से असमर्थ हो गा है। उसीसी सरी के प्रसिद्ध उमन उत्तरानी कान्त ने अपने नीतिशास्त्रविषयक मन्त्र में अनेक रथणा पर स्थिता है कि अम के बाहरी फल को न देख कर नीति के निष्याभ करा की बुद्धि का ही विचार करना उचित है। ५ किन्तु हमने नहीं ऐसा कि कान्त पर निरी ने ऐसा आरोप किया हा। किंतु वह गीतामाले नीतितत्त्व को ही उपयुक्त देखे होगा? प्राणिमात्र म समवृद्धि होते ही परेपकार करना तो ऐसा का व्यमाद ही कन जाता है। और ऐसा हो जाने पर परममनी एवं परम तुरामुद्दिष्टे मनुष्य के हाथ से तुक्षम होना उतना ही सम्भव है कि विना कि भग्नत से मृत्यु हो जाना। कम के बाय फल का विचार न करने के लिये वह गीता कहती है, तब उसका यह अथ नहीं है कि जो विश्व में आ जाय सो किया करो। ग्रन्तु गीता कहती है कि बाहरी परेपकार करने का शब्द पान्त से या ओम से कोइ भी कर सकता है— किन्तु प्राणिमात्र में एह आज्ञा तो पहचानने से बुद्धि में ये स्थिरता और समवा आ जाती है। उसका सर्वों कोइ नहीं का सक्षमा— तब किसी भी व्याम की योग्यता— अयोग्यता का विचार करने में कम के बाय परिषम की अपेक्षा करा की बुद्धि पर ही योग्य हाथि रणनी आहिये। गीता का संक्ष म यह विश्वान्त कहा ज्य रहता है कि कोरे वह कम में ही नीतिमम्य नहीं किन्तु

\* कहकर के एक शब्दी की रूपी करातु का उन मिट्टा त्रुप्ति ने किया है कि इनके Karmakshetra (क्रामस्थ) नामक तथा हूर लिंग के नाम म है उत्तर शिक्ष (Karmakshetra, Vyavasayama, Adyar Madras, pp. 48-52.)

§ "The second proposition is : That an action done from duty derives its moral worth not from the purpose which is to be attained by it but from the maxim by which it is determined." .... The moral worth of an action "cannot be anywhere but in the principle of the ill without regard to the ends which can be attained by action" Kant's Metaphysics of Morals (trans. by Abbott in Kant's Theory of Ethics p. 16. The italics are author's and not our own) And again When the question is of moral worth it is not with the action which we see that we are concerned but with those inward principles of them which we do not see" p. 24 Ibid.

भाषिक्षीतिक तत्त्व में दरना ही भेद है, जो प्याज देने याग्य है। शाशुपुरुष मन में अक्षकस्याग करने का देश रग्म कर अक्षकस्याग नहीं किया करते। किंतु प्रकार प्रकारण फैलना सूक्ष्म का स्वमात्र है। उसी प्रकार ब्रह्मशान में मन म सबभूताभ्यस्त्र का पूर्ण परिक्षय हो जाने पर अक्षकस्याग करना तो इन शाशुपुरुषों का गहराक्षयमात्र हो जाता है। और ऐसा स्वामात्र कर जाने पर— सूक्ष्म ऐसे दृश्यों का प्रकाश तैरा हुआ अपने आप को भी प्रकाशित कर देता है— ऐसे ही शाशुपुरुष के पराय उत्तोग से ही उठका खोयज्ञेम भी आप ही आप चिन्ह हाता छाता है। परोपकार करने के इत रेहस्यमात्र और अनादृक्षुद्धि के पक्ष्म हो जाने पर ब्रह्मशानस्युद्धिक्षाल्प शाशुपुरुष अपना कार्य सत्ता छारी रखते हैं। जिनमें ही सहृदय क्यों न पड़ आये के उनकी चिन्हाद्धि परकार नहीं करते। और न यही साचत है कि सहृदय का सहना मन्त्र है या किंतु अक्षकस्याग की कौशल में सहृदय आते हैं उसको छोड़ देना मन्त्र है। दशा यति प्रसङ्ग भा जाय तो भासक्षिते भेदे के स्थिति भी तैवार रहते हैं। उन्हें उनकी कुछ मी चिन्ता नहीं होती। किन्तु जो खोग स्वार्थ और परार्थ को ही किंतु बस्तुएँ समझ (उह ठराकूके दी पलड़ी में झाड़) खेति का छुकाव अप्य कर अप्य-अप्यर्थ का निर्जय करना सीधे हुए है उनकी अक्षकस्याग करने की इच्छा का उत्तरा दीन हा ज्ञाना क्यापि सम्भव नहीं है। अतएव प्राणिमात्र के हित का तत्त्व बद्धिमत्ता अवधीना को सम्भव है दशापि उसकी उपराति अभिज्ञान खेता के अभिज्ञ शाहरी सुनो के तारतम्य से नहीं स्पाई है। किन्तु खेता की सद्या अपना उनके सुनों की नूना चिन्ता के किनारों को आवश्युक मताश छृण नहा है तथा द्विद्वयद्वारा की मृद्गम्भ शाशुपुरुष की उपपत्ति अन्यात्मग्राहक के नित्य ब्रह्मशान के आचार पर बहुतर्मार्ग है।

इससे गीत पढ़ेगा कि प्राणिमात्र के हितार्थ उत्तोग करने या अक्षकस्याग अपना परोपकार करने की सुधिरहनी उपपत्ति अप्यात्मद्वारा से क्षोभकर स्पष्टी है। अब समाज में एक दूसरे के साथ करने के सम्बन्ध में सामृद्धि की दृष्टि से हमारे द्वास्त्रा में जो मूँह नियम बताये गये हैं उनका विचार करते हैं। ‘बत या अस्य सर्वमातृकामा’ (२५ २ ४ १४) — किसे सर्वं आत्ममम्य हो गया वह साम्य द्वारा से ही तब के साथ कर्तुता है— यह तत्त्व बृहदारण्यक के सिद्धा ईश्वराम्य (१) और भैस्म (१ १) उपनिषदों में तथा मनुस्मृति (१२ ११ और १२६) में भी है। एवं इसी दृष्टि का गीता के छठे अप्यात्म (६ २) में सर्वं महस्य-मात्मान सर्वभूतानि ज्ञात्मग्नि के रूप में अकारणा उक्तेगम है। सर्वमूल्याभ्यस्त्र अपना शाशुपुरुष के इसी तत्त्व का उपान्दर आत्मौपम्यद्वारा है। क्षोभि इससे उद्यम ही यह अन्तर्मान निष्ठता है कि अब मैं प्राणिमात्र में हूँ और मुझमें सभी प्राणी हैं। तब मैं अपने साथ भैसा चौंड़ा हूँ भैसा ही अन्य प्राणियों के साथ मी मुझे कर्त्तव्य करना प्याहिये। अतएव मात्मान ने कहा है कि इस आमोपम्यद्वारा अपौत् समर्पण से जो सब के साथ कर्तुता है वही उच्चम कर्मवोगी भित्तिमय है;

हो जाती। वही नहीं चलि स्वार्थ और परापृ के झगड़ में इन आना खोद्दो पर उकार होने के समझनी चतुर स्वार्थियों का भी अपना मतस्वर गॉट्टन में उसके कारण अमर मिल जाता है। वह चात हम चौथे प्रकरण में बताया चुके हैं। उच्च पर भी इच्छा सेवा करते हैं जिसे परोपकारादुष्टि भी निन्मता लिठ करने में आम ही क्या है? प्राणिमात्र में एक ही भास्मा मान कर यहि प्रथक् पुरुष संशब्दवाद प्राणिमात्र का ही हित करने का जाय तो उम्मी गुप्तर कर हानी? तार चढ़ वह उस प्रकार भास्मा ही यागभेद नहीं बख सकता, तब वह और व्यगा का कस्याण कर ही किसे सकता? उकिल ये शाहार्थ न तो नहीं ही है; और न ऐसी है कि यह गर्वी न आ सके। मस्तकान ने गीता में ही इच्छा प्रभ का दो उत्तर दिया है— लेप नित्याभिमुक्ताना यागेम वहाम्यहम् (गीता २, २) और अप्यात्मग्राम्य की युक्तियों से भी यही अप्य निष्पद्ध हाना है। जिस व्याकरण्याण करने की दुष्टि हो गा उसे इच्छा आना दीना नहीं आद्या पड़ता। परम् उठकी दुष्टि पही हानी चाहिये कि मैं लंकावकार के लिये ही वह घरण में बरसा है। उसके ने बहा ह (मा अध. ३) जि जप पर्मी दुष्टि रहेगी तभी उन्नियों काष्ठ म रहेगी; भार स्वक वस्त्राण हाना। और मीमांसी के उस विद्यान्त का तत्त्व भी यही है कि यह करने से शय क्वा उभा अप्य प्रहृण करनेवाले का अमृताशी कहना चाहिये (गीत ४, ३)। क्यानि उन्हीं दृष्टि से व्यग का घारण यापण करनेवाल्य कम ही यह है। उत्तर लाकरम्यालाकर इस करने तदय ज्ञी में अपना निष्पाह हाना है; भार करना भी चाहिये। उनका निष्पद्ध ह जि उसन स्वाप व लिप्य यज्ञक्र व दुर्ग आ भूजा नहीं है। शास्त्रज्ञ (१, ४) म र्भाग्यमय न भी बगन दिया ह जि वह परापरार ही करता रहता है उसी सब का उस्तर ज्ञी रहती है ज्ञी आ न उस भूमग्नम म लिप्य जान की कम रह सकती है? अप्यहार व इस उप तो नी बाम करनेपाल का जन य गा ते यह उत्तर विष्वुम यष्टय ह ताराय वर्ण म देता जाता है जि लाकरम्याण म युर रहनसामें पुरुष के यात्राम व भूम्यान ही। ह वर्त परापरा रान व लिप्य उस विष्वाम दुष्टि व तयार रहता चाहिये एव एव इस बाधना व हर हा जाने पर— जि ग। ताग नृप म ह भर मै नर सर्वो म है— जिर यह प्रभ ही नहीं हान ह जि दाप म स्वाप चित्र व भै तुपर नैर भैर तुपर इस भाषि वीर्य लातुर म भविमाण लगा व चित्र लगा करने व रित य व प्रहृण हर्ता व तज म उत्तर चित्र व भूम्यान गहा रान्न व ग बर्ती है। ए व तज उत्तर वह उत्तर व तुष्टि से परोपकार वर्ष म वहृण हर्ता व तज व विद यह गहा ही नहीं इन्हीं गवन्मामक्षुद म निष्पाह रन व वर्त व रान व इस वापर्यविह व रुम वर्त व व्यत्व परापर्य व विष्वाम व भूम्यान व सर्व व गहा व निष्प्रद लाकरम्यान व

निष्ठा है कि दुर्घट से मुक्तयक ऐसे वही भौति भी मी कुरुतयक है। और इयमिय ऐसे दृग का कर्तव्य करो जो लोरों को मी कुलशयक हो। इस शङ्का के निरसनार्थ भीष्म ने युधिष्ठिर का दर्शन करता रहता तथा समय उसे मी अदिन कुलाचा करके “म नियम के दीनों मार्गो का स्पष्ट उल्लेख कर दिया है—

यदन्यैविहितं नेत्येवामना कर्म पूर्णः ।

त तत्परेत् इवीत जामाप्यियमामनम् प्र

जीवितं यः स्वप्न बेत्तुरुक्तये सोऽन्ये प्रचातयेत् ।

यथामनि बेत्तुरुत तत्परस्यापि चिन्तयेत् ॥

अर्थात् इम दूसरों से अपने साथ ऐसे कर्तव्य का लिया जाना पस्त नहीं करते— पानी अपनी पसन्नी को उमाकर— ऐसा कर्तव्य हमें भी दूसरों के साथ न करना चाहिये। जो सब जीवित रहने की अच्छ करता है वह दूसरों का क्षेत्र मारण! ऐसी अच्छ रोटे कि जो इम आहते हैं वही और जोग भी चाहते हैं। (शा २५८ १९ २१)। और दूसरे स्थान पर इसी नियम की अवधान में इन ‘अमुकुल’ अपारा ‘प्रतिकृति विशेषणों का प्रयोग न करके किंची प्रकार के अचरण के दिवान में सामान्यता बिनुर ने कहा है—

तस्माद्भर्मप्रधानेन मवितर्थं यतामना ।

तथा च सर्वमूलेत् वर्तितर्थं यथामनि ॥

इन्द्रियनिष्ठ वरके भम से नर्तना चाहिये और अपने समान ही सब ग्रामियों के कर्तव्य करे (शा २६७ ९)। क्यानि शुक्रानुप्रभ में म्यात बहत है—

यावानाम्मनि देवात्मा तावानाम्मा परामनि ।

य एव सतत वेद सोऽमृतस्वाप्य कर्मपते त्वं

ये सदैव पहुँ चनता है, कि हमारे शरीर मे किनारा आत्मा है उसना ही दूसरे के शरीर मे भी है। यही अमृतत्व अर्जीत् मोक्ष प्राप्त कर लेने में समर्थ होता है (मा शा २३८ २२)। कुछ ऐसे अनन्मा का अस्तित्व मान्य न था। कम से कम उसने यह तो स्पष्ट ही कह दिया है कि भास्मकिंवार की व्यर्थ उच्चल में पड़ा चाहिये। यथापि उसने— वह उच्चलमें मै कि बीड़ मिलु लोग भौंटे ए साथ देशा कर्तव्य करे!— ज्ञानमोपप्रदादि का यह उपत्रेष्ट दिया है:-

पथा अह तथा पते यथा पते तथा महय!

अत्तात् (मार्मात्) उपम कर्त्ता (कृत्या) म इतेरव न पातये ॥

ऐसा म ऐसे व; ऐसे ये ऐसा म (“स प्रकार”) अपनी उपमा समझ कर न लो (किंचि को भी) मारे और न मरावे (ऐसो मुक्तनिपात नाम्मुख ०)। अम्मपद नाम के दूसरे पासी बाऊपाध (पम्मपद १२९ और १३) मे भी इसी

और फिर अहुन का इसी प्रकार का बदाँब करने का उपरोक्त दिया है (गीता ६ ३ - १२)। अहुन अधिकारी था। उस कारण इस तत्त्व को सोल्लहर समझने की गीता में फाड़ बन्नत न थी। जिन्हुंना उचावरण अन की नीति का भौत भर्त करने के लिये रघु हुए महाभारत में अनेक स्थानों पर यह तत्त्व बन्न कर (मा भा २४८ २१ २४१ ३३) व्यासेव ने "सका गम्भीर और व्याकु अय स्वप्न कर दियाया है। उचावरण सीढ़िये गीता और उपनिषदों में सर्वेष से अत्याचार हुए भास्मौपम्य के इसी तत्त्व को पहुँचे "स प्रशार समझाया है—

आरम्भमस्तु श्लेष्टु यो वै भवति पृष्ठा ।  
न्यस्तादृष्टो जितक्रोप संग्रह सुप्रमेषते ॥

ये पुरुष अपने ही समान दूसरों को मानवा है और किसने कोई को जीत दिया ह वह परम्परा में मुख्य पाता है (मा भा अनु ११३ ६)। परस्पर एक दूधरे के साथ क्षाव करने के बर्णन का यही समान न दरके जाने कहा है—

न तत्परस्य भास्मभ्यात् प्रतिकूर्व यदामनः ।  
पव भैशेषतो भर्त्यः कामादम्य प्रवर्तते ॥

इसी क्षाव औरा के साथ न कर कि ये स्वयं अपने का प्रतिकूल अर्थात् दूषकारक रूप हैं। यही सब अम और नीतियों का चार है और जाकी सभी व्यवहार अकृत्य है (मा भा अनु ११३ ६) और अन्त में रहस्यति ने युक्तिशिर से कहा है—

प्रथाद्याने च इने च सुराहुणे प्रिपापिये ।  
आरम्भमन्येन शुहृः प्रमाणमधियच्छुति ॥  
यथापरा प्रकृत्ये परंहु तथा परे प्रकृत्येऽपरस्तिम् ॥  
तप्त तेहृप्रभा जीवज्ञोक्ते यथा चर्मा गियुलेनीपदिता ॥

मुख या दूष प्रिय या अग्रिय इन अथवा निषेद्य— इन सब चारों का अनुमान दूरता के विषय में ज्ञान ही कर देता है अपने विषय में ज्ञान पैदे। दूसरे ऐसे ताय मनुष्य ज्ञान क्षाव करता है दूसरों में उनके साथ के किंतु ही व्यवहार करते हैं। अतापि यही उपर्या से कर इस आन् में भास्मौपम्य भी हृषि से क्षाव करने को समान जागी ने अम कहा है (अनु ११३ १०)। यह न तत्परस्य सुन्दर्यात् प्रतिकूल पदार्थन भीन गियुरनीति (उग्गो ३/ ७२) में भी है; और भाग गानिकार्य (६३) में विदुर ने फिर यही ताव युक्तिशिर का अन्यथा है। परस्पर भारमीरप्यनिषद का यह एक भाग इसा दि दूरतो का दूष न ही। क्वोकि यह दूष दूषनायी ह वही भौत जीवों का भी दूषणायी होता है। भव इति पर क्षावित गिर्वी का यह दीवरणा हा कि इतन यह निषेद्यमनुक अनुमान कहीं

पर अपने ही समान प्रीति कर (लेखि १९ १६, मध्य २२ ११) वह इसी नियम का न्यान्तर है। "ठार लंग उस सौन का अवात् लोदेसरीरा मूलवान् नियम कहत है। परन्तु आत्मैक्य की उपपत्ति उनके घम में नहीं है। जो का वह उपर्युक्त भी आमौपम्यमन का एक मार्ग है, कि ज्ञेय से दुम अपने साथ ऐसा बहाव करना पसन्त करत हा उनके साथ दुम् लव्य भी कैसा ही बहाव करना चाहिये' (मा ७ १२ स्य ६ ११)। और यूनानी तत्त्वज्ञान अरिस्टोटल के प्रन्य में मनुष्यों के परस्पर बहाव करने का यही सत्य असरणः बहावया गया है। अरिस्टोटल इसा से काँ छातीन से॒ वय पहसु ही गया। परन्तु "से॒ भी त्रासा शे॒ थे॒ वय पहसु कीनी तत्त्वज्ञान ए॒ पु ल्ले॒ (अन्येत्री अपर्द्वग कान्त्यमूर्धिवत्) उत्पन्न हुआ था। उसने आमौपम्य का उत्तिरित नियम जीनी माया की प्रणाली के अनुसार एक ही शब्द म नत्त्वा दिया है। परन्तु यह तत्त्व इमार पहों कान्त्यमूर्धिवत् से भी बहुत पहले से उपनिषद् (श्श ६ फेन ११) मैं और फिर महामारत मैं गीता म पूर्व पराय को मी आभवान् मानना चाहिये (वास १२ १ २२) एस रीति से सामुच्चिक क भावों म विष्मान है एस छातोंति क्ष भी प्रचार है कि आप जीती थी बग बीती। यही नहीं बल्कि इसकी आध्यात्मिक उपपत्ति भी हमारे प्राचीन शास्त्रारों ने नहीं है। बर हम उत्तर बात पर न्यान भेते हैं कि ब्रह्मपि नीतिधर्म एवं यह सबमान्य दूर वैदिक घम से मिल उत्तर घमों मैं दिया गया हो तो भी "मुक्त्वा उपपत्ति नहीं बहुत्वा" गई है। और बर हम इस बात पर न्यान भेते हैं कि एस दूर की उपपत्ति ब्रह्मालैक्षण्य अभ्यासमान को छोड़ और दूसरे फिरी से मी ठीक ठीक नहीं रुग्णी तर गीता के आन्यात्मिक नीतिशास्त्र का अध्यात्म कर्मयोग का महत्व पूरा पूरा इष्टक हो चका है।

समाज में मनुष्यों के पारस्परिक व्यवहार के विषय मैं 'आ मीपम्य तुदि का नियम नहीं सुछम्, व्यापद सुदोष और विद्वामुग्न है, कि जब एक नार यह बहाव दिया कि मायिमान मैं रहनेवाले व्यात्मा को एकता की पहचान कर आलमदृष्टि समझुद्धि हो दूसरी का साथ करते चालो तब फिर ऐसे पृष्ठ, पृष्ठ, उपर्युक्त करने की बहरत ही नहीं रह जाती कि शोणा पर ज्वा करो उनकी प्रथाशुद्धि मश्वत भी; उनके करयान करो उन्हें न्यमुन्य के मार्ग मैं आओ उन पर प्रीति रखा उनसे ममता न छोड़ो उनके साथ न्याव और समता का कर्त्ताव करो जिसी से खोरा मत शो किसी का द्रव्यहरण अध्यात्म हिता न करो किसी से क्षर न छोड़ो अधिक्षम्य समाज के अधिक कर्माण करने की तुदि मन मैं रखो अध्यात्म वह समझ कर मारै जारे से बर्ताव करो कि हम सब एक ही पिता की सन्तान हैं। ग्रन्थेक मनुष्य को स्वमाव से यह सहज ही मात्रम् रहता है कि मेरा मुख्यकुण्ड और कर्माण विष मैं है। और यात्यारिक व्यवहार करने मैं यहस्ती की व्यवस्था से एस बात का अनुसन्धान भी उसको होता रहता है कि नारमा है पुरुषामाति। अध्यात्म अर्थे व्यर्द्धा

स्पोक का दूसरा चरण दो बार ज्यो-ज्ञान्यो भाया है और तुरन्त ही मनुस्मृति (५.४५) एवं महामारत (अनु ११३ ८) ने शेषी ग्रन्थों में पाये गये अनेकाले स्पोक का पासी माया में इस प्रकार अनुचार किया गया है -

सुप्रकामामि शूतानि यो इष्टेन विहितसति ।

अत्तमो सुग्रेमेसामो (इष्टुशु) पेत्य सो न लमते दुर्गमः ॥

(अपने समान) सुप्र की इष्टा फरनेकाले फूसेरे प्राणिया की ओर अपने (भक्तों) सुप्र के लिये इष्ट से हिंसा करता है उसे मरने पर (पेत्य = प्रत्य) सुप्र नहीं मिळता (प्रमपत्र १३)। आम्या के अस्तित्व को न मानने पर मी आमीपम्य की यह माया यम कि बौद्ध ग्रन्थों में पाया जाती है तब यह प्रभट ही है कि बाद प्रथकारा ने ये विचार वैदिक ग्रन्थों से किया है। अनु इसका अधिक विचार भागे चल कर करो। ऊपर के विवेचन में शीघ्र पतेगा कि इसकी उर्बूरुस्यमात्मान उर्बूरुठानि आमनि ऐसी रिपति हो गा यह औरा से कुने में आमीपम्यतुदि से ही सौबै काम किया करता है। और हम प्राचीन काल से समझते चले अ रहे हैं कि पेते क्लाव का यही एक दुर्गम नीनितत्त्व है। अब कोन की स्वीकार कर लेया कि समाज में मनुष्यों के पारस्परिक व्यवहार का निषय करने के लिये आमीपम्यतुदि का यह यन अधिकाय खागा के अविक्ष हित वाले आधिकारिक तत्त्व की अपेक्षा अधिक निर्णय निस्तुलिष्य व्यापक सदस्य और नियुक्त अपना की मी समझ में रखी जा जाने चाहय है। ० अम-आमीपम्य के एस रहम्य (एप सेतेम्नो घम) अपना मृष्टतत्त्व की अप्यात्म इष्ट्या वैसी उपपत्ति स्मारी है जैसी घम के व्याही परिणाम पर नजर देनेवाले आधिकारिककार से नहीं लगती। भीर जी के घम अमीमात्म के एस ग्रन्थन नियम को उन परिमी परिणीतों के ग्रन्थों में प्राप्त ग्रन्थान्य स्थान नहीं दिया जाता कि वे आधिकारिक ही हैं के क्षमयोग का विचार करते हैं। और वा क्षमा आमीपम्यतुदि के यन का लाल में रख कर वे समाजक्लन की उपपत्ति अधिकाय सम्गो के अधिक सुप्र प्रभति व्यवहार इष्टप्रत्यक्ष से ही स्याम का प्रयत्न किया करते हैं। परन्तु उपनिषद में मनुस्मृति में गीता में महामारत के मन्यान्य ग्रन्थरूपों में भीर एवं बौद्ध घम में ही नहीं ग्रन्थुन भन्यान्य इष्टी एवं घमों में मी आमीपम्य के एस तरत्य नीतितत्त्व का ही तब अप्रस्थान दिया गुमा पाया जाता है। यहीं भीर विभिन्न घमपुस्तकों में यह यह आशा है कि न अपन व्यानियों

\* एस लाल की व्याकरण एस लाल की इसी है - अस्ताहरमर्मदस्य लालाहरक्षम ग्रन्थम्। अस्ताहरमर्मदस्य एस लाल व्याकरण दिया है। लाल के अनुत्ति के विविही वी मन्त्र में विन अस्ताहर अहरों का व्यापाग कर दिया गया है तुम लालाहर इस है। लाल में एस अधिक अपन नहीं हाल इसी न इस अपन में वह लालाहर कर आया है

से और कभी नष्ट नहीं होता — न चाहि और वेरेण कैशब मुपशाम्यति । उसके बिष  
रीति किंतु हम परावर्य करते हैं वह समाव से ही गुण होने के कारण पराविद्य  
होने पर और भी अधिक उपर्युक्त मन्त्रावा रहता है तथा वह किंतु कल्प स्त्रेने का  
मात्रा गोचरा रहता है — ज्यो और प्रमूद्यति । अतपक शान्ति से गुण का  
निवारण कर देना चाहिये (म भ्य उद्यो ७३ ८८ और ६६) । मारत का पही  
ओंक बोढ़ प्रन्थी म है (देखो अम्बपद ६ और ८१ महावग्मा १ २८३) और एसे ही इसा ने भी इसी तर्ज का अनुकरण इस प्रकार किया है  
'त् अपन शत्रुभा पर व्रीति कर (भृष्ट् ६ ४४) और कोइ एक कल्पयी मैं  
मारे, तो त् दूर्घटी भी आगे कर दे (मेष्ट् ६ ११ सू. ६ २९) । 'सामर्गीह से  
पहुँच के चीनी तत्त्वह आ भा त्व का भी देश ही क्षम है आर मारत की सत्त्व  
मण्ड्यी मैं हो देसे साधुभा के अस प्रसार आचरण करने की बहुतेरी क्यारें भी हैं  
अमा अथवा शान्ति की पराकाश्य का उत्कर्ष दिव्यवनेवाले इन उत्ताहरणों की फुनीख  
चाहायता का बढ़ाने का हमारा शिखकुञ्ज चारा नहीं है । 'स मैं को' सन्दृह नहीं कि  
उत्तममान ही वह अमार्भमी भवति मैं — अर्यात् समाव की पुण अवस्था मैं न  
अपवाचरहित आर नित्यरूप से मना रहेगा । और बहुत क्या है समाव की उत्तमान  
मपूर्ण अवस्था मैं भी अनेक अक्षसरा पर देखा जाता है कि ये काम शान्ति से हो  
जाता है वह जोष से नहीं होता । जब अकुन देखते छ्या कि तुम तुमोंकन की  
सहायता करने के लिये जान दीन भाये हैं तब उनमं पितामह आर गुरु ऐसे पूर्व  
मनुष्यों पर हमि पढ़ते ही उसके व्याप म पह जात आ गा कि तुमोंकन की इष्टता  
का प्रतिकार करने के लिय उन गुरुकनों को जाक्यों से मारने का दुष्कर कर्म मैं मूले  
करना पड़ेगा कि थो केवल ज्ञम म ही नहीं प्रसुत अर्थ मैं मैं आसक हा यदे हैं  
(गीता २ १) । और इसी से वह कहने छ्या कि यवसितुमोंकन तुष्ट हो गया है  
तथापि न पापे प्राणिपाप स्यात् जासे न्याय से मुक्ते मैं भी उसके साथ तुह न हो  
जाना चाहिये । यहि देवे नेरी जान मैं छे छे, तो भी (गीता २ ४४) मेरा 'निर्वैर  
अनुत्तमरण से भुपवाप के रहना ही उचित ह । अकुन की न्यी शुद्धि तो दूर  
ज्ञान के लिय गीताशास्त्र की प्राप्ति है । और यही जारा है कि गीता मैं इस  
विषय का जैता जुलामा किया गया है देखा और किसी भी दमप्रन्थ मैं नहीं पाया  
जाता । उत्ताहरणाप शोद और निभियन चम निर्वैरन्व के उत्तर को वैतिकमैं के  
उमान ही स्वीकार तो करते हैं परन्तु उनके भैमप्रन्था मैं स्वप्नहारा यह जात वही  
मैं नहीं कर सकते हैं कि (शक्तिप्राप की अवका आल्मसरथा भी भी परवाह न करने  
वाले) कर्मयोगी सन्यासी पुरुष का व्यवहार — आर (तुक्ति ५ अनासक एव निर्वैर  
हो जाने पर भी उसी भनामक आर निर्वैरकुञ्जि से उर ज्ञान करनेवाले) क्षमप्रसी  
का व्यवहार — ये दाना सवाई म एक नहीं हा सम्भवे । 'सक विपरित परिमी नीति  
शास्त्रवस्त्रआ क जागे यह उत्तर पहसी नर्णी ह कि इसा ने जा निर्वैरन्व का उपर्यु

'परीरत्य' का मात्र समान कर अपन ही समाज शो-पुणी पर भी हम प्रेम करना चाहिये। किन्तु चरकान्त्र पर प्रेम करना आमोपम्युद्धि सीमें का पहल्य ही पाठ है। सब इसी म न लिये रह कर गयाएं क बाट इसिका फिर आगे गमन्त्र प्रामाणिया जातिमान्या घमक्कन्तु ती और अन्त में सब मनुष्या भयका प्राणिमान क विषय म आमोपम्युद्धि का उपयाग करना चाहिये। ऐसे प्रकार प्रथेन मनुष्य का अपनी आमोपम्युद्धि अधिक अधिक व्यापक बना कर पहचानना चाहिय, जिस भास्मा हमें है वही सब प्राणियों में है। और अस्त्र में शो के अनुपार यात्रा मी करना चाहिये—वही ज्ञन की तथा माध्यम व्यवस्था की परमावधि भयका मनुष्यमान क लाल्य की सीमा ह। आमोपम्युद्धिव्यप सब का क्षणितम और व्यापक अव यही है। फिर आप ही सिद्ध हो जाता है कि ऐसे परमावधि की विष्टि का प्राप्त कर सब की याप्तिना जिन जिन यज्ञान आदि कमों से पूर्वी बनी हैं सभी कम विष्ट्युद्धिकारक भय भार क्षणव्य एवं भय भय में कलाय है। यह पहल ही कह आय है कि विष्ट्युद्धि का नीक अप व्यापक शुद्धि का दूर जाना भी ब्रह्मसमैक्य का पहचानना है। एवं इसीमिय सूक्ष्मिकाएं ने एहसासभम क व्यप कित्ति मान ह। याज्ञवल्य ने मनवी शो भास्मा का अर इष्ट्या आदि उपश्च लिया है उसका मम भी पही है। अस्याम्यज्ञान की नीद पर सबा एओ कम्पयामान्यम् सब में बहता है कि आमा दे पुण्यामानि में ही आमा की व्यापकता का सुरुचित न करक उमड़ी ऐसे स्वामादिव व्यापि का पहचाना कि लालों के भयमाना भी इस समाज से ज्ञात किया करा कि उत्तरस्त्रियाना दु स्मुख दुर्गम्यम्—यह कारी दृष्टि ही बह मींगी की पराहर्या है; प्राणिमान ही उत्ता परिपार है। हमारा विश्वास है कि इस विषय म इमारा कम्पयाम्याम् भन्यस्य शो के पुराने भयका दर्ये जिनी कम्पशास्त्र म हारनकाष्य नहीं हैं। यही नहीं उन कमों ज्ञानपेत्र म एवं बर परमधर क समान ऐसे भग्य व्युत्प ज्ञान रहगा।

इस पर मीं दूर शो बहत है कि आमोपम्यमान से स्मुख दुर्गम्य शम शो दग्धनी भी र्यावर दृष्टि ही जन पर इम किस उन दृग्युगों का ही न था दृग्म। ५ जिन शान्तिमान दुर्गम्यनान भी चन्द्रिमान आदि सद्गुणों से हुए बहा रखा रार राज्ञर उपर लक्षण में है। प्रम्युत यहि बाट दृष्टि मारने व्या बह इन राज्ञों को विद्वां लष्टभुतेन् ( ईति ११ ) ईति के इस व्यापा सत्त्वा राज्ञों दुर्गुदि से भी बह न दरना हमारा भय हा ज्ञापणा ( ईति व्यम्भर १११ )। इस बह का प्रतिसर न होता भार इन बाले उनके भुज कमों में सामु पूर्ण की इन राम्य म राम नार्यि इन प्राप्त दृश्यों का दृश्य ही इन म एवं गम्य राम रामने दृश्य का इन न नाश ही दी जाना दामागत में गहर ही होता हि न राम प्रतिसर राज्ञामुख नहा राम ( ईति १४४ )—दृश्याम दृश्य न हो राम नामुआ म द्वे वर्योंके दृश्यों न शरदा व्य व्यवै

कुरुम्भकम् - जीवी बुद्धि ही जाने से अथवा फलभाग छोड़ देने से पापता-अपापता का अथवा योग्यता अयोग्यता का भूमि भी मिल जाना चाहिये। गीता का सिद्धान्त यह है कि कर्म की आज्ञा में मम-बुद्धि प्रभाव होती है और उसे छोड़े किंतु पापपुण्य से कुरुकारा नहीं मिलता। किन्तु यहि किंचि तिक्ष्ण पुरुष के अपता स्वार्थ साझने की आवश्यकता न हो तथापि यहि वह किंसी अयोग्य आदमी को बोर्ड ऐसी वस्तु से छें है कि जो व्यक्ति या ये नहीं तो उस तिक्ष्ण पुरुष को अयोग्य आदमियों की सहायता करने का तथा योग्य साक्षी पर्यंत समाज की सी हानि करने का पाप जिन्होंने न रहेगा। दुश्म ये टक्कर स्नेहाभ्य कराउपति साकृतार पटि जागार मैं दरकारी क्षेत्र जावे सो किंतु प्रक्षर वह हरी अनियों की गृही मी जीमत अपने रूपये नहीं है ऐता उसी प्रकार पूर्ण साम्याकृत्या मैं पर्वृत्ता दुश्म पुरुष किंसी भी काय का योग्य तारतम्य भूमि नहीं जाता। उसी बुद्धि सम तो रहती है; पर समता का यह अर्थ नहीं है कि गाय का जारा मनुष्य को और मनुष्य का मोक्षन गाय का दिल है। तथा मानवान ने गीता (१७ २) में भी कहा है कि ज्ये 'दात्य एमत्त फर उत्तिक जन करना हो वह मी ऐ क्षेत्र च पात्रे च अर्थात् ऐता काल भार पापता का किंचार कर देना चाहिये। सातुरु पुरुषों की साम्यबुद्धि के बग्न म जानेवर महाराज ने उन्ह शृण्वी की उपमा भी है। "सी दृष्टि का वूसरा नाम नक्षत्राहा है किन्तु यह 'सुक्षमाहा' मी यहि ज्ये काइ अत मरें, सो मारनेवाले के पैर तस्में म उन्ह वी ओर का अका के कर अपनी समता बुद्धि व्यष्ट कर देती है। उससे भी गोंति समझा जा सकता है कि मन मैं पैर न रहने पर भी (अर्थात् निवैर) प्रतिकार जैसे किया जाता है! कमविषाक प्रक्रिया मैं कह आये हैं कि इसी कारण से मानवान भी 'ये यथा मा प्रपञ्चे तात्क्षेपेष मनाम्यहम्' (गी ४ ११) — जो युधे जैसे मर्ते हैं उन्ह मैं जैसे ही फल देता है — उस प्रकार व्यवहार तो करते हैं परन्तु पिर भी वैषम्य नैरुप्य देवी से अकिञ्च रहते हैं। "सी प्रकार व्यवहार अथवा कानून काष्ठे मैं भी गमी आर्यी को पौर्णी की सद्य तेनवाले न्यायार्थी का काइ उसका दुष्मन नहीं कहता। अर्थात् शाश्वत का सिद्धान्त है कि जब बुद्धि निष्काम हो कर साम्याकृत्या म पर्वृत्त जावे तब वह मनुष्य अपनी इच्छा से किसी का भी कुरुक्षम नहीं करता। उससे यहि किसी का कुरुक्षम हो ही जाय सो समझना चाहिये कि वह उसी कर्म का फल है। इसमै निष्क्रिय का कारण नहीं अथवा निष्कामबुद्धिवाले निष्क्रिय ऐसे उमर पर जो काम करता ह — फिर वैष्णवे म वह मानूषप या गुरुवद तरीका किनारा ही नवद्वार ब्यान हो — उनके द्वारा भगुम पक्ष का ऊपर अपता ऐप उसका नहीं समता (ऐता गीता ८ १४ .. १ और ११ १३)। बीज्ञारी कानून मैं आत्मसंरक्षण के ज्य नियम ह ये जीवी तत्त्व पर रखे गए ह। वहत है कि जब त्वया ने मनु से राजा होने की प्राप्ति की तब उन्होंने पहल वह उक्त विद्या कि अनावार से

किया है उसका अमल की नीति से समुचित में क्या मिलती है ? और नितों नामक आनुनिक जगत् ने अपने अन्यों में यह मत भी कैसे साप लिया है कि लिंबैरत का यह प्रमाणन्वय गुणामगिरी का और बाटक है एवं इसी का भूत माननेवाले इसाद घम ने शूरपउरा का नाम दिया है। परन्तु हमारे प्रमाणन्वय को ऐसा से अदृश्य होगा कि न केवल गीता की, प्रकृत मनु की भी यह बात पृथिवी अवगत और सम्मत भी, कि सम्याच और कमयोग डाना अम्मागों में इस विषय में मैं करना चाहिये। स्पाइक मनु ने यह नियम [ कृष्णन्त न प्रतिकृष्ट्यत - कावित हानिकाले पर फिर क्रोध न करो (मनु. ६ ४८) ] न यद्यपि घम में अनुचया है और न राजस्तम में। कुछ याहू हेवल यतिष्ठम में ही । परन्तु भाल्क्षण के टीकाकार द्वारा घम पर ध्यान नहीं देते कि "नमै कौन घमन विसु माग का है ?" भयवा उसका कहा उपरोग करना चाहिये ? ऊ लोगा ने सम्याच और कमयोग डानों के परम्पराविरुद्धी लिङ्गान्तों का गङ्गामण्डु कर रासने की दो प्रणाली दाढ़ भी हैं उस प्रणाली से ग्राय कमयोग के सब लिङ्गान्तों के सम्बन्ध में दोनों घम पढ़ जाता है "कक्षा विषय हम पर्वतव्य प्रसरण में कर भावें हैं। गीता के टीकाकारी भी "स भ्रामक पदाति का आद इने में सहज ही अदृश्य है जागा है कि महावत भर्ती कमयोगी 'निवैर शूष्म का क्या अदृश्य करते हैं ? क्योंकि एसे अवसर पर तुम्हें के द्वारा कमयोगी यद्यस्य का दिसा क्लाव करना चाहिये उसके विषय में परम भावद्वचक प्रद्वाहा ने ही कहा है कि उम्माप्रिय द्वामा दात। परिवैरप्रवादिता (म भा बन ८८) - है दात ! उसी हेतु चतुर पुर्णी ने अमा के लिये सुडा अपकार कराते हैं। जो कम हमें तुम्हारी ही बही कर्म फरक्क दूर्ली को तुम्हें न देने का भाल्मीपम्पद्विषि जा सामान्य घम है तो टीक फलनु महामारण में विषय किया है कि विष तमाव में भाल्मीपम्पद्विषारे सामान्य घम की द्वेष के असुरों घम के - कि हमें मी दूसरे द्वेष तुम्हें न - पालनवाले न हों उस तमाव में देवता पक्ष पुरुष ही यहि "स घम का पारेणा तो को" लाम न होगा। यह सम्भव शब्द ही तो अविद्या से सम्बद्ध भवान बोझत है। अठपद भावतार्थी पुराण को मार डासने से दैसे अहिंसा घम में जहा नहीं अविद्या दैसे ही दूर्ली का उचित धारण कर देने से कानुआ भी भाल्मीपम्पद्विषि या निष्ठुरुमा में मी दूर्ल स्वरूप नहीं होती अस्ति तुम्हा क अन्याय का प्रतिकार कर दूर्ली की जगा देन का भेष अवस्था मिल जाता है। विष परमेश्वर भी भरपुरा विषी की यी दुकिं भविष्य तम नहीं है वह परमेश्वर भी कानुआ की रक्षा और तुम्हा का विनाश करके के विष समय तमप पर अवसर उ कर अवसरप्रह किया करता है। (गीता ४ ३ और ८) तब भार पूर्णी भी जात ही भया है यह कहना भगवान् है कि वनुर्भव

उसके पुत्र ही उस बूधर महस्त के विशेषण का भी प्रयोग करके-कि 'मनवर्मन् अर्थात् भेर यानी परमेश्वर के ग्रीत्यप परमेश्वरापणदुष्टि से लार कर्म करनेवाला - भगवान्' ने गीता में निर्वैरत्व और कर्म का भक्ति की दृष्टि से भेष मिथ्य दिया है। उसी से शाहरमाप्य रुधा भन्य दीक्षाभा में भी कहा है, कि 'उस श्वेष में पुर गीर्ग-शास्त्र का निचो आ गया है। गीता में यह कही भी नहीं बताया कि तुड़ि को निवार करने के स्थित या उसके निर्वैर ही तुक्कने पर भी सभी प्रकार के कर्म छोड़ देना चाहिये। इस प्रकार प्रतिकार का कर्म निर्वैरत्व और परमेश्वरापणदुष्टि से करन पर कहा को उसका कौन मी पाप या दोष हो सकता ही नहीं उसका प्रतिकार का काम हा तुक्कने पर किन तुड़ि का प्रतिकार किया गया है उर्ही का आत्मीपम्पाद्वि ते कल्पाण मानने की तुड़ि भी नहीं नहीं हाती। एक उत्तरण कीविये; तुट कर्म के कारण राक्षण को निर्वैर भार निष्पाप रामचन्द्र ने मार हो दाढ़ा; पर उसकी उक्त दिया करने में भी भिन्नीका हित्तने स्मा तब रामचन्द्र ने उसको समझाया कि -

मरणास्तानि वरोऽपि निष्ठा नः प्रयोगमम् ।

क्रियतामस्य संस्कारो भवाव्येष पथा तथा

(रामण के मन का) और मौत के साथ ही गया। हमारा (बुझा का नाश करने का) काम हो सुआ। अब यह किला तेरा (मार) है खेला ही भरी भी है। इतनिया इसका अभियासकार कर (वास्त्रीकृति १ १ २५) रामायण का यह वास्त्र भगवन्त (८ १ ३३) में भी एक व्यान पर कल्पना गया ही है। और अस्पृश्य पुराण में जो ये कथाएँ हैं - कि भगवान् ने किन बुझा का सद्वार किया, उन्हीं का विर व्याप हा कर उड़ति है दाढ़ी - उनका रहस्य भी बही है। वही सद रिपारी का मन म स्य कर भीममध्ये ने कहा है कि उड़त क किय उद्दत होना पाइये। तोर महामारत मैं भीप्य ने उद्दतम् भे कहा है -

१० एवा वर्ति यमिमनु मत्स्यस्त्रे पत्रं पनु ।

નાથમે શામવાગ્રાતિ અ પ્રાભવાભ રિન્કતિ ॥

भासे भाष औ उपा स्त्राव करता है उनके भाष बहुत ही बाहर ग न की भविम  
( अनीति ) हाता - जो न भविम्याश ( मूल उपा ३००३ ) । इस भाष  
में उक्त शब्दों का उपयोग न करता है । यापि मैं उपा पूर्णिमा का लिया है ।

ਏ ਮਨੁ ਹਥਾ ਹਤਨ ਧਾ ਮਨੁਖ ਕਿ ਮਸ਼ਨਧਾ ਗਰਿਵਰਥ ਸ ਖਸਾ॥

मायाग्रा मायया वापितरपः मायाग्रार गायुना प्राप्युपये ॥

१८ लाख १ लाख ३५४ लप्त दस ही लाख रुपये मर्ही है।  
मर्ही का दूरवाला मर्ही विन एक लाख प्रति लगातार बाल विन  
दरमा भर्ती है। यह लाख ३५४ (३५४) लाख ही लाख

चलनेवाला का आसन करने के सियं राम का स्वीकार करके मैं पाप में नहीं पड़ना चाहता। परन्तु अब श्वेता ने यह बचन किया कि उमप्रबन् प्रथा मा भी कर्त्तुनेना गमिष्यति (मा द्या ६७ २५) – जरिय नहीं किसका पाप उभी को ल्योगा। आपका या रखा करने का पुण्य ही मिलेगा। और प्रतिश्रुति कि ‘प्रथा भी रक्षा करने में जो व्यष्टि स्थिता उमे हम साग भर डे कर पूरा करो।’ उब मनु ने प्रथम रामा हाना स्वीकार किया। सारांश ऐसे भपेतुन सुधि का कर्मी भी न बननेवाला यह नियम है कि ‘आपस के कर्त्तार ही प्रवापात तुझा करता है ऐसे ही सचहन सुधि म उम नियम का यह स्पान्तर है कि इस को रिका हाना चाहिए। वे साधारण लोग – कि किसी कुछि साम्बादस्था म पठुन नहीं गा है – इस कमविपात के नियम के बिषय में भपनी ममत्वकुदि उत्तम कर दें इ और भोज से भपवा द्वेष से आपात की भपेता भविष्य प्रव्यापात करके आपात का पठक्षम किया करत है। भपसा भपने से तुम्हें मनुष्य के साधारण या कारपनिक अपराध के किय प्रतिसारकुदि के नियम है उनका इन बर भपना पायडा कर स्व व किय लग प्रवृत्त होत है। किन्तु काशारण मनुष्या के समाज दर्शन में शैव की पौर की भमिमान की छोड़ में स्थान से या इन से दूर्योग का नुक्ता की भपवा ऐसे स भपना भमिमान शेषी सूक्ष्म और पाति की प्रणिनी विश्वासन की कुछि किसक मन मन रह उनकी शान्त निर्देश और कमतुदि ऐसे ही नहीं कियाजी है ऐस कि भपन ऊपर किसी कुइ गा का किसी गीठे व्यय देन त कुछि में काँ भी कियार नहीं उपक्रमा। और व्यक्तमपाह की दरि ने एम प्रव्यापातस्मृत्यु कम करना उम्मा घम भपात कल्प्य हा जाता है कि किसी कुर्सी का इस्ता दर कर कही गरीबी पर भव्यापार होना पाते (गीता ३ ५६)। गीता के काँ उपर्यु का नार वही है जि एम ग्रनग पर कमतुदि से किय आ चार मुद्र भी व्यय धार भयम्भर है और ताप न रख बर लय ने जना रहा क साप दूष न लज जना गुम्मा करन वाके पर एक न हाना भाँ भमत्वप भिनप्रत कमपारी का मान्य जा है परन्तु भव्यापारग्य का यह सम क्ष्यवेत्त नहीं समाज कि निर्देश इन का रप इन विष्य पर भपवा प्रव्यापारग्य है। किन्तु वह निर्देश इन का किस इन्हों ही भाँ मनाता है कि या रथान मन की कुछुदि इट ऐनी कादिय भाँ इव कि कम किसी के दूरा ही नहीं जब उनका क्षयन है कि किस लाक्ष्मपद्म क निय भाँ या विष्य प्रव्यापार गिरन एम भासप्त भाँ शवय हा रथन व्य मा मै कुशुर्ज वं व्यन १ वा - २ वा वाय नपत्त - दिग्य और किसकुदि मे वहो १८ना पा पा १ (गीता ३) । भाँ इन व्यर (गीता ११) म किस निर्देश वा वा व्यवहार करा १८ -

माक्षमहू व्यवहारा मञ्जनः भवत्तात्तमः ।

निर्देशः भवेत्तम् वः न मापति पापदृष्टः ॥

(शुल्क १ ९०३-३०)। नयाकि प्रम्बेद उमय साम्बन्ध के सिवे तुझे का निष्ठह करना सामान के समान भय की हड़ि से सापपुरुषों का भी पहरा करत्थ है। 'सामुदा से तुझा को जीते' 'स वाक्य में ही पहसे यही व्यत मानी गई है, कि तुझा का जीत लेना भयका उमया निषारण करना सापपुरुष का पहरा करत्थ है। पर उम्ही खिड़ि के लिये क्षतिव्या है कि पहसे किस उपाय की घोड़ना करे। यदि शामुदा से उमया निषारण न हो सकता हो — भीषी भौंगुरुषी ऐ भी न निष्ठेते — तो ऐसे जो लैमे कम कर तुझा का निषारण करने से हमें हमारे कमप्रस्तुत कर्मी नी नहीं रहते। कि यह कही भी श्रितिपादन नहीं करते कि तुझा के आगे सापपुरुष अपना अधिकान तुझी से किया कर। सब चान रहे कि जो पुरुष अपने तुरे कामी से पराए गएने कारण पर उदाहर हो गया उसे यह कहने का कोद भी नैतिक इह नहीं रह जाता कि और लोग मेरे साथ सामुदा का फताव करे। समशास्त्र में स्वप्न आशा है (मनु. ८ १९ और १८१) कि इह प्रकार कम तुम्ह पुरुषों को जौँ असामु जाम सम्भारी मैं करना पड़े तो उसकी विभेशारी द्वुद्वयुक्ति जाके सापपुरुषों पर नहीं रहती। किन्तु इहका विभेशार कही दुष्पुरुष हो जाता है कि जिसके दुष्पुरुषों का यह नहीं जाता है। सब तुम्ह ने देवदत्त का ये शासन किया, उसकी उपपत्ति वीद प्रस्तकारी न मी न्सी तत्त्व पर स्थान है (टेलो मिहिन्द प्र. ४ १ १०—१४) चाहुदाहि के स्वप्नहार मैं ये आपत्त-प्रत्यापात्तस्मी के लिये भौंग त्रिलुच दीक होते हैं। परन्तु मनुष्य के स्वप्नहार उसके इफ्फामीन हैं। और क्षमर किस ऐतिहासिक चिन्हामाणि भी माना का उत्तेजन किया है उसके तुझे पर प्रयोग करने का निष्ठित विचार किस पर्मदान ले होता है वह पर्मदान भी अत्यन्त दूसर है। 'स कारण विशेष अवसर पर वा' जो लोग मी उच्चमुख 'स तुविका मैं पह चाहते हैं कि यो इम किया जाहते हैं वह योग्य है या अयोग्य है या अवश्यक है कि कर्म किमक्षमेति कवयोऽयत्र मोहिता' (गीता ४ १६) अऐसे अक्षर पर कार विजानी की अवजा सैव योहेद्युत त्वार्थ के पड़े ऐ कोहे तुम पुरुषों की परिष्ठताहै पर या केवल अपने सार असार-विचार के भरोसे पर कोहे काम न कर के बस्ति पूर अवस्था म पांचि दुष्पुरमात्रिक के सापपुरुष भी द्वुद्वयुक्ति के ही द्वारा मैं या कर उठी गुरु के निर्णय को प्रमाण माने। कर्मोऽहि निरा तार्मिक पाण्डित्य किनारा अभिक होगा उड़ीसे भी उठनी ही अधिक निष्ठाही। 'सी कारण किना द्वुद्वयुक्ति के कोरे पाण्डित्य से ऐसे किङ्क प्रभी का भी सदा और उमामानकारक निष्ठव नहीं होने पाता। अतपर उसको द्वुष्ट और निषामुद्वयित्वाला द्वुष्ट ही करना चाहिये। जो शास्त्रार अत्यन्त उमामान्य ही तुझे है उनकी द्वयि 'स प्रकार की द्वय रहती है। और पही कारण है जो सामान ने भर्तुन ते बहा है — उमामानक प्रमाण ते काम-कामम्बवत्तिकी (गीता १६ ३४) — कार्य अकार्य का निर्णय करने मैं तुझे शास्त्र की प्रमाण मानना चाहिये। उपायि यह न भूक जाना चाहिये कि कामाल के

मेरे अन्त को अनुके मायाकीपन का दायर न देकर उसकी स्मृति ही की गई है कि—  
‘लैं मायामिलनवद्य मायिन शुष्ट्र अस्य ।’ (कृ. १४३ २ ८ ७) —  
है निष्पाप अन्त ! मायाकी शृणु का तन माया मेरी ही माया है । आर भारवि न अपन  
‘गिरतामुर्तीय काय म मी शम्भव क नस्त का ही अनुवार’ ऐ प्रकार किया है—

ब्रह्मस्ति ने मूढ़पिण्ड परामय ।

भृत्यस्ति मायाकिष्टु ये न मायिन ॥

‘मायामिना च माय च मायाकी नहीं अनन् च नष्ट हा जन है (गिरा २) ।  
परन्तु यहा एक शब्द पर और स्पृह अन्ना आहिय दि तष्ठ पुरुष का प्रतिभार यदि  
साकुला मेरा हा बुद्धा हो का पहले साकुला मेरी ही कर । स्पृहानि दुसरा यदि तुष्ठ हा  
ता उमी के माय हम मी तुष्ठ न हा जना चाहिय । यदि काइ एक नेत्रा हा अय  
ता सप्तरा गोप चा गोप अपनी नास नहीं कर्य क्लेश । और स्पृह कह यह चम ह  
मी नहीं । ऐ न पाप प्रतिभार स्पृह ऐ चा टीक मायाय यही ह और अर्थी  
करण म विकुर्तीति म तुवरादु का पहले यही नीतितत्त्व अन्नाया गया है न  
तात्परत्य अन्तर्पात्र प्रतिभृत्य परामन । — अन्ना स्वप्नहार अव अपने द्विष्ट प्रतिकृत  
मात्रम ह । अन्ना स्वाप दुकुरीक लाय न कर । ऐ पधार ही किंद्र न अहा है—

जप्ताप्तम जप्तकावे अमार्पु मापुला जप्तम् ।

जप्तकावय दामन अप्तव मध्येन चापृतम् ॥

(दूसरा १) नाप का (अपर्नी) छालि दे दीत । तुष्ठ का लाकुला स दीत । दृष्टग  
का जन स ईत । भार भद्रत का मध्य स ईत ॥ (म. म. अ. १८ ७३ ०८) ।  
पार्वी लाले प चाँडो चा चा ‘अप्तम्’ नामक नीतिप्रथा है उसमें ( १ ) इसी  
अप्त का एक अनुवार है—

माहापेन जिले काव अमार्पु मापुला जित ।

जित वद्विष्ट दामन मध्यनाष्टाह दातिनम् ॥

दातिनम् म पर्विनि का उपर्युक्त एव नीत न मी इनी नीतितय व अप्तका  
दीत म अकर किया है—

उम अनदमापुलो अमार्पु मापुला जप्तम् ।

एमप निष्पत भद्रा च जप धायकमणा ॥

जा ही नमामि धना दुद ब्लू च्च च दृष्टना म तिकारण बरना चा दृष्ट । वर्गार्थ  
‘दृष्टम्’ म “दृष्ट ही भद्रण अप ते दृष्टन दृष्टि मे दूर जना नी भद्रकर”  
(१) १८ । इन्द्रु इनी लालका न दी दूर क दृष्टदेव क दिक्षण न हाला  
है भय— अन उपर भार मा इस की दूर दूरा ॥ अर्थ हा का जा कारा  
पर्विन म लाले न निष्पत्ता हा उल्ला वर्गेन्द्र वर्गम् ॥ स्वप्त च मायारम  
करो तु अप लह च वहे— लह— लह ही लहर निष्पत्ता उल्ला भारवर्ष ॥

अपन समाज का उन उन समय म भेषजकर हो। इसके अठिरिच्छ इस दूसरी बात पर मी आहिय कि मंडिल वर मंडिल तपारी भरके इमारत क्षण च्याने पर विस प्रकार नीचे के हिसे निकाळ डाढे नही चा सक्ये अथवा विस प्रकार तपार राप म आ च्याने से कुछाली की या एर्य होने से अमि की आवस्यकता न्ही ही रहती है उसी प्रकार उभारुहित की अन्तिम लीमा पर पहुँच च्याने पर भी न केवल देशा भिमान की घरन कुछाभिमान की मी आवस्यकता न्ही ही रहती है। क्योंकि रामाय-  
भुवार की इदि से हेठे तो कुछाभिमान यो विशेष काम फलता है वह निरे देशाभिमान से नही रहता और देशाभिमान का शय निरी सर्वभूतालैभयहिते चिह्न नही रहता। अर्थात् समाज की पुर्ण अवस्था मै भी साम्यवृद्धि के ही उमान देशाभिमान और कुछाभिमान भावि घमो की मी सदैव ज्ञरत रहती ही है। किंतु ऐसे अपने ही टेक्के अभिमान का परमसाध्य मान घेने से ऐसे एक राष्ट्र अपने ज्ञान के लिये दुमर राष्ट्र का मनमाना तुम्हान करन के लिये तैयार रहता है ऐसी बात सर्व-  
भूतहित को परमसाध्य मानने से नही होती। कुछाभिमान देशाभिमान और अच मे पूरी मनुष्यवाति के हित म यदि विरोद्ध भाने लो तो साम्यवृद्धि से परिपूर्ण नीतिवान का यह महस्तपृण और विशेष क्षयन है कि उच्च भेणी के घमो की विद्वि के लिये निम्न भेणी के घमो को छोड़ दे। यिन्होने भूतराष्ट्र के लफेत करते हुए कहा है कि युद्ध मे कुछ का शय हा जावेगा। अतः दुर्योधन की टेक्के रक्षन के लिये पाण्डवो का राय का भाग न भेजे यदि दुर्योधन न मुने तो उत्ते-  
(पाण्डा मे ही हो) - अपेक्षे ही छाड देना ही उचित है; और उक्के रक्षन मे यह भोक कहा है -

त्यजदेव कुरुस्थार्ये प्रामस्यार्ये द्वृक्ष त्यजेत् ।

आमे जनपदस्थार्ये आत्मार्ये पृथिवी त्यजेत् ॥

कुरु के (सचाव के) लिये एक व्यक्ति को गाव के लिये कुस को, और पूरे स्तोत्रमह के लिये गाय को एव आत्मा के लिये दूषी को छोड़दे (म.मा भावि ११, उमा ६१ ११)। इस नगोह के पहसे भीर तीसर वरच का तत्त्व कुरुस्थाना गया है कि लिमका उत्तराय लिया गया है; और चाथ व्यरम मै भास्मरभा का तत्त्व कुरुस्थाना गया है। आप यह सामान्य उबनाम है। इससे यह भास्मरभा का तत्त्व भैते पर व्यक्ति का उपयुक्त हाता है जिसे ही एकमिल लेकरमह को जाति की अथवा राष्ट्र को भी उपयुक्त हाता है। भीर कुस के लिये एक पुराय का ग्राम के सिय कुस को एक दैग के लिये प्राम की छाँट इन की कमणि कर्त्ती द्वृक्ष त्यजीन प्रणाली पर यह हम र्यान तत त तद द्वृक्ष र्यान पढ़ता है कि आप यह का भय इन लोग की भरागा इस स्थित पर र्यान मराय का है। पिर भी कुछ मनत्वयी या शास्त्र न अनन्ते बाल शाग इस वरच का कमी कमी विगतीत नवाल निरा त्वार्यप्रथान भय रिया वरत है भवण्ह यहां कह देना आहिय कि भास्मरभा का यह तत्त्व भास्मसर्वीन का

भनुधार ऐतेहेतु भी आगे के सामुपुक्षा को ज्ञ शास्त्र में भी पर्व करने का अधिनार प्राप्त होता रहता है।

निवेद और गान्त सामुपुक्षा के भावरण के सम्बन्ध में योगा की आदर्शता और लक्षण ऐसी जाती है उक्ता कारण यह है कि क्षमर्त्तमाग प्राप्त नहीं हो गया है और मार समाप्त ही का भ्याय माननेवास सम्याप्तमाग का चारा आर औरता हो गया है। गीता का पह उपर्युक्त भविता उद्देश भी नहीं है कि निवेद होने से निष्प्रतिकार भी होना चाहिये। किंतु स्वप्नप्रहर की परवाह ही नहीं है ज्ञ व्यग्र में दर्शी की प्रदर्शना फिरे तो—आर न फूल तो—करना ही क्या है? ज्ञकी जान रह चाह चमी जाय; उब पक ही सा है। किन्तु पुणावस्था में परम इष्ट क्षमयागी प्राणिमात्र में आत्मा की एकता का पहचान कर यश्चापि सभी के माध्य निवेदता का स्वयंहार किया कर उथापि अनामनकुड़ि से पाण्डा भयाचता का ऊर अलार कियार करक स्वप्नमानुमार प्राप्त इष्ट कर्म करन में व कभी नहीं चुकत। आर कमयोग रहता है कि इस रीति से किय इष्ट क्षम कना की साम्याद्विदि में कुछ सूनता नहीं आन जत। गीतावस्मप्रतिपाति क्षमयाग है ज्ञ तत्त्व को मान लेने पर कुम्भमिमान भीर देणामिमान भारि क्षमयज्ञमो की भी क्षमयागशास्त्र के भनुमार पाप्य उपर्युक्त योग भी सकती है। यश्चापि पह अनिम सिद्धान्त है कि तमप्र मानवशति का—प्राणिमात्र का—किंसु हित होता हो वही पर्म है; उथापि परमावधि की ज्ञ भिन्नी का प्राप्त करन के किंसु कुम्भमिमान घमामिमान भीर देणामिमान भारि पर्मती रा सीक्षिया की आवश्यकता तो कभी नी नह इने की नहीं। निरुग द्रष्ट भी प्राप्ति के किंसु कुलामिमान भावामिमान आवश्यक है ज्ञी प्रसार— वसुनन कुदृशस्म—की एकी पुड़ि पान के किंसु कुलामिमान आवश्यकि मान और द्वामिमान भावि की आवश्यकता है। एव भमात्र की प्रवृत्ति एकी ज्ञी शिव ने उत्तर दिया है। ज्ञ कारण एकी भीत का न व्य ही भित्ति रखना पर्याप्त है। ऐसे ही उत्तर भपन आवश्यक लोग भपया भन्य रात्र नीप की भीती पर ही उत्तर की नीपि पर आर पर भाष्य मनुष्य भपया का राह पाहे किंमि भरण ही उत्तर की नीपि पर प्ला है तो पह उथापि हो नहीं सकता। क्योंकि उत्तर रहा ही तो कुम है कि परम्परा स्वयंहार में ज्ञ वी भी भीता यात्र त उत्तर उत्तर की भर्त्याप्रति की नीपि की भर्त्याप्रति ज्ञानी के भर्त्याप्रति का प्रतिभर करना दियाय प्रकाश पर भावशरण रहता है। इतम वीर उद्दा नहीं कि मूर्पत्र नूरपत्र उद्दा के ज्ञनी मनुष्या की भिन्नी एव ज्ञनी उद्दा है। ज्ञनी कि ख प्रतिभरत में भावना की एकता का परम्परन पर भमात्र मनुष्यमात्र की लक्षि भिन्नी प्राप्त कर भव की भाष्य रात्रा कुछ भनुष्या की नहीं है परन्तु भावाप्रति वी परमावधि की पर्म विद्यी उत्तर तद तद प्रति हो जाती है तर तद भावान्य रात्रा भपया तमांग की नदी पर यज्ञ वर तामुनुरप द्वामिमान भारि ज्ञो वा ही तत्ता वर्त्या ता रहे कि त भरवे हैं ॥ ८ ॥

भेद समझी जाती है। उपर्युक्त यह निश्चय फर डेन के लिये – कि ऐसे अनुसार कव उपर्युक्त होते हैं – निरा पाण्डित्य या लक्षणकि पृष्ठ समय नहीं है। “सहिते भूतराष्ट्र के उक्तिस्त्रिय कथानक से यह जात प्रकट होती है कि विचार करनेवाले मनुष्य का अन्तर्करण पहले से ही शुद्ध और सम रहना चाहिये। महामारत में ही इह है, कि भूतराष्ट्र की बुद्धि इनी मन्त्र न थी कि वे विद्युत के उपकरणों को उपर्युक्त न दें। परन्तु पुनर्मेम उनकी बुद्धि का सम होने कहों गता था? कुछ भी किस प्रकार अपर उपकरण की कमी कमी नहीं पढ़ी उसी प्रकार बिसी बुद्धि एक बार सम हो कुछी रहे तुलसीमैस्त्र तेजामैस्त्र या चमाँमैस्त्र आदि निम्न भेदी की एकठाओं का कमी टोटा पड़ता ही नहीं है। त्रिष्णान्मस्त्र में इन सब का अनुर्भव हो जाता है। किंतु देवास्त्रम् आदि चुनूचित चमों का अपवा सबमूर्तित क द्वायापक प्रम का – अर्थात् अनंत से किंतु तिची रिति के अनुसार अपवा भामरमा ने निमित्त किंतु समय में किंतु जो चम अपलक्ष्य हो उसको उसी चम का – उपर्युक्त करने वाले के द्वायापन्नोपयन का काम सामु ज्ञान करते रहते हैं। “सम सन्देह नहीं कि मानवजाति की वर्तमान म देवामिमान ही भुक्त्य सद्गुण हो रहा ह और सुपरे हुए राष्ट्र मी अन विजात और तैयारिका में अपने ज्ञान का तुलसीस्त्र का आर द्रव्य का उपमेग किया जाते हैं कि पास पदार्थ के तुलसीमैस्त्र बहुत से लोगों को प्रसङ्ग पाने पर थोड़े ही समय में हम क्या कर जानसे मार सकते। निन्तु संक्षिप्त और बोल प्रवृत्ति परिचयों ने अपने घन्या में उपर्युक्ति से कह दिया है कि वेबस न्सी एक कारण से देवामिमान को ही नीतिरूपा मानवजाति का परमतात्पर मान नहीं सकते। और ये अतीत इन लोगों के प्रानियांत्रित तत्त्व पर हो नहीं सकता वही भाष्य हम नहीं समझते कि भग्यासमरूप्या प्राप्त होनेवाले सबमूर्तिमैस्त्रप तत्त्व पर ही नहीं हो सकता है। ऐसे वय के क्षण उच्छके शरीर क ही अनुसार – बहुत हुआ तो यह तुमाहाइ भग्यात जात के लिये गुजारिय राष्ट्र कर – ऐसे भ्यावाना पड़ते हैं कि ही सबता मैस्त्रतुद्धि की भी जात है। नमाज ही या द्वयि सबमूर्तिमैस्त्रप उच्छके आगे जो भाष्य रखता है कह उसक भिक्षिका क भनुत्य भग्यात उसी भोग्या द्वाया और भागों का होगा तभी वह उसका भयलक्ष्य हो सकता है। उसके नामध्य की भग्यात गति भग्यी धन उग्रो एकम् करने के लिये कलाइ जाय हो “तुमने उत्तरा कम्बाज कभी न हो। सकता। परद्रव्य की बाइ नीमा न होने पर भी उग्नियन म रम्भी उग्निना की जम जम स जनी।” इसीद्विया फलान का यही द्वाया ह जार तिन नमाज म सभी भित्तियां हों वही आत्मक की वस्त्रत न हो तो भी जगत क ज्ञान क ज्ञान की जन्माननि भित्ति पर द्वाया ह करते आमने तात रहता ह जो यह हमार एमाजाम्ब की वास्तव्याद्वयप्रयोग म शाक्यम वा नवर्ण किया गया ह यूनान क प्रमित तातरता त्रेया न नामन द्वय म लिय नमाजद्वयप्रयोग का उपम उपम दायापा ह उपम भी निरन्तर क भग्यात म तुद्वया मे प्रवृत्ति

नहीं है। क्योंकि जिन घास्तारों ने निर स्वार्थसामु प्राकाक्षय का रासी बताया है (इन्होंने अ ५१) समझ नहीं है कि वही स्वाय के लिये जिसी से भी जग्न् का दुष्टने के लिये वह। कलर के स्लोक में भय दाढ़ का भय सिद्ध स्वाध्याकान नहीं है। इन्हुंने सद्गुर भान पर उसके निवारणाय' ऐसा करना चाहिये। और काश कारों ने भी यह भय किया है। आपमतुस्तीपन भार भात्तरक्षा में बचा मारी भन्तर है। कामोगमार की 'अथ अथवा लोम से भपना स्वाय लाखने के लिये तुनिया का सुमनान करना आपमनस्तीपन है। यह आमानुपी और निष्ठा है। उक्त स्लोक के प्रथम तीन चरणों में बहा है कि एक के हित की भोग्या अनेक के हित पर सभै व्यापार करना चाहिये। तथापि प्राणिमात्र में एक ही आत्मा रहने के कारण प्रस्तुप मनुष्य का 'स जग्न् भै मुण्ड से रहने का एक ही या नेसरिङ्क अधिकार है। भार इस सर्वमात्र यहत्व के नेसरिङ्क व्यवहार की ओर दुर्संघर कर जग्न् के जिसी मी एक अपेक्षा की या जमाव की हानि करने का अधिकार दूर्संघर जिसी व्यक्ति का समाज को नीति की दृष्टि से कथापि प्राप्त नहीं हो सकता — फिर वाह वह समाज के भी भार साधा में कितना ही व्याक्षा व्योंगों न हो? अथवा उसके पास छीना जानी चाही वरन् करने के साधन दूखरों से अधिक क्या न हो? यहि काई 'यु युक्ति का अवश्यकन कर, जिसकी भोग्या अथवा यादों की भपना बहनी का हित अधिक योग्यता का है। भार 'स युक्ति स सम्भ्या मै अधिक वह एष समाज के स्वाधीन व्यापार का समर्पन कर ता यह युक्तिकार व्यष्ट रासी सम्भ्या शब्दगत। इन प्रभार दूर्त संक यहि अन्याय से कलन स्था ता बहुतरों के सा क्या सारी गृष्णी के हित की अपेक्षा भी भात्तरक्षा अथवा भज्जन व्यापार का नेतृत्व एक भी भी अधिक नहीं हो सकता है। यही उक्त व्यापे व्यापक का माध्यम है। भार पहले तीन चरणों में जिस भय का वर्णन है उसी के लिये महत्वपूर्ण भवयाः के नात उस साय ही जन्मा 'यो दृ। इनके विषये यह भी इसमा चाहिये कि वहि हम स्वयं ईश्वर हरहो ता साक व्यापार की वर न करे। लवण्य लाक हृत की दृष्टि से विषय कर ता भी विधायिक के गमान पर्ही बहना पहारा है कि जीवन अमरवान्तरिति - विषय ता अन भी वरय। यसका कार्यशाल के राज्ञार पर्ही बहना पहारा है कि यारीगमारै एवं अमरवान्तरिति (उमा १ ३१) — यारी ही सर भवा का मूर्मापन है; या मनु के क्षफनलूकार बहना पहारा है भास्मान लक्षा रक्षा — एवं भर्ती रक्षा यह लक्षा वर्गी ता है। यद्यपि भास्माण ता हृत लक्ष इति की ताता इति प्रभार भद्रे तथा दूरी प्रवास म कर भाय है विकुल रक्षा तर तु एवं विय ता एवं विय भवा यराजार व विय ताता रक्षी ही इस्ता भवय एवं भर्ती रक्षा ता एवं रक्षा रक्षा एवं विद वाता म वर्ही ता एवं रक्षा है। ६। द्वारा वह प्रस्तुप भास्मान भद्रे भद्रे वह एवं वह एवं अद्वा एवं वह एवं वह ७। भावा देव वाम की विद वायता ८ भव व

न होगा और वह मानवीका का मुख्य उपर्येष मी नहीं है। “स प्रन्थ के दूरे ही प्रकरण म चक्रवर्णन करा भावे है कि अहिंसा और सत्य, सत्य और आत्मरक्षा आमरक्षा और शान्ति आहि में परस्पर विरोध हो कर विरोप प्रसङ्ग पर कर्त्त्य भक्तम् का सम्मेह उत्पन्न हो जाता है। वह निर्दिष्ट ह कि ऐसे अवकर पर साधुपुरुष नीतिभम छोक्याना व्यवहार, स्वार्थ और सर्वभूतहित आहि एका का तारतम्य-विचार करके फिर कर्त्त्य भक्तार्थ का निर्णय किया करते हैं; आर महामगरु में व्यन ने विधि राजा को यह जात स्पष्ट ही कहा ही कहा ही है। विशिष्ट नामक अन्यज्ञ प्रन्थद्वारा ने अपने नीतिगाल्लविपयक प्रन्थ में “सी अथ का विलार-सहित वर्णन अनेक उगाहरण के कर किया है। विन्तु मुछ पश्चिमी पण्डित इतने ही से यह अनुमान करते हैं कि स्वार्थ और परार्थ के लाल असार का विचार करना ही नीति निषय का तत्त्व है। परन्तु “स तत्त्व को हमारे शास्त्रकारों ने कभी मान्य नहीं किया है। क्योंकि हमारे शास्त्रकारों का कल्पन है कि यह सार असार का विचार अनेक बार “कुना सूक्ष्म और अनैकानिक अथात् अनेक अनुमान निष्पत्ति कर देनेवाला होता है कि यहि यह साम्यबुद्धि बैसा मै बैसा वृक्षरा - पहुँचे से ही मन मै छोड़ता आने क्यों हुँ न हो तो कोरे तार्किक सार-असार के विचार के कर्त्त्य-भक्तम् का सौंदर्भ अकृत निषय होना सम्भव नहीं है। और फिर ऐसी पद्धता हो जाने की मी सम्मानना रहती है ऐसे कि मोर नापता है इत्यादि मोरनी मी नापने अस्ती है। अर्थात् देसादेशी साथे दोग लीजे कामा दौड़े रोग इस स्पेक्टोकिक क अनुसार दोग फैल देखेगा और समाज की हानि होगी। मिछ प्रसादि उपयुक्ताकारी पश्चिमी नीतिगाल्लवा के उपपाद मै यही तो मुख्य अपुष्ट्य है। गवाह शपट कर पढ़े से भैमने का आकाश में उठा के जाता है “सुखिमे देया देती यहि कौषा मी देखा ही करन लगे तो खापा यावे निना न रहेगा। “सी जिसे गीता नहीं है कि साधुपुरुओं की निरी ऊपरी मुक्तियों पर ही अवस्थित मत रहो। अन्ताकरण मै सौंदर्भ अस्त रहनेवाली साम्यबुद्धि की ही अन्त मै शरण देनी चाहिये। वयोर्हि क्लवोमध्याम की सबी वह साम्यबुद्धि ही है। अवाचन भाषिमैतिक पण्डिता मै ते और स्वार्थ को तो कोर्न परार्थ अथात् भक्तिकामा के भविक मुख को नीति का मूलतात्त्व कहलाते हैं। परन्तु हम आधे प्रकरण मै वह विषया भावे हैं कि कर्म के देवत जाहरी परिणामों को उपरोक्ती हानेवाले “न तत्त्वो से उपन निवाह नहीं होता। इच्छा विचार भी अवश्य ही करना पड़ता है कि करा की बुद्धि कहों तक पूछ है। कर्म के गम परिणामों के सार असार का विचार करना चुनूयाँ का आर दूरपणिता का स्वरूप है सही परन्तु दूरपणिता आर नीति दैना दात समानाप्त नहीं है। “ती से हमारे शास्त्रकार कहते हैं कि निरे शास्त्रम् के सार अलार-विचार की “स कारी स्वापारी किया मै सद्वाक्ष का उच्चा बीच नहीं है। विन्तु साम्यबुद्धिरूप परमार्थ ही नीति का

कर्म का समाप्तरूप के नस्ति प्रमुखता ही है। इससे सदृश ही शील पटेगा कि तत्त्वज्ञनी अथ फ्रमालिंग के घुड़ और उच्च स्थिति के विचारों में ही इन्हें ज्ञान न रहा कर परन्तु व तत्कालीन अपृण समाजस्थवस्था का विचार करने से मैं कभी नहीं बूझते।

उपर भी सब जाता का "स प्रकार विचार करने से ज्ञानी पुरुष के सम्बन्ध में यह शिष्ट होता है कि वह ब्रह्मसर्वक्षमता से अपनी बुद्धि का निर्विध घान्त और प्राणिमात्र में निर्विर तथा सम रहे। इस स्थिति के पाँचन से सामान्य अज्ञनी स्मैर्टों के विषय में छक्काव नहीं। स्वयं सार उपचार कर्मों का त्याग कर, यानी अर्थ-सन्वाद भाभम का स्वीकार करके इन छोड़ों वीं बुद्धि को न किंवादे। ऐस-काब और परिस्थिति के भगुचार किंवृते योग्य है, उसी का उम्ह उपरोक्त हैं अपन निष्काम कृत्य-आपरण से सदृश्यवहार का अधिकारानुकाम प्रस्तुत आश्र्व गिर्वाप कर, तब वो दीरे भीर यथासम्भव ज्ञानित से किंतु उप्लाहपूर्वक उपति के मात्र में उगाँव। अप; पही ज्ञानी पुरुष का सम्भा चम है। समय-समय पर अवतार से कर मात्रान् भी यही काम किया करत है और ज्ञानी पुरुष का भी यही आउग मान, कृष पर च्यान न रहे एव एत उग्न का अपना कृत्य गुड़ अपान् निष्कामबुद्धि से नहीं यथागुणि करते रहना चाहिय। गीलागायत्र का लारण वही है कि इत प्रकार के कृत्यवान्यन म यदि मृत्यु भी भा बाब तो वहे भानस्त से उत्त न्वीकार कर सेना चाहिय (गी ३ ३८) - अपने कृत्य अपान चम का न छोड़ना चाहिये। इत ही स्वरूपह भवता कर्माय कहत है। न केवल बेदान्त ही, बरन उत्तक आपार पर ताथ ही माय कृम भक्तम का ऊपर किंवा तुभा जन भी जर गीका मै कृत्यवा गया नमी तो पहसे मुद छाड़ कर मैग मौगने की हिकारी करनागाय भगुन भग्म चम कर स्वप्नम भनुतार बुद्ध परन के लिये - तिक इच्छिय नहीं कि मात्रान् कहत है पन भरनी राती से - प्रह्ल हो गया। विष्वप्रक की माम्बुद्धि क्य यही दृम नि दिनवा रकुन को उपरोक्त हुआ है क्षमवोगायाम क्य मूल भापार है। भत इनी को ग्रामाण मान इत्क आपार से हमने बनाया है कि पराप्रवा भी नीतिमन्त्र की उत्तरति क्यापर व्यसी है। इमने इत प्रकरण मै क्षमवोगायाम की इन मोटी मोटी जातों का सहित निष्पत्त किया है कि भाष्मोपम्यटपि मै कृत्याव मै परगर एव नूत्रर के लाय कैना ल्लाव करना चाहिये ऐसे क्य हैना 'कावे म्याप के भवता लाक्षा-भगाक्षा के बारच तब मै एव एव नीतिपम मै खंडन-न मै होत है; भवता भाव भद्रता के लमाव मै कैनेकान तामुदूप का भी भवतागायमह नै गियन एव भवता करने पठत है। इनी कुशियों क्य म्याप पराप्रवार, जन, इपा भाइका नम्य और भवता भावः निष्प ज्ञनो के विषय मै उपरोक्त किया जा नहा है भावता भी भवत नमागपवस्था मै वह तिग्नन के लिये - कि प्रलन्त एव भनुतार इन नै गियों मै वही भर ज्ञन-भा रक्ष वरना दीर होगा - क्यि इन ज्ञनों मै न प्रव्यह पर एव एव स्वप्नम एव जिता ज्ञप क्यि यह विषय तमान

## तेरहवाँ प्रकरण

### भक्तिमार्ग

सद्ब्रह्माभू परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।

अहं स्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षादिन्यामि मा क्षुचिः ॥१॥

—गीता १८ ६६

**आत्** तक अभ्यासमहादि से इन बातों का विचार किया गया है कि सर्वभूतात्मैस्यसमी

निष्ठामधुरि ही कर्मयोग की और मोक्ष की भी वड है। यह शुद्ध तुदि ब्रह्म सैक्षण्यान से प्राप्त होती है और इसी शुद्धतुदि से प्रथेष्ठ मनुष्य का भक्षण अन्मर्म स्वभावानुसार प्राप्त हुए करुभ्यकर्मो एव पाप्तम् करना चाहिये। परन्तु उठने ही उं भगवद्गीता में प्रतिपाद विद्य का विवेचन पूरा नहीं होता। वर्णपि इसमें सन्देह नहीं कि ब्रह्मात्मैस्यसमीक्षण ही वेष्टन सत्य और अनित्यम् चाप्य है तथा 'उल्लेख समान इष्ट चाप्तार मे वृत्तरी कार्य मी वस्तु पवित्र नहीं है (गीता ४ १८) तथापि अब यह उल्लेख विद्य में जो विचार किया गया और उल्लेखी चाप्तारता से साम्यतुदि प्रस्त नहन एव यो मार्गं करुभ्यवा गया है वह वत्र तुदिगम्य है। इसमिये सामान्य कर्मो भी यहाँ है कि उच्च विद्य का पूरी सरण से उमस्तों के लिये प्रथेष्ठ मनुष्य की तुदि इतनी तीव्र है और वहि कियी मनुष्य की तुदि तीव्र न ही तो क्या उसके ब्रह्मात्मैस्यसमीक्षण से हाव थो तैना चाहिये? सच यहाँ चाप्य तो यह यहाँ भी कुछ अनुचित नहीं दीन पड़ती। वहि कोई कहे — जब कि वहे कह जानी पुरुष मी किनारी नामकरणात्मक माया से आश्चर्यित तुम्हारे उल्ल अमृतखलपी परमात्म का वर्णन करते समय नेति नेति एह कर तुम हो जाते हैं तब हमारे उमान चाप्तारण कर्मों की उमस मे वह हैं आवे! इसमिये हमें कोई ऐसा उत्तर उपाय का माय करुभ्यमा किसमे तुम्हारा वह गहन ब्रह्मस्तन हमारी अस्य प्रहृष्टशक्ति से उमस मे आ जावे — तो इसमें उसका स्था दीप है। गीता और कठोरपनियद (यीता ५ २ ५ २ ७)मे यहाँ है कि आश्चर्यपक्षित हो कर भात्ता (ब्रह्म) का वर्णन करनेवाले तथा मुननेवाले बहुत हैं तो भी कियी को उसका इन नहीं होता। कुटि ग्रंथों मे उल्ल विद्य पर एक चाप्तारयक क्षया भी है। उल्ले व८ वर्णन है कि जब काप्तिमि ने बाहू से बहा है महाराज! मूस दृपा कर करुभ्यइये कि ब्रह्म किमें कहते हैं।

जब एकार क भर्मों का बाती वरमध्यामि के शासन को छाइ मेरी ही तरफ मे ला। मे तुह तब पात्र त सुख करना दर मन। इन भोक क भर्म का विवेचन तब बहुत ए अस्त्र मे किया है तो दर्शित

मूल मापार है। मनुष्य की अपात् जीवात्मा की पुण अवस्था व्य योग्य किनार के, तो यी उक्त विद्युत्त ही करना पड़ता है। ऐस से किसी व्य लूटने म बहुते आद्यमी होशियार हेते हैं। परन्तु इस जात के अनन्त योग्य कोरे ब्रह्मानन का ही — कि यह होशियारी अपवा अचिकाण लेगा का अधिक सुप काहे म है — इस अनन्त में प्रत्येक मनुष्य का परम साप्त्य काँ भी नही कहता। किनक मन या अनुकरण धुङ है यही पुरुष उत्तम कहलने योग्य है। और तो क्या यह मी कह सकते है कि किसका अनुकरण निमल निवेद और धुङ नही है यह यदि जाइकमो के गियारू व्याप में पढ कर उठनुसार बर्ते तो उस पुरुष के शारी भा बने की की समाजना है (देखो गीता ३ १)। परन्तु कमयागदाम में साम्युद्धि को प्रमाण मान लेने से यह दोष नही रहता। साम्युद्धिम को प्रमाण मान लेने में बहना पत्ता है कि कनिष्ठ आने पर चमभवम का निषय करने के लिये ऊनी बायुपुरुषा की ही गरण में आना चाहिये। कोइ मयहर रोग होने पर किस प्रकार जिन दैश की सहायता के तरफे नियान और उत्तीर्णी चिकित्सा नही हो सकती उसी प्रकार घम अपम-निषय के किस प्रथक्ष पर यदि कोइ सत्युक्ष्यो की मर्द न है और यह अमिमान रम कि मैं अधिकाप आग के अधिक सुप बाँध एक ही साधना से घम-अपम का अचूक निषय आप ही कर सका तो उसका यह प्रयत्न अवश्य होगा। साम्युद्धि को क्षाते रहने का अन्यास प्रत्येक मनुष्य को करना चाहिये। आर चु क्रम से सुसार गर के मनुष्य की तुदि बद्र पुण साम्य अवस्था में पर्वत ज्वेगी तभी सत्युग की प्राप्ति होगी तथा मनुष्यन्ति का परम साप्त्य प्राप्त होगा अपवा पुर्ण अवस्था सब को प्राप्त हो जाएगी। काय अकाय शाम्भ की प्राप्ति मी इसी लिय तुर्न है और ची कारण उसी चारत को मी साम्युद्धि की ही नीव पर गन करना चाहिये। परन्तु चुनी चूर न दा कर यदि नीतिमना की इकल स्विकृत कर्त्ता की दृष्टि से ही किनार करे तो यी गीता का साम्युद्धिकाशा पर ही पाव्याम्य जाविमोत्तिक या आर्द्धिकत पन्थ की अपेक्षा अधिक योग्यता का और मार्मिक लिद होता है। यह जात भागे पञ्चाह प्रकरण म की गयी तुम्हारमह परीक्षा से दृष्ट मात्र हा जायगी परन्तु गीता के वात्यय के निष्पत्ति का तो एक महस्त्युपण भाग अभी योग है उसे ही पहले परा कर लेना चाहिये।

अनुमान देखिया करते हैं तो भी यह प्यान में रखना चाहिये कि वह अनुमान बुद्धिगम्य कार्यकारणामुक्त नहीं है किन्तु उसका मूल्यवरूप भद्रामुक्त ही है। मनू को पालन मीठी स्थिति है अस्ति को मी वह मीठी लोगी — वह जो निष्पत्ति हम छान दिया करते हैं वह मी पलुदः इसी नमूने का है। क्याकि भद्र कोइ कहाँ है कि मुझे शब्दर मीठी स्थिति है तब इस का अनुमान उसकी बुद्धि को प्रस्तुत रूप से होता है सही परन्तु इससे मी आगे बढ़ कर जब हम वह सकते हैं कि शब्दर सब मनुष्यों को मीठी स्थिति है तब बुद्धि को भद्र की सहायता दिये जिना काम नहीं चल सकता। रेपाणगित या भूमितिशास्त्र का सिद्धान्त है कि ऐसी जो रेपाणद ही उकती है जो जाहे किन्तु कार्य जाए तो मी आपस में नहीं गिरती। फहाँ नहीं होगा कि "स तत्त्व को अपने प्यान में लेने के लिये हमको अपने प्रत्यय अनुभव के मी परे बेवह भद्र ही भी सहायता से लक्ष्मा पहुँचता है।" सके उक्ता यह मी प्यान में रखना चाहिये कि सकार के सब व्यवहार भद्र प्रेम आदि नैतिक मनोवृत्तियों से ही प्रस्तु है। अन् इकियों को रोकने के लिया बुद्धि दूरार कोई कार्य नहीं करती। और जब बुद्धि किसी घात की मद्दत या दुरार का निष्पत्ति कर सकती है तब आगे उस निष्पत्ति की अपेक्षा में राने का काम मन के द्वारा अपने मनोवृत्ति के द्वारा ही हुआ करता है। "स घात की चक्का पहुँचे लेव लेवह विचार में हा मुरी है।" नारायण यह है कि बुद्धिगम्य ज्ञान की प्रति देखे के लिये और भाग मावरण तथा दृष्टि में उसकी पक्षावपत्ता हाने के लिये इस ज्ञान को हमेशा भद्र द्वा रात्माय कलाय प्रेम इत्यादि नैतिक मनोवृत्तियों की आवश्यकता होती है और या ज्ञान अन मनोवृत्तियों की द्वारा तथा अपने नहीं करता और जिस ज्ञान को उनकी महावता अपशित नहीं होती उसे सूचा कोया करना अपूर्ण ज्ञान या कृप्य ज्ञान समझना चाहिये। ऐसे जिन ज्ञान के लेवह गोली से कनूँह नहीं उकती देख ही प्रेम भद्र भाडि मनोवृत्तियों की सहायता के जिना केवल बुद्धिगम्य ज्ञान दियी का नार नहीं जाता। यह जिहान्त हमारे प्राचीन ऋगियों को मनी भोवि मान्य था। उगाहरण के लिये छागेयोगविनायद में वर्णित यह कथा शीघ्रिये (३१ १०२) — एक जिन भेदभेद के पिता न पह तिड़ कर दिग्गजे के लिये — कि भाष्यत और नृप परतम ही गर "य इग्न का मृक्कारण है भेदभेद स वहा कि वरण का एक पृथ मैं भागो और देखा कि उमड़ भीतर कथा है — भेदभेद न दिन ही पिया। उस पर की ताढ़ कर देखा भीर वहा इसके भीतर छाँ छाँटे वहा न दीद पा दाने हैं। अब दिना न दिर कहा कि उस दीद मैं से एक दीद है ए उस ताढ़ कर देखा भीर वाप्रभा कि उस क भीतर कथा है। भाष्यत ने एक दीद ने लिया ने ताढ़ कर देखा भीर वहा कि इसके भीतर कुँव नहीं है। तब दिना ने कहा भीर! यह जो तूम तुछ नहीं बहा दा अमी म पह दरार का ज्ञा दहा दृष्टि भी है और भास म पह

तब यह कुछ भी नहीं थोड़े। बापड़ि ने फिर वही प्रसंग किया जो भी याहु तुप ही रहे। अब ऐसा ही आर-पॉच बार तुधा तब यह ने बापड़ि से फिर कहा, और! मैं तेरे प्रभा का अन्तर तमी से है रहा हूँ परन्तु तेरी समझ में नहीं आया — मैं फ्ला कर्म ! ब्रह्मस्वरूप रिसी फ्लार भत्ताचार्य नहीं यह सफल। इसलिय शान्त हीना भवान् तुप रहना ही सच्च ब्रह्मस्वरूप है। समझा ? (वे थ, शा मा १ २ १०)। साराय जिस दृश्यसुशिक्षण, अनिकार्य और अनिन्द्रिय परमात्मा का यह बयन है— कि वह मुंह फूँ फर अद्विमा जा रहा है औंगा से तिगां न टेन पर लुँ लेग रहते हैं और समझ में न आने पर वह मास्तम हाने सकता है (फैन २ १०)। उनको खावारम बुद्धि के मनुष्य के पहचान रहे और उनके द्वारा साम्यावस्था प्राप्त हो कर उनको लड्डु भैंसे मिलती। सब परमात्मरूप का अनुमत्वान्तर और यथार्थ हान ऐसा है कि सब चरणरसात्मि में एक आत्मा प्रतीत होने क्या सभी मनुष्य की पूरी उपतिः होगी और ऐसी उपतिः कर सेने के लिय तीन बुद्धि के अति रिक्त काँइ दृश्य माग ही न हो तो सबसे के आत्म-करोदा मनुष्यों का ब्रह्मप्राप्ति की भावा औइ तुमनाप के रहना होगा। क्याकि बुद्धिमान् मनुष्यों की सक्षया हमेशा कम रहती है। परि यह वह कि बुद्धिमान् लोगों के कम्बन पर विशाल रक्षन से हमारा काम अस जायगा तो उनमें भी कई मनोज्ञि तिगां रहे हैं और पह कहे कि विशाल रक्षन से काम अस जाता है तो पह जात आप ही आप सिंह हो जाती है कि ऐस गहन छन भी प्राप्ति के लिये विभास अपवा भद्रा रक्षन मी बुद्धि के अलिरिक्त काँइ दृश्य मार्ग है। तब पूछो तो यही शीघ्र पड़गा कि हान की वृति अपवा अस्त्रपता भद्रा के मिना नहीं होती। यह बहना — कि तब जन्म क्वच बुद्धि ही से प्राप्त होता है उसक लिये किसी अन्य मनोज्ञि की सहायता आवश्यक नहीं — उन परिणाम का दृश्यमान है किसी बुद्धि के बहुत लक्षणान जाओंगों का कम भर अपवयन करने के कारण हो गा है। उगाहरण के लिय पह तिकान्त सीधिय लिक्कन सुने किर दृश्योऽप्य होगा। हम संग इति तिकान्त क हान का अन्त निभित मानत है। क्या ? ठजर पही है कि हमन और हमार पूर्णों ने ऐस अस को हमेशा भग्यान्त दरा है। परन्तु कुछ अधिक विचार करन से मानम होगा कि हमने अपवा इमार पूर्णों ने भव तब प्रतिनिधि लक्षे तूप का निकलन लेगा दे पह बह बह कल लगेर तूपोऽप्य होने का कारण नहीं। हा मरनी अपवा प्रतिनिधि हमारे लक्षे के लिय या इमार अस ने ही कुछ दृश्योऽप्य नहीं होता। पवार म दृश्योऽप्य हान के दुष भी ही कारण है। अप्ल भव पहि हमारा अपवा का प्रतिनिधि लेन्द्रा कम दृश्योऽप्य हान का कारण नहीं है तो इसक लिये क्या प्रमाण है कि इस दृश्योऽप्य होगा। शीघ्र वार एक किसी बम्बु का अस एक ज्ञा भद्रित शीघ्र पहन पर यह मान लेना भी एक असार विचार या भद्रा ही हा दे न कि वह कम भाग भी देना ही निय अन्ता रहा। पद्धति हम उन्होंने कम वहन वहा प्रतिनिधि नम्म

ही निशुण है या नहीं इस बात की पूरी जोच कर उसके साफ़ज्ञात्मक भावाओं की मीमांसा करने के लिये सामान्य स्थेग में बुद्धि की तीव्रता में से ही न हो परन्तु अद्य या दिव्यात् युक्त ऐसा मनोधर्म नहीं है जो महाबुद्धिमान् पुरुषों में ही पाया जाय। अझकों में भी भद्रा की फुल न्दूता नहीं होती। और जब कि भद्रा से ही वे लोग अपने सैकड़ी सात्त्वारिक स्ववहार किया करते हैं तो उसी भद्रा से यहि जे ब्रह्म को निर्गुण मान सेंगे तो कोर्म प्रस्तुत्याव नहीं होता। मोक्षधर्म का अतिहार फट्टे से माखम होगा कि जब शत्रु पुरुषों ने ब्रह्मस्त्वस्प की मीमांसा कर ली तो निर्गुण भवत्या, उसके पहले ही मनुष्य ने अब्दल अपनी भद्रा से यह ज्ञान किया या कि सृष्टि की वह में सृष्टि के नाशकान् और अनिय फ़िशों से मिस या विस्तुता घोर एक तत्त्व है ये अनाशन्त अमृत रक्तान्, उर्बारिमान्, सर्वज्ञ और सवभावी है और मनुष्य उनी समय से उस तत्त्व की उपासना किसी रूप में करता चल आया है। पहलता है वह उत्तम स्तर ज्ञान की उपपत्ति क्षत्रिय नहीं उकता या परन्तु आधिमौलिकशास्त्र में भी यही ज्ञान वीत घटता है कि पहले अनुभव होता है और प्रभात् उसकी उपपत्ति क्षत्रियाँ जाती हैं। उत्तरणार्थं भार्लक्षण्यार्थं जो पूर्णी के ( अथवा भूत में न्यून की सार दिव्य क ) गुरुत्वार्थण की क्षमता उक्तें के पहले ही यह बात अनादि काल से सब स्थेग का मास्त्रम् यी कि वेद से गिर दुमा फ़स नीने पूर्णी पर गिर पड़ता है। अध्यात्मशास्त्र का भी यही नियम उपयुक्त है। भद्रा से प्राप्त हुए ज्ञान की जो अध्यक्ष करना और उसकी उपपत्ति की लोक करना बुढ़ि का काम है सही परन्तु सब प्रकार योग्य उपपत्ति के न मिल्दे से ही यह नहीं कहा जा सकता कि भद्रा से प्राप्त होने वाला ज्ञान बेकड़ भ्रम है।

यहि लिपि इतना ही ज्ञान सेवे हैं हमारा काम जल जाय कि ब्रह्म निर्गुण है तो उसमें सम्भव नहीं कि यह काम उपयुक्त फ़स के अनुषार भद्रा से ज्ञान व्य सकता है ( गीता १३ २८ )। परन्तु नात्र प्रस्त्रण क अन्त में कह दुक्ते हैं कि ब्राह्मि निविति या चिह्नावस्था की प्राप्ति कर सका ही उस समार में मनुष्य का परमतात्म या अनित्त घैय है और उसके लिये ब्रह्म यह बाता होन ( कि ब्रह्म निर्गुण है ) किसी काम का नहीं। वीष लम्ब के नाम्यात् और निय की आवश्यक इत ज्ञन का प्रबोध हृष्टय में तथा देहशिवा म अच्छी तरह ही जाना चाहिय; और आपत्ति के हासा ब्रह्मस्त्वस्पतुष्ठि ही हमारा डेह ल्यम्ब हो जाना चाहिय। ऐसा होने वे लिय परमधर क ल्यम्ब का प्रमयुक्त चित्तन बर्ते मन का तड़कार करना ही पक्ष मुख्य उपाय है। यह मार्ग अथवा लाल्हन हमारे इष म बात प्राप्तीन समय ते प्रवक्षित है और इसी का उत्तराना या मस्ति वहत है। भक्ति का लाल्हण चारिस्वयम्भूत ( ५ ) मे इस प्रकार है कि या ( मक्षिः ) पराकृतिरीभो - इत्पर क प्रति पर नायत् निरनिषय व्य प्रम है उस मक्षिक बहते है। पर इष का भय ब्रह्म निरनिषय ही नहीं है; किन्तु मायमनपुराज मे कहा है

उपरोक्त दिया, कि 'भद्रस्य अपांत् इस कस्तना का केवल बुद्धि में रख। मैंहूं से ही 'हों मत करो; जिन्हुं उसके आगे भी चलो। यानी इस तथा का अपने हृष्य में अच्छी तरह अमने दो भौंर भान्तरण पा हृषि में रिखा' देने हों। भान्तर वहि यह निष्पत्यामक शब्द होने के लिये भड़ा की भाकरमध्या है कि सूक्ष्म का उत्तम कल्प सुधेरे हाण्डा तो यह भी निष्पिक्षा' चिद्र है कि इस शब्द को पुण्यतथा शब्द उन के लिये - कि उसी नृष्टि का मूल्यस्व अनाति अनन्त सवेक्षन सर्वत्र स्वतुल्य आर अतुल्यस्व है - पहले हम आगा को बहाँ तक वा उक्त बुद्धिरूपी व्याही का अवशम्यन करना चाहिये परन्तु आगे उसके अनुरोध से कुछ दूर तो अवश्य ही भड़ा तथा प्रेम की पगड़ी से ही जाना चाहिये अपिय, मैं किंतु मौं कह कर ईश्वर के समान बन्ध भौंर पूर्य भान्तवा हूं, दूसे ही बन्ध खेग एक सामान्य भी समझो हूं या नैषापिंस के धार्मीय भावाबहान्तर के अनुसार 'गमपारव्याप्रसवानिष्ठीन्वसप्रामान्यावस्थु' नावधिष्ठम स्वप्निकित्या समाप्त हूं। ऐस एक छाट से स्वावहारिक उत्तरण में यह बात किसी के भी व्यान में लाहू आ सकती है कि वय कृप्त उक्तशब्द क सहारे श्रात किया गया शब्द भड़ा भौंर प्रेम के सर्विम दात्य चाहता हूं तब उसके लिया भल्लर हो जाता है। इसी कारण ने गीता (१ ८०) में कहा है कि क्रमवीरियों में भी भड़ाजान भए हैं भौंर देखा ही सिद्धास्त - जिसे पहले कह आय है कि - अप्यारमणाम में किया गया है कि इन्द्रियानीत होने के कारण किन पश्चायों का चितन करत नहीं सकता उनके स्वरूप का निषय केवल तक में नहीं करना चाहिये - अविस्त्यः एवुं य मात्रा न तान्मत्वेण फिन्तयेत्।

यहि यही एक अनुचन हो कि माधारण मनुष्यों के लिये निरुप एवं शा जन हाना कठिन है तो बुद्धिमान पुरुषों में मतभेद होने पर भी भड़ा या विश्वास से उसका निराण किया जा सकता है। कारण यह है कि इन पुरुषों में जो अधिक विभक्तनीय हैं, उन्होंने के बचनों पर विश्वास रखने से इमारा काम ज्ञ जावया (गीता १३ २८)। तीर्त्तिगाम में इन उत्तरण का भासवन्ननप्रमाण बहुत है। भास का अप विभक्तनीय पुरुष है। उसके स्वप्नहार पर हरि जात्र में यही गिरार होता कि इद्यरा साग भास-वास्तव पर विभास रात कर ही भासना स्वप्नहार परात है। या पर्यं त्वं क वर्ते नात वर्या नहीं होते । अपवा एवं पर एक मिथ्या में जो नहीं हात 'परह वर्या होते' इन कियत की उपरानि या कारण ग्रन्तानेवाढ़ पुरुष बहुत ही ज्ञ मिलत है। तो भी इन मिद्दास्तों को ज्ञ भास कर ही ज्ञात जो स्वप्नहार परम रहा है। ऐसे ज्ञ इन दृढ़ ज्ञ मिथ्ये इन ज्ञान का प्रयत्न भास है कि हिमान्य की उच्चार पात्र लिये हैं ज्ञ भूमान की पुस्तक में पर्यं है नाम इश्वर और और पर्यं जग्या हम गुरुत्व हीं ज्ञान तेज है। पर्यं ज्ञ ज्ञान यह प्रभ पूजा है कि हिमान्य की उच्चार मिती है ज्ञ भूमान की पुस्तक में पर्यं है नाम इश्वर और पर्यं जग्या है तो यह उपर देखे में क्या हानि है कि यह 'निष्पा' है। यह गपमुन

स्थिये किंतु ब्रह्मत्वरूप का स्वीकार करना होता है, वह यूणी भेणी और मर्मचारी भी उपास्य और उपासक के में से – मन के गोचर होनेवाले यानी उगुण ही होते हैं। अंग एवं सी छिप उपनिषद् में यहाँ यहाँ ब्रह्म की उपासना कही गई है वह चाहे उपास्य ब्रह्म के अम्बुज की होने पर भी सुगुणरूप से ही उल्लङ्घ व्यथन किया जाता है। उग्राहरणार्थ शापिद्वयविद्वा म किंतु ब्रह्म की उपासना कही गई है वह पद्मव्यक्त भर्यान् निराकार है सधारणि अन्तोम्योपनिषद् (३ १४) में इहा कि वह श्राणधारीर उपास्यस्य, सद्वान्त्र उपासना अपर्याप्त मन शब्दहोनेवाले सब गुणों से युक्त है। स्मरण रहे कि यहाँ उपास्य ब्रह्म यथापि उगुण तथापि वह अम्बुज भर्यान् निराकार है। परन्तु मनुष्य के मन की स्वाक्षरित्वका ऐसी है कि सुगुण बलुओं में से भी जो कसु अम्बुज होती है अर्थात् किसका फौंट विद्युप रूप रह आयि नहीं, और उससिये या नैवाहि उन्निति और अनोन्चर है उस पर प्रेम रखना या हमेशा उपका चिन्तन कर मन उसी में स्थिर बरक वृत्ति को दाकार करना मनुष्य के स्थिये बहुत बहिन और हुसाय भी है। कर्मानि मन खम्भाक ही से बाहर है। इससिये यत एक मन के सामने आकार के छिप और उन्नित्यगोचर स्तिर भलु न हो तब एक मन बारबार भूल यथा भरता है स्तिर यहाँ होता है। विच की स्तिरता का यामानसिक काप वह वह शानी पुरुषा को भी दुष्कर प्रवीत होता है तो फिर तापारमनुष्यों के स्थिये कहना ही क्या? अतएव रजागतिवद् के उद्दासीनी की विद्वा समय किंतु प्रकार ऐसी रेता की करना करने के छिपे – कि या अनाहि अनन्त और मिना लौकाइ की (अम्बुज) है; किन्तु किउम अन्नार्थ या गुण हुने से सुगुण ह – उस रेता का एक छोटा सा नमूला रॉप्यन या तमस पर व्यक्त करके उसक्षमता पड़ता ह। उसी प्रकार ऐसे परमश्वर पर प्रेम करने और छसमें अपनी तृतीय की जैन करने के छिपे कि यह सर्वकर्ता सबधारितमान् सद्गत (अतएव सुगुण) है; परन्तु निराकार भर्यान् अम्बुज है मन के सामने अव्यक्त नामहृष्टसम्बन्ध विची बसु के रहने मिना साधारण मनुष्यों का चास नहीं करता।\* यही क्या पहल वित्ती व्यक्त प्रयाप के देश मिना मनुष्य के मन म अम्बुज की कसना ही चाल हो नहीं लकड़ी। उग्राहरणार्थ यत हम सात हर इस्माहि अनेक व्यक्त रोगों के प्रश्न पहल भौतिका

इत विद्वा रुप भाव है या बागवान्तिका का इहा जाता है –

जलरावगमत्वप्रयत्ना त्वया त्वयस्ततुष्टवात्परिग्रहः ।

उग्राहरणप्रित्वप्रयत्ना त्वया त्वयस्तप्तिविहामपर्यवेक्षमः ॥

विद्वा का अप्य रुपान के लिव लकड़ा के हामन विद्वा वकार छाड़ छाड़ के रुप रुप वहाँ का अप्य रुपान का रहना है उसी प्रकार (लिव) शुद्धदर रुपान का हामन का अप्य रुपा विहा वा अप्य रुपी का विषय जाता है। रुम्हु यह अप्य इतर वागवान्तिका न नहा विद्वा।

कि वह प्रेम निर्देशुक निष्काम और निरन्लर हो — महिमाम्यविहिता या भनि-  
पुरुषात्मे' (प्राग् ३ ९ १२)। कारण वह हि कि इस प्रकृति न्स हेतु से की  
आती कि है असर। मूले कुछ है तब ऐतिहासियागामिक काम्य कमों क समाज  
उसे भी कुछ न-कुछ स्वापार का स्वरूप प्राप्त हो जाता है। ऐसी महिमा रास्ता कहन्मरी  
है; और उससे चित्त की शुद्धि ही पूरी पूरी नहीं होती। उन कि चित्त की शुद्धि  
ही पूरी नहीं हूँ तब कहना नहीं होगा कि भाष्यामिक उपनिषद् में आर माय भी  
प्राप्ति में भी शाशा भा जापगी। भष्यामासप्रतिपादित पुरुष निष्कामता का तात्पुर  
न्स प्रसार महिमाम भी क्ना होता है। आर 'सी किय गीता में भाष्यकृचों भी  
पार भेणिया करते हैं कि जो भयार्थी इ यानी क्न कुछ पाने क हेतु परमधर  
की मन्ति करता है वह निर्देश भणी का भक्त है आर परमधर का जन हन क  
कारण ज्ञा स्वयं भगवन लिय कुछ प्राप्त करन भी 'अप नहीं रखता (गीता ३ ११)  
परन्तु नार' आदिग क समाज क 'जानी पुरुष केवल ज्ञनशुद्धि म ही परमधर  
की मन्ति करता है वही सुन मना म भढ़ है (गीता ३ १६-१८)। यह मन्ति  
मागवतपुराण (० ३) क भनुमार ना प्रकार की है ऐसे —

भद्रां वीक्षन विष्णोः स्मरत वादेष्वद्वम् ॥

अचल वन्दन वास्य स्मरप भावमनिवृद्धनम् ॥

नारद क भगवत्पुराण म 'सी प्रकृति क स्वारह में निय गये हैं (ना ८ ८२) :  
परन्तु मन्ति क 'न तत्त्वमी का निवाप्य शास्त्रात् आदि अनुक्त माया-प्रम्या में  
विस्तृत रीति मे लिय गया है 'न किय हम यहाँ उनी विश्वप ज्ञा नहीं  
ज्ञत। मन्ति लिखी ग्राहक की हो यह प्रसर है कि परमेश्वर मे निरनिषय भीर  
निर्देशुक प्रेम रखते हर भगवनी उनि का तपाकर करन का भक्ति का ज्ञामाम्य काम  
प्रपेत मनुष्य का अपने मन ही स करना पड़ता है कि छन्द यस्त्रण मे कह पुरे  
हि कुछी नामक गंग भन्नारितिय है वह कष्ट नहीं कुछ, एम अपम भवया  
काय अकाय का निषय करने क लिया भीर कुछ नहीं करती। शेष मानसिक काय  
मन ही का करने पान है। अपान अब मन ही क ए मह ही जात ह — एक मन्ति  
ज्ञानेशाश भन भीर दूनरा उनका उपास्य यानी लिङ् पर प्रेम किया जाता है वह  
एम् अनिष्टा म लिम भह इष्टम्बन्य का भनुमय प्रतिगमित लिय गया है  
वह ईतिहासित भवयन भवत लियून भीर 'एक्ष्यार्दितिय है। इतिहास  
ज्ञानेशाश का भारम्य उम स्वरूप म नहीं हा सहना। कारण यह है कि उम भह  
इष्टम्बन्य का भनुमय हाजा है तत्त्व मन भवय नहीं होता किन्तु उपास्य भीर  
ज्ञानेश भवया जाता भार देव देवा एक्षर हा जन है लियून एम भवत म लियून उम  
काय एक्षर हन भी जाना मन म न आई तत्त्व तत्त्व इत्त भह इष्टम्बन्य का  
भवत जापन की दौड़ म की ज्ञानेशाश ज्ञानेश का

एक ही सा स्पर रहता है कि अनुमतामङ्ग शान के किंवा मोभ नहीं मिलता। फिर वह व्यव कर्मेण करने से क्या क्षम है कि शानमाग ऐड है या भविमाग ऐड है! वर्षपि ये दोनों शाखन प्रवमावस्था में भविकार या योग्यता के अनुसार मिल हा तथापि अन्त म अर्थात् परिणामरूप म शोना भी योग्यता समान है और गीता मे ज्ञ शोना का एक ही अध्यात्म नाम दिया गया है (११ १)। अब वर्षपि साखन की इदि से हान और युक्ति भी योग्यता एक ही समान है तथापि ज्ञ शोना म यह महत्व का मेड है कि भविक वर्षपि निष्ठ नहीं हा उक्ती किंवु शान को निष्ठ (यानी सिद्धावस्था भी अनित्य रिष्टि) कह सकते हैं। उसमें उन्नेह नहीं त अ वान्मणिचार से या अव्यक्तोपासना से परमधर का थो शान होता है वही युक्ति से मी हो सकता है (गीता ८ ६); परन्तु उस प्रकार हान की प्राप्ति हो जाने पर आगे यदि वोइ मनुष्य साधारिक व्यवों को छाड़ दे और शान ही मे सा निमग्न रहने स्थ तो गीता के अनुसार वह शाननिष्ठ कहलायेगा 'मुक्तिनिष्ठ' नहीं। उसका कारण यह है कि उम तक मुक्ति की किया जारी रहती है तब तक उपात्म और उपासकर्षी द्वेतभाव मी ज्ञा रहता है और अनित्य ब्रह्मात्मैस्य रिष्टि मे तो मुक्ति भी जीन कह अस्य किसी भी प्रकार की उपासना होप नहीं रह सकती। मुक्ति का पयवसान या एक ज्ञन है मुक्ति ज्ञन का शाखन है — वह इुच्छ अनित्य उपात्म बस्तु नहीं। लाराय अव्यक्तोपासना भी इदि से शान एक बार लोक्त हो सकता है; और दूसरी बार ब्रह्मात्मैस्य के अपरोभानुमत भी इदि से उठी ज्ञन का निष्ठ यानी सिद्धा वस्या की अनित्य रिष्टि कह सकते हैं। उस इस भेद को प्रकट रूप से विज्ञाने की भावस्थक्षया है सब 'शानमाग और 'शाननिष्ठ दोनों शाखा का उपयोग उमान अथ मे नहीं किया जाता किंवु अव्यक्तोपासना भी लाखनावस्थावाली रिष्टि विवरणे के किय 'शानमाग का उपयोग किया जाता है और शनप्राप्ति के अनुसूतर सब कमों का और ज्ञन ही मे निमग्न हो जाने की ये सिद्धावस्था भी रिष्टि है उत्ते लिये 'शाननिष्ठ एक का उपयोग किया जाता है। अपार्व अव्यक्तोपासना या अप्यात्म विचार के अथ म ज्ञन को एक बार शाखन (ज्ञनमार्ग) कह सकते हैं और दूसरी बार अपरोभानुमत के अथ म उसी ज्ञन का निष्ठ यानी कम्प्यागवर्ती अनित्य अवस्था कह सकते हैं। यही शान क्षम क विद्यप मे भी कही जा सकती है। शास्त्रात् मपाण के अनुसार यो क्षम पहसे चित्र की शुद्धि के सिये किया जाता है, वह ज्ञानन कहत्या है। इस क्षम से चित्र की शुद्धि होती है और अन्त मे ज्ञन तथा शाननि भी प्राप्ति होती है। परन्तु यदि कार्य मनुष्य इस ज्ञन मे ही निमग्न न रह कर शाननिष्ठ अव्यूपयन निष्ठामम्भ करता ज्ञन ज्ञाने तो ज्ञनपुर्व निष्ठामम्भ भी इदि से उच्छ इस का निष्ठ वह सकते हैं (गीता ३ ३)। यह ज्ञन मुक्ति के विद्य म नहीं वह सकत क्षाकि मुक्ति तिष एक माग का उपाय भपान ज्ञनमार्ग का ज्ञान ही है — वह निष्ठ नहीं है इमान्दिय गीता के भारगम मे

ऐप लेके हैं, तभी 'रहा' की सामान्य भार अस्युक्त कामना उत्पन्न होती है। यहि प्रका-  
न हा, ता 'रहा' की यह अस्युक्त कमना हा ही नहीं सकती। भव चाह न्ये बोद-  
मनुष्य के मन का स्वयमाव कह या दाप कुछ भी कहा शाय। यह तक 'हथारी मनुष्य'  
भगवन मन के इस स्वयमाव का भलगा नहीं कर सकना तब तक उपासना के सिय यानी  
मक्कि के खिय निगुण से संगुण में — ऑर उसमें भी अस्युक्त संगुण की भपथा एक्षु  
संगुण ही म — आना पाण्डा है। 'मह अतिरिक्त अन्य चाह मारा नहीं। यही कारण  
है रिथक्त उपासना का मारा अनादि काम से प्रचलित है रामतापनीष आदि न्य  
निषेध म मनुष्यसंघारी एक ब्रह्मस्वरूप की उपासना का वज्जन ह ऑर ममाद्वितीय  
में भी यह कहा गया है कि —

स्त्रीशास्त्रधिकातरस्मेषी अद्ययन्नामस्तु चतुर्मासम् ।

अद्यता हि मनिदुर्ग बहुविरचाप्ते ॥

अधार अधर मैं चित की (मन की) प्राणप्रदा करनेवाल का बहुत कष्ट होत है क्योंकि इस अधर के गति का पाना "इन्सियभारी मनुष्य के लिये स्वस्मादत कदाचित है" - (गीता ४-५)। इस 'प्रत्यभ माग ही का महिमाग' कहत है। "मूम कुड़ लुन्ह नहीं कि काँ मुद्दिमान पुण्य भयनी मुद्दि से परजाप क स्वरूप का निष्पत्त कर रखक अपह रस्ते म छव भयन दिचाया क वय सु अपन मन का शिर कर सकता है। परन्तु इस रीति में अध्यक्ष म 'मन का धाराल करन का काम भी तो भन्त म भड़ा और प्ल म ही लिड करना हाता है। "मालिये ऐस माग में भी भड़ा आर प्रेम की भावस्थिता दूर नहीं सकती। कच युआ तो कास्किस दृष्टि से कविशब्दन्त बद्दा पासना का लुमादग मी फ्रेममूर्त महिमाग म ही दिया जाना चाहिय। परन्तु इस माग मै प्लान करन के लिये लिय द्रष्टव्यस्थ का स्वीकार दिया जाता है पह कवर इवल और मुद्दिगम्य अधार जानेम्य हाता है और उसी का प्रयोगना ही जाती है। ऐस दिय इस दिया का मनिमाग न कहकर भप्पा महिमार रस्तोपासना या काँप उत्तराना रथया द्वानेमाम कहत है और उत्तराय द्रष्ट के सामुग रहन पर भी उत्तर उत्तर अंगम क दर्श रथन - और दियाना मनुष्यश्वधारी - एवं स्वीकृत दिय जाता है तब पही महिमाग कहता है इस प्रवार पर्वति माग त है रथारि उन जना मै पक्टी रामधर की प्रसि होती ८ और क्षम भै पक्ट ही भी लाम्बुद्दि मन मै उत्तर होती है। "मालिय मन" और दर्शा दि शिव उत्तर जिमी ऊ पर रहन दि रे न दि र हात है रमी प्रवार दिय दित रथुया भी याम्बला व अन्नार व ग (अन्नमार भी अन्नमाग)। भना"मिड नित दित दित मारे भी दित दित" अनिमन्त्रय रथया यथ म तुउ निता नहीं होती। इन ते एवं दि भी रमी भी बुद्द ह तो दूसर दि भी दर्शन भी भना भीत प्रसि है भीत रिमी ख माग त रथा तन मै पक्ट ही रामधर का एव ही उत्तर का उत्तर होता है। एव पक्ट ही भी प्रसि भी प्रसि होते हैं। इस दिय उन मारो मै पही शिवान

तथा इह से विद्यक स्वरूप का आकृत्ति में कर सकेगा — ऐसे सत्यताहृसं  
सक्षम्यवसम्पदम्, वदासागर, मक्षवस्तुसं परमपविन् परमत्वार परमक्षम्यविन  
परमपृथक् सर्वमुन्नर सर्वस्मृतिनिधान अथवा सर्वप म छै तो ऐसे स्वास्त्र सहृण  
प्रेममम्प भीर व्यप्त यानी प्रस्थान-रूपभारी सुखम परमेश्वर ही के स्वरूप का  
सहाय मनुष्य भक्ति के लिये स्वस्मृतवत् लिया करता है। जो प्रत्यक्ष मूल में  
अचिन्त्य और 'एकमेवाद्वितीयम्' है उसके उक्त प्रकार के अनित्य तो स्वरूप का  
(अर्थात् ग्रन्थ, भद्रा आदि) मनोमय नेता से मनुष्य को गत्वा होनेवाले स्वरूपों  
का ही वेगस्तुशास्त्र की परिमाणा भी 'ईश्वर' कहते हैं। परमेश्वर सर्वम्यापी हो कर  
भी ममाकृत क्षमा हो गया। इसका उत्तर प्रधिद्व महाराष्ट्र लालु तुमाराम ने एक पर्याप्त  
में लिया है वित्तका आशय यह है —

रहता है सर्वत्र ही व्यापक पक्ष समान।  
पर नित्र मक्तों के लिये छाता है समवाच् ॥

यही विद्वान्त वेगन्त्वात् भी लिया गया है (१ २ ७)। उपनिषद् में भी यही  
बहुत ब्रह्म की उपासना का वर्णन है वहीं वहीं प्राण मन इत्यादि सगुण और  
मैत्र अम्बुज वसुओं ही का निर्देश न कर उनक साथ साथ सूर्य (आतिष्य) भग्न  
इत्यादि सगुण भीर व्यक्त परायों की उपासना भी वही गार है (हि १ २५; द्यृ.  
७)। विद्वान्तरुपनिषद् में तो 'ईश्वर' का लक्ष्य इन प्रकार कर्तव्य कर, जि मात्रा  
तु प्रहृति विद्यार् माधिन तु महस्त्रम् (४ १) — भर्त्यात् प्रहृति ही जो  
माया और इस माया के भविष्यति को मैत्र ज्ञानी भागे यीता ही के उमान  
(गैता १ १) सगुण ईश्वर की महिमा का इन प्रकार कर्मन लिया है, जि 'ज्ञाना'  
मृग्यतु सवार्थी — अयात इस देव को ज्ञान सेने से मनुष्य सब पायी तो  
मुक्त हो जाता है (४ ११)। यह तो नामस्त्रात्मक वसु उपास्य परायान के लिंग,  
परायान भवतार भव्य या प्रतिनिवि के तार पर उपासना के सिव भावरपक्ष  
ह उनी का परायनशास्त्र में 'प्रतीक वहत ह। प्रतीक (प्रति + ईश) ईश का  
शास्त्र वह ह — प्रति = भवनी भीर ईश = तुम तुमाः जर विनी वसु का  
कार एक मात्र परम गायत्र ह भीर विर भवन उन वसु का लून ही तप उन  
भाग की प्रतीक वहत ह इन निषम क नमुगार नवायारी परमेश्वर का ज्ञान होने  
व विद उनका कार भी प्रयोग नि ह भग्नर्थी विनुति या मात्र ग्रनीत ही लक्षा  
ह उपादरणाय महाभारत म व्रायण और व्याप का या नवार ह उनमें व्याप ने  
व्रायण का इस वाहन का व्यापारम व्यापार कराया। विर ह विवर! मेरा उ  
प्रवापम ह उग १५ व्या — प्राप्ति मम या भग्नम च व्याप विवाहम (वन  
१३ १) एका का कर उन व्रायण का पट व्याप तपन तुड मातापिता के तमीर  
व व्या, भीर करने व्या — यही मेरे प्राप्ति एका ह भीर मनाभव न ईश्वर क

जन (साम्य) और याग (क्रम) यही था निश्चर्ण कही गा है। उनमें से योग निष्ठा की विद्वि के उपाय साधन विधि या मार्ग का विचार करने समय (मीठा ४२) भव्यकृपायना (ज्ञानमार्ग) और व्यक्तियासना (मतिमाग) का - भव्यता था। साधन प्राचीन समय में एक साध चरण का रहे इनका - बणन करके गीता में यिफ़ इतना ही कहा है, कि "न इनी मे से भव्यकृपायना बहन द्वेषमय है और व्यक्तियासना या भव्यता अधिक मुख्य है। यानी "स साधन का स्वीकार सब साधारण घटग कर सकत है, प्राचीन उत्तरनिष्ठा भै इनमात्र ही का विचार किया गया है जार शारिस्य भावि सूक्त में तथा भगवन् लाडि प्रभा में मतिमाग ही की भविमा गा है। परन्तु साधनराहि में ज्ञानमार्ग भी र मतिमाग में याम्यतानुसार में विषम्य वर अल्प में गाना का मम भव्यानक्षम क साध त्रैमा गीता न समझुड़ि म किया है कैका अन्य विषी भी प्राचीन गमन्ध न नहीं किया है।

"धर क स्वरूप का यह सधारण भार अनुभवायमङ्ग इन हने के लिये कि सब प्राणियों में एक ही प्रसमधर है ऐन्डियपार्टी मनुष्य का क्या करना पाहिये ? "सु प्रभ का विचार उपसुक्त रीति से करने पर आन पढ़ा कि यद्यपि परमधर का भेद स्वरूप नहाइ अनन्त अनिवार्य अविन्यय भार न त नेति ह तथारि वह लियम अद्वय वर अद्वयक मी है। जर उद्य उक्ता अनुभव होता है तब उपास्य उपासुक्ती उत्तमाव शाय नहीं रहता। "कृतिव उपासना का भारत्म बहा म नहा हा तक्ता। वह ता क्यूँ अन्तिम शाय है - साधन नहीं भीर तत्त्व इन की अ नद्दत लियति है उमरी प्राप्ति के लिय उपासना कैवल एक साधन पा च्याप है। अतएव उम उपासना म लिय वस्तु ता स्वीकार करना पढ़ता है उक्ता नगुण इना भव्यता भाव्यता है। सबसे सवार्थिमान सद्यारी भी र निराकार ब्रह्मस्वरूप देखा अधिन भव्यता है। परन्तु वह क्या द्विदिव्यम् भीर अद्वयक भव्यता का रागवर हान का राग उपासना के लिय अन्यत द्विदिव्य है। अनुष्टु द्विदिव्य चर्म में पही दीन पढ़ा है कि इन इनी परमधर स्वरूप की भवता तो परमेश्वर अविन्यय सद्यारी तद्यारी भीर तद्यारिमान उगामा इमार मी इमार तमान इम भ वाल्गा इम पर अम वरना इमरा उगमाया लियावेग तोर इम लक्ष्मि देवा लिय इम लग अमना वह लग लिये इमर मुमर्दू है। क लाय नहानुनि इनी लिया था इमार भारगापा । इमा बरा कि क लाय इम लगा का यह प्रद्यम लम्बद उपर इह ॥ ११ परमधर मि तग दै भार त मरा है उ लिया क लम्बन मी। रुग बरा भार याका ॥ लम्बन व्यार वरा लगा तो ईनमात्रा द्वयी लियाम लाय लृप । गीता १३ भार ॥ १२ - भव्यता लिये लिये मि वह वह लक्ष्मि ॥ त मसी दी १३ पारम्परा ह तु मरा लक्ष्मि ॥ तु मेग लक्ष्मि ॥ त मेग लियामगदन है तु मरा भवति भारगर ह तु मरा लक्ष्मि ॥ भार देना वह वह वह भी मार अमगुड़ ॥

प्राणविद्या हाविद्या चत्यादि । वेदान्तस्त्वं के दीसरे पाँच में उपनिषद् में वर्णित ऐसी अनेक प्रकार की विद्याओं का अध्यात्म साक्षात् का विचार विद्या गया है । उपनिषद् से यह भी विनित होता है कि प्राचीन समय में वे सब विद्याएँ गुप्त रूपी बाती थीं और केवल विद्या के अतिरिक्त अन्य विद्याएँ को भी उनका उपाय नहीं विद्या बताता था । अठवध वा भी विद्या हो वह गुप्त अपदेश ही होगी । परलूट ब्रह्मप्राप्ति के लिये साधनीभूत हानेवाली आ ये गुप्त विद्याएँ या मात्र हैं वे यद्यपि अनेक ही उपायि उन सब में गीताप्रतिपादित भक्तिमार्गरूपी विद्या अपात माप्त अष्ट (गुप्ताना विद्याना च राज्य) हैं । क्याकि हमारे महानुमार उस स्पृष्ट का अवाप्त यह है कि वह (भक्तिमार्गरूपी साधन) शनमार्ग की विद्या के समान 'अख्यन नहीं है विन्दु वह प्रत्यक्ष वौचा से उत्पन्न होनेवाला है आर चसी द्विये उनका भावरम् मी सुन से विद्या बताता है । यदि गीता म फैल सुहिताम्य हनमाग ही प्रतिपादित विद्या गया होता तो ब्रह्मस्तम के सब सम्प्रणायों में आज्ञा सिद्धि तर्ह में इस प्रत्यक्ष की खेती चाह होती चल्य न रही ह, किंतु हुँ होती या नहीं इसमें मन्दिर है । गीता म जो मनुरुता में या रम मरा है वह उसमें प्रतिपादित भक्तिमार्ग ही का परिणाम ह । पहले तो स्वर्य मग्नान् भीहृष्ण ने — औ परमब्रह्म के प्रस्तुत भक्तार है — यह गीता कही है और उसमें मी दूसरी बात यह है कि मानान ने अप्रेय परामर्श का कारा शन ही नहीं कहा है विन्दु स्थान रक्षन में प्रथम पुरुष का प्रदीग वर्के अपन सुगुण और व्यक्त स्वरूप को लक्ष्य कर कहा है कि सुझमें वह तब गुण रमा है (३७) यह सब मेरा ही माया है । (४ १४) मुझसे किस और उड़ मै नहीं है (५ ७) मुझे शुभ और भिन दानों लक्ष्य है (३) भिन इस शक्ति का उन्नत विद्या है । (५ ४) मैं ही ब्रह्म का और मात्र का सूप हूँ (१८ १०) अथवा मुझे पुरुषोत्तम कहत हूँ (१५ १०) । और भक्ति में अद्वा की यह उत्तरा विद्या हि जन चमों को छाड़त अप्रेत मेरी शरण ता मैं दुह तब राया म सुह कर्मणा द्वर मत (१८ ११) । एगम भेदा कि वह माफना हा जाती है कि माना मि सामान् ऐस पूर्णानन्दके नामने लक्ष्य है कि ज नमरहि परमपुरुष और इयल व्यापु है । तीर तब भोगशन के विषय में उनकी निश्च री रहत है हा उनी इनका ही नहीं कि तु गीता क भावायां का इन प्रकार उपर प्रधर विभाग न कर — कि एक बार शन का तो दूसरी बार भक्ति का प्रतिग्राहन हा — इन ही म नि और कि ही म शन का रूप दिया है कि मिसा परिणाम वह द्वाका है कि शन भोग भगि म अपना कुहि तीर प्रम मि दरमर दिराप न होतर परमभर क शन ही क शन प्रदर्शन का भी भनुभर इत्ता है और तब प्राप्तिदी विद्य म आमीप पुरुषि की इन्द्रिय द्वाकर भन्न मैं विज का विजाल इन्द्रिय नमायाम भोग सुप्र प्रत्यक्ष हा हमी मैं वदयाम भी भा मिया ह मना तृप्त मैं द्वाकर मिय गा हा विर इत्तम वाह भावधय नहीं ज हमार विद्याक्षता ने यह

समान इर्ही की तेजा करना मेरा 'प्रयत्न' चम है। इसी अभियाप को मन में स्थापित भवान भीरुषा ने अपने एक स्वरूप की उपासना कराने के पहले शुरू किया है ।

गान्धिया राजगुरु पवित्रमिष्टम् ।  
प्रायस्तापाम् धर्मे सुसाप अनुमद्यपम् ॥

गहड़ आर सर्व मूल्य और मारनेवाल्य विकल्प और विस्तर्ता, म्यहरू और म्यानक ओर और अचोर, शिव और अधिष्ठ, हृषि फरनेवाल्य और उल्लेख एकलेवाल्य मी (गीता १० और १२) वही है। अतपि मात्रद्वाक दुकाराम महायात्र ने मी ची मत्त से कहा है -

छोटा बड़ा कहे जो छुड़ हम ।  
फलता है सब दुष्ट महत्तम ॥

सम प्रकार विचार करने पर मात्रम होता है कि प्रत्येक वस्तु अंशतः परमेश्वर ही का स्वरूप है। तो निर किन स्वेगों के ध्यान में परमेश्वर का यह सर्वम्यापी न्यून प्रकाएक नहीं आ सकता वे पर्यंत इस अस्याक और शुद्ध रूप को पहचानने के लिये इन अनेक बस्तुओं में से किसी एक का साक्षन या प्रतीक समझ कर उपासना कर दो क्या हानि है! कोई मन की उपासना करेगे तो कोई इत्यध्ययन या उपवास करेगे। कोई गहड़ की मृणि करेगे तो कोई उन्मादर ही का बय करेगा क्षेत्र विष्णु का कार्य विव का कार्य गम्यपति का और कार्य मवानी का मक्का करेगे। कोई अपने मातापिता के चरणों में इक्ष्युमात्र राप कर उनकी सेषा करेंगे; और कोई इतने मी अधिक स्यापक सर्वभूतात्मक विशाद् पुरुष की उपासना प्रसन्न करेगे। कार्य करें, तर्हं को मर्ये भार कोई करेगे कि राम पा हाण सर्व से भी भेद है। परन्तु अम्बन से या मोह से बन यह हीष्ट घृट चाहती है कि 'सब विभूतियों का मूलम्यान एक ही परदाय है' अपवा बय निसी धर्म के मूल सिद्धान्तों म ही यह स्यापक हाथि नहा हाती तर्हं अनेक प्रकार के उपास्यों के विषय में इष्टमिमान और तुरामह उत्पन्न हो चाहता है; और कभी कभी तो सनाद्यों हो चाहे तक नीका आ पहुँचती है। विदिक तुक ईन इष्टां का मूलम्यी चर्मों के परम्पराविरोध की कात ऊह है और केवल ईलाइ धर्म का ही है तो पूरोप के इतिहास से पही दीर्घ पढ़ता है कि एक ही सगुण और उत्तम इष्टा मवीह के उपासना म भी विधिमानों के कारण एक दूसरे की जान से तक की नाज्ञा भा चुनी थी। इन ऊह के सगुण उपासकों में भी 'तज तज यत् इष्ट' हीय पहता है कि हमारा ऊह नियाकार हाने के कारण क्षम्य क्षम्य न मात्र ऊह से भय है। मनिमाग में उत्पन्न होनेवाले इन स्मार्तों का निष्पत्त करने के लिये कार डगाय है पा नहीं' पर्यंत तो वह कान ना उपाप है। उत्तर तक इष्टा दीक टीक विचार नहीं हो चाहेगा तज तज मनिमाग क्षम्यक का या कोर चार का नहीं कहा या लक्ष्मा। इन स्मार्तों अवधी विचार विषया चाहेगा द्विगीता में इन प्रभ का क्षया उत्तर निशा गया है। कहना नहीं होगा कि हितुम्यन वी कर्मानश्चामा मैं इन विषय का पश्चीमित विचार करना विषय महत्त्व की चरत है।

नामवृद्धि वी प्राप्ति की लिये मन का विवर तज एक परमेश्वर की भेद नगुण विभूतिया म स विनी एक विभूति क मवाप का प्रभवता विलन करना उपवा

हिद्वान्त दिया कि गीता प्रतिपादित शन ईश्वाकास्यापनिषद् के उपनानुमार मूल्य और अनुन अपान् इहलाक और परस्पोक इन्हीं काह भेदभर हैं।

ऊपर किय गय विवेचन से पालकों के बान म यह बात भा जायगी कि भक्तिमार्ग दिव वहत है बानमार्ग और भक्तिमार्ग में समानता तथा विप्रमता क्षमा है भक्तिमार्ग का राज्यमार्ग (राजविद्या) या यह त्रिपाय क्षमी कह है; और गीता में भक्ति का स्वरूप निष्ठा क्षमा नहीं माना है। परन्तु श्वनपाति के "ए सुखम्, अनादि और ग्रन्थभ मास में मी धारणा एव बने की एक स्थान है। उसका भी कुछ विचार किया आना चाहिए। नहीं तो समझ है कि "ए मार्ग स चक्षनवाय पवित्र असाक्षात्तमा स गहृ" में गिर पड़े। मात्राक्षीता म "ए गहृ" का स्पष्ट बाणन किया गया है और ऐसी भक्तिमार्ग म अन्य भवित्वान्मों की अपेक्षा जो कुछ विदेशी है वह यही है। यथापि "स बातका तब संग मानत है कि परज्ञान के विष्णुद्विद्यारा साम्प्रदुद्धि की प्राप्ति के लिये साधारणतया मनुष्यों के सामने परज्ञान के 'प्रतीक' के नात स कुछ न कुछ संग्रह और व्यक्त वस्तु अवस्थ हमी चाहिए - नहीं तो चिंच एवं विधिवा हा नहीं सकनी तथापि इग्निहात से दीप पाता है कि 'प्रतीक' के स्वरूप के विषय में अनेक शब्द "गो" भार अवह हा जापा करन है। अप्यासमध्याय एवं इसमें इसा ज्ञप्त ता इस सत्त्वार में प्रमा बान स्पन नहीं कि बहुं परमेश्वर न हा। मात्राक्षीता म भी वह अनुन ने मात्रान भीहृष्म से पृष्ठ तुम्हारी निन द्वि-विभूतिया के रूपस विन्दुन (मठ्ठ) किया जावे सा मन बनवाय (गीता १ १८) तर त्वं वै अप्याप्य म मात्रान् न इत त्यार भीर त्यग्म युष्मि भै व्यास अन्ती भनन विभूतियों का बहन बरक कहा है कि मै इन्द्रिया मै मन व्यावरों मै हिमाल्य यज्ञों मै उदयत्र, यज्ञों मै वामुक्ति इन्वा भै पद्मावति विनारा मै अपेक्षा ग-प्रको मै चित्ररथ दृग्मो मै अभ्यर्थ, परित्यो मै गद्व एहरिया मै सूर्य अपर्यां मै भक्त ल्हार जातियों मै विष्णु है और जन्तु मै यह कहा -

परद्विमूलिमद् तन्म भामहृजितमव वा ।

तन्मद्वापवर्त्तु त्वं मम तजोऽनासमवम् ॥

'नान' यह जाना कि जो कुछ बन्न, लाभी और प्रकार मैं सुन हो वह केवल ती लेके वह मैं उपयोग करता है (१ ४३)। और भविष्य त्वा कहा जाय मै भनन एवं भक्तिमार्ग मै इस सार इन्हा मैं व्याप्त हैं। इनका वह व्यर भगवे भव्याप्य मै विभूतियान न अनुन का इसी निष्ठान की प्रक्षम प्रतीति भी करा दी है कि इस अनार मै गिर्वार इन्द्रमै जब परमव वा गुप परमेश्वर ही के व्यव पक्षी द्वीप है ता पह जीन भीर वन वह नहना है कि इनमै न रिक्ती एवं ही मै परमेश्वर है भीर दृग्मो म नहीं स्वायत्त पही नहना पहना है कि वह दूर है और स्वदैर की है ता भी भाना दृग्म पर भी वह उन दीनों न पर है; भव्या

— ये सब छोटे कथन की देखभावी गायी के समान मन को स्थिर करने के लिये अवश्यक चित्र की शुश्री का परमेश्वर की ओर उठाने के घाटन प्रत्येक मनुष्य अपनी अपनी इच्छा और अधिकार के अनुष्ठान उपासना के लिये विसी प्रतीक को स्वीकार कर लेता है। यह प्रतीक चाह जिवन ही प्यारा हो परन्तु इस बात को नहीं भूलना चाहिये कि सत्य परमेश्वर उस प्रतीक में नहीं है — न प्रतीक न हि ए (पृष्ठ ४१४) — उसके पर है। इसी हेतु से भावद्वीता में मी सिद्धान्त किया गया है कि किंह मेरी माया मात्रम नहीं होती ५ मूर्कन मुझे नहीं अनते (गीता ७ १३-१५)। भृत्यमार्ग में मनुष्य का उद्धार करने की ये शक्ति है कि उस कुछ सभी अवश्यक निर्णीत मूर्ति में या पत्थरों की अमारता में नहीं है जिन्हें उत्त प्रतीक में उपासक अपने सुमीत्र के लिये यह इन्द्रभाकण रखता है वही यथार्थ में तारक होती है। चाहे प्रतीक प घर का हो जिसी का हो, यात्रु का हो या अन्य विसी पालव का हो उसकी आम्यता प्रतीक से अधिक कमी नहीं हो सकती। इस प्रतीक में जैवा हमारा मात्र होगा दीक्षा उसी के अनुसार हमारी महिला का पहल परम श्वर — प्रतीक नहीं — हमें दिया करता है। फिर ऐसा विशेष भूमाने से क्या स्मरण, कि हमारा प्रतीक भेद है भार दुमहारा निरूप ! यह मात्र शुद्ध न हो तो तेज़ प्रतीक की उच्चता से ही क्या लाभ होगा ? जिन मर शाग के पाला तेज और फैलाने का व्यथा करके मुख शाम या किसी स्पौहार के तिन इवालय में देवर्धीन के लिये अवश्य किसी निराकार देव के मन्दिर में उपासना के लिये जग्ने से परमेश्वर की प्राप्ति असम्भव है। क्या मुनने के लिये देवलय में जानवारों कुछ मनुष्यों का बगड़ रामदाराम्बामी ने उस प्रकार किया है — काँ काँ विषवी लग कवा मुनने समय लिया ही की भोर धूरा करत है और लोग पाल्याण (जूल) कुरा जै यहत है (गम १८ १ २६)। यहि क्यवल देवलय में या इवान की मूर्ति ही में तारक शक्ति हो तो ऐस शाग का भी मूर्ति मिथ्य बनी चाहिये। कुछ द्वेषीयों की समझ है कि परमेश्वर की महिला केवल मौत ही के बाती है परन्तु किंह विसी स्वाहारिक वा रवाख की वस्तु चाहिये व मिथ्य मिथ्य इवानों की भाराभना कर। गीता में मैं इह बात का उल्लंघन किया यहा है कि एसी स्वार्थुकि से कुछ शाग मिथ्य मिथ्य इवानों की वृद्धि किया करते हैं (गीता ७ २)। परन्तु इसके आगे गीता ही का कथन है कि यह समझ लाभिक दृष्टि से उच्च नहीं माली यह सकती कि इन देव ताभा की गाराभना करने से व रवाख कुछ पहल भेत है (गीता ७ २१)। अवधारण शाम्भ का पहल विरचयादी सिद्धान्त है (पृष्ठ ३८ ३८ ४१) और पहरी विडान्त गीता की भी मान्य है (गीता ३ २) कि मन मैं विसी मी बालना या बालना का उत्तरर विनी मी देवा की गाराभना वही शाव; उसका कव नवद्वारामी परमेश्वर ही किया बरता है जै इवान। परन्तु वस्त्राला परमेश्वर इन प्रसार एवं ही हा तगारि वह पवर व मुर भाग ५ भनुआर मित्र मित्र कव किया बरता है

अबका प्रतीक्ष समझार प्रत्यभ नेत्रों के सामने रखा इस्यादि चापना का बणन प्राचीन उपनिषद् म मी पापा बना है भार रामवापनी सरीन उच्चलालीन उपनिषद् में या गीता में मी मानवपूर्वारी संगुण परमेश्वर की निर्मीम भार पक्षन्तिक मन्त्र को ही परमेश्वरप्राप्ति का मुख्य चापन माना है। परन्तु चापन की हाइ मे यथापि वासुदेवमधि का गीता में प्रचलनता की गई है तथापि अन्यामहारि से विचार करने पर ऐसुद्ध की नाई (४ य ८ १४) गीता में मी यही स्पष्ट रीति मे कहा है कि 'प्रतीक्ष' एक प्रकार का चापन है — वह सत्य सबस्यापी और नित्य परमेश्वर हो नहीं सकता। अधिक क्या वह नामस्पातमङ्क और उक्त अद्यान् संगुण वसुआरों मे से किसी को मी लीदिये वह माया ही है। यह सत्य परमेश्वर को देखना चाहता है उसे "स संगुण रूप के मी पर वफनी हाइ का छे बना चाहिये। मगावान की ये अनेक विभूतियाँ हैं उनम भक्तुन को दिव्याय गये विद्यरूप से अविक्ष म्यापक और कार भी विभूति हो नहीं सकती। परन्तु यह यही विद्यरूप मगावान ने नारद को दिव्याया उब उर्हने कहा है। तब मर किंव रूप को देख रहा है वह सत्य नहीं है वह माया है मर सत्य मरव का भेदन के सिये "महे भी आगे तुम जाना चाहिये (शा ३३..४४) और गीता म मी मगावान भीहृष्ण न भक्तु से स्पष्ट रीति मे यही कहा है —

अवधारणा पद्धिमापाप्त सम्बन्ध मामहुरूप ।  
पर भावमजानन्तो ममाप्तपमनुसम्भव ॥

येत्परि मी अवक्ष हूँ तथापि मूर्य द्येग मुह म्यन (गीता ७ २४) अभात् मनुप्तश्चारी मानहे हैं (गीता ८ ११), परन्तु यह यत तथ नहीं है। मरा भव्यक्ष मरव ही सत्य है। "सी तरह उपनिषदी मे मी यथापि उपालना के मन बाचा मूर्य आकाश त्यापि अनेक व्यक्ष और भव्यक्ष वृश्चितीना का बणन किया गया है तथापि अन्त मे यह कहा है कि ये बाचा नेत्र या कान का गाप्तर हो वह ब्रह्म नहीं हैं —

परमममा न मदुत पमा—उमुममा मनम् ।  
तदैव ब्रह्म न्व विद्धि नेत्र पद्धिमुपामत ॥

मन से विज्ञा मनन नहीं किया गा बना दिनु मन ही किञ्चकी मननशान्ति में आ बद्दा है उसे तू ब्रह्म समझ। किन्तु उपालना की (प्रतीक्ष क नार पर) यही है वह (तथ्य) ब्रह्म नहीं है (क्ष ४ ८-९)। नेत्रि नेत्रि मृत का मी यही भव्य है। मन और आकाश की सीधिये भव्यता व्यक्ष उपालनामाय के अनुपार शास्त्रप्राप्त, शिवमिय इस्यादि को शीरिय द्या भीराम दृष्टि भावि अक्षारी पुराणी मी भव्यता वासुदेवा व्यक्ष भूति का विनान शीरिय मन्त्रिर्ह में शिवामव भव्यता वासुदेव की दूरि द्य केविये भव्यता द्यना भूति का मन्त्रिर या मन्त्रिर सीरिये

हो जाती है, कि विसी का प्रतीक कुछ मी हो; परम्परा जो सेवा उसके द्वारा परमेश्वर का मानन पूर्ण किया करते हैं वे सब एक परमेश्वर में जा मिलते हैं।' और उस उस मानवान के इस कफल की प्रतीति होने लगती है, कि—

येऽप्यन्यदेष्टामन्तः पञ्चमे भद्रपान्विता ।  
तदपि मामेव कौन्तेय यजम्यदिविपूर्वकम् ॥

अर्थात् यह विधि अचार ग्रन्थोपचार या साधन शास्त्र के अनुसार न हो; उपर्युक्त अन्य ऐष्टाधी का भद्रापूर्व (पार्वती ऊंच मे शुद्ध परमेश्वर का मान रख कर) परम्परा करनेवासे स्वेच्छा (पर्वतीय से) मेरा ही परम्परा है (गीता १ २३)। मानवत में मी असी अप का वर्णन कुछ शब्दमें के साथ किया गया है (माय १ पृ ४ ८९) यिकीदा में तो उपमुक्त स्तोक झ्यो आ स्वी पावा शारा है (यिक १२ ४) और एक सदिग्रा बहुपा कविति (क १ १३४ ४३) "स केवलन का तात्पर्य भी वही है। "ससे किंड होता है यह तत्त्व वैतिकभूमि में बहुत प्राचीन समय से वजा आ रहा है। आर यह "सी तत्त्व का पद है कि आनुनिक काल में श्रीशिवामी महाराज है समान वैतिकवर्त्तीय धीरपुरुष के स्वमूल म उन्हें परम उन्नति के समय म मी परम-अस्तित्वात्मी दोष दीन नहीं पढ़ता था। वह मनुष्यों की अल्पता धोत्रीज मूरका का स्वाम है कि वे न्त सत्य द्वारा की तो नहीं पहचानते कि इधर सर्वव्यापी, सकलाधी महज, सबधृतिमान् और उसके भी पर—अपार्थ अभिन्नत्व है विनु वे ऐसे नामस्वप्नामक व्यष्ट अभिमान के अभिन्न हो जाते हैं कि "धर्म ने अमुक समय अमुक देश में अमुक माता के गम से अमुक जन का नाम का या आहृति का जो व्यक्त स्वरूप पारण किया वही केवल सत्य है और इस अभिमान में कैवल्यर षष्ठी-शूलर की ज्ञान में तक का उत्तम हो जाते हैं। गीताप्रतिपादित महिमार्ग का 'राजकिंश वहा है मही परम्परा यहि इस चार की गोद वी व्यष्ट कि किस प्रारंभ स्वरूप मानवान् भीहृषि ही ने मेरा हस्य स्वरूप भी केवल माया ही है; मेरे पवार्य स्वरूप की ज्ञानने के किये इस वाया मेरी भी पर जाओ वह कर पवार उपरोक्त किया है उन प्रकार का उपरोक्त और किनने किया है' यह अविमल किमत्तेषु इन लालिक ज्ञानटट्टि से सब वहों भी पवता का पहचान कर, महिमाग क धोखे रागान की जट ही को कार दाक्केवाले परमगुरु पहले पहल कही भवतीज रह! भवता उन्ह मनानुपामी अदिति वही है! तो वहना पठना कि इन कियर्य म हमारी पवित्र मारतभूमि का ही भवत्वान किया जाना आहिंसे। हमारे देवताभियों को राजकिंश का और राजगृह का यह लाभार्थ पारण भवाषाम ही प्राप्त हो गया है। परम्परा वह हम "या हि विद्मेष ने ही तुउ भींग भवती भोग्य पर भजनकामी चम्पा स्वाक्षर उन पारण का परम्परा पापर कहन ४ किय तथार ह मर इन दूमाय क मित्रा भीर दपा वहै।"

(वे प १ १४ २३)। असनिय यह गीत पढ़ता है, जिसे मिथ इकानाभा की या प्रतीका की उपासना के फल भी मिथ मिथ होते हैं। इसी अनियाय का मन में रात तर मात्रान न कहा है -

भद्रामयोऽय पुरुषा पा पश्चमूर्द्ध म पथ मः ।

मनुष्य भद्रामय है। प्रतीक शुद्ध मी है पल्लु तिक्ती औरी भद्रा हरी है, देखा ही वह हा चाहता है (गीता १३ ३ मन्त्र ८ ६)। अपवा -

पानि द्यन्नता द्वादू पिन्नु पानि पिन्नपता ।

प्रतानि पानि भूतग्या पानि मध्याजिनोऽपि भासु ॥

‘भेदपाभी की मति वरनवांस व्याप्ति में विनोद कि भूति वरनवामें विन्दुपात मूला की मति वरनवामें भूती के गत है और ऐसी मति वरनवामें मर पात धार है (गी ८)। या -

म पथा मी प्रपञ्चन तीर्थन यत् भजाम्यहम् ।

तो तिन प्राचार मने गत है उसी प्राचार में जन्म गत है (गी ४ ११)। तब स्वयं वरनत है कि शास्त्राम मित एक पर्याप्त है। उसमें पी विष्णु का मात्र राग राय तो विष्णुपात मिथेणा भीर यहि उसी प्रतीक में पथ राज्य भावि भूता की मात्राना की शाय तो पथ राज्य भावा भूतो क ई शेष प्राप्त होता। वह मिद्दान द्यमार तब गायत्रारा को मान्य है कि पथ हमारे मात्र में है प्रतीक में नहीं। गीर्गित रथवहार में तिनी मर्ति की पृथा वरन क पर्याप्त उनकी प्राणप्रतिशिखा वरने की जो रीति है उसका मी दृष्ट्य यही है तिन देवा की मात्राना में उन मृति की पृथा नहीं हो उन देवा की प्राणप्रतिशिखा उन मृति में परमधर की भूतना न रात कार पह नमार कर उसकी पृथा या भावापना नहीं होता कि यह मति तिनी शितिर भावार की मित मिठी पर्याप्त या भावु है आर यहि बीद देवा कर मर्ति का ईर्षा क इन विद्वान् क वरनवार उनका तिनी पक्षा या भावु ही की नहीं दिल्ल॑ क प्राप्त होती वर प्रतीक में नहीं दिल्ल॑ या भावोदिल्ल॑ दिल्ल॑ द्यमार भावनीद नप म द्यम पर्याप्त यहि वर तिन देवा है तो वरन प्रतीक के विषय में इन्होंना देवा द्यम तो कौन करन जर्ती वह उना वर्ती भव तो यहि विषय ही नहीं देवा कि तिन ही देवा है। नहीं क्यों क वरन भीर वरनवारी तामधर के ईर्षा भावन द्यम द्यम क वर्ती हो ही देवा देवा है। इसी उत्तापु व्याप्ति वरन द्यम है तो वर वर यहि द्यम है - प्रतीक की जर्ती नविज्ञान का नह वर तिन जर्ती नवि साम हो द्यम है वर वर में यहि द्यम है जी। इन द्यम कि ५ तिन द्यमामर वरन द्यम वर उत्तापु वरन द्यम है वरि नह द्यम है ३ १ वरन द्यम है तिन द्यम भवनवार म द्यम वरनवार है

मनुष्य को चाहिये, कि अपने प्रबल की मात्रा को कमी कर न कर। सारांश यह है, कि किंच प्रकार किसी मनुष्य के मन में कर्मयोग की क्रिया उत्पन्न होती ही भीर भीर पृथ्य छिड़ी की ओर आप ही-आप आकर्षित हो जाता है (गीता ६ ४४) उसी प्रकार गीतार्थ का यह सिद्धान्त है कि जब मक्खिमार्ग में कोई मक्क एक बार अपने वह दृश्य को सौंप डेता है तो स्वयं मनवान् ही उसकी निश्च और बाटे परे जाते हैं और अन्त में यथार्थरूप का रूप भी कर देते हैं (गीता ७ २५; ३ १)। इसी रूप से — न कि प्रबल कारी और अन्य भद्रा से — मनवक्तु को अन्त में पूरा सिद्धि मिल जाती है। मक्खिमार्ग से इस प्रकार ऊपर चढ़ते चढ़ते अन्त में जो स्थिति माप होती है वह और ज्ञानमाग से माप होनेवाली अनितम स्थिति दोनों एक ही समान है। असमिक्य गीता के पाने वाले के ज्ञान में यह जल सहज ही जापायि कि जारहव अ-वाच में मक्खिमार्ग पुरुष की अनितम स्थिति ज्ञ जो यथान किया गया है वह यूरोप अध्याय में किये गये क्रियाग्रह के बगल ही के समान है। इससे यह जल प्रकृत होती है कि यथापि भारतम् में ज्ञानमार्ग और मक्खिमार्ग से मिल हा तथापि जब कोई अपने अधिकारमेत के कारण ज्ञानमाग से या मक्खिमार्ग से चढ़ने लगता है तब अन्त में ये दोनों मार्ग एकज दिस जाते हैं। और जो गति ज्ञानी के मात्र होती है वही गति भक्त को भी मिल जाती है। तब दोनों मार्गों में में सिफ इच्छा ही है कि ज्ञानमार्ग में भारतम् ही से तुक्ति के द्वारा परमेश्वरस्वरूप अ भावक्षण करना पड़ता है। मक्खिमार्ग में यही खस्त भद्रा जी कहायता है पहल कर किया जाता है। परन्तु यह प्रायमिक भेद आगे नहीं हो जाता है और मनवान् स्वयं कहते हैं कि —

भद्रावाहृ छमते हानं तत्परः सप्तेण्ड्रियः ।

हानं लक्ष्यता परा शान्ति भवितेवापिद्युतिः ॥

**अर्थात्** जब भद्रावान् मनुष्य अविद्यनिप्रहृतात् ज्ञानप्राप्ति का प्रबल करन सकता है। तब उसे ब्रह्माभस्त्वरूप ज्ञान का अनुभव होता है। और किंतु उस ज्ञान से इसे शीम ही पृथ्य शान्ति मिलती है (गी ४ १)। अथवा —

महत्पा मामभिजाकानि पाचाहृ यथास्मि तत्पतः ।

तता मी तत्त्वता हात्या विज्ञते तदनन्तरम् ॥०

**अथात्** मैरे खस्त का तात्त्विक ज्ञान मक्खि न होता है। और जब पह ज्ञान ही ज्ञान है तब (पहले नहीं) वह जल मुहम् भा मिलता है (गीता १८ ६६ और

इस आठ के अन्ति उत्तम एवं ज्ञान पहले ज्ञान (प १८) में यह लिखा गया है कि अति ज्ञान का ज्ञान नहीं है, विन्दु एवं स्वरूप ज्ञान का लिखा है। विन्दु एवं ज्ञान ज्ञानप्राप्ति-ज्ञाना के तत्त्व ज्ञान ही है — ज्ञान नहीं है।



प्रतीक कुछ भी हो मनिमार्ग का फल प्रतीक में नहीं है। किन्तु उस प्रतीक में ये हमारा आन्तरिक मात्र होता है, उस मात्र म है। इसलिये यह सच है, कि प्रतीक के बारे म अगला मनने में सुछ स्थम नहीं। परन्तु अब यह यहाँ है कि ऐसत भी है कि यह शुद्ध परमेश्वरमय की मात्रता प्रतीक म आरापित करनी पड़ती है, उस शुद्ध परमेश्वरमय की कल्पना बहुतरे लोग अपने प्रहृतिश्वराद या अज्ञान के कारण दीर्घ टीक कर नहीं सकते। पहुँची अवस्था म ऐन साधा के लिये प्रतीक म शुद्ध मात्र रख कर परमेश्वर की प्राप्ति कर सके का रूप सा उपाय है। यह कह भ्रंति में काम नहीं पड़ सकता मिं मनिमार्ग में अन का काम भड़ा में हो जाता है। असत्त्व विद्याम से मा भड़ा से परमेश्वर के शुद्धमय को जान कर प्रतीक म मी वही भाव रख्ये। उस तुम्हारा भ्राव सफल हो जायगा। कारण यह है कि मात्र रामना मन का मधात् भड़ा का धम है सही परम्पुर्से बुद्धि की भोगीबहुत सहायता किना मिले कभी काम नहीं कर सकता। अन्य सब मनोषमों के अनुसार केवल भड़ा पा प्रेम भी एक प्रशार से अन्दे की है। यह जात कवल भड़ा या प्रेम को कभी मात्रम ही नहीं सकती कि विन पर भड़ा रामी चाहिय भीर किम पर नहीं। अपना रिय से प्रेम करना चाहिय भीर किंवि से नहीं। यथ काम प्रवेष मनुप्य के अपनी बुद्धि से ही करना पड़ता है क्याहि निषय करन के किय तुदि के सिवा कान दूरी इन्द्रिय नहीं है। ताराय यह है कि वाहौ किसी मनुप्य की बुद्धि भरवन भीत न भी हा क्षयापि उक्तमें यह अनन्ते का वामप्य तो अवस्थ ही होना चाहिय कि भड़ा प्रेम या विद्यास वही राय जावे। नहीं तो अन्यभड़ा भीर उक्ति के साथ अन्यप्ति भी जाएगा तो जायगा भार दानी गान्मे में का गिर्यो। विपरीत पाप में यह भी जहा या सकता है कि भड़ारहित कवल बुद्धि ही यहि कुछ काम करने स्था तो तुमिचाह भार तक्तन में फैल कर, न जान यह कही कही मरकती रहगी; यह उक्तनी ही भवित तीव होगी उक्तनी ही भवित मरकती। अनक अनिरिक्त इन प्रकारण के आरम्भ ही में जहा यह तुम है कि भड़ा भाडि मनोषमों की सहायता के किन वक्त बुद्धिगम्य जन म बनुप्यादि भी उक्तम नहीं हाती। अनपूर्व भड़ा भीर जन अपना मन भीर बुद्धि का इमेशा साथ रहाना भावध्यन है। परम्पुर्मन भीर बुद्धि जैना किमुणामक प्रहृति ही के विकार है। इनमिय उनमें से प्रवेष के कम्पन तीन में - चान्दिव राज्ञ भीर तामप हो सकते हैं। भीर अन्यायि उनमें जाप दर्मजा ज्ञा रह तो भी मिम जिम मनुप्यो में उनकी उक्तनी शुद्धता या अमुदवा होगी ज्ञी हिताव के मनुप्य के अक्षय तमह भार व्यवहार मी निम नित्र हा जायग। यही बुद्धि केवल इम्मन भगुड राज्ञ या तामन हा तो ज्ञना किया आ मउ सुर का निषय इन्न इत्त इत्त विका गीणाम यह होगा कि इन्द्र-भड़ा के कान्दिव भपन शुद्ध होने पर भी वह जायगा तो जायग। भप्ता वहि भड़ा ही उमना भगुड हा तो वहि के कान्दिव इमें न भी कुछ जाव नहीं।

क्याकि ऐसी अवस्था में बुद्धि की मात्रा का मानन के लिये भड़ा तैयार ही नहीं रहती। परन्तु साधारण अनुभव यह है कि बुद्धि और मन दोनों अलग असम्भव नहीं रहत। किसी बुद्धि क्षमता असुध होती है उसका मन अवशत् भड़ा भी प्रायः न्यूनाभिक अवस्था ही में रहती है आरे फिर यह असुध बुद्धि स्वभावतः असुध अवस्था में रहनेवाली भड़ा को अभिकाशिक भ्रम में छाप दिया करती है। परसी अवस्था में रहनेवाले किसी मनुष्य की परमेश्वर के इष्टस्वरूप का चाहे भेदों उपरैश किया ज्ञान परन्तु वह उसके मन में जैवता ही नहीं। अपवा यह मी देखा गया है कि कभी कभी — विभेदतः भड़ा आरे बुद्धि दोनों ही क्षमताः अलग और और कमज़ोर हो जाए — वह मनुष्य उसी उपरैश का विपरीत भव्य किया जाता है। उसका एक उत्तराधरण स्मीलिये। जब न्याय जर्म के उत्तराधर साम्रिकानिवासी नीता जाति के बाहरी लोगों को अपने जर्म का उपाय करने लगते हैं तब उन्हें आकाश में रहनेवाले पिता की अपवा इस भट्ठीह की मी यथाप कुछ मी कस्ता हो नहीं सकती। उन्हें जो कुछ कठब्बया जाता है उसे वे अपनी अपक्षबुद्धि के अनुसार अवयार्थभ्रम से ग्रहण किया जाते हैं। इसीलिये एक अन्येत्र प्राप्तकार ने किया है कि उन लोगों में सुधरे हुए जर्म को समझने की पानता होने के लिये सब से पहले उन्हें अर्द्धचीन मनुष्यों की योग्यता को पहुँचा देना चाहिये। ~ सबभूति के अस द्वास्त में सी वही अप है — एक ही गुह के पाठ पर हुए शिवाय मैं मिथ्या भी य पन्ती है। यद्यपि यूरूप एक ही है तथापि उसके प्रकाश से कौन्त के मणि से भाग निकलती है और मिही के लेसे पर हुए पाणियाम नहीं हीता ( उ राम १८ )। प्रतीत होता है कि प्रायः इसी कारण से ग्रामीन जीवन में शुद्ध आदि अहल्का लेन-बदल के लिये अनविकारी माने जाते होते। तो गीता में भी न्यू विषय की जर्मी की गत है। किन प्रकार बुद्धि के स्वभावतः लालिक, राक्षस और दाम्पत में हुआ जात है ( १८ ३ -४२ ) उसी प्रकार भड़ा के स्वभावतः दीन होते है ( १० २ )। प्रथम अविति के अस्वभाव के अनुसार उसकी भड़ा मी स्वभावतः मिथ्य हुआ जाती है ( ७ १ )। अस्तिय मायान् जहये है कि किन लोगों की भड़ा सामिक है वे तेवताभा मैं किसी भड़ा राक्षस है, वे यज राक्षस आदि मैं और किसी भड़ा दाम्पत है वे मूरु पिशाच आदि मैं विश्वार जहये है ( गीता १७ ४-५ )। यहि मनुष्य की भड़ा का अस्तिपन या बुद्धान्म इर्द

And the only way I suppose, in which beings of so low an order of development ( as an Australian savage or Bushman ) could be raised to a slized level of feeling and thought would be by cultivation continued through several generations. They would have to undergo a gradual process of humanization before they could due to the capacity of civilization. Dr M'usley *Bud and Wood*, Ed 1873 p 57

<sup>f</sup> See Mr. M. H. *Three Lectures on the Indian Philosophy* pp. 72, 73

१० ६४ भी इसिय ) परमेश्वर का पुण अन हले के लिय इन से मानों के लिया कान तीखा मान नहीं है। इसिय गीता में यह चाह साथ यीति से कह ती यह है कि किंतु न तो सब अपनी बुढ़ि है और न भद्रा उषा सबसा नाए ही समझिये—  
वज्रधामहथानब रुद्धयामा विनस्यति (गीता ४४)।

अब बहा गया है, कि भद्रा और मक्कि से अन्त में पुण ब्रह्मार्मेक्षशन मास होता है। ऐसे पर कुछ तार्किकी की यह टक्की है कि यहि मक्किमाय का प्रारम्भ इस द्वेषमात्र से ही किया जाता है कि उपास्य मिस है भौर उपासक मी मिष्ठ है तो अन्त म ब्रह्मार्मेक्षशन जान कैसे होगा ? परन्तु यह इच्छा कवच मान्ति मूल्य है। यहि ऐसे तार्किकों के कथन का ऐसु इतना अप हो कि ब्रह्मार्मेक्षशन के हले पर मक्कि का मक्काह सभ जाता है तो उपम कुछ आपति दीन नहीं पड़ती। क्योंकि अप्यानमयाम का मी यही विदान्त है कि अब उपास्य उपासक और उपा उनाम्बी विपुली का सब हा जाता है तब यह व्यापार कर हा जाता है जिसे अपवाहर में मक्कि कहत है। परन्तु यहि उक्त टक्की का यह अप हा नि ईतमूल्क मरिमाण से अन्त में अद्वितीय हा ही नहीं उक्ता तो यह इच्छा न केवल तक्षशास्त्र की इच्छा से किन्तु वह सभे ममकन्तरों के अनुमत क भावार से भी मिल्या जिद्द हा जाती है। तक्षशास्त्र की इच्छा से उत जात म कुल एकादश नहीं दीन पड़ती कि परमशरत्वश्वर्य में किसी भक्त का चित्र एवा ज्ञान अधिकाधिक विषर होता जावे स्या स्या उक्ते मन से भेदमात्र भी घटता जावे। ब्रह्मसृष्टि म मी हम यही इक्त है कि यद्यपि भारतम म पार की दृढ़ि मिस मिष्ठ हाती है तथापि वे आपत्त में मिल जर लक्ष्य हा जाती है। उसी प्रकार अन्य पश्चातों में मी एकादिवण की किया का आरम्भ प्रायमिक मिष्ठता ही स युआ करता है; और यहि कीट का द्वान्त तो तब संगमा का विभिन ही है। इस विषय में तक्षशास्त्र जी भपणा सापुपुरुषों क प्रत्यक्ष अनुमत का ही अधिक प्रामाणिक लमहना जाहिय। मगवद्वेष-पितॄमणि तुराराम महाराज का अनुमत इमार लिये विषय महस का है। सब अंग जानत है कि तुराराम महाराज का कुउ उपनिषदार्थ इन्द्र्य क अप्ययन सु भप्यामहान प्राप नहीं दुआ था। तथापि उनकी गणा में जगमग जार सी 'अमह भ' नमिति के वर्णन में वह गये हैं इन तब अमहा मैं जामुर्ष लक्ष्म (गीता ७३) का जाव प्रति पाइठि निया गया है। अपणा शहशरम्भकाग्निपद् म रिया वाक्यरस्त्र ने 'कृष्णानी वाभृत्' कहा है कैसे ही भव का प्रतिशान सानुमत से निया गया है। उग्नरुग्ण के विषय उनक एक य अस्ता का कुउ भाएष देविय —

सह मा जोडा है भवयाद् जाहर भीतर पक्ष समान।

हितका व्याप वह सिद्धिक ? जहताहृष्म दे हम यह ॥

इसके भारत का उद्देश हमने लिया मध्यराज में निया ८ और वही यह निया हाया ८ कि उग्निराम म विभिन ब्रह्मार्मेक्षशन से उनके अप भी लियी जाहर दूरी

क्योंकि ऐसी अवस्था में बुद्धि की आज्ञा का मानन के किंवदं भद्रा हिंदार ही नहीं रहती। परन्तु साधारण मनुष्य यह है कि बुद्धि और मन गांव अस्त्रा भवना अपृष्ठ नहीं रहते। किसी बुद्धि अस्त्रा अपृष्ठ होती है उसका मन अवश्य भद्रा भी प्रायः व्यूनाक्षिक अवस्था ही में रहती है और किंवदं यह अपृष्ठ बुद्धि रखमात्रतः। अपृष्ठ अवस्था में रहनेवाली भद्रा को अनिकाक्षिक घ्रम में टाक दिया करती है। ऐसी अवस्था में रहनेवाले किसी मनुष्य को परमेश्वर के अद्वैतरूप का ज्ञान देना उपर्युक्त किया चल्य परन्तु वह उसके मन में छेँचता ही नहीं। अवश्य यह भी देना गया है कि कमी कर्मी—विशेषतः भद्रा और बुद्धि गांव ही जन्मता अपक और भीर कमबोर हीं सब—वह मनुष्य उसी उपर्युक्त का विपरीत अर्थ किंवा करता है। उसका एक उआहरण लीकिये। जब न्याय घर के उपर्युक्त आपिकानिवासी नींगा जाति के बाहरी लोगों को अपने भर्म का उपर्युक्त करने शुगत है तब उन्हें आकाश में रहनेवाले पिता भी अवश्य इता मरीह की भी प्रयाप दुष्ट मी कस्तना हो नहीं सकती। उर्मी और दुष्ट ज्ञातव्या जाता है उसे वे अपनी अपकबुद्धि के अनुसार अवश्यार्थमात्र से प्राप्ति किया करते हैं। न्यूलैंड पक अमेरिका प्रनथसार ने किया है कि उन लोगों में सुधरे हुए चम को नमने की पारता ज्ञान के लिये सब से पहले उन्हें अवाचीन मनुष्यों की योग्यता को पहुंचा द्या जाए।<sup>१</sup> मन्मूरि के न्यू इशान्त म भी वही अवश्य है—एक ही गुरु के पात्र पक हुए गिराया में मिलता दीर्घ पानी है। बाब्यि न्यूर्प एक ही है उसापि उसे प्रनाली ने कौच क मणि से आग मिलस्ती है आर मिही के द्वाले पर दुष्ट पारिष्ठाम नहीं होता (उ राम ५)। प्रठीत हीता है कि प्रायः इसी कारण से प्राचीन उमव म दृष्ट भावि अवाचीन भेदभवति के किंवदं अनधिकारी माने जाते होंगे।<sup>२</sup> भीतों में भी न्यू विषय की चर्चा की गई है। किस प्रशार हुठि के स्वामाकरण सालिक यात्रा और वामस में हुआ करत ह (१८ ३—३२) उसी प्रशार भद्रा के स्वामाकरण तीन होते हैं (१७ २)। प्रतेक व्यक्ति के हृष्टव्यमात्र क अनुसार उसकी भद्रा मी ल्लमाकरण मिष्ठ हुआ करती है (३७ ३)। न्यूलैंड ग्रामान कहते हैं कि किन लोगों की भद्रा लालिक है के देवताओं में किनकी भद्रा राक्षा है वे यह राक्षस भावि म और किनकी भद्रा लाम्ल है वे भूत पितामह आदि में विशाल करते हैं (गीता १० ४—५)। यहि मनुष्य की भद्रा का अस्त्रपन जा कुण्डन इच्छा

And the only way I suppose, in which beings of so low an order of development ( e.g. an Australian savage or Bushman ) could be raised to a due level of feeling and the ght would be by cultivation continued through several generations they would be to undergo gradual process of humanisation before they could attain to the capacity of civilisation. Dr M'ndalee *Budd and Wood Ed 1873 p. 57*

<sup>1</sup> See Mr. M. D. T. *Three Lectures on the Federal Philosophy pp. 72, 73*

नेष्टर्निक स्वभाव पर अधिकृत ह तो आप यह प्रभु हाना है कि यथागति की भक्ति मात्र से "स भद्रा म दुःख सुचार हो सकता है या नहीं? भार वह किसी समय शुद्ध अधात् शास्त्रिक अवस्था का पर्वत सकती है या नहीं? मक्तिमार्ग के उक्त प्रभु का स्वरूप क्षमविषयाध्यक्षिया के द्वीप "म प्रभु के समान ह कि ज्ञान की प्राप्ति कर लेने के लिये मनुष्य अवश्य ह, या नहीं! इहने की आवश्यकता नहीं कि उन शैला प्रभी का उपर एक ही है। मगवान् ने लकुन का पहर सही तपाद्य लिया कि ग्रन्थवाल अवस्था (गीता ३-८) अधात् मेरे शुद्धस्वरूप म दूर अपन मन का घिर कर भार "सुक्ष्म वाऽपरमधरम्यम्" को मन म रिहर करने के लिये मिथ्य मिथ्य उपायी का "म प्राप्त बणन किया ह - यह तू मेरे स्वरूप न अपन चित्त को घिर न कर सकता हा तो त अभ्यास अधात् बारबार प्रयत्न कर। यहि तुम स अभ्यास मी न हो सके तो मरे लिये चित्तशुद्धिकारक क्षम कर। या पह मी न हा सके तो क्षमफल का त्यग कर भार अप्युस मेरी प्राप्ति कर ले (गीता ३-१०; मध्य ११ १-२)। यहि मूल इहस्तमाव अवज्ञा प्रहनि त मम हा तो परमधर के शुद्धस्वरूप म चित्त का घिर करने का प्रयत्न एकदम या एक ही क्षम म सफल नहीं होगा। परन्तु क्षमयाग के समान मक्तिमार्ग मैं भी बोल जाऊ निष्ठा नहीं होती। स्वयं मगवान् सब खोगा को उन प्राप्त भरोसा ले ह -

इहुनो ज्ञानवामस्तु ज्ञानवाद तो प्रपञ्चत ।

वासुदेव मवभिति म महामार्ग सुदुष्टमः ॥

इह दो "मनुष्य एक बार मक्तिमार्ग से स्वरूप स्पाना है तब उन स्वरूप नहीं तो आगल उन्म म जगत् इस म नहीं तो उसक नाग क इस म समीन-कर्मी, उसक परमधर क स्वरूप का ऐसा यथाध ज्ञान प्राप्त हा ज्ञान ह कि यह मर कामुका पक ही ह भल उस ज्ञान से भल मैं उस मुक्ति मी मिथ्य शर्वी है (गीता ३-१) उन्ह अर्थात् म मी उक्ती प्राप्त क्षमयाग का अभ्यास करनवापक चित्तम मैं कहा गया ह कि अनेकाग्रसंविद्वत्तावा याति परा गतिम (६-८) भार मक्तिमार्ग के लिये वही यही निष्पम उत्तमुल हाना है। मक्त का चाहिय कि वह इन इव का जाव फ्रीड म रखना चाह उक्त स्वरूप की भग्न इहस्तमाव क भवुकार पहल ही मेर यथागति शुद्ध मान ले। दुष्ट क्षमय तक उर्ध्वी मालना का पक परमधर (फ्रीड नहीं) किया जाना है (३) परन्तु इसक नाग चित्तशुद्धि के लिये इसी अन्य साधन की आवश्यकता नहीं रहती। यह परमधर की शही भरि यथा मनि इमारा शरीर ह तो वही यह क भन्तवरण की जानना भाव ही भाव उम्म हा जानी ह वरमधरनवाचा जल की दृष्टि नी दृग्म स्वर्णी ह मन की वेदी भवस्या हा जानी ह कि जामुदेव लक्ष्य - यथास्य जीर उपानुक का भव्या-एव नहीं रह जाता और भल म शुद्ध इष्टानुक म भामा का लक्ष्य हा जाना ह ।

मनुष्य का जाहिये कि अपने प्रबल की मात्रा का कमी करने का। लागत यह है, कि किंग प्रकार किनी मनुष्य के मन में कर्मयोग की किञ्चित् उत्पन्न होती ही और पीरे पूर्ण सिद्धि की भाव आप ही आप आकर्षित हो जाता है (गीता ६ ४४) उसी प्रकार गीतार्थम् का यह उद्घास्त है कि जब मर्किमार्ग में कोई मत एक बार अपने हाँ इच्छा को साप टका है, तो स्वयं मनमान् ही उसकी निवारी कारण चढ़े जाते हैं और अन्त में यथार्थस्वरूप का इन मी करते हैं (गीता ७ २३ १ १)। “सी शन से—न कि ऐसे कोटि और भन्दा से—भावद्वारा को अन्त में पूर्ण सिद्धि मिल जाती है। मर्किमार्ग से इति प्रकार उपर उत्तरे उत्तरे अन्त में यह सिद्धि मात्र होती है। वह और ज्ञानमाग से प्राप्त होनेवाली अन्तिम सिद्धि दाना एक ही समान है।” सुखिये गीता को पूनर बाल्मी के ज्यान में यह जात उत्तर ही जावगी कि उत्तरवं अन्याय में भर्तिमान् पुरुष की अन्तिम सिद्धि का ये वगान किया गया है। वह दूसरे अन्याय में किये गये सिद्धिप्रति के बर्जन ही के समान है। “उत्तरे पर हात प्रकट होती है कि यद्यपि भारतम् म ज्ञानमार्ग और मर्किमार्ग से मिल ही उत्पापि जल कोई अपने अविद्यारमेत के अत्रण ज्ञानमाग से या मर्किमार्ग से जले ज्याता है। वज्र अन्त में ये दोनों मार्ग एकन्म मिल जाते हैं। और जो गति जलनी को प्राप्त होती है वही गति भक्त का भी मिला करती है। जन जानों मरणों में भैरव उत्तरना ही है कि ज्ञानमार्ग में भारतम् ही से बुद्धि के द्वारा परमेश्वरत्वरूप अंग आकर्षन करना पड़ता है। मर्किमाग में पहीं स्वरूप भद्रा भी सहायता से प्रहृत कर किया जाता है। परन्तु वह प्रायमिक मैड आये नह हो जाता है और मनमान् स्वयं कहते हैं कि—

भन्नावान् उभये हात तापहः सयोगिक्षयः ।

ज्ञानं जहाया परो सान्ति अधिरेकाविवच्छिति ॥

अथात् जब भद्रावान् मनुष्य “नित्यनिप्रहृतारा ज्ञनप्राप्ति का प्रबल करने स्थाना है तब उत्तरे ब्रह्मात्मकरूप ज्ञन का अनुमत देता है। और फिर उत्तर ज्ञन से “से दीप ही पूर्ण शारित मिलती है (गी ४ १)। अथवा—

भन्नप्या माममिजानाति यावान् पञ्चास्ति तत्त्वतः ।

ततो मां तत्त्वतो हात्वा विहते तदनन्तरम् ॥ ६ ॥

अथात् मेरे त्वरूप का तात्त्विक ज्ञन महिं से होता है; और जब वह ज्ञन ही जाता है तब (पहले नहीं) वह मक्तु नुसमें आ मिलता है (गीता १८ ८५ और

---

इह ज्ञान के ‘अमि उत्तरी’ वा ज्ञान इतर लाप्तिकरण ( १ १ ) में वह शिखनामे का दर्शन किया गया है कि वहि ज्ञान का उत्तर नहीं है किन्तु वह स्वतन्त्र हात्वा का गिरा है। परन्तु वह अर्थ अम्ब उत्तरावधिक व्याप्त के उत्तरावधि का है—सरल नहीं है।

नैसर्गिक स्वभाव पर अवधित है, तो अब यह प्रभ हाता है कि यथाप्रसिद्ध भूमि भाष से "स भद्रा म कुछ सुधार हो सकता है या नहीं?" भार वह किसी सनय पुष्ट भवान कालीकृष्ण अवस्था का पहचन सकती है या नहीं? भगवान् व उस प्रभ का स्वरूप कल्मदिवाकरप्रक्रिया क द्वीक "मैं प्रभ क लमान हूँ कि शन की प्राप्ति पर ऐसे किये ननुप्य स्वकृत है या नहीं?" इन द्वीप भावधारणा नहीं कि "न ना प्रभा का गत्तर एव ही है। भगवान् ने भक्तों का पहले सही नियम किया कि प्रस्त्वद मन आधरम्य (गीता १५) अथात मेरे गुदम्बरूप म दू अरन मन पा भैर कर और "सक शब्द परमधरम्बरूप का मन में रित्यर बरन ३ किये मिथ मिथ चाया का इस प्रसार बरन किया है - यहि तू मेरे स्वरूप न रहि नित का स्त्रि न वर सकता हा ता त अन्याम भवान चराता प्रयत्न कर। यहि तूम म भन्याम भी न हा सर ता मर किये चिनगुदिकरण कम वर। यहि यह भी न हा सर ता अमरूप का च्याग पर और उसम मरी प्राप्ति कर दे (गीता १५ माग ११ १२-१३)। यहि मूल गुदमाल भवान प्रहात न मम हा ता परमधर के गुदम्बरूप म चित्त ए रित्यर बरन का प्रयत्न परम्परा एव ही छग्म में लक्ष्य नहीं हाता। परन्तु कल्मदिवाकर के समाज भगवान् मरी का त निराकर नहीं हाती। स्वयं मनान मन शाग का न प्रगर भवाना न हे -

बहुती जामनामन्न क्वानपाकू मौ प्रयत्न !

पासद्व नवमिति न महामा सुइत्तम् ॥

पूरी समस्त है। जब कि स्वयं गुराराम महाराष्ट्र भजने द्यनुमन से मना की परमात्माका का बणन उस प्रकार का रहते हैं तब यहि वाइ तार्किं यह दृष्टने का लाहम कर—कि भक्तिमाग भ अद्वितीय हा नहीं समझा अथवा इतनाओं पर वक्तव्य अस्थिरिताम् वरन् में ही माधि मिल आता है, उसके लिये जान की बोल आवश्यकता नहीं—का उस आधिक ही समझना चाहिये।

भक्तिमाग भार ज्ञनमाग का अभिन्नम् या य एक ही है और परमधर्म के अनुमत्तमम् ज्ञन में ही अन्न में भाव मिलता है—पह भिद्वान्त गानी मार्मों न एक ही सा क्षण रहता है। यही क्या शक्ति अध्यात्मप्रवाद में भार कमदिवास प्रवर्जन में पहले की आर तिद्वान्त क्षयाय गय है वे भी सब गीता के भक्तिमाग में क्षयम् रहत है। उत्तरणार्थ मागवतप्रवाद में कुछ लाग उस प्रकार व्युत्पृष्ठी सूचिकी उत्पत्ति क्षणात्मा करते हैं कि शासुद्वम्पी परमधर्म से सद्वयगम्पी चीव उत्तरप्रवाद भार फिर सद्वयग से प्रयुक्त भधान् भन तथा प्रयम से भनिल्लह भपान् नह कर दुआ। कुछ लाग तो उन भूही म से चीन ने या एक ही का मानत है। परन्तु चीव की उत्पत्ति के विषय म दै मत सब नहीं है। उत्तरियता के आधार पर वडान्त-क्षम (१ १ २७ और २ ४२-४५ ऐपो) म निष्पत्ति किया गया है कि अध्यात्म-दृष्टि स चीव सनातन परमेश्वर ही का तनातन अध्य है। उत्तरियता मैं देखत भक्तिमार्ग की उक्त व्युत्पृष्ठीसम्बन्धी क्षणना लिंग दी गई है और चीव के विषय म देशन्तस्कल्पारों का ही उपर्युक्त तिद्वान्त तिया गया है (गीता २.२४ ८ २ ; १२ २ नोर १ ७ ऐपो)। उससे यही सिद्ध होता है कि शासुद्वम्पी और कमयोग ये दोनों तत्त्व गीता म यत्परि मागवतप्रवाद से ही लिये गये हैं तथापि क्षम्पी भूष्मपी चीव और परमेश्वर के व्युत्पत्ति के विषय मैं अध्यात्मप्रवाद से मिल किसी अन्य भीर उक्त पर्योग क्षणनाव्यों को गीता मैं स्वान नहीं तिया गया है। अब यद्यपि गीता मैं भक्ति और अध्यात्म अथवा भद्रा और ज्ञन का पूरा पूरा मूँख रखने का प्रबन्ध किया गया है तथापि पह व्युत्पत्ति के विषय मैं अध्यात्मप्रवाद से मिल किसी अन्य भीर उक्त पर्योग क्षणनाव्यों को गीता मैं स्वान नहीं तिया गया है—जौर गीता मैं देखा देख तिया मी गया है। ज्ञनमाग के और भक्तिमार्ग के “स शम्पेऽ” के कारण कुछ लोगों ने भूष्म से समझ दिया है कि गीता मैं जो तिद्वान्त कमी मूँख की दृष्टि से और वस्त्री जान की दृष्टि से कहे गये हैं उनम परस्पर विरोध है; अठूप्त उन्ने मर के दिये गीता असम्भव है। परन्तु हमारे मत स पह विरोध व्युत्पत्ति सब नहीं है भार इमार शास्त्रारों ने ज्ञ यात्म तथा भक्ति म जो मैङ्क कर दिया है उसकी और व्याप्त न देने से ही देखे विरोध दिया तिया करत है। उत्तरिये वहों इस विषय का कुछ अधिक ज्ञानसा कर देना चाहिये। अध्यात्मप्रवाद का तिद्वान्त है कि पिण्ड नीर वासान्त म एक ही आत्मा नामकरण से आस्तान्ति है। उत्तरिये अध्यात्मप्रवाद चीटिंग से इम लोग कहा करते हैं कि जो आ सा मुख्य है वही सब प्राक्तिकों मैं भी है—

१० ८४ मी ऐतिव ) परमेश्वर का पूरा शान हानि के लिये इन दो मार्गों के सिवा काँ तीसरा मार्ग नहीं है। इसलिये गीता में यह बात सब रीति हे कह तो गई है, कि जिसे न तो स्वयं अपनी मुढ़ि है और न भद्रा, उसका सचया नाश ही समर्क्षिय—  
‘अप्रभाभप्राप्तं संशयामा किनश्चति (गीता ४ ५)।

उमर कहा गवा है कि भद्रा और महिला अन्त में पृण ब्रह्मार्मस्यान ग्रास होता है। इस पर कुछ वार्षिका की यह दस्तीछ है कि यदि महिमार्ग का आरम्भ “स देवमात्र से ही किया जाता है कि उपास्य मिम है और उपासक मी मिम है तो अन्त म ब्रह्मार्मस्यरूप ज्ञान के सु होगा ! परन्तु यह दस्तीछ क्षेत्र आन्ति मूल्य है। यदि ऐसे वार्षिक के क्षेत्र का किंव उतना अथ हा कि ब्रह्मार्मस्यान के दून पर भूषि का प्रवाह रुद्र यथा है तो उसमें कुछ भापति हीन नहीं पड़ती। क्योंकि अप्यान्तमध्यात्म का मी यही उद्दास्त है कि जब उपास्य उपासक और उपा सनाहरी किमुदी का अथ हा जाता है तब यह अपापार रुद्र हा यथा है कि उपास्यहर में भूषि कहते हैं। परन्तु यदि उच्च उच्चिष्ठ का यह अथ हा कि द्वितीयक भूषिमार्ग से अन्त में अद्वत्तरान हा ही नहीं सकता तो यह दस्तीछ न केवल उपशास्त्र की दृष्टि से किन्तु यह वे मानवदत्तों के भनुमत के भाषार के मी मिथ्या किंव हो सकती है। उपशास्त्र की दृष्टि से इति बात में कुछ व्यावट नहीं हीन पड़ती कि परमेश्वरमहत्य में किसी गति का विच एवं एवं अधिकाभिर मिर हाता यथा त्या त्यो उसके मन स मेंश्वाव मी शृङ्खला जला जाये। ब्रह्मस्मृष्टि में भी हम यही देखते हैं कि यथार्थि भारतम में पार की दौड़ मिम मिम हाती है तथारि वे भापति में मिम एवं दृष्टि हा जाती है। “सी प्रकार अप्य पाण्यों में मी एकौशत्रण की किया का आरम्भ ग्रामभिर मिप्रता ही स कुआ करता है; और भृहिं-कीर का दृष्टमत तो सब आग का दिलन ही है।” उत विषय में तकशास्त्र की भगवान् ताप्युपुरुषों के प्रयत्न भनुमत का ही भभिर प्रामाणिक समझना पाठिये। समाक्षदत्त-पितॄमणि दुराराम महाराज का भनुमत इसांतर द्विये विद्युत महत्व का है। तब सबग मानत है कि दुराराम महाराज का कुछ उत्तरियताः प्रस्तो के अप्ययन से अप्यान्तमान ग्राम नहीं रभा था तथापि उनकी गृहया में लगभग चार की भगवान् धर्मतांशिति के बगत में भर रखे हैं इन तत्र भगवान् में यानुका सबम् (गीता ७ ५) का मात्र ग्रन्ति पालित किया गया है भगवा दृष्टारप्यकाननिरद् म वला पाण्यमहत्य ने उत्तमात्मै वानृत बदा है कि ही भगव का प्रतिकारन स्वानुभव के क्रम भगव की किंवी तरत् शूरी

एह सा धीता ह अप्ययन वाहूर धीतर एह समान।

विमर्शा अपान कस्त भवितेह जमतराद्वृत्म है हम पह ॥

इसके भारतम का उत्ता हमने भग्या मप्रभग्य म किया है; और यह पह ॥ य त्या है कि उत्तरियों म वर्त्तित ब्रह्मार्मस्यान के क्रम भगव की किंवी तरत् शूरी

इंधर ही है जो भीतर-बाहर सर्व व्याप्त है। ममताद्विता म ममतान ने बही कहा है कि 'इंधर सर्व भूताना हैरेहेऽर्कुन तिष्ठति' (१८ ६१) — इंधर ही सर्व सागी एवं हृषय म निवास करके उससे बन्त के समान सर्व कर्म करता है। कम विचार-प्रक्रिया में ऐद किया गया है कि जान की प्राप्ति कर सेने के लिये भाता को पूरी स्वतन्त्रता है। परन्तु उसके बड़े भक्तिमार्ग में यह कहा जाता है कि उल बुद्धि का देवाश्रम परमेश्वर ही है — 'तत्प तत्पात्राणा भद्रा तामेव विष्वामवहम्' (गी ७ २) अथवा द्वामि बुद्धिवाग त येन मामुपयान्ति ते' (गी १ १)। इसी प्रकार सचार मैं सर्व कर्म परमेश्वर की ही सच्चा से दुमा करते हैं। इण्डिय मक्तिमार्ग में यह वर्णन पाया जाता है कि बायु भी उसी के भव से जड़ती है आर सूय तथा घड़ मौ उसी की धृति से जड़त है (कठ १ ३ १ १८१)। अधिक क्षमा कहा जाय; उसकी 'पूजा के लिया पेह का एक पत्ता दफ नहीं हिला। यही कारण है कि भक्तिमार्ग मैं यह कहत है कि मनुष्य केवल निमित्तमात्र ही के स्थिर सामने रहता है (गीता १३ १३) और उसके सब व्यवहार परमेश्वर ही उसके हृषय मैं निवास कर उससे क्रापा करता है। सातुं तुकाराम लिखते हैं कि

यह प्राणी अम्बस निमित्त ही के सिंह स्वतन्त्र है। मेरा मेहर यह कर सकते ही यह अपना नाघ कर सकता है। उस अम्बस के सवाहार और सुरिशति को सिर रखने के सिय उमी खेगां दो कर्म करना चाहिए। परन्तु ज्ञावास्पोषनिषद् का यह यह तत्त्व है - कि किस पकार अस्थनी आग किसी कर्म दो मेरा यह कर किसा करते हैं, ऐसा न कर सकनी पुरुष को बधार्पणकुरि से सब कर्म मूल्यपर्वत छवते रहना चाहिए - उसीका सारांश उक्त उपदेश मैं है। यही उपदेश मावान् ने मर्कुन् में इस स्लोक में किया है -

पल्कराषि पदभाषि पद्मुहोषि एकासि पद !

पञ्चपस्यमि दौलोप तत्कुरुष्व मद्यर्पणय ॥

भर्यान् ये तुउ दूजरंगा यापेगा हृतन करंगा भेगा या तप करेगा वह रुक्मिणी अर्पण कर (गीता ७); इससे तुझे कम की आधा नहीं हास्यी। मयवद्रीता का यही भ्राक शिक्षिता (१-४) में पापा ज्ञाता है और भाग्यत के इच्छों में भी उसी अधि का प्रणन है:-

कायंत दाचा मनसेन्हियता कुच्छपात्रमना वाऽनुयत्तरभाषात् ।

कराति पद्यसुहस्रं परस्म वारापणायेति समपद्यतात् ॥

काया बाचा मन शृंगिष बुद्धि या भासा की प्रहृति से भपता खमाल के रखनार य तुउ हम दिया करत है वह सब पराम्पर नारायण का लम्पण वर पिया जाव (भाग ३ १)। लाराश पहुँचे हि अप्यालमगाल मै भिम जन-कम मनुष्यप एउ पश्चात्यायग रथवा ब्रह्मापणपुष्क दम कहते हैं (गीता

सबमृतस्पमात्मान सुवसूतानि चात्मनि' (गीता ६ २) भयना यह सब भास्मा ही है - 'इ सबमात्मेव'। परन्तु महिमाग में अव्यक्त परमेश्वर ही को व्यक्त परमेश्वर का स्वरूप प्राप्त हो जाता है। अतएव अब उक्त लिङ्गान्त के फले गीता में यह वर्णन पाया जाता है कि यो मा पश्चिति सुवन सब च मयि पश्चिति - मैं (मात्मान) सब प्राणिया में हूँ और उन प्राणी मुझमें हूँ (६ ९) भयना बासुदेव सबमिति - ता तु छ ह यह सब धासुदेवमय हूँ (७ १) भयना येन भृत्यन्देशेष त्रिलक्ष्म्यात्मम्यथा मयि - जान हा जाने पर ते सब प्राणिया का मुख्य भार व्यय अपने में नी देग्ना (४ ३६)। ऐसी कारण से मागमनपुराण में भी भगवद्गीता का स्तुता इस प्रकार कहा गया है -

महसुनेहु य एषेऽग्नेऽग्नावामात्मनः ।

भृतानि भगवान्यात्मेष भागवतोत्तमः ॥

ये अपने मन में यह भेदगाम नहीं रखता कि मैं अलग हूँ मात्मान भस्या हूँ और उब थोग मिथ्य है किन्तु जो सब प्राणियों के कियप में यह नाब रखता है कि मात्मान आर में दोना एक हूँ और वो यह समझता है कि सब प्राणी मात्मान में और मुख्यम भी है वही सब भागवता में भेद है (भग. २ २८ आर १ २४ ८६)। ऐसा भीष पैदेगा कि अप्यात्मणात्म के भव्यता परमात्मा शब्दों के फले व्यक्त परमेश्वर शब्द का प्रयोग किया गया है - सब यही में है। अ याम शास्त्र में यह जात मुसिकाड में किय हो चुरी है कि परमात्मा के अव्यक्त हानेके कारण सारा ज्ञान आममय है। परन्तु महिमाग प्रत्यक्ष भवतामय है ऐसिय परम शर की भजेक व्यक्त किमित्या का वर्णन करके और भक्तु की विद्यरहितेकर प्रत्यक्ष विभक्तप्रश्न से 'म जात की साभात्यनीति करा ही है कि सारा ज्ञान परमेश्वर (भावमय) है (गी भ १ आर २२)। अत्यात्मणात्म में कहा गया है कि कन का लक्ष ज्ञन में होता है। परन्तु महिमाग का यह विच्छ है कि सगुण परमशर के प्रिया 'म ज्ञान म धीर कुछ नहीं है - वही ज्ञन है वही कम है वही अता है वही करनेवाला भार पक्ष भेदवाला भी है। अतएव क्षितिं प्रारम्भ किमाग ज्ञाति क्षममेवों के इकाई में पक्ष भक्तिमाग के भक्तुगार यह प्रतिपादन किया जाता है कि कम परने की कुछ भेदवाला कम का पक्ष ज्ञानात्म और कम का भक्त भरनेवालम् पक्ष परमेश्वर ही है। अनाहरणात्म तुकाराम महाराज एकान्त में 'व्यर की प्राप्तना करके स्वरूप में और भैमपूर्वक बहुत है -

एष जात पक्षान्त मं तुम ता जगदाधार ।

तार मर कम ता प्रमु का जया उपरार ॥

यही भाव भन्य शब्दी म दूसरे भ्यान पर 'म प्रकार व्यक्त किया गया है कि प्रारम्भ किमाण आर क्षिति का इपार मत्ता के लिये नहीं है। इपा जब कुछ  
मी ८ २८

परन्तु वहों शम्भवेर से अथ के अनेक हो जाने का मम रहता है वहों एवं प्रकार से शम्भवेर मी नहीं किया जाता क्यांसि अथ ही प्रवान जात है। उद्धर-जाप, अथ विषाक्ष-प्रक्रिया का मिडान्त है कि ज्ञानग्रासि के विषय प्रत्येक मनुष्य स्वयं प्रबलन करे और अपना उद्धार जाप ही कर मे। परं इसम शम्भा का कुछ भेद करके यह कहा जाय कि यह काम मी परमेश्वर ही रहता है सा भूत जन भास्मी हो जावे। इसकिये आत्मेव ज्ञात्मनो बुद्धराम्भे रिपुराम्भन<sup>३</sup>—जाप ही अपना गतु और जाप ही अपना मिल है (गीता ६. ८) — यह तत्त्व मैक्षिमाण मे मी प्राप्त यो-का-स्या भयात् शम्भवेर न करके क्षत्याकार जाता है। यातु तुकाराम न इस मारे का ठहैर पहुँचे हो कुका है कि इससे किंतुका क्या तुक्षयान दुआ। अपनी दुराई अपने हाथा कर ली।<sup>४</sup> इससे मी अधिक स्पष्ट शम्भा मे उन्होंने कहा है, कि इश्वर के पास कुछ मोक्ष भी गवाई नहीं भरी है कि वह किमी के हाथ मे रहे।

यहाँ से इनियों को गीतना और मन का निर्विशय करना ही मुम्प्य उपाय है। क्या यह उपनिषद के ऐसे मन्त्र — मन पश्च मनुष्याणा कारण कृष्मीपवीं<sup>1</sup> — के समान नहीं है? यह तुम है जि परमधर ही इस अपल की सब प्रणाली का करने वाल्य है। परन्तु उत्तर पर निर्देशन का और पश्चात् करने का शोध न स्थाप्या तो पैर इत्य एवं विदाह ग्रन्तिया में यह विदाहन्त वहा गया है जि परमधर प्रस्तुत मनुष्य का अनुकूल कर्मों के अनुकार पश्च दिवा करता है। ऐसी कारण से यह विदाह नी — जिस विभी प्रभाव का इष्टमेत्र दिये ही — मुक्तिमाग्र प्रसे सिया जाता है। इनी प्रवार बन्धुपि अग्रनना के विषय इश्वर का स्पष्ट मनना पड़ता है तथा वि-

रघ्यामणास्य का यह शिदानं भी हमारे यहाँ क मनिमाग में कभी पूर्ण नहीं रखा जा सकता कि ये कृष्ण व्यक्ति कह सकता है और सुन्दर परमधर उमर परे है। परन्तु कह पूर्ण है कि इसी बाबून से गीता म बड़ानन्दव्यतिरिक्त श्रीराम का अवश्य ही भिन्न रहा था व मनुष्य क मन में प्रकाश की भार अपेक्षा व्यक्ति की भी भौतिक रूप से अधिक गहरी हो चुकी है। उसमें गहरा सम्प्रदान के द्वारा शिदानं म सर्व वर न की एक दृष्टि द्वारा भी भिन्न रहा व व्यक्ति द्वारा म एक नहीं रहती। व यह शिदानं वा यह हात नीचे रखता है जिसे

४ २४ ६ ९ ; १२ १२) उसी की भक्तिमाल में 'इष्टार्पणपूर्वक कर्म' यह नया नाम मिल जाता है। भक्तिमालास भोजन के समय 'गाविन्द गाविन्द' कहा जरत है उपरा इस्यु वह इष्टापणमुद्दिश म ही है। ज्ञानी उनके ने कहा है कि इमारं सब इष्टहार लेगा क उपराग के लिये निष्काममुद्दिश से हा रह है और मगालक भी ज्ञाना ऐना 'स्त्याहि' अपना सब इष्टहार इष्टापणमुद्दिश स ही निया जरत है। उशपन ऋषिमालन अपका अन्य 'शाश्रव कर्म' जरन पर भनत म इस्यु इष्टापण मधु भवता हरिताता हरिमोरा जह कर पानी छाँटे भी जो रीति है, उसका मूलत्व भगवतीता क उच्च भोक म है। यह सब है कि इस प्रकार भक्तिमाल क न रहने पर काना के छेड़ माल ज्ञानी रह जाय उसी प्रकार बतमान समय मै उच्च बड़स्य की ज्ञान हा गर्व है। क्वोऽपि पुरोहित उस बड़स्य के उच्च अय का न जमान-कर तिक्ते तोत भी नां उच्च पना करता है और यज्ञमान जहिरे भी नां पानी अङ्गन की जगतन विद्या करता है। परन्तु विचार करने से मात्रम हाता है कि इहसी वड मै कमफलाया की छों जर क्षम करने का तत्त्व है और इसकी हृती करने से शास्त्र मै तो कुछ जैव नहीं भावता; किन्तु हृती वरन्कासे की भग्नानता ही प्रकृत होती है। यह लारी भाषु के कर्म - यहां तक कि किञ्चित रहने का भी कर्म - इस प्रकार इष्टा पणमुद्दिश से अपका पणमाया का स्वाग कर किय जाय, सो पापवासना केवु रह सकती है। भार कुक्षम करे हा तकने हैं। फिर ज्ञानी क उपराग के लिये कर्म करे लंगास के जाय के लिये नायमुमपण करे इसाहि उपराग करने की भावस्मज्ञा ही वहां रह जानी है। तब तो मै भार 'लग दीनी' का तमाजेश परमधर मै भार परमेश्वर का तमाजेश उन दीनी मै हा जाना है। इसन्ति ज्ञाय भार पणमाया ही इष्टा पणमायी परमाय मै इन जने हैं और महामाभा की यह उठि ही चरिताख होती है कि नन्ही की विभूतियों वस्त्र के अस्याग ही क लिये इना जरती है; ते ज्ञाय परमधर के लिये भरने शरीर का बद दिया जरत है। दिउपे प्रवरत मै तुकिकाम से यह भिड़ कर दिया गया है नि ज मूलाय अपन सब काम इष्टापणमुद्दिश से जिया जरना है उसका 'याम-न्म' निर्मी प्रकार एक नहीं उकना भार श्वेतमाय बाल्मी का तो ज्ञाय ज्ञान ने दीना मै नाभासन दिया है तान निष्पानिष्पान दीर्घाम वरायतम (गीता - ) यह उहने की भावस्यक्ता नहीं कि जिस प्रकार उच्च उम्मी धूम का कल्प है कि यह तामान्य दीने मै तुकिके - वरह उम्म मै त्याय (गीता १ १) उसी प्रवरत परम भूत एवं का भी यही कल्प है कि यह भिड़ भरी उम्मा की भड़ा का जह न बर उत्तर जावह ए वस्त्र ही उम्म उर्मि क मया ने एवं उम्म तराणा उम्म दिशन स य मै न्म । इष्टा की अपमाय मै उम्म कर रह कर मै उम्म दिशन ए उम्म है । उम्म उम्म मै तमर मै उम्म उम्म उम्म उम्म है । भार उन तप उम्म मै उम्म मै उम्म उम्म उम्म उम्म है । उम्म उम्म उम्म उम्म उम्म है ।

छोड़ नहीं पाया था। मौर्यप्रियमह की गणना मी परम मगवद्रक्षी में की जाती है। परन्तु यत्त्वात् वे स्वयं मूल्यपूर्वत ब्रह्मचारी रहे तथापि उन्होंने स्वभार्तुसार स्वर्णीयों की और राज्य की रक्षा करने का काम भपने अधिक मर जाती रखा था। यह अत सच है, कि ब्रह्म मध्यिके द्वारा परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त हो जाता है तब मह की स्वयं भपने हित के लिये कुछ प्राप्त होने नहीं रह जाता। परन्तु प्रेमसूक्ष्म मृदुलिमार्ग से रक्षा करना कल्पयतीति न्त्वाति भेद मनोवृत्तियों का नाश नहीं हो सकता बर्सिक वे और भी अधिक द्वारा हो जाती हैं। ऐसी व्यापा में यह प्रत्यन ही नहीं उन सबका कि कर्म कर या न कर। परन्तु मगवद्रक्षी तो कही है कि किसके मन में ऐसा अमेत्यात्म उत्पन्न हो जाय —

जिसका कोई न हो इवय से उसे छायाचे  
प्राणिमात्र के लिये प्रेम की व्योति जगाए।  
सब में विनु को व्याप्त जान सब को अपनाए  
है वसु देसा वही भक्त की पदवी पावे ॥

ऐसी अवस्था में स्वामानतः उन लोगों की जूति ओक्सरप्रह ही के अनुकूल हो जाती है जैसा कि ग्यासहर्व प्रकरण में कहा आये हैं — उन्होंने की जिमूतिर्बी अत् के कारबाज ही के लिये दुम्भा करती है। वे सेवा परीपक्षार के लिये भपने घुरीर का कह दिया करते हैं। अब यह मान स्त्रिया कि परमेश्वर ही इष्ट सुष्ठि को उत्पन्न करता है और उसके सब स्वरक्षारों को उत्पन्नता से उत्पन्न के लिये चानुर्वर्ध भावि जो स्वरक्षारों हैं वे उसी की अच्छा से निर्मित हुए हैं। गीता में भी मात्रान ने स्वप्न दीति के बही कहा है कि चानुर्वर्ध्ये मम सुष्टु गुणकर्म विमुग्रहः (गीता ४ १३)। अर्थात् यह परमेश्वर ही की इच्छा है कि प्रन्देष मनुष्य भपने अपने अधिकार के अनुसार समाज के अन कार्मों को ओक्सरप्रह के लिये करता रहे। इसीसे आगे यह भी लिख दोता है कि सुष्ठि के लिये स्वरक्षार परमेश्वर की इच्छा से उक्त रह है उनका एक-आन विशेष माग लिखी मनुष्य के द्वारा पूरा कराने के लिये ही परमेश्वर उसको उत्पन्न किया करता है; और उति परमेश्वर द्वारा निष्ठ लिया गया उसका यह काम मनुष्य न करे तो परमेश्वर ही की अवज्ञा करने का पाप उसे लगेगा। जटि तुम्हारे मन में यह मानुष्यार तुक्ति व्यग्रह होगी कि जे काम मेरे हैं अपना मे उन्होंने अपने स्वार्थ के लिये करता हूँ तो उन वर्गों के भक्ते-तुरों पठ द्वारे अवस्थ नौगने पड़ेंगे। परन्तु तुम इन्हीं कमों को लेकर स्वप्नम ज्ञान कर परमेश्वरा पूर्णपूर्वक “स माव से करोगे कि परमेश्वर के मन मैं जो कुछ करना है उसके लिये मुझे करके वह मुझसे काम कराता है (गीता २२ १३) तो “सम कुछ अनुचित या अपोग्य नहीं। बर्सिक गीता का यह कथन है कि “स स्वप्नमाचरण से ही

मी माता का स्वीकार क्या न कर अन्त म उसे एक ही सी चर्चि शास्त्र हाती है। इसमें कुछ भाष्य नहीं कि अम्बिका जान और स्वत्व भूमि के मेल का पह महस्त के सब घटक कादम्ब म ही विष्णु रहनेवाले घम के परिवर्तों के भान म नहीं आ सका और “सुस्थिर उनकी एकदृष्टीय क्षया तत्त्वशन की दृष्टि से कामी नहर से गिरापदमें ऊँट विराप दीप पड़न लगा। परन्तु भाष्य की शत ठो यही है कि ऐसि घम के इस गुण की प्रधाना न कर हमारे देश के कुछ अनुकरण्येमी अभावसम एकी गुण की निन्दा करत रख जाते हैं। मात्र काम्य का (१३ ४३) यह एवन इसी शत का एक अन्य उत्तरण है कि भय वाप्रभिनिविद्वुद्दितु। वर्णन ग्रन्थनामा सुन्दरिनाम्। — श्वेती समझ से उम एक भार मन प्रल हो जाता है, तथ मनुष्य का अच्छी दारे मी दीप नहीं बैचती।

स्मात्मार्थी ने बनुयाभम का जा महस्त ह, वह भक्तिमत्ता में भवता भगवत् प्रभम में नहीं है। वणाभमबम का वयन मागवनप्रभम में भी दिया जाता है परन्तु उष चर्म का उत्तर श्रावणार भक्ति पर ही होता है। इसकिय लिखनी महिला उत्तर ही वही तत्त्व में भगव माना जाता है – विर चाहे वह एक्षम्य ही कल्पन्मय या देवगी हो। इसक विषय में मागवनभम में कुछ विविन्दिष्य नहीं है (भग १८ २३ १४ टेका)। मन्यात् आभम स्मात्माम का एक आवश्यक भाग है मागवनभम का नहीं। परन्तु एका काँ निष्पम नहीं कि मागवनभम के भनुयार्थी कर्त्ता विरक्त न हो गीता म ही कहा है कि तन्यात् और क्षमयोग दीना मौली की दृष्टि न तमन वाग्यता कहा है। इगमिय यथापि बनुयाभम का स्वीकार न किया जाय, तथापि सामारिक क्षमो की छाँ देवायी ही दानेवास पुरुष मन्मिमाण में भी पाय जा सकता है। यह बात पूर्व तमय म ही कुछ दृढ़ वसी भा रही है। परन्तु एक तमय इन त्वंति का अभ्युता न पी भीतर व्यारहे प्रवरण में यह बात शर रीति में काम्य भी गई है कि न्यायौता म क्षमन्याग की समाप्ति क्षमयाग ही को भविक महस्त विद्या गया है। कामाक्ष्य म क्षमयाग का यह महाप न्याय ही मया और बनमान तमव में मागवनभमीव स्थगो भी भी पही तमता ही गर है की मात्रदृढ़ वही है कि या तामारिक क्षी का यह विरक्त हा भेदव भक्ति म ही निष्पम हा गद। इतनिय यहाँ भक्ति की दृष्टि न विर भी कुछ धारा-ता विदेवन करना आवश्यक प्रीति हाल है कि इन विषय में गीता न मूर्ख भिदात्त भीर तद्य उत्तेज स्या है। न्यायाय का अवसा मत्तवाचम का ब्रह्म स्वप्न तगुए मत्तान ही है। यहि यही भवन्यान अप्य तार तत्त्वार क क्षम-क्षमा है भार नापुष्टो भी यहि अन तत्त्व दुष्कृता का इन क विषय तमय तमव तर भवार त्वर इन तत्त्व का चारण विद्या करत है तो यह बहन की भावमयक्षा नहीं मात्रदृढ़ो का भी संदेह नहीं है क विषय उर्ही ज्ञान का भवन्यान करना पाहिये। इन्द्रानीयी रमपस्त्र के ५१ अथ अनुदाने द्वाम भावि दुरुग्ना क निष्पम वर्त्ते व्य व्यम दुष्कृ

और अन्तिम उपर्युक्त (२ ८ २६) में उन्होंने कम क सामर्थ्य का महिं की शक्ति क साथ पृथग् पृथग् मध्य उस प्रम्भर कर दिया है :-

इलाजक में सामर्थ्य है। जा करेमा वही पावेमा ।

परहु उसमें भवतान् का । अधिष्ठाम चाहिये ॥

गीता के आठवें अध्याय में अर्द्धुन वा जा उपर्युक्त दिया गया है कि 'सामनुस्तर तु म च' (गीता ८ ७) - नित्य मंत्र स्मरण कर और सुदृढ़ कर - उष्णक तात्पर्य, और स्तुत्य अध्याय क अन्त में यो कहा है कि कमयागीया में स्वर्णिमाय भई है (गीता ६ ४३) उसका भी तात्पर्य वही है कि यह रामायास्तामी के उष्ण वर्तमान म है। गीता के अठारहवें अध्याय में भी भवतान् ने यही कहा है -

यत् प्रज्ञानिर्मूलान् वत् मवमिदं तत्त्वम् ।

स्वर्णर्मजा तमस्त्वर्थ्य सिद्धि विश्विति मानन् ॥

विसन इन सार कागड़ का उत्तराधि किया है उसकी भवते स्वरमानुरूप निष्काम क्षमावरण से (न दिक्षेव वाचा से अपदा पुण्यो च) पृथग् करके मनुष्व विद्वान् पावा है (गीता १५ ४३)। अनिति स्पा कहे उस क्षाक का और सम्बल यीठा का भी भवताप्य वही है कि स्वरमानुरूप निष्कामक्षम करने से उच्चमूलान्तर्गत विष्ट्रै खींची परमभर की एक प्रसार की महिं, पृथग् का उपासना ही ही चाही है। ऐसा कहन से कि अपन भवतानुरूप कमों से परमेश्वर की पृथग् करी वह नहीं समझता चाहिये कि भवते कीनन विष्णा इत्यादि नवविदा महिं गीता का मात्र नहीं। परम्परा गीता वा वधन है कि कमों का गीण उपमापर उन्हों लोह देना और इत वर्ष विद्वा महिं में ही विष्ट्रै निमग्न हो जाना उचित नहीं है। यास्त्राः प्रात् भवते सद कमों का ववास्त्रित उपि से अवश्व करना ही चाहिये। उन्हों स्वयं भवते तमस्तर नहीं किन्तु परमेश्वर का ग्वरण कर इस निममुद्दित से करना चाहिये कि इत्यर्थनिर्मित सूत्रि के सप्तहाप वर्ती के ये तत्पर कम हैं। ऐसा करने से कम का होने नहीं हाग्यः उत्त्य इन कमों से ही परमभर की तत्त्वा भवति वा उपासना ही चाहती। इन कमों के गार पृथग् के मार्गी हम न हाँगे और अम्ब में सुखलि भी मिथ चाहती। गीता वा इन विज्ञान की आग बुझ उठा करक गीता के महिंप्रवान रीकालार अम्भे प्रमधा म वह भवताप्य एव यथा करत है कि गीता म महिं ही की प्रधान मना है और कम का गीण परम्परा नन्याक्षात्तामीष रीकालार के नमान भवित्प्रधान रीकालारी का यह तात्पराप्य भी तत्परतीय है। गीताविग्रहादित मन्त्रिमार्ग क्षमप्रवान है और अम्भा मुख्य तत्पर यह है कि परमभर की पृथग् न कहउ पुण्यो सु या वापा ने ही हाँगी है किन्तु वह स्वप्नान्त विष्कामक्षमोम भी हाँगी है और उसी पृथग् प्रवेष्ट मनुष्व का तात्पर वर्ती चाहिये इति व्यवनय भवति वा यह तत्पर गीता के उन्नास भवते विद्वा वी भवते म प्रत्यगादित नहीं। इसा है तब इसी तत्पर की प्रवृत्ति प्रवृत्ति भवति विद्वा वहना चाहिये।

सर्वमूलान्वगत परमेश्वर की साक्षिङ्क मर्कि हो जाती है। मात्रान ने अपने लब उपरेक्षा का तात्पर्य गीता के अन्तिम अन्वाद म उपर्युक्तारूप से अनुन को "स प्रक्षर करवाया है— लब प्राणियों के हृत्य में निवास करके परमेश्वर ही उद्देश्यन के उमान नज़ारा है "सक्षिये ये दोना मात्रनार्थे मिथ्या है कि मैं अमुक कम को छोड़ता हूँ तो अमुक कम को करता हूँ। फलाभग को घट लब कम हृष्णापणाकुद्धि से करते रहो। यदि तू ऐसा निपह करेगा कि मैं इन कमों को नहीं करता तो मी प्रहृष्टिमम के अनुसार तुम्हें कमों का करना ही होगा। अतएव परमेश्वर में अपने सब स्वार्थों का अथ करके स्वधमानुसार प्राप्त अवश्यक को परमापणाकुद्धि से और वैराग्य से छोकरप्रह के क्षिये तुम्हें अवश्य करना ही चाहिय मैं मी मही करता हूँ मेरे उदाहरण को लेक और उच्छक अनुपार क्वाव कर। जिस जन का और निष्प्रममर्म का किरोच नहीं रैसा ही मर्कि मैं भार इृष्णापणाकुद्धि से किय गये कमों में मी किरोच उत्पम नहीं होता। महाराष्ट्र के प्रथिठ मात्रद्वक तुकाराम भी मर्कि के द्वाय परमेश्वर के अपोरीयान् महत्वो महीयान (गत २.२ गीता ८) — परमाणु से मी छोटा भीर कहे से मी बहा ऐसे स्वरूप के साथ अपने तात्पर्य का बणन करके कहते हैं कि अब मैं केवल परोपकार ही के क्षिय क्षा हूँ। उन्हीन सन्वादमाग के अनुपायियों के समान यह नहीं कहा कि अब मेरा कुछ मी काम देय नहीं है। कस्ति के कहते हैं कि फिलापान का अवक्षमन करना स्वरूप जीवन है— यह नष्ट हो जावे। नारायण पंसे मनुष्य की सभ्या उपेक्षा ही करता है। अथवा उत्पवारी मनुष्य उत्तार के सब काम करता है; और उनसे— जह मैं कमरूपत के समान—अस्ति रहता है। ये उपकार करता है और प्राणियोंपर द्वा करता है उसी म आत्मरिपति का निषाद ज्ञानो। "न क्षनी से साहु तुकाराम का इस क्षिय म रपद अभियाय व्यक्त हो जाता है। यथपि तुकाराम महाराव उत्तारी थे, तथापि उनके मन का हुक्म कुछ कमरूपत ही भी और था। परन्तु प्राचियधान मार्गकृतम का स्वरूप अथवा गीता का विद्वान्त पह है कि अकर मर्कि के साथ साथ मृत्युपूरुष इत्परापणपूरुष निष्कामकम करते ही रहना चाहिये। भीर यदि कोइ एक विद्वान्त का पूरा पूरा स्वीकारण होगा तो उसे श्रीकृष्ण रामायस्तामी के द्वात्कोच प्रस्त्र की भ्यानपूर्वक पढ़ना चाहिये (ग्रन्थ रहे कि यातु तुकाराम न ही विद्वान्ती महाराव का तिन सद्गुरुओं में ज्ञाने को वहा था उन्हीका यह प्रामाणिक प्रत्यक्ष है)। रामायस्तामी ने भनेक बार बहा है कि मर्कि के द्वारा अथवा ज्ञान के द्वारा परमेश्वर के शुद्धस्वरूप को परमानन बर ये विद्यपूर्वक उत्तरत्व हो चुक है के लब द्वेषों का विद्ययने किय (गत २.२.१४) निष्कृता ये भगवना काम यथार्थिकार विन प्रकार किया करते हैं उते इत्पर तर्बताकारम द्वेष भगवना भगवना अप्यवहार करना भीय दर्शाकि किना किय कुछ मी नहीं हाता (गत २.२.१४ १८०३)

अनुग्रहितापर्व में मी आया है (मा भष १९.६१) और ऐसी कथाएँ भी हैं कि कनपर्वान्तरांत ब्राह्मण-व्याध-संकाह में मास केचनेवाले स्वाप ने किसी ब्राह्मण को पहले तथा द्वान्तिपत्र में दुष्प्राप्त अर्थात् अनिये ने बाचवाइ नामक तपत्वी ब्राह्मण को पहले निष्पत्ति मुनाया है कि स्वदम के अनुचार निष्कामकुडि से आचरण करने से ही मीस देखा मिल जाता है (मा बन ३ ६-२१४ शा २६०-२६३)। इससे प्रकार हीता है, कि किसी कुडि सम हो जाये वही भेद है। किस जाहे पहले सुनार हो जाई हो, अनिया हो, या कसाउ किसी मनुष्य की योग्यता उसके फर्जे पर, स्वयंसाय पर, या जाति पर अवश्यकित नहीं; किन्तु सबैया उल्लेख अन्तर्भृत वी प्रृष्ठता पर अवश्यकित होती है और वही मगवान् का अभिप्राय भी है। इस प्रकार किसी समाज के सब ज्योग के लिये मोहर के दरवाजे लोछ ढेने से उस तमाज में ये एक प्रकार की किस्तिय जागति उत्पन्न होती है। उसका स्वरूप महाराष्ट्र में मागवतम में इतिहास से मध्ये मोहर शीतल पड़ता है। परमेश्वर को क्या क्यी, क्या आज्ञाह, स्वा ब्राह्मण-समी समान है; 'देव भाव का भूया है'— न प्रतीक का न काले-गोरे रंग का और न छी पुरुष भावि या ब्राह्मण वाहाल भावि भेदों का ही। सापु दुकारम का 'स लियय का अभिप्राय इस हिन्दी पठ प्रकट हो जायगा:—

क्या हिजाति क्या दूष इहस को बेहया भी मज भडती है  
स्वपतों का सी भक्तिमाय में द्युचिता क्वच नज भडती है।  
भक्तुमाव मे कहता है मैंने उसे कर लिया है सब मे  
जो जाहे सो पिये प्रेम मे भयत भरा ह इस रस मे॥

अभिक क्या कहे ? गीतारहस्य का मी यह लिङान्त है कि मनुष्य देश ही तुरन्तारी कथा न हो परन्तु यहि अन्तर्भृत में मी वह मी अनुष्य याव से भगवान् की शरण में जावे तो परमेश्वर उसे नहीं भूखता (गीता १५ और ८—८ दयो)। उन्ह पद में 'वरदा शम (ये सापु दुकारम के सूक्ष्मचन के भाभार से रक्षा गया है) को भावकर परिवर्तता का दींग फरनेवाले व्युत्तरे निहानी को वदास्ति तुरा ढेये। परन्तु नव शम तो यह है कि ऐसे लोगों को नवा घमहत्व माइम ही नहीं। न देस्त दिस्तुप्रम म लिङ्गु तुरन्तम में मी वही लिङ्गात्म स्त्रीकार लिया गया है (मिलिनप्रम ३ ३०)। उनक घमण्यों में उनी कथाएँ हैं कि उन भाग्याली नामक किसी देवया का भार भगुतीमाय नाम के प्लोर का रीता भी थी। इसाधीं के घमण्यमें मी वह वर्णन है कि ब्राह्मण क जाति जो दी चोर तरी पर वर्णये गये थे उनमें से एक जार मृत्यु के नमय काश्य की घरत में गया; और ब्राह्मण ने उन तत्त्वियी (स्पृह १३ और १४)। स्वयं ब्राह्मण न मी एक स्पृह में वहा है कि इमारे घम म भडा रम्माली कथाएँ मी मृत्यु हा जानी है (सेष ११ ३० स्पृह ७)। यह जान नहीं पररम म हम बाला घम है कि भाष्यामध्याय की दृष्टि के

इति प्रकार अन्याय की दृष्टि से ज्ञानमाय और महिमाय का पुण्य पुण्य मध्य चर्चित हो गया तथापि ज्ञानमाय में महिमाय में जो एक महसूल की किशेवता है उसका भी अन्य अन्य मध्य रीति से बदल हो जाना चाहिये। वह तो पहल ही कह तुह है कि ज्ञानमाय कल्प बुद्धिमत्त्व हानि के कारण अपराधिकाल समाप्त्य ज्ञानों के लिये दैश्यमय है और महिमाय के अडामस्ट्र फ्रेमगम्य तथा मनस्स हानि के कारण उसका आचरण करना सब लोगों के लिये भुग्यम है। परन्तु कल्पके सिवा ज्ञानमाय में एक और भी अन्य अन्य है। ऐसिनि वी भीमासा या उपनिषद् या वर्णन्त भूमि को इन तीन मात्रम् हानि कि उसम भौत-ज्ञानमाय आदि की अपवा कमत्रावास पूरक नीति-ज्ञानी परजड़ की ही ज्ञान मरी पर्य है। और अन्य मध्य यही निश्चय किया है कि महाराष्ट्राति के लिये जापनीभूत हानेवाड़ भौत यत्र वागादिक कर्म करने का अपवा मोद्यापामि के लिये आवश्यक उपनिषदादि व्याख्यायन करने का अधिकार भी पहल तीन ही वर्षों के पुरुषों को है ( व स १ ३ १४-१८ )। इस मध्य यह यत्र का विचार नहीं किया गया है कि उक्त तीन वर्षों को किया का अपवा चानुवास्य के अनुसार सारे समाज के हित के लिये ज्ञानी या अन्य व्यक्तियाय छनेवास्त्र जापारण जी पुरुषों का मात्र क्षम मिल। अस्ति जीवान्तिका के जाप वेत्र की एसी अनन्य हीन स वर्ति यह कहा जाय कि उन्हें मुक्ति कमी मिल ही नहीं सकती तो उपनिषदा भार पुरुषों में ही यस जगत है कि गंगा प्रभृति कियों का और विद्र प्रभृति शुद्धि का जन की प्राप्ति हासर सिद्धि मिष्य गए थी ( वे ग ३ ४ ३६-३ )। ऐसी दशा में यह उपासना नहीं किया जा सकता, कि एिए पहले तीन वर्षों के पुरुषों ही का मुक्ति मिलती है। और वर्ति यह मन सिया ज्ञाने के लिये जीवान्ति की प्राप्ति होती है। जापराजनाज्ञाय कहते हैं कि 'विद्यानुप्रहृष्ट' ( व स ३ ४ १८ ) भवति परमेश्वर का विद्येय अनुप्रहृष्ट ही उनके लिये एक जापन है भौत यत्रगति ( १ ४ ८ ) में कहा है कि क्षमप्रपान-महिमाय के रूप मध्य इसी विद्येयानुप्रहृष्टमें जापन का महामारण मौजूद भौत यत्रगति गीना भी भी निष्पत्ति किया जाता है। कवादि कियों शुद्धि या ( कविष्युग क ) नामकारी ज्ञानशास्त्र के कानों तक भुति की भावाव वही पूर्णता है। यस जाप के ग्राम हानेवाला यह भी उपनिषदों का विद्यमान - जीवों यत्रवि एक ही तो हा तथापि अब जी पुरुषप्रमाणी या ज्ञानशास्त्र के दर्शन शुद्धियानुप्रहृष्टी वार्ता भेज जाए नहीं रहता और इति जाप के विद्येय गुण के द्वार मर्गिता रहती है कि -

मौ हि पाप व्यपाचिर्य पठायि च्यु। पापयात्परः ।

लियो वहपास्त्रथा धृष्टान्तःपि यात्मि परौ मनिषः ॥

इति पाप जीवस्य भीर शुद्धि या भवत्वद भादि जा नीत दश में उपर दुप है के भी नव उप्रम गति या जात है ( गीता ११ ३ )। यही जाप महामारण क

कि इन अनेक चर्ममाणों के स्तोङ् कर 'तू कबल मेरी शरण म आ मैं तुम्हें तमस्य पार्णी से मुक्त कर दृग्गा-उर मत।' तापु तुकाराम भी सब चमों का निरसन करके अन्त म मालान से यही मर्हगते हैं कि—

चतुराई चेसला सभी चूल्हे में जावे

बस मेरा मन एक ईश-चरणाभय पावे।

आम हमें आचार विचारों के उपचय में

बस विमु का विष्वास मदा दूर रहे बदय में॥

निभयपृष्ठ उपश्च भी या यह प्रार्थना भी यह अन्तिम लीमा हा तुमी।

भीमद्वगवत्तीताभ्यु नोन की याखी क्य वह महिरुपी अन्तिम भीष है यही  
मेमप्राप्त है। उस पा तुम, अब आगे चलिये।

---

मी यही चिन्हान्त निष्पत्त होता है। परन्तु यह समवस्थ शास्त्रात् यश्चिपि निविदाः है तथापि विवक्षा सारा उस्म तुरमधरण में ही व्यतीत हुआ है। उसके अन्तर्करण में ऐषष मूर्त्यु के उमय ही अनन्य मात्र से भगवान् का अरण करने की बुद्धि, जैसे अग्रह रह सकती है। ऐसी भवस्त्या में अन्तर काल की देवानाभां को सहते हुए ऐषष यन्त्र के उमान् एक कार 'य रहकर और कुछ टेर से 'म रहकर मैंह गीछन और कल करने के परिभ्रम के चिका कुछ अधिक अथवा नहीं होता। इसछिये भगवान् ने उब अथवा को निभित रीति से यही बहा है कि न ऐषष मूर्त्यु के समव ही, किन्तु यारे शीक्षन मर सैव मेरा अरण मन म रहने ते और स्वप्नम के भनुसार अपने सब व्यवहारों को परमधरपदबुद्धि से करते रहो। इस चाह तुम किंचि मी जाति के रहो तो मी तुम क्षमों को करते हुए ही मुख हो जाओगे' (गीता २६-२८ और १-३४ देखो)।

‘स प्रकार उपनिषद् का ब्रह्मात्मैस्वर्यन् आत्मानृष्ट समी लागो’ छिये सुस्तम तो कर दिया गया है। परन्तु ऐसा करने में न तो व्यक्तार का छोप होने दिया है और न कर्ण भाष्यम जाति-योति अथवा की पुरुष आडि का कोा में रहना गया है। अब हम मीठाप्रतिपादित मरित्माग की इस शाफि अथवा समना की ओर व्यान देते हैं तब गीता के अन्तिम अथवाय म भगवान् ने प्रतिश्रृङ्खल गीताध्याय का उस उपसाहार किया है उसका मम प्रकर ही जाता है। वह ऐसा है— सब उम औह कर मेरे अकेले की शरण में आ जा मैं द्वारे सब पापा से मुक्त कर्मग बद्धाना नहीं। पहाँ पर भर्म शम्भ का उपयोग इसी व्यापक अथ में किया गया है कि सब व्यवहारों को करते हुए भी पापपुण्य से अविसरहकर परमधरपदी अस्तप्रेय किस माग के द्वारा सम्यान दिया ज्य सकता है वही पर्म है। अनुमधीता के गुरुधिप्यनवाः में करितो ने ब्रह्मा से यह प्रभ किया (भृ १९) कि अहिताप्रम सत्यवद्म ब्रह्म उथा उपवास लान यज्ञयाग शन भ्रम सम्यान भावि यो अनेक प्रकार के मुक्ति के साथ अनेक स्वेच्छ करते हैं इनमें से अथ साथ जीन है। और धारित्यर्द के (३६४) उच्छृङ्खि उपास्यान में मी यह प्रभ है कि गाहस्यवद्म बानप्रत्यक्षवद्म राज्यवद्म मात्र यिन्-कैवाचम अविद्या का रथाद्वग में सरण ब्राह्मणों का स्वाध्याय इत्याति यो अनेक भ्रम या स्वग्रामिति के साथ शास्त्रों ने अस्तर्यै हैं उनमें से प्राप्य भ्रम जीन है। ये मिश्र मिश्र भगवान् द्वारा भ्रम दिए गए में तो परमधर विष्व का जात होते हैं परन्तु शास्त्रार इन तब प्राप्यभ मायें की वीभत्ता को एक ही समझते हैं। क्योंकि समस्त प्राप्यियों में साम्यबुद्धि रम्भे का ज्ञ अन्तिम राप्य है। वह इनमें से किनी यी भ्रम पर ग्रीति भार बद्धा क लाप मन का एकाप्य किये किना प्राप्त नहीं हो लक्ष्या। तथापि इन अनेक मायें की अपग्रामीय उपात्ति की सक्षम म फलन से मन बद्धा ज्ञ लक्ष्या है। इमधिये अनेके भनुन हो ही नहीं किन्तु उसे निभित करके सब व्यग का भगवान् इस प्रार निभित भास्त्रान देते हैं

किया गया है। इस निष्पत्ति में और 'शास्त्रीय' निष्पत्ति में भी ऐसा है उसके स्पष्टता से उत्थाने के लिये हमने संबादात्मक निष्पत्ति को ही 'पीराशिक' नाम दिया है। सात साँ स्कौर्कों के इह संबादात्मक अभ्यास पीराशिक निष्पत्ति में 'चम' ऐसे स्पष्ट शब्द में आमिस्त हुनेवासे सभी विषयों का विस्तारपूर्वक विवेचन कर्मी हो ही नहीं सकता। परन्तु आश्रय की बात है कि गीता में ये अनेक विषय उपलब्ध होते हैं, उनका ही समान (संखेप में ही स्वा न हो) अधिरूप से देखे किया ज्या सका। इह बात से गीताकार की अधैरिक शक्ति घटक होती है और अनुसारा के आरम्भ में ये यह कहा गया है कि गीता का उपरोक्त अत्यन्त योगदुर्घट चित्त से अवस्था गया है। इच्छी सत्यता की प्रतीक्षा भी हो चारी है। अद्वित ये जो यो विषय पहले से ही मात्रमें ऐसे उत्तेजिते विस्तारपूर्वक बदले की होई आवस्थाता नहीं थी। उसका युग्म प्रभ तो यही था कि मैं ल्यार्ड का पीर हृत्य कहैं या न कहैं और उसे भी तो किस प्रकार कहें? यद्यपि श्रीकृष्ण अपने उत्तर में एकाध युक्ति कल्पने व उत्तर अर्कुन उत्पर तुष्ट-न-कुष्ट आधिक लिया छुट्टा था। इह प्रकार के प्रभेत्तरसमीक्षा में गीता का विवेचन स्वामान एवं सभी सविस्त और कहीं दिवक हो गया है। उत्तरशार्य लिङ्गुणात्मक प्रदृष्टि के फैलाव का वर्णन कर कुछ योग्ये भेद से दो बाया है (गीता अ ७ और १४); और दिव्यतमस, भगवन्नक लिङ्गातीत तथा ब्रह्मस्तु इत्याहि की विविति का वर्णन पक्ष-सा होने पर भी मिल मिल हुड़ियों से फ़्लेंक प्रसङ्ग पर बार बार किया गया है। इसके विपरीत यह अर्थ और काम वर्त्मे से विषय न हों तो के प्राप्त है — «स दत्त का विकर्त्तव्य गीता में भेदस्त 'कर्मयोगः कामोद्धिम' (७ ११) »सी एक बाक्षय में कर दिया गया है। «सका परिकाम यह होता है कि यत्त्वपि गीता में एवं विषयों का समानेत्र लिया गया है। तथापि गीता व्याख्ये समय उन अंगों के मन कुछ गवाह-सी होती चारी है। ये भौतिकमें स्मारणकर्म भागवतवर्तम दास्तव्याद्य पूर्वमीमांसा ऐतर्क्त कर्मविषयक त्याहि के उन प्राचीन लिङ्गान्तरा वर्त्मे परम्परा से परिचित नहीं है कि जिनके आचार पर गीता के द्वान का विषयता लिया गया है। और यह गीता के प्रतिपादन की पद्धति दीक दीक यान में नहीं आती तब ते खोग बहने लगते हैं कि गीता माना जावीर की ज्ञेयी है अथवा शास्त्रीय पद्धति के प्रचार के पूर्व गीता की रचना तुर्द होगी इसकिने उसमे ठीक पर नभूत्यत्व और विरोध दीक पद्धति है। अथवा गीता का द्वान ही हमारी हुड़ि के लिये जात्यम्य है। तद्यम को हटाने लिये यह दीकान्तों का अवसरणमें लिया जाय तो उनसे भी कुछ लाभ नहीं होता। स्वौक्षिक ऐसुजा मिल मिल सम्प्रणायानुवार कर्त्ता है। «सुक्षिये श्रीकाशार के मतों के परत्यरविरोधा की एकाकाम्यता करना असम्भव सा हा जाता है और परन्तुको वा मन अधिकाधिक परदराने स्मारता है। «स प्रकार के भ्रम स पढ़े हुए कई दुग्धुद गाटकों को हमने भेजा है। इस अवसरा का हटाने के लिये हमने अपनी हुड़ि के अनुसार गीता के प्रतिपाद्य विषया

चौदावाँ प्रकरण

## गीताध्याय-संगति

प्रवृत्तिसंहाण धर्म ऋषिरायणोऽवधीत् । ७

— महामारत शार्दि २१३ २

अनुच्छ लिये गये विवेचन से शीर्ष पढ़ेगा कि भगवद्गीता म—मापाने के आरा

गये गये उपनिषद् में—यह प्रतिशब्दन लिया गया है कि कर्मों का करत हुए ही भक्ष्यामविचार से या स्त्रीक से सज्जामैस्त्रव्य साम्यबुद्धि को पृथगतया प्राप्त कर स्ना और उसे प्राप्त कर स्न पर भी सन्यास स्न की स्नन्मार में न पर्याप्तार में शाश्वत प्राप्त सब कर्मों का करत अपना कम्म्य समझ कर करत रहना ही इस सम्भार में मनुष्य का परमपुरुषाध अभ्यक्ष जीवन व्यतीत बनने का उद्दम माय है। परम्पुरित कर्म से हमने इस प्रन्थ में उक्त अय का बयन लिया है उसकी भावधा गीता प्रन्थ का प्रमाण है। अद्वितीय धर्म यह भी दार्ढा शाहिष कि मात्रगीता में इस विषय का वर्णन लिन प्रश्नार लिया गया है। किंतु मी विषय का निष्पत्ति इस रीतिया से लिया जाता है एक शास्त्रीय भार दूर्मिठी पौराणिक। शास्त्रीय पठनि वह है कि लिपुर भारा तत्त्वशास्त्रानुसार शाश्वतव्यवस्था का क्रमसहित शारितन वरने यह विषय लिया जाता है कि सब धर्म की समझ म सहज ही आ गज्जनकाली धर्मों से लिखी प्रतिशब्दन विषय के मूलत्व लिन प्रश्नार लिप्पत्ति हत्ते हैं। भूमिनिशास्त्र इन पठनि का एक भक्ष्य उडाहरण है भार न्यायमूल या बाणनामूल का उपराणन नी हीमी वर्ग का है। इसी विषय लगाड्डीता म—वहाँ प्रदम्भन पानी देशमन्मूल व्य ठांग लिया है वहाँ—यह मी बनन है कि ठन्का दिन हेतुपुक्त भीर निधन-प्रवह यमापा न लिद लिया रखा है—प्रदम्भन धर्म हेतुनक्षिप्तिनिधिन (गीता १३ ८)। परम्पुर जागीता का निष्पत्ति लगाय रख हा तथापि वह इन शास्त्रीय पठनि न जही लिया रखा है जागीता म इ दिव्य इ ठन्का दग्न—भानु वीर भीहार क सदाशद्य म—व्यन्मन मनारक्ष भार स्त्री शीति न लिया गया है। इती विषय प्रश्न भावाध व भन्न मैं जागीतानुसन्मित्तमु हमविन्दा यामदाम वहर लैनानिष्पत्ति क गृहर क लाल भीहृष्टान्मसाः इन दार्ढों का अपय

प्राप्त है वह तृष्णारम लक्षण है त त त त त त त त  
प्राप्त है त  
प्राप्त है त

नुसार आमा अविनाशी और अमर है। इष्टभिष्ये तेहि यह समझ गवत है कि 'मैं भीष्य ड्रोग भावि को मारेंगा।' क्योंकि न तो आत्मा मरता है; और न मरता ही है। विस प्रकार मनुष्य अपने बच्चे बदलता है। उसी प्रकार आत्मा एक ऐह छोड़ कर दूसरी डेह म बदल जाता है। परन्तु इच्छिये उसे मृत मानकर धोक करना अनिवार्य नहीं। अच्छा मान दिया कि 'मैं मारेंगा' यह भ्रम है। तब तु क्षेत्रगा कि तुम ही क्या करना चाहिये? तो उसका उत्तर यह है कि शास्त्रतः प्राप्त तुम ते पराहृत न होना ही अनियो का धर्म है। और बत कि इस साम्यमार्य मैं प्राप्ततः बर्णाल्मणिहित क्षम करना ही भेदलकर माना जाता है; तब यदि तु ऐसा न करेगा तो स्वेग तेरी निष्ठा करेगे— अविकृष्ट क्षया वहे तुम में मरना ही अनियो का धर्म है। इस एवं धोक क्या करता है? 'मैं मारेंगा और वह मरेगा' यह बेवस कर्मती है— इसे छोड़ दे। तु अपना प्रवाहपत्रिव काय ऐसी तुम्हि से करता ज्ञाय ज्ञा कि मैं बच्चे स्वधर्म कर रहा हूँ। "सुस तुम्हे तुम्ह भी पाप नहीं ल्लेगा। यह तप्तेह लास्य मागण्यनुषार तुम्हा। परन्तु चित्त की दृश्यता के लिये प्रश्नतः कर्म करके चित्तस्त्री हो अने पर भन्त मैं सब कमों को छोड़ सन्यास लेना ही यदि इस मार्त्ति के अनुषार भेद माना जाता है तो यह शक्ता रह ही चाहती है कि उपराति होते ही तुम से छोड़ (यदि हा उके हो) सन्यास ले लेना क्या भय्या नहीं है? बेवस इतना यह उने से काम नहीं जब्तु कि मनु भावि स्मृतिकारा की भाषा है कि गृहस्थाभ्यम के बाद फिर कही बूद्धाय म सन्यास लेना चाहिये। तुकाकल्पा मैं तो गृहस्थाभ्यमी ही होना चाहिये। क्योंकि किंचि भी समय यदि सन्यास लेना ही भेद है तो तो ही भवार से बी हरा स्त्री ही तनिक भी तर न कर सन्यास लेना उचित है। और इसी द्वेष से उपनियासी मैं भी ऐसे बचन पाये जाते हैं कि ब्रह्मस्यात्व प्रदेश् गृहाग्र बनादा (श ४)। सन्यास लेने से जो गति मास होगी वही तुम्हें मैंने से सनिव को प्राप्त होगी है। महाभारत मैं कहा है—

द्वादिमी पुण्यव्याप्ति सुर्यमण्डलभेदिनी ।

परिक्रामा धोगयुक्तम् रथ चामिशुप्या इतः ॥

**भयान—** ह पुण्यव्याप्ति मृदमण्डल को पार कर ब्रह्मलोक की जानेवाले लेना ही ही पुरुष है। यह तो योगपुरा संयमी भी तूलना तुम्ह मैं संभव मर जानेवाला भी। (उग ३५ ६)। इसी भव तो यह क्षार कीरिय के यानी चापास्य के अपघात म भी ह—

यान दामपात्रपमा च दियाः गर्विष्य याप्रचयेभ्य यामिन ।

भयान तामपात्रियामि द्वारा यात्रान् सुपुन्द्रु परिप्रयज्ञम् ॥

इसी इन्द्रज का तो जापन अन्त यहाँ से यज्ञाता तो भी तरी त लिं है द्वारा ८ उत्तरां भी भाग के द्वारा म तुम्ह मैंन के प्राप्त भवन बदलना यह तुम्ह

का शास्त्रीय क्रम बोल कर अब उस विवेचन किया है। अब पहुँच इतना भीर करने में आहिये कि ये ही विषय भीहृष्ण और अङ्गुल के सम्मानण में अङ्गुल के प्रभाव पा शङ्काओं के अनुरोध से, कुछ न्यूनाधिक होकर कैले उपर्युक्त दुप है। इससे पहले विवेचन पूरा हो जायगा और अगले प्रश्नण में सुगमता से सब विषयों का उपर्युक्त होकर पूरा जायगा।

पाठकों को प्रथम इतना आर एवं ज्ञान इन आहिये कि जब हमारा ऐसा हिन्दुरूपान अन वैमन यज्ञ और पृथग् स्वराज्य के मुख का अनुमति से रहा था उस समय एक लक्ष्य, महापराक्रमी यशस्वी भीर परमपूर्व भवित्व ने दूसरे लक्ष्य को — ज्ञान अनुभावी या — शास्त्रभूमि के स्वकाय म प्रवृत्त करन के सिवे गीता का उपर्युक्त किया है। ऐन भीर दौद चमों के प्रवृत्त महावीर भीर गोकम्बुद्ध भी लक्ष्य ही है। परन्तु इन दानों ने वैदिक वर्म के क्षेत्र सन्यासभूमि का अंगीकार कर लक्ष्य आहिये सब वर्गों के लिये सन्यासभूमि का उपर्युक्त गोल किया था। ज्ञानान भीहृष्ण ने ऐका नहीं किया। क्योंकि मागक्षतभूमि का पहल उपर्युक्त है कि न क्षेत्र लक्ष्यों का परन्तु ब्राह्मणों का भी निष्ठुरिताना भी शान्ति के साथ निष्कामकुद्दि से सब कम भास्त्रान्त करत रहन का प्रथमल करना चाहिये। विसी भी उपर्युक्त को लक्ष्य आप देंसो, कि उक्ता कुण्ड-कुण्ड कारण भवस्त्र रहता ही है और उपर्युक्त की उपर्युक्त के लिये विषय के मन म उस उपर्युक्त का ज्ञान प्राप्त कर सेने की इच्छा भी प्रथम ही से ज्ञान रहनी चाहिये। अतएव इन दानों कात्या का खुसाता करन के किय ही भ्यावही न गीता के पहल अध्याय म इस बाब के विद्यारप्यवृक्ष वर्णन कर दिया है कि भीहृष्ण ने अङ्गुल की पहल उपर्युक्त बर्णा किया है। कोरब-पाण्डिका की देनार्द युद्ध के लिये तैयार होकर कुरुक्षेत्र पर रही है अब पाढी ही दैर म स्वार्द ए भारग्म हास्य; इक्के मे भानु के कहन से भीहृष्ण ने उक्ता रथ दाना तनाभी के दीन मे ल जाकर रथ कर किया आर अङ्गुल से दहा कि ‘तुम विषय कुड़ रहो है उन यीम्म झींग आहिये का रथ। तप अङ्गुल न दाना देनाओं भी भार हाहि पूर्वपार भीर रथा ति भवन ही शायगा’ काका भाग मामा क्षुपु पुड़, नाशी फर्ही भास गुड गुरुम्भु भाहि दानों देनाभा म गाई है भीर इस युद्ध म सर सेना का नाथ हानकाला है। एकाएक उर्ध्व यन नहीं हुर थी। सदाद करन अन निधन पहुँच है। हा युद्ध या भीर वस्तु दिनों स दानों भीर की तनाभी का प्रस्तुप है। रहा ये परन्तु रथ भारग्म का सदाद के हानकाल कुम्भेय का प्रवास स्वरूप उर पहुँच पहल अङ्गुल की नश मे भासा तर रथ के समान महायोद्धा क दी मन मे दिल्ल उर रथा भीर उक्त मुग्ल त य दृष्ट निवास पहे भाहि भाव हम लाग अस्ते ही हुँ वा न्यून रथ इसी दिल्ल करनेगाय है न ति राव हमी का दिल्ल न्यूनी भर्त्ता लक्षण दर्शना क्या दुप है? भीर इन दाद उक्ते भीहृष्ण न करा रहु ही चाद कुरा रहन त मर रथा रक्षी मुग्ल परदाह नहीं परम्पु भर्त्ता रथ कराप

के लिये मैं पितृहृत्या गुणहृत्या, कन्भूरहृत्या या कुलभय के समान भीर पातक हरना नहीं चाहता।<sup>१</sup> उठाकी सारी है पर-पर कोईने कही हाथपैर शिविष्ठ हो गय मैंइ मुझ गया और दिनबड़न हो आपने हाथ का घनुप्यक्षण फेंकर वह बचात रथ में शुपचाप है गया। इतनी कषा पहले अध्याय में है। ऐ अ याय को भक्तिविद्वाद बोग कहते हैं। क्योंकि यद्यपि पुरी गीता में ब्रह्मविद्वान्तगत (कम) योगदात्व नामक एक ही किंवद्य प्रतिपादित हुआ है; तो भी प्रत्येक अध्याय में लिखा विवरण का वर्णन प्रधानता से किया जाता है उस विवरण को इस कमयोगजाति का ही एक भ्रम समझना चाहिये। और पेसा समझकर ही प्रत्येक अ याय को लम्हे विवरणानुसार भक्तिविद्वादबोग साम्बोग कमबोग त्याक्षिति मिल मिल नाम लिये गये हैं। अन रथ योगी को पकड़ करने से ब्रह्मविद्वा का कमयोगजाति हो जाता है। पहले अन्याय की कथा का महत्व हम ऐ प्रत्ये के आरम्भ में कह पुक्क है। उक्ता कारण यह है, कि अब तक हम उपरिक्त प्रभ के रूपरूप का ढीक तीर से ज्ञान न कर लेते तब उप प्रभ का उत्तर मी मर्दी मौति हमार ज्ञान में नहीं आता। यहि वहा ज्ञाय जि गीता का यही तात्पर्य है कि साधारिक कर्मों से निवृत्त हाकर भावनद्वय करा या सन्वाद ले सों तो मिर अर्द्धन का उपरिक्त करने की तुल भावस्थक्षण ही न थी। क्योंकि वही तो लक्ष्य का भीर कर्म छोड़ कर मिला मौतान के लिये आप ही-आप हैंयार ही गया था। पहले ही अध्याय के अन्त में भीहृष्ण के मुरासे से ऐसे अर्थ का एक-आप भ्रोक बहलाकर गीता की समाप्ति कर देनी चाहिये थी कि वहाँ। क्या ही अन्य कहा! क्तिरी ऐ उपरिक्त क्षे देव सुख बानन्त मात्रम होता है। जब्तो हम देनो इरु कमयोग ससार को छोड़ सन्यासाभ्याम के द्वारा या नकि के द्वारा ज्ञानने भाल्या का कृपयाण कर कर देना है वह ऐसे सपहात की परवाह ही क्यों करता? उगार तुउ मी कह उपनिषद्यो म तो यही कहा है कि यद्यहरैव विरक्त तद्वरेव प्रवक्त्र (धा ४) अपात् किस दण उपरति हो उर्धी अज सन्यास चारण करो विक्षय न करो। क्यदि पह कहा याय कि अर्द्धन की उपरति अनपूर्क न थी वह केवल मोह ती थी; तो भी वह थी तो उपरति ही। क्य उपरति होने से आचा काम हो जुका। अब मोह का हुता कर उर्धी उपरति का पृष्ठश्वन्तमालक कर देना माजान के लिये तुम अपमन्य चात न थी। माझीमारा म या सन्यासमार्ग म भी ऐसे अनेक उत्तारण हैं कि अ यो विची कारण से ससार से छूता गये तो वे बारिस्त हो ऐ उत्तार को छोड़ बाहर म खड़ गये और उन शोका ने पुरी सिंहि भी ग्रास कर ली है। इसी ग्रास

एक सुन में जो पहुँचते हैं — अथात् न केवल उपरिवर्णी और या संन्याचिदों को बरन् यज्ञयाग भागि वरनेवाले ठीकिता को भी जो गति प्राप्त होती है वही पुङ्क में मरण-वास्ते भवित्व को भी मिलती है (भीटि १ १६ — २ और मा शा १८—१० ऐतो)। अतिथि को स्वग में जाने के छिव युद्ध के समान दूसरे वर्षावा कवित् ही सुन्म मिलता है। युद्ध में मरण से स्वग; और वष प्राप्त करने से पृथ्वी का धार्य मिलेगा (२. ३२, ३७) — भी प्रतिपादित निया जो सकता है जिक्या संन्यास भेन्हा और स्वा युद्ध करना दानी से एक ही फल की प्राप्ति होती है। इति मार्ग के युक्तिकार से यह निखिलाध पृथ्वी रीति से उद्द नहीं होता कि इड़ भी हो; पुङ्क करना ही चाहिये। सास्पमार्ग में जो पह न्यूनता या गीप है, उसे प्यान में रत्न भागे भावान ने कमयोगमार्ग का प्रतिपादन भारत्यम लिया है; और गीता के भवित्वम अप्याय के अस्त तक इसी कर्मयाग का — अथात् कभी को करना ही चाहिये और मार्ग में उनसे कोई व्यवा नहीं होती जिन्हें दूर करते रहने से ही मौत प्राप्त होता है इतका — मिम मिम प्रमाण है कर यद्यु निवृत्यपूर्वक उमर्पन किया है। इस कम वेता का सुख्य तत्त्व यह है, कि विसी भी कम का नक्ष या युरा कहने के स्थित उन कम के वाप्त-वरिणामों की अपेक्षा पहले यह तेव लेना चाहिये कि कहा की बातनाल्मङ्कुदि युद्ध ही युद्ध है भवता अयुद्ध (गीता २ ४)। परम्पु बासना की युद्धता या अयुद्धता का निषय भी तो आस्ति अवश्यायाल्मङ्कुदि ही करती है। इसकिये वर तक निषय वरनेवाली युद्धीन्द्रिय रिस्त और शास्त्र न होगी तब तक बासना भी युद्ध-या उम नहीं हो सकती। इसी क्रिय उनके दाय पह भी कहा है कि बातनाल्मङ्कुदि का युद्ध करने के क्रिय प्रभम समावित द्याग से अवक्षायाल्मङ्कुदि युद्धीन्द्रिय को भी रिपर कर देना चाहिये (गीता २ ४१)। सनात के समान्य अवहारी की भौत अन्तर्में से मनोरु होता है कि बहुते मनुष्य त्वगादि मिम मिल काम्य सुनी की यामि के क्रिय ही पठ्यागारिक वेतिक काम्यकमों की अक्ष में पा रहत है। इससे उनकी युद्धि कभी एक फल की प्राप्ति में कभी दूसर ही फल की प्राप्ति में भयान् स्वार्थ ही में विस्तर रहती है और सर त्रस्तवासी दानी पक्ष्यव द्या दानी है। एसे मनुष्यों को त्वग्यमुन्यार्थि अनित्यपद्ध की अपदा अधिक महत्व का नभात मार्गवर्षी नित्य त्रुप एकी प्राप्त नहीं हो सकता। उनी यित्रे भयुन का कमयाग का रहस्य दूत फ्लार बनाया गया है जि वेतिक कमों के काम्य लानी की छाड़ के भौत विष्यामुद्दि से कम करना चीज़। तेरा भवित्वार करक कम करन भर का ही ह — कम के फल की यामि अपदा नभामि तरे नभित्वार की दान नहीं है (२ ८३)। इतर की ही पक्ष्यवाता मान कर उन इस त्रमुद्दि में — जि क्रम का कम मित नभयगा न मिल दानी समान है — त्रेतम् अवस्थाम् समान बर ही कुउ काम केया दान है तब उन कम के पाम्युद्य का देव दान का नहीं होता। इत्यतिथ तृ इति समुद्दि का भावप कर। इति समुद्दि का ही याम — अपन् पाय के भर्य न होते हुए कम करने की

तुम्हारा भारता अधिनाशी और अमर है। इसकिये तेरी यह समझ व्यक्त है कि 'मैं भीप्प ड्राग आरि' को मारेंगा।' क्योंकि न तो भारता मरता है और न मारता ही है। किस प्रकार मनुष्य अपने वश बनस्ता है, उसी प्रकार भारता एक ऐसे छोड़ कर दूसरी तेह में चल जाता है। परन्तु इतिहास उसे मृत मानकर शोष करना अविष्ट नहीं। अच्छा मान लिया कि मैं मारेंगा वह भ्रम है तब तक कहेंगा कि मुझ ही क्या करना चाहिये? तो उसका उत्तर यह है, कि शास्त्रतः प्राप्त हुए तुम तै परामृत न होना ही सकियो का अर्थ है। और जब कि 'स वास्त्वमार्यं मै प्रकरणं वर्णाभमविहितं कम करना ही भेयस्तर माना जाता है तब यहि तु ऐसा न करगा तो खोग हरी निका करगे—अधिक क्या कहे तुम में मरना ही सकियो का अर्थ है। फिर व्यर्थ शोष करो करता है! मैं मारेंगा और वह मरेगा' यह केवल कर्मतांत्रि है—इसे छोड़ द। तु अपना प्रवाहपत्रित कार्य ऐसी तुम्हि ते करता चला चा कि मैं व्यवस्थापनमें कर रहा हूँ। इससे तुम्हि भी पाप नहीं छोड़ता। यह उपरोक्त लाइफ मार्गानुसार हुआ। परन्तु विच की ध्वनिता के किय प्रकरणं कर्म इके चिल्लिंगि ही अपने पर अन्त में सब कर्मों को छोड़ सन्वास लेना ही पहि 'स मार्ग के अनुसार भेद साना जाता है तो यह दृढ़ा रह ही जाती है, कि उपराति होते ही तुम से छं' (यदि हो सकती हो) सन्वास के लेना क्या अच्छा नहीं है! केवल इसना तर देने से काम नहीं चलता कि मनु आरि स्मृतिकारों की आशा है कि विद्यरपात्रम् के बार फिर कही शूलाप में सन्वास लेना चाहिये। मुखाकला में तो एहस्यामी ही होना चाहिये। क्योंकि इसी भी समय यहि सन्वास लेना ही भेद है तो प्यो ही संसार से यह दृढ़ा स्त्रों ही यनिक भी दर न कर सन्वास लेना उपरित है। और इसी देतु ते उपनिषदों में भी ऐसे कलन पाये जाते हैं कि विद्यरपात्रेव प्रपञ्चेत् यहां जनाद्वा (आ ४)। सन्वास लेने से तो गति प्राप्त होगी वही तुम्हें मैं मने से अनिय को प्राप्त होती है। महामारत में यहा है:-

इतिमो पुरुषस्यात् सुर्यमण्डलभेदिनो ।

परिक्रात् योमपुरुषस्य रत्नं चामिष्वस्त्रो हतः ॥

**भर्षात्**— है पुरुषवास! सम्पर्क को पार कर तदाचोक को जानेवाले केवल तो ही पुरुष ह। एक तो घोगमुक्त सन्वासी और दूसरा मुख में छं करने वाला वीर (उग्ग ३२ ६)। 'सी अप का एक छोड़ कारिय के यानी वास्त्वम् के अर्पणात् म भी है—

यात् यहांपैरपतपसा च विषाः स्मर्तिविष पात्रचर्यैत्व याति ।

क्षणम् तात्पर्यनिषामिति द्वारा पाणात् सुपुर्जेषु परि यज्ञतः ॥

त्वं की इच्छा करनेवाले वाद्यय जनक वक्ता से यहशक्ता से और तपो त जिस लाल में जाते हैं उस लोक के मी भाष्य के लाल में मुछ में प्राप्त अर्पण करनेवाले घर पुरा

भर्दुन की भी श्वा हुई होती। ऐसा सा कही हो ही नहीं सकता था, कि सन्दात स्नेह के समय वहाँ का गवाहा रंग उने किये मुझे मर अथवा मिट्ठी का मालामाल छाक्षितन के लिये बनक, मृद्ग भाँि सामग्री छोरे कुरुक्षेत्र मे भी न मिलती।

परन्तु ऐसा कुछ भी नहीं किया उच्चा दूसरे अध्याय के आरम्भ मे ही भीहृष्ण न भर्दुन से बहा है कि भर ! तुम यह तुम्हारी (कम्प) कहीं से सज पही ? मह नामजी (इष्ट) दुम जोमा नहीं भेटी। यह तेरी कीर्ति को धूमिल मे मिला हेगी। इसकिये नम दुमल्ला का त्याग कर मुद्र के लिये यान हाँ ग।' परन्तु भर्दुन ने निर्मी अक्षर की तरह अपना वह यान आरी ही रखा। वह अस्तम्भ तिन हीन वासी मे दृश्य - मैं मीम्प ड्रोण भाइ महामाभा का कम मार्क ! मेरा मन इसी समाद मे बफर या रहा है कि मरना मर्य है या मारना ? 'महिये नुस यह करम्भर्ये की इन शब्दों मे जोन ला फ्ल भेष्यत्वर है। मैं तुम्हारी दृश्य मे भाया हूँ। भर्दुन भी इन वाकों को मुनक्कर भीहृष्ण अन गय कि अप यह माया के अनुसु ने एक गया है। इसकिये उत्तर हैसकर उन्हाँने यह भगवान्महाभायन्महाभायन्महाभाय कह्याहि जन कायदना भारम्भ किया। भर्दुन जानी पुरुष क सहज प्लाव करना आहता था; और वह कमसुन्दर की जाने भी जरन लग गया था। 'महिये समार मे जानी पुरुष के आवरण के ये शो पाय गीए पहाँ ह - अयान एम करना और कम छोड़ना - यही से मालान ने उपश्च ए भारम्भ किया है। आर भीर भर्दुन का पहली बात यही दर्शाए है कि इन शो पर्यो वा निश्चाभा म स तु जिनी की जौ से परन्तु त भूष कर रहा है। 'सुई श्वा' जिन जन वा मात्प्रनिश्च के भाषार पर भर्दुन कमसुन्दर की बात करने लग था उसी मात्प्रनिश्च क भाषार पर भीहृष्ण ने प्रथम एक तेजभिहिता पुष्टि (गीता २ ११-३) तरु उपाय किया है। और किर अध्याय क अन्त तक कमसामान्य के भरुमार भर्दुन का यही दर्शया है कि पुढ़ ही तेज सम्प कर्त्त्व है। यहि एक वेदनिश्चिना माम्प्ये भरीगा भोक वद्योन्यान्मवाग्नस्त्वम् भोक क पहरे भाता तो परी भर्त और भी निक्ष द्वय हो गया हुआ। परन्तु मात्प्रनिश्च क प्रशाह मे कमस्पमान का ग्रन्तिराज्ञ हो जाने पर वह इम क्षम मे भाषा है - वह तो मात्प्रनिश्चमान क भरुमार ग्रन्तिराज्ञ हमा भव दोग्नान क भरुमार ग्रन्तिराज्ञ करता है। तुउ भी हा परन्तु वय ल्ल ही है। इन्ह एकाहर एकाहर मे लाल्य (या तन्याह) और याग (या न्यवाग) का न यहने ही तरु एक एक दाल त्रिये ८ इकाहिये जर्सी तुम्हारनि न वह लेहा इन्हाँ ही वह ८ है कि यिस वी गान्ता क लिये म्हामाकार दाम्भन्दरान एम करक इन्हाँ मे इन रमा। १ लिये मन मन बनो का उह म-यन त्रा भास्मन्दग ह चार ज्ञो का बनी दाल न वह इन तह ८६ लिखम्हुदि मे बन रहा या लघा एम याग है। चहन त म्हान प्रथम या वहा है ८८ लायदग ८ वर्षाम्हन-  
गीता २

मुहिं - कहते हैं। यह तुम्हें यह योग सिद्ध हो चक्र तो कम करने पर मीं तुम्हे मोक्ष की प्राप्ति हो जायगी। मोक्ष के लिये कुछ कर्मनन्याम की आवश्यकता नहीं है (२ ४७-६१)। तब महावान ने भक्तुन् दे कहा कि किस मनुष्य की तुदि इति फ़कार सम ही गई हो उसे रिषतप्रद कहते हैं (२ ४) तब अद्वित ने पुछा कि “महाराज ! हृषा कर रस्ताये कि रिषतप्रद का व्यापक हैसा हाता है।” इस लिये बूसरे अध्यात्म के अमृत में रिषतप्रद का बजन किया गया है; और भल्लू में यह नया है कि रिषतप्रद की स्थिति को ही ब्राह्मी स्थिति कहते हैं। साराय यह है कि अद्वित को सुदूर में प्रकृत करने के लिये गीता में जो उपर्येत दिया गया है उसका प्रारम्भ उन दो निष्ठाओं से ही किया गया है कि किंहै इति उत्तर के अपनी मनुष्यों ने प्राप्त माना है; और किंहै कम घेण्डा (साक्ष) और कम करना (जेत) कहते हैं; तथा सुदूर करने की भावन्यकृता की उपपत्ति पहले साम्पदनिषद् व अमुक्तर एवं अनुभव गत है। परन्तु यह यह देखा गया कि “सु उपपत्ति से काम नहीं चलता - यह अधूरी है - तब फिर तुरन्त ही योग या कर्मयोग मार्ग के अनुसार जान जालना आरम्भ किया है और यह व्यक्तिये के पथात - कि “सु कर्मयोग का अस्त्र आचरण भी नितना भेयस्कर है - बूसरे अध्याय में महावान् ने अपने उपदेश को इति उत्तर दृढ़ पर्वत्ता दिया है कि कर्मयोग मार्ग में कर्म की अपेक्षा यह तुदि ही अदूर मानी जाती है किससे कर्म करने की प्रेरणा हुआ करती है तो अब रिषतप्रद की नार व अपनी तुदि को सम करके अपना कर्म कर लितसे तू क्षापि पाप का मारी न होय। अब देखना है कि आगे और कौन कौन से प्रभ उपरिषद् होते हैं। गीता के सारे उपपादन की बड़ी बूसरे अध्याय में ही है। “सुरिये रसक विषय का पितेन वर्णा कुछ विक्षार से किया गया है।

तीसरे अध्याय के आरम्भ में अद्वित ने प्रभ किया है कि यहि कर्मयोग मार्ग में मीं कर्म की अपेक्षा तुदि ही भेट मानी जाती है तो मीं अपी रिषतप्रद की नार अपनी तुदि को सम किये सेता हैं। फिर आप सुन्नते इस तुदि के उमान चोर करने के लिये क्या कहते हैं? “सुका कारण यह है कि क्या की अपेक्षा तुदि को अदूर कह देने से ही “सु प्रभ का निर्णय नहीं हो जाता कि सुदूर क्या कर? तुदि का उम राय पर उत्तरीन क्यों न देते रहे? उद्दि का उम राय पर मीं कर्म सन्वास किया जा सकता है। फिर किस मनुष्य की तुदि सम हा गई है उसे साम्पदमार्ग के अनुसार कर्मों का व्यापक करने में क्या हृष है? इति प्रभ का उत्तर महावान् “सु प्राप्त भेते हैं कि पहले तुम्हे साम्पद और योग नामक तीन निर्णये एवं उत्तर ह सही परन्तु यह भी स्मरण रहे की किसी मनुष्य के कर्मों का उत्तरण नहीं ज्ञान जेतम्भव है यह नहीं यह देखायी है तब तब प्रहृति लभात्ता उठते अपने करनेवाली ही। नार वय कि प्रहृति के कर्म दृष्ट ही नहीं है तब तो इनिवनिप्रद के द्वारा तुदि को स्मिर और सम करने के योग कर्मनिवास से ही अपने यत्व व्याप्त

एवं शुभ में या पर्वते हैं — अथवा न केवल समन्वितों के बरन् यज्ञयाग भारि करनेवाले धीमिता को मी जा गये प्राप्त होती है वही शुद्ध में मरन वास्तु स्वनिय का मी मिथ्यी है (कौटि ३ १६०-८ और म या १८-२-३ देखें)। स्वनिय को स्वर्ग में जान के सिर्य शुद्ध के समान वृत्तय इत्याद्य कथित ही शुद्ध मिथ्या है। शुद्ध में मरने से स्वर्ग और जप प्राप्त करने से शुद्धी का राम मिथ्या (२.१२, १०) — भी प्रतिपादित किया जा सकता है किस्या संन्यास लेना और स्वर्ग शुद्ध करना जाना से एक ही फल की प्राप्ति होती है। इस मार्ग के सुकित्या से यह निधिनाय पूर्ण रीति से सिङ्ग नहीं होता, कि 'कुछ भी हो; शुद्ध करना ही पाहिये। साक्षमाग में ये यह न्यूनता या दोष है उस एकान में रम आगे भगवान ने क्षमेवासाग का प्रतिपादन आरम्भ किया है और गीता के अन्तिम भग्याद के अन्त तक इसी कर्मदोग का — अथवा क्षमों का करना ही पाहिये भार मात्र में उनसे भोई रापा नहीं होती; किन्तु इन्हे करने से ही भौत प्राप्त होता है इत्याद्य — मिथ्य मिथ्य प्रमाणे कर याहु निधिनियुक्तं समफलं किया है। इस क्षम योग का मुम्प तत्त्व यह है कि दिनी भी क्षम का मत्य या शुद्ध करने के लिये उस क्षम के दाय-परिणामों की भयेषा पहल यह देव सेना पाहिये कि कर्ता की वारुनाम्बक शुद्धि शुद्ध हो भगवा अग्रुद्ध (गीता २ ४)। परन्तु वासना की शुद्धता या अग्रुद्धता का निषय मी का भावित स्वयमापात्मक शुद्धि ही करती है। इत्यादिये वर तक निषय करनेवाली मुद्दीक्रिय रिपर और शान्त न होगी तब तक वासना की शुद्धता या शुद्धि का शुद्ध करने के लिये प्रथम समापि का याग स व्यवसायाम्बक शुद्धीक्रिय द्वे भी रिपर कर देना पाहिये (गीता २ ८१)। वासन के कामात्म्य स्वाहार्ती की ओर देवम ने प्रनीत होता है कि अग्रुद्ध ममुप्य स्वगाडि दिप्त मिथ्य शाम्य मुर्गी की प्राप्ति द्वे दिव्य योगान्वित वैकिंश कामयमों की शक्ति में पड़ रहत है। इनके ऊपर कुदि कमी एवं कम की प्राप्ति में, कमी शूमर ही कम की प्राप्ति में अग्रुद्ध श्वार्य ही में निमग्न रहती है; और उग्र दासनवार्ती वानी वशवदा रहती है। एने मनुष्यों को स्वर्यमुग्यान्वित भवित्यक्ष की भयेषा भवित्य महाव का अथवा मातुरुपी निष्य शुद्ध कमी प्राप्त नहीं हो सकता। इनी दिव अग्रुद्ध का काम्य देवाना का एट द और निष्कामद्वि स कमे करना चाहिये। उठ अधिकार दूर द्वंद्व द्वंद्व करने मर का है। ८-१८-१८ इस की प्राप्ति भगवा अप्यापि तो अधिकार की दृष्ट नहीं। ८। १८) इधर के ही प्रथमता मान कर उठ दूर शम्भुद्वि न — कि दूर का दूर दिव भगवा न दिव दाना लगान है — दूरम लक्ष्य लगान कर ही कुछ दूर किया जाना ८ तब उस दूर का लक्ष्य जा जा जा नहीं होता। इत्यादिये दूर दूर शम्भुद्वि का भावपर कर इस शम्भुद्वि का ही याय — भवान् दूर क नर्गी न होता दूर दूर करने की

शिष्य न माने पाये, कि अब तक किया गया प्रादिपाद्म लेख अर्कुन को मुद्र में प्रकृत करने के लिये ही नहुन रखा गया होगा। "सतिष्ये अप्याय के आरम्भ में इति कर्मयोग वी अपार् यगच्छत् या नारायणीय अर्म की सेवामुग्धात्मि परम्परा क्षत्रियं यद् है। वब श्रीकृष्ण ने अर्कुन से कहा कि आजी आनी पुग के आरम्भ म मिने ही यह कर्मयोगमार्ग विवरान् और विवरान् ने मनु और मनुने अस्त्राकु बताया था। परन्तु "स वीच मै यह नह हो गया था; "सतिष्य मैने पही योग (कर्मयोगमार्य) दुर्लिख से बताया है। वब अर्कुन ने पूछ कि आप विवरान् के पहले कैसे होगे। इसका उत्तर कैसे हुए, मरावान ने बताया है कि सामुओं की रण्य, तुम्हें अनाश और अर्म की सास्यापना करना ही मेरे अवधारी का प्रयोग है। एव इति प्रकार अनेकप्रकारक अर्मों के करते हुए मी अनम मेरी दुष्ट आचर्षित नहीं है। "सतिष्ये मै उनके पापपुण्याति पर्म का मारी नहीं होता। इस प्रकार कर्मयोग का उमर्वन करके और यह उदाहरण टेक कि प्राचीन उमर्य अनक आदि ने मी इती तत्त्व को भ्यान में ला कर कर्मों का आचरण किया है। मरावान् ने अर्कुन के फिर पही उपर्यं दिया है कि तू मी दैसे ही कर्म कर। तीक्ष्णे अप्याय में मीमाल्यों का लो चिदानन्त बताया गया था कि यह के लिये किये गये कर्म करक नहीं होते उसीको अब फिर से बतायाकर 'यह वी विलूप्त और व्यापक त्वास्प्यं' एव प्रकार की है - करक तिक और चावक को अपना अपना पशुभीं को मारना एव प्रकार का यज्ञ है सही; परन्तु यह द्रव्यमन्त्र यज्ञ इत्यक हर्वे का है। और उमर्यादि मैं कामक्रोधाति "नियवृत्तियों का अपना अपना न मम कहकर सब कर्मों का व्याय मैं स्वाहा कर देना लेंगे हर्वे का यज्ञ है। इतिष्ये अर्कुन को ऐसा उपर्यं दिया है, कि तू "ए लेंगे हर्वे के यज्ञ के लिये अपना क्षमाया का त्याग करक कर्म कर। मीमाल्यों के व्याय के अनुसार उपर्याय लिये गये कम यदि स्वतन्त्र रीति से करक न हों तो मी यज्ञ का दुःख-न दुःख कर किना प्राप्त हुए नहीं रहता। इतिष्ये यह भी बड़ि नियाम-कुद्दि से ही लिया जाये तो उनके लिये किया गया कर्म और यज्ञ दोनों करक न होगे। अन्त मैं कहा है कि उपर्युक्त उसे कहते हैं किसी यह ज्ञात हो जाए, कि सब प्राणी अप्से मैं था मरावान मैं हूँ। वब ऐसा ज्ञान प्राप्त हो जाता है तभी उप कर्म मम हो जाते हैं। और कर्ता वी उनकी दुष्ट बाजा नहीं होती। उप कर्मान्विक पार्य ज्ञाने परिसमाप्त है - सब कर्मों का लब ज्ञान मैं हो जाता है। कर्म स्वप्न करक नहीं होते। कर्म केवल अद्वन से उपर्यम होता है। इतिष्ये अर्कुन को पह उपर्यं दिया गया है कि अद्वन का लब कर्मयोग का आभय कर; और सद्याई के लिये उप हो जा। लाराय एव अप्याय म ज्ञान वी "त प्रकार प्रस्तावना वी गारं है कि कर्मयोगमार्ग की लिहि के लिये मी साम्यकुद्दिर्ष ज्ञान की आवश्यकता है।

कर्मयोग वी आकस्यकरा क्षमा है या कर्म कर्मों किये जाव - इनके कारणी का विचार तिक्ष्ण भी अप्याय मैं किया गया है तहीं परन्तु दूसरे अप्याय मैं

कर्मों को करने रहना भविक अवस्था है। इसलिये हूँ कम कर। यदि कर्म नहीं करगा तो तुम्हे पान लड़ने मिलेगा (३ ३ ८)। ईश्वर ने ही कर्म को उत्पन्न किया है मनुष्य न नहीं। जिस समय ब्रह्मोदेश ने सृष्टि और प्रका को उत्पन्न किया उसी समय उसने 'यह' को भी उत्पन्न किया था। और उसने प्रका से यह कह किया था कि यह के द्वारा तुम अपनी समृद्धि कर सक। जब कि यह उस किना कम चिन्ह नहीं होता तो अब यह का कर्म ही रहना चाहिये। "सलिये यह चिन्ह होता है, कि मनुष्य और कर्म साप ही साप उत्पन्न हुए हैं। परम्परा य कर्म क्षमता यह के लिये ही है और यह करना मनुष्य का कर्तव्य है।" ऐसे लिये उन कर्मों के पास मनुष्य की कृपा म जानवाके नहीं होते। अब यह सच है कि जो मनुष्य का पृथग जानी हो गया स्वयं उसके सिव्य काह मी करतव्य होय नहीं रहता और न शोगों से ही उसना कुछ अवका रहता है। परम्परा इतने ही में यह चिन्ह नहीं हो जाता कि कर्म मन करो। क्योंकि कर्म करने से जिसीका भी युटकाह न मिलने के कारण यही भनुभान करना पड़ता है कि यहि स्वाध के लिये न हो; हीं भी अब उसी कर्म को निपामनुदि से ध्येयसप्रह के लिये अवश्य करना चाहिये (३ १७ १)। इन्ही जातीं पर ध्यान देकर ग्राहीन जाति में उनक ज्ञानी जानी पुरुषों ने कम किये हैं और मैं भी कर रहा हूँ। इनक अतिरिक्त यह मी गमन रह कि ज्ञानी पुरुषों के कर्तव्यों में आकाशप्रह करना प्रथम करतव्य है भाषात् अपने जनाय ते संगो थो तमाग की गिराव डाना और उन्ह उपतति के माग में ज्ञाना देना जानी पुरुष ही का करतव्य है। मनुष्य किनना ही जानवान क्यों न हो जाव परम्परा प्रहति के अपवहार से उसको पुरुषारा नहीं है। इनमिये कर्मों उड़ना तो दूर ही रहा; परम्परा करतव्य नमह कर स्वप्नमागुमार कर बरत रहना और - भावाप्रकाणा होन पर - उसीमें मर जाना भी अवश्यक है (३ ३ -३८) - इन प्रकार तीसरा नप्पाप में ज्ञानान ने उपदेश किया है। भागवन् ने इन प्रकार प्रहति का सद कर्मों का क्यूब देते किया। यह देव अर्द्धन ने प्रभ किया कि मन्त्राय - इच्छा न रहने पर मी - पाव क्यों बरता है? तद म्भावान् ने यह उत्तर देकर भाषाय तमाम बर किया है कि ध्येय कोष भावि किवार क्षमतार मैं मन को ध्येय कर लूँ है। भत्तेव भपनी इन्द्रियों का निवाह बरक प्रकार मनुष्य के भावना मूल भवने भवीन रूपमा पाहिये। साराध लिपनग्रह वीं नारु कुर्दि भी उद्भव ही शम पर मी क्षम से जिनी व्य युक्तारा नहीं। भत्तेव यहि स्वाध के लिये न हो तो मी वृक्षप्रद के लिये निपामनुदि से कर्म बरत ही रहना चाहिये - इन प्रधार व्यव्याप की भावाप्रकाणा नित वीं गर है और स्वधिमाग के परमेभणपग्नशुद्ध क्षम बरन के इम ताप कर मी - कि मूर्ति तप कर भाव बर (३ ३ १०) - एमी भाषाय म प्रथम उपर्युक्त हो गया है।

परम्परा पर दिव्यन नीनर भप्याप मैं पूरा नहीं आ इन्द्रिय जीवा अप्याप मी उनी दिवेमन के लिये भावम दिया गया है। जिनी के मन मैं यह

और सबा सन्यासी है। जो मनुष्य भवित्वान भादि कर्मों का स्थाग कर उपचाप तैर रहे वह सबा सन्यासी नहीं है। उद्देश्य बाद भवित्वान ने आत्मस्वतुनक्ता का इत प्रकार वर्णन किया है कि कर्मयोगमान में कुछ का दिव्य करने किए नित्यनिष्ठारूपी ये कर्म करना पड़ता है उसे स्वयं आप ही कर। यहि और एक न करे, तो तो किसी वृत्ति पर असका गोपारोपण नहीं किया जा सकता। इसके भागों इस भव्याय में नित्यनिष्ठारूपी योग की साधना का पातङलयोग की हड्डि से, मुख्यतः वर्णन किया गया है। परन्तु यम निकम-भारुन प्राणायाम आदि उपर्योगों के द्वाया चरणि इन्द्रियों का निपट किया जावे तो मी उपर्योग से ही काम नहीं बनता। इस किये आरम्भक्षयान की मी आवश्यकता के कियम में न्यु अभ्याय में कहा गया है कि आगे उस प्रमाण की वृत्ति सर्वभूतस्थमात्मान सर्वभूतानि वासनि अवका थो मी परवति सबूद सबूद मायि परमति (१ २९ ३) इत प्रकार सब प्राणियों में उम हा अपनी चाहिये। तुमने मैं अर्जुन ने यह शङ्खा उपरित्यक्ति की कि परि यह साम्यवृद्धिरूपी थोय एक कर्म में चिन्द्र न हा तो फिर वृत्ते कर्म मैं भी आरम्भ ही से सक्षका अभ्याय करना हागा - और फिर मी परी दशा होगी - और उस प्रकार यह एक हमेशा चक्रता ही रहे तो मनुष्यको न्यु माग के द्वारा सङ्कृति प्राप्त होना अत्यमन्त है। इत शङ्खा का निषारण करने के किय मात्रान ने पहले यह कहा रे कि योगमार्ग में कुछ मी व्यर्थ नहीं बनता। पहले लग्न के उत्तर रूप रह जाते ह और उनकी सहायता के वृत्ते लग्न में अधिक अभ्यास होता है उथा कर्म कर से अस्त में सिद्धि मिल जाती है। इतना हाहकर भवित्वान ने उस अभ्याय के अन्त में अर्जुन को पुनः यह निपत्ति और सद्गुरुपर्याय किया है कि कर्मयोगमान ही भद्र और क्रमाणः सुलभ्य है। इस किये क्रमस (अपात् फक्षया का न आहंत हुए) कर करना तपश्चर्वा करना इन के गारा क्रमसन्तानम करना उत्पादि तद मार्गो का खोद है; और त् जागी हो जा - भवान्त निषाम-कर्मयोगमार्ग का आवश्यक करने का।

उठ स्थगो का मत है कि यहो अपात् पहले का अपायोग में क्षमताम् का कियेवन पुरा हा गया। उसके अपात् जान और महि को त्वत्तत्व निष्ठा मान कर भवित्वान ने उनका वर्णन किया रे - अपात् य देवता निष्ठार्णे परत्तर निरपेक्ष या कर्म व्याप की ही क्षमताम् की पर्तु उत्तु प्रपत्र और उत्तु कर्षक के मात्र से भावनरूपी है। सातव अभ्याय से काहून अपायाव तत् महिक का और आगौ ऐर त् कापाया म जान का वर्णन किया गया है। और इस प्रकार अद्वारा अपायोग के विभाग करन म कर्म वर्क्ष की भी जान मैं संप्रदेश के हिस्त में छः छ अपाय भाव ह तथा दीना के भवित्वान भाग दो जात है। परन्तु यह मत दीर नहीं है। पाप। अभ्याय के कर्णी मैं लह मार्ग हा जाता है कि तद अर्जुन की मुख्य शङ्खा परी थी कि मैं नामनिष्ठा क अनुत्तर वृद्ध करना और हूँ, या वृद्ध क मर्त्यर नीतिकाम का प्रकृष्ट हूँ क नामन देवता एवं भी वृद्ध ही करूँ। और वह वृद्ध ही

एकमन्दन एवं कलन करके कर्मयोग के विवेचन में भी बारबार कर्म की अपेक्षा बुद्धि ही भेद ब्रह्माद् गयी है। इसलिये यह ब्रह्मना भप्त अस्मिन्द्वारा आकर्षण है कि इन दो मार्गों में छैन-सा मार्ग भेद है। क्याकि यदि दोनों मार्ग एकसी साम्यता के कहे जायें तो परिणाम यह होगा, कि किसे ये मार्ग अन्य उभयोग वह उभी का भावीकार कर देता है — केवल कर्मयोग का ही स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। भक्तुन के मन में यही शब्द उत्पन्न हुआ। इसलिये उसने पौच्छे भव्याय के आरम्भ में भक्तान से पृष्ठ है कि साक्ष और योग दोना निष्प्रभी भी एकत्र करके मुझे उपर्युक्त न दीजिये। मुझे ऐसा नहीं ही निष्पात्मक ब्रह्म दीजिये कि इन दोनों में भेद भार्ग छैन-ठा है कि किसी भी उसके अनुसार अनावश्यक न कर सके। इस पर भक्तान् ने तथा रीति से यह कह कर भक्तुन का सन्देह दूर कर दिया है, कि यथापि दोनों मार्ग निष्प्रेयस्तर हैं — अपात् एक-से ही मीमांसा है — तथापि उनमें कर्मयोग की योग्यता अधिक है।— कर्मयोगो विदिष्यते (८२)। इसी खिडान्त के दृट करने के लिये भक्तान और मी पहरे हैं, कि संन्यास या साक्षयनिश्च में ये मोक्ष मिलता है वही कर्मयोग थे भी मिलता है। “कना ही नहीं परम्पुरा कर्मयोग में थे निष्पात्मनुद्दिक्तब्रह्मर्थं गर्द है, उसे किना प्राप्त किये सन्यास सिद्ध नहीं होता। और यह यह प्राप्त हो जाती है उब योगमार्ग से कर करते रहने पर मी ब्रह्मग्राहि अवश्य हो जाती है। फिर यह ज्ञाना करने से बया अम है कि साक्ष और योग जिस मिल है। यदि हम ज्ञाना योग्या देखना, मुनना, वास खेना तथादि संकहों कमों की छोड़ना चाह तो भी नहीं कृत है। इस दशा में कमों को छोड़ने का हठ न कर उद्दीप्त ब्रह्मनिश्चिद्वारा से करते रहना ही बुद्धिमत्ता का मार्ग है। इसलिये दावात्मनी पुरुष निष्पात्मनुद्दिक्त से करते रहते हैं; और भन्त में उन्हीं के द्वारा मोक्ष की मात्रि कर किया करते हैं। इधर तुमसे न यह कहता है कि कर्म करो; और त यह कहता है कि उनका स्वाग कर दो। यह तो उब ग्रहणि की कीदा है और कर्म करना का अम है। इसलिये यो मनुष्य समनुद्दिक्त से अपवास ब्रह्मन्दात्मन्दात्मन्द्वारा होकर कर सिया करता है त्वये उस कर्म द्वी बाचा नहीं हस्ती। अतिष्ठ क्षया करे इति अव्याय के अन्त में यह भी कहा है कि विनाशी बुद्धि द्वारा, चार्षाच ब्राह्मण ये हाथी इस्काहि के मनि सम हो जाती है; भार तो सर्व भूतान्तरगत भास्त्वा की एकत्रा का पहचान पर अपने भ्यवहार करने रहता है उसे ऐट-कियाये ब्रह्मनिर्वापनस्त्री माल श्राव हो जाता है — मात्राप्राप्ति के सिये उसे कही मालना नहीं पढ़ता वह यह मुक्त ही है।

इठे भव्याय में वही विशेष भाग यह रहा है भार उसमें कर्मयोग द्वी लिहिक के लिये भावकर्षण कर्मनुद्दिक्त की प्राप्ति के उपायों का वर्णन है। परम ही अपेक्षा में भक्तान ने भक्तान मत यह अव्याय किया है कि ये मनुष्य कर्मपत्र की आधा भाग के बहुत कर्मय उपायों के प्राप्त करना रहता है वही तथा यागी

के किष्य म भाग्न ह न कर गीता यह भी कहती है — कि मोक्षप्राप्ति के स्थिते द्विते ज्ञन भी आवश्यकता है, उसकी प्राप्ति — किसे जै मार्ग मुगम हो वह उसी मार्ग ले कर ले। गीता का तो मुख्य किष्य यही है कि अस्त मै अर्थात् ज्ञानप्राप्ति के अनस्तर मनुष्य कर्म करे अथवा न करे। इसकिये सचार मै चीकम्बुक पुरुषों के चीकन चर्तीय करने के लो औ मार्ग दीर पढ़ते हैं — अथात् कर्म करना और कर्म छोड़ना वही मै गीता के उपरेष का आरम्भ किया गया है। इनमै से पहले मार्ग का गीता ने मार्गवत्कार की नाम 'भक्तियोग यह नश नाम नहीं किया है किंतु नारायणीय घम मै प्रकसित प्राचीन नाम ही — अपात् 'अरापणकुमि' से कर्म करने की 'कर्मयोग' पा 'अग्निद्वा आर दानोक्त कर्मों का स्पर्श करने की 'साम्य' वा 'अग्ननिद्वा' यही नाम — गीता म चिर रहे गये हैं। गीता की इस परिमाण को व्यक्तिकार दर वहि विचार किया जाय तो यैसा पहेंगा कि ज्ञान और कर्म भी करायी भी मछि नामह कोई तीसरी स्वतन्त्र निष्ठा कापि नहीं हो सकती। 'सका कारण यह है, कि 'कर्म करना और न करना अपात् ( याग और साम्य ) ऐसे अतिरिक्त कर्म के किष्य मै तीरुय पश ही अब ज्ञानी नहीं रहता। इसकिये यहि गीता के अनुष्ठार किसी मक्तिमान् पुरुष की निष्ठा के किष्य मै निष्प्र करना हा तो वह निष्य केवल इसी बात मै नहीं किया जा सकता कि वह मक्तिमान् मै स्पा रहा है। परन्तु इस बात का विचार किया जाना चाहिये कि वह कर्म करता है वा नहीं। मक्ति परमेश्वरप्राप्ति का एक तुगम साधन है। भार उपासन के नाते ते यहि मक्ति ही हो 'याग कह ( गीता १४ २३ ), तो वह अनिष्ट 'निष्ठा नहीं हा सकती। मक्ति द्वारा परमेश्वर का ज्ञान हो जाने पर जो मनुष्य कर्म करेगा उसे 'अग्ननिद्वा' और जो न करेगा उसे 'साम्यनिद्वा' कहना चाहिये। पौर्ववे भग्वान् मै भगवान् मै भगवा यह भग्विय स्वप्र कर्तव्य किया है कि उक्त दानों निष्ठाभी मै कर्म करने की निष्ठा भग्वित भेष्यकर है। परन्तु कर्म पर सन्वादभगवान्दा वा यह महाम्बाल भासेत है कि परमेश्वर का ज्ञान होने मै कर्म से प्रतिश्वष होता है। और परमेश्वर के ज्ञान किसी तो मार्ग की प्राप्ति ही नहीं हा सकती। इसकिये कर्मों का स्पर्श ही करना चाहिये। पौर्ववे भग्वाय मै ज्ञानान्यता यह कर्मवाय गया है, कि उपकुर्त भगवाय भनत्व है। और सन्वादभगवा वा जो मोक्ष मिलता है वही कर्मवायमाय जे जो मोक्ष मिलता है वही कर्मयोगमाय मै भी किला ८ ( गीता ८ ८ ) परन्तु वही इस ज्ञानान्य निष्ठान का तुछ भी युग्मता नहीं किया गया था। इसकिये भग भगवान् इस त्वे ए तथा महाम्बाल किष्य का विस्तृत मिलाग कर रह है कि कर्म करने ही स परमेश्वर के ज्ञान की प्राप्ति हा वर मोक्ष किन प्रकार किला है। इनी हा न ज्ञानव भग्वाय के भारम्भ मै भक्ति मै — पट न बद्धर कि मै तुरो मूर्ति ज्ञानव एव स्वान्त्र तीतरी निष्ठा कलाया है — भगवान् वह वहत है कि —

करना पड़े, तो उसके पाप से बेते बर्दू। — तब उसका समाचार ऐसे अपूरे और अनिवित उससे कभी ही सकता था कि 'हम से माझ मिलता है और वह इस से भी प्राप्त हो जाता है। और वही सरी अच्छा हो तो मर्कि नाम की एक और तीसरी निशा भी है। इसके अतिरिक्त यह मानना भी ठीक न होगा कि वह अर्हुन किसी एक ही गिर्वायामक माग का उपनां प्लाहता है तब उसके और उत्तर भीइष्टा उसके प्रस्तुत के मूल स्वरूप का खंडकर उसे तीन स्वरूप और विद्युतायमक माग बताता है। सच बात तो यह है कि गीता में 'कमयोग' और 'संन्यास इन्हीं तो निष्ठाभो वा विचार है (गीता ६ १) और यह भी धारा साकृत्यम् दिया है कि इन में से 'कमयोग' ही अविद्या भेदलकर है। (६ २) मर्कि की तीसरी निशा तो कहीं अस्थाई भी नहीं गई है। अपार् यह कहना साम्प्रदायिक दीक्षाकारा की मनगति है कि अनेक इस भीर मर्कि तीन स्वरूप निश्चये हैं और उनकी वह समझ हमें के कारण — कि गीता में उपर्युक्त माध्य के उपायों का ही वर्णन किया गया है — उन्हें ये तीन निश्चये कहाँचित् मागवत से स्त्री हो (माग ११ २ ६)। परन्तु दीक्षाकारी के घ्यान में यह बात नहीं आई कि भगवत्पुराण और भगवद्गीता का तात्त्व एक नहीं है। यह विद्वान् भागवतकार का भी मान्य है कि उपर्युक्तों से माध्य भी प्राप्ति नहीं होती। माध्य के किम शून्य की भावस्वरूपता रहती है। परन्तु इसके अतिरिक्त मागवतपुराण का वह भी कथन है कि यन्त्रपि अन और नैषम्य मोषणावक हा तथापि ये गाना (अपार् गीताप्रतिपादित निष्ठाम कमयोग) मर्कि के जिन घामों नहीं दृष्टि — नैषम्यमप्यसुतमावश्चित् न द्यामन द्यानमद्व निरञ्जनम् (माग ३ २ २ २ और ३ २ १२)। उस प्रकार इन्या घाम तो उपर्युक्त होता है कि भगवत्कार उपर्युक्त मर्कि को ही सबीं निश्चय अपार् अनित्यम् मोषणम् स्थिति मानत हैं। भागवत का न तो वह बहना है कि भगवद्गीता का इत्यरप्यतुष्टि से कम करना ही नहीं पाहिये और न यह बहना है कि करना ही पाहिये। भगवत्पुराण का विषय वह बहना है कि निष्ठाम कम करा भयवा न वरा — ये सब मर्कियोग के ही किम भिन्न प्रकार हैं (माग ३ २ ७-८)। मर्कि के भगवत् में सब कर्मयोग पुनः सकार में भयान अन्ममृत्यु क पक्षर में दाढ़नकाले हो जाते हैं (माग १ १४ १)। नारायण यह है कि भागवतकार का सारा ग्रन्थमध्ये योग पर ही हमें के कारण उहमें निष्ठाम कमयोग का भी मर्कियोग में ही दृष्टि दिया है। भार यह प्रतिराज्य दिया है कि अक्षयी मर्कि ही सबीं निश्चय है। परन्तु मर्कि ही तुउ गीता का मूल्य प्रतिराज्य दियर्य नहीं है। उक्ता कि भाग्य में गरीबी की कम्य लगता। गीता इस घात की पूरी तरह माननी है कि परमेभर के हाल के लिया और किनी भी भय्य उत्तर ने मारा भी प्राप्ति नहीं होती। और इस जन की प्राप्ति के लिये मर्कि एक मुख्य माग है परन्तु इसी माग

गीता के दूसरे अध्याय में कही गई है (गीता २ ५९)। इसकिये कर्मयोग का आचरण करते हुए ही जिस रीति अध्याय किधि से परमेश्वर का वह शन प्राप्त होता है उसी किधि का अब मात्रान् सातवें अध्याय से ज्ञान करते हैं। कर्मयोग का आचरण करते हुए — इस पर से यह मैं सिद्ध हाता है कि कर्मयोग के बारी घरें ही इस ज्ञान की प्राप्ति कर सकती है। ऐसके किये कर्मों को छोड़ नहीं सकता है और इसीसे मह कहना भी निमूँह हो जाता है कि भक्ति और शन का कर्मयोग के अद्यै विकस्य मानकर इन्हीं ने खलन्न मार्गों का वर्णन सातवें अध्याय से आगे किया था है। गीता का कर्मयोग भागवतब्दम से ही किया गया है। इसकिये कर्मयोग में शनप्राप्ति की किधि का यो वर्णन है वह मागवतब्दम अध्याय नारायणीय धर्म से कही गई किधि का ही वर्णन है। और “सी अभिप्राय से शान्तिपर्व के अन्त में देवपायन ने अन्तेक्ष्य से कहा है कि मात्रानीया मैं प्राप्तिप्रधान नारायणीय धर्म और उक्ती किधियों का वर्णन किया गया है। देवपायन के कर्मनानुसार इसमें सन्यासमार्ग की किधियों का भी अन्तर्माल होता है। क्योंकि यथापि नन दोना मार्यों में कर्म करना अध्याय कर्मों को छोड़ना यही भेद है तथापि दोना का एह ही शनविद्वन की आवश्यकता है। “सकिये दोना मार्गों में शनप्राप्ति की किधियों वजह ही सी हाती है। परन्तु बत कि उपद्वृक्त कर्म में कर्मयोग का आचरण करते हुए” — ऐसे प्रत्यक्ष पठ रखे गये हैं तब स्पष्ट रीति से वही सिद्ध होता है कि गीता के सातवें और उसके अगले अध्यायों में शनविद्वन का निरूपण मुख्यतः कर्मयोग ही की पृति के किय किया है। उसकी व्यापकता के कारण उसमें उन्यासमार्ग की भी किधियों का समावेश हो जाता है। कर्मयोग को छोड़कर ऐसे कर्मयोगनिधि के उमर्जन के किये यह शनविद्वन नहीं करतव्य था गया है। दूसरी बात वह मैं खल देने चाहत्य है कि साम्यमागम्भीरे यथापि ज्ञान का महत्व किया करते हैं तथापि ऐसे कर्म वा महिं का कुछ भी महत्व नहीं लें और गीता में तो महिं उग्र तथा प्रधान मानी गई है — “उना ही क्यों बरन् अप्यासम्भवन और भक्ति का ज्ञान करते हैं तथापि उसमें भीहृष्ण ने भक्तुन का कर्म कराह पर यही उपदेश किया है कि हृष्म अधीन पुड़ कर (गीता ८ ७ १३ १४ १६ २४ १८ १)। इसकिये वही उपदेश करना पश्चात है गीता के सातवें और अगले अध्यायों में शनविद्वन का यो निरूपण है वह पिछले छः अध्यायों में वह गये कर्मयोग की पृति और उमर्जन के किये ही करतव्य था गया है। यही कर्मयोगनिधि का या महिं का स्वतन्त्र उमर्जन कियदित नहीं है। ऐसा उपदेश करने पर कर्म महिं आर ज्ञन गीता के तीन परस्तर स्वतन्त्र विमान नहीं हो जाते। इनका ही नहीं परन्तु अपने यह कियह ही काशया कि यह मत मी (किं तु उड़ स्वेद फल किया करते हैं) केवल कामयनिर्भ अतुर्ज विष्या है। वे कहते हैं कि ‘तत्त्वमति महाशास्य में तीन ही पठ हैं और गीता के अध्याय मी भटारह है। नक्षिये के किन्तु भव्यरह के हितात से जीता

मध्यासक्तमनाः पार्थं पार्वत्युक्तव्यं मदाभयः ।

असंहाय भमय मी पथा हास्यमि तत्पूरुषः ॥

‘ऐ पाप ! मुझम निच को स्पर करक और मेरा आभय लेकर येरा थानी क्षमयोग का आचरण करते समय ‘यथा अश्याम विदि रीति से मुझे समैहरहित पृष्ठया थन सोगा वह (रीति तुझे कृत्याया है) मुझ (गीता ७ १) और इसी को मारो के स्तोक मे ज्ञनविज्ञन कहा है (गीता ७ २)। इनमे से पहले अपार्थ ऊस निये गये ‘मध्यासक्तमनाः स्तोक मे पार्वत्युक्तव्यं’—अश्याम क्षमयोग का आचरण करते हुए’—ये पड़ अस्यत महसुष्टुप हैं। परन्तु जिसी मी दीक्षाकार ने इनकी और विशेष रूपान नहीं दिया है। ‘पार्वत्युक्तव्यं’ क्षमयोग है कि जिनका बर्णन पहले छः अप्याया मे दिया था पुरा है। और इस क्षमयोग का आचरण करते हुए जिस प्रकार विधि या रीति से मारान का पूरा शन हो जाएगा उठ रीति या विधि का बर्णन अब थानी तात्पूर्व क्षमयोग से प्रारम्भ करता है—यही इस स्तोक का अध्य है। अश्याम पहले छः अप्याया का अगले अप्यायों से सम्बन्ध करत्यन के विषय यह स्तोक ज्ञानविज्ञन सामने अप्याय क भारम्भ मे रखा गया है। इसप्रिये इस स्तोक के अध्य की ओर प्याय न ढंगर पह कहना जिस कुस भनुषित है कि पहले छः अप्याया के बाद महिनिश्च का स्वतन्त्र रीति से बर्णन किया गया है। ऐसठ इसना ही नहीं बरन पह भी कहा था सकता है कि इस स्तोक मे योग युद्धन पर ज्ञानविज्ञन इसी लिये रखे गये ह ति जिसमे बाह ऐला विपरीत अध्य न करने पाए। गीता के पहले दोप अप्यायों म क्षम की आदस्तज्ञा क्षमविज्ञन साम्यमाय की भरेहा क्षमयोग अद्य कहा गया है और इसके बाद उठे अप्याय मे पार्वत्युक्तव्योग के सापना क्य बर्णन किया गया है—जो इन्द्रिय निष्ठ अप्याय के विषय आदस्तक है। परन्तु इसने ही से क्षमयोग का बर्णन पूरा नहीं हो जाता। इन्द्रियनिष्ठ यानो क्षेत्रियो न एक प्रकार की क्षुरत करना है। पह उच है कि अप्याय क बारा इन्द्रियो के द्वारा भरन अपीन रख लड़ने हैं। परन्तु यहि मनुष्य की बाबना ही पुरी हाथी ता इन्द्रिया क्य बाहु म रामे ग दृष्ट भी जाम नहीं होग्य। वर्णोंकि दृग जाना है कि दृष्ट जामनामी क बारण दृष्ट द्वय इसी इन्द्रियनिष्ठ निष्ठि का बारण मारप भाडि दृष्टमो मै तप्याग किया बरन है। इनप्रिये उठे अप्याय ही म कहा है कि इन्द्रियनिष्ठ क बाब ही बाबना नी क्षमभूतसम्पाद्यान लक्ष्मनि शामनि की माद दृष्ट हा जनी जाइये (गीता ६ १०)। और दृग्मैस्यमन परमेश्वर क दृष्ट स्वरूप की पद्मान रण ज्ञा बाबना की इन प्रकार दृष्टा हमा भरम्भत ह। तात्पूर्व पद्म ह ति ग इन्द्रियनिष्ठ क्षमयोग क लिये आदस्तक है पद्म मन ही जाम हा द्वय परन्तु इन अप्याय लियों की बाद मन म या क्षीर्यो स्त्री ही रहनी है। इन इन अप्याय विवरणना क्य मात्र बरन द लिय परमेश्वरनामर्यो पृथ शन को ही शाप्यकरना है। पह इन

सातवें अध्याय में उत्तरसंक्षिप्ति के अर्थात् ब्रह्माण्ड के विचार को आरम्भ करके मात्रान् ने अन्वयक और अधिक परम्परा के ज्ञन के विषय में यह कहा है कि वा "स सारी सुष्ठि को - पुण्ड्र और प्रहृति को - मेरे ही पर और अपर स्वरूप जानते हैं और जो इस भाषा के परे के अन्वयक रूप को पहचान कर सकते हैं उनकी तुष्टि सम हो जाती है; उभा उन्हें मैं सद्गुरि बता हूँ। और उन्होंने अपने स्वरूप का "स प्रस्तुर वर्णन किया है कि उब देखता, सब प्राणी उब यह, उब कर्म और सब अव्याप्ति में ही हैं मेरे धिका इस संसार में अन्य कुछ भी नहीं है। इसके बाद आठवें अध्याय के आरम्भ में भर्तुल ने अव्याप्ति अविषेष और अधिमूल शब्दों का अब पूछा है। "न इन्होंने का कर्वं करनम् कर मात्रान् ने कहा है कि इस प्रस्तुर विस्त्रेते में स्वरूप पहचान लिया उसे मैं कभी नहीं भूलता।" उके बाद "न विषयों का स्वरूप में विवेचन है कि सारे गत्ता में अकिञ्चनाशी या अभ्र तत्त्व कीन सा है उब संसार का सहार केए और कब होता है विस मनुष्य को परमेश्वर के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है उसका कीन सी गति प्राप्त होती है; और ज्ञान के द्विना केष्ठ काम्यकर्म करनेवाले को कीन-ची गति मिलती है। नीवे अव्याय में भी यही विषय है। इसमें मात्रान् ने उपरोक्त किया है, कि जो अव्यक्त परमेश्वर इस प्रकार चारों ओर व्याप्त है, उसके अव्यक्त स्वरूप की भूषि के द्वारा पहचान करके भनन्त न्यून से उत्तरी शरण में ज्ञान ही द्रष्टव्याति का प्रस्तुरकाम्य और सुगम मार्ग अभिका राष्ट्रमार्ग है और "सी ज्ञे राष्ट्रविद्या या राष्ट्रगुणम् इत्येते है। तथापि इन तीनों अव्याय में बीच बीच में मात्रान् कर्मयोग का यह प्रश्न तत्त्व ज्ञात्यना नहीं सूझ है कि ज्ञानान् या मक्षिमान् पुण्ड्रो ज्ञे कर्म करते ही रहना चाहिये। उग्राहणार्थ आठवें अध्याय में कहा है - तस्मात्स्वेषु कालेषु मामनुम्भर मुप्यत् - इसकिये तरा भफने मन में मेरा ऊरण रन्य और मुद्र कर (८७); और नीब अव्याय में कहा है कि उब कम्मों को मुक्ते अर्पण कर देने से उत्तरो गुमागुम फलों से हु मुक्त हो जाएगा (९२७ २८)। ऊपर मात्रान् ने ऐसे पह कहा है कि उठार मुहत्ये उत्पन्न हुआ है और वह मेरा ही रूप है वही उठ असौ अव्याय में ऐसे ज्ञेन्द्र उग्राहण देवर भर्तुल को मध्ये मैंति समझा ही है कि संसार की प्रयोक्त बलु मेरी ही विभूषित है। भर्तुल के प्रार्थना करने पर "पारहने अव्याय मैं मात्रान् ने ज्ञाना विवरण प्रत्यक्ष विक्षिप्ता है और उसकी सुष्ठि के सन्मुख "स वात् की सत्त्वता का भनुमत करा दिया है म (परमेश्वर) ही तरे उसार मैं ज्ञाना ओर व्याप्त है। परन्तु इस प्रकार विवरण विवरण कर और भर्तुल के मन मैं पह विद्यास करा के, कि सब कम्मों का करानेवाला मैं ही हूँ भर्तुल ने गुरस्त ही कहा है कि सबा करा ता मैं ही हूँ त निमिन्मान है; इसके निश्चाह हीकर पुण्ड्र कर (गीता ११)। यत्परि इस प्रकार यह किस द्वारा जि उठार मैं पह ही परमेश्वर है तो भनें उपानीं मैं परमेश्वर के अव्यक्त स्वरूप

के ए छः भृष्यायों के लीन समान विनाग करके पहले छः भृष्यायों में 'त्वम्' एवं वा दूहे छः भृष्यायों में 'त्वं' एवं का और तीसरे छः भृष्यायों में 'अभि' पटका विवेचन किया गया है। इस मत का कास्यनिक या मिष्या कहन का कारण यही है, कि अब तो एकत्रितीय प्रभु ही विषय नहीं रहने पाता या यह कहे तो उत्तरी नीता में केवल ब्रह्मज्ञान का ही प्रतिपादन किया गया है, तथा 'तत्त्वमसि' महावाक्य के विवरण के सिवा गीता में और कुछ भवित नहीं है।

"स प्रातर वप्त मात्रम् हो गया वि मायकृता में मधि और ज्ञन का विवेचन क्यों किया गया है तब सारुप से सबइव अध्याय के अन्त तक स्पारहा भृष्यायों की भद्रति सहब ही व्यान म आ जाती है। पीउ छों प्रवरण में स्वरूप किया गया है कि इस परमेश्वरवाक्य के ब्रान से बुद्धि रमण्य और नम होती है उस परमेश्वरवाक्य का विनार एक बार खाराभरद्विषि ले भीर विर संवभवगद्विषि से करना पड़ता है। और उससे अन्त में यह सिद्धान्त किया जाता है कि ये तत्त्व पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड म है। "नहीं विषय का भद्र गीता म बगत है। परन्तु इस इस प्रकार परमेश्वर के स्वरूप का विचार करने स्थान है तब दीय पड़ता है कि परमेश्वर का स्वरूप कभी तो व्यक्त ( नित्यगान्त्र ) होता है और कभी अव्यक्त। फिर ऐसे प्रभुं का की विचार इस निष्पत्ति में करना पड़ता है कि 'न ताना स्वर्णो म भृद्य बोन ता है; और 'म स्वरूप से बनिष्ट तत्त्वम् विम उत्तम द्वाता है'। "सी प्रकार अब 'तत् यज्ञ का मी निषय करना पड़ता है कि परमेश्वर के पृष्ठ ज्ञन से कुद्धि का विषय, नम और भास्मनिष्ट करने के सियं परमेश्वर की जो उत्तरानना करनी पड़ती है वह कौन हो - अध्यक्ष की उत्तरानना क्या तीय पन्नी है? 'म न व विषया एव व्यवस्थित रीति स प्रश्नान के निय यदि स्पारह अध्याय का एव ता उउ भाष्य नहीं है। इम यह नहीं कहत कि गीता में मौके और ज्ञन का विष्यम विवेचन ही नहीं है। हमारा केवल इतना ही कहता है कि कम मधि भीर ज्ञन का तीन विषय वा निष्ठार्थ स्वतन्त्र भृष्याण त्रृप्याण की समझ कर इन गीतों में गीता के भव्याह भृष्याण के जो अन्त और भास्म द्वारा हित्य कर दिय ज्ञन है देखा जाता उसित नहीं है किन्तु गीता म एक ही विषय का भृष्याण उन्नत-भार मन्त्रिष्याण भृष्याण का प्रतिपादन किया जाया है; और तीव्र-वित्ति ज्ञनकित्ति या मधि का जो विष्यम भृष्याहीता म पाया जाता है वह विष व्यपत्तिनिष्ट वी पूर्णि-नीर व्यपत्ति के विष भानुप्रतिष्ठि है - जिन्हीं स्वतन्त्र विषय का प्रतिपादन बनने के बीच नहीं। अब यह इस्तमा है कि हमार इस विज्ञाने के भनुमार व्यपत्ति व्यपत्ति की जो व्यपत्ति व्यपत्ति के विष्यम विष्यम व्यपत्ति व्यपत्ति का विष्यम विष्यम है वह व्यपत्ति व्यपत्ति का विष्यम विष्यम है।

पिभूतिया का बर्णन किया है परन्तु ग्यासद्वय भृत्याय के भारतम में अर्जुन ने उठे ही 'अप्यायम्' कहा है (११ १)। और ऊपर यह स्वत्वा ही किया गया है कि परमेश्वर के व्यक्त स्वरूप का बर्णन करते समय शीत भीष में व्यक्त स्वरूप की अपेक्षा अप्यक्त स्वरूप की भेदता की भी घटते आ गए हैं। ऐसी सब चाला थे बाहरहै अप्याय के भारतम में अर्जुन ने यह प्रभ किया है कि उपासना व्यक्त परमेश्वर की की बदल वा अव्यक्त की! तब यह उत्तर देकर — कि अप्यक्त की अपेक्षा व्यक्त की उपासना अपार्थि महिं मुगम है — मगान् ने तेरहै अप्याय मधेवत्सक का 'अन' उपासना भारतम कर किया और सातवें अप्याय के भारतम के समान द्वौत्तरहै अप्याय के भारतम में भी कहा है कि पर भूमि प्रवस्यामि उपासना आनन्दमुच्चम् । किंतु भी तुम्हें वही 'अनविश्वन्' पुरी सरह ले बत्सता है (१४ १)। एस जान का बर्णन करते तुम्ह महिं का दूर या सम्बन्ध भी दृढ़ने नहीं पाया है। इहाँ यह बात स्पष्ट माझम हो जाती है कि मगान् का उद्देश यक्षि और श्वन दोनों को पृष्ठ रीति से बत्सते का नहीं था किन्तु सातवें अप्याय किस ज्ञानविज्ञान का भारतम किया गया है। उसीम दोनों एकज गैरप दिये गये हैं। यक्षि मिम है — यह कहना उस सम्प्रश्नय के अभिमानिर्णी भी नाउमर्णी है। बास्तव म गीठा का अभियाय दूसा नहीं है। अप्यक्तोपासना में (शनमात्र में) अभ्यामविज्ञार से परमेश्वर के स्वरूप का बोहन प्राप्त कर सेना पड़ता है वही महिमार्ण मैं भी आवश्यक है। परन्तु व्यक्तोपासना में (महिमार्ण में) भारतम में वह जान कुरुर्णे ले भद्रापूर्वक प्रहृण किया ज्य छक्ता है (११ २५)। एसकिये महिमार्ण प्रन्यज्ञाकाम और चामाम्युद्दु सभी स्त्रोगों के द्विये सुदक्षारक है (१ २) और शनमात्र (या अप्यक्तोपासना) द्वेशमय (१२ ७) है—कह इहाँ अतिरिक्त एवं दो लाभनों में गीठा की दृष्टि ले और कुछ भी मैं नहीं है। परमेश्वर स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर के कुछ को तम बनने का थे कर्मयोग का उद्देश वा साध है वह इन दोनों लाभनों के द्वारा पक्ष सा ही प्राप्त होता है। एसकिये चाहे व्यक्तोपासना कीविये या अप्यक्तोपासना मगान् को दोना एक ही समान प्राप्त है। तथापि शनी पुरुष की भी उपासना की बोही गृह आवश्यकता होती ही है एसकिये चाहे विच मक्षों में महिमान शनी को भेड़ कहकर (७ १७) मगान् ने शन और यक्षि के विरोप ज्ञ दृद्य किया है। कुछ भी ही परन्तु ज्ञ कि ज्ञनविश्वन का बर्णन किया जा रहा है तब प्रजाहानुसार एक व्याख अप्याय मैं व्यक्तोपासना का और किनी कुरुर्णे अप्याय मैं अप्यक्तोपासना का निर्णय ही जाना अपरिहाय है। परन्तु एस ही से पह सम्भेद न हो जाये कि ये दोना पृष्ठ पृष्ठ हैं एसकिये परमेश्वर के व्यक्त स्वरूप का वर्णन करते समय व्यक्त स्वरूप की अपेक्षा अप्यक्त की भेदता पार अप्यक्त स्वरूप का वर्णन करते समय यक्षि की आवश्यकता ज्ञान दोना भी मगान् नहीं भूमे हैं। अब विश्वरूप के और किमतियों के वर्णन म इसी दीन-चार अप्याय ज्ञ गये हैं। एसकिये यहि इन तीन चार अप्यायों की

का ही प्रधान मान कर बर्णन किया गया है, कि 'मै अव्यक्त हूँ। परन्तु मुझे मूर्ख संग व्यक्त समझते हैं' (७ २४) 'यश्वर ऐश्विको वाचित' (८ ११) - जिसे केवलानन्द अभ्यर कहते हैं अव्यक्त को ही कहते हैं (८ २१) 'मेरे यथार्थ स्वरूप का न पहचान कर मूर्ख संग मुझे 'हजारी मानते हैं (९ ११)

विद्यामां में अध्यात्मविद्या अष्ट (९ ३२) और अङ्गुन के कथनानुसार लक्ष्मसर सद्वस्तुत्यर यत् (१३ १७)। 'सीढ़िमें बारहव अव्याय के आरम्भ में अङ्गुन ने पृथ्वी कि किस परमेश्वर की - व्यक्त की या अव्यक्त की - उपात्तना करना चाहिये? तब मात्रान ने अपना यह मत प्रणित किया है, कि किस एवत् स्वरूप की उपात्तना का बर्णन नावें अध्याय में ही जुका है वही मुम्भ है। और दूसरे अध्याय में वित्तप्रबृद्ध का जैसा वर्णन है जैसा ही परम मात्रद्रष्टा की विधति का बर्णन करके यह अध्याय पूरा कर दिया है।

कुछ आगे की राय है कि यत्परि गीता के कम महिं और ज्ञान ये तीन स्फुटन्त्र यद्यग न मीं किये जा सके तथापि लात्में अध्याय से ज्ञानविद्यान का ये विषय आरम्भ हुआ है वहसु क्षमि और ज्ञान ये जो वृक्षद् याग सहज ही हो जाते हैं। और वे यद्यग बहते हैं कि द्वितीय पदाध्यायी मर्त्यविद्यान हैं। परन्तु कुछ विचार करने के उपरान्त विद्यीका भी ज्ञात ही जातेग कि यह मत भी नीक नहीं है। बारम्ब यह है कि लात्में अध्याय का आरम्भ हाताहात्यक्षिति के ज्ञानविद्यान से किया गया है; न कि मर्त्यि से। और यहि कहा जाय कि बारहव अध्याय में महिं का वर्णन पूरा हो गया है ता हम देखत है कि अग्रें अध्याया में दीर दीर पर महिं के विषय में बारम्ब यह अवश्य किया गया है कि जो तुक्ति के द्वारा मेरे व्यक्तप को नहीं ज्ञान सकता वह भद्रापूर्वक वृक्षरुप के बचता। पर विशासु इन कर मेरो एवत् वर्णन करे (गीता १३ ८) जो मेरी अव्यविचारिणी महिं बरता है वही वृक्षभूत इतना है (१४ ५६) जो मुझे ही पुरानात्म ज्ञानता है वह मेरी ही महिं बरता है (गीता १४ ९) आर भूत म भद्राहव अध्याय में पुनः महिं का ही इत प्रकार उपश्य दिया है कि सब घमों का छात बरत मुक्तता यत् (१८ ६६) इस विषय पर नहीं वह लक्ष्म कि केवल वृक्षरुपी दक्षिणायी ही में भवित का उपर्युक्त है। अमीं प्रशार यहि मात्रान का यह शक्तिवाय द्वाला कि ज्ञान स महिं निप्रे ता व्याय अध्याय में ज्ञान की प्रस्तावना वर्तते हैं (१८-१९) मात्र अध्याय के भयान उपर्युक्त भावान्वयन के मानुषान व्यवस्थान व्यव्यायार्थी के भारम्भ में मात्रान ने वह न बठा इतना कि धर्म वृक्ष वही ज्ञान वीर विज्ञन व्याप्तता है (१९) मुपर्द लक्ष है कि इतन भावों के नीय अध्याय म रात्रिविद्या भार रात्रिव्य लक्षान प्रवृत्तग व्याय व्यव्यायाम द्वाला है परन्तु अध्याय के शारम्भ म ही वह दिया है कि शो विज्ञानवित्त ज्ञन व्यव्याप्तता है (२०) इतम् व्यव व्यव इतना है कि गीता म महिं का व्यव व्य ज्ञन ही मैं किया द्वया है इतम् अध्याय म भ्यान् म अमीं

ही कर। मोक्षहेतु अन्याय में वहा गया है कि प्रहृतिमेत्र के कारण उसार मैं ऐसा वैचित्र्य उत्पन्न होता है उसी प्रकार मनुष्यों में भी दो भेद अर्थात् ऐसी सम्पत्तियाँ और आमुरी सम्पत्तियाँ होते हैं। इसके बारे उनके क्षमों का वर्णन किया गया है और वह वर्णनया गया है कि उन्हें कोन-की गति यात् होती है। अर्जुन के पूछने पर भगवान् अध्यायप में “स भाव का विवेचन किया गया है, कि किनुलामुद्र प्रहृति के गुण भी किमता के कारण उत्पन्न होनेवाला वैचित्र्य अद्वा दान यह, तथा अत्याहि में भी शीघ्र पड़ता है।” उसके बाबू यह कहतया गया है कि ‘अ’ उत्तर, ‘ए’ ब्रह्मनिरेण के ‘तत् पर’ का अप निष्ठामुद्रि से किया गया कर्म और ‘तत् पर’ का अप अन्नम परम्परा मुद्रि से किया गया कर्म’ होता है। और एस अर्थ के अनुसार वह सामान्य ब्रह्मनिरेण भी कर्मयोगमार्ग के ही अनुकूल है। यारपारम्परा से सातवें अध्याय से लेकर सबहें अध्याय तक स्यारह अभ्यासों का तात्पर्य वही है कि ससार में जारी और एक ही परमेश्वर यात् है – फिर तुम याह लें विषयस्त्रीन के द्वारा पहचानो जाहे जानचक्रु के द्वारा। यारीर में लेख में वही है और अरसुहि में अधर मी वही है। वही इत्यसुहि में यात् है और उसके बाहर अस्त्र पर मी है। यद्यपि वह एक है तो भी प्रहृति के गुणमें के कारण अवश्यी में नानात्म या वैचित्र शीघ्र पड़ता है और उस माया से अपेक्षा प्रहृति के गुणमें के कारण ही वान अद्वा तथा यज्ञ प्रहृति शान “स्याहि” द्वाया मनुष्यों में भी अनेक में हो जाते हैं। परन्तु इन सब मेंमी में एकता है उसे पहचान कर लें एक और नित्यतत्त्व की उपासना के द्वारा – फिर वह उपासना जाहे स्वरूप की हो अपेक्षा अन्यत्र की – प्रत्येक मनुष्य अपनी दुर्दि ओं स्तिर और सम करे तथा उस निष्ठाम, शास्त्रिक अपेक्षा साम्यदुर्दि से ही उसार मैं स्वभर्मानुसार ग्रात् उपर्याहर क्लेश कर्त्तव्य उम्मत किया करे। “स शानविश्वान अ प्रतिपादन उस प्रन्थ के अर्थात् यीठा रहस्य के पितृसे प्रकरणों में विच्छृंत गीति से किया गया है। इसकिये हमने सातवें अध्याय से अपाकर सबहें अध्याय तक अ यारपार ही इस प्रकरण में किया है – अधिक विस्तार नहीं किया। हमारा अस्तु उद्देश केवल गीता के अभ्यासों की साझाहि अस्त्रा ही है। अतएव उस काम के लिये किनारा भाग आवश्यक है उसने का ही हमने पहर्हो लांगर किया है।

कर्मयोगमार्ग में कर्म की व्येजा दुर्दि ही भए है। इससिये इस दुर्दि को प्राप्त और सम करने के लिये परमेश्वर की सर्वम्भावकता अर्थात् सर्वभूतामूलां भावैष्य का यो ‘शनविश्वान आवश्यक होता है। उसका बोन भारम्भ करके भर लें इस भाव का निष्पत्त किया गया कि मिस मिस भविकार के अनुसार अक्षय या अस्त्र की उपासना के द्वारा जब पह शन दृढ़ भै मिल जाता है तब दुर्दि ओं विभक्ता और सम्पत्त यात् हो जाती है और क्षमों का स्वाम न करने पर मैं अन्त में मोष की प्राप्ति हो जाती है।” उसीके साथ अपेक्षर का और क्लेशेन्द्र अ

(पहचानी को नहीं) स्थूल्यान से 'भृकुमारं नाम देना ही विही च व पश्च द्वे हो पथा करने मे शार हजे नहीं। परन्तु शुद्ध भी कहिये पह दो निष्ठित स्पष्ट से मानना पठेय हि गीता मे महि और शन को न दो पृथक् किया है और न इन दोना मांगों का स्थूल्य फहा है। सधेप मे उक्त निष्पत्ति का यहि भास्याय एवान म रहे कि कर्मयोग मं किं साम्यशुद्धि को प्रभानवा ती आती है उसकी प्राप्ति के क्षिय परमेश्वर के सबध्याणी स्वरूप का ज्ञान हाना चाहिय। फिर यह शन चाहे स्वरूप की उपासना से हो और चाहे भव्यस्त की—सुमाता के अतिरिक्त 'नमं अन्य कोई मेड नहीं है। और गीता मे शत्रुं से लगाकर सबहुत्वं अन्याय तक सब विषयों का 'शनविज्ञान या अच्यात्म' यही नाम दिया गया है।

इन भास्यान् ने भक्तुन के 'कमच्छुभूमि का विश्वपञ्चम के द्वारा यह प्रचल भनुमत बया दिया कि परमेश्वर ही उर्त व्रद्धा मे या क्षराभरस्तुषि म समाया हुआ है उत्त उर्तहुत्वं अच्याय मे देला खेत भवत्विचार क्षमाया है कि यहीं परमेश्वर पिंड मे अधात् मनुष्य के शरीर या यो खेत म भास्मा के रूप से निवास करता है और इत्त भास्मा का अधात् भेदत्र का या ज्ञन है, वहीं परमेश्वर का (परमात्मा का) भी ज्ञन है। प्रथम परमात्मा का अधात् पञ्चम का भनाति मत्पर व्रद्धा इत्यादि प्रकार से— उपनिषद् के भाषार से— वसन करके भाग बनाया गया है कि यहीं खेत्वात्विचार 'प्रहृति और पुण्य नामक साम्यविदेशन मे अन्तभूत हो गया है। और अन्त म यह वसन दिया गया है कि या 'प्रहृति और पुण्य के मेड को पहचान बर भपन 'शनच्छुभूमि के द्वारा सबगत निशुल्प परमात्मा का ज्ञन देता है वह मुख हा गता है। परन्तु उलमे मी कर्मयोग का यह गुन दिवर रापा गया है कि तब काम प्रहृति करती है भास्मा करता नहीं है— यह ज्ञाने से क्षम पञ्चम नहीं होत (१३ ९); और महि का व्याननास्मनि परमपति (१३ १४) यह तत्त्व भी कायम है। औरहुत्वं अच्याय मे इनी ज्ञन का वर्णन करन शुद्ध साम्यगात्म क भगुकार बनत्यया गया है कि तबन एक ही भास्मा का परमेश्वर के होने पर भी प्रहृति के तत्त्व एव और तम गुणों क भद्रा के बारम बनार म विचित्र उत्पत्त होता है। भागे वहा गया है कि गो मनुष्य प्रहृति के इस तत्त्व का बननर भी भपन का क्षण न तमस भृत्ययोग से परमेश्वर भी सेवा करता है वही तत्त्व निशुल्पाति या मुक्त है। अन्त म भक्तुन क प्रभ वर्तन पर वित्तपति भीर भनिमान् पूर्ण भी विषयि क तमान ही निशुल्पाति की विषयि का बनन दिया राया है। भते इत्यादि मे परमेश्वर का वही वही वृत्ति न जा बनन याया जाता है तीका पञ्चद्वये अच्याय के भास्य म बगन बरक भास्मान ने दायाया है कि इन लाग्ददाति वही वा वगना बहते हैं वही यह अच्याय है। और भन्त म भन्तन न भवन वा यह वरदान दिया है कि भा भंत भप्त गता व पर या पुरुषात्म है वहे पद्वक्त बर उक्ती ननि करने स मनुष्य इत्यात्म हो जाता है— त भी एका नी ८ ।

इन दोनों में से पौँछव भाष्याय के निष्ठानुसार किस कर्मयोग की धारणा अधिक है किस कर्मयोग की विधि के लिये छठे भाष्याय में पातङलयोग का वर्णन किया है किस कर्मयोग के आचरण की विधि का वर्णन भगवें ग्यारह भाष्याय में (७ से १७ तक) विष्णवशास्त्रनपूर्वक विलाल से किया गया है; और यह कहा गया है, कि उठ विधि से आचरण करने पर परमेश्वर का पुरा ज्ञान हा जाता है एवं अन्त में मात्र की प्राप्ति होती है। उसी कर्मयोग का सम्बन्ध अद्यरहस्य भाष्याय में भर्यत् अन्त में भी है। और मोहरहस्ती धात्मकस्थान के अद्यतन अस्तक परमेश्वरापदमूर्ति के लिये उन कर्मों की वर्तते रहने का यो यह याग या पुक्ति है। उसकी व्येक्षा क्य पह मगालधर्मीत उपपाद्म अब अर्जुन ने मुना तमी उसने सन्वाल सेवर मिर्द्ध माँगने का अपना पहल्व विचार किया दिया। और अब — केवल मगालान के बहने ही से नहीं; विश्व कर्मार्कर्मधार्म का पूर्ण ज्ञान हो जाने के कारण — यह स्वयं अपनी इच्छा से मुद्र फरने के लिये प्रकृत हो गया। अर्जुन को मुद्र में प्रकृत फरने के लिये ही गीता का आरम्भ हुआ है और उसका अन्त मी ऐसा ही हुआ है (गीता १८ ७३)।

गीता के अनारह भाष्याख्यों की क्य साहस्रित व्यापर बताया गई है उल्लेख यह प्रत्यक्ष हो चायगा कि गीता दुष्ट कर्म भल और ज्ञान न्यून त्वरक्त निदाना की विवरणी नहीं है। अभ्यास यह सूत रेषम और अरी के विधाओं की किसी दूर गुरुमी नहीं है; बरन दीय पदेगा कि एक रेषम और अरी के दानेवाने जाने के बाय-स्थान में योग्य रीति से एकल करके कर्मयोग नामक मूस्यवान और मनोहर यीक्ष-रसी बल व्यापि से अन्त तक अत्यन्त योग्युक्त विच से एक ला दुना गया है। यह सच है कि निष्ठपन की पद्धति सवारामक होने के कारण शास्त्रीय पद्धति की अपेक्षा यह अब दीर्घी है। परन्तु यहि “स बाहुपर ज्वान त्रिया व्यष्टि कि सवारामक निष्ठपन से शास्त्रीय पद्धति की स्फलता है” यह गई है आर उसके कासे गीता में सुखमय और प्रेमरस भर गया है तो शास्त्रीय पद्धति के इन्हु अनुमानों की बहुत तुमिक्षक सवा नीरस कृक्षट दूर जाने का किसी को भी विष्णुमात्र दुरा न लेगा। इसी प्रकार यथापि गीतानिष्ठपन की पद्धति पौराणिक या सवारामक है तो भी प्रश्नपरीक्षण की मीमांसकों की सब क्षोभियों के अनुसार गीता का तात्पर्य निष्प्रक्षिप्त करने में दुष्ट मी बाधा छही होती। यह जात “स प्रत्यक्ष के मुद्र विवेचन से मास्त्रम हो जावये। गीता का आरम्भ देवा चाय तो मास्त्रम होगा कि अर्जुन आनन्दम के अनुसार तात्पर फरने के लिये चक्र वा। अब भर्याप्रति की विधिकिञ्चित्का के व्यापर में यह गया उन उसे वेगस्त्रधार्म के आभार पर प्रश्नप्रतिक्षेपन कर्मयोगवर्त्त का उपकैश फरने के लिये गीता प्रकृत हुई है और हमने पहले ही प्रकार में यह करका त्रिया है कि गीता के उपर्याप्तारह और उस तोनो “सी प्रकार के अर्थात् प्रश्नप्रतिक्षेपन ही है। उसके बाद हमने कहा चाया ह मि गीता म अर्जुन को यो उपेन्द्र त्रिया ह उसमें तू मुद्र भर्यत् कर्म ही कर ऐसा उत्तरारह चार स्वप्न रीति से भीर पर्याय से तो अनेक व्याप (भगवास)

नहीं विचार किया गया है। परन्तु मात्रान् ने निश्चित रूप से कह दिया है, कि इस प्रकार शुद्धि के सम हो जाने पर मी क्यों का त्याग करने की अपेक्षा फलाद्या की छोड़ देना और अनुसारण के लिये आमरण कर्म ही करते रहना अधिक ऐपलर है (गीता ८ २)। अहरेव स्मृतिप्रभा में वर्णित 'सन्यासाभ्यम्' एवं कर्मयोग में नहीं होता और उसमें मन्त्रादि स्मृतिप्रबन्धों का तथा 'स कर्मयोग का विरोध हो जाना सम्भव है। 'मी शहू का मन में अकर अटारहें भज्याय के भारतम् मैं अर्जुन ने 'सन्यास और त्यग का रहस्य पूछा है। मात्रान् 'स विषय में वह उक्त देखे हैं कि 'सन्यास' का मूल अर्थ 'अटना' है 'सुखिये-ओर कर्मयोगमार्ग में यथार्थ क्यों को नहीं छोड़ते तथापि फलाद्या को छोड़ते हैं 'सुखिये-कर्मयोग तत्पत्र सन्यास ही होता है। क्याकि यद्यपि सन्यासी का भेद धारण करके मिला न माँगी चाह तथापि ऐराप्य का और सन्यास का ये तत्पत्र स्मृतियों में कहा गया है - अपात् शुद्धि का निष्काम होना - वह कर्मयोग में भी होता है। परन्तु फलाद्या के द्वय से स्वर्गप्राप्ति की भी आशा नहीं होती। 'सुखिये यहाँ पक्ष और शहू उपस्थित होती है कि एसी द्वया म दश्याय्यादि औरकर्म करने की क्या भावस्थिता है' 'स एवं पर मात्रान् ने अपना यह निश्चित मत वर्णाया है कि उपर्युक्त कर्म विचारिकारक हुआ करते हैं इसकिये उन्हें भी अन्य क्यों के साथ ही निष्कामशुद्धि से करते रहना चाहिये। और इस प्रकार अनुसारण के लिये वक्तव्य का हमेह चारी रूपना चाहिये। अर्जुन के प्रभो का 'स प्रकार उक्त द्वय पर ग्रहनित्यमात्रानुरूप अन कर्म कर्ता शुद्धि और सुख के बो सार्विक तात्पर्य और राज्ञि भेद हुआ करते हैं उनका निरपय करके गुण वैचित्र्य का विषय पूरा किया है। 'स्ते वाऽनि अनिधय किया गया है कि निष्कामकर्म निष्कामता, भावितरहित शुद्धि अनासनि से होनेवाल सुख और अविमत्त विमत्ते एवं नियम के भगुत्तार होनेवाल आमत्तमरण ही सार्विक या भेद है। इसी तत्पत्र के भगुत्तार चारुपूर्ण की भी उपपत्ति काला गति है और इह गता है कि चारुपूर्णप्रयम से प्राप्त हुए क्यों को नात्तिक भपात् निष्कामशुद्धि से केवल कर्त्तव्य मानकर करते रहने से ही मनुष्य 'स उक्तर म हत्तृप्य हो जाता है और अन्त मैं उस शास्त्रित तथा मात्रान् ने अर्जुन का मर्तिमानग का यह निश्चित उत्तरोदय किया है कि कर्म तो ग्रहृति का अन है। इसकिये यहि त् उक्ते छोड़ना काहे तो ये वह न घेणग। अतएव यह समव कर कि यह करनवास्त्र और करनेवाल परमेश्वर ही ह त् उक्ती शारण में जा और सब काम निष्कामशुद्धि से करता ग। मिही वह परमेश्वर हैं मुक्तपर विश्वासु राम मुझे मह, मैं तुम्हें तप दायी से मुक्त कर्मया। ऐसा उत्तरोदय करके मात्रान् ने गीता के प्रातिप्रयाग कर्म का निरपय पूरा किया है। नारायण यह है कि इस ओर भार परस्तेन डानी का विचार करके अनामन एवं चित्त रूपा न 'उपर्युक्त भी और 'उपर्यग नामह किन दा निश्चाभों को प्रस्तुति किया है, उम्हीउ गीता का उदयोदय का भारतम् हुआ है।

चित्र को शुद्ध करने के लिये बहुत समय लगता है; "सक्षिप्ते मोक्ष-की दृष्टि से विचार करने पर मी यही चिद् होता है कि तत्पूर्णताम् में पहले पहले संसार के तब करम्यों को घम से पूरा कर देना चाहिये (मनु ६ ३ -३५)। सन्वाद का अर्थ है 'ठीकना' और किसने भर्म के द्वारा "स संसार में कुछ प्राप्त आ चिद् नहीं किया है वह त्याग ही त्या करेगा ? अथवा को 'प्रपञ्च' (सासारिक ज्ञान) ही दीक गीक साध नहीं सकता उस भाष्यकारी से परमात्मा भी हैसे दीक सधेमा (बत १२-१ १-१ और १२-८ २१-११) ? किंतु का अन्तिम उरेश या सा य वाहे सासारिक हो अथवा पारमार्थिक परन्तु वह बहुत प्रकट है कि उनकी लिखिते दीर्घ प्रयत्न मनोनिग्रह और सामर्थ्य इत्यादि गुणों की एक सी आकृत्यकृता होती है और किसमें ये गुण कियमान नहीं होते उसे किंतु भी उरेश या सा य की श्रीति नहीं होती। "स बात को मान लेने पर मी कुछ स्मृति एवं संसार भाव कर रहत है कि बहुत दीर्घ प्रयत्न और मनोनिग्रह के द्वारा आन्मज्ञान हा जाता है तब अन्त में संसार के विषयापमोगकरी दब व्यवहार निस्तार प्रतीत होने लगते हैं। और किंतु प्रकार उंच अपनी निरपयोगी ऐनुस्ती का छोड़ देता है उसी प्रकार उनी पुण्य में दब दासारिक विषया को छोड़ केवल परमेश्वरस्वरूप में ही अभी हो जाता रहते हैं (१ ४ ४ ७)। जीवनक्रमण करने के "स मात्र म चैक्षि सम व्यवहारो वा त्यागं कर अन्त में केवल ज्ञान को ही प्रभाननदा दी जाती है अतुपर उसे ज्ञाननिष्ठा उपर्युक्त अवधारणा का त्याग करने से सन्वत्स मी कहते हैं। परन्तु इसके विपरीत गीताराज्ञान में कहा है कि आरम्भ में चित्र की शुद्धता के लिये 'घम' की आवश्यकता ली है ही परन्तु आगे चित्र की शुद्धि होने पर मी - सब अपने लिये कियोपमोगकरी व्यवहार जाइ कुछ हो जाव तो भी - उन्ही व्यवहारों को केवल स्वर्प और बर्तम्य समझ कर, शोकचप्रह के लिये निष्कामकुर्दि से करते रहना आवश्यक है। यदि उनी मनुष्य पेशा न करें तो डेंग को आशुद्ध करनेवाल्य को भी न रहेगा और फिर "त संसार का नाश हो जायगा। कमनूप्ति मैं किसी से भी कम छुर नहीं सकते। और यदि कुहि निष्काम हो जावे तो कोइ मी कम मात्र के आवे आ नहीं सकते। असक्षिप्ते संसार के कमों का त्याग न कर सब व्यवहारों का विरक्तकुर्दि से अन्य क्षों की नार्म मूल्यप्रयत्न करते रहना एवं उन्ही पुण्य का भी अत्यधी हो जाता है। गीताप्रतिपादित चीज़न् व्यतीत करने के उत्तमाग का ही कमनिष्ठा या कमयोग कहते हैं। परन्तु पद्मपि कर्मयोग इति प्रकार भेष निष्क्रित किया गया है तथापि उसके लिये गीता म सन्वादतामय की वही मी निष्ठा नहीं भी गया। उक्ता यह कहा गया है कि वह मौख वा देवकाश है। सप्त ही है कि सृष्टि के आरम्भ म सनसुमार प्रभृति ने आर भागे वह पर शुक्र याम्बरक्ष्य आदि वर्षीया ने किंतु मार्ग का स्वीकार किया है उत्तमाग मी किम प्रकार लक्ष्येव त्याय कहते हैं। तत्त्वार क व्यवहार किंतु मनुष्य

बदलया है और इसमें यह भी बदलया है कि संस्कृत-साहित्य में कर्मयोग की उपपत्ति कठमनेवाल्य मीठा के ठिक बुझा प्रक्षय नहीं है। “उचिते अभ्यास और अपूर्वक इन दो प्रमाणों से गीता में कर्मयोग भी प्रभाननदा ही अधिक म्यक्त होती है। मीमांसकों ने ग्रन्थवात्सर्व ज्ञ निर्णय करने के लिये ऐसे कहीनियों बदलार्थ हैं, उन में से अर्धवाद और हप्पति ये नेतों शेष रह गई थीं। अनेक विषय में पहले दृष्टक दृष्टक शब्दों में और अब गीता के अभ्यासों के क्रमानुसार इस प्रकरण में जो विकेपन किया गया है उससे यही निष्पत्र दृम्बा है कि गीता में अकेला ‘कर्मयोग’ ही प्रतिपाद्य विषय है। इस प्रकार ग्रन्थवात्सर्व निर्णय के मीमांसकों के सब वियमों का उपयोग करनेपर पहीं बात निर्विकार विद्य होती है कि गीताम्बन्ध में ज्ञानमूल्क और महिमप्रधान कर्मयोग ही का प्रतिपादन किया गया है। अब इसमें सन्वेद नहीं है इसके असिरिक शेष सब गीता तात्पर केवल ताम्प्लायिक है। विषय परे सब तात्पर्य साम्प्रायिक हो चकायि यह प्रभ किया जा चकता है कि दृष्ट संगों को गीता में साम्प्रायिक अर्थ — विश्वपतः सन्यासप्रधान अर्थ — दृष्टन का मीठा ऐसे मिल गया। अब तक इस प्रभ का मी विचार न हो चकया तब तक यह नहीं चहा चक चकता कि ताम्प्रायिक अथा भी चकता पुरी हो चुकी। उससिये अब सन्वेद में इसी चकता का विचार किया चकया कि ये साम्प्रायिक दीक्षकार गीता का सन्यासप्रधान अर्थ ऐसे कर लें, और फिर यह प्रकरण पूरा किया चकया।

हमारे द्यावकारों का यह सिद्धान्त है कि दैवि युद्ध बुद्धिमान् भागी है इस सिये पिण्ड-ज्ञानाङ्क के तत्त्व को पहचानना ही उसका मुख्य काम या पुरुषार्थ है; और इसीका भास्तुराज्य में ‘मोभ कहते हैं। परन्तु इस्यसुपि के व्यवहारों भी और ज्ञान तेकर शास्त्रों में ही यह प्रतिपादन किया गया है कि पुरुषार्थ कार प्रकार के हैं — ऐसे कर्म अर्थ काम और मोभ। यह पहले ही चकता किया गया है कि इस स्थान पर ‘कर शक्ति’ का अर्थ व्यावहारिक, सामाजिक और नैतिक कर्म उपकरण आहिये। अब पुरुषार्थ का इस प्रकार चतुर्विध मानने पर यह प्रभ उत्तम ही उत्तम हो चकता है कि पुरुषार्थ के चारों भास्तु या चास परम्परा कोह हैं या नहीं! इससिये रमरेल रहे हैं कि पिण्ड में भी और ज्ञानाङ्क में जो तत्त्व है उसका यान तुरं मिना माभ नहीं मिलता। फिर यह ज्ञान किसी मी भाग से यास हो। इस सिद्धान्त के विषय में शामिल मतमेड़ मठे ही हो परन्तु तात्पतः दृष्ट मतमेड़ नहीं है। मिनान गीताम्बन्ध का तो यह सिद्धान्त उर्ध्वरै आया है। इसी प्रकार गीता को यह तत्त्व भी पूर्णतया मास्त है कि परि अथ भीत कर्म इन दो पुरुषार्थों को यास चरना हो, तो के भी नीतिप्रम ले ही यात किये जान। अब केवल जर्म (अपाल व्यावहारिक चानुबन्धवर्त) और मोस के पारस्परिक सम्बन्ध का निर्णय चरना चाह रह गया। इनमें न अम के विषय में तो यह सिद्धान्त सभी परों को यास है कि अम के द्वारा यित्र का शुद्ध किये मिना मेह दी जात ही चरना अर्थ है। परन्तु इन प्रकार

किया है। परन्तु इस रीति से गीता का ये अध्य किया गया है वह गीता के उपकरणोपचार के अस्यस्त विषय है। और, इस प्रथम में हमने स्थान स्थान पर स्पष्ट रीति से विज्ञान किया है कि गीता में कर्मयोग का गीता उपचारस्थान का प्रचान मानना कौन ही अनुचित है ऐसे पर के मालिक ही शोद तो उसीके पर में पाणुना कहे और पाणुन का पर मालिक द्वारा है। किन संगों का मत है कि गीता में कर्म वेदान्त के बहुत भक्ति या चिकित्सा पाठकुछयोग ही का प्रतिपादन किया गया है उनके अन मर्तो यज्ञन हम कर ही सकते हैं। गीता में शीन-सी बात नहीं। वैदिक धर्म में मोक्षप्राप्ति के किन्तु यादन या मार्ग है उनमें से प्रत्येक मार्ग का कुछन-कुछ मार्ग गीता में है और उनका हानेपर भी मूलधर्म व भूतत्वों (गीता १६) के त्याग से गीता का सब रहस्य इन मार्गों की अपेक्षा मिस ही है सम्यासमार्ग भर्षान् उपनिषद का यह तत्त्व गीता को प्राप्त है कि शून के किना मोक्ष नहीं; परन्तु उसे निष्काम कर्म के साथ जोड़ देने के कारण गीताप्रतिपादित भागकर्तव्यमें ही परिक्षम का भी सहृद ही समावेश हो गया है। उपरापि गीता में सम्यास और वैराग्य का अध्य यह नहीं किया है कि कमों वा औड़ देना चाहिये, किन्तु यह कहा है कि केवल फ़क्तारा का ही त्याग करने में सब वैराग्य का सम्बाध है। और अन्त में निष्कामकर्मयोग अधिक भेयस्कर है। कर्मकाण्डी मीमांसका का यह मत मैं गीता का मान्य है कि यहि यह के मिये ही वेदविहित यहवासाति कमों का भावरण किया जाये तो के कक्षक नहीं होते। परन्तु 'यह' धर्म का अर्थ विलूप्त करके गीता ने उक्त मत में यहि विद्वान्त और औड़ दिया है कि वहि फ़क्तका त्याग उप कर्म किये जाये तो यही पक्ष बड़ा भारी यह हो चरा है। इस किये मनुष्य का यह वर्णान्तमात्रिहित उप कर्मों को केवल निष्कर्म-कुद्धि से सहैते करता रहे। सहि की उपरापि के द्रव्य के विषय में उपनिषदादि के मत की अपेक्षा साक्षी का मत गीता में प्रचान माना गया है तो मैं प्रहरि ऊर पुरुष तक ही न नहर कर, सहि के उपरचिद्रम की परम्परा उपनिषदी में वर्णित नित्य परमामायत के द्वारा भावात्मकन की प्राप्ति की गई है। केवल कुद्धि के द्वारा भावात्मकन की प्राप्ति के द्वारा इत्यग्राहक है। 'समिये मागवत या नारापतीय धर्म में यह कहा है कि उठे मर्हि और भद्रा के द्वारा प्राप्त कर सेना चाहिये। इस बासुदेवमहिं की विदि का वर्णन गीता में मैं किया गया है। परन्तु इस विषय में भी भागवतव्यम की तरफ भादों में कुछ नक्षक नहीं की गया है करन् भागवतव्यम में मैं वर्णित वीव के उपरचिद्रियवह 'स मत हो वेदान्तस्थ वी नाइ गीता ने मैं त्याग माना है ति बासुदेव से सङ्केत या जीव उपर दृढ़ा है और भागवतव्यम में वर्णित भक्ति का तुमा उपनिषद के वेदविद्वान्मान्ती विद्वान्त का पूरा पूरा मेल कर दिया है। इसके किया मोक्षप्राप्ति का दूसरा साक्षन पाठकुछयोग है। उपरापि गीता का कहना यह नहीं

की अंशतः उसके प्रारम्भकानुसार मात्र हुए क्षमत्वमात्र से नीरस या मनुर मालूम होते हैं। आर, पहले कह मुझे है कि जन हो जाने पर भी प्रारम्भकम् को माँगे मिला दुर्काप नहीं। "सदिप्य इति प्रारम्भकानुसार मात्र हुए क्षमत्वमात्र के अपरण यदि किसी जनी पुरुष का यौ सासारिक भवत्वहारों से लब जावे आर यदि वह संन्याती हो जाय तो उसकी निन्मा करने से काह व्यथ नहीं। आत्मज्ञान के द्वारा विश्व विश्व पुरुष की दुष्कृति निषेध हीर और पवित्र हो गद है। वह उच सभार म जाए और दुड़ जे, परन्तु "स जान को नहीं भूला जाहिये कि वह मनवी दुष्कृति की दुष्कृता भी परम सीमा और विश्वां म त्वभावतः कुरु दोनेकामी हठीकी मना-दृष्टिवां का तावे म रखने के सामय्य की परामाण्य सब खगा एवं प्रवक्ष्य रीति से विश्व देता है। उषका यह काव लेक्षणग्रह की दृष्टि स भी दुष्कृति देता नहीं है। स्थैत्य के मन मैं सन्यासधर्म के विषय मैं जो आरदुष्कृति विश्वमान ह उसका नाश जारण यही है और मात्र भी दृष्टि से यही यीका को मैं सम्मत हूँ। परन्तु केवल क्षमत्वमात्र की ओर अथात् प्रारम्भकम् भी ही ओर ज्ञान न देव कर यदि ज्ञान की रीति के भनुत्तार इस तर का विचार किया जावे कि विषुने पुरी आत्मसनन्वता प्राप्त कर ली है। उस जनी पुरुष को "स अमूर्मि मैं विश्व प्रकार क्षाव करना जाहिये। तो गीता के भनुत्तार यह विद्वान्त करना पाता है कि क्षमयाग-पव गाय्य है और दुष्कृति के भारम मैं मरीचि प्रमूलि ने दधा भाग घुल कर उनक आत्मिका ने विश्व क्षमयाग का भाज्वरण किया है उसीका जनी पुरुष लेक्षणग्रह के विश्व स्त्रीकार कर। क्षमि अव न्यायतः यही कहा पाता है कि परमेश्वर की निमाण भी दुर्द सुष्ठि को जालम का ज्ञान भी जनी भनुप्या को ही करना जाहिये। भीर, "स माग मैं हान-ज्ञान्य के साथ ही क्षम-ज्ञान्य का भी विद्वद्वरहित मेल हैने के अपरण यह क्षमयाग क्षम सारथमाग की अपेक्षा ही अधिक योग्यता का निभित हाता है।

साम्य और क्षमयोग हीना निशाभा म एवं सुरूप में ह उसका उक रीति से विचार करन पर साँझ्य + मिष्कामङ्ग = क्षमयाग यह क्षमीकरण निष्प्रभ होता है भीर विद्वान्यन के क्षमनातुकार गीताप्रस्तावन प्रत्यनिष्प्रसन्न ज्ञानार व प्रतिपादन म ही साम्यनिष्ठा के निष्प्रय का भी क्षरस्ता से क्षनात्तर हा ज्ञाना है (म एवं ए. ३४८ ८१)। भीर, "सी भारत मैं यीका एवं क्षम-ज्ञान्यमातीय यीका काही का यह क्षमन के विश्व भक्ष्य भवत्वर ज्ञान गया है कि गीता मैं उन्नेत्र ज्ञान्य या क्षमयागमाय ही प्रतिपादित है यीका के जिन ज्योति म क्षम एवं भक्ष्य के भवत्वर निभित कर क्षम करने ही बहा है उन भाका की ओर दुर्स्त करन भ अथवा क्षम की यह क्षमग्रन्त है जैसे कि विश्व भक्ष्य भवत्वर ज्ञान भनुत्तारिक एवं प्रत्यन्नायम् है या किसी भन्य दुष्कृति से उपर्युक्त भवत्वरण के 'निष्काम-क्षम' एवं उकी क्षमीकरण का ज्ञान्य-क्षमयाग यह क्षमान्तर हा ज्ञाना है भार फिर यह वहन के विश्व ज्ञान मिष्य जाता है कि गीता मैं क्षमयाग एवं ही प्रतिपादन

शनमासि के अनन्तर निष्कम्भुदि से व्यावहारिक कर्मों करते रहने के लिए माग का उपशम्श भगवान् ने गीता में इसी ही वही माग विस्त्रित में उपयुक्त है। — और एसा कहना ही उनके स्थित सबोच्चम पद है।

---

कि पारशुराम्याग ही शीघ्रन का मुख्य कलन्व है। तथापि गीता यह कहती है कि बुद्धि का सम करने के लिये निद्रियनिप्रह करने की आवश्यकता है। इसकिये उठने भर के लिये पारशुराम्योग के यस नियम-भासन आदि सामनों का उपयोग कर जेना चाहिये। सारांश ऐडिक्षपर्म म मोक्षाति के बो बो सामन कलम्बय गंगा है उन लभी का कुछ न-कुछ वर्णन कर्म्मयोग का साह्योपाहु फिलेचन करने के समय गीता मैं प्रसवानुसार करना पान है। यदि उन सब वर्णनों को स्वतन्त्र कहा जाय, तो लिच्छवित उत्तम हावकर ऐसा भर्ता होता है कि गीता के सिद्धान्त परस्पर विरोधी है और वह मात्र मिस गिर्वासाम्याद्यिक दीक्षाओं से तो और मी अधिक दृढ़ हो जाता है। परन्तु ऐसा हमने उपर कहा है उसके अनुसार यदि यह लिच्छान्त किया जाय कि ब्रह्मज्ञन और मक्षि का भक्ष करके अन्त मैं उसके द्वारा कर्म्मयोग का समझन करना ही गीता का मुख्य प्रतिपाद विषय है तो पै सब विरोध रुक्ष हो जाते हैं। और गीता मैं लिस भृषीकिक चानुर्ब से पृज म्यापक दृष्टि का स्वीकार कर उत्तमान के साथ मक्षि तथा कर्म्मयोग का यद्योचित मुक्त कर दिया गया है उसके द्वेष दौर्ता तके अनुसी अग्रकर रह जाना पड़ता है। गङ्गा मैं लिच्छनी ही ननिर्यो इर्वा न आ मिल परन्तु उसके उसका मूल स्वरूप नहीं काल्या वस दीक्ष यही हाल गीता का मी है। उसम सब कुछ मझ ही हो परन्तु उसका मुख्य प्रतिपाद विषय तो कर्म्मयोग ही है। पश्चपि उस प्रसार कर्म्मयोग ही मुख्य विषय है तथापि कर्म्म के साथ ही मोक्षपर्म के मम का मी उसम मझी भेंति निरुपण किया गया है। उसकिये कार्य अकार्य का निरण करने के द्वेष बद्धया गया यह गीतावस्थ ही— उ हि जर्म मुपभाष्टो ब्रह्मण पड़वेद्दे (म मा अथ २६ १२) — जल भी प्राप्ति करा देने के लिये भी पूर्ण समय है। और भगवान ने भक्तुन से अनुसीरा के आरम्भ मैं स्वप्न रीति से कह दिया है कि इस मात्र से बद्धनेवाले को मोक्षाति के लिये किसी भी अन्य अनुश्यान की आवश्यकता नहीं है। इस आनत है कि नन्दासमाग के उन ल्योग को हमारा करन रोकक प्रतीक न होगा तो यह प्रतिपादन किया करते हैं कि किना सब ख्यानदारित कर्मों का स्वप्न किय मोक्ष भी प्राप्ति हा नहीं। परन्तु इसके लिये बार इस्यु नहीं है। गीतावस्थ न तो सायासमाग का है और न निरुचियान किसी दूसरे ही पर्य का। गीतावस्थ भी प्राप्ति ता भेष है कि यह ब्रह्मण की दृष्टि त दीक्ष दीक्ष युक्तिरित उत्त प्रभ का उच्चर द कि जन की प्राप्त हो ज्ञन पर मी कर्मों का तस्यान करना अनुचित करा है? इत्यादिय मन्यासमाग के अनुपायिया को प्राप्तिय कि व गीता का मी सम्यान देने की जाज्ञ मन व तन्यासमागप्रतिपादक्ष अभ्य अधिक प्रभ ह उन्ही त नमुप रहे। अथवा गीता मैं नन्दासमाग का मी भगवान ने लिस निरमिमानतुडि से निभयकर कहा है जसी उमडुडि से साम्य मागवाणी को मी यह कहना चाहिये कि परमधर वा हनु पह है कि नन्दार पक्षा रहे। और जब कि इसीरिये वह यार बार भवतार बारण करता है तब

करो तो अद्युद्ध हो जायगा । उद्याहरणाय—हिंसा करो चाहे मर्य करो सब देखे परमात्मरज क्यों “स्थानि वाते इसी प्रकार भी हैं । मनुस्मृति आदि स्मृतिग्रन्थों में तथा उपनिषदों में विद्यियों आलाएँ अथवा आचार स्पष्ट रीति से कहस्तये गये हैं । परन्तु मनुष्य ज्ञानवान् प्राणी है उचित्ये उसका समाधान देवस एवं विद्यियों वा आत्माभाव से नहीं हो सकता । क्योंकि मनुष्य की यही स्वाभाविक इच्छा होती है कि वह उन नियमों के बनाये जाने का कर्तव्य भी लान ले । और उसकिये वह विचार करके उन नियमों के निव्य तथा मूलतत्त्व की व्याख्या करता है—किंतु यही दूसरी रीति है कि विस्तृत कर्म-अकर्म वर्द्ध-अवर्द्ध पुण्य पाप आदि का विचार किया जाता है । व्याख्यातिक जर्म के अन्त को इस रीति से देख कर इसके मूलतत्त्वों का दृष्टि विश्लेषण ध्यास्त का काम है तथा उस विषय के वेचक नियमों को एकत्र करके स्तुत्यना आचारसंग्रह कहस्तता है । उपमाग का आचारसंग्रह स्मृतिग्रन्थों में है और उसके आचार के मूलतत्त्वों का ध्यानीय अध्यात् तात्त्विक विवेचन भगवद्गीता में सवाप्नाति से या पीराणिक रीति से किया गया है । अतएव मावद्गीता के प्रतिपाद्य विषय को कवस कर्मयोग न कहकर कर्मयोगशास्त्र कहना ही अधिक उचित तथा प्रशस्त होगा । और यही दोमशास्त्र सम्बन्धित भगवद्गीता के अत्याव उमाति शूलक लक्ष्यस में भावा है । जिन पश्चिमी पण्डितों ने पारलैनिक इष्टि की त्याग किया है या यो ल्येग उसे गोप्य मानते हैं वे गीता में प्रतिपादित कर्मयोगशास्त्र को ही मिथ मिथ स्मृतिक नाम दिया करते हैं—ऐसे सद्व्यवहारात्मक साचाचारक्षास्त्र नीतिशास्त्र नीतिमीमांसा नीतिशास्त्र के मूलतत्त्व कर्तव्यशास्त्र कार्य-अकार्य व्यवर्णिति समावभारणशास्त्र न्यायि । उन सांगों की नीतिमीमांसा की पहलति भी स्मृतिक ही रहती है । इसी कारण से ऐसे पाश्चात्य पण्डितों के प्रनयों का विनाने अवक्षेपन किया है उनमें से बहुतों द्वारा पहल समझ हो जाती है कि सख्त गाहित्य में सवाचरण या नीति के मूलतत्त्वों की वर्ता किसीने नहीं की है । तो कहने लाया है कि हमारे घरों या कुछ गहन तत्त्वान हैं वह विक्षिक हमारी वेतास्त ही है । अच्छा कर्त्तव्यानन्द वेदान्त प्रथों को शाया वा मालम हांगा जिसे साधारिक कर्मों के विषय में प्राप्त उत्तमीन है । देसी अवस्था में कर्मयोगशास्त्र का अध्ययन नीति का विचार कर्त्ता मिलेगा । वह विचार व्याख्यण अथवा न्याय के इन्द्रिय में रहा मिलनेवाला है ही नहीं भार स्मृतिग्रन्थों में कर्मयोगशास्त्र के संप्रह के लिया और कुछ भी नहीं उचित्ये हमारे प्राचीन धार्मकार मात्र ही के गुरु विचारों में मिलता ही रहने के कारण उपाचरण के पां नीतिपर्म के मूलतत्त्वों का विवेचन करना भूल गये । परन्तु महामारत और गीता का ध्यानपूर्वक पर्ने से वह भ्रमण्य उमड़ दूर हो जा जाएगी है । इनपर कुछ जाग बहुत है कि महामारत एक भूत्यन्त वित्तीय प्रणय है इनमिय उत्तम्य पर कर पृष्ठतथा मनन करना बहुत ही कठिन है । भीर गीता व्याप्ति एक लाल्य-का प्रणय है वा मी उमसे लाप्तिक्षिक दीमाकारी ने मठा नुकार के बर मापयात्रि ही का ज्ञान कर्त्तव्या गया है । परन्तु किसीने इच्छ उत्त भी

## पञ्चाश्वाँ प्रकरण

### उपसहार

तस्मात्स्वेषु कालेषु मामसुस्मर युध्य च । ०

- गीता ८ ७

**चारे व्याप गीता के अन्यायों की सङ्खियि या मेल बैठिये या उन अन्यायों के**

विषया का मीमांसकों कि पद्धति से पृष्ठ पृष्ठ विवेचन कीजिये किंतु भी इदि से विषार कीजिये अन्त म गीता का सज्जा तात्पर्य पही मान्य होगा कि जन मणियुक्त कर्मयोग ही गीता का सार है। मर्णान् साम्प्राप्तिक दीक्षाकारी ने कर्मयोग की गीण ठहरा कर गीता के या अनेक प्रकार के तात्पर्य बतायेहे हैं व यथार्थ नहीं हैं। किन्तु उपनिषद् में वर्णित अद्वित वेदान्त का मणि के साथ मेल कर उल्लङ्घणार्थ यह कर्मकारों के वरितों का रहस्य - या उनके वीचनकर्म की उपपत्ति - यह स्पन्ना ही गीता का तात्पर्य है। मीमांसकों के कर्मानुसार वेदाल ओतस्मात् कर्मों को सौंदर्य करते रहना मध्ये ही शास्त्रोक्त हो सो मी श्वनरहित वेदाल तान्त्रिक किया से बुद्धिमान् मनुष्य का साधारण नहीं होता। और यहि उपनिषद् म वर्णित अम को हैं, तो वह वेदाल शान्तमय न होने के कारण अगपतुदिक्षामें मनुष्य के लिये अत्यन्त कष्टकाल्य है। "सके विषा पक और लाव है उपनिषद् का सन्याहमाग स्वरूप संग्रह का व्यवक भी है इसलिये मात्तान् ने ऐसे श्वनमूलम् मणिप्रपान और निष्काम कर्मविषयक चम का उपर्युग गीता में किया है वि विद्वा पाल्य भासरण विवा प्राप्तेः विससे बुद्धि ( श्वन ) प्रेम ( मृद्धि और कर्मस्य का ठीक ठीक मेल ही आवे मोहा भी ग्राहि में कुछ अन्तर न पड़े पाप और कष्टकालहार भी सुरक्षा से हटा रहे। "सीमे कम अक्षम के शास्त्र का सब सार भरा छ्भा है। अधिक क्या कह गीता के उपरम उपकालर से यह बात स्पष्टहो चिह्नित हो गयी है वि भ्रुन का अम चम का उपोक्ता बनने में कम अक्षम का विवेचन ही मूलकारण है। "न जात का विचार तो तरह है किया जाता कि विस कम को प्रभ्य पुण्यद्व न्याय्य या भ्रमकर बहना पाहिय और किस कम को इमक विसद्व भ्रात भ्रमस्य पापग्राम भायाप्य या एष बहना आहिये। पहली रीति यह है वि उपपत्ति, कारण या मम न इत्याकर एव पर यह है - किंतु काम का भ्रमक रीति से कर्ता - ता पर युज्ज इगा और भन्य रीति म

इतिव तद्व मग्याग का अंग इहाह स्व। अर्त है - इह भी बोलका दर्ता एव इत्यानुसार वही ता है इसकु उकड़ा जर्ज व्यवह वार्ता है इसका है - यह अर्थ भी तमका जाता अहिय हि विषार्थ कर्म है

नीतिशास्त्र की अध्या कर्मयोग की गुणों का ही विषय था की इह आता है, जिनके बार मुख्य खंगों की समझ है कि इसकी उपरचि हमारे प्राचीन धारालक्षणी ने नहीं करवा है। परन्तु एक ऐसी विषय का विचार भी इतना विस्तृत है कि उठका पृष्ठवर्षा प्रतिपादन करने के लिये एक स्वतन्त्र अन्य ही लिङ्गों पड़ेगा। तथापि इस विषय पर इस प्राची में थोन भी विचार न करना उचित न होगा। सक्रिय बहुत विश्वासन करने के लिये इसकी कुछ महत्वपूर्ण घटना का विवेचन उस उपर्युक्त में किया जाएगा।

योद्धा भी विचार करने पर यह सहज ही ध्यान में आ जाता है कि सहायार और बुद्धार तथा उम और अपर्याप्त शमों का उपयोग यथार्थ में अनुवान् मनुष्य के कम के ही लिये होता है। और यही कारण है कि नीतिमत्त्व के बड़े बड़े कमों में नहीं जिन्हें कुट्टि में रहती है। उमों हि टेपामधिको विशेषः— उम-अपर्याप्त का अन मनुष्य का अपर्याप्त बुद्धिमान् प्राणियों का ही विशिष्ट गुण है— उस बचन का दात्त्वय और मात्रार्थ ही वही है। किसी गोपे या देव के कमों का देव कर हम उठे उपत्यकी तो केवल कहा फूटते हैं परन्तु उन वह जग्ना छाता है तब उठ पर कोई नालिङ्ग करने नहीं आता। इसी तरह किसी नहीं की—उसके परिणाम की ओर ध्यान लेकर— हम भयहर अवस्थ कहते हैं परन्तु उन उठमे बाद आ जाने से उठते वह जाती है, तो अधिकार्य स्मृति की अधिक ज्ञानि होने के कारण कोई उठे बुद्धिमत्त्वी कुट्टी या अनीतिमान् नहीं कहता। इस पर कोई प्रभ नह सहते हैं कि यहि उम-अपर्याप्त के निष्पम मनुष्य के मनवहारों ही के लिये उपयुक्त हुआ करते हैं तो मनुष्य के कमों के मरेक्षुरेपण का विचार भी केवल उसके कम से ही करने में क्या दानि है? इस प्रम का उत्तर ऐना कुछ बढ़िया नहीं। अचेतन करुणी भार पारुपमी आदि मूर्ति योनि के प्राणियों का दाहान्त ज्ञेय है और यहि मनुष्य के ही दृत्या का विचार कर, तो भी गोप पड़ेगा कि उन कोई भाग्मी अपने पात्रमपन से अवका भव्यमाने में कोई अपराज कर जासका है तब वह उठार में भीर कानुनारा धम्य माना जाता है। इससे यही जात सिद्ध होती है कि मनुष्य के मौर्य अक्षम की मनाशुद्धि व्यराने के लिये सब से पहले उसकी कुट्टि का ही विचार करना पड़ता है— मनान् वह विचार करना पड़ता है कि उसने उस बाय का जिन उद्देश ध्यान या हेतु से लिया; और उसको उस कम के परिणाम का अन या या नहीं। किसी मनवान् मनुष्य के लिये यह कोई कठिन बाम नहीं कि वह भपनी अस्त्र के अनुकार मनवाना उम है। यह दानविषयक काम ‘अपर्याप्त’ भए ही हो परन्तु उसकी यही नैतिक योग्यता उन उम की स्वाम्यविक विषय है



भूम्य और भाषा नहीं रखनी चाहिये । आत्मस्वातन्त्र्य के अनुकार अपनी शुद्धि को भूम्य रखना उस ब्राह्मण के अधिकार में था भार यहि उनके स्वस्याचरण से एवं वात में कुछ सन्तेह नहीं रह गया कि उसकी परीक्षाखुदि युधिष्ठिर के ही उमान् शुद्ध थी तो इस ब्राह्मण की ओर उसके स्वस्यहस्य की नैतिक योग्यता युधिष्ठिर के और उसके बहुध्यवाच्य वद के वराकर की ही भानी बनी चाहिये । इसी पह भी कहा था सकता है कि क्रृष्ण तक शुद्धि से पीड़ित होनेपर मी उस गरीब ब्राह्मण ने अप्रशान्त करके अस्तित्व के प्राण बचाने में जो स्वाक्षर्याग किया उसन उसकी शुद्ध शुद्धि और भी अधिक म्यक्त होती है । पह वा उसी शब्दने है कि पैदे आठि गुलो के समान शुद्ध शुद्धि की उसी परीक्षा सहृदयकाल में ही शुभा करती है; और फान्ट ने भी अपने नीतिग्रन्थ के आरम्भ में यही प्रतिपादन किया है कि सहृद के समय भी किसी शुद्ध शुद्धि (नैतिक तत्त्व) भ्रष्ट नहीं होती वही तथा नीतिमान है । उक्त नेष्टसे यह अभिमान भी पहर्था था । परन्दु युधिष्ठिर की शुद्ध शुद्धि की परीक्षा कुछ रास्तारुद होने पर सम्पूर्णकाल में किये गये एक अध्ययनसे ही होने की ने वी उसके पहसु ही अर्थात् आपचिन्नप्रथ की अनेक अवस्थाओं के गैरिको पर उसकी पूरी परीक्षा हो जुती थी । इसीलिये महाभारतकार का पह चिह्नान्त है कि अर्म अपम के निर्णय के सूक्ष्म स्थाय से यहि युधिष्ठिर का चार्मिक ही चिह्ना चाहिये । कहना नहीं होगा कि वह नेष्टव्य निष्क्रिय नहराया गया है । यहाँ एक और वात व्यान में लेने चीम्य है कि महाभारत में पह वर्णन है कि अध्ययन करनेवाले को ये गठि मिलती है वही उस ब्राह्मण का भी मिलती । उससे यही चिह्न होता है कि उस ब्राह्मण के कर्म की योग्यता युधिष्ठिर के पह भी असेहा अधिक मझे ही न हो तथापि "उसमें सन्तेह नहीं कि महाभारतकार उन दोनों की नैतिक और चार्मिक योग्यता एक वराकर मानते हैं । स्यावहारिक कार्यों में भी उससे से मात्रम हो सकता है कि वह किसी चर्महस्य के लिये पा छापेपयोगी कार्य के लिये क्षर्त छापति मनुष्य इवर इपय चला देता है और लौर्ड गरीब मनुष्य एक वयया चला देता है तब इस लैम उन दोनों की नैतिक योग्यता एक समान ही समझते हैं । 'अन्ना एव' का देव एव यह इषान्त कुछ सीरों को क्षापित् नया मालूम हो, परन्तु वयाप में वात ऐसी नहीं है । क्योंकि उक्त नवके की कथा का निष्पत्ति करते उमय ही अर्म अपम के किंवेचन में कहा गया है कि -

सहस्रशक्तिभ्य इति शतशक्तिर्दशापि च ।

श्यावपत्त्व या शक्त्याच्च चर्मे तुल्यफलाः स्मृताः ॥

अथात् इजारकाल ने उसी शोकाके ने इस और किसी ने यथाधर्ति शोक ता पनी ही दिया था भी ये सब तुम्हेकह है अर्थात् इन सब की योग्यता एक वराकर है (मन्त्र अष्ट १०); और पर पुण्य फल (गीता ५२९) - "त

नहीं ठहरा था सकती। उसके स्थिय मह मी शम्भा पड़ा कि उस बनवान मनुष्य की बुद्धि सचमुच भद्रायुक्त है पा नहीं। भार उसका निषय करने के लिये यहि स्वप्नादिक रीति से किये गये इस दान के सिंका और कुछ उकूल न हो तो इस दान की याम्पता किसी भद्रापृष्ठक किये गये दान की याम्पता के असार नहीं समझी जाती—और कुछ नहीं तो सन्तेह बरने के लिय उचित कारण अवश्य रह जाता है। सब यह अपने भवय का विवेचन हो जान पर महामारत म पही एक बात ध्यान्यान के स्वभव म उत्तम रीति से समझाइ गा है। जब सुधिद्विर राजगढ़ी पा चुक, तब उन्होंने एक बहुत अध्यमत्त्वपूर्ण किया। उसम अपने भार दृश्य भावि क अपूर्व उस बरन से भीर सामग्री मनुष्या क सन्तुष्ट होने से उनकी भद्रत प्रदाना होने लगी। उन समय वहाँ एक नियम नुस्खा (निवास) आया भार सुधिद्विर से बहन ल्या—‘तुम्हारी स्पष्ट ही प्रदाना की जाती है। पृष्ठाओं मैं इसी नुस्खेम मैं पह शिरी ब्राह्मण रहता था औ उठागति मे भवान् लक्षा मैं मिरे हुए भवान क दानों का भुक्तर, अपना गीवन निकाह किया बरता था। एक दिन मांगन बरने के समय उसके यहाँ एक अपरिचित भाग्यमी भाषा से पीभित अतिथि बन बर आ गया। पह इटिली ब्राह्मण और उसके बुन्धनी उन मी कर दिना क भूमि थे तो भी उसने अपनी जी क भीर अपने छन्दों के सम्मने पराता हुआ तब सब डभु अतिथि का समर्पण कर दिया। इस महार उसने भ भवित्वियत्व किया था उसके महत्व की असर्वतु तुम्हारा यम—पह किन्तु ही पर ज्ञानी न हो—कमी नहीं कर सकता (म या भव ?)। उन नवमे का मुँह नीर भाषा शरीर खोने का था। उसने ये पह कहा कि सुधिद्विर क अभिनेत्यपत्र की याम्पता उस गीव ब्राह्मणद्वारा अतिथि को लिये गये थे तो भर भर उन के भावत मी नहीं ह उसका कारण उसन यह क्लान्या है कि— उस ब्राह्मण क पर मै भवित्वी भूत्र पर फेझ से मेरा मुँह भार भाषा शरीर खोने का हो गया, परन्तु सुधिद्विर क पश्चात्यपत्र का भूत्र पर मेझे भूत्र मै भेद ज्ञाना हुआ भाषा शरीर खोने का नहीं हो सका। पहा पर ज्ञान के बाय परिणाम का ही यह यहि अन्ति अन का विचार था— कि भवित्वाद्य यथा का भवित्व स्पष्ट विमुक्त है— तो यही नियम करना पड़ा कि एक भवित्विय का नूम बरन की असेक्ष द्वारा आश्मियों का नूम बरन की याम्पता याग्यानी भवित्व है। परन्तु प्रभ यह है कि बद्र भवान्ति स ही नहीं किन्तु नीतिराहि मे भी क्या यह लिय दीक होगा? किसी को भवित्व भवान्ति मिर दिना या असारयार्ति भवन अप्पे भास बरन का भौंग मिय जिना अप उत्तर नगनार पर ही व्यपन्नित नहीं रहता है। यहि यह गीव ब्राह्मण इत्य ए अन्ति मै इष्ट मारी यह नहीं कर लक्षा था भार इत्यिये यहि अन असी एकि के भवुकार हुउ भार भव भुप्त बास ही किया तो क्या उनकी नीतिक पा अभिन याम्पता कम लमारी जायगी? करी नहीं। ए एव अमर्भी जाव हो यही उन्होंना परेगा कि एरीहो का बनवानो क बहर नीतिनान भीर शार्मिष्ठ होने की क्षमी

अन्मसिद्ध है उसका हिस्था द्रुमे मौंगा और भुज टाक्के के लिये विषादिति नम् गाकर वीच क्वाव करने का भी द्रुमे शुद्ध शुद्ध प्रयत्न किया। परन्तु जब इस मेष्ठ के प्रयत्न से और द्राघुफन के मार्ग से निर्बाह नहीं हो सक्ता तब अकाही ऐ द्रुमे शुद्ध करने का निष्पत्य किया है। उसमे द्रुम्हारा शुद्ध दोष नहीं है। स्वांकि शुद्ध मनुष्य से किसी आङ्गप की नाँ अपने घर्मात्तुचार प्राप्त हुए की मिला न मौंगते हुए, तीव्रा आ पढ़ने पर खनियदम के भनुचार लोकसंग्रहाथ उसकी प्राप्ति के स्थिरे शुद्ध करना ही द्रुम्हारा करम्य है (मा र २८ और ७२ बनपर्व ११ ४८ और ८ देखो)। भनवारे के उल्लु शुक्तिवाच को व्याख्या ने भी स्वीकार किया है और, उहा ने इसी के द्वारा आग अस्कर धानितपर्व मे शुक्तिविद का समाप्तान किया है (गा भ १२ और ३१)। परन्तु शुभ अकर्म का निर्णय करने के लिये शुद्धि की इच्छा करने से भेद मान ले तो अब यह भी अवश्य ज्ञान देना चाहिये, जि शुद्ध शुद्धि किसे कहत है। क्योंकि भन और शुद्धि दोनों प्रहृति के विकास हैं उससिद्धे व समाजका दीन प्रकार के अधात् सात्त्विक, राज्य भीर दाम्पत्ति हो सकते हैं। उससिद्धे गीता मे यहाँ है कि शुद्ध या सात्त्विक शुद्धि वह है कि जो शुद्धि ते भी परे रहनेवाले नित्य भाल्मी के स्वरूप को पहचाने भीर यह पहचान कर — कि जब प्राणियों मे एक ही भाल्मी है — उमी के भनुचार कार्य अकाय का निषय कर। उस सात्त्विक शुद्धि का दूसरा नम साम्यशुद्धि है और इसमे 'साम्य शम्भ' का अप सर्वभूतात्मरूप भाल्मी की एकता या समानता को पहचाननेवाली है। या शुद्धि उस रमानता की नहीं बानठी, वह न तो शुद्ध है भीर न सात्त्विक। उस प्रकार जब यह मान किया गया कि नीति का निषय करने म साम्यशुद्धि ही भूद है तब यह प्रभ ढटता है कि शुद्धि की उस सम्पर्य अपवा साम्य को रूपे पहचानना चाहिये। स्वांति शुद्धि तो भक्तरिनिष्ठा है उससिद्धे उसका मत शुद्धपन हमारी आप्नी से दीप नहीं पड़ता। अतएव शुद्धि की समता तथा शुद्धता की परी तो करने के लिये पहसे मनुष्य के जाय भावरण को देना चाहिये। नहीं तो काह भी मनुष्य देना कह कर — कि मेरी शुद्धि शुद्ध है — मनमाना क्वाव करने स्वयंगा। इमी से शास्त्रा का मिदानत है कि सभ ब्रह्मरानी पुरुष की पहचान उल्लेख समाप्त ही रहा करनी है। तो कप्तन मूर्ति से कोई जात करता है, वह सभ शादु नहीं। भास्त्रीया म भी भिन्नप्रत तथा भावकल्पों का स्वयंग अवधार नमय ताप करत इनी ज्ञान का देखन किया गया है कि वे ज्ञानार के अन्य लैंगों के जाय देना चाहार करते हैं। तीर तेहव रूपाय म ज्ञान की व्याख्या भी इमी प्रसार — भपार, पट — तान कर । इसम्पर्य पर ज्ञान का क्षय वर्तिताम होता है — की गर्द है। इन्हें यह गार म नम होता है कि गीता पर कभी नहीं कहती कि शायस्तों की भार तु न जान न जा परन्तु इस ज्ञान पर ज्ञान इन चार्यों कि किनी मनुष्य की — पिण्डपर वर्तन भनक्तान मनुष्य की — शुद्धि की ज्ञानता की परीक्षा करने के निष्य वर्षारि देवत उत्तरा शुद्धपन या भावरण — और, उत्तम भी नद्दितमप वा भावरण —

असूह  
का है,  
ताकि  
निया  
प्रया  
लेय।  
पर  
निया  
साही ) ७  
५

यह अनुमान मी (फ़िप्पी ११ और गीता १८ १०) बौद्ध इर्म में मान्य हो सका है, कि बिसष्ठ मन एक बार शुद्ध और निष्काम हो जाता है तब स्थितप्रबल पुण्य से ऐसी कमी पाप होना सम्भव नहीं अर्थात् उन कुछ करके मी पृथ वापसपुण्य से अस्ति रहता है। अस्तिये द्वैद्व भगवन्न्या म अनेक स्थान पर बर्णन किया गया है कि अहंत् अर्थात् पूर्णावस्था में पर्णचा हुआ मनुष्य हमेणा ही द्वैद्व और निष्पाप रहत्य है (धर्मपर २१४ और २९ मिस्लि प्र. ४ ६ ७)।

परिमी देखी में नीति का निश्चय करने के लिये भी पन्थ है। पहला आधिकारिक पन्थ जिसमें संसदिक्षेक्षकता की भारत में जागा पड़ता है और पूर्ण आधिकारिक पन्थ है कि वे उस जागा क्षेत्री के द्वारा नीति का निश्चय करने के लिये कहता है कि अधिकारी सेगा का अधिक हित किसीमें है। परन्तु ऊपर लिये गये विवेकन से यह स्पष्ट माझम हो सकता है कि ये दोनों पन्थ शास्त्राधि संग्रह तथा प्रक्रमीय हैं। कारण यह है कि संसदिक्षेक्षकता कोई स्वतन्त्र बल या देवता नहीं; किन्तु वह अक्षयात्मक शुद्धि में ही शामिल है। इसलिये प्रबोध मनुष्य की प्रहृति भीर त्वमात्र के भनुतार उसकी संसदिक्षेक्षकता में सत्तिक राज्य या तामस शुद्धा करती है। ऐसी अवस्था में उसका कार्य-अकार्य निश्चय दोनों रहित नहीं हो सकता। और यहि केवल अधिकारी लोगों का अधिक शुभ दिन में है। इस जागा आधिकारिक क्षेत्री पर ही ध्यान टेकर नीतिमत्त्व का निश्चय करे, तो उस क्षेत्रमासे पुरुष की शुद्धि का उछ में विचार नहीं हो सकेगा। तब यहि दोहरा मनुष्य चोरी या अग्निकार के भार उसके जागा अनिष्टकारक परिणामों को उस करके के लिये या लियाने के लिये पहले ही से तावश्चन होकर उठ शुद्धि प्राप्त कर से तो पहरी बहना पड़ेगा कि उसका शुद्धत्व आधिकारिक नीतिरहित से उसना मिन्दनीय नहीं है। अतएव यह बात नहीं कि केवल अधिक धम में ही कार्यक, बाचिक भीर मानसिक शुद्धता की भावस्थकता का बचन किया दर्शा हो (मध्य १२ ३-४ ९) किन्तु जाग्यकर में भी अग्निकार का केवल कार्यक पाप न मानकर परस्ती की ओर पूर्व पुरानी का देखना या परापुर की ओर तुलनी चित्ता का देखना भी अग्निकार माना गया है (मेघ ६ ८) भीर अद्वितीय में कार्यक भावात् जाग्यशुद्धता का साप नाप बाचिक भीर मानसिक शुद्धता की भी भावस्थकता कार्यार्थ गत है (परमर ५ भीर ३ १)। इनके द्वितीय भीर माहृष का यह भी बहना है कि जाग्यशुद्धता की परम नाप मानने वे मनुष्य मनुष्य में भीर रात्र दृष्टि में रुपों के द्विय प्रतिरूपिता उत्तम हो जाती है; भीर कृष का होना भी तन्मत्प है। बायारि जाग्यशुद्धता की शास्त्रि के द्विय तो जाग्यनापन भावस्थप है जैसे प्राप्त इतरों के कारण के। व यानविह द्विय का द्वय जाग्य शुद्धता बहना है। अमर १० मैसमन्तर जाग्य न में की जाता है १० ४ ३ ५ त ५ त ५ ५ की भीता विषय S B E. Vol. V pp 3-4

ही मध्यन साधन है तथापि केवल इस बास भाषणद्वारा ही नीतिमध्य की भनूक परीक्षा हमेशा नहीं हो सकती। क्योंकि उक्त नकुलोपाय्यान से यह चिद हो जुता है कि यहि बाह्यक्रम छेग मी हो तथापि विशेष अवसर पर उचकी नीतिक योग्यता के क्षमों के ही बहार हो सकती है। इसी स्थिय हमारे बालकारों ने पह चिदान्त किया है कि बाह्यक्रम चाह छोय हो या बच और वह एक ही को सुन्दर देनेवाल हो या अविकाप दोगा को उसको केवल तुक्की की घुटता का एक प्रमाण मानना चाहिये। इससे अधिक महत्व उसे नहीं ना चाहिये। किन्तु उस बाह्यक्रम के आधार पर पहसु यह हम खेना चाहिये कि कम करनेवाले की चुक्कि छिन्नी घुट ह और अन्त में इस रीति से अप्प होनेवाली घुट चुक्कि के आधार पर ही उक्त क्षमों की नीतिमध्य का निष्पत्त बतना चाहिये। यह निष्पत्त केवल बालकों को डेटने से ठीक ठीक नहीं हो सकता। यही कारण है कि कम की अपेक्षा चुक्कि भेद है (गीता २ ४९) ऐसा कहकर गीता के कमयोग में उम और घुट चुक्कि को अपर्याप्त बासना का ही प्रबलता ही गई है। नारदपश्चात्यन नामक भागवतपर्म एवं गीता से अर्जावीन एक प्रत्य है। उसमे माल्येष नारद से पूछत है -

मात्रस प्राप्तिकामेव भवत्तमेककारजम् ।

मनोमुक्त्य बाक्य च वाक्येम प्रस्तुतं मन ॥

अर्थात् मन ही खाग के सब क्षमों का एक (मर) कारण है। ऐसा मन रहता है करी ही बात निष्कल्पी है और बातकीत से मन प्रकर्त होता है (ना प २ ७ २८)। सारांश यह है कि मन (अपात् मन का निष्पत्त) सब से प्रभम है उसके अन्तर्तर सब कम तुम्हा करते हैं। असीसिय कम असर्व का निष्पत्त करने के लिये गीता के उद्दुक्कि के चिदान्त को ही बौद्ध प्रधकारों ने स्वीकृत किया है। उग्रहरणाप 'बमपात् नामक तुद्दमर्मीय प्रसिद्ध नीतिप्रत्य एव धारम्म मे ही कहा है कि-

मनोपुद्दांभमा भम्मा भनोसेहा (भेषा) मनोमया ।

भनसा चे पद्मुद्देश मामति वा करोति वा

ततो न तुष्टपमम्बेति वाङ् तु पहता पदे ॥

अपात् मन यानी मन का भ्यापार प्रभम है। उसके अनन्तर भम भम्म का आचरण होता है। ऐसा कम होने के कारण इस काम म मन ही मुख्य भीर भेद है। इसकिये इन उब क्षमों को मनोमय ही उमस्ता चाहिये। अपात् कठा का मन छिय प्राप्त घुट या बुद्ध रहता है। उसी प्राप्त उसके भागण और कम मी भेदेतु तुम्हा करते हैं। तथा उसी प्राप्त आगे उसे सुपादुग्ध मिलता है। ० असी तरह उपनिषद और गीता का

पर्याप्त क इन स्तोत्र का निष्पत्त निष्पत्त लग निष्पत्त नर्व बतत है। किन्तु जारी रह इस तरह है। इस लाल ही रथना हसी तथा १८ की गई है कि कर्म-असर्व का निर्वाच

का काम – यानी उनके महात्मा का योग्यता का निश्चय करने का काम – प्रत्येक मनुष्य को अपने मन से ही करना पड़ेगा । परन्तु किसके मन में पेसी आसमाप्तम्भुद्दि पूर्ण रीति से जाग्न नहीं हुँ है कि ‘वैष्णा मैं हूँ, मैं ही तृष्णा मी है’ उसे तुरही के मुचुरुण की तीक्ष्णा का स्वप्न रहन कभी नहीं हो सकता । “किंतु वह न मुख दुधगों की सज्जी योग्यता कभी ज्ञान ही नहीं सकेगा । और, फिर वारतम्ब निष्ठव करने के लिये उसने मुख्युग्रहों की मुष्टि कीमत पहले ठहरा थी होगी उसम सूख हो जायगी और अन्त में उसका निया सब हिसाब भी गलत हो जायगा । एकीन्द्रि अहना पड़ता है ‘कि अधिकाय संग के अविन् मुख को देना’ इस बास्त्वमें ऐसा हिसाब करने की व्याख्या है किंतु अधिन् महूत्त नहीं देना चाहिये । किंतु किस भास्मोपम्भ और निर्णोम तुष्टि से (अनेक) तुष्टरों के मुख्युरुण की यथाप थीमठ पहले ठहराये जाती है वही तब प्राप्तिकों के विषय में माम्यावस्था भी पहुँची हुर घुरुद्दि ही नीतिमत्त्व की सज्जी जा है । स्मरण रहे, कि नीतिमत्त्व निष्ठम्, धूर भेदी समय (उत्तेप में कहे गए) सत्त्वसीक अन्तकरण का चर्म है, वह मुष्ट केवल तार-असार किंचार का पछ नहीं है । वह सिद्धान्त इस कथा से और भी स्वप्न हो जायगा । भारतीय मुख के बात मुचिद्धिर के रास्तसीन होने पर वह इन्हीं अपने पुत्रों के पराम्रम्ब से हताप हो तभी तब वह धूरयाद् के साथ बानप्रस्त्याभम् का व्याकरण करने के लिये जल की ज्वले सकी । उस समय उसने मुचिद्धिर को कुछ उपत्येष निया है और, तू अधिकाय लेंगों का कायाण निया कर रत्याति बात का ज्ञानहुँ न वर, उसने मुचिद्धिर से चिन्ह नहीं कहा है कि मनसे महत्त्व व (म. म् अ॒० २१) भवात् त अपने मन को हमेशा विशाल कराये रहा । किंतु परिम्मी पण्डितों ने यह प्रतिपादन निया है कि केवल अधिकाय लग्न का अधिन् मुख किसम है यही देखना नीतिमत्त्व की सज्जी शास्त्रीय और सीधि कर्त्त्वी है व कथा-किंतु पहले ही से यह मान सें ह कि उनके समान ही भव्य सब लोग इस मन के हैं और ऐसा तमन्त कर ते अन्य सब लोगों को यह कल्पनाएं ह कि नीति का निष्ठव किंतु रीति से किया जाय । परन्तु से पण्डित किंतु बात को पहले ही से मान लें हैं वह सब नहीं हो जाती । अनुष्ठिय नीतिनिष्ठय का उनका निष्ठम् अप्युष और एक पार्श्रीय लिङ्ग होता है । इतना ही नहीं; अथवा उन्हे सेंगों से वह भ्रमायारण किंचार मी उत्पन्न हो जाता है कि मन स्वामाचया का धीर को यथाप में अधिक अविन् मुख और यापभीर क्षमान का प्रयन करनक बाल यति को नीतिमान क्षमन के विष अपने क्षमों के व्यापरिषामा का दिलान बरना नीति से जा ज्ञ जाय । और फिर किसी व्याप्तुकि नहीं छढ़ी रहती है व स्वयं धूर मिष्याकारी या दारी (गीता ३ ५) ज्ञनर लां तमाद की हानि का जारी हो जाती है । इनष्ठिय करन नीतिमत्त्व भी एकीटी की दरि ते रथ ता मी क्षमों क वदल वायपरिषामा पर विचार करनेक्षमा मार इपन तथा भवुत प्राणी होता है । अत्य इमारे निष्ठव क अनुमार गीता ५८

मुख का क्रम किये जिना अपने का नहीं मिल सकत। परन्तु साम्यवृद्धि के विषय में ऐसा नहीं कह सकते। यह आकृतिक मुख आमतर है। अधिक यह जिनी दूसरे मनुष्य के मुख में बाजा न छाड़कर प्रत्येक हो मिल सकता है। इसका ही नहीं जिन्होंने भावनीकरण की पहचान कर लव प्राणिया से समझा का स्वयंहार करता है वह गुप्त या प्रत्यक्ष जिनी रीति से भी काँच तुफ़्हाय कर ही नहीं सकता। और फिर उठे यह जन्मने की भावनाप्रक्रिया भी नहीं रहती कि 'हमेशा यह देखने रहो कि भवितव्याद्य स्थगा का अधिक सुख जिसमें है।' इसलिए यह है, कि काँच में मनुष्य ही वह सार अकाश-विचार के द्वारा ही कियी हृत्य को दिया करता है। यह जात नहीं कि कर्त्ता नेत्रिक दूसरों का निषय करने के लिये ही तार मलार-विचार की भावनाप्रक्रिया होती है। सार अकाश विचार करते समय यहीं महस्त का प्रभ देखता है, कि अन्त कहा हमना चाहिये। स्वर्णांक सद स्थगा ज्ञ अनुशङ्खण एक्षमान नहीं होता। अनुशङ्खण कह, कि यह वह दिया कि अनुशङ्खण में ताजा साम्यवृद्धि जागृत रहनी चाहिये तब फिर यह अन्यथा की काँच भावनाप्रक्रिया नहीं कि भवितव्याद्य स्थगा वा सद प्राणिया के हित का सार अकाश विचार करा। परिवर्ती परिवर्तन में अह यह कहन लगे हैं कि मालवश्चाति के प्राणिया के सम्बन्ध में ये कुछ कहाय हैं वे तो हैं ही परम्पुरा में शब्दरस के तमस्त में भी मनुष्य के कुछ कहाय हैं जिनका समावेष इन्द्र नकायदार्य में किया जाना चाहिये। यह ज्ञानी व्यापर इसे भेजे सी मात्रम होता कि भवितव्याद्य स्थगा वा अधिक हित की भावना 'नवमूलहित' यह ही भवितव्याद्य भीर उत्तमुद्ध है तथा 'ज्ञान ज्ञानी का तमावेश हो जाता है। ज्ञाने विरीति यह देखा जाने के कि जिनी एक मनुष्य की दुदि गुद भीर यम नहीं है तो वह इन इन ज्ञ टीक डीक हिताव में ही वर के कि भवितव्याद्य स्थगा ज्ञ भवितव्य में ज्ञानी व्यापर द्वारा होना सम्भव नहीं है। कर्णीक जिनी जन्माय वी भार प्राप्ति होना युद्ध मन का गुण या जन्म है - यह काम तुम हितावी मन जा नहीं है। यह काँच कहे कि हिताव वरेन्वाच नमन्य के जन्माय या मन को ज्ञाने भी युद्ध काँच भावनाप्रक्रिया नहीं है। युद्ध केवल यहीं 'ज्ञाना चाहिये' कि उपर्युक्त ज्ञान ही हो या नहीं। भवयत् उन हिताव से किस पह देख में ज्ञाने चाहिये कि जन्माय भवनाय का निषय हो क्य तुम्हारा ज्ञान जन्म जाता है या नहीं - तो यह भी जन्म नहीं हो जाता। इसलिए यह है कि जन्माय के यह ज्ञ ज्ञान है कि तुम्हारुप जिने कहत हैं। तो भी इन द्वारा ज्ञान । के जाननाय क्य हिताव वरेन्वे जन्माय पहले यह निषय कर जाना पड़ता है कि जिन प्रत्यक्ष के तुम्हारुपों का जिनका महस्त देना चाहिये। परम्पुरा तुम्हारुप वी इन द्वारा जान वरेन्वे के जिन्हे - उपनिषद्मन्त्र यस्त के जन्मान - यह गिरिधा जन्मनापन न तो इन्द्रायन समय में है भीर न भवित्व में ही उनके द्वितीय तकने वी युद्ध तम्हारुपों की दैर दैर वीमन द्वरान

किया है, ६ कि मनुष्य शहीर में पक नित्य और स्वतन्त्र रूप है (अथात् जिसे आत्मा पृथक है) किसमें यह उत्तर अच्छा होती है कि सर्व-भूतान्तरमत् अपने लामात्मिक पृथक्षरूप का अक्षय पर्युच यात्रा चाहिये और यही इच्छा मनुष्य को उदाचरण की ओर प्रवृत्त किया करती है। इसी में मनुष्य का नित्य और विरकातिक क्षम्यात्मा है तथा विषयसुन्दर अनित्य है। चाराश्य यही दीप पकता है, यद्यपि काम्ट और ग्रीन दोनों ही की इष्टि आध्यात्मिक है तथापि ग्रीन व्यक्तायात्मक बुद्धि के व्यापारों में ही इष्टि नहीं रहा किन्तु उसमें कर्म-अकर्म विभेदन की तथा बासना-स्वातन्त्र्य की उपरिकी विषय और ब्रह्माण्ड दोनों में पकता से व्यक्त होनेवाले युद्ध बास्तवरूप तक पर्युचा किया रहे। काम्ट और ग्रीन ऐसे अध्यात्मिक पात्रात्मा नीतिशब्दात्मा के उत्तर ठिकानों की ओर नीचे इष्टि गते गीता के सिद्धान्त में हैं।—(१) बास्तवकम् की अपेक्षा कर्ता की (बासनात्मक) बुद्धि ही भेद है। (२) व्यक्तायात्मक बुद्धि आत्मनिष्ठा कर असंगेहरहित तथा तम हो जाती है तब इष्टि बासनात्मक बुद्धि आप ही आप युद्ध और पवित्र हो जाती है। (३) एवं रीति से किनकी बुद्धि तम और लिपर हो जाती है वह रिक्तप्रत्यय पुरुष हमेशा विषि और निषमो से परे रहा करता है। (४) और उठाने आचरण तथा उसकी भास्तव्यस्तुद्विषय से उद्घ दोनेवाले नीतिनियम लामात्मिक पुरुषों के इष्टि आश्चर्य के समान पूर्णीय तथा प्रमाणभूत हो जाते हैं और (५) विषय भर्तात् देह में तथा ब्रह्माण्ड अर्पात् सृष्टि म पक ही भास्तव्यस्तुती रूप है एहान्तरमत् आत्मा अपने युद्ध और पृथक्षरूप (मोक्ष) को प्राप्त कर देने के लिये उड़ा उम्मुक रट्टा रहे तथा इस युद्ध स्वरूप का ल्यन हो जाने पर सब प्राभिका विषय में भास्तीप्रम्यहसि हो जाती है। परम्परा यह जात व्याज देन चाहत्य है कि इष्टि आत्मा मात्या भास्तव्यात्मक ब्रह्मात्मिक्य कर्मविषयक न्यायिक विषयों पर हमारे वास्तविक्य के भा निदानत ह व बाल्य और ग्रीन के उद्घास्तों से भी बहुत भागे हों युद्ध तथा भवित्व निभित हैं। न्यायिक उपनिषदान्तर्गत बेगम्लत के आधार पर किया ह गा गीता का क्षम्यात्म विभेदन भास्तव्यात्मिक इष्टि से अलगित्य पृथ तथा दोनों रीति राजा है; और भास्तव्य के बेगम्ली क्षम्यन पवित्रत ग्रीवेनर द्वायतन में नीतिविषय की उसी पक्षिति ने अपने अध्यात्मशास्त्र के मूलतत्त्व नामक फल्य में भवित्व किया ह। द्वायतन द्वायेनद्वारा का अनुशासी है; उसे द्वायेनद्वारा का यह निदानत पृथक्या मान्य है कि तथार का मूलाचरण जाना ही है। इत्थिये उत्तरा तथा विषय भिन्न हैं तथा नीतिविषय का दोनों असम्भव है न ताक यात्रा का धर्म बरना ही प्रवर्त चनुष्य का बन्द्य ह। और इसी आध्यात्मिक विद्वान्तद्वारा

यही सिद्धान्त पर्यामी भाषिकविन और भाषिमीविक पक्षों के मतां सी अपेक्षा अधिक मार्मिक व्यापक पुष्टिसूक्ष्मत आर निर्णय है कि माइक्रों से व्यक्त होनेवाली सम्यक् बुद्धि का ही सहाय एवं काम में अपात् कमयोग में सेवा चाहिये तथा शानसुक्ष्म निष्पत्तीम् पुड़सुद्धि या शीर् ही सशब्दरण की सर्वी कर्त्तव्यी है।

नीतिशास्त्रमध्येयी आविर्भाविति और भाषणीयिति प्राप्ता को छाकर नीति का विचार आप्यायिक है से करनेवाले पक्षियों परिणाम के प्रभाव को पढ़ि देंगे तो माझम हाय कि उनमें भी नीतिमत्ता का निश्चय करने के विषय में गीता के ही सहज कम की अपेक्षा धुड़कुदि को ही विद्योप प्रचानता गई गई है। अहरणाप्रसिद्ध जमन तत्त्ववेत्ता कान्ट के नीती के आप्यायिक मूल्यात्मक तथा नीतिशास्त्रमध्येयी दूसरे प्रभावों का अधिक्षिये। यद्यपि कान्ट ने<sup>५</sup> सर्वमान्यमेस्य वा सिदाम्ब अपने प्राप्ता में नहीं दिया है तथापि एवंसायस्मइ और वास्तवायस्मइ धुड़ि का ही माम विचार करके उसने यह निभिन दिया है – कि (१) किसी कम की नीतिक योग्यता इन वापरकम पर में नहीं दृष्ट्याइ जानी चाहिये कि उन कमग्राम निकटे मनुष्यों का सुन द्यागा यद्यकि उनकी घोग्यता का निष्पत्त यही ऐन कर करना चाहिये कि कम करनवाप्रमाणपूर्वकी 'वासना' कहाँ तक धुड़ि है। (२) मनुष्य की इस वासना (भाषात् वाक्तनायमङ्गुडि) का तभी धुड़ि परिव आर मूलन्य तुमशना चाहिये उन्हि वह नित्रियमुना में दिया न रह कर मात्र धुड़ि (यसमायस्मइ) धुड़ि की आरा क (भाषात् इस धुडिद्वारा निभिन व्युत्पन्न नक्तप के नियमों के) अनुसार चलन चाहे। (३) इस प्रकार इतिष्ठिप्रद हा गाने पर छिप्पी वासना धुड़ि हा गद हा ठम पुराक ए किये दियी नीतिनियमात् क वन्धन की वाक्तव्यता नहीं रह जाती – ये नियम तो वामाप मनुष्यों के ही दिये हैं। (४) इस प्रकार से वासना के धुड़ि ग जान पर जी तुउ कम करने का वह धुडिवासना या धुड़ि जहा करनी है वह इती विचार से कहा जाया है कि इमार समान वहि धूमर मी बरने लग, तो परिणाम व्या हाय भीर (५) वासना की इस स्वतन्त्रता भी उद्दता की उपरानि का पक्ष कमर्गुरि का छोड़ कर ब्रह्मगृहि म प्रवेश दिये जिन नहीं पर लक्षन। परन्तु भाष्या आर इत्यनुति तम्भी व्याप्ति के विचार कुउ भयूऽहै भीर ईति यद्यपि कारण ही अनुशारी है तथापि इनमें भास्त्र नीतिशास्त्र क वाक्तव्यता म परम पह दिय दिया है कि वायगृहि का नयान् ब्रह्मात् का ग भगव्य वापर है वह भास्त्रवाप्र म गिर भै भगवान् मनुष्यात् म भगवान् प्रादुभूत है ग है। इतक भास्त्रवाप्र उसने पह द्रीगाद्यन

की दर पर ही झुन्हाई मारना है। १० अब इस जात का भ्रष्ट करके समाज की ओर आवश्यकता नहीं कि यथोपि गीता का श्रियम् कर्मयोग ही है, तो भी उसमें शुद्ध वेष्टन् भयो और किम् भयो आ गया। काम् ने इस कियम् पर 'शुद्ध (व्यवहारात् त्वम्) तुष्टि' की मीमांसा और 'स्वावहारिक (जापनास्मक) तुष्टि' की मीमांसा नामक ही अखण्ड अस्मा प्रम्य किये हैं। परन्तु हमार औपनिषदिक तत्त्वशान के अनुचार भगवद्वितीया ही में इन दोनों कियों का उमालेष रिक्षा गया है एवं भद्रामूलक मरिमाण का भी विवेनन उसी में होने के कारण गीता सब से अकेला प्राप्त और प्रमाणभूत ही गया है।

मीषधरम का सुणामर के लिये एक भार रख कर केवल कम अक्षम की परीक्षा के नीतिक तत्त्व की दृष्टि से भी यह 'साम्यतुष्टि' ही भए चिन्द द्वारा होती है तब पहले पर 'यस जात का मी थोना सा विचार कर लेना चाहिये कि गीता के आध्यात्मिक पद को छोड़ कर नीतिशास्त्रों में भन्त्व बुलेरे पन्थ किसे भीर द्वारा निमाप हुए?' डाक्टर पास जारत + नामक एक प्रसिद्ध अमेरिकन प्रन्थकार अपने नीतिशास्त्र-कियम् प्रार्थ में यस प्रभ का यह ढंगर देता है, कि पिण्ड ब्रह्माण्ड की रक्षा के सम्बन्ध में मनुष्य असी समाज (राज) होती है उसी तरह नीतिशास्त्र के सूष्ठुत्व के सम्बन्ध में उसके विचारों का रह बदलता रहता है। सब पुछो तो पिण्ड ब्रह्माण्ड की रक्षा के सम्बन्ध में कुछ-न-कुछ निश्चित मत हुए जिनमें प्रमुख ही उपरियत नहीं हो जाता। पिण्ड ब्रह्माण्ड की रक्षा के सम्बन्ध में कुछ परा पर्त न रहने पर मी हम होगी से कुछ नीतिक भावरण कान्तिक हो जाता है। परन्तु वह भावरण स्वप्नवस्त्वा के स्पायार के समान होता 'संक्षिप्त इते नीतिक वदने के बाले देहसर्वानुसार होनेकाई फैल एक कायिक किंवा ही बहना चाहिये। उस दूरगार्थ जापिन अपने बच्चों की रक्षा के लिये प्राण देने को तैयार हो जाती है।

Empiricism on the contrary cuts up at the roots the morality of relations (in which, and not in actions only, consists the high worth that men can and ought to give themselves). Empiricism, moreover being on the account allied with all the inclinations which (no matter what fashion they put on) degrade humanity when they're raised to the dignity of supreme practical principle is of that much more dangerous. Kant's Theory of Ethics pp. 163 and 236-238. See also Kant's Critique of Practical Reason (trans by MaxMuller) and Ed. pp. 640-657.

<sup>†</sup> See The Ethical Problem by Dr. Cures, 2nd Ed. p. 111. Our proposition that the leading principle in ethics must be derived from the Philosophical view back of it. The world conception man has can alone give character to the principle his ethics. Without any world conception we can have no ethics (ethics in the highest sense of the word). We may act morally like dreamers or somnambulists but our ethics would in that case be mere moral instinct without any rational insight into its reason & our

नीति भी उपराखि का विवेचन उसने अपने उक्त प्रबन्ध के तीसरे माग में दर्श रीति से किया है। उसने पहले यह किए कर लिया है, कि बासना का अप हाने के किय - या हा अन पर भी - कर्मों का छाइ देने की आवश्यकता नहीं है यद्यपि बासना का पृथा अप हुआ है ति नहीं पह मान परोपकाराण्य किय गये निष्कामकम से कैसे प्रकृत होती है, कैसे अन्य किसी भी प्रारंभ ने व्यक्त नहीं होती। भवएव निष्काम कम बासनाण्य का ही स्थान भी अप है। इसके बारे उसने यह प्रतिशब्दन दिया है कि बासना भी निष्कामता ही बासनारण भी और नीतिमत्ता का भी मूल है। भी और इसक अन्त म भीता का तुम्हारस्त सद्गत जाय कम समाचर (गीता १३१) यह स्थेष्ट दिया है। १० उस सातम हाना है कि दावसुन का इत्य उपराखि का शान गीता से ही हुआ हाना। तो हो पह बात कुछ कम गारव की नहीं कि दावसुन ग्रीन घोपेनहर भी और काम के पृथ - भवित्व क्या कह भवित्वेत्तलक मी ऐकट्टो व्य पूर्व - ही ये विचार द्वारा यह में प्रचलित हा सुन गे। आज्ञाम बहुतर अग्ना की यह कमत ही रही है कि देवता व्यष्ट एक ऐता बारा जन। है, तो हम इस सुधार का छाइ भी और मात्र भी प्राप्ति करन का उपराख देता है। परन्तु यह समझ दीक्षा नहीं। सुधार में यो तुउ भावीं से रीत रहा है युक्त भाग विचार करने पर ये प्रभ उद्य बतते हैं कि मैं कौन हूँ। इस युक्ति की उड में कीनसा तथा है। इस उद्य से मेरा क्या सम्बन्ध है? इत्य कमत्य पर ज्वान त कर इत्य उक्तार में भरा परम जात्य या भवित्वम र्वय ब्या है? इत्य जात्य या वेष का ग्राम फरन के किय दुस गीतनयाता के विष माग ता भीतार करना जात्य भवता विष माग मे वीन गा वेष भिद्द हाय? भी इन गहन प्रभो का यथागति शार्दीप रीति स विचार करन के किय द्वान्तगाम प्रहृत हुआ है; विष निष्काम हृषि स देगा ज्य ता बद मार्यम द्वारा कि तमस्त नीतिगाम भवता मनुष्यों के पास्त्यरिक व्यवहार का विचार त गहन ज्वान का ही एवं वह है कारात यह है कि व्यवदाता वी उत्त पर्वि द्वान्तगाम ही त भासार पर की त तकनी है भार भव त्यन्यानमार्गीय आग वह कुछ १५ परन्तु इसम नहीं है कि द्वान्तगाम १५ त्रै - गुड गणित भी व्यवहारिक रीति - ता भै है भी प्रारंभ द्वान्तगाम के भी त माग - भवता गुड देगा भी वेतन भवता व्यवहारिक द्वान्त - हो है। द्वान्त तो वह क्य द्वान्त है कि मन म व्यवधा (परदामा) भवता भी उत्त १५, भवता त कमत्य के पृथ दिवार इत्य भीत्यभ का विचार करन ज्य ती उत्तम द्वारा। कि द्वान्तार म विष ताह त ज्याव का या नकार मे देगा तथा ज्याव ब्या है वे उत्तर त ज्या ती ती उत्तम द्वारा विषी द्वान्तार वी दृष्टि ने ही द्वान्तगाम क्या मनुष्य के मन त उत्तमान है - त द्वान्त द्वान्त द्वान्त म विष रहा वह है - उत्तम द्वान्त द्वान्त त ती द्वान्त

आता है कि यह मनुष्य की नित्य कठनवादी एक स्वाभाविक प्राप्ति है। परन्तु मनुष्यस्तम्भ में स्वाप सरीरी और मीं दूसरी शृणिवाँ दीप पाती है। “ठिके इस पन्थ में मीं फिर मैं होने लगू। नीतिशिरा की तेज उपरिणियों कुछ सदमा निरोप नहीं है। क्योंकि उक्त पर्याके सभी परिणियों में ‘सुषिंहेहस्वपदार्थों से पर सुषिंही च’ में कुछ न कुछ अस्त्रक तत्त्व अवकाश है”, “स चिदानन्त पर एक ही सा भवित्वात् और अभवात् है।” स कारण उनके विषवप्रतिपादन में जाहे कुछ मीं आइच्छन कर्त्ता न हो वे स्वेग केवल बाध और हस्यतात्त्वों से ही किंतु तरह निर्भाव कर लेने का हमेशा प्रयत्न किया करते हैं। परन्तु नीति ता सभी को चाहिये; कर्त्ताकि यह सब के लिये आवश्यक है। परन्तु उक्त क्रम से मात्रम् ही बाधया कि विष्व ब्रह्माण् की रक्षा के सम्बन्ध में मिष्ठ मित्र मत होने के कारण उन स्वेगों की नीतिशास्त्रप्रयत्न उपरिणिया में हमेशा किंतु ऐड ही बाध करते हैं। इसी कारण से विष्व ब्रह्माण् की रक्षा के विषय में आधिकारीक आधिकारीक और आप्यायिक मतों के अनुसार हमने नीतिशास्त्र के प्रतिपादन के (तीसरे प्रकारण में) तीन में किये हैं और आगे फिर प्रत्यक्ष पन्थ के मुख्य मुद्दम चिदानन्त का मित्र मित्र विचार किया है। किनका यह मत है कि सगुण परमेश्वर ने सर्व दृष्टसृष्टि को बनाकर है वे नीतिशास्त्र के केवल यही तक विचार करते हैं कि अपने अपमन्युयों में परमेश्वर की जा आश्र है वह तथा परमेश्वर की उत्ता से निर्भित उत्सुषिक्षनशक्तिरूप देखता ही सह कुछ है—इसके बारे और कुछ नहीं है। उसको हमने ‘आधिकैरिक’ पन्थ कहा है। क्योंकि सगुण परमेश्वर मीं सो एक देवता ही है न। अब किनका यह मत है कि दृष्टसृष्टि का आधिकारण बारे मीं आइच्छन की अवधारणा नहीं है और परि ही मीं ता वह मनुष्य की बुद्धि के लिये अवगत है। वे स्वेग अविनाश सौगंधों का अधिक स्वाप या मनुष्यस्त का प्राप्त उक्तप ऐसे केवल हस्यतात्त्व हाता ही नीतिशास्त्र का प्रतिपादन किया करते हैं और यह मानते हैं कि इस दृष्ट्य और हस्यतात्त्व के पर विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस पन्थ का हमने आधिकारीक नाम दिया है। किनका यह विचान्त है कि नामकृपालभूत दृष्टसृष्टि की च’ में गामा लौटा कुछ-न कुछ नित्य और अस्त्रक तत्त्व अवधार है वे स्वेग भासे नीतिशास्त्र की उपरिणि का आधिकारीक उपरिणि से मीं पर से जाते हैं और रन्धशन तथा नीति या एम का मेष्ट करक इन बात का निश्चय करते हैं कि समार म मनुष्य का तथा कन्त्य कमा है? इस पन्थ की हमने ‘आप्यायिक’ कहा है इन तीनों पर्याक म आसार नीति पक ही है परन्तु विष्व की रक्षा के तत्त्व में प्रत्यक्ष पाप का मत मिप्र है। उनमे नीतिशास्त क मात्रता का स्वरूप हर एक पन्थ में याहा बारे हम्मा गया है यह बात प्रत्य है कि व्याकरणशास्त्र की नहीं व्याकरण नहीं व्याकरण किन्तु जो मात्रा व्यवहार में प्रत्यक्षित रहती है उक्ती के निषेद्धी की पर न्यैद करता है और भावा की उपरि म नहायर होता है। मीं

परन्तु "से हम उसका नंतिक भावरण न कर उसका अनमिद स्वभाव ही रहता है। "स उच्चर से "स शब्द का अस्त्री वरद स्पष्टीकरण हा चाहा है कि नीतिशास्त्र के उपराजन में अनेक पाय क्यों हो गये हैं। इसमें कुछ सुनेह नहीं, कि मैं बाज़ हूँ, यह आज् भेदे उत्पत्ति तुम्हा मेरा इस सचार में क्या उपयोग हो रहता है? "त्याहि गृह प्रभु का निषय विच तत्त्व से हो सकेगा उसी तत्त्व के अनुसार प्रस्तेक विचारकान् पुरुष "स शब्द का मी निषय भवस्य करेगा, कि मुझे अपने शीघ्रनकाल में अन्य सोगा के साथ किसा कर्तव्य करना चाहिये। परन्तु इन गृह प्रभु का उच्चर मिम मिम काल में रुपा मिम ऐशा म एक ही प्रसार का नहीं हो सकता। मुरोप उष्ण में इधार भूमि प्रस्तित है "समें यह व्यान पापा रहता है कि मनुष्य और सृष्टि का क्षता कान्तक में वर्णित संगुण परमेश्वर है और उसी ने पहले पहल सचार को उत्पत्ति करके सञ्चारण के नियमादि ज्ञानर मनुष्यों को दिखा दी है; वहा भारत्य मैं इहाद परिष्ठा क्य मी यही अधिकाय पा कि अद्वितीय म वर्णित पिण्ड व्रजाण्ड की "स व्यान के अनुसार कान्तक म कहे गये नीतिशास्त्र के मूलतत्त्व हैं। यिर जब पह मास्तम होने लगा, कि ये निषय व्यावहारिक रूप से अपूर्य है तब इनकी पूर्ण करने के मिव भवया स्वशी करणाथ यह प्रतिवाजन किया जाने लगा, कि परमेश्वर ही ने मनुष्य को सम्मुद्रितेष्ट दिया ही है। परन्तु अनुमति से यिर यह भवचन दीप पड़न ल्यी कि और और याह दीनों की उत्तराधिकारिक एक तमान नहीं रहती; तब "स मत का प्रचार होने लगा कि परमेश्वर ही इष्टा नीतिशास्त्र की नीति में ही हो परन्तु उस इष्टी इष्टा के लक्ष्य को ज्ञानने के लिये लेख इसी एक शब्द का विचार करना चाहिये कि अधिकाय सोया का अधिक सुन विचार्म है - इसके दिक्षा परमेश्वर ही इष्टा को ज्ञानने का अन्य तोइ पाय नहीं है। पिण्ड व्रजाण्ड की रचना के सम्बन्ध म इहाद ल्येगों की तो पह समझ है - कि अद्वितीय में वर्णित संगुण परमेश्वर ही सचार का क्षमा है भीर यह उसकी ही अप्य पा भावा है कि मनुष्य नीति के नियमानुसार कर्तव्य हो - उसी भावार पर उत्त तब मन प्रकल्पित हुए हैं। परन्तु आधिकारिशास्त्र की उमति तथा तुदि होन पर उस मात्रम होने स्था कि इता उपराजनी मैं पिण्ड व्रजाण्ड की रचना के विषय म कहे गये लिङ्गात्म दीक्ष नहीं है तब पह विचार इता दिया गया कि परमेश्वर के तुमान कार मृषि का क्षार ई पा नहीं; भीर पही विचार किया जाने लगा कि नीतिशास्त्र की इमारत प्रयत्न विग्रहशास्त्री जात्य की नीति पर क्षमार ल्यी की तो मच्छी है। तब से यिर यह माना जान ल्या कि अधिकाय सार्व का अधिक सुन पा कान्तक भवया मनुष्याद की तुदि ये ही उत्पत्तात नीतिशास्त्र के मूलतात हैं। रम मनिशाज्जन मैं इन घात की दिक्षी उत्तरान पा कान्तक का चार उत्तेष नहीं किया र्या है कि वाह मनुष्य अधिकाय र्या का अधिक हित क्यों है? किये इनका ही कह दिया

सद्गुरुं का परम उर्जा, और (भाषिमौतिकवार के भक्तुणार) क्या परेपकारखुदि  
की तथा मनुष्यत्व की उद्दि देने का अथ एक ही है। महामारु और गीता में  
“न सद्भाषिमौतिक तत्त्वा का स्वप्न उत्तेज तो है ही वस्तु महामारु भै वह भी  
साफ साफ कहा गया है कि भग्न-अर्थम् के नियमा को शाकिक या चम्प नियोग का  
विचार करने पर यही ज्ञन पढ़ा है कि ये नीतिकम सबभूतिहार्थ अवार्त शोक-  
कर्म्याणार्थ ही हैं। परन्तु पश्चिमी भाषिमातिक परिचय का ऐसी अव्यक्त तत्त्व पर  
विचार नहीं है। “सविये वज्रपि वै जानते हैं कि सात्त्विक हार्दि से काय-अकाय का  
निशय करने के लिये भाषिमौतिक तत्त्व पूरा काम नहीं देने तो भी वे निरक्ष शम्भों  
का आदमकर काकर अव्यक्त तत्त्व से ही व्याप्ता निर्वाह किसी तरह कर सका करते  
हैं। गीता में ऐसा नहीं किया गया है। किन्तु “न उल्लो की परम्परा को रिंग  
उपाध के मूल अव्यक्त तथा निष्पत्तत्व को ले बकर मोक्ष, नीतिभर्त और अवधार  
(इन तीनों) भी मी पूरी एकवाक्यता तत्त्वात्मन के आचार से गीता म ममकान् ने  
लिठ कर दिया” है। और इसीलिये अनुगीता के आरम्भ में स्वप्न कहा गया है कि  
काय अव्यक्त निर्जपार्थ जो घर्म अनुष्टुप्या गया है वही मोक्षप्राप्ति कर देने के लिये  
मी समय है (मा अथ १६ १२)। किनका यह मत होगा कि मोक्षपर्न  
और नीतिशास्त्र को अथवा अव्याख्याता भी नीति को एक में मिल देने की  
आवश्यकता नहीं है उन्ह उक्त उपपादन का महत्त्व ही मात्र ही मात्र हो सकता।  
परन्तु ये लोग इसके उपर्युक्त म उत्तरार्थ नहीं है उन्ह निस्तलेह वह मात्र ही  
अथगा कि गीता में किया गया कर्मयोग का प्रतिपादन भाषिमौतिक विवेचन की  
अपेक्षा भेद तथा भाव है। अव्याकृतान की उद्दि प्राचीन काळ में हिन्दुस्तान में ऐसी  
हो चुकी है ऐसी और वही भी नहीं दुर्दृश्य। इसलिये पहसे पहल विची अन्य दृष्टि  
में कर्मयोग के ऐसे आव्याभिक उपपादन का ज्ञान किञ्चुर उपर्युक्त नहीं—  
और यह विचित्र ही है कि ऐसा उपपादन कही पाया भी नहीं जाता।

यह लीकार हाने पर मी—कि “स सवार के अशाश्वत होते के कारब इस  
म सुन भी अथवा तुम ही अभिक है (गीता ५ ३१)”—गीता में जो यह किञ्चान्त  
स्थारित किया गया है कि कम अव्यायर इन्द्रिय—अथवा लालाकिक इमो का  
अमी न कभी सन्यास करने की अपेक्षा उन्ही इमो को निष्कामकुदि से लोकस्मान  
के लिये करत रहना अभिक भेषत्वर है (गीता १ ८, २)—उसके द्वारा तथा  
द्वारा जारी किया गया है कि कर्मयोग की यश्चिमी कर्मतार्थ से अथवा पूर्वी कर्मतार्थ की यश्चिमी कम  
त्याग पथ से तुम्हारा करत समय उक्त किञ्चान्त का दुष्ट अभिक स्वप्नीकरण करना  
आवश्यक मात्र होता है। यह मत ईनिक भ्रम म पहसे पहल उपनिषद्काहि तथा  
मार्गवादियों द्वारा प्रचक्षित किया गया है कि तुम्हार तथा निस्तार द्वारा से ज्ञान  
निष्पत्त शए मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। “उक्ते प्रब का वैतिकम का लोक अन्त-

यही इष्ट नीतिशास्त्र का मी है। मनुष्य इस संसार म जन से पैदा हुमा है उसी द्विं से वह सब अपनी ही दुष्टि से अपने आचरण को ऐसकरमनुशार धुक रखने का प्रयत्न मी करता चला आया है और समय समय पर ये प्रसिद्ध पुस्तक या महाकामा हो गये हैं, उन्होंने अपनी अपनी समझ के अनुसार आचारणुष्टि के लिये चिदना या ऐसाकृपी भनेक नियम मी कहा दिये हैं। नीतिशास्त्र की उत्पत्ति दुष्ट इस दिये नहीं हुआ है कि वह न नियमों को ठोड़ कर नये नियम कहाने लगे। हिसामत कर सब थोड़ परोपकार कर, "त्याति नीति के नियम प्राचीन काल से ही चलते आये हैं। अब नीतिशास्त्र का चिर्ष यही देखने का काम है कि नीति भी यथोचित दृष्टि होने के लिये सब नीतिशास्त्र म मूढ़तात्मक क्या है। यही कारण है कि अब इस नीतिशास्त्र के लिये मी पर्य को बेगते हैं तब हम एकमान प्रवक्तित नीति के ग्राम सब नियमों को सभी पन्थों म एक-से पाते हैं उनमें यो दुष्ट भेद दिग्नदर्शक पाता है वह उपपत्ति के स्वरूपमेड के कारण है और "सुधिये ता पास कारण का यह क्षयन सब भास्त्र होता है कि "स में होने के मुम्भ कारण यही है कि हरएक पञ्च म पिण्डज्ञानात्मकी उत्तमा के सम्बन्ध में मिथ्य मिथ्य मत है।

अब यह बात चिद हो गा कि मिथ्य स्पन्दन काम आदि भाविमीतिक पन्थ के भासुनिक पामात्य नीतिशास्त्रविद्यक प्रत्यक्षारा ने आत्मौपम्यहाति के सुखम तथा व्यापक तत्त्व को छान्दोर 'तर्वभृतहित' पा भवित्वात्य लोगो का अधिक हित ऐसे भाविमीतिक और बाह्य तत्त्व पर ही नीतिमत्ता का स्थापित करन का यो प्रयत्न किया है वह इसी दिये दिया है कि पिण्डज्ञानात्मकन्धी उनक मत प्राचीन मतों से भिन्न है। परन्तु ये लोग उक्त नृकम मतों को नहीं मानते, भीर ये इन प्रभो का स्पष्ट तथा गम्भीर विचार कर देना चाहते हैं कि, मैं कौन हूँ? सुधि क्या है! मुझे इति सुधि का जनन है तो हाता है! ये सुधि मुहते चाहत है वह स्वतन्त्र है बा नहीं! यहि है तो उसका मूम्भतात्मक क्या है? इस तत्त्व से मेरा क्या सम्बन्ध है? एक मनुष्य दूरते के सुन के लिये भावनी जन क्या है? ये जन लेते हैं ते मरते मी है इति नियम के अनुलाल यहि यह बात निभित है कि इस पृथ्वी पर इस रहते हैं उसका भीर उक्ते साथ तमस्त प्राभियो का तथा हमारा यी दिन भवारप नाए हो जावगा तो नाशवान मविष्य लीभियो के दिये हम अपने सुन का नाए क्यों कर! - अपवा दिन लोगो का केवल इस उत्तर से पूछा जामापान नहीं हो जि परोपकार आदि मनोहृषियों इस समय कमनय भविष्य भीर दृष्ट्युधि की निवारिं प्राप्ति ही है भीर गे यह जनना पाहते हैं कि इस नेतर्निक प्राप्ति का मृष्टकारण क्या है - उनक दिये भव्यात्मगणात्म के नियंत्रणहान का लहारा ज्ञन के दिया भार का तु तुरा भाग नहीं है। भीर इति कारण से दीन न अपने नीतिशास्त्र के द्रष्टव्य का भारम यी तत्त्व के प्रतिज्ञान मे दिया है कि इस भाष्या ये इत्युधि का जन हीता है वह

आत्मा बहसुधि से अवश्य ही मिथ होगा और अन्त ने पहले व्यवसायात्मक शुद्धि का विवेचन करके फिर वास्तवामक शुद्धि की उपा नीतिशास्त्र की मीमांसा की है।

मनुष्य अपने सुनर के लिये या अक्षिकात्प खोगों को सुनर टेने के लिये पैग तुम्हा है - यह उपर ऊपर से चाह कितना ही मोहक तथा उच्चम विरो परन्तु बसुद्ध यह सब नहीं है। पड़ि हम सांगमर एवं बात का किनार छो, कि जो महाया केवल तथ्य के लिये प्राणदान करने की तृप्ति रहते हैं उनके मन में क्या यही हेतु रहना है कि मनिष्य पीढ़ी के द्वेषों को भविकापिक कियासुन द्वैष तो यही रहना पड़ता है कि अपने तथा अस्य छोगों के अनित्य आधिभौद्धिक सुखों की अपेक्षा एवं सचार में मनुष्य का और भी कुछ दूररा अधिक महस्त का परम-साध्य या उत्तम भवस्य है। यह उद्देश क्या है? किन्तु ने पिण्ड ब्रह्माण्ड के नाम रूपात्मक (अठण्ड) नानवान् (परन्तु) इस्यस्तरप से आप्सदित आत्मत्वरूपी नित्यस्त्र को अपनी आत्मास्तीति के द्वारा बन लिया है ऐ ओग उच्च मध्य का यह उत्तर देते हैं कि अपने आत्मा के अमर, अद्वा, अद्वय, किस्य तथा सर्वभ्यापी त्वरप की पहचान करके उसी में रह रहना नानवान् मनुष्य का इह नानवान् सचार में पहस्त कर्तव्य है। किंतु सर्वभूतान्तर्गत आत्मीय की इस तरह से पहचान हो जाती है तथा यह ज्ञान किसी दृष्ट तथा निद्रा में समा जाता है वह पुरुष एवं बात के बीच म पड़ा नहीं रहता कि यह सचार बढ़ है या सब। किन्तु वह सर्वभूतहित के लिये उद्योग करने में आप-ही-आप प्रहृत हो जाता है और सत्य मार्ग का अप्रेक्षर भन जाता है। क्योंकि उसे यह पूरी तौर से मालूम रहता है कि अविनाशी तथा निकाळ आधित तत्त्व जीन सा है। मनुष्य की यही आत्मालिङ्ग पूर्णावस्था सब नीति नियमों का भूस उद्गमस्त्रान है और इसे ही वेगात्म में 'मोक्ष' रहते हैं। मिठी मी नीति को सीधिये वह एवं अनित्य साध्य से अलग नहीं हो सकती। इतिहासी नीतिशास्त्र का या कर्मयोगशास्त्र एवं विवेचन करते समय आरिस्त "सी तत्त्व की द्वारप म ज्ञान पड़ता है। सत्त्वात्मकस्तरप अस्यक्त मूलतत्त्व का ही एक अक्षकस्तरप सर्वभूत हितेन्द्रा है; और सुख परमेश्वर तथा इस्यसुहि देना उस आत्मा के ही लाभ स्वरूप है जो लर्वभूततत्त्व, सर्वभ्यापी और अस्यक्त है।" एवं अच्छ स्वरूप के आगे गये मिता अर्थात् अस्यक्त आत्मा का ज्ञन मास दिये मिता ज्ञान की पूर्ति यो हाती ही नहीं रिसु एवं सचार में हर एक मनुष्य का जो यह परम कर्तव्य है कि शरीरत्व आत्मा का पृणावस्था म पूर्ण है वह मी एवं ज्ञान के किना किन नहीं हो सकता। जाहे नीति को सीधिये अवश्यकरता को सीधिये भर्म को सीधिये अवश्य किसी मी दूसरे द्वारा की दीविये अवश्यकरता ही तब की अनित्य गति है - जैसे वहा है: एवं कर्मालिङ्ग पार्य ज्ञाने परिसमाप्त होते। इमारा महिमामानी ही इनी तत्त्वहान का अनुवरण करता है। इस्तिहास उसमें भी वही विद्वान्त दिघर रहता है, कि ज्ञन सुधि से निष्पत्र होनेवाला साम्यशुद्धिरूपी तत्त्व ही मोहक का तथा तात्पर्य का

भमों का विचार किया जाय तो मह माल्स हांगा कि उनम से बहुतों ने आरम्भ से ही सन्यासमाज को स्वीकार कर लिया था। टड़ाहुरणाव जैन और गीड़ चम पहले ही स निवृत्तिमान ह और इसा मसीह का भी बैचा ही उपरेक्षा है। बुद्ध ने अपने शिष्यों को यही अन्तिम उपरेक्षा किया है कि नंसार का स्थान करके यतिष्ठम से रहना चाहिये। किया की भार देना नहीं चाहिये और उनसे बातचीत भी नहीं करना चाहिये (महापरिनिष्ठाण मुख ७ ३)। गीड़ इसी तरह मूर चार्ड घर्म का भी क्षम है। चांगा ने यह कहा है कही कि 'तू अपने पांसी पर अपन ही समाज प्यार कर (मेष्य १२१) और पास का भी क्षम है कि 'तू भी छुछ गाता पीता या करता है, वह सब अधर के लिये कर (कारि ३)। और ये दोनों उपरेक्षा टीक उसी तरह के ह खला कि गीता मैं भास्त्रोपम्युद्दित स इधरार्पणपूर्वक घम करने को कहा गया है (गीता ६ ८ भार ९ ७)। परन्तु ऐसल इतन ही से यह उपरेक्षा नहीं होता कि 'सार्व घम गीताघर्म के समाज प्राचीनि प्रभान है। स्वांकि इसार घर्म मैं भी अन्तिम साध्य यही है कि मनुष्य को भमृतत्य मिले तथा वह मुर द्वा रहे। और उनमें यह भी प्रतियाइन किया गया है कि यह रिचर्टि भरवार त्यागे मिना ग्रास नहीं हो सकती। अतएव इसा मनीट के मूलघर्म को सन्यासमाज ही कहना चाहिये। त्यज रूपा मनीह अस्त तद अधिकाहित रह। एक समय एक भाष्मी ने उमसे प्रभ मिया कि मौंशप तथा पद्यानियाँ पर चार करने से घम का भी अप तक पालन करना चाह्या है। अप मुझे यह कालाभी कि भमृतत्य मैं क्या क्षर है! तब तो न्मा न माफ उफर दिया है कि तू अपने भरवार को क्षर ह या किमी गरीब क्षर ह ताम और मेरा भक्त खल (मेष्य १९ १६-१ भार मार १ १-११); और के तुरन्त अपने शिष्यों की भार देन लमसे करने स्थ, कि मूर के छन मैंन यक्ष द्वी जाय; परन्तु अधर क राय मैं किमी फलवान का फ्रेंच हाना करिन है। यह कहन मैं कोर भक्तिकालि नहीं हीय पहली कि यह चर ए पाञ्चम्य ए इस उपरेक्षा की नजर है कि ग अहान मैंदेयी को दिया था। एह उपरेक्षा यह ४ - भमृतत्य तु नाशाभिन दिन (१ ८) ग्राम द्राय से भमृतत्य ग्राम करन के लिय मासारिक बमों का रहना की भाद्रपद्मना नहीं है बलि तुर निषामुद्दि स करत ही रहना चाहिये परन्तु तेसा गोंदग इना ने कही भी नहीं किया है। नने दिनित रहने यही बहा ८ कि मासारिक नाशभि भीर परमेभर क तन विरप्ताकी दिन ८ (मेष्य १ ८८) इस द्वय मी दार पर चार दी ८४ भीर मार द्विन एवं स्वय भगव दीदन ११ ८ द्वर के यः माय यह ताप नहीं रहा वह भरा भग दी ८ र माता (मेष्य १ ८-११) ताक द्वय ताप का ना रहा द्वर ११ ८ द्वय का रहा तद भी न बरना लकोक्तम का ८ (कारि ३) तसी चार द्वय दी ८३

सद्गुणो एव परम उल्लङ्घनं और (भाषिमौकिष्वाद के भनुमार) क्या परोपकारकुद्धि  
की रथा मनुष्यत्व की तुकि शेता का अथ पक ही है। महामारत और मीठा में  
“न तत् आधिमौकिष्वाद का सदृश उल्लेप ता है ही वस्ति महामारत में यह भी  
चाकु चाकु कहा गया है कि इस अवधि के नियमों को स्मैक्षिक या बाह्य उपयोग का  
विचार करने पर यही भान पढ़ता है कि ये नीतिष्वम सर्वभूतहिताद्य भवात् व्य-  
वस्थापार्थ ही है। परन्तु पश्चिमी भाषिमौकिष्वाद का किसी भव्यक्त तत्त्व पर  
विचार नहीं है। अचिक्षिये सद्यपि वे अनुरूप हैं कि तात्त्विक इदि से काय-अकाय का  
निष्ठाप करने के लिये आधिमौकिष्वाद का पुरा काम नहीं ऐसे हो मीं के निरपेक्ष इसमा  
का आदम्बर काकर व्यक्त तत्त्व से ही अपना निर्णय लिखी तरह कर सकते हैं।  
गीता में ऐसा नहीं किया गया है। किन्तु इन तत्त्वों की परम्परा को ऐसा  
निष्ठाप के मूल अव्यक्त तथा नित्यतत्त्व को छोड़कर मोक्ष नीतिष्वमं और स्वव्याप्ति  
(“न तीना”) की भी पूरी पक्षवादवता तत्त्वव्याप्ति के भावार से गीता में मध्यान् ने  
सिद्ध कर दिया है। और असीक्षिये भनुगीता के भारत्य मै रुद्ध कहा गया है कि  
काय अकाय निर्वद्यार्थ ओ भव्यं अव्याद्या गया है वही मोक्षात्मि कर देने के लिये  
मीं उपम्य हूँ (मा अथ ३६, १२)। किनका यह मत होय कि मोक्षस्मि  
और नीतिशास्त्र को अथवा अव्याद्यात्मा और नीति को एक मैं मिल देने की  
आवश्यकता नहीं है उन्ह उक्त उपपादन का महत्त्व ही मात्रम नहीं हो रहा।  
परन्तु जो इसके सम्बन्ध में उत्तरीन नहीं है उन्ह निस्तनेह पह मात्रम ही  
ज्ञायगद कि गीता में किया गया क्षम्योग का प्रतिपादन आधिमौकिष्वाद विचेचन की  
ओर तो ऐसा तुम्ह तुम्हा प्राप्ति है। अव्याद्यात्मन की इदि प्राप्तीन काल मै द्विदुखान मै द्वितीयी  
हो चुकी है द्वितीयी भी नहीं हूँ। इसकिये पहले पहल लिखी अन्य देव  
मै क्षम्योग के ऐसे आव्यातिक उपपादन का पाया ज्याना किञ्चुक सम्बन्ध नहीं -  
भीर, यह कितन दी है कि ऐसा उपपादन कहीं पाया मीं नहीं देता।

पह स्वीकार होने पर भी — कि इस सारांश के अवश्यक होने के कारण इस  
मै मुख की अवधि गुण्य ही अचिक्षित है (गीता १, ३३) — गीता में ये पह सिद्धान्त  
ज्ञापित किया गया है कि कम स्वायो इन्द्रियाः — अपात्, सात्त्वारिक कमों का  
कमी न कर्त्ति उन्याम करने की अवधि उन्हीं कमों को निष्कामनुद्धि से लोकस्यान  
के लिये करते रहना अविक्ष भयवत्तर है (गीता १, ८, २) — उसके साथ रथा  
व्यापक वार्णी का विचार स्पारहक प्रवरण मै किया जा चुका है। परन्तु गीता मै जहे  
गय “स क्षम्योग की पश्चिमी क्षम्यात्मा तो अथवा पूर्वी उन्यात्मार्ग की पश्चिमी कम  
स्याग पश्च मै दुखना करते उपम्य उक्त निष्ठान का दुख अधिक सद्वीकरण करना  
आवश्यक मात्रम होता है। पह तत् विक्षिप्त एव मै पहसुं पहल उपनिषद्कार्ता तथा  
मात्रमव्याद्या इतरा पश्चिम किया गया है कि दु उपम्य तथा निष्ठार तथार से जिना  
निष्पृष्ठ दुष्म मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो रही। “मद्दे पृष्ठ का विक्षिप्तम् को औइ भव्य-

मूल्यान है। वगन्तशास्त्र से खिद हानयाम इस तत्त्व पर एक की महत्वपूर्ण आधार  
विद्या ज्ञ सकता है। वह यह है कि कुछ बान्धवी जनप्राप्ति के अनन्तर सब को  
ज्ञ सुझार कर ज्ञान द्वितीय मानत है; ज्ञानिय यह विश्वम ज्ञ - कि ज्ञ भार क्षम  
म द्वितीय नहीं है - गीता में क्षमयाग के द्वस खिदाल का विनारमहिन वगन किया  
रखा है कि बालना का धय हूँन पर भी ज्ञानी पुष्ट भवन सब को का परमधरणीय  
पूर्ण कुदि से व्यक्तिमात्र के विष क्षम्य क्षम्य ज्ञान ज्ञ रही करना चाह जाव  
अनुन ए युद्ध में प्रात फरन ए विष उपर्युक्त भक्त्य विया गया है कि त परमधर  
का सब कम समरण फरन युद्ध कर परन्तु यह उपर्युक्त व्यक्त्य तत्कालीन प्रभुत्व का दृष्ट्य  
रही ही विया है ( गीता ८ ३ )। अब उपर्युक्त का ज्ञान यही मास्त्र हाता है कि  
क्षम्य के समान ही विज्ञान सुनाय, और हृष्ट एवं ज्ञ ज्ञिया ग्राहा ज्ञानीय ऐवर,  
उपर्युक्त ज्ञानी मंग अनन्त भवन अविजातानुरूप व्यवहार का परमधरणुदि  
के करन एवं यज्ञार का घारपाशा करन रह। ज्ञ ज्ञ राज्यार निमग्ना ग्राम व्यभा  
है उस वर्ति वह विज्ञानुदि के ज्ञाना रह तो उस क्षमा ए कुछ भी पाप नहीं  
ख्यात। तब क्षम एवं ही न है। याव व्यक्ति क्षमा वी पुदि में है न कि उपर्युक्तों  
में। भवाव कुदि की सम ज्ञ के यह ज्ञ अन विष व्यक्ति तो परमधर भी उपासना  
हो जाती है पाप नहीं व्यक्ता और भवन में विदि भी विज जाती है। परम्पु विन  
( विन्दु भवार्विन काम क ) यागा ज्ञ यह ए ज्ञानारम्भा हो रखा है कि वारे  
कुछ नी हो जाव एवं नाशान दृष्ट्यमृदि के भाग ज्ञ कर भवन भवान विचार क  
रहर पार्वी म रखना नहीं है। ए भवा नीनिशास्त्र का विचार, व्रातार्मस्यार  
परमाप्य की उप भवी का छाव कर, मानवशति का व्यायाम या तुष्मभूतिन उप  
विन ज्ञ उ भाविन्यतिद्वय ( परन्तु अविष्य ) ताप स ही तुष्म विया करते हैं।  
व्याय रह ति उमी पर्व वी दोरी का जाव भेजे स वह नया पर्व नहीं व्यायामा उमी  
रह ती उमीपर विज्ञान का विज्ञान विया हुआ विज्ञान व्यक्ति ज्ञान या भवन नवे ही  
हो सम्भव हन नया नहीं हो व्यक्ता व्यानस्य ज्ञान मानव प्रवयक पुरुष का सम्भव  
मानव भवर यहा ए व्यायाम का विज्ञान विज्ञान न वी पार्वी पर कर - कि दृष्ट्यार  
ए व्यायाम तर विज्ञान विज्ञान ए व्यक्ति होता होता होता है - साधन-व्यक्ति हीनों तुष्म क  
व्यक्ति विभव विष व्यवे है भाव विविज्ञान विया है कि इसे स व्यायिक व्यक्ति  
ए ज्ञम व्यव्य करना ही दृष्ट्य का व्यव्य है तथा मनुष्य का उमी ए भवन मैं  
विज्ञान रह या विज्ञ वर ज्ञा ए ज्ञान होती है भवार्विन का उपर्युक्त व्यक्ति  
म पर्व ए व्यव्य उमी व्यव्य व्यक्ति १० व्यव्य व्यव्य तो व्यव्य तो उपर्युक्त

इषीणिये महामारु में ये सदृश गीति से कहा गया है कि चानुर्बन्ध के बाहर कि अनार्थ आगों में ये दम प्रचलित हैं उन घण्टा की भी रक्षा राशि को इन सामाजिकों के अनुसार ही करनी चाहिये (शा ६ १ -२२)। भयांत् गीता में यह नीति ही उपपत्ति चानुर्बन्धसुरीगी किंतु एक विधिपूर्व उमाकल्पवस्त्वा पर अनुभवित नहीं है किन्तु सर्वसामान्य आप्यायिक ज्ञान के आधार पर ही उसका प्रतिपादन किया गया है। गीता के नीतिप्रमाण का मुख्य तात्पर्य यही है कि ये कुछ उत्तम्यकर्म शास्त्र ग्रास हो उसे निष्काम और आप्यायिकमुद्दिष्ट से करना चाहिये और, सब देशों के लोगों के लिये यह पक्ष ही उमान उपयोगी है। परन्तु यहाँ आप्यायिकमुद्दिष्ट का और निष्कामकर्माचरण का यह सामान्य नीतिरूप किंतु कर्मों के उपयोगी होता है वे कर्म इस समार में प्रत्यक्ष म्युक्ति को बसे ग्रास होते हैं। इस कर्मान्वयने के लिये ही उस समय में उपयुक्त होनेवाले उत्तम उदाहरण के नाते से गीता में चानुर्बन्ध का उदाहरण किया गया है और याद याप गुणकर्मविभाग के अनुसार समाजवस्त्वा की सहेज में उपपत्ति भी बतार्द है। परन्तु उस बात पर मैं म्यापन देना चाहिये कि यह चानुर्बन्धवस्त्वा ही कुछ गीता का मुख्य ग्रास नहीं है। यीर्त शास्त्र का व्यापक उदाहरण यही है कि यहि कहीं चानुर्बन्धवस्त्वा प्रचलित न हो अपवा वह किसी रिती दृष्टि में हो तो वहाँ भी उत्तमाधीन प्रचलित समाजवस्त्वा के अनुसार उमाक के बारणपोषण के द्वारा काम भग्ने हिस्से में भा पद, कर्तृ लोकरम्भ के लिये खिय और उत्तमाह से उत्तम निष्काममुद्दिष्ट से कर्त्तव्य समझकर बरत रहने चाहिये। क्याकि मनुष्य का कूल उसी काम के लिये तुम्हा है न कि केवल गुणोपमेव व लिये। कुछ सोग गीता के नीतिप्रमाण का देवल चानुर्बन्धमुक्त समझने ही ऐसिया उमड़ी यह समझ नीक नहीं है। चाहे उमाक हिन्दुओं का हा या भूषणों का चाहे वह प्राचीन हो या अवाचीन चाहे वह पूर्ण हो या पूर्णी। उसम उमेह नहीं, निष्पत्ति उस उमाक में चानुर्बन्धवस्त्वा प्रचलित हो तो उस व्यवस्था के अनुसार चानुर्बन्धी समाजवस्त्वा चाही हो तो तो उस व्यवस्था के अनुसार द्वारा काम भग्ने हिस्से में भा पदे अपवा किंतु हम भूमी यथि क अनुसार कामय नमस्करण एक कर स्वीकृत बर ए वही नपवा व्यपम हा गता है। भीर गीता कहती है कि रिती भी द्वारा से इस घन का ऐन मार पर आह इना आर दूसर कामी मैस्य बना एवं यही तथा सबनामाहत की इषि से निष्पत्तीय है। यही तात्पर्य म्यपमें निष्पत्त भेर पर ग्राम भयावह (गीता ३ ३) इन गीताराजन का है—अपर्जु लक्ष्मीराजन ने ते गृन्तु हा शय ता र भी भयमस्तर है परन्तु दूसरा का घन भयावह हीता है।

“ प्राय क नवतर मारमार सागा का (गिन्दान प्राद्यग हाकर भी तत्त्वाधीन ग तापानन का गीर (तेषा ग) रामगारी न पह उपग्रह विषा या । ग ग ग ग ग ग ग न (ग) गनप यारी न का प्राप्तम न (उगार ग ग ग ग बरने म व्याना क्षम व्यप ता न स ही तु तार उपय तार मै

भमो का विचार किया आय तो वह साइम हांगा, कि उनम से बहुता ने भारतम से ही सन्यासमाग को शीकार कर लिया था। उदाहरणाथ जेन आर बैड घम पहले ही उ निष्ठिप्रधान ह और इसका मसीह का भी देखा ही उपेत्र ह। बुद ने अपने शिष्यों का यही अन्तिम उपरेत्र किया है कि संसार का त्याग करके धरिष्म से रहना चाहिये। शिष्यों की ओर टेम्पा नहीं चाहिये और उन्हें बानचीत मीं नहीं करना चाहिये (महापरिनिष्माण शुल्क ३) गीढ़ नीं तरह मूर चार्ड अमं का मीं क्षमन है। इसने यह कहा है मही कि तू अपने पालसी पर अपन ही समान प्यार कर (मेष्यू ११) और, पाल क्षम मीं क्षमन है कि तू जो बुल गावा पीठा या करता है वह उब चर के लिये कर (कारि १०) और ऐ दोनों उपरेत्र टीक उसी तरह के हैं जस्ता कि गीता म आत्मौपम्यमुक्ति से इश्वरप्रणायवक्त घम करने का बहा गया है (गीता ६ आर ९, ७)। परन्तु उपरेत्र नहों ही से यह लिंग नहीं होता कि इसाइ घम गीताखर्दे के समान प्राप्ति-प्रधान है। क्याकि चार घम में भी अन्तिम चार्य यही है कि मनुष्य को अमृतत्व मिले तथा वह मुक्त हो जाये। और उपरेत्र यह भी विनिष्मान किया गया है कि यह रिष्टि भरणार त्यागे शिळा प्राप्त नहीं हो जानी। अतुर्य चासा मसीह के मुख्यम जो सन्यासप्रधान ही बहना चाहिये। स्वयं चासा मसीह भन्तु उक्त अविकाहित रह। एक समय एह आशमी ने उनसे प्रस किया कि मौष्णप तथा पश्चेतियों पर प्यार करने से घम का म अप तक पाल्य करना चाह आया है। अर मुझे वह क्षत्तलभी कि अमृतत्व म क्षमा क्षुर है। तब तो चासा ने माफ उक्त दिया ह कि तू अपने भरणार को केज या किसी गरीब च्छ जाव और मेरा मक्क ज्ञ (मेष्यू ११ १२-३ और भाइ २ २-३) और वे तुरन्त अपने शिष्यों की ओर देय उपरेत्र कहने ल्ये कि मुन के लेज से लेज मले ही चाप परन्तु चर के राय मैं किसी भनकान का प्रयोग होना चाहिन है। यह कहने मैं कोन अतिशांकोद्धित नहीं राय पड़ती कि यह उपरेत्र पाश्वरक्ष्य के चासा उपरेत्र भी नहू है कि ज उक्तान्म मैत्रेयी को किया था। वह उपरेत्र यह है— भमृतत्वस्य तू नाशालिं विन्म (६ २८) भगव इष्म से भमृतत्व प्राप्त करने के लिये मासारिक भमों का लेजन की आवश्यकता नहीं है बलि उम्म निषामुक्ति से करते ही रहना चाहिय परन्तु देसा उपरेत्र चासा ने कही भी नहीं किया है। उसके विवरित उक्तान्म यही बहा है कि मासारिक सम्पति और परमेश्वर के बीच विरक्षामी दियान ह (मेष्यू ६ ८) इस लिये मौष्णप भरणार, चौ-चष्म भार मान चहिन एव स्वयं अपने गीवन का मीं उप चर के ज मनुष्य मेरे चाप नहीं रहता वह मेरा भक्त हमी ह। नहीं सफता (मेष्यू ८ ६-३३)। चासा क शियाय पाल का मीं शब्द उपरेत्र ह कि किया का स्वयं तुक मीं न बहना उक्तोंचम पस ह (कारि ७) उसी प्रगत तम गीर ३२

पहुँच ही कह भाये है कि ईशा के मृद्दु के निष्ठे हुए— हमारी कल्पनाएँ माणा, हमारी जीन हाती हैं। हमारे आत्मपात्र के अस्तरमाल ही हमारे मौन-काप और कर्म हैं (मेघ० १५ ४६—६) — “स वाक्य मे और कि प्रब्रह्मा करिष्यामा वेष्ट नोऽपमात्माऽये थोकः इस वृहत्यात्म्यकापिनिपद् के सन्वादविषयक वचन मे (१५ ४ २२) बहुत कुछ समानता है। स्वयं शास्त्र के ही इन वाक्यों से यह लिङ्ग होता है कि ऐन और बोद्ध चर्मों के सहज ईशार्द चर्म मी आरम्भ मे उत्त्वात्मप्रधान अर्थात् उत्तर का त्वाग देने का उपर्युक्त देनेवाल है, और ईशार्द चर्म के इतिहार का देखने से मी यही माल्हम होता है + कि ईशा के “स उपर्युक्तुमार ही पहुँच ईशा” चर्मोपदेशक वैराग्य से रहा फरते थे— ‘ईशा के मक्कों को द्रव्यतत्त्वम न करके रहना चाहिये (मेघ० १३-१६)। ईशार्द चर्मोपदेशकों मे तथा ईशा के मक्कों म शूद्ध्यचर्म से सचार मे रहने की ओर रोकि पार्वती चाती है वह बहुत मिली के यह रहनेवाले सुधारों का फल है— वह मूँड ईशार्द चर्म का स्वरूप नहीं है। बर्तमान उत्तर म मी श्रोमेनहर सरीने विश्वान् वही प्रतिपादित करते हैं कि उत्तर द्वारमप्य होने के कारण त्याव है और पहुँचे वह ब्रह्मवाया या चुका है कि ग्रीष्म देश मे प्राचीन काल मे वह प्रथम उपरिषत् इमा या कि तत्त्वविद्वार मे ही अपने धीक्षन को अवृद्ध भर देना भेद है या बोक्षहित के मिथ्ये राजकीय मामलों मे प्रयत्न करते रहना भेद है। सारांश वह है कि परिष्मी कोर्गों का यह कर्मस्याग पञ्च और इस क्षेत्रों का सुम्पात्माय कर अद्या मे एक ही है और इन मार्गों का समर्थन करने की यूनी और परिष्मी पद्धति मी एक ही सी है। परन्तु भाषुनिष्ठ परिष्मी परिष्मी परिष्मित कर्मस्याय की नियमा कमवैग की भवता के बीच बाल्य ब्रह्मवाले हैं जो गीता मे दिये गये प्राह्लिद मार्ग क प्रतिपादन के मिम हैं। इस लिये अब “न लोनों के भेद को मी यहाँ पर अवश्य कराना चाहिये। परिष्मी आधिमात्रिक क्षमवैगियों का रहना है +

यह तो उत्तरात्माविदा का इमरण ही क्य उपर्युक्त है। उत्तरार्द्ध का का तकाला उभय पुरुष वह काह व्यक्तिद ही है भूत भवयात् व “द्वृद्वचरित् (१ ५१) + वह ब्रह्म राता है जो द्वृढ़ उ पर्यात् वह ता कम रहा उपारा निष्पत्ति,

+ See P. whos Stories of f. lives (Eng trans.) Book I Chap 2 and 3 esp pp 89-97. The new (Christian) converts seemed to renounce their friends and all the gloomy and austere aspect, their abstinence of the common humours and plusteries of life, and their frequent predictions of impending calamities kept up the peasant with the apprehension of some danger such as wild beasts from the new sect. *Historical History of the World* V. 1. 111 p 118 अपने दृष्टि पर उत्तर फूल (बोक्ष) वायाव वायाव व रा फूल + There shall come. That is the eternal song which rings in the ear h in our bold bethong every boar is bountiful swipes to us (F. in P. 1. II 1193 1193) वह इसी चर्म के उत्तरात्माविद के रहना भवा भवा विव जा रहा है।

क्षम्याण होगा ! पह बात महाराज् निहास म प्रतिष्ठ है । गीता का सुन्न उपरेक्षा  
यह कल्पने का नहीं है कि समाजवारण के लिये ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये ।  
गीताव्याप्ति का काम्य यही है कि समाजवारण के लिये ऐसी भी हो उम्रम जो  
व्याधिसार कम तुग्हार हिम्म म पां बां उम्र नम्भाहपुकड़ करके सम्भवित्वपूर्णी  
आसमध्य की लिछि करो । “स तरह से काम्य मानवर गीता म बर्णित मित्रान्न  
पुरुष ये कम रिया करते हैं जो स्वाम्यन के ही लेकर क्षम्याणारक हुआ करते हैं ।  
गीताव्याप्तिप्रति इस क्षम्याण में आर पाभास्य आधिमातिक क्षम्याण में यह एक  
दिन भारी में है कि गीता में वर्णित विवरण के मन में यह अभिमाननुद्दित रहती  
ही नहीं कि मैं आसक्षम्याण अपन कर्मों के द्वाया करता हूँ विक टनक देहस्वमय ही  
में साम्यनुद्दित भा जानी है और जी में व लाग अपन समय की समाजवारण  
क्षम्याणारक हुआ करते हैं । आर, आधुनिक पाभास्य नीतिशास्त्रार सुधार का  
कुम्भ्य मानवर कहा करते हैं कि स सुधार में सुन्न की प्राप्ति के लिये सर सोगं  
बी लासक्ष्याण का काय करना चाहिये ।

कृष्ण भर्ती पाभास्य आधुनिक क्षम्याणी सुधार का सुन्नमय नहीं मानते ।  
योगेन्द्र के समान सुधार का कुम्भ्याण माननेकाे परिण भी कहा है गे यह  
प्रतिशादन बरते हैं कि पशाशुभि लाया के बाय का निशारण करना इनी पुस्ता का  
काम्य है । जन्मित्र सुधार का न लात्त एवं उनको ऐसा प्रयत्न करते होना चाहिये  
किंस लाया का दाय कम होता जाव । अब ला पर्खिनी इच्छा में कुर्यानिकारण्यनु  
क्षम्यागिया का एक क्षम्य पर्य ही हो गया है । “स पाय का गीता के कम  
व्याधिमान में बहुकृत साम्य है । जिस ल्यान पर महामारन में कहा गया है कि  
सुणारान्नर कृष्ण शीघ्रता नाव तथा भास्य - भास्य लक्षार में सुन्न की भवेष्या हुए  
ही अपित ही पर मनु ने इस्तानि ने तथा नारद ने द्युष में कहा है -

म जापपदिकं कृष्णमङ्क शाचित्तुमदनि ।

भद्राचन्यतिकृति पदि पाहपदुपक्षमम् ॥

“जो कुर्य लाक्षणित है जन्म जिये दोष करते होना अवित नहीं । उसस योना न  
रोगर उम्र प्रतिक्षाप (जन्मी पुरुषा का) कृष्ण उत्तम वाहना चाहिये (शा. ८८  
और ३३ १) । “सम प्रति होता है कि यह तत्त्व महामारनसार की भी मान्य  
है कि सुधार के काम्य होने वार में उम्रम तर मंगली का होनेकाे कुर्या की  
कम वर्णन का उत्तम पात्र होता है । परन्तु यह कृष्ण इस्तानि नाव नहीं है ।  
क्षम्यागित्र सुधार की नरसा भास्यनुद्दित्यमाने होनेकाे कुर्या की भवित्व मारन गृह्य  
इस गम्भीर्यन्तर्मार्य सुधा का दूषा भवुतद बरत एवं लेप कलम्य लम्भापर ही  
(क्षम्यों एवं गम्भीर गम्भीर गम्भीर) करने में न रसार, कि भै लोगा का कुर्या कम  
करना । भै लोगा (१२ व्यों का वरन का वर ग उत्तम द्विंश १२ व्योम की

ऐसीहिये महाभारत में ये सप्त रीति संकहा गया है, कि चानुवन्ध के बाहर जिन अनाय शास्त्र में ये अम प्रचलित हैं उन लोगों की भी रक्षा रक्ष्य का "न सामान्य कर्मों के अनुसार ही करनी चाहिये (शा. ६६ ३ - २२)। असात् गीता में यही गद नीति की उपरचि चानुवन्धशीर्षी किसी एक विशिष्ट समाक्षमवस्था पर अव संभित नहीं है, बिन्दु सबकामान्य आध्यात्मिक अन के आवार पर ही उक्ता प्रतिपादन किया गया है। गीता के नीतिवद का मुख्य तात्पर्य यही है कि ये कुछ करमकर्म शास्त्र प्राप्त हो उसे निष्काम और आस्मीपम्युद्दिते करना चाहिये; आर तब ऐसों के लोगों के लिये यह एक ही समान उपयोगी है। परन्तु यद्यपि आस्मीपम्युद्दित का भीर निष्कामकामाचरण का यह सामान्य नीतिवल्ल जिन कर्मों परे उपयोगी होता है, वे कम इस सार में प्रत्येक व्यक्ति को दिले ग्राप होते हैं। इसे करमन के लिये ही, उस समय में उपमुक्त होनेवाले उद्घात उडाहरण के नाते से यीदा में चानुवन्ध का उपयोग किया गया है; भीर साय साय गुणक्षमविमाग के अनुसार समाक्षमवस्था की सहेप में उपरचि भी करता है। परन्तु इस घट पर मैं यान देना चाहिये कि वह चानुवन्धकर्मवस्था ही कुछ गीता का मुख्य भाग नहीं है। गीता-शास्त्र का म्यापक विद्वान्त पही है कि यहि कही चानुवन्धकर्मवस्था प्रचलित न हो अथवा वह जिसी गिरी शा म हो तो वहीं भी तत्कालीन प्रचलित समाक्षमवस्था के अनुसार समाव के चारणपोषण के भी काम अपने हिस्ते म आ पह उन्हें बोक्षयन्ते के लिये ऐय और उसाह से उषा निष्कामकुद्दि से वर्तम्य समस्तर बरत यहाँ चाहिये। क्योंकि मनुष्य का कल्प उसी काम के लिये हुआ है न कि फेवल कुन्तोपमेये के लिये। कुछ छोग गीता के नीतिवद को भेवष चानुवन्धमुक्त समझते हैं ऐसिन उनकी यह समझ ठीक नहीं है। जाहे समाव दिनुआ का हो या खेल्यां का जाहे वह प्राचीन हो या अर्वाचीन जाहे वह पूर्ण हो या परिषमी। इसमें संनेह नहीं, कि यहि उस समाव म चानुवन्धकर्मवस्था प्रचलित हो तो उस भवस्था के अनुसार यो काम अपने हिस्ते में आ पहे अवधा दिए हम अपना स्वभव हो जाता है। भीर गीता कहती है कि किसी भी कारण से इस घम को देन गैरे पर छोड़ देना और वृत्ते कामो म स्व अना कर्म की उषा यज्ञवृत्तित भी हहि से निळनीय है। यही तात्पर्य सभमें निष्कन भेद परवमा भयावह (गीता ३ ३) इस गीतावाचन का है—अर्थात् स्वामपालन में यहि मृत्यु हो जाय तो वह मी भयस्तर है परन्तु वृत्ते का घम ममावह होता है। असी न्याय के अनुसार मात्रकरात् पेशवा का (किंहीने ब्राह्मण हाकर भी तत्कालीन देशकामनुरूप भाववद का स्वीकार किया या) रामधारी ने यह उपैश्य किया था कि स्वननाभया नार प्रसापान् म सारा समय म्यर्तीत न कर व्यवहर के अनुसार मजा की रक्षा करने म अफना सब समय रक्षा देने से ही तुम्हारा उमय शौक मे-

संसार के मनुष्यों का अयशा अविकाश स्त्रीओं का अधिक सुर - अपालू परिहक  
सुर - ही उस जगत् में परमस्थान्य है। अनण्ड सब शरण के सुर के लिये प्रथम  
करते हुए उन्हीं मनुष्य मध्ये वहा जाना ही मन्मह मनुष्य का कान्दा है। और  
इसी पुरि के द्वितीय उनमें से भविकाश परिषद् यह प्रतिषादन मी करते हैं, कि  
संसार में हुआ की अयशा सुर ही अधिक है। उच्च दृष्टि से इनमें पर यही कहना  
पढ़ता है कि परिषदी कम्पमार्गीय स्थग 'मुन्द्रासि' की आशा से सासारिक कम करने  
जाए हानि है भार परिषदी कम्पयागमार्गीय स्थग संसार से उन्हें हारे हैं  
सुषा कापिन् न्यी कारण से उनको कम्पमुखार आद्यात्मी और 'निराशाकारी'  
कहत है। परम्पुरा भावद्वयीता में जिन नियमों का बहन है, वे इनमें मिलते हैं।  
जाहे स्वयं अपने लिये हा या परोक्षार के लिये हा कुछ मी हा परम्पुरा द्वारा  
मनुष्य परिहक विद्यमुन्न पाने की शक्ति से संसार के कर्मों में प्रवृत्त होता है।  
उससे याम्युद्दिक्ष उभिति के द्वारा भवित्व दृष्टि में कुछ न-कुछ यह भवस्य ज्ञा जाता है।  
इसकिय गीता का यह उपरोक्ष है कि सुमारा कुम्भमय हा या मुम्भमय सासारिक  
कम ज्य जूते ही नहीं तब उनके मुख्यहुआप का विचार करते रहन त कुछ  
स्थान नहीं होगा। जाहे सुर हो वा हुआ। परम्पुरा मनुष्य का यही कर्त्तव्य है  
कि वह इस जाति में भवना महाद्वय समन्वेते, कि उत्ते नरद्वह प्राप्त हुए हैं और  
अप्सरिक के द्वारा भवित्वह भवद्वार में गे कुछ प्रणहारमुखार प्राप्त हा उन्हें  
अपने कल्पकरण का निरपेक्ष न करके इन न्याय अपाला साम्युद्दिक से बहता यह  
कि कुर्यात्प्रवृत्तिमना मुक्तु विनाल्पह (गीता ५१)। एवं अपने भविकारा  
मुखार दो कुछ कम घास्ता अपने हिम्म में भा पड़े यम बीक्षनपन्न (विष्णु के  
द्वितीय वर्षी विन्दु उपर के घारणपोषण के लिये) निष्कामकुद्दि से करता रहे। गीता  
क्षय में आद्यात्म्यायवस्था जारी थी। इर्षीषित दशम्प्रया गया है कि ये कामाद्विक  
कम यानुवर्त्य के विद्यमार के भवुकार हरणक के हिम्म में भा पड़न हैं और भवद्वहे  
अप्याय में यह भी यास्तवा गया है कि ये कर्त्ता गुणवत्तमप्रियमार न निराप्त हानि है  
(गीता ८८-८९-८४)। परम्पुरा इतने रिक्ती का यह न बमात सेना जाहिये कि गीता  
के नीतित्व आद्यात्म्यपी नमात्मयवस्था पर ही क्षरमित्व है। यह जाति महा  
म्भरतसर की भी यास्तवा में यानुवर्त्य भा कुरी थी कि भवित्वार्ती नीतिपर्मों की व्याप्ति  
के द्वारा यानुवर्त्य के हिम्म ही नहीं हैं एक्षक्ति से यम मन्त्रभास्त्रार के लिये दृष्ट लम्भन है।

ज्ञान समूह (Knowledge Group) वे लोग होते हैं कि उनमें से एक ज्ञान समूह वह है जो इसमें ज्ञानीय विषयों पर अधिक ज्ञान विद्या वाले होते हैं। इसमें ज्ञानीय विषयों पर अधिक ज्ञान विद्या वाले होते हैं। इसमें ज्ञानीय विषयों पर अधिक ज्ञान विद्या वाले होते हैं। इसमें ज्ञानीय विषयों पर अधिक ज्ञान विद्या वाले होते हैं।

करकरी करने के सिवे तुग्रनिवारणेच्छु परिषदी कर्मयोग में मी अभी तुक्तुष्टु  
सुसार होना चाहिये। प्राथं सभी पार्थिवात्य परिषदा के मन में यह चारु उम्मारे  
रहती है, कि स्वयं अपना या सब स्वेग का साक्षात्कृत तुग्र ही मनुष्य का इह  
उसार में परमसाध्य है – जाहे वह तुग्र के साक्षना की अधिक करने से मिले या  
दुर्योग की कम करने से। इसी कारण से उनके शास्त्र में गीता के निष्कामकमयोग  
का यह उपरोक्त कहा भी नहीं पाया जाता कि पर्याप्त सुलार तुग्रमय है तथा वि  
उसे अपरिहाय समझार केवल स्वेक्षणप्राप्त के लिये ही सुलार में कम करते रहना  
चाहिये। इनी कर्मयोगी हैं तो सही परन्तु शुद्ध नीति की दृष्टि से ऐसे पर उन्होंने  
परी भेद मालम होता है, कि पार्थात्य कर्मयोगी मुमेच्छु या तुग्रनिवारणेच्छु होते  
हैं – तुक्तु भी तहा बाध परन्तु वे 'रूपकुर' अपात् तकाम अपन्न ही हैं। और  
गीता के कर्मयोगी इसेहा पस्तादा का स्वाग करनेवाले अपात् निष्क्रम हात हैं। इसी  
बात को पढ़ि तूरं शास्त्र में ख्याल है, तो पह कहा या सकता है कि गीता का  
कर्मयोग सात्त्विक है और पार्थात्य कर्मयोग राक्षस है (गीता १८ २१, २५)।

इसमें करुण उमात कर परमेश्वराप्रपञ्चुदि से सप क्षमों का करते रहने का  
और उसके द्वारा परमेश्वर के यज्ञ का उपालना का मूल्यवन्त चारी राज्य का ये  
यह गीताप्रतिशासित शनयुक्त प्राणिमाण का कर्मयोग है उसे 'मारवतपर्व' कहते  
हैं। ये यज्ञ कर्मयोगिता सतिदि उमान नर (गीता १८ ४) – यही इस  
माण का रहस्य है। महाभारत के करुणवं में ब्राह्मण एवं वृक्षाणा (बन २८) में  
भार शान्तिपर्व में तुम्हारा जाती-संज्ञा (एल ७३) में इसी यम का निष्पत्त  
किया जाता है; और मनुस्मृति (१ ९ ७) में भी यतिष्ठम का निष्पत्त करने  
के अनन्तर इनी माण का ब्रह्मन्यासिर्या का कर्मयोग यह कर दिति तथा सीतानायक  
कालाया है। ब्रह्मन्यासिर्य पठ भ भार वड की नटिकाभी तथा ब्राह्मणप्रभी में  
संघ वर्णन है उनमें यही भिन्न होता है कि यह माण हमारे भ अनादिकाल से  
ज्ञान भा रहा है। पठि इन्होंने तो यह देख इतना बद्यवासी कमी रभा  
मही देखा क्याहि पठ जा प्रवृ ही है कि किमी भी इन के बद्यवास होने के  
लिये बही क जा या चीर पुरुष कम्माम के ही भगुआ तुपा करत है। हमारे  
कर्मयोग का मुख्य तात्पर्य यही है कि जाह का या चीर पुरुष भड ही हो; परन्तु  
उन्ही ब्रह्मन्यन का न छाट उनक नाथ ही नाथ कारण को गिर रहा जादिये।  
भार यह पठन ही दार्शना भ पूरा है कि इसी धीर्घ्य ग व वा एवं विष्ट  
दिनन वर्ष भीज्ञान ने इन जाग का भवित दीर्घरम और यतार किया था।  
इनी वे इस प्रार्थन माण का ही भोगे पठ कर जगदापम नाम पठ द्वारा।  
सिरीज का। म ए नेता त त यही धन द्वारा है कि कमी न कमी तुक्तु यही  
पुरुषा मन का ज्ञान वहन ही म ज्ञानात न यात्मण भी भार रहा वर्ता या  
भवता वम मे बन द्वारा भवता द्वारा या कि पठ तद्यापम ने इव वर मनि

कम्याग हासा !’ यह चाल महायदु इतिहास म प्रविष्ट है। गीता का सुराय उपरोक्त पहले कल्पने का नहीं है कि समाजवारणा के विषय केवली व्यवस्था हासी चाहिये। गीतावास्त्र का लाल्य यही है कि समाजव्यवस्था चाहे किंतु भी हो उसमें जो व्यवसिताएँ कम बुझार हिंसा में पाय जाय उन्हें उन्हाहपुष्कर करके व्यवस्थावितरणीयी आखमध्य की गिरिं करा। “य वरह से कल्पना मानव गीता में वर्णित व्यवस्था पुरुष जो कम चिना करते हैं वे व्यवस्था ही अवश्यकागारक हुआ करते हैं। गीताप्रतिपादित इस कम्याग म आर पाधार्य भावितौरिक कम्याग में यह एक वर्ण योगी भी है कि गीता म वर्णित व्यवस्था के मन में यह अभिमानबुद्धि रहती ही नहीं कि मध्यकम्याग अपने कर्मों के द्वारा करता है विस्त उनके देहस्वभाव ही में लाप्यगिरि का रहता है और जी भी जो व्यवस्था अपने समय की व्यवस्थावितरणीयी अनुसार अप्य व्यवस्था अपने कर जो जो कम किंवा करते हैं वे सब व्यवस्थाएँ क्षेत्रकम्यागागारक हुआ करते हैं आर आवृन्दिक पाधार्य नीतिशास्त्रार मानव को सुराय व्यवस्था मानव कहा जाते हैं कि ज्ञ लम्हार में सुर की ग्रामि के विषय सब भैरवों व्यवस्थावितरण का काय करना चाहिये।

कुछ वर्षों पाधार्य आवृन्दिक कम्यागी समार का सुराय नहीं मानत। शोफनहर के व्यवस्था मानव का दुर्घट्यागार मानवेवासे परिवर्तन की वहाँ है गी यह प्रतिपादन व्यतीत है कि पदार्थकिं व्यागी के दुर्घट्य का विवारण करना जीनी पुरुषों का व्यवस्था है। अस्तित्व समार का न लाल्य इष्ट अन्तरा एका प्रथम्य करते रहना चाहिये विक्रम व्यवस्था का लाल्य कम हासा जाते। अब तो पर्विनी लेखा में उच्चनिवारणपूर्व कम्यागियों का एक अस्त्रा पर्य ही हो गया है। “स पाय का गीता के कम व्यवस्थाग में वास्तुकुछ लाल्य है। किंतु व्याज पर महामारण में छहा गया है ति सुकाद्वार दुर्घट्य गीतिनाल विश्वाय - अपान लक्षार में सुर की अपेक्षा दुर्घट्य ही अविहृत है वही पर मनु ने इहस्तिति ते तथा नारात न शुक में कहा है -

न जातपदिक दुर्घट्यमङ्क शावित्रुमर्हति ।

अन्तर्व्यवस्थितिवृत्ति यदि पर्यवृपदमस्त ॥

जो लाल्य वाक्यनिः है उसके विषय शोक करने रहना उचित नहीं। लम्हा योना न ऐसेर उपर प्रतिवाराय (जीनी पुरुषों के) कुछ उपाय करना चाहिये (श.० ६०६ और ३३ )। “सुप्र प्रत्य होता है कि वह लाल्य महामारणार की मी लाल्य है कि समार के लाल्य होने पर भी उन्हें नव व्यगी का होनेवाले कुछ की कम करने का चेतोग पक्षुर करने हैं। परम् यह कुछ इमारा विदाल्य-पक्ष नहीं है। कालार्थक लुक्ता की भास्त्रा भास्त्रुदिप्रसाद के इन्द्रावाने दुर्घट्य की अविहृत महाल हैर, इस व्यवस्थावितरणीयी दुर्घट्य का पूरा अनुसार अपने इष्ट करके लाल्य समाजवार ही (क्षर्वन एवं गाल अभिमानबुद्धि भूमि में न रक्षय), कि मे व्यवस्था का दुर्घट्य कम कैस्या ) लाल्यवाहारिक व्यों का अन वा उपराय लम्हाव गीता है व्यवस्था की

हुँ न होती तो उसमें सन्तेह है कि आचार का उन्यासप्रधान मत उठना अचिक्षे  
फलन पाता या नहीं। ज्ञा ने कहा है तबी, कि 'यदि कोइ पक गाल में यज्ञह  
मार' तो दूसरे गाल का भी उसक सामन कर दो (सूक्ष ६ २१)। परन्तु यदि  
पिचार किया जाय कि "स मत क अनुयायी सूराप के इच्छा" राष्ट्रों में कितने हैं तो  
मही शीघ्र पाइगा कि किसी भारत के प्रचलित होने के किये केवल "उठना ही उस नहीं है  
कि कोइ घमोपदेशक उसे अस्ती फह दें बल्कि ऐसा होने के किये - अथवा शायी क  
मन का एकाव उभर होने दिय - उस उपदेश के पास ही कुछ समझ कारण उसमें  
हो जाया करते हैं आर तब फिर लोकाचार में भी और परिवर्तन होकर उसी के  
अनुषार घमनियमों में भी परिवर्तन होने लगता है। आचार अम का मूल है? -  
"स स्मृतिवचन का तात्पर्य भी यही है। गत शताब्दी में शोपेनहर ने घमनी म  
उन्यासमार्ग का सम्पन्न किया था। परन्तु उसका कोया हुआ बीच वहाँ अब ठड़  
अच्छी तरह से अपने नहीं पाया और "स समय तो निरूपण के ही मता की वहाँ  
भूम सभी हुँ हैं। हमारे यहाँ भी ऐसे से यही मात्रम होगा कि संन्यासमार्ग  
भीष्मराचार्य के पहल अथवा वैदिकवाक में ही यथापि आरी हो गया था तो ये  
वह उस समय कर्मयोग से क्षागे अपना कथा नहीं कहा उका था। स्मृतिवचन म  
अन्त में सम्याच खेतों का कहा गया है यही; परन्तु उसमें भी पूर्वाभ्यासों के कर्त्तव्य  
पास्त का उपर्युक्त किया ही गया है। भीष्मराचार्य के ग्रन्थ का मतिपाद विपद्ध  
क्षेत्रन्यास-पद्य मठे ही हों परन्तु स्वय उनके बीवन्त्वरित से ही यह बहुत सिद्ध  
होती है कि हानी पुरुषों का उका सम्याचिका को घमस्तस्यापना के समान स्मृतप्रह  
के नाम यथापिकार करने के लिये उनकी भार से कुछ मनाही नहीं थी (वे ख. शा.  
मा ३ ३ १५)। सम्यासमार्ग की ग्रदस्ता का कारण यदि शाहीराचार्य का स्मार्त  
सम्प्राणय ही होता तो आकुनिक मात्राक्षतस्यप्रदाय के रामानुजाचार्य अपने गीताभ्यास  
में शाहीराचार्य की ही नाम कर्मयोग को गाऊ नहीं मानते। परन्तु यो कर्मयोग एकमार  
तरीके से आरी था वह अब कि मात्राक्षतस्यप्राणय में भी निरूपितवान मर्कि से पौर्ण  
रूप किया गया है तब तो यही कहना पड़ता है कि उसक पिछल बने के लिये कुछ  
पौर्ण कारण अवश्य उपस्थित हुए हांगे थे तभी सम्प्राणय को अथवा उसे देख को पक  
ही समान व्यग्र हो उक। हमारे मतानुषार इनमें से पहला और प्रधान कारण ऐसा एक  
व द भमों का उत्तम तथा प्रचार है। क्योंकि "नहीं वहाँ घमों ने घारों कमों के किये  
उन्यासमार्ग का उत्तम दोष तिका था आर उचीक्ष्य अनियतर्याम में भी उम्माप  
घमों का किंतु उत्तम होने लगा था। परन्तु यथापि आरम्भ में कुछ ने कर्मरहित  
उन्यासमार्ग का ही उपर्युक्त किया था तथापि गीता के कर्मयोगानुसार बौद्धम में द्वीप  
ही पह मुकार किया गया कि शौड़ वसिया का अदेशे बहुत में व्य कर पक होने भे  
नहीं पैरे रहना आहिय वैदिक उनको घमप्रधार तथा परोपकार के अन्य काम करने  
के किय सर्व प्रयत्न करते रहना आहिये ( इत्यो परिधिष्ठ प्रकरण )। "तिहास प्रम्भों

मैं सन्यास सेने की कुद्रि मन में बालु हुआ करती थी — जिर प्याहे ऐ अग सचमुच सन्यास से था न क्षे। इस लिये यह भी नहीं कहा जा सकता कि सन्यासमाग नष्ट है। परन्तु स्वमातृविम्यानि कारणों से ये दोना माग यथापि हमारे यहाँ प्राचीन काल से ही प्रचलित हैं। तथापि उस बात की सत्यता में कोई शङ्खा नहीं कि वैदिक काल में सीमासंख्य के क्षमयोग की ही लोगों में विशेष प्रस्तुता थी और वैरक्ष-पाण्डवों के समय में तो क्षमयोग ने सन्यासमाग को पीछे हटा दिया था। कारण यह है, कि हमारे क्षमयोगकारी ने साफ कह दिया है कि वैरक्ष-पाण्डवों के काल के अन्तर भयान्त्र क्षियुग में सन्यासभम निपिछ है। और यह कि अग्रधार्म भास्त्राप्रभवो थमः (म.मा अनु १४ २३३ मा ११८) “स वक्तन के अनुसार प्रायः मात्चार ही का अनुबाद हुआ करता है तब तब ही सिद्ध होता है कि अग्रधार्मकारी के उक्त निषेज करने के पहले ही स्वेच्छार में सन्यासमीग गौण हो गया होगा।” परन्तु इत्य प्रकार यह क्षमयोग की पहले प्रवलवा थी और भावित अग्रधियुग में सन्यासभम को निपिछ मानने तक नौकर पाँच तुम्हीं थीं तो अब यहाँ पहाँ त्वाम्यविक यहाँ होती है कि इस तेजी से उठे हुए अन्युक्त क्षमयोग के न्हात अ तथा बत्तमन उमय के मर्किमाग में भी सन्यासपश्च की ही ओड़ माने जाने का अप्रण क्षय है कि यह परिवर्तन अभिमानप्रद्युम्नाचाय के द्वारा हुआ। परन्तु “मिहारु का देवने से उस उपपत्ति में सत्यता नहीं हीय पढ़ती। पहले प्रवलव में हम कह आये हैं कि भीश्माराचाय के सव्याचाय के दो विमाय हैं—(१) मायाकाग्रामक भैरव श्वन और (२) कर्मसन्याचायभम। अब यथापि भैरव-ज्ञानशन के साथ ताप सन्यासभम का भी प्रतिपादन उपनिषद्दी में लिखा गया है तो भी इन दोनों का कोई नित्यसंख्य नहीं है। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि भैरव-ज्ञानशन को स्वीकार करने पर उन्यासमाग को भी अवश्य स्वीकार रखा ही पाहिये। उत्ताराचाय याक्षसमय प्रश्नति से भैरव-ज्ञानशन की पूरी विद्या पाये हुए उक्त भावित स्वयं क्षमयोगी थे। पहाँ दूरी वैदिक उपनिषद्दा का भैरव-ज्ञानशन ही गीता का प्रतिपाद्य लियम होने पर भी गीता में उसी बान के आधार में सन्यास के उक्ते क्षमयोग का ही सम्पन्न लिखा गया है। उसलिये पहले “स द्वात पर ज्यान देना पाहिये कि शाङ्करसम्प्राद उपर उन्यासभम की उपेक्षन देने का ये आभ्य लिया जाता है वह उस उप्रकाश के भैरव श्वन की उपमुक्त न हो कर उक्ते अन्तर्गत केवल सन्यासभम को ही उपयोगी हो सकता है। तथापि भीश्माराचाय ने इत्य सन्यासमाग को नये लिरे से नहीं उच्चाचा है; तथापि क्षियुग में निपिछ या वर्तित माने जाने के कारण उक्तमें भी गीता वा ग्रन्थ भी उपर उन्हाँने अवश्य दूर किया है। परन्तु यहि इसके मी पहले अन्य कारणों से लोगों में सन्यासभम की आह-

अपहाय निजे कर्म कृप्य कृप्येति वाहिनः ।  
त हरेऽपिनः पापा पर्मार्थं जग्म पद्धते ॥०

अर्थात् अपने (स्वभूमोक) कर्मों को छोड़ (केक्ष) कृप्य कृप्य कहते रहनेवाले भी गहरी कैदेपी भीर पापी हैं। क्योंकि व्यम हरि का कर्म भी तो उस की रुपा करने के लिये ही होता है। सब पूछे तो मेरे लोग न तो सन्यासनिष्ठ हैं और न कलमयोगी। क्योंकि ये लाग संन्यासियों के समान श्यन भधवा तीन वैराग्य से उन उत्तारिक कर्मों को नहीं छोड़ते हैं भीर उत्तार मेरह कर मी कर्मनोग के अनुसार अपने हिस्से के शास्त्रात् कर्तव्य का पालन निष्पामकुदि से नहीं करते। अहलिये इन वाहिक संन्यासियों की गणना एक निराशी ही दृश्य निष्प मे हानी वाहिये खिलका वर्णन गीता म नहीं किया गया है। चाहे निसी मी कारण से हा बन स्त्रेय इस तरह से दृश्य प्रहस्ति के कल जाते हैं, तब भागिर भर्म का भी नाश दुष्ट किना नहीं रह सकता। इरान दैश से पारसी भर्म के इटाय उन्ने के लिये मी ऐसी ही त्रिप्ति कारण हुर थी और इसी से हिन्दुस्थान मे मी वैतिक भर्म के समूह च किनस्ति हैने का उमय आ गया था। परन्तु वैद्यकर्म के नहात के द्वारा वेदान्त के साथ ही गीता के मायकर्तव्य का जो पुनर्वस्त्रीकर होने आया था उसके कारण हमारे यहाँ यह दुष्परिणाम नहीं हो सका। यह कि दैवतावाह का हिन्दु उमय मुख्यमानों ने नष्ट द्वारा नहीं किया गया था उसके कुछ कर पूछ ही भीरनेकर महायज्ञ ने हमार सौभाग्य से मायकर्तव्य का मरानी माया मे अद्वैत कर ब्रह्मकिंवा को महायज्ञ प्राप्ति मे अति सुगम कर किया था और हिन्दुस्थान के अन्य मान्यो मे मी नई समव अनेक सामुदार्यों ने गीता के भक्तिमार्ग द्वारा उपेष्ठ उठी कर रख था। यक्ष ब्राह्मण चार्यात्मक दृस्याकिंवा को एक समान और शान्तमूर्ख गीता भर्म का आव्यस्य उपेष्ठ - चाहे वह वैराग्यमुक्त भक्ति के रूप मे ही क्या न हो - एक ही नमय चारा और लगातार चारी था इसकिये हिन्दुभर्म का पूरा चारु होने का फोर्म मय नहीं रहा। इतना ही नहीं वस्त्रि उसका कुछ कुछ प्रमुख मुख्यमानी भर्म पर मी चम्पो आया। भीर ऐसे भक्त चैत्र दैश ही समुदायमानी मे मान्य हो गये और औरहेत्र के द्वारा मार घाहाकरा चारा ने इसी समय अपनी दैवतेक मै उपनिषदों का फारसी मे मायान्तर कराया। यहि वैतिक भक्तिमार्ग भज्यात्मकान की ओह फैल तानिक आया के ही मायार पर स्थानित हुआ होता वो चैत्र चार का उत्तेज ह जि उसमें वह विस्त्रय उपमय यह उक्ता या नहीं। परन्तु मायकर्तव्य का यह भावुकिक पुनर्वस्त्रीकर मुख्यमानों के ही आमाने मे हुआ है। अतपि यह मी अनेकात्मो मे फैल मरिदिपपक अवात् पक्षेश्चीय हो गया है। और यूप मायकर्तव्यम्

भर्म के छाँ द्वारा विन्दुप्राप्ति म पर छोड़ हमें ली गया। परन्तु उसका उत्तार कम्लान्तर तरीते अस्त्राविक ब्रह्मकार ने किया हे उठते वह विराहक वी भी भी बहा जा उक्ता।

संयह बात प्रमत्त है कि "सी मुगार क कारण उत्तोगी श्रीदधर्मीय गति शांगा के संघ उत्तर में तिक्ष्ण, पृथि में व्रजसंश चीन और चापान, अधिष्ठ म छड़ा आर एविम म तुर्किश्पान तथा उत्तर से लग इए प्रीम न्यारि मुराप के मान्तो छक एवं पर्वतों थे। शास्त्रियाहन शक के समाज एवं सात सी वर्ष पहले जैन और श्रीदधर्मीय के प्रवतका का इस इुआ या भीर श्रीदधर्माय का इस शास्त्रियाहन शक के छ. सा वर्ष भवनत्तर इुआ। न्यम जीव म श्रीदधर्मीय के सद्वो का अपृथि विमल संघ सोग अपनी धौंपत्री के सामने दग रहे थे। न्यसी सिंप यतिष्ठम के विषय में उन लोगों में एक प्रकार की चाह तथा भारतुद्धि श्रीदधर्माय के पहले के पहले ही उत्तर सुनी थी। श्रीदधर्माय ने यद्यपि जैन और श्रीदधर्मीय का व्याख्यन किया है तथापि यतिष्ठम के बारे में लोगों में वा आश्रुद्धि उत्तर सुनी थी। इसका उन्होंने नाश नहीं किया। किन्तु उभी का विभिन्न स्पष्ट है कि यिह आर श्रीदधर्मीय के सम्पादन करने के लिये उन्होंने उत्तर से ग्रन्थलघुष्ठ विभिन्न सम्यासी तथार किये। ये सन्यासी व्रजदधर्मीय न रहते थे आर सन्यासी का उत्तर तथा गोदधा दम्भ मी भारण बरन थे परन्तु अपन गुड के समान इन लोगों न भी विक्षम की स्थापना का काम लोग गर्हि रखा था। यति उत्तर की "न न जटी (विभिन्न सम्पादियों के मत) का यह उस समय भवनक लगा क मन मै श्रावा होने लगी थी कि शाद्रुरमन म भार श्रीदधर्मीय मै पर्यु उच्च भवतर है तो क्या है। और प्रसार होता है कि प्रायः इसी श्रावा का दूर बरन के लिय छान्नायोपनिषद् के मात्र मै नामाय न लिया है कि श्रीदधर्मीय भी नाम्य यतिष्ठम दानों वद्याय तथा ग्राम है। एवं हमारा सन्यासियम ऐत के जायार थे प्रहू लिया गया है "सुन्यिय यही सुया है (अ शा.मा. १ ८३ ३)। जहां है यह निर्विद्वाऽनिष्ट है कि वस्त्रियग म पहल पहल इन भीर श्रीदधर्मीयों न ही यतिष्ठम का प्रसार किया था। परन्तु श्रीदधर्मीयों न मी घमप्रमार तथा श्रावनप्रह के विषय भाग श्रावन उत्तरुक्ष्य करना गुरु बर दिया था। भीर इन्द्रियान म मात्रम होता है कि "न न द्वान इति श्रीदधर्मानाय ने इ विभिन्न परिकल्पन दियार विषय थ उन्होंने जी बम का विकुल न स्थाप बर भवन उत्तर से ही विभिन्न स्म की द्वार से स्थापना की। भवनत्तर श्रीप्रह ही इन ए पर मनस्मानों की चालद्यों होने रही भीर इस परिकल्पन के पराक्रम पृष्ठ रखा भवनत्तरे तथा "या क पारणयात्रा बरनबाल लविय राजा तो की कल्पदण्डि की नृत्यस्माना के इमाले म द्वाम होन राजा तृष्ण लविय भीर कपयार मै स न यात्रा मिया ही तत्त्व एवं लालों की भविष्यति इति होन राजा देवा वर्णिय राम राम देवा एवं गुरु ६ रहने का एवं श्रीव भाग प्रार्थीन गमन भ म ही। तृष्ण राजा श्री द्वार म भवन लमां राजा या भाग भ ता तक्षर्णीन एवं वर्णिय त के लिय एवं श्री भाग विन्दुर्ग एवं १ राजा या इन्द्र दृष्ट यह लियी नहीं थी। वर्णिय इन्द्रम १ म १० एवं विन्दुर्ग ५ म १० एवं विन्दुर्ग ५ म १० एवं भी यही सम्म होता है -

सिव "त स्यक म मी हमारा आचरण मुझ ही होना चाहिये । वे साग गीता के कल्पनालुगार यही मानते थे कि पारखीकिं तथा सासारिं कल्प्याण की जड़ भी एक ही है । परन्तु आधिकारिक शान का प्रभार होने पर आकृष्ट परिक्षी देवीं में यह भारणा स्त्रिय न रह सकी और उस जात का विचार होने आया ति माइक्समर्टिव नीति की - अवान् द्विन नियमा से बाल् का भारणपोषण दुना करता है उन नियमा की - उपरिक्त अन्यथा यह सकती है या नहीं और फलता ऐसा आधि भौतिक अभान् इत्य या अन्यक आधार पर ही समाजभारणाद्याम् की रचना होने लगी है । इस पर ग्रन्थ होता है कि अन्यस्त स्वरूप से ही मनुष्य का निवाह कैसे हो सकेगा ? येह मनुष्य इत्यादि आदिवाचक शब्दों से मी तो अन्यक अप ही प्रकृत होता है न । भास का पेड़ या गुम्फाव इव पेड़ एक विद्युत इत्यवलु है यही परन्तु पि" सामान्य शब्द विसी मी इस्तम अपवा अन्यक बलु को नहीं दिएव्य उकता । "ती तरह हमारा सब अववहार हो रहा है । "सुसे यही लिङ् होता है कि मन में अन्यस्तसम्बन्धी कल्पना की जागृति के लिये पहले बुद्धन तुछ अन्यक बलु औरों के सामने अवन्य होनी चाहिये । परन्तु ऐसे मी निवाय ही जानना चाहिये कि अन्यक ही तुछ अन्तिम अवस्था नहीं है और मिना अन्यक का आभ्यर्प स्थिरे न तो हम एक कठम आगे का सकते हैं और न एक बाक्य ही पुरा कर सकते हैं । देखी नवरवा म अन्यामाद्विति से सर्वभूतात्मैक्यरूप परमाणु की अन्यक कल्पना की नीतिधारक का आधार यहि न गाने तो भी उसके स्थान में तब मानववाति औ - अर्थात् भौतिक से न विभेदाद्वी भवतएव अन्यक बलु को - ही अन्त मै देवता के समान पुक्तीय मानना पड़ता है । आधिकारिक परिषदों का नियन है कि तर्व मानववाति मै पुरुष की उपा मविष्यत् की पीटिया का समावेष कर देने से अमूल्यव विषयक मनुष्य की स्वामानिक प्रत्युति को सन्तुष्ट हो जाना चाहिये । और अब तो ग्राम्य वे सभी सब्द हुज्य से यही उपोष्य करने आ गये ह कि "स ( मानववाति- अपि ) वदे देवता की अंगुर्वेष अन्यत्यमात्र से उपानना करना उसकी तत्वा मै अपनी समस्त आमु को दिला देना उपा उसके लिय अपने सब स्वायों को तिस्मक्कम्भी देना ही अन्यक मनुष्य इव त स्यार म परम करुम्य है । फैल्य परिषद औष्ट द्वारा ग्राम्य पाइतु धर्म का सार पही है और इसी धर्म को अपने ग्रन्थ म उचने सकू मानव- अविष्वर्म या उपेष म मानववर्म पहा है । ० आमुनिक चमन परिषद निदेश का भी यही हाल है । उसने तो स्पष्ट शब्दों मै कह दिया है कि उज्जीवनी तरी

इस न अपन रम म Relig on of Humanity नाम रखा है । उसका विस्तृत विवरण इन्द्रिय A System of Positive Polity ( Eng trans in four Vols ) नामक इन्द्रिय म किया गया है । इन इन्द्रिय म हम जान की उचम चर्चा की जरूर है कि केवल चार्चा स्वामिक दृष्टि की भी हमारजात्यक विषय ताह की जा नहीं दें ।

के कृष्णयोग का द्वे स्वतन्त्र महस्त एक बार पर गया था, वह उसे पिर ग्रास नहीं हुआ। परम्परा इस समय के मध्यगतवर्षमीय सन्तानों परिवर्त भीर आचार्य स्वेग भी यह पहने ले कि कृष्णयोग महिमाग्रदान का अहं या साक्षण है। उस समय म प्रबन्धित ऐसे सदस्याधारण मत या समस्त के द्विष्ट केवल भीसमय रामशासनामी न अपने 'असांख्य ग्रन्थ' म विवेचन किया है। कृष्णयोग के द्वये भीर वास्तविक महस्त का वर्णन शुद्ध तथा ग्राहान्विक मरणी मापा में भिन्ने हैं। उसे समझहने 'मु ग्रन्थ' को— भवस्य पर लेना पाहिये। ० द्विवारी महाराज को भीसमय रामशासनामी ए ही उपरेक्षा मिला था और मरणी के अपाने में वह कृष्णयोग के तत्त्वों का सुन स्पने तथा उनके प्रचार करने की आवश्यकता मात्र हाने लगी। वह शारिहस्यमूर्ती तथा ब्रह्ममन्त्रमात्र्य के कठोर महामारत का गण्यारमक म्यापास्तुर हाने सका, एवं 'अम नामक ऐतिहासिक लेना' के रूप में उसका अध्ययन शुरू हो गया। ये मायनार वजार के पुस्तकालय म भाव तक रहे हुए हैं। यदि यही कायन्म एवं उन समय तक भवाभिन रीनि से अख्यात रहता तो गीता की सब एकपरीष और सतुरित धीराओं का महस्त भट रहता और काल्पनान के अनुकार एक बार पिर भी यह बात मुख खागड़े के घ्यान में भा रहती कि महामारत की सारी नीति का कार गीताप्रतिपादित कृष्णयोग में कह दिया गया है। परम्परा हमारे कुम्भमय से कृष्णयोग का यह पुनर्वर्तीवन वर्त द्विंदी तक नहीं टार सका।

हिन्दुस्थान के शास्त्रीय इतिहास का विवेचन करने का यह ग्यान नहीं है। कठोर क लक्षित विवेचन से पाठ्यों को मास्तम हो गया हांगा जि शीतापम में उन एक प्रश्नों की क्षमीतवा टेक या सामर्थ्य है वह सुख्यातपम के उन अकादम से भी किन्तु उन्हें नहीं होने वाला जि वे मध्यकाल में विवेचन हो गया है। शीतापम में यह स्वरूप चुक्के हैं कि वर्ष इष्ट का वाक्य 'पारणापम' ह और प्राप्तमान्यता: उमद्ध ये दो भेद इसते ह - एक 'पारलौरिक' भार दूसरा 'स्यावद्वारिक' भव्यता 'भाषापम भीर 'नीतिपम। वाइ ऐक्ष वर्ष का शीतिय; वीउपन ए शीतिये भव्यता इतार घम का शीतिये त्रिव का मुख्य हेतु यही ह जि उन्ह का वारण-वारण हा; और मनुष्य का अस्त में सहजनि भिये। इन्हाँतिये प्रवेष्ट घम में मौरापम का भाष ही लाख स्यावद्वारिक घम-भव्यता का भी विवेचन वादावल्ल विया गया है। यही नहीं दक्षिण पहा तक वहा ज नहका है कि प्राचीन वास में यह भेद ही नहीं विया जाता था जि मंभापम भौर व्यावद्वारिक घम जिप्र नित्र है। क्षेत्रमि उन तन्मय तत्त्वभूमि की परमार्थ में नहुति भिअ दें

के शान से सब बातों का निषेद्ध नहीं हो सकता। इच्छिये रपेन्तर सरीये उल्लङ्घन्ति वारी मैं साहस्राया स्वीकार करते हैं कि नामस्मारक दृष्ट्युद्दिष्टि की ओर में कुछ अव्यक्त तत्त्व अवश्य ही होगा। परन्तु उनका यह कहना है कि इह नित्यतत्त्व के स्वरूप को समझ लेना उम्मत नहीं है। इसलिये इसके आधार से जिसी मौजूदा की उपपत्ति नहीं करार्द्ध वा सकती। कर्मन तत्त्ववेत्ता कान्त भी अव्यक्तस्मृतितत्त्व भी अडेवता ज्ञे स्वीकार करता है। तथापि उच्चार यह मत है, कि नीतिशास्त्र की उपपत्ति इसी अवश्य तत्त्व के आधार पर करार्द्ध जानी चाहिये। योगेन्द्रिय इष्टे मैं आगे कान्त प्रतिपादन करता है, कि वह अवश्य तत्त्व वास्तुनास्त्रस्मी है। और नीतिशास्त्र सम्बन्धी अन्येव ग्रन्थाद्वारा प्रीन का मत है, कि पहीं स्मृतितत्त्व आलमा के रूप में अद्यता मनुष्य के ध्यान में पादुर्वै रुद्धा है। गीता तो स्वयं रीति से कहती है कि मैं वायो चीत्येके वीचमृता लेनारुन। हमारे उपनिषद्भारती का यही सिद्धान्त है कि ज्ञान का आधारभूत वह अव्यक्ततत्त्व नित्य है एक है, त्वरत है आत्मरूपी है—कस; उससे अधिक इसके कियदृश मैं और कुछ नहीं कहा वा सकता। और इस बात से सन्देह है कि उच्च उद्दास्ति से भी आगे मानवी ज्ञान की रीति कमी कटेगी या नहीं। क्योंकि ज्ञान का आधारभूत अव्यक्ततत्त्व इतिहास से भगवान् अर्थात् निर्गुण है। उच्छिये उत्तमा वर्णन गुण वस्तु, या किया विज्ञानेवाले कियी मौजूद से नहीं हो सकता और इसीलिये उत्ते 'अवैय' कहते हैं। परन्तु अव्यक्त-स्मृतितत्त्व वा यह ज्ञान हमें हृत्या करता है वह यथापि शम्भौ से अधिक न मौजूद ज्ञानवा वा लक्षण, और उसकिये भैरवे मैं यथापि वह अस्त्रसा दौर पदे, तथापि वही मानवी ज्ञन का तर्बस्त है; और इसीलिये जैकिन नीतिमत्त्व की उपपत्ति भी उसी के आधार से करार्द्ध जानी चाहिये। एवं गीता में किये गये विवेचन से साफ मालूम हो जाता है कि ऐसी उपपत्ति उच्चित रीति से ज्ञानने के लिये कुछ भी अहन्त नहीं हो सकती। दृष्ट्युद्दिष्टि के हृत्यार्थ अवहार किया पढ़ति से ज्ञानये जावे—उत्तराहरणार्थ व्यापार कैसे करना चाहिये रुद्धार्द्ध जीवना चाहिये रोगी का दौन-सी भीयपि किय तमय वी जाये तृप्यक्षकातिष्ठो की दूरी का कैसे ज्ञाना चाहिये—इसे मर्मी मैति उमस्तो के किये हमेशा नामस्मारक दृष्ट्युद्दिष्टि के ज्ञन की ही आवश्यकता हृत्या करेगी। इसमें कुछ सनेही नहीं कि इन सब अधिक अवहारार्थ का अधिकाधिक कुशलता से करने के लिय नामस्मारक नाभिमौसिन व्याख्या का अधिकाधिक अवश्यन अवश्य करना चाहिये। परन्तु यह कुछ गीता का विषय नहीं है। गीता का मुख्य विषय तो पहीं है कि अव्यास्मादि से मनुष्य की परम भेद अवश्य का ज्ञान कर डाक आधार से पहले यानी भाष्यादिम वर्तमानार्थ (मोउ) के बार में भाष्यमौतिक पात्र उदारीन मध्ये ही रह परन्तु तूते विषय का—अवश्यात् क्वच नीतिवर्म के मूलतत्त्वों का—निषय करने के लिय भी अधिकार्तिक पद अवश्य है। और पितृसे प्रतर्ज्ञा में हम

मेरे 'परमेश्वर मर गया है' और अध्यात्मशास्त्र घोषा कराता है। 'तना हान पर मौ उसने भफ्फे सभी प्राथों में आधिकौतिक इति से क्रमविषयक तथा पुनर्जन्म को मग्नु करके प्रतिपादन किया है कि काम ऐसा करना चाहिये जो क्रमकल्पनामूलकरों में मैं किया था सके। और समाज की इस प्रकार व्यवस्था होनी चाहिये कि किससे मविष्यत् में ऐसे मनुष्यप्राणी पैदा हों किनकी सब मनोहृचिर्यों अन्वन्त विनियित होकर पूर्णवस्था में पहुँच जाए - जैसे 'तु संसार म मनुष्यमात्र का परमकरण और परमसा य यही है।' सुधा स्पष्ट है कि जो लग अव्यात्मकात्म का नहीं मानने उन्हें भी क्यं अक्षम् य विवेचन करने के लिये कुछ-न-कुछ परमसाव्य अवश्य मानना पड़ता है। और यह साध्य एक फ़िज़र से अव्यक्त ही होता है। 'कुका कारण यह है कि यथापि आधिकौतिक नीतिशास्त्र के ये दोनों पर्यय हैं - (१) सब मानव व्यापित्यप महात्मेष की उपासना करके सब मनुष्यों का हित करना चाहिये भार (२) ऐसा काम करना चाहिये कि किससे मविष्यत् में अव्यन्त पूर्णवस्था म पहुँचा हुआ मनुष्यप्राणी उत्पन्न हो सके तथापि किन व्यगों का 'न बोना व्ययों का उपर्युक्त किया जाता है उनकी इति से वे आगोचर या अव्यक्त ही कर रहते हैं। कान्ट अपना निर्देश का यह उपर्युक्त उत्तर भगवन्नराहित कवम आधिकौतिक मनिमाण का विरोधी मस्ते ही हो परन्तु किंतु भगव-अपर्म-शास्त्र का अवश्यका नीतिशास्त्र का परमवैयक अव्यात्मकर्ता से सबमुत्तात्मकमज्जनक्य साध्य की या क्रमयोगी रिषतप्रति की पूर्णवस्था की नींव पर रथ्यापित दुमा है उनके देश म सब आधिकौतिक साध्यों का निरोपराहित समावेश सहज ही मैं हो जाता है।' मुझे कभी 'मैं मध्य की भाषणा नहीं हो सकती कि अर्थात्मशास्त्र से परिचय किया गया विकृत भगव उक्त उपर्युक्त से भीष हो जावग। अब मध्य मह है कि मर्ति अव्यक्त उपर्युक्त को ही परमसाध्य मानना पड़ता है तो वह लिफ मानवदाति के लिये ही क्या माना जाय? अपात् वह मध्यादिन या सद्गुरुत्व क्या कर दिया जाय? पूर्णवस्था का ही रूप परमसाध्य मानना है तो उक्तम पर्ये आधिकौतिक साध्य की अपेक्षा - जानवर और मनुष्य दोनों के लिये समान हो - अविनाना ही क्या है? 'न व्यय का उत्तर' तथा समय अव्यात्मकर्ता मूलिक होनेवाले समस्त ज्ञानवर मृद्गि के एक अनिवार्य परमनाय की ही भारण म आधिकौतिन जाना जाता है। अव्यात्मकीन काम म भाविनीतिक साध्यों की अभ्यासप्रयत्न उपर्युक्त है; किसके मनुष्य का इत्यमधिकिरयक ज्ञान पुष्टात्म की अपेक्षा भूर्गम् गुना भवित्व प्राप्त गया है। भार यह जान नीं निर्विगाड़ भिन्न है कि ऐसे का निना इस नियम के भनुत्तर ग प्रात्मीन रात्रि उक्त आधिकौतिक ज्ञान की प्राप्ति नहीं कर सकता उनका मुख्य हुए नय प्रात्मात्म रात्रि के सामन छिना ज्ञानमय है। परन्तु भाविनीतिक साध्यों की जाते निनीं शुद्धि क्या न हो जाय पह अव्यक्त ही कहना होगा कि ज्ञान के मूलनाम की तमात खें की मनुष्य मात्र वी स्वाम्पित्र प्रतिनिधित्वम आधिकौतिक साड़ से कभी पूरी तरह बन्नुपर नहीं हो सकती। कवम इत्यमृद्गि

ठपनिपाद के ऐवल शुद्धिगम्य ब्रह्मशन के साथ प्रेमगम्य म्लक्ष उपासना के राज्युद्ध का संयोग करके कृष्णाण्ड की प्राचीन परम्परा के अनुसार ही छक्षु को निश्चित करने गीतार्थम् सब व्यगों का मुक्तकृष्ट संवही कहता है कि हम अपनी अपनी योगदा के अनुसार अपने अपने सांखारिक कर्तव्यों का पासन अनुसंधान के स्थिति निष्कामगुह्ये से आत्मोपम्याद्विषे देवा उत्ताह से वाक्यीयन करते रहो और उसके द्वारा पैदा नित्य परमामैवता का सज्ज घटन करो ये पिण्ड-ब्रह्माण्ड में देवा समस्त प्राणियों में एकत्र से व्याप्त है — “सी म तुम्हारा लाखारिक तथा परम्परिक कम्याण है ।” इससे हम शुद्धि (श्वन) और प्रेम (महिं) के शीघ्र का विरोध नहीं हो जाता है और सब आत्म या शीघ्रत ही को यशस्य करने के स्थिति उपतेष्ठ देनेवाले भेदेष्ठ गीता भग्म में लक्ष धैविकत्वम् का सारांश भा जाता है । “स नित्यस्मै को पहचान कर ऐवल कृत्यम् समाप्त करके सर्वनृत्वात् के लिये प्रयत्न करनेवाले लेकड़ों महस्तमा और कर्ता या वीर पुरुष द्वय इस पवित्र भरतभूमि को अछूट दिया करते थे तब पहले इस परमेश्वर की रूपा या पात्र कल्पन न केवल श्वन के वरन् देश्य के भी शिख पर पौंछ रखा था । और कहना नहीं होगा कि यह से दोनों द्वयों का साथन यह अद्यतर एमी बृक्त गया है तभी से इस देश की निरुद्योगस्था का आरम्भ हुआ है । इससिये ईश्वर से भाष्यापूर्वक अनित्यम् प्राप्तिम् यही है कि महिं का ब्रह्मशन का और कृत्यमहिं का योगेचित्र मेस हर देनेवाले इस देश में फिर भी उपस्थ हो । और अन्त में उग्र पाठ्यों से नित्य भवद्वारा (श्व. १११४) यह दिनति करके गीता का रहस्यदिवेन्द्र यर्ह द्यमात् दिया जाता है कि इस प्रत्यं म कही भग्म हे तुल न्यूनाधिकता तु द्वे सो द्वये समाद्विषे से मुखार शीक्षिये —

समानी च भावृतिः समाना इष्पामि च ।  
समानमस्तु चो मनो यथा चो सुसहासनि प  
यथा चो सुसहासनि ॥ \*

“स मन इष्पाव नायता च नम से जाता है । व्यामन्त्र च इष्पित द्यावा चा नम इष्पाव वह कहा गया है । नव— तुम्हारा नविनाव वह तमान हो तुम्हार नम इष्पाव इह तमान हो आर तुम्हार मन इस तमान हो जिसक तुम्हारा तमान होगा अर्थात् क्षमापूर्वी की तुम्हारा हाया नमति अप्ति वा वार्षक नहीं । यह च सुप्रशान्ति इसकी विवरण वस्त्र की अप्ताक्षि चित्तान च त्रिय री गदा ॥

ॐ तत्त्वद्वयार्पणमस्तु ।

अन्य तु कहे हैं कि प्रहृष्टि की सत्तवता, नीतिशर्म की निष्पत्ता सभा अमृतत्व भास कर लेने की मनुष्य के मन की स्वामाधिक इच्छा, इत्यति गहन विषयों का निषय आदिमौतिह पन्थ से नहीं हो सकता - "उसके लिये भावित हम आननामविचार में प्रवेष्ट करना ही पड़ता है। परन्तु अव्याप्तमशास्त्र का काम कुछ उतने ही से पूरा नहीं हो जाता। अन्त के आधारभूत अमृततत्त्व की निष्पत्त उपासना करने से और अपरोक्षानुभव से मनुष्य के आन्मा को एक प्रकार की विदिष्ट शान्ति मिलने पर उसके शीष-स्वभाव में वो परिवर्तन हो जाता है जहाँ साधारण का महङ्ग है। इसलिये "स तत् पर भ्यान रखना भी निषित है कि मात्रावश्चाति की पृणावस्था के विषय में मी अप्यत्तमशास्त्र की सहायता से जैव उत्तम निष्पत्त हो जाता है जैव जैव आधि भौतिक मुास्त्रां से नहीं होता। क्योंकि यह जात पहले मी विलापपृष्ठक भास्त्रां ज्ञाती है कि कृष्ण विषयमुग्ध का पशुओं का उद्देश या साध्य है उससे ज्ञानवान् मनुष्य की बुद्धि का मी पूरा समाधान हो नहीं सकता। मुमुक्षुय भनित्य है तथा अम ही निष्पत्त है। इस दृष्टि से विचार करने पर यह ही जात हो जाएगा कि गीता के परम्परेतिह परम तथा नीतिशर्म इन्होंना का प्रतिपादन अन्त के आधारभूत निष्पत्त तथा अमृतत्व के आधार से ही किया गया है। इस लिये यह परमाधिक का गीताभ्यम, उस आदिमौतिह शास्त्र से कमी हार नहीं जा सकता वो मनुष्य के सब घटों के विचार लिए इस दृष्टि से किया करता है कि मनुष्य के सब एक उत्तम ज्ञेयी का ज्ञानकर है। यही कारण है कि हमारा गीताभ्यम निष्पत्त तथा अमय हो गया है और साधान न ही उत्तम देखा सुप्रकृत्य कर रखा है कि हिन्दुओं का इत्त विषय में किसी मी दूसरे चम पन्थ या मन की ओर मुँह लानने की आवश्यकता नहीं पड़ती। उत्तम सब विद्यान का निष्पत्त हो गया तब वाह्यात्मक ने राजा भनक से कहा है कि अमय के मासांसि - अप तू अमय हो गया (३ ४ २ ४) यही जात गीताभ्यम के इन क लिये अनेक घाँटों में असरण कही जा सकती है।

गीताभ्यम क्या है? वह सबवापरि निष्पत्त और अमृतपृष्ठ है। वह सम है। भयान् चम जानि दृश्य या किसी भन्य मरी क झगड़ में नहीं पड़ना किन्तु उत्त व्यग्नि का एक ही मार्त्तील से सड़ति ज्ञाता है। वह अन्य सब घटों के विषय में पदोन्नित सहिष्यनुता डिग्गजाता है। वह जल मक्कि भार क्षममुक्त है। और भौतिक चम कहे यह सनानन्दभिक्षवद्वृत्त का अन्यकृत मनुर तथा अमृत फूल है। भौतिक चम में पहले उत्तमय या पशुपत्य यज्ञो का भयान् कृष्ण कर्मजात्रा का ही भवित्व माहसम्पूर्ण। परन्तु द्वित उपनिषद के द्वाने से यह कृष्ण कमजाप्तप्राप्तान् भीतप्रम गौण माना जाने चाहा। और उसी ममय लाग्यशास्त्र का भी प्रादुर्भाव हआ। परन्तु यह ज्ञान विद्यामय ज्ञान का अग्रभय था। और इसका सुवाय मी वर्मनस्यात् की ओर ही विद्यय रहा उत्तम था। इन्द्रिय के द्वान औपनिषदिक अम ही अवश्य होना की स्पात पक्ष विद्ययता त भी उत्तमाधारण ज्ञेया का पूरा उम्माधान होना उम्मत नहीं था। अतएव

के निश्चय की पूर्ति गीता ही में की है। वनपर्व के ब्राह्मण व्याप संबाद में व्याप ने केशव के भाषार पर “स शत क्षम विवेचन किया है, कि ‘मैं मात्र केवल का रोक्षार क्षय करता हूँ।’ और घट्टित्यर्पण के दुष्करात-द्वयमि संवाद में भी उसी तरह दुष्करात ने अपने वाणिज्य व्यक्तिगत क्षम समर्थन किया है (वन २ द-२१६ और शा ६-२६३)। परन्तु यह उपराखि उन अनिष्ट व्यक्तियों ही की है। उसी प्रकार भवित्वा एवं आठि विषयों का विवेचन विषयि महामारत में कर्द स्पष्टना पर मिलता है विषयि वह भी एकत्रीय अर्थात् उन विषयों के लिये ही है। इसधिये वह महामारत का प्रचान मार नहीं माना जा सकता। इस प्रकार के एकत्रीय विवेचन से यह भी निर्णय नहीं किया क्षम सकता कि किस भगवान् भीहृष्ण और पाण्डवों के उपराख क्षयों का वर्णन करने के लिये व्यापरी ने महामारत की रक्षा की है उन महातुमारों के चरित्रों को भास्त्र मान कर मनुष्य उस प्रकार आचरण करे या नहीं। यहि यही मान किया ज्याप कि संघर निराशार है और कमीन कमी सन्यास सेना ही हितव्यरक है तो स्वमारुपः ये प्रभ उपस्थित होते हैं कि भीहृष्ण उपरा पाण्डवों के इतनी सक्षमता में पहुँचे का कारण ही क्षया या। और, यहि उनके प्रयत्नों का कुछ हुए मान किया ज्याप तो स्वक सम्प्रहार्य उनका गारब करके भ्यातरी को तीन वर्णपर्वत स्नात्तर परिभ्रम करके (म भा द२-५२) एक सात लोकों के बहुत प्रकृति के लिये का प्रयोग ही क्षया या। एकस “उना ही कह देने से के प्रभ यथेष्ट इष्ट नहीं हो कर्त्ते कि वर्णाभ्रमस्त्रम चिक्कुद्धि के लिये लिये जाते हैं। क्षयोंकि जाहे या कहा जाय; त्वपर्म-परम अयता ज्ञान के अन्य सब उपकरण तो सन्यासाद्विदि से गोण ही मान जाते हैं।” सुखिय महामारत में किस महान् पुरुषों के चरित्रों का वर्णन किया गया है उन महात्माभीं के आचरण पर मुझे उद्घरतः न्याय से हीनेवासे आसेप का हृदय कर उक्त प्रन्थ मैं कहीं न कहीं किलारपूर्वक यह कल्पना आकर्षण का कि उल्लार के सब काम करना चाहिये; तो प्रथेन मनुष्य का अपना अपना कर्म सुधार मैं लिख प्रकार करना चाहिये लिखेष वह कर्म उसकी भारत्प्राप्ति के मार्ग में जाता न ढाल सके। नशोपायमान रामापायमान आठि महाभूत के उपरायानों में उक्त जाती का विवेचन करना उपर्युक्त न रभा होता। क्योंकि एका करने से उन उपादानों के उत्तरा यह विवेचन भी गीता ही मान गया होता। इसी प्रकार उपराय अयता शास्त्रिपद के अनेक विषयों का विचारी में यहि गीता को मी समिक्षित कर किया जाता तो उक्ता महाय भवत्व यह गया होता। अनेक उपराय उपायमान के द्वैक मीन पर ही उस पर एसे आसेप लिये गये हैं जो नीतिपर्व की दृष्टि में भवित्वात् रीत्य पद्धत है; और वही यह कर्म भक्त्यम् विवेचन का भवत्व याम् उपरायित्वात् अयता गया है। जाराय पद्मवकास कुछ तेर के लिये यहि यह उपरायमान क्षया भूम् जार्ये कि भीहृष्णभी मैं बुड़ क आस्म मैं ही

परिशिद् प्रकारण

## गीता की वहिरङ्गपरीक्षा

अधिकित्वा भार्पि छन्नो ईवतं योगमेष च ।

योऽस्यापयेष्वप्राप्तिं पापीयाऽन्यायते तु स ॥५

- ४५ -

पिछले प्रश्नरचना में उस बात का विस्तृत वर्णन किया गया है कि जब मारनीय

युह म हानेकामे कुलभूम भार अपिष्ठय का प्रस्तुत दृष्टि पहल पहँडे औंगा  
के सामने उपरिखित हमा दृष्टि अहुन अपो भावनम का स्थाग करक मन्यास का  
स्मीकार करने के लिये त्रिपार हा गया था और उस समव उम्हों दीक माग पर  
थने के लिये भीहृष्ण ने बेन्नल्पाल क आवार पर यह प्रतिपाद्धन किया कि अम  
पींग ही भक्तिक भवम्भक है कृष्णाग मैं बुढ़ि ही की प्रधानता है। अद्वित ब्रह्म-  
मिक्षपञ्चन से अपका परमीभरमाति से अपने बुढ़ि की साम्यावस्था मैं रख कर उम  
बुढ़ि क गारा स्वप्नमानुगार भव कम करत रहने से ही मास की प्राप्ति हो जाती है।  
मात्र पाने के लिये उसके लिका अन्य लिमी बात की भावभ्यक्ता नहीं है; भार, इस  
म्भक उपर्युक्त करक मनावान् ने अहुन का मुद्र करने मैं प्रतृप्त कर किया। गीता का  
वही वषाप तात्पर्य है। अब गीता का मारत म सम्भिक्ति करने का कां प्रयाम्भन  
नहीं इत्याति जो शुद्धार्थ एव भ्रम से उत्तम युह है – कि गीताप्राप्त केवल बेन्नल-  
पितपक और निकृतिप्रधान है – उनका निवारण भी आप ही आप हो जाता है।  
स्पौति कणपति मैं सुस्यानुस्य का विदेषन करक किं प्रकार भीहृष्ण ने अहुन को  
कुनिहित के बष से पराहृत किया है उमी प्रकार मुद्र म ग्रन्त करने के लिये गीता  
का उपराप भी भावापक है। और यहि काम्य की हारि से देखा जाय तो भी यह  
किंद होता है कि महामारत म अनक स्थानों पर ऐसे ही ग अन्यान्व मन्त्राद्वीप  
पन्ते हैं, उन तब का मूल्याप्त कहीं-न कहीं ब्लावना आवश्यक है। इसपिये उन्हे  
मन्त्राद्वीपा मैं ब्लावकर व्यावहारिक भ्रम अधम क अपका काप अकाल व्यवहिति

हिन्दी मन्त्र व कर्ति छात्र इतना जारी हिन्दिवाग का ने बालक है जो ( उक्त मन्त्र की ) मिला जाए ह भवदा जो करता ह। यह पारी हाला है - यह हिन्दी व हिन्दी संग्रहालय का वर्षता है वर्षम् यान्मन्त्र तभी कि हिन्दी प्रथा वाह है उसका यह लार्य शब्द ( लार्य ) अलिप्तम् म पाला जाता है यह यह ह - यह यह नहिंशास्त्रव चतुर्वर्षीयवाचाक्षण मन्त्रव याज्ञवल वार्ष्यावधारि या स्वायु वर्णीति गत यह प्रतिष्ठान । नवीन इति इन्द्र यार्दि हिन्दी मी मन्त्र है जो वर्षिग ह उसक विना म-न तभी वाला शार्दिव । मही व्याक गीत्य तर्तुष्ट वर्षम् ह लिए भी बोलता जा सकता है ।

है। भग्वन् मेरे ग्रन्थपत्र हृष्णाची के छापत्रयने मेरे सुद्धित महाभारत की पाठी मेरी मीम्प-पर्व और वर्जित गीता के अढारह अध्यायों के बाहर जो अथ वारम् होता है, उसके (अर्थात् मीम्पपत्र के ऐतास्मीसौ अध्याय के) भारम् म सारे पाँच स्लोक मेरी गीता-माहात्म्य का वर्णन किया गया है और उसमें कहा है—

पदशासानि भविष्यानि स्लोकानां प्राह काशव ।

भर्तुन् तस्मपञ्चाशत् सप्तपत्रिं तु सञ्चय ।

तृतीराद्रु ल्लोकमेवं गीतापादा मानमुच्यते ॥

अथात् गीता मेरे केशव के ३२ अनुनाम के ३७ आर पूर्वरात्रि अ१ “स प्रकार कुछ मिलकर ७४०” ल्लोक है। मद्रास “स्मरने म जो पाठ प्रचलित है उसके अनुसार हृष्णाचायद्वारा प्रकाशित महाभारत की पाठी मेरे स्लोक पाये जाते हैं। परन्तु क्योंसे मेरे सुद्धित महाभारत मेरे नहीं मिलता; और मारत-नीकलार नीक्कल ने तो “नक विद्यय मैं यह लिया है कि” अ० ८३ स्लोक की गीतीन पठनन्ते। अतएव मर्मीत होता है कि मेरे प्रक्षित हैं। परन्तु यद्यपि “नहे प्राभिम मान औ दृष्टियि यह नहीं करम्यता का उक्ता कि गीता म ७४० ल्लोक (अथात् कर्त्तमान प्रतिष्ठी मेरी ७ स्लोक हैं उन्हें ४४ स्लोक अधिक) किये और कर मिले। महाभारत वहा मारी मन्त्र है। नक्षिय सम्बन्ध है कि “समें समव लम्य पर अन्य क्षेत्र जोड़ दिये गये ही उक्ता कुउ निकाल जाएं गये हुए। परन्तु वह कर गीता के विद्यय मेरे नहीं कही जा सकती। गीताप्रत्य सर्वे पठनीय होने के कारण कीर्ति के सदृश युरी गीता का कृष्णाम करनेवाले छेंग भी पहुँच गहुत थे और भव उक्त मैं कुउ हैं। यही कारण है कि कर्त्तमान गीता के कुउ से पागम्भर नहीं है; और उक्त मिल पान है के सब दीक्षाकारा का मापदम है। नक्ष लिका यह भी कहा जा सकता है कि “सी हेतु से गीताप्रत्य मेरा अ० ७ स्लोक रखे गये हैं कि इसमें काह पेरफार न कर सक। नक्त प्रभ यह है कि भग्वन् साथ मद्रास म सुद्धित महाभारत की प्रतिया ही मेरा भाव—भाव जो भी सब ममान ही के—क्षात्र कहों म ज्ञा गये। नक्षय और भक्तुन के स्मार्तों का जाह कर्त्तमान प्रतिष्ठी मेरी और इत्याना मेरा समावृ भवान ? ए ह और प्यारहैं अध्याय ५ परायामि इवान ? (५ -३२) ज्ञात १३ स्लोक का साथ मनमधु के कारण लम्भन है, कि अन्य इस स्लोक की विद्यय का मान जाव। इसकिये कहा ज्ञ सकता है कि यद्यपि नक्षय और भक्तुन के स्मार्तों का ज्ञात नमान ही है तथापि प्रवेषक स्लोक की पृष्ठ पृष्ठ गिनने म कुउ नहीं है इस्या हाया। परन्तु उस गाता का कुउ पता नहीं स्मारा हि कर्त्तमान प्रतिष्ठा म भागान क ज्ञ ३ व्याप ह उनक इमें १२ (भागात ४५ विद्य) का ने ज्ञात या वह कहत है कि गीता का स्तोत्र या ‘५पात्र’ का इसी दर्शाव क। व इसी प्रस्तुति का इत्यम समाप्त रूप दिया गया है; तो ऐसी है। ५ व्याप म मतिन महाभाग की पाठी म एह प्रवरण नहीं है। इतना ही नहीं

अद्वित भे गीता मुनार्द है, और यहि व इसी दुष्टि से विचार कर कि महामारत में अम-अपर्याप्त निरूपण करने के लिये रक्षा गया यह एक वार्ष-महाकाम्य है तो भी वही श्रीग पतेगा, कि गीता के लिये महामारत में ज्ञ रूपान नियुक्त किया गया है वही गीता का महत्व प्रकट करने के लिये काल्य दृष्टि से मी अन्यन्त विचित्र है। अब ऐ वाता भी टीक टीक उपपति मान्त्रम हो गा कि गीता का प्रतिपाद्य विषय क्या है और महामारत में इस रूपान पर गीता क्षतश्वर्द गद है तब देसे प्रभा का दुष्टि व महत्व वीक नहीं पड़ता कि रणधूमि पर गीता का श्वन करनान की स्वयं भावस्थ छाया थी ? कठाखिन् लिखी ने इस अन्य कि गीता का प्रतिपाद्य विषय क्या है ! अपवा, मात्रागीता में इस ही स्वेष्ट मुख्य है या सौ ? क्योंकि अन्य प्रकरण से मी यही वीक पड़ता है कि यह एक बार यह निष्पत्ति हो गया कि अमनिवृप्ताय भ्यरत का 'महामारत' करने के लिये अमुक विषय महामारत में अमुक करण से अनुक स्थान पर रक्षा करना चाहिये तथ महामारतकर इस बात की परवाह नहीं करते कि उत्त विषय के निरूपण म विनाना रूपान स्वयं बुझगा। तथापि गीता की विहिरलापरीष्ठा के समन्वय म जो और रवीष्टे पृष्ठ की आती हैं उन पर मी अब अचलानुमार किचार करके उनके सत्यात्र की चर्चा करना भावस्थर्द है। इसकिये उनमें से ( १ ) गीता और महामारत ( २ ) गीता और उपनिषद् ( ३ ) गीता और ब्रह्मत्व, ( ४ ) म्यगदत्वम का उत्तर और गीता ( ५ ) करमान गीता का काम, ( ६ ) गीता और शेषमन्य ( ७ ) गीता और 'क्षात्र्या' की वाचवन — इन बात विषय का किवेचन इस प्रकरण के सात माय में कमानुमार किया गया है। स्मरण ऐ कि उक्त बातों का किचार करते समय क्षेत्र काम्य की दृष्टि से अपार्वन् स्पाव हारिक और एविहासिक दृष्टि से ही महामारन, गीता ब्रह्मत्व उपनिषद् आदि अन्य का किवेचन विहिरलापरीष्ठक किया करत है 'मुख्य भग उत्त प्रभो का किचार इस मी उत्ती दृष्टि से करो।

### भाग १ — गीता और महामारन

ऊपर यह अनुमान दिया है कि भीदृष्टाशी सुरीग्र महामाओं क परिक्षा का निविड़ समर्थन करने के लिये महामारत में कमयोग्यतान गीता उपर्युक्त कारणों से अविन रूपान में रखी गय है; और गीता महामारत का ही एक नाय होना चाहिये। वही भनुनान इन दीनों मनों की रक्षना की तुम्हार करने से अविक दृष्टि हो जाता है। परन्तु तुम्हार करने के पहले इन दीनों द्वाया के करमान स्वरूप का दुष्टि किचार करना ग्राहक्यक प्रतीत होता है। भासे गीतामात्र क भारतम मै भीमस्तुराशायमी ने अपर रीति के कर दिया है कि गीता ध्यय म तात तीं नाह र है। और करमान अन्य की तथ पाचिर्दी मै भी उनमें ही स्वाङ पाये जात हैं। इन काल की क्षेत्रों के लोक भूतपूर्व हैं ८ तक्षण के ८४ अनुमें भीर ८४६ मरमान के

दिव्यरूप दिव्यधारा स्पौही धर्म के विषय में मेरी पूरी निराकाश हो गई। मात्रिपाल के 'न तीनों उक्तेषों के बाहर शान्तिपर्व' के अन्त में नारायणीय, धर्म का वर्णन करते हुए गीता का छिर मी उक्तेष करना पड़ा है। नारायणीय उत्तर, ऐकानिक और मारवत् - पंचारों नाम समानार्थक हैं। नारायणीयोगस्यान (स. ११४-११२) में उस भवित्वप्रबान्न प्राहृष्टिमार्ग के उपरोक्त का वर्णन किया गया है कि विष्वरु उपरोक्त नारायण आपि अपाच भावान् ने शेषद्वीप में नारदवी भेजे किया था। विष्वे प्रकरण में भगवत्परम के 'स दत्त वा धर्मन विद्या या तुम है कि बाहुदेव व पश्चन्तरभाव से महिं करके 'स दत्त के सब व्यवहार स्वप्रमानुत्तर करते रहने से ही मोक्ष की प्राप्ति हो चर्ही है और वह मी वृत्त्य दिया गवा है कि इसी मात्रमारवतीता में भी सन्यासमार्ग भी अपेक्षा कर्मयोग ही भेदभाव माना जवा है। इस नारायणीय धर्म की परम्परा का वर्णन इस्तें समय वैष्णवावन अन्तिमध्य से कहते हैं कि वह वर्तमान साक्षात् नारायण से नारद को प्राप्त हुआ है; और वही धर्म 'कर्मिते हरिगीतासु समाप्त विभिन्नस्तु' (म. ग. शा ३४८ १) - हरिगीता अपने मारवतीता में कलाया गया है। 'सी प्राप्त आगे चल कर ३४८ वै अन्ताम के देखोक में यह करम्भवा गवा है कि -

सदुपोद्व्यग्नीकेहु कुरुपाण्डवपोर्मुचे ।

अर्कुने विमनस्के च भीता भयवता स्वयम् ॥

कीरत और पाण्डवों के सुद के समय विमनस्क अर्कुन को ममान् ने ऐकानिक अथवा नारायणधर्म की इन विधियों का उपरोक्त किया था और सब युद्धों में विकल्प नारायणधर्म की परम्परा करने कर पुनर्व वहा है कि 'स धर्म का अधिकारी यतिहारी के धर्म अपात् तन्यास्वर्म का वर्णन 'हरिगीता' में किया गवा है (म. ग. शा ३४८ १)। आतिपर्व और शान्तिपर्व में किये गये इन द्वय उक्तेषों के अविद्या अध्यमेधपर्व के अनुग्रहितापर्व में भी और एक बार मारवतीता का उक्तेष किया गवा है। बन भारतीय सुद पूरा हो गवा तुम्हिंदि यह राम्यामिकें मी हो याहा और एक दिन भीरूप्त विद्या धर्म एकजैसे हुए दे तुम भीरूप्त ने वहा वहाँ अब मेरे वहाँ की ओइ भावस्वरूपा नहीं है। बारका को चाहे की इच्छा है। इस पर अर्कुन ने भीरूप्त से प्रार्थना की, कि पहले सुद के भारग्म में आपने मुझे ये उपरोक्त किया था वह मैं भूल गवा इसकिय वह मुझे मिर कैसे करवाए (अथ १६)। तब इस मिस्त्री के अनुभार - बारका का चाहने के पहले - भीरूप्त ने अर्कुन की अनुगीता सुनाई। इस अनुगीता के आरम्भ ही में ममान् ने वहा है - तुम्हार्य वहा तू तम उपरोक्त का भूल याहा; विद्या मिनि तुम सुद के भारग्म में फलाया था। उन उपरोक्त का फिर मैं किया ही कालाना अब मेरे लिये मी असम्भव है। इसकिये उसके बड़े तुम्हे तुम्हें कुउ अन्य वात कलाता है (म. ग. अथ अनुगीता १६ ९-१३)। वह बात यान इन योग्य है कि अनुगीता में वर्णित

किन्तु एवं पोषीवाली गीता में भी सात सा श्लोक है। अतएव, वर्तमान सात से श्लोक की गीता ही का प्रमाण मानने के लिया अन्य मार्ग नहीं है। वह हुई गीता ही ज्ञात। परन्तु, जब महामारत की ओर देखत है तो कहना पड़ता है कि वह स्थिरता कुछ भी नहीं है। सबसे मारत ही म यह कहा है कि महामारतचाहिता की संस्था एक साक्ष है। फलत् रामचारुर चितामणराय ऐन न महामारत के अपने दैव प्रन्थ म स्पष्ट करके कहतथाया है कि कठमान प्रकाशित पोषियों में उन्हें श्लोक नहीं मिलत और निष्ठ मिष्ठ पदों के अध्यायों की घटस्था भी मारत के आरम्भ में ही परं अनुक्रमणिका के अनुसार नहीं है। ऐसी अघस्था म गीता और महामारत ही तुल्ना करने के लिये न प्राप्ती की किसी लियोग पोषी का भाषार स्थिय किंवा काम नहीं चल सकता। अतएव श्रीमत्तद्वाराचाय न लिख दात से श्लोकों वाली गीता का प्रमाण माना है उसी गीता को और कल्पते के बाबू प्रतापचन्द्रराम द्वारा प्रकाशित महामारत की पोषी का प्रमाण मान कर हमने इन शेना प्रस्था की तुल्ना की है आर हमारे एस प्रन्थ में उद्दृश्य महामारत के श्लोकों का स्थाननिर्देश में कल्पते म सुछिक उक्त महामारत के अनुसार ही किया गया है। एन श्लोकों को देखत् दी पोषी म अघस्था मठास के पाटक्रम के अनुसार प्रकाशित हृष्णाचाय की प्रति मे देखना हो और यहि के हमार निर्दिष्ट लिये हुए स्थान पर न मिले तो कुउ भागे पीछे छेड़ने से व मिस जायेग।

सात सा श्लोक भी गीता और कल्पते के बाबू प्रतापचन्द्रराम-द्वारा प्रकाशित महामारत की तुल्ना करने से प्रभम वही शीघ्र पड़ता है कि भावशीता महामारत ही का पहल भाग है और इस बात का उल्लेख स्थय महामारत में ही कई स्थानों में पाया जाता है। पहला उल्लेख आधिक के आरम्भ म सूतरे अध्याय में ही गई अनुक्रमणिका में किया गया है। पर्वतगण म पहले यह कहा है— पश्चोक्त माकशीता पर्वतीप्रस्थस्तुता (म आ २ ११) और फिर अध्यरह पदों के अध्यायी और श्लोकों की तस्था अनुसार समव भीष्मपत के वर्णन में पुनर्भ भावशीता का स्थान उल्लेख एस प्रकाश किया गया है—

कल्पक यथ पार्थस्य वासुदेवो महामतिः ।

मोहुग वाशापामास हेतुभिर्मोक्षादितिभिः ॥

— म आ २ १४३

अन्यत् लिखित मालगाम कारण अनुसंधार वासुदेव न अकुल के मन का मोहन कल्पक हुए कर दिया। एकी प्रकाश आधिक (१ १०९) के पहले अध्याय में प्रक्षेप श्लोक के आरम्भ में वनभीष्म पहल, जब शूक्रराष्ट्र ने अवलोक्य देखता है कि दुष्प्रोपन प्रसृति भी अपग्राहि द लिया गया में लिये विन प्रकाश मेरी निराणा हासी गह तब पर वर्णन देते हि चाही मुना कि अकुल के मन में शोह उत्पन्न हने पर भीहृष्ण ने उन

नहीं पावे जात। और पाठमें ही से क्या न हो परन्तु गीता के ११ ३६ स्तोक में 'नमस्कृत्या यह अपागिनीय दात रागा गया है साथा गीता ११ ४८ में इन्द्र भह' एवं प्रसार अपागिनीय उचित भी की गई है। इसी तरह ऐनानीनामहै स्कन्द' (गीता १ ४८) में यह 'ऐनानीना पढ़ी कारण है, वह भी पागिनी के अनुसार गुड़ नहीं है। आर्य दृष्टरचना के उदाहरणों को स्वर्गीय सेस्मा ने स्पष्ट करके नहीं बताया है। परन्तु हमें यह मनोरुप होता है कि ग्यारहमें अप्यायकालि विश्व कृपणन क (गीता १ १६-१) छत्तीस स्तोक का अन्य करके ही उन्होंने गीता की छन्दरचना को आप बहा है। न कोइका के प्रत्येक चरण में ग्यारह अधर है परन्तु गणा का कोई नियम नहीं है। एक 'उत्तमा' है तो दृष्टर उपेन्द्रवश्य, दीर्घा है शालिनी तो चीथा किसी अन्य प्रकार का। इस तरह उन्हें छत्तीस स्तोकों में— अथात् १४४ चरणों में—मिल मिल जाति क कुल स्वारह चरण भीय पड़ते हैं। दृष्टापि वर्तों यह नियम भी भीय पड़ता है कि प्रत्येक चरण में ग्यारह अधर है और उनमें से पहल्या चीथा आज्ञवी और अन्तिम दो अधर गुड़ हैं तथा उन्होंने अधर ग्रामः बुझ ही है। इससे यह अनुमान किया जाता है कि प्रत्येक तथा उन नियमों के निष्पुण दृष्ट गर ही में स्तोक रख गय है। ऐसे ग्यारह अधरों के विषम दृष्ट कालिकास के कामों में नहीं मिलत। हर्तों शाकुन्तला नाटक का 'भामी ऐडि परिता कृष्णसिद्ध्याः' यह स्तोक 'ची छन्द में है। परन्तु कालिकास ही ने उसे कर्मन्त अधरन् कामन का छन्द कहा है। उससे यह जात प्रसर हो जाती है कि भारतीयों के प्रचार के तमय ही म गीतामय की रसना हुए हैं। महामारत के अन्य लक्षणों में उस प्रचार के भाग शाम और ऐटिक दृष्ट दीय पड़ते हैं। परन्तु इनके अतिरिक्त इन दोनों प्रभ्यों क मात्रामात्राय का दूसरा दृष्ट प्रमाण यह है कि महामारत भीर गीता में एक ही से भनेत्र काम याय जात है। महामारत के तब स्तोकों की अनधीन वर पट निक्षित बरना किया है कि उनमें से गीता में किसी कोई उपलब्ध है। परन्तु महामारत कर्त्त्वे समय उनमें कोई शून्याश्रित पाठमें से गीता के स्तोकों के तद्यौ हमें छन्द पर उनकी सत्प्या भी गुड़ कम नहीं है; और उनके आधार पर माया कालार्थ क प्रभ का निषय भी लटक ही हो जाता है। तीव्र दिय गये स्तोक और कालार्थ गीता भीर महामारत (कल्पना की प्रीति) में एक्षमा अधरा एक माया है; की गिजना हारर 'यो-क नीय मिष्टि १:-

## गीता

## महामारत

- |                              |  |
|------------------------------|--|
| १ नामाद्यप्रदर्शन ग्रामापः । | भैम्पयर (५१ १)- गीता क तरह ही दुर्योग्यन द्रांकायाम से भागी लेना का व्यवन कर रहा है। |
| २ भरपत्र दूरा भाषः           | मैप्प १ १  |

इच्छा के प्रकारणों के समान ही है। अनुग्रहीता के निर्भेद का मिथ्याकर महामारत में भगवत्प्रीता का सात बार सप्त उद्घेत हो गया है। अथात् अनुग्रहत प्रमाणा से लाइतया चिन्ह हो जाता है, कि भगवत्प्रीता बतमान महामारत का ही एक मयः है।

परन्तु सन्देह की गति निरंकृत रहती है इसलिये उपमुक्त सात निर्णेशी मध्ये प्रथम घोषणा का समाप्तान नहीं होता। वे कहते हैं कि यह ऐसे भिन्न हो सकता है कि वह अलेल मी भवति मैं पीछे से नहीं चढ़ दिये गये हांग। इस प्रकार उन्हें मन में यह शहदा प्यो-न्सो रह जाती है, कि गीता महाभारत का माम है भप्ता नहीं। पहले तो यह शहदा केवल "सी समझ से उपरिषत् तु" है कि गीता मन्त्र ब्रह्मज्ञन प्रधान है। परन्तु हमने पहले ही विस्तारपूर्वक काव्य लिया है कि यह गीता गीता दीक्षा नहीं। अतएव यथाव मैं देखा चाय तो अब "त शहदा के स्मृतै का स्थान ही नहीं रह जाता। तथापि इन ग्रामाणा पर ही अवलभित्ति न रहते हूप हम कल्पना चाहते हैं, कि अन्य ग्रामाणा से भी उक्त शहदा की अवयाप्तता उद्द दी उठती है। उक्त दी ग्रन्थों के विषय में यह शहदा की जाती है कि वे दाना एवं ही प्रक्षार के हैं या नहीं तब काम्यमीमांसकरण पहले "न देना जाता—शम्भु-कादम्ब भीर भवसादम्ब—का विचार किया जाते हैं। शम्भु-कादम्ब में केवल शहदों ही का सम्प्रेषण नहीं होता किन्तु उसमें ग्रामारचना का भी समावेश किया जाता है। इन दृष्टि से विचार करत उम्मेय ग्रामा आहिये कि गीता की भाष्य भीर महाभारत की भाष्य में किसी सम्मता है। परन्तु महाभारत ग्रन्थ बहुत बड़ा भीर विस्तीर्ण है। इतिहासिय उसमें मीड़ मीड़े पर भाषा की रचना भी मिथ्य मिथ्य दीक्षित से की गई है। उगाहरणात् विशेष में वह भीर भक्तु के युद्ध का वर्णन करने से दीक्ष वाक्या है कि उन्हीं ग्रामारचना ग्रन्थ ग्रामरकों की भाषा से मिथ्य है। अतएव यह निर्धित दृष्टि भवस्तु बत्तिन है कि गीता भीर महाभारत की भाषा में सम्मता है या नहीं। तथापि दामान्यता विचार करत पर हमें वरस्वस्वामी कार्यीनापन्त तैर्यग्रन्थ के या से उहमत हालत बहुत पहला है कि गीता की भाष्य वृषा उगाहरणात् भाष्य भप्ता प्राचीन है। उगाहरणात् कार्यीनापन्त ने यह ज्ञातापादा है कि अन्त (गीता २. १६) भाषा (गीता २. ४) व्रष्म (० प्रहृष्टि, गीता २. ५) वाय (० उगाहरणात्) पादपूरक भाष्य है (गीता २. ) भावि या या का भ्रयाग गीता में विन भव म विया गया है ततु भव में के शम्भु कामिन वर्जनि के काल्पों में

लातीन वार्षिक इतिहास तथा वृत्ति शरण वर्गक्रम का अ-प्राची भगवान् प्राप्तिकर्ता वार्षिक वृत्ति-त्रिवेदीय-त्रिवेदीय (Sacred Books of the East Series, Vol. VIII) में प्रकाशित हुआ है। इस इतिहास में वार्षिक वृत्ति का विवरण दिया गया है। इसमें विवरण के सम्मुखीन इस इतिहास में जो विवरण है वह इसका एक उदाहरण है।

- ४ ११ नाय क्लेशोऽस्यवहस्य  
स्मैकार्य ।
- ४ ४ नाय क्लेशोऽस्य न परो  
स्मैकार्य ।
- ५ ५ दत्तास्थौ प्राप्यते स्याम  
स्वेष ।
- ५ १८ विद्याकिन्यसंपदे भोक ।
- ६ ६ आसौन शारमनोऽस्यु स्मैकार्य । उद्गोग ३३ ६३ ६४ विद्युलीति में  
और आगामी भोक का अर्थ ।
- ६ २ सर्वमूलखमात्मान स्मैकार्य ।
- ६ ४४ विश्वसुरपि योगस्य स्मैकार्य ।
- ८ १७ सहस्रसुगपयम् यह भोक  
पहले सुगता अपि न अत्यन्त कर  
गीता में दिया गया है ।
- ८ २ वा स चर्वेतु नृतेतु स्मैकार्य ।
- ९ १२ विद्या विस्वास्त्वा यह एय  
भोक और आगामी भोक का  
पूर्वाप ।
- शान्ति २६७ ४ ; गौकापिधीयस्याम में  
पापा जाता है और उन प्रकृत्य  
पश्चिमपक्ष ही है ।
- क्ष १९९ ११ ; माहूष्येय समस्यापर्व  
में शश्वतः मिलता है ।
- शान्ति ३ १ १९ और ११६ ८ इन  
दोनों स्थानों में कुछ पाठमें से  
वसिंह कराम और भाष्वस्य-क्लेश  
के संबंध में पापा जाता है ।
- शान्ति २१८ ११; शुक्रानुप्रम में असरह  
मिलता है ।
- शान्ति २१८ २१; शुक्रानुप्रम, मनु  
स्मृति (१२ १) विद्यास्त्रो  
पनिपद् (६) और विद्यास्त्रोपनिपद्  
(११) में तो ज्ञान का त्वयी  
मिलता है ।
- शान्ति १६ ७ शुक्रानुप्रम में कुछ  
पाठ-में वरके रखा गया है ।
- शान्ति २११ ११ शुक्रानुप्रम में अस-  
रणा मिलता है; और एय का भव  
विद्यानेताय भोक्ष की पहले दिया  
गया है । मनुस्मृति में मी कुछ पाप-  
न्तर से मिलता है (मनु १ ७३) ।
- शान्ति ११९ २१ नारायणीय भग्न में  
कुछ पापन्तर होकर दो घर भागा है ।
- भय १ २ ३ और ६ २; भग्नसीरा में  
कुछ पापन्तर के साथ ये भोक हैं ।

१. १२-१९ तक आने स्थेक। मीम ८० ८-२९ मुछ में रहत हुए शंखपीता के स्तोकों के समान ही है।
२. ४० भद्र वन महत्वापि स्तोकापि। द्रोण १ ३ ६ मुछ शब्दम् है शेष गीता के स्थेक के समान।
३. ११ उमी दौन विश्वर्णति स्तोकापि। शान्ति २४ १४ मुछ पाठम् इसर शब्दि वासव-स्वाद और कठोपनिपद में ( १८ ) है।
४. २८ अम्बद्वात्रीनि भूत्यानि स्तोक। ची २ ६ १-११ अवकं क कले 'भूमाष' है शेष सब समान है।
५. ३१ अम्बाद्विमुद्दात् भया स्तोकापि। मीम १ ४ १६ मीम कण का यही अवलम्ब रहे हैं।
६. यद्यच्या स्तोक। कण ५७ ६ 'पाय' के कले 'क्षण' पड़ रख कर तुम्होंने कण से कह रहा है।
७. ४६ सावान् भय उत्पादे स्तोक। उद्घोग ४ ८६ सनस्तुष्ट्यर्तीम् प्रकरण में मुछ शब्दमें से पाका जाता है।
८. ६९ विद्या विनिष्कर्त्तु स्तोक। शान्ति २ ४ १६ मनुश्चृह्ण्यति स्वाद में अमरण मिलता है।
९. ६७ अंतिमाणा हि चरता स्तोक। चन २१ २६ ब्राह्मण-स्याध-साका में मुछ पाठमें से आया है और पहले रथ का स्पष्ट मी दिया रखा है।
१०. आपृयमाणमचलश्चिद् स्तोक। शान्ति शुराद्युपम म चोका स्त्री आया है।
११. ४२ रन्त्रिकाणि पराम्भात् स्तोक। शान्ति ८ ३ और २४३ ८ का मुछ पाठमें से शुराद्युपम म शर आया है। परन्तु इस स्पष्ट क्ष मूसल्लान कठोपनिपद में है ( कठ. ३ १ )।
१२. ७ चंडा यजा हि अमत्य स्तोक। चन १८९ २३ माकाडेय प्रभ मे यो क्षत्त्वा है।

प्रकरण और गीता ये दोनों पक्ष ही स्थेनी के फल हैं। यदि प्रत्येक प्रकरण पर विचार किया जाय तो वह प्रतीत हो जायगा, कि उपर्युक्त २३ स्तोत्र में से १ मार्कंडेय प्रम में ही मार्कंडेय समस्या में १ ब्राह्मण व्यापस्थिता में, २ विदुतीति में १ सननुभवतीय में ३ मनुष्यस्मृति समाप्ता में ४ ही गतानुग्रह में ५ तुम्हार-ज्ञानस्थितवाऽ में ६ वसिष्ठ करास और यात्यवस्था अनुसवाऽ में ७ ही नारायणीय भवं में ८ ही अनुगीता में और देव भीष्म द्वारा तथा श्रीपर्वते में उपस्थित है। इन में से ग्रामः तद अग्रह य क्लोक पूर्णपर सन्वर्म के उठ उत्तिरु स्थानों पर ही स्थित हैं—प्रसिद्ध नहीं है और वह भी प्रतीत होता है कि इनमें कुछ भाव गीता ही में उमारोप द्वादि से स्थित गये हैं। उग्राहणाथ ‘सहस्रमुगपयन्तम्’ (गीता ८ १०) इस क्लोक के द्वादीकरणाय पहले वय और युग की व्यास्था करनाना आवश्यक था। और महामारुत (शा ४३१) तथा मनुस्मृति में उस क्लोक के पहले उनके स्थान भी ही हो गये हैं। परन्तु गीता में यह क्लोक (‘युग’ आदि की व्याख्या न दर्शक कर) पक्षमें छह गया है। उस द्वादि से विचार करने पर वह नहीं फहा जा सकता कि महामारुत के अस्य प्रकरणों में ये क्लोक गीता ही से उद्भृत किये गये हैं और उनके मिल मिल प्रकरणों में से गीता में उन क्लोकों का स्थिता जगता भी समझ नहीं है। भद्रपद यही कहना पस्ता है कि गीता और महामारुत के उन प्रकरणों का इन्द्रियवाणी कोइ पक्ष ही पुरुष होना चाहिए। यहाँ पर क्षमा ऐना आवस्यक प्रतीत होता है कि विद्युत प्रकार मनुस्मृति के का क्लोक महामारुत में मिलते हैं १ उभयी प्रकार गीता का यह पृष्ठ क्लोक ‘सहस्रमुगपयन्तम्’ (८ १०) कुछ हेतुपर के द्वाद, और यह क्लोकाथ भेदान् स्वप्नोऽविगुणः परम्पर्मात्मनुस्मृतात् (गीता ८ ३ और शी ११ ४०) — भयान् ५ वर्षे वर पाठात्मक हेतुपर-मनुस्मृति में पाया जाता है तथा ‘उद्भूतस्पमात्मानम् वह क्लोकार्थं भी (गीता ८ २) तर्वं मनुस्मृत्यात्मानम् इत्तरुप सं मनुस्मृति में पाया जाता है (भनु १ ७५ १ १० १ १०)। महामारुत के अनुशानपर्व में तो मनुनामिहित यात्मम् (भनु ४७ १) इस कर मनुस्मृति का लक्ष रीति से द्वारा किया गया है।

धर्मसाहस्र्य के कठोरे परि भर्यतादास्य देत्य ज्ञाय तो भी उच्च अनुमान इट ही जाता है। यिन्हें प्रकरणों में गीता के कर्मयोगमार्ग और प्रकाञ्चित्प्रथान भावकर वस्त्र में अक्षरस्थिति की ओर वह परम्परा कर्त्तव्य गर्व है कि वात्युदेव से सद्गुरुण तद्वर्णं से प्रगुरुम् प्रगुरुम् से अनिष्टङ् और अनिष्टङ् से वृक्षेत्रं पुण्यं वह गीता में नहीं सी गई। इच्छे अलिंगिक पक्ष भी सच है कि गीतापर्व और

‘वात्युदेवस्थित्वात्मका में मनुस्मृति का वर्णी अनुवाद प्रसारित हुआ है। उसमें दुर्वार वात्य न एक कहिल जाता ही है और वह भी बहुता है कि मद्रस्शिक की वैदिकनाम नाम कर्मसाधन में विस्तृत है (S B E Vol XXV p 533 इत्येत्य)

- ११ ११ सर्वदा पाणिपाईं स्मोक। शान्ति २६८ २९, अथ १, ४०  
तुकानुप्रभ अनुगीता तथा अन्यत्र भी  
यह अस्तरणः मिलता है। इष्ट स्मोक  
का मूलस्थान शेताश्वतरोपनिषद् (३  
१६) है।
- १२ १ बदा भूतपृथमाद० स्मोक। शान्ति १७ २१ सुधिद्विर ने अकुन से  
ये ही शब्द कहे हैं।
- १३ १८ ऊपर गम्भिन्ति सत्त्वस्था  
स्मोक। अथ ३९ २; अनुगीता के गुरु-शिष्य-  
समाज में अस्तरण मिलता है।
- १४ १९ लिखित नरकस्येऽ स्मोक। उच्चोग ३२ ७; विद्वुरनीति में अस्तरणः  
मिलता है।
- १५ २० भडामयोऽय पुरुषः स्मोकाप। शान्ति, २६। १७ तुत्यधार-चाक्षिति-  
तुमात्र के अडाम्परण में मिलता है।
- १६ १४ मधिष्ठन तथा कर्त्ता स्मोक। शान्ति १४७ ८० नारायणीय भग्म म  
अस्तरण मिलता है।

उक्त तुक्तना से यह बोध होता है कि २० पूरे स्मोक भीर २२ भाकाश गीता  
तथा महामारत के मिस्र मिस्र प्रकरणों में – कही कही तो अस्तरण भार कही कही  
इष्ट पाठ्यस्तर हाकर – एक ही से है; और, यदि पूरी तीर से शेष की ताव तो  
भीर ये बाह्यतेर स्मोका तथा स्मोकार्णों का मिलना सुम्भव है। परि यह देखना चाहौ,  
ति दो-दो अपवा तीन-तीन शब्द भवका स्मोक के बहुपाद (चरण) गीता भीर  
महामारत में लिखने स्थानी पर एक-एक हैं तो उपर्युक्त तात्त्विक कही अधिक स्थानी  
होती है। १८ परन्तु इस शब्दवाच्य के अतिरिक्त केवल उपर्युक्त तात्त्विक के स्मोकसाच्य  
परिचार कर तो मिला यह कह नहीं रहा या सकता कि महामारत के अस्य

यी इन दृष्टि त सम्भार्त स्वाक्षरत इत्य अप ता गीता और महामारत म जगत्ते  
स्वेच्छा अर्थात् चरण तो वे भी अस्तित्व विल रहते। इनम तु कुछ दहो विदे जात हैं – दि-  
वारेश्वरिति वा (गीता १ ३), नारायणप्रत्यल (गीता ३), वादन महाय वदान्  
(१ ४), वादानात्म इन सुन्दर (५), उत्तरोदितुरित वादन (३ ४), वना तुनि-  
र्दो वदन (१ ३ ५), मध्याम्य वदानात्म (माराणा वादानार्द्दो ), नम  
हर्दो वदन (१ ३ ५), विदानार्द्दिति (तावदानहिते वदन ४ ५, नम  
विदानार्द्दि वदनहिते वेदानहिति), ५ वनानामारामहावदन (३ ४  
विदान वर्द्दिति वदन (१ ३ ५), विद्यम वदन (४ ५ वदवदान वदन (१०  
५ ६) विद्यम।

उन्हीं तथा का उल्लेख अनुगीता में किया गया है। भौतिकर्म मा स्मार्तकर्म यहमन है यह और प्रवा का व्राजप्रेष ने एक ही साथ निर्माण किया है अस्यादि गीता का प्रबन्धन नारायणीय धर्म के भवित्विक शान्तिपर्व के अन्य स्थानों में (शा २६७) और मनुस्मृति (३) में भी मिलता है। गुणधार-जात्यकी-संषाद में तथा ब्राह्मण-न्याय-संषाद में भी यही किचार मिलते हैं कि स्वर्णम् के अनुसार कर्म करने में और पाप नहीं है (शा. २६०—२६१ और कल २६—२१६)। इसके बिना सुषिदि की उत्पत्ति का योग्य वर्णन गीता के बाहरे भी और आठव अध्यायों में है उसी प्रकार का वर्णन शान्तिपर्व के छानुप्रभ में भी पाया जाता है (शा २११)। और छठव अध्याय में पाठङ्गालयोग के भासनों का यो वर्णन है उसी का फिर से छानुप्रभ (शा २३) में और भाग अख्यार शान्तिपर्व के अध्याय ३ में तथा अनुगीता में विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है (अथ १९)। अनुगीता के गुणधित्वात्मक मैं किये गये मध्यमात्मक वस्तुओं के वर्णन (अथ, ४३ और ४४) और गीता के उल्लेख अध्याय के विभूतिवर्णन के विषय में यो यह कहा जा सकता है कि इन दोनों का माया एक ही अर्थ है। महाभारत में कहा है कि गीता में मात्रान् ने अर्कुन और विश्वरूप विभाषण का वही उत्तिष्ठ प्रकार के समय दुर्योग्यन भावि और दो, और मुद्द के बात द्वारका का स्वेच्छे तमन मात्र में उच्चार को मात्रान् ने विश्वमात्र और नारायण ने नारद तथा ब्रह्मरुपि राम ने परशुराम को दित्यया (ठ १३; अथ ५६; शा ३३१ कल १)। इरम उन्हेह नहीं कि गीता का विश्वरूपवर्णन इन चारी रूपानों के वर्णनों से कही अस्तित्व सुरक्ष भीर विस्तृत है परन्तु उपर्यन्तों को परन्ते से यह लहू ही मात्र ही जाता है कि अप्यसाहस्र की इष्टि से उन्मे की नवीनता नहीं है। गीता के चोरहें और पन्नहें अर्थात् मैं इन चारीं का निष्पत्ति किया गया है कि उच्च रब और तम इन तीनों गुणों के कारण सुषिदि में भिन्नता देखी हाती है; इन गुणों के लक्षण क्या है और उन कर्तृत्व गुणों ही का है आगम का नहीं दोन इसी प्रकार इन तीनों का वर्णन अनुगीता (अथ. १३—१) और शान्तिपर्व में भी अद्वैत रूपानों में पाया जाता है (शा २८६ और १—१११) गाराय गीता में इन प्रकार का वर्णन किया गया है; उसक अनुसार गीता में इष्ट विषयों का विवेचन अधिक विस्तृत हा गया है और गीता के तथा विष्वारीं तथा मात्रानात् रामनाथकाल विचार महाभारत में भी वृषभ वृषभ नहीं-नहीं लूटायित पाय ही जात है। नीर यह वर्णनों की भावदर्शकता नहीं कि विष्वारात्रारूप के नामी नाम भारीदात्र लम्फा हो गए में वृषभ ही भाव भा जाती है। पापर्याई महीन के लक्ष्मण की लाटरपता का वर्ण ही विस्तृत है। गीता में मात्रानों मात्रागीतीर्द्धम् (गीता १५) वह कर इन मात्र का विस्तृत पद्मा व्यान किया है उनी प्रकार अनुग्रहनपत्र के लक्ष्मण प्रकार में उड़ी ड्रक्षान के चित्रे मीमों के नाम लक्ष्मण का मात्र वह भावा है कि प्र-वर्ष वार मात्रार्याप से ही

नराद्यनीय भ्रम म अनेक में है। परन्तु चतुर्थ्यूह परमेश्वर की कृपना गीता को मान्य मने न हो तथापि गीता के न बिद्धान्तों पर विचार करने से प्रतीत होना है कि गीतावाम और भगवत्प्रभु एक ही से है। व विद्धान्त य है—एक्ष्युह वासुदेव भी महिला ही उपराग है जिसी भी भग्न्य देवता की महिला की जाय, वह वासुदेव ही का उपराग हा जाती है मक्तु चार प्रकार के हात हैं स्वरम के अनुसार उन एक एक भावद्वय को पञ्चक शरीरी रामना ही चारिष भार उन्यास भेजा देखिन नहीं है। पहले यह भी ज्ञात्यया या चुका है कि विद्धान्त मनु उभारु भावि साम्प्राप्तिक वरण्यता भी भेजा और एक ही है। इसी प्रकार उन्तु उद्यानीय, उत्तामुप्रभ, याज्ञवल्य अनासुवाइ अनुगीता इत्यादि प्रकरण का पक्षने से यह जात ज्ञान म ज्ञा ज्ञायगी कि गीता म वर्णित देशम् या भग्न्याभग्न्यन भी उक्त प्रसरणी में प्रतिवादित व्राह्मणन में विष्णु सुल्लिङ्गा है। कापिष्ठमायशास्त्र के तत्त्वों भीर युजाक्षप के चिद्वान से उहमन द्वारा भी मात्रकीता ने किस प्रकार यह माना है कि प्रतिविभार पुरुष के भी पर वौं वित्काम्य है उसी प्रकार शान्तिप्रब के विनिष्ट एवं उनक नवार में और याज्ञवल्य अनक संवाद में विलापुष्ट यह प्रतिवादन दिया गया है कि लाघ्वी के तत्त्वों के पर एक उप्पीसदों तत्त्व और इसके जान के जिन वैद्यत्य प्राप्त नहीं होता। यह विचारसाध्य क्यकि कमयोग या अन्यायम् उही या विद्या के सम्बन्ध में ही नहीं रीप वर्णना दिल्लु न या सुख विद्या के भवितिरित गीता में ज्ञा भग्न्यान्य विद्य है उनकी ज्ञानीयी के प्रसरण भी महामारत म वृक्ष उगाह पाये जाते हैं। उद्गाहरणाय गीता के पहले भग्न्याय के भारम् मैं ही डाजाप्ताय से जाना जेनाभी का ईसा वर्णन बुद्धोभन ने किया है दीड़ विना ही— भाग मीप्तप्रब क ८३ के भग्न्याय में— उसने किर म डाजाप्ताय ही के निर्व दिया है। पहले भग्न्याय के उपराग में अनुन वा ईसा दिया हाभा ईता ही पुरितिर को शान्तिप्रब के भारम् मैं उठा है भार वृक्ष भीप्त तथा डाज एवं योगप्रब से वृक्ष करन का समय भर्मीप गया तब अनुन ने अपने सुख म विर मी ईते ही देवमुक्त वर्णन करें द ( नीप्त ३ ४-३; और १ ११-४ )। गीता ( ३ ४ ३१ ) के भारम् मैं अनुन ने कहा है कि विनक विद्य उपर्योग वृक्ष करना है उही का वृक्ष करक वृक्ष प्राप्त कर तो उनका उपराग ही क्या होता ? और वृक्ष पृष्ठ मैं तब जीरकी का वृक्ष हो गया तब वही जान बुद्धोभन के सुख म १ निर्विर है ( उप्प ३२ ४२-३ )। एकल भग्न्याय के गरम मैं ईते लालय भार कमयाग दे नानी। निश्चैत्य उन्नार रुह है ईम ही नराद्यनीय यम मैं विर शान्तिप्रब के शापदायमयान तथा उक्त स्वरमा-अवाइ मैं इन निर्व री का वाप्त रोका। उन्ना ह ( दा १ ६ भार ३२ )। भीकर भग्न्याय मैं वृक्ष १-१८ राज एवं भाग्न यम भद्र ६ वृक्ष न दिया जाय तो उर्वर्कीविना ई न हो उही इत्या। या वही जान क्षणद भारम् मैं ऊर्दीर्दी वै पुरितिर म कही है ( क ३२ ) भार

उन्हीं तुल्यों का व्यवहार अनुमीठा में फिर से लिखा गया है। भीतृष्म या स्मार्तप्रभ चरमपद है यह और प्रभ को ब्रह्मोद्देश ने एक ही साथ निर्माण किया है इत्यादि गीता का प्रचलन नारायणीय धर्म के अतिरिक्त शान्तिपर्व के अन्य रूपोंमें (शा. २६७) और मनुस्मृति (३) में भी लिखा है। तुस्याचार-बाबसी-रवाह में तथा लाष्ट्र-व्याध उचाव में भी यही विचार लिखते हैं कि स्वर्वर्म के अनुत्तार कम करने में काढ़ पाप नहीं है (शा २६—२७ और बन ६—११)। उसके लिए सहिती की उत्पत्ति का योग वर्णन गीता के सातवें और आठवें अध्यायों में है, उसी प्रकार वा वर्णन शान्तिपर्व के शुक्लसुप्रभ में पापा चारा है (शा २३१)। और उत्तर अध्याय में पातञ्जलयोग के लासना का यो वर्णन है उसी का फिर से शुक्लानुप्रभ (शा २३९) में और आगे बल्लव शान्तिपर्व के अध्याय ३ में उपरा अनुमीठा में लिखे गये मन्त्रोच्चम वलुओं के वर्णन (अथ ४३ और ४४) और गीता के उसके अध्याय के विभूतिवर्णन के विषय में तो वह कहा जा सकता है कि इन दीनों का ग्राम एक ही अप है। महामारत में वह है कि गीता में महान् ने अकुल को यो विश्वरूप विरक्षया का वही सूचित प्रस्ताव के समय तुमोऽप्त्व आडि वैरपो दो, और युद्ध के बात द्वारका को छोट्टे समय मात्र में उत्तर की महान् ने दिवस्मया। और नारायण ने भारत तथा द्वारका राम ने परद्वाराम को उग्रस्मया (८, १३ अथ ६६ शा ११९ बन ११)। इसमें संत्वेष्ट नहीं कि गीता का विश्वरूपर्वन एवं चारी स्वाना के वर्णनों से वही अधिक सुरुच और विस्तृत है परन्तु सब वर्णनों को पढ़ने से वह सहज ही मास्तु हो जाता है कि अर्पणाद्य की इष्टि से उनमें अपेक्ष नहीं नहीं नहीं है। गीता के बौद्धवे और पन्द्रहवे अध्यायों में एवं वार्तौं का विश्वरूप किया गया है कि सब रब और तम इन दीनों द्वारा गुणों का वर्णन सुनि में मिलता रहती होती है; इन गुणों के अवलोकन स्थान अनुमीठा (अथ १३—१५) और शान्तिपर्व में भी अनेक स्थानों में पापा चारा है (शा २८ और ३—११)। धाराश गीता में लिख प्रत्यक्ष का वर्णन किया गया है उसके अनुत्तार गीता में शूल विषयों का विश्वरूप विलक्षण हो गया है; और गीता के एवं विचारों से उनमें उत्तराता रखनेवाले विचार महामारत में भी शूल शूल वहीं-जहाँ नहीं न्यूनाधिक पापे ही जाते हैं। और एह वदास्मेने भी आवश्यकता नहीं कि विचारसारस्म के साथही साथ खाड़ीवृत तमता शब्दों में भी आप ही आप आ जाती है। मार्गदीर्घ महीने के उत्तरात्म भी राहस्यवाता तो बहुत ही विलक्षण है। गीता में मार्गना मार्गदीर्घोऽप्त्व (गीता १, १) कह कर इस सम्बन्ध के लिए प्रकार पद्मस्थान लिखा है उठी प्रकार अनुघासनपर्व के दानवर्म प्रस्तर में जहाँ उपचार के लिये महीनों के नाम फुलने का मीठा हो जाए जाता है वहाँ प्रस्तेक वार मार्गदीर्घ से ही

महिना गिनती भारती की गई है (अनु १ ६ और १ ९)। गीरा म अस्ति भारतीयम् भी या सर्वं-भूत-हित भी है, अथवा भाषितैतिक, भाषितैतिक और आप्यायिक में तथा ऐव्यान और पितृव्यान-गति का उद्देश्य महामारत के अनेक स्थानों में पाया जाता है। पिछले प्रकरणों में “नका विस्तृत विवेचन किया था जुहा है भवतव्य यहाँ पर पुनरुक्ति की आवश्यकता नहीं।

मापस्तात्पर्य की ओर विभिन्न या अर्यस्तात्पर्य पर एव्यान भीक्षिये, अथवा गीरा के विश्यक ये महाभारत में छः-सात उद्देश्य मिलते हैं, उन पर विचार कीविये भनुमान यही करना पड़ता है कि गीरा वर्तमान महाभारत का ही एक मार्ग है और इस पुस्तक ने वर्तमान महाभारत की रचना भी है उसी ने वर्तमान गीरा का भी एक रचन किया है। हमने लेखा है कि “न सब प्रमाणा की ओर तुष्टिपर उक्ते अथवा निष्ठी करह उनका अट्टकल-पञ्चू अर्थ स्वामा कर कुछ लोगों ने गीरा को प्रक्षिप्त किया करन का यत्न किया है। परन्तु ये लोग व्याप्त प्रमाणों का नहीं मानते और उपने ही उच्चारणीय पिण्डात्म की अप्रस्थान किया करते हैं उनकी विचारपद्धति सर्वप्रथम अद्यतीव अनप्रत अप्रस्थ है। हाँ यहि इत्य वात भी उपपत्ति ही मात्रम् न होती कि गीरा को महाभारत में स्वौ स्थान किया गया है तो वात कुछ और ये परन्तु (जैसा कि इत्य प्रकरण के मारम्भ में उक्तस्य किया गया है) गीरा के सब वैद्यात्मकप्रभान अथवा भूकिप्रभान नहीं है। किन्तु महाभारत में किन प्रमाणमूल भेद पुस्तकों के चरिता का व्याप्त किया गया है उनके चरितों का नीतितत्त्व या मम उक्तस्यने के किये महा भारत में कर्मसोगप्रभान गीरा का निष्पत्त अस्त्वन्त आवश्यक था; और, वर्तमान समय में महाभारत के किस स्थान पर वह पार्वती आती है उससे कर्कट, (काम्यहिते से भी) को अभिक यात्र्य स्थान उक्तस्य किये हीए नहीं पड़ता। उनांने किंड होने पर अनिदित्यम् किष्मान्त यही निष्क्रिय होता है कि गीरा महाभारत में उक्तिन कारण से और उक्तित स्थान पर ही कही गा है – वह प्रतिस नहीं है। महाभारत क समान रूपायष्ट भी सर्वमात्य और उक्तस्य आप महाभारत है और उस में भी क्षया क्षमागुच्छार सत्य पुनर्वम मात्रुभम आदि का मार्मिक मिवेचन है। परन्तु यह अस्थने की आवश्यकता नहीं कि वास्तीकि कर्य का मृद्देतु अपने काम्य का महाभारत के उमान अनेकसमयान्वित रूपम उम अपर्म न्याया से आत्मग्रोह आर उक्त स्वामा का शीस तथा सर्वरिति की किस्ता देने में सब प्रकार से समर्थ कराने का नहीं या। उसमिये वर्म-वर्म काय-भक्ताय या नीति की दृष्टि से महाभारत की आप्यवा रामायण से कही कर्कट है। महाभारत के सब आप काम्य या फैक्ट “विद्याय नहीं है किन्तु वह एक उहिता है किलम उम भवम के रूपम प्रतिहौ का निष्पत्त किया गया है। और यहि इत्य अमरहिता म कर्मांग का शास्त्रीय उक्त साक्षिक मिवेचन न किया आप तो यहि वह कही किया था उक्ता है। वैष्ण वदाम्य अर्थों में वह किवेचन नहीं किया था सरक्ता। उक्ते किये पाण्य स्थान सर्वस्त्रहिता

कह कर आद्यण व्याप-भवा' (बन २१) भार अमुगीता मैं कुछ को सारपी की था उम्मा थी गृह वह भी कनापनिपद् से ही ली गृह (क ११) भार कनापनिपद् के बेटानी क्षेत्र - एवं सर्वेतु भूतेतु गृहात्मा' (कठ. १२) और अन्यत्र घमाइन्नवाघमात्' (कठ. २ १४) - भी गान्तिपद में दो रथानों पर (१८० र और १४१ ४४) कुछ फरफार के साथ पाव आते हैं। श्वेताखतर का सक्ता पापिपात्म श्वेत भी लिखा कि पहले कह आये हैं महामारत मैं भनक रथाना पर और गीता मैं भी मिस्ता है। परन्तु केवल 'करने ही से पहल वाट्प धृष्ण नहीं हो जाता। अनु लिखा उपनिपदी के भार भी बहुत-से वाक्य महामारत मैं कहं रथानों पर मिलते हैं। मही क्यों पहल भी कहा जा सकता है कि महामारत का अ यात्मकन प्राप्त उपनिपद से ही लिखा गया है।

गीतारहस्य के नीत भार तेरहरु प्रसरण मैं हमने विल्लारपूर्वक लिखा है कि महामारत के समान ही स्वरूपीता का भव्यात्मकान भी उपनिपदी के आचार पर स्थापित है। भार गीता मैं भक्तिमार्ग का ये वर्णन है वह मी इष शान ऐ भल्ल नहीं है। अवध्य यहौं उसको तुनारा न किय कर लक्षेय मैं चिर्क यही बताते हैं कि गीता के द्वितीय भव्याय मैं बर्णित भास्मा का भशोर्पत्व भाठ्वे अप्याय का भव्यराह्यात्मक आर तेरहरे अ पाय का शेक्षेनवशिष्ठार दृष्टा विशेष करके चिर्क परजाइ का स्वरूप - अन सद विषया का वर्णन गीता मैं भव्यरह्य उपनिपदी के आचार पर ही किया गया है। कुछ उपनिपद् गत्व मैं ह और कुछ पथ मैं हैं। उनम से गग्गराल उपनिपदी के वाक्या को पाप्मम गीता मैं प्यो-का-स्वों उद्भूत करना समझ नहीं तथापि लिखा ने अन्नाप्योपनिपद् आदि को फ़ा है 'नके व्यान मैं यह बात तहव ही आ जायगी कि चा है चा है और चा नहीं लो नहीं' (गीता २ ११) तथा य म जापि स्वरन् भाष्म (गीता ८ १) तथादि विचार स्वन्दोप्योपनिपद् से लिखे गये हैं और शीखे पुण्ये (गीता ८ २१), प्योटिपा ज्योतिः (गीता २ ११) तथा 'माजास्पदा' (गीता २ १४) तथादि विचार और वाक्य वृहद्वरप्यक उपनिपद् मे लिखे गये हैं। परन्तु गृह उपनिपदी को लोड वय हम पश्चात्प उपनिपदे पर विचार करते हैं तो यह समरु 'सर्व मैं अधिक स्पृष्ट व्यक्त हो जाती है। स्पौति 'न पश्चात्प उपनिपदी के कुछ क्षोक व्या के ल्यो मावद्वीता मैं उद्भूत किये गये हैं। तथाहरणाय कनापनिपद् के छ सात क्षोक व्यरह्य भाष्मा कुछ शब्दमें से गीता मैं लिखे गये हैं। गीता के द्वितीय भव्याय का आश्वर्यवत्स्यति (२ ११) स्वान क्षेत्रनिपद् भी द्वितीय वस्त्री के भास्मयों वका (क २ ८) स्पौत के समान है और न जावते लिपते का फ़डापित् (गीता २ २) स्पौत तथा वर्णित्त्वो त्रिष्वय चरन्ति (गीता १ १) स्पौतार्द गीता और क्षेत्रनिपद् मैं अ तरह एक ही है (क २ १)। यह पहले ही लक्षा लिखा गया है कि गीता का 'विश्वापि पराप्यात्' (१ ४२) स्पौत क्षेत्रनिपद् (कठ. १ १)

महिनों पिल्ली भास्म की गई है (अनु १६ और १९)। गीता में वर्णित भाष्योपम्य की या सब-भूत-हित की रधि, अथवा भाष्यमौलिक, भाष्यतिक और भाष्यात्मक में तत्त्व देवयान और पितृयान-चारि का उल्लेख महाभारत के अनेक रसाना में पाया जाता है। पिछ्ये प्रकरण में इनमें विस्तृत विवेचन किया यह चुना है। अवश्यक वहाँ पर पुनरुक्ति की भाष्यकरता नहीं।

माध्यमिक का अध्ययन तो नहीं। माध्यमिक की ओर देखिये, या अर्थसाहस्र पर एवं वान दीक्षिते अष्टवा गीता के विषयक जो महामारत में छन्द-सात उद्घेत्व मिलते हैं, उन पर विचार दीक्षिते मनुमान यही करना पड़ता है कि गीता बतमान महामारत का ही एक मार्ग है और किस पुस्तक ने ज्ञानमान महामारत की रचना की है उसी ने ज्ञानमान गीता का भी वर्णन किया है। हमसे देखा है कि इन सब प्रमाणों की ओर शुद्धपत्र करके अष्टवा दीक्षी तरह उनसे अटल-पश्चू अर्थ समा कर कुछ लोगों ने गीता को प्रसिद्ध चिन्ह उत्तम चल किया है। परन्तु ये लोग जास्त प्रमाणों से नहीं मानते और अपने ही उत्तरवर्षी प्रियाच की अप्रस्थान दिक्षा करते हैं उनकी विचारपद्धति सचिव अवास्थीव अनएव अप्रस्थ है। हुँ यहि इस बात की उपरांति ही माद्यम न होती कि गीता को महामारत में कर्त्ता स्थान दिक्षा गया है तो बात कुछ और यही परन्तु (जैसा कि इस प्रकारण के आरम्भ में कर्त्तव्य दिया गया है) गीता के बाह्य वेदान्तप्रभासि भवता महिमामान नहीं है। किन्तु महामारत में किन प्रमाणसूत्र ये पुस्तकों के बताई गई कथन दिक्षा गया है उनके बताईं का नीतिवाच या मम कर्त्तव्यने के लिये भावा भारत में कर्त्तव्याग्रहणन गीता का निरूपण अस्यस्त मात्रवर्यक या और, बतमान उत्तम में महामारत के किस स्थान पर यह पाई जाती है उससे लक्ष्य, (अप्परांति के ये) कोई अधिक दोष्य स्थान उसके लिये दीर्घ नहीं पड़ता। उनना चिन्ह होने पर अनिम सिद्धान्त यही लिखित होता है कि गीता महामारत में उन्नित अपरण से और उचित स्थान पर ही कही गई है - यह प्रतिस नहीं है। महामारत के समान रेतापात्र यही समानात्म और उन्हें आप महाक्षम्य है और उस में मी क्षय-महाक्षम उत्तम पुत्रकर्म मातृप्रयत्न का सामिक्ष मिशेषन है। परन्तु यह अन्यतों की आवश्यकता नहीं, कि वाष्पीकि क्षयि का मूलेन्दु अनन्त काष्य ये महाप्रयत्न के समान अनेकसमवाचित सूक्ष्म चर्म-आषम स्याया से ओढ़ोत और उप द्वारा को हीस तथा उचित भी दिक्षा देने से उप प्रकार से समर्प कराने का चाही था। इनमें वर्त्म अधर्म, कार्य अकार्य या नीति की इहि से महामारत की वेष्टन रामायण से कही लक्ष्य है। महामारत के बाह्य आप वाच्य या वेष्टन दीक्षात नहीं है; किन्तु यह एक वहिता है, जिसमें चर्म-अधर्म के सूक्ष्म प्रकृतों का विवरण दिया गया है। और वहि एक अवश्यिता में कर्मवीत का वाच्यकीय तथा विविक्षण विवेचन न किया जाय सो यह यही दिक्षा जो लक्ष्य है। वेष्टन वेष्टन अधर्म से यह विवेचन नहीं किया जा उक्ता। उसके लिये थोरा स्थान चर्म-अधर्म से यह विवेचन नहीं किया जा उक्ता।

ही है। और यहि महामारतकार ने यह विवेचन न किया होता तो यह प्रम-भ्रम का इहत् सप्रह अथवा पांचवों वेद उठना ही अप्रय रह जाता। “स त्रुटि की पृति करने के लिये ही मावड़ीता महामारत में रखी गई है। सचमूल यह हमारा प्रय मात्र है कि इस कमयोगशास्त्र का मध्यन महामारतकार भैमे उच्चम जानी सत्यम् ने ही किया है जो बेश्वरशास्त्र के समान ही स्ववहार में भी अस्यन निषुण थे।

“स प्रकार विद्ध हो चुका कि उत्तमान मगदड़ीता प्रब्रह्मिन महामारत ही का पक्ष मान गए है। अब उसके अध्य का उछ अभिक्ष स्वादीकरण करना चाहिये। महरत और महामारत दोनों का हम स्मृत उत्तमानापक सम्भावन हैं; परन्तु उसका जो लिख मिल शामि है। व्याकरण की इक्षि से ऐसा जाय सो ‘भारत नाम उस प्रत्यक्ष की प्राप्त हो सकता है विसम भरतवशी राजाभा के परानम का वजन हो। उत्तमायण मागवत आवि एष्टा की खुलासि देखी ही है। और “स रीति से भारतीय मुद्र का विस प्रत्यक्ष में वजन है उसे देखल ‘भारत रहना वयेष हो सकता है फिर वह प्रत्यक्ष चाह लितना विलूप्त हो। उत्तमायणप्रत्यक्ष कुछ छोटा नहीं है परन्तु उसे कौर्म महा राजायण नहीं रहता। फिर भारत ही को ‘महामारत’ कहो चाहते हैं। महामारत के अन्त में यह अवस्थया है कि महान् और मारतत्व न तो गुणों के कारण इस प्रत्यक्ष महामारत नाम दिया गया है (स्तर्गा ६ ४४)। परन्तु ‘महामारत’ का उत्तम धारायार्थ उक्त मारत होता है। और ऐसा अध्य करने से यह प्रम उठता है कि ‘इह भारत के पहले भूमा कोइ लेटा भारत भी था। और उसम गीता भी था नहीं। उत्तमान महामारत के आपि पर्वत में उत्पन्न है कि उपास्मानों के अतिरिक्त महामारत के गुणों की संख्या चौरीस इत्यर है (आ १ १ १) और आगे उत्तम यह मी दिया है कि पहले इसका ‘अस्त’ नाम था (आ १२ २)। ‘अस्त’ शब्द से भारतीय मुद्र में पाण्डवों के अध्य का शब्द होता है; और ऐसा भर्त्य करने से पहली प्रतीक्ष होता है कि पहले भारतीय मुद्र का वर्णन ‘अस्त’ नामक प्रत्यक्ष में दिया गया था। आगे उत्तम कर उसी देविहासिक प्रत्यक्ष में अनेक उपास्मान चौड़ दिये गये; और “स प्रकार महामारत—एक महा प्रत्यक्ष हो गया दियामें देविहास और भर्त्य अधर्म विवेचन का भी निष्पत्ति किया गया है। आश्वायन व्यासका कृपितपेत्र में— युमन्तु देविनि-देवियामन पैष धूमप्रत्यक्ष मारत महामारत धमाकार्या (आ ४ १ ४)।—महरत और महामारत ही मिथ मिल प्रभों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है इससे स्त्री उक्त अनुमान ही उट हो जाता है। “स प्रकार छोटे भारत का वह भारत में समाकेष हो जाने से इच्छ शाल के बड़ छोटे ‘भारत नामक स्वतन्त्र प्रत्यक्ष होप नहीं रहा; और स्वमारतः छोटी से वह समान ही गर्व कि देखल ‘महाभेरत’ ही एक भारत प्रय है। उत्तमान महामारत की धारणी में सह वर्णन मिलता है कि व्यासकी ने पहले अपने उन (पुक) को और भनकर अपने अध्य कियों दो भारत रदाया था (आ १ १ १); और

ये किया गया है। इसी प्रकार गीता के पन्द्रहवें अध्याय में वर्णित भवस्य शुभ का रूप क्षेत्रिकनिष्ठ थे और 'न दद्धासपते सूर्योऽ' (गीता १६ ६) अपक कर हथा ऐताभ्युत्तर उपनिषद से - शूल में कुछ क्षेत्रिक वर्ण - किया गया है। अताभ्युत्तर उपनिषद भी बहुतेरी क्षयनार्दें तथा क्षेत्र भी गीता में पाये जाते हैं। नींव प्रकरण में कह कुछ है कि माया शूल का प्रयोग पहले पहल अताभ्युत्तरापनिषद में हुआ है आर वही से वह गीता तथा महामारण में किया गया हमा। शूल ताहस्य से यह भी प्रकृत होता है कि गीता के क्षेत्र अध्याय में यागान्वास के सिम्य माय्य स्थल का जो मह वर्णन किया गया है - शुचौ देह प्रतिष्ठाप्य (गीता १ १३) - वह समे शुचौ 'मारि' (४ २ १०) मन से सिंषा गया है और उम कायशिरोपीव (गीता ६ १३) ये शूल विवरण स्थाप्य सम शुचीरम्' (४ २ ८) इन मन्त्र से किये हैं। इसी प्रकार 'सबत' पाणिपाद क्षेत्र तथा उसके भागों का क्षेत्रिक भी गीता (२३ १३) और अताभ्युत्तरोपनिषद में शमश्च मिलता है (४ ३ १६) और अणोरणीयास्मि' तथा आदित्यवर्ण तमः परस्तात् पर्म भी गीता (८ ९) में भी अताभ्युत्तरापनिषद (३ ९२) में पढ़ ही से है। इनके अतिरिक्त गीता भार उपनिषद का शमश्चाहस्य यह है, कि 'उर्बनूतस्यमात्मानम्' (गीता ६ २९) और देवेभ सर्वेहमेव देवी (गीता १६ १६) ये जान क्षेत्रिक वैवस्योपनिषद (१ ३ २ १) में श्वो-क्षेत्रीय मिलते हैं। परन्तु एस शमश्चाहस्य के विषय पर अधिक विवार करने की कीद आवश्यकता नहीं। क्योंकि इस जात का किसी का भी तन्त्र नहीं है कि गीता का देवान्तर-विषय उपनिषद के आचार पर प्रतिष्ठानित किया गया है। उम विवार कर यही रहमा है कि उपनिषदों के विवेचन में और गीता के विवेचन में कुछ अन्तर है या नहीं; और यहि है तो इन जात में। अतएव अब उसी पर इस डाढ़ा चाहिये।

उपनिषदों की सरवा बहुत है। उनमें से कुछ उपनिषदों की माया तो 'रुद्धी भवाचीत है' कि उनका और पुराने उपनिषद का अभ्यमानसीन होना सहज ही मात्रम पढ़ जाता है। अतएव गीता भार उपनिषदों में प्रतिशानित विषयों के साहस्र वा विषार करते समय इस प्रकरण में हमन प्रकाशना के लिए उपनिषदों का शुल्क वा भिंगे किया है। जिनका दर्शन बहुत ही मह है। इन उपनिषदों के अप का भीर गीता के अध्याय का दर हम मिथ्य कर देता है तब यहम यही दोष हाता है कि यद्यपि रीतों में नियुल परवाय का अवश्य एक-तो तथा प्रति नियुल ने युगुण की उत्तरित का दर्शन करते समय भवित्वा शूल के प्रते 'माया या 'भास्म शूल ही' ये उपनिषद गीता में किया देता है। नींव प्रकरण में इस जात का अद्वैतरण कर दिया गया है कि 'माया शूल अताभ्युत्तरापनिषद में भा चुरा दे नामम्याम्य अविद्या' वा भिंगे ही यह शूल व प्राय शूल ह तथा यह भी ऊर इत्य प्रिया गया है कि अताभ्युत्तरोपनिषद के कुछ क्षेत्र गीता में भवत्तु वाय ज्ञाते हैं। इनमें पहला

कर कर ब्राह्मण-भ्याष-सदाऽ (अन् २३) भार भनुगीता में शुद्धि को सारथी की जा उपमा भी गए हैं वह मी कठोरनिपद् से ही ली गई है (अ १३); और करनिपद् के ये शब्दोः भृत्यु भृत्यु गृत्यमा' (कठ. १२) और भन्यन घमान्यवाचमान्' (कठ. २. १४) — मी शान्तिपद् में ही स्थानी पर (१८० २९ और १३ ४४) कुछ परफार के साथ पाये जाते हैं। भ्रताश्वर का सकृदः पाणिपात्म श्वेत मी फैला कि पहले कह आये हैं महामारत में भन्य स्थानी पर क्षार गीता में भी मिलता है। परम् श्वेत इतने ही से पहले साक्ष्य पूर्ण नहीं हो जाता। नहु मिला उपनिपदोः भीर मी शृत्यु-से वाक्य महामारत में कर स्थानी पर मिलते हैं। यही क्षमा पहली भी बहा जा सकता है कि महामारत का अध्यामश्यन प्राय उपनिपदों से ही लिया गया है।

गीतारहस्य के नींव भार तेरहूँ प्रसरणा म हमने विस्तारपूर्वक विस्तृत लिया है कि महामारत के समान ही मात्रादीता का भण्डालमूलन भी उपनिपदों के आचार पर ल्पापित है। और गीता म भण्डारार्थ का भी वर्णन है कह भी इस व्यान से भ्रमा नहीं है। अवश्यक यहाँ उसको तुयारा न लिय कर संचेप म लिफ़ यही व्याप्तयते हैं कि गीता के द्वितीय अध्याय में वर्णित आत्मा का अद्योत्पत्ति भावान्वय अध्याय का अद्यज्ञालमूल और तद्वर्ती भ साय का लेन्डमेन्सकिचार तथा लिहेप करके फैल परमाणु का स्वरूप — इन सब लिपयों का व्यान गीता में अभरण उपनिपदों के आचार पर ही किया गया है। कुछ उपनिपद ग्रन्थ में ह और कुछ पद्म में हैं। उनमें से गणामङ्क उपनिपदों के वाक्यों की पद्ममय गीता में ज्यो व्याख्यात्मों उद्भूत करना उम्मत नहीं तथापि जिन्हा ने छान्तीम्बोपनिपद् आदि को पढ़ा है इनके व्यान में यह वात सहज ही भा जायगी कि जो है सा है और जो नहीं जो नहीं (गीता २ ११) तथा य य जापि स्मरन् मात्रम् (गीता ८ ६) न्याति लिचार छान्तीम्बोपनिपद् से लिये गये हैं और जीपे पुष्टे (गीता २१) प्योतिपा प्योति (गीता २१ १७) तथा 'मात्राम्बद्धो' (गीता २ १५) न्याति लिचार और वाक्य दृहदारण्यक उपनिपद से लिये गये हैं। परन्तु ग्रन्थ उपनिपदों को छान्त व्यान हम पद्ममूल उपनिपदों पर लिचार करते हैं तो यह समत लिये गये हैं अधिक स्पष्ट व्यक्त हो जाती है। न्योति इन पद्ममूल उपनिपदों के कुछ ज्योक व्यो-के त्वयी मात्रादीता में उद्भूत जिन्हे गये हैं। छान्तारण्यक करनिपद् के छ सात ज्योक असरणः अद्या कुछ लेन्डमेन्स से गीता म लिये गये हैं। गीता के द्वितीय अध्याय का 'आश्चर्यवल्पस्त्वति' (२ ८९) ज्योक, लेन्डमेन्स की द्वितीय वस्त्री के वाक्यों वक्ता (कठ २ ७) ज्योक ही समान है और न जायते लियते वा कर्त्तव्यि (गीता २ २) ज्योक तथा यश्चित्त्वो वस्त्रवय चरन्ति (गीता ८ ११) ज्योकर्त्तव्य गीता और कर्त्तोपनिपद् म न रुण एह ही है (कठ १ ८१)। यह पहले ही काव्य लिया जाग है कि गीता का 'नित्यताति पराभ्यामु' (१ ८२) ज्योक ज्योपनिपद् (कठ १ १)

भासी यह भी कहा कि सुमन्तु अमिनि ऐसे दुष्क भार वैद्यम्बायन "न पौच शिर्यो  
ने पौच मिम मारतुष्टिताभी की रखना थी (आ ६३)।" इस विषय में  
वह कथा पाए जाती है कि इन पौच महाभारत में वशम्बायन के महाभारत का  
और अमिनि के महाभारत से केवल अध्येत्यव थी का व्यापारी ने रख सिया।  
"मुझे अब यह मी मालूम हो जाता है कि उपर्युक्त म नारत महाभारत" शब्दों  
के पहले सुमन्तु आठि नाम द्वया रख गए हैं। परन्तु यह इस विषय में उन्हें गहर  
विचार का काम प्रयासन नहीं। राज विजामणाद वय ने महाभारत के अपन  
दीक्षाद्वय में "स विषय का विचार करके ओ लिडान्त भवापित बिया है वही इस  
संयुक्तिक मालूम होता है। अतपि यहाँ पर उन्होंने फह द्वा री यथा होगा कि  
कलमान समय में जो महाभारत उपलब्ध है वह मूल म वसा नहीं था। मारत या  
महाभारत के अनेक रूपान्तर हो गय है भार इस प्रथा का जो अनित्यम स्वरूप प्राप्त  
हुआ वही हमारा बत्तमान महाभारत है। यह नहीं कहा जा सकता कि मूल मारत  
में भी गीता न रही हांगी। हाँ यह प्रकृत ह जि सनन्तुशतीय विदरनीति  
उकानुग्रह, यास्वदस्य-अनेक स्वार विष्णुसहस्रनाम अनुरीता नारायणीय घम  
आति प्रकरण के समान ही बत्तमान गीता का भी मामारतनकार ने एहस प्रथों के  
भावार पर ही लिया है—नह रखना नहीं थी ह। तथापि यह भी निष्प्रयुक्त  
नहीं कहा जा सकता कि मूल गीता म महाभारतकार ने कुछ भी हेरेपर न लिया  
होगा। उपमुख विषेषज्ञ से यह जान सहज ही समझ म आ सकती है कि बत्तमान  
वास सौ भोका की गीता बत्तमान महाभारत में समान गीता का लिखी ने जाए में  
सिद्ध नहीं लिया है। आग यह भी कालाया व्याप्ता कि बत्तमान महाभारत का  
समय बीम-सा है और मुलगीता के विषय में हमारा मत क्या है।

## भाग २ — गीता और उपनिषद् ।

अब दोस्ता वाहिय कि गीता और भिम नित्र उपनिषद का परम्पर सम्बन्ध  
है। बत्तमान महाभारत ही मैं स्थान स्थान पर उपान्य रीति से उपनिषद का  
उद्देश लिया गया है और शृणुरार्थ्यक (१३) तथा घट्नाकार (१२) म बलित  
प्रालिदिवों के युद्ध का इसम भी अनुरूपिता (अध्य १) में ह तथा न मे स्मर्ती  
अनुपद जाति देवद्वय-अध्यात्मि रात्रि क मूर्ति भ लिखे इष शान्ति (ग ६ ११६)  
घट्निष्ठ ए उत्त रात्रि की कथा का वर्णन बत्त गमय च्या कान्द्या दाय जात है  
(ए ३०/१)। इसी प्रकार घट्निष्ठ ए अनुर पञ्चांश-स्वार म रुद्गार-द्वय  
(४ ११) ए पर विषय लिया है जि न धन्य लग्नमि अथात मरने पर हन्त  
का दार्त समझ नहीं रहती। (क्योंकि यह द्रव्य म दिल्ल रक्त ही रहत पही अन्त न  
प्रम (१) तथा मुर्द्द (१ ८) उपनिषद म दार्ती नहीं रहत पही ए उत्त ए  
उत्तम जान द्वय से दिल्ल पुरुष के दिव में दिया गया है। उपनिषद न दो-

यह अनुमान किया जाता है कि—‘सब अधिक वृक्ष (अ ३१८१) या सभीमानं पश्यति’ (१४४२१) भवता सद्गूरु चार्मानम् (च ६) इस चिठ्ठान्त का भवता उपनिषद्दी के सार नव्या मन्त्रन का यथापि गीता में उपर्युक्त किया गया है तथापि गीताप्राप्त तत्र क्ना होगा अब कि नामस्पात्मक भवित्वा को उपनिषद्दी में ही ‘माया नाम प्राप्त हो गया होगा।

भूत यहि "स भाव का विचार करें, कि उपनिषद् के और गीता के उपनिषद् में क्या भेद है, तो दीप पड़ेगा कि गीता में कापिष्ठसामयणाम् का विचार महाभ  
दिया गया है। ब्रह्मदरम्यक और स्थान्त्रिक शब्दों उपनिषद् अनप्रचान ह परम् उनम्  
को साम्यप्रक्रिया का नाम भी दीख नहीं पहुँचता। और कर आवि उपनिषद् में यथापि  
अध्यक्ष, महान् त्यागि साम्य के ग्रन्थ आये हैं; तथापि यह स्पष्ट है कि उनका  
अथ साम्यप्रक्रिया के अनुसार न कर के वेदान्तपठति के अनुसार करना चाहिये।  
मैस्युपनिषद् के सुपासना को भी यही न्याय समझुक्त किया ज्य सकता है। स फ्रार  
साम्यप्रक्रिया को गहिष्ठर करने की सीमा भर्हों एक आ पर्णेची है कि वेदान्तस्था  
में पञ्चीकरण के कामे अन्तेऽम् उपनिषद् के भाषार पर विश्लेषण ही से स्पृशि के  
नामरपाम् वैत्तिकी की उपपत्ति बहुताइ गर्व है (वे ८, ४२)। सास्तों  
को पक्षम् अल्पा करके अन्यात्म के भर अस्तर का विवेचन करने की यह पद्धति  
गीता में स्वीकृत नहीं हुई है। तथापि स्मरण रो है कि गीता में साम्यों के विद्यान्व  
ज्योंके तर्ही नहीं छ लिये गये हैं। शिगुणात्मक अध्यक्ष प्रवृत्ति से गुणोन्तर के अनु-  
सार व्यष्ट सुष्ठु उपपत्ति होने के लियम से साम्यों के बो सिद्धान्त हैं के गीता को  
प्राप्त है और उनके यस मत से भी गीता सहमत है कि पुरुष तिर्युष हो कर ब्रह्म  
ह। परन्तु द्वैत-साम्यश्वन पर अद्वैत-वेदान्त का पहले "स फ्रार प्राम्य स्पापित  
कर दिया है कि प्रहृति और पुरुष स्वतन्त्र नहीं ह। वे अनौ सपनिषद् में वर्णित  
आत्मस्फी एव ही परमात्म के रूप अपात् विनूतिर्वा हैं और फिर उपासना ही के  
भर अस्तरकिचार का वर्णन गीता में किया गया है। उपनिषदों के ब्रह्मात्मेस्पृष्टप  
भैतिमत के साथ स्पापित किया हुआ द्वेषी साम्यों के संपुत्तिक्रियम का यह मेक  
गीता के समान महामारत के अथ स्पानों में किये हुए अप्यात्मविवेचन में भी पापा  
जाता है। और ऊपर ये अनुमान किया गया है कि शेनौ प्रन्य एव ही व्यक्ति के  
प्राप्त रूप गये हैं यह "स मेस से और भी ए रही जाता है।

उपनिषद की अपेक्षा गीता के उपराजन में ये दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता है कि इसको पासना अवश्य मरिमाग है। मानवश्रीता के समान उपनिषद में भी केवल यज्ञयाग व्याप्ति कर्म ब्राह्मण से गाण ही माने गये हैं। परन्तु इसका मानवश्रीता ईश्वर की ग्रासना प्राचीन उपनिषद में नहीं दीप पढ़ती। उपनिषद्कार न तर्ह से उहमत है कि न यज्ञ वार निःशुष्प परब्रह्म का आकस्म द्वाता हृदिन है। इसमें मन आकाश एवं अपि यह व्याप्ति सुगुण प्रकीर्ति की उपासना करनी चाहिए।

के लिया गया है। “सी ग्रन्ति गीता के पन्थहम अन्याय म बर्णिन अशत्य तुम  
का स्पृह क्वोपनिषद् से भीर न तदात्परं स्वोऽ” (गीता ५ ६) भगव  
कर तथा ऐताभ्युत्तर उपनिषद् से— शार्जा में मुख फेरफर करक— लिया गया है।  
भास्तुतर उपनिषद् वी चतुर्वेदी क्ष्यन्नार्थि तथा क्षोक मी गीता म पाये जाते हैं।  
नीव प्रसरण म कह दुके हैं, कि माया शर्म का प्रसोग पहल पहल वृत्ताभ्युत्तरापनिषद्  
में हुआ है, और वही से वह गीता तथा महामारत म लिया गया हुआ। शर्म  
साक्षस्य से यह भी प्रकृत होता है कि गीता के छन्द अन्याय में शोगान्यास के लिये  
साम्य स्थन का ओ यह व्यञ्जन किया गया है— शुचां इष्टं प्रतिश्वास्य (गीता  
६ १०)— वह उसे शुचौ भावि (ऐ ८ १) मन्त्र से लिया गया है और  
उम कायदियोगीव (गीता ६ १३) ये शर्म विवरण स्थाप्य सर्व शरीरम्  
(व २८) एव मन्त्र से लिय है। “सी ग्रन्ति सबूतं पाणिपात्रं भोक्त  
तथा लक्ष्म भासा का क्षोकाम भी गीता (१३ १३) भार ऐताभ्युत्तरोपनिषद् में  
प्रस्तु मिलता है (ऐ ३ १६) और अशोरक्षीयस्तुतम तथा आविष्यक्षण  
कम्प भरत्वात् पर भी गीता (८ ) में लीर ऐताभ्युत्तरापनिषद् (१ २ )  
में एक ही से है। अनह अक्षिरिक गीता भार उपनिषदों का शब्दसाहस्र्य मह ह,  
कि वृक्षभृतस्यमानानम्” (गीता ६ २०) और वैश्वं सर्वेहमेव तथा (गीता  
५० १६) ये शान्तं क्षोकाम विवस्योपनिषद् (१ १ २ १) म व्योक्त्वा मिलते  
हैं। परमु एव शर्मसाहस्र्य के विषय पर अधिक विचार करने की छाँ भावन्यक्षमा  
नहीं। क्याकि इस बात का किसी का भी सन्दर्भ नहीं है कि गीता का बड़न्त विषय  
उपनिषदों के आधार पर ग्रन्तिवित लिया गया है। हमें विशेष कर पही देखना है  
कि उपनिषदों के विषयन में और गीता के विषयन में कुछ भन्तर है या नहीं  
और यहि ही रूप दिय जाते हैं। अतएव भव उसी पर इष्ट शास्त्रा जाहिये।

उपनिषद् की सम्भा बहुत है। उनम से कुछ उपनिषदों की मात्रा तो इतनी  
भवारीन है कि उनका भार पुरान ज्यनिषद् का अममसास्तीन हीला सहज ही  
मात्रम पर जाता है। अनेक गीता भार उपनिषद् में प्रतिवाचित विषयों के साक्ष्य  
का विचार करने समय इस प्रकरण में हमन प्रयत्नता कर उन्ही उपनिषदों को तुक्ता  
के लिये लिया है। इनसे उत्तेज बहस्त्रों म है। इन उपनिषदों के अय का भार  
गीता के अप्याय का यह हम मिय कर इस्त है तब प्रयत्न मही ओप हाला है कि  
परन्तु ऐता मि लिगुम पर्वतम का स्वरूप एक-सा है तथा प्रिय लिगुल मे लगुण की  
अस्ति का वर्णन करन समय ‘भवित्वा शर्म के दश्य ‘माया या भवन शर्म ही  
अ उपयोग गीता मे लिया गया है। नीव प्रसरण म इस दात वा शब्दीरण कर  
एव रूपा है कि ‘माया शर्म वृत्ताभ्युत्तरोपनिषद्’ म वा चुना हे नामव्याख्य  
भवित्वा के लिय ही पह दृढ़ता प्रयाय शर्म है तथा पह मी उस क्षम्य लिया गया  
है कि ऐताभ्युत्तरोपनिषद् के हठ क्षम गीता मे भवत्य पाव जाते हैं। अब एहत

शाश्वतद्य भपवा नारद के मणिसूल उसके बाट के हैं। परन्तु इससे भक्तिमाग भपवा मागमतभम की प्राचीनता में कुछ भी जाता हो नहीं सकती। गीतारहस्य में किये गये विवेचन से ये जाते अप्प सिद्धि हो जाती है कि प्राचीन उपनिषदों में यिथ सगुणोपासना का वर्णन है उसी से क्षमशा इमाय मणिमाय निकल्य है। पातञ्जल्योग में चित्र को स्थिर करने के लिये लिची-न-लिची व्यरु और प्रस्तुत बलु की दृष्टि के सामने रामा पहुँचा है। उत्सिये उससे भक्तिमाग की और भी पुष्टि हो गा है। भक्तिमार्ग लिची भन्य रथान से हिन्दुरथान में नहीं अपा गया है—ओर न उसे वहीं से अनें की आवश्यकता ही थी। कुड हिन्दुरथान में उस प्रकार हे प्रादुर्भूत भक्तिमार्ग का और विश्वपत्र बासुदेवमणि का उपनिषद में वर्णित देवन्त की दृष्टि उसमें उपनिषद करना ही गीता के मणिपात्र का एक विभाग भाग है।

परन्तु उससे भी अधिक महत्वपूर्ण गीता का दृग, कर्मयोग के उप भक्ति आर ब्रह्मण का मेल कर देना ही है। चानुर्वस्य ऐ भपवा भौतयक्षयाग भावि छों को पश्यति उपनिषदों ने गीत माना है तथापि कुछ उपनिषदारों का वचन है कि उम्हे विच्छुदि ऐ किये हो करना ही चाहिये; और विच्छुदि होने पर भी उन्हें छों देना चरित नहीं। इतना हाने पर भी वह तकते हैं कि अधिकार उपनिषदों का स्वाक्षर सामान्यता अमस्त्याप की ओर ही है। ईशावास्योपनिषद् के समान कुछ अन्य उपनिषदों में भी कुर्विते हैं कर्माणि जैसे आमरण करते रहने के विषय में वचन पाये जाते हैं। परन्तु अध्याभशान और सासारिक कर्मों के बीच का विरोध मिटा कर प्राचीन काल से प्रबन्धित इस कर्मयोग का समर्थन जैसा गीता म लिया गया है जैसा लिची भी उपनिषद् में पाया नहीं जाता। भपवा यह भी कहा जा सकता है कि “स विषय म रीता का सिद्धान्त अधिकार उपनिषद्भारा के विद्वान्तों से मिल है। गीतारहस्य के व्याख्यान प्रकरण में उस विषय का विस्तारपूर्वक विवेचन लिया गया है। इसलिये उसके बारे में यहाँ अधिक लियने की आवश्यकता नहीं।

गीता के छठे अध्याय म विह योगसाधन व्य निर्मेय लिया गया है उल्लेषित और दीर्घ दीम विवेचन पातञ्जल्योगसूल में पाया जाता है और इस समष्टि में इस ही “स विषय के प्रमाणमूल प्रन्थ उमसे जाते हैं।” न कुछ के चार अध्याय है। पहले अध्याय के व्याख्यान म योग की व्याख्या उत प्रकार की गई है कि “बोधप्रिय वृत्तिनिरोध”; और वह व्युत्पत्ति अन्याय तथा विराम से लिया ज्य लक्षता है। भाग वाल्लर पर्मनियम-आचन प्राणायाम भावि योगसाधना का वर्णन करके तीसरे और चौथे अध्यायों में इत बात का निरूपण लिया है कि अचम्पश्वत् अर्थात् निर्विस्त उमापि ते अनिमा स्वप्निमा भावि अस्त्रीयिक सिद्धियों प्राप्त होती है। तथा “सी उमापि से अर्थ में व्रजनिवाणकृप मात्र मिल जाता है। स्वावृत्तिया में भी पहले विच्छनिरोध जरूर भी आवश्यकता ( गीता ६ २ ) उल्लक्ष गया। फिर कहा है कि अम्बाच तथा वैदाम्ब-

परन्तु उपासना के लिये ग्राजीन दृष्टिपात्र में इन प्रतीकों का वर्णन किया गया है उनमें मनुष्यहस्ती परमेश्वर के स्वरूप का प्रतीक नहीं बताया गया है। मैस्ट्रु परिपद (७०) में कहा है कि कठ विष्णु असुर नारायण से उन परमात्मा ही के स्वरूप हैं। अताथतर्योपनिषद् में 'महेश्वर आदि शब्द प्रपुरुष हुए हैं और शम्भव शब्द मूल्यत संख्याशः (से ६ १३) तथा यस्य ऐसे परा मर्किं (से ६ १४) भावि वचन में खेत्राध्यक्षर में दाय बताते हैं। परन्तु यह निष्पत्तिपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि 'न एवनी मि नारायण विष्णु भावि शब्द में विष्णु के मानव गद्यार्थी अवतार ही विवरित है। कारण यह है कि कठ और विष्णु य शब्दों द्वारा विभिन्न अवतार शब्दीन हैं तब यह किसे मान सकिया जाए कि यश्च वै विष्णु (ते ८ १०४) इत्यादि प्रश्नार से यज्ञपात्र ही की विष्णु की उपासना का शब्द मूल्यत लाग दिया गया है यही असुरु उपनिषद का अभियाप्त नहीं है। अस्ता यह कठ कह कि मानवहस्ती अवतारों की क्षमता उस समय में होती तो परन्तु यह विष्णु नहीं है। क्यामि इताख्तरोपनिषद् में वा 'मन्त्र य ह अस यज्ञस्पी उपासना के विषय में प्रपुरुष करना दीक्षा नहीं दिता। यह दल अन्त है कि महानारायण दृष्टिहस्तीनी रामायानी दृष्टि गायायास्त्रायानी भावि दृष्टिपात्र के वचन अत्याख्तरोपनिषद् के वचनों की अपेक्षा नहीं अधिक अष्ट है। इत्यन्ति यह दृष्टिय में उपर प्रश्न की शब्दाकरन के विषय काँड़ा व्यान ही नहीं रह जाता। परन्तु 'न उपनिषदों का काँड़ा निष्पत्ति व्यन के विषय दीक्षा दीक्षा काँड़ा नहीं है' अत्यन्ति 'न उपनिषदों के भाषार पर यह प्रभ दीक्षा तौर से हृष्ट नहीं दिया जा सकता कि दीक्षित भगव में मानवहस्तीरी विष्णु की मति का उत्तर कर द्युपा' दृष्टिय संवय रोते से दीक्षित अविष्टारण का प्रतीक्षाता अस्ती तरह दिठ की जाती है। गालिनी का एक शब्द है 'मन्त्र' - भेदात लिख द्यते हैं (पा ८ ३)। इसके अन्ते वामपात्रानुवान्या शुम (पा ८ ३ १) इत शूम में वहा संषा है दिक्षित व्यसुद्दि में नहिं है। उस वामपात्र की भाव दिक्षित भ्युन्नें नहिं है। इत अनन्त वहना चाहिये। वाम पत्रकृति के महामात्र्य में इत पर दीक्षा करने विषय कहा गया है कि इस शूम में वामपात्र दीक्षा का पा मनवान् जा जाए है। इन पर या भवानक्षमात्र्य के विषय में दात्यर न्यायाश्वर न यह दिक्षा दिया है कि इत 'नार नन के लक्ष्य दात' को दाय परन्तु ज्ञा है। भीत इनमें तीन गन्तव्य ही नहीं दिया गया है कि इत इतन की भवित्व प्राप्त है। इसके दिया भवि का अन्त उद्देश्य दाता है। भीत हमन भवि पत्रकृत दिक्षार्था के लक्ष्य में दीनि के लक्ष्यों का दर्शन होते हैं तो दिक्षा विष्ट्वा के लक्ष्यमें ही दात दाया जाय। भावात् यह एक दिक्षिता दिठ है कि अनन्त वृत्ति शूम है 'रूप - भवात् इतार नन के दर्ते लक्ष्य हैं' और तत्परित दाय - दृष्टा दृष्टा का नैत्यमें तीव्री दाय दृष्टिरूप है। दर्शनक्षमात्र्य का

ही का प्रधानता से प्रतिपादन किया गया है जो सामान्य लोगों के लिये भावरण करने में सुगम हा एवं उस तथा परम्परा में शेषलक्षण हा। उपनिषद् की अपेक्षा गीता में यह कुछ विशेषता है यह यही है। अतएव ब्रह्मशब्द के अतिरिक्त अन्य गाना में भी सन्वादप्रधान उपनिषद् के साथ गीता का मूल करने के लिये साम्प्रदायिक हाइ से गीता के अध्य की गीतावानी करना उचित नहीं है। यह उच्च ह कि शब्द में अ यामशन एवं ही सा है। परन्तु — जैसा कि हमने गीतारहस्य के ग्यारह ग्रन्थ में स्पष्ट लिखा दिया है — मध्यामध्य महाक एवं मध्य हो दी साम्न्य तथा कमयोग वैशिष्ठम पुरुष के शो समानक्षमात्रे हाथ है और उनमें से इशावास्योपनिषद् के अनुसार अनेक कम ही का प्रतिपादन गुरुकर से गीता में किया गया है।

### भाग ३ — गीता और ब्रह्मसूत्र

शानप्रधान, मक्षिप्रधान और योगप्रधान उपनिषद् के साथ मगालीता में यह साहस्र और भर है उनका “स प्रकार विवेचन कर तुमने पर यथात् मैं प्रदृशस्त्रा और गीता की तुम्हारी की को” आवश्यकता नहीं है। क्योंकि मिथ मिथ उपनिषद् में मिथ मिथ कृपिया के बहुताये हुए अध्यात्म सिद्धान्तों का नियमशब्द विवेचन करने के लिये ही नावरायणाचाय के ब्रह्मस्त्रों की रचना हुर्व है। इति उपनिषद् उपनिषद् से मिथ मिथ विचारों का होना सम्भव नहीं। परन्तु मगालीता के तेहरव अध्याय में भेत्र और देवता का विचार करते समय ब्रह्मस्त्रों का रूप उल्लेख इस प्रकार किया है —

मात्रिभिर्बहुधा यीम छान्दोमितिरिक्षेः पृथक् ।

ब्रह्मसूत्रपदेष्वेव हतुमन्तिरिक्षितैः ॥

अर्थात् धेनुकेत्र का अनेक प्रकार से विविध छन्दों के द्वारा (अनेक) क्षणिकों ने पूर्व एवं और हतुमूल तथा पूर्ण निष्पात्मक ब्रह्मसूत्रपदों से भी विवेचन किया है (गीता १४ ४)। आर परि न ब्रह्मस्त्रों को तथा वर्तमान वेदान्त देवा का एक ही मान हे तो कहना पढ़ता है कि वर्तमान गीता वर्तमान वेदान्त सर्वों के बात की होगी। अतएव गीता का काव्यनिषय करने की हाइ से इस बात का अवश्य विचार करना पड़ता है कि ब्रह्मसूत्र कौन से हैं। क्याओं वर्तमान वेदान्तकूल के अतिरिक्त ब्रह्मसूत्र नामक को “तुम्हारा प्रत्य नहीं पाया अस्ता; और न उपके लिये मैं कही बाण ही है।” आर परि कहना तो किसी प्रकार उचित नहीं

इस लिख का विचार एकान्तरामी तरफ़ से किया है। इसके लिया है १४ ५ में इसी लिख के प्रा दुहाराम तामचक नमहनेकर वी ए ने भी ए लियम बहासित किया है।

"न दोना साधना से चित्र का निरोधन करना चाहिये (६ १६) और अन्त मनिक्षिस्य समाधि स्थान की रीति का बणन करके यह विश्वामया है कि उसमें क्या सुन है। परन्तु ऐसल उन्हें ही से यह नहीं कहा जा सकता कि पातञ्जल्योगमान से मायदीवा सहमत है अथवा पातञ्जलस्मृत मगवदीवा से प्राचीन है। पातञ्जलस्मृत की नार मालान् न यह कहा नहीं है कि समाधि खिंड हान के लिये नार पकड़े पकड़ दारी आयुष्वीत कर देनी चाहिये। कमयाग भी खिंडि के लिये तुड़ि की समता होनी चाहिये और इस समता की प्राप्ति के लिये चित्रनिराद तथा समाधि होना आवश्यक है। अतएव केवल साधनरूप से "नका बणन गीता में किया गया है। ऐसी अवस्था में यही इहना चाहिये कि उस विषय में पातञ्जलस्मृत की अपक्षा खत्ताभ्यतरापनिषद् या कठोपनिषद् के साथ गीता अधिक मिलती तुल्यी है। व्यान दिनु, तुरिका भार पागलभ्य उपनिषद् भी यादविषयक ही है। परन्तु उनका मुख्य प्रनिपात विषय व्यष्ट पाग है और उनमें लिप्त धोग ही की महत्वा का बणन किया गया है। "सर्विष केवल अभ्योग का भेद माननेवाली गीता से "न एकपश्चीय उपनिषदों का मेल करना चिन्तन नहीं और न यह ही समता है। यामरुन साहृषु ने गीता न भनाई मैं या अनुका किया है उसक उपोदात म आप कहते हैं कि गीता का कमयाग पातञ्जल्य पाग ही का एक व्यान्तर है। परन्तु यह बात न समझद है। "स विषय पर हमारा यही क्षमत है कि गीता के 'योग शब्द का ग्रीक नीक भय समस्त में न भाने के शारण यह द्वय उपरम दूर्भाव है। क्याकि "धर गीता का कमयोग प्रतिष्ठितान है तो उत्तर पातञ्जल्याग फिल्मुल उसक विषद् अधात निरूपितान है। अतएव उनमें से पहले का दूसरे से प्रादुर्भूत होना कमी सम्भव नहीं और न यह यान गीता मैं नहीं है। इतना ही नहीं; यह मीं कहा गा सकता हूँ कि योग शब्द का प्राचीन भय "कमयाग" या और कम्पय है कि वही शब्द पागलस्मृतों के भनन्तर कवच यिन निरापत्तीयी याग के भय में प्रचलित हो गया है। चाह गा हा यह निर्दिष्टानिंद है कि प्राचीन समय में उनके भानि ने जिन निष्क्रिय व्यानरम् के माग का भवष्मज्ञ दिया था ज्ञानी क सहयोगीना का साथ भयान कम्पयाग भी है भार यह मनुष्यानुभूति भावि महामुकावी की परम्परा से वह यह भयानकप्रमाण म दिया गया है - यह कुछ पातञ्जल्यीया न उत्पन्न नहीं रहा है।

भव तत् दिये गये विवेचन भ पह इति तत्त्वामै भा शापरी ति गीता अम भीर उत्तरनिरादा भै दिन दिन गीता की विभिन्नता भीर समानता है। इनमें से शीर गीता का विवेचन गीतारहस्य मैं स्थान व्याप्ति पर दिया गा चुग है। गीता यही व्याप्ति मैं यह द्वारा द्वारा है कि यद्यपि गीता मैं प्रतिशानिः प्रदर्शन त्रितीयी के भावर पर ही द्वारा द्वारा है सपारि द्वारा के भावामान का मैं दिया भनुता न वर उनमें दावेष्यमिति का और भी द्वारा वै वर्त्ति सूत्तरानिवार का भव्या द्वारावरत्तन का भी द्वारा दिया द्वारा है भीर त दिव व्याप्ति अम

समरण रहे कि उपनिषदें के सब किनार इधर उधर किसरे हुए हैं अथवा अनेक अधिकारियों को ऐसे सूक्ष्मते गये थे ही ऐसे कह गये हैं। उनमें कोई विशेष पढ़ति वा क्रम नहीं है। अतएव उनकी एकाक्षरता किंवा उपनिषदों का मात्रात्पर्य द्वैक्षणिक समझ में नहीं आता। यही कारण है, कि उपनिषदें के साथ ही साथ उस प्रक्षय पा वेणुन्दस्तूर (व्रह्मस्तूर) का भी उल्लेख वर्त देना भावस्थक वा किसीमें कारणात्मक हेतु गिरावच कर उनकी (अपार्ट् उपनिषदें की) एकाक्षरता की गई है।

गीता के लोकों का उक्त अध्ययन से यह प्रहृष्ट हो जाता है कि उपनिषद् और ब्रह्मस्तूर गीता के पहले में हैं। उनमें से मुख्य मुख्य उपनिषदों के विषय में वा कुछ भी मतभाव नहीं रह जाता। क्योंकि “न उपनिषदें के बहुतेरे अधिक गीता में शास्त्राणां पाये जाते हैं। परन्तु ब्रह्मस्तूरों के विषय में उल्लेह अध्ययन किया ज्य उक्तां है। क्याकि ब्रह्मस्तूर में यथापि ‘मात्रात्रीता’ शब्द का उल्लेह प्रस्तुत में नहीं किया गया है उपरापि भाष्यकार यह मानते हैं कि कुछ स्तूरों में ‘स्मृति शम्भीं सं मात्रात्रीता ही का विर्णेष्ट किया गया है। किन ब्रह्मस्तूरों में शाहूरमात्र के अनुसार ‘स्मृति शम्भीं सं मात्रीता ही का उल्लेह किया गया है उनमें से नीचे विषय हुए सब सुन्दर हैं—

ब्रह्मस्तूर—अप्याय पाह और स्तु	गीता—अप्याय भार स्तु
१ २ ६ स्मृतेभ ।	गीता १८ ६१ इधर सर्वभूताना भारि क्षेत्र ।
२ ३ २२ अपि च स्मर्यते ।	गीता १८ ६ न वद्मासवते शूर्यः भा ।
२ १ १६ उपपत्तै चाप्युपसम्युरु च ।	गीता १८ १ न रूपमस्तेष्ट तपोपद्मन्यते भारि ।
२ ३ ४५ अपि च स्मर्यते ।	गीता १ ७ मैत्रेयो धीवस्त्रेष्टे शीवस्तूर भारि ।
३ १७ वर्णयति चाचो अपि स्मर्यते ।	गीता १४ २२ लेप यज्ञां प्रवस्यामि भारि ।
३ ३ ११ अनिषमा सवासामविरोधं शम्भानुमानान्म्याम् ।	गीता ८ २१ शुद्धस्त्रो गती इते भारि ।
४ १ १ स्मर्तिं च ।	गीता ६ ११ शुर्वी लेष्टे भारि ।
५ २ ११ पायिन ग्रहि च स्मर्यते ।	गीता ८ २३ वन व्यवेत्तनाविनिमा शूषि चेष्ट योगिनः भारि ।

वेचता कि बनमान ब्रह्मस्त्रा के बारे गीता कही होगी। क्योंकि, गीता की प्राचीनता के विषय में परम्परागत समझ चली आ रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राय श्री कठिनाई का व्यान में इस कर शाहुरमाल्य में 'ब्रह्मप्रपत्त' का अर्थ भक्तियों के अपवा उपनिषदों के ब्रह्मप्रतिपाद्य का वाक्य किया गया है। परन्तु इसके विपरीत शाहुरमाल्य के टीकाकार आनन्दगिरि और रामानुजानाय में याक्षाय प्रमुख गीता के अन्वान्व माध्यकार यह कहत है कि वहाँ पर 'ब्रह्मस्त्र' अव जाणा हे भयान्क ब्रह्मदिव्यसा इन वाक्यरायणानाय के ब्रह्मस्त्रा का ही निर्देश किया गया है और भीभरम्यामी को जाना अप्य अमिष्टत है। अतएव 'स कोह का सत्याप हम स्तनम् रीति से ही निष्ठित करना चाहिये। क्षेत्र और कुष्ठप्रदिव्यों ने अनेक प्रकार से पृथक् कहा है; आर 'सकं सिवा (चद) हत्युक्त और विनिधयात्मक ब्रह्मस्त्रपर्णों ने भी वही अप्य कहा है 'स प्रकार वैद (र्हार मी) पर से 'स वात का संप्रीकरण हा जाता है कि 'स ऋत्र म अक्षयक्रष्णिचार के मिष्ठ मिष्ठ स्थाना का उत्तेज्ज्वल किया गया है। जाना क्षेत्र निष्ठ ही नहीं है किन्तु दनम से पहला भयान् कृष्णिया का किया हुआ यज्ञ विविच्छन्ति के द्वारा पृथक् दृष्ट ह अथात् कुछ यहाँ और कुछ यहाँ तथा अनेक प्रकार का ह और उसका अनेक कृष्णियों द्वारा किया जाना 'कृष्णिमि ('म ब्रह्मकर्त्ता त्रीयान्त पद') से स्पष्ट ही जाता है। तथा ब्रह्मस्त्रपर्णों का दूसरा बजन हत्युक्त भार निष्ठयामस्त्र है। इस प्रकार 'न जाना बजना' की विशेष मिष्ठता का संप्रीकरण इसी स्तोत्र में है। 'हनुमत इन महाभारत में कर स्थानों पर पाया जाता है और उसका अर्थ है— नेपालिक पठनि से कायकारणाम्बुज अनधकर किया हुआ प्रतिपाद्न उत्तरणाय अनेक के संभव सुक्षमा का किया हुआ भायण भयवा भीहृष्ण तथा शिशुओं के स्त्रियों की सम्मा में गय उस समव त्वना किया हुआ भायण लीकिये। महाभारत में ही पहला भायण का हनुमत और अधकर (शा ३२ ११) और दूसरा ता तटेन्दु (ठा ३११) कहा है। 'कर प्रकृत होता है कि इस प्रतिपाद्न में एक बड़ा भव्य प्रमाण अनधकर अनेक भव्य तथा तक्ते कि इसमें कुछ तो एक भायण में ही भार कुछ दूसरे भायण में। अतएव कृष्णिमि बहुपा विविध दृष्ट और हनुमद्विभिन्निभिन्न विशेषण स्वायत्र ता सज्जन है। ये दृष्ट उत्तरियाँ के पासे सहीग प्रतिपाद्न का नहीं स्वायत्र तथा तक्ते कि इसमें कुछ तो एक भायण में ही भार कुछ दूसरे भायण में। अतएव कृष्णिमि बहुपा विविध दृष्ट और हनुमद्विभिन्निभिन्न विशेषण के उपर विवेका से निष्ठ निष्ठ श्वानियन के सहीम भार कुपर वाक्य ही भवित्वेत इन पर्याप्त हुए हैं तथा हनुमत भार विनिधयाम्बुज ब्रह्मकर दृष्ट से ब्रह्मस्त्र प्रग्य का वह विवेक भवित्व है कि इसमें लाखरस्पद फ्लाम विश्वाकर रित्तम् विडाला का सन्दर्भित विषय किया गया है। यह भी

अप्ता भव यदि इस इमार से ब्रह्मन के विष 'प्रश्नन् तप शुद्ध मे शाद्वरभाष्य मे विष हुए भव का स्वीकार बरत ह तो एकमद्विविभिन्नत इत्यादि पदों का ग्वारस्त्र ही नष्ट हा चला ह । और यदि यह माने कि ब्रह्मस्त्र के 'स्मृति शुद्ध स गीता के अतिरिक्त कार दूसरा स्मृतिप्रथम विषभिन्न होगा तो यह कहना पश्चा कि शाप्यकार्य न भूत की ह । अप्ता; परि उनकी भूत कह तो मी बह ब्राह्मणा नहीं अ लक्ष्या कि 'स्मृति शुद्ध स बीन तो यह विषित ह । तप इस अन्त्यन से क्षेत्रे पार पावै ह एमार महानुसार एस अन्त्यन से लक्ष्ये का विष एक ही माग ह । यदि यह मान दिया जाय कि किसने ब्रह्मस्त्र की रचना की हे उभी ने मृत भारत तथा गीता को बत्तमान स्वरूप दिया ह तो कार भास्त्रल पा विषाप नहीं रह जाता । ब्रह्मस्त्र को 'म्यात्मान अद्वितीय रीति पह गा ह आर एकमात्रपुनर्प्रकाश यथान्वेषिति वैमिनि (व श ३ ४ ७) एस सब पर शाद्वरभाष्य की दीका मै आनन्दगीरि ने किया ह कि वैमिनि वैदान्तस्त्रकार व्यासजी के शिष्य थ और आरम्भ के महाव्यापरम मे भी, भीमूल्यास्त्रपत्रोनिभिन्निविरसो इस प्रकार उन्हा न ब्रह्मस्त्र का विषन किया हे । यह कमा भावाभारत के व्यापार पर हम क्षयर व्याप्ति खुक ह कि महाभारतसार व्यासजी के दैर शुक मुमन्त्र, वैमिनि और वात्मायन नामक पौष्ट शिष्य थे और उनकी व्यासजी ने महाभारत फड़ाया भा । न तो जाता का निषा कर विचार करने से यही अनुमान होता ह कि भारत नीर तत्त्वत्वह गीता का बत्तमान स्वरूप इने का तथा ब्रह्मस्त्र की रचना करने का काम मी एक शाश्वत्यण व्यासजी ने ही किया होगा । एस कफन का यह महाव्य भीही कि वात्मायनाचाय ने बर्तमान महाभारत की नवीन रचना की । हमार कमन का व्यापार यह ह :- महाभारतप्रत्य के अतिकिल्कृत होने के कारण सम्भव ह कि वात्मायनाचाय के समय उसके दुउ भूग उपर उपर किस गय हो या नम सौ हा गये हो । ऐसी अवस्था म तत्त्वमीन उपषष्ठ महा भारत के मारों की व्योम करके तथा प्रत्य म जहो जहो अपर्जता अशुद्धियों और तुष्टिया गीय पही वहो वहो उनका सद्योपता वार उनी पृति करके तथा अनुरम्भ विषा आदि बोह कर जात्यामणाचाय ने उप ग्रन्थ का पुनर्व्यक्ति किया हो अपना उस बत्तमान स्वरूप किया हो । यह जात प्रसिद्ध ह कि मराठी साहित्य मै व्यनेश्वरी ग्रन्थ का ऐसा ही सद्योपत एकनाथ महाराज ने किया था । और यह कमा भी प्रचलित ह कि एक बार सद्युत का पाकरण महामाय प्राय लुम हो गया था और उसका पुनर्स्थार अन्नप्रोत्तमाय को करना पड़ा । अब एस जात की दीक दीक उपपति इन ही चाती ह कि महाभारत के अन्य प्रकरण मै गीता के अपोक क्षया पाव चाते है तथा यह जात मी गहब ही हर ही जाती है कि गीता म ब्रह्मस्त्र का त्वां दीक्षित आर ब्रह्मस्त्र म 'स्मृति ग्रन्त से गीता का निर्णय क्षया किया गया है । किस गीता के भावार पर बर्तमान गीता भी है यह वात्मायनाचाय के पहर्षे भी उपरम्भ थी । एसी कारण ब्रह्मस्त्र म स्मृति शुद्ध से उनका निर्णय किया गया और महाभारत का

उपयुक्त आठ स्थानों में से कुछ पड़ि सन्दर्भ मी भाने जायें, उपरापि हमारे मन से तो जौये (ब्र. स. २ १४) और आठव (ब्र. स. ८ २२) के विषय में कुछ सन्देह नहीं है और यह भी व्यरण रखने योग्य है कि इस विषय में शृङ्खलाचाय रामानुजाचाय मध्याचाय और बहुभाचाय - जारों माप्यकारों का मत एक ही रहा है। ब्रह्मसूत्र के उक्त दोनों स्थानों (ब्र. सू. ३ ८ और ४ २ १) के विषय में इस प्रकाश पर मी अवश्य व्यान देना चाहिये - शीकालमा और परमामा के परस्परसम्बन्ध का विचार करते समय पहले नामाभुतेनित्यनाय दाय्य (ब्र. स. ३ १०) इस सूत्र ने यह निश्चय किया है कि सूर्यि के अन्य पदार्थों के समान शीकालमा परमामा से उत्पन्न नहीं दुष्का है। उसके बारे जारों नामा व्यपरेष्टात् (२.३ ४३) सूत्र से यह व्यक्ताया है कि शीकालमा परमामा ही का 'भूय' है और आगे 'मन्त्रवर्णाच' (३ ४४) एस प्रकार भूति का प्रमाण देकर अन्त में अपि च स्मर्यते (३ ४५) - सूर्यि में भी यही कहा है - इस सूत्र का प्रयोग किया गया है। उच्च माप्यकारों का कक्षन है कि यह सूर्यि यानी गीता का मौमाला शीकालमें शीकभूता सनातन (गीता १ ०) यह बचन है। परन्तु उच्ची अपेक्षा अन्तिमस्थान (भर्त्यात् ब्रह्मसूत्र ४ ११) और भी अधिक निस्तुलनेह है। यह पहले ही उच्चों प्रकाश में बहुत्याका जा सुका है कि देवयान और पितृयान गति में कमानुसार उत्तरायण के छः महीन और उक्षिणायन के छः महीन होते हैं और उनका भूय कास्यव्यान न करके बाहरायणाचाय कहते हैं कि इन शब्दों से लुत्तनासमाभिमानी देवता अभियेत है (ब्र. स. ४ ३ ४)। अब यह प्रथम हो सकता है कि उक्षिणायन और उत्तरायण शब्दों का कालवाचक अब क्वा कभी किया ही न जाए। इसकिये पागिना प्रति च स्मर्यते (ब्र. स. ४ २ २०) अपात ये काल सूर्यि में योगियों के विषय किहित मान गय हैं - त तत्र का प्रयोग किया गया है भीर गीता (८ ३) में यह बात जाए साफ़ वह ही गा है कि यह काँच त्वनाहृकिमायुति एव योगिनः अपात ये काम पागियों का विहित है। उनसे माप्यकारों के मनानुमार यही कहना पर्याप्त है कि उक्त दोनों स्थानों पर ब्रह्मसूत्रों में सूर्यि शब्द से मगाकीर्ता ही विवक्षित है।

परन्तु उच्च यह मानते हैं कि मगाकीर्ता में ब्रह्मसूतों का यह उत्तर है भीर ब्रह्मसूतों में 'सूर्यि शब्द' के मगाकीर्ता का निर्मित किया गया है तो दोनों में कालहरित विठ्ठिय उत्पन्न हो जाता है। वह यह है - मगाकीर्ता में ब्रह्मसूता का जारु लाप उत्तर है एवलिय ब्रह्मसूता का गीता के पहले रचा जाना निभित होता है भीर ब्रह्मसूता में 'सूर्यि शब्द' के गीता का निर्मित माना जाय तो गीता का ब्रह्मसूतों के पहले होना निर्धारित हुआ जाता है। ब्रह्मसूता का एवं पार गीता के पहले रचा जाना भीर दूसरी बार उग्धी नहीं था गीता के यह रचा जाना नम्बूद्ध नहीं।

के सिय उपयाग करना कुछ अनुचित न होगा, कि वर्तमान गीता में इस गया ब्रह्मसूत्रों का उपयोग क्षेत्र अकेला या अपूर्व भलए अविश्वसनीय नहीं है।

‘ब्रह्मसूत्रपैदेव’ अस्यादि स्मृति के पाणि के भध-स्वारत्य की मीमांसा करके हम उपर इस बात का निश्चय कर आये हैं कि माण्डळीता में ब्रह्मसूत्रों या ऐतिहासिक दीक्षा उपयोग होने का — और वह भी खेत्रहै अप्याय में अर्थात् खेत्र-भवित्विकार ही में होने का — हमार मत में एक और महसूपूर्ण उपाय है कारण है। माण्डळीता में वासुदेवमणि का दात्त्व यथापि मूल भागवत या पाद्मरात्रि भर्तु से लिया गया है उपरायि (असा हम पिञ्ज ग्रन्थराणी में वह आये हैं) अतुर्भूत-पाद्मरात्रि-धर्म में वर्णित मूल वीक्षण और मन वीक्षण के विषय का यह मत माण्डळीता को मान्य नहीं है कि वासुदेव से उपयोग अर्थात् वीक्षण से पुनर्जन (मन) और प्रानुज्ञ से अनिष्ट (अहोकार) उन्पर दुआ। ब्रह्मसूत्रों का यह लिङ्गान्तर है, कि वीक्षणमा विची अन्य वस्तु से उन्पर नहीं दुआ है (वे सू. २. ३ १७)। वह उनातन परमात्मा ही अनित्य अंग है (वे सू. ३ ४१)। इसकिये ब्रह्मसूत्रों के दूसरे अप्याय के दूसरे पाद में पहले कहा है कि वासुदेव से सुर्क्षण का होना अर्थात् मागवतधर्मीय वीक्षणसम्बन्धी उपतिः सम्भव नहीं (वे सू. २. २ ४२); और फिर यह कहा है कि मन वीक्षण की एक अविष्य है। ‘सुक्षिये वीक्षण से प्रानुज्ञ (मन) का होना भी उपम नहीं (वे सू. २. २ ४१)। स्योऽसि व्योक्तम्बवहार की ओर देखने से तो यही व्योक्त होता है कि कठी से कारण या साधन उन्पर नहीं होता। इस प्रकार वादरायणाचार्य ने मामस्त धर्म में वर्णित वीक्षण वीक्षण का पुरिक्षिपूर्ण विषय लिया है। उपम है कि मागवतधर्मवाले अस पर यह उत्तर है कि हम वासुदेव (ईश्वर) सुर्क्षण (वीक्षण) प्रानुज्ञ (मन) द्वारा अनिष्ट (अहोकार) से एक ही समान शानी समझते हैं; और एक से दूसरे की उपपत्ति यह लालिक उपाय गौल मानते हैं। परन्तु ऐसा मानने से बहना पड़ेगा कि एक मूल्य परमेश्वर के काले चार मुण्डम परमेश्वर हैं। अतएव ब्रह्मसूत्रों में कहा है कि यह उत्तर भी समर्पण नहीं है। और वादरायणाचार्य ने अनिष्ट निर्जय यह लिया है कि यह मत — परमेश्वर से वीक्षण का उन्पर होना — ऐति अर्थात् उपनिषदों के मत के विस्तर अवतरण स्थान है (वे सू. २. २ ४४ ४५)। यथापि यह बात सच है कि मागवतधर्म अर्थात् भागवतधर्म माण्डळीता में लिया गया है। तथापि गीता क्य यह मी लिङ्गान्तर है कि वीक्षण वासुदेव से उपम नहीं दुआ। किन्तु नित्य परमात्मा ही का ‘अश्य है’ (गीता १. ७)। वीक्षण विषयक यह लिङ्गान्तर मूल मागवत धर्म से नहीं लिया गया। ‘सुक्षिये यह उपमना आवश्यक या कि इसका भावार क्या है। स्योऽसि यहि देशा न किया आठा ठो उपम है कि यह इस उपरिक्षित हो चक्का कि अतुर्भूत मागवतधर्म के प्रातिक्षिक्यन महितात्म के साथ ही साथ वीक्षण की उपनिषिद्धक कस्तुरा से भी गीता उपमत है। अवतरण देशक्षित लिचार में बद्र वीक्षण का स्वरूप क्षतिक्षणे का उपम व्यापा उप-

नेश्वेष्ट करते समय गीता में ० यह स्मारणा गया कि लेखकज्ञ का विस्तारपूर्ण विवेचन प्रस्तुती में किया गया है। वशमाल गीता में व्रहमना जा था यह उद्दार है, उसी अवधी की स्वतंत्रता के अन्य उद्देश्य अनुमान महामारत में नी है। अहरणाप अनुशासनपत्र के अधारेन भावि सधार में भवता श्रिय अत्येक पूर्वारा एवं यति (भनु ३ ६) यह वाक्य है। श्री प्रभार शत्रुघ्न ब्राह्मण (गा ३१८ १६-१७) पञ्चरात्र (गा ३ २०) मनु (भनु ३३ १६) भार पात्र के विरुद्ध (गा ३४ ७१) का मी स्वयं साप सार उद्देश्य किया गया है। परन्तु गीता के समान महामारत के सब भागों का मुख्यात्मक रूप यही रीति नहीं ही। इसलिये यह शब्द महज ही उपर शामी है कि गीता के अनिवार्य महामारत में अन्य स्थानों पर भी अन्य मन्त्रों के उद्देश्य हैं वकास-विद्याधर्वा तक विश्वसनीय माने जाय। कथाविं गा भगव अन्याम नहीं निय गत उन्मै अपम दात भिन ना बांगिन तत नहीं। परन्तु हमारे मनानुगार उपर्युक्त अन्य उद्दारी का यह स्मारण

प्रथम देशमा महान् यज्ञ होन्दा है । इस अवधि विद्युत्संकरी मुख्य प्रयोग  
का लोकोत्तरा क्रमशः बढ़ायक प्रयोग होता है । ऐसे योग देशमा यज्ञ अनुमति देने वा  
हिंदूधर्म लोगों की विद्या भवन जानकी हो सकते हैं तो यह देशमा योग विद्या  
भी योग भवन होता है । ऐसे योग अनुमति देने विद्युत्संकरी यज्ञ का एक  
विद्युत्संकरी यज्ञ विद्युत्संकरी यज्ञ का अनुमति देने विद्युत्संकरी यज्ञ का एक  
विद्युत्संकरी यज्ञ का अनुमति देने विद्युत्संकरी यज्ञ का एक

प्राचीन मणिपुर एवं राजकीय संस्कृति

प्रायस्ता निरपाइ शिष्यदाम् दृष्टं च ॥

गिद्धास्त परस्परविरोधी है। उगाहरणाथ “न शाष्ट्रेनका का यह मत है कि व्येहेहर्व्ये अध्याय का यह कथन — कि इस अन्त् में ये कुछ है वह सब निगुण ब्रह्म हैं — सातव अध्याय के इत कथन से शिष्यमुख ही विकल्प है कि यह सब संगुण वासुदेव ही है।” सी प्रकार भगवान् एक अह बहुत है कि उन्हें शत्रु और मिथ समान हैं ( ८२ ) भार दूनर स्थान पर यह भी कहत है कि अनी सधा भक्षिमान पुरुष मुझे अत्यनु प्रिय है ( ७ १७ १२ १ ) — ये अनो जात परस्परविरोधी है। परन्तु हमने गीतारहस्य में अनेक व्याख्या पर ऐसे जात का स्पष्टीकरण कर दिया है कि वसुतु ये विरोध नहीं हैं किन्तु एक ही जात पर एक वार अध्यायमहाद्विषे आर दूसरी वार भक्षि भी इदि से विचार किया गया है। “सुहित्य यद्यपि विग्रह ही मैं ये विरोधी जाते कहनी परी तथापि अन्त मैं व्यापक तत्त्वज्ञन की इदि से गीता में अनाका मेल भी बह दिया गया है।” उस पर मी कुछ लागें का बह आक्षेप है कि अध्यक्ष अस्त्रशान और अध्यक्ष परमेश्वर भी भक्षि में यद्यपि उक्त प्रकार से मेल बह दिया गया है तथापि मूँछ गीता मैं इस मेल का होना सम्भव नहीं। फ्योरि मूँछ भी अर्थमान गीता के समान परस्परविरोधी जाता थे मरी नहीं भी — उसमें देवनितियों ने अपका साम्बन्धित्याक्षमिमाना ने अपने शास्त्रों के मार्ग पीछे से मुक्तेह दिये हैं। उदाहरणार्थं प्रो गावें का कथन है कि मूँछ गीता के महिं व्य भेद वेवल वाक्य तथा योग ही से दिया है; वेगान्त के साथ और मीमांसकों कर्ममान के साथ महिं का मेल बह देने का काम किसी जो पीछे से दिया है। मूँछ गीता भ उक्त प्रकार ये अद्योत पीछे से आई हये अनकी अपने मठानुसार एक तात्त्विका भी उसके अर्थन भाषा में अनु वाचित भवनी गीता के अन्त में भी है। हमार मठानुसार ये सब अत्यनार्थ भ्रममूर्त हैं। विक्रम के भित्र भित्र अर्गों भी ऐतिहासिक परम्परा और गीता के ‘तात्त्व तथा ‘योग’ शब्दों का सबा अप ठीक ठीक न उमड़ने के कारण और कियोत्तु तत्त्वज्ञनविरहित अथान् अभ्यष्ट महिमान उसां भर्म ही का “तिहास उक्त देवस्त्रा ( प्रो गावें प्रभाति ) के सामने रखा रहने के कारण उक्त प्रकार के भ्रम उत्पन्न हो गये हैं। “उसां घम पहले वेवल महिमान था; और थीक थीरों के तथा तृसुरों के तत्त्वज्ञन से उसका मेल बहने का काय पीछे से किया गया है। परन्तु यह वास हमार नम की नहीं। हितुस्थान में महिमार्ग का उत्तम उपले के पहले ही मीमांसकों का यक्षमान उपनिषद्कारा का आन उत्तम साम्बन्ध और योग — “न को परिपक्व व्या प्राप्त हो भूमी भी। इसस्मिये पहले ही से हमारे उत्तमासिया को स्वतन्त्र यीक्षि से प्रक्षिपातित ऐसा भविमान कभी भी मान्य नहीं हो सकता था जो न भव धात्रा से भार विद्युत का के उपनिषदी मैं वर्णित ब्रह्मज्ञन से अलग हो।” न जात पर ज्ञान द्वारे से यह मानना पर्याप्त है कि गीता के अम्बितिपादन का स्वरूप पहले ही ने ग्राम अत्मान गीता के प्रतिपादन के सहज ही था। गीतारहस्य का विवेक मीं इच्छी व्यत की और व्यत देकर किया गया है। परन्तु यह कियम अत्यन्त महत्व का है।

अर्थात् गीता के द्वे अध्याय के आरम्भ ही म—यह स्वरूप से कह लेना पड़ा, कि 'सेक्षण' के अर्थात् जीव के स्वरूप के सम्बन्ध में हमारा मत मायनेवालम के भानुशार नहीं बरन उपनिषद में वर्णित शृणिवी के मतानुशार है और फिर उसके बाय ही साय स्वमानवत यह मी लहना पढ़ा ह कि मिथ मिथ शृणिवा ने मिथ मिथ उपनिषद में एक वृषभ उपपाठन किया है। इसलिये उन सब की ब्रह्मसूत्र में की ग़ एकाक्षरता (वे स २ १ ४१) ही हमें प्राप्त है। इस दृष्टि से विचार करने पर यही प्रतीत होता है कि मायनेवालम के मतिमान का गीता म इस रीति से समावेश किया गया है किससे वे भास्त्रेष वूर हो जायें, कि जो ब्रह्मसूत्रों में मायनेवालम पर साये रखे हैं। रामानुजाचार्य ने अपने वेदान्तसंग्रहमध्ये में उक्त सूत्र के अर्थ का वर्णन किया है (वे सू २ २० ४२-४३ दस्ता)। परन्तु हमारा मत में ये अथ द्वितीय अनुप्रव अप्राप्त है। यीशु शाह का सुनाव रामानुजमाध्य में इस गये अर्थ की ओर ही है परन्तु उनके लेखों से तो यही अत लाला है कि 'स बात अ यथाय स्वरूप उनके व्यान म नहीं आया। महाभारत मि—शान्तिर्वर्ण के अन्तिम माय में नारायणीय अवतार मायनेवालम का यो वर्णन ह उसमें—यह नहीं कहा है कि बासुदेव उ वीक्ष अर्थात् सङ्कल्प उत्पत्ति तुमा किन्तु पहले यह कहाया है कि 'स बासुदेव है वही (उ एव) सङ्कल्प अवतार वीक्ष या सेक्षण है (शा ११९ ३ व व्या ७१ और १३४ २८ व्या २९ देखो); और 'सके बाइ सङ्कल्प से प्रभुम तक की वेष्ट परस्परा नी गइ है। पक स्यान पर तो यह चाफ लाफ कह दिया है कि मायनेवालम का 'को' चतुर्मूह भाद विमूह 'को' विमूह और भन्त में भाद पक यूर मी मानत हैं। (मा शा. १४८. ६०)। परन्तु मायनेवालम के इन विविध पक्षों को स्वीकार न कर, उनमें से सिर्फ वही एक मत जनमान गीता में लिप्त किया है किसका मेल सेक्षण के परम्परासम्बन्ध म उपनिषद और ब्रह्मसूत्र से हो सके। भार 'स बात पर व्यान ऐने पर यह प्रम दीड तोर से हळ हो जाया है कि ब्रह्मनीं का उद्देश गीता में क्यों किया है। भवता यह लहना भी असुक्षि नहीं हि मूर गीता में यह पक मुकार ही किया गया है।

### भाग ४—भागवतधर्म का उद्देश और गीता

गीतारहस्य म भौतक स्थानी पर तथा इच्छ प्रकरण में ये पहला यह अस्तम किया गया है कि उपनिषदी के ब्रह्मग्रन्थ तथा विश्वामित्र क भर अधरविचार क ताथ मनि भार विद्यान निष्कामक्षम का मेल बरक कम्पांग का शास्त्रीय रीति से पूर्वतया तम्भन करना ही गीता प्रस्तुत कर्तिग्राम विवरण है। परन्तु इनमें किया की एकता करन की गीता की वडति विनष व्यान में पूरी तरह नहीं भा वक्ती तथा विनष एहल ही क यह मत हो जाता है कि 'न्म विनषों की एकता ही ही नहीं वक्ती उम्ह इन पात का भागवत तुमा बरला ह कि गीता क अन्तेरे

विश्व ईशावास्त्वादि अन्य उपनिषद् यह प्रतिपादन करने लगे, कि ज्ञान ही जाने पर मी कर्म छान नहीं जा सकता। ऐराम्य से बुद्धि का निष्काम करके काल् म स्वरहार भी चिदिंद्रि के सिय ज्ञानी पुरुष का उत्तम करना ही चाहिये। इन उपनिषदों के भद्रपों में इस मंत्र का निकाल टार्से का प्रबल दिया है। परन्तु गीतारहस्य के स्वरहव प्रकरण के अन्त म जिये गय विवेचन से यह बात ज्ञान म आ जावायी, मि धाइरमान्य म जे साम्प्रदायिक अर्थ गीचातानी से जिये गय है और इस दिये नन उपनिषद पर स्वरूप रीति से विचार करते ज्ञान के अर्थ ग्राह नहीं माने जा सकते। यह नहीं कि एकल वक्ष्यागादि कर्म तथा ब्रह्मशन ही में मेष्ट करने का प्रबल निवा गया हो किन्तु मैन्युपनिषद् के विवेचन से यह जात मी साक्ष वाक्ष प्रकर्त्त होती है कि कापिलसारय म पहल पहल स्वरूप रीति से प्राकुभूत वरामरण की ज्ञान उपनिषद का ब्रह्मशन की एक्षाक्षरता – किनी हो सकती थी – करने का मी प्रबल उसी उम्म भारम्म हुआ था। गीतारहस्यकादि ग्राचीन उपनिषदों मै कापिलसारम्भन का तुक्त महत्व नहीं दिया गया है। परन्तु मैन्युपनिषद् मैं साक्षों की परिमाण का पृणतया स्वीकार करके यह कहा है कि अन्त मैं पहल परज्ञ ही से साक्षों के जीवीत सम्ब निर्मित हुए हैं। तथापि कापिलसारम्भन की वैराम्यप्रवर्त्तन अर्थात् कर्म के विस्तर है। तात्पर्य यह है कि ग्राचीन ज्ञान मैं ही वैदिकर्त्त्व के तीन इह हो गये ये—  
 (१) कल्प वस्त्राव आदि कर्म करने का मार्ग (२) ज्ञान तथा वैराम्य से कर्म-सम्पाद करना अर्थात् ज्ञाननिष्ठा अध्यात्म सास्थमार्ग और (३) ज्ञान तथा वैराम्य बुद्धि ही से निय कर्म करने का मार्ग अर्थात् ज्ञानसम्भवमुक्त्यमाग। नगे से हानमार्ग ही से जागे चल कर तो अन्य जाराएँ—याग और व्रक्ति—निर्मित हुए हैं। इन्हों न्यादि ग्राचीन उपनिषद म पह ज्ञा है कि परब्रह्म का ज्ञान ग्रास करने के लिये विच एकाप होना चाहिये और विच को रिपर करने के लिये परज्ञ का करने के लिये विच एकाप होना चाहिये और विच को रिपर करने के लिये परज्ञ का कोई न की सगुण प्रतीक पहले नहीं के सामने रखना पड़ता है। एस प्रकार ब्रह्मोपासना करते हुने से विच की यह प्रणामता हो जाती है उसी का आगे विशेष महस्त दिया जाने थगा भाग विचविराघवी याग एक बुद्ध मार्ग हो गया। और अब उग्रुप्रसीर का ब्रह्म परमेश्वर का मानवरूपभारी व्यक्त प्रतीक की उपासना का भारम्म थीरे थीरे होने थगा तब अन्त मैं भक्तिमार्ग उत्तम हुआ। पह मैक्तिमार्ग औपनिषदिक ज्ञान से उग्र थीर ही मैं भृत्य रीति से ग्राकुभूत नहीं हुआ है और न मक्ति की कहना “गुरुशन म किंति अन्य देह से अन गह है। तब उपनिषदि का अक्षरोक्त करने से पह कर थीर पड़ता है कि पहले ब्रह्मविन्दन के लिये यह के भाहो की भक्ति अन्तर की उपासना थी। याग चल कर यह विष्णु आदि वैदिक वेदवाक्यों की ( अपवा जाकाए आदि उग्रुप्रसीर की ) उपासना का भारम्म हुआ; आर अन्त म इती हेतु से भयान ब्रह्मप्राप्ति के लिये ही राम नविह थीह्य

“सचिये सोप मैं यहाँ पर यह फनस्यमा लाई दि गीताघम के महत्वम् तथा परम्परा के सम्बन्ध म (देविहारिक इटि मे विचार करन पर) हमारे मत म जान कोन भी भावे निष्पत्त होती है।

गीतारहस्य के उम्म प्रकरण मैं अन शत छ विवेचन किया गया है दि दिए कम पा अन्यन्त प्राचीन स्थर्मप न तो भक्तिप्रशान न तो शनप्रशान भार न या प्रगत ही या किन्तु यह अन्यम् न पात्र कमप्रबान या भार असहित तथा आकृष्ण मैं पिषेपत असी यज्याग भावि कमय गत घम का प्रतिपादन किया गया है। आगे पर कर असी घम का अवधि मूल विवेचन नर्मिति के मीमांसामूहा मैं किया गया है। असीधिय उसे ‘मीमांसकमार्ग’ नाम प्राप्त है। परन्तु यज्ञपि ‘मीमांसक’ नाम नया है नृपापि अम द्वित्ति मैं तो किम्बुद्ध ही मन्त्रह नहीं दि यज्याग भार्ता घम अन्यकृत प्राचीन है। अतना ही नहीं किन्तु उम र्वनिहासित इटि मे बनिक्षम ही प्रधम भीरी कह मन्त्रे है। ‘मीमांसकमार्ग’ नाम प्राप्त होने के पहले उमका वयीघम नदान नीन लेता द्वारा प्रतिपादित घम कहते थे भार असी नाम या उद्द्यग गीता मैं भी किया गया है (गीता १३.१५)। अनमय वयीघम के अम प्रकार और धोर मैं प्रचलित रहन पर कम से अपात्र वृक्ष यहयाग भावि क गाय व्रयन मैं परमेश्वर का शन क्षेत्र हो सकता है। शन हाना एक मानविक मिथ्यति है। अम द्विते परमेश्वर के स्वरूप का विचार किय किन्तु शन हाना मम्मद नहीं अन्यापि विषय और वर्णनार्थं व्यक्तित्व होने ल्या गार और और और उन्ही मैं र्खाप निष्पक्ष शन का ग्राहमाव है। यह जन शान्तोऽग्य भावि व्यनिपत्ति क भारम् मैं ये अस्तुरम् दिये हैं उनमे यद्यु मात्रम् हो आती है। अम ओपिनियनि वेष्टन ही को आग व्यवहर ‘देशन्तु’ नाम प्राप्त है। परन्तु, मीमांसा वृक्ष क अमान यज्ञपि वृक्षात्मा नाम पीछे मैं प्रचक्षित है ग न है नवापि उसे पह नहीं कहा जा सकता कि वृद्धाग्न भवता शननाम भी नया है। यह चतुर है कि कम्पनाम क अनन्तर ही अनकार्त्त उमप्र इभा। परन्तु यमरण रह कि ये इनी प्राचीन है। अम अन्यमार्ग ही भी दुर्ली किन्तु त्वरत्व द्वारा ‘कायिक्यामृष्य’ है। गीतारहस्य मैं यह कम्प दिया गया है कि “वर व्यवहान अङ्गी है तो उच्चर वारम् है इत्ती धीर मूरि भी उत्पत्ति क कम से सम्भव म लारया के विचार मूरि मैं मिम्ब है। परन्तु भौपनिषदिक अङ्गी व्यवहान तथा वारया का इनी शन इनी वज्ञपि मूरि मैं मिम्ब मिथ्य हा तथापि वृक्ष शनहाटि के वेष्टन पर शन पहला कि ये इनी मात्र भावने पहले के यज्याग भावि व्यवहार क एक ही क विवादी है। भवतप्त यह प्रभ व्यवहार उमप्र इभा कि वृक्ष का शन मैं विम प्रवार मर्द किंव आब” इसी व्यवहार ने उत्तर निष्पक्षात् ही भै इन विषय पर तो रुप है गण ये। अम न वृद्धारम्भवार्ति उत्तरनिष्पक्ष तथा लाग्य वह उत्तर इग कि वृक्ष भीर शन मैं निष्पक्ष विवाद है। अम और इन ही शन पर वृक्ष का त्वाय वरना प्रगत ही नहीं किन्तु भावाप्रक भी है। इनक  
गीता १३.

म मी एक रूपान पर यह कहा है कि मनुष्य का चीजन एक प्रकार का यह ही है (अ ३ १६ १७)। इस प्रकार के यज्ञ की महत्त्व का विन करते हुए यह मी कहा है कि यह यह विद्या थोर आग्निरस नामक वर्षि ने श्वकीपुन इण को बतलाई। उस वेक्षकीपुन इण तथा गीता क श्रीहाण का एक ही व्यक्ति मानने के लिये कार्य प्रमाण नहीं है। परन्तु यहि कुछ श्रेर के विद्य नाम का एक ही व्यक्ति मन र तो मी स्मरण है कि श्वनवश वाँ भेद माननेवाली गीता मैं पोर आग्निरस का हर्ही मी ठहेत्य नहीं किया गया है। उसके विद्या शृहारणकापनियद मैं यह अब प्रकार है कि अनक का माग यज्ञपि ज्ञानकमसमुच्चयामक था तथापि इस समय इन माग मैं मक्षि का समावेश नहीं किया गया था। अतएव मक्षियुक्त ज्ञानकमसमुच्चय पन्थ की सम्प्राप्तिक परम्परा मैं अनक की गणना नहीं की जा सकती — और न वह गीता मैं की गा है। गीता के वौध अस्त्राय के भारम म कहा है (गीता ४ १-१), कि सुग के भारम मैं मात्कान ने पहले विषस्वान का, विषस्वान ने मनु को भार मनु ने अक्षात् का गीतापम का ठप्पेश किया था परन्तु काल के ऐपरे से उक्ता खेप हो जाने के कारण वह फिर से अक्षुन का अस्त्रना पड़ा। गीतापम की परम्परा का अन हान के लिये के स्वाम अस्त्रन महत्व के है। परन्तु टीकाकारी न शास्त्राय ज्ञानपम क अतिरिक्त उनका विद्योप रीति से स्वाक्षीकरण नहीं किया है और क्वाक्षित ऐता करना उन्हे इष्ट मी न रहा हो। क्वाक्षित यहि कहा जाय कि गीतापम सूम मैं विसी एक विद्यिष्ट पाय का है; तो उनमे क्षम्य वार्किंग पन्थों की कुछ न कुछ गौणता प्राप्त हो जाती है। परन्तु इसन गीतारहस्य क भारम मैं तथा गीता के व्याध अस्त्राय के प्रथम थो भोक्ता की दीका मैं प्रमाणनहित इस बात का स्वाक्षीकरण कर दिया है कि गीता मैं वर्णित परम्परा का मैख उन परम्परा के साप पुरा पूरा दीप पड़ता है कि श महामारातान्तरगत नारायणीपापास्पान मैं वर्णित भागका घम की परम्परा मैं अस्त्रिम वेनाकुपुकालीन परम्परा है। मागवतपम तथा गीतापम की परम्परा की एकता का इष्टपर कहना पड़ता है कि गीतापम शास्त्रमै भी भीर पर्व इन विद्या मैं कुछ शद्वा हो तो महाभारत मैंय गये देहमन्यायन के इन पात्र्य — गीता मैं भागवतपम ही कलाया गया है (म य गा ३८ १) — त वह दूर हो जाती है। इन प्रकार वह यह विड हो गया कि गीता भीरनिति इतन का रथाव वदान का व्याख्यन नहीं है — उनमे मागवतपम का प्राप्तिव्रत विषा गया है तथ यह कहन की बात भागवतपता नहीं कि मागवतपम मैं क्षम्य वह गीता की श पत्ता की जायगी वह भग्न तथा भग्नमूल्य होगी। अतारथ, नागवतपम वह उपर्य भा और उक्ता मूल्यमूल्य बदा जा इत्यादि प्रभ्य के विषय मैं या वा इस विषय उपर्य वह उनका ८ विदार तत्त्वर मैं वहा दिया जाना प॑ द ८ विदार ३ मै उपर्य वह नाय ८ कि इन भागवतपम की वायदीय नावा वायदीय व्य भाय ८ व नाम ६

चासुनेव आरि की मृष्टि ( अथात् एह प्रकार की उपासना ) चरी हुद है । उपनिषदों की यादा ये वह बात भी लाक साक्षम हानी है कि उनम से भाग्यतास्थानि योग विशेष उपनिषद् तथा दृसित्वापानी रामतापनी आरि भक्तिविशेष उपनिषद् उल्लेखार्थि उपनिषदों की अपेक्षा अकार्यी है । अतएव ऐतिहासिक हड्डि से वह कहना पश्चात् है, कि अन्तर्माणि प्राचीन उपनिषदों में बणित क्षम अन अथवा संभ्याम और अनन्तर्माणमुख्यम् — अन तीना रूपों के प्राकृत्यूत हा यद्यने पर ही आग योगमामा और भक्तिमामा को भेद्यता योग दुः है । वरन्तु योग आर मृष्टि य तीना साधन यद्यपि उक्त प्रमाण से भेद्य माने गय तथापि उल्लक पृष्ठ के व्रहश्यान की भेद्यता कुछ कम नहीं है — और न यसका क्षम होना सम्भव ही था । असी कारण योगप्रधान तथा भक्तिप्रधान उपनिषदा मी व्रहश्यान का मृष्टि और योग का अनित्यम याप्य कहा है । वीर ऐता क्षण भी कृष्ण स्थाना में पाया जाता है कि विन रुद्र किञ्चु भस्तुत नारायण तथा चासुनेव आरि की भृति की जारी है वे भी परमामाक अथवा परमामाक के रूप हैं ( मन्त्र ७ ८० रामण १६ अमृतविद्व २ आरि ऐता ) । छाराद्य हैतिनि रूप में तमय समव पर भाल्यतानी पुण्यो ने विन रमाहो को प्रहृष्ट दिया है वे प्राचीन समव में प्रवत्तित चर्माहो ते ही प्राकृत्यूत है और नये अमाहो का प्राचीन समव में प्रवत्तित चर्माहो के ताप में वर्ण देता ही हैतिनि चर्म की उपति का पहसु से मुख्य उत्तर हरा है तथा भिन्न भिन्न चर्माहो की एक्षाक्षयता क्षम के इसी उत्तर का स्वीकार वरक, आग वस्तु कर सूक्ष्मिक्या ने आभम व्यवस्थापन का प्रतिपाद्य किया है । भिन्न भिन्न चर्माहो की एक्षाक्षयता करने की इस प्राचीन पद्धति पर वर व्यवस्था दिया जाता है तब यह कहना सुनुचिक नहीं मरीठ होता कि उक्त पृष्ठपार पद्धति की छोट कृष्ण गीतार्थ ही अकेल्य प्रहृष्ट हुआ होगा ।

व्राद्यम प्रथ्यों के वक्तव्यागारि कम, उपनिषदों का व्रहश्यान कादित्यमास्य विसनिरोप्यदी याप्य तथा मृष्टि य ही हैतिनि रूप क मुख्य मूल्य भङ्ग है और अन्तर्माणि के क्षम का सामान्य शून्यहात उपर लिया गया है । भव अन्त तातु का विचार किया जायगा, वि गीता में अन तत्र अमाहो का तो विविच्यन दिया गया है उक्ता मूल्य दिया है । — अथात् वह प्रतिपाद्य सालान भिन्न भिन्न उपनिषदा से गीता में किया गया है अथवा वीष में एह आप सीरी भोर है । केवल व्रहश्यान के विवेचन के यमप कट भारि उपनिषदों के कुछ भौतिक गीता में द्वयो-कर्त्ता गिर्व यज्ञ है और अनन्तर्माणमुख्यपक्ष वा प्रतिपाद्यन करने तमय उक्त भारि के भीपनिषदिक उगाहरण ये दिये गय है । उक्ते घटान होता है कि गीता-मन्त्र लाभान् उपनिषदों के भावार पर एव तथा होता । वरन्तु गीता ही में गीतार्थ भी तो परम्परा १ ३८ है उक्तम ला उपनिषदों का कहीं भी उल्लग नहीं मिलता । विन प्रकार गीता में उक्तमन्त्र यज्ञ की अवधा इनमय यज्ञ भेद माना है ( गीता ४ ३१ ) उक्ती प्रकार एवंगीयोउपनिषद्

के भावान से ही करना पड़ता है। भगवत्पुराण ( १ ३ २४ ) और नारदपञ्चरात् ( ४ ३ १५६—१५९; ४ ८ ८० ) मध्यमे में बुद्ध के किष्यु का अवतार कहा है। परन्तु नारायणीयास्थान में वर्णित व्यावराठी में बुद्ध का समाजेश्वर नहीं किया गया है—पहला अवतार इस का भीर आगे इसके बाद एकम कर्मिक अवतार क्षत्रिया है ( मा शा ३ १ १ )। इससे भी यह यही सिद्ध होता है कि नारायणीयास्थान भागवत्पुराण से भीर नारद पञ्चरात्रे से मात्रीन है। इति नारायणीयास्थान में यह वर्णन है कि नर तथा नारायण ( या परब्रह्म ही के अवतार है ) नामक दो अधिपतियों ने नारायणीय अर्थात् भागवत्परमं के पहले पहल यही किया और उनके कहने से यह नारद क्षमित्र ऐतिहायिक का गमे सब वहों सबे भागवत्परमान ने नारद का इस अम का उपनेत्र किया। भागवत्परमान भिस ऐतिहायिक में रहते हैं, यह शीरसमुद्र में है और वह शीरसमुद्र में स्वर्वत्त के उच्चर में है। अत्यादि नारायणीयास्थान की जले प्राचीन पौराणिक ब्रह्मापूजावर्णन के अनुसार ही है और इति विषयम म हमारे यहा किसी को तुल्य कहना भी नहीं है। परन्तु ऐसे नामक परिमी सकृदार्थ पवित्रित ने इस कथा का विषयात फरके यह शीर्ष शहा की भी कि भागवत्परम में वर्णित मवितात्र ऐतिहायिक से—अथात् हिन्दुस्थान के बाहर के किसी अन्य देश से—हिन्दुस्थान में स्थापा गया है; और महिला का यह तत्त्व इस अमय इसाई अम के अधिरिक और कही भी प्रक्रिया नहीं था। इसकियं ईसान देशी से ही भक्ति की कस्तना भागवत्परमिया का सभी है। परन्तु पाणिनी को वासुदेवमहिला या तत्त्व माझम था और वीढ़ तथा तेजस्म में भी भागवत्परम तथा महिला के उल्लङ्घन पाये जाते हैं। एष यह बात भी निर्विकार है कि पाणिनी आर बुद्ध देवों नीता के पहले तुष्ट ये। “सदिष्य भव परिमी पवित्रिता ने ही निर्वित किया है कि ऐसे लाहूव भी उत्तर्युक्त शहा निरापार हैं। उत्तर यह उत्तर दिया गया है कि मरीचित्र अमाद्य अ उत्तर हमारे वहों लानप्रसाने उपनिषदा के अनन्तर तुम्हा है। इससे यह बात निर्विकार प्रकर होती है कि लानप्रसाने उपनिषदों के बाद तथा बुद्ध के पहले वासुदेव महियमन्त्यी भागवत्परम उत्तर तुम्हा है। अब ग्रन्थ बेकल इतना ही है कि यह बुद्ध के विनाश द्वात्रा के पहले रुद्धा’ भगवत् विवेचन से यह बात भ्यान में आ जायगी,

नविकार दणी—नविम्य। इन वर्णाना ( या ३ ) म विनाश है अब एक जातिर म भी नहीं का उत्तर दिया गया है। इतन दिल्ला पवित्र इत्य वाणी-वाचिका तेजर्णी ( Senari ) व वाद्यवर्त का ब्रह्म इस विषय एव तद में एव प्लास्त्रान दिया था विवेचन एव तद न वह वार्तानान दिल्ला है कि भागवत्परम वाद्यवर्त एव ब्रह्म न है।

No one will claim to derive from Buddhism, Vaishnavism or the Yoga. Assuredly Buddhism is the borrower. To sum up if there had not previously existed a religion made up of doctrines of Yoga or Vaishnavism legends of devotion to Shiva, Krishna, worshipped under the title of Bhagwan ta, Buddhism could not have come to birth. All “ इतना का ब्रह्म एव ”

उपनिषद्साह व बाड और उठ के पहले य विक चर्मप्रथम का उनम से अधिकांश प्रन्थ दुस हो गये हैं। ऐस कारण मागवतधर्म पर वर्तमान समय म जो प्रन्थ व्यष्टित्व है उनम से गीता के भृत्यरिक्त मुख्य प्रन्थ ये ही हैं महामारवान्तर्गत शान्तिपद क अन्तिम अनाह अस्यामा म निरुपित नारायणीयोपास्यान ( म भा षा ३४-३५ ) शारिष्यसूत्र, मागवतपुराण नारदपञ्चरूप नारदसूत्र, तथा रामानुजबचाय आदि के प्राथ। इनम से रामानुजबचाय के प्रन्थ तो प्रस्तुत म साम्प्र दायिक रूप से ही ( अयोद्ध मागवतधर्म क विशिष्टादेव विज्ञान से मूल करने के लिये ) विक्रम संका १३ में ( शाखिबाहन शाक के ल्याभा चार-हृष शत्रुह में ) सिद्धे गये हैं। भृत्यर भागवतधर्म का मूलवर्तप निर्धित करने के लिये इन प्रन्थों का एहाहा नही लिया जा सकता भार यही जात मवाडि क अन्य वैष्णव प्रन्थों की भी है। भीमद्वागवतपुराण एक पहले का है। परम्पुरा के भारम में ही यह कथा है ( माग श्व १ अ ४ और ६ देखो ) कि जद व्याली ने देखा कि महाभारत म ( अनाह गीता म भी ) नैष्ठक्यप्रधान मागवत चर्म का जो निष्पत्ति किया गया है उसम भक्ति का भैमा जाहिये वैसा विन नही है और भक्ति क जिना क्षेत्र नैष्ठक्य शामा नही पता तब उनका मूल कुछ उडास और अप्रसन्न हा गया। एव अपने मूल की "स तत्प्रवर्त्तन" को दूर करने के लिय नारदी की सच्चता से उन्होंने भक्ति क माहात्म्य का प्रतिपादन करनेके भागवतपुराण की रचना की। "स कथा का एतिहासिक रूप से विचार करने पर दीप देखा कि मूल मागवतधर्म मै अथात् भारवान्तर्गत मागवतधर्म मै नैष्ठक्य का ज भेदता ही गयी थी वह जद समय के ऐरपेट से कम होने गयी और उनके कर्ते इव भक्ति का प्रधानसा ही जन श्री तब मागवतधर्म के इस दूसरे स्वरूप का ( अथात् भक्ति प्रधान मागवतधर्म का ) प्रतिपादन करने के लिय यह मागवतपुराण की मता वीठे देखाय किया गया है। नारदपञ्चरात्र प्रन्थ मी "सी प्रसार का अथात् केवल भक्ति प्रधान ह और उसम इत्यास्मात्का क भागवतपुराण का तथा व्यष्टिवृत्त पुराण किञ्चुपुराण गीता भार महामारत का नामान्य कर यह निर्देश किया गया है ( ना ४ ८ १-३ ३ १८ ०३; और ४ ३ २६४ देखो )। जूदिये पर प्रसर ह कि मागवतधर्म के मूलवर्तप का निषय करने के लिय इन प्रन्थ की पायत्तु मारवपुराण से भी कम दर्दी ही है। नारदनव तथा शारिष्यद्वय व्याख्यन नैष्ठक्यपञ्चरूप मै भी कुछ प्राचीन हैं। परम्पुरा नारदसूत्र म व्याम और उठ ( ना ८, ८ ) का उद्देश्य ह। इसलिय वह मूरत और मामधर के जाड का है और शारिष्यसूत्र मै मालकीन क ज्ञान ही उभयन लिये गये हैं ( शा ८, १६ और ८३ )। ताक यह यह तथा व्यापि नारदसूत्र ( ८३ ) के प्राचीन भी ही तथापि इसम उन्हर ८/१ कि यह गीता भी नारदसूत्र के अनन्तर का है। अनाह भागवतधर्म क मूल तथा ग्राचीन स्वरूप का निषय भूमि मै महामारवान्तर्गत मारायणीयोपास्यान

है। परन्तु इसन का यह नहीं मानना कि मुड़ काल्पनिक समाज क्षेत्र हा गये। ऐसी प्रवार या सम भागवतप्रमाण का आग परावर भिन्न निम्न स्वरूप प्राप्त हा गये या भीहृष्णनी किये मे आग भिन्न निम्न परन्तु नहीं हा गये तो यह किये मानन क्य सकता है कि उतन ही भिन्न भीहृष्ण भी हा गये ? हमार भगवानुसार एसा मानन के लिय काल्पनिक कारण नहीं है। क्वाँट भी घम स्त्रीबिष नमय के हेतुचर से उसका स्पान्तर हा जाना निष्पुन स्थानाधिक है। उसक लिय ऐसा बात भी आवश्यकता नहीं कि भिन्न निम्न हाल मुड़ या इसा मध्यीह माने जाए। ३ कुछ लाग भार विश्वप्रकाश कुछ पश्चिमी तक्षणनी यह तक दिया करत है कि भीहृष्ण यात्रा भार पाल्य उपर करत है कि भीहृष्ण यात्रा और पाल्य उपर भारतीय मुड़ आदि एतिहासिक घटनाएं नहीं हैं। य सब कथित उपर है। और कुछ स्थगा का के मत म दो महान्प्रत भ या म विषय का एक सूखत सूख ही है। परन्तु हमार प्राचीन प्रन्थों के प्रमाणों को इनकर किसी भी निष्पत्तिप्राप्ती मनुष्य का यह मानना पड़गा कि उच्च शिद्धार्थ निष्पुन निराकार है यह जान निरियड है कि ऐन क्यामी क मृत मे निराम ही का आधार है। सारांग हमारा मत यह है कि भीहृष्ण चार पाल नहीं है। वे कवय एवं ही एतिहासिक पुरुष थे। अब भीहृष्णनी के अवतारकाल पर विचार करते समय रा के लियामण्डाव देव न यह प्रतिपादन किया है कि भीहृष्ण यात्रा पाल्य उपर उपर भारतीय मुड़ का एवं ही काल - अपाल क्षिपुग का आरम्भ - है। पुराणगणना के अनुसार उस काम मे भव तक पौच्छ हमार से भी निरिय उप भीत तुर है और यही भीहृष्णनी के अवतार का उपाय काल है। ४ परन्तु पाल्यों से स्वग कर अपकाल तक के राजाओं की पुराणा मे वर्णित पीभियों

भीहृष्ण क अविज म दरावय भी भार वशाल के अविरिह गारिदा भी राजनीति का समावह होता है जोर व बात परम्परावारी है। इनमिये जाजस्त इक विहार वा वित्तीयालय करते हैं कि माजामारत जा हूँव मिड गीता का निव आर लोक्तु का कल्पिता भी मित्त है। ऐसा भाजारकर न भयन वेत्रव भय जारी पन्त लक्ष्य मे जन्मनी पन्त मे ही मत का स्वीकार किया है। परन्तु हमार मत म यह टीक महा है। यह बात नहीं कि गारिदों भी कथा म जा हूँगा पन्त है यह बात मे व आवा हा। परन्तु सूख कल्प ही के लिय यह मानन का नई जाजस्ता नहीं कि भीहृष्ण नाम क ही मित्त मिड इक हो नव भार इक किय कल्पना क तिका कार्य लक्ष्य जावार मी नहीं है। इक तिका यह भी नहीं कि गारिदों भी के का प्रवार पाल्य मागवतकाल ही म हुआ हा रिक्तु राजनाल के अवास म वारी विक्रम तक १५ क हयमंग नववारविगित इद्यकरित (४ १५) मे नीर भात कवित्त वार अविर नाटक (३ १) मे भी गारिदा जा उक्त तिका गया है। अवरव इक विचर मे इम ही नाजारकर के कथत से लियामण्डाव देव जा मन नविरु नवुत्तिह प्रति होता है।

५ राजवंशाद्वार लियामण्डाव वेष्य रा रह मन उल्लेख मानवारते दीक्षामरु अन्तेजी परम मे है। इनक तिका इष्टी विचर वर यात्री सुन । ६ मे इक्के लौलज उनिषद्गी के नमव जा ल्लास्यान विया था उपम भी इम बात का विवेचन किया था।

कि यथापि उस प्रभ का पुणतया निश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकता तथापि स्थूल दृष्टि से उस बाब का अन्याद बतना कुछ असम्भव भी नहीं है।

मीता (८३) मे यह कहा है कि भीहृष्ण ने किस भागवतभग का उपेक्ष लकुन को दिया है उसका पहले स्वेच्छा गया था। भागवतभग के नम्बर शब्द मे प्रमदर को बासुदेव जीव को सङ्कृप्त भगवान का प्रतुच्छ भगवान भीहृष्ण का अनिष्ट कहा है। "नम्ब बासुदेव जा स्वय भीहृष्ण ही का नाम है सङ्कृप्त अन्दे उपेक्ष भागवान्याम का नाम है तथा प्रश्नम् और अनिष्ट भीहृष्ण के पुष्ट और पंख के नाम है।" सुकुमार का ज्ञान गुरुर नाम 'साक्षत' मी है वह उस साक्षतश्चिति का नाम है किसम भीहृष्णजीने इस दिया था। उन्हमे पहले घम प्रचलित हो गया था और उभी उन्हाँने अपने धियमित्र भगवान का उनका उपेक्ष दिया हुआ — और यही उन पोराणिक कथा मे भी कही गई है। पहली कथा प्रचलित है कि भीहृष्ण के साथ ही साक्षत इनि वह अन्त हो रहा। इन कारण भीहृष्ण के उपेक्षत इनि मे इस घम का प्रसार हाना न्यि सम्भव नहीं था। मागवनभग के निम्न भिन्न नामों के दिव्य मे इस प्रसार की ऐनिहानिक उत्तराभि भास्त्रां जा लकड़ी है। इन किस घम का भीहृष्णजी ने प्रहृत दिया था वह उन्ह पहले वशिष्ठि उरायगीय या पञ्चरात्र नामों मे स्मृताभिक भगवान प्रचलित रहा हुआ वै राज नाक्षत्रश्चिति मे उसका प्रसार हान पर इन साक्षत नाम शास्त्र द्वारा हान तहाँन्तर भगवान भीहृष्ण देखा लकुन पा भर-नारायण के भास्त्रार भिन्नर लग इस घम का मागवनभग बहुत हो हुआ। इन दिव्य के सम्बन्ध मे पहले मानने की ओर भावध्यक्षणा नहीं कि तीन या चार भिन्न निम्न भीहृष्ण हां गुरु है भीर उनमे भ हर एक ने इस घम का प्रसार क्षमत समय अस्ती भार से कुछ न हुआ गुप्त बरन का प्रयत्न दिया है — बहुत दूसरा मानने के निय कारू भिन्न जी नहीं है। सूर्यम भै स्मृताभिक परीक्षान हां दाने के बारे ही पहले उपरा उपरा दाने हैं युद्ध भास्त्र तथा स्त्रम्भ का दान रहे घम के नव लक्ष ही दान मे दान हो गय है तीर भाग उन्ह स्मों मे नहे थे भी विश्वा नी हां दान

१८ न द्वायां द्वायां The India Interpreters शब्द दिन । ५८८ पृ ५६  
भवद्वर भगवान्या १८ भवाम द्वाय द्वाय १८ भव भ द्व  
द्वाय उक्ती १८ भव १८ भ द्वाय १८ द्वाय १८ द्वाय १८  
The Bhakti Bhaga १८ भव १८ भ द्वाय १८ द्वाय १८ भ  
द्वाय १८ भ द्वाय द्वाय द्वाय १८ भ द्वाय १८ भ द्वाय १८  
१८ भ द्वाय १८ भ द्वाय द्वाय १८ भ द्वाय १८ भ द्वाय १८  
१८ भ द्वाय १८  
१८ भ द्वाय १८

म से अधिकाधि का भव तक यही मत है कि बुद्ध कर्मेन का काल इसा के पहले लामा १८ वर्ष या बहुत तुआ तो २ वर्ष से अधिक प्राचीन नहीं है। अतएव उन्हें अपनी इही से यह कहना असम्भव प्रतीत होता है, कि मागवतधर्म इसा के लामा १४ वर्ष पहले प्रचलित तुआ होगा। क्योंकि ऐतिकर्मसुहाइत्य से यह कम निविदि सिद्ध है कि कर्मेन के बाहर यज्ञवाग भावि क्षमप्रतिपाद्य पदुर्वेद और ब्राह्मणप्रन्थ करे। उत्तरन्तर ज्ञानप्रधान उपनिषद् और साम्यवाच निर्मित हुए हैं और अन्त में महिमधान प्रन्थ रखे गये। और केवल भागवतधर्म के प्रन्थों का अवलोकन करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि औपनिषदिक ज्ञान साम्यवाच वित्त निरोपकृष्णी योग्य भावि धर्माङ्क भागवतधर्म के उदय के पहले ही प्रचलित हो चुके थे। समय की मानानी लक्ष्यावानी करने पर मी यही मानना पड़ता है कि कर्मेन के बृद्ध और मागवतधर्म के उदय के पहले, उक्त मिथ मिथ धर्माङ्क का प्रादुर्भाव तथा इदि इनके लिये वीच म कम-से कम उच्च नारह धारक भवस्य बीत गये होंगे। परन्तु यदि माना जाय कि भागवतधर्म को भीहृष्ण ने अपने ही समय म-अर्थात् ईसी के लामा १४ वर्ष पहले - प्रात्त दिना होगा; तो उक्त मिथ मिथ धर्माङ्कों की इदि के स्थिर परिमी परिवर्ती के मतानुसार इक्के मी उपर्युक्त कालाकाश नहीं रह सकता। क्योंकि ये परिवर्त होग क्षमवद्वाक्ष ही को इत्ता से पहले १ तर्था २ वर्ष से अधिक प्राचीन नहीं मानते। ऐसी अवस्था म उन्हें यह मानना पड़ता है कि सा या अधिक से अधिक पॉच-४८. सौ वर के तद्द ही मागवतधर्म का उदय हो गया। न्यूनिये उपर्युक्त क्षमानुसार बुद्ध निरभर करण कल्पा कर के खग भीहृष्ण भार मागवतधर्म की समकालीनता को नहीं मानते। और इक्के परिमी परिवर्त सो पह कहने के लिये भी उद्यत हो गये हैं कि मागवतधर्म का उदय बुद्ध के बाड़ तुआ होगा। परन्तु ईन वक्ता ईड़ प्रथा म ही मागवतधर्म के जो उत्तेजन पाय जाते हैं उनसे तो यही जात लाल विद्वित होती है कि मागवतधर्म बुद्ध से प्राचीन है। अतएव ठीं बुझर ने १ कहा है कि मागवतधर्म का उदयवकाश बोद्धवाक्ष के नामे हटाने के बासे हमारे औराधन प्रबल क प्रतिपाद्यन के अनुसार कर्मेनाडि प्रथों का काल ही पीछे हटयाक जना चाहिये। परिमी परिवर्ता न अन्यकल्पाद्य भगुमाना ने ऐसे प्रथों के जो काल निर्मित विद्य है वे असम्भव हैं। ऐतिकाल की प्रथमयात्रा इसा के पहले ४८ वर से कम नहीं के ज्य सकती। त्यादि वारा का हमने अपन औराधन प्रबल में भेंगे के उदयमन अभिनि राजक वाक्या के नामांक पर विद्व कर दिया है और इसी भगुमान को भव अधिकाधि परिमी परिवर्ता ने भी प्राप्त है। इस प्रकार क्षमवद्वाक्ष का पीछे हटने ने

से "स काष का मृष नहीं गीत पढ़ता। अतएव मानस्त तथा विश्वपुराण में ये सह पचन है कि परीक्षित राजा क इनमें से नन्द क अभियक्ष सक ॥११॥ अपेक्षा १ १६ वर्ष हात ह (मातृ १२ ८६, भार विष्णु ४ ४ ३) उसी क भावार पर विद्वानों ने अब यह निखिल किया है कि "सार सन् क स्मामा १४ वर्ष पहल मार्तीय शुद्ध भार पाष्ठव त्रुण होते। अयात् भीरुण का अवधारकाल भी यही है और "स क्षण का स्वीकार कर सेव पर यह चार विद्व होती है कि भीरुण ने मानस्तभम को — "सा से ल्यामग १४ वर्ष पहल मायका शुद्ध से ८ वर्ष पहले — प्रत्यक्षित किया होगा। इसपर कुछ व्यग यह भावेव स्तर है कि भीरुण तथा पाष्ठवा क प्रतिहासित पुरुष होने म कार्य सन्दर्भ नहीं परन्तु भीरुण के जीवनकाल में उनके अनेक स्पालन रीत पश्चात् हैं — जैसे भीरुण नामक एक खणिय यादा का पहले महापुरुष का पार प्राप्त शुद्ध वर्षात् विष्णु का पार मिथ्य भार भीर भन्त म युज परज्ञ का वर्ष प्राप्त हो गया — जैसे यत्र अवस्थाभी में मारगम स भन्त तक शुद्धन्या काल शीत शुद्ध होगा — इसीकिय भागवतभम के वर्ष का तथा मार्तीय शुद्ध का एक ही काल नहीं माना जा सकता। परन्तु यह अस्त्रप निरवह है। जिस वर्ष मानना चाहिये, जौर किंतु नहीं मानना चाहिये "स कियप पर आनुनिक तत्त्व की समझ म सप्त वेदार हजार वर्ष पहले क स्थगा की समझ (गीता १ १२) में यदा अन्तर हो गया है। भीरुण क पहले ही ज्ञे त्रुण उपनिषद म यह किङ्कान्त कहा गया है कि जीवी पुरुष स्वयं ब्रह्ममय हो गता है (र ४ ४ ३); भार विश्वपुरिषद में यह साक्ष वान कहा गया है कि इड विष्णु भाष्युत नारायण ये सब ब्रह्म ही है (मध्य ७ ३) जिर भीरुण का परज्ञ प्राप्त होने के किय अधिक समय स्थन का कारण क्या है? जिहाव की भार उपनिषद में विश्वनार्थ बीद्र मन्त्री में भी यह वान रीत पश्चाती है न शुद्ध स्वयं अपन को "ब्रह्मभूत (ब्रह्मभूत १४ वर्गाया १३) कहता था। उसक जीवनकला ही म उम ऐव क सहज तन्मान किया जाता था। उसक स्वप्नस्थ वान क बात दीर्घ ही उम वादिव का भयका विश्वप व परमामा का अद्वार प्राप्त हो गया था और उसकी वृश्च भी जारी हो गयी थी। यही वान इसा मन्त्रात् की भा है। यह वान तत्त्व ह कि शुद्ध तथा इन क समान भीरुण तन्मानी नहीं थे भीर न नामवतभम ही निरूपित्वान है। परन्तु वृश्च इली भापार पर शीड तथा इसार प्रम क मृष्टुक्षया क तन्मान भागवतस्पव्यवन भीरुण का भी पहल ही स व्यव भयका इष का स्वप्न प्राप्त होने में जिनी वापा क उर्ध्विषय होन का वारण हीन मही परमा

इस प्रसार भीरुण का तत्त्व निखिल कर नन्द पर उसी का अग्रामन का उद्यताव भानना नी प्रयत्न तथा वयुनिक है। परन्तु तन्मानवा पर्वद्वी पर्वित देवा रहन में न क्या हितकियात है? इकठ्ठ वारण शुद्ध और ही है। इन पर्वतों

पीछे गिनते हुए भनिदा नभन के आधे मारा तक उत्तरायण होता है (मंत्र ६ १४)। “सम सन्नेह नहीं कि उत्तरायनरिपतिश्चाक य वसन तत्त्वात्मेन उत्तरायनरिपति एव सद्य करके ही कह गय है और फिर उसे इह उपनिषद् का कालनिषेध भी गणित की रीति से सहज ही किया जा सकता है। परन्तु ऐसे पढ़ता है किसी ने भी उसका उस दृष्टि से विचार नहीं किया है। मैसुरुपनिषद् में गणित वह उत्तरायनरिपति ऐश्वर्योतिप च कही गा उत्तरायनरिपति ४ पहले की है। क्याति बड़ाइयोतिप में यह बात स्पष्ट रूप से कह दी गई है कि उत्तरायन का आरम्भ भनिदा नभन के आरम्भ से होता है आर मैसुरुपनिषद् में उसका आरम्भ ‘भनिदा’ से किया गया है।” स विषय में मतभेद है कि मैसुरुपनिषद् के भविष्यात्मक घटन में दो वर्षम् पर है उसका अव दीक भाषा करना चाहिये अध्यक्षा भनिदा और शत्रुघ्नारक की दीक दिसी भ्यान पर करना चाहिये परन्तु जो कहा जाय इसमें दो दुल भी सन्नेह नहीं कि ऐश्वर्योतिप के पहले की उत्तरायनरिपति का वर्णन मैसुरुपनिषद् में किया गया है और वही उस समय की हितिः हानी चाहिये। अतएव यह कहना चाहिये कि ऐश्वर्योतिपकाल का उत्तरायन मैसुरुपनिषद्कालमेन उत्तरायन की व्याप्ति उत्तरायन आधे नभन से पीछे हट आया था। योतिपति च यह सिद्ध होता है कि ऐश्वर्योतिप में कही गई उत्तरायनरिपति न्तान उन के लगभग ? या १४ वर पहले की है ० और आधे नभन से उत्तरायन के पीछे हट्यन में खगभग ४० वर लग आते हैं। न्यूक्लियनिति से यह बात निष्पत्त होती है कि मैसुरुपनिषद् रसा के पहले १८८ से १९८ वर के दीक कमीन-कमी ज्ञा होता है। और दुल नहीं तो यह उपनिषद् निष्पत्त है ऐश्वर्योतिप के पहले का है। अब यह कहने की काढ़ आवश्यकता नहीं कि आसाम्याति किन उपनिषदों के अव तरण मैसुरुपनिषद् में क्ये गय हैं ५ उनमें भी शाचीन हैं। साराण्य “न उन प्रम्भों के काल का निषय” स उपकार हा चुका है कि अचर उन इनकी से लगभग ४५ वर पहले का है वज्रायमा भावितिपद्म द्वादशप्रथम उन “सबी के लगभग २ वर पहले के ह और अस्याम्य आति जनन्त्रयन उपनिषद् उन इनकी के लगभग १६ वर पहले हैं। अब यथार्थ में वे बात अवशिष्ट नहीं रह जाता किनके कारण परिभ्रमा परिष्ठ लाय मागवन्तपत्तम् च उद्दकास का “न भार हया सन का बरन किया करते ह नार भौदृष्टा तथा भागवतवत्तम् का गोप और कठ ८ की निसर्गिक जीवी के समान एक ही कामरात् से दंडन में बार भय भी नहीं दीये पाता। एवं फिर

---

बद्धाय-कालिक का शान्तिवर्तन इमार Option (व्यापक) लालक अन्वर्ती व्यापक में वाता ह तो इस बाल्कून शीक्षित ह वास्तविक ज्ञानीक व्यापक का इतिहास व्यापक मरणी वर्ता है तथा ३ महिला वाता ह इनमें इन बात का भी इच्छाग किया जाता है इस उत्तरायन के बोधक व्यापक का ज्ञान-का काल निवृत्ति किया जा सकता है

वैदिकधर्म के सब अङ्गों की शृणि होने के लिये निखित काल्पनिकाश मिथ्या होता है और भगवन् भर्त्योऽथकाल को उत्तिष्ठित करने का प्रयोगन ही नहीं रह जाता। परमेश्वरसी यहाँ बल्लहास गीतित ने अपने भारतीय ऋषोठिराशम (मराठी) के "तिहास" में यह अनुभव इह कि "क्षेत्र" के बारे बाहर आति फ़रवरी में फूरिका प्रभुति नदिया की मध्यना है। "सुखिम छनका काल भसा में स्वामा ८ वय पहले निखित करना पड़ा है। परन्तु हमारे देश में यह अभी तक नहीं आया है कि उत्तराधिन निष्ठि से ग्रन्थों के काल का निर्वाम करने इसी रीति का प्रयोगन उपनिषद् के विषय में किया गया हो। रामनामीसारणे महिमप्रश्नन एथा योगलक्ष्मसरीगे योगप्रश्नन उपनिषद् की मध्या और रचना ग्राचीन नहीं शीर्ष पक्षी - केवल "सी आजार पर क" स्वेच्छा ने यह भनुमान किया है कि सभी उपनिषद् ग्राचीनता में बुद्ध की अपेक्षा आर पौंछ सौ वय से अधिक नहीं है। परन्तु कालनिष्ठि की उपमुक्त रीति से ऐसा व्यय की यह समझ अमम्भूक्त ग्रन्थीन हायी। यह सच है कि "पातिपि" की रीति से सब उपनिषद् का काल निखित नहीं किया जा सकता। तथापि मुख्य मुख्य उपनिषद् का काल निखित करने के लिये "स रीति" का काल अस्ता उपर्योग किया जा सकता है। माया की इसि में देखा जाय तो प्रा मैत्रसमूहक का यह क्षम्भ है कि मध्युपनिषद् पाणिनी से भी ग्राचीन है। १० कर्योऽहि "न उपनिषद् में एसी क" युक्तसमित्या का प्रयोग किया गया है जो सिफ मैत्रायणीतिहास म ही पायी जाती है और किसी प्रचार पाणिनी के समय क" हो गया था (अर्थात् किन्तु अनन्त कहत है)। परन्तु मैत्रुपनिषद् कुछ सब से पहला व्यापार व्यापारीचीन उपनिषद् नहीं है। उसमें केवल ब्रह्मकाल आर साम्य में बर दिया है किन्तु क" स्थाना पर स्वर्णाल्प वृहत् रूप्यक तिनिरीय कठ आर इशावास्य उपनिषद् के वाक्य तथा कोइ भी उनमें ग्रामाणाय उद्घृत किये गये हैं। हा यह तच है कि मध्युपनिषद् म सदृक् व्यय में उक्त उपनिषद् का नाम नहीं दिये गये हैं। परन्तु "न वाक्या क पूर्णे यन पर वाक्यवृणक प" रखे गये हैं और एक व्याप्ति या उक्त " ( = प्राणा ज्ञाता है )। इत्युक्ति न दिया मैं कार नहै नहीं रह जाता कि ये वाक्य दूसरे ग्रन्थों न दिये दये हैं - व्यय मैत्रुपनिषद्भार का नहीं है। भार भन्य उपनिषद् के देशमें भ कहत ही मात्रम हा जाता है कि के बचन वहा ने उद्घृत किये गये हैं। भय इस मैत्रुपनिषद् में बालकी भवना उद्गतरूपी व्यय का विवेक करते समय यह दान पावा जाता है कि मध्या नक्त के भारत्यम ने क्षमा भविता भवान वनिद्वा नक्त के भाव माय पर पर्वत्ते तर (मयाम भवित्वाद्यम) दिग्गायन होता है भार तार भवत् भावेया नक्त म गिर्वान वर्मान (भवान् भावेया पुर्य भावि तन मे )

है और यह मीं कहा है — ‘कार वेद और साक्ष या धोग “न पौचो का उत्तमे  
(मागवतभम् में) समावेश होता है। “सुदित्ये उसे पात्ररात्रभम् नाम ग्रास दुन्मा  
है” (मा शा ११ ७) और वेशरप्पक्षलहित (अर्थात् उपनिषदों  
का भी लेकर) ये सब (शास्त्र) परस्पर एक दूसरे के भाइ हैं (शा १४८-८२)।  
पात्ररात्र शास्त्र की यह निषिद्धि स्वाक्षरण की हड़ि से चाहे कुछ न हो उत्थापि  
उससे वह बात स्पष्ट विश्वित हो जाती है कि सब प्रकार के लान की प्रक्रियाओं  
मागवतभम् में आरम्भ ही से की गई थी। परन्तु यहि के साथ अन्य सब प्रक्रियाओं  
की एकत्राक्षयता करना ही कुछ मागवतभम् की प्रथान कियोगता नहीं है। यह नहीं  
कि महिं के भर्तुरात्र का पहले पहले मागवतभम् ही ने प्रकृत किया हो। ऊस विषे  
इए मध्युपनिषद् (७ ७) के वाक्यों से यह बात प्रकृत है कि स्त्री की या विष्णु  
के किंवि न किंवि स्वरूप की महिं मागवतभम् का उत्त्य होने के पहले ही वरी हो  
सुनी थी। आर यह मारना भी पहले ही उत्त्य हो सुनी थी कि उपास्य कुछ भी  
हा यह नहीं का प्रतीक भवता एक प्रकार का रूप है। यह सब है कि स्त्र  
आरि उपास्यों के कठोर भगवत्तभम् में वासुदेव उपास्य माना गया है परन्तु गीता  
तथा नारायणीयोपास्यान में भी यह वहा है कि महिं चाहे किंवि की जन्म यह  
एक मन्त्रान ही के प्रति दुन्मा करती है — रुद्र और ममान् मित्र मित्र नहीं  
(गीता १. २३ मा शा. १४३ ८ -१६)। अनेक वेद वासुदेवमहिं  
मागवतभम् का मुख्य लक्ष्य नहीं मानी जा सकती। किंतु लालतुरात्रि में भगवत्त  
भर्तु प्रादुर्भूत दुन्मा उस व्यति के लात्यकि आरि पुरुष परम मात्रद्वच मीम्प और  
कर्तुन तथा स्वर भीहृष्ण भी वह पराक्रमी एक दूसरी से परानम के कार्य करने  
वाले हो गये हैं। अनेक अन्य मात्रद्वचों का लक्षित है कि वे भी इती आर्द्धे  
की भवने सम्मुख रूप; और सत्त्वार्थीन प्रचलित चतुर्वर्ष के भगुत्तार मुद्र आरि  
सब स्पाक्षट्टरिक क्षम कर — वह यही मूँछ मागवतभम् का मुख्य विद्युत था। यह  
बात नहीं कि महिं के तत्त्व को भीकार करके नेत्राभ्युक्त दुर्घट में तमार का त्पर्ण  
करनेवाले पुरुष उन तमव विद्युत ही न होगे। परन्तु यह कुछ लालता का जा  
भीहृष्ण के भगवत्तभम का मुख्य लक्ष्य नहीं है। भीहृष्णारि के उपदेश का तमार  
है कि महिं भे परमभर का जन्म हा जन्मे पर मात्रद्वच का परमेभर के लमान  
जगत् के धारनयापन के क्षिय सभा वन्न बरत रहना आदिय। उपनिषद्वाल में उन्न  
जार्जिना ने ही वह निर्भिन्न कर दिया था कि व्रहायनी पुरुष के क्षिये भी निष्पाम  
कर्म करना बाइ अनुसिन जान नहीं। परन्तु उन तमव उनमें महिं का तमारण भी  
किया गया था और इनके तिका शान्तिशर क्षम करना भवता न करना हर एक वी  
इच्छा पर अवश्यिता था — जपान विश्वित तमहा जाना था (वि ८, १ च १६)।  
विद्युत भव ए इतिहास म भगवत्तभम् ने जा अन्यतु मद्दत्त्वपृष्ठ और रमानपर्म ऐ  
विनिप्र कार्य किया वह ए वि उन (मागवत्तभम) ने कुछ क्षम आये

पैद प्रश्नारा द्वारा बर्णित तथा अन्य एनिहाइक मिथनि से भी ठीक ठीक में हो जाता है। उसी समय बिकाल की समाप्ति हुई और अब तथा सूर्तिकाल का अवसरम हुआ है।

उक्त ब्रह्माणना से यह जात स्वप्नतया विवित ही जाती है कि मागवतधम का उत्तम इसा के समाप्त १८ वय पहले ( अर्थात् बुढ़े के स्थाना सात आठ ही वर्ष पहले ) हुआ है। यह काल बहुत प्राचीन है तथापि यह ऊपर कलम के है कि ब्राह्मण या मध्यित कम्माग न्सने मी अधिक प्राचीन है और उपनिषद् विषया साम्यशास्त्र म बर्णित हैन मी मागवतधम के उत्तम के पहले ही प्रचलित है कर बुकमान्य हो गया था। पेरी अवस्था म यह कल्पना करना सबधा अनुचित है कि उक्त ज्यन रुधा भमाङ्गा की बुछ परबाह न करके भी इग्नेशमरीगे हैनी भार चतुर पूर्व ने अपना अम प्रवृत्त किया होगा अवश्य उनक प्रवृत्त करन पर मी यह अम तत्कालीन राजपर्याय तथा ब्राह्मणियों का मान्य हुआ होगा और व्यग्रा म उम्मा फ्लार रवा होगा। उसे अपने महिमप्रधान अम का उपेश पहले किं यही उसो का किया था उनमें उस समय भार्मिक सम्बान अ प्रमार नहीं होता था। उस्तिथ अपने अम का मेड तत्काल के साथ कर देने की उमे बोन भावप्रकृता नहीं थी। केवल यह ब्रह्मा देने से इसा का भमापेशसम्बन्धी काम पूरा हो जाता था मि पुरानी ब्राह्मण म जित कम्मव अम का ज्ञान किया गया है इमरा यह महिमाग मी ज्ञानी का छिये हुए है और उसने प्रयन्न भी केवल "तत्त्वा ही किया है। परन्तु उसां अम की इन जाता ने भागवतधम के अनिहाम की दृम्मान करते रुमय यह यानम रम्मा जाहिये कि किं जाया मैं तथा किं सभय मागवतधम का प्रमार किया गया उल समय के ने भी जैग केवल कम्माग ही से नहीं किन्तु ब्रह्मण तथा कापिस्माम्यशास्त्र से भी परिचित हो गय थ और तीना भमाङ्गा की पक्षाक्षयता ( मेल ) करना भी जैग भीय चुके थ। एसे व्यग्रा मैं यह कहना किंतु प्रमार उनित नहीं हुआ होता नि तुम अपने कम्माग या भावनिष्टिक और साम्यशान को छोट हो और केवल भग्नापूर्व भगवतधम का शीकार कर ली। ब्राह्मण आडि ऐटिक अमों म बार्षित भार उल समय मैं प्रचलित यज्ञवाग भाडि अमों का फल भवा है। क्या उपनिषदों का या साम्यमास्त्र का जल दूषा है? मर्हि और चित्तनिरोपन्नी घोग का मेम हैं हा एका है! - इस्तिथ उस समय स्वप्नावृत उपमित होनेवाले प्रभी का जब उक दीन दीन उपर न किया जाता तप मागवतधम का प्रचार होता मी सम्म नहीं था। अतएव स्पाय की दृष्टि ने भय पही कहना पौरा कि भगवतधम मैं भारतम ही से इन तप कियवी की जपा करना अन्यतः भावप्रकृत था। और महामालान्तर्मत नारायणीवीशम्प्यान के देखने से भी यह निरदात रहा जाता है। उक भावधान मैं मागवतधम का जाय भीप निष्टिक भग्नाव वा और ताम्यग्रहियादिन भराभरप्रिचार का मेल कर किया गया

के बाल के विषय में क्या भगुमान किया जा सकता है ? भीहृष्ण तुया मरणीय सुद का काढ यापि एक ही है भगुमान मन "मवी के पहले स्वरमा" १५ वर ह। तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि भागवतप्रभम के ये शोना प्रबान प्र-५-मूल गीता तथा मन्त्र भारत - उसी समय रखे गये होंग। किसी भी भगवन्त्य ए उच्च्य होने पर सुरक्षा ही उम पर प्राप्य रखे नहीं शक्ते। भारत तथा गीता के विषय में यी यही त्याय प्रवान होता है। वतमान महाभारत के आरम्भ में यह क्या है कि अब भारतीय सुद नसाह हो जुना और जब पाठ्यका का पन्नी (पाठ) अन्मेव्य लप्सक कर रहा था तब वहों विष्णुपायन ने अन्मेव्य का पहल परम्परा गीतासहित भारत मुनोया था और अगे जब साती ने शत्रुघ्न का मुनोया तभी मेरा मारत प्रचलित हुआ। यह बात प्रकृत है कि साती भाति पारामिका के मूल में निकल कर भाग मारत को काम्यमय ग्रन्थ वा स्थायी स्वरूप ग्रास होने में कुछ समय अवश्य जीत गया हुआ। परन्तु "म काम का निषय करने के लिये बोल मारन उपर्युक्त नहीं है। यमी अद्वयमें यहि यह मान दिया जाय कि भारतीय सुद के स्वरमा पाँच मी वर के मीठर ही आप महाकाल्याभ्युप गृह मारत निर्मित हुआ होगा तो कुछ विशेष साहस्र भी ज्ञात नहीं होगी। इसाहि बादभूमि के मूल कुद भी मृत्यु के बाड इससे भी बसी लयार हुए हैं। अब आप महाकाल्य में नाशक का क्वस परानम अवश्य भेजे भ ही काम नहीं वरक्ता। किन्तु उसमें यह भी क्षमताना पड़ता है कि नाशक जा कुछ करता है वह अनितुर्हृत वा भनुष्टित। इतना ही भी ! समृद्धि के अनिरिक्त भन्य साहित्यों में जो उष प्रकार के महाकाल्य हैं उनमें भी यही ज्ञान होता है कि नाशक के कामों के गुणोंपाका विवेचन करना आप महा काशक का एक प्रवान भाग होता है। अवानिन इष्टि से इन्हा जाप तो कहना पहलों दि नायरी के कामों का नमधन बेतत नीतिशास्त्र के आपार पर करना आविष्ये। किन्तु प्राचीन समय में एम तथा नीति में शृणु में नहीं माना जाता था। अनुष्टु उक्त नमधन के लिये अवश्यि के विवा भन्य जाग नहीं था। किर यह क्षमतानी भावावश्यक्ता नहीं कि जो भगवन्तप्रभम भारत के नायरी का पाप उभा था अपरा जा उर्ध्वा के डारा प्रकृत दिया गया था उसी भावद्वन्द्वम के आधार पर उन्हों काया का समधन करना भी आवश्यक था। "मैं दिया बूलरा कारज यह भी है कि भगवन्तप्रभम के अनिरिक्त क्षमाभिन प्रवचनित भन्य वैष्णवप्रभमग्रन्थ न्युनाभिन रीति ने अपेक्षा नवयोगी निष्ठृत्यवान थे। इसकिय उन्मे वर्णितम्भी के आधारपर मारत के नाशक की जीरका का पुण्यतथा नमधन करना नमधन नहीं था। भलण्ड क्षमावौग्रप्रवान नमधनाभ्यम का विकल्प महाकाल्याभ्युप भृत भारत ही भूमि करना भावावश्यक था। यही इति दीता ८ भार यों मारनाभ्यम के मन्त्र नमधन का दृवर्गभिन्नदिन प्रातिग्रामिन वरने द्वारा तथा भूमि वहस्त्रा मन्त्र यह न भै हो तो यह शृृणु भगुमान दिया जा सकता है। १८ यह भार्ग प्रभा में एक न्यरस्य है भार इतना काम इत्या स्पृष्टम् १८

कठहर केवल निरूपि की भयेभा निष्कामक्षमप्रवान प्रृथिमाम (नैषम्य) को अधिक भयस्तर ठहरावा आर केवल उन ही के नहीं बिनु मैरि से भी कर्म का नचिन मेल कर दिया। एस भम के मूल्यवदतक नर भार नारायण कर्मी भी इसी प्रसार सम काम निराकाम बुद्धि से किया जाए और महामारत (उत्तो ४८ २१ २) मे कहा है कि सब योगों का उनके समान कर्म करना ही उचित है। नारायणीय भारवान मे ता मागवतभम का लक्ष्य स्पष्ट बताया है कि प्रृथिलिङ्गमध्येव चमो नारायणा रम्भ (म मा शा ३४७ ८) - अपान नारायणीय अथवा मागवतभम प्रृथिमवान या कर्मप्रवान है नारायणीय या मुख मागवतभम का ये निष्काम-प्रृथिति तथा है उसीका नाम नैषम्य है और यही मुख मागवतभम का मुख्य तत्त्व है। परन्तु भागवतपुराण से यह जान गिय पत्ती है कि आगे काल्पन्तर म पह तथा मम होने रहा और इस भम मे तो वरायमप्रवान बासुदेवर्मकि भेद मानी रहने रही। नारायणवाप म ता जक्षि क साथ मम्भतम्भा का भी समावेश मागवत भम म कर दिया गया है। तथापि मागवत ही के यह जात स्पष्ट हा रहती है कि य सब इस भम के मूल लक्ष्य नहीं है। वही नारायणीय अथवा सात्वतभम के विषय मे ही कुछ कहने का मोक्ष आया है वही मागवत (३ ३ ८ और ३ ४ ४६) म ही यह कहा है कि सात्वतभम या नारायण जप्ति का वर्म (अपान् मागवतभम) नैषम्यवस्था है और आग यह भी कहा है कि इस नैषम्यभम मे जक्षि का उचित महस्त नहीं दिया गया या इससिये मतिग्रप्तान मागवतपुराण पहना पदा (भग. ३ १२)। इसम यह जात निर्विचार लिद हाती है कि मह मारवनभम नैषम्यवप्रवान अथवा निष्कामक्षमप्रवान या विशु आगे समय के दृपर म उत्तम लक्ष्य बदल कर यह भजितप्रवान हा रहा। गीतारहस्य मे ऐसी एनि हासिक जान का विषेषन पहल ही हा जुसा है कि जान जुषा मैरि के पराम का तथा रामजामे मम मागवतभम म ईर्षा भाग्यवत्यव्याहरी स्माकमाग भे क्या भइ है काम भव्यात्मान भैन भार ईडुभम क प्रतार स मागवतभम क कर्मयाग की रहनी हा वर यह कुलसा ही लक्ष्य भवान ईरायपुन भजित्वद्वप्य ईसे प्राप्त ज्ञा भीर भजप्रम का ताल हान क जाए जो ईदिक जग्मदाय प्राप्त है उनमे वह कुछ न ता। तथा म भागवतीय ही का तन्यवप्रवान कुछ ने भेषम मैरिप्रवत्तन रहा कुछ न विविद्यात्मवान लक्ष्य करने दिया।

उत्तरुप लक्ष्य विषेषन मे यह जात तमसा मे भा जायगी, कि विषि पम क जान वाह मे भव्यात्मपम का उत्तम वह कुमा? भीर पहर्म उत्तर प्रृथिमप्रवान या कर्मप्रवान हाने वह भी आगे जप वर भजितप्रवान लक्ष्य ईवं क्षमा मे रायनुवा काय क लक्ष्य विविद्या जी लक्ष्य वर्त रहा रहा। भव्यात्मपम क इन निप्र भव्यान मे भ ज मूल्यवत्तम का भवान विष्काम भव्यात्मप्रवान लक्ष्य ईवं वही नैषम्यम क लक्ष्य है। भर पही वर लक्ष्य मे यह जान्या लक्ष्य कि उत्तर वही मूल

के नय की पुष्टि हा गई है। मिथ्या भिन्न पुराणों में कठमान मगधीता के नमूने की ओं अनेक गीताएँ कही गई हैं, उनसे यह बात स्पष्ट दिखत हा चाही है कि उल्लं ग्रन्त से मूँछ गीता को ये स्वरूप एक बार प्राप्त हो गया था वही अब उक्त स्वा शुभा है — सचमुच इस उसम कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ। क्याकि इन सब पुराणों में से अत्यन्त प्राचीन पुराणों के कुछ शब्द पहले ही यहि वर्तमान गीता पूर्वतया ग्रन्तमूल (और न्यौतिये परिवर्तित न होने योग्य) न हो गई होती थी उसी नमूने की अन्य गीताओं की रचना की कस्ता होना भी सम्भव नहीं था। न्यौति ग्रन्त — गीता के मिथ्या भिन्न साम्राज्यिक टीकाकाराने एकही गीता के शब्दों की गीतावानी करके — यह दिग्दर्शने का यो प्रयत्न किया है कि गीता का अर्थ इसार ही सम्भाषण के अनुकूल है। उक्ती भी काँइ आवश्यकता उत्पन्न नहीं होती। कठमान गीता के कुछ दिग्दर्शनों का परस्परविचार ऐसे कुछ लोग यह गंता करते हैं कि कठमान भारतास्तुत यीता मैं मी भाग समय पर कुछ परिवर्तन हुआ होगा। परन्तु हम पहले ही कठमान तुम ह कि बाल्य म यह विचार नहीं दे किन्तु यह भ्रम है यो भगवतियाद्वय करनेकामी पृष्ठापार वैष्णव पद्मतिवा के स्वरूप का नीक दोर पर न करनेका से हुआ है। सारांश, ऊपर किये गये विवेचन से यह बात समझ में आ जायगी की मिथ्या भिन्न प्राचीन वैष्णव ब्रह्माद्वा भी पद्मास्थता करके प्रवृत्तियाग का विचेष्य रीति से सम्पन्न करनेका से मागवत्प्रभ का उद्दय हा तुमन पर स्थानग पौख सी वद क पश्चात् (अपान् न्यौति के स्वामी वय पहल) मह मारत और मह गीता दोनों प्रत्यय निर्मित हुए, किनमे उन मह मागवत्प्रभ का ही प्रतियाद्वय किया गया था और मारत का महा भगवत् होत समय घण्टिपि इस मम्पीता मैं तुग्रपापर कुउ मुशर विये गये हो; सायापि न्यौति अतुल्यी रूप मैं उस समय भी परिवर्तन नहीं हुआ। एव बठमान महामासस रुप गीता दोनी गर तम (और उनके बाड़ में) उनम काँइ नया परिवर्तन हुआ — भीर होना भी असम्भव था। मम गीता तथा मह मारत के स्वरूप एव काल वा यह निषय भगवत्प्रभ स्वयंस्त्रिय से पद अन्दाज से किया गया है। क्याकि उम समय न्यौति तिय ही विचार सापन उपस्थित नहीं है। परन्तु महामारत नया दलमान गीता की यह धार नहीं। क्योकि इनक काल का निषय करने के विचार बहुत लापन है। अनेक न्यौति वचा स्वतन्त्र रीति ने अगाड़ मद्य मैं भी गर ह। यही पर पात्रका का स्वरूप रामना आहिय कि ये शनी — अपान् बठमान गीता भीर बठमान महामारत — वही प्रत्यप ह। किनक मूल स्वरूप मैं कालमत्तर ने परिवर्तन होना रहा और ग इन तमय गीता तथा महामारत के रूप मैं उपस्थित ह य इन समय के यहर मूल प्रत्यप नहीं है।

पहुँचे हैं। इस प्रकार गीता यहि भागवतबनप्रबन्धन पहल्य प्रन्थ न हो तो भी वह सुम्पद प्रन्थाम से एक अवश्य है। "सुखिव" स शब्द का उत्तमत बरना आवश्यक था मिठमम प्रतिपादित निष्काम कर्मयोग साक्षात्त्वीन प्रवस्त्रित लन्त्य चमपथा मे - नयात् कर्माण् थे जोपनिपादित ज्ञान से सारथ मे चित्तनिरोपदृष्टी योग म तथा भवि मे भी - अविहर है। उन्ना ही नहीं किन्तु यही न्म प्राप्त का मुख्य प्रयोग भी कहा य उक्ता है बाल्त और भीमातात्मा वीड़े से ह। "सुखिवे उन्ना प्रतिपादन सूक्ष गीता मे नहीं आ सकता : भार यही कारण ह तुछ लोग यह गङ्गा परते हि मिठमन्त्र विषय गीता म वीड़ मिला किया गया है। परन्तु लिममम्भ वेगान्त्र भार भीमातात्मा वीड़ मध्य ही ज्ञ छा किन्तु "सुम काम सन्त्व नहीं कि न शास्त्र ए प्रतिपाद विषय उक्त याचीन ह - भार इस पात का उक्तव्य हम उपर वर ही आय है। अतएव मूल्यगीता मे "न विषय का प्रवश्य हाना कालार्थि म इसी प्रकार विपरीत नहीं कहा जा सकता। तथापि हम यह भी नहीं कहते कि वह मध्य भारत का महा भारत क्वाया गया हाना दब मध्य गीता मे तुछ भी परिवर्तन नहीं आ हाग। इसी भी चमपथ को लीकिय न्म नितिहास मे तो यही ज्ञ ग्रन्त हाती ह कि उसमें चमपथ पर महामठ हासर व्यनेक उपपन्थ निर्माण हो जाता करत है। वही शब्द चमपथ परमप्रबन्ध के विषय मे कही जा सकती है। नारायणीदोपारमान (म ना शा १४८ ७) म यह ज्ञ ख्य वृप वृप भी गा है कि मागवतबन का कुछ स्पष्ट ग वा चमपूर्व - भवान वास्तुव चमपथ प्रभुम भनिम्भ "म प्रकार स्वार मूहों हो - मनते हैं और तुउ लग विवृह या एकम्भ ही मानते हैं। भाग वर कर देने ही और भी अनेक महामठ उपर्युक्त हुए होंगे। इनी प्रकार भोगनिर्वाहक गाम्यग्रन्थ की भी कुछि हो रही थी। अतएव इस पात की चापधानी रामना अस्त्रामाधिक या मध्य गीता क देश के विष्ट भी नहीं या कि मध्य गीता मे तो उक्त विमिद्वाहा वह दूर हो जाव भार उत्तर तुप विष्टव्यग्रन्थग्रन्थ से भगवान्त चमपथ पूर्णतया मध्य हो जाव। हमने पहल गीता भीर व्यवहार भीत्व ऐत म पह वास्त्र दिया है कि इनी वारपथ मे वनमान गीता मे व्यवहार का चमपथ पाका जाता है। इनके लिया उक्त प्रकार चमपथ परवर्तन मी मध्य गीता मे हो गय हाग ; परन्तु सूक्ष गीताप्रस्थ मे देने परिवर्तन वा हाना भी चमपथ नहीं था। वनमान चमपथ म गीता की ज्ञ यामाधिकता है ज्ञन प्रवृत्त नहीं होता कि वह उक्त वानान महामठरत क वार मिली होती ऊर वह भावेहै कि व्यवहारी म अमृति दात्त म गीता का प्रमाण माला है। मध्य भारत चमपथ महामारत दात तमपथ वर्ष मध्य गीता मे भी वास्त्र न परिवर्तन हा चमपथ हैन तो ज्ञ प्रमाधिकता मि लिय / तुउ चमपथ म गीता का प्रमाण माला है। वरन्तु देखा नहीं ॥ ८ - जीर गीताचमपथ की प्रमाधिकता वर्षी नर्विद चमपथ है। भगवन्द पर्दी भवुमान वाना रहुआ है कि वर्ष वीजा मे ज तुउ परिवर्तन चमपथ ही हात, वर्ष व्यवहार महामठ वर्ष न प किन्तु रहे थ, किन्तु वर्ष व्यवहार वीजा ८६

महामारत हाने पर जो दृढ़ ग्रन्थ उत्तर इभा वह प्राय बलमान प्राप्त ही था होगा। ऊपर कठबाहु चुके हैं कि “स महामारत में याकृष्ण निकृष्ट सधा मनुसहिता का और मामद्विवा म लो ब्रह्मसूरों का मी उद्देश्य पाया थाता है। अब “सक अविरिष्ट महाम्भरत के काढनिषय करन के लिये या प्रमाण पाय चाहे ह वे ये हैं:-

( १ ) अठारह पदों का वह ग्रन्थ तथा हरिवद्य ये दानों सबत् ७३ ओर ६३८ के नर्मियान व्याख्या और वारी दीपा म ऐ तथा वहों की प्राचीन विदि नामक भाषा में उनका अनुवाद हुआ है। “स अनुषार” के व आन पव - भावि विद्य, सद्योग भीषण आभासवासी सुषष्ठु, प्रस्थानिक और स्कारोहृष्ट - वास्त्र इष्ट म वह समय उपलब्ध है और उनम से तुड़ प्रसाधित मी हा चुक है। यद्यपि अनुवाद विभागमै लिपा गया है तथापि उसम स्वान स्थान पर महामारत के मूल संक्षेप न्योज ही रखे गये हैं। उनम से उद्योगपर्व के अोका भी जीव हमने भी है। वे एव अोक बलमान महाम्भरत की कष्टकौटि म प्रसाधित पापी के उद्योगपर्व के अप्यायो मै - भीच बीच म कमग - मिष्टे हैं। “ससे चिद्व होता है कि व्य अोकात्मक महामारत सबत् ४३८ के पहले स्वामग दो दी वह तक हित्त्वान मै प्रमाणमूढ़ माना थाता था। क्योंकि यह वह वहों प्रमाणमूढ़ न हुआ होता थे व्याख्या तथा वारी दीपा म उसे न ले गये हाते। तिष्ठत भी भाषा में भी महामारत वा अनुवाद हा चुक है; परन्तु यह उसक बाड वह है।\*

( २ ) गुप्त राजाभी के समय का पक दिसम्बरम हास म उपस्थित हुआ है जिसे चेति सबत् ११७ अर्थात् विद्वभी सबत् ८ र मै लिपा गया था। उसम इत बात का स्वद रीति से लिम्बा लिया गया है कि उस समय महामारत ग्रन्थ एव स्वयं अप्यों का था; और इससे वह प्रकृत हो चका है कि विद्वभी संबत् ८ के लियम्ब वा सौ वर्ष पहले उसका अस्तित्व नवाचम होगा।†

( ३ ) नामक न्यस्त विदि के बी नामकप्रत्यय प्रकाशित हुए है उनम से अधिकार्य महामारत के आप्यायों के आधार पर रखे गये हैं। “ससे प्रसर है कि उस समय महामारत उपस्थित था नार वह प्रमाण मी माना थाता था। मरु विद्वत् वास्त्वरित नाटक मै भीदृप्यादी की शिशु-भवस्था भी बातो का तथा ग्रीष्मिकी का लक्षण पाया जाता है। अतापि वह कहना पद्धता है कि हरिवद्य भी उस समय अस्तित्व म होगा। यह बात लिविनाद लिङ्ग है कि भास विदि कालिकास से पुरुजा है।

जाका ईप के मनवायन का व्याग The Modern Review July 1914 pp 32-38 म लिपा गया नार लिविनी बात म नुसारित महामारत का झाग Rock Hill Life of the Buddha, p 228 note म लिपा है।

\* वह भित्तार्य Inscripsi a m I dicarum नामक हुलस के तुर्पित नाम के दृढ़ ५ म इन्द्रादि या हुआ नार लियादी सद्गुरु वामदृष्ट वीरिण म उनसु ग्रन्थ नवन भारतीय वाति नाम (१) म लिपा है।

## भाग ५ – वर्तमान गीता का काल

इस बात का विवेचन हो जुता कि महाभारतम् पर प्रबन्ध प्रत्य है और यह मागवतभम् "सादृशन के व्याप्ति १४ ० यद्य पहच ग्राहुर्भूत इुमा । एवं स्कृतमान से यह निश्चित दिया गया कि उत्तर कुछ घटका के बारू मूल गीता की होगी और यह भी घटजाया गया कि मूल मागवत भम् के निष्प्रवाम – कर्मप्रबन्ध इने पर भी आग उत्थापनम् प्रवर्त्य हा कर अन्त म विद्युताद्वैत का भी उत्तमं समाप्तेष्ट हो गया । मूल गीता तथा मूल मागवतरम् के विषय म इस से अधिक शाल निश्चन वर्तमान समय मैं तो मास्तम नहीं है आर यही व्याप्ति पञ्चांश वय पहले वर्तमान गीता तथा महामारत की भी थी । परन्तु डॉकर माण्डारकर, परम्परकारी गृहर वाक्यहृष्य श्रीनिति तथा रावद्वाहुर विनामणराव वैद्य प्रदृष्टि विद्वाना के उत्त्रोग से वर्तमान गीता एव वर्तमान महामारत का काल निश्चित करने के लिये यथेष्ट ताधन उपलब्ध हा गये हैं और, अभी हाल ही मैं स्वरूपसी व्यक्ति गुरुनाथ कल्पे ने दीनांक प्रमाण और भी बनाया है । ऐन सब को एकत्रित कर तथा हमारे मत से उनमें किस बातों का मिलना ठीक नहीं उनमें भी मिल्य कर परिचित का यह माग सैक्षण्य मे दिया गया है । इस परिचित प्रकरण के भारतम् ही मैं इमने यह वर्त म्प्राणसहित विद्वा ही है कि वर्तमान महामारत तथा वर्तमान गीता गोनो प्रत्य एक ही भवित्व हारा रखे गये हैं । यदि ये दोनों मन्य पक्ष ही व्यक्ति द्वाया रखे गये – अर्थात् एककालीन मान ले – तो महामारत का काल से गीता का काल भी उत्तर ही निश्चित हो जाता । अतएव ऐन नाम मैं पहच ही है प्रमाण दिये गये हैं को वर्तमान महामारत का काल निश्चित करने मैं अत्यन्त प्रधान माने जाते हैं और उनमें बारू मूलतम् रीति ले ले प्रमाण दिये गये हैं क्योंकि वर्तमान गीता का काल निश्चित करने मैं उपयोगी है । ऐसा करने का उद्देश यह है कि महामारत का कालनिष्पत्ति करने के लिये इसी दो त्रिमिति प्रसीत हो तो उनके कारण गीता के काल का निष्पत्ति करने मैं कोई वापा न होने पाये ।

**महामारत कालनिष्पत्ति :-** महामारतक्षम् बहुत वर्ण है और उसी मैं यह दिया है कि वह स्वरूपेकात्मक है । परन्तु रावद्वाहुर वैद्य ने महामारत के अपने दीनामूल अन्तर्गती प्रत्य के पहच परिचित म यह व्याख्या ही ० कि ये महामारत प्रत्य इस तमय उपलब्ध है उत्तमे उत्तर क्षार्ती ही सरमा मैं तुछ न्यूनाभिज्ञा हो गा है और यदि उनमें हरिवद्य के क्षेत्र मिल्य विद्य जाव ले भी पायद्वय पक्ष खाय नहीं होता । तथापि यह माना ज्य सकता है कि न्यून का

(६) स्वयं महामारत म वहाँ विष्णु के भक्तारा का वर्णन किया गया है। वहाँ बुद्ध का नाम लेकर नहीं और नाराजीयोनारक्षण (म भा शा ४१३ १) में वहाँ इस भक्तारों के नाम दिये हैं वहाँ हस्त को प्रथम भक्तार कह कर तथा हृष्ण के बाड़ ही एकदम उस्ति को आकर पुरे उस विना दिये हैं। परन्तु अनपव म विष्णुग की भविष्यत् विष्टि का वर्णन करते समय कहा है कि एक्षबिहा पृथिवी न देवग्रहभूपिता' (म भा १० ६८) — अर्थात् पृथिवी पर ऐक्षलया के बड़े एक्ष होंगे। बुद्ध के बास तथा बौद्ध प्रधाति विष्णु स्मारक वस्तु को अभीन में गढ़ बर उठ पर वे स्वाम, मीनार या दमारत कनार आवी भी उसे एक्ष कहते थे और आनन्द उसे 'दागोक्षा कहते हैं। दागोक्षा शब्द सकृद 'चातुर्गम्भ' (= पाञ्च दागव) का अपभ्रंश है और 'चातुर शब्द का अर्थ मीनर रक्षी हर्ष स्मारक वस्तु है सीखेन तथा ब्रह्मेष मे ये दागोक्षा का स्थानों पर पाये जाते हैं। 'सुधे प्रसीद होता है कि बुद्ध के बाड़ — परन्तु भक्तारों में उनकी गतिजा होने के पहले ही — महामारत रना गया होगा। महामारत में 'बुद्ध तथा 'प्रतिबुद्ध गन्ध अनेक घर मिलते हैं (शा १९४ ५८ ३ ४ ४० ४४३ २)। परन्तु वहाँ देवत इनी अननेकाला अथवा विष्टुमह पुस्त नहीं ही अथ उन शब्दों ले अभिप्रेत हैं। प्रशीत नहीं होता कि ये शब्द वैद्य घम से दिये गये ही किन्तु यह मानने के लिय हठ कारण भी ह कि बोद्ध ने ये शब्द वैदिक घम से लिये होंग।

(७) कालनिषय की हाइ से यह बात अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि महामारत म नक्षकाणना भवित्वी भावि से नहीं है; किन्तु यह इस्तिक्षा भावि ने है (म. भा अनु ६४ लांग १९) और मैय शूद्रम भावि राधियों का कही भी उल्लेख नहीं है क्योंकि नव शव से यह अनुमान महब ही किया जा सकता है कि यूनानियों के सहजात से हिन्दुस्थान म मैय शूद्रम भावि राधियों के भावने के पहले — अपार्क विकन्दर के पहले ही — महामारतप्रथ रचा गया होगा। परन्तु इनसे भी क्षणिक महब की बात अपन भावि नक्षकाणना के विषय की है। अनुगीता (म भ अथ ४४ २ भीर भावि ३ ३८) मे वहाँ ही कि विश्वामित्र ने अवण भावि की नक्षकाणना भारत्म की; भीर दीक्षाकार ने उसका यह अथ विद्या है कि उन ननय अप्यन नक्षक मे उक्तायन का भारत्म होता था — इसके भिन्ना उसका बाड़ शूद्र दीक्ष दीन अथ भी नहीं ही लक्षता। विश्वामित्र के समय उक्तायन का भारत्मी अप्यन्द्य नक्षक से उभा करता था। अनिश्च मे उक्तायन होने का बास व्यानिगामिनी की रीति से उत्तर के पहल स्थान है और व्योतिष्ठानी की रीति से उक्तायन की एक नक्षन यीते हुएन के लिये स्थानग्रह हृष्णर का इम जाते हैं। इन हिन्दाय से भवन के भारत्म म उक्तायन होने का बास बाड़ के पहले स्थान है वर भावा है भारत गवित क छारा यह अन्याया जा लक्षा है कि यह के पहल वर के भारत्म अग्रमय बनायान महामारते बना होगा। परन्तु क्षारी एक्षर बाल्हरप्त

मात्र कविहृत नामकों के सम्बन्ध परिचय गणपतिगामी ने स्वप्नासवद्या नामक नामक भी प्रस्तावना म लिखा है कि मात्र पाणकम के से भी प्राचीन है। क्याकि भासु कवि के नामक का एक क्लीक वाणकम के अधिकार म पाया जाता है आर उसमें यह फलताया है कि यह मिमी दूसरे का है। परन्तु यह वास्तविक इष्ट सन्दिग्ध माना जाय तभापि हमार मत्र से यह जात निर्विवाद है कि भासु कवि का समय सन्देशी के दूसरे तथा तीसरे धूतक के भीतर मी ऐ आर का नहीं माना जा सकता।

(४) वाद्य प्रधों के द्वारा यह निर्धारित किया गया है कि शास्त्रियान् शब्द के व्याख्यान में अश्वोप नामक एक शैद कवि हो गया है किसने 'बुद्धचरित' और 'चीन्द्रमन् नामक शैद वर्तमान समृद्ध महाकाम्य लिखा थे। अब ये प्रथम अपकर प्रसाधित किय गय है। इन शोना में भारतीय कथाओं का उल्लेख है। इनके सिवा 'वाङ्मनिकापनिषद्' पर अश्वोप का व्याख्यानकाम्यी एक आर प्रस्त॑ है। अपवा यह कहना चाहिये कि वाङ्मनिकापनिषद् उसी का रचा हुआ है। 'स प्रथम प्रोपेसर वैदर ने सन् २८६ म अम्नी में प्रसाधित किया है। इसमें हरिवंश के अद्यमहाकाम्य में महाम्याचा लक्षणांगु (हरि ८ २ भीतर २१) इत्यादि शैद तथा स्वयं महामारत के इष्ट अन्य स्वाक्ष (उग्रहरणात् म भा शा ११ २७) पाये ज्ञन हैं। 'ससे प्रस्त॑ होता है कि शक सबत से पहले हरिवंश को मिकारर वत्तमान लक्ष्यमान्यक महामारत प्रस्त॑ति था।

(५) वाचस्पत्यन् एष्टप्तों (३ ४ ४) म भारत तथा महाभारत का एष्टप्तु पृष्ठ इत्याग्य किया गया है भीतर वीचायन प्रमुख में एक स्थान (२ ८ ८१) पर महाभारत में वर्णित वयाति उपारम्मान का एक भासु मिलता है (म भा भा ८१)। कुहर साहृद का क्षय है कि केवल एक ही भौत क भापार पर यह अनुमान हर नहीं हो सकता कि महाभारत वीचायन के पहले वा १० परन्तु वह यहका गीक नहीं। क्याकि वीचायन के एष्टप्तु में विष्णुहरम्मान का न्यू उल्लङ्घन है। (ये ८ से ८) भीतर भाग चल कर इसी सब (२ २ ८) में मीता का पन पुष्प फल ताय भीक (गीता ८ १) भी मिलता है। वीचायन नव म पाये बानेश्वर इन डोसों का पहले पहले परस्पेक्षामी व्यामुख गुम्बाच काढे ने प्रसाधित किया था।<sup>t</sup> और इन तद डार्शनों से यही कहना पायता है कि तुम्हर याहृ की रक्षा निरूप है। भाक्ष्यव्ययन तथा वीचायन रानी ही महाभारत से परिचित थे। तुम्हर ही न अन्य प्रमाणों के निर्धारित किया दे कि वीचायन लन् इसी के अन्तर्मा ४ दर पहले हुआ है।

<sup>See Sacred Books of the East Series Vol XIV, Intro p 22.</sup>

<sup>t</sup> वाचाक्षार्णी चलक तुम्हार याहृ का एक लक्ष The Vedic Manuscripts and Gurukula Samachar Vol III Nos. 6-7 pp. 328-334 म प्रसाधित हुआ है। इसमें इष्ट का नाम याहृका शास्त्री या १० वाह अनुदृढ़ है।

हागी कि कर्तमान महामारु शक के स्पाम्भा पौच्छ की वर्ष पहले अस्तित्व में जन्म था। "मेरे बारे क्षणिति" किसी भेदे उपरै दुष्ट नये श्लोक मिथ्या डिये हाग अध्यात्म से इह निराकार भी ढाले हाग। परन्तु "स समय कुछ मिथिष्ठ श्लोकों के विषय में कोई प्रभ नहीं है — प्रति तो समूचे प्राच भै ही विषय में है और यह बात सिद्ध है कि यह समस्त प्रथ्य दृष्टिकाण्ड के कम-से-कम पौच्छ घृतक पहले ही रखा गया है।" स प्रकरण के आरम्भ ही महमने यह सिद्ध कर दिया है कि गीता उमस्त महामारुतमात्र का एक माग है — यह कुछ उपरै पीछे नहीं मिथ्यार्थ यह। अतएव गीता का भी काल वही मानना पड़ता है जो कि महामारुत का है। समझ है कि मूल गीता "समे पहले की हो — स्वाक्षिर (जैसा "सी प्रकरण के बीचे माग में क्षत्रियवा गया है) उसकी परम्परा यहुत प्राचीन समय सक हृदयनी पड़ती है। परन्तु जाहे वा दुष्ट वहां वाय पहले निर्विवार मिद्द है कि उसका काल महामारुत के बाहर का नहीं माना जा सकता। यह नहीं कि यह बाहर उपसुक्ष प्रमाणी ही से खिद्द होती है किन्तु उसके विषय में स्वतन्त्र प्रमाण मी गीय पाहते हैं। अब आगे उन स्वतन्त्र प्रमाण का ही क्षमन किया जाता है।

**गीताकाण्ड का विषय** :- ऊपर व्य प्रमाण क्षत्रिये गये हैं उनमें गीता व्य सदृश अध्यात्म नामकः निर्देश नहीं किया गया है। वहीं गीता के काल का विषय महामारुतकाल से किया गया है। अब वहीं कमश्य वे प्रमाण दिये जाते हैं किनम् गीता का स्वप्न स्वयं में छाहेय है। परन्तु पहले यह क्षत्रिय ज्ञाना जाहिये कि परमेश्वरवासी तमङ्ग ने गीता को आपस्तुत्व के पहले की अपान् इच्छा से कम से कम तीन सी वर्ष से अधिक प्राचीन कहा है। शास्त्र रामाणुजाराकर ने अपने वैज्ञान दीक्ष भावि पर्य नामक अन्योदी व्रन्ति म ग्रायः "सी काल की स्वीकार किया है। प्रोपेश्वर गाये" के मलानुसार तसद्दू डारा निर्भित किया गया काल ढीक नहीं। उनका यह कथन है कि मूल गीता "सा" के पहले दूसरी उड़ी म दुइ और इया के बात दूसरे घृतक म उसम् कुछ मुखार दिये गये हैं। परन्तु नीचे स्पिने प्रमाणों से यह बात भरी मौति प्रकर हा जायगी कि गाये का उष्ण क्षमन ढीक नहीं है।

( ) गीता पर ओ दीकार्ये दक्षा माप्य उपरै प है उनम् धाहरमात्र अ यन्म प्राचीन है। भीमारुतमात्र न महामारुत के उनसुश्चित्रीय प्रकरण पर भी व्य किया है और उनके प्रम्भों में महामारुत के मनुहृष्टिरित्याका श्रुतानु प्रभ गार अनुरौद्धा म स उन्नेरे वृक्षन अनेक स्थाना पर प्रसारात्र किये गये हैं। इन्हे यह जात प्रकर है कि उनके उपरै म महामारु और गीता दोनों प्रन्तु प्रमाणभूत

दीक्षित ने अपने मारवीय प्योटिग्राम में यही अनुमान किया है (मा १०८०, १११ और १४७ डेस्ट्रो)। इस प्रमाण की विशेषता यह है कि “उसके बारें उत्तमान महामारत का काक घाह के पहले एवं उस से अविकृष्ट पीड़ित होयाएँ ही नहीं ज्ञा सकता।

(८) राजव्याहारु डैन ने महामारत पर जो दीक्षित अन्य अन्द्रेवी में स्थित है, उसमें यह कहलया है कि चन्द्रगुप्त के द्वारा भू (जून ईस्टर्नी ऐ नामक ग्रीक वर्षील को महामारत की कथाएँ मालूम थीं। मेगस्थनीय का गूरा अन्य इस समय उपलब्ध नहीं है। परन्तु उसके अवश्यक एवं अन्तीम पाय आते हैं। जो सब प्रक्रिया करते पहले उसके बाब्त मात्रा भू प्रक्रिया किये गये और फिर मेन्ट्रिक्रियल ने उनका अन्द्रेवी अनुचाल किया है। ऐसे पुलुष (४४०-०-२८) में कहा है कि उसमें बर्गिन्ह ऐट्रेटीव ही भीहाव है भार मेगस्थनीय के समय और सनीय लोग — जौ मधुरा के निवासी थे — उसी की पुजा किया जाता था। उसमें यह भी स्थित है कि ऐट्रेटीव अपने मूलपुरुष द्वायोनिसिय से पन्द्रहवा था। उसी प्रकार महामारत (भनु १०३ ६-१३) में भी कहा है कि भीहाव अध्यापति के पश्चात्पूर्व पुरुष है। भार, मेगस्थनीय ने कण्ठावरण एवं रात उत्तराखण्ड आदि अद्यमूल जगत का (पृ ३४) तथा सात के ऊपर निकालने वाली वीरिया (गिरीसियाओं) का (१८) जो उपन निया है वह भी महाभारत (सम्भू १ भार) ही में पाया जाता है। इन वीरों से भीर अन्य जाता से प्रकर हो जाता है कि मेगस्थनीय के समय केवल महामारत प्रम्य ही नहीं प्रकलिन या किन्तु भीहावचरित सभा भीहावपूर्व का भी प्रचार हो गया था।

यदि इस बात पर ध्यान दिया जाए कि उपर्युक्त प्रमाण परस्पर सापेक्ष अप्यात् पक्ष दुसरे पर अवहमित नहीं है तिन्हु के स्वतन्त्र हैं; तो यह यात निष्कर्म्मेह ग्रीक

See M. Croddo Accademia India Meprasthenes ad Attuan pp. 202-203  
मेगस्थनीय का यह उपन इस दीप्तिमान शोज के काम विचित्रतापूर्वक है जो यहां है।  
इन्हां नामकर के Archaeological Department की 4 ईस्टर्नी वीर Progress Report  
हाल ही में प्रकाशित है इसमें इस विचारणा है जो म्यान्मार विचारण के नवनाम  
वाहर के दान इमवरण गाह में लाल्लाकार नामक इस गाहावतजालम्ब वर्णना है इस  
लेख में यह उपन है कि इमियावास नामक इस विन्दु वर्ण हूर वहन अवान्दीर्ण व इस  
लाल्लम्ब के लाल्ले लाल्लुर का नामित वनवासा भार यह उपन वीर के वाहर लाल्लम्ब  
गाहा के वाहर में तथाहिता है दीर्घियार्थ-वाहन नामक शीर गाहा के इसी वीर विचारण  
वाहना वा दीर्घियार्थ-वाहन के विचारा न अव इस विद्वि विषय गया है कि इस वीर के वाहन  
‘१२ वे वीर में राज्य वाहना था। इनमें यह वाहन वीरवासा विद्वि हा जानी है कि उन अपने  
प्राचुर्यवाहकी प्रक्रिया वीर वाहना ही नहीं विन्दु वहन वाहन भी वाहनवाह के व्यक्तिगत  
वाहन नहीं है। वह वाहन ही वाहन वीर है कि मेगस्थनीय ही वाहना विन्दु वाहनी के व्यक्तिगत  
को भी वाहनवाही मालूम थी

सरवेसां चावा द्वीप की गये थे तब उन्होंने "स बात की खोब की है। इस निषय का वर्णन कठिनते के मौद्रण रिस्पू नामक मार्किन पत्र के बुलदैर १ १४ के अङ्क में उत्ता अन्यत्र भी प्रकाशित हुआ है। इससे यह सिद्ध होता है कि शक चार-पैर्च थी के पहले कम से-कम टो सौ वर्ष तक महाभारत के भीष्मपर्व में गीता थी और उसके स्मैक मी बतमान गीताकाली के क्रमानुसार ही है।

(४) विष्णुपुराण और पश्चिमपुराण आदि प्रन्थों में मात्रावृत्ति के नमूने पर की हुई ओ अन्य गीताएँ दीक्ष पड़ती हैं अक्षया उनके द्वेषण पाये जाते हैं उनका वर्णन इस प्रम्य के पहले प्रकरण में किया गया है। ऐससे यह बात स्पष्टतया प्रियत होती है कि उस समय मात्रावृत्ति प्रमाण उच्चा पूजनीय मानी जाती थी। "सी स्मिते उक्ता उक्त प्रकार से अनुकरण किया गया है और यहि ऐसा न होता तो उक्ता ओइ मी अनुकरण न करता। अतपद सिद्ध है कि इन पुराणों मध्ये अत्यन्त प्राचीन पुराण हैं उनसे मी मात्रावृत्ति कम से कम सौ-सौ सौ वर्ष अधिक प्राचीन अवस्थ होगी। पुराण-काल का आरम्भ-समय मन र्सवी के वृसरे शतक से अधिक अपार्चीन नहीं माना ज्य सकता। अतपद गीता वा काल कम से कम द्वादशरम्म के तुङ्ग ओइ पहले ही मानना पड़ता है।

(५) अमर यह कहलास और ज्ञान गीता से परिचित है। कालिकास से पुराने मास कवि के नाटक हाल ही में प्रकाशित हुए हैं। उनम से कजमहर नामक मै गरहवी स्मैक इस प्रकार है—

इतोऽपि उभयं स्वर्ग निष्ठा तु उभये पश्च।

उमे बहुमत छोके नास्ति विष्कलता रहे॥

यह स्मैक गीता के हतो वा प्राप्यसि स्वर्गम् (गीता ३०) स्मैक के समानाक है। और वह कि मास कवि के अन्य नाटक से यह प्रलट होता है कि वह महाभारत से पूर्णतया परिचित था; तब तो यही भनुमान किया जा सकता है कि उपमुक्त स्मैक विष्ट्रै समय उसके मन मै गीता का उक्त स्मैक अवश्य आया होगा। अपार्च यह लिद हाता है कि मास कवि के पहले मी महाभारत और गीता वा अन्यत्र था। परिचित उ गणपतिगामी ने यह निभित किया है कि मास कवि का काल शक के ती सौ-सौ वर्ष यह ज्ञान है। यहि उस दूसरे मत को सत्य मानें तो मी उपमुक्त प्रमाण मै निद द्वा जाता है कि मास से कम से कम ती सौ वर्ष पहले—अपार्च गणकाल के आरम्भ मै महाभारत भार गीता जोनो प्रन्थ तदमान्य हो गये हैं।

(६) परम्पुरा प्राचीन प्राभारती द्वारा गीता का स्मैक किये जाने का और भी अधिक एक प्रमाण परमात्मानी अपमृग गुरुनाथ काल ने गुरुकुल की वर्तित मेगाचीन नामक भन्देशी मार्किन पूस्लाक (पुस्लक ७ अड ६-७ शृङ् ६०८-६१२ मागाचीय और पीप सक्त) म प्रकाशित किया है। इसक प्रधिमी भंगुर

भान् भ्रातुं थे । ग्रोफ्सर शाश्वीनाथ जाय पाठ्य न पक्ष साम्प्रशायिक स्लोक के आन्वार पर भीशद्वराचाय का अन्तिकाष्ठ १४६ विक्रमी संकृ. (७१) निश्चित किया है । परन्तु हमारे मन से उस काल का सौ कप और भी पीछे हगमा जाहिये । क्याकि महानुमय पर्य के 'शुचनप्रकाश नामक ग्राथ में यह कहा है कि 'मुम्पपयोविर उचिक्तदारं अथात शक ६८८ (विक्रमी संकृ. ७०३) में भीशद्वराचाय ने गुरु में प्रवेश किया और उस समय उनकी आमुद कप भी थी । अतपर यह तिद्द हाता है कि उनका अन्तिकाष्ठ ६१ (संकृ. ७४) में गुरु । हमारे मन में यही समय - ग्रोफ्सर पाठ्य द्वारा निश्चित किये गुए काल से - कही अधिक सुनुष्टिक पर्यान हाना है । परन्तु यहाँ पर उत्तर कियमें में विस्तारपृष्ठ किवचन नहीं किया जा सकता । गीता पर ये शाश्वद्वराचाय है उसमें पृथ्वी समय के अधिकाय गीकामारा का व्याख्यन किया गया है और उक्त माप्य के भारम्प ही में भीशद्वराचाय ने कहा है कि उन दीकामारा के मता का व्याख्यन करके हमने नया माप्य किया है । अतपर याचाय का अन्तिकाष्ठ आहे शक ६१ लीकिय या ७१ 'अम तो दुष्ट भी सन्देह नहीं कि उस समय के कम-से-कम तीन सौ यो पहल - अवाद् ४ शक के अनामग - गीता प्रचरित थी । अब अम्मा जाहिये कि 'म बाष्ठ ५ भी और पहले कष्ट और किनना जा सकते हैं ।

( ) पराणस्त्रामी तेष्ठ ने यह डिग्ग्युया है कि कालिकास और बाणमद्व गीता से परिचित थे । कालिकासहृत रुद्रश (१ ३१) में विष्णु भी भुविते के कियम में ये अनवानमवाचायन्तर्य न ते किञ्चन विष्टते यह अन्ति के (१ ८) नानवाममवामम्य स्लोक में मिलता है । और बाणमद्व भी कालमद्वी के 'महामारत मिकानन्तगीताक्षमानानन्दिततर 'स पक्ष स्वप्नपान बास्य में गीता का स्पष्टप्य से उत्तम किया गया है । कालिकास भार मरुर्जि का उत्तरप अप्लृष्टप से संबत १ ३ के पक्ष विष्वलग्न में पापा जाता है । और नव यह भी निश्चित हो चुका है कि बाणमद्व तक्त ६१३ के अन्तमा हर्ये राज के पास था । अम बान का विचरण पराणस्त्रामी पाण्पूरुष गोविष्म्यशास्त्री पारगी ने बाणमद्व पर लिये हए अपने पक्ष मराठी निकाम में किया है ।

(३) बाबा द्वीप में ये महामारत ग्रन्थ यहाँ में गया है उसके भीप्यपर्य में पक्ष गीता प्रकरण है किंतु मीता के निम्न मित्र भाष्याया के स्वामी दीन तमा दीन कीर्ति अधिकाय मिलते हैं । यिए १२ १६ २६ और २३ उन पार भाष्याया के अन्तर्य उसमें नहीं है । इनमें यह कहने में कोई भाष्यता नहीं द्वीप पड़ती कि उन समय भी गीता का लक्ष्य बनमान गीता का साध्य ही था । क्योंकि कविम्याया में पहल गीता का अनुचाड है; और उसमें ये समृद्ध अन्ति क्षमा मिलते हैं जो द्वीप-द्वीप में उत्तर हरण तक प्रतीक के तार पर से धियं गये हैं । असम यह अनुमान करना सुनिष्ठत नहीं कि उन समय गीता में कौनसे उठने ही क्षेत्र थे । यद्य पौर्णर नरहर गोपाल

पहले शीघ्रायन का समझ होना चाहिये और पॉच से वर्ष पहले महामारुत तथा गीता का अन्तित्रय था। परलोक्याती काढ़े ने शीघ्रायन का काल न्सा के उत्तर-आठ से वर्ष पहले का निश्चित किया है किन्तु यह ठीक नहीं है। जान पढ़ा है कि शीघ्रायन का राशिक्षियक बचन उनके घ्यान में न आया होगा।

(७) उपर्युक्त प्रमाणों से यह जात लिखी की मी स्पष्ट रूप से विश्वित हो जायगी कि वर्षमान गीता इक के समान पॉच से वर्ष पहले अद्वितीय में भी शीघ्रायन तथा आश्वस्त्रायन मी उससे परिचित थे और उस समय स शीघ्रायनाचार्य के समय तक उसकी परम्परा अधिनिष्ठित रूप में विद्यत्वार्थ ये सहती है। परन्तु अब उक्त किंतु प्रमाणों का उद्धरण दिया गया है के सब वैतिक धर्म के प्रभाव से सिये गये हैं। अब आगे चल कर वो प्रमाण किया जायगा कह वैतिक धर्मप्रस्त्री से मिल अथात् दौद्ध शाहित्य का है। इससे गीता की उपर्युक्त प्राचीनता खटन्न रीति से भार मी अधिक इह तथा निःस्तुतिग्रन्थ हो जाती है। शीघ्रायन के पहले ही मागवत्तम का उत्थ हो गया था। इस विषय मैं बुद्धर और प्रसिद्ध फेड पण्डित सेनात के मतों का लेखन पहले हो चुका है तथा प्रक्षुत प्रकरण के अन्तर्मे भाग म ऐन जाता का विवेचन खटन्न रीति से किया जायगा कि शीघ्रायन की दृष्टि द्वारा युद्ध के उत्थन से उत्तमा क्षया सम्भव है? यहाँ बड़ा गीताकाव्य के सम्बन्ध म ही भाष्यक उत्थन सिद्धि रूप से किया जायगा। भाष्यकउपर्युक्त शीघ्रायन के पहले का है। बड़ा इतना कह न से ही “स जात का निश्चय नहीं किया जा सकता कि गीता भी युद्ध के पहले थी। स्वाक्षि यह कहने के सिये को ए प्रमाण नहीं है कि मागवत्तम के उत्थ ही साथ गीता का मी उत्थ युद्ध। अतपर्य यह देखना आश्वस्त्र कहि कि शीघ्र प्रभारा ने गैतामन्य का स्पष्ट उत्थेन कही किया है या नहीं। प्राचीन शीघ्र प्रस्त्रों मैं वह स्पष्ट रूप से सिया है कि युद्ध के समय जार के बड़ा भाष्यक प्रकरण व्योहित निहास नियम आदि वैतिक रमण्य-प्रक्रिया हो चुका है। अतपर्य इसम सन्देह नहीं कि युद्ध के पहले ही वैतिक धर्म युद्धावस्था म पूर्व चुका था। इससे जात युद्ध ने वै नवा फूल चलाया वह अध्यात्म की दृष्टि से अनालम्बनीया परन्तु नन्मे-पेता अग्नसे भाग मैं चलाया जायगा—आकारयाहि से उपनिषदों के सन्त्यासमाग ही का अनुकरण किया गया था। भाषोक के नमय शीघ्रायन की वह व्याप्ति बहुत थी थी। शीघ्र मिश्रजा ने बड़ा स्मारक रहना छोड़ किया था। चर्तुप्रकारार्थ व्याप्ति परायकार का काम करने के किये वै हांग पूछ की द्योर बीन मैं भीर पश्चिम की ओर भलैकौदिया तथा ग्रीन लक वैसे गय थे। शीघ्रायन के निहास मैं वह एह अस्त्रम महत्व का प्रभ है कि बड़ा स्मारक मैं रहना छोड़ कर हांकमदार का काम करने के लिये बीउ परि देस प्रत्यक्ष ही गय शीघ्रायन के प्राचीन प्रस्त्रों पर हाहि जाइये। मुख्यनियात के नामाकिमानमुन म बहा है कि किंतु मिश्र ने पृथ भृत्यावस्था प्राप्त कर ली है वह कार मी काम न करे। वैस्य याहै के नदिय बन्स मैं नियात किया

पणिद्वां का यह मत था कि संख्यत काम्य तथा पुराणा की अपेक्षा किन्तु अधिक प्राचीन ग्रन्थों में – उत्तराहणाथ सूक्ष्माधी म भी – गीता का उल्लेख नहीं पाया जाता और उसकिये यह कहना पर्याप्त है कि सूक्ष्माधी के बारे – अषान् अधिक से अधिक उन् ग्रन्थों के पहले सूक्ष्मी सूक्ष्मी में गीता भी होगी। परन्तु परस्पेरवासी ग्रन्थों ने प्रमाण में खिद कर दिया है कि यह मत ठीक नहीं है। शेषायनशाश्वेषसूत्र (२२) म गीता का (१२६) अंगों तथा हमारान् कह कर स्वयं उप से किया गया है। जैसे :-

ऐशामार्द्द अप्यामार्द्द सापार्तोऽक्षयामनसा वाचयेति । तद्वाह भमवाम् ।  
पशु पुर्यं फङ्ग तोर्य एो मे भवत्या प्रपञ्चति ।  
तद्वाह भमवाम् युपद्वात्मभामि प्रवतामन ॥ इति

और आगे चढ़ कर कहा है कि मृक्षि से नम्र हो कर उन मन्त्रों का फड़ना चाहिये –  
मृक्षिनम् एतान् मन्त्रानशीयीतु। उसी शाश्वेषसूत्र के तीसरे प्रभ इन्हन्त में यह  
मी भहा है कि ॐ तत्त्वो भमवते भमुत्तेषाम एस द्वादशाहमन्त्र का उप करने भ  
भवत्येष वा उप मिलता है। इससे यह वाच पूर्णतया सिद्ध हाती है कि शीघ्रायन  
के पहले गीता प्रत्यक्षित थी; और वामुत्तेषपूर्य मी सबसामान्य समझी जाती थी। एसके  
सिद्ध शीघ्रायन के गिरुमेषसूत्र के द्वितीय प्रभ के आरम्भ ही में यह वाच्य ह –

जातस्य चे भनुप्यस्य द्वृष्ट भरव्यमिति विजानीपात्तस्माज्ञाने  
न प्रहृष्टेष्वते च न विरीदेत् ।

इससे सहज ही श्रीय पट्टा है कि यह गीता के अन्य हि शुक्रा मृत्यु मृत्यु  
क्षम मृत्यु च । वृत्त्मापरिहारेऽये न त्वं शोषित्वमहति ॥ इस अंगों से यह  
पद्ध दोग भी और उनमें उपसुक्त वत्र पुर्य शोष का यात्रा देने से तो कुछ दृढ़ा  
ही नहीं रह जाती । ऊपर इसके बारे महामारत का एक शोष शीघ्रायन  
क्षमी में पाया जाता है । उपर्युक्त ने निभित दिया है ॥ नि शीघ्रायन का काल  
भापस्तम्य के सौ ने सौ वर्ष पहले हामरा बार भापस्तम्य का काल इसके पहल  
तीन सौ वर्ष कम हो नहीं सकता । परन्तु हमार मतानुसार उसे कुछ एस भार  
एवमा चाहिये । क्याकि महामारत में यह वृत्त्म भावि राधिकों नहीं है; भार  
भापस्तम्य में ही शीघ्रायन का भीनमेषपात्तस्मशोष बन्तत यह वर्षन दिया गया  
है । यही वर्षन परस्पेरवासी शाहूर शाष्ट्रहृष्ण शीलिन ४ मारीय वानिःशास्त्र  
(३२१०) में भी दिया गया है । इसने भी यही निभित भनुमत्त दिया जाता  
है कि महामारत शीघ्रायन के पहले का है । शकारम्भ के अन्तर्मन्त्रम वार वी वर

या। उस प्रन्थ का अनुशास इसी माया से कर्मन भाया मैं किया गया है — अनेकी मैं अभी तक नहीं हुआ है। डॉ केर्न ने १८९९ ईसवी मैं बृद्धपर्व पर एक पुस्तक लिखी थी। वहाँ उसी से हमने वह अधितरण किया है। डॉक्टर केन का भी यही मत है, कि पर्हों पर भीकृष्ण के नाम से भावशीता ही का उद्देश किया गया है। महायान पाठ के बीद प्रन्थ मैं से 'सद्दर्मपुण्ड्रीक' नामक प्रन्थ मैं भी भावशीता के स्मैक के समान दुष्ट स्मैक है। परन्तु उन बातों का और अन्य विवेचन अपने माय मैं किया जायगा। पर्हों पर केवल यही बहुमया है कि बीद प्रन्थकारी के ही मतानुसार मूळ बीदपर्व के सम्बादप्रबान होने पर भी इसमें मध्यप्रबान तथा कर्मप्रबान महायान पाठ की उत्पत्ति भावशीता के कारण ही दुर्द है और अधित्रय के काम्य से गीता की बीदपर उमता बहुमय गई है, उससे उत्तर अनुमान को और भी दृढ़ता प्राप्त हो जाती है। परिमी पण्डिता का निष्पत्त है कि महायान प्रन्थ का पहला पुरुषता नामानुन यह के लगभग सौ देव सौ वर्ष पहसे हुआ होगा। और यह तो सत्तर ही है कि उत्तर प्रन्थ का वीचारापण अष्टोक के राज्यालयन के समय मैं हुआ होगा। बीद प्रन्थों से तबा स्वयं बीद प्रणारी के किंवद्दु उत्तर भर्त के विवाह से यह बात स्वतन्त्र रीति से लिंग हो जाती है कि भावशीता महायान प्रन्थ के अन्य से पहल — अष्टोक ही भी पहल — यानी उन् ईसवी से लगभग १५०० वर्ष पहल ही अस्तित्व मैं थी।

इन सब प्रमाणों पर विचार करने से इसमें कुछ भी घटा नहीं रह जाता, कि बहुमान भावशीता शामिकाहन शक के लगभग पाँच ही वर्ष पहले ही अकिलत मैं भी। डॉक्टर माण्डारकर, परत्यक्षवासी ठेठाहू, रामसहायुर चिन्तामणिराज विष और परम्प्रेक्षवासी शीमित का मत भी इससे बहुत दुष्ट मिलता-जुलता है; और उसी का पर्हों प्राप्त मानना चाहिये। हीं प्राप्तमर गाँव का मत चिन्त है। उन्होंने उठक प्रमाण मैं गीता के बीचे अध्यायकाम से सम्प्राप्तपरम्परा के ल्याकों मैं से इत 'यारं नप — याम का नाम हो गया — याक्षय का छे कर योग शम्भ का भूष 'पश्चात्य वंग लिया है। परन्तु हमने प्रमाणकृति अलू दिया है कि पर्हों योग शम्भ का नप पश्चात्य याम नहीं = क्षम्याम है। इसकिय प्रा गाँव का मत अमूल्य भूमात्र भूम्यात्र भूम्यात्र है। पर वात निर्विकार है कि बहुमान गीता का काम शामिकाहन शक के पाँच तीन वर्ष पहले की भूम्या और क्षम नहीं माना जा सकता। यिन्हें माम मैं पहल लगा ही नहीं है कि मूळ गीता इतन भी कुछ यादियों न पहले की होनी चाहिये

करे। और महावर्णा (६, ७) में तुड़ के द्विष्प्र सोनभोसीक्षिस ही व्याम  
कहा है कि जो मिशु निषागपत् उक पर्वत चुका है उसक द्विय न तो कोइ  
काम ही भवशिष्ठ रह जाता है; और न किया तुझा क्षम ही मानता पड़ता  
है - क्लास्त परिचयो नविक करीय न दिजति। यह 'तुड़ मन्याममाय है  
और हमार भावनिपर्वक्ष मन्याममाय से 'क्षमका पृष्ठनया मेह मिश्वा है। यह  
कर्त्तीय न दिजति धाक्य गीता के 'स तस्य काय न दिनते वाक्य से  
केवल समानाधर ही नहीं है किन्तु शश्वता मी पक ही है। परन्तु जोद मिश्वामा  
का द्वय यह मृदु मन्यासग्राहन अत्यन्तर व्याम गया और उन थे परोपकार के काम  
करने ल्ये तब नय तथा पुरान मत म ज्ञान हा गया। पुराने स्वयं अपन का  
'पित्रिका' (पृष्ठपत्) कहने ल्ये आर जबीन मन्यारी व्यग भपन पत्त का 'महायान  
नाम रथ करके पुराने फन्य का हीनयान (अधान हीन पात्र के) नाम मे सम्प्रदित  
करने था। अब गोप महायान पत्त का या भार यह 'स मत का मानता था कि  
यद यति स्वयं परोपकार के काम किया कर। अतपत् 'सान्त्रानन्द (३८८)  
काम्य अन्त म तब नन्द भाँतावस्था मे पर्वत गया तब उसे तुड़ न उ उपेत्य  
किया ह उसम पहले यह कहा है -

भयामकायोऽमि परी यति यत न तेऽस्ति विद्वित्तरवायमच्छपि ।

भयान तरा कन्तम हो चुका। दुसे उन्म गति मिल गा। अब तर दिये तिथ नर  
मी कर्त्तव्य नहीं रहा। और आग त्वपूर्व व्य से उपेत्य किया है कि -

विद्वाय तस्मादिह कार्यमात्मम तुड़ स्थिरास्यस्वरकार्यमप्यथा ॥

भयान् भयपत् आद तू अपना काय ओट तुदि का द्विर करक परकाय किया कर  
(स्त्री १८ १०)। तुड़ के अन्यागविद्यपत् उपेत्य मे - कि ये ग्रान्तीन भमप्या मे  
पाया च्वता है - तथा इत उपेत्य म (कि किस 'सौन्दरानन्द काम' म भवयाप न  
तुड़ के चुप से कहलया है) अस्त्वन्त भिजता है। और अबत्रोप भी उन अवीष्टों  
म तथा गीता के तीकर अख्याय म ये युक्ति प्रयुक्तिर्वा है उनम - तस्य काय न  
किन्ते तमादस्तः सतन काय क्षम समाचर - भयान् तर तुड़ रह नहीं गया  
ह। इसलिय उ क्षम प्राप हा उनका निष्कामतुदि से किया कर (गीता ३ ३९)  
- न केवल भर्त्तीष्ठ से ही किन्तु शश्वता समानता है। अतपत् उनसे यह  
भगुमान होता है कि ये अवीष्ट भवयाप का गीता ही मे मिथ्ये हैं। इनका कारण  
उत्तर कन्तम ही चुके ह कि अवागोप मे मै पहले महामारन था। उन्हेवल भगु-  
मान ही न समझिये। तुड़भमानुयारी तस्मापत ने उद्वचमविद्यपत् 'विहायसुम्पद्यी  
या क्षम भिज्वनी माया मै किया ह उसमें किया ह कि जोडा के पृष्ठमायेन कुन्याम  
माय मै महायान पत्त ने जो अन्यागविद्यपत् मुकार किया या उमे जन्नी भीहृष्य  
भीर 'गोप ने महायान पत्त के मुस्य पुरस्कार नागदर्जन के गुड राहुमछ मे जना

सामग्रा दुर्गम होने। ये विचार भूमिका में शोदृढ़म् के हैं या ऐतिहासिक के? और, इनसे भनुमान क्या निष्कृता है? किन्तु उन प्रभा का हास्य करने के लिये उस समय ये साधन उपलब्ध थे वे अपूर्ण थे। यही कारण है कि उपमुक्त नमकारिक शब्द साहस्र और भवसाहस्र विचार देने के लिये परस्परवासी तेजाद्वय ने उस विषय में और काद विद्युत यात्रा नहीं लियी। परन्तु अप्र शोदृढ़म् की शब्द अधिक यात्रा उपलब्ध हो गई है उससे उक्त ग्रन्थ किये जा सकते हैं। इसलिये यही परस्परवासी की उन यात्रा का समित बर्णन किया जाता है। परस्परवासी तेजाद्वय यीता का अन्येत्री भनुवार विषय ग्राम्यवर्गमन्त्यमान में प्रसारित हुआ था उसी में आगे चलकर पश्चिमी विद्वानों ने शोदृढ़मपन्नी के अन्येत्री भनुवार प्रसिद्ध किये हैं। वे यहाँ प्रायः उन्हीं से एककिंच की गति है और प्रमाण में ये बाद प्रश्ना के स्पष्ट जवाब देते गये हैं उनका विलक्षित उसी मात्रा के भनुवारों में मिलता। तुछ स्पृहाना पर यात्री गम्भी तथा बास्त्वों के अवशरण मूल पासी प्राया से ही उद्भूत किये गये हैं।

अब यह यात्रा निर्विवाढ़ सिद्ध हो जुती है कि जैवर्थ के उमान शोदृढ़में भी अपने ऐतिहासिक भर्मरूप पिता का ही पुनर है कि जो अपनी सम्पत्ति का हिस्सा के कर दिसी कारण से विमर्श हो गया है अर्थात् वह कान् पराया नहीं है—किन्तु उक्त पहले यहाँ पर जो व्याख्यापर्वत या उसी ही यही उपक्रमी दुर्गम् यह एक शास्त्र ह। इसमें महाविद्या वा वीपकश आदि प्राचीन पाली मापा के प्रन्त हैं। उनमें तुद के पश्चात्तीर्ती राजाभो तथा भौद् आचार्या की परम्परा का जो बर्णन है उसका हिसाब इस फर्मेन्ट से ज्ञात होता है कि गारुदबुद्ध ने वस्ती वर्ष की भाषु पाक्षर रूपी बनन से ४४३ वर्ष पहले अपना शाहीर छोड़। परन्तु उसमें तुद यात्रा असम्भव है। उसलिये प्रोफेसर मेहतामोहन ने उस गणना पर सूझा विचार करके तुद का वर्णन निर्वाचकाल उसी सन से ४४३ वर्ष पहले बनाया है और जॉक्सन कुम्हर भी अपार्क के विवरणों से इसी काल का इद इनका प्रमाणित करते हैं। उपर्युक्त प्रोफेसर निहमनेकिसु और दो कर्त्तव्यों समान तुद नौज करनेवाले इस काल का उत्तर काल से १८८३ वर्ष अपर पहले माना है। १८८३ वर्ष से कान् भी काल क्षी न स्वीकार कर लिया जावे? वह निर्विवाढ़ है कि तुद का अन्म होने के पहले ही ऐतिहासिक घम पूर्ण अवस्था में पूर्ण तुद था और न कवल उपनिषद् ही किन्तु भगवत्ता के उमान प्रश्न में उसके पहले ही नेपार हो चुके थे। व्याख्या की मापा के प्राचीन शोदृढ़ भवत्ता भी

इद १ वालमार्गविवरक वर्णन पा. मेहतामोहन ने इसमें वालमार्ग के लघुती भनुवार का सम्बादना म १८ B. F. Vol. ५, p. १००, pp. xxvii-xxviii) लिया है जार उसी वर्णिता हा गावार ने तभ में प्रकाशित नाम 'व्याख्या' के भनुवार की प्रसादन्त्री में का १ (The Mahavastu by D. Geiger Pali Text Society. Intro p. xxvi)

## भाग ६ – गीता और दौद्ध प्रन्थ

सहजता गम्भीर होने। ये विचार असत्त में शैद्धभूमि के हैं या ऐतिहासिक के हैं? और, इनसे अनुमान क्या निकलता है? किन्तु उन प्रभावों को हात करने के लिये उस समय या तार्किक उपसम्बद्ध ये ये अपूर्ण हैं। यही कारण है कि उपसुक्त चमत्कारिक घटना साहस्र और अपराह्नस्य विषय ऐने के सिवा परस्परवासी तेज़ाइ ने उस किंवद्य में और काइ लिखे हुए आठ नहीं छिपी। परन्तु अब शैद्धभूमि की या अधिक जाति उपसम्बद्ध हो गई है उनसे उस प्रभाव हल्का किये जा सकते हैं। उसलिये यहाँ पर यादृच्छा की उन जातों का समित वर्णन किया जाता है। परस्परवासी तेज़ाइ ने गीता का अन्नेशी अनुवाद किया ग्राम्यभूमि-प्रमाण में प्रकाशित हुआ था उसी में आगे अपराह्नस्य विषयाना ने शैद्धभूमि-प्रमाणों के अन्नेशी अनुवाद प्रसिद्ध किया है। ये जाति प्रायः उन्हीं से एकत्रित की गई है और प्रमाण में जो शादृ प्रणा के स्वस्त उत्तरात्म गम्भीर है उनका सिखायित इसी मात्रा के अनुवाद में सिखेगा। तुछ ज्ञानों पर पाली गंगा और वास्त्वों के अवश्यक मूल पार्श्वी प्रणा से ही उत्पूर्त किये गये हैं।

अब वह जाति निर्विवाद सिद्ध हो जुती है कि जैद्धभूमि के समान जैद्धभूमि में अपने ऐतिहासिक घर्मन्त्रप मिता का ही पुनर है कि या अपनी सम्बन्धित काहिस्ता से कर दिच्छी कारण से विमुक्त हो गया है अर्थात् वह कोई पराया नहीं है—किन्तु उसके पहले यहाँ पर जो ज्ञानाभूमि या उसी की वही उपनी दुर्दृष्टि यह एक ज्ञाना है। उड़ा में महावश्य का ग्रीष्मकाल आहि प्राचीन पार्श्वी भाषा के प्रायः हैं। उनमें तुछ के प्रमाणदर्ती राजाओं वर्षा वैद्य आचार्यों की परम्परा का जो बहन है, उसका हिसाब स्वया कर भेजने से ज्ञात होता है कि गातुमतुक ने अस्ती वय की आयु पाकर इनकी उन से ८५ वर्ष पहले अपना शुरुआती छोटा है। परन्तु इसमें तुछ जाति असम्भव है। उसलिये प्रापत्तर मेक्सिमल ने इस गणना पर सूरक्षा विचार करके तुद का यथार्थ निवाणकाल उसी सम से ४७३ वर्ष पहले क्षत्राया है और झोकर तुस्तर मी भव्योंक के लिए सम्भवा से उसी काल का सिद्ध होना प्रमाणित करते हैं। तथापि प्रापेसर निहुदविहृ और दा बेर्न के समान तुछ व्योम करनेवाले उत्त काल की उस काल से ६ वर्षां १० वर्ष भार मी जागे हृष्टवना जाएंगे हैं। प्रापेसर गावानर ने हाय ही में उन सब मतों की बीच बरके तुद का यथार्थ निवाणकाल उसी सम से ४८३ वर्ष पहले माना है। उनमें से कोई मी काल क्या न स्वीकार कर सिया जाय? यह निर्विवाद है कि तुद का क्षम्भ होने के पहले ही ऐतिहासिक प्रम पृष्ठ अवस्था में पर्याप्त तुका था और न क्षम्भ उपनिषद् ही किन्तु प्रमाणका के समान प्रम्भ में उसके पहले ही नियार हो चुके थे। तथापि पार्श्वी भाषा के प्राचीन जैद्ध घर्मन्त्रों

इदं निवाणकालविवादङ्ग वज्रन प्रा. मंसमध्यक्षर न ज्ञान असमका के भाषावी नवुपर्याप्त का प्रमाणका म (१ B. १५५ ५ । ५०० pp. १५५ ३) सिवाई भार उसमें वापास ही गायारा न ज्ञान ॥ प्रवर्तित वज्रन 'मंसमध्यक्षर' के प्रमाण असम में का (The Maha astava by U. Geiger Pali Text Society. Intro p. xxv)

ही में छिपा है — चारों देश, केशद्वारा व्याकरण-योगिय शिलास भार नियन्त्रु<sup>१</sup> आति विषया में प्रवीण सत्त्वसील रुद्धस्थ ब्राह्मणों तथा उपर्युक्त तपसिद्धयों से गोतम बुद्ध ने बात करके उन्होंने अपने भगवान् शीर्षा गी (मुत्तनिपाता में सेनासुत्त के सेना का विषय तथा ब्रह्मुगाया ३—४' अम्बो)। कर आति उपनिषद्गी में (कठ १८ मुहू २३) तथा उन्हीं की दृश्य करके गीता (४—५'—१') में जिस प्रकार यहायाग आति भ्रोतुकमा वी गाणता का विषय गया तथा कर अद्या म उन्हीं शम्भा के ग्राह तेविज्ञमुक्ता (विद्यवस्तुता) म बुद्ध ने भी अपने मत्तासुमार 'यज्ञयागादि' का विषयामी तथा त्याय ब्रह्मसम्बन्ध है और 'स वात ए निष्पत्ति किया है कि ब्राह्मण विस्ते 'ब्रह्मसहस्रत्याय' (ब्रह्मसहस्रत्याय = ब्रह्मसामुद्रता) वहते हैं वह अवस्था देखे ग्रास होती है? इससे यह बात स्पष्ट विनित होती है कि ब्राह्मणभग्न के कमकाण्ड तथा अनकाण्ड — अधिका गाहस्पदघम और मन्त्यासभग्न अपात्र मृश्चिति और निरूचिति — 'न तता शास्त्रान्वा' के पृष्ठतथा वह हा जान पर ऊम सुभग्न करने के विषय बोड्डभग्न उत्पत्ति हुआ। सुधार के विषय म सामान्य नियम पहुँच है कि उसम बुद्ध पहले वी जान विषर रह जाती है और बुद्ध पहले जाती है। भत्तेष्व 'स न्याय क अनुसार 'स जान का विचार करना आहिय कि वैदिकभग्न में विनियम की दिन दिन जाता का विषर रथ छिपा है और दिन दिन वी सोह दिया है। यह विचार देना — ग्राहस्पदघम और सम्पाद — वी दृष्ट दृष्टि से करना चाहिये। परन्तु बोड्डभग्न में मन्त्यासभग्नार्थी भगवा ब्रह्म निरूचि प्रवान है। इसविषय पहले देना के मन्त्यासभग्नार्थी का विचार करके अनन्तर देना के गाहस्पदघम के तारतम्य पर विचार किया जायगा।

विनित तन्यासभग्न पर दृष्टि नाम्भो में श्रीम पहला है कि कमभग्न मृश्चिति के सम्पर्कहार सूक्ष्मास्त्रक्षम्भ अनपव तुर्गममय है। इसमें भ्रातात् उन्ममरण के महानुभ भ्रातामा का तथा धूमकारा हैने के विषय में निष्काम और विरक्त करना चाहिये; तथा उसको दृष्टसृष्टि के मूल में रहनेवाले भ्रातमस्त्रामी निष्पत्ति परद्वाय में विषर करके वातारिक बमों का तुबथा स्वाग करना उचित है। इस भ्रातमनिष्ट विनित ही में सदा निष्पत्ति रहना उन्मानभग्न का मुख्य गत्ता है। दृष्टसृष्टि नामभग्नाम्भ तथा नाशकान है; और उमवियाक के कारण ही उमका भ्रातमिष्ट व्यापार जारी है।

कमभग्न ब्रह्मनी साक्षा उम्भमां ब्रह्मनी दत्ता (प्रजा)।

उम्भनि ब्रह्मना मना (मरणानि) रथसमाऽभीर दायना॥

भगवा उम ही से व्योग नीर प्रग जारी है। दिन द्वारा चर्णी ही गारी रथ वी शीम से नियमित रहती है और भ्रातार व्राणिमन्त्र उम में फक्ता हमा है (मुत्तनि वामेट्टनु ३१)। विनियम के उन्ममरण का उक्त तथा अपग्रा इम्भमरण का बहर पा ब्रह्मा इन, मदधर रथर, यम भारि भ्रनेत्र दत्ता और उम दी. ८. १३

मिथ मिथ संगपाताम् भावि संक्षेप का ब्राह्मणपर्व में वर्णित अस्तित्व तुद वा मान्य या भार एसी कारण नामस्पर्कर्मविदाक अविद्या उपादान और प्रहृति वर्गेत् वर्णन्त या संस्पर्शात्म के शब्द तथा वृद्धिति वैतिक दक्षताओं की क्षार्यं भी (तुद की भृत्यों को स्थित रख कर) कुछ हेरफेर से जीवन्त्यों में पार्व चढ़ती है। यद्यपि तुद को वैतिकर्म के कर्मसुष्टिविद्यक ये सिद्धान्त मान्य ऐ कि इत्यसुष्टि नाशवान् और भनित्य है। एव उसके व्यवहार कर्मविदाक के व्यरण आरी है तथापि वैतिकर्म भर्त्यात् उपनिषद्वारों का यह लिङ्गान्त उन्हें मान्य न था तिनि नामस्पात्मक नाशवान् सुष्टि के मूल में नामस्पर्क थे व्यतिरिक्त आत्म-स्वरूपी परद्वय के समान एक नित्य और सबस्यापक बल्द है। इन शेना घरों में जो विद्युप मिथता है वह यही है। गात्रम् तुद ने यह बात स्पष्ट रूप से कह दी है, कि आ मा या ब्रह्म यथाथ मैं तुद नहीं है—केवल भ्रम है। उसमें आत्म-भनात्म के विचार में या ब्रह्मचिन्तन के पश्चात् मैं पहल कर विद्यी को व्यपना समय न छोना आहिये (सम्बादवस्तुत्व १-१३ डेव्यो)। दीप्तनिष्ठ्यों के ब्रह्मवालभूतों से मी वही बात स्पष्ट होती है तिनि आमधियजन कोई भी कस्तना तुद को मान्य न थी। इन मुर्त्यों में पहले कहा है कि आत्मा और ब्रह्म एक हैं या दो? तिनि ऐसे ही भै ब्रह्मलठे तुद आ मा की मिथ मिथ ६२ प्रकार की क्षयनार्यं करत्वम् कर कहा है कि ये सभी गिर्या इवि हैं और मिथ्यन्प्रभ (२ ३ ६ और २ ७ १६) में मी बादर्पर्व के अनुसार नागेन ने यूनानी मिथ्यित (मिनार) से लाक चाक वह दिया है कि आमा तो कोई व्याप वलु नहीं है। यदि भान तो कि आत्मा भार उसी प्रकार ब्रह्म भी तीनो भ्रम ही है व्यापर्य नहीं है तो बस्तुतः भ्रम की नीर ही गिर जाती है। क्योंकि तिनि सभी भनित्य बलुर्ये कर रहती हैं और नित्यमुग्य या उसका अनुभव करनेवाल्य कोई भी नहीं रह जाता। यही कारण है जो अधिकृतात्म ने उकड़हि से उस मठ को अपास निर्विव किया है परन्तु अभी हम कल यही दास्ता है कि उसकी तुदर्पर्व क्या है। उसमें इस बाद का मही छाइ कर दास्ता, कि तुद ने अपन भर्त्य की क्षय उपरपति करात्म है। यद्यपि तुद का आ मा का अलित्व मान्य न था; तथापि न दो जातों से ऐ पूलत्वा सहमत थे, कि (१) कर्मविदाक कारण नामस्पात्मक वह को (आत्मा की नहीं) नाशवान् बग्गू के प्रपञ्च में भार जार करना पड़ता है; और (२) तुदर्पर्व का यह व्यवहार या सारा संसार ही दुर्गमय है। इससे पुकारा पा कर रिवर शान्ति वा क्षम वा प्राप्त कर देना अव्यक्त आवश्यक है। उस प्रकार न दो जातों—भ्राता, सामारिक तुद व अग्नि व वीर उत्तर निवारण करने की आवश्यकता—वा मान्य उन स वृद्धिकर्पम का यह प्रभ व्याप का त्वयं करा रहता है कि दुर्गनिवारण करें

ब्रह्मवालभूत का अवजी म नमुदाऽन्ना ह उरन्तु उन्ना लैसिन विवरव  
विवरव न९ ४८१ । ४४१ Intro pp ४४३-४४४ म दिया है।

ही म सिंगा है कि— चारा था बेगङ्गा अपाकरण यातिप 'निहास आर नियम्दु' आरि विषयों म प्रवीण सुखस्तीष्ठ शहस्र ब्राह्मण, तथा विरिह लपभिर्यों से गौतम उद्द ने बार करके उनको अपने दम की शीता गी (मुननिपातीं म सेहसुत के भेत्र का विन दवा बध्युगापा ३—८ इत्या)। कर आरि उपनिषद में (कर १८ मुह ११) सपा उर्ध्वा को लाय करके गीता (१०—१—१) म ऐसु प्रकार वशयाग आरि भौतक्या की गीतना का विषय निया गया तथा कर भृष्ण म उर्ध्वा घट्टों क इत्या लेखितमुक्तों (श्रिभिर्युज्ञा) म युद्ध न भी उपन मात्रानुमार 'अपयागारि' का निष्पत्यागी नया न्याय बनाया है और 'स ज्ञात ए निष्पत्य दिया है कि ब्राह्मण दिये 'ब्रह्मसहस्रनाय (ब्रह्मसहस्रन्यय=ब्रह्मायुज्ञा) वह है वह ज्ञात था किसे प्राप्त होती है ? 'मसे यह ज्ञात स्वप्न विभिन्न होती है कि ब्राह्मस्तम के कमशाण्ड तथा आनकाश— विषय गाहस्त्यरम और सन्यासभम भृष्णत प्रवृत्ति और निष्पत्य— इन दोनों शार्यानों के विषय यह है ज्ञान पर उनम सुधार करन के लिये वीद्युत्पम उपयोग होता । मुक्तार क विषय म नामान्व निवम यह है कि उनम कुछ विषय की ज्ञात विवर रह गयी है आर कुछ विषय चाहती है । उत्पत्ति 'स न्याय क भूमुक्तार 'म ज्ञात का विचार करना चाहिय हि वीद्युत्पम म विविष्टम की लिन लिन ज्ञान का विवर रख दिया है । वह विचार ज्ञान— गाहस्त्यरम और सन्यास— की दृष्टर दृष्टि रहि से करना चाहिय । परन्तु गाहस्त्यरम मध्य म सन्यासमार्गीय अध्यया वृष्ट निष्पत्य प्रकाशन है । इसिय पृष्ठे दोनों के सन्यासमार्ग का विचार करके अनन्तर ज्ञान के गाहस्त्यरम के वारतम्य पर विचार दिया गया ।

विभिन्न सन्यासभम पर इस्तें से शीर पत्ता है कि कममव स्तुति के उपम्यवहार तुष्णाप्रस्तुत क्षमत्व दुर्लभमय है । इसमें भृष्णात उम्मरण के भवचक क भाग्या का विषय छाकारा होन के लिय मन निष्काम और विरक्त करना चाहिय तथा उत्तरो उपम्यमुष्टि क मूल में रहनवासे क्षाम्मरणी निय परद्रष्ट म विवर वरके कासारिक क्षमो का लक्ष्य विषय करना चाहित है । इस भास्मनिष्ठ विभिन्न ही में नदा निमग्न रहना तन्म्यम्भम का मुराय नाम है । उपम्यस्तुति नामस्त्याभम तथा नाशकान है भीतर कमविष्टक के वारज ही उनका भाग्यविन्द विषयार गयी है ।

कममवा वत्ती लाका वस्मला वत्ती पत्ता (प्रजा) ।

कममवि वस्मला मत्ता (मायानि) इष्टमाइय यापत्ता ॥

भृष्ण ए ही से लैग भीर पत्ता गयी है । लिन मसार वर्णी ए गाँव रम वीर में विष्टित रहती है अभी प्रगर ग्रामिनाव कम में दृष्टा ए भी है (तुर्तमि वामेष्टुत ६३) । विविष्टम के उत्तराण्ड का उक्त तम्भ भृष्ण उपयोग उम्मरण का वृष्टर या विषय इस मध्येर इक्षु यम भारि भृष्ट वैष्टा और उत्तर गये ८. ६३

मिस मिस स्कगपाटाल भाडि सोको का ब्राह्मणम मे वर्णित अस्तित्व बुद्ध की मान्यता और उच्ची कारण नामरूप कर्मयिपाद भविष्या उपादान और प्रहृष्टि वर्गाद्वय वेगन्त या सास्यवास्य के द्वारा तथा ब्रह्मादि वैतिक देवताओं की क्यारें भी (बुद्ध की भेदता को रिपर रख कर) कुछ हेरफेर से शैक्षण्यों मे पाई जाती है। यद्यपि बुद्ध को वैतिकधर्म के कर्मसूक्ष्मिपयक ये सिद्धान्त मान्य न हो कि इस्तद्वयि नाशकान और अनित्य है; एक उसके व्यवहार कर्मयिपाद के कारण जारी है तथापि वैतिकधर्म अर्थात् उपनिषद्वारों का यह चिह्नास्तु उम्हे मान्य न हो कि नामरूपामर्क नाशकान सूक्ष्मि के मूल मे नामरूप से व्यतिरिक्त भाल्मीकी स्पृष्टी परब्रह्म के समान पक्ष नित्य और सर्वभ्यापक बल्कु है। इन दोनों घटों मे यह विशेष मिलता है कह यही है। गात्रम बुद्ध ने यह बात स्पष्ट रूप से कह दी है कि आत्मा या ब्रह्म यथार्थ मे कुछ नहीं है—केवल भ्रम है। उत्तरिये आत्म-अनात्म के विचार मे या ब्रह्मचिन्तन के पक्षे मे पक्ष कर किसी को अपना त्रयमय न द्योना चाहिये ( सम्बासदमुख —१६ इत्यो )। दीर्घनिकायो के ब्रह्मज्ञात्मसुक्ष्मि से भी यही बात स्पष्ट होती है कि आत्मा और ब्रह्म एक है या दो ? फिर ऐसे ही भेद बनावते हुए आ मा की मिस मिस ३ प्रकार की कस्यनार्थे कलाक कर कहा है कि ये युधी मिष्या ददि ५ और मिश्निग्रन्थ ( २ ३ ६ क्षीर २ ७, १६ ) मे भी बीड़धर्म के अनुसार नागेन ने यूनानी मिश्नि ( मिनोर ) से लाल छाँड कह दिया है कि आत्मा को कोर्य यथार्थ बल्कु नहीं है। यही मान के कि आत्मा भार उसी प्रकार ब्रह्म भी हानी भ्रम ही है यथार्थ नहीं है; तो बल्कुहों परम की नीत रही गिर जाती है। कर्यादि फिर सभी अनित्य बल्कुर्ये कल रहती हैं और नित्यमुग्य या उत्तरा अनुमत वर्तनवास्य कार्य मी नहीं रह जाता। यही कारण है कि अभियुक्ताचार ने उत्तरादि कर्त्तव्य का अप्राप्य निर्भित किया है : परन्तु भग्नी हम कर्त्तव्य पर्याय द्यना है कि असरी उद्धर्म क्या है ! उत्तरिये इस बात का यही उद्द कर द्याया, कि बुद्ध ने अपन परम की कदा उत्तरादि प्रत्यक्ष्य है। यद्यपि बुद्ध क्य आ मा का अस्ति व मान्य न हो; तथापि न दो जातों से पृथगतवा लाहमत भूति, कि । ) कर्मयिपाद के कारण नामरूपामर्क है का ( आत्मा का नहीं ) नाशकान बालन क प्रयत्न मे चार चार रूप रूपा पक्षा ६ और ( २ ) पुनर्ज्यम का यह प्रयत्न पा नारा समार ही बुर्म्य है। इनमे पुण्यारा पा कर रिपर यान्ति का गौप का प्राप्त कर द्या रूपन भावर्यक है। इन प्रयत्न इन दो जातों—भयात् संसार ६ तृप्ति क रूपि व और रूप क निषारण करने की भावस्यक्ता—का मान सून मे चैत्रप्रय वा यह प्रभ रवा क्य त्वा यना रहता है कि पुण्यनिकारण वरन्

प्रदर्शन का भवती भवता वा है परन्तु उपरा नीति विवरण  
१८२३ २८८१ २८८२ Intro pp. ३ दिया है।

अस्यन्त मुन प्राप्त कर लेने का मार्ग बैन-सा है। और उसका मुठ न-कुछ टीक दीक उच्चर ऐना आवश्यक हो जाता है। उपनिषद्कारा ने कहा है कि यस्याम आदि कर्मों के द्वारा सुखात्मक से शुक्राहा नहीं सकता। और बुद्ध ने इसमें भी वही आगे फ़ाकर “न सद कर्मों को हितात्मक अतएव सधाय त्याय और निरिद्ध करता है। इसी प्रश्नार्थि स्वयं ‘ब्रह्म ही को एक ब्रह्म मारी भ्रम माने तो दुर्घटनिकारणाप यथा नहजानमार्ग है’ वह मी आविष्टरक तथा असम्भव निर्भित हता है। यिर बुद्धमय मक्कल से धूरने का मार्ग बैन-सा है” मुठ ने इससा यह चर्चा किया है कि किसी रोग का दूर करने के लिये उस रोग का मूलकारण छुट्ठ कर उसी का हत्यान का प्रयत्न किये प्रकार चतुर वैद्य किया करता है उसी प्रकार उपायिक रूप के रोग के दूर करने के लिये (३) उसके कारण को जान कर, (४) उसी कारण को दूर करनेवाले मार्ग का अवलम्बन बुद्धिमान पुरुष को करना चाहिये। “न करणा का विचार करने से शीघ्र पद्धता है कि तृष्णा या कामना ही इस ग्रन्थ के सब हुआ की जा सकता है और एक नामस्वरूपात्मक शारीर का नाश हो जाने पर जब तुम “स बासनाभ्युप शीघ्र ही से अन्यान्य नामस्वरूपात्मक शारीर मुन उपम दृभा करते हैं। और यिर बुद्ध ने निर्भित किया है कि मुनभूमि के दुर्घट्य सुसार एवं पिण्ड दुष्कान के लिये नित्यनिष्ठ से व्यान से तथा वराय से तृष्णा का पूर्वतया भय करके सन्यासी या मिश्र जन जाना ही एक यथार्थ मार्ग है और इसी वैष्णवपुष्क सन्यास से अचल शान्ति एवं मुन प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि वरपाग आदि की तथा भात्म-भनाराम विचार की स्फूर्ति मन पढ़ कर, “न चार इस जाता पर ही बोद्धधर्म की रखना की गत है। वे जार जात ये हैं : सम्भारिक दुर्घट्य का भर्तुत्व उसका कारण उसके निरोधक या विचारण करने की आवश्यकता और उसे समृद्ध नष्ट करने के सिये वरायन्त्र तात्पर्य भवता शीढ़ की परिमापा के अनुसार कमश्च तुराय, तमुद्य निरोद आर मार्ग। अपन घम के इन्हीं चार मूर्खात्मा को बुद्ध ने आपसत्य नाम दिया है। उपनिषद् के भावस्थान के बासे चार भावकृत्यों की दृष्य नीति के ऊपर यथार्थ प्रकार शीढ़धर्म गत्य किया गया है तथापि अचल शान्ति या सुन पान के लिये तृष्णा अपवा याचना का सब करके मन के निष्कर्ष करने के लिये मार्ग ( जीवा सत्य ) का उपराह बुद्ध न किया है यह मार्ग-भर्ता भौमधारि के सिये उपनिषद् में वर्णित मार्ग-शीढ़ी बन्नुत एक ही है। इसलिये यह जात सहज है कि शीढ़ी जमों का भनितम दृष्यसत्य मन की निर्मितव निष्ठित ही है। परन्तु इन शीढ़ी जमों में मेरे यह है कि वह तथा भावा का एक मनवासे उपनिषद्कारी ने मन की इस निष्काम भवत्या का भावनिष्ठ ‘क्षमताया ब्रह्मभूता ब्रह्मनिकाम’ ( गीता १७-२६ छा १० ) भवान जम में भावमा का भय होना आदि भनितम भावात्मक नम पि ८ भीर बुद्ध न उन दृष्य ‘निवाग भवान पाना या शीघ्र बुग जल के नमान बनना

मिथ मिथ मर्गपाताल आदि शब्दों का ब्राह्मणधन म वर्णित अस्तित्व तुद के मान्य था और उसी कारण नामरूप कर्मविपाक, अविद्या उपाधान और प्रकृति क्षेत्र हेतु न या चास्पदात्म के शम्भु तथा ब्रह्मादि वैतिक देवताओं की कथाएँ भी (तुद की भेषजा की स्थिर रूप कर) तुद हरकेतु से बौद्धमन्यों में पार्द आठी है। यद्यपि तुद के वैतिकर्म के कर्मविपाक ये छिद्रान्त मात्र थे, कि इष्टस्तुषि नाशकान् और अनित्य है एव उसके व्यवहार कर्मविपाक के अरप चारी ह तथापि वैतिकर्म वर्णात् उपनिषद्भर्तों का यह छिद्रान्त उद्द मात्र न था कि नामरूप मर्ग नाशकान् सृष्टि के मूल में नामरूप से व्यतिरिक्त आत्म स्वरूपी परब्रह्म के समान एव नित्य और सर्वव्यापक बस्तु है। इन शेषा घटों म जो विशेष मिथता ह वह यही है। गात्रम तुद ने यह भाव स्पृह रूप से लक्ष दी है कि आ मा या ब्रह्म यथार्थ म तुद नहीं है—केवल भ्रम है। इष्टिये आत्म-भनात्म के विचार म या ब्रह्मचिन्तन के पक्षे मे पक्ष कर किसी को अपना समय न देना आहिये (सन्धारवस्तुच १-१३ ऐतो)। ठीक्कनिक्षयों के ब्रह्मास्तुतुओं से भी यही भाव स्पृह होती है कि भावमित्यकार्य मी कस्ता तुद की मात्र न थी।<sup>१०</sup> इन मुर्दों मे पहले इष्ट है कि आत्मा और ब्रह्म एक है या तो। फिर देखे ही मे ब्रह्मराते हुए आत्मा की मित्र मित्र ६२ प्रकार की वस्तनाएँ पठाका कर इष्ट है कि ये सभी मित्रा 'इष्टि' हैं और मित्रित्यम (२ ३ ३ और २ ७ १७) मे भी बोद्धधन के अनुसार नागरेन ने यूनानी मिथिन (मिनाइर) से साफ चाप कर दिया है कि आत्मा तो कार्य यथार्थ बस्तु नहीं है। यदि मान के, कि आत्मा और उसी प्रकार ब्रह्म मी शेषों भ्रम ही हैं यथार्थ नहीं है तो बस्तुता भर्त की नींव ही गिर जाती है। क्योंकि फिर सभी अनित्य बस्तुर्णे जब रहती हैं और नित्यमुक्त या उसका अनुभव बरनेकाल बोई मी नहीं रह जाता। यही कारण है कि भीष्मारात्मा ने लक्ष्मि से न्यू मत को अप्राप्य निर्भित दिया है परन्तु भभी हम केवल यही भेषजा है कि असभी तुदभर्त क्षया है। इष्टिये इस बात को पही छाट कर देंगे, कि तुद ने अपन भर्त की क्षया उपपत्ति करावर्त्ति है। यद्यपि तुद की आत्मा का अस्तित्व मान्य न था तथापि 'न तो जातों से व पूर्णतमा उद्दमत भे कि (१) कर्मविपाक के कारण नामरूपात्मक देह का (आत्मा की नहीं) नाशकान् चालू के प्रपञ्च म भर कर उन लूना बड़ता है और (२) पुनर्बन्म का यह अहर या सारा सहार ही तुदमय ह। इससे चुकाता पा कर स्थिर शान्ति या दाता की प्राप्त कर देना अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार 'न तो जातों—आत्मात् चामारिक व य व अस्तित्व और उसके निवारण करने की आपस्वक्ता—का मान सन् भ वैतिकर्म का यह प्रभ द्वीप का त्वा बना रहता है कि तुदपनिवारण करने

ब्रह्मार्थन का अवजी मे अनुचाह नहीं है परन्तु उसका लहित विवरन विस्तारपन न ९ ८ ८ ७ । XXXI लाइन pp. ३३३ ३३४ मे दिया है।

अस्पन्द मुन प्राप्त कर लेने का माग बौन-सा है। और उसका दुःख न-कुछ ठीक ठीक उच्चर देना आवश्यक हो जाता है। उपनिषद्कार्यों ने कहा है कि यहांग आदि घमों के द्वारा सहारनक से पुकारा हो नहीं सकता। और दुःख ने इससे मी कही थागे बहुकर इन सब घमों का हिसारमक अठपूर्व सवधा त्याज्य और निर्धन जाग्रता है। “सी प्राप्त यहि स्वयं द्रष्ट ही को एक बाहु मारी भ्रम माने तो तुमसनिवारजाय या नेष्टजनमार्ग है वह मी भास्तिकारक तथा असम्भव निर्णित होता है। जिस गुरुगमय महानक से घटने का माग कौन-सा है? दुःख ने “सा यह उच्चर किया है कि विमी रोग का दूर करने के स्थिते उस रोग का मूलकारण ढूँढ़ कर उसी का हटाने का प्रयत्न जिस प्रकार चतुर वैष्ण लिया करता है उसी प्रकार खासारिक दृग्य के रोग को दूर करने के लिये (३) उसके कारण की जन कर, (४) उसी कारण को दूर करनेवाले माग का भवलभव मुद्दिमान पुरुष को करना चाहिये। “न कारण का विचार करने से नीति पड़ता है कि सृष्टा या कामना ही इस ग्रन्थ के सब तुम्हारी की बाहु है भार एक नामस्पात्मक शरीर का नाश हो जाने पर वहे हुए “स वासनामुक शीढ़ ही से अन्यान्य नामस्पात्मक शरीर युन युन उपम रमा करते हैं। और जिस दुःख ने निर्धन किया है कि पुनर्भव के तुम्हारे प्रसार से निष्ठ युद्धन के लिये इन्द्रियनिप्रह से यान से तथा वराम्य से तृष्णा आ दृष्टतया अप करके सन्यासी या मिशु जन ज्ञान ही एक यथार्थ माग है और इसी ऐतिह्यवुद्ध सन्यास से अवस्थ शान्ति एवं सुख प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि पहांग आदि की तथा आत्म-अनाम विचार की इक्ष्याट में न पढ़ कर, “न चार एवं जाता पर ही शीढ़भम भी रखना की गा” है। वे चार शात् ये हैं सासारिक दृग्य का भास्तिक उसका कारण उसके निरोषक पा निवारण करने की आवश्यकता भी उसे समूल नष्ट करने के लिये विरागवृप्त यात्रन अपना शीढ़ की परिमोगा ए भगुतार जमया दुःख, समुद्दय निरीष भार माग। अपन भम के इन्हीं चार सूक्ष्मात्मों की दुःख ने भावसत्त्व नाम किया है। उपनिषद् के वामशन क बड़े चार भावसत्त्वों की दृष्ट दृष्टि इस प्रकार शीढ़भम यान किया गया है तथापि भन्द शान्ति या सुख पाने के लिय तृष्णा अपना जात्याका स्वप करके मन हैं निष्कम ज्ञन के लिय माग (जीवा सत्य) का उपदेश दुःख न किया है पद माग-भार मापदण्डि के लिये उपनिषद् म अर्पित माग-जीवो वस्तुतः एक ही र। अर्पित पद शात् नह है कि जीवो घमों का अनित्य दृष्टप्रकार्य मन की निर्विपप निष्ठि ही है। परम्पुर न जीवो घमों में भेड़ यह है कि इस तथा भास्ता का एक नक्कले उपनिषदार्थी ने मन की न निष्काम अपत्ता की भावनिका ‘प्रदत्तत्वा’ ब्रह्मभूता ब्रह्मनिकाल (गीता १०-२ ; ४ १ ) भय न देता ही भास्ता का स्वप होना भादि भास्तिम आधारदण्ड नाम किय ६ भीर दुःख न उप दृष्ट निष्काम भवान गिराम पाना वा गिराम दुःख ज्ञने ६ नमान बनन

‘अनाय होना’ पह नियात्कर नाम दिया है। क्योंकि ब्रह्म या भूमि को अम और ऐपर पर वह प्रभ ही नहीं रह सकता कि विराम कीन पाता है और किस में पाता है! (मुचनिपात्र में रुद्रमुख १४ और वाह्निकमुख २२ तथा ३३ ऐपरो) एवं तुम ने तो वह सष्टु रीति से वह किया है कि अगुर मनुष्य का उस गृह प्रभ का विचार भी न करना चाहिये (रुद्रमात्मक - १३ और मिथिलायम् ४ ४ ४ ऐपर ३३०)। वह स्थिति ग्राम होने पर फिर पुनर्जन्म नहीं होता। इसलिये एक शरीर के नाम होने पर दूसरे शरीर को पाने की सामान्य निया कि इसे प्रसुक होनेका के भरण धृष्ण का उपयोग बोद्धभम के अनुसार ‘विचार के लिये किसी भी शब्द भक्ता। विचार को मूलु की मूर्यु भवना सपनिपात्र के वर्णनानुसार मूलु का पार कर जाने का मात्र है—निरी मोत नहीं है। रुद्रारम्भक उपनिषद् (४ ४ ३) में वह दृश्यत्व दिया है कि इस प्रकार सर्व और अपनी ईच्छाकी आवद्ध होने पर उसकी कुछ परमाद नहीं रहती उसी प्रकार अब कोई मनुष्य उस विचार में पर्वत्य ज्ञाता है वह उसे मौज अपने शरीर की कुछ विन्दा नहीं रह सकती। और उसी दृश्यत्व का भासार अवधी मिक्तु का वर्णन करते समय मुचनिपात्र में अगमुख के प्रत्येक श्लोक में लिया गया है। ऐतिकर्म का यह तत्त्व (बीष्णी त्रा १ १) कि आत्मनिह पुरुष पापपुण्ड से सैरेष अस्तित्व रहता है (४ ४ ४ ३)। इसलिये उसे मानुष्य तथा फिरपठरीमें पातकी का भी लेय नहीं सकता। अगमपात्र में दृश्यत्व या का स्वा क्वलाया गया है (प्रभम २ ४ और २९६ तथा मिथिलायम् ४ ७ ७ ऐपरो)। उत्तराय एवं विश्व ब्रह्म तत्त्व आगम का अविनित्व कुछ भी मात्र नहीं या तपायि मन को घान्त दिरु तथा निष्प्राम करना प्रमूलि मोक्षप्राप्ति के किन साधनों का उपनिषदी में वर्णन है जेही धारण हुद के मन से निर्बाणप्राप्ति के लिये मौज आवश्यक है। उसीलिये बीठ बठि तथा वैतिक लन्यासियों के वर्णन मानसिक हिमति की दृष्टि से एक ही से होते हैं। और इसी कारण पापपुण्ड की जगाकरणी के सुमन्त्र में तथा जन्ममरण के प्रवर्त ते पूरकारा पाने के किष्य में वैतिक सन्यासुभम के जो उद्दिष्ट है जेही गौड़वन में दिखर रहे गये हैं। परन्तु वैतिकर्म गौड़वन कुद से पहले का है। अतएव इस लिये काँइ यहां नहीं कि ये विचार असुख में वैतिकर्म के ही हैं।

वैतिक तथा आदि सम्यातपत्रों की विमिथता का वर्णन हो जुता। अब दृश्यत्व चाहिये कि गाहस्त्यवत्तम के किष्य में कुद ने क्या कहा है। आग-भनाय विचार के तत्त्वहान को महान है कर साकारिक कुदयों के अस्तित्व भावि दृश्य भावावर पर ही यत्परि बीठबम रहा किया गया है तपायि भरण रमना चाहिये कि बांट तरीपर भासुनिक पश्चिमी परिष्ठा के निरे आधिमोतिक बर्म के अनुसार—भयना गीतापत्र के अनुसार भी बोद्धभम भूल में प्रशुचिप्रवान नहीं है। यह तत्त्व है कि तुम की उपनिषद्गते मात्रायन की तात्परिक दृष्टि मान्य नहीं है। परन्तु रुद्रारम्भ उपनिषद् म (४ ४ ३) अर्थात् पापपुण्ड का यह लिङ्गाम है कि गमार को

अमरमुख प्राप्त कर लेने का माय बीन-सा है। और उससा कुछ न-कुछ टीक दीइ उत्तर लेना आवश्यक हो जाता है। उपनिषद्कारा ने कहा है कि पहलाय आठि उमों क छात सारत्चक्र से शुभकाहा हा नहीं सकता। और बुद्ध ने इससे भी वही धर्मों काकर न सब उमों का हिसात्मक असेष्ट सवया त्याय और निश्चिद अव्याप्ता है। इसी प्रकार यहि स्वयं 'ब्रह्म ही का एक ब्रह्म भारी भ्रम मान तो दुर्गनिवारणाथ ये ब्रह्मज्ञानमार्ग है वह मी आनिकारक तथा असम्भव निश्चित है ता ह। फिर दुर्गमय महत्त्व के घूने का माय बीन-सा है' बुद्ध ने 'सना यह उत्तर दिया है कि विनी रोग का दूर करने के लिये उस रोग का मृष्णकारण हृद कर उमी का हृत्यक का प्रयत्न किये प्रकार चतुर वेद किया करता है उसी प्रकार वासुरिक दृग्य के रोग को दूर करने के लिये (१) उसके कारण का ज्ञान कर, (२) उसी कारण का दूर करनेसे माय का अक्षम्य दुडिमान पुरुष को करना पाईये। नन कारण का विचार करने से रूप पड़ता है कि तृप्ता या कामना ही इस ज्ञान के सब दुर्गा की जड़ है और एक नामरूपामृक शरीर का नाय हो ज्ञान पर लगे एवं एम जासनामूर धीर ही से अन्यान्य नामरूपामृक शरीर पुनः पुनः उत्पन्न दृष्टा करते हैं। और फिर बुद्ध ने निश्चित किया है कि पुनर्भव के दुर्गमय वस्त्र से विष्ट दुर्गान के लिये नियनिप्रह से व्यापन से तथा वराय से तृप्ता का दृष्टव्या एवं करके सन्यासी या मिश्र जन जाना ही एक यथाध माय है। और इसी ऐप्यवुक्त उत्पाद से अचल शान्ति एवं सुख प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि परयाम आठि की तथा आम अनात्म विचार की हस्तित मन पद कर, इन पार इस व्यापा पर ही विद्वत्तम की रखना भी गृह है। वे पार जात ये हैं: वासुरिक दृग्य का अनिष्टम उसका कारण उनके निरोधक या विचारण करने की आपराधिका, और उने समृप नह करने के लिये विद्युत्यरूप लावन भयवा बीड़ की परिमाणा के भयुत्तार त्रमण दृग्य समृद्ध निरीच भार माय। भयन भय के इमीं चर मन्त्राली की बुद्ध ने भाष्यत्य नाम दिया है। उपनिषद् के नामज्ञान के दरमे पार भार्यायुक्तों की दृष्ट नीच के ऊपर पश्चिम इस प्रकार विद्वत्तम गत्य दिया गया है तथापि भवय धानि या तुम पान के लिये तृप्ता भयवा जालना का दृष्ट वरक मन के निष्क्रम बन के लिये माय (बोध सत्य) का उत्पत्त बुद्ध न दिया है वह मन-भीर भाष्यामि के लिये उपनिषद्मै वर्णित माय-जानी वस्तुतः एव ही है। एवं इसे पह जान रुह है कि दोनों उमों का अनिष्टम दृष्टव्याध मन की निश्चिप्त दिनि ही है। परम् इन दोनों उमों में मेड यह है कि वस्त्र तत्वा भास्मा का एक मन्त्रनामे उपनिषद्कारों ने मन की इस निष्क्रम भयवा की आपनिका 'सप्तत्रया वस्त्रभूता वस्त्रनिवाय (गीता ६ ३०-३५ छा ८ ५१ ३) भय १ दृष्ट में भास्मा का लप इना आठि अनिष्टम भाष्यत्तद्वक नाम दिया है; और बुद्ध ने उम वरक विचार भयवा विराम पाना था तिरक मुक्त इन के न्मान वक्तव्य-

हो जाकेंगी परन्तु इनमस्तक के चाहर से पृष्ठात्या कुद्दकाएं पाने के लिये उत्तर दृश्य सन्तके बचे भी आपि को छोड़ करके अन्त में उठको मिशुष्म ही स्वीकार करना चाहिये ( अभिमानमुच्च १७ २९ और ४ ४ ६ तथा म म्य चन २ ६३ देखें ) । वेदिकमुच्च ( १ ३६ १ ५ ) में यह बाण है कि कभीमार्गीय ऐक्षिक व्याघ्रात्मा से बाढ़ करते समय भपने उक्त सम्यात्मप्रथान मत का विद्व उठने के लिये कुद्द ऐसी युक्तियों पैदा करते हैं कि यहि तुम्हारे ब्रह्म के बाल बचे तथा ऊपरसेम नहीं ह तो भी-युक्ती में रह कर तथा यहयाग आपि काम्य भमों के द्वारा तुम्हें ब्रह्म की प्राप्ति होगी ही लेंगे । और यह भी प्रतिद्वंद्व है कि स्वप्न कुद्द ने सुखावस्था म ही भपनी भी भपन पुन तथा राजपात् भी त्याग किया था । एवं मिशुष्मम स्वीकार कर सें पर अप्य वप के पीछे उन्हें तुद्दावस्था प्राप्त कुरु थी । कुद्द के उत्तमासीन ( परन्तु उनसे तब्दे ही समावित हो चानेवाले ) महावीर नामक अनितम ऐन दीर्घिर का भी देश ही उपेश है । परन्तु वह कुद्द के समान भना मवादी नहीं था । और इन ऐनों भमों में महत्व का भी यह है कि वस्त्रावरण भावि ऐक्षिक सुख्यों का त्याग भार आहिमा-वत्प्रमुक्ति भमों का पास्त्र बीद मिशुआ की अपेक्षा ऐन वहि भक्षिक दृढ़ता से किया करते हैं एवं भव भी करते रहते हैं । त्वने ही की नियत से ये प्राणी न मारे गये ही उनके पवच ( सं प्रात् ) अपात् तैयार किया तुआ मात्र ? ( हाँपी लिह आपि कुछ प्राणियों का घोलक ) को कुद्द स्वप्न त्याग करते हैं और 'पवच' मात्र तथा मध्यस्मीं त्वने की आश बीद मिशुमों को भी भी गा है, एवं निना वस्त्रा के नह्न-पह्न चूमना बीदमिशुष्म के नियमानुत्तर अपराप्त है ( महारम्य ६ ३१ १४ और ८ २८, १ ) । तथापि कुद्द का निखित उपेश पा कि भना मवादी मिशु भमो उत्तापि कामादेशमय उप्र उप से कुद्द सहमत नहीं है ( महाबम ६ २ १६ और गीता ६ १६ ) । बीद मिशुमो के विहाये अवश्य उनके रहने के मन की तारी व्यवस्था भी ऐसी रक्षी चक्षी थी कि तिनत उसको भोर विदेश सारीरिक कर न कहना पड़े और प्राणायाम भावि योगान्व्यास सरस्त्वपूर्व हो लें । तथापि बीदमय मैं यह तस्व पूष्पत्वा स्थिर है कि महत्वावभा का निवागमुल की प्राप्ति के लिये एक्षत्वाभम को स्थापना ही चाहिये । इसलिये पह वहने कोइ प्रव्यवाव नहीं कि बीदमय उत्त्यासप्रथान चर्चा है ।

तथापि कुद्द का निखित मत पा कि ब्रह्मशान तथा भास्त्र भन्नामविचार नम का एक वदा-ता वास है तथापि "स दृष्टव कारण के लिये - भपात् तुरममव तत्त्वार चक से कृ तर निरन्तर शान्ति तथा तुम्ह प्राप्त करने के लिये - उत्तरनिपत्ति मैं वर्णित तन्यात्मानवाला के इनी व्याप्तिन को उन्हाने मान लिया था कि वैराग्य स मन अ विर्विषय रक्षा चाहिये । और वह यह विद्व हो यक्षा कि व्यानुर्विषयमेड तथा द्वितीयम यस्ताप्य को छाड कर वाडमय मैं ऐक्षिक श्वासप्यवम के नीतिनिपत्त ई कुछ दूरप्रेर करक लिय गये ह तर परि उत्तरनिपत्त तथा मनुस्मृति भावि द्वार्घ्या म

प्रियुष और करक मन को निर्विषय तथा निष्पाम करना ही इस अन्तमें मनुष्य का क्षय एवं परम कर्तव्य है, बीड़चम में राष्ट्रपि दियर रखा गया है। इसीलिये बीड़चम मूल में केवल सत्यासप्तशति हो गया है। यथापि बुद्ध के समाप्त उपर्युक्तों का तात्पर्य यह है कि उत्तरार का त्याग किया जिना — केवल एहस्याभम में ही अने रहने से — परमसुख तथा भ्रह्माशम्या कभी प्राप्त हो नहीं सकती। उधापि यह ने समझ लेना चाहिये कि उत्तरम् गाहस्याद्विति का स्थिरुष विवेचन ही नहीं है। वो मनुष्य जिना भित्रु अनु बुद्ध उसके घरमें बीड़ मिसुभा के सब अवात् में या परम किर्णी अन नीता पर विचार रखे और बुद्ध शरण गम्यामि परम शरण गम्यामि सह शरण गम्यामि इस सहस्र्य के उच्चारण द्वारा उक्त तीनों की शरण में चाय, सप्तशति बीड़ प्रत्यक्ष में उपासक कहा है। ये ही लेख बीड़चमाष्टकमी एहस्य है। प्रथम ह प्रथम पर स्वयं बुद्ध ने कुछ स्थाना पर उपर्युक्त किया है कि उन अपासकों को अपना स्पाहस्य एवं आवाहार किया रखना चाहिये (महापरिनिष्ठागमनुव. ३ ४)। ऐसिकि गाहस्याद्वयमें में हिंसा एवं भ्रीत्यरुद्याग और चारों बर्णों का भेद बुद्ध को प्राप्त नहीं था। इन चारों की ओट देने से स्मात् पञ्चमहायज्ञ जान आदि परोपकारधर्म और नीतिषुषक भावरण करना ही एहस्य का अवतार रह चारा है तथा एहस्याद्वयमें घर का वर्णन करते समय केवल “मृता चारा का उत्तम बीड़ प्रत्यक्ष में पापा जाता है। बुद्ध का मत है कि प्रत्येक एहस्य अवात् उपासक को पञ्चमहायज्ञ करना ही चाहिये। उनका अप्य वक्तव्य है कि अहिंसा सत्य असेव्य सप्तमूक्तानुक्रमा और (आन्मा मास्य न हा तथापि) भालमापम्याद्विति शीत्य या मन की परिक्षा तथा विषय करक गत्याता जानी बीड़मिसुभां को एवं बीड़ मिसुलद्वारा का अभवत्य अप्रिय का जान ज्ञान प्रदर्शन नीतिषमों का वास्तव बीड़ उपासकों को करना चाहिये। बीड़चम में इसी को शीष कहा है और जाना की तुलना करने से यह कान स्वप्न हा जाती है कि पञ्चमहायज्ञ के समान ये नीतिषम भी ब्राह्मणधर्म के भमनुवा तथा प्राचीन स्मृतिशृण्या के (मनु ६ ९५ धौर, ६१ देवा) बुद्ध ने किये हैं। \* और कुं क्या? भावरण के विषय में प्राचीन ब्राह्मणों की स्मृति स्वयं बुद्ध ने ब्राह्मणपर्मिक्तमुर्त्तों में की है तथा मनुस्मृति के कुछ तो भमनामें अभावश्च पाप जाते हैं (मनु २ १२१ धौर ८० तथा भमनाम १० धौर ११० देवा)। बीड़चम में ऐसिकि प्रथा में न क्षय पञ्चमहायज्ञ और नीतिषम ही किये गये हैं किन्तु ऐसिकि घर में क्षय कुछ उपनिषद्वारा द्वारा प्रतिपादित इन मन की बीड़न भीकार लिया है कि एहस्याभम में युज मापद्रासि कभी भी नहीं होती। उदाहरणात् गुच्छनिषादा के अभिष्ठमुन में भित्रु के साप उपासक की तुलना करक बुद्ध ने साप ताकु कह किया है कि एहस्य को उपास शीष के द्वारा करने तुम्हा वा ‘ब्रह्मप्रकाश देवत्येक की प्राप्ति





प्रतिगान महायान पन्थ के सद्दमपुण्ड्रीक आदि पन्था में किया गया है। और नामनन् ने भिक्षुन् से कहा है कि 'एहस्याभम म रहते हुए निर्वासिपति को पा लेना शिरस्तु अष्टम्य नहीं है — और उसके बिना ही उग्राहण मी है' (मि प ३ र ४)। यह यात निमी के मी भ्यान म सहज ही आ जायगी, कि ये विचार अनामकारी तथा देवत सन्यासप्रधान मूल बौद्धधर्म के नहीं हैं; अयवा एत्यनां पा विश्वनाथ का भीकार करके मी इनकी उपराखि नहीं जानी या सकती भीर पहले पहल अभिकाय बद्ध घमण्डी का स्वयं मास्तु पहला या कि ये विचार कुछ के मूल उपरेत्त से दिरठ हैं। परन्तु फिर यही नया मत स्वयम्भ से भविकापिक स्वेकमिय होने स्मा और तुद के मूल उपराखि के अनुशार आवरण करनेवाले को 'हीनयात' (हल्ला माग) तथा इस नये पन्थ को 'महायान' (बड़ा माग) नाम प्राप्त हो गया। १० चीन विष्वन्त और बगान आदि देश म आनन्द या बौद्धधर्म प्रचलित है वह महायान पन्थ का है। और कुद के विवाद के पश्चात महायानपन्थी भिन्नुसङ्ग के नीर्धोग के तारम ही बौद्धधर्म का इतनी शीक्षण से फसल हो गया। छोट्टर केन की राय है कि बौद्धधर्म म इस दुष्प्राप्ति द्वारा बहुत शक के कामगी सीन सा बद पहले हुए हैं। १ क्यानि बौद्ध पन्थों में द्वन्द्वा उल्लेख है कि शकरात्मा कनिष्ठ के शारतनाम में शाद-मिशुओं की ओर एक महापरिमूद हुइ थी उसमें महायान पन्थ के भिन्न उपरिक्त थे। "स महायान पन्थ के 'अभितामुखुत नामक' प्रधान स्थापन्थ का वह अनुशार अप्य उपस्थित है ये कि वीती मात्रा म सन् १४८ इसकी के स्थापना किया गया था। परन्तु हमार मतानुसार वह काल तक्ते मी प्राचीन होना पाहिये। क्योंकि सन् ८८३ से लाम्पा २६ वर्ष पहले प्रसिद्ध किये गये अष्टोक के विस्तरण

विवाद वार महायान कन्दा का में विभावत द्वारा कर्तव्य कहा है कि —

"Not the Arhat, who has shaken off all human feeling, but the generous self-sacrificing, active Bodhisattva is the ideal of the Mahayanists, and that unactive side of the creed has, more perhaps than anything else, contributed to their wide conquests whereas S. Buddha has not been able to make converts except where the soul had been prepared by Hinduism and Mahayana. Manual of Indian Buddhism, p 69 Southern Bodhisattva वर्त्तय द्वारा महायान पन्थ म लक्षि का वी लाम्पा हो चुका था। "Mahayanist lays great stress on devotion — this respect as if my others b removing with content of feeling in India which led to the growing importance of Bhakti" Ibid p 124.

<sup>†</sup> See D. Kere Macmillan's Indian Buddhism, pp 6 & 119 भिक्षुन् नामी द्वारा गता वह इनकी त लाम्पा ८ वा वर्ष पहले हिन्दुस्तान क बाल्य की ओर बिकुर्वा वह में राज रहना था। भिक्षुन् प्रव म इस बात का दृष्टि है कि भारत न इस बौद्धधर्म की वीभा की वी बौद्धरमें देवान क इस काम महायान वन्ध क होता है उस वार व इन्द्रिय वन्ध ही है कि तब महायान वन्ध प्राप्ति का चुका था।

करमज वर कि किसम ? — क “न निरीधर निष्ठिमाग ई अरेहा किंसी सरल भार  
प्रवृत्त माग ई भावायकना हुँ । वहन समझ है कि साधारण कुडमत्तों न तक  
ई प्रचलित दैनिक भक्तिमाग वा अनुग्रहण कारक कुड ई उत्तमता का भारतम  
एवं पहले स्वयं कर दिया हो अनाथ बुद्ध के विवाण पान के पश्चात् ईश्वर ई लाड  
पणिजा ने कुड ही का स्वयम्भूतथा अनार्थ अनन्त पुरुषान्तम् का रूप दिया  
भीर व कहन ल्य दि कुड का निवाण हाना तो उन्हीं ई लील है असरी कुड  
ई नाथ नहीं हाना — वह तो भैरव अचल गहता है । “सी प्रकार ईश्वर प्राणा मे  
रह प्रानेपादन किया जान प्राण ई असरी कुड सार गहन का दिया ह और  
इन्हें उन्हीं मूलनान है । अस्तित्व वह समी का लमा है न वह किंसी पर ग्रन  
ई रहता है भीर न दिक्षी मे द्वय ही करता है । जम की घट्टग्रामा भिजन पर  
कुड का ‘प्रमहाय दे लिए ही समय समय पर कुड के रूप म प्रकार इसा जला  
है आग इसी अकारित्व कुड की भक्ति करने मे असर प्राणा की पृण करन से  
भीर अक अग्रजा क सम्मुख ईश्वर करने से भयवा जल मात्रपूर्वक श्वार  
द्वय पा एक पूर्ण समर्पण कर इन ही मे मन्यष का नज़्हति प्राप्त होती है ( सद्ग  
पूर्णीति ३३— / ६ ) । भार विष्णुप्रभ ( ३७ इत्या ) ॥  
मि अद्यम ( ३७ ) म यह ई कहा है कि दिक्षी मनुष्य ई लारी उत्त  
दुरावसाना म क्यों न दीन गा हा पाम्य मूल्यु क नमय परि कुड की द्वारा मे शब्द  
के रूप स्वयं ई प्राप्ति अप्यहारी । भीर मदमपुर्णीक क दूसर तथा नीति र  
भयाय मे अ वत का दिनान इ दि मद लगा वा भावार  
स्वाप तथा जन एक ही प्रकार का नहीं हाना इस्तिय भनान्नर निष्ठिनि  
द्वय प्राप्ति क नीति क अ वत ( पान ) का कुड न इया वरक  
पानी ग्रावसदूरी म निर्मि दिया है अय कुड के व्यव्यय है इन तथा का  
द्वय एक द्वा कक्षी ई मानव नहीं या दि निष्ठिराई की पर्वति इसे क दिय  
दि अन ही का स्वर्वकार द्वारा लार्हिय एवाऽय यदि एक दिया जान तो मनों कुड  
के कृ राम राम ही द्वारा वर जन पर्वत पर कुड लुकित नहीं या  
दि द्वारा द्वा तो करा जाय ; तो इन्हें म एक सुमान भवत्व तथा उपर्यैति  
ने एक द्वारा वर्ण दि दिनु समद्वार ई अकाल तथा रामराम क वत  
५८८

१२ अनुसारी विद्या-विजयी विद्या-विजयी

10. ये अधिकारी एवं उनकी विवरण  
संज्ञान देखने के लिए आवश्यक  
प्रतीक्षा करते हैं।

इसके सिवा एक दूसरे निष्ठती प्राप्ति में भी वही उल्लेख पाया है । १० यह सच है कि द्वारानाय का प्राप्ति प्राचीन नहीं है परन्तु यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि उसका वर्णन प्राचीन प्रस्तोता के आधार का छोड़ कर नहीं किया गया है । स्वास्थ्य के यह सम्मय नहीं है कि जो भी जात्रा प्रत्यक्षार खण्ड अपने प्रमाण्य के तत्त्वों के कल्पनात समय (जिन विचारों के) परभविता का उस प्रकार उल्लेख करते । इसकिय स्वयं जात्रा प्रत्यक्षारों के द्वारा उस विषय में श्रीहृष्ण के नाम का उल्लेख निया जाना वह महत्व का है । क्याकि भगवद्गीता के अतिरिक्त श्रीहृष्णोंके वृत्तय मध्यस्थिति नाम भवित्वप्रति विशिष्ट घटमें है ही नहीं । अतएव उससे यह ज्ञात पूर्णतया सिद्ध हो जाती है कि भगवान् पाप के अस्तित्वमें आगे से पहले ही न केवल भागवत्वधर्मविषयक श्रीहृष्णोंके प्रत्यय अर्थात् भगवद्गीता में उस समय प्रबलित थी; और टाकर केन भी उसी मत का समझन करते हैं । सब गीता का अभिन्नता युद्ध शर्मीय महायान पन्थ से पहले का निश्चित हो गया था अनुमान किया गा सकता है कि उसके साथ महामारत मी रहा होगा । बोड्ड्याचो में कहा गया है युद्ध की मन्त्रु के प्रधान शीघ्र ही उनके मतों का सम्भव कर दिया गया परन्तु उससे कर्त्तव्यान समय में पाये जानेवाले अस्त्वत् प्राचीन बौद्ध प्रस्तोता का भी उसी समय में रखा जाना सिद्ध नहीं होता । महापरिनिव्याप्तमुष्टि का वर्तमान बौद्ध प्रत्यय में प्राचीन मानना है । परन्तु उनमें पादलिपुत्र शहर के विषय में जो उल्लेख है उसमें ग्रोफेलर द्विसूचित है जिसका यह प्रत्यय युद्ध का नियाण हो चुके पर कम से कम उपर पहुँचे तथार न किया गया होगा और युद्ध के अनन्तर यी उपर जीते पर श्रीदर्शनीय मिलुओं की जो वृत्तरी परिपद् युर्द्ध वी ज्ञानका बलन विनयपिटका में चुन्नाय प्राप्त क अन्त म है । उससे विश्वित होता है + कि छात्रादीप के पासी भगवान् म लिये हुए विनयपिटकादि प्राचीन बौद्ध पन्थ इस परिपद के हो चुके पर रखे गये हैं । यह विषय में जात्रा प्रत्यक्षारों ही न कहा है कि भगवान् + पुत्र मौलन ने इसी भी लक्षी से लगामा ११ उपर पहुँच कर सिहलदीप में भोजनम का प्रवार करना आरम्भ किया तब दें प्रन्थ मी वही उल्लेख गये । यदि मान दें कि इन

<sup>3</sup> D. hero Manual of India Bodhidharma, p. 122.

He (Nagarpura) was pupil of the Brahmanic Ratnabhadra, who himself as Mahākāruṇī Thātā Brahmāna was much indebted to the sage & shrine and still more Ganesha. This quasi-historical source, reduced to its allegorical expression, means that Mahayanaism is much indebted to the Bhag. adepts and rooro cveo Shivasam. जात वरता है फि ही कर्ने 'जनन' न संप्रेष तथा वरप्रति एव कर्त्तव्य प्राचक्षमपूर्वतमात्रा म 'तद्वर्ष्युद्दित' वर्ष का अनुकार। इसका है आर ज्ञाती प्रसादाद्वा म इनी जन का वर्त्तितात्त्व किया है। (S. B. E. V. I. XXI. last pp. 43. 44.)

<sup>4</sup> See S. E. E. Vol XI Intro pp. xxvi and p. 58.

मैं मन्यामप्रधान निरीक्षर भाँडप्पम का दिशाय रीनि स आइ उद्देश्य नहीं मिलता। उनम बुच्च प्राणिमाल पर इया बरनवास प्रदृष्टिव्याप्ति भाँडप्पम ही का उपरोक्त किया गया है। तब यह स्पष्ट हूँ कि उसक पहले ही भाँडप्पम का महायान पाप के प्रदृष्टि-प्रधान भव्यप का ग्रास हाना क्षारणम हा गया था। औंड बनि नागाकुन इत पन्ध का मूल्य पुरख्या था जहि मनू उत्पादक।

बहुतरे गिरावल इयाइया की नर बांकर में मी गीत पढ़ते हैं। अब; “सी बुनिवाड़ पर कर लिखित ग्रन्थों में यह प्रतिपादन रहता है कि इसार्व ब्रह्म के से तत्त्व गीता म से लिय होये। आर गिरिधर टॉक्सर श्वरिनसर ने गीता के उस अमन भगवानुकार म - कि जा सन १८१ “सर्वी म प्रकापित तुमा या - जो कुछ प्रतिपादन दिया है उसका निमस्त्व अब आप ही आप सिद्ध हो गया है। श्वरिनसर न अपनी पस्तुक क (गीता के अमन अनुकार के) अन्त में मगवद्वीता और बाइक्षण - किये पर न” बांकर - क शब्दसाहस्र के काए यह सा से अधिक स्वत्त जलत्यये हैं और उनम भुज ता विलम्ब तब आपन देन बाष्प भी हैं। एक उडाहुरण लीक्षिते - उम दिन तुम ज्ञानाग दि मे अपने पिता म तुम मुझ मे और मे द्वम म हैं” (अन

)। यह बाक्य गीता के नीचे लिये एव बाक्या से समानांक ही नहीं है प्रयुक्त एव तथा भी पक ही है। वे बाक्य ये हैं बैत भूतान्पाठेण इस्पत्स्यामन्पयो म ये (गीता ३) और या मा परमात्म सर्वत्र सब चर्यमि परमति (गीता ६)। “सी प्रकार अन का आगे का यह बाक्य भी जो मुझ पर प्रेम करता है उसी पर म प्रेम करता है (१८ ८१) गीता के ग्रियो हि शनिनोऽस्त्र तह स च मम प्रिय (गीता ३ ३) बाक्य क विस्तुत ही लिप्त है। “ननी तथा उन्हा म। मैस्त तुलन एव कुछ एक-से ही बाक्तो की बुनिवाड़ पर टॉक्सर श्वरिनसर ने अनुमान करक कह दिया है कि गीताकार बाइक्षण से परिचित थे और उस के ल्याभग पात्र सा वपा के पीछे गीता की होगी। जो श्वरिनसर की पुस्तक क उस भाग का लाइब्रेरी अनुकार अधिक्षित की दृष्टरी पुस्तक मे उस रमण प्रकाशित हजा था। तार परलाक्षणी लेन्डर ने मगवद्वीता का आ पद्यालंकर अनेकी नामा किया है उसकी प्रस्तावना म उन्हा ने श्वरिनसर के मत का पूर्णतया लक्षण दिया है। अ श्वरिनसर या अभी सन्दर्भ परिचिता म न स्मैषे जाते थे और उनके मत - त ब्रह्म परलाक्षणी लेन्डर ही का किन्तु मंसमात्र प्रमति मुख्य मुख्य पात्रकी सम्भूत पात्रता का भी - नप्राप्त हा गये थे। बैतार श्वरिनसर को वह कायना भी न है हारी कि या ही एक यार गीता का समय ऐसा से प्रस्तु । अनन्तनिष्ठ निश्चित शा गया याही गीता और बांकर के या ईक्षा अर्थसाहस्र और श्वरिनसर का अन भी काए भावन्यक्ता ही नहीं है। तथापि कुछ वह बहे

। भावना क भावन नाचन स्वती है और सचमुच हीरा आप तो अब टॉक्सर न रिसर का अन भी काए भावन्यक्ता ही नहीं है। तथापि कुछ वह बहे

प्रन्था को मुमार रट लाने की चाह भी "सत्तिये महेन्द्र के समय से उनमें कुछ भी फेरफार न किया होगा तो भी यह ऐसे कहा जा सकता है कि कुछ के निषाण के पश्चात् ये प्राय अब पहले पहल दैवार किये गये तब अभवा आगे महेन्द्र या भद्रोक्काल तक तत्कालीन प्रवर्णित वर्तिक प्राया से "नन्म कुछ भी नहीं किया गया। अतएव यहि महाभारत कुछ के पश्चात् का हो तो भी अन्य प्रमाणा से उनका निष्पत्र बादशाह से पहले का अथात् उन ३ अंसवी से पहले का होना चिह्न है। "सत्तिये मनुस्मृति के अधीक इसमान महाभारत के क्लोक का भी उन पुस्तकों में पाया जाना सम्भव है कि विस्तों महेन्द्र सिद्धस्थीप में लिया गया था। सारांश कुछ भी मनु के पश्चात् उसके बाद का प्रदार हात उठ वर शीम ही प्राचीन वैदिक गायाओं तथा क्षयाआ का महाभारत से प्रवर्णित उप्रह किया गया है। उसके अधीक शीढ़ प्रन्था में शूष्मा पाये जाते हैं उनको शीढ़ प्रन्थकारी ने महाभारत से ही किया है न मि त्वय महाभारतकार ने शीढ़ प्रया से। परन्तु यदि मान लिया जाए कि शीढ़ प्रन्थकारा ने इन क्षेत्रों की महाभारत से नहीं किया है कि वह उस पुराने वर्तिक प्राया से किया होगा कि जो महाभारत के भी आधार है परन्तु एकमान समय में उपलब्ध नहीं है। और एव वारण महाभारत के काल का निषय उपस्थुत एकमानता से पुरा नहीं होता। तथापि नीचे लिखी हुई चार बाटों से इतना तो निस्सनेह सिद्ध हो जाता है कि शीढ़प्रम में महायान पन्थ का प्रादुर्भाव होने से पहले वेचन मायानु वर्ष ही प्रवर्णित न था वर्तिक उस समय मायाकृता भी सम्भाल्य हो जुड़ी थी और इसी गीता के आधारपर महायान पन्थ निष्पत्र है। पर भीहृष्णप्रणीत गीता के तत्त्व शीढ़प्रम से नहीं किये गये हैं। व चार बाटे इन प्रकार हैं— (१) वेचन अनात्म बाड़ी तथा संन्यासप्रचान मूँह कुछप्रम ही से भागे चल वर नमश्च त्वामाविक रीति पर भक्तिप्रचान तथा प्रहृष्टिप्रचान तत्त्व एवं निष्पत्रा सम्म नहीं है। (२) महायानपन्थ की उत्पत्ति के विषय में स्वयं शीढ़ प्रन्थकारा ने भीहृष्ण के नाम स्वप्नतया लिखे किया है। (३) गीता के भक्ति प्रचान तथा प्रहृष्टिप्रचान तत्त्वों की महायान पन्थ के मर्दी से भवतः तथा शूष्मा समानता है। और (४) शीढ़प्रम के साथ एकालीन प्रवर्णित अन्यनन्य ऐसे तथा वैदिक पत्थों में प्रहृष्टिप्रचान स्फैक्तिमार्ग का प्रचार न था। उपस्थुत प्रमाणा के एकमान गीता का ये बाह निर्णित हुआ है वह इससे प्रत्यतया निष्ठा-जुळता है।

### भाग ७—गीता और ईमाइयों की वाइष्ट

अगर वक्तव्य दूर बाटों से निभित हो गया तो हिन्दुस्थान में प्रहृष्टिप्रचान भाग्यवत्तम का उत्तर इतना से ज्ञानम् १४ ली वर्ष पहले हो जुड़ा था; और "सा के पहले प्रादुर्भूत संन्यासप्रचान मूँह शीढ़प्रम में प्रहृष्टिप्रचान स्फैक्तितत्व का प्रवद्य शीढ़ प्रन्थकारों के ही मानुस्तार भीहृष्णप्रणीत गीता ही के बारण हुआ है। गीता के

यद्युपी नहीं र बिन्दु व्याख्यी भयो के 'यम' (लक्ष्मण यदि) भय स निपत्ति है। यद्युपी थेग मार्तिपुर्वक नहीं ह। उमर भय का नुरय आबाद यह है कि अभियं पश्च या अन्य वस्तुओं का हृष्ट कर और ग्रह के स्थानये हुए निपत्ति का पार्श्व उपर्युक्त गिरावच का सम्मुख कर और उसके ग्राह के व्यक्त म अपना तथा नपर्ना जानि का कर्त्याक्ष प्राप्त कर। अथान स तथा म वहाँ जा सकता है कि विकिष्टर्माव कर्माण्डल के अनुसार यहीं इस भी यज्ञमय तथा प्राप्तिप्राप्ति है। उमर के विष्ठ रक्षा का निष्ठ व्याप्ति पर उपर्युक्त है कि भूमि (हिताकारक) यत्र नहीं जाहिय। म (उमर की) हुए जाहिय है। (मेघू ११) इधर यथा इन्द्र गना का साथ ज्ञा सन्तुष्ट नहीं (मेघू १ ८)। जिसे अमूल्यक की प्राप्ति कर देनी है। उसे व्याप्त व्यै और करके मेरा भक्त हाजा जाहिय (मेघू १३ १)। आर चब इसा ने गिर्या एवं बमप्रवाहाय 'ग विश्वा म भेदा तद सन्यासभर्म के इन निपत्ति का नासन करने के लिये उनकी उपर्युक्त किया हि तुम अपने पास भोना जारी रखा यहुत्तम व्यक्त प्राप्तरण मी न रखना (मेघू १ १३)। यह सच है कि अवाचिन रक्षार राधा न उसा के इन सब उपर्युक्तों का लेख कर ताक म रख दिया है। परन्तु इस प्रकार आद्युक्त याहुरात्मय के हाथी भावे रखने से शाहुरसम्भाष्य उत्तरी नहीं कहा या उक्ता उसी प्रकार ज्वर्णवीन उसा राधा के 'स भाप्तरण से मूल इहाँ चर्म के लिये मी पह नहीं कहा या सकता कि वह भय की प्राप्तिप्राप्ति है। दूसरे मेघिक्तम के कर्माण्डलमुक्त होने पर भी इस प्रकार उसम भागे व्यष्ट कर रात्माण्डल का उन्न्य ही गया उसी प्रकार यद्युपी तथा 'साँ भय का भी सम्भव है। परन्तु विकिष्ट रक्षाण्डल म कमद्य अनकाण्ड की ओर विर भविप्रयान भाग्यकाष्टपम भी उत्पन्न एवं उक्त उपर्युक्त स्वर्ण वरों तक होती रही है; किन्तु यह बात 'साँ भय में नहीं है। उत्तम से पक्षा जाप्ता है कि 'सा के अविन से अधिक व्याप्ति हो तो वह पहले वक्ती वा दक्षील नम्मक सन्यासियों का गम्य बहुतिपा के देश मे एकाण्ड भाविभूत हुआ था। ये एकी व्यैक थे तो यद्युपी भय के ही परन्तु हिताकारक यज्ञमय का छोड़ वर वे अपना सुमय किनी जाल व्याप्ति में वैत्र परमधर के विन्दुन में निरापदी अवकाशय लिया वरहे थे। वही रहना स्वयम्भूत से परहृष्ट इसा हिता न रहना शायद न रहना तह के साथ मर हहना और जो किनी को कुछ द्रव्य मिथ अव ता उस पुर सह की जामालिक भास्मनी उमहना भाड़ उम्भ पर्य के मुख्य तन्त्र थे वह काँ उस माल्यी म ग्रहण करना जाहिय था तब उत्तै तीन वर्ष तक उम्हित्वारी करके फिर कुछ शर्मे मार करनी पड़ी थी। उनका प्रवान मर शत्रुमुर्द व वक्तिमी किनारे पर गणी म था। वही पर वे सम्पालग्रहानि स जानित्वपूर्व रहा करन व। यद्यव इसा ने तथा उक्त किनारा ने नहीं पार्कर में एकी वर्ष के मतों का वो माल्यार्थपर लिंगेश लिया है (मेघू १४ २; ग्रेट १६ तथा

अनेकी ग्राही म अमी तक उसी असत्य मत का उल्लेख दीप पड़ता है। इसलिये यहाँ पर उस अवाचीन स्वाव के परिणाम का समेप म डिस्टर्बन करा देना आवश्यक प्रतीत होता है कि जो उस विषय म निष्पत्ति हुआ है। पहले यह भ्यास म रखना चाहिये कि अम का ये प्रश्न के उद्देश्य एक से होते हैं तब केवल इन उद्देश्यों की समानता ही के भराते यह निष्पत्ति नहीं किया जा सकता कि अमुक प्रत्य पहले रखा गया और अमुक पीछे। यहाँ कि यहाँ पर शनो शात सम्बन्ध है कि (१) इन शनों ग्राही म ये पहले प्रश्न के विचार दूसरे प्रत्य से लिये गये होंगे अथवा (२) दूसरे प्रत्य के विचार पहले से। अतएव पहले उन शनों ग्राही के काछ क्षम न्यतन्त्र रीति से निष्पत्ति कर लिया जाय तब किर विचारसाधन से यह निर्णय करना चाहिये कि अमुक प्रश्नकार ने अमुक प्रत्य से अमुक विचार लिया है। इसके सिवा ये भिन्न भिन्न देशों के दो ग्राहकारी का एक ही से विचारण का एक ही समय में (अथवा कभी आगे पीछे भी) स्वतन्त्र रीति से सूक्ष पढ़ना कोई दिलचुल अशक्य नाही नहीं है। इसलिये उन शनों ग्राही की समानता को बर्खते समय यह विचार भी करना पड़ता है कि वे स्वतन्त्र रीति से आविभूत होने के बोध्य हैं या नहीं। भार जिन ये ग्राही म ये प्रश्न निर्मित हुए हों उनसे उस समय आवागमन हो कर एक देश के विचारों का दूसरे देश म पहुँचना सम्भव था या नहीं। उस प्रसार चारों ओर से विचार करने पर शीघ्र पड़ता है कि उसाँ भम से किसी भी शात का गीता म लिया जाना सम्भव ही नहीं था। किंतु गीता के दस्तों के समान ये कुछ तत्त्व उसाँया की बाइक म पाये जाते हैं। उन दस्तों की रूपाने ने अथवा उल्लेखिता ने बहुत करके बोझबर्त से — अबाद् प्रवाय से गीता या विविक्षय ही से — बाइक में के लिया होगा और अब उस शात की कुछ परिमी परिषित होग स्वार रूप से दृष्टे भी अस्य गम्य है। उस हयात् का लिय हुआ पसन्द हेतु कर इसा के कठूल भक्त्य का अभ्य होगा और यह उनके मन का सुनाव उस शात को स्वीकृत न करने की ओर हो जाय तो कोई आश्वर्य नहीं है। परन्तु ऐसे सोगी से हम उन्ना ही कहना है कि यह प्रभ भास्मिन् नहीं — ऐतिहासिक है। उसलिये इतिहास की चार्वाकिन् पउति के अनुवार हाल मे उपलब्ध हुए शातों पर शान्तिपूर्वक विचार करना आवश्यक है। किर इसले निरस्त्रोक्ते अनुमानों का सभी छोग — और विशेषतः वे जि किन्होंने यह विचारसाधन का प्रभ उपस्थित किया है — आनन्दपूर्वक तथा पशातुरद्विदुर्दि स प्राप्य करे। यही स्पात्य तथा सुषिखाद्रत है।

न दावक का ईर्षार्द चम चहुँी बाइक अपांत् ग्राचीन बाइक मे प्रति-परित्र प्राप्तीन यादी चम का चुकरा हुआ रूपान्तर है। यहुँी भाष्य मे उभर का श्लोक (भरवी 'श्लोक') कहते हैं। परन्तु मोक्ष ने जा नियम भना किय है उनके अनुवार यहुँी चम का मुख्य उपास्य इकता की लिये सूक्ष 'विहोका' है। परिमी परिषितों ने ही भव निष्पत्ति किया है कि पह विद्वान् दाव असङ्ग मे

चौदान ने किया था और इस प्रकार बिश्वावस्था प्राप्त होने के समय उसने ४  
मिन उपवास किया था उसी प्रकार कुदर्दरिय में भी यह बर्णन है कि कुदरे  
मार का डर दिग्म से कर माह में केलाने का प्रयत्न कि गया था और उस तमन  
कुदर ४९ दिन ( सात चक्षाह ) तक नियाहार रहा था । इसी प्रकार पूर्णभद्रा के प्रमाण  
से पानी पर चलना सुख तथा शरीर की अन्तिः द्वे पक्षम सूक्ष्मता का ऐना  
अवश्य शूण्यागत चोर तथा वंशजाआ का भी चढ़ाति देना इस्याति जात कुदर और  
इसा देना के चरितो में पक्ष ही सी मिलती है । और "सा" के द्वे ऐसे गुरुष्य सुख्य  
नैतिक उपरेत्य है कि तृष्णानं पद्मोसिद्धो तथा शशुभ्यो पर मी त्रेम कर, देमी  
"सा" से पहले ही कहीं मूरु कुदर चर्म में किञ्चुष्ट असरता आ चुके हैं । ऊपर कहा  
ही आये हैं कि महिं का तत्त्व मध्य कुदरचर्म में नहीं या परन्तु वह मी भाग चल  
कर - अपात् कम से कम "सा" से यो दीन सहितों से पहले ही - महावान वैद्यनन्द में  
मगवटीर्ग से किया था चुका था । मि आपर छिरी ने अपनी पुस्तक में आधार  
पूर्वक स्पष्ट करके लिखा है कि यह ताम्र छष्ट तनी ही जाता में नहीं है  
बैठिक इसके लिया थाँड तथा इसार्व घम कि अन्यान्य उक्तां छारी-मोटी जाता में  
उक्त प्रकार का ही साम्य बताना है । यही कर्मी सूखी पर चला कर "सा" का वर्ष  
किया गया था इसकिये "सा" इस सूखी के चिन्ह के पृथ्य तथा परिव मानते हैं  
उसी सूखी के चिन्ह का लक्षित गुण ( शौचिया ) के रूप में बैठिक तथा वैद्यनन्द-  
बाढ़ "सा" के उक्तां वर पहले से ही गुरुमायक चिन्ह मानते थे । और प्राचीन  
शोधका ने यह निष्ठय किया है कि मिथ आति सूखी के पुरुषन उपर्यों के देही ही  
म नहीं चिन्तु बालमस्तु से कुछ शरुः पहले अमेरिका के परु तथा मेक्सिको देश में  
भी स्वस्त्रिय चिन्तु गुरुमायक माना जाता था । ३ इसले यह अनुमान करना पड़ता  
है । कि इता के पहले ही सब लंगो का व्यन्तिक चिन्ह पूर्य हो चुका था । उती का  
उपयोग आये चल कर "सा" के भास्य ने एवं दियेय रीति से तूर किया है । बीद  
मिथ भीर प्राचीन "मा" चमोपदशक की - विशेषता पुराने पाइदिको की - पोषण  
और अमरिति म भी कही भविष्य तमता पार्व जाती है । उत्तराणार्थ 'वसिमा  
अपात् न्यान' के पश्चात तीजा रने की विभि भी "सा" से पहले ही प्रवर्तित थी । अप  
सिद्ध हा चुका है कि तूर तूर के राम में चमोपदशक भेज कर अप्याचार करने की  
पद्धति - "मा" चमोपदशकी म पहले ही चाद मिथुनी की पुजातना स्वीकृत हा  
चुकी थी ।

विभि भी विशारदान मनुष्य क मन में यह ग्रन्थ हाना विस्तुत ही वाहिन  
ए कुदर भार इसा क लाइरा में - उनक नैतिक उपायों में भार उमर चमों की

४ १२-१०), उससे दीप पहता है कि इसा में इसी पर्याकार का अनुयायी था; और इसी पर्याकार के सन्यास घम का उसने अधिक प्रचार किया है। यदि 'सा के सन्यासप्रबान मृगिकामा की परम्परा इस प्रकार एसी पाय भी परम्परा से मिल गई जावे तो भी ऐतिहासिक हाल से 'स बात की कुछ न कुछ समुक्तिक उपराखि अलगना भावप्रकृत है कि मग क्षममय यहुई घर्म से सन्यासप्रबान एसी पर्याकार का उत्तर फैले हा गया। इस पर कुछ स्थेग कहते हैं कि 'सा एसीनप यी नहीं था। अब को 'स बात को मन मान दें तो यह प्रभ नहीं दाता तो मनना कि न इत्यक्षम म विद्व सन्यासप्रबान घम का बगत मिया गया है उभका मूल क्षमा है? अपवा कमप्रबान यहुई घम म उसका प्राणमय एकत्रम फैले हा गया? इसम ऐति लक्ष्मा होता है कि एसीनप घर्म की उत्पत्तिक्षम से प्रभ के बहुत 'स प्रभ को हस करना पहता है। क्याकि अब समाजशाश्वत का यह मामूली चिठ्ठाक्षम निभित हा गया है कि बोन भी उत विद्वी स्थान में एकत्रम उत्पत्त नहीं हा चलती। उसकी खुँड़ी दीरे दीरे तथा कुल तिन पहुँचे में उभा करती है। और वहाँ पर इस प्रकार की बात दीप नहीं पाई जाती वहाँ पर वह बात प्राय पराय भेजा या पराय छोगा से भी कुर होती है। उठ वह नहीं है कि प्राचीन इत्यां प्रस्तरता के प्यान में वह अन्तर्न भाव ही न हो। परन्तु यूरोपियन लोगों का बीज्ञम का ज्ञान होने के पहुँच - अपान अद्यारहर्वी जटी तन - गोचक इतार विद्वना क्षम पह मत या कि यूनानी तथा यहुई जगों का पारम्परिक निकृष्ट सम्बन्ध ही जाने पर यूनानियों के - विद्वना पार्थागोरत के - तत्त्वज्ञन के क्षीमत क्षममय यहुई घम में पर्याप्त सन्यासप्रबान एसी या इत्यां घम की उत्तरानि हा ज्ञाना त्वमावन सम्बन्ध नहीं या और उनके लिय यहुई घम के बाहर का कोइ न कोइ अन्य बारण निभित हो सकता है - यह क्षमना नह नहीं है कि इन्द्रु इता की अद्यारहर्वी जटी ने पहुँचे के इतार परिदृश्यों को भी मान्य हो सकी थी।

गोचक तात्पूर्ण ने यहा है कि पार्थागोरत के तत्त्वज्ञन के तात्पूर्ण घम के सम्बन्ध की कही अधिक जगता है। अपरव यदि डग्युक लिद्वान क्षम मान मिया यथ तो भी वहा तो नहेगा कि एसीनप का अन्तर्न वरम्परा का हिम्मूम्यान को ही मिलता है। परन्तु इतनी भानाजानी करने की मी कार भावप्रकारा नहीं है। बीद घर्मी के तात्पूर्ण नह बारबल की गुम्मा बरने पर व्यष्ट ही दीप पहता है कि एसी या इतार घर्म की पार्थागोरिषन मध्यविद्यों में जिन्नी जगता है उनमें वही अधिक भर पिण्डुन नमना अब एसीनप भी ही नहीं किन्तु इता के जरिय और इता ए उपरेक्षा भी कुछ के घम ले हैं। जिन प्रकार इता तो घम म रंगान का ग्रनन

इसाद् षम म ओ रमणा दीप पर्वी है वह उन्हीं विलभण और पुण है कि ऐसी समझ का स्वरूप रीति से उत्पन्न होना सम्भव नहीं है। यहि वह ज्ञात रिद्ध हो गए होती है कि उस रमण्य महुदी स्मेगा को बोद्धधर्म का ज्ञन होना ही रमण्या असम्भव था तो वात शुभरी थी। परन्तु निहितानु से लिद्ध होता है कि शिक्षक के रमण्य से आगे — और विदेश कर अध्योह के तु नमम म ही (अथात् इसा से लगामा २८ वर्ष पहले) — गुरु की ओर गिर्भ के उसेक्ष्यद्विया तथा मूनान एक दीद चतिया भी पर्युच हो चुकी थी। अगोक के एक विवरणमें वह यह ज्ञात सिखी है कि वहुदी स्मेगा के तथा आसपास के देशोंके चूनानी राजा परिष्ठेकर्त्ता ते उन्ने सर्विक भी थी। इसी प्रकार वायम्ब (मेघ० ८१) म बतता है कि जब इसा पेत्रा हुआ तब पूर्व की ओर कुछ अपनी पुरुष केवलतम गया थे। इनां स्थेय पहुंच हैं कि ये अपनी पुरुष मरी अर्थात् इतानी धर्म के हांग — हिन्दुस्थानी नहीं। परन्तु याहे ओ कहा जाय अप तो ऐसी का एक ही है। क्योंकि निहितानु से वह ज्ञात स्पष्टतया विदित होती है कि अद्धर्म का प्रसार इस सम्बन्ध से पहल ही काम्पीर और अबूल म हो गया था। एवं वह पूर्व की ओर उत्तर तथा तुर्किस्तान एक भी पर्युच चुका था। नुकोंके विकासकार्यक्रम ने साफ़ साफ़ किया है कि इसा के सम्पर्म में हिन्दुस्थान का एक अस्तमनुद्र के द्वितीय और उसेक्ष्यद्विया के आत्मपात्र के प्रतीक्षा म प्रतिकाय प्रतिआवास करता था। तात्पर्य उत्तर य म अव कां द्वाहा नहीं रह गए हैं कि इसा से दो-तीन-चारी वर्ष पहल ही वहुदी के देश म दीद चतियों का प्रवेश होने स्थग था। और जब वह सम्भव लिद्ध हो गया तब वह अप उद्देश ही निष्पत्त हो जाती है कि वहुदी स्मेगा में कम्पात्मकान एमी पर्य का और चिर भागे वज्र कर अन्यात्मपुरुष मक्षिप्रधान उत्तार्द धर्म का प्राकुभ्यव होने के लिये दीद धर्म ही विस्तर करता हुआ होगा। अन्येत्री प्रम्यकार लिखी ने मी यही अनुमान लिखा है; और इनकी पुष्टि में देव विष्णु एवं लक्ष्मी दुनास और रामी † के इनीश्वर के मरी का अपने भक्तों में द्वारा लिया है। एवं इर्मन देश म लिरिजिल के उत्तरानन्दावाचार्यान्न

See Flinders' Moral Theosophical Essay, translated by C. N. King (George Bell & Sons) pp. 96-97 यारी मात्रा के माध्यम (५१) में वहन अर्थात् इवानिको के अनुसार (यान वनराज्यनाना) अपमर्म हात का उद्देश है। उत्तर अप्पित है कि इनका का नारी न कुछ वर्ष वहन जल निहितानु न एक मौर्छिल है इन दोनों का एवं वही वहुन-दीद वर्ति उत्तरात्म ददा के माध्यम का अन्यतरी अनुष्ठान अनुसारा उत्तर के मिल इस का उत्तर दुष्टा हात का नहीं है व इन हात का वर्ती उत्तर अनुसारा यामद गर्व का भी विवरित वर्णन है कि उत्तर विलभण में काल्प य वनावा या वर्तन् वह दीद ली है वहा कि इस उत्तरात्म वर्ती का विलभण ने वह वनावा का वनर न द्वाहा दाक्ष। उत्तर विलभण हुआ वर्तन् के लिया जा रही जे वनावा का वोट विलभण के वनर जान का द्वाह दीद

† See Little's Buddha and Buddhism pp. 158 ff.

धार्मिक विदियों तक म गे यह अद्भुत भार व्यापक समग्र पाद आर्ती है उसमें  
क्षय कारण है। ६ बौद्धधर्मपत्न्यों का अन्यवन करने से जब पहले पहले यह  
समवा परिष्ठी छोगा को गीत पढ़ी तब कुछ "सार" परिष्ठ कहने लगे, कि बौद्ध  
धर्मवादी ने "न तत्त्वा का निष्ठोरिवन नामक" "सार" पन्थ से शिया हागा कि आ  
परिष्ठा व्यापक म प्रचलित था परन्तु यह बात ही समझ नहीं है। क्याकि नेस्तार  
पाप का प्रबलक ही इसा से स्वामग सज्जा पार सो बप के पश्चात् उत्पन्न हुआ था  
और भद्र भण्डोऽ के शिलाखेन्द्रों से मली भौंति सिद्ध हो चुका है कि "सा के ल्याम्हा  
पाप ती बप पहले— और नेस्तार से तो स्वामग ना ती बप पहले— तुद का अन्म  
हो गमा था। नष्टार क समय— अष्टात् सन् "सुखी से निशान द्वारा सो बप पहले—  
बौद्धधर्म हिन्दुस्तान में और भासपास के इसा में तेजी से छिया हुआ था। एवं  
तुदचरित आर्ति प्रनय भी "स समय त्रियार हो चुके थे। "स प्रकार उन यद्यपि धर्म की  
प्राचीनता निविवाद है तब "साइ तथा बौद्धधर्म में तीव्र पठनेवास साम्य के विषय  
में तो ही पद रह चुके हैं। (१) यह साम्य स्वतन्त्र रीति से देना और उत्पन्न हो  
अथवा ( ) "न तत्त्वा को इसा ने बा उसके शिष्यों न बौद्धधर्म से सिया हो।  
"स पर ग्रोफेसर हिन्दूविद्वान् का मत है कि तुद और इसा की परिस्थिति एक ही  
सी हानि के कारण देना और यह साइम्य आप ही-आप स्वतन्त्र रीति से हुआ  
है। (२) परन्तु घोषा-सा किचार करन पर यह बात सब के व्याप में भा जावेगी कि  
यह कर्यना समाधानकारक नहीं है। क्याकि यह बौद्ध नई बात किसी भी स्थान  
पर स्वतन्त्र रीति से उत्पन्न होती है सब उसका उत्थ संडब्र क्रमय अभा करता है  
और "सद्विष्टे उत्तमी उत्तमि का जम मी कल्याणा या तकता है। उत्तरण दीक्षिय—  
मिथुनिक्षेपार अैष तीर पर यह कल्याणा या तकता है नि वैटिक कम्बाण्ड से अनकाण्ड  
और अनकाण्ड अथात् उपनिषदों ही से आगे चम कर भवि पात्राङ्गस्योग  
अथवा अन्त म बौद्धधर्म के उत्पन्न हुआ? परन्तु यहमय यहुदी चम में  
कल्याणप्रवान पर्सी या "साइ धर्म का उत्थ उक्त प्रकार से हुआ नहीं है। यह  
एकम उत्पन्न हो गया है। ऊर इसा ही तुम है कि प्राचीन "सार" परिष्ठ  
भी पह मानत है कि "स रीति से उत्थ पक्षम उत्थ हो जन में यहुदी चम के  
भविरिक्त को" अन्तर बाहरी कारण निमित्त रहा होगा। "सक मित्र बौद्ध तथा

इत विषय पर मि जादर लिखी न Buddha and Christianity नामक एक  
स्वतन्त्र दस्त लिखा है। इसक विषय बौद्ध और बौद्धिम जाति का अन्तिम जाति  
जाति म इसका अन्तर जाति का अंतिम विषय उत्थ है न लिखा है। इसक लिखा है कि इस  
नाम म जा विषयक लिखा है इसका अन्तर विषयता वर्ती तुलना उत्थ है। Buddha and  
Buddhism द्वारा The World Epochmakers Series म लिखा है। इसका म परिष्ठ  
है। इसक एवं भाग म बौद्ध और इसकी चम इ वाई नमान उत्थ जा जा लिखा है।  
— अंत्र

बह है कि मीमांसको क्य ऐस्थ कर्माग चन्द्र भारिका ज्ञानयुक्त अधीक्षा  
(मैल्लम्ब) उपनिषद्वारा तथा शौम्यों की ज्ञाननिष्ठा और सम्याप्ति, विच्छनिरोपस्त्री  
पातङ्गो योग एव पात्तरात्र वा मायवत्तभास्त्र भवात् भक्ति—ये सभी धार्मिक अह  
और तत्त्व फूल में प्राचीन ऐस्थ घम के ही हैं। “न मे से ब्रह्मशान कम भार  
भक्ति को छोड़ कर विच्छनिरोपस्त्री योग तथा क्षमसम्यास इन्हीं तेना तप्ता के  
आधार पर बुद्ध ने पहुँचे पहुँच अपने सन्यात्प्रशान घम का उपर्युक्त चारों दर्शों  
से किया था। परन्तु आगे चक्रवर उसी में भक्ति तथा निष्ठाम कम को मिला  
पर बुद्ध के अनुयायियोंने उसके घम का चारों ओर प्रसार किया। अद्योत के  
समय बौद्धर्म का “स प्रकार प्रसार हो जाने के पश्चात् युग कमप्रशान यदुरी भर्म  
में सन्यास मात्र के दासों का प्रबोध होना भारतम् हुआ और भक्त में उसी में  
भक्ति को मिल कर ऐसा ने अपना भर्म प्रदृच किया। इतिहास से निष्पत्ति  
होनेवाली “स परम्परा पर इष्ट ऐने से डॉक्टर अरिनदर वा यह कफ्तन थे अत्यन्त  
ठिक होता ही है कि गीता में इसाई घम से कुछ बाये भी नहीं हैं। हिन्दु इसके  
विपरीत यह बात अधिक सम्भव ही नहीं किंतु विश्वास करने योग्य मी है कि  
भारतीयद्वारा सन्यास निर्वैत्त तथा भक्ति के दो तत्त्व नर्त भारतम् म पाप दर्ते  
हैं वे इसाई घम में बीदूषम से—अबात् परम्परा से बटिक्षणम से—लिये गये  
हुए। और यह पूर्णतया ठिक हो जाता है कि इसके बिके हिन्दुओं का दूसरा का  
दूसरा ताकने की कमी भावस्वक्ता थी ही नहीं।

“स प्रसार “स प्रकरण के भारतम में लिये हुए लात प्रभौ का विवेचन हो  
जुता। अब इन्हीं के लात माहस के कुछ एसे प्रभ होते हैं कि हिन्दुशान में वे  
भक्तिपूर्ण भावक्षम प्रचलित हैं उन पर मात्राता का क्षमा परिणाम हुआ है। परन्तु  
इन प्रभों को गीताप्रम्बनमभूषी कहने की अपेक्षा यही कहना थीक है लिये हिन्दुशम  
के अवाचीन इतिहास से सम्भव रखा है। अस्तित्व—अतिरिक्त यह परिणाम  
प्रकरण थोना थोक्क करने पर भी हमारे अस्ताद से अधिक कम गया है इनीस्तित्व—  
अब यही पर गीता की अतिरिक्त-परीक्षा नमात्र थी जाती है।

---

'ओफसर सेइन ने "सु विषय के अपने प्राप्त में उक्त मत ही का प्रतिपादन किया है। अर्मन ग्राफसर अमर ने अपने एक निर्णय में कहा है कि ईसाई तथा खोड़धर्म संवया एक-से नहीं है। यद्यपि उन दोनों की कुछ बातों में समता है, तथापि अन्य बातों में ऐप्रम्य मी पाइ नहीं है; और इसी कारण खोड़धर्म से ईसाई धर्म का उत्पन्न होता नहीं माना जा सकता। परन्तु यह कथन विषय से बाहर आ रहा है। ईस्थिये ईसमें कुछ भी ज्ञान नहीं है। यह कोई भी नहीं कहता कि ईसाई तथा खोड़ अर्मन संवया एक-से ही है। स्थाकि यहि ऐसा होता हो ये दोनों धर्म पृथक् पृथक् न माने गय हाते। मुख्य प्रभ तो यह है कि जब मूल में यहुदी धर्म केरमें व्यर्तमय है, तब उसमें मुशार क रूप से सम्याचरमुक्त महिलाग के प्रतिपाद्यक "सार" धर्म की उत्पत्ति होने के सिवे कारण क्या हुआ होगा? और इसा ही अपेक्षा खोड़धर्म संवयमुक्त प्राचीन है। उक्त इतिहास पर ध्यान इने से यह कफ्फन ऐतिहासिक दृष्टि से भी सम्भव नहीं प्रतीत होता कि उन्यासप्रधान महिला और नीति के तथा की इसा ने स्वतन्त्र रीति भी द्वारा निकाला हो। धार्मक में उठ आत का कही भी व्यवन नहीं मिलता। कि इसा भासी भाषु के चारहब वप से सेवन दीप वर्ष की भाषु उक्त क्षया घटता था भार कहा था? "सुसे प्रकर" है कि उसने अपना यह समय ज्ञानात्मन धर्मचिक्षण और प्रकाश में किया हासा। अतएव विश्वासपूर्वक कीन कह लक्ष्या है कि भाव के इस भाग म उसका खोड़ मिथुभा से प्रस्तुत था पकाप ते कुछ भी सम्बन्ध इसा ही न हासा? इसी इतिहास की विद्या का दीर्घोर धूनाम उक्त हा चुका था? नेपाल के एक बाद मठ के प्रत्यय में लग्न बणन है कि उठ लम्य इसा दिनुस्तान में भावा था। भीर वही उमे खोड़धर्म का ज्ञन ग्राह कुभा। यह प्रथा नेपाल नाटीयित नाम के परम बसी के हाथ म्या गया था उन्नेने केव मात्रा में "उक्ता भनुगाँड़ बन १८ ४ ईसुवी म प्रकापित किया है। बहुतेरे उत्ताप परिष्ठु उत्तरे ६ विनागित का अनुकात उक्त मत ही है। परन्तु मूलप्रथा का प्रतीक्षा याइ लक्ष्या है इतने यह ज्ञानही प्रथा यह लक्ष्य है। हमारा भी कार विद्येय भासह नहीं है कि पुण्ड्र प्रथा का य परिष्ठु स्थग तत्प ही मान ल। नाटीयित की मित्र इन्हा प्रथ तत्प ही था प्रतिष्ठा, परन्तु इसने उठ ऐतिहासिक दृष्टि से जी विवरन उठ रिया है उसमे यह ज्ञन स्वप्रत्यया विनिय इस ज्ञानही कि यहि ईसा का नहीं ता नियन उक्त मत्ता का कि निहोने न वाइस्त में उक्ता वरिष्ठ सिना है— उठप्रथा का इन द्वाना भग्नमय नहीं था और यहि यह ज्ञन भग्नमय मही है ता इना भीर बुद्ध के वरिष्ठ ज्ञान उत्तेज म ये विनिय तमना नाइ यही रे उत्तरी धर्मग्रंथ ईति न उत्तरि मानता भी बुनिय इतन नहीं ईतना। \* लारुद्ध

इन धर्मग्रंथों का इतना वर्णन उत्तरा विज्ञानार्थी विवरन ज्ञाने वाले इनमें दिया है Ramachandrapurusha History of Civilization in Ancient India Vol II, Chap 22 pp 323-340.



二

七

一

一



# श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य

गीता के मूल स्लोक, हिन्दी अनुवाद  
और टिप्पणियाँ

फूना चाहिये। अनुबाड़ की रचना ग्रायः देसी की गई है कि ग्रायमी छाँट पर नियं अनुबाड़ ही पढ़ते थोंय ता अर्थ में कोइ प्रतिक्रम न पाए। इसी प्रकार वहाँ मूल मण्ड ही बास्य पक्ष से अधिक स्तोका में पुरा हुआ है वहाँ उनने ही स्तोका के अनुबाड़ में यह अथ पूर्ण किया गया है। अतएव तुल्य भोक्ता का अनुबाड़ मिया कर ही पड़ना चाहिये। देसी स्तोक वहाँ वहाँ है वहाँ वहाँ भोक्ता के अनुबाड़ में पूजनियामनिश्च ( । ) गर्भी पाइ नहीं स्माइ गा है। फिर मी यह स्मरण रहे कि, अनुबाड़ अनन्त में अनुबाड़ ही है। इसने अपने अनुबाड़ म गीता के सरल, लुप्त और प्रचल अथ को स आने का प्रयत्न किया है सही; परम्पुरा सहृदय शम्भु म और विधेयता: मालान की प्रेमयुक्त, रसीसी व्यापक और प्रतिक्रिया में ना बचि देनेकाली वाणी में अस्त्रा से अनेक व्यद्धार्थ उत्पन्न करने का थो लाम्बप्प है उसे भरा भी पराक्रा कर दूसरे शम्भु में वा का-त्या फलना देना असम्भव है। अपावृत सहृदय द्वाननेकाली दुष्प्रभ अनेक अवतरणों पर लक्ष्याना से गीता के भोक्ता का जैसा उपरोक्त बरण। देसी गीता का निरा अनुबाड़ क्वनेकाले पुरुष नहीं कर सकते। अधिक फ्ला यह ? समझ है कि वे गीता मौज वा चारे। अतएव उन लोगों से हमारी आपहृत्युक्त जिन्हीं हैं कि गीताप्रम्प का सहृदय में ही अवस्थ अव्ययन कीजिये; और अनुबाड़ के साथ ही साथ मूँछ भोक्ता रखने का प्रयोगन मौज यही है। गीता के प्रत्येक अर्थात् के कियत का सुविधा से शान होने के लिये न यह यत्र कियायी की—अर्थात् जो वे कम से प्रत्येक भोक्ता की—अनुब्रमणिका मी अङ्ग के ही है। यह अनुब्रमणिका वेदामृतम्प्रये की अधिकरण माला के देंग की है। प्रस्तेक स्तोक पृष्ठ पृष्ठ न पर कर अनुब्रमणिका के इस विष्टिक्षिणे से गीता के भोक्ता के प्रत्येक पक्ष उनने पर गीता के धात्यम के सम्बन्ध म थो झम फैला है। वह कई भाषा में दूर हो सकता है। क्वाक्षि, शाम्प्रायिक दीक्षाकारों ने गीता के भोक्ता की गीताकालीनी कर अपने सम्प्रश्नय की उपरोक्ते के लिये तुष्ट भासा के थो निराले अर्थ कर लाले हैं वे मायः “स पूजापर तनर्म भी ओर तुम्हस्य करेह ही किये गये हैं। उगाहणाय गीता ३ ४ ५ ६ और १८ २ वैदिकों। इस दृष्टि से देखतो यह कहन में कोई हानि नहीं कि गीता का यह अनुबाड़ और गीतारहस्य तोना परस्पर दूरतर की पूर्वि करते हैं और जिसे हमारा बहस्य पृष्ठतया समझ लेना हो उसे “न तोना ही भागो का अक्षमान करना चाहिये। भवत्तागीता प्रन्त को कष्टल कर लेने की रीति प्रत्यक्षित है। इसक्षिये उसम गहत्य के पात्रमेव कही भी नहीं पाये जाते हैं। फिर मी यह क्षुद्रमना आवस्यक है कि वत्तमानकाल मैं गीता पर उपरबन्ध होनेवाले माल्यों में वो तब से प्राचीन ग्रन्थ है उसी शास्त्रभाष्य के मूँछ पाठ को इसने प्रमाण माना है।

## उपाद्वात

ज्ञान से और भड़ा से - पर उसम भी विषेषता भवित्व के मुद्रण राखनाग से -

किनी हा उन उठनी उमुदि करके आकृष्णह के निमित्त स्वभावानुवार अपने अपने कम निष्कामुदि से मरणयन्त करते रहना ही प्रथेक मनुष्य का परम कल्प है। इसी में उसका साक्षातिक और पारस्परिक परम कल्पाण है। उषा उठे माह भी याति के दिय कर्म और ऐन की भवधा और बोद्ध भी दुसरा अनुद्धन करने की भावस्थकना नहीं है। समस्त गीताशब्द का यही प्रतिकार है। गीतारहस्य में प्रकरण विस्तारपूरक प्रतिपादित हो चुका है। उसी प्रकार जीवहृषि प्रकरण में यह भी विषय आये हैं कि उचितिक उद्देश से गीता के अटारह अध्यायों का मेड लेता अप्स्त्र और सरक मिळ जाता है। एव उस क्षमयोगप्रबन्ध गीताशब्द में अन्वान्य माद्यशब्दों के बान र्हीन से मारा दिल प्रसार है। उठना कर चुकन पर बनुआ उस स अद्वित काम बहा रह जाता कि गीता के अपनी का क्षमाश उमरि मतानुकार घोषा में सरख अथ कल्प दिया जाय। किन्तु गीतारहस्य के सामान्य विवेकन में यह अद्वित न ज्ञना या कि गीता के प्रथेक अथाय के विषय का विषाग ऐसे रहा है? अथवा यीकाकारा न अपने सम्बन्ध की सिद्धि के स्थिति कुछ विषेष क्षमता के पाँव की दिल प्रकार गीतातामी भी है? भत्ता "न ढोनो जाती का विचार करने - और झौं का तहीं पुष्पापर सन्दर्भ डिग्स्ट देने - के सिवे भी अनुवाड न जाप याप आवृच्छना के लैंग पर दुड़ विष्पणिया के देने की भावस्थकना हुआ। फिर भी किन विषय का गीतारहस्य में विस्तृत वर्णन हो चुका है उनका क्षेत्र विश्वरूप करा दिया है और गीतारहस्य के विस प्रकरण में उस विषय का विचार दिया गया है उषका छिप हकार्य दिया है। ये विष्पणियों मृद्गम्य से अद्य वहान भी या सर्व, "उस छिप [ ] चारों द्वितीय के भीतर रही गा है भोक्तों का अनुवाद यहीं उन कला पाना है - यद्यपि दिया गया है; और किसने ही अद्य पर ता मूर के ही शब्द राप दिये गय है। एव अथवा यानी से बोह कर उनका अथ याप दिया इ भार छायी-मारी विष्पणियों का राम अनुवाद से ही निकाल दिया गया है। "राम करन पर मी उन्हन की आर माया की प्रणाली मिथ मिथ होती है इष प्राप्त अथ सम्भव लोक का अथ भी माया मै व्यक्त करने के लिये उष अद्वित शब्दा का प्रयाग अद्वित करना पड़ता है और अनेक अद्य पर मस के शब्द के मनुवाड में प्रयाग याप है। उन्हन प्रयोगों में - "न नम्बर लोक के अन्त मै रहता है; परन्तु अनुवाद में हमन वह नम्बर वहस ही आरम्भ में रहता है। अत दिनी श्वेत का अनुवाड उन्हना हो तो अनुवाड म उन नम्बर के आये का वाक्य

### तीसरा अध्याय – कर्मयोग

१-२ अर्जुन का यह प्रभ कि कर्मों का अद्वेना चाहिये का परत रहना चाहिये सब भया है ! ३-८ यद्यपि सत्यम् ( कर्मकन्यात् ) और कर्मयोग जैसे निष्ठाएँ हैं तो मी कम किसी से नहीं छूटते । “सलिये कर्मयोग वी भद्रा चिद् करके अर्जुन की इच्छी के आचरण करने का निष्क्रिय उपदेश । ९-१६ मीमांसका के यज्ञर्थ कर्म को मी धारणिं छोड़ कर करने का उपदेश बहुतक का अनाविन्द्र और काल् के बारबाय उसकी आवश्यकता । १७-१९ अनी पुरुष मैं स्वार्थ नहीं होता इसीलिये वह मात् कर्मों के निष्ठार्थ अर्थात् निष्कामकुद्धि से किया करे । क्षोकि कर्म किसी से मी नहीं छूटते । २-२४ अनेक आहि का उत्ताहरण । ओक्षस्रह का महस्त्र और स्वयं भगवान् का उत्ताहन्तु । २५-२९ तानी और अहनी के कर्मों मैं भेड़ । एवं यह आवश्यकता कि स्वनी मनुष्य निष्काम करके अहनी को उत्ताहरण का आकृत्य दिग्गजते । ३ स्वनी पुरुष के उमान परमेश्वरापशुद्धि से पुढ़ करने का अर्जुन को उपदेश । ४१, ४२ मगवान् के इष्ट उपदेश के अनुसार भगवान्पूर्वक यताव करने अथवा न करने का पथ । ४३ ४४ प्रहृति वी प्रकल्पता और नित्यिनिप्रहृ । ५ निष्क्रम कर्म मी स्वर्गर्म का ही करे । उसम यहि मूल्य ही अप तो कोई परवाह नहीं । ४५-४७ काम ही मनुष्य को उत्तमी न्यूठा के विद्युत पाप करने के क्षिये उत्तराता है नित्यिस्वयम् सं उत्तमा नाश । ४८ ४९ इन्द्रियों की भद्रा का क्रम और भास्तव्यानपूर्वक उत्तरा निष्क्रमन ।

### चौथा अध्याय – शानकर्मसन्यासयोग

१-३ कर्मयोग वी सम्प्रगायपरम्परा । ४-८ कर्मरहित परमेश्वर माया से दित्य क्रम अर्थात् अवशार कब और किस दिव्य खेता है – उत्तमा वर्णन । ५, ६ ११, १२ अन्य रीति से भवेता बेता फस । उत्ताहरणात् उस भेद के फस पाने के लिये देवताभा की उपासना । १३-१६ भगवान् के चानुवर्य आहि निसेंग कर्म उनके तात्पर्य का अन भेते ही कर्मकर का नाश और भैते क्रम करने के क्षिय उपदेश । १७-१९ कर्म भवने भीर विकर्म और विकर्म ना भेड़ । असर्वं ही निष्क्रम कर्म है । वही उपाय क्रम है और उभी से कर्मकर का नाश होता है । २८-३१ अनेक प्रकार के लालिक यश का बरन भीर वद्यकुद्धि से क्षिये तुप पद्म वी अवशार् शनकर की भद्रता । ३४-३७ जगता से ज्ञानोपदेश स्वन उं भास्तव्याप्यप्यर्थि भीर पापपुर्वक का नाश । ३८-४१ ज्ञानप्राप्ति के उपाय – कुद्धि ( याग ) और भद्रा । इसके अप्रवाप मै नाश । ४१ ४२ ( क्रम ) याग और अन का पूज्य उपयोग करने से भवन का आभय से पुढ़ करने के क्षिय उपाय ।

### पाँचवां अध्याय – संन्यासयोग

१-२ यह तीस व्रत, कि सन्यास भद्र है वा कर्मयोग । इन पर ममका का यह निष्क्रिय उत्तर कि मोभ्यं वा नाना है । पर कर्मयोग ही भेड़ है । ३-

# गीता के अध्यायों की स्थोकना

## विषयानुक्रमणिका

[ नोट - एह अनुक्रमणिका म गीता के अध्यायों के क्रम से ना विसाग किय गये हैं वे मौल उच्चत शोक पहले ही इस चिन्ह से निराकार गये हैं और अनुक्रान म ऐसे शोक से छोड़ा पैरिशोध द्वारा किया गया है। ]

### पहला अध्याय - अर्जुनविद्याव्योग

१ सुख्य से भृत्यरात् का प्रभ। २०२ वर्योदन अ डोणान्नार्य से गता अस्य  
की सेनाधीं का बगन करना। २०३ सुद अ आरम्भ म परस्पर सख्यमी क छिंग  
षड्ख्यनि। ३-२३ अकुन का रथ आगे आने पर सैन्यनिरि रहा। ४-१३ गता  
सेनाभा म अपने ही भाष्य हैं नको मारने से कुछ्यत्य होगा यह सोच कर अकुन  
का विपार दुष्टा। ५-८८ कुस्मत्य प्रमति पातका का परिणाम। ४८-४० सुद न  
करने का अकुन का निष्पत्य भीर बनुकापत्याग।

### दूसरा अध्याय - साम्प्राय

१-३ भीहृष्ण का उपेक्षन। ४-७ अकुन का उक्त, कुरुत्यम् दा भीर अम  
निर्वकाय भीहृष्ण क शुरणापद्म होना। ११-१३ आमा का भयोप्यत्व। ४-९  
ऐ और सुप्रदुष्य की अनित्यता। १६-६ सर्वतीवेत भीर भामा क नित्यत्वानी  
स्वरपक्षम से उक्ते भयोप्यत्व का उमचन। २१-२३ आमा के अनित्यत्व पक्ष को  
उक्त। २८ साम्वदायाभासुलार यमक भृता का अनित्यत्व भीर भगवान्यत्व। ५-९  
आरी का भाल्मा दुर्ज्य है तही; परम् त् सत्य आन हो प्राप्त कर, शोक करना छोर  
है। ११-१५ भाल्मय के अनुलाल सुद करन की भावम्भक्ता। ६ तारुत्यमागा  
सुलार विषयमणिपादन की समाप्ति भीर कमयोग के प्रतिपादन अ भारम्भ। ८  
कमयोग का स्वस्य आपरण भी भेदकारक है। ४१ व्यवसायाल्ल दुष्टि भी सियला।  
४२-४४ कर्मकाण्ड के अनुषारी मीमांसको भी अनिकर दुष्टि का बगन। ८-८५  
अधिर और योद्यत्य दुष्टि से क्षम करने के विषय मे उपरेक्ष। ४९ कमयोग की  
परामुखी। ४८-५ कमयोग का उक्त और क्षम भी भयोग करना भी दुष्टि भी  
भड़ता। ५१-५३ कमयोग से गोप्यात्मि ४-३ अकुन के दुजन एव कमयोगी  
लिप्तत्यम क स्वरूप भीर उक्ती मे प्रशान्नासुलार विषयमणित काम भारि भी उपरिभि  
का क्षम। ५३ आद्वी विषयति।

निमित्त वक्तव्यों की उपाचना। परन्तु इसमें मीठनकी भद्रा का फल मालान् ही होते हैं। २५-२८ मालान् का सत्यत्वरूप अध्ययन है। परन्तु माया के कारण और इन्द्रमोह के कारण वह बुर्जेय है। मालामोह के नाश से स्वरूप का शन। २९-३१ इस अन्यात्म कर्म और अधिभूत अधिकैव अधिष्ठय एक परमेश्वर ही है—यह आनंदने से अस्ति तक हानासिद्धि हो जाती है।

### आत्मो अध्याय—अक्षरचाहस्रोम

१-४ भर्तुन के प्रथम करने पर ब्रह्म अप्याम कर्म अधिभूत अधिकैव अधियज्ञ और अविद्या की अ्यास्ता। उन सब में एक ही इश्वर है। ५-८ अन्तकाळ में मालाक्षमरण से मुक्ति। परन्तु वो मन में नित्य रहता है वही अन्तकाळ में मीठता है भद्रपद सठेव मालान् का स्वरूप करने और सुद करने के लिये उपयोग।

९-१३ अन्तकाळ में परमेश्वर का अर्थात् उँचार भ्रष्टमाधिपूर्वक व्यान और उसका फल। १४-१६ मालान का नित्य चिक्खन करने से पुनर्जन्म नाश। ब्रह्म लोकाति गतिर्थों नित्य नहीं है। १७-१९ ब्रह्म का दिन-रात दिन के भारम मै अध्यक्ष से सहिती ही उत्पत्ति और रात्रि के भारम मै उत्ती मै छ्वा। २०-२२ इस अध्यक्ष से मी पर का अस्त्र और अध्यर पुरुष। मुक्ति से उनका हान। उल्की प्राप्ति से पुनर्जन्म का नाश। २३-२६ देवयाग और पितृयानमार्ग। पहलम पुनर्जन्म नाध्यक ह भार दूसरा “सक विपरीत है। २७-२८ इन मार्गों के तुल्य का चाननेकाले शोणी का असुखम फल मिलता है। भ्राता दृष्टनुसार सभ व्यवहार करने का उपयोग।

### मोर्यो अध्याय—प्राणविद्यायजुह्यायाग

१-३ ज्ञानविद्यानयुक्त भक्तिमार्ग मोर्यपत्र हैने पर मी प्रस्तुत और सुन्नते हैं। भ्रतदण्ड राजमार्ग है। ४-६ परमेश्वर का भयार पोक्षामर्च। प्राणिमात्र मै रह कर मी उनमें नहीं है और प्राणिमात्र मी उनमें यह कर नहीं है। ७-९ ज्ञानात्मक प्रह्लि के द्वारा सहिती की उत्पत्ति और उत्पत्ति का प्राप्ति और छप। इनका करने पर मी वह निष्काम है। अतएव अनिष्ट है। १०-१२ इसे मिला पहचाने, माह म पौष कर नगुप्तोहधारी परमेश्वर की भवहा करनेकाले मूल और आमुरी हैं।

१३-१५ ज्ञानवह के द्वारा भ्रेत्र यक्षार के उत्पत्तना करनेकाले हैं। १६-१८ इन्हर तदन्त है। वही यक्ष का मी छप है स्वामी है पारक और भ्रष्ट तुंड का कना है। १९-२२ भ्राता यज्ञायाग आदि का वीय उत्तोग वद्यपि इत्यग्रह्य है तो मी वह छप अनिष्ट है। यागमम व नियंत्रिय व आवद्यत उमांश अप्य तो वह भक्ति से मी वाप्य है। २३-२५ अन्यात्म इवतारी की मति वयाव से परमेश्वर की ही हार्ता है। परन्तु इसी भवना हार्ता और त्रैता त्रैता हार्ता एवं भी वैता ही निष्पाता है। तो परमेश्वर पूर्ण की रामुरी से मी नन्दुर है। जाता है। २६-२८ तत्र क्षमों का इत्यरापन करने का उपदेश, उच्ची धारा कमङ्ग न पुरुषारा

सहकर्मा का लाइ लेने से कमयागी निष्ठ मन्यार्थी ही हता है और जिस क्रम के तत्वाद भी खिड़ नहीं है। इससिये तत्त्वज्ञाना पक्ष ही है। ३-१५ मन कौशल मन्याल रहता है और क्रम करने अनिर्याकिया करती है। असिये कमयागी क्षमा अद्वित शास्त्र सार मुक्त रहता है। ४-१६ मन्या कृत्य और भोक्तृत्य प्रकृति का है। परन्तु भजन से भास्त्रा का भवयता परमेश्वर का तपश्च बनता है। ५-१७ इस भजन के नाश से पुनर्ज्ञान से एक्षुक्षारा। ६-८ ब्रह्मज्ञान से प्राप्त इन्द्रेश्वरे समर्पित्य का चिर तुष्टि का और सुखदूर्घ की जमना का बचन। ४-१८ मन्यन्तीहिनाय क्रम करत रहने पर मी कमयागी अभी स्वर्ण म सैव ब्रह्मभूत समाप्तिय भार मुक्त है। (कृत्य अपने ऊपर न लाकर) परमेश्वर का यज्ञाय का साक्षा भार नव नृती का मित्र ज्ञान लेने का एक्ष।

### छतुबाँ अध्याय — इयानयाग

१-१ क्षाणा याह कर क्षत्य बरनेवस्त्व ही क्षत्य मन्यार्थी और यागी है। मन्यार्थी का भव निरपि और अद्वित नहीं है। ३-१८ कमयागी की जाज्ञानायन्धा में भार विद्वावस्था म श्वर्म पव क्रम के ज्ञायकारण का पूर्ण बना तथा याग्यामूर्त का तपश्च। ६ योग की खिड़ बरन के विये भास्त्रा की खत्तरता। ३-१९ विनाया याग्यामूर्त म भी समझुदि थी भेद्यता। १०-१७ याग्यापत्न के विय भावरथक आजन और भावारिक्षिहार का बचन। ११-१८ यागी के और याग्यमार्थि के भावयन्त्रिस मुक्त का बचन। ६-१५ मन का दौरे दौरे नमादिव्य शास्त्र और भास्त्रनिदृ वस बरना चाहिये ३-१९ योगी ही ब्रह्मभूत और भवयत्व नुरी है। १०-११ प्राणियाद में यागी थी भास्त्रीपयव्युदि। १३-१५ अस्त्रान और वैदाय्य ने पश्च मन का निपट। १३-१८ भक्तुन के प्रभ करने पर इन विषय का बचन कि योगभूष श भवयता यित्तु का थी क्ष्यक्षमामूर्त में उत्तम पक्ष मित्र से अस्त्र म पूरा खिड़ हेने मिली। १४-१९ १० तपस्त्री जनी भार निर क्षमा थी भवता क्षमयोगी भोर उत्तम भी क्षमियान क्षमयोगी — भेद है। भवत्य भक्तुन को (क्रम) यागी हने के विकास में गायः।

### सातवीं अध्याय — इस्त्रविद्वान्योग

१-१ कमयोगी की खिड़ के विये ज्ञान विज्ञान के निष्पत्त का भारत्य, खिड़ के विय प्रपत्न बरनेवाले क्ष एक्ष विस्त्रा। २-३ भरार्हविचार। भास्त्रान वी भावता भरण और वैद्यनी या प्रवृत्ति। इनक भाग जारा विस्तार। ४-१२ विस्तार के वानिकर भावि तत्व मार्गो में युक्त तप परमेश्वरवाचन का विज्ञान। ५-१३ पामेश्वर वी याँ युक्तदी भोर दुम्हर जाता है और ज्ञनी के इयानयाग हने पर माया ने उद्दम हता है। ६-१४ एक व्युरिति है। इनमी जनी भेद है। भवत्य उम्हों भ ज्ञन वी दृष्टा भीर यावद्विविष निर वस। ७-१५ अद्वित भावयत्वों के

### तत्त्वादी अथवा – क्षत्रज्ञापिभागवाग

१-२ भग भार भवत्वं की व्याख्या । इनका ज्ञन ही परमेश्वर का ज्ञन है ।  
 ३-४ भवभूतविद्यार उपनिषदों का भीर व्याख्या का है । ५-६ शेषन्यास्पत्राद् ।  
 ७-८१ ज्ञन का स्वरूपस्त्राण । गात्रिक्षण ज्ञन । ८२-१३ अद्य कुरुष्व का व्याप ।  
 १४-१५ ज्ञन की ज्ञन ऐन का पर्याप्ति । १६-१७ प्रहृतिगुणापिवद । करन चरनेवाली  
 प्रहृति है । पुरुष भजना किन्तु भगवा उच्छ इन्हाँ है । १८-१९ पुरुष ही हर में  
 परमामाता है । इन प्रहृतिपूरुषगत में पुनर एवं नर होता है । २०-२१ भास्त्रज्ञन  
 के माग – व्यान वात्ययोग, कमयोग भीर भडायुद्वर भवत्वं भ भवत्वं । २२-२३  
 भम्भमङ्ग क व्याग म भावर उद्गम सृष्टि । इनमें ज्ञ भविनामी है वही परमेश्वर  
 है । भास्त्रे प्रयत्न म उत्तरी प्राप्ति । २४-२५ करन भरनवार्थि प्रहृति है अर  
 भगवा अभजना है । जब प्राणिमात्र एक में ही और एक में जब प्राणिमात्र होते हैं ।  
 यह ज्ञन ऐन से व्यवस्थापति । २६-२७ भास्त्रा अभावि भार नियुण है । अतापि  
 व्यथा पर क्षेत्र का प्रसारण है तथाति निर्वोप्य है । २८ भद्रादत्र के भेत्र ज्ञन सेन  
 में परम निर्दिष्ट ।

### तत्त्वादी अथवा – गुणप्रसविभागवाग

१-२ शनविद्यनात्क्षण व्यापिदिव्य का गुणभेत्र से दिनार । हर भी  
 मात्राय है । ३-४ प्राणिमात्र का पिता परमेश्वर है; और उनके अधीनस्त ग्रहित  
 माता है । ५-६ प्राणिमात्र पर मात्र रब और तम क हानेवासे परिणाम । ७-८३  
 एक एक गुण भव्य नहीं हर उक्तता । कोइ दो का इच्छा कर तीसरे वी तृष्णि  
 और प्रत्येक की तृष्णि क सम्बन्ध । ८४-८८ गुणमहादि के भक्तुमार कम क प्रम भीर  
 मरने पर प्राप्त होनेवाली गति । ९-१० प्रियुषातीत हो जाने से भेष्यव्याप्ति ।

११-१२ अर्द्धुन के प्रभ करने पर प्रियुषातीत के स्वरूप का और भाव्यार का व्यवन ।  
 १३-१४ एकाम्त्रभक्ति से प्रियुषातीत भवस्था की तिर्दि और फिर तम मोक्ष के  
 घम के एवं तुम के अभित्तम स्थान परमेश्वर की प्राप्ति ।

### तत्त्वादी अथवा – पुरुषास्तमयाग

१-२ अस्त्वत्यस्पी व्याप्तास के वेडाक और सास्योद्दृष्ट व्यवन का मेल । ३-४  
 अलङ्क से इत्यन्तो भट दाढ़ा ही उत्तमे परे के भव्यत्त पद की प्राप्ति का माग है ।  
 अस्वय पदव्यवन । ५-६ बीब और छिक्काहीर का स्वरूप एवं तम्भन् । इनी के  
 स्त्री गोचर है । ७-८६ परमेश्वर की सर्वायापकता । ९-१० भराभरस्त्राण उत्तरे  
 पर पुरुषोद्धम । ११-१२ इच्छ गुण पुरुषोद्धमश्वन से उक्तस्त्रा और इतहस्यता ।

### तत्त्वादी अथवा – वैद्यासुरस्यद्विभावयोग

१-२ दैवी सम्पति के छम्भीत गुण । ३ भासुरी सम्पति के छम्य । ४ दैवी  
 सम्पति मोक्षप्रा और भासुरी क्षमन्त्रारक है । ५-६ भासुरी क्षेत्र का विस्तृत

भार माथे। २ -३६ परमधर सब का एक-सा है। दुराचारी ही या पापपानि वही ही या दैर्घ्य या शुद्ध निर्धीम भक्त हाने पर सब को एक ही गति मिलती है। ३४ यही माग अद्वीकार करने के लिये भक्तुन का उपशम्भु।

## प्रस्तरी अध्याय – विभूतियाग

१-३ यह जन लग से पाप का नाश हाना हि दि अम्मा परमेश्वर "यतोऽभी  
आर कपिया स भी एव का है । ४-५ इत्थरी विभूति और याग । इत्थर स ही बुद्धि  
भावि याकी की सपरियों की ओर मनु की एव परम्परा मे सप की उत्तराति । ७-९  
इत जननशाल मगद्धना का श्वानप्राप्ति परम्पु उह भी बुद्धि विद्धि मगाने ही  
हैन ह । १०-११ भारती विभूति और याग जनान क विषय भगवान मे भगुन की  
प्राप्ति । १२-१३ मगान की भनन्त विभूतिया मे स मूर्य मुस्य विभूतियों का  
दधन । १४ गुण पुष्टि विभूतिमत भीमन् और ऊँटिन ह वह तब परमभरी  
हैन ह पन्नु रथ स ह

## म्याटर्याँ अप्याय – विभवस्पृशनयाम

१-४ पुर्व अ याय म स्वामान हप हस्तन इमरी द्वय का भेदमे दिय म्हासान  
त प्राप्ता। २-५ भाष्यकारक और शिष्य द्वय का हस्तन के दिय भजन  
का विषयदिग्नि ३-६ विषयद्वय का सहजपूत वष्टन। ४-५ विषय और  
मद म जन हासर भाष्यकृत विषयगुणि और यह प्राप्तना वि प्रश्नम हासर  
विषय वि भाव 'न' ६-७ पर्वे यह द्वय कर वि म याय है  
वि रुन का उग्रह उन्न उन्न उपर्यु वि पृथ ग दी एव काल क यास द्वय  
एव विविच द्वय कर यारो। ८-९ अन्नहन गुणि धमा प्राप्तना  
भाव यह वा याय द्वय विविच दिय विनय १०-१ ज्ञा भज्यमनि के  
दिव्य एव यज्ञ विज्ञा दुष्म रै। विर पृथम्यवधारन ११-१२ ज्ञा ज्ञि दिय  
विषय वा यान 'राजी' का एव नदी हा नहन १३ भा ज्ञि एवि १४  
विषय एव ज्ञि याक यामपरागाद्वृद एवा व्य व्य व्य एव दिय मे राज  
"द याक ए भाष्य उपर्यु

ભારતી અધ્યાય - મનિષાગ

५ अपावृणु भूम्याद्य त्रिष्ठा पर मन्त्रवृषभम् - एव  
भूम्याद्य त्रिष्ठा पर वृषभम् । ६ इति पर्वते एव रुद्रो एव मन्त्राः  
त्रिष्ठाद्य त्रिष्ठाद्य त्रिष्ठाद्य त्रिष्ठाद्य त्रिष्ठाद्य त्रिष्ठाद्य । मन्त्रवृषभ  
वृषभम् वृषभम् वृषभम् वृषभम् वृषभम् । ७ जगत् में विन व  
विन व । विन व विन व विन व विन व । ८ इति वृषभम् वृषभ  
वृषभम् । ९ इति वृषभम् । १० विन व विन व । ११ विन व  
विन व । १२ इति वृषभम् ।

उपरेक्षा कि इस गुण का समझ कर फिर वो टिक्क म आवे सी कर । ६४-६५ मात्रपरं  
अब यह भनितम आशासन कि उब भर्म छाई कर मेरी उरण म भा । उब पापों  
से मुक्त कर देंगा । ६०-६१ कर्मयोगमार्ग की परम्परा वह आग प्रचलित रखने का  
भव । ७ ७१ उसका फलमाहस्तम्य । ७२ ७३ कर्तव्यमोह नष्ट हो कर अर्जुन की  
मुठ फरने के लिख देयारी । ७४-७८ पुरुषाङ् को यह कथा सुना जुने पर उड़वहठ  
उपसहार ।

---

क्षम। उनके जन्म क्षम म अधोगति मिली है। २१, २ नरक के विविध  
द्वारा - काम द्वारा और ज्ञेय। नन्से जन्मने म क्षम्यात है। ३ ४ शाश्वानुषार  
क्षम्यात्म्य का निषय और भावरण करने के विषय म उपर्युक्त।

### संश्लिष्ट अध्याय - अद्वात्रयविमामयोग

१-८ भक्तुन के पुज्जने पर प्रहृतिस्वभावानुप सात्त्विक भावि विविध भड़ा  
का वर्णन। ऐसी भड़ा बेता पुरुष। १ नन्से भिष्म आमुर। ३-१ सात्त्विक  
रात्रम और तामस आहार। ११-११ विविध यज्ञ। १४-१५ तप के तीन मेड -  
शारीर वात्तिक और मानस। १३-१४ नम सात्त्विक भावि मेता से प्रत्येक विविध  
है। १५-१६ सात्त्विक भावि विविध इन। १६-१७ तप्तुत व्रात्तिर्विष। १८-१९  
नम २० से भारमम्मन्त्र क तत् मे निषाम और 'मन से प्रदृशम कम का  
समावेश होता है। ८ शेष ( अपात्र असन ) अहलोक और परम्पर म निषाप्त है।

### अनुग्रहकां अध्याय - मोक्षसंस्थापयोग

१-२ भक्तुन के पुज्जने पर सम्बास भार त्याग की क्षम्यात्मागान्लगत  
स्थापनाएँ। ३-५ क्षम का त्याग्य अत्याचारविषयक निषय यज्ञकाग भावि कर्मों को  
मी अन्याय कर्मों के समान निःसंहारुदि से करना ही चाहिये। ३-९ क्षम्यात्म  
के तीन मेड - वात्तिक, रात्रम और तामस। फलाशा छोड़ कर क्षम्यात्म करना ही  
वात्तिक त्याग है। ३ ११ क्षम्यात्मवागी है। क्षमाकि क्षम तो किसी से मी दृढ़ ही  
नहीं सकता। ३ क्षम का विविध फल सात्त्विक स्थागी पुरुष को क्षम्य नहीं होता।  
११-१५ दोन मी क्षम हस्ते क पौर्ण वारप है। कैसम मनुप्त ही वारप नहीं है।  
१६-१७ अवशेष यह अहृत्तारुदि - किंमि करता है - दृढ़ शब्द से क्षम करने पर  
मी अस्तित्व रहता है। १८ १ कम्बोद्धा भार क्षम्यात्म का यात्म्यात्म स्थान और  
उनके तीन मेड। १-२ लात्तिक भावि गुण मेड स अन के तीन मेड। अविनव  
विमत्तेषु पहुँचाविक ज्ञान है। २३-४ क्षम की विविधता। फलाशारहित क्षम  
वात्तिक है। ६-२८ क्षम के तीन मेड। निःनह क्षमा सात्त्विक है। ६-३२ शुद्धि  
के तीन मेड। ३३-३ शृति क तीन मेड। ३५-३ मुख के तीन मेड। आमुरुदि  
प्रसाद वात्तिक मुख है। ४ गुणमेड से मारे गए क्षम के तीन मेड। ४-४४ गुणमेड  
ने आनुवायक की उपपत्ति। लाल्लण धर्मिय वृद्ध और दृढ़ के भवानवाय क्षम।  
४५-४६ परम्पराविहित व्यव्याचरण स ही अनिम लिडि। ४७-४ परम्परा  
मयात्म है। व्यव्याचरण से पर मी अन्याय है। गार क्षम म्यमन के भवानार  
विभृत्तुदि क द्वारा करने से ही लिडि लिन प्राचर मिली है। ५०-५१ इनी याग  
की लौलार करने के विषय म भक्तुन की उपर्युक्त। ५-५३ प्रहृतिप्रम क नामन  
भद्रार की पक नहीं चली। इतर की ही याग मे गना चाहिय। भक्तुन का यह  
गीर १

सञ्चय उचाच ।

६६ पृष्ठा तु पाण्डवानीकं द्युर्दुष्योधनस्तदा ।  
 आचायमुपसम्भव्य एजा वज्जनमवर्यात् ॥ २ ॥  
 पल्लितो पाण्डुपुत्राणामाचार्यं माहतीं चमूस ।  
 द्यूर्दुष्यपृष्ठज्ञ तथ शिव्यं धीमता ॥ ३ ॥  
 अत्र द्यूर्दुष्य मोहिष्यासा भीमागुणसमा युधि ।  
 युधिष्ठितो विराटव्य द्यूर्दुष्य महारथः ॥ ४ ॥  
 द्यूर्दुष्येकितानः काशिराजव्य वीर्यवान् ।  
 पुरुजिकुन्तिमोक्षव्य शीलव्य नरपुणवा ॥ ५ ॥  
 युधिष्ठित्युद्य विकान्त उत्तमोजाव्य वीयवान् ।  
 संभवा दीपवेयाव्य लर्द्य एव महारथः ॥ ६ ॥

मैयान को इस से वे कष्टपूर्व छोड़ा करता था । अतएव नमको लेन (वा देन) कहते हैं । अब इन्होंने कुछ को यह बरतान दिया कि इस लेन में लेग सप करते करते पा मुद मेर आंखें, उन्ह सर्व की प्राप्ति होगी । तब उन्हें इन लेन मेर हठ चम्पना छोड़ दिया (म भा शस्य ७३) । इन्ह के उत्तरान के अन्तर्य ही वह लेन चम्पेन या पुम्पसेन कहलाने थे । नह मैयान के विषय में यह कथा ग्रन्थित है कि वहाँ पर परम्परान ने एकीकृत कर तभी दूषी भी निःमतिय करके फिरूर्पण किया था और अर्थात् उस में मी नसी लेन पर वही वही बद्धार्थो हो सकती है । ]

सुदूरप ने कहा — (२) उस समय पाण्डवा की देना को भूह रख कर (मारी) देन राजा त्रुतोफन (त्रीण) आचाय के पास गवा और उनसे कहने लगा कि—  
 [ महाभारत (म भा भी १-४-३ मल. ७ १ १) के उन अप्यार्थी म — कि ऐ गीता से पहले लिये गये हैं — यह वज्जत है कि जल छोड़ा भी देना का भीष्य द्वारा रखा राजा भूह पाण्डवा ने देया; और जल उनक्य भासी देना कम भीष्य पर्य तब उन्हाने युद्धविदा के अनुसार जल भूह रखकर अपनी देना वर्णी की । युद्ध मेर प्रतिभिन्न ये द्यूर्दुष्य काव्य करते थे । ]

(३) ह आचाय ! पाण्डुपुत्रा की इस वर्णी देना को समिये कि उन्हकी द्यूर्दुष्यस्तु दुर्भारे त्रुटिमान विष्य द्यूर्दुष्य (द्यूर्दुष्य) ने की है । (४) इनमे द्यूर्दुष्यहात्याकुर्त भीर कुड म भीम गवा अनुनन्दीये पुम्पान (सास्यकि) विराट और महारथो द्यूर्दुष्य (५) द्यूर्दुष्य विद्यान भार वीष्यवान् कागिराव्य पुरविन् त्रुटिमेव और नरभेद र्यव्य (६) इसी प्रकार परात्मी युधामन्यु भीर वीष्यमार्दी द्यूर्दुष्य

# श्रीमद्भगवद्गीता

प्रथमोऽच्याय ।

२०३५ उर्मा ।

प्रथमोऽच्याय  
मामजां पात्रदण्डाधिकं हिमदृग्म भद्रमय ॥ १ ॥

पहला अच्याय

अयमेतु च स्वेतु यथाभागश्च मस्तिष्ठाः ।

भीष्ममेवाभिरक्षन्तु मवन्तः सर्वं प्य हि ॥ ११ ॥

कहा है कि मेरी सेना बड़ी और शुश्रावान है। "सलिये चीत मरी ही होगी" (उ ४ ६ -७)। इसी प्रकार भाग पाल कर भीष्मपत्र म (किस समय द्वेषाचार्य के पास तुर्योष्णन छिले सेना का बणन कर रहा था उस समय मी) गीता के उपर्युक्त भोक्तों के उमान ही भोक्त उसने भपते मूँह से प्या के स्पा रहे हैं (भीष्म ७ ४-५)। और तीसरी शात यह है कि सब सिनिका का प्रस्तुताद्वित उठने के सिये ही हर्षपूर्वक यह बणन किया गया है। "न तत्र शत्रु का विचार उठने से न्स स्थान पर अपर्याप्त शम्भु का अमर्यादित अपार या अगाधित" के सिवा और कोई अथ ही हो नहीं सकता। 'पयास शम्भु का भास्तर्य रहूँ भोर (परि) उठने करने योग्य (भाष्ट=प्राप्ते) है। परन्तु 'अमुक जाम के लिये पयास या अमुक मनुष्य के सिये पयास रुच प्रकार पयास शम्भु के पीछे चतुर्पी अथ के दूसरे शम्भु बोह कर प्रदोग करने से 'पयास शम्भु का अथ भर्य हो जाता है— उस जाम के सिये या मनुष्य के लिये भर्पूर भगवा समय। आर यहि 'पयास के पीछे का' दूसरा शम्भु न रखा ज्यो तो कैवल 'पयात' शम्भु का अथ हाता है भर्पूर, परिमित या कित्ती की वा उक्ती है। प्रस्तुत भोक्त में 'पयास शम्भु के पीछे दूसरा शम्भु नहीं है। इत्तिय यहाँ पर उत्तरा उपर्युक्त दूसरा अथ (परिमित या मध्यात्म) कियचित है; लीर माहा मारह के अतिरिक्त अन्यत्र भी ऐसे प्रदोग किये जाने के उत्तराहरण व्रद्धानन्दगिरी इत टीका में दिये गये हैं। कुछ लोगों ने यह उपर्याप्ति अनमर्द है जि तुष्टोपन मद से अपनी सेना को अपयास अपात कर नहीं करता है। परन्तु यह विक नहीं है। क्याकि तुष्टोपन के द्वारा जान का बणन कर्ता या नहीं मिलता। मिन्तु इसके विपरीत यह बणन पाया जाता है कि तुष्टोपन की बड़ी मारी सेना का दग्ध कर पायाका न दग्ध नामन र्घुह रखा; और बोरखा की अपार सेना शेरे मुष्पिरि का बहुत यह रखा था (मा भौम ७ ६ शीर २३ ३); पायाकी सेना का भनायति दृष्टुप्राप्त था। परन्तु भैम रभा कर रहा है यहो वा बारण यह है कि पहल इन पायाका ने यह दग्ध नाम का घट्द रखा था। उसकी रभा के लिये इस घृह के अप्रभाग में भैम ही नियुक्त किया गया था। भनेष्व भनाराख की दृष्टि न दृष्टापन का बड़ी सामन दियाइ है रहा था। (मा भौम ८-१ २३ ३८) तिर इसी अथ में इन भावा लाभों के लिये न मान्यता भी न दारा के अप्याया में भन्नन र्हीर भैमन १८ १८-

(१९) (ग १) लिखन १ । लार स । यना स- १४ । भना । लिख

अस्माकं तु विशिष्टा य ताजिषाप द्विजात्म ।  
 नायका मम सैन्यस्य संक्षार्थं तान्त्रवीमि त ॥ ७ ॥  
 भवान्मीष्माप्य कण्ठम् हृष्यत्वं समितित्तजय ।  
 अभ्यन्यामा विकर्णस्त्रं सौमदत्तिस्तर्पय च ॥ ८ ॥  
 अन्य च बहुवा द्युष मवये स्यज्ञजीविता ।  
 मानाशास्त्रभद्रणा सर्वे युद्धविनारक्षा ॥ ९ ॥  
 अपर्यांतं तास्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।  
 पर्यांतं त्विद्मतपौ बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ १० ॥

एव मुमद्रा च पुत्र ( भविमस्यु ) तथा द्रोपर्णी च ( पॉच ) पुत्र – य उभी महारथी हैं ।

[ इस हज़र अनुधारी घोड़ाओं के साथ अलेख सुदृढ़ करनेवाले का महारथी भवत है । इन और भी नेताओं में जा रखी महारथी अभ्यक्ता अतिरिक्ती थे । उनका वर्णन उन्नायाप्त ( १४ सं १७ तक ) में भारत अध्यार्थी में किया गया है । वहाँ कलम्य किया है कि वृद्धेनु विशुद्धाम का वेद्य था । इसी प्रकार पुष्टिकृत हुलिम्पात्र ये ए मिष्ठ मिष्ठ पुष्टी का नाम नहीं है । इस कुन्तिमोष राजा की उन्नी गाँ भी यह भी पुष्टिकृत हुलिम्पात्र भौतिक पुत्र वा भीर भवुन का मामा था । ( म. म. ३, १३१ ८ ) । यद्यमन्य भीर उन्नीश दोनों पाक्षास्य थे भीर चवित्राम एव यात्रा था । युष्मामन्यु भारत उन्नीश दोनों भवुन के अवरुद्ध थे । दोन्ही गाँ एव का राजा था । ]

(७) ह दिवधृ ! भव इमारी भार मेना के इस मुम्प्य मुम्प्य नायक है उनके नाम भी मैं भावध मुनाका है व्याप्त ह कर मुनिये । (८) भाप भीर भीष्म कण भौत रणकृत हृष्य क्षम्यामा भौत विकण ( तुष्योभन के बाह्य मार्गमा म से एक ) तथा यामन का पुत्र ( नूरेभवा ) । (९) इस इनके विवाह द्वातुर अस्पात्य घर मेरे दिव ध्राप्त देने का तातार ह भौत कम्भी नाना प्रकार के द्वातुर विकण जै नियुक्त तथा कुदू मेरीग है । (१०) इस प्रकार इमारी यह तना – दिनर्धी रुधा व्यव भौष्म कर रह है – भावयात भर्गान् भवरिमिया या भववाभित है । किन्तु उन ( पाण्डवी ) भी यह तना – दिनर्धी रुधा भीम कर रहा है – पक्षाद भवात परिमित वा व्याप्तिन है ।

[ इस कोण म 'पक्षात भीर भवयाम शुभ्यी' के भय के दिम्म मैं मनु भू है । 'पक्षात वा नामास्य अथ एव या वापी इत्या है । इसप्रिये बुद्ध तेजों पर भर्य वास्तु है कि राज्यको भी तेजा काढ़ी है; भौत इमारी वापी नहीं है । भन्तु यह भय दीद नहीं है । एहम उन्नायाप्त मैं बृन्दावन त भासी तेजों के द्वातु वरत लक्ष्म उन मुम्प्य मैन्यरतिवां के नाम व्याप्त वर तुष्योभन वे

अनन्तविभयं राजा कुन्तीपुत्रा युधिष्ठिर ।

नकुरं सहस्रदद्य सुषोपमजिपुण्डका ॥ १६ ॥

काश्याद्य परमप्वास दिल्लण्डी च महारथा ।

घृष्णुम्भो विराटद्य सात्यकिभापराजिता ॥ १७ ॥

तृपत्रो द्वौपवयाद्य भवेदा पूर्खिकीपते

साभव्रद्य महावाहुः शंखानु वृथुः पृथक् पृथक् ॥ १८ ॥

स धांपा भार्तरात्राणी वृथानि वृथारथत

समद्य पूर्खिकी र्वेद तुमुलो व्यनुवादमन्त ॥ १९ ॥

५५ अथ अवस्थितान्वृत्वा भार्तरात्रान्विभजा ।

प्रभूसे शास्त्रप्रम्यात भनुरुपम्य पाण्डव ॥ २० ॥

कृपीकेशं तत्त्वा वाक्यमित्रमाह भवीपत

अर्हुन लब्धात् ।

सनयारुमयार्मध्य रथं स्थापय मंडस्तुत ॥ २१ ॥

यावदेताविभिर्हात्मं योद्युक्तामालवस्थिताम् ।

किर्मया तह यात्रात्ममस्मिन् रथमस्तुयम् ॥ २२ ॥

यास्यमानामवेशात्मं च एतेऽप्य समागता ।

भार्तराप्रस्प द्वुर्द्युर्द्युम्भे प्रियचिकीर्वदः ॥ २३ ॥

दृष्टा । ( १ ) कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्तविभय नकुर और उहत्व ने सुपौप एव मणिपुण्डक ( २ ) महाबनुर्वर काशिराज महारथी विप्राण्डी विराट लघा वृथम् सात्यकि ( ३ ) ब्रह्म और द्वौपती के ( पॉचो ) भेते, तत्त्वा महावाहु तीम्भ ( त्रिभिर्मु ) न सब न है राजा ( वृतरात्रु ) ! चारा और भवने अपने भ्रमा शङ्क वृथये । ( ४ ) आत्मा और वृथिकी को वृहस्प देनेवाली इत्युग्र आत्मा ने कौरवा का कर्त्तव्य फाँट दाय ।

( ५ ) अनन्तर भीरवा को वृथत्वा से नहीं ऐप परम्पर एक दूर्घारे पर शब्दमहार हनो का उमय भाने पर करिष्यत् पाण्डव अर्थात् अर्हुन ( २१ ) है राजा वृतरात्रु ! भीरुष्म से ये शक्त वौष्म - अर्हुन ने कहा :- है अस्तुत ! मेय रथ शर्ती सेनाभा क भीष से बच कर रथा करो ( २२ ) अर्हुन मे युद्ध की इच्छा से उत्तरार दृष्ट न खंगा का मे अवध्येकन करता हूँ, और मुझे इस रथर्वशम मैं किनक लाय उठना है पव ( २३ ) बुद्ध म दुर्बिदि दुर्योक्त का वस्यात् करने की

६६ तस्य सज्जमयन्दर्पि कुल्लूदः पितामहः ।  
 सिंहनार्दि यिनधार्षी दीर्घं वृष्मा प्रतापवान् ॥ २२ ॥  
 तदा दीर्घाभ्य भयव्य पण्डानकगोमुस्ताः ।  
 सहस्रिवाम्यहन्यन्त स शब्दसुमुसाऽभवत ॥ २३ ॥  
 ततः श्वेतर्हयियुक्त महति स्पन्दने स्थिती ।  
 माधवः पाण्डवविद्व शिष्या दीर्घं प्रदृशतुः ॥ २४ ॥  
 पाण्डवजन्व तुषीकृतो ददृशत चन्द्रजय ।  
 पीण्ड्रै वृष्मी महादीर्घं भीमकमा तृकोदर ॥ २५ ॥

मिस प्रेषणात म— इह कर तुम लड़ का मिस करके मीप्प भी ही सभी और से रखा करनी चाहिये ।

[ ननापति मीप्प स्वयं पराकर्मी भीर किंचि स मी हार गानवाखे न थे ।  
 कम्पी भार मे सब को उनकी रखा करनी चाहिये इस कथन का कारण  
 शुद्धार्थन दूसर रथम पर (म.मा भी १६; — १८ ४३) यह प्रत्यक्षया  
 है कि मीप्प का निर्धय वा कि हम गिरगानी पर शब्द न चलायेंगे । इसलिये  
 गिरगानी की भार के मीप्प का पात्र हान भी तम्मावना थी । अतएव सब  
 का लावण्यानी राम्भी पात्रिय ।

भरहृष्यमाण हि तुको दन्यान् मिंहै महावरम् ।  
 मा सिंह जम्हुरनेत्र भावपथाः शिग्धिका ॥

महावरमान तिह भी रखा न कर, तो भैरव्या उस मार जालेगा इनमिये  
 दक्षुक लट्ठा गिरगानी स मिह का यात न हान दा । ” गिरगानी का दीर्घं भीर  
 दूसर किंचि की भी गर्व दूसर दूसर के शिष्य मीप्प भरने ही तम्मप थ । किंचि भी  
 नहायता भी उन्ह भरना न थी । ]

(१) (इनमें) दूषोपन वा हायन एव प्रशापगानी शृङ्खल भारव विलम्बद  
 (ननापति मीप्प) ने तिह भी दीर्घी दशी दमना भर (हायन भी मालानी के लिये)  
 भरना शब्द वृण । (२) इन जाप ही भरने द्यात भी (मीरा) पद्मप  
 भानक भार याया (ये दमार व दार) एवम् दमने द्या तर इन जाप  
 का नाइ वारा भार भव र्द्यु उदा (३) अमम्बर मर्द याही भी ने एव  
 एव रथ मे द्ये एव मापद (भीराज) भार यायव (भान) ने (यह गृन्नना  
 भरने के लिये— कि भरने पश्च भी लेगायी है— श्रुत्वा व न्य पर) शिष्य शब्द  
 लाप । (४) हृषीकेष अपन भीराज न शब्दन्य (नाम गार) दान न  
 है व एव एव दम भरने व दमार दान भीराज ने एव शब्द द्या शब्द

भीप्रदाणप्रमुगत स्वेषी च महीक्षिताम ।  
उपाच पार्थ पर्यतान्समयतान्कुरनिति ॥ २५ ॥  
तथापद्यस्थितान्पाथ पितृनप पितामदाम ।  
आचार्यान्मातुलाभ्यातुनुप्राप्तीप्रान्मवीस्तथा ॥ २६ ॥  
अप्युपान्सुद्विव समयोहमयारपि ।  
तान्मीक्ष्य स कोस्तय सप्ताम्बूष्मयस्थिताम ॥ २७ ॥  
कृपया परत्याविष्टा विपीङ्गितमवदीत ।

अर्तुन उपाच ।

६ ॥ एष्यम् स्यग्नं कृप्य युपुस्तुं समुपस्थितम् ॥ २८ ॥

सीक्षिति मम गाप्ताणि मुखं च परिषुप्त्वा ।  
वेष्युम्ब शरीर म रामहपम्ब जायत ॥ २९ ॥  
माण्डीव रास्तस इस्तास्थक्षिय परिषुद्धत ।  
म च शक्तोम्बवस्थातुं ऋमतीय च म मनः ॥ ३० ॥  
मिमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि कृपय ।  
म च भेषाऽनुपस्थामि हत्या स्वद्वन्माहय ॥ ३१ ॥

| नाम अन्यत्र रुद हो गय है उनकी निष्क्रिया अत्यन्ते मैं "स प्रकार की अद्वितीया  
| का आना या मरतेह हा आना मिस्तुल सहब बात है । ]

(१) मीष्म द्रोष तथा सब राष्ट्रओं के सामने (२) बाले कि अद्वितीय हैं प्रकृति तु प्र इन औरको को देती है । (२६) वह अद्वितीय हो दियाह दिवा कि वहाँ पर अकह एव सब (अपने ही) पर छूटे आच भाषाय मामा मार देते, नारी मिल (२७) समूर और मन्ही देना ही देनामा मैं है । (और इस प्रकार) यह देख कर — कि के सभी प्रकृति हमारे जाभव है — कुन्तीपुत्र अद्वितीय (२८) परम कृष्ण से ज्यास होला हूठा दियम हो कर यह बहने स्वगा ।—

अद्वित न कहा — हे कृष्ण शुद्ध करने की इच्छा है (पहों) क्षमा तु प्र अन खक्का को भग कर (२) मेरे गाल दियित हो रहे हैं मह एव रहा है भरीर मैं कैरवेंसी उठ कर रोप भी रक्ष हो गये है (३) गाण्डीव (पतुप्य) इष्य से गिर पड़ा है भार भरीर मैं मी सर्वत नह हो रहा है एवा नहीं रहा आठा और मेरा मन चक्कर सा रवा गया है । (११) इच्छी प्रकार है कृष्ण ! (मुझे सब) खक्का विपरीत दियत है और खक्का को युद्ध म मार कर भेद अपात

सञ्चय उक्ताच ।

पश्चमुक्तो हृषीकेश गुडाकशन भारत ।

संतयामभयामस्य स्थापयित्वा रथोपत्तम ॥ २४ ॥

इस्त्रा ने वहाँ जो छठनेवास कमा हुए हैं उन्हमें ऐसे वर्णे । सबूत भोजा - ( २४ ) हैं पूरतारु ! गुडाकशन भयान् आस्त्रस्य का चीतवनाथ अनुन के इस प्रसार करने पर हृषीकेश भयान् निरिषों क स्वामी भीहण ने ( अकुल के ) उत्तम रथ का दाना मेनाओं क मध्यमध्य म सा बर रथा कर दिया और -

[ हृषीकेश और गुडाकशन द्वारा क जो भय उत्तर दिये गये हैं क यहाँ कारी क मतानुसार है । नारदपञ्चरात्र म मी 'हृषीकेश' की यह निश्चिक है कि हृषीक = 'निरिषों भार उनका इष = स्वामी ( जा पत्त्व ८ ८ १७ ) । और अमरतोष पर धीरस्वामी की वायीसा है उसमें दिया है कि हृषीक ( भयान् निरिषों ) शम्भु हृष्ट = भानन्द देना 'म भानु से ज्ञान है । 'निरिषों मनुष्य की भानन्द देती है । 'न्सलिय उन्ह हृषीक वहन है । तथापि यह शहा होती है कि हृषीकम भीर गुणांश्य का यह भय उत्तर दिया गया है कह दीक है या नहीं ? स्पोर्नि हृषीक ( भयान् निरिषों ) और गुणामा ( भीर निर्दा या भास्त्रम् ) से गम्भ प्रबल्लिन नहीं है । हृषीकेश और गुडाकशन दानों दण्डों की पुष्पति पूर्णी रूपि से भी व्या समनी है । हृषीक + इष भीर गुणामा + इष क वहमै दृष्टि + केष और गुणा + केष देना भी पर्यट्टेऽ किया जा सकता है भार निर यह भय ही नहना है कि हृषी भयान् हृष्ट ते गहे दिय हुए या प्रशम्न दिनके केष ( तन ) है वह भीहण भीर गुडा भयान् गृह या फन दिनों कह है वह दानुन । भारत क द्वीपासार नीचकम्बु ने गुडाकशन द्वारा यह भय दीना । पर भारती रीति मैं दिल्ली मे न जित दिया है । भीर दृष्ट क व्याप का या हामेष्य नाम है उम्म दृष्टिका शुद्ध की उत्तिगति दृष्टी पुष्पति का भी भयान्मनीय नहीं वह नहन महाभारत व गानिरवासन्तवत्त नारायणीयोपारायन मैं दिल्ली व नुग्य मूर्य नामों की निश्चिक भैर इष यह भय दिया है कि हृषी क्षयान् भानन्दशयक भीर वह भयान् दिल्ला । भीर वहा है कि शृण्वन्तरूप अन्नी दिल्लियों की दिल्ली से नम्म ज्ञान का दृष्टित वहना है इन्द्रिय उन हृष्ट क्षय वहन है ( यानि ४४ ४३ और ४४५ ४४ ६ ४५ उगा ६ .. ) । भीर दृष्ट व्याप म क्षय रहा है कि हृषी प्रसार दृष्ट य भी देन भयान् दिल्ल दृष्ट न ज्ञा है ( या ६४५ ४३ ) इसे वार भी भय ज्ञा न त है पर भीहण भीर भ न क्षय नाम है । दृष्ट वहना भग्न म याप व्यरम दृष्ट य जा हौं वहा दिल्ल यह दार देवनिष्ठ क्षय नहीं है । या व्यानिरवासन या दिल्लेर

हु हु यद्यप्यस न पश्यन्ति लाभापहृतचेतसा ।

कुरुत्वम्यहृतं दोषं मिश्रद्वाह च पातकम् ॥ ४८ ॥

कर्य न हयमस्माभिं पापाद्यस्माभिस्वर्तितुम् ।

कुरुत्वापहृतं दार्यं प्रपश्यज्जिर्जनार्दिन ॥ ४९ ॥

कुरुत्वाप्य प्रणस्यन्ति कुलधर्मां सुनातना ।

धर्मे नहु कुरुत्वमभमोऽभिमवस्युत ॥ ५० ॥

(३८) सोम से जिनकी बुद्धि नष्ट हो गई है उन्हुए के सब से होनेवाला दोष और मिश्रद्वाह का पातक यद्यपि निष्ठाई नहीं देता (३) तथापि हें अनुर्ध्वे। कुरुत्वाप्य का दोष हम सद्य दीयन पढ़ रहा है। अतः उस पाप से परामर्शुप होने वाले हमारे मन में आवेदन किए रहेगी।

[प्रथम से ही यह प्रत्यक्ष हो जाने पर—कि युद्ध में गुरुभ्य उद्धार और कुरुत्वाप्य होगा—जडार्जसम्बन्धी अपने कृतव्य के क्षिप्रत में अकुरुतं को च्छ भासीहुमा उत्थाप क्षया थीद है? उत्ता म आगे प्रतिपादन है उत्तरं इस्ता स्वा सम्बन्ध ह? और उस दृष्टि से प्रथमाभ्याप्य का जीन सा महात्म ह?—इन सभी प्रश्नों का विचार गीतारहस्य के पहले और निर जौड़हर्व प्रकरण में हमने किया है उसे देखें। उस स्थान पर ऐसी साधारण सुक्षियों का उत्तेजन किया गया है। ऐसे लोम से बुद्धि नष्ट हो जाने के कारण बुद्धा को अपनी बुद्धता जान न पड़ी ही तो उत्तर पुरुषों के फूले में पढ़ कर बुद्ध न होना चाहिये— न पापे प्रतिपापाभ्याद्—उन्होंने बुप रहना चाहिये। उन साधारण सुक्षियों की ऐसे प्रकार पर कहीं तक उपयोग किया जा सकता है अथवा करना चाहिये। यह मीं उत्तर के समान ही एक महात्म का प्रभ है। और उसका गीता के अनुरूप उस उत्तर है उसका हमने गीतारहस्य के चारहर्व प्रकरण (पृष्ठ १९३-१९८) में निरूपण किया है। गीता के असङ्केतन्याया में च्छ किदेवन है जह अनुर्ध्वे की उन घटाओं की निश्चिति करने के किये हैं कि जो उसे पहले अन्याय में हुई थी। इस बात पर ध्यान दिये रहने से गीता का तात्पर्य समझने में किसी प्रकार का सम्पूर्ण नहीं रह जाता। भारतीय सुदूर न पक्ष ही राधू और भर्म के द्वेष्में में पूर्ण हो गई थी और के परम्पर मरने मारने पर उत्ताप हो गये थे। उसी कारण से उत्तर घटार्जस उत्पन्न हुई है। अर्द्धार्थीन उत्तित्वाम अर्द्धं जर्दों ऐसे प्रसाद आये हैं, अर्द्धों ऐसे ही प्रभ उपरिषद् हुए हैं। अस्तु भागे तुरुत्वाप्य से जो च्छ अनन्त होते हैं उन्हें अनुरुप सद्य कर करता है।]

(४) कुम का अव होने से उनादन कुछर्म नह होते हैं (उठ) अमों के

न कौश विजय कूलम न च राज्यं सुनानि च ।  
किं जो राज्येन गोविन्द किं मार्गीर्जितेन वा ॥ ३३ ॥

यपासये कौशित्रं मा राज्यं भागा सुनानि च ।  
त इमेऽवस्थिता युद्धं प्राणास्त्वपत्त्वा भनानि च ॥ ३४ ॥

भावाय पितरं पुत्रास्तयैष च पितामहा ।  
भातुष्ठा श्रद्धुरा पीढा श्याला सम्बिधनस्तथा ॥ ३५ ॥

एताज्ञ इत्तमिष्टुमि ज्ञाताऽपि मधुसूक्तम् ।  
अपि श्वलोक्यराज्यस्य इतोः किं नु महाकृत ॥ ३६ ॥

मिहस्य भातराप्राप्तं का प्रीति स्पाज्जलाइन ।  
पापमवाभ्यक्षमान्वर्तिताकात्मायिन् ॥ ३७ ॥

तस्माद्वाहा थय हन्तु भातराप्राप्त्वद्वान्पदान् ।  
स्वगतं हि कर्य हस्या सुमिनः स्पाम माधय ॥ ३८ ॥

कायण ( हाया एवा ) नहीं हीन पहला । ( ३ ) ह हाण । नु विषय की इच्छा नहीं न राज्य वाहिय भार न सुन दी । ह गाकिम । राज्य उपभोग शा भीषि रहने से ही इमें उनका क्या अपर्याप्त है । ( ३१ ) इनके लिये राज्य की उपभोगी । भीर तु तो की इच्छा करनी भी ऐ ही प स्वग गीव भार नमनि की आगा अर्थ ॥ युद्ध के लिय एव ॥ । ( ३८ ) भावाय दो यू त्तर स्वर दाया नामा भक्तुर नाने कासे भीर तम्भर्या । ( ३८ ) यद्यपि य ( इम ) मारने के लिय 'य है तपानि मनुष्टुन । वैद्यक्य के राज्य तद्वे के लिय भै ( इम ) मारने गी इच्छा नहीं वर्ता विर तृष्णी की दातु र क्षया वीड़ । ( ३९ ) ह अनान्म इन वर्तो भार वर हना कान-का ग्रिय हाया । यद्यपि य भावनार्थी है तो की इनका मारने ले इन प ही क्षया । ( ३० ) इनकिय इमें भरन ही ए-पर भावा का मारना उचित नहीं । हे माधय 'एव' । मारकर हम सुनी क्षयावर हाग ।

## संक्षेप उचाच

प्यमुक्त्वाऽर्जुन लंस्य रथोपस्थ उपादिश।  
विसूज्य सदार चार्प श्रपक्तसंविष्टमानसा ॥ ४७ ॥

इनि भीमद्वगवद्गीतानु उपनिषद्मु ब्रह्मविद्याया याकृष्णस्य भीमप्यादुनसदादे  
भक्तुनविषयादयोगे नाम प्रप्तमाद्याया ॥ ? ॥

( ४७ ) “स प्रकार रथभूमि में मापण कर, शांक से व्यवितृचित्त भर्जन ( इष वा )  
भनुप्य-आज स्पाग कर रथ म भपन भ्यान पर योही दैठ गवा ।

| वी पहचान क लिय प्रत्येक रथ पर एक प्रकार की विशेष भवा स्वी रहती थी ।  
| यह भाव प्रसिद्ध है दि भक्तुन की व्यवा पर प्रत्यक्ष हनुमान ही भूत दे ।

“स प्रकार भीमाकान् क गाये हुए — भयात् करे हुए — उपनिषद् मै तथा  
विद्यान्तर्गत योग — भयात् कर्मयोग — शास्त्रविद्ययक भीमप्य और भर्जन के सबाई  
म भक्तुनविषयादयोग नामक पहला अव्याक समाप्त हुआ ।

[ गीतारहस्य क पहले ( पृष्ठ १ ), तीसरे ( पृष्ठ १ ) और चारहों ( पृष्ठ  
१८१ ) प्रकरण मे “स उपस्थ का ऐसा भव किया गया है दि गीता म तेज  
ब्रह्मविद्या ही नही ह निन्तु उसमे ब्रह्मविद्या क आचार पर कर्मयोग का प्रतिपादन  
किया गया है । यद्यपि वह तद्यस्य महामारत म नही है परन्तु वह गीता पर  
सन्त्यासमार्थी दीका होन के पहले का हासा । क्याकि, सन्त्यासमार्थ का व्येत भी परिवर्त  
एका सद्व्यय न कियेगा । और इससे यह प्रकृत होता है की गीता म तस्यासमार्थ  
का प्रतिपादन नही है । निन्तु कर्मयोग का शास्त्र उपस्थ कर लकड़ रूप के  
विवरन है । उकाशमार्थ और शास्त्रीय पहलि का मैं रहस्य के चाहहों प्रकृत  
क भारम्भ मै उत्तराया गया है । ]

अभमाभिमयास्तुप्य प्रवृत्प्यन्ति कुरुत्विय ।  
 स्त्रीषु इष्टासु धार्येय जायत यथासाक्षर ॥ ८३ ॥  
 साक्षरो नरकार्येषु कुरुत्वानां कुरुत्व्य च ।  
 पतन्ति पितरा हर्षाणा लुमपिण्डोदककिञ्चा ॥ ८४ ॥  
 शार्परतैः कुरुत्वानां दण्डसाक्षरकारक ।  
 उत्साधनं जातिघमा शूलधर्माद्य शाभ्यता ॥ ८५ ॥  
 उत्सुध्य कुरुत्वानां मनुप्याणां जनाहम ।  
 नरक निवर्ते धासा भयतीत्यनुष्टुभ्य ॥ ८६ ॥

१६ अहा चत महस्यार्थ कर्तुं स्यमिता घयम् ।  
यद्राम्पसुवलाभम् हन्तुं स्यजग्नमुप्राणा ॥ ४७ ॥  
यवि मामप्रलीक्षरमदास्ते शश्यपाणयः ।  
भातराष्ट्रा रथ इन्द्रुमन्नम् क्षमतर्वं भयत ॥ ४८ ॥

मृत्यु म नमूदे कुप पर नम पी चाह आनी है। (८३) दे इण 'भगवं व  
किष्म न तुल्यदिवां विगड़ी है। ह शास्त्रोंम विद्या क लिए जन पर बणवार  
होता है। (८४) भीर बणवार होने स वह कुम्भानह वा भीर (नमम) कुप  
का निधन ही नरक मे स जाता है एव विग्नान भीर नरगारि विषाभा क लाभ  
हा अने स जन विशर भी पतन यस द। (८५) कुम्भानह के इन बणवार  
चारक शांति न पुरान शतिपथ भीर कुम्भम उत्तम होत है। (८६) भीर दे  
खाइन 'इम एका ज्ञन ना रह इ दि जिन मनुष्यों क कुम्भम विभिन्न रा  
जते हैं उनका निधन होता है।

( ८ ) इसी ता नहीं मम गाय सुन स्थिर न स्वरूपा का मारने के लिये  
उदा है इ ( नपद्मुष ) पह हमने पक बढ़ा पाए बरन जी शोरूपा है ? ' ( ९ )  
इसी भाषा में एवं अधिक व्याख्या ता इतनम होगा कि वे निष्ठाय ही बर प्रतिकार  
बरना आए तु ( भीरुष ) शुभसारी वारद सुन रण म सार हासु त बहा -

[ इन में गहरी बर्फ सुख कानव की प्राणी थी। भला रथ मैं भग्न  
साम पर दृष्टि इन घनी से परी भय भविष्य व्यक्त होता है विनिप्र  
हाँड़ के बाहर सुख कानव की उन इच्छान थीं महामारी में दुष्ट अप्यां  
पर इन रक्तों का गंगा राज है जब दैनिक व्यक्ति विभावनार्थीन रथ द्वाय  
मैं चढ़िया ॥ इन थ देहे देहे रथा म पार यार ए इन द्वाय; भृत्यार्थी दृष्टि  
कारी होका भग्न कानव लाल मैं दरमार दृष्टि दृष्टि भी भास्त्रार्थी मैं देहा थ। इन

गुरुनाश्वा हि महानुमाधाम अद्यो माकर्तुं भैश्चमपीह साक ।

इत्यार्थकामांसु गुरुनिहेव मुञ्जवीय भोगाम् सभिष्यविग्रान ॥ ५ ॥

न वित्तिष्ठा कलरसा गरीया यज्ञा जयम यदि वा ना जयेयु ।

यामव इत्या न जिजीविषामस्तेऽस्तिष्ठां प्रमुख भातराङ्ग ॥ ६ ॥

कार्यप्यदोषोपाहतस्वमाद् पुष्टामि त्वा भर्मसम्भूतेता ।

यस्त्रेय स्याद्विवितं ग्रहि तस्म जिज्यमतेऽहं जागि मां त्वा प्रपञ्चम ॥ ७ ॥

इस लाय मुद्र में बाणो से हैसे रुक्षेणा ! (६) महा मा गुरु खोगा को न मार कर उसके में मीरन मौग करक पेट पालना भी भेयस्कर है; परन्तु भयलेनुम (हा तो भी) गुरु खोगा को मार कर इसी उनके मैं सुनें उनके रक्त से सने त्रुट भौग भौगने पड़े।

[ गुरु खोगा इस वृद्धनाश्वत शब्द से कै-कुदो का ही अथ सेना चाहिये। क्योंकि, किन्तु सिएनेवादा गुरु एक द्रोणाचार्य को छाड़ देना मैं और अभी वृत्तय न या। मुद्र छिक्के के पहसु बब ऐसे गुरु खोगा - अपर्याप्त भीष्म द्रोष और शस्य - की पावनन्दना कर उनका आशीर्वाद सेने के लिये युधिष्ठिर रणाघाट म अपना क्षमत उतार कर नम्रता से उनके समीप गये तब यिष्ठसम्प्रदाय का उचित पासन करनेवाले युधिष्ठिर का अभिनन्दन कर तब ने इसका कारण अवधारा कि त्रुयोजन भी ओर से हम क्यों सौंपे ?

भर्मस्य पुष्टो दासो दासस्वर्थो न वस्पतिव ।

इति सत्य महाराज बद्धोऽस्यर्थेन कौरवे ॥ ८ ॥

चब तो पह ह कि मदुप्त अप का गुरुम है। अथ किमी का गुरुम नहीं। 'एक्षिये है युधिष्ठिर महाराज ! कौरवों ने मुझे अथ से ज्ञान दिया है' (म मा भी अ ४५ न्यो १८ ८ ०१)। ऊपर ये यह 'अवलोक्य शब्द है वह इसी स्वीक के अथ का चारक है। ]

(१) हम अब प्राप्त कर रा हमे (त्रुयोग) जीत से - इन दोनों जाती मैं भेयस्कर कीन हैं यह भी समझ नहीं पड़ता। किन्तु मार कर फिर जीतित रहने की अप्य नहीं त्रुयोग (युद्ध के लिये) सामने ढेटे हैं।

[ गरीम शब्द से ग्रहण होता है कि भ्रुन के मन मैं 'अधिकार लेयैं' के अभिन्न सुन्दर कुमान कम और अकम की उत्तुका गुग्ता ठहरने की वर्णीयी भी। पर वह इस जात का निषय नहीं कर रहता था कि उस वर्णीयी के भ्रुनार लिनकी जीत हाने मैं स्वाकर हैं। गीतारहस्य प्र ४ ८०/८-८४ देखा । ]

(२) दीनता से मेरी स्वाभाविक तृणि नह हो गा। (मुझे अपने) चमभवीत चतुर्म वा मन मैं सोह हा गवा है। इत्तिष्ठ मैं दुमसे पछाई है। ये निष्पत्ति के भेवस्कर

## द्वितीयोऽध्याय ।

मन्त्र द्वारा ।

ते तथा हृष्णायिष्टमभुपूर्णपूलक्षणम् ।  
विर्याद्वत्तमिदै शाक्यमुखाच्च मपुसृष्टन् ॥ १ ॥

भीमगाढ़ाद्वारा ।

सुतस्त्वा कञ्जलमिदै यिपम समुपस्थितम् ।  
अनार्यगुप्तमस्थार्यमर्हीर्तिरमशुन् ॥ २ ॥  
इत्यं मा स्म गमः पाठ्य मनस्यात्युपपद्यत ।  
शुद्रं दद्याद्वस्यै त्यक्त्वात्सिद्धि परन्तप ॥ ३ ॥

भद्रन् द्वारा ।

६६ कथे भीममर्दं भूत्य द्वार्त्त च मपुसृष्टन् ।  
शुभिः प्रतियात्म्यामि पृजादायरिष्टृहन् ॥ ४ ॥

## दूसरा अध्याय

मन्त्र ५ । - (१) इस प्रथा वर्णन में इस लार्गी में भार्तु भूर्तु  
ता (रिष्टृहन् तद्वा भूत्य भूत्यम् मपुसृष्टन् (भीमा)) यह ने - भै द्वारा  
ए (२) ह इन्द्र यह एस प्रथा द्वा ता (स्त्रीमे) यह मोह  
(भास्त्र) ॥ १ ॥ भास्त्रा यित्तादि भाय गमः त्यक्त्वात्सिद्धि भास्त्राद  
त्यक्त्वात्सिद्धि यित्तादि यह त्यक्त्वात्सिद्धि यह त्यक्त्वात्सिद्धि ॥ २ ॥ (३) है  
यह त्यक्त्वात्सिद्धि यह त्यक्त्वात्सिद्धि यह त्यक्त्वात्सिद्धि यह त्यक्त्वात्सिद्धि  
ए ॥ ३ ॥ एहाँ यह त्यक्त्वात्सिद्धि यह त्यक्त्वात्सिद्धि ॥ ४ ॥ यह ही  
त्यक्त्वात्सिद्धि यह त्यक्त्वात्सिद्धि यह त्यक्त्वात्सिद्धि ॥ ५ ॥ यह ही  
६ ॥ यह त्यक्त्वात्सिद्धि यह त्यक्त्वात्सिद्धि यह त्यक्त्वात्सिद्धि ॥ ७ ॥ यह ही  
७ ॥ यह त्यक्त्वात्सिद्धि यह त्यक्त्वात्सिद्धि यह त्यक्त्वात्सिद्धि ॥ ८ ॥ यह ही  
८ ॥ यह त्यक्त्वात्सिद्धि यह त्यक्त्वात्सिद्धि यह त्यक्त्वात्सिद्धि ॥ ९ ॥ यह ही  
९ ॥ यह त्यक्त्वात्सिद्धि यह त्यक्त्वात्सिद्धि यह त्यक्त्वात्सिद्धि ॥ १० ॥ यह ही  
१० ॥ यह त्यक्त्वात्सिद्धि यह त्यक्त्वात्सिद्धि यह त्यक्त्वात्सिद्धि ॥ ११ ॥ यह ही  
११ ॥ यह त्यक्त्वात्सिद्धि यह त्यक्त्वात्सिद्धि यह त्यक्त्वात्सिद्धि ॥ १२ ॥ यह ही  
१२ ॥ यह त्यक्त्वात्सिद्धि यह त्यक्त्वात्सिद्धि यह त्यक्त्वात्सिद्धि ॥ १३ ॥ यह ही  
१३ ॥ यह - (४) १४ ॥ १५ ॥ (तद्वा) १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥

श्रीभगवत्कुवाच ।

६६ अदाच्यानम्वशोचस्त्वं प्रक्षापादाद्य भाष्टे ।

गतास्त्वनगतास्त्वं नामुशोचन्ति पण्डितः ॥ ११ ॥

न त्वेवाह जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।

न च भव म भविष्यामः सर्वे वयमतप्तम् ॥ १२ ॥

[ सन्यासनिधि की ओर ही भवित श्री हुई थी । अतएव उठी मार्ग के तत्त्वज्ञन के पहले अर्जुन की भूमि उसे मुक्ता ही गा है और आगे ६ वें श्लोक से कमण्डग का मतिपादन करना भगवान् ने आरम्भ कर दिया है । शास्त्रमार्गदाते पुरुष इनके पश्चात् कम भय ही न फरते हों पर उनका ब्रह्मज्ञान और कर्मयोग का ब्रह्मज्ञन कुछ कुछ दुरा नहीं । तब साम्यनिधि के अनुसार देखने पर मी भावामा वर्ति अविनाशी और नित्य है तो फिर इनका म्याप है कि मैं भक्तु को कैसे मारूँ । ] “स प्रकार निर्वित उपहारपूर्वक अर्जुन से भगवान् का प्रश्नमन्त्यम् ।”

भीमवान् ने कहा :- ( ११ ) जिनका शोक न करना चाहिये त् उन्हीं का शोक कर रहा है भार जान की बात करता है । किसी के प्राण ( जाहे ) चारैं या ( जाहे ) रहे जानी पुरुष उनका शोक नहीं करते ।

[ “स श्लोक म यह कहा गया है कि पण्डित सोग प्राण के अने का रहने का शोक नहीं करते । “समं जाने का शोक करना तो मामस्मी बात है । उठने करने का उपेत्र भगवान् उचित है । पर गीकाकारों ने प्राण रहने का शोक देता और क्या करना चाहिये । यह शब्द करके बहुतकुछ चर्चा की है; और कई एकों ने कहा है कि मूल एवं भगवानी लोगों का प्राण रहना यह शोक का ही कारण है । किन्तु “उनीं जास की जास निकालते रहने की अपेक्षा शोक करना शोक का ही मूल था कुछ समाना अवदा परकाह करना ऐसा भावकृत नाय करने से कोई मी वर्जन रह नहीं जाती । पहाँ उनना ही बहुत है कि जानी परुष का जीना बात एक ही सी होती है । ” ]

( १२ ) देखो न यसा ता है ही नहीं कि मैं ( पहले ) कभी न था । त् भौर च राज्य स्वयं ( पहले ) न थे । भार यसा मी नहीं हो सकता कि हम सब स्त्रेर भव आगे न जाए ।

[ “स श्लोक पर रामानुज भाष्य में ये दीक्षा है उठने किया है:- इति श्लोक से देखा दिक्षा होता है कि ‘म अवश्य परमेश्वर और त् एव राज्य साग अवश्य अस्यान्य भाष्यमा यन्ता यहि पहले ( अतीतवास में ) थे और आग इनेवाऽह ता परमेश्वर और भाग्या दोनों ही वृक्ष स्त्रान् भौर नित्य है । किन्तु यह अदुमान यस नहीं है साम्राज्यिक भाग्यका ह । क्षाति त्

न हि प्रपद्ध्यामि ममापनुपादाऽ यस्ताक्षुष्णापणमिन्द्रियाणाम् ।  
अशाप्य मूमावसपलमूर्दे एवं सुराजामपि चाभिपत्पयम् ॥ ८ ॥

मञ्जुष्य उवाच ।

यज्ञमुक्त्या हृषीकेशं गुहाकगः परन्तप ।

म योस्त्य न्ति गाविन्द्रमुक्त्वा हृष्णो वमय ह ॥ ९ ॥

तमुशाख हृषीकेशं प्रह्लादिय मारत ।

स्वयासुमयामध्य यिष्ठेवन्तमिह वम ॥ १० ॥

ही वह मझे कथा हो । म तुम्हारा गिर्य हूँ । मह द्वारणागत का समझौय । (८) हृषीके शृण्डी का निष्पट्टक समृद्ध राज या ऐवनाभा (स्वग) ना भी आभिष्ठ मिल गय तथापि मूल एवा कुछ भी (साधन) नहीं नमर आका के गे इन्तिहा का मुख शास्त्रज्ञाम मेरे इस शाक का दूर कर । उच्छ्व ने कहा - ( ) इस प्रवार द्वास्त्रमाधी गुणहम्य अभाव भक्तुन ने हृषीकेश ( भीहृष्ण ) से एहा भार मेर न लाईगा कह कर वह चुप हा गया । ( ) ( चिर ) इ नरत ( सुरापु ) ' गना कनाभा क रीष विष हाकर के इष भक्तुन से भीहृष्ण कुड़ हृदने राज्ये गैत ।

[ एव और ता भविष्य का स्वरम भार दूरी भोर गुहहम्या एव तुम्भय  
| ने पातरों का मप - इन र्विषामानी मेर या मार - क लन्दने म पर वर  
| मिभा मीमले क लिंग लैवार हा अनेवाष अनुन वा भद्र भन्नान एव हयन मे  
| उत्तम कृष्ण कन्तप का उपर्युक्त हरत ह । भक्तुन वी जाना वी ति बल्ल एव एम  
| क भास्त्रा क कथाल न होग एमी उ लिं उत्तर पुर्णा न परदाव की जन  
| प्राप वर भम्मे भास्त्रा का दुष कम्याण कर लिजा ह व एम इमिषा म ईना  
| ज्ञान वरत ह । यही म गीता के उत्तर्य का भास्त्रम्भ हआ ह । ज्ञान वरत ह  
| कि ज्ञान वी वास्त्र-वास्त्र क परम्परे म वीष पक्षा ह कि भास्त्रनी पुर्णी ते  
| वीक्ष लिनाने क भन्नादिसाक्ष इ माग वर आ रह है । गीता ३ ३ और उत्तर  
| प्र. इत्या । भास्त्रन भास्त्रद्व वरत पर शुक्लरीगे पुर्ण ज्ञान एव कर  
| भानन्द तु लिजा मानन विरत ह ता इत्तमर्हिय दूर भास्त्रनी ज्ञन क पथान  
| एव स्वप्नमामुक्त लागे क वराजाय ज्ञान क लवद्व विमहारा न रस्ता नदय  
| एवाया वरत ह । पहम प्राप वा तप्तप या ज्ञानप्रिया वरत है भर दूर  
| ज्ञानप्राप वा दोष वरत है । गृह एवा । यद्यपि गना लिद्वात प्रसिद्ध  
| नभावि तम व्यवाग ही रीष भद्र एवं गीता का एह लिद्वात धारा व्यवाग  
| व्यवाग ( गीता ३ ३ ) । इन गनों लिद्वारी मेर तु भा भन्न \* मन १। वाह  
| गी रु ।

ये हि न व्यथयन्त्यते पुरुषं पुरुषर्यम् ।

समदुःखसुखं भीरं साज्जूत्स्वाय फल्यत ॥ १७ ॥

न कर) उनको त सहन कर। (१७) स्वीकृति ह नरभृष्ट! मुप आर दुर्घट को समान मानवाङ्ग किस जानी पुरुष का उनकी व्यथा नहीं हाती थी अमृतल अर्पात् अमृत द्रव भी रिष्टि का प्राप्त कर सें म समझ होता है।

[ किस पुरुष का ब्रह्मालभ्यशन नहीं हुआ आर “सीनिवि तिम नम् अपास्मङ् भक्ता मिथ्या नहीं जान पाए ह वह जाय पश्चात्य आर “नित्या के समोग से होनेवाले शीत उप्प भार्ति या सुपरद्यग्न भर्ति विकारा को सत्य मान कर आत्मा म उनका अध्यारोप किया करता है और “स करम से उनको दुर्घट की पीण हाती है। परन्तु विसने वह जन किया ह कि य सभी विसर्ग महति के हैं (आत्मा असता आर अस्मि है) उसे मुप आर दुर्घट एक ही से है। अब अद्वन से मग्नान् यह कहते हैं कि “म समदुष्टि से दू उनको सहन कर। आर यही अप अग्रेष्ट अप्याय म अपिक विलार से वर्णित है। शाहूर माप्य म ‘मान द्युर्ग का अर्थ एक प्रकार किया है – मीठते पक्षिपिठि मात्रा अपात् जिल्ले बाहरी पर्याप्त मापे जाते हैं या शात्र होते हैं उच्च नित्यों कहते हैं। पर मात्रा का “नित्य अय न करक दुर्घट थेग देखा मैं अप करत ह कि नित्या से माप अनेवाल द्युर्ग-कर्प भार्ति जाय पश्चात्य को मात्रा करत है आर उनका “नित्या से या त्यज्य अर्पात् सद्याग हाता है उस माप्य-संग कहते हैं। “सी अप को हमने स्वीकृत किया है। क्याकि “स भोक्ते के विलार गीता में जागे जहों पर आये हैं। (गीता १-२१) वहों ‘वस्त्रस्त्रय’ शब्द है। आर ‘मात्रासर्वं शब्दं का हमारे नियंत्रण व्यथ के समान अप करने से न थोना शब्द का अप एक ही जा हो जाता है। तथापि इस प्रकार ये थोनों शब्द मिलके जुम्ले ह जो मीं मात्रास्त्रय द्युर्ग पुरुजा दीप पक्ष्या है। स्वीकृति मनुस्मृति (६-०) मैं “सी अप म मात्रासर्व द्युर्ग आया है और बहारम्भ कीपनिवद् म घण्टा ह कि मरणे पर ज्यनी पुरुष के आत्मा का मात्राओं से अस्तुग (माना-संसर) होता है। अपात् वह मुक्त हो जाता है और उसे सजा नहीं हहती (य माप्य ४६ १४ व ४ जा भा १४ २)। शीतोष्ण गर मुपर य पड़ उपलक्षणाम् है। “नम राग द्वेष सह भवति और मृप्यु भवत्रय अस्ति परम्परविरोधी इन्द्रा का समावेश होता है। ये सब माप्य-मृप्य के इन्द्र हैं। “सद्विष्य प्रकृत ह कि भविष्य मात्रास्त्रि के इन इन्द्रों को शान्तिनाशक मह कर “न इन्द्रा मे दुष्टि का ज्ञाये दिना ब्रह्मामि नहीं होती (गीता ८-३ / आर गीतार य प्रष्ट ५ आर ८-१०त्त्वे) अ यामगाम्य की हापि मैं इसी अव का व्यक्त कर दिग्गजों ह - ]

दहिनाप्रस्त्रियथा वह कीमारं योग्यते जय ।

तथा वहान्तरप्राप्तिरस्त्रम् न मुहूर्ति ॥ १३ ॥

६६ मात्रास्पर्शस्तु कीमत्य शीताप्यसुष्टुप्तवाः ।

आगमापापिमादनित्यास्त्वस्तितिक्षस्व भारत ॥ १४ ॥

| स्थान पर प्रतिषाय इक्षु ही है दि कभी निव है । उत्तरा पारम्परिक सम्मन्त्र  
| यहौं कल्पया नहीं है भार बनाने की कार आवश्यकता भी न थी । यहौं  
| ऐसा प्रसाह आया है वही गीता म ही एका अद्वैत सिद्धान्त ( गीता ८ ४  
| २३ ३० ) सद रीति से कल्पया दिया है, दि समस्त प्राणियों क घटीए म  
| देहाती भास्मा मैं जपाएँ एक ही परमेश्वर है । ]

( १२ ) इस प्रकार वह भारत बनेकास के इत इत म सम्मन स्थानी भौत  
कुण्डा प्राप्त हाला है उची प्रकार ( भाग ) दूषणी इत प्राप्त हुना करती है ।  
( इसलिय ) इत दिव्य मैं शारी पुरुष का भोग नहीं हाता ।

| [ अब व मन मैं यही का पूछ चाह या माह या कि अमृत का मैं  
| कैम जाऊँ । "सुमिष्य उत दूर बरते क निमिन तत्त्व की इषि से भगवान् पहच  
| इती का विचार क्षियत है दि मरना क्या है और मारना क्या है ( स्थान  
| २१-३ ) ।" मनुष्य कक्ष इदृषी निरी कमुरी है बरत इत आर भारता का  
| समुप्य है । इन - अहृद्वारप्य स व्यक्त हानेवाला भारता निष्प भार भमर  
| है । वह भाव है क्य या भौत क्ष मैं रोगा है । भगवत् मरना या मारना  
| यह इतर दिव उत्तरुन ही नहीं दिव भगवत् भार उत्तरा दीत मैं न करना  
| चाहिये । भग जारी रह गए इत का पहुँच प्रकार हो है कि वह धनिय भौत  
| नाशकान है । भाव नहीं तो क्य क्ष नहीं तो तो क्य म तही उत्तरा तो  
| नाप हाने ही का है - जब या भाया त का मूल्य प्रा गैत भ्रुर ( भाग  
| ३ १८ ) भौत एक इत पूर्वी गैत का क्षा क अनुपर भाग दूती  
| तेर निर जिन नहीं रहती । भनेश्वर उत्तरा भा या भास उत्तित नहीं ।  
| सराय है इस भावा इतिया न दिवर का तो निरहाला दि मर  
| एक भा या भना पारम्परा है पारम्परा नहीं हा पर पट भगव्य भवाना  
| का है कि दान्यन इत का नाय हात नमज य उत्तर हात है उत्तर दिव  
| दान्य क्षो न करे भावेव भग भवान इत उत्तित तारूप य भवन्य  
| दवान का दिव्य है कि उत्तर - इत बरता उत्तर नहीं । ]

( १४ ) ह दृग्दृष्टि दृश्य या मन्त्राप द्वाहैं मारभी नभास्  
स्यगृहि व पश्यते ॥ ( नी पाते ) हैं नपात है अन्है उर्द्दि रात्रि ८ भार  
= प्राप्त ॥ ( भावद ) १२८ भव द दिव्यरात्र है । है मन ॥ ( यह

अविनाशि हु तद्विद्धि पन सम्भवित ततम् ।  
विनाशमम्ययस्यास्य न कवित्करुमहवि ॥ १७ ॥  
अन्तस्यत इमे देहा मित्यस्पोका लापिरिणः ।  
अनाशिलोऽप्मयस्य तस्मापुष्पस्य मारत ॥ १८ ॥

[ द्विषट्को आश्राय मान मी छे तो भागे अठारहौं स्तोक में सह कहा है कि स्वच्छ या इत्यसुष्टि में भानेषासे मनुष्य का शरीर नाशवान् अषात् अनित्य है । अतएव आत्मा के साथ ही साथ मात्रकृता के अनुसार, ऐह को मी नित्य नहीं मान सकते । प्रकट रूप से सिद्ध होता है कि एह नित्य है और बुद्धि अनित्य । पाठको को यह विज्ञाने के लिये — कि साम्प्रदायिक इष्टि से ऐसी गीतारहस्ती की व्यती है ? — इमने नमूने के टेंग पर यहाँ इस स्तोक का माध्यमाम्यवाच्य अप्य स्पित्य दिया है । अस्तु जो सह है वह कभी नहीं होने का नहीं । अतएव सत्यस्पौ आत्मा का शोक न करना चाहिये । और सत्य की इष्टि से नामरूपत्वमुक्त हेह आहि अथवा मुक्तावुप भावि विकार मूल म ही किनारी है । “सप्तिये उन्हें नाश होने का शोक करना भी उचित नहीं । परलु आरम्भ मे भक्तुन से गो यह कहा है — कि वितका शोक न करना चाहिये उत्तमा तू शोक कर रहा है — वह चिद्ध हो गया । अब ‘उत्त और ‘असत्’ के अर्थों का ही अनगत श्लोका मे और मी सह कर कराते हैं :- ]

( १७ ) स्मरण रहे कि यह ( बग्र ) वित्तने फैसाया अथवा व्याप्त किया है एवं ( मूल आत्मलक्षण ब्रह्म ) अविनाशी है । “स अव्यक्त तत्त्व का विनाश करने के लिये कार्य मी स्मरण नहीं है ।

[ पिङ्कले स्तोक में किसे सह कहा है उड़ी का यह वर्णन है । यह अल्प विद्या गया कि शरीर का स्वामी अथवा भास्त्र ही ‘नित्य भेणी मे भावा है । अब यह कराते हैं कि अनित्य या अत्तत किसे कहना चाहिये — ]

( १८ ) कहा है कि ये शरीर का स्वामी ( आत्मा ) नित्य, अविनाशी और अविनित्य है उसे प्रात् होनेषासे मे शरीर नाशवान् अषात् अवित्य है । अतएव हे मारत ! तू सुद कर ।

[ कारण “स प्रकार नित्य अवित्य का विकेन्द्र करने से ही यह मात्र ही । इह होता है कि म भक्तु को मारता हूँ, और बुद्ध न करने के लिये भक्तु ने ये कारण विनाशया जा वह निर्मूल हो जाता है । “सी अब को अब और अधिक तत्त्व करते हैं — ]

[ क्याकि यह भास्त्रा नित्य भीतर तत्त्व भावता है । तेव तो उन प्रकृति का ही है । बटोपनिषद् मे यह और भास्त्रा शोक भाषा है ( कर २ १८ १९ ) ।

१६ नासता विष्टे मादा नामादा विष्टे सत ।

उमपोरपि छुट्टेज्ञस्त्वयोस्तस्यकृष्णिभिः ॥ १६ ॥

( १६ ) को नहीं (असत्) है वह हो ही नहीं सकता और यह है (सर्) उसका अमाव नहीं होता । तत्पत्रनी पुराणी ने सत और असत् गानों का अन्त देख लिया है – नवात् अन्त एव कर ऊनके रूपके का निषय किया है ।

[ इस श्लोक के अन्त शब्द का अथ और 'रादान्त' 'विदान्त' एवं 'इतान्त शब्दों (गीता १८ १३) के अन्त एवं अथ एक ही है । शाखाकाच (३/३) में अन्त शब्द के ये अथ है – स्वरूपग्रान्तयोरन्तमग्निकेऽपि प्रमुच्यते । "स श्लोक म सत् का अथ त्रिष्ठा और असत् का अर्थ नाममपालक एव्य ऊन् है (गीतारूप पृष्ठे ६-२२३ और ८८ - ४७ श्लोकों) । समरण रहे कि ये हैं उसका अवश्य नहीं होता । तत्पत्र दोनों म यद्यपि सकामवाद के उमान गीत परं तो भी उनका अथ तुष्ट नियाउ है । उहाँ एक वस्तु से दूसरी वस्तु नियमित है – उग्र शीघ्र से दृष्टि – वहाँ उत्कामवाद का तत्त्व उत्पुष्ट होता है । प्रलुब्ध श्लोक म ऐसे प्रकार का प्रभ नहीं है । वक्तव्य इतना ही है कि तत् अवात् तो है उसका अनित्य (माव) और अन्त् अवात् ये नहीं हैं उसका अमाव ये गोना कित्य यानी सौन वायम रहनेवाले हैं । एक प्रकार नम स गोना के माव अमाव को नियत मान छ तो आगे किर आप ही आप कहना पड़ता है कि यह 'सुन् उसका नाय इह कर उसका असत् नहीं हो जाता । परन्तु यह अनुमान और सकामवाद में पहले ही प्रहृण भी एवं एक वस्तु भी कायवारणहृष उन्वयति ये गोना एवं सी नहीं हैं (गीतारूप ७ ४ १ ६) । पात्तमाय म एवं श्लोक के नासता विष्टे माव "स पहले चरण के विष्टे माव" यह विष्ट + अमाव दोनों परमा पर्युक्त है भार उसका यह अथ किया है कि असत् यानी अवश्य प्रहृणि का अमाव अपान्नाय नहीं होता । और यह कि युग्मर चरण में वह कहा है कि सत् का भी नाय नहीं होता तब अपने द्वेषी सत्यवाय के अनुकार मन्त्राचाय ने "स क्षम का दृष्टा अथ किया है कि चतु और अमन् दोनों नियत हैं । परन्तु यह अथ सुरक्ष नहीं है । "सम नीत्यातानी है । क्षेत्रिक भ्यामविद दीति से श्रीपद पहला है कि परलुटरमितेरी अरुन् और उन् शर्मी के समान ही अमाव और माव ये ही विरोधी शब्द भी "स स्वप्न पर प्रसुक्त है । एवं तुम्र चरण में भयात् नामादा विष्ट उत्ता यहाँ पर नामादा में ये अमाव शब्द ही सेना पड़ता है तो प्रकृत है कि पहले में यद्य शब्द ही रहना पाहिये । अन्त भातिरिक्ष यह इहन के किये – कि असत् और अन् य गोनों नियत हैं – 'अम्भुष और 'विष्ट' न पर्याप्त हों ताकि प्रयोग करने की अंद्र भावप्रस्त्रा न भी । किन्तु मन्त्राचाय के कथनानुमार वहि दृष्ट

अद्युपाऽप्यमदाद्याऽप्यमक्त्वा अप्य एव च ।

नित्यं स्थगतं स्थापुरचलाऽप्यं मनातनः ॥ २४ ॥

अद्यक्ताऽप्यमचिन्त्याऽप्यमविकायोऽप्यमुच्यते ।

तस्माद्वं विकितेभ्यं नानुभावितुमहसि ॥ २५ ॥

५६ अथ अमं नित्यज्ञार्थं नित्यं वा मनस्त्वं मूलम् ।

तथापि त्वं महाबाहा नित्यं ज्ञावितुमहसि ॥ २६ ॥

जातस्य हि प्रवा मृत्युभूत्यं जन्म मूलस्य च ।

तस्मादपरिहार्याये त्वं त्वं ज्ञावितुमहसि ॥ २७ ॥

[ इसान उत्तर अप्यक भी है । पितृके तेरहमे रूपाक म आष्टपन बहानी और कुरापा | अन लीन भवस्थानी को जो व्याय उपयुक्त किया गया है वही अब तब घरीर | भे विषय मे किया गया है । ]

( २८ ) (कमी भी) न कठोरवास्त्र न बद्धनवाला न यीगनवाला और न सख्तेवास्त्र

यह ( वास्त्रा ) नित्यं सदाव्यापी निष्ठ, अचल भीर सनातन अर्धात् विनत्तुन है ।

( ) इस भास्त्रा का ही अप्यत्र ( भास्त्र जो अनिया का गोप्यत नहीं हो सकता )

अविन्त्य ( अयात जो मन से भी जाना नहीं या लकड़ा ) और अविकाय ( अर्थात्

किसी भी विकार की उपाधि नहीं है ) कहते हैं । "सचिय उसे ( आस्त्रा जो )

"ग प्रसार का समाप्त कर उसका शोक करना तुम्हे उचित नहीं है ।

[ यह जगन उपनिषद्के से किया है । यह बहन निगुण आस्त्रा का है सगुण

का नहीं । स्याहि अविकार्य वा अविन्त्य विशेषण सगुण को स्मा नहीं सम्बो

( गीतारहस्य प्र० टेन० ) । आस्त्रा के विषय मे वेशान्तरास्त्र का जो अनियम

सिङ्गान्त है उसके जाप्तार से शोक न करने के लिये यह उपपत्ति कल्पर्व यह है ।

अब कठाकिल कोई ऐसा पूर्वपक्ष करे कि हम आस्त्रा का नित्य नहीं समाप्त

"सांख्य तुग्हारी उपपत्ति हमें प्राप्त नहीं तो इस पुरापत्ति का प्रथम उत्तीर्ण करके

भगवान उसका यह उत्तर है कि - ]

( १ ) अथवा यहि तृ एषा मानता हो कि यह आस्त्रा ( नित्य नहीं भरीर के साथ ही ) सदा अन्तता या सदा मरता है तो भी है महायह । उसका

शोक करना तुम्हे उचित नहीं । ( २९ ) क्षोकि को अन्तता है उसकी मृत्यु निष्ठित

है और जो मरता है उसका अन्त निष्ठित है । इसिये ( उ ) अपरिहार्य यह

का ( ऊपर उत्तिष्ठित तेर मत के अनुसार भी ) शोक करना तुम्हारी उचित नहीं ।

[ अर्थ रहे कि ऊपर के जो क्षेत्रों म अन्तर्वर्त्त हुई उपपत्ति भिन्नात्मपत्ति

की नहीं है । यह अथ च = अथवा शब्द स गीत मे ही उपनिषत् किय दुए

य एवं घटि हन्तारं यद्वेवं मन्यते इतम् ।

उमो ती न विजानीता नार्यं हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

न जापते द्वियते वा कषाचिद्भाय भूत्वा मविता वा न सूपः ।

अजो नित्यः शास्त्रतोऽय पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीर ॥ २० ॥

ब्रह्मविभाषिर्विनियम्य य एवमक्षमव्ययम् ।

कथं तु पुरुषः पार्थं कं घातयति हन्ति कल्प ॥ २१ ॥

वासीसि जीर्णानि यथा विहाय मवानि गृह्णाति भरोऽप्यरणि ।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णाम्यन्यानि संयाति नवानि वैही ॥ २२ ॥

मैत्रे छिन्नस्ति छस्त्राणि मैत्रे द्वृति पापकः ।

न वैत्रे हन्यमन्यापो न शोपयति मास्त्रा ॥ २३ ॥

[ “एके भवेत्तरिक्ष महामारुद के अन्य स्थानों में भी ऐसा बचन है कि काष से उत्तम प्रसाद हुआ है। “स काष की जीवा का ही यह मारने और मरने की लाभिक लक्षण है (शा १८)। गीता (१० ३३) में भी आग मक्षिमाण की मापा से पहरी तख्त मनवान ने भद्रुन को फिर अस्त्वया है कि भीष्म द्वेष आहि का कासस्वरूप से मरे ही पहसु मार आय है। दूसरे निमित्त हो या । ]

(१९) (शरीर के स्वामी या आमा) को ही मारनेवाला मानता है या ऐसा उमरक्षा है कि वह मारा जाया है उन गोर्नों को ही सजा हान नहीं है। (क्वाहि) पह (आत्मा) न तो मारता है और न मारा ही जाता है। ( ) यह (आमा) न तो कमी अनुकूल है और न मरकूल है है। ऐसा भी नहीं है कि यह (एक शर) हो कर फिर हीने का नहीं। यह भव, नित्य शाश्वत भौत पुराकृत है। एव शरीर का वच हो जाय तो भी मारा नहीं जाता। (२१) हे पाप! किस ने अन दिया कि यह आमा मक्षिनादी नियम भव और भव्यत है वह पुरुष मिथी का द्वैत मरणापेगा और दिली को द्वैत मरणग १ (२) द्विम प्रकार (काइ) मनुष्य पुराने वर्षों से छोड़ कर नये प्रहण करता है उसी प्रकार ऐही भवान् शरीर का स्वामी आममा पुराने शरीर स्वाग कर दूसरे वय शरीर भारण करता है। (३) इसे अपान् आत्मा की वच काष नहीं लक्ष्यते; इस भाग वच नहीं लक्ष्यती वसे ही इसे पानी मिला या गाल नहीं लक्ष्यता और वातु सुना भी नहीं सकती है।

[ वच की यह उपमा प्रत्यक्षित है। महामारुद म एक रथान पर, एक पर (पाल) छोड़ कर दूसरे पर में बाने का दृष्टान्त पाया जाया है (शा १) और एक भवेत्तरिक्ष प्रकार ने पहरी कर्मना पुरुषत में नड़ दिल लोंपने का

देही नित्यमवध्योऽर्थं वह सर्वस्य मारत ।

तस्मास्त्वर्णाभि मूलानि न त्वं शापितुमहति ॥ ३० ॥

[ अप्रब बहु समझ कर देहे देहे छेग आध्यय से भास्मा के विषय में कितना ही विचार कर्यो भ किया कर पर उल्लेख सभ्य स्वरूप का ज्ञाननेवाले लेय चक्र ही देहे हैं । उसीसे बहुतेर छोग मूल्य के विषय में शोक किया जूते हैं । उससे तु ऐसा न करके पुण विचार से आत्मस्वरूप का समाप्त रीति पर समझ से और शोक करना छाट ने । इसका यही अर्थ है । कठोपनिषद् ( २ ७ ) में भास्मा का वर्णन उसी तौरे का है । ]

( २ ) यह के घटीर में ( रहनेवाले ) घटीर का स्वामी ( भास्मा ) सरण अवध्य अर्थात् कमी भी वष न किया जानेवाला है । भवतएव हे भारत ( भक्त ) ! सब अर्थात् किसी भी ग्रामी के विषय में शोक करना तुम्हें लभित नहीं है ।

[ अमरक यह लिङ् किया गया कि सास्य या सन्यासमावग के दत्तज्ञना युसार भास्मा अमर है और देह तो स्वरूप से ही अनित्य है । उस कारण शोइ मर या मार, उसमें शोक करने की कोई भावाभ्यवहा नहीं है । परन्तु यहि कान् उससे यह अनुमान कर सके कि कोई किसी का मार तो इतम् भी व्याप नहीं तो यह मयद्वार नुस्ख होगी । मरना या मारना उन ले जम्भ के अर्थों का यह वृप्तकरण है मरने या मारने में कोइ अन्यता है उस पहले पूर करनेके लिये ही यह शून व्यवस्था है । मनुष्य तो आ मा और देह का तमुच्चय है । इसमें आस्मा अमर है इसस्तिं भरना या मारना ये ढाना शम्भ लघु उपमुक्त नहीं होते । वही रह गई यह तो स्वरूप से ही अनित्य है । यहि उल्ला नाश हो जाय तो शोक करने योग्य कुछ है नहीं । परन्तु यहम्भा या कास की गति से पौर्व मर व्यव या किसी का कोइ मार डाके, यो उल्ला सुप्त-बुद्ध न मान कर शोक करना ज्ञेय है तो भी उस प्रभ का निपद्यन हो नहीं भावता कि युद्ध जैसा पौर जर्म करने के लिये ज्ञानद्वार कर, प्राप्त हो पर अंगों के गरीये का नाश हम क्यों करे । क्वोकि यह व्यवपि अनित्य है व्यवपि आस्मा का पक्ष कस्तान या मोभ सम्याद्वन कर देने से लिये देह ही तो एक साक्षन है । अपवा किना योग्य कारणा के किसी दूसरे को मार डाकना ये दीना शास्त्रवृत्तार ओर पक्षत ही है । इत्यस्तिं मरे हुए का शोक करना व्यवपि लभित नहीं है तो भी उल्ला कुरुन्ज कुछ प्रक्षत कारण भृत्यना आवश्यक है कि एक दूसरे को क्षो मार । उसी का नाम भर्माध्यम लियेत है और गीता का वास्तविक प्रतिपाद्य विषय मी यही है । अब ये व्यातुक्षय-प्रवदरथा साक्ष्यमर्म का ही सम्मत है उल्ल अनुषार भी युद्ध करना अविद्यों का करम्य है इसस्तिं साक्षान् कहते हैं कि तू मरने मारन का शोक मर कर । तुना ही नहीं

इह अथवादीनि मतानि स्वकम्भालि मारत ।

अस्यकनिधमान्यव तत्र का परिवेषा ॥ २८ ॥

इह आदर्शयत्प्रयत्नि कामिनमाद्यप्रयत्नप्रति तथैव चास्य ।

आदर्शयत्वैलमन्य शूषाति शुत्याप्यनं वद न चिव कामिन ॥ २९ ॥

| पूर्वपत्र का उत्तर है। आत्मा को नित्य मानो चाहे अनित्य गिरावना इतना ही  
| है कि ऐना ही पक्षी म शोक करने का प्रयोगन नहीं है। यीता का यह सच्चा  
| दिक्षान्त पहले ही बहुत कुछ है कि आत्मा सह नित्य अब, अविद्या और  
| अनित्य या निर्गुण है। अस्तु देह अनित्य ह अतएव शोक करना उचित नहीं।  
| “सी” की साफ्यशास्त्र के अनुसार दूसरी उपपत्रि बहुत्वत है – ]

( २८ ) सब भृत भारत में अस्यक मन्य में श्वक और भरणसमय म  
सिर अस्पष्ट हात है। (ऐसी यहि सभी की स्थिती है) सो भृत ! उसम शोक  
गिर चाहत का ?

[ ‘अस्यक शृणु का ही अन्य ह – नित्या को गोप्तरन हानेवाल । नूल  
एव अस्यक इन्य से ही आये त्रम कम से समस्त श्वक सहि निर्मित होती है  
और वन्त मे अर्धान् प्रकृष्टकाष म सब श्वक सूप्रिका चिर अस्यक मे ही अप्य  
हो गता है ( यीता ८ १८ ) इस सार्वशिद्वान्त का अनुसरण कर, “स क्षेत्र  
की गति है । चार्यमत्तवाद्य के अस दिक्षान्त का शूषाता गीता रहस्य के सातवे  
और नाम्य प्रसरण में किया गया है । किसी भी पदार्थ की श्वक रिती मति  
श्वक प्रसार कर्त्ता न कर्त्ता नष्ट हानेवाली इ तो का श्वक स्वरूप निष्ठा से ही  
नाश्वान है उसक विषय म शोक करने की कोई आवश्यकता ही नहीं । यही  
श्वाक अस्यक क बाले भ्रमाव शृणु त समुक्त हो कर महामारत के श्वीपव  
( म मा व्यी ५६ ) म आया है । भागे अन्तानाशपतिवा पुनश्चाशन गता ।  
न तं तत्र न ताया श्व तत्र का परिवेषा ॥ ( यी १३ ) एस क्षेत्रम ‘अश्वजन  
भ्रमाव नक्त से दूर हो जाना “स शृणु का मी मृत्यु का उत्तर कर उपपाग  
किया गया है । चार्यम और वेदान्त ऐना शास्त्र क अनुसार शोक करना यति  
श्वप्य भिन्न होता है और आत्मा का अनित्य मानन से मी यहि परी चाह गिर  
होती ह ता सिर क्षण मृत्यु क विषय मे आक ब्यो बरत है । आप्यमद्वय-  
सम्बन्धी भ्रमाव ही इतना उत्तर है । क्योंकि – ]

( २ ) माना कर्त्ता आश्रय ( अद्भुत शम्भु ) उमड़ कर “तदी भार  
द्वन्द्व है कोइ आश्रय उत्तीर्ण इतना कर्त्ता है भार काइ माना आश्रय समझ  
पर मुनता है । परन्तु ( इस प्रकार तेष वर विन वर और ) मुन कर मी ( इनमे )  
कोइ न्यै ( तत्त्वत ) नहीं बनता है ।

भयाक्षणावुपरते भंस्मन्त स्वी महारथा ।  
 येषां च त्वं वकुमता भूत्वा यास्यसि लाभवम् ॥ ३५ ॥  
 अदाक्ष्यवाक्षीय वृहन्विष्यन्ति तदाहिता ।  
 निन्दन्तस्तम्य भास्यर्थं ततो वृभतरं तु किम् ॥ ३६ ॥  
 हतां या प्राप्त्यसि स्वर्गं जित्वा या भास्यसे महीम् ।  
 तस्मादुक्तिष्ठ कान्ताय युद्धाय वृत्तनिष्पत्तम् ॥ ३७ ॥  
 सुसदुःख सम वृत्वा हाभासाभौ जयाजया ।  
 ततो युद्धाय युज्यस्य मैर्वं पापमवाप्त्यसि ॥ ३८ ॥

(१) (मृ) महारथी समझग कि तु न उठरण स माग गया; और किन्तु (आदि)  
 ए अद्युमान्य ही रहा है वही तेरी योग्यता कम समझने स्थग। (३६) ऐसे ही  
 तेरे शास्य की निन्दा कर तेरे अनु प्रीति ऐसी अनेक बातें (तेर किप्य म) कहीं  
 वह न कहनी चाहिये। “सुसे अधिक तु भासारक और है ही क्या” (३७) मर गवा  
 ता स्वंग की आपाता भार चीर गया तो यूणी (का राज्य) दैवत्यम्। “लक्ष्मि ते  
 अवन! युद्ध का निष्पत्त करके उम्।

[ उक्तिमिति विवरण में न देखत यही लिङ्ग दुष्टा कि साम्य स्वन व  
 अनुसार भरन मारनेका धार न करना चाहिये प्रत्युत यह भी लिङ्ग हा गया  
 कि स्वयम् क अनुसार युद्ध करना ही बदल्य है। तो भी अब इस शास्त्र का  
 उच्चर दिया जाता है कि स्वयम् म हानेवाक्षी हृत्या का पाप कर्ता भी स्वता है  
 या नहीं। वास्तव में अस उच्चर की युक्तियों कर्मविग्रहमाग की है। इसलिय अत  
 माग की प्रस्तावना यही हूँ है। ]

(३८) सुन्नन्त य स्वम नुक्षान वीर बय परावर्य कामा मान कर किं तु द मै  
 रहा जा। एषा करने से तुम्ह (कार्य भी) पाप लगन का नहीं।

[ भमार मै आप किनाने के बा माग है—एक धाराय और वृत्तय बोये।  
 “नम किं सास्य भवना सन्याम माग के आन्तर का यान में ल कर अर्द्धन  
 युद्ध छाड मिला मौग्लने के किय तैवार हभा या उम सन्याममाग के तत्त्वश्वानातुरार  
 ही भास्ता का या ऐह का जार करना उचित नहीं है। मासान ने अर्द्धन बो  
 लिङ्ग कर लिएग्या है कि सुप्र और तु या भी समझुद्दि से भह लगा चाहिये।  
 एव स्वयम् भी भार एकान तेर युद्ध करना ही अनिष्ट का उचित है तदा सम-  
 युक्ति से युद्ध करन मै कार्य भी पाप नहीं स्वल्प। परन्तु इस माग (सास्य) का  
 मन है कि कभी न कभी नुक्षान छार या कर सन्याम से लेना ही प्रत्यक्ष मनुष्य की  
 अस जगत् म परम कल्प है। इनसिये अप्प जान पह ता अभी ही पृथ और वर

५६ स्वधममपि चापश्य म विक्षम्यतुमहसि ।

अमर्दान्ति पुद्राच्छेयाऽन्यतत्त्वप्रियस्य न विषयत ॥ ३१ ॥

यद्युच्छया चापपर्वं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।

सुखिनः सुखिया चाप लम्नत् पुद्रमीष्टाम् ॥ ३२ ॥

अथ चापस्यमिमं अस्य संप्रामं न करिष्यन्ति ।

तत् स्यधर्मं कीर्ति च हित्या पापमयाप्स्यसि ॥ ३३ ॥

अकीर्ति चापि भूतानि कर्त्यपिष्यन्ति तत्त्वयाम ।

सम्भावितस्य चाकीर्तिरण्णावतिरिष्यत ॥ ३४ ॥

[ अद्य लडाइ मे मरना था मार जाना था औना था खलियबमानुसार तुझो आपस्वर ही है – ]

( ११ ) इसके दिवा स्वधम की ओर भैं तो भी ( इस समय ) हिम्मत हारना तुम उचित नहीं है । क्योंकि बमानित युद्र की भौतिक भवितव्य का भवन्तर और कुछ ही नहीं ।

[ स्वधम की पह उपपत्ति आगे भी श बार ( गीता ३ ३६ अी८ १८ १० ) कलापाद गाइ है । तन्मास अपेक्षा साक्ष्य माग के अनुसार पदापि कर्मसून्यासम्पी चतुर्थ भाष्यम भन्त की सीरी है तो भी मनु भारि मृति कलापाद श कथन है कि “सुके पहले पातुषण की व्यवस्था के अनुसार ब्राह्मण का ब्राह्मण यम और खलिय को धर्मियबम का पालन कर एहसासभम पुरा करना चाहिये । अतएव इस भौतिक का भीर आगे के भौतिक का तात्पर यह है कि एहसासभमी भड़ुन को युद्र करना भावध्य है । ” ]

( १२ ) भीर ह पाप । पह युद्र भाप ही भाप शुभम इभा स्क्या का डार ही है । पेता युद्र भावधान लक्षिया ही को मिल करता है । ( १३ ) अनपव यति त् ( अपने ) धर्म के अनुकूल वह युद्र न करगा तो स्वधम और कार्ति यो कर पाप घोरेया । ( १४ ) पही नहीं लक्षि ( तत् ) स्वग हेरी अपाप्य वक्षीर्ति गति होंगे । भीर अपवधा को सम्भावित युद्र के द्विते मृत्यु मे भी कर है ।

[ भीक्षण ने पही तत्त्व उपग्रहण मे शुभित्व का भी कलापदा है ( म भ ठ ७२, २८ ) । वहाँ यह कोइ है ~ दुर्लीनस्य व या निष्ठा वधौ वाऽभिक्षकपणम् । महागुणो वधौ राजन न तु निष्ठा शुभीदिका ॥ परन्तु गीता म इसकी अफला वह अप स्वेच्छा मे है । भार गीतामन्त्र का प्रजार भी अभिन्न है । इति काण गीता क ‘भास्मावित्वं इत्याऽति चाप वा वहाकृत का या उपयाम होने स्यय ह । गीता क भीर प्रदूतर भौतिक भी इसी के तमान तुक्ष्या गरण स्वगो मे प्रवृद्धि हो गये हैं । अब युपीर्ति का स्वाप्य बनस्त है – ]

५५ व्यवसायान्तिका तुदिरकर्तु तुरन्तन ।

वासनारा हननताथ तुदियोऽववसायिनास ॥ ४१ ॥

[ “स लिङ्गान्त का महत्व गीतारहस्य के इस भवण (पृष्ठ २८६) में विवरण दिया गया है भार अभिक्ष तुदिया भाग गीता में भी किया गया है (गीता ६ ८ - १३)। उक्ता यह अप है कि कमबोगमार्ग में वह एक में तुदि न मिले, तो किया तुम्हा कम व्यव न कर अगल अन्त म डपयोगी हाता है और प्रथम अन्त म “सकी छाती हाती है, एव अन्त में कभी न कभी सधी सहित मिलती ही है। अब कमयोगमार्ग का दूररा महत्व-पूर्ण लिङ्गान्त भवण्ये हैं - ]

(४१) है तुरन्तन । “स मारा में व्यवसाय-तुदि अवात् काय और अनावं का निष्पत्य करनेवाली (इन्द्रियरूपी) तुदि एक अवात् एकाम रसनी पाती है अमालि किसी तुदि का (“स प्रवार एक) निष्पत्य नहीं होता उनकी तुदि अवात् कासनार्थ अनेक शारीरिकों से युक्त और अनेक (प्रवार की) होती है।

[ सर्वत म तुदि शब्द क अनेक अर्थ है । १० दे खोल म वह सभ अन के अर्थ म आया है और आगे ४९ दे स्तोक में “स ‘तुदि शब्द का ही समझ अज्ञ वासना या हेतु अय है परन्तु तुदि शब्द के पीछे ‘व्यव सायान्तिका विश्लेषण है । “समिये “स स्तोक के श्लोक में उसी शब्द का अर्थ यो हाता है । व्यवसाय अवात् अव-अवार्थ का निष्पत्य करनेवाली तुदि निष्पत्य (गीतार प्र ६ पृष्ठ २१४-२१९ लो ) । पहले इस तुदि इन्द्रिय से किसी भी गत का मत्ता तुम्हा चिचार कर थे पर फिर तनुसार कर्म करने की इच्छा या वासना मन मे तुम्हा करती है । अतएव “स “अ या वासना को भी तुदि ही कहते हैं परन्तु उस समय ‘व्यवसायान्तिका यह विशेषण उसके पीछे नहीं ज्ञाते । ऐड डिग्गिना ही आवश्यक हो तो ‘वासना मह तुदि कहते हैं । इति श्लोक क दूसरे भवण मे लिख ‘तुदि शब्द ह उसके पीछे ‘व्यवसायान्तर’ यह विशेषण नहीं है । “समिये वावचनान्त ‘तुदिय’ से ‘वासना कसनावरत्त अर्थ होकर पूरे श्लोक का यह अर्थ होता है कि किसी व्यवसायान्तर के तुदि अवात् निष्पत्य करनेवाली तुदि निष्पत्य स्थिर नहीं होती, उसके मन मे सज शण मे न तरङ्ग या वासनार्थ उपभ तुम्हा करता है । तुदि शब्द के निष्पत्य करने काढी निष्पत्य आर ‘वासना न गोनो अयों को व्यान म रखे किना अमयोग की तुदि के विवरण का मर्म मरी मौटि समझ मे आने का नहीं । व्यवसायान्तर तुदि के विवर या एकाम न रहने से प्रतिदिन मिल मिल वासनाभौं से मन व्यव हो जाता है और मनुष्य पेरी अनेक जहाँ मे पा जाता है कि भाव तुदियांसि के लिय अमुक कम करी तो वह स्वर्ग की ग्रामि के लिये अदुक कम करा । उस अव “सी का वर्णन करते हैं :- ]

६५ एवा तदभिद्विता साम्ये तु द्वियोगे स्विमा शृणु ।

सुदृढा युक्ता यथा पार्थ कमवर्ध प्रहास्यसि ॥ ३९ ॥

६६ नहामिकमनाणाऽप्स्ति प्रत्यवाया न यित्तत ।

स्वल्पमप्यस्य घमस्य आप्त भाष्टो भयात ॥ ४० ॥

[ मन्याम क्या न क्षे च अपाव अवेम का पाम्न ही क्या न कर ? “स्याऽपि शङ्खाभी  
का निवारण साम्यशन से नहीं होता और “सी भ यह कह सकत है कि  
अर्जुन का मूर्ख भाष्टो या का यो स्ता है । भगवन् भव मग्नान् कहत है - ]

( ३ ) भाग्य भपाल मन्यासनिदा क ननुपार त्रुष्य यह तुठि भपाल जन  
या उपर्यि अनगत है । अब इस तुडि स युक्त होने पर ( कमो क न छाटने पर  
भी ) ह पाप ! त कमस्य अभेदा तेजी यह ( कम ) याग भी पुठ भपाल जान  
( त्रुष्ये अनगता है ) मन ।

[ माहात्मीया का रहस्य समझने क लिय पह यह अपाव अचल महस्य का है ।  
क्षम्य शुद्ध म कपिल का भाग्य या निरा वाल और याग शब्द म पातक्षम्य  
याग यहा पर उपिष्ठ नहीं है - भाग्य म मन्याममाग भाग याग से कममाग  
ही का भय यहीं पर भेजा जाहिय । यह बात गीता ५ ३ गङ्क म  
प्रकृत होती है । य तोना माग म्बक्षम्य है अनह अनुशासिया का भी नम म  
'भाग्य = मन्याममार्ग' और 'याग = कमयागमार्ग' कहत है ( गीता ८ ) ।  
अनम मात्यनिश्चाल व्यग कमीज कभी अन्त म कमो का आइ द्वा ही भेद  
मन्तन है इमण्डि अम माग क वायलन से अर्जुन की इस शरा का पुरा पुरा  
ममाचान नहीं होता कि पुठ क्या करे । भगवन् इस कमयोगनिदा का ठंसा  
मन है कि मम्याल न ल्पक जान आसि क पधाल भी निष्कामतुठि भे सौंदर्य क्षम  
उत्ते रहना ही व्यय का लक्ष्य पुरुषाध है उक्ति व्ययाग का ( व्यया लभते मे  
याग्नाय का ) इन ज्ञानदाना भव भारम्भ गिया गया है और गीता क भनितम  
कमयाप तर भद्रेष वारम गियतात है रनह शांखो का निष्काम भर, भी  
माग का पुर्वीकरण गिया गया है गीता क लिय लिष्टण ता स्वय भगवान का  
गिया है यह शरदीकरण व्याल मे रख्य ते इस लिय म बाइ घडा रह  
नहीं गर्ती कि कमयाग हो गीता मे ग्रनियाग है । व्ययाग क मुख्य कुर्य  
गिद्धांसी का पार लियेग करत है - ]

( ४ ) यहा भगवत् इति कमयाग मे ( दद दर ) गारम्भ लिय इति कम  
का नाम नहीं होता भी ( राग ) “ग्र भी नहीं होता । इस एव म शान्ता  
भी ( भावनरप ) दद दर मे भगवान् बोता है ।

इह शिगुण्यविषया वदा निश्चेगुण्या भवाजुन् ।

निर्दन्धा नित्यसत्त्वस्थो नियोगसम आस्मवान् ॥ ४७ ॥

( ८० ) हे अर्जुन ! ( कर्मशापशास्त्र ) ऐर ( "स रीति है ) शिगुण्य की वता से मर प है । "साक्षिये तू निश्चेगुण्य अवान् निगुणा से अटीत नित्यसत्त्वस्थ और कुम्भुण्य आहि इन्हा से अभिस है । एव शोगसंम आहि स्वापो मै न पदकर आत्मनिष्ठ हो ।

[ सख रन और उम न वीना गुणं स मिभित प्रहृष्टि वी शृणि को शिगुण्य कहत है । सृष्टि, सुप्रदुर्लभ आहि भयवा कम मरण आहि निनाश वान इन्हा से भी दुर्ल है भार उत्प ब्रह्म उसके परे है । यह चाह भीतारहस्य ( २३१- ७ ) मे ख्यात कर निरस्त्र गर्व है । "सी अध्याय के ८३ घ श्लोक मै कहा है कि प्रहृष्टि के अवान माया के "स उंचार के सुना की प्राप्ति के लिये मीमांसक मायाकाले और यज्ञ याग आहि किमा करते है और वे "नही म निमम रहा करते है । कोइ युव प्राप्ति के लिये एक विशेष यज्ञ करता है तो कोइ पानी करणाने के लिये दूषरी शृणि करता है । ये उष इति "स लेग मै उदारी अवहारा के लिये अर्पान् अपने बोगसंम के लिये है । अवपद प्रकर ही है कि किमे मोष प्राप्त करना हो वह वैतिक कम्पस्त्र के इन निश्चेगुणात्मक और निरे बोगसंम सम्बान्ध करनेवाले कमों को छोड़ कर अफना चित्त "सके परे परब्रह्म की भार ल्पावे । "सी अथ मै 'निश्चन् और 'नियागम्भेमवान् - शुभ ऊपर आये ह । यही ऐसी घड़ा हो सकती है कि वैतिक कर्मकाण्ड के न काम्य कमों को छोड़ देने से योग अम ( निर्वाह ) हैरे हांगा ( गी र पृष्ठ २ - १९२ डेवो ) । किन्तु "सका चर यहाँ नही लिया । यह विषय आगे फिर नीति अध्याय मै आया है । यही कहा है कि "स योग अम का भगवान करते है और "नही हा स्वानो पर गीता मे 'योग अम' शब्द आया है ( गीता २२ और उत्तरपर हमारी विषयी गो ) । नित्यसत्त्वस्थ पर का ही अथ निश्चेगुणातीत होता है । क्याहि अगे उठा है कि सत्त्वगुण के निष्प उत्कृष्ट से ही फिर आगे निश्चेगुणातीत अवस्था प्राप्त होती है यो कि सबी निश्चात्मस्था ह ( गीता १८ १४ और २ ; गी र पृष्ठ १६६-१६७ डेवो ) । सत्त्वय यह ह कि मीमांसकों के धार्म अम्भारक निश्चेगुणात्मक काम्य कर्म छोड़ कर एव सुप्रदुर्लभ के इन्हा से निष्प कर ब्रह्मनिष्ठ भयवा आमनिष्ठ होने ने विषय म यही उपर्युक्त लिया गया है । किन्तु इस चाह पर फिर मी भान भेना आहिय कि भाननिष्ठ होने का अथ उन कर्मों का खलपता पद्धतम छोड़ भेना नही है । ऊपर क कर्म म वैतिक काम्य कमा की या निन्जा की गा ह या यो न्यूनता निरस्त्र गर्व ह वह कमा की नही वैतिक उन कर्मों के विषय मै य काम्यकुद्धि होती है उस की है । यहि वह काम्यकुद्धि भन मै न हा तो निरे

६६ यामिमां पुष्पितां यार्चं प्रवक्तन्त्विपञ्चितः ।  
यद्यावरता पाथ मान्यदस्तीति यादिनः ॥ ४२ ॥

कामास्मान्म स्यगपत्तं जन्मकमफलप्रदाम ।  
कियाविदापवहुमां भागम्बद्यगतिं प्रति ॥ ४३ ॥  
भागम्बद्यप्रसकानां तयापट्टतचतसाम् ।  
स्यवमायालिक्ष्य तुद्धि स्माप्ता म शिर्पायत ॥ ४४ ॥

(४५) ह पाप' (कमकाश्चामङ्क) वर्णोऽ (पम्पनि पुन) बास्त्वा म भूमे  
ए भार पह वहनकाम सूर्य साग - कि उत्तम भविरिक्त दूसरा दुष्ट नहीं है - एव  
र वह वह वरत र दि - (४६) अस्त्र प्रकार क (यह भाग जाति) कर्त्तों स ही  
(जिस) इन्द्रिय पर्व मिलता ह और (इन्द्र-इन्द्रान्तर में) भाग तथा ऐश्वर्य  
मिलता ह - इन्द्रिय क वीड़े पह दुष्ट क काम्य-तुटिकाल (स्पर्श) (४७) उत्तिरित  
भाग की भार ही उत्तम मन भासति हा गत मे भौतिक भार इन्द्रिय मे ही रह  
रहत ह । एक कारण उनकी एवज्ञायामङ्क भवात् ज्ञाय-भवाप का निष्प्रय उत्तरकार्य  
बुद्धि (वनी भी) नमाधिष्ठ भवात् एव ग्यान म भिर नहीं रह सकती ।

[ ऊर्म वर्णों कौता का विस कर एक वाक्य है । उसने उन इन्द्रियहित  
। एवज्ञ दीवानामागामार्थ का वगन है । ए भौतिकान्म इम्यां क भवुकार  
गद भवन्त हतु की भिडि क विष ता एव भार जिनी हतु स तैय श्वाय के  
लिय ही यह याग जाति कम करन म निम्प रहत है । यह वगन उत्तिरित क  
भवाप पर लिया ज्ञा है । उत्तरकाय, नामाधिष्ठ मे रहा ह -

इत्यात्म दम्पत्तमाका वरिष्ठ जाग्यपत्तया वहयमे प्रसूहा ।

नामाध दूष्ट त सूर्यत्वुभव्यम स्वाक्ष इत्यन्तर वा विश्वमि ॥

“तु ए भद्र दूसरा दुष्ट की भद्र नहीं पह मननकाम सूर्य साग  
। भाग मे इन्द्र क इत्यन्तर कर यज्ञ पर लिय नीच ए एम दन्त्य लक्ष मे  
। भद्र ह (४८ ३६३) । इन्द्रियहित कर्त्तों ए एम ए ए ए निर्म  
। इत्यात्म वर्ण क उत्तिरित म ए ए ए (४८ ३६३) ।  
उत्तिरित कर यज्ञ न वाच एव कर्त्ता म ही एव रहना । इत्यात्म की  
। (४८३) । भाग लक्षन कर्त्तों क यज्ञ आर्द्ध वर्ण लिया जा है । ए  
। उत्त दम्पत्त भद्र एव एव भद्र मे वा लिया दूसर ही वद म ए ए ए ए ए  
। ए ए ए ए ए ए ए ए ए ए ए ए ए । ए ए ए ए ए ए ए ए ए ए ए ए ए  
। ए ए ए ए ए ए ए ए ए ए ए ए । ए ए ए ए ए ए ए ए ए ए ए ए । ए ए ए  
। ए ए ए ए ए ए ए ए ए ए । ए ए ए ए ए ए ए ए ए ए । ए ए ए ए ए ए । ए ए ए  
। ए ए ए ए ए ए ए ए । ए ए ए ए ए ए ए । ए ए ए ए ए ए । ए ए ए ए ए । ए ए ए  
। ए ए ए ए ए । ए ए ए ए । ए ए ए ए । ए ए ए ए । ए ए ए ए । ए ए ए । ए ए ए । ए ए ।

ओर पानी ही पानी हाने पर ( पीने के लिये कही भी किना प्रयत्न के बयेष पानी मिलने लाने पर ) विस प्रकार कुर्दं और कां मी नहीं पृछता उसी प्रकार जन प्रात् पुरुष को यह याग आदि वेवस ऐतिक कम का कुछ भी उपयोग नहीं रहता । क्याहि, ऐतिक कर्म वेवस सर्वा प्राप्ति के लिये ही नहीं वहि अन्त में प्रोक्षणाप्त जान प्राप्ति के लिये करना होता है और इस पुरुष को वो जन प्राप्ति पहले ही हो जाती है । एस कारण इसे ऐतिक कर्म करके कोइ नई वस्तु पाने के लिये देय रह नहीं जाती । ऐसी हेतु से आगे तीसरे भाष्याय ( ३ १७ ) में यहा है कि जो जानी हा गया उठे इस जाति में कर्त्तव्य देय नहीं रहता । वह मारी तात्पुर या नहीं पर अनायास ही किन्तु चाहिये उक्ता पानी पीने की सुविधा हाने पर कुर्दं की ओर भैन लेंकिंगा । ऐसे समय कोइ कुर्दं की अपेक्षा नहीं रखता । सनन्तु शतीय के भनितम भाष्याय ( मा उपोग ४ ५ २६ ) में यही स्मेक कुछ योहे-से शब्दों के हेरफेर से भाषा है । माधवाचार्य ने इतची दीका म वैसा ही अर्थ किया है जैसा कि हमने ऊपर किया है । एवं छुकानुग्रह में जान और कर्म के खारतम्य का विवेचन करते समय साफ़ कह दिया है - न ते ( शानिन ) कर्म प्रश्युषिति कृप नदा पिनशिव - भवात् नहीं पर लिये पानी मिल्दा है वह किस प्रकार कुर्दं की परवाह नहीं करता उसी प्रकार 'ते' अर्थात् जनी पुरुष कर्म की कुछ परवाह नहीं करते ( मा या २४ १ ) । ऐसे ही पाण्डकीय के सबहर्दै स्मेक में कुर्दं का इष्टान्त यों दिया है - औ बासुरेव को ऊह कर दूसरे देवता की उपासना करता है वह - दृष्टितो याही तीरे कृप वान्द्रहि दुर्मति - मासीरथी के लिये पानी मिलने पर मी कुर्दं की अस्त्र परनेवाके प्यासे पुरुष के समान मूर्दे हैं । यह इष्टान्त वेवस ऐतिक प्रन्दों में ही नहीं है प्रत्युत पाली के बौद्ध प्रन्दों में भी उसके प्रयोग है । यह लिदान्त शैदर्कर्म की भी मात्र है कि किया पुरुष ने अपनी तुष्णा उमूल नह कर जाई हो तब याग और कुछ प्राप्त करने के लिये नहीं रह जाता और एस सिदान्त और ज्ञात्वा तुप उगान नामक पात्री प्रन्व के ( ७ ९ ) उठ स्मेक में यह इष्टान्त दिया है - कि किया उपासने भाषा चे सम्भा लिङ्गम् - सर्वदा पानी मिलने चोम्प ही आने से कुर्दं को ऐतर क्या करना है । माक्षक वहै वह यहरा मैं यह देख ही जाता है कि पर मैं नह हो जाने से किर को कुर्दं की परवाह नहीं करता । इससे और कियाप कर छुकानुग्रह के विवेचन से गीता के इष्टान्त का स्वारस्य जात हो जायगा और यह तीव्र पढ़ेगा कि इसमें एस स्मेक का ऊपर जो अर्थ किया है वही सरक और ठीक है । परन्तु, जारे एस कारण से हो कि ऐसे नव्य से ऐयो का कुछ गौणदा भा जाती है; अबका इस साम्याग्रामिक लिदान्त की ओर इष्टि देनेसे हो कि जान मैं ही समक्ष फ्लों का समावग रहने के कारण जनी को कर्म करने की बसरत नहीं । गीता के

यायामय उद्घोने सवता सम्मुक्तोऽक ।

वादास्त्वेषु वेषु वाद्यप्रस्य विभानन् ॥ ४६ ॥

यह याग किनी भी प्रसार में मोम के सिय प्रतिवष कर्ता होते (गीर २.४ २०५—२.७)। भासि भद्राहृष्टे भाष्याय के भारम म भावान ने भफना प्रिश्वित और उच्च मत बताया ह कि मीमांसकों के इन्हीं यत्त्वाग भासि कमों को फल्याया और सह अट कर चित्र की शुद्धि भार लानसप्तह के लिय अवधि करना चाहिय (गीता ८.६)। मीता की “न त त्पत्ता भी बतां को एकत्र करने से यह प्रसर हा आता है कि जम भाष्याय के अंगों म मीमांसक क व्यापार की जा न्यूनता विवरण गढ़ है वह उनकी काम्यकुड़ि को लहरा परह है — तिया के लिय नहीं है। इसी नीमिणाय को मन म ला कर भागवत म नी लहा ह —

उद्घोने वृषभो ति महामात्रिकमीश्वर ।

मेष्वरम्पर्य इमति शिद्धि राज्ञाया कल्पनि ॥

वैष्णव कमों की देढ़ में हा फलभुति कही है वह रोचनाय ह। अपान नी लिय ह कि बता को मे कम भज्जे रहे। अतपव न वर किन्तु निराहु शुद्धि भाषात् फल की आशा ऐश्वर व्यरोपयम्बुद्धि ले करे। जो पुरुष एका बरता ह उसे नष्टम्य से प्राप्त होनेवाली शिद्धि मिलती है (भग २२.३.८५)। साराय यत्त्वापि वा म लहा ह कि भमुक भमुक वारणा क निमिन यज्ञ वरे उत्पापि न्युम न भर केषम इनी लिये यम कर कि वे यज्ञ य ह भाषात् यज्ञ बरना अपना करत्य है। काम्यकुड़ि का तो आइ र पर यज्ञ को न ल्य (गीता १३.११) भार नी प्रसार भम्पाय कम भी किया कर। यह गीता क उपरेक्ष का तार ह भार यही भग भगसे अंगों मे ल्यक लिया गया ह।

(४६) चारों भार पानी की धार भा ज्ञे पर कुप का लिना भय था प्रथम रह जाता है (भाषात् दुष्ट जी काम नहीं रहता) उनना ही प्रयोग जन यास ब्राह्मण का तप (नमामागामन) देखा रहता है (भाषात् निरु वायप्रम्भावी विदिक व्यापार की उम त्रुत नामध्यमता नहीं रहती)।

[ इन भासि के व्यिनाय क व्याप्तम य मननेत नहीं ह। पर दीर्घारा न इनक धानी की नाहक र्त्याकानी भी ह। मया व्याप्तमेषु य व्याप्तमन्यन्त नामानिह पर ६। परमु इन निरी धननी पा उत्तान वा विद्याज भी न व्याप्त कर नहीं करनी मन ल्ये त व्याप्त व्याप्तमेषु भौति त्यारन व्याप्तमय (मध्यमावी प्रथावन विद्युत) तावान विद्यावा व्याप्तमय ल्ये त य — इन प्रधार गिनी भी बहर के यह वे भग्यात्म मनना नहीं पाया। अहम् भम्पय या रहा है भर उत्तम्य यह करते भय भी हा रहा है कि परों भी र. ४। ]

इह योगस्थः कुरु कर्माणि संग स्पृक्ष्या भनज्ञय ।

सिद्धधर्षसिद्धधोः समो भूत्या समस्वं याग उप्यत ॥ ४८ ॥

कौरेष श्वारं कर्म बुद्धियागाद्यनंभय ।

बुद्धी शरणमन्विष्ट बृप्याः कर्महत्याः ॥ ४९ ॥

कि कर्म क्या फल कर्म से ही सुख होने के कारण किलका पेह उसी का फल इस स्थाय से जो कर्म करने का अधिकारी है वही कर्म का भी अधिकारी होगा । अतएव इस श्वार को दूर करने के निमित्त बूद्धे चरण म सह कह दिया है कि फल मैं तेरा अधिकार नहीं है । किंतु इससे निष्पत्त होनेवाल तीरुता यह लिङ्गान्तर कराया है कि मन मैं कलाश रख कर करनेवाल मर हो । ('कर्मफलेतु' = कर्मफले हेतुपत्त त कर्मफलेतु ऐसा बहुतीहि समाप्त होता है ।) परन्तु कर्म और उत्सव फल दोनों सुखम होते हैं । इस कारण जटि कोह ऐसा लिङ्गान्तर प्रतिपादन करने क्षे कि फलाशा के साथ फल क्षे मी छोड ही देता चाहिये । तो 'से यी सच मानने के क्षिये अत्य म सह उपकाश किया है कि फलाशा को तो छोड़ते पर इष्टक लाख ही कर्म न करने का अर्थात् कर्म छोड़ने का आपह न कर । सारांश फल कर करने से दुष्क यह अर्थ नहीं होता कि फल की भाष्या को रख और फल की भाष्या को छोड़ करने से यह अर्थ नहीं हो जाता कि कर्मों को छोड़ते । अतएव इस क्षेत्र का यह अर्थ है कि फलाशा छोड़ कर कर्तुष्यकर्म अवश्य करना चाहिये निन्तु न तो कर्म की असुखि मैं करति और न कर्म ही छोड़ते । त्याहां न युक्त इह कम्तु नापि रागः (योग ६ ५४) । और यह उपकाश कर कि फल मिलने की बात अपने बहु मैं नहीं है किन्तु उत्सव लिय और अनेक बातों की अनुकूलता भावरपक है । भटारहवं अ याप मैं किंतु यही अप और भी इष्ट किंवा गता है (१८ १४-१६ और राहस्य प्र ४ ११५ एव प्र १२ टेवो) । अब कर्मयोग का स्पष्ट व्याज मतलाते हैं कि 'से ही योग अथवा कर्मयोग कहते हैं - ]

(४८) हे भनज्ञ ! आपकि छोड़ कर भौत कर्म की किंदि हो या असिद्धि दोनों की समान ही मान कर, 'योगस्थ हो करके कर कर । (कर के लिद होने पा निष्पत्त होने म रहनेवाली) समान ही (मनो ) दृष्टि को ही (कर) दोग कहते हैं । (४९) कर्माणि हे भनज्ञ ! बुद्धि के (ताम्य) योग की अपेक्षा (कर्म) कर्म गुरु ही करीष है । अतएव इस (साम्य) बुद्धि की उत्तम म जा । फलेतु अर्थात् कर एव दृष्टि रख कर काम करने वाले स्मृत इपष्य अर्था दीन या निचसे हैं

॥५॥ कर्मप्यथाधिकारस्ते भा फलेषु कदाचन ।

भा कल्पकलहत्यमूर्ती ते संमोऽस्त्वर्कर्मणि ॥ ४७ ॥

टीकाकार इस श्लोक के पदा का अन्वय कुछ निराले लेणे से स्थान है। ऐसे श्लोक के पहले चरण में तावान् और दूसरे चरण में 'तावान् पर्यं' का अध्याहत मान कर ऐसा अथ स्थान है — उपर्यन्तं यावनाथं तावानेषं उर्ध्वं सम्प्रुदोऽप्य यदा सम्पदते तथा यावान् सर्वेषु देश्यु भव्यं तावान् विवेन्द्राः ब्राह्मणस्य सम्पदते । भव्यान् त्यानपान आदि कर्मों के लिये कुर्वे का विविन्दा उपयोग होता है उठना ही यह तावान में (उबलं सम्प्रुदोऽप्य) भी हो सकता है । इसी प्रकार देव का विविन्दा उपयोग है उठना सब शरीर सुख को उत्पाद करने से हो सकता है । परन्तु इस अन्वय में पहली श्लोक पंक्ति म 'तावान् भौर दूसरी पंक्ति म 'यावान् इन दो पद के अध्याहार कर लेने की भावस्पदता पठन के कारण हमने उस अन्वय और अर्थ को स्वीकृत नहीं किया । हमारा अन्वय और अथ निम्नी मी पद के अध्याहार लिये गिना ही अथ बात है और पूर्व के श्लोक से लिठ होता है कि इसमें प्रतिवादित देवी के कारे अथान् शून्यनिरितं कर्माण्ड का गीतात्वं एस श्वेत पर विवित है । अब शरीरी पुरुष को पश्च याग आदि कर्मों की ओर आवश्यकता न रह जाने से कुछ स्वयं से यह मनुष्यान निया बरतते हैं कि 'न कर्मों का जनी पुरुष न पर, विद्युत छोड़ दे । यह बात गीता का सम्बन्ध ही है । यथाकि यश्चिपि इन कर्मों का पश्च शरीरी पुरुष का भमीष नहीं तथा पश्च के लिये न भही तो भी पश्च याग आदि कर्मों को भपन घास्त्वित बनाय समझ कर बह कभी ओर नहीं सहना । अद्यादेवं भव्याय म भम्बाद् ने भमना निधिन मन स्वरूप कह दिया है कि फलाद्या न रह तो भी भव्याय निकाम कर्मों के भनुगार यह याग आदि कर्मों की जनी पश्च का निकाम तुदि म बरता ही चाहिय (गिरा आज पर लर गीता १३१ पर हमारी या निष्पाणी ह उम इया) यही निकाम विद्युत भव्य भव्य क्षमा कर्मों में स्वतं का विविन्दा ह — ]

(१३) कम बरने का मान तरा गदिगार ह का (विविन्दा का न विद्या कर्मी नी लर भविनार भवान ता म नहीं (भवित्वा मर कम का) भवुष पश्च मिति पर इतु (मन म) रण कर काम ग्रनेवाण न हा भीर कम न बरन का भी त भास्त्र न बर ।

[इस कर्मों के पर्याय दान परम्परा एवं दूसरे के भव्य के गुण हैं । इन भव्यान भवित्वामि न हा कर भव्यान का तरा र स्व देव उपचर रीत ल दान दिया रात्रा ए भीर का बर यह ए न मैं भी भवर भवित्वा मि नहीं दि चे चरों चरण भवेन्द्री की चाहुआ ह । १३१ पर हरह पर दिया है । ए बरने का मान तरा भ रात्रै बरनु अप पर हरह दान हानी ह,

५५ कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं स्वप्नया मनीषिणः  
जन्मब्रह्मविनिमुक्ताः परं गच्छुम्ल्यनामयम् ॥ ५१ ॥

यवा ते मोहकालिङ्गं बुद्धिव्यतितरिष्यति ।  
तदा मन्त्राचिं निवेदं ओतल्पस्य मृतस्य च ॥ ५२ ॥

सुतिविप्रतिपक्षा ते यदा स्पास्यति निष्पङ्का ।  
समाप्तावचला बुद्धिस्तदा यागमवाप्त्यस्ति ॥ ५३ ॥

| यहाँ बों प्रयोगन नहीं है। 'योग शब्द का अध्ययन करना ही कमी है। इससिये पहुँ अर्थ उच्चा नहीं माना ज्या सकता। 'सके अतिरिक्त उनकि कमसु भीषणम् ऐसा सरस अन्वय उगा सकता है उब कर्मसु योगः' ऐसा भोग्य-सीधा अन्वय करना ठीक मी नहीं है। अब करवाते हैं कि 'स प्रकार साम्यवुद्धि से समर्थ करते रहने से व्यवहार का स्वेच्छा नहीं होता और पूर्ण चिह्नि अपका मोष्ट प्राप्त हुए किना नहीं रहता - ]

(१) (समत्व) बुद्धि से मुक्त (बो) शानी पुर्स्य कमफल अत त्याव बहये हैं वे कम के कथ से मुक्त होकर (परमेश्वर के) बुद्धिविरहित पह को आ पुरुष्य हैं। (५२) वन तेरी बुद्धि मोह के गंडले आवरण से पार हो जायगी तब उन गर्वों से तू विरक्त हो जायगा और मुनने की है।

अथात् तुम्हें इउ अधिक मुनने की अनुभव न होगी। क्याकि इन गर्वों के मुनने से मिस्त्रेशास्त्र फल तुम्हें ही प्राप्त हो जाएगा। 'निवेदं शब्द का उपयोग प्राप्तः उत्तारी प्रपञ्च से उत्तराहट या वैदाय के लिये किमा जाय दे। इस क्षेत्र में उत्तरा सामान्य अव उन बना या चाह न रहना ही है। अगरै न्मोह से दीर्घ पढ़ेगा तो पह उत्तराहट विद्याय करक पीछे कठलामे हुए वैद्युत्यविषयक भौतिकमों के सम्बन्ध में है। ]

(५३) (नाना प्रकार के वेदाकृती से भूमार्द हुए तेरी बुद्धि अव उमाविहृषि, मैं किंतु और निष्प्रह द्वारी उन (पह साम्यवुद्धिरूप) पोग तुम्हें प्राप्त होगा।

[ उत्तराय द्वितीय अन्वय के ४४ के न्योह के अनुलाल समग्र वेदाकृती की परम्भुष्ठि म भूले हुए हैं और ये लोग किसी विद्याय कल की प्राप्ति के लिये दुःख दर्श करने की मुन म लगे रहते हैं, उनकी बुद्धि रिष्यर नहीं होती - और मी भधिक वद्वद्य जाती है। 'महिये अनेक उपदेशा का मुनना अह उर वित्त की निष्प्रह उमाविहृषि अवस्था म राप। एसा करने से नाम्यबुद्धिरूप अवस्था तुम्हें प्राप्त होगा और भधिक उपदेश की बातें न रहेगी। एव उम बरने पर मी तुम्हें उनका इउ पाप न स्पाया। इस रीति उ वित्त कमवोगी की बुद्धि या प्रका

बुद्धियुक्तो जहातीह उमे स्वास्थ्यमुपल्लेते ।

तस्माद्यागाय युज्यस्व योग कल्पसु कीदल्लम् ॥ ५० ॥

के हैं। (६) य (साम्य) बुद्धि से मुक्त हो जाएं वह स्नोक में पाप और पुण्य से अविसर रहता है। अतएव योग का आभय कर। (पाप-पुण्य से बच कर) कम करने की चाहुरां (बुधस्ता या सुकि) का ही (कमयोग) कहते हैं।

[इन श्लोकों में कामयोग का व्यष्टिप्रत्यय नहीं दर्शया गया है। इस सम्बन्ध में गीता रहस्य के तीसरे प्रश्नरूप (पृष्ठ ७६-७८) में यह विवेचन किया गया है उमे देखो] : "समं भी कमयोग का तत्त्व - कम की अपेक्षा बुद्धि भेद है - ४९ वें स्नोक में ब्रह्मस्ता है वह अस्यन्त महात्म व्य है। 'बुद्धि' शब्द के पीछे 'व्यवसायान्विता' विद्युत्प्रव नहीं है। इसकिये 'स' स्नोक में उसका अर्थ बासना या 'समस्त होना' चाहिये। बुद्धि योग बुद्धि का अर्थ 'हात करके इस स्नोक का देसा अथ किमा चाहते हैं कि ज्ञान की अस्त्वा कर्म हल्के तर्वे का है परन्तु यह अथ टीक नहीं है। न्यायि, पीछे ४८ वें स्नान में समत्व का व्यष्टिप्रत्यय दर्शया है और ८ व तथा अगले स्नोक में भी वही वर्णित है। इस कारण यहाँ बुद्धि का अर्थ समत्वबुद्धि ही नहीं चाहिये। किसी भी कम की मञ्जर्द बुधां कम पर भवलक्षित नहीं होती। कम पक्ष ही क्षया न हो पर करनेवाले की मर्म या तुरी बुद्धि के अनुसार वह शुम अपवा अपुम दुना करता है। अतः कम की अपेक्षा बुद्धि ही भेद है। न्यायि नीति के तत्त्व का विचार गीतारहस्य के पांचवें चारहवें और पन्द्रहवें प्रश्नरूप में (पृष्ठ ८८ ३८६-३८८ और ४८ - ४८८) किया गया है। "स कारण यहाँ और अधिक चर्चा नहीं करते। ८३ वें स्नोक में ब्रह्मस्ता ही है कि वासनामङ्क बुद्धि को सम और शुद्ध रूपमें भिये काम अनाय का निषय करनेवाली व्यवसायात्मक बुद्धि पहचे ही निर ही बनी चाहिये। लक्ष्मि 'साम्यबुद्धि' इस शब्द से ही लिख व्यवसायात्मक बुद्धि और शुद्ध बालना (वासनात्मक बुद्धि) इन दोनों का बोध हो जाता है। यह साम्यबुद्धि ही आवरण अपवा कमयोग की वह है। इसकिये ३ वें श्लोक में मगमान ने पहचे जा पह कहा है कि कम करके भी कम की बाधा न रहनेवाली बुद्धि भवता योग मुझे ब्रह्मस्ता है उसी के अनुसार इस स्नोक में नहात नि कम करते समय बुद्धि को दिघर, पवित्र सम और शुद्ध रूपमा ही वह 'युक्ति' या 'कीदल्लम्' है और उसी को 'योग' कहते हैं। इन प्रश्नार बोग शब्द की दो चार व्यापका की गय है। ८ व श्लोक के योग कमतु कीदल्लम् इस पक्ष का "स प्रश्नार चरण अपवा पर मी बुद्ध ल्येगों ने उसी गीतावाली से क्षय आने का प्रयत्न किया है नि कमतु योगः कीदल्लम् - कम म ओ योग ह ब्रह्म औद्योग कहते हैं। पर 'कीदल्लम् शब्द की व्याप्त्या करने का

विषया विनिवेदनत निराहारस्य वहिन ।  
रसवर्ज रसोऽप्यस्य परे छूषा निवेदनत ३ ५९ ॥

यत्तता इपि कोस्तंय पुरुपस्य विषयित ।  
इन्द्रियाणि प्रमाणीनि दृरन्ति प्रसमं मनः ॥ ६० ॥

(५९) निराहारी पुरुप के विषय छूट चाह तो भी (उनका) रस अर्थात् चाह नहीं छूटती। परन्तु परजड़ का अनुमत द्याने पर चाह मी छूट जाती है — अर्थात् विषय आर उनकी चाह नेतों छूट जाते हैं। (६०) फल यह है कि देवत (निंद्रिया के अमन करने के लिये) प्रयत्न करनेवाले विश्वान् के भी मन को है दुन्तीपुर ! ये प्रयत्न निंद्रियों व्याकुलात्मक से मनमानी ओर गाँध लेती है।

[ अम से निंद्रिया का प्राप्ति हाता है। अतपव निराहार या उपवास करने से निंद्रियों अशक्त होतर अपने अपने विषयों का दूर्घटना केवल बहुत्ती की अशक्तता भी बाधितिया हुई। अमग मन की विषयवासना (रुद) कुछ कम नहीं हाती। उन्हिये यह वासना विष्टसे नहीं हो रस व्याहारन की प्राप्ति करना चाहिये। इस प्रसार व्याह का अनुमत ही द्याने पर मन एव उल्लेख साथ ही साव निंद्रियों मी आप-ही आप तात्पर में रहती है। निंद्रियों तात्पर में रहने के लिये निराहार आदि उपाय आवश्यक नहीं — पहीं यह अभ्यक्त वा भावार्थ ह। आर यही अय आगे छठे अभ्याय के अस अभ्यक्त मै स्पष्टता से वर्णित है (गीता ६ १६ १७ और ३ ३ ७ देखा) कि योगी का आहार निष्पत्ति होते। वह आहारविहार आदि का विस्तृत ही न छोड़ देते। साराह गीता का यह विश्वान्त भ्यान मै रणना चाहिये कि शरीर का कृष्ण करनेवाले निराहार आदि साधन एकाही है अन्यथा त्याज्य है। निष्पत्ति आहारविहार और व्याहारन ही निंद्रियनिप्रह का उत्तम साधन है। अस अभ्यक्त मै रह राज्य का विद्या से अनुमत लिये जानेवाल भीना क्षुब्धा इत्यादि रस ऐसा अर्थ करके कुछ लेंग यह अप करते हैं कि उपवासों से शेष निंद्रियों के विषय यहि छूट मी जावें तो भी विद्या वा रस अर्थात् द्याने वीने की आज कम न होतर बहुत धिनों के निराहार वा और भी अधिक दीन हो जाती है और मास्त्रत मै ऐसे अर्थ का एक अभ्यक्त मी है (मात्र ३ ८)। पर हमारी राय मै गीता के उत्तर अभ्यक्त का ऐसा अर्थ करना ठीक नहीं। क्योंकि दूसरे वरण से यह मैल नहीं रामता। उक्त अतिरिक्त मास्त्रत मै 'रस शुद्ध नहीं 'रत्न है और गीता के अभ्यक्त का वृस्तय वरण मी बहों नहीं है। अतएव मास्त्रत और गीता के अभ्यक्त को एकापर मान ज्ञान उपचित नहीं है। अब आगे के दो अभ्यक्त मै भार अधिक स्पष्ट कर जाना है कि जिन प्रद्वानाव्याकुल से पुरा इनिष्वनिप्रह हो नहीं सकता है :- ]

अर्दुन उवाच ।

६६ स्थितप्रकाश्य का भाषा समाप्तिस्पत्य कहाय ।

स्थितघीः कि पमापेत किमासीत ब्रजेत किम् ॥ ५४ ॥

भीमगान्तुषाच ।

प्रजाहाति यदा कामान्तरा न्यार्थ मनोगताम् ।

आत्मन्येवामना तुष्ट स्थितप्रकाश्यते ॥ ५५ ॥

दुश्काल्पनुदिप्तममा दुखपु विगतस्युह ।

दीतरागमयकाष्ठ स्थितघीमुनिकृच्यते ॥ ५६ ॥

ए सवान्नामिल्लेहस्तत्वाप्य द्वामाणुमम् ।

नाभिकन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रका प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥

यदा संहरे जाय द्वमोऽग्नामीष सवशः ।

शन्दिद्याणीन्द्रियायेष्यस्तस्य प्रका प्रतिष्ठिता ॥ ५८ ॥

| सिर हा आय उष्ट वितप्र कहत है । अब अर्दुन का ग्रन्थ है कि उसका  
| अवहार कैसा होता है । ]

अर्दुन ने कहा - ( ५ ) हे देव ! ( मुहं उल्लङ्घतो कि समाप्तिस्प मित  
प्रका किं ए ? ) उस स्थितप्रकाश का गोस्ता बठना भार बड़ा रहता है ।

| [ “स क्षोष में नाया शाष्ट लक्षण के अर्थ में प्रयुक्त है और हमने  
| उत्तरा मापान्तर उष्टकी माद् धात के अनुकार किये हैं इस्या है । गीता  
| राहस्य के पारहें प्रसरण ( पृ ३६ - ३३ ) में लगव कर दिया है कि विष्टप्रह  
| का अताथ अमयोग्याप्य का आशार है । और इसके अग्रसे वजन का महस्त जात  
| हो जायगा । ]

भीमस्तान् ने कहा - ( ६ ) हे पाप ! वम ( काँ मनुष्य आमे ) मन का  
उमस्त काम भर्ती बासनामौं को छोड़ा है और अपने भाष में ही सन्तुष्ट होकर  
रहता है । तथ उसको विष्टप्रह कहत है । ( ५६ ) तथ मैं किसके मन को नह  
नहीं होता मुम में कियही भानकि नहीं; और गीति मय पृष्ठ दोष किलक तूट  
गये हैं उसका स्थितप्र मनि कहते हैं । ( ३ ) तथ जाना मैं किसका मन नि नह  
हो गया और बपापात द्वम नामुम का किस भानम् या कियाइ मी नहीं  
( कहना चाहिये कि ) उक्ती कुहि विष्टप्र वर ( ८ ) किं द्वारा कृता भजते  
( हाथ पैर भाड़ि ) भवयव तथ भोर मैं किंहीं कृता है । उक्ती द्वारा वर जाए  
पुष्प इन्द्रियों के ( या त रसय भाड़ि ) कियों मैं ( अपनी ) इन्द्रियों का धैर लेता  
ए तथ ( कहना चाहिये कि ) उक्ती कुहि विष्टप्र हुए ।

६३ यिहाय कामास्यं सर्वान् पुर्मात्ररति निःस्पृहः ।

निममा निरहुकार स शान्तिमधिष्ठुति है ७६ ॥

परा बाही स्थिति: पार्य नेत्र प्राप्य विमुक्ति ।

स्थित्यास्थामन्तकालं पि ब्रह्मनिर्वाजमूरुचति ॥ ७२ ॥

“ति श्रीमद्भगवद्वाराम् उपनिषद्सु ब्रह्मस्त्रिया पौराणे श्रीकृष्णार्थस्त्रा  
सरस्वत्योगा नाम दिरीयोऽप्याम्” ॥ २ ॥

विषय ( उसकी धार्ति महङ्ग हुए किना ही ) प्रैष करते हैं उस ही ( सभी ) धार्ति भिस्ती है। विषयों की अस्ता करनेवाले को ( वह धार्ति ) नहीं भिस्ती ।

[ “सु कांक का यह भर्ते नहीं है कि धार्ति करने के लिये कर्म न करना चाहिये। प्रस्तुत भावात् यह है कि यापारम् सोमा का मन फलशया से या काम्यवासना से परदा रहता है और उनके कर्मों से उनके मन की धार्ति किया जाती है। परन्तु ये विद्यावस्था में पहुँच गया है उसका मन फलशया से शुरू नहीं होता। किन्तु ही कर्म करने की क्षमी न हों। पर उनके मन की धार्ति नहीं आवती। यह सुमुखीरीगा धार्ति का रहता है और उब काम किया जाता है। अनपृथक् उसे सूत्र बुल जी व्यष्टि नहीं होती। ( उक्त ६४ वीं कांक और गीता ४१ लेयो)। अब “सु विषय का उपस्थार करके ब्रह्मस्थे है कि स्वित्प्रवृत्ति जी “सु रिष्टि का नाम क्या है ? - १

(७१) ये पुरुष काम (भवात् आसदि) ओंकर और निष्ठा हो सके (भवात् म ) जाता है पुरुष किसे समर्पण और अद्वितीय नहीं होता उसे ही शारित मिलती है।

[मन्यासमानताएँ के दीक्षाकार 'ए चरति' (बर्ता है) पर वह मौजूद  
मौंगता फिलता है। ऐसा अप करते हैं परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है। फिलते  
६४ वै और ६७ व सोइ में चरत् एव 'चरता' का यो अप है वही अप  
यही भी करना चाहिये। गीता म हेमा उपेश कही भी नहीं है कि स्थितप्रश्न  
मिला मौंगा कर। हों 'सक विष्ट ६४ वै सोइ में यह तथा कह दिया है कि  
स्थितप्रश्न पुरुष 'निष्ठी वै जपने स्वाधीन रूप कर विष्मा मै बर्ते'। अतएव  
'चरति' का ऐसा ही अर्थ करना चाहिये कि बर्ता है अर्थात् ज्ञात के  
अवहार करता है। श्रीसमय रामानुजस्तानी ने नासदोष के उत्तरार्थ मै इत  
ज्ञात का उत्तम वर्णन किया है कि नि न्यु चतुर पुरुष (स्थितप्रश्न) अवहार  
मै कैसे बरता है। भार गीतारहस्य ५ लोकार्थी प्रकरण के विषय ही वही है। ]

तानि सवाणि संयम्य युक्त आसीत मत्पर ।  
वने हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रक्षा प्रतिष्ठिता ॥ ६३ ॥  
स्थायतो विषयाम पुंस संगस्तपूपजायेत ।  
संगात्संजायते कामं कामाक्षोऽभिजायते ॥ ६४ ॥

(६३) (अतपर) इन सब नित्रिया का संयमन कर मुक्त अशात् पोगमुक्त और मन्त्ररायण होकर रहना चाहिये। इस प्रकार इन्हीं निर्वाण अपने स्वाधीन हो जाएं (कहना चाहिये कि) उसी कुदि विषय हो गा।

[ “स लाल में कहा है कि निष्पत्ति आहार से इन्द्रियनिप्रह करके साथ ही साप ब्रह्मशान की प्राप्ति के लिये मन्त्ररायण हना चाहिये। अपार् भूर मै चित्त स्वाना चाहिये। ६ व स्पृह का हमने जो अथ किया है, उससे प्रकृत हागा कि अमर हनु स्पा है। मनु ने मी निरे नित्रियनिप्रह करनेवाले पुरुष का यह शारा किया है कि अग्नानिनिद्रियप्राप्तो विष्टस्तमपि करति (मनु ७) भूर उसी का अनुवार ऊपर के ६ वे स्पृह में किया है। सारांश इन तीन कालों का भावात्पर यह है कि विस्तृतप्रह हैना हो उसे अपना गहर विहार निष्पत्ति रख कर अग्नशन ही प्राप्त करना चाहिये। ब्रह्मशन हाने पर ही मन निर्विमय होता है। शारीरिक उपाय तो अपरी है – सच्चै नहीं ‘मन्त्ररायण’ पर से यहाँ मक्किमांग का भी भारम्भ हो (गीता ५ १४ वाचा)। ऊपर क स्पृह में ज मुक्त शब्द है उक्ता अथ याम से रुद्यार या भ्रा रहा है। गीता ६ १० में ‘युक्त शब्द है उक्ता अथ निष्पत्ति है। पर गीता में यह शब्द का संर्वता का अथ है – शास्त्रियुक्ति का या याम गीता म बलवाना याम है अमरा उपयाग करके तानुमार कमन सुप्रदुर्घातो का शास्त्रियुक्त लहौर कर, प्यवहार करने में लक्ष्य पुरुष (गीता ६ २५ वाचो)। इन रुक्ति से निष्पात एव पुरुष का ही विषयम् बहूत है। उक्ती अवश्य ही निदावन्धा बालार्थ है और इन न याम क तथा पोचव एव बाहर्व अप्यापि के अन्त म इसी का दण्डन है यह फलन किया कि दिव्या वी चाह छंट कर विष्टप्रह हैने क विष क्या भास्तप्यत है? अब भाग्ये भाग्य में यह अनन्त रुक्ति कि दिव्या म चाह किमी उपर्य हानी है? न्यु चाह म भागे पर्यार काम प्राप्त वा? कि यह इम उपर्य हात है? नीर अमा मै उक्त मनुप्य का नाम “न हा अका है” एव इनम् दावारा किये प्रकार विष तकना है! – ]

(६४) दिव्या का विन्दन उर्वेवान पुरुष का इन किर्वां मै बड़ा अना है। निर इन वाम से यह बासना उपर होती है कि हमारा चर्य (भाष्ट्रपृष्ठ दिव्य) चाहेय भर (इस काम की दृष्टि इन के विष म) उक्त काम में ही चाप की

कोषास्त्रविति सम्माहः सम्माहात्स्मृतिविद्धिम् ।  
 स्मृतिभ्रशापुद्दिनाशा दुद्दिनाशात्मजस्यति ॥ ६३ ॥  
 एवंपूर्वविद्युक्तिस्तु विषयानिनिवेद्येवरन् ।  
 आत्मवद्यैविद्येयात्मा प्रसादमभिमस्तुति ॥ ६४ ॥  
 प्रसादं सद्गुर्सार्थाणां हानिरस्योपजायते ।  
 प्रसन्नतेऽसो द्वाषु दुद्दिः पर्यविष्टुत ॥ ६५ ॥  
 नास्ति दुद्दिखुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।  
 न चामायप्तं शामितरप्तामतस्य द्वृतः सुखम् ॥ ६६ ॥

उल्लिखि होती है (६३) कोष से सम्मोह अर्थात् भविष्यत होता है सम्मोह से स्मृतिभ्रष्ट, स्मृतिभ्रष्ट से दुद्दिनाश और दुद्दिनाश से (पुरुष का) सद्गुर्सार्थ हो जाता है। (६४) परन्तु अपना आत्मा अर्थात् अस्तावरण दिल्ले काषू में है वह (पुरुष) प्रीति आर देष से घटी हुए अपनी स्वाधीन नित्या ऐ विषया में कर्त्तव्य करके भी (चित्र से) प्रसन्न होता है। (६५) चित्र प्रसन्न रहने से उल्लेख द्वय दुग्धो का नाश होता है। क्षणिकि किञ्चका चित्र प्रसन्न है उल्लेख दुर्दि भी तत्काल स्थिर होती है।

[ “न दो स्मैर्का म सद्गुर्सार्थन् है कि विषय या कर्म को न छोड़ रिष्टत  
 प्रश्न केवल उनका सहाय्य कर दियप्प में ही निराचारदुर्दि से बचता रहता है।  
 और उसे वा शान्ति मिलती है वह कर्मयोग से नहीं किन्तु फलाशा के स्वाग  
 से प्राप्त होती है। क्षणिकि इसके चित्रा अर्थ जाती है “स रिष्टप्रश्न म भीर  
 सन्वात्मागत्वाके रिष्टप्रश्न में कोई मत नहीं है। इतिव्यत्यमन निरिष्टा और  
 शान्ति के गुण दोनों को ही पाहिये। परन्तु इन दोनों में महात्म का भूत वह है  
 कि गीता का रिष्टप्रश्न कर्मों का सम्याप्त नहीं करता। किन्तु ओरनहींप्रश्न के निमित्त  
 समस्त कर्म निष्कामनुद्दि से किया करता है भार सन्वात्मागत्वास्था रिष्टप्रश्न  
 करता ही नहीं है (तेजो गीता ३ २ )। किन्तु गीता के उन्वात्मार्गीय थीका  
 भार इस में को गाय समझ कर साम्प्रदायिन गाप्त है प्रतिपादन किया करत  
 है कि रिष्टप्रश्न का उक्त वर्णन सम्याचमाग का ही है। अब “स प्रकार किञ्चका  
 चित्र प्रसन्न नहीं उसका वर्णन कर रिष्टप्रश्न के स्वरूप को भार भी अधिक  
 व्यक्त करते ह - ]

(६६) ये पुरुष चक रीति से पुरुष अर्थात् दोगमुक्त नहीं है, उल्लम (रिष्ट) दुर्दि भीर मावना अपना ददुर्दिक्षण निष्ठा भी नहीं रहती। किंतु मावना नहीं उसे शान्ति नहीं; भीर किंतु शान्ति नहीं उसे कुण मिथेगा बढ़ोये।

[यह ब्राह्मी रिपति क्रमयोग की अन्तिम और असुखम् रिपति है (डेली गीतारं प्र पृ ३२ और २७) ) और इसम् विशेषता यह है कि इसम् प्राप्त हो जाने से चिर मोह नहीं होता। यहाँ पर इस विशेषता के कल्पने का कुछ कारण है। वह यह कि यहि किसी दिन विद्योग से पही-ना-पही के सिय एस ब्राह्मी रिपति का अनुभव हो सके, तो उससे कुछ व्याख्यातिक लाम नहीं होता। क्योंकि किसी भी मनुष्य यहि मरते समय वह रिपति न रहगी तो मरणकाल म जैसी बासना रहेगी उसी के अनुसार पुनर्जन्म होगा (गीता गीतारहस्य प्र १ पृ ११)। यही कारण है क्यों ब्राह्मी रिपति का वर्णन करते हुए इस श्लोक म स्पष्टतमा कह दिया है कि 'अन्तकार्यापि = अन्तकाल मे' भी रिपतप्रब्रह्म की यह अवस्था स्थिर करी रहती है। अन्तकाल म मन के शुद्ध रहने की विशेष आवश्यकता का वर्णन उपनिषद् म (या ३ १४ प्र १०) और गीता मे भी (गीता ८ ८-९) है। यह बासनामुक अस असम अनेक बन्ना के मिलने का कारण है। असक्ति प्रकृति ही है कि अन्तकाल मरने के समय तो बासना शून्य हो जानी चाहिये। और चिर यह भी बहना पाता है कि मरणसमय म बासना शून्य होने के क्षिय पहले से ही जैसा अस्यात् हो जाना चाहिये। क्याकि बासना को शून्य करने का क्रम अस्यकृत कठिन है। और किसा 'धर्म की विशेष कृपा क उत्पाद किसी का भी प्राप्त हो जाना न केवल कठिन है बरन् असम्भव भी है। यह तत्त्व विशिष्यम् म ही नहीं है कि मरणसमय म बासना शुद्ध होनी चाहिये किन्तु अस्यात् भूमा म भी यह तत्त्व भझीहत हुना है। (ऐपा गीतारहस्य प्र. ११ पृ ८८३)]

इस प्राचार भीमगान के गाय हुए - अपान छह हठ - उपनिषद् में व्याख्यानतागत योग - अपान क्रमयोग - शास्त्रविषयक भीहृष्ण और भगुन के लकार में लाम्बयोग नामक दूसरा अस्यात् समाप्त हआ।

[इस अध्याय में भारम् मैं लाम्ब अपान नम्भात्माग का विवेचन है। इस कारण इसको लाम्बयोग नाम दिया गया है। परन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिये कि पूरे अध्याय मैं वही विषय है। पर कही अध्याय मैं ग्रावः अनेक विरक्ति का वर्णन हुआ है। इस अध्याय मैं श विषय भारम् म भा गया है अपान गे विषय उनमें प्रमुख है उसके अनुकार उन अध्याय का नाम रक्त दिया गया है। (ऐपी गीतारहस्य प्रमरण १४ पृ ८८८)]

६६ विहाय कामान्यं सर्वान् पुमांवरति निश्चृणु ।

निममा निष्ठकारं स दान्तिमधिष्ठिति ॥ ७१ ॥

पपा द्वाष्टी स्थितिः पार्थं नैनो ग्राव्य विस्तुष्टिः ।

स्थित्यास्यामन्तकप्रस्तुपि द्राघिर्वाणमृच्छति ॥ ७२ ॥

तेऽपि भीमद्वग्नाशीतामु उपनिषद्गु द्राघित्याया गोग्यां श्रीकृष्णाकुन्दनवारे  
साम्बयोगा नाम वितीवोर्ख्याय ॥ २ ॥

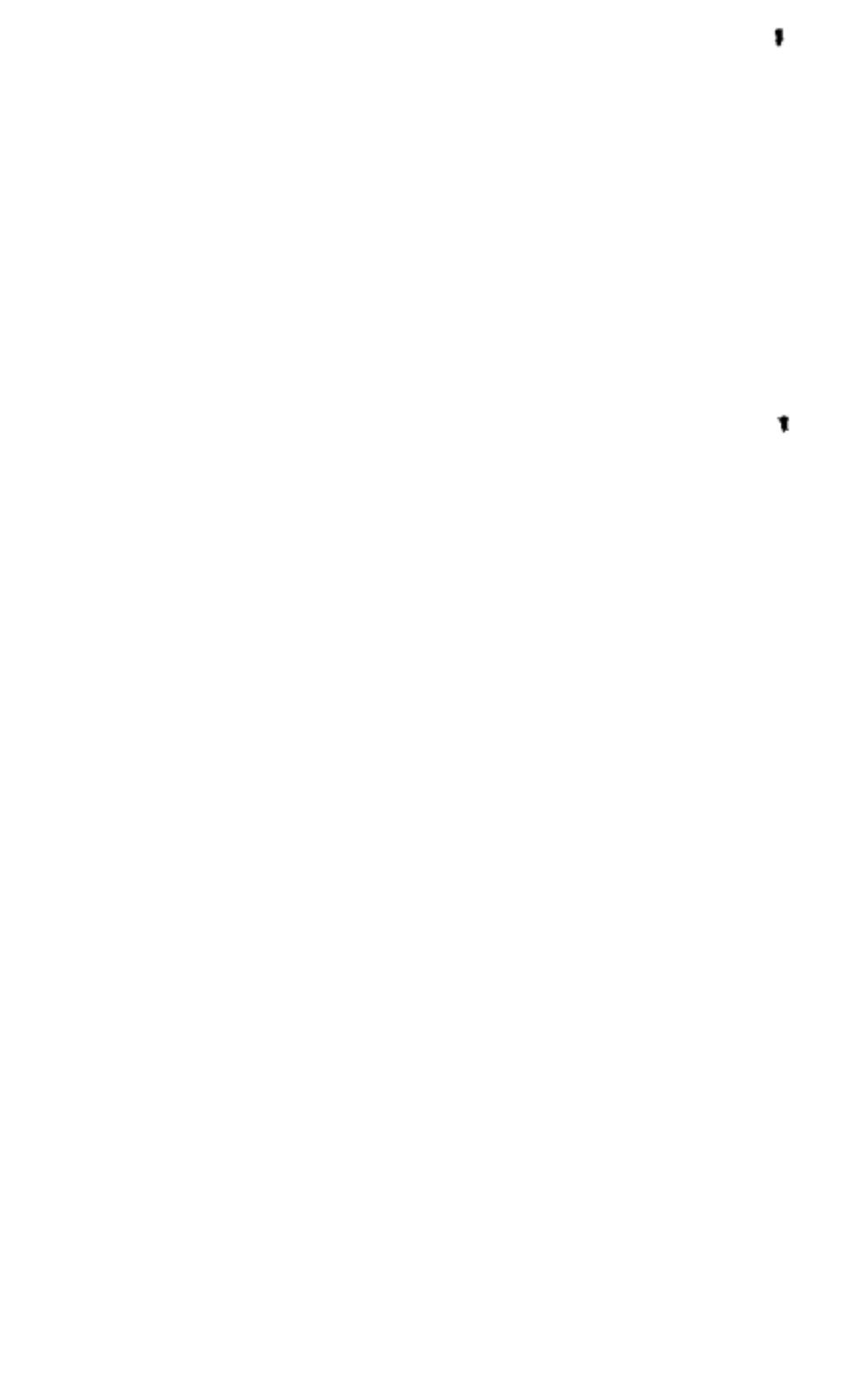
दिव्य ( जमी शान्ति मह त्रुप मिला ही ) प्रवेष्ट करते हैं उस ही ( उभी ) शान्ति  
मिलती है । दिव्यों की एज़ फरनेवाले का ( मह शान्ति ) नहीं मिलती ।

[ इस अध्यात वा यह अर्थ नहीं है कि शान्ति करने के लिये कर्म न  
करना चाहिये । प्रथुत भावाथ यह है कि शाश्वत अंगों का मन पश्चाता से  
या काम्यकालना से पवात जाता है और उनके कर्मों से उनके मन की शान्ति  
किंवा जाती है । परम् जी दिव्यावस्था में पहुँच गया है उससे मन की  
पश्चात नहीं होता । किनन ही कर्म करने का क्यों न हो ? पर उसके मन की  
शान्ति नहीं आती । वह समुद्रसरीया शान्ति का रहता है और उब काम  
किया करता है । अतएव उस सुप्रदुष भी एवा नहीं होती । ( उक ६४ वों  
अध्यात आर गीता ८१ इत्य ) । अब “स दिव्य वा उपसहार करके फलते  
हैं कि दिव्यतप्रति की ज्ञ विद्धति का नाम क्या है ? ” ]

( ७३ ) यं पुरुषं काम ( अशानुभासिति ) छोटकर और निश्चृह एकरके ( व्यवहार  
म ) ज्ञना है एवं जिन ममता और भद्रद्वार नहीं होता, उस ही शान्ति मिलती है ।

[ यु-यामसागरावधि क गीतामार इत चरति ( ज्ञेता है ) एव का गीत  
मालगा दिलता है ऐता भय वरत ह परन्तु य भय दीन नहीं है । विष्णु  
५८ व और ५० व अध्यात म वरद् एव विलता का या भय ह वही भय  
यहा भी करना चाहिये । गीता में या इत्यु वही भी नहीं ह कि दिव्यतप्रति  
निला माला कर । ही इस दिव्य इत्यु क साम में पह भव कह दिया ह ति  
दिव्यतप्रति पुरुष इन्द्रिया क जन साधीन रूप कर दिया भी वा । अतएव  
चरति का ज्ञना ही भय करना चाहिये कि ज्ञेता ह अशानु वरद् के  
व्यवहार वरना ह भृत्यमध रामगानस्थामी न गमयोप न उत्तराप मै इत  
दत का उत्तम वरन दिया ह कि निश्चृह चतुर पुरुष ( दिव्यतप्रति ) व्यवहार  
म बह वरदा ह ति गीतारहस्य क वाङ्मय प्रसरण क दिव्य ई वही ह । ]

( ७४ ) ह पव ८१ । चिति वर्णी ह इत या ज्ञन पर कार भी मोहै नहीं है  
द्वाया । ति । एकां म एकां ज्ञन क समव म भी हर दिव्या मै रह कर  
बह नरन्त्र भया । ति । एकां म एकां म भी हर दिव्या मै रह कर



## तृतीयोऽध्याय ।

अर्जुन उवाच ।

ज्यायसी अस्तम्भपस्ते मता तुदिर्जनादृन् ।

तत्किं कर्मणि थारे मा नियोजयसि केशव ॥ १ ॥

व्यामिष्टेष्व दाक्षेम तुदिं माहस्यसीष मे ।

तत्रकं वद मिष्टिष्य येम व्योऽहमानुयाम ॥ २ ॥

भीमगवालुवाच ।

॥ ३ ॥ छामेऽस्मद् द्विषिदा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयात्म ।  
हानयांगम सास्यानां कर्मयोगेण योगिनाम् ॥ ३ ॥

## तीसरा अध्याय

[ अर्जुन को भय हो गया था कि मुझ मीमन्द्रेष आटि को मारना पड़ेगा । अतः सास्यमार्ग के अनुसार आत्मा की नित्यता और अद्योत्पत्ति से यह विद्धि दिया गया कि अर्जुन का मय शून्य है । इस त्वर्त्तम एव योहा-सा विवेचन करके गीता के मुख्य विषय कर्मयोग का वृत्तरे अध्यात्म में ही आरम्भ किया गया है । भीर वहा यहा है कम करने पर भी उनके पाप पुण्य से बचने के लिये देवत यही एक युक्ति या योग है कि वे कम साम्यतुदि से किये जाये । इसके अनन्तर अत्र मैं उम कर्मयोगी दिव्यत्वात् का बनन भी किया गया है कि किसी तुदि इस प्रकार सम हो गा है । परन्तु इतने से ही कर्मयोग का विवेचन पूरा नहीं हो जाता । यह बात सच है कि कोइ भी काम उमतुदि से किया जावे तो उक्ता पाप नहीं अप्ता । परन्तु कर्म की अपेक्षा उमतुदि की ही अपेक्षा विमाशरहित विद्धि होती है ( गीता ४ ) । तब फिर दिव्यत्वात् की नार तुदि का सम कर सेने से ही काम चल जाता है । "सम यह विद्धि नहीं होता कि कम करना ही चाहिये । अतएव तत्र अर्जुन ने यही गदा प्रभूप मै उपनिषत् की तब मानान् "य अप्याय मैं तत्र भाग्ये न पाप मै ग्रन्तिश्वन करत हूँ कि कम करना ही चाहिये । ]

अर्जुन न बहा - ( १ ) हे उनाइन ! वहि तुग्हारा जही मत हूँ, कि कम की नपक्षा ( साम्य ) तुदि ही भड ह लो ह कश्व । मुझ ( मुझ २ ) पार कम मैं क्या आश्रम हा ? ( ३ ) ( इसने म ) व्यामिष अथात् लन्दिष्य भास्य करन तुम मेरी तुडि की ज्ञान म दाम रह दा । इतनिय तुम देरी । एक ही बात तिथिन रह रुह दर्शामा । इसम सज भेष भवान कम्याय प्राप्त हा ।

भीमगवान न बहा - ( ४ ) ह निष्पाप रुजन दर्शन ( भवन् दूत भवाप

[यह शास्त्री रिपति अम्योग की अनुत्तम और असुखा रिपति है (ऐसो पीताम् प्र पृ. २१२ और २६०) और इसमें कियोरता यह है कि इसमें प्राप्त हुए ज्ञान से किसी भी मोह नहीं होता। वहाँ पर "स विद्यापते" के ज्ञानपूर्ण कारण है। यह यह नि यति किसी भी दिन विषयोग से पश्ची-आ-पश्ची के लिये इस शास्त्री रिपति का अनुमत हो जाए, तो उससे तुड़ आरक्षालिङ्ग सान नहीं होता। स्वयंकि किसी भी मनुष्य यहि मरते समय यह रिपति न रहनी तो मरणकाल में केसी कासना रहेगी उसी के अनुसार पुनर्जन्म होगा (इत्या मीतारहस्य प्र १ पृ २९१)। पहीं कारण है कि शास्त्री रिपति जो बजन अरते हुए "स भोक्ता म स्वप्नदत्ता कह दिया है ति 'अन्तकाळं'पि = अन्तराल में भी रिपतपूर्ण की पहुँच भवस्था रिपत करी रहती है। अनुमाल म मन के तुड़ रहने की विधिय भावस्थकता का बजन उपनिषद् म (ए ३ २४ ३; प्र ३ १ १) और गीता में भी (गीता ८ ६-७) है। यह बासनामक कल भगवत् अनेक ब्रह्मो के गिरजे का कारण है। अन्तिमे प्रकृत ही है ति अन्तराल मरन के समय तो बालना धन्य हो जानी चाहिये। भारत तिर यह नी कहना पस्ता है कि मरणसमय म बालना धन्य होने के लिय पहसु के ही बेसा अम्यास हो जाना चाहिये। क्याकि बालना को धन्य करने का क्षम भव्यता कठिन है। भारतिना इधर की विधिय हृषा के उपरा किसी को भी ग्रास हो जाना न क्षम बठिन है बरत असमय मी है। यह तत्त्व विकल्पमें भी नहीं है ति मरणसमय में बालना धन्य होनी चाहिये किन्तु अम्यास ब्रह्मों म नी यह तत्त्व भद्रीहृत हुआ है (इत्या मीतारहस्य प्र १३ पृ २८३)]

इन प्रकार भीम्याशन के ग्राम एवं - अपान एवं एवं - उपनिषद् में व्रद्धपिण्यामत्वगत धोय - लमात क्लवाग - शास्त्रकिळ भीरुण भार अमून के ग्राम म लाम्यपाय नामक दृश्या भव्याय लमास एवा।

[इन भव्याय में भारतमें लाग्य भव्यका लन्द्यामन्द्याग का विवरन् है इन कारण इन्होंने लाग्यपोग नाम दिया द्या है। परन्तु इसमें यह न लमास लेजा चाहिये कि पूरे भव्याय में वही विवर है। इस ही भव्याय में ग्राम्य भारतमें भाग्या है लभरा य दिव्य वनम प्रसूत है इनका अनुमाल उन भव्याय का नाम राम दिया द्या है (इत्या मीतारहस्य प्रग्रन्थ १३ पृ २८८)]

के सब कलने के मौजूद से ही उनका प्रचार होता आ रहा है। वह कुस्तने की ओर भावशक्ता नहीं कि कम कष्ट होता ही है "सुहिते पारे का उपयोग कलने के पहले ल्पे मार कर कित प्रकार वैद्य ध्येय घुट कर लेते हैं उसी प्रकार कर्म करने के पहले ऐसा उपाय करना पड़ता है कि किसीसे उसका कष्टस्त्र जा देय मिल जायें। और ऐसी शुर्कि से कम करने की स्थिति को ही 'नैष्ठकर्म' कहते हैं। इस प्रकार कन्दकवरहित कर्म मोक्ष के लिये जापन नहीं होता। अतएव मात्राशास्त्र का यह एक महत्वपूर्ण प्रभ द्वारा होते हैं कि यह स्थिति केवल प्राप्त भी नहीं भीमालक सेवा उच्चा यह उक्त द्वारा होते हैं कि नित्य और (निमित्त होने पर) नैमित्तिक कम ता करना चाहिये पर काम और नित्यिक कम नहीं करना चाहिये इससे कम का कष्टस्त्र नहीं रहता और नैष्ठक्याशया मुस्तम रीति से प्राप्त ही जाती है। परन्तु देवान्तराश्वर ने खिदान्त किया है कि भीमालकों की यह शुर्कि गम्भीर है और इस बात का विवेचन गीतारहस्य के "सब प्रकरण (पृष्ठ ७१)" में किया गया है। कुछ और सेवा का कथन है कि यहि कर्म लिये ही न जाव सो उनसे बाजा लेसे हो सकती है। "सुहिते उनके मदानुसार नैष्ठक्य भक्त्या प्राप्त करने के लिये सब कमों ही को छोड़ देना चाहिये। इनके भूत से कर्मरहस्यता की ही नैष्ठक्य कहते हैं। तीसे स्वरूप मै भृत्यावा गया है कि यह भूत दीर्घ नहीं है। इससे तो सिद्धि अर्थात् मोक्ष मी नहीं निष्क्रिया; और पौत्रके स्वरूप मैं इसका कारण भी जात्या दिया है। यहि हम कम को छोड़ देने का विवार करें, तो बत तक यह देह है तब तक सोना भेजना इत्यादि कम कमी कह ही नहीं सकत (गीता ७ ९ और १८ ११)। इत्यादि दोइ मी मनुष्य कर्मरहस्य कमी नहीं हो सकता। कृष्ण कर्मरहस्यरूपी नैष्ठक्य भक्त्यमव है। सारांश कर्मरहस्य किस्मु कमी नहीं मरता। "सुहिते देना को" उपाय लोचना चाहिये कि जिससे वह विपरहित हो जाय। गीता का विकास है कि कमों मैं से अपनी भाविति को हटा सेना ही इसका एकमात्र उपाय है। आगे अनेक स्थानों मैं इती उपाय का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। परन्तु उत पर मैं सहा हो सकती है कि यथापि कमों को हो देना नैष्ठक्य नहीं है उथापि सम्यात्ममागरामें वा उत कमों का सन्यास भक्त्यात् स्थाग करक ही मौभ प्राप्त करते हैं। अतः मौभ भी प्राप्ति के लिय कमों का स्थाग करना भावशक्त है। इसका उक्त गीता इस प्रकार दीर्घ है कि सन्यात्ममागरामा का मौभ तो मिलता है सही परन्तु वह कुछ उम्ह कमों का स्थाग करने से नहीं मिलता। किन्तु मामसिद्धि उनके ज्ञन का कल है। यहि देवत कमों का स्थाग करने से ही मौभमिति होती है ता पर उपाय का भी शुर्कि मिलनी चाहिये। "मसे ये नीन बात मिल हाती ह - (१) नैष्ठक्य तुउ कम-प्रयत्ना नहीं है (२) कमा को मिलून स्थाग हने का का वितना भी प्रयत्न क्यों न करे परन्तु ये पूर्ण नहीं उक्त भार (३) कमों को स्थाग देना लिहि

न कर्मणामनारम्भार्थकर्त्तुं पुरुषाऽनुते ।  
न च संन्पदमाद्य सिद्धि समधिगच्छति ॥ ४ ॥  
न हि कविष्ठलमपि जातु तिष्ठत्यक्षमहूत ।  
कायते श्वरा कम स्य प्रकृतिर्जगुर्ण ॥ ५ ॥

म) मैंने यह कल्पया है कि इस लेख में न प्रशार की निश्चार्द है - अथात् शनयाग से साक्षी की आर कमयाग से यागिया की ।

[ हमन 'पुरा शम' का 'पहले अर्थात् शुद्धे अव्याय में' किया है । पहली भूष सरस है । क्योंकि दूसरे अव्याय में पहल मानवनिधि के अनुचार शम का बणन करके फिर कमयोगनिधि का आरम्भ किया गया है । परमु 'पुरा' शम का अथ सुष्टि के आरम्भ में भी हो सकता है । क्योंकि महामारत में, नारायणीय या भागवतप्रभु के निरूपण में यह बणन है कि तपस्य और याग (निश्चित भार प्रहृति) तातो प्रनार की निश्चान्ती का मानवात् ने शम के आरम्भ में ही उत्तम निचा है (तेजो श. १४ भार ३४७) । निश्च शम के पहल मात्र शम न याहन है । निश्च शम का भूष यह मात्र है कि इससे वस्त्रे पर अन्त में मोत्त मिलता है । गीता के अनुचार ऐसी निश्चार्द ने ही है भीर द गीता स्वतन्त्र है काई सिरी का नह नहीं है - इत्यादि वातों का विलून विवेचन गीतारहस्य के घारहृष्ट प्रसरण (पृ ३ ६-३१७) में किया गया है । इतिहिय उत्त पहा शुहरान की भावस्थक्ता नहीं है । घारहृष्ट प्रसरण के अन्त (गृ ३ ८) में नक्षा द्वार इस यात्र का भी बणन कर किया गया है तातो निश्चान्ता में भड़ कपा है । मात्र इस निश्चार्द यात्र ती गह । अब तड़द्धभूत निश्चयनि द का स्वतन्त्र उत्त करके कायते हैं - ]

(५) रनु कमा का प्रारम्भ न करने से ही पुरुष का निश्चयनाति नहीं हो जाती भीर कमों का प्रारम्भ स्याग न करने से ही निश्च नहीं मिल जाती । (६) क्याति काई मनस्य बहुत तुल कम किये जिन जातन की नहीं हो जाता । प्रहृति द एवं प्रय यह वरतन्त्र मनुष्य का लक्ष तुलन करुत कम बरत में लगाया ही करत है ।

| पाँच अंक के परम में जो निश्चय पर है उत्तक 'जन भूष मन का ग यातामायान दीर्घतरो न एम अंक वा भूष शम समग्राय के अन्तर इस प्रारम्भ स्ना किया है - कमा का गारम्भ न करने से जन नहीं हो जाता क्षयान बना से ही जन होता है कर्त्ता कम अन्तर्गति का लाप्त है । | पर १ पर १ पर १ तरह ह स्तरे न दीर्घ ह नव यह का उत्तयाग दण्डन भर मैलाला जन है । म वर दर दिवा गया ह भर मुख्यत्वाय का अव १ तरह निश्चय के प्रय तुल तुल तुल - १ १ १ न वर गरुपरायप ही १ शिशु दीनका भोरदेवा

मियर्तं कुरु कर्म स्वं कर्म ज्याता शक्तर्मणः ।  
शरीरयात्रापि च स म ग्रस्त्व्येवकर्मणः ॥ ८ ॥

[ अधिक योग्यता का या भेद है (गीतार्थ प्र ११ पृ ३ १३-१४) । इस प्रकार  
जब कर्मयोग इसी भेद है, तब अद्वैत के न्ती मार्ग का आचरण करने के  
लिए उपरोक्त करते हैं - ]

(८) (अपने कर्म के अनुसार) नियत अर्थात् नियमित कर्म ज्ञे त् कर । कर्मोऽपि  
भ्य न करने की अपेक्षा कर्म करना कही अधिक अच्छा है । इसके अतिरिक्त (यह  
समझ के कि यह) त् कर्म न करेगा त्य (भोक्ता मी न मिलने से) तं प शरीर  
निवाह तथा न हो उत्पन्ना ।

[ अतिरिक्त और 'तथा' (अपि च) पड़ी से शरीरयाता ज्ञे करने के कम  
तेतु करा है । अब यह बहुत्याने के लिये बहुत्यरण का आरम्भ किया जाता है  
कि नियत अर्थात् नियत किया तुभा 'कर्म' कौन सा है ? और दूठरे लिए  
महात्म के कारण उसका आचरण अवश्य करना चाहिये ? आज्ञात्त पश्चात्याग  
आदि भौतकर्म हुए हुए हो गया है । इसलिये इस विषय का आधुनिक पाठ्यका  
र्त्ते कोई विशेष महत्व मालूम नहीं होता । परन्तु गीता के उमय में इस पश्चात्याग  
का पूरा पूरा प्रचार या और 'कर्म' छाँट से मुक्त्यता 'नहीं का बोध तुम्हा करता  
या । अतएव गीतार्थमें इस बात का विवेचन करना अत्यावश्यक या कि ये  
भर्महस्य किये जाएं या नहीं । और यदि लिये जाएं तो कितू प्रश्नाः । इसके  
सिवा यह मी समझ रहे कि यह शब्द का अर्थ केवल ज्योतिष्ठाम आदि भौतिक  
या अभिमान में विचरी भी बलु का हृष्णन करना ही नहीं है (ऐतो गीता ४ १२) ।  
सहित निमाण करने उसका नाम टीक टीक लघुत्ते रहने के लिये (अर्थात् खेड  
सप्तहार्ष) प्रयत्न का दृष्टा ने 'चानुप्रव्यविहित चो काम चो' लिये हैं उन  
उसका 'मह शब्द म लमावेश होता है (ऐतो म य अनु. ४८. ३; भार  
गीतार्थ म ४ पृ १०-११) । अमश्यामा में इसी कर्मों का लघुत्ते है; और  
अस निष्ठत शब्द से के ही विवरित है । इसलिये वहना चाहिये कि बनपि  
आदर्शस यशायाग 'मपाप्य ही गमे हैं तपापि नहृष्णन का बह विवेचन अब भी  
निरपेक्ष नहीं है । याता के अनुसार के बह कर्म काम्य है - अर्थात् इन्हिय  
कर्माये गमे हैं कि मनुष्य का इस बाह्य में कल्याण होको और उसे सुन मिले ।  
परन्तु पीड़ित दूसर भूत्याप (गीता ८. ४९-५४) में यह लिङ्गात्मक है कि  
मीमांसी के य नहृष्णन या काम्यकर्म मात्र के लिये प्रतिष्ठान है अतएव वे  
नी ग 'ब' के हैं और मानना पड़ता है कि अहता नहीं कर्मों को करना चाहिये ।  
इन्हिय भगवे औता म इस बात का विलूप्त विवेचन किया गया है कि कर्मों  
का उपर्युक्त सेरा भूत्या नहृष्णन वस मिल जाता है । और उन्ह करने रहने पर

कमोन्द्रियाणि संयम्य य आस्त मनसा स्मरन ।  
इन्द्रियार्थनिमूहामा मिष्पाचार स उच्यते ॥६॥  
एस्तिवन्द्रियाणि मनसा नियम्यारमसंज्ञुन ।  
कमोन्द्रियै कमयोगमसकृ च विशिष्यत ॥७॥

प्राप्त करने का उपाय नहीं है। ये ही शब्द ऊपर के शास्त्र में भवलाल गढ़ हैं। जब ये सीना शात छिद्र हो गए तब भगवान् भगवान् के कथनानुसार नैष्यम् छिदि की (देखा गया १८ ४८ भाँति ४ ) प्राप्ति के स्थिते यही एक माग शोष रह जाता है कि कम परना तो छोड़ नहीं पर जन के द्वारा आभारि का भय कर के सब क्षम नहा बरता रहे। क्योंकि जन मात्र का साधन है तो मही पर क्षमण्य रहना भी कभी सुमित्र नहीं। उत्तिय क्षमो ह कृष्णत्व (कृष्ण) का नह करने के लिये आवश्यिक छोड़ कर उन्हें बरना भावायक होता है। इसी की कमयोग बहुते हैं। और तब उत्तमत है कि यही रानवमसमुद्यामक माग विशेष योग्यता का - भाषान् भेष्ट है - ]

(६) या मृ॒ (हाथ पैर भाँति) कमोन्द्रियों का रोक कर मन से इन्द्रियों का विनाश किया बरता है उसे मिष्पाचारी अपात शामिल करते हैं। (७) परन्तु है भन्तु! उसी दोषका विशेष अपात भट्ठ है कि जो मनसे रीन्द्रियों का आकर्षण करके (कृष्ण) कमोन्द्रियों द्वारा भन्नाउनुकूलित से कमयोग का आरम्भ बरता है।

[ विज्ञ भाष्याय में जो यह कल्पणा गया है कि कमयोग में जन की भगेजा कुदि भट्ठ है (गीता २ ४ ) उसी का न दोना क्षेत्र म स्पृष्टिरथ किया गया है। यही नाम दात बह दिया है कि विज्ञ मनुष्य का मन तो घुड़ नहीं है पर कहा दूरता है मन न या इस अक्षिण्या न - कि शुरुते मन मन कट - केवल दायेन्द्रियों के द्वारा जो रोकता है वह न क्षम तदाचारी नहीं है वह दाती है जो नाम एवं वनन वा प्रनाम इन्हर - कि वस्त्र क्ला से लिप्ते विद्युग म दार कुदि म नहीं दिल्लु व्यजे रहता है - यह प्रतिरोधन दिया वरन्त है कि कुदि पाटे रूप हा परन्तु क्षम दुरा न हा वह एस शास्त्र मि वस्त्रा गीतावाच एवं दिल्लु वरन इन क्षमिय नामे रैक से यह दात प्रत्य हाती है कि विष्णामर्द्द्वे क्षम वर्ते के दात वा ही दीरा में कृष्णरा कहा है क्षम्यामन्त्रैय कुछ दीक्षार इस शास्त्र का देना यद वरन् है तदाचार बह मन्दाचारमन्त्र में भट्ठ नहीं है। एवं यह यु लालालालाल गद्धर वीटे दायेन बहा इसी भैरव में बरन दिर दायेन अपात लालान में। (भीर भस्यते ही) मह वाह वह दिया राजा है कि मन्दाचारमन्त्री कमयोग नी १८

सहयदा प्रजा सृष्टुवा पुरोवाच प्रजापति ।

अगेन प्रसादिष्वद्यक्षमेष लोऽस्तिवृक्षामधुक् ॥ १० ॥

देवान्मात्रयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।

परस्परं भावयन्तः अयं परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥

परम मे यह बात फिर क्षमार्थ गह है कि मनुष्य का वशर्य जो कूल नियत कर्म करना होता है उसे मी यह फूल की आशा छोड़ कर भर्त्यात् केवल कर्तम्य सम्पत्ति कर कर और इसी अर्थ का प्रतिपादन आगे सार्विक यज्ञ की ध्यास्या करते समय निषा गवा है (देखो गी २७ ११ और २८ ६)। इस क्षेत्र का मानाप्त यह है, कि इस प्रकार सब कर्म वशर्य और उसी मी प्रजापा छोड़ कर करने से (१) वे मीमांकों के न्यायानुसार ही किसी मी प्रकार मनुष्य को कर नहीं करते। क्योंकि वे तो वशर्य किये जाते हैं। और (२) उनका स्वर्गप्राप्तिरूप शास्त्रोक्त परम अनित्य फूल मिथ्ने के कष्ठे मोक्षप्राप्ति होती है। क्योंकि वे फूलका छोड़ कर किये जाते हैं। आगे १ ऐ क्षेत्र में और फिर जौये अभ्याय के ३० क्षेत्र में यही अर्थ तुलारा प्रतिपादित हुआ है। तात्पर्य यह है कि मीमांकों के इस उत्तिकाल - वशर्य कर्म करने प्याहिये। क्योंकि वे कर्म नहीं होते - मेरा भावद्वौदा ने और भी यह सुधार कर दिका है कि उसे कर्म वशर्य किये जाए, उन्हें मी प्रजापा छोड़ कर करना प्याहिये। किन्तु इस पर भी यह शाहा होती है कि मीमांकों के उत्तिकाल को "स प्रकार सुधारने का प्रयत्न करके वशनाय आदि गार्हस्यदृष्टि को जारी रखने की अपेक्षा क्या यह अधिक अच्छा नहीं है कि कमों की भनकार से कूट कर मोक्षप्राप्ति के किये उब कमों का छोड़ कर संन्वास हो से ? मावद्वौदा इस प्रस्तु का साफ़ यही एक उत्तर देती है कि 'नहीं'। क्योंनि वशकाल के किना "त बगल के व्यवहार जारी नहीं रह सकते। अधिक क्या कहे ? कर्म के चारण पोषण के स्त्रिय ब्रह्मा ने "स वज्र को प्रथम उत्पन्न किया है। और उस विकरण की सुनिष्ठित पा उप्रह ही भगवान् भोग को इष्ट है। तब इस यज्ञकरण को कोर मी नहीं छोड़ सकता। अब यही अर्थ भगवें भोग मेरे भवत्यका यवा है। इस प्रकरण मे पाठों को समरण रखना प्याहिये कि यह एवं वहाँ केवल भीवरण के ही अप म प्रयुक्त नहीं है। किन्तु उत्तमे सामर्थयना का उपा जातुष्वय आदि के वधायिकार सब व्यावहारिक कमों का समावेश है।

(१) भारतम् मे यज्ञ के साथ साव प्रजा की उत्पत्ति करके ब्रह्मा ने (उन्हें) यह - "इत (यज्ञ) के हारा दुम्हारी इदि हो - यह (यज्ञ) दुम्हारी कामभेदु होने - अर्थात् यह दुम्हारे अधित पहों का देवताव्य होने। (२) तूम उत्तमे देवताम् को उत्तुष्ट करत रहा (जार) वे देवता दुम्ह उत्तुष्ट करत रहे। (इत प्रकार) परस्पर एक दूसरे की उत्तुष्ट करते हुए (जोना) परम भेष अर्थात् कस्याव्य प्राप्त कर लो।"

६६ यज्ञायात्क्रमणाऽन्यथ छोकोऽप्य कर्मचान्वनः ।

यद्यर्थं कम छोन्त्य मुक्तसंगः समाचार ॥ ९ ॥

[ मी नैष्ठव्याधस्या क्षोकर प्राप्त होती है । पह सभम विवेचन भारत मे जित [ नारायणीय या मागवतधर्म के अनुसार है (तेजा मा दा १४०) । ]

(९) यह के सिमे ये कम इय नात है उनके अतिरिक्त अन्य क्षो ऐ वह सब बेंधा दुखा है । दृश्य अर्यात् वस्त्रं (किय जानेवाले) कम (मी) द आसकि या फलघां छोड कर बरता जा ।

[ न्त स्मृक क पहले वरण मे मीमांसरों का और दूसरे म गीता का उद्घास्त वदाया मर्या है । मीमांसरों का कथन है कि यह बेन ने ही यह यागादि कम मनुष्यों के द्विय निष्पत कर दिये हैं और यह कि अशुनिर्मित तुष्टि का अवहार दीद दीद पट्ट्ये रहने के द्विय यह यज्ञक आमदाह है उन बीर भी इन कमों का त्याग नहीं कर सकता । यहि को अन्त त्याग कर देगा तो उमरना होगा कि वह भीतधर्म से बहित हो गया । परम्पुरा क्षमविपाक्षकिया का उद्घास्त है कि प्रवेश कम का एक मनुष्य को मोगना ही पता है । उसके अनुसार कहना पढ़ता है कि यह क द्विय मनुष्य को कम करना उसका मत्य या बुरा एक भी उसे मोगना ही पटेगा । मीमांसकों का इत पर यह उच्चर है कि देवों भी ही आशा है कि 'यह करना चाहिये ।' सुनिये यज्ञाप स्थं या कम निय जावे व सब इत्यरत्नमत हींगे । अतः उन कमों ते कर्ता उड नहीं हो सकता । परम्पुरा यर्ण के द्विय दूसरे कमों के द्विये - उत्ताहरजाय केवल भवना पर मरने क द्विय मनुष्य मे बुझ करता है वह पञ्चाय नहीं हा सकता । उसमे ता केवल मनुष्य का ही निर्मा शाम है । यही कारण है आ मीमांसक उसे 'युद्धात् कम कहत है । भीर उन्हा ने निर्खित किया है कि ऐसे यानी यज्ञाप क अतिरिक्त अस्य कम अथात पुण्यात् कम का या बुझ भव्य या बुरा एक होता है वह मनुष्य को मोगन पढ़ता है - यही उदाहरण उन भोज की पहली परिमि म ह (तेजा गीताव त्र ३ दृ ५००-३) । कार कार दीक्षाकार यज्ञ = विष्णु देवा गाग भध करक बहते हैं । क यज्ञाप एक का भय विष्णुपूर्णस्थ या परमधरागणपूर्व है । परम्पुरा हमारी समय म यह भय गीता कानी ए आर दिय है । यही पर यभ होता है कि यज्ञ क द्विय या कम बरने पड़ते हैं उनके द्विय कर्ता मनुष्य दूसर कम बुउ भी तो क्या वह कमनमन न दृढ़ तक्ता है ? क्षात्रीय पर भी तो कम ही है । भीर उसका अग्नायामित्र या दाक्षोदक इष है वह द्विय द्विया नहीं रहता । परम्पुरा गीता क दृढ़ ही भयात् मे रहत है दीनि उप यज्ञायाप गया है कि यह अर्मायामित्र पर माण्डपिन के द्विड है (तेजा गीता २ ४०-४४ भीर .. ) रमीत्रि उन भोज क दूसर

असाम्भवन्ति मूलामि पर्जन्याद्वालम्भवः ।  
यहाम्भवति पर्जन्यो यहः कर्मसमुद्धवः ॥ १४ ॥  
कर्म ब्रह्माद्वर्षे विद्धि ब्रह्माकरसमुद्धवम् ।  
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यहो प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

| अयमा या सत्ता का पोपण नहीं करता अतेष्य ही भोक्ता करता है उसे केवल  
पापी दमकता चाहिये । इसी प्रकार मनुस्मृति में भी कहा है कि अर्थ सु  
पैष्ठ सुहृते य एतत्यात्मकारणात् । यद्यपिशाशनं शेषस्त्वामर्वं विभीतते ॥  
( १ ११८ ) - अर्थात् यो मनुष्य अपने लिये ही ( मन ) पकड़ता है वह  
पैष्ठ पाप मध्ये करता है । यह करने पर यो शोषण रह जाता है उसे 'अमृत'  
और दूरये के भोक्ता कर जुने पर यो शेष रहता है ( मुक्तोप ) उसे 'विष्णु  
कहते हैं ( मनु ३ २८५ ) । और यहे मनुष्य के लिये यही अर्थ विहित चहा  
गया है ( देखो गीता ४ ११ ) । अब इस चात का और भी स्पष्टीकरण करये हैं  
कि यज आदि कम न सो केवल विष्णु और चामत्य को आग में लाँचों के लिये  
ही है और न स्वर्णग्राण्डि के लिये ही । वरन् यहात् का चारण-पोका होने के लिये  
उनकी चूट आवश्यकता है अर्थात् यज पर ही सारा अस्त् व्यवस्थित है - ]  
( १५ ) प्राणिमात्र की उत्पत्ति अस्त् से होती है अर्थ पर्वत से उत्पन्न होता है  
पर्वत्य वह से उत्पन्न होता है और यज की उत्पत्ति यम से होती है ।

[ मनुस्मृति म भी मनुष्य की और उसके चारण के लिये आवश्यक अस्त्  
की उत्पत्ति के लिये यम इसी प्रकार का वर्णन है । मनु के ल्येक का यह यह  
है :- यह की आग में श्री द्वृष्ट आकृति धूप को मिलती है ; और फिर यस के  
( अर्थात् परम्परा द्वारा बह से ही ) पर्वत्य उत्पन्नता है । पर्वत्य से अस्त् और  
अस्त् से प्रथा उत्पन्न होती है ( मनु ३ ७१ ) । यही अस्त् महाभारत में भी  
है ( देखो म य शा २४२ ३१ ) ऐसियी उपनिषद् ( २ १ ) में यह पूर्व-  
परम्परा इत्यें भी दीखे हुये ही गह है और देखा कम दिया है - प्रथम  
परमात्मा से अकाश तुम्हा ; और फिर कम से चामु, असि बह और दूषी की  
उत्पत्ति तुर । दूषी से भीयसि अीयसि से अस्त् और अस्त् से युद्ध उत्पन्न  
तुम्हा । अतएव इस परम्परा के अनुसार प्राणिमात्र की उत्पत्तिर्वत्य अस्त् तुर  
पूर्वपरम्परा की - अस्त् कम के पहले गहति और गहति के पहले ठेठ अकाशम्  
पपत्त पूर्वता कर - तूरी करते हैं - ]

( १६ ) यम की उत्पत्ति ब्रह्म से अर्थात् गहति से है ; और यह ब्रह्म भवत के  
अर्थात् परमेश्वर से हुआ है । इसलिये ( यह उमस्त्रे कि ) तवयत् ब्रह्म ही यह में  
सज्ज अविद्यत रहता है ।

इत्तमेगामिदं दो वेदा वास्तवम् यद्युभाविता ।  
तर्वैक्षानप्रायेभ्यो यो मुहूर्ते स्तेन पव सः ॥ १२ ॥  
यज्ञशिक्षाशिनः सन्त्य मुख्यन्ते सर्वकिलिपैः ।  
भुजते ते त्वर्य पापा ये पञ्चन्त्यात्मकारणात् ॥ १३ ॥

( १२ ) स्थानि यज्ञ से सम्मुख हाथर देवता औग त्रुम्हारे इथित ( सब ) मोग त्रुम्ह भी ; उन्हीं का दिया त्रुम्हा उन्हें ( वापिस ) न दे कर जो ( देवता त्वय ) उपमोग करता है कर उपमुन घोर है ।

[ जब ब्रह्मा ने "स सुष्टु भर्त्यान् तेव आरि सब सोर्गों को उत्पन्न किया तब  
उसे निरा त्रु । कि एन सोर्गों का धरण-योग्य देखे होगे ! महामातृ के  
नारायणीय भम मैं वर्णन है कि ब्रह्मा ने इसक बाट हृष्टर वप तक वप करके  
मातृत्वान् को सम्मुख किया । तब मातृत्वान् न सब सोर्गों के निवाह के छिपे  
प्रतिनिधित्वान् यज्ञवत् उत्पन्न किया । और उक्तता तथा मनुष्य दोनों से कहा,  
कि इस प्रकार यज्ञवत् एक युधेर की रक्षा करो । उक्त स्थोक म इती कथा  
कि त्रुउ शास्त्रमें से मनुष्यान् किया गया ह ( देखो म. मा शा १४ १८ से  
१९ ) । इससे यह विद्वान्त भौत भी अधिक हर हो जाता है कि प्रायुषि-  
प्रथम मातृत्वम् के तत्त्व का ही गीता में प्रतिवादन किया गया है । परम्पु  
मायवत्त्वम् मैं यज्ञो म की लगेवासी हिंसा ग्रह मानी गा है ( देखो म. भ.  
शा ११६ और ११७ ) । इसकिये पशुवत्त्व के न्यान म प्रथम त्रिष्माय यज्ञ सुम्म  
त्रुआ । और मन्त्र मैं यह मठ प्रचलित हो गया कि यज्ञमय यज्ञ धर्मका ज्ञानमय  
यज्ञ ही सब में भेद है ( गीता ४ ३-४१ ) । यज्ञ गुरु से मत्तम् वानुर्बन्ध के  
शब्द कमों से है । और यह बात स्वप्न है कि समाज का उचित रीति से धारण-योग्य  
हान के किये इस यज्ञमय या यज्ञवत् का अस्ती तरह यारी रक्षना जाहिर्य ( देखा  
मनु २ ८० ) । अधिक कथा कहे । यह यज्ञवत् आगे भीसूके भौक मैं बर्णित  
साक्षत्वद् का ही एक स्वरूप है ( देखो गीता, प्र. १९ ) । इसीकिये सूतियों मैं  
मी लिया है कि देवत्यक और मनुष्यस्त्रोक दोनों के उपर्याप्य मातृत्वान् ने ही प्रथम  
त्रित लाभनप्राप्तकारक कम को निर्माण किया है । उक्ते आगे अस्ती तरह प्रतिनिधि  
रक्षना मनुष्य का कर्त्तव्य ह ; और यही अप अव अग्ने भौक मैं नह रीति से  
प्राप्तया गया है - ]

( १३ ) यज्ञ वर्के द्वय के हुए म्यग का प्रदृग करनेवाले उत्तम तब पातों से मुक्त  
हो जात है । परम्पु ( यज्ञ न करक न करन ) भयने ही किये था ( मप्र ) पकाते हैं  
जै पापी लाग पाप मत्तमय करते हैं ।

[ भवेत् के २ ११६ ५ मन्त्र मैं भी यही आव है । उसमें कहा है कि  
नायमय पुष्पर्ति नीं नग्नाय केणाग्ना मग्नि करनागी । - भर्त्यान् जो मनुष्य

६६ यस्यात्मरुतिरेव स्पादात्मकुप्तम् मानवः ।

आत्मन्येव च सनुष्टुतस्य कथय न विष्टते ॥ १७ ॥

नैव तस्य कृत्वा यो मातृसंग्रह कर्मण ।

न चास्य सर्वभूतेषु कवित्वर्थमपाभय ॥ १८ ॥

तस्माक्षसक्तः स्वतं कर्त्य कर्म सामाचर ।

अतलको द्वाचरकर्म परमाप्नोति पूरुष ॥ १९ ॥

( १७ ) परन्तु यो मनुष्य ऐसा आत्मा म ही रह आत्मा मैं ही तृष्ण और आत्मा म ही सनुष्टुत हो चक्षा है उसके लिये ( स्वयं अपना ) कुछ भी कर्त्य ( हेतु ) नहीं रह चक्षा ( १८ ) “सी प्रकार यहीं भवात् एव ज्ञात् मैं ( कोऽ काम ) करने से या न करने से भी उचका व्याम नहीं होता और एव ग्राहियों मैं उचका कुछ भी ( निवी ) मतस्त्र भवका नहीं रहता । ( १ ) उभात् भवात् च ज्ञानी पुरुष इस प्रकार कोऽ भी अपेक्षा नहीं रखता वन द् भी ( परं की ) आखिं छोड़ कर अपना कर्मयकर्म सैव किया कर । क्योंकि आखिं छोड़ कर कर्म करनेवाले मनुष्य को परमाप्नी प्राप्त होती है ।

[ १७ से १९ तक के स्तोकों शीक्षकारों ने बहुत विवरणित कर दाया है ।

“सुक्तिये हम पहले उचका सरक भावाप ही बहुतोंहैं । तीनों स्तोक मिल कर हेठु अनुमानमुक्त एक ही वाक्य है । ”नमं से १७ वे और १८ वे स्तोकों मैं पहले उन कारण का उल्लेख किया गया है कि ये साधारण शीक्षियों से ज्ञानी पुरुष के कर्म करने के कियब मैं करनावे च्यते हैं । और “नहीं कारणों से गीता वे ये अनुमान निकाल्य हैं वह १ वे स्तोक मैं कारणबोधक ‘उभात् एव व्य प्रयोग करने करनापा गया है । ”स ज्ञात् मैं सोना छेड़ना उठना या किंवा रहना आदि वह कर्मों का कोऽ छोड़ने की इच्छा करे, तो वे शूट नहीं लकड़े । अतः इस अप्याप्य के आरम्भ म जौये और पौच्छे स्तोकों मैं स्पष्ट वह किंवा ग्राप करने का उपाय ही है । परन्तु “स पर सन्यासमागच्छार्थ वीयह नहींहै कि हम कुछ किंवा ग्राप करने के लिये कर्म करना नहीं छोड़त है । प्रत्येक मनुष्य एव ज्ञात् मैं ये कुछ करता है वह अपने या पराये दाम के लिये ही करता है । किन्तु मनुष्य का इक्षीष परमसाध्य किंचाच्छया अधिकार कीमै है और वह ज्ञानी पुरुष को उसके ज्ञान मैं ग्राप दूना करता है । ”सुक्तिये उसको ज्ञान ग्राप ही बने पर कुछ ग्राप करन के लिये नहीं रहता ( अधो १७ ) । प्रेसी अवस्था म पाहे वह कर्म करे जा न करे—उस दोना ज्ञान समान है । अप्य यहि कहे कि उसे स्तोकोंपदीक्षार्थ कर्म करना चाहिये तो उसे लोगों से भी कुछ क्षेत्र देना नहीं रहता ( अधो १८ ) ।

एवं प्रवर्तित वाक् नामुषर्त्यर्थीह यः ।

अथामुरिन्द्रियादामा मार्गं पाथ स गीति ॥ १६ ॥

[ 'को' कोइ इस स्तोत्र के 'ब्रह्म शम' का अथ 'प्रहृति' नहीं समझता । वह हते हैं कि यहों ब्रह्म का अथ 'किं' है । परन्तु 'ब्रह्म शम' का अथ करने से यज्ञपि इस वाक्य में मापत्ति नहीं है कि 'ब्रह्म अथात् 'क' परमेश्वर से हुए हैं" तुषायि यमा अथ करने से सुवर्णत ब्रह्म यह में है इसका अर्थ टीक टीक नहीं रखता । "सहिष्य मम यानिमहृत् ब्रह्म (गीता २४ ३) स्तोत्र में 'ब्रह्म' पर का अथ 'प्रहृति' अथ है उसके अनुसार रामानुज माप्य में यह अर्थ किया गया है कि इस त्यान में भी 'ब्रह्म शम' में 'शम' की मूल्यहृति विवरित है । वही अब हमें भी टीक मालम होता है । उसके लिया महाभारत के शान्तिपद्म में यज्ञपत्रमें यह वर्णन है कि अनुयत्र उगत्सव यज्ञानुकारसंदर्भ (शा २५७ १४) - अथात् यत्र के पीछे रूपन् है और अमात् के पीछे पीछे यह है । ब्रह्म का अथ 'प्रहृति' करने से 'स वर्णन का भी प्रसुत भूमि से मेल हो जाता है । क्याकि रूपन् ही प्रहृति है । गीतारहस्य के सातव और नाम्बे प्रकरण में यह चाह विस्तारपूर्वक वर्तार्थं गद है कि परमेश्वर से प्रहृति और विगुणात्मक प्रहृति से रूपन् का सब कम विष्णु निष्पत्त होते हैं । इसी प्रसार पुराणमूल में भी यह वर्णन है कि ईक्षताभा ने प्रथम यह करके ही खादि का निमाण किया है । ]

(१६) हे पाप ! इस प्रकार ब्रह्म के धारणाय चक्षाये हुए व्यं या पक्ष के चक्र का ये इत्य अग्नि में आगे नहीं चढ़ता उसकी आमु पापमूर्च है । उस नदियवस्थित का (अथात् देवताभा को न देकर त्वय उपमांग करनेवाले का) दीवन व्यष्ट है ।

[ त्वय ब्रह्म ने ही - मनुष्यों ने नहीं - सोनों के धारण-पापमूर्च के लिये यज्ञपत्र कम पा वागुक्षप्रहृति उत्पन्न की है । उस सुष्ठि का कम अस्ति रहन के लिये (स्तोत्र १४) और तात्प ही साय अपना निकाह होने के लिये (स्तोत्र १) न जोनी वारंजों से इस हृषि की आवश्यकता है । उससे लिङ्ग होता है कि पक्षवक्त्र की अनावश्यकता से अग्नि में उठा चढ़ात रहना चाहिये । अब यह बात मात्र ही कुनी कि भीमानुकों का पा अद्यीपत्र का कमकार्ष (पञ्चक) गीतारहस्य में अनावश्यकता भी युक्ति से कहने विष्णु रत्ना गमा है (देखो गीतारहस्य प्र ११४ १४७-१४८) । और सन्याकमांगलासे वेगान्ती इत्य विष्णु में घड़ा परते हैं कि आमजनी पुरुष को उप यहों मात्र प्राप्त हो जाता है; और उन जो कुछ प्राप्त करना होता है वह तब उसे पहीं मिल जाता है । उप उस कुछ भी उत्तरे की आवश्यकता नहीं है - और उल्लं एवं उत्तरा भी न जाहिय । इत्य का उत्तर अग्ने सीम स्तोत्रों में दिया जाता है । ]

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिपु सोकेषु किञ्चन ।  
नानदापत्तमवाप्तम्य वर्ते पव च कर्मणि ॥ २२ ॥  
यदि हाहि म वर्तेयं जातु कर्मज्यतन्दितः ।  
मम चर्मानुवर्तन्ते मनुष्या पार्थं सर्वदः ॥ २३ ॥  
उत्सीघुरिम लोका न कुर्या कर्म चेष्टहम् ।  
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमा प्रजा ॥ २४ ॥

[ सेचिरीय उपनिषद् मे भी पहले सत्य च , धर्म चर ' इत्यादि उपरोक्त किया है । और जिस भन्त मे कहा है कि यह सचार मे तुम्हे छन्देह हो, कि यहो ऐसा कर्त्तव्य करे तब ऐसा ही बताव करो कि ऐसा हानी, मुक्त भाव चर्मिद्य आग्रह करते हो ( ते १ ११ ४ ) । इसी अर्थ च एक स्तोक नारायणीय चर्म मे भी है ( म भा शा १४१ २५ ) ; और "सी भाग्य का भरादी मे एक स्तोक है जो इसी का अनुशासि है । और जिसका तार यह है :- स्तोकस्याणकारी मनुष्य ऐसे बर्तन्तव करता है ऐसे ही इस तरार मे सब अद्य भी किया करते है । ' वही मात्र "स मार प्रकृति किया च उकता है - ऐसे मस्ते की चाल के को तब सचार । वही स्तोकस्याणकारी पुरुष गीता च भेष शब्द का अर्थ ' आम-जनी मम्यासी नहीं है ( देखो मीठा ६ २ ) । और मारान् त्वय अपना उग्रहरण के कर चसी अर्थ का भीर भी है करते है कि आमजनी पुरुष की त्वायुक्ति दृट जाने पर भी स्तोकस्याण के कम उपरे दृट नहीं जाते :- ]

( २१ ) ह पापे ! ( लगो कि ) निमुक्त मे न तो मेरा कुछ करन्तम् ( देख ) यह है ( और ) न कोई भग्यात बलु प्राप्त करने को रह गा है । तो भी मैं कम करता ही रहता हूँ । ( २२ ) क्वाक्षि तो मैं क्वानित् आत्मस्य ठाठ कर करो मैं न कूप्ता ता हूँ पाप ! मनुष्य तब प्राप्त से मेरे ही पथ का अनुकरण करगा । ( २३ ) ये मैं कम न करूँ ता ते कारे क्षफ उत्प्रभ अधान न दहा जावगे मैं नहुरक्षा होऊँगा और इन प्रधानो का मेरे हाथ से नाज हागा ।

[ भगवान् न अपना उग्रहरण ह कर इन क्षेत्र मे भी मौनि त्वाय चर तिष्ठना किया है कि तास्तप्रह कुछ पापरह नहीं है । इती प्राप्त इमने तार १७ ते १ ६ व क्षोड तर का तो पह भी किया है कि तान प्राप्त हो जाने पर तुम कर्त्तव्य भए न रह जाय ही । तिर भी ताना को निष्पामुक्ति से तारे कम करते रहना तांत्र च वह भी भग्य भगवान् के इन द्वाप्तन गे पृथक्या निष्ठ ही जाता है वा ऐसा न हा । तो द्वाप्त भी निरपत ही जावगा ( देखो गीता , प ११ । १ ३ । ८-१ । ) । तारायमार्गं भीर कममार्गं मे पह जन भारी भेद है कि तारायमार्ग व जांती पुरुष तारे कम ठाठ मेरने है । तिर जारे इन कमन्यापे ते

‘फिर वह कम करे ही क्यों?’ इसका उचर गीता यो लेती है कि जब कर्म करना और न करना दुम्ह दोनों एक से हैं, तब कम न करने का ही इकना हठ दुम्हें क्यों है? ये हठ शास्त्र के अनुसार प्राप्त होता जाय उसे आपहमिहीन बुद्धि से करके पूर्णी पा जाओ। इस भावत् में कर्म किरी से मी छूटते नहीं हैं। फिर चाहे वह जानी हो अथवा अश्वनी। अब टेक्के में तो यह वही बरिस समस्या जान पड़ती है, कि कर्म तो छूटने से रहे और जानी पुरुष को स्वयं अपने दिव उनकी भावस्थकता नहीं। परन्तु गीता को यह समस्या कुछ बहिन नहीं बनती। गीता ये कहन पह है कि जब कम कूटता है ही नहीं तब उसे करना ही चाहिये। निन्तु अब स्वाप्नबुद्धि न रहने से उसे निष्काप अर्थात् निष्कामबुद्धि से बिना करो। १९ वें क्रोक में उत्तमान् पर का प्रयोग करके यही उपेश भर्तुन को किया गया है एवं इसकी पुष्टि म भी २२ वें क्रोक में यह दृष्टान्त दिया गया है कि सब ऐ भेद जानी सम्बान् स्वयं अपना कुछ मी कर्तव्य न होने पर भी कम ही करते हैं। चाराएं सम्बासमाग के लिये जानी पुरुष की बिल्ल दिवाति का वर्णन करते हैं उसे टीक मान से हो गीता का यह वक्तव्य है कि उसी दिवाति से कर्मसम्बासपन विद्व होने के बासे सदा निष्काम कम करते रहने का फल ही और भी हर हो जाती है। परन्तु उत्त्वासमार्गवाले टीकाकारी को कर्मयोग की उच्च पुक्कि और विद्वान् ( क्रोक ७ ८ ) मान्य नहीं हैं। उसकिये वे उच्च कायवारणभूत को अपना उमूले अपेक्षाह को जा आसे घटाये हुए मगधन् के दृष्टान्त को मी नहीं मानते ( क्रोक २२ २८ और ३ )। उन्होंने तीना क्रोकों को शोड मरोड कर स्वतन्त्र मान दिया है। और न्यौ से पहले श क्रोकों में ये यह निर्देश है कि ‘जानी पुरुष का स्वयं अपना कुछ मी कर्तव्य नहीं रहता। इती को गीता का अनितम विद्वान्त मान और उच्ची आधार पर यह प्रतिपादन दिया है कि उत्तमान् जानी पुरुष के कहते हैं कि कम शोड है। परन्तु ऐका करने से तीव्री अपात् १९ वें क्रोक में भर्तुन को ये क्या हाय यह उपदेश दिया है कि ज्ञातिकि दोष कर कम कर यह अलग हआ जाता है और इसकी उपराति भी नहीं ज्ञानी इस ऐक से करने के लिये इन दीनाकारी ने यह भव करके अपना नमापान कर दिया है कि भर्तुन का कम करने का उपेश तो इसकिये दिया है कि वह भर्तानी या! परन्तु इतनी मापापर्याप्ति करने पर भी १९ वें क्रोक का ‘उत्तमान् पर निरपर ही रह जाता है। और सम्बासमागकारी का किया हुआ पर भर्तानी पर एकापार नन्दम ने भी विद्वद् हान्ता है। एवं गीता के अभ्यन्तर उपरोक्त इन उद्देश्य सभी विद्वद् ही जाता है कि जानी पुरुष के भी भावान्त्र एक कर करना पारिये तबा भी उत्तमान् ने ये भरना द्वान्। ‘या है उत्तम भी यह भव विद्वद् हा जाता है ( द्वा गीता २. ४७ ३ ३ ११ १४३ ३ १ : ३८ १- ; और गीता, प्र ११ १२१-१२२ )। इन

गिरा एक बात और भी है। वह यह कि अब व्याय में उस कमजोर का किंवदन चल रहा है कि जिसके कारण कर्म करने पर भी वे बन्धक नहीं होते (२ ३९)। इस किंवदन के भीच में ही यह ऐसिरपैर की सी बात और भी उमस्तार मनुष्य न कहा गया कि 'कर्म छोड़ना उत्तम है'। फिर मध्य मालाद् यह बात क्या कहने चाहे। अतएव निरे योग्यात्मिक आप्रह के और शीक्षितानी के बीच अर्थ माने नहीं जा सकते। योग्यात्मिक में किया है कि शीक्षित शान्ति पुरुष को भी कर्म करना चाहिये। और वह राम ने पूछा— युहे ब्रह्माद्ये कि कुछ पुरुष कर्म क्यों करे। तब विठ्ठ ने उत्तर दिया है—

ब्रह्म नाहीं कर्मसातीं माहीं कर्मस्तमभृतै ।

तन स्तिरं वजा पद्यत्पौर्णं करेत्प्रसी ॥

‘उ अर्थात् अनी पुरुष को कर्म छोड़ने या करने से कोई व्यम नहीं उत्तमा होता। अतएव वह जो ऐसा ग्रास हो जाय उसे ऐसा किया करता है’ (थोग ६ उ. १९८ ४)। इसी अस्य के अन्त में उपस्तुतार में विर गीता के ही शब्दों में पहले यह कारण विवलाया है—

मम जाग्नि हृतेनार्थे नक्षत्रेनैष कृष्ण ।

पद्यत्पौर्णं विद्यमि कर्मसी क वामद् ॥

किसी बात करना या न करना युहे एक-दो ही है। और दूसरी ही पक्षि में कहा है कि जब दोनों बातें एक ही सी हैं तब फिर “कर्म न करने का आप्रह ही क्यों है? जो वे शास्त्र की रीति से ग्रास होता जाय उसे मैं नकरा रखता हूँ” (थो ६ उ. २१६ १४)। इवीं प्रकार इसके पहले योग्यात्मिक में नैव उस्य हृतेनार्थे आदि गीता का ख्योक ही अवश्य किया गया है। असों के ख्योक में कहा है कि पद्यवा नाम उपस्तुतारपौर्णात्मिकतरं विभ्— ये ग्रास हो जाते ही (शीक्षित) किया करता है और कुछ प्रतीक्ष नकरता हुआ नहीं कैरता (थो ६ उ. १२५ ४९५)। योग्यात्मिक में ही नहीं बिन्दु गोशुगीता में भी इर्ती अस्य के प्रतिपादन में वह भीतौ आया है—

किंविद्म न मार्व वाम् सर्वज्ञातुपु सर्वता ।

नवोऽसत्ततवा भूप कर्त्तव्यं कर्म ज्ञातुमिः ॥

उत्तमा अस्य ग्राहियों में कोई जाप्य (प्रपोडन) ऐप नहीं रहता। अतएव हे राजन्! शोगों को अपने अपने कर्त्तव्य आवश्युकि से करते रहना चाहिए (योग्यात्मिका ८ १८)। इन तत्त्व उठाइरप्तों पर भ्यान देने से अत इसमा नि-पहों पर गीता के तीनों श्लोकों का ये कायकारणसम्बन्ध हमने ऊपर विवरण्य किया है। और गीता के तीनों श्लोकों का पूरा अस्य योग्यात्मिक में एकही ख्योक में आ गया। अतएव उसके कायकारणमात्र के विषय में यह वरन के विषय रखान ही नहीं रह जाता। गीता की इमहीं शुक्तियों को महायानपरम्परा

इह सकार कर्मप्यविद्वांसां यथा कुयन्ति मारत ।

कुर्याद्विद्वास्तयऽसकमिक्षिपुलौकर्त्तमहम् ॥ २५ ॥

न चुद्धिमेवं जनयेषाहनां कर्मसंगिमाम् ।

जोपयत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तं समाखरत ॥ २६ ॥

| यह उक्त इब वाय और जल का कुछ भी गुमा करे - उन्ह इसकी परवाह नहीं होती । और कम्माग के शनी पुरुष स्वयं अपने लिये आवश्यक न मी हा तो भी स्पष्टस्थान को महसूपूर्य आवश्यक साध्य समझ कर तड़प अपने घम के अनुसार सारे काम किया करते हैं (ऐसो गीताराम्य प्र ११ श ३८ - ३८८ ) । | यह जनसा दिया गया कि स्वयं साक्षान क्या करते हैं । अब जानिया के क्यों का ऐसा दिया कर बताते हैं कि भज्ञनिया को सुचारने के लिय ज्ञाता का आवश्यक क्तव्य क्या है ? ]

( ७ ) हे भद्रुन ! स्पेष्टस्थान करन की "प्ता रमेष्वासे शनी पुरुष को आकृक्ष छोट कर उसी प्रकार उठना चाहिय दिम प्रकार कि ( भ्यावहारिक ) कम में आत्म भज्ञनी लोग क्षाव करते हैं । ( २७ ) कम मैं आखत भज्ञनियों की चुद्धि में शनी पुरुष भेदभाव उत्पन्न न कर ( आप स्वयं ) पुरुष क्षणात् यागमुक्त हो कर सभी काम कर और सोगा से न्यूनी मे बराब ।

[ इति भ्येष का यह भय है कि भज्ञनियों की चुद्धि में भेदभाव उत्पन्न न कर और आगे चम कर २ व स्थान में भी यही पात्र फिर से ही गा है । परम्पुरा इतना मतस्व यह नहीं है कि लोगों का भज्ञन मैं स्नाने रहे । २८ मैं भोक्ता में वहा है कि शनी पुरुष का स्पष्टस्थान करना चाहिय । लोकस्थान का भय ही आगी का चनूर बनाना है । इस पर वाँ घड़ा कर कि जा स्पेष्टस्थान ही बरना हो तो फिर यह आवश्यक नहीं कि शनी पुरुष स्वयं क्षम कर । आगी को नमस्ता देन - जन का उपर्युक्त कर देन - सु ही कम चतु जाता है । इतना भज्ञन यह उत्तर देत है कि जिनका तात्परण का इति भभ्यान हा नहीं गया है ( और नाशारम्य लोग एम ही हात ह ) उनका यहि देवत द्वृत स उत्तेष्ठ दिया जाय - निर जन जना दिया जाय - तो व अपने भनुत्तिन ज्ञात के समझन म ही इस द्वयगत का तुरुपर्योग दिया जाता है । भीर देव उपर्युक्त एवं उत्तर बहुत सुनत चाह देते जाते हैं कि भनुह जनी पुरुष तो एका कहता है । एकी प्रकार या जनी पुरुष ज्ञो का एकाएक लोट देत, तो वह भन्नी जाग वा जिन नीरि घने के लिये एव चश्चारण ही ज्व जाता है मनुप्य का उत्त प्रमार ज्ञाती जाय - देव स्वनमन्याम भपता निष्पत्तिरी हा ज्ञा ही । चुद्धिमेः ८ और मनुप्य वी चुद्धि म इति प्रकार ने नम्भाय उत्पन्न वर द्वा जाता । पुरुष वा उनित नहीं है अनाद र्माना न यह जिन्ना दिया है दि श पुरुष

न मे पार्यास्ति कर्त्तव्य विषु लोकेषु किञ्चन ।  
 नानदाप्तमदाप्तम् वर्तं पव च कर्मणि ॥ २५ ॥  
 पदि हाई न वर्तेयं जातु कर्मण्यात्मिता ।  
 मम वर्त्तनुवर्तन्ते मनुष्याः पार्यं सर्वदः ॥ २६ ॥  
 उत्तीर्णेषुरिमे लोका म कुर्या कर्म चेष्टहसु ।  
 संकरस्य च कर्ता स्यामुपहस्यामिमां प्रजा ॥ २७ ॥

[ तेजितीय उपनिषद् मे मी पहले खस्य वड 'भम चर' न्साति उपोष किया है । और विर अन्त में कहा है कि एव संचार में तुम्ह तम्हे हो हो, कि यहों ऐता कर्त्तव्य कर, तब ऐता ही कठाव करो कि ऐता हानी मुक्त और भर्मिङ आश्रण करते हो (वे १ ११ ४) । "सी अर्थ ये एक भोक्ता नायाशीय चर्म मे मी है (मा मा शा १४२ २५) और उच्ची आश्रय का मराठी मे एक भोक्ता है जो "सी का अनुकार है । और वित्तका चार यह है :- लोककस्याग्नारी मनुष्य ऐसे कर्त्तव्य करता है ऐसे ही इस संचार मे सद लोग भी किया करते हैं ।" यही माद एव प्रकार प्रकट किया ये उक्ता है - ऐप भस्य की चाल को छोड़ तब संचार । यही स्पेकस्याप्तमारी पुरुष गीता ये भेद शब्द का अर्थ भास्त्रानी सन्यासी नहीं है (ऐतो गीता ८ २) । और भास्त्रान् स्वयं भास्त्रा उगाहरणे कर उनी अर्थ को और भी दर करते हैं कि आस्त्रशनी पुरुष भी स्वाधुक्ति घट काने पर भी स्पेकस्याग के अर्थ उससे घट नहीं जाते । ]

(२२) ह पार्य ! (लगो कि) विमुक्त म न ही मेहु कुछ कर्त्तव्य (ऐप) या है (और) न कोई भग्नात वल्लु यात करने को रह गए हैं । तो मी मैं कम करता ही रहता हूँ । (२३) कर्माक्षि ये मैं क्यानित् आलस्य छोट कर क्षो मैं न लूँगा तो है पार्य ! मनुष्य तब प्रकार ते मेरे ही पव का भनुतरण करें । (२४) ये मैं कम न कर्म तो ये कारे स्पेक उत्प्रभ भग्नान नह रह जायगे मैं नहुरक्ती हाँगा और इन प्रगाढ़ने का मेरे हाथ से नाए होगा ।

[ भास्त्रान ने भास्त्रा उगाहरणे कर इस भास्त्र मे भप्ते भौति तद्व चर निष्ठा किया है कि आक्षमप्रद कुउ पापाग्न नहीं है । इसी प्रकार इसने ऊर १७ म १ वे भोक्ता तक का ज पह भव निष्ठा है कि अन यात हो जाने पर तुम उप व्याय भम न रह गया हो । विर ये जाता की निष्ठामधुक्ति से जारे अर वर्ते रहना आर्य वह भी अव भग्नान ४ इस द्वास्त्र मे पुणतया भिज ही जाता है पर ऐता न हा । ता द्वास्त्र भी निरपह हा जापग (ऐतो गीता, प ११ ७ ३ ८-१८) । नात्यमार्ग भी८ वम्मास मे यह बहा भारी भड है ति नात्यमाग ६ उनी पुरुष जारे अर छार ऐने हैं । विर जादे इस वम्मास मे

॥ ५ ॥ कमर्ज्य हि ससिद्धिमास्थिता जनकाषय ।  
सोकर्मप्रदेशेवापि सम्पद्यन्कर्मर्महसि ॥ २० ॥  
परमापरमि भेषजस्तद्विवरण जन ।  
म यत्रमार्जु हुक्त छोकस्तद्विवरण ॥ २१ ॥

[ ५ ] भीद इन्द्रजार्य न मीं पीडे मे से भिया है (ऐसो गीतारहस्य परिशिष्ट ४६७२—०३ भौर ६८) । ऊपर भा यह कहा गया है कि स्वाप न रहने के कारण से ही हानी पुरुष का अपना कर्तव्य निष्कामद्विदि से करना चाहिए भार एवं प्रकार के किये एवं निष्काम कर्म का माला में बापड़ हाना तो दूर रहा उसी से भिदि मिलती है — इसी की पुष्टि के सिय अब इषाम्त रहे ह — ]

( २ ) अन्त भारि ने मीं ज्ञ प्राप्त कर स ही खिदि पाए है । ज्ञी प्रकार लोकप्रद पर भी इषि कर दुष्कर्म करना ही उचित है ।

[ पहले परज में इस शार का गीतारहण भिया है कि निष्काम कर स मिदि मिलती है भौर दूसरे परज मे निष्प रीति के प्रतिपादन का भारम्भ कर भिया है । यह तो खिदि भिया हि जानी पुरुषों का स्थगीं में कुछ भवना नहीं रहता तो मीं उप उनके कर्म कृत ही नहीं सक्ये तब तो निष्काम कर्म ही करना चाहिये । परन्तु पश्चात् यह पुष्टि निष्पमताहात है कि कर्म उप कृत नहीं करने हैं तब गीत बतना ही चाहिये । तथापि ऐसे इसी से वापरण मनुष्यों का पुरा पृथि विशाल नहीं हो जाता । मन में घटा होती है कि वया कर्म उप नहीं गम्भीर है इसीकिये उन्हें बतना चाहिये । उत्तम भीर और ताप्य नहीं है । भत्तेव इस भोक्त के दूसरे परज में यह निष्पमते का भारम्भ कर भिया है कि इह अन्त मे भरने कर्म के लाभप्रद बतना हानी पुरुष का भावन्त महसूसपृष्ठ प्राप्तस्थाप्य है । 'लोकप्रदमेवापि' के एकापि यह का यही लाभपृष्ठ है । भीर इनम् ग्रन्थ द्वारा है कि अब निष्प रीति के प्रतिपादन का भारम्भ हो गया है । 'भेषजप्रद' यह मैं 'गीत' का भग्य व्याप्त है । नहा इन शास्त्र मैं न बदल मनुष्यद्वयनि का ही बदल नहो इन्हों को न माय पर लाग उन्हों नाग भ द्वारा हुए लाप्त होना — भवान् नहीं मैंते वारण पाराशाखा का द्वारा बतना इस्याँ नहीं द्वारा का नमानेय ही जाता है । 'गीतारहस्य' के व्याप्तहरे प्रवरम (१ ३१—११८) म इन जातों का निष्पुत विवर भिया गया है । इनकिये इन पदों उनकी पुरुर्वक्ति नहीं बतत भव पदन् यह लालते हैं कि भावमप्रद नहने का यह कर्तव्य का भविकार जली पुरुष का ही वर्ण । ]

( २१ ) भद्र (निष्पाद भावमर्जी व्यवेची पूर्व) भा कुछ जाता है वही भग्य-भपान् वापरण मनुष्य — नहीं भिया बरों है । यह भिय प्राप्ति मन वर भर्त्तावार बरता है भाग उनीं का भ वरण बरों है ।

प्रहृष्टः किञ्चमाणानि गुणे कर्माणि सर्वेषां ।  
 अहोकारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते ॥ २७ ॥  
 तत्त्ववित्तु महावाहो गुणकर्मविमागदो ।  
 गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न लक्ष्यते ॥ २८ ॥  
 प्रहृष्टेर्मुञ्जसम्मूढा सज्जन्ते गुणकर्मसु ।  
 तामहृत्सविदो मन्यानहृत्सविदः विचारयन् ॥ २९ ॥

इनी ही शाय वह घोक्षप्रह के लिये - थेगो को चढ़ाव और सान्चरणी बनाने के लिये - स्वयं सदाचार में रह कर निष्क्राम कर्म अर्थात् साचारण का प्रत्यक्ष नमूना लेंगो का विस्त्रित हो और उड़नुसार उनसे आचारण करने। इस समर्थ में उत्तमा पहरी वा महापूर्व काम है (वेदों गीतारहस्य प्र. १२ पृ. ४४) जिन्होंने शीता के इस अभियाव और ऐसमेसेतुव दुष्ट दीरकार इच्छा यों विपरीत अर्थ किया कहते हैं कि शानी पुरुष का अशानियो के समान ही कर्म करने का सौम्य उत्तिष्ठये करना चाहिये कि विद्वान् कि अशानी ओंग नाड़ान के रह कर ही अपने कम करते रहे। मानो इम्माचरण निष्क्रामने अथवा थेगो को अशानी को रखने के लिये रहनवरो के समान उनसे कर्म करा थेन के लिये ही गीता प्राप्त तुर्द है। विनका पहला निष्पत्ति है; कि शानी पुरुष कर्म न करे सम्भव है, कि उन्हें स्वेक्षप्रह एक दोहरा वा प्रतीत हो। परन्तु गीता का वास्तविक अभियाव ऐता नहीं है। स्वावान कहते हैं कि शानी पुरुष के कामों में घोक्षप्रह एक महापूर्व काम है। और शानी पुरुष अपने उच्चम आदर ऐतारा उन्हें मुषारने के लिये - नाड़ान बनाय रखने के लिये नहीं - कम ही विद्वा कर (गीतारहस्य प्र. ११-१२)। अब वह दृष्टा हो उठती है कि यदि आत्मशानी पुरुष इस प्रकार घोक्षप्रह के लिये सातारिक कर्म करने लगे तो वह भी अशानी ही कर द्यवेत। भ्रष्टप्रव द्वापर वर करता है कि पश्चिम शानी भार भ्रानी दोना भी सहायी कर अर्थ तपायि एन दोनी के क्षताव में भेड़ क्षया है। और श्वनवान् से अशानी की दिन शत भी गिरा सेनी पाहिये। ]

( ७ ) प्रहृति क (प्रथ-रथ तम) गुणों ने उच्च प्रकार कम दुआ बरत है। पर अहनार में दोहित (अशानी पश्च) समझता है ति भिं कर्त्ता हैं। (२८) परम्परे महावार भाजन । गुण और कम दोनों ही मुहने भिन्न हैं इत तत्त्व की अनन्दवादा (शानी पुरुष) पर समझ कर इनमें आनन्द नहीं होता ति गुणों का यह एव भावन में हा रहा है। ( ८ ) प्रहृति के गुणों से बटके दुष्ट थेग गुण और कर्त्ता म ही भ्रान्त रहते हैं। इन अनुवाह और पश्च दोनों का तुर्दपुरुष (भ्रमन कर्मवाद से इनी अनुचित मार्ग में सगा कर) विचार म है।

६६ सकां कर्मण्यदिवांसा यथा कुर्वन्ति भारत ।

कुर्यादिवासताथत्सकलिकीपुलोकसंप्रदम् ॥ २५ ॥

न कुर्दिभेदं अवयवानां कर्मसंगिनाम् ।

ओपयत्सर्वक्रमाणि विद्वान्युक्तं समाप्तरल ॥ २६ ॥

| यह एक इति शब्द भारत का पुष्ट मी गुजरा कर - उन्ह इतीपरबाह नहीं  
| होती । और क्रमान्वय के हानी पुराण स्वयं अपने लिय भावस्यक न भी हो तो  
| भी लक्षणप्रद को महसूलग भावस्यक साध्य समझ कर तथा अपने घम के  
| भक्तुमार सारे काम किया करते हैं (ऐसो गीतारहस्य प्र. ३१ श ३ ८-३८) ।  
| वह जाता दिया गया कि स्वयं मात्रान् क्षय करते हैं भव जनियों के घमों  
| का भेर तिक्तल कर जलप्ति है कि भक्तियों को मुक्तारने के लिय जाता अ  
| भावस्यक कराय क्या है ? ]

( ६ ) हे भक्त ! सोक्तप्रद करन वी इच्छा रमेशाम गनी पुरुष का  
भावकि होन कर उमी प्राप्त बनना पाहिये तिन प्रकार कि ( भावहारिक ) कम  
में भासन भगवनी सोग बनाव बरते हैं । ( २६ ) कम में आशुक भगवनियों भी  
कुटि में हानी पुराण मेन्काव ठन्यम न कर ( भाप स्वय ) पुष्ट अधार चागुम्ह हो  
कर तभी काम कर और स्वया ले गुरी ले करार ।

[ इन घोषण का यह भव रे कि भगवनियों की कुटि म भेदनाव अन्म  
| त श्री और चाप स्वय कर २ व स्वाव में नी यही जान विर से कही गर दे ।  
| परन्तु इतरा मनस्व यह नहीं है कि जाता का भगवन में स्वाव रहे । २६ ऐ  
| स्वाव म बहा है कि गनी पुराण को साक्षप्रद बनना आहिये । साक्षप्रद क्य  
भव ही जाता का चाहूर ज्ञाना है । इन पर बाह इता कर कि जो स्वरूपप्रद  
ही बनना है तो विर यह भावस्यक नहीं कि इनी पुराण स्वय कर दा । एगो  
का नम्रता देन - जन का उप या कर देन - स ही काम चन इता है । इतरा  
ज्ञानान यह उक्त देन है कि जिनका ज्ञानारण का ए भन्यान हा नहीं गया  
दे ( जो ज्ञानारण देन एम ही हात ह ) उनका यो एक नुह त उत्तरा  
किया जाय - तिन जन लक्ष्य दिया जाय - तो ३ भवने भनवित द्वारे के  
तमस्य म ही इत इपान का तुम्हारान दिया जन ह और दे उप एनी  
स्वय हा एटा कुना त बड़ा हो ८ ६ नमह इनी पुराण ती एन ज्ञाना  
दे एवी द्वारा ए इनी पुराण घमो का एकाव लाट डे तो वह भगवनी  
ज्ञान ६ दिय देवी अन्द ६ दिय एव उपारण ही ज्ञ ज्ञान ८ मनुष्य का  
८ व वहार इनी ज्ञान - देव एकाव ज्ञान एव दिवारी हा ज्ञान ही  
स्वय ८ एमनुष्य ६ कुटि म इत प्रकार मे ज्ञान एकाव ज्ञान वर द्वा ज्ञान  
पुरुष ६ दिवा ८ ८ एव दिवा त यह दिवा दिवा ६ दिवा तुम्ह

५६ सहश्री चेष्टां स्वस्याः प्राहृष्टर्काणिवानपि ।

प्रकृतिं यामि मूरणि निप्रहः किं करिष्यति ॥ ३३ ॥

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यायै रागद्वयी व्यवस्थिती ।

तयार्न धर्मागच्छेत्तो धर्मस्य परिप्रियमो ॥ ३४ ॥

[ कर्मयोग निष्प्रभावुद्दिश से कम करने के लिये कहा है । उसकी व्याख्या के सम्बन्ध में ऊपर अन्वयव्यक्तिरेक से जो फलभूति बताया गई है उससे पुणतया व्यक्त हो जाता है जिस गीता में बोनसा कियव प्रतिपान है । उसी कर्मयोगनिरूपण की पृष्ठि के हेतु मात्रान् प्रहृति की प्रकृता का और फिर उसे रोकने के लिये इन्द्रियनिप्रह का बहन करते हैं :- ]

( ३३ ) जानी पुरुष मी अपनी प्रहृति के अनुसार फर्तता है । सभी ग्राणी (अपनी अपनी) प्रहृति के अनुसार रहते हैं (बहों) निप्रह (बहरती) क्या करेगा ! ( ३४ ) इन्द्रिय और उसके (धर्म-स्वर्य भावि) कियवों में प्रीति एवं हेतु (बोना) व्यवस्थित है – अर्थात् स्वमण्डत निष्प्रिय है । प्रीति और द्रुप के बीच में न अन्ना चाहिये । ( क्योंकि ) ये मनुष्य के शत्रु हैं ।

[ दैतीसंबंधीक के निप्रहृ शब्द का अर्थ निरा सद्यमन ही नहीं है जिन्हु उसका अप 'बहरती' अथवा 'इठ' है । इन्हियों का धोम्य सद्यमन तो गीता को इष्ट है । जिन्हु बहों पर कहना वह है कि इठ से था बहरती से 'निष्प्रियी' की स्वामानिक हुति को ही एकत्र मार डाक्ना सम्भव नहीं है । उस दरण लीकिय बन लक है तब तक भूप प्यात भावि उस प्रहृतिरिद होने वे कारण धूर नहीं लगते । मनुष्य किनना ही जानी कर्या न हो ! भूर स्याने ही भिसा मासने के लिये उस बाहर निकलना पड़ता है । इष्टकिये चतुर पुरुषों का पही कर्माय है कि बहरती से इन्द्रियों का भिन्नुस ही मार डाक्ने का एक इठ न कर भीर धोम्य तमम के द्वाय उग्रे अपने बीज में करक उनकी स्वमन रिद हुतियों का लौकनप्रहार्घ उपयाग किया कर । इती प्रकार ३४ वे धोके व्यवस्थित पर से प्रसर होता है कि मुख भार दुर्दान बोना किसार स्वमन है एव दूसर का भासाव नहीं है ( ऐसा गीतारहस्य प्र. ४ त् भीर १ ) । प्रहृति भासाव सृष्टि के अपरिच्छित व्यापार में कह बार हमें एसी जात भी करी पानी है कि हमें स्वप्न प्रसन्न नहीं ( ऐसो गीता १८ ) भीर यहि नहीं करन है तो निकाह नहीं हुता । एम समय जानी पुरुष हा रमों को निरिष्टरुद्दिश से कबह काय गमक कर करता जाता है । भरत पारपुराय त्र अभिष रहता है, भीर भगती उनी ए भागलि राम कर दुर्दा पाता है । यह बादि क वर्णनानुसार तुड़ि की हाँ न यदी इन जाना में बदा मारी नेत है । परन्तु

६५ मयि लक्ष्मीं कर्माणि संन्यस्याभ्यासमेतसा ।

निराशीर्निर्ममो मूल्या पुष्पस्य विगतज्वर ॥ ३० ॥

६६ य मे मतमिति नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।

अद्यायन्ताऽन्तस्यन्तो मुख्यस्ते तेऽपि कर्ममि ॥ ३१ ॥

ये स्वेतव्यप्रथमो नानुतिष्ठन्ति मे मतम ।

सर्वकामविमूढौस्तान्विद्वि नम्यानन्तेतसा ॥ ३२ ॥

[ यहाँ २६ व लोक के अर्थ का ही भनुवा किया गया है। "स लोक मे थे ये चिदान्त हैं - कि प्रहृति निम है और आत्मा निम है; प्रहृति भवता माया ही उब कुछ करती है आत्मा कुछ करता-भरता नहीं है थे इस तत्त्व की जान लेता है वही पुद्द अथवा यानी हो चहा है उसे कम का भवन नहीं होता; "म्यामि" - के मूल में कापिस्यासमानम् के हैं। गीतारहस्य के ७ वे प्रश्नण (पृ १६८-१६९) मे "नका पूर्ण विवेचन किया गया है उसे देखिये। २८ अंगोक का कुछ लोग यो अथ करते हैं कि गुण यानी इन्द्रियों गुणों में यानी विद्या म जाती है। यह अर्थ कुछ दूर नहीं है। कर्मकि साम्यघास्य के भनुवार व्याहृ इन्द्रियों आर शाश्वत स्वर्य भावि पौच विद्यव मूलप्रहृति के २३ गुणों में से ही गुण है। परन्तु "उसे भव्य करक ही यह है कि प्रहृति के समस्त भर्त्यान् चौरीवीं गुणों को सम्बन्ध करके ही यह गुण गुणेत्र वर्तन्ते का चिदान्त निर्मत किया गया है (देखें भीता २३ १ - २ और १४ ८)। हमने उठाए घास्य भार घासपन दीनि से भनुवा किया है। भावान ने यह घास्य दे नि यानी भार यानी एक ही कम कर तो यो यो इनमें तुदि की दृष्टि से बहुत गहरा महा ह (गीतारहस्य म २२ पृ ३२ और ३३) भव ज्ञ युर्ति विवेचन के सारक्षण से यह उपर्या करते ह - ]

(१) (एवंक्षिप्त है भनुवा') मूलम भव्यमनुदित से उत्र कर्मों का संन्यासमान भवता भवता करके भी (कृ वी) क्षाया पद मनसा छोड़ कर त निर्भिस्त हरन् पुढ़ वर

(२) या भद्राकान (पुराण) लोतों का न याद वर मरे इत मन क भनुवार निय ज्ञाव वरन् है के भी कर्म से भवान् क्षमक्षम मे मूल हो जाते हैं। (३) परन्तु यो दायदिति से दायदिति करके मेरे इत मन के भनुवार नहीं ज्ञाव उम सुक्षमन विद्व भव त यह भविक्षियों का नय एव नमस्तो ।

[ भव यह बहुतांत है कि इन उर्दित के भनुवार ज्ञाव वरने त वरा एव मिक्षा है (भीत याप न वरने से वेदी एवं हानी है!) ]

अर्जुन उवाच ।

५६ अथ काम प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरपः ।

अनिष्टमध्येष्ठ वाप्येष्व बलादिव नियोजितः ॥ ५६ ॥

भीमगच्छतुवाच ।

काम पप्य कामप्य पप्य रजोगुणसमुद्गद ।

महाश्लो महापापमा विद्धयेनमिह दैरिणम् ॥ ५७ ॥

भूमेनाद्रियत विक्षिप्यथावश्ये मझेन च ।

यथोस्वनाशृतो गर्भस्तथा तेषामाशृकम् ॥ ५८ ॥

आशृतं हाकमेतेन हामिनो निष्पवैरिण्या ।

कामकृपेण कौन्तम्य दुष्कृतेष्वामलेन च ॥ ५९ ॥

[ हे (देखो गीता १८ ४८) । परन्तु इस नुच्छीनी के मारे अपना निवार कर्तव्य ही थोड़ा देना कुछ भर्ते नहीं है । महामारुत के ब्राह्मणम्बाधरंवाह में भी और दुसरापारबाब्लिउवाह में भी वही तत्त्व बताया गया है । एवं यहाँ के १५ वे श्लोक का पूर्वार्थ मनुस्मृति (१ ९७) में और गीता (१८ ४७) में भी आया है । मात्रान् ने १३ वे श्लोक में कहा है कि 'इन्द्रियोः को मारने का हठ नहीं चलता । 'स पर अब मनुन ने पूछा है कि इन्द्रियों को मारने का हठ क्यों नहीं चलता ? और मनुष्य अपनी भर्ती न होने पर मी बुरे कामों की भीर क्यों पर्दीय जाता है ! ]

अर्जुन ने कहा :— (५६) हे वाप्येष्व (भीरूप) ! अब (वह ब्रह्मम्बी कि) मनुष्य अपनी इच्छा न रहने पर भी किति की मेरणा से पाप करता है ? मानो कोई बर्मस्ती ली करता हो । भीमावान् ने कहा :— (५७) इह विषय में वह समझो कि रघुगुण से उत्तम होनेवाल वद्य पेदू और वद्य पापी यह काम पर्व पह कोप ही शुद्ध है । (५८) तिस प्रकार मुर्द्दे से अग्नि भूमि से दर्पण और शिरोही से गम लेना रहता है उनी प्रकार उत्तमे यह वह देंका हुआ है । (५९) हे भीरूप ! जाता का यह कामकी नित्यविरी कमी भी तूस न होनेवाल्य अग्नि ही है । इनमे शरन को नहीं रखता है ।

[ यह मनु के ही वचन का भनुवान है । मनु ने कहा है कि न यदि काम कामनामुपमोगेन जाप्यति । हवियं हृष्टवस्त्रेष्व भूद एवामिवस्ते ॥ (मनु २ ४) — काम के उपभोगों से काम कमी अवाता नहीं है वस्ति इस्थन दासन पर अग्नि इत्या वह काता है उनी प्रकार वह भी अक्षिकापिङ्क बद्दता जाता है । हे (देखो गीतार. प्र. १ ११) : ]

५६ अद्यान्तस्यधर्मो विगुणं परमात्मास्यनुष्ठितात्।

स्वप्नमें निघलं भ्रेय परम्परां मयादह ॥ ३५ ॥

भव एक भौत घड़ा होती है कि बद्यरि यह सिद्ध हा गया कि नित्या का रास्ती मार कर कमत्याग न करे जिन्हु निःसाकुदि से तर्ही काम करता रान। परन्हु यह शनी पुरुष युद्ध के समान हिंसायमन पार कम करने की भवेषा रानी व्यापार या भित्ति मौजना भाड़ि काद निष्पत्रवी भार दीगय कम वर ता क्या भविक प्रश्नन नहीं है ? भगवान् "सका यह उत्तर देने हैं - ]

( ३ ) पराये इम का आचरण मुग्ध से करते थे तो भी उसी अपेक्षा अपना इम भयान् आनुवधित कर ही भवित भेदभाव है ( निर चाट ) एह बिगुण भयान् लगाय नहीं हो। मद्यम ए भनुभार ( जनन में ) मृग हा शब तो भी उसमें कस्पाण है। ( परन्तु ) पराखन नयद्वार हाता है।

## चतुर्थोऽध्याय ।

भीमगतिशुद्धाच ।

इमं विषस्ते योगी प्रोक्तवानाहमग्र्यम् ।

विषस्तान्ममये प्राप्तं मनुष्यिक्षाक्लव्यज्ञवीद् ॥ १ ॥

परं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्क्ष्यो विदु ।

स कामेनेह महता यामो महा परम्पर ॥ २ ॥

[ कर्मविपाक के ऐसे गृह प्रभ्यों का विचार गीतारहस्य के इसमें प्रकाश (पृ २७१—२८७) में किया गया है कि अपनी इच्छा न रहने पर मी मनुष्य क्षम-क्षेत्र भावि-  
प्राप्तिपदों के कारण कोई काम करने में क्षोफर प्रहृष्ट हो जाता है । और भास्म-  
स्तुतमहाता के कारण इन्द्रियनिप्रहृष्ट साधन के द्वारा इसले कुछारा पाने का मार्ग  
ऐसे मिल जाता है । गीता के छठे भाग्यात्र में विचार किया गया है कि इन्द्रिय  
निप्रहृष्ट के से करना चाहिये । ]

इस प्रकार भीमस्तान् के गाये हुए — अर्थात् कहे हृष — उपनिषद् में ब्रह्म-  
विद्यास्तुतग्रह योग — अर्थात् कर्मयोग — शास्त्रविद्याप्रकल्प भीहृष्ट और भक्तुन् के दीक्षाद-  
में कर्मयोग नामक तीसरा भाग्याय समाप्त हुआ ।

## चौथा अध्याय

[ कर्म किली से पूर्ण नहीं है । इत्यन्ति निष्कामदुद्दिः हो जाने पर मी कर्म  
करना ही चाहिये । कर्म के मानी ही यशस्वि आदि कर्म हैं । पर मीमांसको के बीच  
कर्म स्वरूप है । अतएव एक प्रकार से कर्मक है । “ये कारण इन्हे आवश्यकि ध्येय  
करने करना चाहिये । यन च स्वार्थंदुद्दिः दूरं जावे तो भी कर्म छूटें नहीं हैं ।  
अतएव ज्ञाता का भी निष्काम करना ही चाहिये । स्वार्थप्रहृष्ट के लिये यह आवश्यक  
है । इत्यादि प्रसार में अब तर व्ययोग का ये विवेचन निया गया, उठी को इत्य  
भाग्याप्य में हृषि निया है । कहीं चह गड़ा न हो कि भाषुष्य कियाने का यह मार्य  
भपात् निया भक्तुन् का युद्ध में प्रहृष्ट करने के लिये नह बल्कर गर्द है । एतद्यं  
इति साग की शास्त्रीन गुरुप्रदर्शना पहले करनान है — ]

भीमस्तान ने पढ़ा — ( ) भाग्यक भक्तान कर्मी भी शीघ्र न होनेवाल  
भपात् विद्याप में भी व्ययित और भाग्य चह ( चम ) योग ( माय ) में  
उत्तर जान भ गत गृष्ट वा भ या ग विद्यान् न ( भग्न पुन ) मनु वा और  
मनु दे ( अपन अम ) इत्याजु वा ग्रामवा ( ) ऐसी परम्परा ने प्राप्त हृष इति

इन्द्रियाणि मनो तु द्विरस्याधिष्ठानमुर्मुखे ।

पौरीं त्वं मोहयेष शास्त्राकृत्य देहिनम् ॥ ४० ॥

तस्मात्त्वमिन्द्रियाप्यादौ निश्चय भरतवर्म ।

याप्याने प्रश्नहि द्वेषं शास्त्रिहाक्षाशक्तम् ॥ ४१ ॥

५६ इन्द्रियाणि पराण्याकृतिनिद्रियम्य परं मनः ।

मनस्तु परा तु द्वियों दुदेः परास्तु त्वं ॥ ४२ ॥

परं तु द्वा परं तु द्वा संसारम्भात्मानमात्मना ।

अहि शब्दे महावाहो कामरूपं तु रास्तम् ॥ ४३ ॥

इति भीमद्वयवद्वीताम् उपनिषद्ग्रन्थिण्याया योग्यात्मे भीमप्याद्युन्नत्यादे  
र्थ्योगो नाम तृतीयोऽभ्याया ॥ ३ ॥

(४) इन्द्रियों के मन को और तुदि को इसका अधिकान भर्यात् दर या गढ़ कहते हैं। इनके आज्ञय से ज्ञान को अपेक्ष कर (कैंक कर) यह मनुष्य को मुझे मैं बाँध देता है। (४१) भरतवर्म है मरतभेद ! पहले इन्द्रियों का समय अर्कके शयन (भ्रष्टात्म) और विश्वन (विशेष ज्ञान) का नाश करनेवाले इस पापी को तु मार दाढ़।

(४२) यहा है कि (स्वस जाग पश्चात्यों के मान से उसको अननेकार्थी) इन्द्रियों पर अर्थात् परे हैं। इन्द्रियों के परे मन है। मन से मी परे (प्यवसाया एव) तुदि है। और ये तुदि हे भी परे है, यह आत्मा है। (४३) हे महाव्याधि भर्युन ! इस प्रकार (थो) तुदि से परे है उसको पहचान कर और अपने आपको ऐक करके तुरासाप्य कामरूपी शब्द को तु मार दाढ़।

[ शामरूपी आसुक्ति को छोड़ कर स्वर्पर्म के भनुतार साक्षप्रहार्य समस्त  
कर्म करने के लिये इन्द्रियों पर अपनी उच्चा हानी पाहिये। वे अपने कानू मैं  
रहें। वह वहीं रहना ही इन्द्रियनिपट विकसित है। यह भय नहीं है कि  
इन्द्रियों की बदलती से एकदम मार करके तार कर्म छोड़ के (ऐसो गीतार प्र  
६४२१६)। गीतारहस्य (परि शू७३) में विश्ववा है कि “निद्रियाणि  
पराण्याकृति इत्याति ४२ वीं स्त्रोऽक्षोपनिषद् ता है और उपनिषद् के अन्य  
पार पाच स्त्रोऽक्ष मी गीता मैं लिख गये हैं। ऐसके विचार का यह तात्पर्य है  
कि जाग पश्चात्यों के तस्कार प्राप्त करना इन्द्रियों का जाग है मन का जाग इनकी  
प्यवसाया करना है। और किर तुदि इनको अज्ञा अस्ति छोड़ती है। एव आत्मा  
इन तद से परे है तथा तद से मिथ है। इति विशेष या विश्वारपूष्वन विचार  
गीतारहस्य के छठे प्रश्नण के भन्त (पृ७३०-७४०) में दिया गया है।

इस्वाकुमा च कर्मितो व्याप्य छोक्त्वाचरितः ।  
गमिष्पति श्वान्ते च पुनर्बाहित्वं दूष ॥  
कर्तीना चापि दी चर्मः स ते पूर्वं शूपोत्तम ।  
कर्मितो इरिगीत्वम् समाप्तिविकलिपितः ॥

लेतामुग के आरम्भ में विवत्तान् ने मनु को ( वह चर्म ) दिया, मनु ने अद्वा-  
चारणार्थ वह भपने पुत इस्वाकु को दिया और इस्वाकु थे आम एवं लोगों में  
फैल गया । हे राज्य ! सृष्टि का स्वयं होने पर ( वह चर्म ) फिर नारात्मक के  
पर्वों चला जायेगा । यह चर्म ' कर्तीना चापि ' अर्थात् इसके साथ ही सामाजिकम्  
दृष्टिये पहले भावद्वारीता में छह दिया है — ऐसा नारायणीय चर्म में ही वैद्यम्यामन  
ने अनगेवम ऐसा चर्म है ( मा शा ३४८ ५१—५२ ) । इससे दीर्घ पहला है  
कि विद्य द्वापाराख्या के अन्त में मारतीय शुद्ध दृभा या उससे पहले लेतामुगम्  
ही ही मारवत्तम् की परम्परा गीता में वर्णित है । विवत्तारम्भ से अधिक बर्जन  
नहीं किया है । वह भगवत्तव्यम् ही योग या कर्मयोग है और मनु को इस  
कर्मयोग के उपर्युक्त विद्ये ज्ञाने की कथा न बेकछ गीता में है प्रसुत मारवत्तपुराण  
( ८ २४ ५६ ) में भी इस कथा का उल्लेख है । मास्त्यपुराण के ५२ वें अध्याय में  
मनु को उपरिषद् कर्मयोग का महात्म मी बताया गया है । परन्तु इनमें से दोईमैं  
कर्जन नारायणीयोपाख्यान में किये गये वर्जन के समान यूक नहीं है । विवत्तान्,  
मनु और इस्वाकु की परम्परा साम्यमार्ग को विस्मृत ही उपसुक नहीं होती, और  
साम्य एवं योग दोनों के अतिरिक्त तीसरी निष्ठा गीता में वर्णित ही नहीं है ।  
इस बात पर अस्तेने से बूढ़ी रीति से मौजिद होता है कि वह परम्परा  
कर्मयोग ही ही है ( गीता ८ १९ ) । परन्तु साम्य और योग दोनों निष्ठाओं की  
परम्परा यथापि एक न हो तो भी कर्मयोग अर्थात् मारवत्तव्यम् के निष्पत्ति में  
ही साम्य या एन्यासनिष्ठा के निष्पत्ति का पर्याय से लमालेह हो जाता है  
( गीतारहस्य प्र १४ पृ. ४७१ देखो ) । इस कारण वैद्यम्यामन न कहा है कि  
मारवद्वारीता में वर्जनम् अर्थात् उन्यात्कृत्वम् भी वर्णित है । मनुस्मृति में आर आभ्यम  
घर्मों का दी वर्जन है उसके हाले अध्याय में पहले यहि असांत राम्यात् आभ्यम  
का घर्म कह चुक्के पर विवश से ' वैद्यत्यम्यातिको ' का कर्मयोग इस नाम से  
मारवत्तव्यम् के कर्मयोग का वर्जन है । और लग्तु कहा है कि निष्ठाहता से  
भपना कार्य करते रहने से ही मास्त्य में परमसिद्धि विलक्षी है ( मनु ६ ९३ ) ।  
इसके लग्तु कहा है कि कर्मयोग मनु को भी श्राव्य था । इती प्रत्यार भन्त्य  
स्मृतिवारों को भी यह मान्य था और इस विषय के अनेक प्रमाण गीतारहस्य  
के १२ वें अध्याय के अन्त ( पृ. ४६१—४६८ ) में दिये गये हैं । अब भनुन क्ये  
इस परम्परा पर यह दाढ़ा है कि ~ ]

स पश्यते मया तेऽय योगं प्रोक्तं पुरातनं ।

भक्षोऽसि मे सखा चेति रहस्यं हेतादृतमम् ॥ ३ ॥

(योग) को एवरियों ने बना। परन्तु ह उत्तुलापन (भक्तुन्) ! दीर्घकाल के अनन्तर वही योग इस अंक में नह छो गया। (१) (उब रहस्या मे) उत्तम रहस्य समझ कर “सु पुरातन योग (कर्मयोगमात्र) को मैंने दुसे आद इसप्रिये करुण दिया कि तु मेरा मष और तत्त्व है।

[ गीतारहस्य के तीसरे प्रकरण (पृ ५६-५७) मैं इसने लिख दिया है, कि इन तीनों क्षेत्रों में ‘याय शब्द से आमु जिताने के उन दोनों मार्गों में से – कि दिनह साम्ब और योग कहते हैं – याग अर्थात् कर्मयोग यानी साम्बुद्धि से कम करने का मार्ग अप्रियेत है। यीता के उस मार्ग की परम्परा ऊपर के श्रोक अत्यन्त मर्म है। वह यद्यपि “स मार्ग भी जड़ को समस्ते के लिये मत्स्यर महात्मा ही है तथापि दीक्षाकारी ने उत्तमी विशेष चर्चा नहीं की है। महामारु के अन्तर्याम नारायणीयोपाय्यान में मारगवत्तरमर्म का यो निरूपण है उत्तमे जनमे- जन से वैष्णव्यायन अहते हैं कि यह चर्म पहले खेतद्वीप म मारुन् से ही –

नामदेव तु सम्प्राप्तः सरहस्यः स्तरंवद् ।

पृष्ठ चर्मो व्याकाशायामाङ्गाचतायस्यन्तृप् ॥

पृष्ठमेव महान्तर्म च ते पूर्वं तुपीतम् ।

कर्मिनो हरिगीताद्यु समाप्तविविक्षिप्तिसाक्षः ॥

नारा को प्राप्त दृगा। हे राजा ! वही महान् चर्म दुसे हरिगीता अर्थात् ममताद्वारा मैं समाप्तविविष्टहित व्याक्यया है – (म मा धा १४६ १.१)। और फिर यहाँ है कि दुसरे विमलक द्वार भक्तुन् ओं यह चर्म स्वत्यपा गया है (म मा धा १४८ ८)। इससे प्रकट होया है, कि गीता का योग अर्थात् कर्मयोग मारगवत्तरमर्म का है (गीतार. प्र १ पृ ८-११)। विद्यार हो जाने के भव से भीता मैं उत्तमी हम्रशयपरम्परा सुहि के मूल भारम्भ से नहीं ही है विद्यान् मनु और इत्याकु “नहीं तीनों का उद्देश्य कर दिया है। परन्तु इत्या उत्तम अर्थ नारायणीय चर्म की उत्तम परम्परा हेत्तने से लाए मारुम हो जाता है। त्रिष्टु दुःख सात चर्म है। इनमे से पहले छँ चर्मों भी नारायणीय चर्म में अक्षित परम्परा का कान हो जाने पर चर्म त्रिष्टा के छातों – अर्थात् चर्मनाल – चर्म का दृश्युग तमाह दृश्या तज –

त्रिष्टुपात्री च ततो विद्यामन्त्रे दही ।

मनु च त्रिष्टुपर्वं सुकानेत्वात्मे दही ॥

यसा यसा हि अमस्य महानिर्मयते भारत ।  
अम्बुद्यात्मभर्मस्य तत्वात्माते सुजाम्बहम् ॥ ७ ॥

परिप्राणाय साकृतौ विनाशाय च तुष्टुताम् ।  
अमसंस्याप्नार्थाय सम्बवामि युमे युगे ॥ ८ ॥

॥ ९ ॥ जन्म कर्म च मे किष्मेवं या वेति तत्त्वता ।  
स्यकृत्या वेई पुर्वज्ञम् नेति भासेति सोऽर्जुन ॥ ९ ॥  
धीतपत्नमयकोषा भन्नया ममुपासिता ।  
वहयो लाम्बतप्त्वा पता मद्भ्रातमागताः ॥ १० ॥

[ ६ ] ये प्रत्यरण मैं दिया गया है। यह ज्ञाता दिया कि अप्यकृ परमेश्वर अकृ भैरे होता है। अर्थात् कर्म उपद्य हुआ सा भैरे दीर्घ पड़ता है। अब इह कृ का भुवना करते हैं कि यह ऐसा कर्म और किसिंचित्करता है। :- ]

( ७ ) हे मारत ! जन ( जन ) कर्म की भानि होती है और अप्यम भी प्रकृत्या फैल जाती है तप ( तप ) मैं स्वय ही कर्म ( अवतार ) दिया करता हूँ। ( ८ ) याकृती की सरक्षा के निमित्त और युद्ध का नाए करने के लिये मुग मुग मैं पर्मस्यापना के कार्य मैं समझिया करता हूँ।

[ “न दोनों क्लोकों मेरे भगव शास्त्र का अथ केवल पारम्परिक वैकिंकर्म नहीं है। दिनु चारों वर्णों के भगव न्याय भीर नीति प्रसूति दर्ती का भी उत्तमे गुणवत्ता से समावेष होता है। ” उस क्लोक का तात्पर्य यह है, कि काल में जन भन्नयाय अनीति युद्धता और अंधार्जुती भगव कर याकृती की यह होने वाला है भीर जन युद्ध का इक्षुवा कर देता है तब अपने निर्माण किये दूर जगत की सुरक्षिति को रिपर कर उत्तमा कम्याश करने के लिये हेत्वाती भीर परानभी पुरुष के रूप से ( गीता ३ । ४१ ) अवतार के कर भगवान् रुद्धम भी दिया ही हुई स्पष्टतया की तिर दीक्ष कर दिया करते हैं। इस रीति से अवतार से कर भगवान् जो काम करते हैं उसी का ‘सेवकत्वम्’ भी बहते हैं। यित्ते भगवाय महृषि दिया गया है कि यही काम अपनी धर्मिक और अधिकार के भनुमार भारमध्यनी पुरुषों का भी करना आहिये ( गीता ३ । २ )। यह कठला दिया गया है कि परमेश्वर कर और किसिंचित्भवतार सेवा है ? अब यह कठलते हैं कि उस तत्त्व को परम कर वी पुरुष भनुमार कर्त्तव्य करते हैं उन्होंनी भीनही गति भिष्टी है ? - ]

( ९ ) हे भद्रुन ! उस प्रकार के मरे दिये कर्म भीर दिव्य कर्म के तत्त्व के बायनता है वह हेठला गने के पश्चात् किर कर्म न सेवर गुजाते भा मिस्ता है। ( १० ) ग्रीष्मि मध्य भीर जाति से पूरे एष मन्त्रराजन भीर मेरे आभद्र मैं आवे-

अर्हुन ठाकुच ।

५५ अपरे भवतो जन्म परं जन्म विद्यस्यत ।

कथमेतत्त्रिमानीयां स्वमात्रीं प्रोक्षवाचिति ॥ ४ ॥

भीमगवानुवाच ।

बद्धमि म व्यतीतानि जन्मानि तद चागुन ।

तान्यर्द यद सर्वाणि म त्वं वेद्य परम्पर ॥ ५ ॥

अमाऽपि सत्त्वव्यवास्मा मृतानामीभ्युपर्यि सन ।

प्रकृतिं स्वामपिष्टाय सम्मयाम्यास्ममायया ॥ ६ ॥

भगुन न कहा - (४) तुम्हारा उम सा भीमी रुआ ह और विवरान का इतन बहुत पहले हो पुका ह । (ऐसी इच्छा म) यह कैसे शर्म हि तुमने (यह पाय) पहले पक्ष्यात् ?

[ भगुन प इस प्रभ का उत्तर है एवं मगान् भवन अष्टारो के बायो का बजन वर भाषणियिरहित क्षमाय या भागवतपम का ही फिर तमन्त दरत ह फिर इत प्रकार मी यमों की बरता भा रहा है । ]

भीमगवान न कहा - (५) हे भगुन ! मर आर तर खल उम हा रुह ह । उन सब का मै जानता हूँ । (भीर) हे परम्पर ! तु नहीं उमता (यही न ह) । (६) मै (तप) प्राणियों का स्वामी भीर उमपिरहित हूँ । यदै मर भागवतपम की यह अपात्र विचार नहीं होता तथापि भगवानी ही ग्रनि में भविता दूसर मै भगवी भाषा में उम भिया बरता हूँ ।

[ इन ५५६ के भाषा मगान में कामित्तमात्म्य भार बना । तो ही मतों का में कर दिया ल्या है । कामयमात्मी का उपन ह ग्रनि भाषा ही स्थाय गृहि निमाण बरती है । पान्तु देवतानी लाग रुही का परम्पर का ही एवं स्वरूप नमस्त वर यह पन्त ह सि ग्रनि म पासेपर के तथा । इन वर रुही म व्यत्यग्याइ दिनि रुही ह भगवे भागवत गायत्र म नौर बना । उमिया बान वी इन भवित्वय रुही का ही रुही म भाषा बदा ह भाग रुही प्रकार भागवतात्मका म भी उल रुहन ह - मदा हर । रिद्ध न्मदिन तु महेत्यम् भद्रः पूर्वा ही क्षमा ह भर उम माया का भवती पासेपर ह (५६१) भीर भगव मदी गृहि विभवेत् । इस क्षमा का भवती गृहि त उप बरता है (५६२) एह ५ क्षमा बदा बदा है । इस क्षमा का उप बदा ह भाग इन बाद का बदा । ह दि । क्षमा भ रुही उप बदा है । - रुहीः उप ५ ॥ ५ ॥ भाग उप ५ ॥

६६ आतुर्वर्ष्य मया सुहृं गुणकर्मविमामराः ।

दस्य करारिमपि मां विद्वचक्तारमन्त्यम् ॥ १४ ॥

न मां कर्माजि स्त्रिम्पन्ति न मे कर्मफले स्तुष्टा ।

इति मां योऽभिज्ञानाति कर्ममिन्न स वस्त्रे ॥ १४ ॥

| हो चाहा है। परन्तु इतने दूरधीं भीर दीर्घ सयोगी पुरुष वहुत ही थोड़े होते हैं। इस स्त्रोक का मात्रार्थ पह है कि वहुतेरो की अपने उपोग भर्तात् कर्म के एक में कुछ न कुछ प्राप्त करना होता है; भीर ऐसे ही स्त्रोग देकराभो की पूजा करते हैं (गीता ८. ३३ शु. ४२६ देखो)। गीता का पह मैं तो परमेश्वर का ही पूजन होता है अर्थ बदते कहते इस योग का पर्युक्तन निष्काममर्थक में होकर अन्त में मोक्ष प्राप्त हो जाता है (गीता ७. १)। पहले पह मुझे है कि घर्म की संख्यापना करने के लिये परमेश्वर अवहार होता है। अब सहीप में बताते हैं कि घर्म की संख्यापना करने के लिये क्या करना पड़ता है! — ]

(१३) (ब्राह्मण स्त्रिय और श्रद्ध उस प्रकार) चारों बचों की स्पर्शस्था गुण भीर कम के मेड से मैंने नियाण की है। इसे तू भाल म राप कि म उठका कर्ता भी हूँ; भीर अहता अर्द्धात् उसे न करनेवाला अध्ययम (मि ही) है।

[ अर्थ पह है कि परमेश्वर कर्ता भी ही हो; पर अप्से स्त्रोक के बजना नुसार वह लौटेर निःसङ्ग है। इस कारण अहता ही है (गीता ५. १४ देखो)। परमेश्वर के स्वरूप के स्त्रेन्द्रियगुणामात्र स्त्रेन्द्रियविशिष्टम्' ऐसे वृत्रे मैं विठोधाभावात्मक बजन हैं (गीता १३. १४)। चानुवर्ण के गुण भीर मेड का निवृप्त आगे अटाइके अध्याव (१८. ४२-४३) मैं निया गया है। अब मसावान् ने बरके न करनेवाला ऐसा थो भपना बजन किया है उठका मम काम्पते हि! — ]

(१४) मुझे कम का सेप भयात् जाना नहीं होती। (स्वाक्षि) घर्म के पर मैं मेरी रूप्त्व नहीं हूँ। मैं मुझे इत प्रकार जानता हूँ उठे कम की जापा नहीं होती।

[ ऊपर नवम स्त्रोक में यो ग जान रही है कि मेरे 'अम्ब भीर 'कम' को थो जानता है वह मुक्त हो जाता है। उनम स कम के ताप का ताहीकरण इस स्त्रोक मैं निया है। 'जानता है शर्प मैं यहाँ जान कर तानुकार बजन क्योगा है इतना अप विवित है। माकाख पह है कि माकाख की ऊन कम की जापा नहीं होती। इतना पह बारम है कि वे कमज़ा राप कर काम ही नहीं करत। भीर इस जन कर तानुकार ग जनता है उठके क्यों का अभन नहीं होता। भव इत स्त्रोक क मिडान का ही प्रयोग उत्ताहण म ई बरत है! — ]

६६ ये यथा माँ प्रपञ्चन्ते तीसर्यैष भजाम्यहम् ।

मम वस्मानुवत्तन्ते मनुष्यां पार्थ सर्वशः ॥ ११ ॥

क्षीकृतः कर्मणा सिद्धि यज्ञन्त इह वेदता ।

किंप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्मर्षति कर्मजा ॥ १२ ॥

इए अनेक लोग ( इच प्रकार ) ज्ञानस्प रूप से शुद्ध होकर मेरे स्वरूप में आकर मिल गये हैं ।

[ मात्रान के लिये उन्म और समझने के सिये यह ज्ञानना पाइता है कि अप्यक्ष परमेश्वर माया से संगुण ऐसे होता है । और इसके ज्ञान सेन से अप्यास्मान हो जाता है । एवं लिय कम का ज्ञान लेने पर कर्म करके भी अस्मिन रहने का — अथान् निष्कामकम के तत्त्व का — ज्ञान हो जाता है सारांश परमेश्वर के लिय उन्म और लिय कम को पूरा पूरा ज्ञान है तो अप्यात्मकान और क्षमयोग दोनों भी पूरी पूरी पहचान हो जाती है और मोक्ष की प्राप्ति के सिये इष्टकी ज्ञानस्यस्ता हनि के कारण ऐसे मनुष्य को भन्त मैं मात्रात्मासि इए जिना नहीं रहती । अथान् मात्रान के लिय उन्म और लिय कम ज्ञान लेने मैं सद्गुरु आ गया । फिर अप्यात्मकान अप्यक्ष निष्काम क्षमयोग दोनों का अस्मा भास्या अप्यवन नहीं बरना पाइता । भरुपक्ष बहुतम् यह है कि मात्रान के उन्म और इत्य का विचार करा एव उठके तत्त्व को पराय कर कर्त्तव्य करा । मात्रात्मासि हनि के सिये दूसरा कार्य साधन अपेक्षित नहीं है । मात्रान की यही लक्ष्मी उपलब्धना है । अब इसकी भाषणा नीचे के इष्टों की उपलब्धनाभी के पक्ष आं उपयोग बनस्त हैं — ]

( ११ ) को मुख लिन प्रकार से भक्ते हैं उन्ह मि उसी प्रकार के फल होता है । ए पाप ! किंचि भी व्योर से हा मनुष्य मेरे ही मार्ग मैं आ मिलते हैं ।

[ मम वस्मानुवत्तन्त इत्याहि उत्तराप पहने ( १ २३ ) कुछ निहम्य अप म आया है और इसमे ज्ञान मैं आवेगा ति नीता मैं पृष्ठापर मृत्युम के अन्मार्ग अप ईस इन्म जाता है । यद्यपि यह उच्च है ति विनी माया से ज्ञान पर भी मनुष्य परमेश्वर की ही और जाता है तो यह ज्ञानना जातिये कि अनेक ल्यग उन्म मात्रों से क्या ज्ञान है । अप इसका कारण काण्डते हैं — ]

( १२ ) ( क्षममृतन के नाम भी नहीं करन ) क्षममृत की इच्छा करनेवाल एवं एस एक मृत्युनामी की पृष्ठ इसलिय लिवा बरते हैं ति ( प ) क्षममृत ( ईषी ) मृत्युनाम म ईम ही लिन उत्त है ।

[ यही दिनर कात्तव भाष्वाव ( ईषा ० २१ ) मैं विर भाव है परमेश्वर की ज्ञानाप्तना का लक्ष्य कर दे मैं । परन्तु एव नेत्री प्राप्त होता है । ति उत्त क्षममृत ले एव और भीर एकान्त उपरम्भने बममृत का तृत नाप

और अकम में कर्म किसे दीय पढ़ता है वह पुरुष सब मनुष्यों में जानी और वही मुक्त अथात् धोगमुक्त एवं समस्त कर्म करनेवाल्य है।

[“सभे और अगले पौंच स्वार्थों में कर्म अकर्म एवं किर्म एवं कुलाला किमा गया है। इसमें बो कुछ कमी रह गए हैं वह भयसे अद्वारहैं आण्वाच में कमत्याग कर्म और कर्ता के विविध मेवर्कर्षन में पूरी कर दी गई है (गीता १८ ४-५ १८ २३-२४; १८ २६-२८)। यहाँ सधेप स त्प्राप्तापूर्वक वह बदला देना आवश्यक है कि दोनों स्वार्थों के कर्मविवेचन से कर्म अकर्म और किर्म के सम्बन्ध में गीता के विश्वान्त चला है। सर्वोक्ति, दीक्षाकारों ने इस समझने में बड़ी गहराई कर दी है। सन्वादमानवार्थ क्यों सब कर्मों का सकलपद त्याग एष है।” सुखिये वे गीता के ‘अकर्म’ पठ का अर्थ रीचाराजनी से अपने मार्ग की ओर राना पाहते हैं। मीमांसकों को यहत्याग आदि काम्यकर्म इष्ट है। “सुखिये उन्हें उनके अतिरिक्त और उभी कर्म ‘किर्म’ भेजते हैं।” उनके किमा मीमांसकों के नित्यनैमित्तिक आदि कर्मसे भी न्सी में आ जाते हैं और फिर न्सी में पर्मशाली अपनी दाइ चालक की विवरी पढ़ने की इच्छा रखते हैं। राराण चारों ओर से ऐसी गीताकानी होने के कारण अत्यन्त म वह चलन लेना कठिन हो जाता है कि गीता अकर्म किसे बहती है और ‘किर्म’ किसे। अत्यरिक्त पहले से ही “त ब्रह्म पर भ्यान दिये रहना चाहिये कि गीता में किंव वात्सिक दृष्टि से इष्ट प्रस वा विचार किया गया है वह दृष्टि निष्काम कर्म करनेवाले कर्मदोगी की है काम्यकर्म करनेवाले मीमांसकों भी या कर्म अद्वेषाद्ये संन्यासमार्गिभों की नहीं है। गीता भी “त दृष्टि क्य स्तीकार कर लेने पर तो वही बहना पढ़ता है कि ‘कर्मेष्ट्यता’ के अर्थ में अकर्म” इस चाल में व्यापी भी नहीं रह सकता। अथवा कोई मी मनुष्य कमी कर्मेष्ट्य नहीं हो सकता (गीता ३ १८ ११)। सर्वोक्ति सोना उठना देखना और गीतिर रहना तक किसी से भी बूट नहीं जाता। और यदि कर्मेष्ट्यता होना सम्भव नहीं है तो निष्काम करना पढ़ता है कि अकर्म को किसे। “उनके किम्ये गीता एवं वह उच्च है कि कर्म एवं प्रत्यक्ष निरी किया न समान कर उससे होनेवासे शुभ अशुभ आदि परिणामा एवं विचार करके कर्म एवं कर्मत्व वा अकर्मत्व निषित करो। परि सूक्ति के मानी ही अम है तो मनुष्य अस्तु शुष्टि में है तब तक उससे कर्म नहीं जूते। अतः कर्म और अकर्म का जो विचार करना हो वह इतनी ही दृष्टि से करना चाहिये कि मनुष्य को वह कर्म पहाँ तक कर करेगा” करने पर यही कर्म हमें कर नहीं करता उसके विषय में बहना चाहिये कि उसका कर्मत्व अथवा कर्मकर्म नहीं हो गया। और यदि किसी मी कर्म एवं कर्मत्व अवैत् कर्मत्व इस प्रकार नहीं हो जाय तो जिस वह कर्म अकर्म ही हुआ। अकर्म एवं पञ्चलित उपाधारिक अर्थ कर्मेष्ट्यता ठीक है। परन्तु शास्त्रीय दृष्टि से विचार

पर्व इस्ता हृते कर्म पूर्वेषि सुमुक्षुमि ।

कुरु कर्मेव तस्मार्थं पूर्वः पूर्वतरं हृतम् ॥ १५ ॥

५६ किं कर्म किमकर्मेति कथयाऽप्यष्ट्र माहिता ।

क्षेत्रे कर्म प्रवाह्यामि यज्ञात्वा मोक्षेऽनुभात ॥ १६ ॥

कर्मजो इषि बोद्धम्य बोद्धम्य च विकर्मणः ।

अकर्मण्यष्ट्र बोद्धम्य गहना कर्मजो मतिः ॥ १७ ॥

कर्मण्यकर्म य वस्येवकर्मणि च कर्म ए ।

स तु द्विमाम्नुप्येषु स पुक्षः कृत्स्नकर्महृत ॥ १८ ॥

( १५ ) ज्ञान कर प्राचीन समय क मुमुक्षु लोगों ने भी कम किया था । इसमें पूर्व के संघों के लिये हुए अति प्राचीन कम ही दूर कर ।

[ इस प्रकार मोक्ष और कम का विरोध नहीं है । अतएव अनुन का निश्चित उपेक्ष किया है कि तु कर्म कर । परन्तु सन्यासमार्यवाच्य का कथन है कि कर्मों के छोड़ने से अर्थात् अकर्म से ही मोक्ष मिलता है । इस पर यह शब्द होती है कि ऐसे कथन का शीब क्या है । अतएव भव कम और अकर्म के विवेचन का आरम्भ करके वेदसंबंध क्षेत्र में विद्वान्त फरत है कि अकर्म तुल कमत्याग नहीं है विकामकम को ही अकम कहना चाहिये । ]

( १६ ) “स विषय में वहे वहे विद्वानों से भी इन ही बातों हैं कि कीन कम है और कीन अकर्म । ( अतएव ) ऐठा कर्म तुम्हें अवश्यता है, कि लिये जान लेने से तु पाप से मुक्त होगा ।

[ अकर्म नन्द है ! स्पाकरण की रीति के उसके अ-अनु शास्त्र के ‘अमात्र अपवा अप्राप्यस्य दो अप हो जाते हैं । और यह नहीं कह जाते कि इस शब्द पर ये दोनों ही अर्थ विविधत न होये । परन्तु अगले काँक में ‘विक्रम नाम के कम का एक और तीसरा मेट दिया है । अतएव तु क्षेत्र में अकर्म शास्त्र से विद्वान् वही कमत्याग उद्दिष्ट है कि सन्यासमार्यवाच्य लोग कम का स्वरूपता त्याग कहत है । सन्यासकाले कहत है कि सब कम छोड़ दो । परन्तु १८ व अपेक्ष की टिप्पणी से हीरा पोड़ा कि “स बात का विवरण वह दिये ही पह विवेचन दिया गया है कि कम को विकुल ही त्याग न्है की ओर भावप्रकृता नहीं है । सन्यासमार्यवाच्य का कमत्याग तत्त्व अकर्म नहीं है । अकर्म का मम ही कुछ और है । ]

( १७ ) कम की गति यहन है । ( अतएव ) पह ज्ञान लेना चाहिये कि कम क्या है । और तमस्ना चाहिये कि विक्रम ( विवरित अम ) क्या है ? भार पह मैं शात कर लेना चाहिये कि अकर्म ( कम न करना ) क्या है ? ( १८ ) कम मैं भक्त

यस्य सर्वे समारम्भाः कर्मसंकल्पवर्जिताः ।

कानास्त्रिकर्मकर्माणे तमातुः पणिदत्तं बुधा ॥ १९ ॥

स्यक्षता कर्मफलासर्वं नित्यनुप्तो निराभयः ।

कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करेति सः ॥ २० ॥

निराशीर्यतचित्तास्मा स्यक्तसर्वपरिपालः ।

शारीरं केषम् कर्म कुर्वन्नाश्रोति किञ्चित्पम् ॥ २१ ॥

[ से वही सुन्दरतासे बहुभया गया है । गीता के अकर्म के इत उत्तर को मर्मी भाँति उमसे किना गीता के बम अकर्म के विवरण का मर्म भी कमी उमस में आने का नहीं । अब उसी अर्थ को अगले श्लोकों में अधिक व्यक्त करते हैं । ]

( १० ) इनी पुरुष उसी को पणिदत्त कहते हैं कि किसके उमी समारम्भ अर्थात् उचोग फल की अज्ञ से विरहित होते हैं; और किसके कर्म ज्ञानात्मि से मर्म हो जाते हैं ।

[ इन से बम भय होत है इसका अर्थ कर्मों को छोड़ना नहीं है । किन्तु उस श्लोक से प्रमाण होता है कि इस की "अल्ला छोड़ कर कर्म करना" यही अर्थ वहाँ सेना आहिये ( गीता पृ. १ तृ २८६-२९१ ) । इसी प्रसार आगे मगवद्रक्त के विवर में जो 'तर्जारभ्यपरित्यागी - उमर्त्त असरम्भ या उचोग छोड़नेवास्म - पड़ आया है ( गीता १२ १३, १४ २५ ) उसके अर्थ का निर्यात भी इससे हो जाता है । अब इसी अर्थ को अधिक व्यष्ट करते हैं । ]

( २ ) बम भी आसपि छोड़ कर वो उठा तूँ और निराभय २ - अर्थात् जो पुरुष कर्मफल के लाभन की आभयभूत ऐसी तुरि नहीं रखता वि अमुक वार्य भी निर्दिष्ट के सिवे अमुक वाम करता है - कहना आहिये कि वह कर्म करने मैं निमम रहने पर भी कुछ नहीं करता । ( २१ ) आगी अर्थात् फल की वारना छोड़नेवासे वित का विवरण करनेवाला और उचमुद्रा से मुक्त पुरुष के उत्तर शारीर अर्थात् उत्तर या कर्मनिदियों से ही कर्म करत उमय पाप का मर्मी नहीं होता ।

[ उठ स्थाय बीतके श्लोक के 'निराभय शाप' का अर्थ घटदृढ़ी न रानेवास्म ( नम्याती ) करते हैं; पर वह ठीक नहीं है । आभय का पर वा देरा वह नहीं परता इन रानों पर वता के स्थाय रहने का दिलासा विवरित नहीं है भय वह है कि वह वो बम करता है उत्तरा हेतुप दिलासा ( आभय ) नहीं न रहे यही अभय गीता के १ ३ श्लोक मैं भजाभित्त कर्मकर्म इन दौरी में वह एवन दिया है भीर वामन परिग्राम ने गीता की 'वधार्थीनिशा नामक भरनी' मराती दीरा मैं इसे भीतार दिया है । देसे ही २१ मैं श्लोक मैं शारीर

उने पर उसका यहों भेड़ नहीं मिलता। क्योंकि इम देखते हैं, कि उपचाप  
ऐला अर्थात् कम न करना भी कदम बार कम ही हो जाता है। उत्तरणार्थ  
अपने मौं श्वप को को' मारतापन्नता हो तो उसको न रोक कर सुन्धी मारे उन्हा  
रहना उस समय व्यावहारिक हाथ से अक्षम अपात क्षमत्यन्तरा हो तो भी  
वह कम ही—अधिक कम कह। चिक्कम—है और कमधिक की हाथ से  
उसका अशुभ परिणाम हमें मोगना ही पड़ेगा। अवश्य गीता इस लोक में  
पिरोजामार्य की रीति से बही गीते के साथ बहती है, कि यही वही है, जिसने  
चन दिखा कि अक्षम में भी ( कमी कमी तो मध्यमक ) कर्म हो जाता है तथा  
यही अर्थ अगले लोक में मिल मिल रीतियों से वर्णित है। कम के फल का  
कमन न सामें क हिते गीताराम के अनुसार यही एक सबा साधन है कि  
निःसङ्कुषित से अपात् चलाया आइ कर निष्कामकुषित से कम किया जावे  
( गीताराम्प्र ६ पृ ११०—११६ पृ १ पृ २८६—२८७ टेक्टो )। अतः  
इस साधन का उपयोग कर निःसङ्कुषित से ये कम किया जाय बही गीता के  
अनुसार प्रथम—सातिक—कर्म है ( गीता १८ १ ) और गीता के मत में  
बही सबा अक्षम है। क्योंकि उसका कमत्व—( अपात् कमधिक की किया  
के अनुसार कमत्व ) निःक्ष जाता है। मनुष्य ये दुःख कम करते हैं ( भीर  
करते हैं पट में उपचाप निट्टरे के रहने का भी उमावेष करना चाहिये )  
जब उने उक्त प्रकार के अर्थात् सातिक कम ( अपात् गीता के अनुसार  
मक्षम ) कर उने से बाकी चा कर्म रह जाते ह उनके दो मार्ग हो सकते एक  
राक्षस और दुर्गरा तामस। नन्म तामस कम मोह और अक्षम से दुमा करते  
हैं। इसलिये उन्ह दिक्षम कहते हैं—पिर घटि का कम मोह से लौट दिया  
जाव तो मी वह दिक्षम ही है अकर्म नहीं ( गीता १८ ७ )। अब रह गये  
राक्षस कम। ये कम वहसे ठड़े के अपात् सातिक नहीं हैं। अपात् ये वे कम मी  
नहीं हैं जिन्हे गीता संक्षेप अकर्म कहती है। गीता इन्हे 'राक्षस कम कहती  
है। परन्तु यहि का जाहे तो ऐसे राक्षस कमा को क्षम 'कम मी कह सकता  
है। सातव नियामक स्वरूप अपात् और अमध्यम से कर्म अक्षम का निष्पत्ति  
नहीं होता। निःक्षु कम के कमत्व से यह निष्पत्ति किया जाता है कि कम ह  
या अकर्म 'अपात् अक्षमर्यगीता सन्न्यासमार्ग की है। तथापि उसमें भी कहा है—

निःक्षिति मूल्यम प्राप्तिष्ठपनाक्ते ॥

प्राप्तिष्ठपनि भीसत्व निःक्षितिक्षमागमिती ॥

अपात् मूर्गों की निःक्षिति ( अपात् इठ से या मोह के द्वारा कम से निःक्षम )  
ही सातव म प्राप्ति अर्थात् कम है और परिण्वत व्येगों की निःक्षिति ( अपात्  
निष्काम कम ) से ही निःक्षिति यानी क्षमत्याग का क्षम मिलता है ( अपा १८  
११ )। गीता के उक्त क्षेत्र में ही पही अर्थ विरोजामासुरक्षी अवक्षार की रीति

६६ व्राणार्पण व्राण इविद्वासामी व्रहणा तुल्म् ।  
 व्रद्धेव तेन मन्त्रत्वं व्रहमर्त्तसमाभिना ॥ २४ ॥  
 पृष्ठमेवापर यह योगिनः पर्युपासते ।  
 व्राणासाधपरे यह यहानीवोपशुद्धति ॥ २५ ॥

[ ही हो चहा है । इस यह से देवाभिनेत्र परमेश्वर अथवा व्रद्ध का यज्ञ तुल्म् करा है । सारांश मीमांसको के व्राणव्रहमर्त्तसम्बन्धी यो लिङ्गान्त है ऐ इस बड़े पह के सिये मी उपसुक्त होने है और व्येक्षणप्रह के निमित्त व्यापात् के आलचि विहित कर्म वरनेवाल पुरुष कर्म के 'समग्र वस से मुक्त होता तुल्मा भृत्य में मात्र पाता है ( गीलाट प्र ११ पृ ३४३-३५५ देखो ) व्राणार्पणरूपी वडे वड का ही यज्ञ पहले इस स्तोक मै किया गया है । भार फिर इसी अपेक्षा व्रह योग्यता के अनेक स्पृष्टियों का स्वरूप वरुणवा गया है एव तेतीर्थं क्षेत्र में समग्र प्रकरण का उपसद्धार कर कहा गया है, कि ऐसा यज्ञस्तु ही उपर मै भेद्य है । ]

( २४ ) अपण अथवा वहन करने की किया व्रह है । इवि अपात् भृत्य करने का व्राण व्रह है व्राणामि मै व्रह नै वहन किया है - ( च प्रापार ) तिसी तुल्मि मै ( तमी ) कम व्राणमय है उसको व्रह ही मिलता है ।

[ [ शाहूरमाप्य मै अपण शाम का अर्थ 'अपण करने का यज्ञ अवार् अाचमनी इत्यादि है परन्तु यह जरा अठिन है । इसी अपेक्षा अर्पण = अपण करने की या वहन करने की किया यह अर्थ अविह सरस है । यह व्राणापणतुल्मि अपात् निष्कामतुल्मि से यह वरनेवासी का वर्णन तुल्मा । अब देखता है उद्देश्य से अपात् काम्यतुल्मि से किये हुए यह का स्वरूप वर्तमात है - ]

( २५ ) बाइं को ( कम ) यागी ( व्रहतुल्मि के उड़े ) देवता भावि के उपर ते यह किया करत है भीर बाइं व्राणामि मै यह से ही यह का वहन करत है ।

[ [ पुरामूल मै विद्यरूपी यज्ञपुराप के देवताभीं द्वारा यज्ञ होने का भी वर्णन ह - यहैं यज्ञयज्ञन्त द्वारा । ( क १ ११ ) तमी की स्वरूप कर इन भयों का उत्तरांश कहा गया है । यह यज्ञवापणवद्यति ये पट कर्मेऽने परन्तु यज्ञयज्ञन्त से समानाधर ही पहल है । प्राप्त है नि च यह मै ( या तुल्मि क भारम् म रभा या ) इस विद्यरूपी पशु का इसन किया भा चद् यग्न भीर इन देवता का वहन किया दवा भा बहु देवता ये दानी व्राणामर्त्ती इव यागाद् नामीत्य भ्याम का यह वहन ही तामर्त्ति मै दीर ह इ तुल्मि भ सब यागाय म र्त्तेव । व्रह भरा रजा ह । इस बारण इच्छारदिता तुल्मि मै तद् यज्ञद्वार वरने वरण व्रह म ही व्रह का वहन होता रहता है । फैन तुल्मि रमी

संस्कृतभाषा। यहाँ से प्रियजन।

३८- गिरुद्वाराद्वारा । च वृश्चरि च मिरप्पा ॥ १९ ॥

८०५२४ वलाय लालिराजित्याः ।

ଦ୍ୱାରା କମ୍ ପାଇଁ ପରିଚ୍ଛା ॥ ୨୩ ॥

१५८ द्वारा तीव्रता के साथ उत्पन्न होने वाली असुखी अवस्था जिसका नाम अपेक्षा अवस्था कहा जाता है। इसका अर्थ यह है कि व्यक्ति अपेक्षा की व्यवस्था को अपने अपेक्षा की व्यवस्था के बराबर नहीं मानता है। अपेक्षा की व्यवस्था को अपने अपेक्षा की व्यवस्था के बराबर मानने की विकल्पी व्यवस्था को अपेक्षा अवस्था कहा जाता है।

1. The first step in the process of  
2. identifying the best solution is to  
3. define the problem. This involves  
4. understanding the context in which  
5. the problem exists, the stakeholders  
6. involved, and the potential impact  
7. of different solutions. It is important  
8. to be as specific as possible when  
9. defining the problem, as this will  
10. guide the search for appropriate  
11. solutions.

द्रव्यमात्रास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।

स्वाध्यायायान्त्यज्ञात्य यत्परः संशिष्टव्रताः ॥ २८ ॥

अपानं जुहूति प्राणं प्राणउपानं तथाऽपरे ।

प्राणापानगतीं रुद्रज्ञा प्राणायामपरायणा ॥ २९ ॥

| ब्रह्म कोई नहीं है नियोग में बाणी का हृष्ण कर बाणी में प्राण का हृष्ण करके |  
| अन्त में शानभृत से मी परमेश्वर का वक्तन भर्हते हैं' (मनु ४ २३-२४)। इतिहास |  
| भी इही से ऐसे तो विभिन्न होता है कि 'न्द्र वक्तन प्रसूति देवताओं के द्वेष |  
| से जो द्रव्यमय यज्ञ और ग्रन्थों में कहे दर्शे है उनका प्रचार भी भीरे भट्टा |  
| गया। और यज्ञ पातङ्गस्त्रियोग से सन्यास से अपना आध्यात्मिक ज्ञान से परमेश्वर |  
| की प्राप्ति कर लेने के मार्ग भविष्य भविष्य वृचक्षित होने स्मृत तब 'पह' ही शब्द |  
| का भव विनृत कर उसी में माझ के समझ उपायों का वक्तन से समाप्ति करने |  
| का आरम्भ हुआ होगा। इसका मम यही है पहले जो शब्द वर्तमान भी इही है |  
| प्रसूति हो गय व उन्हीं का उपकाय अन्तसे वर्तमान के लिये मी दिया जाए। |  
| कुछ भी है; मनुस्मृति के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि गीता के पहले |  
| या अन्ततः उस काल में उक्त वक्तना सर्वधारान्य हो सुनी थी। ]

(२८) 'एव प्रसार तीरण वक्त का आचरण करनेवासे धर्ति अपात् उक्तमी पुरुष और |  
| द्रव्यमय का उपहृप को याममय कार त्वाध्याय अर्थात् नित्य स्वर्गमानुद्यन्तरूप |  
| भीर का शानभृत पहल दिया करते हैं। (२९) प्राणायाम से उत्तर हो कर प्राण |  
| और भयान की गति को रोक करके कोई प्राणवायु का अपान में (हृष्ण किया करते |  
| है) आर और भयानवायु का प्राण में हृष्ण किया करत है।

[ 'एव स्वाक्षर का तात्पर्य यह है कि पातङ्गस्त्रियोग के मनुस्मृति प्राणायाम से |  
| वक्तना भी एह यह ही है। यह पातङ्गस्त्रियोगरूप यह उनकीठके स्थोक में कठ |  
| व्यया गया है। अतः भविष्यतके स्थोक के योगमय पहल पहल का अर्थ कर्मयोग |  
| वर्ती यज्ञ करना चाहिये। प्राणायाम शुद्ध के 'प्राण शुद्ध से भाल और |  
| उच्छृज्ञान वक्तना कियाएं प्रकृत इती है। परम्परा यज्ञ भीर भयान का भैर |  
| वक्तना इता है तब प्राण = बाहर जानेवाली भयान् उच्छृज्ञान वक्तना, और |  
| भयान = भीनर भानेवाली भाल यह भय किया जाता है (वे दो शब्द भा २ |  
| १ १५ भीर उच्छृज्ञान वक्तना भय १ ३ ३)। यान इदे कि प्राण और भयान |  
| के भैर भय प्रसूति भय से भिन्न है। इन भय में से भयान में भर्यात् भैरतर |  
| भी भी उर भाल म प्राण का - उच्छृज्ञान का - हास्य करने से पूरक नाम का |  
| प्राणायाम होता है; और इनके विवरीत प्राण में भयान का हास्य करने से ऐसा |  
| प्राणायाम होता है। प्राण और भयान वक्तना के ही निराकृत वक्तने परीक्षा प्राणायाम

भाष्यार्थीनिधिपाण्यन्य संयमाभिषु जुदति ।  
इष्वारीनिधिपाण्यन्य इनिधिपाभिषु जुदति ॥ २६ ॥  
संयार्थीनिधिपार्थाभिष्य प्राणकर्माणि चापरे ।  
आत्मसंयमयोगाभा जुदति शास्त्रापित ॥ २७ ॥

होनी चाहिए। पुरुषाम् वा सम्ब वर भीता में दृढ़ी पक्ष क्षेत्र नहीं है। प्रसुत आगे इन्हें अप्याय (१८२) में भी इन सभ के अनुसार बताने हैं। ऐसवा के उद्देश से किये हुए यह का दर्शन हा चुका। अब अस्ति हयि इत्यां घट्टा क्षमाभिक्ष अप्य लेखर द्विलालते हैं कि प्राणायाम भावि पातड़मध्याग की निया अपका तपश्चरण मी एक प्राप्त का यग होता है:- ]

(२६) और कोई भोक्ता भावि (वान भाव भावि) इन्द्रियों का सम्बन्ध भवि में होता रहता है; और उच्च शब्द इन्द्रियरूप भवि में (इन्द्रिया क) एवं शब्द विषयों का एकत्र रहते हैं। (२७) और उच्च लेख इन्द्रियों कथा प्राणी के लकड़ी को अपान् व्यापारी का शब्द से प्रज्ञालित भास्मसम्बन्धी धोग की भवि महसून विषया रहते हैं।

[इन श्लोकों में सीन प्रकार के स्थानिक यहों का वर्णन है। जबकि (१) इन्द्रियों का सम्बन्ध करना अर्थात् उनको योग्य सवाल के भीतर अपने अपने स्थानान्वय करने देना। (२) इन्द्रियों के विवरण असात् उपयोग के प्रार्थ सबसा छोट कर इन्द्रियों को नियुक्त मार दाखला। (३) न वैष्णव इन्द्रियों के स्पालार को गम्भुत मार्गी के भी स्पालार को कम कर पूरी समाधि योग्य करके वैष्णव भा मानन्त में ही सप्त रहना। अब इन्हें यह की उपमा ही बाय तो पहले भैं में इन्द्रियों को मर्पित करने की किया (सम्मन) आमें हुआ। क्योंकि इष्टान्त से यह कहा जा रहा है कि इस मर्यादा के भीतर जो कुछ भा बाय उनका उपर्युक्त हृष्ण हो गया। इसी प्रकार वृसरे भैं में सासात् निरियों होमदृश्य है। और तीसरे भैं में निरियों पर व्रात बोनों भिल कर होम करने के दृश्य हो जाते हैं और आत्मसंबन्ध निरिय है। इसके अतिरिक्त कुछ लोग ऐसे ही निरा प्राणायाम ही किया करते हैं। उनका वर्णन उनतीसवीं श्लोक में है। 'यह धृष्ण के मूळ अर्थ द्रव्यात्मक पद्म को इष्टान्ता ते विस्तृत भीर व्यापक कर दृष्ट लन्त्यास उमाधि पर्व प्राणायाम प्रवृत्ति समाकल्यासि के सब प्रकार के आधारों का एक यह शीर्षक में ही उमाकेश कर दिया गया है। साकाङ्कीता भी यह क्षमना कुछ अपूर्व नहीं है। मनुस्मृति के पौर्वे भारत्यात् में एहसास्यान्तम के बर्णन के सिद्धांतों में पहले पद व्यवस्था गया है कि व्यष्टियह देवपद, मृत्युयह मनुष्यपद और पितृपद — इन स्मार्त पद्महायज्ञों को जोह व्यक्ता न क्षोडे। और पिर कहा है कि 'नके गौर ४४

एवं चतुषिष्ठा वद्धा वित्ता ब्रह्मणो मुक्ते ।  
कर्मजानिदिति तान्सुवर्णिव ज्ञात्वा सिमाक्षमसे ॥ ४२ ॥

द्व चक्षेष्यमयामृतम् (मनु. १ २८) – अतिथि वौरह के मोक्षन कर जुन्ने पर थे और, उसे ‘विष्टु’ भौर यज्ञ करने से थे शेष रहे उसे ‘अमृत छहते हैं। इत प्रकार म्यास्या करके मुसुसुति भौर अन्य सूतियों में भी ज्ञाता है कि प्रत्येक यज्ञस्य ज्ञे नित्य विष्टुताती और अमृताती होना चाहिये (मीठा ३ ११ और गीतारहस्य प्र. १० पृ २९७ देखो)। अब मगवान् छहते हैं कि सामाज्य यज्ञस्य को उपमुख होनेवाल्य वह उद्घान्त ही सब प्रकार के लक्ष यज्ञों के उपयोगी होता है। यज्ञ के अर्थ किंवा तुआ कोई भी कर्म कर्त्तव्य नहीं होता। वही नहीं, उन्हें उन कर्मों में से अवधिह क्षम यहि अपने निवी उपमाग में भा आवै थो भी ते कर्त्तव्य नहीं होते (देखो गीतार प्र १२ पृ. ३८७)। किंवा यज्ञ के इत्येक भी सिद्ध नहीं होता” यह बाक्षय मार्किन और महात्मा का है। इतना अब लड़ना ही नहीं है कि यज्ञ के किना पानी नहीं बरतता और पानी के न बरतने से इस ओक की गुण नहीं होती। किन्तु ‘यह’ ब्रह्म का म्यापक अर्थ लेकर इष्ट सामाजिक तत्त्व का भी इसमें पर्याय से समाजेष्ट हुआ है कि कुछ अस्ती प्यासी बातों को छोड़े किंवा न तो तत्त्व ज्ञे एक-सी सुविधा गिर लक्ती है; और व अस्त के म्यवहार ही चल सकते हैं। उदाहरणार्थ – परिमिती उमाकृष्णप्रवेता जो वह सिद्धान्त करता है कि अपनी अपनी स्वरुपता को परिमित किये किंवा भीरो को एक-सी स्वरुपता नहीं भिन्न स्वरुपी है वही इत तत्त्व का उदाहरण है। और, वही गीता की परिभाषा से इसी अब को कहना हो तो इस तत्त्व पर ऐसी यज्ञवान् म्यास्या का ही प्रयोग करना पड़ेगा कि वह लक्ष प्रत्येक मनुष्य अपनी स्वरुपता के कुछ अद्य का भी यज्ञ न कर तत्त्व लक्ष एक के म्यवहार चल नहीं लक्ते। इस प्रकार के रवापक भौर विलूप्त अर्थ से वह यह निभव हो जुका कि यज्ञ ही तारी उमाकृष्णना का भाष्यार है तत्त्व कहना नहीं होगा, कि ऐवह तत्त्व की दृष्टि से ‘यह’ करना अब तत्त्व प्रत्येक मनुष्य व उसीमें तत्त्व समाज की व्यवस्था दीक्ष न रहेगी। ]

(१२) इत प्रकार भीति मीति के यज्ञ ब्रह्म के (ही) मूल में आही है। वह जनो कि के सब जन में निष्पत्त होते हैं। यह जान हो जने से दू मुक्त हो आवश्य।

[ व्यापिदाम आर्य इत्यमय भावयह भग्नि म हृष्ण करके लिय लक्ते हैं। और याम में वहा है कि देवताभी का मूल भग्नि है। इत तात्पर जे वह उन देवत भी को मिय जात है। पर तु पर्याप्त शाहसुर जि देवताभी के मूल – भग्नि – मे उम स्वरूपित यज्ञ नहीं होते। भग्नि इत तात्परिय यज्ञो से भेदभावी

अपर मिष्टाहारः प्राणान्माजेषु शुक्लति ।

स्वेऽप्यते यहविषो यहक्षपितकल्पया ॥ ३० ॥

यहशिष्यामूलमुजो यास्ति व्रज सनातनम् ।

माय छाकोऽस्त्ययस्त्य कुतोऽन्यं कुरुसत्तम ॥ ३१ ॥

कुम्ह हो जाता है। अब इनके उचित ध्यान उडान और उमान ये तीनों बच रहे। अनमि से ध्यान ग्राण और अपान के स्थिरत्यर्थों में रहता है वे अनुष्ठीन बहन उद्धने आदि द्वय गीच कर पा आशी भास्त ऐह करके शार्दि के काम करते उमय अक्ष होता है ( अ १ १ ७ )। मणसमय में निष्ठ उद्धने वाली वायु को उडान करते हैं ( प्रभ. १ १ ) और उसे शरीर में सब रासानों पर पक्ष-सा अभरत पूर्वानेवाली वायु को उमान कहते हैं ( प्रभ. १ ८ ) इस प्रकार वेगास्तुषाम्ब में इन चौंडों के सामान्य अर्थ दिये गये हैं परन्तु कुछ स्पष्ट्यों पर अलगी अपेक्षा निरास अथ अमिष्ट द्वारा होते हैं। उडाहरणाय महानारत (वनपर्व) के २१२ वे अध्याय में प्राण भार्दि वायु के निरास ही व्यष्ट है। उसमें प्राण का अप भरतक की वायु और उमान का अप नीचे उरकनेवाली वायु है ( प्रभ. १ ८ और मैन्यु. २ १ )। उसके स्वोक्ष में वो व्यष्ट है उसका यह अप है कि "नम से इस वायु का निराप करते हैं उसका अन्य वायु में होम होता है। ]

( १ -११ ) और कुछ शेष आहार को निष्पत्ति कर प्राणों का ही होम किया जाता है। ये सभी घोल उनातन ब्रह्म में वा मिलते हैं दिन वह के जाननेवाले हैं जिनक पाप वह से भीज हो गये हैं ( भार वो ) अमृत का ( अपात् यह से उप दूर का ) उपमोग उरनेवाले हैं। यह न करनेवाले वो ( वर ) अस कांग में कफक्षा नहीं होती। ( वर ) किर हे तुम्हेह ( उसे ) परमेश वर्ण से ( मिष्टा ) ।

[ चाराय, यह करना यथार्थी भैरव की आशा के अनुसार मनुष्य का कलान्य ए तो भी यह यह ए ही प्रान का नहीं हाता। प्राणायाम करा तप करो वह का अस्त्याय करो अमिष्टाय करा पापायह अर्थ निः-नादम अपवा वी का हक्कन करो गृजासार करा वा निर्देश बेष्टद भार्दि पाँच दृश्यरा करो अस्तुषि ६ तृ उन पर ये तप व्यादर अप म यह ही है। और किर परमेष भयग के विषय में दीनांतर्यों के बीच निःआस्त है, ६ तप इनमें स प्रयेष यह के जिम्मे उत्तमुन हैं। जो रे इनमें से पहल्य निष्पम यह है कि यह के अप किया रामा कम दृष्टि नहीं रामा और इसका बगन तर्मसे भास म हा रका है ( गीता १ १ पर गिर्वानी ८५ )। भव तृतीय विषय यह है कि प्रयेष दृश्यरप पद्ममहायह कर भास्तवि भा ६ अस कर तुम्ह पर किर भासी वनीतरि भैरव वो; और इन प्रान उन्हें स अस्त्याभन करा हे वर कांति इता है। दिपन भुक्त हैं

अपि चक्षुं पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकूलम् ।  
सर्वं ज्ञानप्लवमैव दृजिते सन्तरिष्यसि ॥ ३६ ॥

यदेवर्षांसि समिद्वोषस्मिर्मस्मसाकुलेऽर्जुन ।  
ज्ञानाद्विः सर्वकर्माणि मस्मसाकुलता तथा ॥ ३७ ॥

इह न हि ज्ञानेन सहस्रे पवित्रमिह विष्टते ।  
तास्त्वये घोमसंसिद्धः कालेनात्मनि विभवति ॥ ३८ ॥

फिर द्वासे ऐसा मोह नहीं होगा और जिस श्वन के बोग से समस्त प्राणियों को अपने में और मुक्तम् भी डेकेगा ।

[ उब प्राणियों को अपने में और अपने को उब प्राणिया में डेक्ने का समस्त प्राणिमात्र में पक्षता का बो शब्द वर्णित है ( गीता १ २९ ) उठी का पहों उद्देश्य किया गया है । मूल में भारता और मात्रान् दोनों पक्षरूप है । अतएव भात्मा में सब प्राणियों का समावेष होता है । अर्थात् भात्मान् में भी उनका समावेष होकर भात्मा ( मैं ) अन्य प्राणी और भात्मान् पह लिखित में नहीं हो जाता है । इसीलिये भागवत पुराण में भावद्वर्णण का स्वरूप देखे दूर वहा है । उब प्राणिया को भात्मान् भी और अपने में बो देखता है उसे उच्चमात्र बहुत बहुना चाहिये ( भग ११ ४५ ) । इस महसूस के नीतितत्त्व का अधिक जुस्सासा गीतारहस्य के चारद्वय प्रकरण ( १ १०२-१४ ) में और यक्षिराष्ट्रिय के तेरहवें प्रकरण ( १ ४३२-४३३ ) में किया गया है । ]

( ३६ ) उब पापिया से यहि अधिक पाप करनेवाल हो सो भी ( उत ) अनननामा से ही दू उब पापों को पार कर जावेगा । ( ३७ ) जिस प्रकार प्रभासित भी दूर भवित ( उत ) इन्हन को मरम कर डास्ती ह उनी प्रकार है अर्जुन ! ( वह ) उनका भवित उब कर्मों को ( गुम-भगुम करना को ) जस्य दाढ़ती है ।

[ शन की महसूस अवश्य ही । भग उत्तमत है कि इस शन की मात्रि जिन उपायों से होती है ! - ]

( ३८ ) इस लोक म श्वन के लमान पवित्र उपमुख और दुष्ट भी नहीं है । काल पा कर उस शन को यह पुरुष भाप ही अपने में ग्रास कर दती ह जिसका दोष भवात् कर्मयोग तिद हो गया है ।

[ १०४ श्वेत में 'कर्मों' का अब क्य का कर्म है ( गीता १ १५ ) भगवनी दुष्टि से भारतम् किये एव निष्काम कर्मों के द्वारा शन की मात्रि कर लेना शन की मात्रि का मुम्प्य पा दुष्टिगाम्य माप है । परम्पु तो माप इन प्रकार भगवनी दुष्टि ने शन की ग्रास न कर सक उनके निव आव भग तो दूरय माप करना है - ]

धेयान्त्रिव्यमयाद्यज्ञानयसः परन्तप ।  
सर्वं कर्मासिलं पार्थं हाने परिस्माप्यते ॥ ३३ ॥

हुं तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रेक्ष सेवया ।  
उपेष्ठमन्ति ते हार्म ज्ञानिनस्त्वद्विद्धिं ॥ ३४ ॥

यज्ञात्या न पुनर्मोहमेष्ये यास्यसि पाण्डव ।  
यन् मूलान्यशेषेण द्रष्टव्यस्यात्मन्ययो भवि ॥ ३५ ॥

[ हार्मी क्ये ? तो उत्ते दूर करने के क्षिये यहा है कि ये चाहात् ब्रह्म के ही मुख में होते हैं । दूरे चरण का मालाय यह है कि विदु पुरुष ने यक्षविदि के इष्ट म्यापक स्वस्य को – केवल मीमांसका के सद्गुचित अय को ही नहीं – अन्न द्विया उत्तरी बुद्धि उत्तुचित नहीं रहती । किन्तु वह ब्रह्म के स्वस्य का पहचानने का अभिकारी ही यता है । अब बतायत है कि इन यदा में भेद यह कौन है । ]

( ३१ ) हे परन्तप ! द्रष्टव्यमय यह की अपेक्षा ज्ञानमय यह भेद है क्वाकि है पाप । चब प्रकार के समान कर्मों का पयवसान शन में होता है ।

[ गीता में 'शनपत्र शुरु तो बार आये भी आया है ( गीता १ १८ और १८० ) । इम दो द्रष्टव्यमय यह करते हैं वह परमेश्वर की प्राप्ति के लिये किया करते हैं । परम्भु परमेश्वर की प्राप्ति उक्ते स्वस्य का शन दूर निना नहीं होती । अतएव परमेश्वर के स्वस्य का हान प्राप्त कर उत्ते हान का अनुचार अतापरत्य उक्ते परमेश्वर की प्राप्ति कर सेने के इस मार्ग या ताप्तन का 'शनपत्र' बहते हैं । यह यह मानत भीर बुद्धिमत्त्व है । अतः द्रष्टव्यमय यह की अपेक्षा उत्तरी यापता अविक्ष नमही रहती है । मोहशास्र में शनयह का यह शन ही मुग्ध है और इनी शन से उत्त कर्मों का शब हो जाता है । तुउ भी हो गीता का वह स्पर्श विद्वान्त है कि अन्त में परमेश्वर का शन होना पाहिये । निना शन के मोह नहीं मिलता । हयाति कर्म का पयवसान शन में होता है इत्य स्वप्न का यह भव नहीं है कि शन के पश्चात् कर्मों का छाँट देना पाहिये – यह चात गीतारहस्य के द्वावे भीर म्यारहस्ये प्रश्नम में विनासपूर्वक भवित्वात्मन की गर है । अस्मे क्षिये नहीं तो शाकनदाह के निमित्त कल्प्य तमस कर तमी कर बरा आहिय । और यह कि जे शन एव तमदुद्दि भि क्षिये होते हैं तब उनक गारपुर्ण वी यथा करा का नहीं हाती ( ऐसा मार्ग १० वीं नंबर ) और यह शनयह मीठाप्त होता है । भनः गीता का तब संदर्भ श यही उत्तोष है कि यह वरी किन्तु उन्दे शनपत्र निष्पम्बुद्धि न करा । ]

( ३४ ) म्यान मैं रण वि प्रणितान न प्रभ वरन स भीर देवा न तास्वदेवा अर्द्धी पुरा नो उन शन का उत्तमा चारा ( ३५ ) तिन शन का पाक्षर है पाप्तव ।

[ जन और याग के समुद्देश्य में ही कम करने के विषय में भर्तुन का उत्तरदेखा गया है। इन श्लोकों का अपर शृणु उत्तरायण यह है कि निष्कामदुद्दियाम के इस परम करने पर उनके कान दूर चारे हैं; और ये मीठे के विषय ग्रन्थिक्षयन नहीं हैं। एवं जन ने मन का उत्तर हूर द्वारा मापा मिला है। अतः अनित्यम् उप यह यह है कि भर्तुन कम पा अर्थात् जन का स्वीकारन करा किन्तु जनकम् समुर्गयात्मक कमयोग का आभय करके तुष्ट करो। भर्तुन का योग का आभय करके तुष्ट के विषय यहाँ रहना चाहा। इन वार्ताएँ गीतारहस्य के प्र. ३ शुरू ५६ में दिलचार्या गया है कि याग शुरू का अप यही कमयाय ही ऐसा चाही है। जन याय का यह मेस ही द्वन्द्योगायविदिति पड़ से व्यौलु सम्पत्ति के अप (गीतारहस्य ५६ १) मेरि यत्त्वाया गया है। ]

इस प्रश्नरत्न भीमसाक्षात् के याय शुरू - भर्तुन् कह तु उत्तर - उपनिषद् मे वष्ट विशान्त्यगत याग - भयान् कमयाय - याम्बविशयक भीहृष्ण और भर्तुन के उत्तर मे जनकम्मत्यात्मयोग नामक चाप्य भयाय तमात् तु भा।

[ व्याख्या होते हैं, कि 'जन कर्म सन्त्वान् पर' मे तत्त्वात् यह का अप मृत्युपत्ति कमल्याग' नहीं है। किन्तु निष्कामदुद्दि से परमेश्वर मे कर्म का सन्त्वान् भयान् भयपत् करना' अप है। और व्याख्या भट्टारहस्य अप्याय के भारतम् मे उसी का सुखामा किया गया है। ]

---

## पौँचवाँ अध्याय

[ व्यौलु अप्याय के विश्वान्त पर सम्बादमार्यवासी की यो याहा ही सफली है उसे ही भर्तुन के गुण से प्रभवत्प से कहस कर इस अप्याय में भावान् ने उपका स्वप्न उत्तर दिया है। वहि उमल कर्मों का पवित्रसान इन है (४ ११) वहि इन से ही सम्पूर्ण अम भल्म ही जाते हैं (४ १०); और वहि इम्ममय यज्ञ की अपेक्षा इन्द्रजह ही भेद है (४ ११); तो दूसरे ही अप्याय मे यह कह कर - नि इम्म पुष्ट करना ही जनिय यो भेदत्वर है (४ १२) - व्यौलु अप्याय के उपसहार मे वह चार कर्मों कही गई कि अतपत् द कर्मयोग का आपत्ति कर तुष्ट के लिये उत्तर यहा हो (४ ४२)। इस प्रभ का गीता वह उत्तर देती है कि तमसस तन्त्रों को घुर कर योग्यता के लिये जान की लाभवशकता है। और वहि मोक्ष के स्थिरे कर्म भावस्वक न हो तो मी कर्मी न छूटने के कारण वे बोक्षप्रहार भावस्वक हैं इस प्रकार अन आर कर्म दोनों के ही सद्गुरुम् भी नित्य अपेक्षा है (४ ४१)। परन्तु इस पर भी यहा होती है कि वहि कमयोग और धार्म दोनों

अद्वावोल्लमते हाने तत्पर संपर्तेन्दिशः ।

हाने सुख्वा पर्यं शामित्तमचिरण्णाधिगच्छति ॥ ४९ ॥

अहाम्भाष्टुभास्त्र संशयात्मा विनश्यति ।

नार्यं शोकप्रस्ति न परा न सुम शंशयात्मनः ॥ ५० ॥

६६ योगसंस्पस्तकमाणं हामसंचित्तसंशयम् ।

आपवन्ते न कर्माजि गिरजन्ति घमजय ॥ ५१ ॥

तस्मात्त्वामसमूर्त्ति हृस्तर्थं क्षानासिमामनः ।

छिस्थिरं संशयं यागमातिष्ठोक्तिष्ठ मारत ॥ ५२ ॥

इति भीमद्वगदीताम् उपनिषद्युद्धिग्राया यागशास्त्र भीमप्पाकुनभद्रो  
शानकमसुम्याचयोर्यो नाम चतुर्थोऽप्याय ॥ ४ ॥

( १० ) ऐ भडाह न पूर्ण शुद्धियत्तयम बरके उमी के पीछ परा २६ उस मी यह  
जन मिल जाता है और उन ग्राम हाने से तुरन्त ही उस परम धानि ग्राम  
होती है ।

[ नारायं शुद्धि से जो जन और धानि प्राप्त होती वही भडा ने मी  
मिली है । ( इता गीता १३ । ) ]

( १ ) परन्तु इस न स्वयं नान है और न भडा ही है उम भृशयप्रम मनुष्य  
का जाप हो जाता है । उद्यपप्रम ने न यह जाक इ ( और ) न परलाक पृथं भुव  
मी नहीं है ।

[ इनशासि के ये रो माग खाला तुरं एक शुद्धि का आर दूरय भडा  
का । उम जन और अपाग का गृथं उपयोग दियाग कर उमल दियप का  
उपहार करत है । ]

( ११ ) हे चन्द्रकृप ! उम भृशयली पूर्ण का कल पूर्ण नहीं जर नफ्ते गि  
दिनें ( कम ) योग के भाभय न कम अवाल कम अन त्याग विष है; भार  
ग्राम मे डिक्के ( कर ) तनह तूर हा गय है । ( १२ ) इमिये भरने दूरय मे  
भान मे उपम दूर इत नाय न जानकर तमार स जार कर ( ज्ञ ) योग के  
भाभय जर । ( भीर ) हे मारत ! ( पुढ़ के विष ) गरद हा ।

[ ( इतायास्त्र उपनिषद् मे 'दिता भीर भद्रिया का दूरय उपयोग दियाज  
जर दिन प्रकार रौनी का जिंदा दृट ही भापल बरन के विष बहा रापा दृ  
। ( इता १० गीता. प्र १२ १३ इता ); उनी प्रकार रौना ५ इन ग  
भोजी के रान भीर ( कम ) योग का दूरय उपयोग दिया कर उन भपन ]

५६ हेय स निष्ठसन्वासी यो म द्वृष्टि न क्षमति ।

मिष्टन्द्रो हि महावाहो सुर्वं चन्द्राद्यमुख्यते ॥ ५ ॥

पश्चात् कमों की आवश्यकता नहीं है; तो क्या ऐ भूमि को पह उच्चर नहीं है ये कि 'न दोनों में चन्द्राद्य भेद है।' परन्तु ऐसा न करके उन्होंने दूरे छोक के पहले परण में क्षमता है कि कमों का करना और छोड़ देना ऐ दोनों मार्ग एक ही से मोजाता है। और आगे 'तु' अथात् 'परन्तु' पठ का प्रयोग करके अब मात्रान् ने निष्ठनिष्ठ विधान किया है कि 'तयोः' अथात् इन दोनों मार्गों में कर्म लोटने के मार्ग की अपेक्षा क्षम करने का सब ही अधिक प्रशस्त (भेद) है। अब पूर्णतया लिख दो जाता है कि मात्रान् को ही यही मत प्राप्त है कि साक्षनावस्था में शनप्राप्ति के लिये किये जानेवाले निष्ठाम कमों को ही जानी पुरुष आगे सिद्धावस्था में भी लोकसप्तह के अब मरणपर्यन्त करम्य तमस कर करता रहे। यही अथ गीता १ ७ में बर्णित है। यही 'किञ्चित्पदे पर वहो है, और उसके अगले छोक में अथात् गीता १ ८ में ऐ सब शब्द निर्मी है कि अकर्म की अपेक्षा क्षम भेद है। 'अम उन्नेह नहीं कि उपनिषदों में कष्ट स्थलों पर (१ ४ ४ २) वर्णन है कि जानी पुरुष लोकेयण और पुरुषेणा प्रभृति न रख कर मिला माँगते हुए जुमा करते हैं। परन्तु उपनिषदों में यह नहीं कहा है कि ज्ञान के पश्चात् यह एक ही मार्ग है—दूसरा नहीं है। अतः केवल उल्लिखित नपनिषद्-जाक्ष्य से ही गीता की एकवाक्यता करना दर्शित नहीं है। गीता का यह कथन नहीं है कि उपनिषदों में बर्णित यह सन्ध्यासमाप्ति मोक्षप्रद नहीं है किन्तु वयापि कर्मयोग और सन्ध्याद्य दोनों मार्ग एक से ही मोक्षप्रद हैं तथापि (अपार्ति मोक्ष की दृष्टि से दोनों का फल एक ही होने पर मी) क्षमता के अवहार का विचार करने पर गीता का यह निश्चित मत है कि ज्ञान के पश्चात् मी निष्ठामसुद्धि से क्षम करते हुने का मार्ग ही अधिक प्रशस्त वा भेद है। हमारा किया हुआ यह अर्थ गीता के बहुतेरे दीक्षाकारों को मात्र नहीं है। उन्होंने कर्मयोग को गौप्य निश्चित किया है। परन्तु हमारी समझ में यह अब तरह नहीं है। और गीतारहस्य के ग्यारहवें प्रकरण (किंवद्दन्ति १ ३ ६-११८) में इन्हें कारण का विलोक्यपूकृष्ट विवेचन किया है। एस कारण यहाँ उनके दुहराने की आवश्यकता नहीं है। एस प्रकार दोनों में उ अधिक प्रशस्त मार्ग का निष्पत्ति कर किया गया। अब यह लिख कर लिखते हैं कि ये दोनों मार्ग अवहार में वही अपेक्षा का भिज दीया पाए तो मी तत्त्वता ऐ दो नहीं है :- ]

(१) यो (किसी का मी) हेय नहीं करता और (किसी की मी) इच्छा नहीं करता उठ पुरुष को (कर्म करने पर मी) निष्ठसन्वासी गमसना पाहिये। क्योंकि हे महावाह भर्तुन् ! यो (सुरपुरुष आदि) इन्हों से मुक्त हो यह वह

## पञ्चमोऽध्याय ।

भृतुन् ददात् ।

संन्यासे कमण्डा कृष्ण पुनर्योग च धांसुसि ।  
तथार्थ एवारके लम्भ वहि सुमिक्षितम् ॥ १ ॥

भीमगानुवाच ।

संन्यासे कमण्डग्नि भेदकरदुर्भाई ।  
तथासु कमर्मन्यासात्कमयोगो विदित्यते ॥ २ ॥

ही माग शास्त्र में विहित है कि इनमें से भपती इच्छा के अनुचार सारथमाग की स्त्रीकर कर कर्मों का त्याग करने में हानि ही नहीं है । अपात् इष्टका पूरा निषय ही यहां आहिये कि इन दोनों मार्गों में भउ औन सा है । और भृतुन के मर्म में वही धड़ा हूँ है । उसने कीलर धरदाय के भारतम में देखा ग्रन्थ किया था कि वही भउ भी वह पूजा है कि - ]

(१) भृतुन ने कहा - हह ! (तुम) एक बार सन्यास का भौंर दूरी पार कर्मों के योग का (अर्पण करने रहने के माग का ही) उत्तम फलात है । भव निषय कर मुझ एह ही (मार्ग) जनमाम्भो कि जि इन दोनों में एकमुप ही भेद भयात् अधिक प्रशस्त है । (२) भीमगान ने कहा - कम-तन्यास भौंर कमण्डग्नि या माग निष्ठाप्त भयात् मीठे ग्रन्थ करा देनकामे हैं परन्तु (अपात् माल की दृष्टि से दोनों की योग्यता कमान होने पर भी) इन दोनों में कमन्यास की भद्रता कमयोग भी योग्यता विद्यते ।

[ उन ग्रन्थ भौंर उत्तर इनों निष्ठाप्त भौंर रहते हैं । व्याखण की दृष्टि से यह 'ग्रन्थ' के 'भय दृष्टि का भय अधिक प्रशस्त या बहुत भय्या है । इन ग्रन्थों के लालनमय लालविषयक भृतुन के ग्रन्थ का ही यह उत्तर है कि । कमण्डग्नि विदित्यत - कमण्डग्नि वी दायदता विद्यते हैं । तथापि यह लिङ्गात्मक लालनमय का इस नहीं है क्योंकि उत्तर कम्ल है कि इन के पक्षात् तथा कम्ल का कम्ल लालन ही दरमा आहिये । उन वर्णण इन दो भवद्वारे ग्रन्थ न्याय 'पर नीतिकामी तु तु तेज न भी है । तब यह नीतिकामी दरने पर भी निराक - भय तब उन न्यायों ने यह तुरा स्त्रा कर जिनी प्रकार भास्त्रान लग देते वह आहिया कि विदित्यत (पाँचवाँ या चित्तात्मा) एवं संभवान ने कमण्डग्नि वी भवद्वारामह भयात् वर्णी दर भी है - भवद्वार महासान का भी भय देता दर्ही है यदि भवद्वार का दर यत दृष्टि कि ग्रन्थ ॥

निव किञ्चित्करामीति युक्ता मम्यत तत्त्ववित् ।  
 पत्तन् शृण्वन्स्पृशमित्यप्यत्रभाष्टुम्त्वपन्भासन् ॥ ८ ॥  
 प्रलपन्विसूजन्नुहन्तुन्मित्यमित्यप्यति ।  
 इन्द्रियार्थीन्द्रियार्थेऽप्यत्तत्त्वं इति आरत्यन् ॥ ९ ॥  
 ब्रह्मण्याधाय कल्पयि संमं स्यक्त्या करुति य ।  
 स्तिष्ठत म स पापम पद्मप्रभिमाम्भसा ॥ १० ॥  
 कायन मनसा कुदृष्टा कर्कर्त्तिन्द्रियैरपि ।  
 यागिन कर्म हुर्यन्ति संगं स्यक्त्याऽऽम्भमुदय ॥ ११ ॥

विलक्षणा भास्मा हो गया वह तब कर्म करता हुआ भी (कर्मों के पुण्यपाप से) अधिक रहता है। (८) यागमुख तत्त्ववचा पुरुष को समझना चाहिए, कि मैं कुछ भी नहीं करता। (और) दोनों में मुनने में स्थग करने में, लाने में हृदये में वक्त्वे में सेने में खोने खेने-खोने में (९) दोनों में विलर्जन करने से, सेने में और खोने के वक्त्व खोने और शम्भ करने से भी ऐसी बुद्धि रख कर जबहार करे, कि (कष्ट) नित्यिर्यों अपने अपने किया मैं बर्ती हूँ।

[ अन्त के हो स्तोक मिळ कर एक वाक्य ज्ञाना है और उसमें अत्यन्त दुष्ट तब क्य मिल मिल इन्द्रियों के स्थापन है। उत्तरणार्थं विवरं करना यह क्य ज्ञेना हात का पल्क गिराना प्राणात्मुक्त देखना और यो का इस्यादि। मैं कुछ भी नहीं करता इसका यह मतलब नहीं कि इन्द्रियों को चाहो ये करने हैं जिन्हें मतलब यह है कि मैं इस भावाखुदिके कृत ज्ञाने से भवेत्तन नित्यिर्यों आप ही आप कोई पुण्य कर्म नहीं कर रखती भौम वे भास्मा के व्याप में छहती है। याराय कोई पुण्य ज्ञनी हो जाय तो भी शासांश्लास भावि नित्यिर्यों के कर्म उत्तमी इन्द्रियों करती ही रहती। और तो क्या! पञ्चम और चौथिया छना भी कर्म ही है। फिर यह मेड रहों रह गया कि सत्यात्मार्थ का इनी पुण्य कर्म औरता है और कर्मयोगी करता है। कर्म तो दोनों को करना ही पड़ता है। पर भावाखुद आणकि कृत ज्ञाने से क ही कर्म कर्त्तक नहीं होते। इष्ट कारण आसक्ति क्य ज्ञेना ही उसका गुण्य तत्त्व है; और उसी क्य अब अधिक निरूपण करते हैं:- ]

(१) ये ब्रह्म में अर्पण कर आसक्तिनिरहित कर्म करता है उसको ऐसे ही पाप नहीं आता ऐसे कि कर्म के पर्ये जो पानी नहीं लगता। (११) (अतएव) कर्मयोगी (ऐसी भावाखुदिके रख कर, कि मैं करता हूँ - भेदभ) शरीर से (कष्ट) मन से (कष्ट) कुदी से और भेदभ इनित्यों से भी आशक्ति छोड़ कर जाम्भुदिके लिये कर्म किना करते हैं।

सोम्ययोगी पूर्यग्राहा स्त्रा प्रवृत्ति न पण्डिता ।  
 एकमप्यास्थित सम्यगुभयार्थिन्द्रते फलम् ॥ ४ ॥  
 यत्सोऽस्ये प्राप्यते स्थानं तथागैरपि गम्यत ।  
 परं साम्यं च यागं च यं पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥  
 सन्यासस्तु महावाहा इत्याप्तुमयोगत ।  
 यागयुक्ता सुमिष्ठम् म चिरणाभिगच्छति ॥ ६ ॥  
 ६६ यामयुक्ता विघुद्वासमा विजितात्मा जितन्द्रिय ।  
 सर्वभूताम्भूताम्भा कृषकपि म लिप्तम् ॥ ७ ॥

अनायास ही ( क्षमों के सब ) कृपा में मुक्त हो जाता है । ( ४ ) मूर्ख साग बहुत है कि साम्य ( क्षमतन्यास ) और याग ( क्षमयोग ) निम्न मिम्न हैं परन्तु पण्डित सोंग ऐसा नहीं कहत । किंतु जी एक याग का भर्त्य मौति आपरण करने से शान्ति का पत्र मिल जाता है । ( ५ ) इन ( मात्र ) स्थान में साम्य ( मात्रवाल साग ) पहुँचते हैं वही थोड़ी अपान अमयाती नी जाते हैं । ( इन रीति में ये शाना याग ) साम्य और याग पक ही है । जिसने पह जान दिया उसीने ( तीस रुपर जा ) पहचाना । ( ६ ) हे महाद्वार ! याग अपान बर्म के जिन्हा सम्यात का प्राप्त कर द्वा कर्त्तिन है । ये सुनि कमयागपुन ही गया उन द्वार की प्राप्ति होने के विस्तर नहीं दिया ।

[ कात्यै अप्याय न अप्त्वा तद्वद्य अप्याय तद्वा इन जात का विनारपद्धत  
 व्याप्त दिया गया है कि काम्यमाग में ये मात्र मिळता है वही कमयाग में  
 अपान क्षमों के न छापन पर भी मिलता है । पहाँ तो इन्होंने बहुत है  
 कि यारा की दृष्टि से शानी में कुछ भक्त नहीं है । इन वारण अनायि काम  
 से परा भाव एव इन यागों का भेदभाव एव एव इपाय वरना अनिन नहीं  
 है भी भाग भी य ही युक्तिया पुनः पुनः भार है ( श्लोक ६ भार १८  
 । ११८ । ) एव अन्यत्री विपर्यास द्वारा । एव नाम्य च याग च य पर्याया न पश्यति  
 यह क्षेत्र कुछ दृष्टि में महाक्षत भी भी दृष्टि भार भार है ( श्लोक ६ १ ।  
 ११८ । ) भेद्याक्षमाग में इन का प्रयान मान स्वेच्छा पर भी इन इन की अनिन्दि  
 व्य दिना वही होती भी और कमन्यमाग में यद्यपि व्य दिना वरना है तो भी दृष्टि  
 इन्हें इन वारण व्याप्ति में भार द्वारा नहीं होती ( श्लोक ६ । )  
 विर इन द्वार का द्वार में द्वया द्वय है द्वि द्वारों द्वार मिम्न है द्व  
 द्वय द्वय द्वि व्य वरना ही द्वय है द्वि भव द्वय है द्वि द्वय द्वय है  
 [ विपर्यास द्वय के विवाय में भी दिना द्वि द्वय - ]

( १ ) दृष्टि ( द्वय ) पर्यान् ॥ १ ॥ विना भारवान् द्वय द्वय  
 विन्द भारव द्वय भी द्वय है या दृष्टि दृष्टि द्वय द्वय द्वय द्वय द्वय ही द्वय है

माइते कल्पचित्यार्थं च चेष्ट सुहर्ता विमुः ।

अद्वाननाशृतं ज्ञानं तत्र मुद्गान्ति जस्तवः ॥ १५ ॥

इ इ ज्ञानं तु तद्वानं यापां नाशितमात्मनः ।

तपामाशित्यज्ञाने प्रकाशयति तत्परम ॥ १६ ॥

तद्वुद्धयस्ताक्षामामस्तज्ञास्तत्परायणः ।

गच्छन्त्यपुनरपवृत्तिं ज्ञानं विर्भूतकल्पणा ॥ १७ ॥

इ इ विद्याविन्यस्तम्यज्ञ ब्राह्मण गवि हस्तिनि ।

घुनि चेष्ट अपाके च पण्डिता समवर्दिता ॥ १८ ॥

भयान् प्रहृति ही (सब झुठ) किया करती है। (१६) विमु भर्त्यात् उवम्बापी भास्ता या परमेश्वर निर्विका पाप और निर्विका पुण्य मी नहीं देता। इन पर अज्ञान का पर्ण पड़ा रहने के कारण (भर्त्यात् मापा से) प्राणी मोहित हो जाते हैं।

[“न लोकों को तत्त्व अवलम्बन में साक्षमताम् का है (गीतार् प्र ४ प २६४-२६७)। ऐशानितियों के मत भास्ता का भर्त्य परमेश्वर है। भर्त्य देवान्ती क्षेत्र परमेश्वर के विषय में भी भास्ता भर्त्य है। इस तत्त्व का उपयोग करते हैं। प्रहृति और पुण्य ऐसे ही तत्त्व मान कर ताक्ष्यमतवाही उमप्रकृत्य प्रहृति का मानते हैं और भास्ता को उत्तरीन कहते हैं। परम्पुरा ऐशान्ती क्षेत्र “सके आगे का कर वह मानते हैं कि इन लोकों ही का मूल एक निर्गुण परमेश्वर है और वह साक्षमात्री के आस्ता के उमान उत्तरीन और भर्त्य है। एक साधा कर्त्तृत्व मापा (भर्त्यात् प्रहृति) का है (गीतार् प्र ५, प २६७) अज्ञान के कारण साधारण मनुष्य क्षेत्र में बहुत ज्ञान नहीं पड़ती; परन्तु कर्मयोगी कर्त्तृत्व और भक्तृत्व का मेत्र ज्ञानता है। इस कारण वह कर्म करके भी अलिङ्ग ही रहता है। अब यही कहते हैं।]

(१६) परम्पुरा हन से किनक वह अज्ञान नहीं हो जाता है उनके लिये उन्हीं का ज्ञान परमार्थतत्त्व के सूर्य के समान प्रश्नाधित कर देता है। (१७) और उस परमार्थतत्त्व में ही किनकी तुदि रेंग जाती है वही किनक अन्तामूर्त्य रम जाता है और वो उपस्थित एव तत्परायण हो जाते हैं उनके पाप हन से किनक दुःख ज्योते हैं; और वे छिर कर्म नहीं लेते।

[इस प्रकार कित्ता अज्ञान नहीं हो जाय उस कर्मयोगी (सम्बासी भी नहीं) वस्त्रमूल पा कीवन्मुक्त अवस्था का भव अधिक वर्णन करते हैं।—]

(१८) पण्डितों की भर्त्यात् ज्ञानिकों की दहि किया विनयमुक्त ब्राह्मण गाय दाखी ऐसे ही दुष्य और दण्डास सभी के विषय में समान रहती है।

युक्तं कमफलं स्यक्त्वा गान्तिमाप्नाति निष्ठिकीम ।  
अयुक्तं कामकारेण फलं सकौ निषष्ट्यत ॥ १२ ॥

सदकमाणि मनसा संन्यस्यास्ते सुमं वर्णि ।  
मवद्वार पुरे देही नैय कुषभ कारयन ॥ १३ ॥

इह न कदूतं न कर्माणि स्नाकस्य सृजति प्रमुः ।  
न कमफलसंयोगे स्यमादन्तु प्रवतते ॥ १४ ॥

[ बायिन शान्तिर मानसिक भावि कर्मो वे मेया का लक्ष्य कर उस भोक्ता में दृशीर मन और दुष्टि दण्ड भाव है । मूल में यत्पि 'किवर्दिः' विद्युत 'इन्द्रियः' दण्ड के पीछे है तथापि वह दृशीर, मन भाव दुष्टि को भी सागृ है ( गीता ४ १३ शेषो ) । इसी ते अनुबाद में उक्त 'दृशीर दण्ड के समान ही भूम्य शर्णों के पीछे भी स्वयं दिया है जैसे ऊपर के आठवें भौत नाम भूम्य में कहा है वसे ही पहाँ भी कहा है कि भद्रद्वारुष्टि एव पश्चाया के विद्यम में भासुकि दण्ड वर केवल बायिन केवल बायिन या केवल मानसिक बाहू भी कम दिया जाय तो क्लाँ का उसका शय नहीं स्वयं ( गीता ३ ३; ३३ २ और ४८ १६ शेषा ) । भद्रद्वार न रहने से को कम होता है जैसे तिकृ इन्द्रियों के ही भौत मन भाविक कमी इन्द्रियों प्रहृति के ही दिक्षार । मन ऐसे कमों जे दृश्यन क्लाँ का नहीं स्वयं । अब इसी भूम्य का शास्त्रानुसार निष्ठ वरत है - ]

( १ ) शे मुन भयान् योग्युक्त हो गया वह कमपम ऊपर भन्तु का पूर्ण शान्ति पाना दे भीर शे भयुक्त है ( भयान् योग्युक्त नहीं है ) वह ताम से भयान् कानना न इन के विद्यम में नह द्वा कर ( योग्युक्त ने ) दद्व हो जाना दे ।  
( ११ ) तप कमों का मन न ( प्रवृत्त नहीं ) तन्याम वर तिन्द्रिय देहान ( पुरुष ) ना इता के इता ( इत्यनी ) नार में न दुउ वरता भौत व वराता भामा भाता ने परा रहता है ।

[ वह जनना है जि भासा भवता है मेव का नह प्रहृति का है भौत इत वारम दण्ड या उग्रभीन इता रहता है ( गीता ३३ भौत १८ ६ ८ ) इता भाव इता वा ना वा के इता तित दृग् मूर्खिय भौत १८ - १९ दृशीर की तर या इता नदा रहत है भयामहर्दि न पही तरयनि इता । है विव्यय वमो ११ वरत ना दुन देव भिता रहता ११ ]

( १८ प्र-भयान् भासा या वास्तव तितों है वर्ण या उग्र वम वा ( वा इता द्वितीय रहते हैं ) वमरम व वाता वा द्वै तिन्द्रा द्वीरी इता , वाता व

ये हि संसर्वाणा भोगा बुद्धयोनय पर्वते ।  
आद्यन्तवन्त कीनतेय न तेषु रमते बुद्ध ॥ ३२ ॥

शक्तिराहित य चोहु ग्रामशारीरचिमोक्षवात् ।  
कामकोषोऽर्थ वेर्ग स युक्त ल सुखी नार ॥ ३३ ॥

५६ योज्ञकसुसोऽन्तरायामस्थामत्योतिरित यः ।  
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽभिमृच्छति ॥ २४ ॥  
स्वभव्ये ब्रह्मनिर्वाणमृपय शीक्षकस्मपाः ।  
छिक्षाद्या यतात्मामः सर्वभूतहिते रता ॥ २५ ॥  
कामकोषवियुक्तानां शतीनां यताचेतसाम् ।  
अभिरो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विद्वितामनाम ॥ २६ ॥

मनुमत करता है। (२२) (बाहरी पठायों के) सधोग से ही उत्पन्न होनेवाले भोग का भावि और भन्त है अतपश्च के बुद्ध के ही कारण है। है कोन्तेय! उन पण्डित स्वेग रत नहीं होते। (२३) परीर बृद्ध के पहले भयान् भरणप्रवन्त कामकोष से होनेवाले केवल ही उत्तर बनने में (इन्द्रियर्थवत् से) भी समर्थ होता है वही मुक्त और वही (सच्चा) तुष्टी है।

[ सीधा के दूसरे भाष्यम में मगान् ने कहा है कि तुष्ट मुग्धुम रहना आहिये (गीता २ १४)। यह टली का विकार भीर निष्पत्त है। गीता २ १४ म मुग्धुमों को भाग्यमापायिनः विदेष्य घ्याता है ता यही २३ वै शोक में उनको आर्यन्तकर्ता कहा है भीर 'भाव शम्भ के कर्ते' वाय शम्भ का प्रयोग किया है। इसी में तुष्ट शम्भ की घ्यास्या भी आ गए है। मुग्धुमा का स्थान न कर समझुद्दि से उनकी सहवेरहना ही मुग्धा का तथ्य। इसका है। (गीता २ १३ पर टिप्पणी देन्तो।) ]

(२४) इस प्रकार (वाय मुग्धुमा की अपेक्षा न कर) गी अनुग्रही भयान् भन्त बरण म ही मुखी हो जय गी अपने भाष्य में ही भाग्यम पाने हो नार पेम ही दिन (यह) भन्तज्ञाय मिष्य जाय (कम) योगी ब्रह्मवृप ही रहता है। एव उसे ही ब्रह्मनिवाय भयान् ब्रह्म मे मिष्य जान वा मोक्ष प्राप्त ही रहता है। (२५) दिन करियों की ब्रह्मज्ञादि तूर गए हैं - भयान् किन्दमें इन मात्र की जान दिया है भव याना मि एव ही परमेश्वर है - दिन ताप नर ही रथ है भीर य भाग्यमयम मे नर ग्रामियों का दित बनने मे रत है। गप है झड़े वै ब्रह्मनिवाय भाष्य मिला है (२६) कामकोषविराटित भाग्यवामी भैर आ परानवरप्र विद्यों का 'भिना' - भयान् गतवान या सम्मुख रागा रागा वा

“हय तिर्जित सगों शेषी साम्ये स्थित मन ।  
मिहोंये हि समं ब्रह्म तस्माद्वद्वाणि त स्थिता ॥ १९ ॥

म प्रहृष्टस्मिन्यं प्राप्य मोद्विग्नव्याप्य चाप्रियम् ।  
स्थिरसुद्विरसम्मुद्भो व्रह्मविद्वद्वाणि स्थिता ॥ २० ॥

चाहस्पदोऽप्यसकात्मा विनत्यात्ममि यत्सुमम् ।  
स व्रह्मयागयुक्तात्मा सुप्रमश्यमस्तुत ॥ २१ ॥

( १ ) इति प्रसार गिनिता मन उम्यावस्था में रिपर हा जाता है । यही के पही - भवान् भवान् भवान् की प्रकृति न वर - मूलखक का शीत सेते हैं । कर्त्ता कि ब्रह्म निर्गोप भीर कर्म है । भवा ये ( उम्याद्विद्वाद ) पुरुष ( तदैव ) ब्रह्म में रिपर - भवान् यही के पही - ब्रह्मभूत हा जात है ।

[ गिने इति सब का जान किया कि आमस्वप्नी परमेश्वर भवना है भीर लात एवं प्रहृति का है । वह 'ब्रह्मसत्य हा जाता है भीर नभी का मोह मिला है - ब्रह्मसत्योऽमृतमेति ( अ २३ १ ) । उक्त वजन उपनिषद में है भीर उचिता भगुना ऊर के सोरों में किया गया है । परम्परा इस भवाव वं १-१ सोरों से गीता का पह भवित्वाय प्रगत हाता है कि “त भवावा म नी कर्म नहीं पूर्यते । यद्विराचाय ने उम्यामय उपनिषद् १ उक्त दर्शन का मन्याकथान भव दिया है । परम्परा मृत उपनिषद् १ पृष्ठावर कल्पम देवता स र्विति हाता है कि 'ब्रह्मसत्य हाने पर मी तीना भाभमा के कर्म उपनिषद् १ दिय मही पह वाक्य कहा रखा होगा भीर इति उपनिषद् १ भन्न म पही भव वरद्वय से दत्तात्रा गया है ( अ ८-१८ १ रामो ) । ब्रह्मान १ गुणे पर पह भवावा शीत मी प्राप्त हा जाती है भव इत ही शैक्षमु न रापा बहत है ( नीतिर ग्र १ ७ ०-१ रामा ) । भवामविना है पही पात्राना है चिन्मृति विरापनी गित योगकापनी म पह भवावा भव ह नहीं है उक्ता चिन्मृताद्वय दर्शन भवत्त भवाव भवाव में किया रापा है । इति रापाय में देवता रमी भवावा का अधिक दान १ - ]

ग) अपव भवाव इसका वा पा वर प्रवर्त न हा जाये भीर भवित्व व रम ५ गित १८ १ न हाय ( इत वर्तार ) गितर्वा तुदि गितर ८ भीर वर वर्त मै १८ गित १८ इसका वी इस में गित तुमा वर्त ( १ ) हाय वर्ताये ११ इन्द्रियों म १ नेत्र १ ) भवाव में भवा १ विवाहमें ८ गितरा मन भवत्त नहीं ३५ १८ १ । भावाव गितरा है भीर वर इसका तुमा वर भवत्त भवत्त वर

## पठोऽच्याय ।

भीमगवानुवाच ।

अनामितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति ए ।

स सन्यासी च पोगी च न निरपिने चाक्षिण ॥ १ ॥

## छठवाँ अध्याय

[इतना तो सिद्ध हो गया कि मोक्षप्राप्ति होने के लिये और विची की मी अपेक्षा न हो तो भी कोष्ठप्रह की दृष्टि से हानी पुरुष को जन के अनन्तर मी कम करते रहना चाहिये । परन्तु फल्याण घोड़ कर उहैं समझुद्दि से "राखिये और, दाढ़ि के बाबक न हो जावे । इसे ही कर्मयोग कहते हैं । और कर्मसम्पादमार्य की अपेक्षा यह अधिक अत्यल्लंघ है । उपायि उतने से ही कर्मयोग का प्रतिपादन उमात नहीं होता । तीसरे अध्याय में भगवान् ने अकुन्त से काम कोष भावि का बनन परते हुए कहा है कि ये शुनु मनुष्य की निश्चयी मैं मन मैं और शुद्दि मैं पर करके जान विज्ञन का नाश कर लें हैं (३४) अतः ह इन्द्रियों के निपाह से इनको पहले छीट से । उस उपाय का पूर्ण बनने के लिये नन वो प्रक्री का युक्तिया करना आवश्यक था कि (१) इन्द्रियनिप्रह बेसे भरे ? और (२) ज्ञनविहान लिये भहते हैं ? परन्तु यीष मैं ही अकुन्त के प्रभो से यह कर्त्तव्यना पड़ा कि कर्मसम्पाद शार कर्मयोग में आपेक्ष अस्ति माग कीनका है । फिर इन दोनों मागों की यथागत्य एकत्रास्त्वा करके पह प्रतिपादन किया गया है कि उमों को न अ- कर नि भद्रुद्दि से करत जाने पर ज्ञानविषयकी सोय बर्याकर मिलता है । अब उस अध्याय में उन साक्षनों के निरूपण करने का आरम्भ निया गया है जिनकी आवश्यकता कर्मयोग में भी उच्च निष्ठा लीनि स्थिति प्राप्त करने में हाती है तथापि समर्थ रहे कि यह निष्पत्ति भी तुष्ट स्वतन्त्र रीति से पालक्ष्ययोग का उपाय करने के लिये नहीं किया यावा है । और यह बात पारद्वा के रखन भा जाय नहिये यहा पिछन भर्याओं म प्रतिपादन की तुष्ट बालों का ही परम उद्दार किया गया है । ऐसे — फल्याण छोन्हर कम करनामासे पुरुष का ही भव्य स यामी समानना चाहिये कम ऊर्ध्वेषासे वा नहीं (६३) इत्यादि । ]

भीमगवान ने कहा — (३) कर्मस का आधय म करक (अर्थात् मन मैं कर्मसा वा न किन इ कर ) जा (शामगनुमार आगत विद्वित ) कर्मवर्कर्म करता है वही कर्मयामी तिं वही कर्मयामी है । निरपि भर्यान भगिरोत भावि कमों का आह नरण भर्या निय भर्यान बाह भी कम न करक निराहे भेदनेश्वा

स्पर्शान्तर्कृत्या चहिर्वीद्वाम्बुद्ध्यास्तर सृष्टो ।

प्राणापार्ना समी कृत्या नासाभ्यन्तरकारिणी ॥ २७ ॥

यतेन्त्रियमनोबुद्धिमुग्निमोक्षपरायण ।

विमतेष्ठामयकोषो य चक्र मुक्त पद सः ॥ २८ ॥

६६ भास्कार यहातपस्त्री सवल्लोकमहेष्वरम् ।

स्वद्वं सवमूलानां कात्या माँ शान्तिमृच्छति ॥ २९ ॥

इति भीमदगदग्रीतानु उपनिषत्सु ब्रह्मविश्वाया योगशास्त्रे भीषणालज्जसाम्  
सन्यासयोगो नाम पद्ममो व्याप ॥ ॥

( इन विवरण ) - ब्रह्मनिष्ठाणन्तर प्रिय शत्रा ह । ( ७ ) वाहपराणी प ( इन्द्रियों के सुखदुखायक ) उपयोग से भ्रम ह वर गता मौहा के गीत म दृष्टि का न्मात्र और नात्र से ज्ञानेवासे प्राण एव व्यापान को सम करके ( ८ ) इन्तेन्द्रिय मन और बुद्धि का तयम कर दिया ह तथा दिव्यक भय चक्षा और वाप एट गय ह, यह मात्रपरामण मुनि सदा सवन मुक्त ही ह ।

[ गीतारहस्य के नक्षम ( १ ३ २८८ ) भार इत्यम ( १ ३ १ ) प्रसरणों से ज्ञान होगा कि यह व्यापान भीक्ष्मनुकालमध्या का है । परन्तु हमारी इष्ट मै दीक्षाकारी का यह व्यापान टीक नहीं कि यह व्यापान सन्यासमाग के पुरुष का है । सन्यास और कमयोग दोनों मार्गों मै शान्ति तो इष्ट ही सी रहती है और उत्तरे ही के सिवे यह व्यापान सन्यासमाग को उपसुक्त हो सकेगा । परन्तु इष्ट अव्यायम के भारमध्ये कमयोग का भूष निखिल वर फिर व न्योग म तो यह कहा ह कि इन्हीं पुरुष सब प्राप्तिया का हित वरन म प्रसरण मध्य रहत ह इससे प्रसर होता ह कि यह सुमन्त व्यापान कमयागी भीरानुक का ही ह - सन्यासी का नहीं ( गीतार ग्र १ ३ द्वयो ) । कमयाग मै भी लष्मभूतान्तरगत परमेभर का परमानन्द ही परमसारम ह । भक्त ज्ञानमन्त अन्त मै वहत है कि - ]

( २९ ) तो मा । ( तर ) यश और नर्वा का घोना ( ग्रन्थ भावि ) सब लासी का ददा न्यासी एव ता प्राप्तिया ता भिय द्यनता ह वही शान्ति पाका है ।

इस प्रकार भीमायान क गाये इष्ट - भ्रमान इदृष्ट - उपनिषद मै प्रद विद्यालया याग - अपान कमयाग - दार्शनिक्यज भीषण वर इन क लकार मै तन्यासयाग नामन वीचरी भव्याप अमास रमा ।

के लिये शम कारण हो जाता है' – इसका अथ टीकाकारा ने सन्यासप्रधान कर रखा है। उनका वचन यों है – 'शम एवं कर्म का उपशम ; और किसे योग सिद्ध हो जाता है, उसे कम आह देना चाहिये । क्योंकि उनके मत में कमयोग सन्यास का भाव अर्थात् पूर्वतापन है । परन्तु यह अब लाग्नायिक आपहूँ क्य है, यो टीका नहीं है । इसका पहला वारण यह है कि ( १ ) अब इस अभ्यास के पहले ही क्षाक म भगवान् ने कहा है कि कमफल का आश्रय न करके उपशम-कम करनेवाल्य पुरुष ही सज्जा योगी अवात् योगारुद्ध है – क्य न करनेवाल्य (अक्रिय) सज्जा योगी नहीं है; तब यह मानना लक्षण अभ्यास है कि तीसरे स्मृति में योगारुद्ध पुरुष के क्य का शम करने के लिये या कम छोड़ने के लिये मानवान् कहरे । सन्यासमार्ग का यह मत मत्ते ही है कि सान्ति मिळ जाने पर योगारुद्ध पुरुष कम न करे; परन्तु गीता को यह मत मानव नहीं है । गीता में अनेक रक्तान्तों पर स्वप्न उपशम किया गया है कि 'अमयोगी सिद्धारहस्य मैं भी यावतीकर्म भगवान् के समान निर्बाकम्बुद्धि से सब कर्म केवल कर्तव्य समान कर करता रहूँ ( गीता २ ७१ ३ ७ और १९ ४ १ –२१; ७–१२; १२ १२ १८ ५६ ५७ सज्जा गीतारुद्ध ११ और १२ देखो ) । ( २ ) दूसरा कारण यह है कि 'शम का अर्थ कर्म का शम कहों से आया ' ममद्वीपा में 'शम' शब्द ठीकाकार बार आया है । ( गीता २ ४; १८ ४२ ) वहों और अवहस्त मैं मी उसका अर्थ मन की शान्ति है । पिर इसी स्मृति मैं कर्म की शान्ति अर्थ क्यों स । इस 'कठिनाई' को दूर करने के लिये गीता के पैशाचम्यात्म में योगारुद्धस्य तस्तैव के 'तस्तैव इस ब्रह्म सर्वनाम का सम्बन्ध 'योगारुद्धस्य' से न क्षमा कर 'तस्य को नपुणकर्त्ता की पश्चि विमुक्ति समझ करके ऐसा अब किया है कि तस्तैव कर्मण शम ( तस्त अर्थात् पूर्णार्थ के कर्म का शम ) । किन्तु यह अन्यथा मी उसका नहीं है । क्योंकि इसमें कोई उत्तेज नहीं कि योगाभ्यास करनेवाके किस पुरुष का विषय 'एवं स्मृति के पूर्णार्थ में किया मता है उत्तरात्म का आरम्भ हुआ है । अतएव 'तस्तैव' कठोर से कर्मण एवं यह अप्य लिय नहीं का सकता । अपवा यति के ही के तो उसका सम्बन्ध 'शम' से न खोड़ कर नारजमुक्तयते के साथ छोड़ने से एका अन्यथा भगवा है । शम योगारुद्धस्य तस्तैव कर्मण कारणमुक्तयते । अब गीता के दूर्वृत्त उपशम के अनुलाभ उसका यह अप्य मी तीक रुग्न जागरा कि अब योगारुद्ध के कर्म का ही शम कारण होता है । ( ३ ) टीकाकारों के अर्थ को त्या य मानने का तीसरा क्षमता यह है कि सन्यासमार्ग के अनुसार योगारुद्ध पुरुष को दुःख मी करने की आकस्मा करता नहीं रह जाती । उसक सब कमों का अस्त शम मैं ही होता है । और ये यह सच है को योगारुद्ध को शम कारण होता है । इस बास्तव का कारण

य संन्यासमिति प्राकुद्योगं तं विन्दि पाण्डव ।

न ह्यसंन्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कर्मन् ॥ २ ॥

इ ॥ आरुक्षेमुनियोगं कर्म कारणमुच्यते ।

यागारुक्षस्य तर्ह्येव नामं कारणमुच्यते ॥ ३ ॥

( सच्च यन्यासी भीर योगी ) नहीं है । ( २ ) ह पाण्डव ! किंतु संन्यास करत है, उसी का ( कर्म ) योग समझे । क्योंकि सकार भयान् काम्युदिक्षप फग्नशा का सन्धार ( = स्याग ) किये जिन्होंने मी ( कर्म- ) योगी नहीं होता ।

[ पित्रे भव्याय म ये कहा है कि एक साक्ष्य प ( ६६ ) या जिन्होंने योग के सन्धार नहीं होता ( ६४ ) अपना 'हेष' के निवर्त्तन्यासी ( ६५ ) उसी का यह अनुबाद है भीर आगे भव्याय है भव्याय ( १८२ ) मे सम्प्र कियप का उपष्ठहार करते हुए इसी अप का फिर भी बयन किया है । यहस्याभ्यम म अमिहाव रथ कर यहयाग भादि कर्म बरने पत्ते हैं पर ऐ सन्धायाभ्यमी हा गया हो उपर्युक्ते मैं कहा है कि उसको इत प्रकार भवित्वी रथा बरने की कार आवश्यकता नहीं रहती । "स वारण वह 'निरमि' हा बाप और बाल मेर ह कर भिक्षा से पर पात्र बग्न के रथबहार मे न पड़े ( मनु ६ २६ अन्याय ) । पहले खोड़ मे मनुके असी मन का द्वेषग किया गया है और यह पर मात्रान का बयन ह कि निरमि भार निष्क्रिय होना कुछ उपे सन्धार के सुउग नहीं है । काम्युदिक का या फग्नशा का स्याग ज्ञना ही तथा सन्धार है । स यात्र तुदि म ह अमित्याग तथा अभ्याग की बाध्यकाया मे नहीं है । भव्याय फग्नशा अपना सद्व्यवहार का त्याग कर क्षायकम बरनेशासे का ही तथा सन्धार्भ करना चाहिये । यीका का यह निष्ठान्त स्मृतिसारी क विद्वान्त ]

स भित्र ६ । निरारथ्य ६ ॥ १ ॥ वे प्रश्न ( ६ ३४/-१ ) मे यह वर दियय दिया है कि यीका ने स्मृतिसारा स असा मेष देगे किया ? "स प्रकार सधा । न यात्र ज्ञान कर न यह बनान्त ह कि ज्ञन हने के पहल अर्थात् ज्ञान । यमा मे य कर्म किये ज्ञन है उनम भीर अनास्तर भयान् किदावाया मे फग्नशा छाट कर तो कर्म किये है उनम स्या भेद ह ]

( १ ) ( कर्म ) योगद्वय हन व्य इस्ता रामजात मुनि क दिवं कर्म का ( अन्य का ) बरन तथा ज्ञान कहा है भीर उनी पुरा क योगद्वय अध्यात् त्य ते हा ज्ञने पर ज्ञान दिय ( यम ) यम ( कर्म का ) बरप ही ज्ञान है ।

[ श्रीकृष्ण ने इन अन्य के नय का भाव बर ज्ञान है । खोड़ क दृष्टि मे यह अन्यज्ञनपर ही नय है । र ता ज्ञान के मन्य है कि उनकी निर्दिष्ट के वर उनम हैं वर उनम पर उन-

एवा दि मन्दिरायें म रमायनुपस्थित ।

गृहस्थान्यामी यापाद्वम्भाष्यत ॥ ५ ॥

५६ उत्तरेशास्पाद्यमाम् शास्मान्मयमात्रपत्र ।

आन्मय शास्त्राना च पूराणय एवगत्यः ॥ ७ ॥

प्रभुगत्ता उद्देश्यान्वय द्वार्चितामना जित ।

अनामनम् दारम् पौत्रान्म् त्रियतः ॥ ५ ॥

। ਅਤੇ ਮਨੁਸ਼ ਦੀਆਂ ਕਾਰ੍ਯਾਂ ਵੇਂਹੋਂ ਰਿਟਮਾਨ ਅਤੇ ਸੁਖ ਹੈ - ਹੀ । ਪ੍ਰਾਣ  
। ਜਾਗਰ ਹਾਂ ਵਾਂ ਜਿਥੋਂ ॥ ਸੰਭਾਵ ਵੱਡੀ ਹੀ ਜਿਥੀ ਵਿਚਕਾਰ ਰੁਮੁਲਸ  
। ਅਪੁ ਜਾਣਾ ਜਿਥੋਂ ॥ ਰਾਤਾਂ ਰਾਤਾਂ ਹਾਥ ਦੂਰੋਂ ਹਾਥੋਂ  
ਛੁਦ ਕਰਾਂ ॥ ਧਰੀ ॥ ਸਾਡੇ ਜਾਨਕਾਰੀ ਦੀ ਪ੍ਰਾਣੀ ਰੀਤ ॥ ਜਿਥੋਂ  
ਜਿਥੋਂ ਹੁਕਮ ਬਣ ਗਏ ਹਾਂ ॥ ਹੁਕਮ ॥

(x) 3 + 1 = 4 (x-3) = 4x - 12  
4x - 12 = 4x + 12  
-12 = 12  
-24 = 0

। शम किम्बुद्ध ही निरपक हो जाता है। कारण शम सरैव शापक है। 'कारण' उहने से उसके कुछ-न-कुछ 'काम अवश्य चाहिये। और सन्यासमाग के अनुषार योगास्ट्र को तो काँ भी 'काय शेष नहीं रह जाता। यह शम को मोक्ष का कारण अवश्य जानन कह सकता है तो मेंका नहीं मिलता। क्योंकि मोक्ष का जापन शयन है शम नहीं। अच्छा शम को ज्ञानप्राप्ति का 'कारण अवश्य जापन' कहे तो पहले वर्णन योगास्ट्र अवश्य पूणावस्था को ही पहुँचे हुए पुरुष का है। अच्छिय उसको ज्ञानप्राप्ति तो कम क सापन से पहले ही हो चुकी है। फिर यह शम कारण है ही किसका? सन्यासमाग क दीक्षाकारा से इस प्रभ का कुछ भी समापनकारक उभर नहीं जाता। परम्परा उनके इत अथ को छोड़ कर विचार करने स्वीं, तो उत्तराध का अथ करन में पूर्वाध का 'कम पर सामिक्ष्य' वामपाद से सहज ही मन में आ जाता है। और फिर यह अथ निष्पत्त होता है ति योगास्ट्र पुरुष को स्वेच्छाप्रकारक कम करन के किय अब 'शम' 'कारण' का जापन हा जाता है। क्याहि यथापि उसका को० स्वाध शम नहीं रह गया है तथापि स्वेच्छाप्रकारक कम किसी से घट नहीं जाने ( श्वो गीता ६ ७— )। विद्युते अवश्यम में यह यह जपन है ति युक्त कमक्ष तदस्ता शान्तिमप्तोति नेत्रिमीम ( गीता ६ १२ ) — कमक्ष का त्याग करक यागी पृण शान्ति पाता है — 'मम भी यही भर्त्य मिठ होता है। क्योंकि उसम शान्ति का उम्मेद कमन्याग ने न छोड़ कर केवल कमन्या के त्याग के ही बर्णित है। वही पर दृष्ट दहा है ति योगी न कमन्याम कर, वह मनसा अवश्य मन से कर ( गीता ६ १३ ) शरीर क द्वारा या बद्र अनिद्र्या क द्वारा ज्ञे कम करना ही चाहिय हमारा पहुँच मन है ति अवश्यकार्य के अन्यान्यासद्वारा का या अवश्यकार्य का सौरभ्य इस क्षम मध्य गया है और पुरुष म पहुँचन्म बर — ति 'शम' का कारण 'कम कर हाता है' — उत्तराध म इतक विद्यीत जगन निजा है ति 'कम' का कारण 'शम कर हाता है' मानवान बहुत है ति प्रथम मानवाकृत्या म कन ही शम का अवश्य योगमिहि का कारण है। मात्र यह है ति यथाशक्ति निष्पत्त कम करन बरत ही जित शान्ति हात्य उभी के द्वारा भन्त मै पृण योगमिहि हा उनी है जिन् योगी के योगास्ट्र हात्य निष्पत्त या मै पूर्वाध बाज पर कम स्त्री शम का उत्त कायकारणात्य जाप गता है जली कम शम का कारण नहीं हाता; जिन् शम ही कम का कारण यह जाता है अवश्य पुरुष असे तथ शम भर करन्य नमह बर ( कम ही भाषा न रख बर ) शान्तिविभ भ किया करता है तात्त्व इस क्षम का अवश्य यह नहीं है ति निष्पत्त या मै कम पूर्व बर है एवं का अपन है ति मानवाकृत्या मै बह और शम क दैव या वायकारणात्य हाता है जिक बही निष्पत्त या मै बह जाता है ( अनारहम्य द. १ १ १२१ )। दीन मै पहुँच की भी नहीं करा कि 'मानवी क्षम

हानविशाक्तुमात्मा कृटस्यो विजितमिद्यः ।  
 पुक्ष इसुच्यते योगी समलोक्यास्मकाच्चनः ॥ ८ ॥  
 सुद्धमिभ्रायुंदीपात्ममध्यस्थेष्यवन्मुपु ।  
 सामुष्यापि च पापेषु समवुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥  
 ६५ योगी गुमीत सततमात्माम एहसि स्थितः ।  
 पक्षकी एव विश्वास्मा निराशीरपरिप्रहः ॥ १० ॥

( ८ ) विष्णु आत्मा शन और विष्णु अपात् विष्णु शन से नूस हो जाव  
 ये अपनी नित्या का बीत के, ये कृष्ण अपात् मूल मै ये पर्वुच और मिठी  
 पन्थर एव सोने को एक सा मानने लो उमी (कम) योगी पुरुष को 'मुक्त अपात्  
 विश्वास्मा का पर्वुचा हुआ कहते हैं । ( ९ ) सुद्धु मित्र एव उडासीन मध्यस्थ  
 द्रेप करने योग्य वासन साधु और दुष्ट लोगों के विषय में भी विचारी दुर्घि सम  
 हो गयी हा वटी ( पुरुष ) विषेष योग्यता का है ।

[ प्रत्युपकार की व्याप्ति न रख कर एहसिता करनेवाले उही को सुद्धु  
 कहते हैं । जब ये गुल हो जावें तब किसी की भी सुराइ मस्ताई न आहेत्यापि  
 को उडासीन कहते हैं । शेनो एव्या की मन्त्रार्थ आहेत्यासे को मध्यस्थ कहते हैं  
 आर लाम्बवी का कुउ कहते हैं । दीराकारी ने ऐसे ही अर्थ किये हैं । परम्पुरा  
 अधों से कुउ मित्र अर्थ भी कर सकते हैं । क्याकि इन शब्दों का प्रबोग प्रबोक्ष  
 में उच्च मित्र अथ तिरस्सन के किये ही नहीं निषा गया है । किन्तु अनेक शब्दों  
 की यह योग्यता किछु अठिक्ये की गई है कि तब के मेह से व्यापक अर्थ क्य  
 थोन ही जाय - उसमें कुउ भी मूलता न रहते पाव । इस प्रकार उत्तेषण से  
 बन गया तिष्या कि योगी योगास्त्र या मुक्त विषेष कहना आहिव ( गीता २ ६३ ।  
 ४ ८ १८ अंतर २३ देखो ) । और यह मी मतुष्य तिष्या कि इस कर्मयोग को  
 मिठ कर उन के विषय पन्थर मतुष्य स्वात्मक है । उसके किमी का दूर गेहने  
 की कार नहरत नहीं । भव व्यापक की विदि के किये अपेक्षित एवजन का  
 निष्पत्ति करते हैं - ]

( १ ) यागी नवम कर्मयोगी एकात्म में अपेक्ष रह कर विज्ञ और भास्त्र  
 का भवयम ॥ तिमी भी वाग्यशास्त्रावां न रख परिप्रह अपात् पाप एव करते  
 निरन्तर भवन यागाभ्यास म सगा रहे ।

[ ए १ । १ म एव होता है कि यहा पर मुझी पर मे पराङ्ग  
 एव वा पाप विवरित है तथापि इसका यह अध नहीं कि कर्मयोग को प्राप्त  
 कर अन की व्याप्ति करनवा । पुरुष गती नवम भास्त्र वाक्यामयाग में विता  
 कर्मयोग के १ २ गवापक लाग्यकुदि के प्राप्त वान के विषय लापदम्बन्ध

इहु जितात्मनं प्रशान्तस्य परमात्मा समाहित ।  
शीतोष्णसुखै सेपु तथा मानापमानयोऽत् ७ ॥

किंतु ही बदली क्यों न हो ! उसको चीत कर आत्मोऽसति कर देना हर एक के स्वाधीन है (गीतार प्र १ शु २७०-२८४ देखो)। मन म एव तत्त्व के मध्य मौति अम जाने के क्षिये ही एक बार अन्वय से भार पिर व्यतिरिक्त से — देना रीतिया से — बणन किया ह कि आत्मा अपना ही मित्र कर होता ह आर अहम अपना शत्रु कर हा जाता है आर यही तत्त्व पिर १३ ८ अध्यक्ष म मी आदा है। सकृत म आमा शम के य तीन अप होते हैं (१) अन्तरात्मा (२) मै लब भार (३) अन्तर्करण या मन। यही से यह मात्मा शम नम आर अग्रक श्लोका म अनेक बार भाया है। अप बताते ह कि भास्मा का अपने अधीन रहने से स्या फल मिल्या ह ]

(३) किमन अपने आमा अवान् अन्तर्करण का चीत किया हो आर किंतु शान्ति प्राप्त हा गा हा उसका परमात्मा शीत उपा सुपु शुपु भार मान अपमान म समाहित अथात सम एव पिर रहता है।

[ न अध्यक्ष म 'परमात्मा शम आमा के क्षिये ही शुक्ष है। इह का आमा सामन्यत सुपुक य भी उपाधि मै यम रहता है परन्तु अन्तिष्ठितम से न्यायिका का चीत मेने पर यही आध्या प्रत्यक्ष हो करके परमामर्त्यी या पर मेवरम्भयी ज्ञा करता है। परमात्मा दुःख आध्या से किमित्र श्वस्य का पठाय नहीं है। नगे गीता मै ही (गीता ३ भार ११) कहा ह कि मानवी शरीर मै रहनेवाला आध्या ही तत्त्वत परमात्मा है। महाभारत म यह बणन ह —

आमा अग्रक इन्द्रुः सुपु शम्भुर्मुखे ।

तेषै तु विभिन्नुक परमामेन्द्रुकाङ्क्षत ॥

ग्राहत नषात प्रहृति के गुणों से (सुपु शम भावि विकाह से) बद रहने के कारण आमा को ही ऐक्ष या शरीर का नीचात्मा कहते हैं और इन गुण से मुक्त होने पर यही परमात्मा हो जाता ह (म मा शा १८०-८४), यीतारहस्य के १५५ प्रकरण से ज्ञात होता कि अद्वैत ऐक्षलत का भिद्दात्त भी यही है। जो कहते हैं कि गीता मै अद्वैत मत का प्रतिपादन नहीं है किंतु शाश्वत या शुद्ध द्वैत ही गीता का प्राप्त है। के 'परमात्मा का एक पद न मान 'पर ओर 'आमा ऐसे शे पद करके 'पर को 'उमाहित का दिवालियोपय समझते हैं। पह अर्थ द्विष्ट है परन्तु इच उत्तारण से समझ मै आ जावेगा कि शास्त्राविक यीकाहार भावने मत के भनुसार गीता की देखी गीचातानी करते हैं । ]

सुंजस्वं स्वाऽऽमानं योगी मियत्तमात्तुः ।  
शास्ति निर्बाजपरमा मत्संस्थापनिगच्छति ॥ १५ ॥  
पास्पदमस्तु यागोऽस्ति न वैकाम्यमनस्तः ।  
न चास्तिस्वप्राप्तिस्त्व्य जाप्तो नेत्र चालुते ॥ १६ ॥  
पुकाहारपिदारस्य पुकाहस्य कलसु ।  
युक्तस्वप्राप्तोभस्य योगी मवति तुङ्कहा ॥ १७ ॥

[ कि इस वर्णन का यह टोका नहीं कि कोइ अपनी सारी जिड़ी योगाभ्यास में ही फिरा डे । अब ऐसे योगाभ्यास के फस का अधिक निष्पत्ति करते हैं ।— ]

( १८ ) इस प्रकार सब अपना योगाभ्यास आरी रामने से मन काढ़ में होकर ( कर्म- ) योगी को मुझमें रहनेवाली और अन्त में निर्बाजपत्र अपार्ग में स्वरूप मैं छैन कर देनेवाली शान्ति प्राप्त होती है ।

[ इस लोक में 'सब पर' से प्रतिशिन के २४ घटा का मतल्ल नहीं । इतना ही अर्थ दिवित है कि प्रतिशिन यथाशक्ति पड़ी पड़ी मर यह अन्यार्थ करे ( लोक ' की टिप्पणी 'यो । ) कहा है कि 'स प्रकार योगाभ्यास करता हुआ 'मनित और 'मत्सरायण हो । 'सका कारण यह है कि पातञ्जल्योग मन के निरोष करने की एक सुकृति या क्रिया है । 'स करते से यहि मन स्वार्थीन हो गया तो वह एकाग्र मन मालान् में न आग कर और तुसरी बात की ओर मैं इगारा जा सकता है । पर गीता का कथन है कि चित्त की एकाग्रता का देखा तुम्हपरोय न कर 'स एकाग्रता या समाधि का उपयोग परमेश्वर के स्वरूप का अन्य प्राप्त करने में होता चाहिये; और देखा होने से ही यह योग मुक्तारं होता है अन्यथा ये निरे देख हैं । यही अर्थ आग २९ वे १ व एव अप्याय क अन्त में ८० वे लोक में आया है । परमेश्वर में निद्या न रख जो लोह देवत इन्द्रियनिधि का योग 'निद्रिया' की क्षमता करते हैं वे जीवों को देशप्रद चारण मारक या कठीकरण बरहा करने में ही प्रवीन हो जाते हैं । यह अन्यथा न देवत गीता को ही प्रमुख किंचि भी मोक्षायाग को 'ए नहीं । अब फिर इसी योगक्रिया का अधिक लुकाना करते हैं ।— ]

( १९ ) हे अम ! अतिशय धनेकासे या विशुद्ध न धनेकासे भीर एव लोनेकासे अध्यका व्यापरण करनेकासे तो ( पह ) योग किड़ नहीं होता । ( २० ) किंतु वा हारनिहार निवासित है कर्मों का भास्तरण नया-नुय्य है । भीर लोनागग्ना परिमित है उत्तरो ( पह ) याग दृष्ट्यगतः भवति मुख्यदृष्ट होता है ।

[ इस लोक में 'योग में पातञ्जल्योग की क्रिया भीर मुग में निष्पत्ति नहीं तुम्ही अध्यका पारामत का अर्थ है । आग मी शोषक रूपना पर

शुष्ठी इंग प्रतिष्ठाप्य हितरमासनमात्मनः ।  
 नास्युच्छिरतं भातिशीच चेष्टायिनहुयोत्तरम् ॥ १७ ॥  
 तर्त्रक्षामं मनः हृत्वा यतचित्तनिदिपकित्य ।  
 उपविश्यासने युज्यायोगमभात्मयिष्टुदय ॥ १८ ॥  
 सम कायशिरोपीष भारयस्तर्ल स्थितः ।  
 सम्प्रश्य भासिक्षामं स्वं विशाङ्गानवक्षोक्तयन ॥ १९ ॥  
 प्रामास्तास्मा विगतमीर्वद्वारिष्टते स्थितः ।  
 मनः संयम्य मक्षिता युक्त आर्चित मत्यतः ॥ २० ॥

| पातञ्जल्योग "स अध्याय मे बांगित है और "तने ही के लिये एकान्तवास भी | आवश्यक है। प्रहृतिस्तमात्र के करण सम्भव नहीं कि सभी को पातञ्जल्योग की | समाधि एक ही कल्प में सिद्ध हो जाय। इसी अध्याय के अन्त में सत्त्वान् ने | कहा है कि किन पुरुषों को समाधि सिद्ध नहीं हुआ है व अपनी जाती आपु | पातञ्जल्योग में ही न किना दें। निन्तु किना हो सके उन्ना युक्ति का विवर | करके कमयाग का आनंदरण करते जावे। ऐसी से अदेह कर्मों में उनको अन्त | म सिद्धि मिल जायगी। (गीतार्थ १ पृ २/८-२८७ डेंगो) ]

(११) बोगाभ्यार्थी पुरुष शुद्ध स्थान पर अपना रितर भासन रूपाद यो कि | न बहु ऊँचा हो और न नीचा। उस पर पहुँच दम, फिर मूँझमध्य और फिर | अच्छ पिञ्जर। (१२) वहों विच भार इन्द्रियों के व्यापार को रोक कर तथा मन को | एकाप करके आमद्वारा के लिये भासन पर फैल कर योग का अस्थापन कर। (१३) | काय अध्यात दीन मरलक और गड़न का सम करके अपासू सीबी गही रेखा में | निष्ठल करके लिये होता हमा विद्याभूमि को यानी "चर-उचर न डेंगें, और अपनी | नाक भी नोक पर इधि अमा कर, (१४) निश्च हो शान्त अनुकूलण से इष्टाचर्य | मत पास का तथा मन का संयम करके मुझमें ही विच रूप कर मन्त्रयावण होता | हुना युक्त हो जाव।

| [ शुद्ध स्थान में भार उत्तर, दीका एव शिर को तम कर ये शब्द | भेदान्तर उपनिषद के हैं (ध. ८ और १ डेंगो) भी उत्तर का तमूचा | कणन में हृत्योग का नहीं है प्रलूब पुराने उपनिषद्ग में ये मांग का कणन है | उससे अभिक भिक्षा जुम्ला है। हठयोग म निद्रिय) का निष्पृष्ठ बालाकार से निया | जाता है पर आगे इसी अध्याय के २४ व स्तोत्र में कहा है कि ऐसा न करके | मनसेव निद्रियाम विनियम्य - मन से ही निद्रियों को रोके। "ल्लो प्रसर है | कि गीता म हृत्योग विवरित नहीं। ऐसे ही यस अध्याय के अन्त म कहा है

सुजप्तवं सहाऽऽमाम यामी नियतमामस ।  
शाम्ति निर्बाणपरमा मत्संस्थामद्विगच्छति ॥ १५ ॥

मात्प्रमातास्तु योगोद्दित न चेष्टन्तमनक्षतः ।  
न चातिस्वप्रदीलस्य जामतो मैव चाञ्चुम् ॥ १६ ॥

युक्ताहारविहारस्य पुक्तज्ञायस्य कमसु ।  
युक्तस्वप्रायवाप्तस्य योगी भवति इःकषाणा ॥ १७ ॥

[ कि 'स वजन का यह उद्देश नहीं कि 'को' अपनी सारी विकारी योगाभ्यास में ही बिता दे । अब 'स योगाभ्यास के फल का अधिक निरूपण करते हैं । - ]

( १८ ) एव प्रसार सदा अपना योगाभ्यास आरी रूपने से मन काढ़ में होकर ( कम ) यागी को मुम्मे रहनेकाली आर अन्त म निर्बाणपद अर्थात् मेर स्वरूप मै औन कर देनेकाली शान्ति ग्राम होती है ।

[ 'स अभ्येष म सदा पर से प्रतिभिन के २४ पद्म्यं का मत्स्य नहीं । तरना ही अप दिवसित ह कि प्रतिभिन यथाशक्ति परी यही मर यह अम्बाल कर ( क्लौक ? की रिक्षणी देखो ) । पहा ह कि इस प्रसार योगाभ्यास करता रभा 'मधित और 'मल्यरायण हो । अम्भा कारण यह है कि पातड़ाइयोग मन के निराज करने की एव युक्ति या त्रिया है । 'स वसरत से यहि मन स्वाधीन हो गया तो यह एकाप्र मन ज्ञानान् में न स्था कर आर दूसरी जात की क्षेत्र मी ज्ञाना जा सकता है । पर गीता का वधन है कि त्रिया की एकाप्रता का ऐसा युक्तयोग न कर 'स एकाप्रता या समाधि का उपयोग परमेश्वर के स्वरूप का हान प्राप करने मै हेतु ज्ञाहिष; और ऐसा हाने से ही यह योग मुक्ताक दोता है अन्वया ये निरे देश है । यही अप आग २९ वे १ वे एव अप्याय क अन्त मै १३ वे भाग म आया है । परमेश्वर म निया न राय ये लाल केरप इन्द्रियनिपट का याग इन्द्रियों की कमरत करत है ते भगी की द्वेषप्र चारण मारण या वसीराय वराह कम करने मै ही प्रवीज हा जाते हैं । पर अवश्या म देवत गीता का ही प्रयुक्त विनी भी मोक्षाय का इष नहीं । अप फिर इनी बोलदिया का अधिक पुण्यका करत है । - ]

( १९ ) ह भग्न ! भग्निय गानेषाने या ति १२ न गानवा । आर एव नोनेशन भग्न गानपण वरनेशने का ( यद ) याग ति यदी हाता । ( २० ) शिवका भावारविद्वार नियमित ह कमों का आपरण नरा-नृणा है । आर भग्नायना परिमित ह उत्तरी ( यद ) याग ह गानवक भग्न गुणाद्वारा हाता है ।

[ इन क्षण म 'याग' म गान इन्द्रायाग की विषा हीर बुल त नियमित नहीं गृही भग्न वरना का याग ह । भग्न भी ये एव गानी पर

६६ यथा विलियते चित्तमास्मन्देशावतिष्ठते ।

तिःस्युह सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ १८ ॥

यथा त्रीयो निष्ठातस्यो नहन्ते सोपमा स्मृता ।

यामिना यत्पित्तस्य युजतो यागमास्मनः ॥ १९ ॥

यज्ञोपरमते वित्ते निरुद्धं योगसेवया ।

यज्ञ वैवारमनाऽऽस्मान पश्यत्त्वात्मनि तुव्यति ॥ २० ॥

[ योग से पातङ्कलयोग का ही अर्थ है। तथापि उतन ही से यह नहीं समझ देना चाहिये कि उस अध्याय में पातङ्कलयोग ही स्वतन्त्र रीति से प्रतिपाद्य है। पहले स्थान इत्या है कि कमयोग का खिद्द कर सेवा जीवन का प्रयान कर्तव्य है; और उसके साधन मात्र के इत्ये पातङ्कलयोग का यह बजन है। इस क्षेत्र के उम के उचित आचरण। उन शब्दों से भी प्रसर होता है कि अन्यान्य कर्मों को करते हुए उस योग का अभ्यास करना चाहिये। अब यागी का घोड़ा सा बजन करके समाधिसुग्र वा स्वरूप ग्रहणति ह - ]

(१) यह सबत मन आत्मा म ही भित्र हा जाता ह भार दिव्यी मी उपमोग की अस्त्र नहीं एकी बन कहते हैं कि यह 'युक्त हा गया। (२) यामुरदित रथान मे रथे हुए त्रीयक की त्यागि ईशी निष्ठ्य होती ह वही उपमा वित्त का सबत करके योगद्वयास करनेवाले पारगी का ही जानी ह।

[ उस उपमा के अलिरिक महामारत (शान्ति ३ ३२ ३४) मे यह इष्टान्त ह - तेज से भरे हुए यात्र का जीने पर से के जन म या तृष्णन क समय नात्र का वक्षाव करने मे मनुष्य ईमा 'युक्त अयका एकाम होता ह योगी का मन बता ही एकाम होता है। वरायनिषद् का सारथी और रथ क पोदा पाला इष्टान्त वा ग्रहिद्व ही है भीर यत्पि यह इष्टान्त गीता म रथ भाया नहीं है तथापि दूसरे अभ्याय के ६० और ३ तथा इसी अध्याय का २८ वीं क्षण ये उस इष्टान्त का मनम रथ कर ही कहे गये हैं। यत्पि यत्ता का गीता का पारिमार्गिक भ्रष्ट कमयोग है तथापि उस इष्ट के अन्य अथ मी गीता म भाय है उद्धारणाम् ५ और ३ क्षण मे योग का भ्रष्ट है भर्त्यविक भ्रष्ट काह गो करने की शक्ति। यह भी कह लते हैं कि आग रथ के अन्य अथ हाने के बारण ही गीता म पातङ्कलयोग और सार्यमाग वो प्रतिराद दद्यनने की शुरिपा उन उन कम्यतापवासा का मिल गा है। ५ क्षण मे वर्त्तित वित्तनिराषरूपी पातङ्कलयोग की समाधि का स्वरूप ही अप विस्तार मे कहत ह - ]

(३) बोलनुप्रयन म विन इन इन रथान मे रथ जाता है भार उर्हा रथ आत्मा

सुखमात्यन्तिंकं यस्तद्विषयमतीनिदित्यम् ।  
 देहि पश्च न ऐवायं स्तिष्ठते तत्त्वतः ॥ २१ ॥  
 य स्थव्या चापरं हामे मन्यते नाभिकं ततः ।  
 यस्मिन्निष्पत्ता न हुत्येन गुरुणापि दिव्यास्पतः ॥ २२ ॥  
 त विद्यामृतस्त्वयोगविद्याय योगसंवित्तम् ।  
 स निष्पत्तयन योज्यस्या योगोऽनिर्विष्णवेतसा ॥ २३ ॥

अब एप कर भाल्मा मैं ही सल्लाह हो रहता है (२१) वहाँ (भेदह) तुदिमम और निदित्या की अमोचर अत्यन्त सुख का उपरे अनुभव होता है और वहाँ पह (एक बार) इत्यर हुमा वा तत्त्व से कभी नहीं विगता (२२) ऐसे ही विष्णु विष्टि का पाने से उसी अपेक्षा दूसरा कोई लाभ उपरे अधिक नहीं होता; और वहाँ इत्यर होने से कोई भी वद मारी हु य (उपरोक्त) वहाँ से विच्छय नहीं सकता (२३) उसको हुत्य के स्वर्ण से विद्याग अर्थात् 'योग' नाम की लिखि कहते हैं और 'स 'योग' का नाचरण मन को ऊँटाने न भेद निष्पत्तय से करना चाहिये।

[ 'न चारा श्लोको यथ एक ही वाक्य है । २३ वे स्लोक के आरम्भ के 'उत्तरको ('तम् ) 'स उष्णैङ्ग सर्वनाम से पहले सीन श्लोको का बर्जन डरिए है और चारा श्लोको म 'समाधि' का वर्णन पूरा किया गया है । पातञ्जल्योगसूत्रे में योग का यह स्वरूप है कि योगविच्छयनिरोपः - विष्णु की हृषि के निरोप का योग कहते हैं । इसी के सदृश २ वे स्लोक के आरम्भ के शाम हैं । अब इस 'योग' धर्म का नया लक्षण बानकूल कर दिया है कि समाधि इसी विष्णु विचिनिरोप की पृणावन्ता है और इसी को 'योग' कहते हैं । उपनिषद् और महाभारत म कहा है कि निग्रहकर्ता और उत्थोगी पुरुष को तामान्य दीति वे यह योग छ. महीनो मुख्य होता है (मैस्य ६ ८८ अमृतनान्त २९ म य अथ अनुवाद १९. ११) । किंतु पादे ८ वे और ८८ वे स्लोक में यह कह दिया है कि पातञ्जल्योग की समाधि से प्राप्त हैनेवाम तुम न भेदह विष्णुनिरोप से प्रत्युत विष्णुनिरोप क द्वारा अपने आप आमा की पहचान कर सके पर होता है । इस दुर्घटहित विष्टि को ही ब्रह्मानन्द वा आमप्रलादव मुन अपका आत्मानन्द कहत है (गीता १८ १७ और गीतापृ ५, पृ. २४४ इत्यो) । अगरे अध्यात्मी मैं इसका वर्णन है कि भात्मवन्न होने के लिये भाववद्व चित्त वीं यह तमसा एक पातञ्जल्योग से ही नहीं उत्पन्न होती; इन्तु विष्णुविष्णुविष्णु का यह परिणाम द्वारा और भवि से मौ हो जाता है । पही मात्र अधिक प्रधान और मुक्तम तमसा जाता है यमाधि का तामान्य बनता जुँ । अब स्वतान्त्र है कि उस विन प्रकार 'गाना चाहिए ? ]

६६ यहा विनियते विसमात्मन्ययायतिष्ठत ।

निश्चूद मयकामम्बो युक्त इसुच्यते तदा ॥ १८ ॥

यथा त्रीपा निधातस्या मद्यात सोपमा स्मृता ।

यगिना यत्पितस्य युजता योगमामन् ॥ १९ ॥

यशापरमत विसं निरुद्धे यागस्यया ।

यत्र चरामनाऽऽमाने पद्यकाममि तुव्यति ॥ २० ॥

| योग से पात्ताच्छयाग का ही लक्ष है। तथापि उन ही से यह नई ममता खेला  
| जाहिर कि इस भाष्याय में पात्ताच्छयाग ही मूलन्य त्रीपि से प्रतिकार है।  
| एहु ग्रन्थ द्वारा वियाद कि प्रभावाग वा निष्ठ वर सेना त्रीपि का प्रगत  
| आय है वर इसके भाषण मात्र कि य यात्ताच्छयाग का यह विषय है। अस  
| व्यापक व्यापक विभिन्न भाषण वर्णन है। से जी प्रभु हाजा र वि  
| क्षन्यान्य क्षमो का वरन् एहु एहु यथा का अभ्यास वर्णन जाहिर। भव यागी  
| का यादा का दान वरके अभ्यासित्युप का अभ्यास दर्शन है - ]

(१८) इस भवता मन भासा म ही विगर हा त्तार ह भव रिति भी  
उत्त्य वा इन त्रीपि रहती तब वहन ह वि द्वे तुम हा रापा (१)  
वापुरिता भवन भव इन वित्तर वी व्यापि वि विभा त्रीपि र वी व्यना  
विस वा व्यव वाव वाव याव वराव वाव वा । व्यापि ।

। [इस व्यापि भवतीपि व्यवदाव (व्यापि ३ ३८) व्य  
। इ ३८ - भव व्यव वाव वा विवर म व्यव म या व्य - ४  
। व्यव व्यव वा व्यव वा व्यव वा । व्यव व्यव वा । व्यव वा  
। व्यव वा व्यव वा ही व्यव वा । व्यव वा व्यव वा व्यव  
। ५ व्यव वा व्यव वा । व्यव वा । व्यव वा । व्यव वा । व्यव  
। व्यव वा । व्यव  
। ६ ६ व्यव वा । व्यव वा । व्यव वा । व्यव वा । व्यव  
। व्यव वा । व्यव  
। व्यव वा । व्यव  
। ७ ७ व्यव वा । व्यव वा । व्यव वा । व्यव वा । व्यव  
। ८ ८ व्यव वा । व्यव वा । व्यव वा । व्यव वा । व्यव  
। ९ ९ व्यव वा । व्यव वा । व्यव वा । व्यव वा । व्यव  
। १० १० व्यव वा । व्यव वा । व्यव वा । व्यव वा । व्यव  
। ११ ११ व्यव वा । व्यव वा । व्यव वा । व्यव वा । व्यव  
। १२ १२ व्यव वा । व्यव वा । व्यव वा । व्यव वा । व्यव  
। १३ १३ व्यव वा । व्यव वा । व्यव वा । व्यव वा । व्यव  
। १४ १४ व्यव वा । व्यव वा । व्यव वा । व्यव वा । व्यव  
। १५ १५ व्यव वा । व्यव वा । व्यव वा । व्यव वा । व्यव  
। १६ १६ व्यव वा ।

६६ सर्वभूतस्थमात्मामि सर्वभूतामि आप्नमि ।

हिते योग्युक्तात्मा सर्वभूतामि ॥ २९ ॥

या मा पश्यति सर्वभूतं सर्वं च मयि पश्यति ।

तस्यादै न प्रज्ञस्यामि स च म न प्रज्ञस्यति ॥ ३० ॥

सर्वभूतस्थितं या मा भवत्येकत्वमास्थितः ।

सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ ३१ ॥

[ इन दो छोड़ों में हमने योगी एवं अर्थ कर्मयोगी किया है । कर्मयोग का साधन उपास कर ही पातञ्जल्योग का वर्णन किया गया है । अतः पातञ्जल्योग के अन्यात् इनका उक्त पुरुष से कर्मयोगी ही विवित है । योगी योगी एवं अर्थ उभावि घामे ऐसा दुआ पुरुष भी कर सकते हैं । किन्तु अरण रहे कि गीता का प्रतिपाद्य मार्ग उच्चे भी पर है । यही निवाम अगले दो-तीन लोडों को बना है । इस प्रकार निर्वाम ब्रह्मात्मा एवं अनुनाम हीन पर एवं प्राणियों के विषय में दो भावीपम्यादि हो जाती है । अब उक्ता वर्तमान भवत है - ]

( २९ ) ( एस प्रसार ) किसी आत्मा योग्युक्त हो गया है उसकी दी सम हो जाती है और उसे उर्बन्त ऐसा दीयु पद्मे उमाता है कि मै सब प्राणियों मैं हूँ और सब प्राणी मुझमें हैं । ( ३ ) जो मुहू ( परमेश्वर परमात्मा ) का सब स्थानी में और सब को गुहमें गमता है उससे मै कभी नहीं दिकुछता और न वही मुख्यं कभी पूर होता है ।

[ “न दो छोड़ो मै पहला वर्णन आत्मा शब्द एवं प्रयोग कर अन्यकृत भावात् भावात्मादि से और दूसरा वर्णन प्रथमपुस्पर्वाकृत मै पर के प्रयोग के स्वरूप अर्थात् भक्तिद्वारा ए किया गया है । परन्तु अर्थ तोनो का एक ही है ( ऐसा यीतार प १३ पृ ४३२-४३ ) । मात्र और कर्मयोग इन दोनों का एक ही आचार यह ब्रह्मात्मैक्यादि ही है । २ के लोक का पहला अर्थात् दुउँ लोके से मनुस्यादि ( १२ ११ ) महामारण ( या २६८ २१ और २६८ २२ ) और ठपनिपद ( ऐस ११ ईश १ ) मै भी पाता जाता है । हमने गीतारहस्यमें १२ वे प्रकरण मै विद्यारत्सवित विलक्षणा है कि सर्वभूतात्मैक्यशम ही उपम अध्या म और कर्मयोग एवं गूँह है ( ऐसो पृ ३८८ प्रथमि ) । यह ज्ञान ईश निना इन्द्रियनिमह एवं सिद्ध हो जाना भी अवैर्य है ; नीतिये अगले अध्यात्म के परमेश्वर का ज्ञान मत्तुनामा भारम्भ कर दिया है । ]

( ३१ ) ये एकत्वादि भावात् सर्वभूतमैक्यत्वादि को मन मै रख कर प्राणियों मै रहनकाल मुख्यों ( परमेश्वर की ) मज्जता है वह ( कर्म ) दोस्री सब प्रकार के कठवा

इह सकलप्रमाणान् कामास्तपकस्वा सर्वानशेषतः ।  
मनस्त्वेनिद्रप्राप्ते विनिपत्त्य समन्ततः ॥ २४ ॥

दर्शि शत्रुपरमद्वुद्या शूतिगृहीतया ।  
मात्मसंस्थं मन रूप्या न किञ्चिद्विपि विन्तयेत् ॥ २५ ॥

यता यता निष्ठरति मनस्त्वामस्तिथम् ।  
तत्कस्ततो नियम्यैतत्तामन्येव दशा नयेत् ॥ २६ ॥

इह प्रशास्त्रमनसं इति यामिनं सुखमुखमम् ।  
उपैति शास्त्राजसं व्रायमूलमक्लमषम ॥ २७ ॥

युग्मलेखं स्वाऽङ्गमानं योगी विगतक्लमषम् ।  
सुखाम व्रायसंसर्वमत्यन्तं सुखमान्तुते ॥ २८ ॥

( २५ ) तदृप्य से उपम होनेकाली सब कामनाओं अर्थात् बाधनाभा का निषेध त्याग कर और मन से ही सब "निद्राओं का चारा भार से स्थिर कर ( २ ) ऐरेयुक्त त्रुटि से भीरे भीरे जान्त होता जाये भार मन को आत्मा में भिंघर करके कोई भी विचार मन म न आने है । ( २६ ) ( "स रीति से चित्त को एकाग्र भरते हुए ) चक्र और अस्तित्व मन वहाँ बहा भाहर आए वहाँ वहाँ से रोक कर उठको आत्मा के ही स्वावीन करे ।

[ मन की समाधि ल्याने की निया का यह वर्णन कनोपनिषद् में भी गा रख की उपमा से ( कृ ३ ३ १ ) अच्युत व्यक्त होता है । जिस प्रकार उत्तम चारकी रथ घोड़ों को अधर उधर न छाने टेकर जीवे रास्ते से छे जाता है उसी प्रकार का प्रयत्न मनुष्य का समाधि के दिव्य करना पड़ता है । जिसने जिसी भौतिक पर अपने मन को रिष्यर लेने का अभ्यास किया है उसकी समझ में ऊपरवासे श्वेत का मम दुरस्त आ जाएगा । मन को एक और से रोकने का प्रयत्न करने व्यों दो वह वृक्षीय भोर जिसक जाता है और वह आडत से किना समाधि स्था नहीं सकती । अब योगाम्यास से चित्त रिष्यर होने का ये फूल मिलता है उसका वर्णन करत है - ]

( २७ ) "स प्रकार धान्तचित्त रथ से रहित निष्पाप और व्रायमूल ( क्लम ) योगी को उपम मूर्त प्राप्त होता है । ( २८ ) इच्छ रीति से निरन्तर अपना योगाम्यास सुनेकाण ( क्लम ) योगी पापा से घट कर व्रायसद्वोप से मात छोनेके भत्यत मूर्त का भानन्त रु उपर्योग करता है ।

गीतारामाणुवाच ।

असंशय महावाही मनो इर्जिष्ट अलम् ।

अस्यासेन तु कीन्तय विराम्येज च गृह्णतः ॥ ३५ ॥

अस्यासमना योगो इष्पाप इति मे मति ।

वस्यासमना तु यत्काशक्षेत्रपुमुपाप्तः ॥ ३६ ॥

| समाप्त का ही योग कहते हैं। अखुन की कठिनाएँ को मान कर भगवान् |  
| कहते हैं :- ]

गीतारामाणु ने कहा :- ( १ ) ऐ महावाहु अखुन ! इसमें सनेह नहीं कि मत  
पद्धति है और उचका निष्ठ फरना कठिन है । परन्तु ह कान्तिय ! अस्यात् और  
वैराम्य से वह स्वाधीन किया जा सकता है । ( ३६ ) मेरे मत में किसका अनुत्तरण  
काषू भ नहीं उचको च ( याम्युद्दिष्टम् ) योग का मास होना कठिन है । किन्तु  
अन्त बरथ को काषू में रख कर प्रयत्न करते रहने पर उपाय है ( इस प्रभ का )  
मास होना सम्भव है ।

[ तात्त्वर्थ पहले ओ द्यत कठिन दीन पर्ति है वही अस्यास से और  
दीप उच्चोग से अस्तु में लिङ् हो जाती है । किसी भी काम का वारदार फरना  
अस्यास कहलाता है वैराम्य का मतभ्य ह राग या प्रीति न रमना अवार्त  
प्रज्ञानिहीनता । पात्रप्रस्त्रयोगस्त्र में ही योग का इत्य वह व्यतालामा है नि -  
‘वोग्यमित्तिनिरोप’ – विच्छृणि के निरोप का योग कहते हैं ( जी अस्याम्य  
का वो क्षेत्र देखो ) और किर अग्ने स्त्र में कहा है कि अस्यास  
नेराम्याभ्या तमिराप – अस्यास भीर वैराम्य से चित्ताति का निरोप हा जाता  
ह । ये ही एव यैता में आय ह और अभिप्राप भी पही ह परन्तु उत्ते ही  
से पह नहीं कहा जा लक्षता कि यीता म ये शब्द पात्रप्रस्त्रयोगस्त्र से हिये यैं  
हैं ( यो गीतार परि ४ ३८ ) इस प्रसार यति मनोनिष्ठ वर्क समाधि  
स्थाना सम्भव ही और कुछ निष्ठी पुरुषा का एवं मरीने अस्यास म यति यह  
मिहि प्राप हा यहाँ हा तो यै भग यह दूरी गदा होती है नि प्रहनि  
स्वभाव क वारण भनेक लाग तो एव उन्मो म यै परमाकृष्ण में मही पहें  
सन्त – किर ऐम ऐम इन मिहि का व्यापर पाव । वर्याहि एव न्म मै किसा  
हा सरा उन्ना इन्द्रियनिष्ठ का अस्यास कर कर्मयोग का आन्दरण करने एवे  
ता यह मान नमय अपूरा ही रह रायगा और नगन न्म मै किर पद मे  
लार न कर ता किर लाग क ह म भ यै वही दात हायग । भवा भुज का  
दूरा प्रभ ह यि इन प्रसार क पुरुष क्षण करें ? ]

आत्मीयम्येन सूर्यम् समै पश्यति योऽर्जुन ।  
सुखं था शक्ति वा दूषक स यागी परमो भवतः ॥ ३२ ॥

ଅର୍ଦ୍ଧନ ଶ୍ରୀମତୀ ।

॥ याऽय यागस्त्वया प्राक्षः साम्यम् मधुष्टून् ॥

पद्मस्यार्थं प पद्मामि चचलत्यात्स्थितिं स्थिराम ॥ १५ ॥

अथवा हि मना इत्य प्रमाणि वस्तुतः ।

तस्यादृं निष्पद्य मन्य पायोरिख सुवृक्तरम् ॥ ३४ ॥

दुधा भी मुस्तम रहता है। (३२) हे भक्त ! मुग्ध हो पा दुध अपने तमान  
भारा की भी हीता है। ऐ ऐसी (भाग्योपम्य) दृष्टि से लक्षण देख से उगे वह  
(अम्) याही परम अपार्थ उम्मेद माना जाता है।

[ प्राणिमात्र में एक ही भावना है पर हरि साध्य और कमयाप्य  
गतों मायों में एक ही है। ऐसे ही पातञ्जल्याग में भी तुमाधि आव नर परमधर  
की पहचान हा अनेपर यही तात्पाद्यस्था प्राप्त होती है। परम्पुर साध्य और  
पातञ्जल्यागी इनी को ही सब कमों का साग इह है। अतः व ध्येयार में  
इस साध्यपुद्दि उपयाग बरन का मौका ही नहीं आता ऐसे। और गीता का  
कमयाप्य एवा न कर - अप्यात्मशन भ प्राप्त शुरु इस साध्यपुद्दि का ध्येयार में  
मी निषय उपयाग करक - इन्द्र ल तभी ताम ध्येयपद्म है जिसे किया करता  
है यही न इन शब्दों में हाँ भरी मत है। भार न्मी में इन अप्याद के अन्त में  
( गीता ५५ ) गत हो है जि तत्परी अप्यात्म पातञ्जल्यागी भीर इनी कर्त्ता-  
साध्यम ही इन लोगों भी अत्ता कमयाप्य भय है। गायत्र्याग के न यमन का  
गत वर गत भावन यह शब्द ही - ]

गुरु देवा - (३३) ६ मायुरन् मायप संघर्षा काम्पितुर्जु न प्राप्त  
१ नेत्राणि ॥ पह (५८) पाणि गुमन लाप्या मि नदी इस्ता वि (कली)  
२ नदा ॥ ५ रा ६ गिर रहेर् (३८) क्षणाः ६ दूषा पह मन चयन  
३ हैर्या ग्रन लोरे दृ ८ पद्मुक लमान (भयान दृष्टा वी रात्री द भन के  
४ शमन । इस्ता लिप्त दृष्टा - ८ नवां गुप्तर विद्या ॥

१६५ अमेरिका का यहाँ संप्रसारण इन  
में से दो वर्षों के अवधि ही भयंकर वर्षिका राष्ट्रासंघ  
की अद्यतीत दल भवारी का एक अद्यत दल संग शाही संप्रसारण  
का लाभ नहीं। वर्ष १८६५ में याद की जाती है कि अमेरिका की दली  
लाद हो रही है औ यह वर्ष १८६५-१८६६ की अमेरिका का

पार्यं भेदे ह नामुम् विनाशस्तस्य विषयं ।

न हि कल्याणात्कर्मिद्वयुर्गतिं तात्प गच्छति ॥ ४० ॥

प्राप्य पुण्यकृत्या लोकानुकित्वा इत्यर्थीः समा ।

शुचीनां भीमती गदे पोमध्नोऽभिजायते ॥ ४१ ॥

अथवा योगिनामेव कुरुते भवति भीमताम् ।

पतंजि इर्षमतरं स्तोके जन्म यद्विषयम् ॥ ४२ ॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लागते पौर्ववेदिकम् ।

यतते च ततो भूया संसिद्धौ कुरुतन्त्रम् ॥ ४३ ॥

पूर्णाम्यासेन तेनैव हिष्टे हत्याऽपि सः ।

गिहासुरपि योगस्य एव विवरते ॥ ४४ ॥

प्रयत्नाप्तमात्मस्तु योगी संशुद्धकिस्तिवा ।

अनेकजन्मसंसिद्धस्तो याति परां गतिम् ॥ ४५ ॥

[ के उक्त प्रश्न का भावान ने ये उत्तर दिया है, वह कर्मयोगमार्य सभी चाहनों का साधारणर्थित उपयुक्त हो सकता है :- ]

भीमान् ने कहा :- (४) हे पार्य ! क्या इस खोड़ में और क्या परदेश में ऐसे पुरुष का कर्मी विनाश होता ही नहीं । क्योंकि हे तात्प ! कल्याणकारक कर्म करनेवाले किसी भी पुरुष की तुर्गति नहीं होती । (४१) पुर्वकर्ता पुरुषों के मिस्त्रेशासे (स्वग आदि) ज्ञातों को पा कर और (वहों) बहुत बर्पों उक्त निवारण करके फिर यह योगद्वारा भर्यात् कर्मयोग से इह पुरुष परिवर्त भीमान् योगों के पर में अन्म बेता है । (४२) अथवा बुद्धिमान् (कर्म) योगिवा के ही कुस मैं अन्म पाता है । इस प्रकार का अन्म (इह) खोड़ में वहा दुर्भाग है । (४३) उसमें भर्यात् एव प्रकार प्राप्त हुए अन्म मैं वह पूर्वकर्ता के बुद्धिसंख्यर की पाता है । और देखुसन्तान । यह उससे भूया अथात् अभिष्ठ (योग-) दिविष्ठ पाने का प्रबल चरता है । (४४) अपने पूर्वकर्ता के उस अभ्यास से ही भक्षण भर्यात् अपनी इच्छा न रखने पर भी वह (पूर्ण दिविष्ठ भी और) नीचा जाता है । किसे (कर्म) योग की विशाळा (भर्यात् ज्ञान स्त्रों की एज) हो गा है वह भी एम्ब्राज के परे चल जाता है । (४५) (इस प्रकार) प्रयत्नपुरुष उयोग करत बरते पापों ते युद्ध होता हुआ (कर्म) योगी अनेक कर्मी के अनन्तर दिविष्ठ पा कर अन्म मैं उत्तम गति पा बेता है ।

[ अन अन्मो म योग यागद्वारा भीर योगी शक्ति कर्मयोग से भ्रष्ट और कर्मयोगी क अप म ही अपवहन है । क्यानि भीमान् कुस मैं अन्म बेते भी सिंहति | दूलरा को इह हीना सम्बन्धही ही ह । भावान् कहते हैं कि पहले ही (किना

भर्तुन उवाच ।

हुं अयति अद्य योपेष्टो योमावलितमामस ।

अप्राप्य योगसंसिद्धिं की मर्ति कृष्ण मच्छति ॥ ४७ ॥

कविश्वीमयविद्वस्तस्ताद्विद्वामिद अस्यति ।

अप्रतिष्ठो महावाहा विमृद्धो व्रक्षण पथि ॥ ४८ ॥

एतन्मे संशयं कृष्ण उपस्थित्येष्टोपदः ।

त्वम्य संशायस्यास्य उत्ता न हुपपथते ॥ ४९ ॥

भर्तुन ने कहा - ( ३० ) हे कृष्ण ! भडा ( तो ) हो एतन् ( प्रहतिलक्षण से ) पूरा प्रयत्न अपवा उबम न होने के कारण किज्जा मन ( साम्यतुमिद्यप क्षमयोग ) से बिचड चाहे वह योगसिद्धि न पा कर किस गति को अ पहुँचता है ! ( ३१ ) हे महाकाशु भीकृष्ण ! यह पुरुष मोहप्रस्त हो कर ब्रह्मपाति के मान म स्थिर न होने के कारण दोनों ओर से भ्रष्ट हो जाने पर छिप मिल शास्त्र के समान ( बीच मे ही ) नष्ट हो नहीं हो जाता ! ( ३२ ) हे कृष्ण ! मेरे "स सद्गुरुं को तुम्हे मी निश्चय दूर करना चाहिये । तुम्ह छोड़ कर "स सद्गुरुं को मिलनेवाला दूररा न हो न मिलेगा ।

[ यथापि नन् समाव मे व्यामम के नन् ( अ ) पह का साधारण अथ 'भमाव' होता है तथापि क- वार अस्य अथ मैं मी उत्तमा प्रयोग दुभा करता है । इस क्षरण ३७ वे स्तोत्र के अयति शब्द का अर्थ अर्थ अभाल् अधूरा प्रयत्न या सयम करनेवाला है । ३८ वे स्तोत्र मैं ये कहा है कि दोनों ओर का आभय कूट्य हुआ अपवा "तो भ्रश्वतो भ्रश्व" उप का अथ मी कर्मयोग-प्रबन्ध ही करना चाहिये । कम के ही प्रकार के एष हैं ( १ ) साम्यतुमिदि से किन्तु शास्त्र की भावा के अनुसार कम करने पर तो स्वग की ग्रासि होती है और ( निष्काम ) कुदि से करने पर वह कृष्ण न होकर मोक्षायक हो जाता है, परन्तु "स अधूरे मनुष्य को कर्म के स्वर्ग भागि काम्यफल नहीं मिलते । कर्मोऽक्षित्य देखा हेतु ही नहीं रहता और साम्यतुमिदि पूर्ण न होने के काम्य उसे मोक्ष मिल नहीं सकता । "सक्षिय अकुन के मन मैं शक्ता उत्पम हुर्व कि उसे देखारे को न तो स्वग मिल्य और न मोक्ष - कही उठकी ऐती रिखति तो नहीं हो जाती कि दोनों दिन ले ये पैदि इकुत्ता मिल न मैनि । वह शक्ता केवल पात्रकृष्ण योगस्थी कर्मयोग के लाभन के सिद्धे ही नहीं भी जाती । अगले अध्याय म लग्न दे हि क्षमयोगसिद्धि दे किये व्यावस्थक लाम्यतुमिदि कमी पात्रकृष्णयोग से कमी मौकि ले और कमी जन से ग्रास होती है । और किये प्रकार पात्रकृष्णयोगस्थी पह लग्न एक ही क्षम मैं अधूरा रह जाते हैं उसी प्रकार मौकि या लग्नस्थी लग्न मैं एक क्षम मैं अपुरुष रह जाते हैं । अतएव कहना चाहिये कि अकुन गी ८८

इह तपस्विमयोऽपिको योगी हानिम्याइपि भताऽधिकः ।  
कर्मिम्यद्वाधिको योगी तस्माद्योगी भयानुन् ॥ ४५ ॥

(४६) तपस्ती लोगों की अपवा (कम) योगी भेद है इनी पुरुष की अपेक्षा भी भेद है; और कर्मकार्यदाता की अपेक्षा भी भेद उभयना आता है। इच्छिये है भर्तुन् ! तू योगी अर्थात् कर्मवोगी हो।

[ ब्रह्म में जा कर उपवास भाड़ि घरीर को इशारायक झटी से अपवा हठयोग के सामना से खिदि पानेवासे लोगों को इह भौक में तपस्ती कहा है। और सामान्य रीति से इह शब्द का यही अर्थ है। 'हानयोगेन साक्षणा (गीता ३ ३) में वर्णित लोग से (अर्थात् लाल्यमाण) से कम छोड़ कर खिदि प्राप्त कर सेवेवासे लाल्यनिष्ठ योगों को हानी माना है। "सी मलार गीता २ ४२, ४४ और ८ ३ २१ में वर्णित निरे काम्यकम करनेवासे रक्षणरात्रय कमठ मीमांसको कमी कहा है। इन दीनों पन्था म से प्रत्येक यही कहता है कि हमारे ही मार्ग से खिदि मिलती है। जिन्हु अब गीता का यह कथन है कि तपस्ती हो चाहे कर्मठ मीमांसक ही वा हाननिष्ठ लोक्य हो इनमें प्रत्येक की अपेक्षा कर्मयोगी—अर्थात् कर्मयोगमार्ग मी—भेद है। और पहले यही खिदान्त अकर्म की अपेक्षा कम भेद है (गीता १ ८) एव कर्मठन्वात् की अपेक्षा कर्मयोग विदेय है' (गीता ८ २) इत्यादि भेदों में वर्णित है (ऐसो गीतार. प्र. ११ पृ. १९ ११)। और तो क्या ? तपस्ती मीमांसक अपवा स्थनमार्गी इनमें से प्रत्येक की अपेक्षा कर्मयोगी भेद है 'न्धीछिद्ये' पीछे जित मलार भर्तुन को उपदेश किया है कि योगस्थ हो कर कम कर (गीता २ ४८) गीतार. प्र. १ पृ. ५७) अपवा 'योग का आग्रह करके रखा हो' (४ ४२) उठी मलार यहाँ मी छिर स्थान उपदेश किया है कि दूर (अर्थ) योगी हो। वहि इस मलार कर्मयोग को भेद न मानें तो तस्मात् दूर योगी हो उस उपदेश का तस्मात् = 'न्धीछिद्ये पद लिरर्म्भ हो जावेगा। जिन्हु सम्यासमार्ग के दीक्षातारी को यही खिदान्त किए लीहृष्ट हो जाता है। अतः उन ज्ञेयों ने 'हानी सज्ज का अर्थ सज्ज तिका है और वे जाहे है कि अनी शम्भ का अर्थ है शन्दाहानी अपवा व लोग कि वो लिङ्कु पुल्लके पट कर शम्भ की लम्बी लोटी जाते छोटा करते हैं। जिन्हु यह अर्थ निरे साम्यवाप्ति आपाह अह है। ये दीक्षातार गीता के इस अर्थ को नहीं जाहे कि कर्म ज्ञेयवासे अनमार्ग को गीता कम अर्थ अह लगाती है। क्योंकि इहसे उनके उपरात्र को गोचता आती है। और 'सी छिर्य कर्मयोगो विशिष्टते (गीता ८ २) का भी अर्थ उन्होंने जाह दिया है। परन्तु उपरा पूरा पूरा निजार गीतारहस्य के ११ मे प्रकरण मे कर पुके हैं। अतः इस भौक का जो अर्थ इन्होंने किया है

हो सके उठना ) मुद्दुदि से कमयाग का भाचरण करना आसाम करे। पोषण ही क्यों न हो ? पर इस रीति से व्य क्षम किया जाएगा वही इस बन्म में नहीं तो भगवे बन्म में उस प्रकार अधिक अधिक सिद्धि मिलने के सिये उत्तरेत्तर कारणीभूत होगा और उमीदे अन्त में पुर्ण सद्गति मिस्ती है। 'इस बन का पोषणमा भी भाचरण किया जाय, तो वह वह मय से रक्षा करता है' (गीता २.४); और अनेक बनों के पश्चात् बासुदेव भी प्राप्ति होती है' (७.१९) ये साड़ उच्ची चिदानन्द के पुरक ह। अधिक विवेचन गीतारहस्य के प्र. १ पृ २८४-८७ म किया गया है। ४४ व सोक क शम्भवास का अध्य है।

ऐक्षिक पठयाग आदि काम्यकर्म क्याकि य क्षम वर्णित है और वेरों पर अद्य रक्ष कर ही निय व्यत है; तथा वेर भर्यात् सन सुष्ठि के पहले पहल का शम्भ बानी शम्भवस्थ है। अन्येक मनुष्य पहले पहल सभी क्षम काम्यदुदि से किया करता है। परन्तु इस क्षम से ईसी ईसी विद्युदि हो जाती है वेरों ही देसे भाग निष्कामदुदि से क्षम करन वी शम्भा होती है। ईसी देसे उपनिषदों मे आर महाभारत म मी (मिश्य. ३ २५ अमृतानिष्ठु १७ म मा शा. २६ ३ ६१ ४६ ..) यह बतान है कि -

इ व्यक्ति वेत्तित्वं सम्भव्यं पर च यत् ।

दाऽम्भानि निष्क्रियं परं स्वाविगच्छनि ॥

उनना पाहिय वि ब्रह्म वा प्रकार का है एक और दूसरा उससे पर वा (निग्रुप्त)। शम्भवस्थ मे विद्यान हा उन पर फिर इसस पर का (निग्रुप्त) ब्रह्म व्रात उठना है। शम्भवस्थ के काम्यकर्मों से उठना कर अन्त म सोनकम्बुद्ध क अध्य इसी क्ष्यों का करानवाने कमयाग की शम्भा होती है आर फिर तब इस निष्काम भवयाग वा बाटा धारा भाचरण होने लगता है। अनन्तर स्वम्भारम्भां वेमक्ष्य क न्याय से ही याता-वा भाचरण उम मान्य वा इन मान्य म खीरे फिर वीचला उठा है और उन म क्षम क्षम से दूष मिदि करा उठा है। ४४ वे शास्त्र मे जा यह बहा ह कि कमयाग के जा ज्ञे वी इस्ता होने स भी वह शम्भवस्थ क पर उठा ह उपका नामय वी यही है। क्याकि यह विद्या कमयागस्ती वर्तों का नु रे और एक एक इन वर्तों क नु मे एक उन वर पर (फिर इन बन मे नहीं का क्षमा वम्य म, क्षम न क्षमा) दूष मिदि विष्टी दे और वह शम्भवस्थ वा क व्यवहर वर्ते ज्ञा नहीं होता। एवं पहल उन उठना है कि यह विद्या एवं भावि का एक ही बन्म म विष्ट नहीं होगी। परन्तु उत्तरि दी वा व्याम पर उठना ह कि उद्द मी यह वह वह उत्तराम्भान्तर क उत्तरानर म ही ज्ञा है भव ववयोग का याता। भाचरण दृष्टि इदि विद्या व नाम शम्भवस्थ ह इत्य भविति उन मे मान्याति ने विष्ट एक ही स हारी ह भव वाय म्भान भवुन व वर्ते हि कि:- ]

[ के सापनों का इस अभ्यास में निरुपण किया गया । अन और महि मी अन्व चापन है । अग्ने अभ्यास से इनके निरुपण का आरम्भ होगा । ]

इस प्रकार भीमगत्वान् के गाये शुष्ट - अयात् कहे शुष्ट - उपनिषद् में ब्रह्मविद्वान्तमत् योग - अर्थात् कर्मयोग - धाराविद्ययः भीहृष्ण और अर्जुन के संघात में व्यानयोग नामक इन अभ्यास उमास शुभा ।

## सातवाँ अध्याय

[ पहले वह प्रटिपदन किया गया कि कर्मयोग साम्यमार्ग के उमान ही मोष्ट्यम है; परन्तु स्वतन्त्र है और उससे भेद है भीर यहि इस मार्ग का योग मैं आवश्यक किया जाय तो वह श्वर्व नहीं आता । अनन्तर इस मार्ग की सिद्धि के लिये आवश्यक इन्द्रियनिष्ठ करने भी रीति का वर्णन किया गया है । किन्तु इन्द्रियनिष्ठ से मठबूद्ध निरी ब्राह्मकिया से नहीं है । लिखके सिये इन्द्रियों भी पह कठरत करनी है उसका अज तक किचार नहीं हुआ । तीसर अभ्यास मैं भगवान् ने वह ही अर्जुन द्वे इन्द्रियनिष्ठ का पह ग्रयोक्त्वं करव्याह है कि काम-क्षेत्र आहि एतु इन्द्रियों मैं अपना घर बना कर शान-विद्यन का नाश करते हैं (१ ४ ४१) । इतिहास पहले तू इन्द्रियनिष्ठ करके इन द्वन्द्वों को मार डास । और लिखके अभ्यास मैं योगसुख पुरुष का पौ वर्णन किया है कि इन्द्रियनिष्ठ के द्वारा 'शनविद्यन' से दूस दुमा (६ ८) योगपुरुष समस्त प्राणियों मैं परमेश्वर को और परमेश्वर से उमस्त प्राणियों को देगता है (६ २१) । अठा वह इन्द्रियनिष्ठ करने की विधि करम तुम् तत् यह उत्तमना आवश्यक हो गया कि 'अन और विश्वन' किसे कहते हैं । भीर परमेश्वर का पूर्व शन हास्त कर्मों द्वे न ज्ञेष्ठते शुष्ट भी कर्मयोगमार्ग की किन विधियों से अन्त में निरुनिष्ठ मोक्ष मिलता है । लाठवं अभ्यास से लेन्द्र उत्तमे अध्याय के अन्तपर्वत्त - श्वार्य अभ्यासों मैं - इसी विषय का कर्त्तन है और अन्त के भद्रारहै अभ्यास मैं तत् कर्मयोग का उपस्थितार है । सुहि मैं भनेक प्रश्न के भनेक किनारान् परायों मैं पक ही अक्षिणीषी परमेश्वर उमा रहा है - इस समझ का नाम है 'शन' और एक ही नित्य परमेश्वर से विषिष्य नाशकान् परायों की उत्पत्ति को उमस्त लेना 'विश्वन' करम्याता है (गीता ११ १) । एव इसी क्षे त्वर का विचार करते हैं । इतिहास अपने घरीर मैं अर्थात् सेतु मैं किसे भाल्मा कहते हैं । उसके द्वावे स्वरूप को उन लेने के भी परमेश्वर के स्वरूप का योग हो जाता है । इस प्रश्न के विचार को लेन्द्रेन्द्रविष्वार कहते हैं । इनमै से पहले स्त-अस्तर के विचार का अर्जन करके फिर देवहै अभ्यास मैं लेन्द्रेन्द्रविष्वार के विचार का वर्णन किया है । यद्यपि परमेश्वर एव है

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।

सद्गतावान्मत्तते यो मां स मे युक्ततमो मत ॥ ४७ ॥

इति भीमद्वयवाहीवासु उपनिषद्मु द्रष्टविद्याया बौगदाते भीहस्ताकुनसंबोधे  
स्थानयोगो नाम पठोऽप्याय ॥ ५ ॥

[ उत्तर के विषय मे यहाँ अधिक चर्चा नहीं करते । हमारे मत मे यह निश्चिया है, कि गीता के अनुसार कर्मयोगमार्ग ही सब मे भेद है । अब भगवान् के स्तोत्र मे कठबलत है कि कर्मयोगियों मेंमी जैन-सा ठारतम्य-मात्र देखना पड़ता है - ]

( ४७ ) तथापि सब ( कर्म- ) योगिया मे मी मैं उसे ही सब मे उत्तम युक्त अर्थात् सच्च विद्व कर्मयोगी समझता हूँ, कि ये सुखी अनन्तशरण रख कर अहा से सुख्ये रहते हैं ।

[ इस स्तोत्र का यह मात्राय है कि कर्मयोग मे मी भक्ति का मेमपूरित मेल हो जाने से यह दोनी मात्रान् को अल्पन्तु प्रिय हो । "सच्च यह अर्थ नहीं है निष्काम कर्मयोग की अपेक्षा भक्ति भेद है । क्वोकि आगे बारहवें अध्याय मे भगवान् ने ही स्पष्ट कह दिया है कि ध्यान की अपेक्षा कर्मफलत्वाग भेद है ( गीता १२ १२ ) । निष्काम कर्म और भक्ति के समुदाय को भेद कहना एक बात है और सब निष्काम कर्मयोग की अर्थ कह कर भक्ति ही को भेद करना दूरी बात है । गीता का धिद्वान्त पहले हुँग का है; और भागवतपुराण का पहले हुँग का ह । मागवत ( १ ५ १४ ) मे सब प्रकार के कियायोग को भात्तविद्यात्मक निश्चित कर कहा है -

कैपर्म्यमप्यच्छुतमात्रविनिः च शोमर्ते शाकमर्ते निरञ्जनम् ।

नैषकम्य व्याहात् निष्काम कर्म मी ( माग. ११ १ ४३ ) किना भगवान्मति के शोमा नहीं बहा, वह अप्य ये ( माग. १ ८ १२ और १२ १२ ८२ ) । इहसे अल्प होगा कि मागवतपुराण का ध्यान के समान भक्ति के ही ऊपर होने के बारम्ब ये कियोग प्रशङ्ख पर भगवान्नीता के मी भगव तैरी जौन्ही भरते हैं । किया पुराण का निष्काम "य समाज से किया गया है" भगवान्मति म और "उसे मीता म मी भक्ति का तैरा करन होना आहिये तैरा नहीं हुआ" उसी परि उक्त चर्चाओं के तमान और मी कुछ बाते दिक्क लो कोई आश्वय नहीं । पर हमें लो देखना है गीता का ठात्स्वयं; न कि मागवत का कथन । दोनों का प्रयोगन और सम्बन्ध भी मिल प्रिय है । इष्ट कारण बात बात मे उनकी प्रकाशक्षयता करना उचित नहीं है । कर्मयोग की तात्पर्य तुक्ति प्राप्त करने के स्मित किन साक्षात् की भाववक्ष्यता है अमर्म मे पात्रहस्त्योग

मनुष्याणां साहस्रेषु कल्पित्वाति किञ्चये ।

यत्कामपि खिद्धामां कर्मिन्मां वेति तत्त्वतः प्रति ॥

है (देखो गीतार्थ प्र १४ पृ ४६)। न ऐतिहासी स्थोक में, प्रसुत गीता में अन्यत भी कर्मयोग को स्मर्य कर के शब्द आये हैं—‘भयोगमापितः’ (गीता १२ ११) ‘भत्यर’ (गीता १८ ५७ और ११ ५५) अतः इन विषय में क्यों यहाँ नहीं चहरी कि परमेश्वर का आधम करके किस योग का आचरण करने किम्बे गीता कहती है वह वीक्षे के छँ आधामी में प्रतिपादित कर्मयोग ही है। कुछ योग विज्ञान का अर्थ अनुमतिक विज्ञान अथवा ब्रह्म का साक्षात्कार करते हैं। परम्परा उपर के कम्नातुवार हमें यह देख होता है कि परमेश्वरी ज्ञान के ही समाहित्य (ज्ञन) और स्वाहित्य (विज्ञन) के दो भेद हैं (गीता १३ ३ और १८ ८ देखो)। दूसरे स्थोक—फिर और कुछ मी ज्ञानने के किम्बे नहीं एवं यता’—उपनिषद् के भावार से किम्बे गये हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में खेतकृतु से उनके बाप ने वह प्रभ किया है कि ये न अविद्यत विजातं मवति—वह क्या है कि विजु एक के ज्ञान सेने से सद कुछ ज्ञान किया जाता है। और फिर आगे उक्ता इस प्रकार युक्त्वा किया है—  
यथा शीर्षकेन मूर्तिष्ठेन सद्य मृष्टय विज्ञात स्पादाचारमन्त्र विजारा नामधेयं मूर्तिष्ठेय उत्सम् (अ ३ १ ४)—है तात् ! विष्व प्रकार मिही के एक योक्ते के भीकरी भेद की जाल लेने से यह दो जाता है कि ऐप मिही के पार्वे उठी मूर्तिका के विकित नामरूप जारण करनेकासे विकार है। और कुछ नहीं है उठी प्रकार ब्रह्म को ज्ञान सेने से दूसरा कुछ मी ज्ञानने के किम्बे नहीं रहता। मुण्डक उपनिषद् (१ २ १) में मी भारत्म में ही यह प्रभ है कि किसिमन्मु भगवो विज्ञते तर्वमिति विजातं मवति—विसका स्वन ही ज्ञन से अन्य तत्र वसुन्नो का ज्ञान ही जाता है। इसके स्वप्न होता है कि भौत बेगन्त का पही तत्त्व पहीं अभिवेत है कि एक परमेश्वर का ज्ञनकिम्बन ही जाने से इन जाल में और कुछ मी ज्ञानने के किम्बे एवं नहीं जाता। क्योंकि जाल का मूलतत्त्व वो एक ही है। नाम और रूप के भेद से वही सबत लमाका युभा ह। विजा उनके और वीर दूरी वसु युनिया में है ही नहीं। वहि देना न हा ता दूसरे स्थोक की प्रतिक्ष वार्ता मही होती। ]

(३) इन्हीं मनुष्यों में काइ एक भाव ही किंडि पाने का यत्न करता है; और प्रयत्न करनेकासे इन (भनक) किंदि पुराणी मैं स एक भाव का ही मेरा तथा हान हो जाता है।

[ यान १६ फि यहीं प्रयत्न करनेकाके का यत्न कि दि पुराण कह दिया है तथापि परमेश्वर का ज्ञान हा ज्ञान पर ही उन्हि किंडि ग्रात होती है। भावपा

## सप्तमोऽध्याय ।

श्रीमगवानुवाच ।

मध्यासकमनाः पार्थं योर्म् युठग्नमद्विषयं ।

असंशयं समर्थं मौ यथा कास्यसि तप्त्वृषु ॥ १ ॥

हान लेष्व सविश्वामिवं पश्याम्भेषतः ।

यज्ञात्वा मेह भूयाज्ञ्यज्ञात्व्यमविष्यते ॥ २ ॥

तपापि उपासना की हारि से उत्तमं हो भेद होते हैं । उनका भाष्यक स्वरूप केवल शुद्धि से प्राप्त करने योग्य है और यक्ष म्वरूप ग्रत्यक्ष अव्यगम्य है । भवतः इन शानी मांगों वा विषियों को इसी निरूपण में उत्तमना पान् कि शुद्धि से परमेश्वर का हैसे पहचान ! और अद्वा वा भक्ति से यक्ष म्वरूप की उपासना करने से उत्तमे द्वारा भाष्यक का हान हैमे हाता है । एव इस समूचे विवेचन म यति यारह भाष्याय लग गये कोइ अवश्य नहीं है । इसके सिवा इन दो मांगों से परमेश्वर के शान व माप ही इन्द्रियनिप्रह भी आप ही-आप हो जाता है । भवतः केवल इन्द्रियनिप्रह करा देनेवाले पातङ्गस्योगमाय की अपेक्षा मोक्षवस्त्र म हानमात्र और मदिमात्र की योग्यता भी अधिक मानी जाती है । को मी गमण रह कि वह तारा विवेचन क्षम्यागमय के अप्याइन का एक अद्य है वह अवतन्त्र नहीं है । अयात् गीता के पहले छ भाष्याया मैं कम दूरे पर्याम भक्ति भीर तीसरी पात्त्वायी मैं शान इत्य प्रसार गीता के जा तीन स्वरूप विषयग विद्ये जाते हैं वे तत्त्वान् दीर्घ नहीं हैं । सूक्ष्मान ले ऐसे मैं ये तीनों विषय गीता मैं आये हैं तभी परन्तु व सद्वत्त्र नहीं हैं । तिनु कर्मवेग के भावों के कृप से ही उनका विवेचन किया गया है । इस विषय का प्रतिशासन तीतारहस्य के वीक्ष्यन्ते प्रसरण (४ ४५-४६) मैं किया गया है । इनमिये यही उनकी पुनरावृति नहीं करत । अब ऐसा पाहिये कि कात्य भाष्याय का भारतम् मावाम विन प्रकार करते हैं । ]

भीक्ष्मान न वहा - (१) हे याप ! मुमा मैं वित्त लगा कर भार मेय ही आध्य वरके (कम ) याम का भावरूप करते हुए मुमा तिन प्रसार से या वित्त विवित त्र मेरा गुम और तप्त्वरित्वन इन हान उम उन (२) वित्तनकमत इन गुरु रम का मैं गुस्त अद्वता हूँ कि वित्त इन स्त्रे मैं इत्य स्वद मैं विर भीर गुण मैं विष्ये नहीं रह जाता ।

। [ पहल कर्म के भरा ही भाव्य वरद इन हाना मैं भार विग्रह कर । याम य न प्रद्य हाता है कि पहले व भाष्यायी मैं वित्त विष्योग भी । वित्त व विष्ये ही भाव्य इन वित्त वहा है - भाव्य वर ग नहीं विष्यता ।

इति गिर्वाणमैर्भौद्रेभिः सर्वमिदं जगत् ।

माहितं नामिकामाति मामेष्य परमधर्म ॥ १३ ॥

हेवी हेवा गुणमयी मम माया तु एष्या ।

मामेय ये प्रपञ्चते मायामेत्य तरन्ति ते ॥ १४ ॥

न मा तु पृथ्विमो सूक्ष्म प्रपञ्चते भावमात्मा ।

माय्यापात्रतामा आसुरं भावमाभिताः ॥ १५ ॥

(१३) (उत्त, उच्च और तम) इन तीन गुणात्मक मात्रा से भर्त्यात् पश्चात्  
मोहित हो कर यह लाय सन्धार इनसे परे के (भर्त्यात् निर्गुण) मुक्त भवन  
परमेश्वर) की नहीं अनवा ।

[मात्रा के सम्बन्ध में गीतारहस्य के ९ वें प्रश्नण में यह विवाचित है,  
कि माया अथवा अशान गिर्वाणात्मक देहेनिय का भर्त है न कि भावमा च ।  
भावमा सो अनमय भीर नित्य है । इतिर्वा उसको भ्रम में ढाढ़ती हैं – उसी  
भौद्री विद्वान्त के अपर के भ्रम में छहा है । (ऐसो गीता ७ २४ और  
गीतार प्र. ५, ६ २४७-२४९)]

१४) मेरी पह गुणात्मक और दिष्य माया तुल्य है । भर्त इस मात्रा के पार  
र आते हैं जो मेरी ही धरण में आते हैं ।

[“ससे प्रकृत होता है कि साम्यादान की गिर्वाणात्मक ग्रहणि को ही गीता  
में मात्रात् अपनी माया कहत है । महाभारत के नायवनीबोपाय्याम में बदा है,  
कि नासद को विवरण दिक्षम् कर अन्त मै भवान् तोहे, कि –

मात्रा हेवा मता दद्य दस्मी पश्चसि नासद ।

सर्वशूल्यौद्वैर्भौद्रे भैव त्वं गतुमर्देति ॥

हे नासद ! तुम किंते हेव रह हो वह मरी उत्पम की तु र माया है । तुम मुझे  
उन प्राणियों के गुण से पुरु भर उमर्त्य (गा. २४९, ४४) । वही विद्वान्त  
अब यहाँ भी अत्यधा गया है । गीतारहस्य के ते और ते प्रश्नण मैं  
कहा दिया है कि माया क्वा वीत है ? ]

१५) माया न विनष्ट ज्ञान नह कर दिया है ऐस भूद और तुष्टिमी नरापम  
भावुकी तुदि मै पह कर मेरी धरण में नहीं आते ।

[यह अन्त दिया कि मात्रा म तु रहनेवाले स्वेग परमेश्वर को भूष  
जात है भाव नह हो जाते हैं । अब ऐसा न रहनेवाले भर्त्यात् परमेश्वर की  
धरण म य कर उक्ती मध्यि रहनेवाले भर्त्यात् का बर्तन करते हैं ।]

६६ मूमिरापोज्ज्ञां वासुं सं मनो तुद्धिरेष च ।  
 आहौक्तर इतीर्थ मे भिजा प्रदृशितिखण्डा ॥ ४ ॥  
 अपरयमितस्तत्त्वान्यां महति विद्धि मे पराम् ।  
 शीवमूर्ती महावाहो यथेष्व धार्यत लम्बत् ॥ ५ ॥  
 पतायोमीनि भूतानि सर्वाणीसुपचारय ।  
 अर्हं कृत्स्नस्य वगतः प्रमद्य ग्रहयस्ताप्ता ॥ ६ ॥  
 मतः पश्चात् लाम्बत् किञ्चित्कृतिं धरनेतय ।  
 मयि सर्वमिति प्रोते त्वं भविगणा इव ॥ ७ ॥

[ नहीं । परमेश्वर के लक्ष्मन के द्वारा असुर-विचार और लेखोऽग्रह-विचार दो भगवान् हैं । उनमें से अब द्वारा असुर-विचार का लाभम् छठते हैं । ]

(४) दृष्टि अल अभिवासु, भावाद् (ये पौर्व सूक्ष्म भूत), मन, तुद्धि और अहौक्तर इन आठ प्रकारों में मेरी प्रदृशिति विभागित है । (५) यह अपरा भर्यात् निज्ञ भ्रेणी श्री (प्रदृशिति) है । हे महावाहु भर्युन् । यह जानो कि इसके निज्ञ लम्बत् की पारम्पर्य करनेवाली परा भर्यात् उत्तम भ्रेणी श्री शीक्षनस्तस्मी मेरी वृद्धिर्हति है । (६) समाज लक्ष्मी कि इन्हीं लोगों से सब प्राप्ती उत्तम होते हैं । उसे लम्बत् का प्रमाण भर्यात् मध्य प्रदृश्य भर्यात् भर्यत् मैं ही हूँ । (७) हे चन्द्रजप । मुझ से परे और कुछ नहीं है । जागे मेरे विरोद्ध हुए मणियों के लमान मुझ में यह तत्त्व गैरा आमा ह ।

[ इन चारीं क्षेत्रों में सब द्वार-भावशरण का सार भा गया है और भगवान् भ्रेणी म इसी का विस्तार किया है । सर्वप्रथास्त्र में सब सुहित के अपेक्षन अर्थात् बट्टमहति और लक्ष्मन पुरुष मेरे दो स्वतन्त्र तत्त्व लक्ष्मा कर प्रतिपाद्धन किया है कि उन दोनों तत्त्वों से पार्यत उत्तम हुए - इन दोनों से परे शीक्षण लाभ नहीं है । परन्तु गीता का यह द्वेष मद्दृश नहीं । भर्त र्हात्मक भ्रेण मैं वर्णन किया है कि इनमें बट्टमहति निज्ञ भ्रेणी श्री विभृति है और श्री भर्यात् पुरुष भ्रेणी श्री विभृति है । और कहा है कि उन दोनों से समस्त स्पाकर बहम तत्त्व उत्तम होती है । (भग्य गीता १३-२६) । इनमें से शीक्षभूत भ्रेण प्रहति का विस्तारकार्त्ति विचार लेखन की दृष्टि से भाग द्वेषहृदय अध्याय में किया है । भव रह गई बन्धवहति । ता गीता का लिङ्गान्त है (श्लो गीता २७) । कि वह स्वतन्त्र नहीं; परमेश्वर की अप्यध्याता में उत्तम लमस्त सुहित की उत्तमिति होती है । सन्दर्भ गीता में प्रहति की स्वतन्त्र नहीं माना है तत्त्वादि लाम्ब्यधात्र में प्रहति के लो मेत्र है । उन्हीं को कुठ हैरफ़र के गीता में प्राप्त वर लिया है (गीतार. प्र ८ पु १८०-१८१) । और परमेश्वर से माया के

इति रसोऽहमप्तु कौन्तेय प्रमासिम शक्षिपूर्ययोः ।  
प्रकल्पं सर्ववदेषु शक्ता से पौरुषं ह्यु ॥ ८ ॥

इस अध्याहति उत्पत्ति हो जुने पर (गीता ७ १४) साक्ष्या का किया हुआ पह वजन कि प्रहृति से सब पदार्थ देसे निर्मित हुए अर्थात् गुणोऽर्थं का तत्त्व भी गीता को मात्र है (देखो गीतार प्र. ९ पृ २५४)। साक्ष्यों का कफ्फन है कि प्रहृति और पुरुष मिल कर तुक पञ्चांश तत्त्व है। इनमें प्रहृति से ही ऐसा तत्त्व उपलब्ध है। इन तेर्तुस तत्त्वों में पौरुष स्वृक्ष भूत इस इन्द्रियों और मन वे थोड़ा तत्त्व शेष सात तत्त्वों से निकले हुए अषात् ऊनके विकार हैं। अद्यप्य यह विचार करते समय (कि 'भूत्यत्वं किलने हैं') इन थोड़ा तत्त्वों को छोड़ देते हैं और न्हैं छोड़ देने से बुद्धि (महान्) आहङ्कार और पञ्चतन्, मात्राएं (सम्भास्तु) मिल कर सात ही मूलप्रहृति करे रहते हैं। साक्ष्याद्याम में नहीं गीता को 'प्रहृति विहृति' कहते हैं। ये सात प्रहृति विहृति और मूल प्रहृति मिल कर अब आठ ही प्रकार की प्रहृति हुई और महाभारत (शा ३१ १ - १५) में नहीं को अष्टाप्रहृति कहा है। परन्तु सात प्रहृतिविहृतियों के सात ही मूलप्रहृति की गिनती कर लेना गीता को योग्य नहीं बता। क्योंकि ऐसा करने से यह भेद नहीं निष्पत्त्या याता कि एक मूल है और उनके सात विकार हैं। इसी से गीता के "स कर्मिकरण म - कि सात प्रहृतिविहृति और मन मिल कर अष्टाप्रहृति है - और महाभारत के कर्मिकरण में थोड़ा-सा भेद किया गया है (गीतार प्र ८ पृ १८४)। सारांश यद्यपि गीता को साक्ष्यकार्य की स्वतन्त्र प्रहृति स्वीकृत नहीं रखा परि स्मरण रहे कि उसके अगस्ते विकार का निरूपण देनेंन्ते बस्तुतः उमान ही किया दे। गीता के उमान उपनिषद् मैं नी करन है उमान्त्वतः परायम से ही -

परामात्मातां प्राप्तो मनः सर्वेभित्रवद्यते च ।

त्वं बासुर्योऽपिराप्तं शूषिती विषयं वासिणी ॥

इति (पर पुरुष) से प्राप्त मन सब इन्द्रियों, भाकाश वातु भवि ऊपर और विष की भारण करनेवाली दृष्टि - से (उप) उत्पत्ति होते हैं (मुण्ड २ १ १ वे ३ १६ प्रभ ६ ४)। अधिक बातना दो तो गीतारहस्य का ८ वाँ प्रकरण होगो। जीवे भौति में कहा दे कि दृष्टि भाव प्रहृति पञ्चतन्त्र में ही है - और भव यह कह कर कि इन तत्त्वों में जो गुण हैं वे यीं मैं ही हैं - क्योंकि इन कर्मन का आवीकरण करते हैं कि से उप पदार्थ एक ही जागे मैं मणिकर्णी के उमान पिराये हुए हैं - ]

(८) हे व्यक्तिय ! उम मैं रुप मैं हैं। अमृतनुव की प्रका मैं हैं। उप देहों मैं प्रणव नवांत भक्तार मैं हैं। भाकाश मैं घट्ट मैं हैं और ऊपर पुरुषों का वीक्ष्य

६६ चतुर्थिंशा मन्त्रे मी अमाः सुकृतिमोऽर्जुन ।

आतो निश्चास्तुर्थार्थी हानी च भरतर्थम् ॥ १५ ॥

तेषां हानी मित्यप्युक्त एकमकिविदिष्यते ।

प्रियो हि हानिमोऽत्यर्थमदं स च मम प्रियः ॥ १६ ॥

उदाहरं सर्वं पैते हानी त्वासैय मे मतम् ।

आस्तिसा स हि युकात्मा मामेषानुसर्मा गतिम् ॥ १७ ॥

षष्ठी गन्मनामनत हानयात्मर्मा प्रपद्यत ।

वासुदेवं सर्वभिति स महात्मा सुरुद्धमः ॥ १८ ॥

( १६ ) हे भरतभेद अर्जुन ! भार प्रधार के पुण्यतमा ओग मेरी मर्कि किया करते हैं - १ आत अमात् रोग से पीडित २ निश्चासु अमात् इन प्रात कर लेने की इच्छा करनेवाले ३ अर्थार्थी अर्थात् इच्छ आति काम्य वाचनार्थी का मन मेर रामेषाले और ४ हानी अर्थात् परमेश्वर का शन पा कर इत्वाप हो जाने से आगे कुछ प्रात न करना हो तो मी निष्कामबुद्धि से मर्कि करनेवाले । ( १७ ) इसमें एक मर्कि अमात् अनन्यताव हे मेरी मर्कि करनेवाले और सौदै युक्त यानी निष्काम बुद्धि से करनेवाले हानी की बोग्यता विदेष है । हानी को मैं अस्त्वत् प्रिय हैं; भार अनी मुझे ( अस्त्वत् ) प्रिय है । ( १८ ) ये सभी भाष्ट उदार अमात् अप्ते हैं परन्तु मेरा मत है कि इनमें हानी को मेरा भाग्य ही है । क्योंकि मुक्तविष हो कर ( उद भी ) उत्तमोरुच्च यतिष्वाप मुहमै ही वह उहरा रहता है । ( १९ ) अनेक अर्थों के अनन्तर यह अनुमत हो जाने से - कि 'जो कुछ है वह उद वामुदेव ही है' - इनामान् मुझे पा देता है । ऐसा महात्मा अस्त्वत् दुरुम है ।

[ भर अद्वार की इष्टि से मात्तान् ने अपने स्वरूप का यह शान घटाय दिया कि प्रहृति भी एक पुण्य देना मेरे ही स्वरूप है और चारा भी एकता से मरा है । इनके बाय ही मात्तान ने क्वपर जो यह कामाया है - कि इन स्वरूप की मर्कि करने से परमेश्वर की पहचान ही ग़ती है - उसक तात्पर्य को मर्मी मर्मिति गमण राजना जाहिये । उपाराजना तमी को जाहिय । फिर याह व्यक्तिर्की करी पाए अर्थात् की । परन्तु यपक की उपाराजना तुम्ह इन्हें के कारण यहाँ उठी का बन है भी उभी का नाम मर्कि है । उपायि स्वापबुद्धि को मन मेर राम कर किनी कियेह हेतु के किय परमेश्वर की मर्मिति करना निष्क्रमेती की मर्कि है । परमेश्वर का शन जाने के हेतु ले मर्कि करनेवाले ( निश्चासु ) को मी सदा ही कमात्मना जाहिय । क्याकि उठवी दिवाकुम्भ-भरत्या से ही व्यक्त हस्ता है कि भीमी उद उठवी परिणग इन नहीं रामा । उपायि वहा है कि ये उद मर्कि करनेवार्थे हानि

इहु विगुणालम्बयेर्मीदेहेभि सर्वमिदं जगत् ।

मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमध्यम् ॥ १३ ॥

ऐकी होषा गुणमयी भम माया द्वरप्यया ।

मामेव ये प्रपञ्चन्ते मायामेतां तर्पित ते ॥ १४ ॥

म मां दुष्कृतिमो मूढाः प्रपञ्चन्ते नराप्यमाः ।

मायापाद्वासामा आसुरं मावमाभिताः ॥ १५ ॥

(१३) (सत्त्व रब और तम) इन तीन गुणालम्ब घटों से अर्थात् पदार्थों से मोहित हो कर यह लाय सच्चार इनसे परे के (अर्थात् विगुण) मुख भव्य (परमेश्वर) को नहीं द्यनवा ।

[माया के उल्लङ्घन में गीतारहस्य के ९ वें प्रश्नण में यह विद्यान्त है, कि माया भव्यका अल्पन विगुणालम्ब देवनिष्ठ का भर्त है न कि भास्त्रा का। भास्त्रा को रूपमय और नित्य है। इन्हीं उल्लो घटमें वास्त्री हैं—उठी अदृती विद्यालक्ष को ऊपर के औड में कहा है। (देखो गीता ७ २४ और गीतार. प्र. १ पृ २४३-२४९)]

(१४) मेरी वह गुणालम्ब और दिव्य माया दुख्तर है। भरा इह माया को बे पार कर दूर है वे मेरी ही धरण में भावते हैं ।

[इस प्रकार होता है कि साम्बद्धास्त्र की विगुणालम्ब प्रवृत्ति का ही योग में मग्नान् भावनी माया कहते हैं। महाम्प्रत के नारायणीयोगालम्बन में कहा है, कि नारद का विश्वप्य दिव्यत्व कर अन्त में मग्नान् देखे, कि ।—

माया होषा मया सूक्ष्मा यथा पद्यभि वस्त ।

मर्त्यालगुणिगुणं दैत च ज्ञातुमहये ॥

हे नारद! तुम किन देव रहे हो यह मेरी उल्लभ की द्वार माया है। तुम मुझे तप श्रावियों के गुण से पुछ मैं समझा (शा. ११५ ४४)। वही विद्यान्त भव यहाँ भी कल्पना गया है। गीतारहस्य के १६ वें भीर १६ वें प्रश्नव में कल्पना दिया है कि माया क्या चीज है?]

(१५) माया न विनाश द्वन नह कर दिया है एव मूर्त भीर दुष्कृती नराप्यम भासुरी दुष्टि मै वट कर मेरी धरण में नहीं भावत ।

[यह अन्त दिया कि माया म इव रहनेवाले लोग परमेश्वर का भूत जात ह भार नह हा यहत ह। भव ऐका न करनेवाले अर्थात् परमेश्वर की धरण में य कर उसकी यकि करनेवाले स्त्रीगों का वर्णन करते हैं ।]

पुण्यो गच्छः पूर्थिष्या च तेजस्वास्मि विमावसौ ।

जीवने सद्यमृतेषु तपस्वास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥

वीरं मा सद्यमृतानां विद्धि पाप्य सनातनम् ।

इदिवुद्धिमतामस्मि तजस्तमस्यिनामहम् ॥ १० ॥

वस्तु वलयतामस्मि क्षमरागविषर्जितम् ।

धमाविकदा भूतेषु क्षमाऽऽस्मि मरतापम् ॥ ११ ॥

ये वीय खालिका भावा राजसालामसाद्य य ।

मत्त पर्यति तान्विद्धि म त्यहं तपु त मयि ॥ १२ ॥

मै हूँ। ( ) इसी मै पुर्वग्रन्थ अथात् सुग्रीव एव भूमि का तेज मै हूँ। सब  
प्राणियों की बीकनशक्ति भीर तपस्वियों का तप मै हूँ। (१) है पाप !  
मृतों तक प्राणियों का उनातन वीज उम्रतः। शुद्धिमानों की शुद्धि भीर तप  
त्रिया का तेज मै हूँ। (२) काम (कारना) भीर राग अथात् विषद्वस्त्रिक  
(इन दोनों का) पर वर वस्त्रान् सारों का तप मै हूँ; भीर है मरतभर ! प्राणियों  
मै - पम के विष्व न राजेवासा - काम भी मै हूँ। (३) भीर यह उम्रत कि  
ये कुछ तान्त्रिक राहत या ताम्रत भव अथात् परापर है, ऐ सब मुस्तु ही हुए हैं।  
परम्परा भूलम्बे हैं; मै उनम् नहीं हूँ।

[ के मुख्यम् हैं मै उनम् नहीं है इनका भप द्वा ई गम्भीर है।  
पहला भपान् प्रस्तु भप यह है नि तथी परापर परमेभर ने ब्रह्मपुर हुए हैं।  
इत्यन्विषय प्राणियोंम् शारी के उम्रान् इन पाणियोंका गुणभयम् मी वदयि परमेभर ही  
है तपाति परमेभर की व्याप्ति इसी मै नहीं तुर जाती। नमामना चाहिय दि  
इत्यन्विषय वर इनक पर मी यही परमेभर है भीर यही भप भागे इन  
उम्रान् उम्रान् का मै उक्तोष भ व्याप वर रहा है। (गीता १ ४०) इन श्वोऽ  
मै वर्णित हैं परम्पुर इन्द्र भवितिक्त दूरसा भी भप नै प दिविल रहता है।  
वह यह वि भिन्नुलाभव उम्रान् का नामान् व यद्यपि मुलने भिन्नुल आपा दीपा परता  
है तपाति वह नामान् भेर भिन्नुल व्यवय मै नहीं रहता भीर इन दूर भव  
वा भन मै इन वर नामान् वा भूमायः ( - ४ भाग ५ ) इस्तर् परमेभर  
की भवर्विषय इन्द्रिया व इन्द्र विषय है ( गीता ११ १२-१३ ) ; इन वर  
वही परमेभर की इदंति नामान् उम्रान् भी भवित वा भवता है वि परमेभर  
के तक भवत वा वट्टान्नन के वि व इन पर्विषय उम्रान् मै नै वर भव व्यापिद;  
भीर भव इसी भप व्यापा दीपान् उम्रा ५ - ]

६५ क्षमेस्तैस्तीर्दितशास्त्रः प्रपञ्चन्तेऽन्यदेवता ।

त ते निष्पमास्त्याय प्रहृत्या नियताः स्वया ॥ २० ॥

यो या यां यां तनुं भक्तं अद्ययार्थितुमिष्ठाति ।

तस्य तस्याच्छां अद्यां तामव विद्याम्प्रहृत् ॥ २१ ॥

[ के कारण उगार अर्थात् अप्ते मार्म है ज्ञानेवासे हैं (स्मे १८) पहले तीन श्लोकों का साहसर्य है कि शनप्राप्ति से हठार्थ हो करके किंवै इस ज्ञात् में कुछ करने अपवा पाने के स्थित नहीं रह जाता (गीता १ १७-१९) ऐसे इनी पुरुष निष्पम-  
कुद्धि हो जो भक्ति करते हैं (महा १ ३ १) वही सब में भेद है। प्रस्ताव नारद आदि भी भक्ति इसी भेद भेदी भी है; और इसी हो मामवत में मक्ति का अवध मार्कियोग अर्थात् परमेश्वर की निर्देशक और निरन्तर मक्ति माना है [ माग १ २९ १२] और मीठाप्र ११ पृ ४१२-४१३ । १० वै और ११  
वे श्लोक के एकमध्ये और बासुदेव पद मामवतमर्म के हैं। और यह कहने में कोई सहित नहीं कि मक्ता का उक्त उभी वर्णन यागवतमर्म वह ही है। श्लोकों  
माहामारत (शा १४१ १३-१५) में इस दर्म के वर्णन में अनुर्ध्व भक्तो अवस्थेव करते हुए यहां है कि -

अनुर्ध्वा मम जना भक्त्या एव वि मे भुषम् ।

तैपमेकामितिः वेदा वे वैवाक्षम्यदेवता: ॥

जाह्नेव गतिस्तेषां विरतीः कर्मारिष्म ।

वे च लिष्यस्त्वो भक्ता अक्षम्यमा दि वे मता: ॥

सर्वे अवतावसीस्ते प्रतिक्षुप्रसु वेदमात् ।

अनन्तदैवत और एकान्तिक भक्त किंवै प्रकार 'निराशी' अर्थात् अन्यथारीत कम करता है उस प्रकार अन्य तीन भक्त नहीं करते। वे कुछ न कुछ हेतु मन में रख कर मक्ति करते हैं। 'सी से वे तीनों अवकाशीस हैं; और एकान्ती प्रति दुद (चनकार) है। एव आगे 'बासुदेव शम भी आध्यात्मिक घुत्याचि भी भी है - सर्वमूराधिष्ठात्व बासुदेवस्त्वो जाहम् - मैं जात करता हूँ। इसी से मुझों बासुदेव कहते हैं (शा १४१ ४)। अब यह वर्णन करते हैं कि वही सर्वत्र एक ही परमेश्वर है तो कोग मिल डेवताओं की उपाखना क्यों करते हैं। और देसे उपाखनों को क्या फ़ूल मिलता है! ]

(२) अपनी अपनी प्रहृति के निष्पमानुसार मिल मिल (स्मैं आदि  
पक्षा भी) कामवातनाओं से पापल हुए जीव मिल मिल (उपाखनाओं के) निष्पमी  
अपाप वर वूसौ डेवताओं को मरते रहते हैं। (२१) जो मरते किंवै रूप भी  
अर्थात् डेवता की भद्रा से उपाखना किया जाहटा है उसकी ऊपी भद्रा को मैं

१६ चतुर्विंशा भजन्ते माँ जमाः सुकृतिमोऽनुज्ञुन् ।

आतो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च मरणर्थम् ॥ १६ ॥

तेषां ज्ञानी निष्पतुक पक्षमकिञ्चिदिष्ट्वते ।

प्रियो हि ज्ञानिमोऽपर्याह्वां स च मम प्रिय ॥ १७ ॥

उषाचां सर्वं पैते ज्ञानी त्वास्मैष मे मतम् ।

आस्तिकाः स हि युक्तात्मा मामेवासुक्तमां गतिम् ॥ १८ ॥

बहुतो जम्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यत ।

वासुदेवं सर्वमिति स महात्मा सुरुचमः ॥ १९ ॥

( १६ ) है भरतभद्र भक्तुन् । बार प्रकार के पुन्नाममा स्तोग मेरी भक्ति किया करते हैं - १ आत् अवात् रोग से पीडित २. विष्णु अवात् ज्ञान प्राप्त कर लेने की अप्त्ति बरनेवाले ३ अर्थार्थी अर्थात् इत्य भावि काम्य बासनार्थी को मन म रखनेवाले और ४ ज्ञानी अपात् परमेश्वर का ज्ञान पा कर इताप हो जाने से अतीत कुछ प्राप्त न करना हो तो भी निष्पामयुद्धि ले मर्दि बरनेवाले । ( १७ ) इसमें एक मर्दि अर्थात् अनन्यमात्र से मेरी मर्दि बरनेवाले और उदैव युक्त ज्ञानी निष्पामयुद्धि ले बरनेवाले ज्ञानी की योग्यता विद्येय है । ज्ञानी का मैं भल्फल विष्य है आर ज्ञानी भुजे ( अत्यन्त ) विष्य है । ( १८ ) ये तमी मक्त उदार अपात् अच्छ हैं परन्तु मेरा मत है कि इनमें ज्ञानी तो मेरा भासमा ही है । क्योंकि सुखपित्त हो कर ( तथा की ) उत्तमोरुम गतिशब्द्य मुहम्मे ही वह ठहरा रहता है । ( १९ ) अनेक झन्मों क अनन्तर वह अनुभव हो जान से - कि ने कुछ है वह सब जानुर्य ही है - इनवान् भूमि पा लेता है । ऐसा महात्मा अप्यन्त दुम्पम है ।

[ वर-भक्त भी हाहि के मात्रान् ने अपने अव्यय का वह शब्द प्राप्त किया, कि प्रहृति भी भार पुरुष गेमों मेरे ही अव्यय है और पारी भौर मे ही एकता त भरा है । इसके काष्ठ ही मात्रान ने ऊपर भा वह कामाया है - कि इस अव्यय की मर्दि बरने से परमेश्वर की वहचाल है । ज्ञानी है - उत्तम तात्पर्य का तमी मौति व्यरच रक्षा काहिये । उत्तमता तमी को काहिये । तिर भाह व्यक्तकी करो । वह अप्यन्त की । परन्तु अच्छ की उपार्ता तुम्म हो इन के कारण यहाँ उत्ती क्ष व्यन्न ह भार उत्ती का नाम कहिये है । तथापि राप्यतुदि का मन मे राप कर किनी प्रियाव हेतु के विष्य परमेश्वर की मर्दि बरना निष्प्रेणी की मर्दि है । परमेश्वर का इन पामे क हेतु ले मर्दि बरनेवाल ( विष्णु ) का भी नाम ही तुमस्या काहिये । क्योंकि उत्ती विश्वास्य-भवस्या त ही व्यष्ट हैंता ह कि भमी तत्त्व उत्ती परिपूर्ण इन नहीं रहा । तथापि वहा है कि ये तत्त्व मर्दि बरनेवाले होने

इह अव्यक्तं व्यक्तिमापर्वं मन्यन्त मामबुद्धयः ।  
पर मायमेवानन्तो ममम्यममुत्तमम् ॥ २४ ॥

लाई प्रकाशः सर्वस्य योगमायातमनुतः ।

मूढोऽर्ज्यं नामिजामाति सोऽको मामजमस्यम् ॥ २५ ॥

| गीतारहस्य के २४ (पृ. २६९) और २५ वे प्रकरण (पृ. ४२ - ४३) में  
| इस विषय का अधिक विवेचन है उसे देखो। कुछ व्याख्या यह भूल चर्चाएँ हैं कि  
| देवताराघन का फल भी दैश्वर ही होता है और वे प्रहृतिस्तमाव के अनुत्तर  
| देवताभाकी भुन में आवाहन है। अब ऊपर के उसी वर्णन का स्पष्टीकरण करते हैं - ]

(२४) भुद्धिं अर्थात् मूढं सोग मेर भेद, उच्छमोक्षम और अव्यक्त रूप को  
चान कर मुल अव्यक्त कर म्यक्त हुआ मानते हैं । (२५) मैं अपनी योगस्थ माया  
से आप्ताद्वित रहने के बारण सब को (अपने स्वरूप हे) प्रकट नहीं देता । मूढं  
ओऽक नहीं आनते कि मैं अब और अव्यय हूँ ।

[ अव्यक्त स्वरूप को छोड़ कर म्यक्त स्वरूप भारण कर देने की दुःखिका  
योग कहते हैं (देखो गीता ४ ६, ७ १६ - ७) । ऐश्वर्यी लोय इसी को माया  
कहते हैं । इस योगमाया से उन्होंना हुआ परमेश्वर म्यक्तस्वरूपधारी होता है ।  
चाराण - इस स्थेक का मायावं यह है कि म्यक्तस्तुहि मायिक अवया अनित्य  
है और अव्यक्त परमेश्वर सच्चा या नित्य है । परन्तु कुछ सोग "ए स्वान पर  
और अव्यक्त स्थानों पर भी 'माया' का 'भल्दीकिक' अपना 'विस्तार अर्व मन  
कर प्रतिपादन करते हैं कि वह माया मित्या नहीं - परमेश्वर के समान ही नित्य  
है । गीतारहस्य के नीति प्रकरण में माया के स्वरूप का विस्तारत्वहित विचार दिया  
है । इति चारण पर्वों इठना ही कह देते हैं कि यह यत भैरव देवता को मैं  
माया है कि माया परमेश्वर की ही ओर विष्वाल और अनादि और है । स्योनि  
माया वश्यि इतिर्थों का उत्पाद किया हुआ दृश्य है वश्यि इतिर्थों मी परमेश्वर  
की ही उच्च से वह क्षम करती है । अतएव अन्त में इस माया को परमेश्वर की  
रीब ही इठना पड़ता है । बाव है केवल इतके तत्त्वतः सत्य का मित्या होने में ।  
यो उक्त अवयों से प्रकट होता है कि "ए विषय म भैरव देवान्त के समान  
ही गीता का भी पह्ली सिद्धान्त है कि विस नामस्रूपामङ्क माया से अव्यक्त  
परमेश्वर म्यक्त माना जाता है वह माया - फिर जाहे उसे भल्दीकिक यहि कहो  
पा और तुष्ट - अश्वन से उपर्युक्त विषाढ बलु पा 'गौह है; सत्य  
परमेश्वरतम्भ "उसे पूर्ण है । यहि देखा न हो तो भुद्धिं और 'नूढं शम्भों  
के प्रयोग करने का काह कारण नहीं होना पड़ता । साराण माया सत्य नहीं -  
सत्य है एक परमेश्वर ही । विन्दु गीता का कफ्न है कि इस माया में भूल रहने से  
सोग अनेक देवताओं के क्षेत्र में पड़े रहते हैं । वृहगरम्यक उपनिषद् (१ ४१ )

म तथा भद्रया युक्तस्तस्या राधनर्माहत ।  
एमन च ततः कामान्मये यिदितानिदं ताम ॥ २२ ॥  
अन्तर्गतु फलं तेषां तद्व्यपत्यमधमाम ।  
वृषान्वययजा यान्ति मञ्जका यान्ति मामपि ॥ २३ ॥

मिर वर इता है। ( ) मिर उस भड़ा से युक्त हाकर वह उस देवता का भारापना करने लगता है। एवं उत्तरा मेर ही निमाण किये हुए कामपत्र मिलता है। ( ३ ) परलु ( इन ) भस्तुदि स्थगा का मिलनेवाले ये पत्र नाशकाम् ह (मात्र क तमात मिपर रहनदाय नहीं है)। देवताभों को मिलनेवाले उनके पात्र रहते हैं भार मेर सभ यहाँ भात है।

[ सापरण मनुष्यों की नम्रता हाती है कि यद्यपि परमधर माउण्टना है, | तथापि उत्तर के दिव आवश्यक अनेक इस्तित ऐसुभी का भेजे वी यहि | ऐसभी में ही है भीर उन्हीं प्रभिक लिय इम्हीं ऐसाभी की उत्तरता | बर्ती चाहिये। इन प्रगत और यह उत्तर इन हार कि उत्तराभी भी उत्तर | मन्त्र उन्हीं चाहिये। तब भयनी स्वामादिष अज्ञा क भयुत्तर (देखा गैला १३ | २-५) का गीरन पृथा है बाद जिसी पक्षतर वी पृथा बरते हैं भीर कार | जिसी दर्शी दिला का विनूर म रंग बर पृथा है। इस दल का एकन उत्तर | १३१ म सु र रीते न रिया र्पा है इसम ज्यान भेजे वीष्य पहरी बन दद | है कि इस जिस ऐसाभी की गारामना न ग पा भिन्ना है उन भारापर | गारा। है कि गारा ददन द ही र्पा है। गारा पवाय व यह परमधर की | , १३२ र्पी है (दील १३) भीर लालिह ददि म दा रस भी परमधर | १३३ प रा है (पा १३) यही नहीं इन र्पा का भारापर बन वी | है दनुष व दूसरम भर परमधर ही र्पा है (पा १३) र्पंदि | १३४ इन र्पा भिन्नापर है। इन चीं पूरा दही है दारात (१३ | १३५) १३५ र्पा (१३५ १८) देखी दही भिन्नाहै इस जिस | १३६ व भिन्नाहै र्पा व भर भर इन हार्दी है इन | १३७ एव जिस विष्य परमधर है इन र्पा है—इही इस जिस जिस | १३८ व यह र्पा है यह इस र्पा है र्पिय। १३९ एव जिस विष्य | १४० व यह र्पा है यह इस र्पा है र्पिय। १४१ एव जिस विष्य | १४२ व यह र्पा है यह इस र्पा है र्पिय। १४३ एव जिस विष्य | १४४ व यह र्पा है यह इस र्पा है र्पिय। १४५ एव जिस विष्य | १४६ व यह र्पा है यह इस र्पा है र्पिय। १४७ एव जिस विष्य | १४८ व यह र्पा है यह इस र्पा है र्पिय। १४९ एव जिस विष्य | १५० व यह र्पा है यह इस र्पा है र्पिय। १५१ एव जिस विष्य |

( अथात् इस प्राप्ति, कि मैं ही सन हूँ ) को मुझे बानते हैं ते मुखित्य ( हाने के कारण ) मरणकाळ में भी मुझे बानते हैं ।

[ अगले अध्याय में अध्यात्म भिन्नता, भिन्नता और अधिवद का निस्पत्ति किया है । कर्मयोग का और उपनिषदी का विवाच है कि मरण-काल में मनुष्य के मन में जो बाधना प्रकल्प रहती है उसके अनुसार उसे आये कर्म मिलता है । उस विवाच को इन फलके अन्तिम स्तोत्र में मरणकाल में भी शक्त है तथापि उच्च स्तोत्र के 'मी' पर से स्पष्ट होता है, कि मरने से प्रथम परमेश्वर का पूर्ण खन तुए किना केवल अनुकाल में ही यह खन नहीं हो सकता ( देखे गीता २.७२ ) । विशेष विवरण भगवें भग्वान में है । यह उक्ते हैं कि इन दो स्तोत्रों में भिन्नता भावि शब्दों से आगे के अध्याय की प्रकाशन की ही गई है । ]

इह प्रकार श्रीभगवान् के गाय हुए - अर्थात् कहे हुए - उपनिषद् में ब्रह्म विद्यास्तुत दोग - अर्थात् कर्मदोग - शास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में हानिविद्यानयोग नामक सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ ।

## आठवाँ अध्याय

[ इस अध्याय में कर्मदोग के अन्तर्गत इनविद्यान का ही विवरण हो रहा है । और विद्याएं भग्वान में ब्रह्म अध्यात्म, कर्म अधिन्दृत अधिवद और अधिवद, दोनों परमेश्वर के स्वरूप के विविच्छेद कहे हैं । पहले उनका कर्म कर्मदोग विवेचन किया है कि उनमें क्या तत्पर है ? परन्तु यह विवेचन इन दोनों की केवल व्याख्या करके अथात् अस्यात् सत्त्वित रीति से किया है । अतः यहाँ पर उच्च विषय का कुछ अधिक लुभावा कर देना भावरपक्ष है । वास्तविक के अवश्येकन से उसके कठा की कर्मदोग अनेक रीतिया से किया करते हैं । १. शोद कहते हैं कि सृष्टि के तद पश्चय पञ्चमहाभूतों के ही विकार हैं भीर पञ्चमहाभूतों का छोड़ सूख में दूसरा कां भी तत्त्व नहीं है । २. दूसरे कुछ सौंप ( जैसा कि गीता का चौथे भग्वाय में कहन है ) यह प्रतिपादन करते हैं कि तमस्तु क्यात् यह से दूमा है । और परमेश्वर यज्ञनारायणस्पी है । यह से ही उनकी पृथ्य होती है । ३. और कुछ सौंपों का कहना है कि स्वयं यह पश्चय सृष्टि के व्यापार नहीं करत ; किन्तु उनमें ले कार्य न कार उपेक्षन पूर्वप या देवता रहते हैं ; यह कि इन व्यवहारों को किया करते हैं । और इसीरिय इस उन देवताओं की भाराभना करनी चाहिए । उगाहरणात्, यह पाञ्चर्णित नूप के गोंदे म नूप नाम का जो पुरुष है वही प्रसाद देने वारद का काम किया करता है भनण्य वही उपास्य है । ४. चौथे पक्ष का कर्म है कि

वद्वाहू समतीतामि वर्तमानानि धार्जुन ।  
भविष्याणि च मृतानि मा त येह त कथन ॥ २६ ॥

‘यज्ञादेव समरथेन शुद्धमाणन भारत ।

मध्यसाधानि सम्मोही भर्गे यान्ति परन्तप ॥ २७ ॥

सप्तां चतुर्वर्षं पाप अन्तर्जा पञ्चकृत्याम् ।

१८५ अमेरिका भारत से इन्हें

१६ उत्तरामरणमोक्षाय मासाभित्य प्रतनिये

ପ୍ରକାଶ ମହିନେ ଲୋକଭ୍ୟାଳ୍ କମ ଆମ୍ବିଟ୍ସମ ॥୧୩॥

माधिभूषितव्यं मा माधियमं च य द्वा ।

प्रयाप्तकालेऽपि च मां तथि प्रकृतम् ॥ ३० ॥

१३ भीमदगडीतामु उपनिषद्मु ग्रन्थिग्राया योगदास्त्रं भौहाणातुनस्त्रादेश्वरविश्वसाग्ना नाम सप्तमार्थ्याप्यः ॥ ७ ॥

में इसी प्रसार का दर्शन है। यहाँ वहाँ तक जो सारे भागमा भार बढ़ता का  
एक ही न जान कर भेदभाव से निम्न मिम्र देखाभा के पासे में पढ़ रहत है  
वे देखाभों के पास हैं—भपाल गाय भारि पानुभा ल तैस मनुष्य का कायदा  
होता है ऐसे ही इन भगानी मर्नी से उत्कृ देखाभों का ही कायदा है। अद्दे  
मका वा मोष नहीं मिलता। माया में उत्पन्न कर भूमाद से भनक देखाभा और  
उत्तरामना करनेवाले का दर्शन हो पुरा। भव दार्शने हैं जि एल माया न पौर  
परि एक्षारा व्याप्ति द्वारा है।

( ५ ) हे भजुन ! यु बलमान भार मरिष्यन ( जो ही पुर द उद मारू भीर भाग दानगाप ) तरी प्राणिथा का मि गनका है परम्य मुरा कार मी नहीं गनका ।

( १० ) क्याहि हे भरत ( रम्या ६ ) इप्पा भरत द्यु ५ ठरानेवास ( मुग  
दृ । भार्ग ) ३ । ६ माद त इन मूर्दि म नमाम पाई, इ परम्परा ! भगव  
न अस्ति । ( ६ )

१८ राह ( १ ) राहु लिपि पुराणमाभा ६ ग्रन वा भव्य हा राहु ६ दे  
(पुराणमार्ग) ७ ने ८ माह न दृष्ट वर एका हा करके घरी दर्शन करते हैं।

(१) इस प्रकार माया ने कुछ लोगों ही कानून पर भाग लेकर उन्होंने अपनी देशवासी बन दिया है ।

## अष्टमोऽन्त्याय ।

अनुन उवाच ।

किं तद्वाद चिन्मध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।  
भिन्नभूते च किं प्रोक्तमधिकैवं किमुच्चते ॥ १ ॥  
अधिष्ठा कर्यं कोऽज्ञ वृहत्सिन्मुख्यम् ।  
प्रयाजक्षाणे च कर्यं हेषाऽप्सि किम्प्रतात्मभिः ॥ २ ॥

अब इस प्रभ का निर्णय करना पड़ा कि वासी चमु और ओन प्रभुति इन्होंने एवं मार्गों में भेड़ कौन है। तब उपनिषदों में मी (३. ६. २१ २३ अ० ८. २. १; शौली ४. १२. ११) एक बार वासी चमु और ओन द्वारा इतिहासों से लेकर अध्यात्माद्विषये विचार किया गया है। तब दूसरी बार उन्हीं इतिहासों के देखता भागि सूर्य भी और आकाश भी लेकर अधिकतराहि से विचार किया गया है। गाराय यह है कि अधिकैवत भविभूत और अप्यात्म भावि भेड़ प्राचीन काल से जैसे आ रहे हैं; और यह प्रभ मी इसी अमाने का है कि परमेश्वर के स्वरूप वीर इन मिथ्र भिन्न छस्त्राओं में से सभी भौति है। तथा उसका वर्णन क्या है? वृहत्सारस्यक उपनिषद् (३. ७) में वाङ्मासम् ने उदाहरण आद्यां से कहा है कि सब प्राणियों में उब देवताओं में समद अत्यात्म में उब स्वेष्टों में सब वर्णों में भी और सब देहों में व्यास द्वोक्तर उनके न उमस्ते पर मी उनको व्यज्ञेवाला एक ही परमात्मा है। उपनिषदों का वही सिद्धान्त वेदान्तसूत्र के अनुरागी अधिकरण में है (४. ८. १. २. १८-२)। वहाँ भी सिद्ध किया है कि सब के अन्तर्ब्रह्म में रहनेवाले यह तत्त्व वास्त्वों की प्रहृति या गीतात्मा नहीं है किन्तु परमात्मा है। इसी सिद्धान्त के अनुरोध से भावान् अब अकुन्त से कहते हैं कि मनुष्य वीर है मैं सब प्राणियों में (भविभूत) सब वसा में (भविष्यत) तब देवताओं में (भविकैवत) सब कर्मों में और सब वसुभां के तृतीय त्वरण (भवात् अप्यात्म) में एक ही परमेश्वर उमाधा हुआ है—यह इस्याति नानात्म अवशा पितॄष इन तथा नहीं है। तात्पर अप्यात्म के अन्त में भावान् ने अधिभूत भावि किं शर्यों का उद्घरण किया है उनका अब बनने की अकुन्त को अच्छा हुआ। भला वह पहले पूछता है - ]

अकुन्त ने कहा :— (१) हे पुरुषोत्तम! वह तत्त्व क्या है? अप्यात्म क्या है? कर्म के मानी क्या है? अधिभूत किसे कहना चाहिये? और अधिकैवत कित्तये कहिये है? (२) अधिष्ठा किसा हाता है? इ मनुष्यन्, यस इन में (अधिकैव) कान है? और भग्नतात्म में इतिहासनिमह करनगामे क्यों तुम्होंने किसे पहचानते हैं?

अत्येक परार्थ में उस परार्थ से भिन्न किसी ऐक्षण्य का निषाद मानना ठीक नहीं है। ऐसे मनुष्य के शारीर म आत्मा है ऐसे ही प्रत्येक बलु मैं उसी बलु का कुछ-न-कुछ सूखमरुप अर्थात् आत्मा के उमान सूख याकि वास्तव नहीं है। वही उसका मूळ और सच्चा स्वरूप है। उग्रहरणार्थ, पद्म स्तूप महाभूता म पद्म सूखम तमाजाएँ और हाथपैर आदि लूप्स इन्ड्रियों मैं सूख निर्दियों मूळभूत रहती है। उसी ओरे उच्च पर सौषियों का यह मत भी अवश्यिक्त है कि प्रत्येक मनुष्य का आत्मा भी पृथक् पृथक् है और पुरुष असम्भव है। परन्तु यह पद्धता है, कि यहाँ इस तांत्रिक मत का 'अधिग्रह' वर्ग में उमानेत्र दिया गया है। उक्त चार पर्याँ का ही क्रम से अधिभूत अधिवृत्त, अधिवैत और अप्यात्म कहते हैं। किसी भी शब्द के पीछे 'अधिक' उपर्युक्त रहने से यह अब होता है - 'उमधिग्रह', 'उद्दिप्यक' 'उस सूखम वा' वा उसमें रहनेवाला। उत अर्थ के अनुसार अधिवैत अनेक देवताओं में रहनेवाला तत्त्व है। याचारणतया अप्यात्म उच्च शास्त्र को कहते हैं कि यह प्रतिपादन करता है कि सर्वत्र एक ही आत्मा है। किन्तु यह अर्थ उद्घान्त पद्म वा है। अपात् पूर्वपद्म के इत्यक्षयन भी जौन्च करके अनेक बलुभूमि या मनुष्यों में भी अनेक आत्मा हैं - देवतानांशात् ने आत्मा की एकता के सिद्धान्त से ही निभित कर दिया है। भरत् पूर्वपद्म का चन्द्र दिवार करना होता है तब माना जाता है कि प्रत्येक परार्थ का नूरम स्वरूप या आमा पृथक् पृथक् है और यहाँ पर अप्यात्म शब्द से यही अर्थ अभियेत है। महाभारत म मनुष्य की इन्ड्रियों का उग्रहरण देवत स्पष्ट कर दिया है कि न यात्र अधिवैत और अधिभूत-हृषि से एक ही दिवेन्द्र के इत्यक्षयन मिस्र मिस्र भेद क्षयाकर होते हैं। ( गो म म शा. ३२३ भीत अथ १ )। महामारुतात् वहत है कि मनुष्य की इन्द्रियों की दिवेन्द्रन तीन तरह त्रिया वा त्रिका है। ऐति - भवित्व अप्यात्म भीत अर्धिवैत। इन इन्द्रियों के द्वारा वा दिव्य प्रण दिये जाने हैं - उग्रहरणार्थ हाथों म वा लिपा जाता है कानों से वा मुना जाता है अंगों से वा तेजा जाता है भीत मन से दिवेन्द्रन दिया जाता है - वे तत्र अधिन्त है भीत हाथरर आदि ५ ( कार्ययात्मादेव ) तृष्ण स्वप्नाद भयान्त्र तृष्ण इन्ड्रिया क्षीर इन इन्द्रियों के अप्यात्म हैं। परन्तु इन दावों इन्द्रियों का दावकर अधिवैतहृषि से दिवार करन पर - अपात् यह मान करके कि दावों के द्वारा हैं ऐसी के दिल्लु गुड़ के मिर उत्तम ८ प्रवाहनि वाली के भवित अंगों का तृष्ण काना के गहाय अपका दिया भीम ९ जन् नार के बायु मन के अन्यत्रा भद्रान् १० तुदि भीत तुदि ११ देवता पूरुष १२ वा इन १३ दिये ही देवता द्वारा आमी रात्री इन्ड्रिया के व्याहार दिया करत है उग्रदिवसी में भी उत्तमना के दिये उग्रहरण्य हैं जो अर्थ १२ दिवित है उनमें मन वा अप्यात्म भीत १३ त्रिपक्ष भाष्टां १३। भृषि इन द्वारा वहा है ( शा ३ १० ३ )। अप्यात्म १४ न देवता का पर ना वहा उत्तमा है जिये ही जी दिया उपा है द्विद

सूर्य का पुरुष वक्त और देवता या वर्षणपुरुष इत्यादि सचेतन सूभ देहपारी देवता विविहित हैं और हिरण्यगम का भी उपर्यूप समावेश होता है। यहाँ भगवान् ने अधिष्ठह दात्त की व्याख्या नहीं की। क्योंकि, यह के विषय में तीसरे और चौथे अध्यायों में विस्तारसहित वर्णन हो चुका है। और फिर आगे भी कहा है कि उन यज्ञों का प्रस्तु और मोक्ष में ही हैं (देवो गीता १० २४ ६ २० और ८ मा. भा. ३४)। इस प्रकार अप्याम भावि के वर्षण वर्षण कर अन्त में संषेप से वह दिया है कि दृष्ट देह में अधिष्ठह में ही हैं—अर्थात् मनुष्यदेह में अभिदैव और अधिष्ठह भी मैं हैं। प्रत्येक देह में दृष्ट दृष्ट आमा (पुरुष) मान कर साक्ष्यवाली कहते हैं कि वे असम्भव हैं। परन्तु वेदान्तशास्त्र को यह मत मान्य नहीं है। उसने निष्प्रय दिया है जि वाचि देह अनेक है, तथापि आत्मा सब में एक ही है (गीतार. प्र ७ पृ १९१) 'अधिष्ठह मैं ही हैं' इस वाक्य में पहीं विद्वान्त शब्दों हैं तो भी 'स वाक्य के मैं ही हैं' शब्द केवल अधिष्ठह अथवा अभिदैव को ही दैश करके प्रसुक नहीं है उनका सम्बन्ध अप्याम आदि पूर्वपदों से भी है। अतः समग्र अर्थ ऐसा होता है कि अनेक प्रकार के वह अनेक पदार्थों के अनेक देवता विनाशकान् पञ्चमहामूर्ति पदार्थकान् के दृष्ट मात्रग्र अप्यवा विमित आत्मा अस एवं अप्यवा विष्व विम मनुष्यों की देह—इन सब मैं मैं ही हैं।' अबाद् तत्त्व में एक ही परमेश्वर वस्त्र है। कुछ स्मेगों का कहन है, कि यहाँ अभिदैव स्वरूप का व्यवतन्त्र वर्णन नहीं है अधिष्ठह की व्याख्या करने मैं अधिष्ठह का प्रयाप से घटेत छोड़ा गया है। विन्यु हमें यह अर्थ ढीक नहीं लगता प्रत्या। क्योंकि न देवत गीता मैं ही प्रसुत उपनिषदों और वेदान्तशूलों मैं मैं (१० ३ ४ वे सु. १ २ २) यहाँ यह विषय आया है यहाँ अधिष्ठह आदि स्वरूपों के लाय ही शारीर आत्मा का भी विचार किया रहे और विद्वान्त दिया है जि उसके एक ही परमात्मा है। ऐसे ही मीता मैं तत्त्व कि अधिष्ठह के विषय मैं पहले ही प्रभ हो चुका है तब यहाँ उसी के दृष्ट दृष्टेय को विवित मानना युक्ति लाहत है। यदि वह सब है कि उनके अधिष्ठह भावि स्वरूपों का वर्णन करते उपर्युक्तमें परावश को भी लाभित वर्णन की ओर बहरत न जी। परन्तु नानान दर्शक यह वक्त उन स्मेगों को उपर्युक्त किया गया है कि जो व्यष्ट आत्मा देवता भी उपारावश आदि अनेक भेद करते नाना प्रकार की उपालनाभों में लास्ते रहते हैं। अतएव पहले के वर्षण व्युत्पये गये हैं जि ये उन स्मेगों भी उपर्युक्त के अनुकार होते हैं। और फिर विद्वान्त दिया गया है कि यह तत्त्व मैं ही है। उन वात पर उपर्युक्त देने के बारे मैं यहाँ नहीं रह जाती। भासु इन भेद का तत्त्व बाला दिया गया जि उपालना के विषय अधिष्ठह अधि ८८

भारतीय विद्या

अहरे द्वापरम् स्वमावाऽन्यात्ममुष्यते ।  
मृतमावोऽन्यकरो विसर्गः कमसंक्षिप्तः ॥ ३ ॥  
अधिभूते करा मावः पुरुषाभिर्द्वयतम् ।  
अधियज्ञोऽसेवाम् एव इहमृती वर ॥ ४ ॥

[ ब्रह्म भव्यात् कर्म अधिष्ठृत और अधिष्ठात् एवं पितृस्य भव्यात् में  
मा शुद्ध है। इनके लिया अब अर्कुन्नने पहली प्रभ किसा है कि अधिदेव  
पौन है? इस पर स्पान ऐसे से धारा के उत्तर का अथ समझने में कोइ अद्वन्द्व  
न हासी। ]

भीमारान् ने कहा :- (१) (सब स) परम अस्त्र अधोत् कमी भी नह न होनाला तथ व्यस है (भीर) प्रवेश भग्नु का मूलमाद (मूलमाद) अप्पाहम कहा जाता है। (अप्पाहम हे) भूमाराणी? (चर अचर) पदार्थों की उत्त्वति करनेवाला दिनश भपान् मुहिम्यासार व्यर्थ है। (२) (उत्तां शुद्ध तय प्राणियों की) सर भपान् नम्बूद्धपाप्मह नापानान् विष्णि अधिभूत ह भीर (इन पर्याप्त में) जो पुरुष भपान् सरगन भरियाता ह वही अधिकैवन है। (विष्ण) अधिपान (सब यहाँ का भरिति वहत ह वह) मैं ही हूँ। र दृष्ट्यात्पा मैं भड़ ! मैं इन देह में (जीवेद) हूँ।

[ शीतल संग का 'परम शब्द इन्हें रिप्रेस नहीं है; किंतु अहर का विचार है। लाम्पयग्गाम में भव्यता प्रहृति का भी अहर बहा है ( शीतल १५ )। परम् ऐश्वरिका का इन्हें इन भव्यता और भव्य प्रहृति के साथ है ( इसी लाम्पय का 'का भी' वा संकेतों); भीर इसी वारा भव्य व्यापा' शब्द के प्रयोग के लाम्प्यों की प्रहृति भव्यता इन्हें भव्य हो जाता है। इनी त यह का सिद्धान्ते के लिए अहर इन्हें भव्य 'परम रिप्रेस' का वर इन्हें व्याल्प्यों की है ( श्वो गीतार ८ च १२ १२-१३ )। इसके संबद्ध हु का भव्य महामरण में विद्युत उत्तरार्थी के संन्मान विनीती व्यापक व्यामुख्य दिया है। नाल्लीष तत्त्व में इन्हें भव्य व्याप्ति की विशेषि ( विषय ) बहा है। लीला ८ च १२ १६६ )। इस व्यक्ति का वर्णन भव्य वरी सेवा व्याप्ति। विषय का भव्य वर्ष का दीर्घनाम बहा वीर व राज नहीं है। लीलारूप्य में वरे प्रमाण ( १२ १३ विष्टु १५ अन विद्युत आगे है विद्युत उत्तरार्थी के ही कर्म की वरा १८ विष्टु १५ अन विद्युत उत्तरार्थी कर्म का वर बहो है और १८ १९ विद्युत १५ अन इस उत्तरार्थी कर्म के 'उत्तर' वर वे

अम्यासयोगयुक्तेन चेत्सा नान्यगामिना ।

परमं पुरुषं विष्णं याति पार्थ्यनुचिन्तयन् ॥ ८ ॥

इह कर्वि पुराणममुहासितारमज्ञीवौसमनुस्मरेण ।

सर्वस्य भातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमतः परस्तात् ॥ ९ ॥

प्रद्याणक्षणे ममसाचलेन मक्ष्या पुको धोमवलेन विष्ण ।

स्मुदोर्मध्यं प्राप्तमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुमेति विष्वम् ॥ १० ॥

यवकारं वेदविदां धृवस्ति विष्णन्ति यज्ञत्या वीताहमा ।

पविष्ठुन्तो ब्रह्मवर्णं चरन्ति तते परं संमतेष्य प्रकर्मे ॥ ११ ॥

सर्वद्वाराग्नि संयम्य मनो इषि निरुप्य च ।

मूर्ख्याद्यामन् प्राप्तमास्त्वितो यागधारणाम् ॥ १२ ॥

( ८ ) हे पार्थ ! विष्ण को धूतरी और न याने देवत अम्यात की सहायता से उत्तमे स्तिर एके दिव्य परम पुरुष का यान करते रहनेके मनुष्य उसी पुरुष में य भिन्नता है ।

[ जो सोग भावद्वीती में इस विषय का श्रतिपादन बताते हैं कि उठार का छोड दो और केवल मक्षि क्षम ही अक्षम बरो, उन्हें सातवे स्तोक के तिदान्त की ओर अवश्य एकल देना चाहिये । मोह तो परमेश्वर की ज्ञानयुक्त मक्षि है मिलता है । और यह निर्विकार है कि भरणसमय में भी उसी मक्षि से निष्ठर रहने के लिये अन्यमर वही अम्यात बनना चाहिये । गीता का यह अभियात नहीं कि उत्के सिंबे क्षमों के छाड देना चाहिये । इलके विषद् गीतार्थस्य का विद्यान्त है कि भगवद्वत्क को स्वर्वर्म के अनुसार जो कर्मं प्राप्त होते वर्षे उन तत्र को निष्कामदुदि से करत रहना चाहिये । और उसी विद्यान्त का इन शब्दों से स्पष्ट किया है कि भेद एवं विवरण भर और तुद बर । अब उत्तमते हैं कि परमेश्वराणमुद्दि से अन्यमर निष्काम कर्म बनेकाले कर्मदोषी अन्तरात्र में भी दिव्य परमपुरुष का चिन्तन विष प्रकार से करते हैं । ]

( -१ ) या ( मनुष्य ) अस्तकाल में ( इन्द्रियनिष्ठाहृष्टप ) धीय क सामर्थ्य में भीषिषुल हो बर मन को निष्ठर एक दीनों भीहो के बी मै प्राप्त का मनी मौति रण कर करि भापात नर्त्रम पुरातन, घासा भयु से मी होटे तत्र के पाता भाषीं भापार या क्षा अधिस्यम्बन्ध और अन्यकार के परे तर्प के तमान ऐतिव्यमान पुरुष का अमरण करता है वह ( मनुष्य ) उसी दिव्य परमपुरुष में य भिन्नता है । ( २ ) वह क शनेनेकाले किमे भापार कहत है भीतराग हर कर यति लोग किन्तु प्रश्न बतते हैं भीति किमी इष्टा एके ब्रह्मप्रपादन का आपरण करत है वह परमार अपार तद्युती तपार के काम्यता है । ( ३ ) सर ( इन्द्रियमृषी ) द्वारी

६६ अन्तकाले च मामव स्मरन्मुक्त्या कलेषरम् ।

यः प्रयाति स मङ्गावै याति नास्त्यप्र संगाय ॥ ७ ॥

यं ये यापि स्मरन्माव स्यजस्यन्त कलेषरम् ।

ते तर्मर्यति कोन्तेय भवा कलेषरमायित ॥ ८ ॥

तस्मात्सर्वेषु कालपु मामनुभ्वर युध्य च ।

मध्यर्धितमनांशुद्धिमामदप्यस्यत्तेष्यम् ॥ ९ ॥

| अप्याम अविद्यह भीर भिरिहु प्रभृति भनह भेद वरनर मी यह नानाव उष्णा | नहीं है । वास्तव में एक ही परमेश्वर तत्र में उपास है । अब भुन क इति प्रभ का | उत्तर है इन्हें अन्तराल में उच्चारी भवान के एहतना गता है । ]

(५) भीर अन्तकाल में या मेरा गमण करना हुआ है त्यागा है यह | मेरे स्वर्वप म नित्यह मिम रहता है । (६) भयका ह कान्तय ! तुम रमेश्वर | उमी मैं ऐसे रहने से मनुष्य तिन भाव का गमण करना हुआ अन्त म शर्वां | ग्यागा ह यह उमी भाव मैं ज मिन्ना है ।

[ पाठ्य भाव मैं गमणमय मैं परमेश्वर क गमण उन्हें भी भावर्यज्ञाना | भाव एव वाया है । इसम वार यह तमह मैं इ वह द्वितीयान मैं यह | गमण करने भ ही काम ज्ञाना है । इमी हातु मैं उठे भोग म यह गमणाया | है इ ज लाल उमेश्वर मन मैं रहती है यह गमणकाल मैं की नहीं हृती । | भवन्त्य न वर्तक गमणकाल म ग्रन्थुन उमेश्वर परमेश्वर का गमण भीर अन्तना | करने भी भावर्यज्ञाना ह (मीतार प्र ३ १२ ) । इन शिक्षान का भाव | क्वेने भाव ही तिन हा ज्ञाना है इ अन्तकाल मैं परमेश्वर का नवनरन | करदेश्वर का पात्र है भीर द्वापारी का गमण करनेवाले देखा गा तो पाहा है । | (मीता ३ १२ ११ भीर ) क्योरि उ एव शशिष्ठे वक्ता

मुक्तर यथा अनुर्विद्याव पुराता भर्ती तदा दद्य दद्दि (प्र. ३ १४ | १) - इमी वैष्णव मैं मनुष्य का इता हातु भवान गवार हाता है मनव या | उन भैरी ही ली तिन्हीं है । उ इतर क तमान ईरि तर्विना । मर्ति एव ही | वायप है (प्र ३ ११ नम्य ११) हातु द्विता भव द८ वर्ती है इ | उमेश्वर तद ही लक्ष्मा त लक्ष्म दै८ ज्ञि भवेष्वर क याता के नमेष्य | ही लक्ष्मा तिन नहीं है तर्ता भवाव एवार (तिन ११ १२) लक्ष्मा | का एव वारा भवाराव ८८ (ते नू ११ १२) । - इन शिक्षान का भावा | भव्य त वर्तवद दहर है इ

११ एव उ नवना - नूद हा - लक्ष्मा वारा ११ नूदे ५२ वा - उ वर्तवद | मैं ११ भवाव त तु भवाव । नम्य है ११ नूद तिन ।

५६ सहस्रपुगपयनतमदर्शनुवाक्षणो यितुः ।

एति युमसहस्रान्तां तंज्ञाराजविदो जना ॥ १७ ॥

अव्यक्ताद्वयक्तय सर्वाः प्रभवन्त्याहरागमे ।

एत्यागमे प्रसीदन्ते तत्रेवाव्यक्तसंक्षेपे ॥ १८ ॥

पुनरावत्तन अर्थात् छीटना (पड़ता) है। परन्तु ह औन्तेय ! मुख्यम निल ज्ञाने से पुनर्जन्म नहीं होता ।

[ शोषणह स्मेक के 'पुनरावत्तन शब्द का अप्य पुन्य तुक जाने पर भूमेक में लौं आना है (ऐतो गीता १ २१; म मा कल २६०) । यह, देखता राघन और देवाप्ययन प्रमति कर्मों से पश्चापि इन्द्रधोक, बद्रधोक, सूर्यधोक और तुआ दो ब्रह्मधोक प्राप्त हो जाते; तथापि पुण्याद्य के समाप्त होते ही वहाँ से किर एव स्मेक में जन्म सेना पड़ता है (१ ४ ४ ३) । अप्यता अन्तर्दृष्टिस्त्रोक का नाश हो जाने पर पुनर्वर्मणक में दो बरस द्वी पिलना पड़ता है । अवश्य उक्त स्मेक का भावात्प यह है कि ऊपर छिली द्वारा उक्त गतिर्वासम देवे की है और परमेश्वर के जन से ही पुनर्जन्म नष्ट होता है । इति कारण वही गति सम्भेद द्वा (गीता १ २१) । अन्त में गीता है, कि ब्रह्मस्मेक भी प्राप्ति भी अनिष्ट है; उसके सम्पन्न में ब्रह्मत्वे है, कि ब्रह्मस्मेक उक्त उमर्त्य सृष्टि भी उत्पत्ति और स्वयं वारकार देखे होता रहता है । ]

(१७) अहोरात्र की (उत्तरता) जननैकासे पुरुष उमर्त्यते हैं कि (हठ, मेता इत्यपर और क्षमि इन जारी सुनी का एक महामुग होता है; (और ऐसे) हृष्टर (महा) सुनों का समय ब्रह्मदेव का एक दिन है; और (ऐसे) ही हृष्टर पुनों की (उत्तरी) एक रात्रि है ।

[ पह स्मैक इत्ये पहले के मुगमान का हितात्र देवर गीता में आया है । इसका अप्य अन्यत्र कल्पयते हुए हितात्र से करना पाहीये । यह हितात्र भी गीता का यह स्मैक भी भारत (शा १३ । ११) और मनुस्मृति (१ ७१) में है; तथा पाठ्य के निरूप में भी यही वर्णित है । (निरूप १४) । ब्रह्मदेव के दिन का ही कल्प उठते हैं । अगले स्मैक में आप्यक का अप्य सौत्प्यग्राम भी अप्यत्य पृष्ठी है । अप्यत्य का अप्य परदद्वय - नी है । क्याहि २ व श्लोक में लक्ष्य स्त्रावा दिया है कि ब्रह्मस्त्री भाप्यत्य १८ व श्लोक में वर्णित भाप्यत्य ते परे का भीर निप्प है । गीतारहस्य के आद्ये प्रस्तर (१ ४ ४) म इत्या पूरा गुणना है कि भाप्यत्य मे एवामृति देखे हाती है । भीर वार के वाक्मान का हितात्र भी यही निप्प है । ]

(१८) (ब्रह्मदेव के) दिन का भारम इन्हें पर भाप्यत्य से नव उपम (प्राप) निप्पित हाता है और रात्रि देखे पर उसी वर्षों भाप्यत्य मे रीत हाते हैं ।

३५ इस्पकाशर धम्य प्याहरम्मामन्नमर्ज ।

य प्रयाति व्यजन्नेषु स याति परमा गतिम् ॥ १५ ॥

६५ अनन्यज्ञा सुते यो माँ स्मरति निष्पाद ।

तस्यादृ सखम् पार्थ नित्यप्रकस्य योगिनः ॥ १४ ॥

मायुरस्त्री पुनर्जन्म उद्दाहृत्यमग्नाश्वस ।

प्राप्तवनि भगवान् संचिर्जि परमा गता ॥२६॥

આમારા ધર્મની અધ્યાત્મિક પત્રાનુભૂતિ !

मासपत्र त्रै कीलय पदर्जनम त्रै पिपल ॥ १६ ॥

या तप्तम वर भीर मन का दृश्य में निरोध करक (एव) ममता ये प्राप्ति से जा  
कर तुमाधिकार में अधिक होनेवाल (२३) इन एकादश व्रत दृष्टि का वर भीर  
देश गमन वरता तुभा ज (मनुष्य) इह आद वर जाता है उन दृष्टिम ननि  
मिस्ती है।

इह यज्ञ काले त्वग्नावृत्तिमावृत्ति वैव योगिनः ।

प्रयत्ना यान्ति तं कार्त्त वस्यामि भरतर्क्षम ॥ २५ ॥

अस्तिज्योतिष्ठः शुद्धः पर्यासा उत्तरायनम् ।

तत्र प्रयत्ना मच्छन्ति व्रद्ध व्रद्धविशो ज्ञानाः ॥ २६ ॥

धूमो रात्रिस्तथा हृष्टः पर्यासा वक्षित्रायनम् ।

तत्र आन्द्रमसं व्योत्तिशोणी प्राप्य निवर्तते ॥ २७ ॥

शुद्धशुद्धे मती द्वेषे जयते शाश्वते मते ।

एकत्वा पासप्नावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥ २८ ॥

[ है । फलहर्त्वे अप्याय में पुरुषोर्क्षम के स्वरूप कर्त्तव्ये तुए जो यह कर्णन है कि यह धर्म और अधर्म से परे क्य है उससे प्रकट है कि वहों का असर् एवं साम्यों की प्रहृति के लिये उर्द्धित है (ठेनो गीता १७ १३-१८) । ज्ञान रहे कि अस्तित्व और अधर्म दोनों विक्षेपणों का प्रबोग गीता में कभी साम्यों की प्रहृति के लिये और कभी प्रहृति से परे परत्रष्ठ के लिये किया गया है (ठेनो गीतार, प्र ९ पृ २ २-२ १) । अस्ति और अस्तित्व से परे ये परत्रष्ठ है उक्ता स्वरूप गीतारहस्य के नीति प्रकल्प में स्वाह कर दिया गया है । उस अस्तित्व का वर्णन हो चुक्का कि विच्छिन्नता में स्वान में स्वान में पर्तुष चलने से मनुष्य पुनर्क्षम की उपेट से हृष्ट चाहता है । अब मरने पर किंहै लेटना नहीं पड़ता (अनाहृति) और किंहै स्वर्ग से उपेट कर लेना पड़ता है (आहृति) । उनके बीच के समय का और गति का में कर्त्तव्य होते हैं :- ]

(२९) है मरतभेद । अब दृष्टि में यह काढ करत्वात् (कर्त्तव्य) योगी मरने पर (इस लोक मै अन्मते के लिये) औट नहीं आते; और (विच्छिन्नता में मरने पर) औट आते हैं । (२५) अग्नि व्यौति अस्तित् अस्ति तिन मुख्यवाह और उच्चायण के छ. महीनों में मरे हुए व्रद्धवेत्ता स्वेग व्रद्ध के पाते हैं (स्वैट कर नहीं आते) । (२६) (अग्नि) धूमा यति धृष्टपव (और) वर्तिकामन के छ. महीनी म मरा हुआ (कर्त्तव्य) योगी भन्द के लेज मै अर्थात् चन्द्रघोर मै व्य कर (पुर्व्यात् घटने पर) स्वैर आता है । (२७) इत प्रस्तर कात्त भी हृष्ट और हृष्ट अस्तित् प्रकाशमय और अनप्रकाशमय गो द्वाश्वत गतिर्वायानी रिक्त मार्ग है । एक मार्ग से जाने पर लैटना नहीं पड़ता; और दूसरे खं पिर लैटना पड़ता है ।

[ उपनिषदों मै इन दोनों गतिओं को देखात (हृष्ट) और पिरुपान (हृष्ट) अप्तवा अर्थिति मान और धूम-आदि मार्ग कहा है तथा कर्त्तव्य

मृतपाम न प्याये मृत्या भृत्या प्रलीयन् ।

रात्रियाममया ॥ पार्थ प्रमवत्यदृष्टगम ॥ १९ ॥

५५ परम्परामा तु भाषांस्याऽव्यक्ताऽव्यक्तिसनातनं ।

य स मर्येषु भूतेषु भव्यतम् न विमन्यति ॥ २० ॥

अध्यक्षोऽप्तर इत्यास्तमादः पर्सी गविम् ।

प्राप्ति म विवरण तत्त्वाभ परम सम ॥२५॥

प्रभुः ते त्वा याम् सद्या देवतानाम् ।

सम्भास्तु भवति भवति सत्यं सम्भित्वा प्रवाप्तम् ॥ ३३ ॥

( १ ) द पाय ! भूता का पही नमुगम ( इस प्रकार ) बार द्वार उनम हाथर क्षमा-  
दाता रमा - भूषात् इच्छा हा या न हा - गत हाँत ही सीन हा गता है ; भार  
नि हाँत पर ( विर ) इग्म ल्ला है ।

[भाषा व प्रचलन से निष्प इतिहासम् प्राप्त मैं हा जाय तो ना  
प्रचलन मैं इतिहास का ही नाम हा जान भि निष्प त्वयि व भारतम् मैं  
प्रसिद्धो वा उम सम् पर्वी पूर्णा। इसक त्वयि व निष्प वा एव ही प्राप्त है  
उमे लाभन् है - ]

( १ ) रिंगु इन उत्तर दाखिय हर भवधन म पर दूसरा करान भाषण  
प्राप्त है जिस कह भूमि के नाम हमें पर भ नह नहीं होता। ( २ ) जिस  
भवधन वीं भवध ( वीं ) बहत है त परम भवधन उक्त ह या भवन वीं तीं  
बहा चाहा है ( भंगर ) जिस पात्रर रिंग ( अ-म-म ) आदि नहीं है ( एही ) स्त्रा  
परम भावन है ( ३ ) ह याय ! जिस गर ( कह ) भूमि है भीर जिस इन  
भवध का ऐसा भवधन एवं भवधन कर रहा है वह पर भवधन भवधन  
त ही प्राप्त है

। [ देवा मैं तर्कारी और दिल बरत के दसदलों १० व अधी  
 । का मरण २ पर जागी रे भृगु ३ - मरण ३८ पर जाग ५  
 । मरण ५ रवि ताय वरद भृगु ६ मरण भृगु ८ ताय री भृगु  
 । भृगु वरद के १५ वी उत्तम रप्तां १८ ताय १८ वय है देवा १९  
 । इनी मरण मरण २ ४८ रे मरण व भृगु ५ - भृगु  
 । ५८ वरद उत्तम १८ ताय मरण ३८ र भृगु ११ री ताय ११  
 । मरण ५ १२ वरद उत्तम रप्तां १८ उत्तम ११ री ११  
 । उत्तम ५ ११ उत्तम वरद ११ री उत्तम उत्तम ११ री  
 । उत्तम ११ उत्तम वरद ११ री उत्तम ११ री मरण

## नवमोऽध्याय ।

भीमगवानुवाच ।

इह तु तं गुणाम् प्रकृत्याम्यनस्यवे ।

कानं विहानसहितं यज्ञात्वा मोक्षतेज्ञुमात् ॥ १ ॥

एवंविद्या राजगुरुं पवित्रमिदमुक्तम् ।

प्रयत्नाकर्मम् अर्थं सुसुर्सं कर्तुमव्यप्तम् ॥ २ ॥

इस प्रकार भीमसान् के गाये हुए — अर्थात् क्षे हुए — उपनिषद् में इस विद्यान्तर्मत्त योग — अर्थात् कर्मयोग — शास्त्रविद्यक भीडूष्म और अर्कुन के लंबाए में अभरतायोग नामक आठों अध्याय समाप्त हुआ ।

## नौवाँ अध्याय

[ शालै अध्याय में शानविद्यान का निरूपण वह विस्तृतने के सिये किया गया है कि कर्मयोग का भावरण करनेवाले पुरुष को परमेश्वर का पूर्ण इन हो कर मन की शानित अपवा मुल-भवत्वा कैहे प्राप्त होती है । भास्त्र और भवल पुरुष का स्वरूप भी बतल्य दिया देता है । विड्ये अध्याय में कहा गया है, कि भन्त्वान् में भी उसी स्वरूप को मन में स्थित रखने के सिये पातङ्गस्योग से समाप्ति अप्त भर अन्त में वैक्षत्र की उपार्णना की जाते । परम्पुर हस्ते तो भस्त्रजड़ का इन हीना ही कठिन है, और विड्ये उच्चमे भी समाप्ति की आवश्यकता होने से लाभारण लंबी ही यह मात्र ही छोट देना पोड़ता । इस कठिनार्प पर अपान देवर भव भावाम् देण राक्षसार्ग बतावते हैं, कि वित्तसे उप छोरी को परमेश्वर का शान सुखम हा जाते । इसी को महिमार्ग कहते हैं । गीतारहस्य के तेरहाँ प्रकृत्य में हमने उठाका विनार महित विशेषन दिया है । इत मात्र में परमेश्वर का स्वरूप प्रेमगम्य और अप्त भावान् प्रकृत्य द्वाने पोष्य रहता है । उग्नी व्यक्ति स्वरूप का विनृत निरूपण नीवै, अन्ते स्यारहस्य भीर वारहै भव्यादी में दिया गया है । उपापि स्मरत रहे कि यह भविमात्र भी स्वतन्त्र नहीं है — कर्मयोग की लिंगि के लिय लक्षण अध्याय में दिय शानविद्यान का भारम्प दिया गया है उसी का यह स्थग है । और अध्याय का भारम्प भी विड्ये शानविद्यान का भास्त्र की दृष्टि से ही दिया गया है । ]

भीमसान् ने कहा — ( १ ) नम त दोषदृशी नहीं है इत्विष्ये गुण में मैं गुण दिग्ननदित गति तुम कराता हूँ कि विड्ये शान सेने से पाप म युक्त होगा । ( २ ) पर ( हन ) तप्तन गुदी म राजा भावान् भद्र है । पर राजविद्या भावान्

६६ ऐते सूर्ति पार्थ जानन्दोमी मुद्दाति कम्बल ।  
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥ २७ ॥  
वरेषु यहेषु तपःसु च व वानेषु यत्पुण्यफलं प्रविशुम ।  
ज्ञात्यति तत्सर्वमिति विद्विद्या यत्ती परं स्थानमुपेति ज्ञात्यम ॥ २८ ॥

इति भीमद्वगवत्तीत्यामु उपानपस्तु ब्रह्मकिंश्चाया योगमाये भीहृष्णाकुनर्वाऽ  
भवत्यज्ञात्यागो नाम अष्टमोऽप्याय ॥ १ ॥

---

[ मैं नी ज्ञ मागो का उत्तम है । मेरे इष मनुष्य की देह को अग्नि में बन्द देने पर अग्नि से ही ज्ञ मागो का आत्म हो जाता है । अतएव पर्वीसुं भ्योक म 'अग्नि' पड़ का पहले भ्योक के अप्याहार कर देना चाहिये । पर्वीसुं भ्योक का देना यही उत्तमता है कि प्रथम भ्योक म बर्णित माग में और दूसरे माग में वही में होता है । इनी से अग्नि शम की पुनर्यज्ञसि 'अम नहीं' की गा । दीक्षारात्रम् के इत्यं प्रसरण के अन्त (१३-२८) में इन सम्बन्ध की अधिक वत्त है । उनसे उत्तिभित भ्योक का भावाप्य लुम जागता । अब ज्ञात्यते ६ कि इन शान्ति मागो का तत्त्व जान सने के स्थापना पर्याप्त है । ]

(२३) हे पाप ! इन देवीं शूरी भयान मागो का (तत्त्वतः) ज्ञानेवाम्य कोइ भी (अम) पापी मोह में नहीं फैलता । अतपश्च हे भगुन ! तू तज्ज्ञमृत्यु (अम) पोगयुक्त हो । (२४) इति (ठक तत्त्व का) ज्ञान द्वेष त देह यत् तप और जन में तो पुण्यफल जनन्दया है (अम) पापी ठस तप को छोड़ जाता है । और उनके पाँ भाग्यवान का पा देना है ।

[ किं मनुष्य ने देवयान और विद्युत्यान दोनों के तत्त्व का ज्ञान लिया - भयान पह जान कर दिया कि देवयानमाय से मात्र मिष्य ज्ञान पर फिर ज्ञानम् नहीं मिलता और विद्युत्यानमाग स्वग्रहण हो जा तो मोहप्रद नहीं है - एव इनमें से भजन लाये क्षम्याप्त क माग का ही स्वीकार करता । यह मोह से विद्युत्यानी के माग का स्वीकार न करेगा । इनी जान को मृत्यु कर पड़ते भ्योक मैं इन देवीं शूरी भयान मागो का (तत्त्वतः) ज्ञानेवाम्य ए शम भाव है । इन शूरी का भावाप्य या ६ - क्षम्योगी ज्ञानका है कि देवयान और विद्युत्यान दोनों मागों में त र्वीज माग वही जाता है । तथा इनी मैं स तो माग ठम्प है उन ही एव ज्ञानदाः स्त्रीकार करता है । एव ज्ञान में त भावाम्यम् त तत्त्व कर इत्यं पर मात्राय भी प्राप्ति कर देना है और ३ देख भ्योक मैं नहमुत्तर प्रवर्त्तता करने का भगुन का तपश्च नी दिया गया है । ]

६६ सर्वमृतानि कौन्तलय महति यान्ति मामिकाम् ।  
 कर्त्तव्यस्ये पुनस्तानि कर्त्तव्यै विसूजाम्यहम् ॥ ७ ॥

प्रकृतिं स्वामवकुम्य विसूजामि पुनः पुनः ।  
 मत्तमाममिमं कृत्यस्तामवदा प्रकृतर्वशात् ॥ ८ ॥

न च मां तानि कर्माणि निषेद्धन्ति भगवत् ।  
 उदासीनवदासीममसकं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

मयाभ्यसेष्य प्रकृतिः सद्यते सच्चाच्चरम् ।  
 वेदुगामनं कर्त्तव्यं जगद्विपरिवर्तत ॥ १० ॥

[ यह विरोधाभास इतिहास होता है कि परमेश्वर निरुद्ध है और सुन्दरी भी है ( घाटवें अध्याय के १२ वे खण्ड की टिप्पणी और गीतारहस्य प्र. ५, पृ. २ ६ ८ ९ और २१ देखो ) । “स प्रकृत भयन् सर्वम् का आवर्यकारक करना करके अद्विन भी विश्वासा भी आकृत पर मुने पर अब मामान् विर कुछ फेरफार से वही वर्णन प्रसाह्नानुसार करते हैं कि वो लातव और आठवे अध्याय में पहले किया था मुना है - अर्थात् इस से प्यक्षक्षयि लिय प्रकार होती है । और हमारे व्यष्टिरूप भौत-से है ( गीता ७ ४-१८ ८ १४-२ ) । ‘योग’ शब्द का अर्थ धर्मपि अवैक्षिक सामर्थ्य वा युक्ति किया जाय, तथापि लर्ण रो है कि अव्यक्त से व्यक्त होने के दृश योग अपेक्षा युक्ति वो ही मापा कहते हैं । इस विषय का प्रतिपादन गीता ७ २५ की टिप्पणी म भौत रहस्य के नवि प्रसरण ( २५३-२५४ ) में हो जाता है । परमेश्वर को वह ‘योग’ भवत्त सुन्दर है जिन्होना वह परमेश्वर अ दात ही है । इसलिये परमेश्वर को योगेश्वर ( गीता १८ ७५ ) कहते हैं । अब क्या कहते हैं कि इस योगसामर्थ्य से जातु की उपर्युक्त और नाश की दुआ करते हैं । ]

( ७ ) हे श्रीनेत्र ! कस के भवत मैं सब भूत मेरी प्रहृति मैं आ मिलते हैं और कस के भारत म ( ब्रह्म के दिन के भारत में ) उनको मैं ही फिर निरामय करता हूँ । ( ८ ) मैं अपनी प्रहृति को हाथ म लेकर, ( अपने अपने कमों से कैसे दूर ) भूतों के “त उमूरे समुदाय की पुनः पुनः निर्माण करता हूँ कि वो ( उठ ) प्रहृति के नाम म रहने से अवश्य अवश्य परदर्शन है । ( ९ ) ( परलगु ) हे अनन्त ! इस ( क्षमि निर्माण करने के ) क्षम मैं मेरी आशक्ति नहीं है । मैं उदासीन वा राहा हूँ । “त बारण मुझे क्षम करना नहीं होते । ( १० ) मैं अवश्य ही पर प्रहृति त तर बराबर सहित उपर्युक्तका रक्षाता हूँ । हे श्रीनेत्र ! इस बारण अनन्त का पहला विग्रहना दुआ करता है ।

॥ ६ ॥ अध्यात्माः पुरुषा घर्मस्थास्य परन्तप ।  
अप्राप्य मौ निर्वर्तन्त मृत्युसंसारमर्मनि ॥ ७ ॥  
भया लक्षितं सर्वं जगद्गुरुमूर्तिमा ।  
मत्स्थानि सर्वं भूतानि न चाई तप्तवस्थितः ॥ ८ ॥  
न च मस्थानि भूतानि पश्य मे यामैश्वरम् ।  
मृतमृतं च मृतस्थो ममात्मा भूतमात्रनः ॥ ९ ॥  
यथाकाशस्थितो नित्यं वायुं सर्वजगो महान् ।  
तथा स्थानि भूतानि मत्स्थानीस्युपशास्य ॥ १० ॥

इन विद्वानों में भेद, परिचय इसमें भीर प्रत्यक्ष शोध देनेवाला है। यह आचरण करने में सुखारक, अस्यक और चर्म है। (३) है परम्परा! इस पर भद्रा न रक्षनेवाले पुरुष मुहं नहीं पात। वे मृत्युमृत उत्तर के मार्ग में औट भाले हैं (मर्तात् उम्हे मौत नहीं मिलता)।

[ गीतारहस्य के तेल्वै प्रकरण (पृ. ४१४-४१६) में दूसरे भेद के 'रात्रिदिवा रात्रिगुप्त' और 'प्रस्तुपाकम् पर्वी' के अर्थों का विचार किया गया है। ईश्वराति के साथना को उपनिषदों में 'विद्या' कहा है। और यह विद्या गुम रात्री जाती थी। कहा है कि मृत्युमात्रा अवश्यक वी उपासनारूपी विद्या सब गुण विद्याभासा में भेद अवश्यक राख है। इसके अतिरिक्त यह चर्म और्मों से प्रत्यक्ष वीर्य पद्धतेवाला भीर इसी से आचरण करने में मुख्य है। तपापि इस्तात् मर्माति रात्राभ्यों वी परम्परा से ही इस योग का प्रचार हुआ है (गीता ४ २)। इसकिये इन मार्गों को रात्राभ्यों अवश्यक बोहे आर्मियों की विद्या - रात्रिदिवा - इह तक्तो। और भी अवश्य क्यों न स्मीविद्! प्रस्तु है कि अवश्य या अवश्यक त्रय ए शन को सम्यक करक यह वर्णन नहीं किया गया है; किन्तु रात्रिदिवा रात्रि से पर्वी पर मृत्युमात्रा वी विद्यित है। ऐस प्रकार आरम्भ में ही इस मार्ग की प्रशना कर भगवान् भगव विज्ञानार ले उठना वर्णन करते हैं - ]

(४) मिन भक्त भाष्यक स्वरूप ले इस सम्प्रदाय को प्रत्यक्षा भवता व्याप्ति निया है। यसम उप न्तु है (परन्तु) मि उनमे नहीं है। (५) और मुख्य त्रय भूत भी नहीं हैं ऐसो (यह भैरवी) मही ईश्वरी करनी या दोगलामप्य है। न्तु वी उपम वर्णेवाणा मरा भाग्या उनका पास्त्र वरक भी (पिर) उनमे नहीं है। (६) मदव वर्णेवार्थी महान् वायु इन प्रकार त्रयग्रा प्रकाश में रहती है उक्ती प्रकार त्रय भैरवी का मुख्य त्रयम्

ज्ञानयोगेन चाप्यन्ये यजन्तो मासुपालते ।

पद्धतेन पृथक्कलेन बहुधा विश्वतोमुस्तम् ॥ १५ ॥

५६ अर्थं कल्पुरहं यहां स्वधाहमाइमौपथम् ।

मन्त्रोऽहमाइमेवाऽप्यमहमप्तिरहं हुतम् ॥ १६ ॥

और बन्तना करते हुए महिला से मेरी इसनाम किया करते हैं। (१५) ऐसे ही और कुछ ओग एकत्व से अर्थात् अभेदमात्र से, पृथक्कल से अर्थात् मेदभाव से वा अनेक भौतिकियों के छनवण से यजन कर मेरी - जो उर्ध्वोमुख हैं - उपासना किया करते हैं।

[ सचार में पाप जानेवाले देखी और राष्ट्रसी स्वमार्गों के पुस्तों क्षमा यहाँ जो समिति वर्णन है उसका विस्तार आगे दीखते अध्यात्म में किया गया है। पहले बताया ही आये हैं कि ज्ञानयज्ञ का अर्थ परमेश्वर के स्वरूप वा ज्ञान से ही भास्तुत्व करके उसके द्वारा विश्व शास्त्र कर देना' (गीता ४ १३ वी निष्पत्ती देखो )। किन्तु परमेश्वर का यह ज्ञान मी द्वैत-भद्रैत भावि भेदों से अनेक प्रकार का हो सकता है। इष भारण ज्ञानयज्ञ अनेक हों तो मी पक्षहै स्तोक का तात्पर्य यह है कि परमेश्वर के विश्वतोमुत्तर होने के अरण पे सब वह उसे ही पूर्णते हैं। 'एकत्व 'पृथक्कल भावि पदों से प्रकट है कि द्वैत भद्रैत विद्यिष्ठादेव भादि सम्प्रदाय वर्षपि अर्थात्तीन हैं वर्षापि वे इसनामे प्राचीन हैं। इस क्षेत्र मे परमेश्वर का एकत्व और पृथक्कल वर्णनमा गया है। उठी क्षमा अधिक निष्पत्त कर बढ़ाउत है कि पृथक्कल मे क्या है । ]

(१६) कल्पु अर्थात् भोत्तमव मै हैं। यह अर्थात् र्मातृत्वमै हैं। सभा अर्थात् भाव है पितरों को अर्पण किया हुआ भव हैं। औपच अर्थात् कन्सर्वि से ( वह के अर्थ ) उत्पत्ति हुआ मै हैं। ( वह मै हृत्तम करते समय पदे जानेवाले ) मरन मै हैं। कृत भवि ( अभि मे जोड़ी हुई ) भावुति मै ही हैं।

[ मूल मे कल्पु और यह दोनों शब्द समानार्थ ही हैं। परम्परा किं प्रकार 'यह' शब्द का अर्थ स्थापक हो गया और देवपूजा वैश्वेत अविद्यि तत्त्वात्, ग्रामायाम् एव व्य त्यादि अर्थों को मी 'यह' बदले ज्यो (गीता ४ २३-३)। उस प्रकार 'कल्पु शब्द का अर्थ करने नहीं पाया। भोत्तमर्म मै अस्तमेव भावि किं वह वज्रों के जिये पह शब्द प्रकृत हुआ है। उनका वही अर्थ आगे मी रिवर रहा है। अत्तमव शाहूरमात्म मै ज्या है कि इष स्फस पर 'कल्पु शब्द से 'भोत्त वह और 'यह' शब्द से 'र्मातृ यह उत्तमना चाहिये और ऊपर हमने यही अर्थ किया है। क्योंकि ऐसा न करें तो 'कल्पु और

६६ भवजामनि मां मूढा मानुषीं तनुमाभिवम् ।  
परे भावमजानन्तो मम भूतमहेष्टम् ॥ ११ ॥

माधारा मोषकर्माणो मोषहामा शिष्टसः ।  
राक्षसीमासुरीं चैव प्रहृतिं मोहिनीं भिताः ॥ १२ ॥

६७ महात्मानस्तु मां पाय देहीं प्रहृतिमाभिताः ।  
मजन्त्यनन्यमनसो शास्त्रा भूताक्षिमव्ययम् ॥ १३ ॥

स्तरां कीलयन्ता मां यत्नतद्य इद्यवता ।  
नमस्यन्ताद्य मां भक्षया निष्पुक्ता उपासते ॥ १४ ॥

[ पिछे भयाय में बताय आय है कि ब्रह्मेष्व के लिन वा ( कर्य वा ) भारम्म होते ही अप्यक्षमृति से एकमनुषी जन थानी है ( ८ ११ ) । पहों इसी वा अधिष्ठ भूत्यसा विषा है कि परमेश्वर प्रयेष्व के क्रमानुसार इन ममतुरा रूप होता है । अतपश्च परे स्वयं न करो से भविता है । धार्मीय प्रतिज्ञन में य सभी तत्त्व एक ही स्थान में प्रकाश दिये जाते हैं । परन्तु गीता वी पद्धति गवाचारमन्त है । इस कारण प्रत्यन्ते अनुषार एक विषय योग्य-स्त्रा यहाँ और पाद्य या वहाँ इन प्रकार वर्णित है । कुछ लोगों वी इसीलिए कि शब्दे क्षाक में 'रग्नारिपरियन्ते' पड़ विषत्वां का सूचित करते हैं । परन्तु उग्रा का जनना विषाट्ना भी करता है । — भयानु एक का अप्यव और विर भायप्त का इन होता रहता है । इम नहीं उपरान कि इसी अवेदा दिवरिष्टते पर वा कुछ अधिष्ठ अप हो जाता है । और धाइरमाप्य में भी बोइ विषाट्ना अप नहीं जनाया यथा है । गीतारहस्य के इन व्याख्या में विषयन किया गया है कि मनुष्य क्या से भवता है । ]

( ११ ) कृष्ण मेर परम स्वरूप वा नहीं जनते कि मैं कृष्ण नृष्ण का महान् ईश्वर है । मेरे मृते मानवतनुपारी नमता कर मेरी भवद्वन्ना करते हैं । ( १२ ) अपरी भावा पाय व्य विष्ट इन विषय और विष में भर द । व माहात्म राज्यी विर भावुरी व्यवह वा भावय विष रहत है ।

[ पद भासी ग्रन्थाव का वर्णन है । क्या देही जननाव वा वर्णन दरत है । — ]

( १३ ) परन्तु द पाय । देही प्रहृति वा भावय वरन्ते महात्मा ग्रन्थ वह नृष्ण वा भावय भाविष्यान कुरुता पद्मान वा भनवयन्त ल मरा मरन बरते हैं । ( १४ ) भी एकमात्र इत्या पर विष पायपुक्त हा तत्त्व द्वितीय वीर्य । १४

यान्ति देवदता देवाभ् स्त्रियान्ति पितृवताः ।

भूतानि यान्ति भूतेभ्या यास्ति मध्याक्षिणोऽपि मासु ॥ २५ ॥

| नारायणीयोपास्थान मैं चारप्रकार के मर्तों में ज्येष्ठ भरनेवाले एकान्तिक मर्त  
| की भेद ( गीता ४ १९ की टिप्पणी देखो ) कर्त्तम् कर कहा है :-

ज्येष्ठं विशिष्टं च यात्मान्या देवतावस्थाः ।

पशुदत्ताः सेवात्मो मामेत्यप्यन्ति करताम् ॥

इष्ट को, उिद को अपवा और दूसरे देवताओं को भरनेवाले साथु पुरुष मैं  
मुझमे ही या मिलते हैं ( म. मा शा १४१ १५ ) और गीता के उक  
भ्रेष्ठं ज्येष्ठ भनुताह मागस्तपुराण मे भी किंवा यता है ( देखो भाग ४  
४ ८-१ ) । इसी प्रकार नारायणीयोपास्थान में किंव भी कहा है :-

ये वत्तमिति विशृणु देवान् गुरुं वैवाहिकीर्तया ।

गात्रैव विश्वसुखात्म पुलिकी मातृरं तथा ॥

कर्मण्य मनसा बाचा विष्णुमेव वत्तमिति है ।

ऐस, पितृर, गुरु भवितिभ ब्राह्मण और गी प्रम्पति की सेवा भरनेवाले पर्वांक  
से विष्णु ज्येष्ठ ही पक्ष भरते हैं ( म. मा शा १४५ २६ २७ ) । इस प्रकार  
मागस्तपुराण के स्पष्ट कहने पर भी - कि यकि को मुख्य मानो । देवतारूप प्रतीक  
दीप्त है । यथापि विविदेष हो तथापि उपासना थो एक ही परमेश्वर की होती  
है - यह को आधर्य जी बात है कि भागवतपुराणवाले यीको से हमेह किंवा  
भरते हैं । पथापि यह उत्तम है कि किसी भी देवता की उपासना क्यों न करे ।  
पर यह पर्वतीर्थी मालान् भी ही है तथापि यह बान न होने से - कि उमी  
देवता एक है - मोक्ष की राह छूट जाती है और मिष्ट मिष्ट देवताओं के  
उपासन्धो भी ऊँची मालान के भनुताह मालान ही मिष्ट मिष्ट भरते हैं । - ]

( २५ ) देवतामैं ज्येष्ठ भरनेवाले देवताओं के पात्र पितृं का ज्येष्ठ भरने  
वाले पितृरो के पात्र ( मिष्ट मिष्ट ) भूतो भे देवतावाले ( उन ) भूतो के पात्र ज्येष्ठे  
हैं और मेरा यक्ष भरनेवाले मेरे पात्र भावते हैं ।

[ उत्तराश यथापि एक ही परमेश्वर उत्तम उमाया दुम्भा है उत्तमापि उपा  
सना ज्येष्ठ फल प्रत्येक के माव के भनुत्तम न्यूनाक्षिक योग्यता का गिर्व भरता है ।  
किंव भी इष्ट पूर्वक्षमन थो मूँह न जाना चाहिये कि यह फलान का जार्य देवता  
नहीं भरते - परमेश्वर ही भरता है ( गीता ४ २ -२३ ) । ऊपर २४ मैं  
फलेक मैं मालान् ने ऐ यह कहा है कि उप फलो का भोक्ता मैं ही हूँ  
उल्ला दात्यर्थ यही है । महाभारत मैं भी कहा है -

वरिमात् वर्तित्वं विष्णो तो तो वर्ति विविक्षम ।

त उमेवादित्वावश्चति वर्त्य भरतमात्म ॥

पिताहमस्य जगतो माता चाता पितामहः ।

वेष्प पवित्रमाकार ऋक्षसाम पशुरेत च ॥ १७ ॥

गतिर्भिर्ता ग्रन्थः साक्षी निवास शरणं सुहृद् ।

प्रमवा प्रलय स्यान निषाने दीजमस्ययम् ॥ १८ ॥

तपाम्पहमाई वर्ष निगृहम्बुत्सूक्षमि च ।

अमूलं वेष्प मृत्युम् सप्तसप्ताहमर्तुन् ॥ १९ ॥

| 'वह शम्भु समानायक होकर इस भूमण म उनकी अकारण विवरिति करने  
| का दोष आता है। ]

(१७) इस खात् का पिता माता, चाता (आधार) पितामह (चाता) मैं हैं।  
जो कुछ पवित्र या ऐसे कुछ हेतु है वह भीर उन्कार, उन्मेड सामवेद तथा यजुर्वेद  
मैं मैं हैं। (१८) (उद्द की) गति, (उद्द का) पोषक ग्रन्थ ग्रन्थ साक्षी निवास शरण  
शरण उत्पादि, प्रलय रिपति निषान भीर अवयव चौब मैं हैं। (१९) हे  
मनुन् मैं उप्पता भेदा हैं। मैं पानी का रोकता भीर बरकाता हैं। अमूल उत्  
भीर अत्तद् मैं मैं हैं।

| [ परमेश्वर के स्वरूप का ही बणन एसा होकर विस्तारत्तिव ३ ११  
| और १२ अभ्यायों में है। तथापि यहाँ इवत्व विभूति न बहुत्यकर यह विषेषता  
| निगृह्यत्वा है कि परमेश्वर का भीर भूमन् के भूता का सम्बन्ध मौकाप और मिथ  
| इत्याहि के समान है। इन दो त्यानों के बननों म यही भेद है। त्यान रहे  
| कि पानी के घरसाने भार रोकने मैं एक निया चाह इमारी हृषि स फायड की  
| भीर दृमती तुकड़ान भी हो तथापि लात्विक हृषि स दीनों को परमेश्वर ही करता  
| है। इसी अभियाय का मन मैं रख कर पहम (गीता ० १२) भाकान ने कहा  
| है कि लात्विक, रात्व भीर तामत सव वज्राय मैं ही उपम बरता हैं। भीर  
| आगे चाट्टूवे अप्पाय मैं विस्तारत्तिव बणन निया है कि गुणवयविमाण ते  
| वहि मैं नानात्व उपम हाता है। इस हृषि न ० के भूमण के उत् भीर अत्तद्  
| पर्ने का क्षम से 'मना' भीर 'बुध यह भय निया भी या उक्षा भीर भागे  
| दीना (० २५-२८) मैं एक चार पक्षा भय निया भी याद है कि इन त्यानों  
| के उत्-भक्तिर्थी भीर भूमन्-विनार्थी या नामकान्-य और नामान्य भय हैं  
| (गीता २ १६) वे ही इत रथान मैं अर्हाप हैंगे भीर मूल्य भीर भूमन् के  
| त्यान उत् भीर भूमन् इत्यामरु राष्ट्र जगद् के नामर्थीय नून न नून परे  
| होंगे। तथापि दीनों मैं सर हैं। नामर्थीय नून मैं 'तत् राज्ञ का उपयाग उपम  
| सुहि के विष निया गया है भीर गीता तत् राज्ञ का उपयाग परज्ञ के विषे  
| सरठी है। एव इत्यसुहि के भूमन् कहती है (राम गीता ० २ २४-२५-

६६ गैविद्या मां सोमपाः पूतपापा पासेत्प्रिवा स्वर्गस्ति प्रार्थयन्ते ।

ते पुण्यमासाद्य सुरञ्जलोक्तमभिति विष्णवनिवृति वेवमोगान् ॥२०॥

ते तैं सुत्कवा स्वर्गस्तोऽविशालं क्षीणं पुण्ये मर्त्यहोकं विश्वनिति ।

एव अर्थीपर्ममनुप्रपत्ता गत्वागतं कामकामा रुमन्ते ॥ २१ ॥

| २४७ )। किन्तु इस प्रकार परिमाणा ज्ञ भेद हो तो मी 'सत्' और 'असत्'  
| दोनों की एक साप योजना से प्रकट हो जाता है कि 'नम इस्यसुष्टि और  
| परब्रह्म दोनों का एकत्र उमामेश होता है। अतः यह भाषाप मी निष्ठम् ज्ञ  
| सोक्षमा कि परिमाणा के भेद से किंतु जो मी 'सत्' और असत्, कहा जाय  
| किन्तु वह दिक्षमने के लिये कि दोनों परमेश्वर के ही स्वरूप हैं—मातान् ने  
| 'सत्' और 'असत्' शब्दों की व्याख्या न दे ज्ञ सिर्फ़ पहुँच कर दिया है  
| कि 'सत्' और 'असत्' मैं ही हूँ (देखो गीता ११ १७ और १३ १२)। इस  
| प्रकार परमेश्वर के स्वरूप अनेक हैं तबाहि अब क्या कहते हैं कि उनकी  
| एकत्र से उपासना करने और अनेकत्र से करने में भेद है :— ]

(२) चो गैविद्य भर्त्यात् शक्त्, यतु और चाम इन तीन वेदों के कम करने  
पाए सोम वीनेशाले भर्त्यात् सोमपादी, तथा निष्पाप (पुण्य) यज्ञ से भेदी पूज्य  
ज्ञ के स्वर्गस्तेष्वप्राप्ति की इच्छा करते हैं, वे इनके पुण्यछेद से पहुँच कर स्वर्ग में  
देवताभी के अनेक दिव्य मोग मोगते हैं। (२१) और उस विशाल स्वर्ग ज्ञ  
उपर्योग करके पुण्य का क्षय हो जाने पर वे (फिर कम ज्ञात) मृत्युछेद से भागते  
हैं। इस प्रकार जबीचमें अर्थात् तीनों वेदों के ब्रह्मवाचा आदि ओतधर्म के पात्रों  
पाए और काम्य उपभोग की इच्छा करनेवाले स्त्रीहों जो (स्वर्ग का) आवागमन  
माप्त होता है।

[ पहुँचिकान्त पहुँचे कई बार आ चुका है कि यज्ञपाप आदि जर्म से  
पा नाना प्रकार के देवताभी की आरामना से कुछ उमय तक स्वर्गवास मिल  
जाय तो मी पुण्याद्य तुम जाने पर उन्हें फिर कम से करके भूमेश मैं आना  
पड़ता है (गीता २ ४२-४४ ४ १४; ६ ४१ ४ २३; ८ १३ और २६)।  
परन्तु मोक्ष मैं वह हानकार नहीं है। वह नित्य है—अर्थात् एक बार परमेश्वर  
हो पा ज्ञेने पर फिर कन्ममरण के बाहर मैं नहीं आना पड़ता। महाभारत  
(इन २६) म स्वर्गसुर का जो वर्णन है वह मी ऐसा ही है। परन्तु यज्ञ-  
पाप आदि से पर्वत्यं प्रमृष्टि की उत्पत्ति होती है; अठाएव उड़ा होती है कि  
इनको उपर होने से इस बाहर का योद्धेम भर्त्यात् निर्णाह किए होंगा! (देखें  
गीता २ ४६ की विवरी और गीतार. प्र १ दृ. २९४)। इसलिये अब  
उपर के शोषों से मिल्य कर ही इच्छा उत्पन्न होते हैं— ]

६६ पूर्ण पुर्ण फलं तोयं यो मे मक्षत्या प्रयच्छति ।

क्वाहं मक्षतुपाक्षमम्भामि प्रयताम्भम् ॥ २६ ॥

६६ यत्करोयि यहासि यज्ञुहोयि दक्षासि यद् ।

यत्पस्यति कीन्तेय तत्कुरुत्य मर्यादणम् ॥ २७ ॥

[ 'ये पुरुष जिस मात्र में निष्पत्त रखता है वह उठ मात्र के अनुरूप ही फल पाता है (गीता १७२ ३) और भुवि भी है य यथा मध्यापासते होड़े मत्ति (गीता ८ ६ की टिप्पणी ऐसो)। अनेक देवताओं की उपासना करनेवाले को (नानात्व से) जो फल मिलता है उसे पहले चरण में करता कर दूसरे चरण में यह अर्थ बर्णन किया है कि अनश्यम्भव से मगान् की भक्ति करनेवाले को ही सबी मात्रत्वाति होती है। अब मृदिमाग के महस्त का यह तत्त्व कहत्वात् है कि मगान् इस भोर न देल कर— कि हमारा मक्ष हमें क्या समर्पण करता है!— देवत उसके मात्र की ही भोर हाहि ते करके उठकी भूति स्वीकार करते हैं— ]

(२६) ये मुहूर्त से एक-आष पर पुर्ण फल अवश्या (यथाशक्ति) आज्ञा-सा चक्र भी अर्पण करता है एक प्रयत्नात्म अर्थात् निष्पत्तिच्च पुरुष की भक्ति की भट्टा में (भानन्द से) प्रहृष्ट रखता है।

[ कर्म की अपेक्षा बुद्धि भेद है (गीता २ ४९)—यह कर्मयोग का तत्त्व है। इसका ये उपानिशद् भक्तिमात्र में हो जाता है इसी का बहन उच्च भेद में है (देवये गीतार प्र १६ पृ ४७८-४८)। एस विषय में मुग्धमा के तत्त्वुद्दीपनी की जात प्रतिष्ठित है; और यह भैरव मात्रत्वपुरुष में मुग्धमान्तरित के उपास्यान में भी भावा है (माग ३ उ ८१ ४)। इसमें सम्मेह नहीं कि पुरुष के इत्य अवश्या सामग्री का स्पूनाशिक होना उपश्या मनुष्य के हाथ म नहीं भी रहता। इसी से शास्त्र में कहा है कि यथाशक्ति प्राप्त होनेवाले स्वप्न पूण्ड्रात्म्य से ही नहीं प्रस्तुत द्युष्म मात्र से उम्मदण किये हुए मानसिक पूण्ड्रात्म्यी के भी मगान् उत्तुष्ट हो जाते हैं। देवता मात्र का भूला है न कि पूर्य भी सामग्री का। भीमातृक्षमाग की अपेक्षा मृदिमाग में ये हुए किशोरता है वह यही है। यशाय बरने के किये उत्तुष्ट-ही सामग्री खुटनी पहती है; और उद्याग मी उत्तुष्ट परवा पहता है। परम्पुरा भक्तियह एक तुस्तीरत से मी हो जाता है। महाक्षरत में क्षा है कि उत्तुष्ट तुलसीपर पर पर आते तत्त्व दीर्घी ने इसी प्रकार के यह से मगान् को उत्तुष्ट कीपा या मात्रत्वक दिल प्रकार भग्ने कर्म करता है भग्न ये उत्ती प्रकार बरने वा उत्तोर्य देवर बनाता है कि इसके क्या कर्म मिलता है? ]

(२७) हे बीन्तेय। तू ये (हुए) करता है ये लाता है होम इसन करता

शास्ति देवद्रता देवान् पितृन्यान्ति पितृद्रताः ।

शूलानि शास्ति शूलेज्या यान्ति मध्याक्षिलोऽपि मासु ॥ २४ ॥

नारायणीयोपास्त्वान् मै भारप्रदर के मर्तों मै कम करनेवाले एवन्तिक मर्त  
की भेष (गीता ७ १९ की टिप्पणी देखो) करत्वा कर कहा है :-

लक्ष्यने सिद्धिकर्त्त च पात्रान्वा देवता स्मृतः ।

प्रदुर्बलीः सेवन्तो मासेवैष्णवित्पन्नपरमः ॥

ज्ञान की, विद की अवधा और दूसरे देवताभीं को भरनेवाले तात्पुर्य पूर्व मै  
मुखमे ही आ भिक्षते हैं (म. मा शा १४१ ३६); और गीता के ठह  
भोक्तों का अनुबाह मागवतपुराण मै भी किया गया है (देखो भाग १  
४ ८-९)। इसी प्रदर नारायणीयोपास्त्वान् मैं छिर मी कहा है :-

वे वज्रिति शिव देवान् शुक्लेष्वातिशीलता ।

ग्रन्थेष्व द्वित्सुर्वाद्य पूर्विकी मात्रर्त तथा ॥

कर्मच्य महसा वाचा विष्णुमेव वज्रिति है ।

ऐप पितर गुरु भविति, ब्राह्मण और गौ प्रमति की देवा करनेवाले पदांक  
से विष्णु का ही भवन करते हैं (म. मा शा १४६ २६ २७)। इत प्रकार  
मागवतपुराण के लक्ष बड़ने पर मै - कि मध्यिकों को मुख्य मानो। देवतारूप प्रवीकृ  
गीण है। पवापि विधिमेव हो तथापि उपालना तो एक ही परमेश्वर की होती  
है - यह क्षेत्र आश्रय की बात है कि मागवतपर्मदाले देवा से कर्मच्य किया  
करते हैं। पवापि यह सत्य है कि किंतु भी देवता की उपालना क्यों न करें?  
पर यह पूर्वान्ती भावान् को ही है; तथापि यह ज्ञन न होने से - कि तभी  
देवता एक है - मोक्ष की राह भूत जाती है। और मिम मिष्ठ देवताभी के  
उपालनों की ऊंकी मावना के अनुसार मावान् ही मिष्ठ मिष्ठ छल होते हैं ।

(२६) देवताभीं का क्षत करनेवाले देवताभीं के पात्र पितरों का क्षत करने-  
वाले पितरों के पात्र (मिष्ठ मिष्ठ) भूतों को पूर्वनेवाले (छल) भूता के पात्र जाते  
हैं और मेहा पञ्च करनेवाले मेहे पात्र भावते हैं।

[ लाराय चथपि एक ही परमेश्वर एवं तथापि उपा  
लना का एक प्रत्येक के भाव के अनुबन्ध शूलाधिक दोग्यता का मिल बरता है।  
छिर मै इत पुष्करन का भूत म आना चाहिये, कि यह घृणन का भाव देवता  
नहीं करते - परमेश्वर ही करता है (गीता ७ २०-२१)। उत्तर १४ मै  
भयोऽ मै मावान् ने को यह कहा है कि तद यह का मावना मै ही हूँ,  
उत्तरा दावरप पही है। महामारुत मै भी कहा हूँ -

वर्णमन् वर्णमन् विष्णवे भी तो बनि विविक्षम ।

ए तमेष्वाभिज्ञानानि वाच्य भावान्वत्तम् ॥

अनन्यादिवसमतो मा ये जलः पर्युपास्ते ।

तेषां नित्याभियुक्तामां योगदेहे वाहाम्यदम् ॥ २३ ॥

हु ॥ येऽप्यन्येवतामका पदमते अद्यानिकता ।

तेऽपि मामेव कौन्तेय यज्ञस्यविद्यूर्बक्तम् ॥ २४ ॥

अहं हि सर्वयज्ञामां भोक्ता च प्रमुखेव च ।

न तु मामभिज्ञानमित तस्येनातश्चवस्ति ते ॥ २४ ॥

( २३ ) ये अनन्यनिष्ठ योग मेरा चिर्णन कर मुझे मङ्गले हैं, उन नित्य बोगमुक्त युर्स्यों का योगदेह मैं किया करता हूँ ।

[ ये उल्लं भिज्ञी नहीं हैं उसको कुगने का नाम है योग और भिज्ञी शुर्त वस्तु की रक्षा करना है लेम । यावत्तोष मैं भी ( टेठीं १० और २९२ श्लोक ) योगदेह मैं भी ऐसी ही स्थायता है और उसका पूरा अर्थ साधारित नित्य निर्बोह है । गीतारहस्य के तीर्थदेव प्रकरण ( पृ १८५-१८६ ) में इसका विचार किया गया है कि कर्मयोगमार्ग में इस भेदक का क्या अर्थ होता है । उसी प्रकार नारायणीय पर्म ( म भा शा. १४८ ७२ ) मैं भी बताने हैं कि :-

भर्तीपितौ द्वि ये कैविल् पतलो मौक्षिकमिष्टः ।

तेषां विकिळात्पृथ्वीं योग्येन्मत्ताहो इति ॥

ये पुरुष एकान्तमत्त हों तो भी प्रहृष्टिमार्ग के हैं - अर्थात् निष्कामदुदि से कर्म किया करते हैं । अब इसके दो दोषों की व्युत्पत्ति से सेवा करनेवाले भी अन्त में भीन गति होती है । ]

( २४ ) है भीन्तेय । अद्यामुक्त होकर अन्य देवताओं के मत का बतके यो व्यय यज्ञ करते हैं वे भी विधिपूर्वक न हों तो भी ( पर्याप्त हो ) मेरा ही पद्धत करते हैं । ( २५ ) क्योंकि सब वर्णों का भोक्ता और स्वामी मैं ही हूँ । किन्तु वे दस्तावेज़ मुझे नहीं देनते । इसस्तिये वे क्योग परि जाया करते हैं ।

[ गीतारहस्य के तीर्थदेव प्रकरण ( पृ ४ १-४ ७ ) मैं यह विवेचन है कि "न दोर्मी भ्योक्ता के सिद्धान्त का महात्म क्या है । वैतिक चतुर्मिस मैं यह तत्त्व बहुत पुराने लम्पय ते चल्म आ रहा है कि कोई भी देवता हो वह मात्रान् अ ही एक रक्षक्य है । उग्राहणात् ज्ञानेत मैं ही कहा है कि एक लक्ष्मी चतुर्मा वदस्त्यविषयम् मातृरिधानमाद्यु ( च. १ १६४ ५६ ) - परमेश्वर एक है । परन्तु परिहित व्येष्य उठी की भीषि, यम मातृरिधा ( चापु ) कहा करते हैं; और इसी के अनुत्तर भागों के अध्याय मैं परमेश्वर के एक होनेवर भी उपर्युक्त अनेक विविहियों का वर्णन किया गया है । इनी प्रथम भागाम्यारत के अस्तमतु

द्विमाणुभक्तेवं भोगसे कर्मवन्धनैः ।  
संन्यासयोगयुक्तामा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ २८ ॥

इह समोऽहं सर्वमूलेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न भिक्षा ।  
ये भजमित् तु मी मरणा मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ २९ ॥

है ये ताज करता है (और) ये तप करता है वह (तप) मुझे अर्पण किया कर। (२८) इस प्रकाश करने से (कर्म करके भी) कर्मों के द्वाम-भाद्राम प्रक्रम कर्त्तव्यों से तू मुक्त रहेगा और (कर्मफलों के) संन्यास करने के इस योग से खुक्खात्मा अर्थात् शुद्ध अन्तर्करण हो कर मुक्त हो जावगा एवं मुक्तमे मिल जायगा।

[ इससे प्रकृत होता है कि मात्रकर्म भी हृष्णार्पणमुद्दिते से समस्त कर्म और उन्हें छोड़ न दे। इस दृष्टि से ये दोनों क्रोड महात्म के हैं। व्रश्यार्पण व्रश्यार्पण के अनुसार इष्ट क्रोड मेरे कर्त्तव्यों हैं (गीता ४ २४)। इसे ही भक्ति की परिमाण के अनुसार इष्ट क्रोड मेरे कर्त्तव्यों हैं (देखो गीतार्थ १३ पृ ४१४ और ४१५)। तीसरे ही अध्याय में अनुरूप से इष्ट दिया है कि मयि सर्वार्थि कर्माणि उन्नत्य (गीता ३ १) – मुहम् सब कर्मों को संन्यास करके – तु इ कर और पौच्ये अध्यात्म मेरे लिये इष्ट है कि तप्त मेरे कर्मों को अर्पण करके सज्जरहित कर्म करनेवाले को कर्म क्षम त्रैम नहीं ज्ञाता (५ १)। गीता के मात्रानुसार यही यथार्थ सन्यास है। (गीता १८ २)। इस प्रकाश अर्थात् कर्मपञ्चकाश क्रोडर (कुम्भात्) सब कर्मों को करनेवाला पुरुष ही ‘नित्यरत्नवाही’ है (गी ५ १) कर्मत्वागकर्प तन्यात् गीता को समाप्त नहीं है। पीछे अनेक स्थानों पर इष्ट मुक्ते हैं कि इस दृष्टि से किये हुए कर्म मोक्ष के किये प्रतिक्रिया नहीं होते (गीता २ १४ १ ११; ४ २४; ५ १२ व २ ८८) और इस २८ में क्रोड मेरे उत्ती द्वय को किये इष्ट कर्म है। माणवतपुराण में ही दुर्विहसिती भागवान् ने प्रस्ताव की यह उपदेश दिया है कि मध्यारोहण मनलक्षात् कुरु कर्माणि मत्पर – मुहम् चित्त स्त्रा कर सब काम किया कर (भाग ७ १ २१)। और आगे एकदश स्त्राव मैं भक्तियोग का यह उत्तम कर्त्तव्य है कि मात्रकर्म कर सब कर्मों को नारायणार्पण कर दे (देखो भाग ११ २ १६ और ११ ११ २४)। इति अध्याय के भारतम् मैं बर्जन किया है कि भक्ति का मर्त्य मुक्ताकार और मुक्तम् है। अब उहके समत्वस्त्री दूसरे बड़े और विदेश गुप्त कर्मन कहते हैं :- ]

(२९) मैं तप को एकता हूँ। न मुझे (कोई) देख भवात् भग्निय है और न (कोई) प्यासा। भक्ति के लो मेरा भक्त बरतते हैं जे मुहम् हैं; और मैं भी उनमें

६६ पर्व पुर्यं फलं तायं यो मे मक्षया प्रपञ्चति ।  
तवहै मक्षुपृष्ठाममामि प्रपत्तामम् ॥ २६ ॥

६७ अस्त्वरेपि यहमासि यजुहोपि वासि यत् ।  
पक्षपत्यसि कीन्तेष्य तत्कुरुत्य मर्द्यन्तम् ॥ २७ ॥

‘ये पुरुष जिस मात्र में निवाय रखता है वह उस मात्र के अनुरूप ही उस पाता है (शा ३५२ १)- और भूति भी है ‘य यथा मयापास्ते तदेव मत्ति’ (गीता ८.६ की टिप्पणी हेत्वे)। अनेक वेक्षाभी की उपासना करनेवाले को (नानात्व से) ये फल मिलता है उसे पहले चरण में करता कर दूसरे चरण में यह अप्य बर्यन किया है कि अनन्यमात्र से मगान् ए मृक्ष करनेवाले को ही सभी ममकरप्राप्ति होती है। अब मृक्षमार्ग के महात्मा पह तत्त्व करते हैं कि मगान् इस ओर न देख कर— कि हमारा मक्ष हमें क्वा समर्पण करता है! — वेक्ष उठके मात्र भी ही ओर हाथि दे चरके उलझी भृक्षि स्वीकार करते हैं — ]

(२६) जो मुझे हे एक-भाष पर, पुर्यं फल अपया (यथाशक्ति) याहा-सा उत्तम भी अर्पण करता है इस प्रपत्तनाम अपात नियतचित्त पुरुष की मृक्ष का मि (आनन्द से) प्रहृण करता हूँ।

[कमे की अपेक्षा कुछ भेद भेद है (गीता २.४) — यह कमयोग का उत्तम है। इतका ये उपानिदेश मृक्षमार्ग में हो जाता है इसी का उपन उत्तम भृक्ष मि है (देवी गीतारूप १६ पृ ४०८-४८)। इस विषय में सुशमा के उत्तमुत्तम की बात प्रतिष्ठित है; और यह स्तोक मामकपुराण में कुशमास्त्रित्र के उपाय्यान में भी आया है (मात्र ३. ८१ ४)। इसमें सम्मेह नहीं कि पूजा के द्रव्य अपया कामग्री का स्मृताशिष्ट होना उपया मनुष्य के हाथ में नहीं भी रहता। इती ते शास्त्र में कहा है कि यथाशक्ति प्राप्त होनेवामे तत्पत्ति पूजाद्रव्य से ही नहीं प्रसुत द्युष्मन यथा से कमपण किये हुए मानसिष्ट पूजाद्रव्यों से भी मगान् उत्तम हो जाते हैं। देवता भट्ट का भूता है; न कि पूजा की कामग्री का। भीमाकृष्णमार्ग की अपेक्षा मृक्षमार्ग में जा कुछ विशेषता है वह यही है। परयाग करने के लिये कानुन-सी कामग्री कुशनी पहती है और उपासा भी पहुँच परना पड़ता है। परन्तु मृक्षियह एक तुलनीय से भी हो जाता है। महामारत में कहा है कि वह दुर्वालशरि पर पर आये तत्प्रीयती ने इसी मृक्षार क पहुँचे मगान् ए कुनुम कीया का मामकद्रव्य लिल प्रकार अपने कम रहता है भ्रुम जा उसी मृक्षार करने का उपराज देवर इत्यात् है कि इससे क्या क्या प्रभ मिष्टा है! ]

(२७) इ कीन्तेष्य । तृष्ण (इष्ट) करता है ये तत्त्व दे इस दृश्य करता

॥६॥ मन्मना मय मङ्गलो मध्याजी मा नमस्कुर ।

मामेवैष्वसि युक्तैवमात्मां मत्परावद ॥ ३७ ॥

इति आमद्वग्नादीत्याद्यु उपनिषद्सु व्रह्मकिञ्चावा योगशास्त्रे श्रीहृष्मालुनस्यादे  
रात्यविद्यास्त्वयुक्तयोगो नाम नवमोऽन्ध्याप्तः ॥ ९ ॥

है। पापयोनि शब्द से वह व्याति विचारित है कि आज्ञात रात रत्नम में  
स्वराम पैदा होम कहते हैं। इस ऋण का विद्यास्त्र पह है कि इस व्याति  
के घेमों को मी मालदाकि से खिदि मिछती है। जी ऐस्य और शूर कुछ इस  
वर्ग के नहीं है। उन्हें मोह मिछने में इतनी ही शापा है, कि वे वह तुनने के  
अधिकारी नहीं हैं। इच्छी से मात्रावत्पुराण में यहा है कि:-

श्रीहृष्मादीत्याद्युती न मुतिगोचरा ।

कर्मजेयसि शूराद्यं भेद एवं मवेति ।

इति भारतमात्मां दृष्ट्या शुभिता हृष्म ॥

‘कियों, शूरों भवता कलियुग के नामधारी ब्राह्मणों के प्याना में वह नहीं  
पर्हृचता। इति कारण उन्हें शूरस्ता से क्षणने के किये स्यासमुनि ने इपात्र हृष्म  
उनके कस्यायाप महाभारत की – अर्थात् गीता की भी – रचना की (भग्व.  
१४ २८)। मात्रादीता के ये भौतिक कुछ पाठेभेद से भनुगीता मैं भी पाये  
जाते हैं (मा अथ २९ ६१ ६२)। व्याति का वर्ण का जी पुस्त भावि  
का अथवा काले-गोरे रङ्ग प्रकृति का कोई भी भेद न रख कर उपर का पक ही  
से तद्रूपि देवतासे मालदाकि के इति यजमार्ग का दीक वडापन उठ देश की –  
और कियोपता महारात्र की – उत्तमपदस्थि के इतिहास से किसी को भी शूत हो  
जायगा। उत्तितिति ऋण का अधिक शुद्धता गीताराहस्य क प्र. १३ दृ. ४४०–  
४४४ मैं देतो। उठ प्रकार के वर्ण का आचरण करने के विषय में १३ दृ. ५४५  
के उत्तरार्थ मैं भनुन को बो उपदेश किया गया है भगवत् ऋण मैं भी वही  
वर्ण रहा है।]

(३८) दृष्म मन स्या। मेरा मत हा। मरी गृजा कर; भार तुम नमस्कार  
कर इति प्रकार मत्परापर हा कर पाग का अभ्यास करन से मुक्त ही पोदेया।

[ बालक मैं इति उपदेश का भारम् ३३ दृ. ५४५ मैं ही ही गया ८।  
३३ दृ. ५४५ मैं भनिय पर अपामद्याय के इति निदान का भनुकार भाषा  
८ मैं प्रहृति का फैलाव भवता नामधाराम् दृष्मस्त्रिभ भनिय है; और एवं  
वायप्रका ही विष्य है। और भनुन पर मैं इति निदान का भनुपाइ है, मैं  
इति तकार मैं कुन की अपापा दुन अधिक है। तथाति यह वर्णन भव्याम् का

अपि चेतुराचारे भजते मामनन्यमाक ।

सापुरेष स मन्त्रस्य सम्बद्धवस्तिं हि स ॥ ३० ॥

हिं भवति घर्मा भा शाखचार्निं निगच्छति ।

कैलेय प्रतिभानीहि न म भक्त धणस्यति ॥ ३१ ॥

मा हि पाय व्यपात्रिस्य येऽपि स्यु पापयोगय ।

तिथो वैस्यासाया शुद्धालोऽपि यान्ति पर्य मतिम् ॥ ३२ ॥

कि पुनर्ग्राहणाः पुण्या भक्ता राजर्पयस्तया ।

अनित्यमसुखे लोकमिर्म प्राप्य भजस्व माम ॥ ३३ ॥

है । (१) वह बुराचारी ही क्यों न हो ? यदि वह सुसे भनन्यमात्र से भक्ता है तो उसे वह बापु ही भमलना चाहिये । क्योंकि उसकी बुद्धि का निष्पत्य भक्ता रहता है । (२) वह अपनी भमात्मा हो चक्ता है और नित्य शान्ति पाता है । ह 'कैलेय' तु तप समझे रह कि मेरा भक्त (कमी मैं) नह नहीं होता ।

[ तीछे स्पेक का मावाय परला न समझना चाहिये कि भमलद्वारा यहि बुराचारी हो क्यों मैं भमान की प्वारे रहत है । भमान इतना ही नहते हैं कि पहले कोई मनुष्य बुराचारी भी रहा हो परन्तु उन एक वार उसकी बुद्धि का निष्पत्य परमेश्वर का भमन करने मैं ही चक्ता है तब उसके हाय से फिर वो भी बुद्धि नहीं हो चक्ता । और वह भीरे भीरे भमात्मा हो कर भिन्दि पाता है तथा इसी भिन्दि के उसके पाप का भिन्नुक नाश हो जाता है । लारीय छड़े व्यायाम (६ ४४) मैं ये यह भिन्नात्म दिया था कि कर्मयोग के ज्ञानने की सिव दृष्टि हमें से ही बाचार हो कर मनुष्य एवं भगवान से परे पाण चक्ता है । अब उन ही भक्तिमार्ग के सिवे सागृ कर दियवाया है । अब इन वार का भक्तिपुण्यका रहते हैं कि परमेश्वर तब भूतों का पतना करेंगे हैं । ]

(३) वर्णित है पाय ! मेरा भाभ्य करके विहीं वैस्य और शूद्र भयवा अन्याद आं गो पापयोगि हों तो मी परमागति पाते हैं । (४) फिर पुण्यवान् ब्राह्मणी की भरे भक्तों भी और राजर्पियों ऋषियों की चातु भवा रहनी है । तु इत्य अनित्य भार भम्म भगवत् दुर्गमात्रक शून्यशोक मैं है । इति कारण मेरा भमन कर ।

[ ५० वे भोग के 'पापयामि शास्त्र' का स्वरूप न मान कुठ दीक्षाकर । रहत है कि वह विहीं वैस्यों और शूद्रों को मी लगा है । क्योंकि वहमे दुर्जन मृण पाप विष मिला और मी व्यों, वैष्णव या शूद्र का अम नहीं पाता । उन्हें पत मैं पापयामि शास्त्र नाशात्म है । और उनके मैं अन्यदन के विष ली वैष्णव तथा शूद्र उग्रहरणाय दिव ल्ये हैं । परन्तु हमारी राय मैं पह भय दीर्घ नहीं

होने पर आगे ये सात मनु आयेगे (भाग ८ १३) उनको साक्षिं मनु चहत है। उनके नामः साक्षिं दद्वाक्षिं, वद्वाक्षिं वर्मधाक्षिं, चतुर्क्षिं तेव्वाक्षिं और इम्ब्राक्षिं—हैं (विष्णु ३ २ भागवत ८ १३; हरिर्वद १ ४)। इस प्रक्षर प्रस्त्रेक मनु के सात सात होने पर कोई कारण नहीं क्षमता या सक्ता किसी भी वग के पहले के 'चार ही गीता में क्यों विवित होते? लक्षणद्वयुराज (४ १) में यहाँ है कि साक्षिं मनुओं में पहले मनु ये ओह कर अगले पार अर्थात् दृष्टि—द्रष्टा—क्षम—और चतुर्क्षिं एक ही समय में उत्पन्न हुए। और 'सी माघार से कुछ अंग कहते हैं कि ये ही पार साक्षिं मनु गीता में विवित हैं। किन्तु इस पर पूछा आयेप यह है कि ये सभी साक्षिं मनु मविष्य में होनेवाले हैं। इस वारन पहुँ भूत्काळार्थीक भागम् वास्तव किसे 'स अक्ष में प्रवा तुर्द मात्री साक्षिं मनुओं को क्षमा नहीं हो सकता। इसी प्रक्षर पहले के पार शब्दों का सम्बन्ध 'मनु' पर से ओह देना यौक नहीं है। अतएव कहना पड़ता है कि 'पहले के पार ये होनी शब्द सदतना रीति से प्राचीन शब्द के क्षेत्रे पार क्षमियो अपवा पुरुषों का बोध करते हैं। और ऐता मान ऐने से यह प्रभ सहज ही होता है, कि ये पहले के पार क्षमिया मा पुरुष ऐन हैं। किन यैषाक्षरो ने इस अस्त्रे क्षम ऐता अर्थ किया है उनके मत में सनक् सनन्द सनातन और सनसुमार (मागवत ३ १२, ४) ये ही ये पार अर्थ हैं। किन्तु 'स अर्थ पर आयेप यह है कि यद्यपि ये चाहे क्षमिया के मानसुपुत्र हैं तथापि ये सभी अक्ष में ही उन्नासी होने के वारन प्रवा तुर्दि न करते ये और इस स वृष्णा न पर कुद हो येते ये (भाग ३ १२; विष्णु १ ४)। अर्थात् यह वास्तव इन पार क्षमियों को किसीद्वय ही उपसुक्ष नहीं होता कि किसे इस अस्त्रे में पहुँ प्रवा तुर्द — येपा अक्ष इमा प्रवा:। इसके अतिरिक्त कुछ पुरुषों में यद्यपि यह बर्जन है कि ये क्षमिया पार ही ये तथापि मारत के नारायणीय अर्थात् मागवतभर्म में वृष्णा है कि इन चारों में सन क्षमिया और सनसुखात के मिल ऐने से ओह सात क्षमिय होते हैं के उच वृष्णा के मानसुपुत्र हैं और वे पहले से ही निष्ठिकर्म के ये (म भृ ४ ४ १४ १७ १८)। इस प्रक्षर सनक् आपि क्षमियों को सात मान ऐने से कोई कारण नहीं दीख पड़ता कि इनमें से पार ही क्यों किये जायें। किंतु पहले के पार ही भीन! हमारे मत में इस प्रभ का उच्च नारायणीय अपवा मागवतभर्म की पौराणिक कृष्ण ते ही दिया जाना चाहिये। क्योंकि वह निर्विकाठ है, कि गीता में मागवतभर्म ही ये प्रतिपादन किया जाता है। अब यह यह देखें कि मागवतभर्म में सहि की उत्पादि की कल्पना किस प्रक्षर की थी? तो यह अपेक्षा कि मरीचि भाटि सात क्षमियों के पहले वासुदेव (अपरमा) उद्दर्श (चीव), प्रतुल (मन) और अनिष्ट (अहङ्कार) ये पार मूर्तियों उत्पन्न हो गई थीं। आर वृष्णा है कि इनमें से फिल्के अनिष्ट से अर्थात् अहङ्कार

## दशमोऽध्याय ।

अमावास्याम् ।

भूय पञ्च महाबाहो शृणु मे परमं वच ।  
यतेष्ह ग्रीष्माण्याय वस्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥  
न मे विदु सुरमणा प्रभय न महर्षयः ।  
अहमादिर्हि देवानां महर्षीर्मा च सर्वशः ॥ २ ॥

[ नहीं है मधिमाग का है । अठाएँ मावान् ने पराम भवता परमारमा शब्द का प्रयोग न करके मुझे मत, मुझमें मन समय मुहे नमलार कर देखे व्यक्तस्वरूप के विज्ञानिकासे प्रथम पुरुष का निरोध किया है । मावान् का अन्तिम वचन है कि है अहम ! इस प्रकार महिं करके मात्ररायम् द्वेषा हुआ योग अपाल् कमयोग का अम्बासि करता रहेगा ता ( देखो गीता ७ १ ) त् कमर्मन ऐ मुख ही करके निरुद्देह मुझे पा सेगा । इती उपदेश की पुनराहृति स्यारह अध्याय के अस्त्र में की गई है । यीता का रहस्य मी पढ़ी है । में इतना ही है कि इत रहस्य को एक बार अप्यात्मटिं ते भीर एक बार मधिमाग से कठब दिया है । ]

इस प्रकार भीमावान् के गाये हुए । - अपाल् कहे हुए - उपनिषद् म वस्त्र विचान्तरात् योग - अपाल् कर्मयोग - शाश्वतिप्रवक्त भीरुण भीर अहमुन के सवाइ में राजविष्णा-रामगुणयोग नमल नौरों अध्याय समाप्त हुआ ।

## दसवाँ अध्याय

[ पिछ्मे अध्याय में कर्मयोग की किंहि किंवे परमेश्वर के व्यक्तस्वरूप की उपालना का था रामयाग कल्याणा गाया है । उसी का इस अध्याय में वचन हा रहा है । भीर अहम् के पृष्ठे पर पर परमेश्वर के अनेक व्यक्त वर्णों भवता विभूतिया का वर्णन किया गया है । इत बगान का मुन तर अहमुन के वन में मावान् के प्रथम स्वरूप क्य देखने की राष्ट्र हुए । अतः ११ में अध्याय में मावान् ने अम् विधरूप दिलान कर इत्यापि विदा है । ]

भीमावान् ने यहा - ( १ ) हे महाश्रु ! ( मर याच त ) कम्बुज इनवामे द्वारा तेरे दिवाप मि तिर ( एव ) अप्ती वात वहन है डन तुन । ( २ ) देवानाभी क गत भीर महर्षि मी भीरी उत्पत्ति को नहीं जलत । वर्णकि देवता भीर महर्षि का

यो मामकमनार्दि च देसि लोकमहेभरम् ।  
 असमूहः स मत्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

५५ तुदिशांगमसमोहः समा सत्य एमः हमः ।  
 तुलं तुलं भवोऽभावो भय आमयमेव च ॥ ४ ॥

अहिंसा समता तुष्टिसत्यो धानं यज्ञोऽयज्ञः ।  
 भवस्ति भावा मूतानां मत्त पश्य पृथमिथा ॥ ५ ॥

महर्षय तस पूर्वे जात्याहे मनवस्ताया ।  
 मज्जावा मामसा जाता येषां छोक इमा प्रजा ॥ ६ ॥

तब प्रक्षर से मैं ही आविक्षण हूँ । (१) ये जानता है कि मैं (पृथी आदि तत्) अंगों का चक ईक्षर हूँ; और मैंपा कन्म तथा आदि नहीं हैं मनुष्यों में वही मोहकिरीहु छोक तब तब पापों से मुक्त होता है ।

[ 'कल्पेन' के नाथीव सूक्त में वह किंचार भावा जाता है कि भगवान् चा-  
 परज्ञस भेतामो के मी पृष्ठे च है देवता पीछे से हुए (देखो गीतार प्र ३,  
 पृ २८६) । उस प्रक्षर प्रस्तावना ही गई । अब भावान् इह अनुस्पत्न करें  
 है कि मैं तब का मोहक्षर हैं (१) ]

(२) तुदि ज्ञान असमोह समा सत्य, एम एम सुख तुल भव (उत्पत्ति)  
 अमाव (नाश) भय अमम (५) अहिंसा समता तुदि (सत्योप) तप दान  
 पश्य और अवश्य आदि अनेक प्रक्षर प्राप्तिमाल के मध्य गुहसे ही उत्पन्न होते हैं ।

[ 'भाव धम च अर्थ है भवस्या' 'रितिः' या 'तुदि' और तात्पर  
 शास्त्र में तुदि के नाम पश्य धारीरिक भाव ऐसा भेद किया गया है । साक्षम  
 याज्ञी पुरुष के अकर्ता और तुदि के प्रहृति का एक किंचर मानते हैं इतिहास  
 में कहते हैं कि लिङ्गायत्री के पशुपती आदि मिथ मित्र भव्य मित्रों का क्रात्य  
 मित्रायार्दी में रहनेवाली तुदि भी उमित्र भवस्यार्दी अवश्य माव ही है (देखें  
 गीतार प्र ८ पृ १८९ और उच च ४०-५६) और स्वर के हो स्मृत्य  
 में इन्हीं मावों का वर्णन है । परन्तु देवान्तियों का विवान्त है कि प्रहृति और  
 पुरुष से भी पौर परमात्मकी एक नित्यतात्त्व है और (नाथीव सूक्त के वर्णन-  
 तुलार) उठी के मन में सुहि निर्माण करने व्य इच्छा उत्पन्न होने पर तारा इस  
 अकाल उत्पन्न होता है । इस कारण देवान्तियां मौज्जा हैं कि सुहि के मावास्तक  
 उभी पश्य परज्ञ के मानन गाव हैं (अयम् ल्लोक देखो) तप, दान और चर  
 आदि शब्दों से उत्पन्न तुदि के गाव ही उत्तिष्ठ है । भावान् और कहते हैं कि:- ]

(३) तात महर्षि उनके पृष्ठे के चार, और मनु मेरे ही मानन भर्षात् मन से  
 निर्माण दुष्टे हुए भाव है कि किन्तु (इह) छोक मैं यह प्रश्य हुई है ।

६६ पत्ती विमृति योग च मम यो वेत्ति तस्यतः ।

मोद्यिकम्पन यामेन युम्पते शाक्र साया ॥ ७ ॥

अहं सर्वम्य प्रभयो भक्तं सर्वं प्रवततः ।

इति भज्ञा भज्ञता मौ गुणा भावसमन्विता ॥ ८ ॥

[ ऐ या वाक्य से मरीचि भारि पूर्व उत्तर दूष (म.मा.शा. १३ ३४-५  
भीर ६ -३२; १४ २३-३१)। वामुद्वय सद्वरण प्रायुम भारि भनिष्ठ  
इन्हीं भारि मूर्तियों की 'चतुर्मूह' कहते हैं। भारि भावतपम के एक पर्य  
का यह है कि ये वारीं मूर्तियों स्वतन्त्र यीं तथा दूषे दूष सोग इनमें ले  
लीज भयवा हो का ही प्रचान मानते हैं। जिन्हुं भावतीता का ये क्षम्यनार्थ  
माय नहीं है। हमने (गीतारहस्य प ८ २ १ ६ भीर परि. ६४ -  
(६४) मैं विवरण रे कि गीता व्याख्यात्यम की है - भयान् एक ही  
परमेश्वर से चतुर्मूह भारि तद दूष की उर्ध्वन मानती है। भक्त घृदामक  
वामुद्वय मूर्तियों का स्वतन्त्र न मान कर इति भगव मे इशापा है कि ये  
वारीं घृह एक ही परमेश्वर भयान् उदाहारी वामुद्वय के (गीता ० ११)  
भाव हैं। इन दृष्टि त दृष्टि पर विभिन्न होता है कि भावतपम के भनुतार  
पद्म व पारि इति शब्दों का उत्तरान वाक्य भारि चतुर्मूह व विषय विषय  
तथा है कि ये मूर्तियों के पूर्व उत्तर एवं धर्म मात्र में ही विभिन्न है कि  
स्वाराहस्य च चतुर्मूह भारि भड़ पहले भ ही प्रवर्णित प (म.मा.शा. १४८  
५५)। यह वाचना दूष हमारी ही न ही है भावतपम भावतपम नारा  
दर्शयन्त्र के भनुतार इसमें इस वर्त्तक का भय या क्षम्यका है गाँ  
मट्टी भयान् मूर्तियि तर्हि एवं व वरि भयान् वाक्य भारि चतुर्मूह  
भारि भनु भावतु भेदे इति गमय म परि । हा दूष प भारि वाक्यन मृद विभा  
वरि भयान् च भारि भावतु भनिष्ठ परि । भद्रार भारि भारि मूर्तियों  
व वर्त्तेपरि व दूष क्षम्यो वी वाचना भवता देव भेरि भयान् गम्यो म दी जार्ह  
तर्हि ८ (१ प.मा.शा. १११ ३ ८) वर्त्तेपरि व भयान् का वर्त्तन हो  
दूष । १४ वाचन । है कि इन दृष्टि वाचना वर्त्तन न हो ११  
विभा ८ ]

(१) एवं भी इति विभा । मृद विभा भौति वाक्य भवता । विभा वारि व  
तर्हि वाक्य वाक्य वाक्य वाक्य है इति विभा व विभा (७४) दूष दूष  
दूष । (८) १४ वाचन वा - विद्ये वाक्य वाक्य वाक्य वाक्य है भौति वाक्य वाक्य  
वाक्य है विभा ८ - विभा दूष दूष है वाक्य वाक्य है।

होने पर आगे ओ सात मनु आयेये (माय ८ १३ ७) उनके सावर्णि मनु प्रहृत हैं। उनके नाम सावर्णि, ब्रह्मसावर्णि, अर्मसावर्णि, खद्गसावर्णि, दक्षसावर्णि और इन्द्रसावर्णि—हैं (विष्णु ३ २ मायवत ८ १३। हरिवंश ३ ७)। इस प्रकार प्रस्त्रेष्ठ मनु के सात यात होने पर शोई कारण नहीं करमवा जा सकता किंतु भी कर्म के पहले के चार ही गीता में क्यों विवरित होगी? ब्रह्माण्डपुराण (४ १) में इह है कि सावर्णि मनुओं में पहले मनु के ओड कर अगले चार अर्थात् ब्रह्म—ब्रह्म—और खद्गसावर्णि एक ही समव में उत्पन्न हुए। और इसी आधार से कुछ लेग पहले है कि ये ही चार सावर्णि मनु गीता में विवरित हैं। किंतु इस पर वृस्त्रा आक्षेप पह है, कि ये सब सावर्णि मनु मविष्य में होनेवाले हैं। इस कारण यह भूतप्रस्त्रार्थ अस्त्र वास्त्र किंसे ऐसे स्त्रोक में प्रभ तुर्ई भावी सावर्णि मनुओं को खागू नहीं हो सकता। इसी प्रकार पहले के चार शर्मों का सम्बन्ध 'मनु पत्र से ज्ञोइ देना थी' नहीं है। अतएव इहना पढ़ा है, कि पहले के चार ये दोनों शर्म स्वतन्त्र रैखि से प्राचीन काल के शोई चार क्षमियों अपवा पुस्ती का बाब भरते हैं। और देश मान लेने से यह प्रभ सहब ही होता है कि ये पहले के चार क्षमियों का पुस्त लौन है। किं थीकाकारी ने इस श्वेत का देश अर्थ किया है उनके मत में उनक सनात उनात्मन और सनात्मार (मायवत ३ १२, ४) ये ही ये चार क्षमियों हैं। किंतु इस अर्थ पर आक्षेप पह है कि क्षमियों ये आटी क्षमियों के मानात्मुन हैं तथापि ये उभी कर्म से ही उत्पाती होने के कारण प्रवाहित न करते ये; और इसले ब्रह्म न पर कुछ ही गय ये (माय ३ १२। विष्णु १ ७)। अर्थात् यह बास्त्र न चार क्षमियों को किंतु ही उत्पन्न नहीं होता कि 'किंसे इस श्वेत में यह प्रवा तुर्ई — येषा स्त्रो इमा प्रवा'। इसके अस्तित्व कुछ पुराणों में वर्णिय पह बर्थन है कि ये क्षमियों चार ही ये तथापि मारत के नारायणीय अर्थात् मागवतवर्षम में रहा है कि इन आटी में सन क्षिति और उनात्मुन की विष्य लेने से ये सब क्षमियों होते हैं ये सब ब्रह्म के मानसुन हैं। और ये पहले से ही निष्पत्तिम के ये (मा भा या ३४ ३७ ३८)। इस प्रकार उनक भावि क्षमियों को तात मान लेने ये शोई कारण नहीं थीन पक्ष्या कि इनमें से चार ही क्यों किये जायें। फिर पहले के चार हैं भीन! हमारे मत में इस प्रभ का उत्तर नारायणीय अपवा मागवतवर्षम की पीराणिक कथा है ही दिवा यावा आहिदे। क्षमियों यह निर्विदा है कि गीता में मागवतवर्षम ही का प्रतिपादन किया गया है। अब यहि पह भीय कि मागवतवर्षम में क्षमियों की उत्पत्ति की कल्पना किंतु प्रवार की थी! तो पक्षा ल्पोगा कि मरीचि भावि सात क्षमियों के पहले वासुदेव (आत्मा) काङ्क्षण्य (शीव) प्रत्युम (मन) और अनिष्ट (अहङ्कार) पर चार मूर्तियों उत्पन्न हो गई थीं। आर वहा है कि इसमें से पितृम अनिष्ट से अर्थात् भद्रा।

[यथापि इस स्तोक के शब्द सरल हैं तथापि इन पौराणिक पुस्तों को उदास्य करके यह स्तोक कहा गया है उनके सम्बन्ध से टीकाकारों में बहुत ही मतभेद है। विशेषतः अनेकों ने इसका निषय कट्ट प्रकार से किया है, कि पहले के (पूर्व) और 'चार (चत्वार) पर्वों का अन्वय किया पर से लगाना चाहिये। चार महर्षि प्रतिद्दृष्ट हैं परन्तु इसका केवल कस्म में जौहू मन्त्रन्तर (टेको गीतार, प्र ८, १३ १९४) होते हैं और प्रत्येक मन्त्रन्तर के मनु देवता पर सत्तर्पि मिथ्या मिथ्या होते हैं (टेको हरिविष १७ विष्णु ३ १ मन्त्र १)। ऐसीसे पहले के शब्द को चार महर्षियों का विशेषज्ञ मान कर लागा ने देखा अर्थ किया है कि आवश्यके (भावात् वेदमन्त्र मन्त्रन्तर से पहले क) जाग्रुप मन्त्रमन्त्रवास सत्तर्पि यहीं विवरित है। इन तत्तर्पियों के नाम भगु नम विश्वस्यान् सुवेदामा, विश्व अक्षिनामा आग सहिष्णु हैं। किन्तु हमारे मत में यह अभ दीड़ नहीं है। क्वाकि आवश्यके - वेदमन्त्र अथवा विश्व मन्त्रन्तर में गीता कही गई उपर्युक्त - पहले क मन्त्रन्त्रवासे सत्तर्पियों की कहानी वी पहाँ को आवश्यकता नहीं है। अतः वहमान मन्त्रन्तर के ही तत्तर्पियों को लेना चाहिये। महाभारत शान्तिपद क नारायणीयोपाध्यायन में इनके य नाम हैं मरीचि भट्टिरुष भवि पुष्कर्ष्य पुष्टह चतु और विष्णु (म. न्य शा. १३६ ८ १४ ६४ और ६५)। तथापि यहीं इनका नाम देना भावाप्यह है कि मरीचि भट्टि तत्तर्पिया क उन नामों में कहीं कहीं भट्टिरुष के बड़से भगु का नाम पाया जाता है। क्वाकि तुल व्यानी पर ता देखा जाए तो भवन है तथा कस्यप अभि भरद्वाज विश्वामित्र गात्रम इमर्गिम और विनिद व्यवनम भुग क लकर्षि है (विष्णु १ २२ भार १३ मन्त्र २७ भार २८ म न्य नमु १ २३)। मरीचि भट्टि ऊर विन्दे शुष्ट वान भरिकों में ही भगु और त्रष्ण का मित्र कर विष्णुपूर्ण (१०६६) में तो मनमधुकों का भार इन्हीं में नाम की भी छोड़ कर मनुमूलि म इमर्ग एवं मानवपुकों का बनन है (मनु १४ १७)। तब मरीचि भट्टि यज्ञा की व्युत्पत्ति घटात तथा वी गर ८ (म न्य भगु ८५)। परन्तु हमें भव्य इनका ही देखा है कि वान महर्षि वीन बान है। इस व्यरण इन नाम-वान मानवपुकों का अपवा इनके नामों की व्युत्पत्ति का विवार करने की यहीं आवश्यकता नहीं है। ग्रन्थ है कि पहले क इन पठ का अभ पूर्व मन्त्रन्तर के वान महर्षि इना नहीं वान। भव इन्हाँ ह कि पहले क चार इन यज्ञा का मनु का विश्वायग मान कर कर पर्वों ने जी भव किया है वह यहीं उह सुनिकृत है। तुल जौहू मन्त्रमर्द है भव इनके जौहू मनु हैं। इनमें वान-वान के डा बग है। वहने वाना क नाम राजा-नुव व्याराचिर, भीमी लाम्ब रैवत वाजुप और वेष्मन दे तथा ये राजा-नुव भावि मनु हो रहो हैं (मनु १ ४ भर १३)। इनमें से एवं मनु १ ४ जूरे। और आवश्यक वानों अवान् वेष्मन मनु पर रहा है। इनके वानान्

मचित्ता मद्रुतप्याचा बोधयन्ता परस्परम् ।  
 कर्ययन्तस्य मा नित्यं तुष्ट्यस्ति च रमस्ति च ॥ ९ ॥  
 तथा स्वरूप्युक्तानी मज्जां प्रीतिपूर्वकम् ।  
 पश्चामि शुद्धियागं त येन मासुप्यान्ति त ॥ १० ॥  
 तेषामवानुकम्पार्थमहमद्वान्तं तमः ।  
 माशत्याक्ष्यात्मभावस्यो ज्ञानशीपेन मास्वता ॥ ११ ॥  
 अनुन उच्चाच ।

इ १२ परं ब्रह्म परं आम पवित्रं परमं मवान् ।  
 पुरुषं ज्ञान्यर्थं दिव्यमाविष्यमज्ज विमु ॥ १२ ॥  
 आहुरुक्तामृप्यं सर्वे वैदिनराहस्ताया ।  
 अस्तिरो वैदिको व्याप्तिः स्वयं चैव इत्यीपि मे ॥ १३ ॥

(१) के सुन्नमे मन अथा कर और प्राणी को स्नान कर परस्पर बोध करते हुए परमे मेरी कथा कहते हुए (उसी में) सदा सन्तुष्ट और रमणां रहते हैं। (१) इस प्रकार सर्वे मुक्त होकर अर्थात् समाधान से रह कर जो सोग मुझे प्रीतिपूर्वक मझे है उनको मैं ही ऐसी (समर्पण) शुद्धि का योग देता हूँ, कि किससे वे मुहं पा लेंगे। (११) और उन पर अनुप्राह करने के लिये ही मैं उनके आत्मभाव अपात् अन्तर्भरण में पैठ कर तेजस्वी अनशीपेते (उनके) अद्वन्युक्त आचकार का नाश करता हूँ।

[ सातव भाग्याम में कहा है कि मिथ मिथ देवताभी भी भद्रा मी परमेभर ही देता है (७ २१)। उसी प्रकार भद्र ऊपर के दम्भे और मेरी धणन है कि मनिमाण में स्तो हुए मनुष्य भी समख्युद्दिको उप्रत करने का काम भी परमेभर ही करता है। भीर पहले (गीता ६ ८४) कि पह एव्वन है कि उन मनुष्य के मन में एक बार कमयोग की विजाता आएत हा जाती है,- तब वह भाव ही भाव पृथग निदि की ओर नीचा वस्त्र जाता है - उसके बाय मनिमाण का यह भिक्षास्तु उमानायक है। शन भी हाइ से भपात् कर्मदिवाह प्रशिया के भनुमार रहा जाता है कि यह कनृष्ट भातमा की स्वरूप्यता ने मिलता है। पर आप्मा भी वा परमेभर ही है। इस कारण मनिमाण में ऐसा वस्त्र इत्या करता है कि इन पर्य अपवा शुद्धि को परमेभर ही प्राप्त मनुष्य ने दृष्टयों के भनुमार देता है (दृगो गीता ७ भीर गीता ८, प्र. १ ७ ८३)। इन प्रतार म्मानान के मनिमाण का तार वाला जुझे पर :- ]

भाव में कहा - (२०-२१) तुम ही परम ब्रह्म भद्र अन भीर पवित्र वात् (हा)। तब कृष्ण ऐस ही इवरि नारा भक्षित देवत भीर व्याप्त ही

इति पत्ती विमूर्ति योग च मम यो देवि तस्मतः ।  
ओऽविकल्पेन पोजेन युज्यते नाश संशयः ॥ ७ ॥

अहं सर्वेष्यं प्रमद्वा मम सर्वं प्रवर्तते ।  
इति मत्वा भजन्ते मां कुपा भावसमन्विताः ॥ ८ ॥

१ से या वासुदेव से प्रतीचि आदि पुक्त उत्पत्ति हुए (म मा शा ३११ ३४-४  
भीर ६०-७२ ३४ २४-३१)। वासुदेव सद्गुण्य प्रशुभ्न भीर अनिक्षण  
इन्हीं चार मूर्तियों को 'चतुर्मूर्ति' कहते हैं। और मात्रतत्त्वम् के एक पर्य  
का मत है कि ये चारी मूर्तियों स्वतन्त्र थीं; तथा दूसरे कुछ व्येग इनमें से  
तीन अपेक्षा भी को ही प्रवान मानते हैं। किन्तु मात्रद्वीता को ये क्षम्यार्थ  
मात्र नहीं हैं। इमने (गीतारहस्य प्र ८ पृ ११६ भीर परि ६४२-  
६४३) में विवरण्या है कि गीता एकमूर्त्य-पर्य की है—भर्यात् एक ही  
परमेश्वर से चतुर्मूर्ति आदि तब कुछ भी उत्पत्ति मानती है। भर्यात् स्वैरस्त्वक  
वासुदेव मूर्तियों को स्वतन्त्र न मान कर 'एस न्योक में दृष्ट्या है, कि ये  
चारा व्यूह एक ही परमेश्वर भर्यात् सद्गुण्यापी वासुदेव के (गीता ८ १९)  
'भाव है।' एस द्वारि एसने पर विद्वित होगा कि मात्रतत्त्वम् के भनुत्तार  
पहले के चार 'एन दृष्ट्या का उत्पत्ति वासुदेव भादि चतुर्मूर्ति' के सिये किया  
गया है कि जो सततिंया के पुक्त उत्पत्ति हुए थे। मारत् में ही किया है कि  
मात्रतत्त्वम् के चतुर्मूर्ति भादि में पहले से ही प्रवर्तित थे (म मा शा ३४८  
५७)। यह क्षम्यना कुछ हमारी ही नह नहीं है। चाराय भरततान्त्यत्व नारा  
यमीयाग्नेन क भनुत्तार इमने एस न्योक का अप या क्षम्यना है चार  
महर्यि अपात् सर्वीचि भादि; पहले के चार अपात् वासुदेव भादि चतुर्मूर्ति  
क्षार 'मनु व्यात् शो लु उपय स पहसे ही पुक्त से भीर बतमान धूप मिथ्य  
वर स्वायम्भूत भादि कात मनु भविष्य अपात् अहुत्तार भादि चार मूर्तियों  
का परमेश्वर क पुक्त मन्त्रने की क्षम्यना मारत् में भीर अप रुद्यनीं में भी पार्द  
जाती है (का य मा शा ३११ ३८)। परमेश्वर क मारा का बतन ही  
पुक्त भर बतनात् ८ दि इन्हें बतन करक उगतना बतने के क्षण पूर्व  
[मित्ता ६']

(७) ये मर्ती इन विभूति भर्यात् विस्तार भीर योग अपात् विस्तार बतने की  
शक्ति या तामप्य के तत्त्व को जनता है वन विस्तन्त्रह रिपर (क्षम ) याग शाम  
होता है। १८) यह ज्ञान वर—कि मैं तत्त्व का उत्पन्नित्यान हूँ भीर मुख्न तत्त्व  
वरुमों की व्याप्ति हाती है—ज्ञानी पुराय व्याप्तुत इसे हुए सुना पड़त है।

बीमगवलुवाच ।

इति इति ते कर्ययिष्यामि विष्णा शास्त्रविमूल्यम् ।

प्राप्यान्यतः कुरुभेष्ट नास्यन्तो विस्तारस्य मे ॥ १९ ॥

अहमात्मा गुडलेश सर्वमृताश्यस्थिता ।

अहमादित्यं मर्यं च मृतामामन्त एष च ॥ २० ॥

आदित्यानामहं विष्णुज्योतिषां रविरेत्यमान् ।

मरीचिर्मृतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥

देवानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि यासवा ।

आग्नियाणीं मतानामस्मि चेतना ॥ २२ ॥

[ और परमेश्वर की अनेक विभूतियों का मिल मिल देखता मानना चूर्छी चाह दै ।  
इन अन्त में महिमाना की दृष्टि से महान् अन्तर है । ]

भीमाकान् ने यहा - ( १९ ) अप्य तो भद्र हे कुरुभेष्ट । अपनी दिव्य विभूतियों में से तुम्हें मुख्य मुख्य देखत्यता है; क्योंकि मेरे विकार का अन्त नहीं है ।

[ इस विमूलिकण के समान ही अनुशासनपर्व ( १४ ३११-३२१ ) में और अनुशीता ( अध ४३ और ४४ ) में परमेश्वर के रूप का वर्णन है । परम् गीता का वर्णन उसकी अपेक्षा अधिक चरण है । इस कारण इसी का अनुशासन और देखता में भी मिलता है । उत्तराखण्ड, मातृत्वपुराण के दक्षायन च ५ के बाल्हव अप्याय म चंची प्रकार का विभूतिकर्त्तन मगाकान् न उद्भव को समरपया है और वही प्रारम्भ में ( भाग ११ १६ ३-८ ) कह दिया है ति पर वर्णन गीता के इस अप्यायकाले वर्णन के अनुकार है । ]

( ) गुदाकण्ड । सत्र भूता के भीतर रहनेवाला भास्त्रा मैं हूँ; और उत्र भृती का नाम भृष्ण भार अस्त मैं हूँ । ( २१ ) ( चारह ) आग्नियों में विष्णु मैं हूँ । तत्त्वस्थितीं मैं विरक्षातीं शूष्य ( नात भपवा उन्नात ) मास्ती मैं मरीनि और नमीनि मैं वग्रमा मैं हूँ । ( २२ ) मैं बड़ी मैं यामदेव हूँ । देवताभौं मैं हूँ और इन्द्रियों मैं मन हूँ । भूता मैं जनना भपान् प्राप्त भी जास्ताएऽसि मैं हूँ ।

[ यहाँ वर्णन है ति मैं बड़ी मैं सामर्त हूँ - भपान् तामदेव शुभम है । दीर्घ देवा ही मात्मारत के अनुशासन पर्व ( १४ ३१० ) मैं यही तामवर्थ देवाना प्रकृत्य द्याग्नियम कहा है । पर अनुशीता मैं अन्नारा दर्शेगानाम् ( अध ८८ ६ ) इस प्रकार तब देवी मैं अन्नार को ही भृता ही है । तप्य एवं गीता ( ३८ ) मैं भी प्रगत तुवदानु कहा है । गीता ९८९ के

सर्पमेतद्वतं मन्ये यन्मा यजुसि केशव ।  
न हि ते भवत्तु व्यक्तिं विदुःवा न जानवा ॥ १४ ॥

स्वयमेवाममात्मार्थं वेत्य त्वं पुरुषोत्तम ।  
भूतमात्रम् दूरेषा वेदवेष जगत्पते ॥ १५ ॥

वस्तुमहस्यशप्तं विद्या इत्यात्मविमूलय ।  
याभिविश्वतिभिष्ठोंकानिमारुत्य एषाव्य लिपुसि ॥ १६ ॥

कथं विद्यामह यागिंस्त्वा सदा परिचिन्तयन् ।  
कपु कपु च माषपु चिन्त्योऽभिभि भगवन्मया ॥ १७ ॥

विस्तरव्यात्मना योगं विमृति च जनाहन ।  
भूयं कथय दृष्टिहि शूष्णतो नास्ति भेद्यवृत्तम ॥ १८ ॥

तुम्हो भिष्य एव शाश्वत पुरुष आद्येव भवत्ता सविभु अयत्त सवायापी कहत है और सब तुम भी मुझसे वही कहते हो । (१४) है केशव ! तुम मुझसे जो कहते हो उस उन का मैं कृत्य मानता हूँ । है भगवन ! तुम्हारा एषाक्ति भवात् तुम्हारा मूर्ख देवताओं का विभित नहीं और दानवों का विभित नहीं । (१५) उत्तम भूता के उत्पत्त बरनवाले हैं भूतेषां । है देवतेष इत्यस्तत ! है पुरुषात्म ! तुम एव ही भवन भाव को अनन्त हो । (१६) अत तुम्हारी जो भिष्य विभूतियों द्विन विभूतियों से अन सब देवता का तुम स्वाप्त बर रहे हो उन्हें भाव ही (इत्यकर) पृथगता से बहलाये । (१७) है योगिन ! (मुझे पह जन्माइये दि) उत्तम तुम्हारा विस्तर बरता हुआ मैं तुम्हें देव पहचानें । और भगवन । मैं दिन दिन पर्याप्तों मैं तुम्हारा विनान करूँ । (१८) है जनाहन ! अपनी विभूति भीर योग मुझ विश्वास करता अपार्वती भवात् भमृतनुस्य (तुम्हारे मार्ग को) मुनत तुम भी तूमि नहीं होती ।

[ विभूति भीर योग दाना इन्हीं भण्याय के सातव श्लोक में भावे हैं; भीर यहा भडुन ने उन्हीं का तुहरा दिया है : 'योग' शब्द का भाव पहुँच | (गीता ० ५६) दिया गा युक्त है उत्त दाना भगवान की विभूतियों को अन्न | इतनिये नहीं पूछता दिनिय निष्प विभूतियों का अन्न देवता उमत बर दिया | दावे विमु उत्तरहै भोक्त ॥ इत्य एष वा एषाव रामा आहिव मि उप विभूतिया मैं तदरपात्री परमेभर वी ही भगवान रामे ॥ दिय उन्हें पृष्ठा ॥ | कर्याति भगवान यह पहते ही दाना भावे हैं ( गीता ० ६ - ६ .. २ - ३८ ) दि एक ही परमेभर का उत्त एषामां वे विद्यमन भगवान एव उत्त ॥ ४४ ॥

भीमगणनुवाच ।

इति हनु ते कपयिष्यामि विष्णा धात्मदिमूलयः ।

प्राप्तान्तःकुरुमेष्ठ नास्यन्तो विस्तारस्य मे ॥ १९ ॥

अहमात्मा गुडकंश सर्वमृताशयस्थितः ।

अहमादित्य मर्य च मृतानामन्त पद च ॥ २० ॥

आवित्यानामहं विष्णुप्योतिपा रविरप्युमान् ।

मरीचिर्मस्तामस्मिन्नक्षत्राणामहं शारी ॥ २१ ॥

वेषानां सामवेषोऽस्मिन्न वेषानामस्मिन्न वास्तवः ।

शनिव्रियाणां मनस्तामस्मिन्न भवानामस्मिन्न चेत्का ॥ २२ ॥

[ और परमेश्वर की अनेक विमूर्तियों का मिल भिज्ञ देखता मानता यूचयी था वह है ।  
[ इन शब्दों में मर्किमार्ग की इक्की से महान् अन्तर है । ]

भीमशान ने कहा - ( १९ ) अप्यम तो अब हे कुस्मेषु । अपनी विष्णु  
विमूर्तियों में से दुष्टे मुख्य मुख्य बहुत्थवा है क्योंकि ऐसे विलार का अन्त नहीं है ।

[ उस विभूतिवर्णन के समान ही अनुशासनपर्व ( १४ ३११-३२१ ) में  
और अनुगीता ( अथ ४३ और ४४ ) में परमेश्वर के रूप का वर्णन है । परन्तु  
जीवा का वर्णन उसकी अपेक्षा अधिक सरल है । उस अरण इसी का अनुकरण  
और स्वरूपों में मी मिलता है । उदाहरणार्थ मागवतपुराण के एकाश्य रूप के  
चोरहृषि भाष्याय में इसी प्रकार का विभूतिवर्णन भीशान् ने उद्देश्य समझा  
है और वही शारम्म में ( शार ११ १६ ६-८ ) यह दिया है कि यह वर्णन  
गीता के इष्ट अध्यायवाङ्मे वर्णन के अनुसार है । ]

( २ ) गुणार्थ ! उब गृहों के भीतर रहनेवाला भालो मैं हूँ और उब शर्तों के  
आर्थि म य और डालत भी मैं हूँ । ( २१ ) ( वारह ) भारितो मैं विष्णु मैं हूँ ।  
देवतियों मैं विष्णुशाली दूष ( रात अथवा ऊनास ) मास्तो मैं सरीरि और  
नहस्तो मैं चन्द्रमा मैं हूँ । ( २२ ) मैं दर्शन मैं सामवेद हूँ । देवताओं मैं इन हूँ ; और  
दक्षियों मैं मन हूँ । गृहों मैं घेतना भर्वात् प्राण की चक्रवर्णिति मैं हूँ ।

[ यहों वर्णन है कि ऐसेहों मैं सामवेद हूँ - अर्थात् सामवेद मुख्य है ।  
गीता ही महामारत के अनुशासन पर्व ( १४ ३१७ ) में भी सामवेदम्  
घेतना यत्कुप्य घटस्त्रियम् कहा है । पर अनुगीता में अन्नपरा घर्णितानाम्  
( अथ ४४ १ ) उस प्रकार सब ऐसों मैं अन्नपरा को ही भेदता ही है । तथा  
उहसे गीता ( १८ ) मैं भी प्रथवा उवेषेणु कहा है । गीता १ १० के

कदाचां निरवाम्यि पिता यक्षरक्षमाम् ।  
एषुनौ पात्रकवामि मरुः निररिणामदम् ॥ २५ ॥

पुराधमा च सुन्दर्य माँ यिद्वि पाथ शुद्धस्पतिम ।  
सनाभीनामद स्तु तु मरमामस्मि मारगर ॥ २४ ॥

the 18 students in the class (10)  
therefore the total number of  
men in the class is 10 (10-47) 10

महर्षीं वृगुरुण्डे गिरप्रस्त्वंकमस्तरम् ।  
 यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमाक्षया ॥ २५ ॥  
 अभ्यर्थ्यः सर्वबृक्षाणां देवर्षीं च नारदः ।  
 गच्छर्वाणां चिप्ररथा सिद्धानां कपिसो मुनिः ॥ २६ ॥  
 उद्योगवस्मभ्यामां विद्धि माममृतोऽध्यम् ।  
 परएकते गोन्दाणां मराणां च नरभिप्रम् ॥ २७ ॥  
 आपुषानामहे वज्र देवूनामस्मि कामपुक ।  
 प्रजनाभ्यास्मि कल्पर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥ २८ ॥  
 अनन्ताभ्यास्मि नामानां वक्ष्यो याद्वामहम् ।  
 पितृपामर्यमा चाहिम यमः संप्रमत्वामहम् ॥ २९ ॥

वज्राणां मे समुद्र हूँ । ( २५ ) महर्षियों मे मैं स्पृह हूँ । शारी मे एकादश भूषण और कार हूँ । पक्षों मे जपयज्ञ मैं हूँ । रथावर अप्यत् रिवर पदार्थों मे हिमाक्षय हूँ ।

[ पक्षों मे जपयज्ञ मैं हूँ यह वाक्य महस्य का है । अनुवादिता ( मा अथ ४४ ८ ) मैं कहा है कि वज्राना हुतमुख्यम् - अभ्यर्थ् वज्र मैं ( भूमि मे ) हृषि तपत्वा वरके सिद्ध हैनेवास्म यज्ञ उत्तम है और वही वैशिख सम्बोध्यास्म का मत है । पर मृषिमात्रा मैं हृषिर्वर्ण की अपेक्षा नामवज्र या जपयज्ञ का विशेष महस्य है । इसी से गीता मैं वज्राना जपयज्ञेऽभिन् कहा है । मनु ने भी एक स्थान पर ( २. ८७ ) कहा है कि और कुउ करे या न करे देवता वज्र से ही ब्राह्मण लिदि पाता है । यागवत मैं वज्रानी ब्रह्मवज्ञेऽभिन् पाठ है । ]

( २६ ) मैं तद वृक्षा मैं अथ य भूषण भीर देवर्षीं मैं नारद हूँ । गपकों मैं पितृरथ भीर किंडों मैं कपिल मुनि हूँ । ( २७ ) योद्य मैं ( भूमुखमुख्यन के समव निष्ठा रभा ) उद्योगवा मुख तमहोः मैं गोन्दी मैं ऐरावत भीर मनुष्यों मैं राजा हूँ । ( २८ ) मैं आपुकों मैं वज्र, गोभा मैं वामभेनु भीर प्रवा उत्पत्त वरनेवास्म काम मैं हूँ । उपों मैं वासुकि हूँ । ( २ ) नागी मैं अनन्त मैं हूँ । वात्सु भूषण उत्पत्त प्राणियों मैं वरण भीर पितरा मैं अपमा मैं हूँ । मैं वियमन वरनेवासी मैं यम हूँ ।

[ वासुकि = नगों का राजा भीर अनन्त = देवता य अथ निभित दृ; भीर अपर्वोद्य तपा महाभारत मैं वी ये ही अप दिये गये हैं ( देवा मैं या भादि ३८-१ ) परम् विष्वपृष्ठ नदी वालाया उ तपता ति नाग भीर तर्व म व्या त है महाभारा व भान्तिः उत्तरव्यान मैं इन शब्दों का प्रयोग तपताप ही है । तपायि ज्ञान पट्टा है कि वहाँ पर तर्व भीर नाम यमी

मन्त्राणा ईश्वरधार्मि विस्ता यस्तरसमाम् ।  
घमुना पापकधार्मि भवति निपरिणामदम् ॥ २५ ॥

परापरसी य मुग्ध मी यिद्वि पाथ शृदस्तिम ।  
मनानीनामहं स्फन्तः मरमामस्मि भागर ॥ २४ ॥

बृहत्साम तथा सामर्थ्य गायत्री छन्दसामहस् ।  
 मासानां मर्त्येश्वरियोऽस्मृदतां हुसुमाकर ॥ ३५ ॥

पूर्ते छत्तयतामस्मि तेजस्तेजस्तिवामहस् ।  
 जयोऽस्मि अवस्थायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्वपतामहम् ॥ ३६ ॥

बृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः ।  
 मूर्त्यामप्यहं व्यासं कवीनामुपाना कविः ॥ ३७ ॥

षष्ठो षमयतामस्मि नीतिरस्मि विग्रीपताम् ।  
 मौर्ण वैदास्मि शुद्धानां काले ज्ञानवतामहम् ॥ ३८ ॥

यद्यपि सर्वमूलानां शीर्जं तद्वमर्जुन ।  
 म तदस्ति विका यस्यान्मया भर्ते ज्ञानपरम् ॥ ३९ ॥

[ अह दोप पौर्व और दूसरी पौर्व ( पुष्टि भद्रा दिया सज्जा और मर्ति ) शरीर मिळ कर कुल श्वरो दण की कन्याएँ हैं । चम के साथ व्याहृती घने के कारण इसे पर्माणनी कहते हैं । ]

( ३५ ) साम अर्पात् गने के योग्य ऐरिक स्तोभों में बृहत्साम भीर उन्हीं में गायत्री छन्त्र मैं हैं । महीनों में मागारीय भीर कलुभों में बहन्त्र हैं ।

[ महीनों में मार्त्यशीय को प्रथम स्थान इससिये दिया गया है कि उन दिनों में जारह महीना को मागारीय से ही गिनने की रीति भी – ऐसे कि आज कल देख से है । – ( ऐसो मा भनु १ ६ भीर १ ; एवं वास्त्वीकृतामायन १ ११ ) । मागवत ११ १६ २० में भी देखा ही ढैरेण है । इसने भन्ने ओराधन प्रग्न्य में लिया है मि शूगरीय नदम को भग्रहायणी भपना पायारम्भ का नक्षत्र कहत था । इस शूगरीय नद्यनगणना का प्रचार या दूर मूल्याधार की प्रथम भग्रहायान मिला; आर इसी ते फिर मागारीय महीने का भी भेड़ा लियी होती । इस विषय को दहों लिखार के मध्य से अधिक दर्शना दर्जा [ मही है ] ]

( ३६ ) मेर्दियों के दो हैं । तद्विषयों का तद्व ( विषयशाली पुरुषों का ) विवर ( विषयी पुरुषों का ) निवेदन भीर नायारीण का मन्त्र मैं है । ( ३७ ) मैं वाटों में कलुष पाण्डवों में धनञ्जय मुनियों में स्पान भीर कविया म शूद्राचाप वरि है । ( ३८ ) मैं जानन वरदेवानों का हृष कवि ही इष्टा वरदवाणीयों की नीति भीर गुदों में मोन है शापिषा का इन मैं है । ( ३९ ) इसी प्रग्नर ह मन्त्री नद भूती का तो तुष दीर है वह मैं है । ऐसा काह पर भवर भूत नहीं है गे

ग्रहाद्यास्मि विष्णुमात् काष्ठं कलयत्वमहम् ।  
मृगाणी च मृगेन्द्रोऽहं वै नतेष्व विष्णुम् ॥ १० ॥  
पवनं पवत्वमस्मि रामं इत्यामृतामहम् ।  
अपार्णा मकरद्यास्मि रुद्रोत्सामस्मि जाह्नवी ॥ ११ ॥  
सर्गाण्यामादिरम्भ भव्यं विवाहमर्कुन् ।  
अस्यात्मविष्णु विष्णुमात् वाङ्: प्रवदतामहम् ॥ १२ ॥  
अहराणामकारोऽस्मि द्रवद्वः सामासिक्षस्य च ।  
अहमवाहन्यं काष्ठो चासाऽहं विष्णुमोमुक्तः ॥ १३ ॥  
मृगुः सर्वदूरद्याहमृतव्य भविष्यताम् ।  
कीर्ति श्रीवार्षक नारीणो स्मृतिमेषा शृणि वामा ॥ १४ ॥

[ से सप के साथरम वग की दो मिल मिल जातियों विवक्षित हैं । श्रीब्रह्म दीक्ष में सप को विषेष और नाग को विषहीन कहा है । एव यमानुषमाम्ब मै तर्प ऐ एक विरचाम्ब और नाग की अनेक विरचाम्ब कहा है । परन्तु ये दोनों में दीक्ष नहीं छेते । स्योऽहि कुछ स्वर्णे पर नागों के ही प्रमुख कुल छतस्ते दुष्ट उन में अनन्त भौं वासुकि को पहुँच गिनाया है भीर बगन किया है कि दोनों ही अनेक विरचाम्बे एवं विषभर हैं । किन्तु अनन्त है अग्निवर्य के और वासुकि एवं पीछा । मागवत का पाठ गीता के समान ही है । ]

( १ ) मै वैष्णो म प्रस्ताव हूँ । मै परनेवासीं म काल, पश्चात्ती मृगेन्द्र भव्यत्  
सिह भौं पविष्णु म गद्द हूँ । ( २ ) मै वैष्णवानी म वापु हूँ । मै शस्त्रधारियों मैं  
राम मकरद्यामा मैं मगर भौं नविषा मैं मागरणी हूँ । ( ३ ) है अर्कुन् । सुरिमात्र  
का आदि अस्तु भौं भव्य मी मैं हूँ । विषाओं मैं अस्यात्मविष्णु और वाट परनेवासीं  
का वाट मैं हूँ ।

[ पीछे २ के क्षेत्र मैं व्यक्ति किया है कि उपेतन भूतों का आदि, मरण  
भौं अस्तु मैं हूँ तथा अब कहते हैं कि उब व्याख्या तुष्टि का आदि मरण  
भौं भन्त मैं हूँ यही भेद है । ]

( ४ ) मै भूतों मैं भजार भौं तमापा मैं ( उमवपश्चात्त ) इन्द्र हूँ । ( निमेय  
मृत्तु भौं ) भयाप काल गैर तमामुग नपात् चारों भार से मुक्तेवास्य वातावानी  
व्याप मैं हूँ । ( ५ ) तमामा भय करनेवासी मृगु भौं आगे व्यग्न करनेवासी का उत्पत्ति  
व्याप मैं हूँ । विषों मैं भौं भौं भागी सूक्ष्मि, मेषा शृणि तथा धमा मैं हूँ ।

[ भौं भौं भौं, वाणी इत्यादि शब्दों त के ही टेपटा विवक्षित हैं । महा  
व्यरत ( भा ११ १३ १४ ) मैं बगन है कि इनमें से वाणी भौं भौं भौं

## एकादशोऽध्याय ।

अद्युन उवाच ।

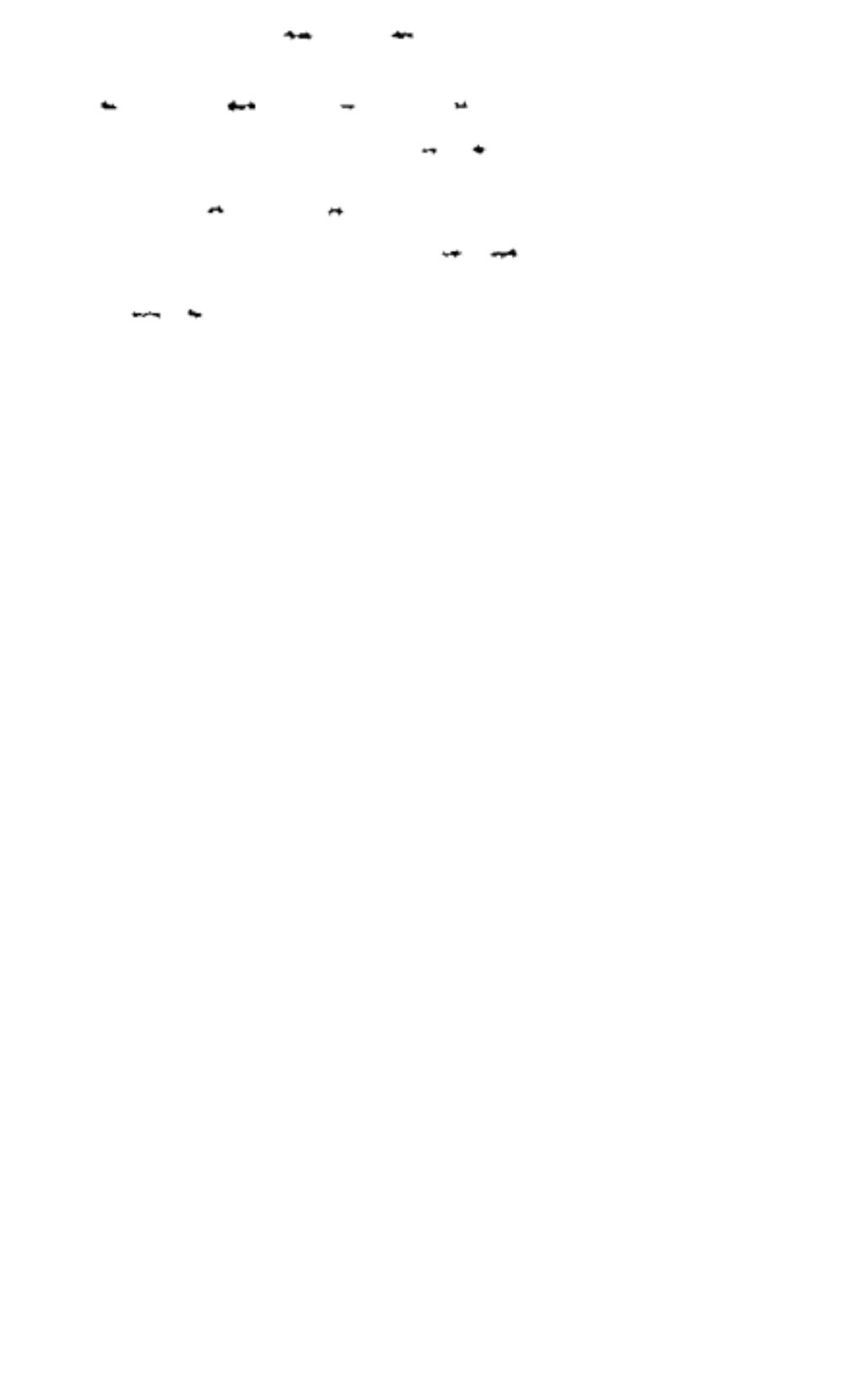
महनुप्रहाय परमं गुणमन्यात्मसंक्षिप्तम् ।  
 शत्वयोर्कं वचसेत्म मोहोऽयं विमतो मम ॥ १ ॥  
 भवाप्ययौ हि मूलानां भूती विस्तरहो मया ।  
 स्वस्त ऋमस्पभास्त माहात्म्यमपि आम्यसु ॥ २ ॥  
 एवमेतत्थात्य त्वमास्मानं परमेश्वर ।  
 व्रहुमिष्ठामि ते ऋषमेश्वरं पुरुषोक्तम ॥ ३ ॥  
 भव्यसे यदि तत्त्वमयं मया व्रहुमिति प्रमो ।  
 योगेश्वर तता मे त्वं वर्णयात्मानमभ्ययसु ॥ ४ ॥

## ग्यारहवाँ अध्याय

[ इस पिछले अध्याय में मगान् ने अपनी विभूतियों का वर्णन किया तब  
 उसे दुन कर अद्युन जो परमेश्वर का विवरण देते ही इस्त्र हुई । मगान् ने उठे  
 विष विवरण का इधन कराया उसका वर्णन इस अध्याय में है । यह वर्णन इतना  
 सरस है कि गीता के उत्तरम् यागों में इसकी विवरी होती है, और अम्यात्म  
 गीताभ्यों की रसना फलनेवाला ने उन्हीं का अनुष्टुप्रण किया है । प्रथम अद्युन पूछता  
 है कि - ]

अद्युन ने कहा - ( १ ) मुझ पर अनुप्रह फलने के लिये दुम्हे अप्यात्मतंत्रकं  
 के परम गुप वात कर्तव्य उत्तरे मेरा पह मोह चारा रहा । ( २ ) इर्ती प्रश्नर  
 है अम्यात्मा । भूतों की उत्पत्ति क्य और द्रुम्हारा अकृत्य माहात्म्य भी मैंने  
 द्रुमये विकारसंहित दुन किया । ( ३ ) भव है परमेश्वर ! दुम्हने अपना ऐसा  
 वर्णन किया है हे पुरुषोक्तम ! मैं द्रुम्हारे उपर प्रश्नर के इंधरी व्यक्तप के (प्रश्न)।  
 देखना चाहता हूँ । ( ४ ) हे प्रमो ! यहि द्रुम समझते हो कि क्षु प्रश्नर का स्वर्म मैं  
 देख चकड़ा हूँ तो योगेश्वर ! द्रुम अपना अम्यात्म त्वरूप मुझे विलम्बभी ।

[ तात्पृथक्या अध्याय में शानविश्वन का वारम्य कर चालूये और भाठों में  
 परमेश्वर के अस्तर अववा अम्यकृत रूप का तथा नींदे एव दृष्टे में अनेक रूपों  
 का जो शान कर्तव्या है उसे ही अद्युन ने पहले अनेक मैं 'अप्यस्तम कहा है ।  
 एक अम्यकृत से अनेक अकृत पात्रों के निमित्त होने का जो वर्णन तात्पृथक् ( ४-१६ )  
 भाठों ( १६-२१ ) और नींदे ( ४-८ ) अप्यायों में है वही भूता भी



म तु मी शक्त्यसे इष्टमनेनैव स्वचाहुपा ।  
विष्ण्य वपामि ते चक्षुः पद्म मे योगमेष्वरम् ॥ ८ ॥

सञ्जय उवाच ।

६६ परमुक्त्वा ततो एवन् महायागेभ्यर्थे हरिः ।  
वर्द्धयामास पापाय परमं इष्टमेष्वरम् ॥ ९ ॥

अनेकदक्षनयनमनवकाष्मुत्तर्णिम् ।  
अनकांडिव्यामरणं विष्णुलोकोपतायुधम् ॥ १० ॥

विष्ण्यमास्याष्वरपरं विष्ण्यमन्नालुकंपनम् ।  
सवाद्वर्यमयं देवममलं विष्णुलोमुखस् ॥ ११ ॥

विषि धर्यस्तदस्य भवेषुगपद्मित्यवा ।  
यदि मा साक्षी ता स्याङ्गास्तवस्य महात्मनः ॥ १२ ॥

तत्रकर्त्तव्यं ज्ञात्वास्तन्न प्रियमक्षमनक्षमा ।  
अपरम्परेष्वेष्वस्य दर्शिरे पाण्डकस्तत्त्वा ॥ १३ ॥

ततः स विस्मयादिष्ठो इष्टरोमा धर्वजयः ।  
प्रजन्म शिरसा देवं कृतांश्चिरमायत ॥ १४ ॥

( ८ ) परन्द्र द अपनी “सी हाँ” से गुस्से देख न सक्ता । तुम्हें रिष्य हाँ देता है ।  
( १४ वे ) मेरे इति अर्थात् योग अर्थात् योगसामर्थ से देखा

सञ्जय ने कहा :- ( १ ) फिर है यह भृतराम ! इस म्हार कह करके पोता के ईर्ष्यर हरि ने अर्कुन का ( अपना ) भेद इथरी रूप अर्थात् विष्णुरूप विष्णुमात्र । ( २ ) उसके अर्थात् विष्णुरूप के अनेक गुल और उसमें अनेक असृत इव दीप पढ़ते थे । उस पर के रिष्य अर्कुन्हार थे और उस मै नानाम्हार के रिष्य असुख सञ्जित थे । ( ३ ) उस अनन्त संबंधामुख और सब आश्रयों से मेरे हुए देवता के रिष्य मुगादित उष्टुन लगा हुआ था वह रिष्य पुष्प एव बल बारण किये हुए था । ( ४ ) परि आकाश मै एक हवार सूक्ष्मा की ग्रामा एकसाथ हो तो वह उस महात्मा की लालित के समान ( कुछ कुछ ) दीन पढ़ । ( ५ ) दून देवाकिवेष के इस शरीर मै नाना प्रकार से कैद्य दुक्षा चारा चारां अर्कुन को एकत्रित विष्णुर्दिया । ( ६ ) फिर आश्रय मै इन्हें से उसके शरीर पर रोमाङ्ग पड़े हो आये और मस्तक नमा कर नमस्कार करके एव हाथ देवता से कहा :-

अर्कुन ने कहा :- ( १ ) देव तुम्हारी इति देह मै उत्तम देवतामा और नाना म्हार के प्राणियों के उम्रायाको ऐसे ही कमशत्तन पर ऐसे हुए

भीमगवलुपात्र ।

६६ पश्य मे पाथ रुपाणि शतशोऽय सद्गुरुमः ।

मानादिपानि विष्णानि गानावर्णाकृतीनि च ॥ ५ ॥

पश्यादित्याम् एस्त् रुद्रामधिनौ मस्तस्तथा ।

षहन्यष्टपूर्वाणि पश्याद्वर्णाणि मारत ॥ ६ ॥

इदेकस्य जगरकृत्स्न पश्याय सचराचरम् ।

मम वह गुडाक्षेश यज्ञान्यदप्युमिष्यति ॥ ७ ॥

[ उत्तरिति और सब इन घटनी से दूसरे क्षेत्र में अभियेत है । लीले क्षेत्र के दूनी अचाहों को ने मिम मिम बाक्य मान कर कुछ स्पष्ट उनका देखा अप बताते हैं, कि परमबर ! तुमने अपना देश ( स्वर्ण का ) बगन दिया वह उन्हें है ( अयत् मैं समझ गया ) । अब हे पुरुषात्म ! मैं तुम्हारे इधरी स्वरूप को देखना चाहता हूँ ( ऐसो गीता १ १४ ) । परन्तु दीनों पक्षियों का मिल्य कर एक बाक्य मानना दीक जन पढ़ता है और परमाप्रसा दीक मैं पढ़ा दिया भी गया है । वीर्य भाक मैं ये 'योगशर' शब्द है उत्तर का अप यामा का ( यागियों का नहीं ) इधर ह ( १८ ७८ ) । याम का अप पहले ( गीता ७ १६ और ९ ८ ) अध्यक्ष स्व च म्बक्षसुहि निमाज करने का सामर्प्य अपका सुक्षि दिया ये चुमा है । अब उत्तर लामप्य से ही विभक्ष्य निरपक्षना है । इन कारण यहाँ 'यामशर ममोजन का प्रयाम लहरुक है । ]

भीमगवान ने कहा - ( ) हे पाप ! मेरे भनेड प्रकार के भनेड रहों के जीर रक्षणी ६ ( इन ) मिस्ट्रों भववा हजारी गिय द्वंग को रहो । ( ६ ) ये राग ( शरह ) भाग्निय ( भाग ) बनु ( ग्यारह ) रज ( हं ) भधिनी कुमार भोर ( ८ ) महरुच । हे मारत ! ये भनेड भाक्य अमो यि यो पहल बमी न देग होगे ।

[ नसापातीप द्वम मे नारू का ये विभक्ष्य न गाया यो हे उनमे पह | निराय बगन हे यि बार भोर शरह भाग्निय नम्बुरा भाट बनु, दट्टी भार | ग्यारह ६ भार निष्ठी भोर दा भधिनीकुमार ये ( शा ३१९ ६०-६२ ) । | परन्तु शरह भावरपक्षा नहीं यि यही बगन गवद्र दिवहिन हा ( ऐसो म. मा | ३ ११ ) भाग्निय बनु रा भधिनीकुमार भोर महरुच य देविह देया | ८ पर देया ही ८ चारक्य का ना महामरन ( शा ३ ८ १६ ८४ ) मे यों | दाम्पदा है यि भाग्निय भधिनय ८ महरुच देय ८ भार भधिनीकुमार गुह | हे ( शा दाम्पदा ४ ४ १ ५३ ) ]

( ९ ) हे गुडाक्ष ! भार यही पर एवनिन तद वर भवर गन्म देन से और नी के दृउ ना देखे ये लक्ष्मा हा वा मेरी ( इस ) १६ मे देन है

स्वाधिष्ठा विद्वांसे ये च साभ्या विश्वेऽश्विनौ मरुताम्बोध्यपात्र ।

मन्त्रवंशकासुरपुरुष्णसंवा दीक्षास्ते त्वा विस्मिताद्येष सर्वे ॥ २२ ॥

कर्म महते वहुवक्त्रनेत्रं महात्याहो वहुताहस्याहम् ।

वहुदर्शं वहुद्वाकराहं वहुवा लोकाः प्रम्यपिताम्तराम्त्रा हम् ॥ २३ ॥

ममःस्पूदां दीक्षमलेक्षणीं व्यासामर्तीं दीक्षविद्वाहनेहम् ।

वहुवा हि त्वा प्रम्यपिताम्तराम्त्रा शूर्ति म विन्दामि इमं च विष्णो ॥ २४ ॥

कंद्राकरणानि च ते मुखामि वहुवैव काळानालसचिन्मामि ।

विद्वो न जाने म लभे च शर्मं प्रसीद देवेश जमचित्वास ॥ २५ ॥

ऐतिहासिक के समूह दुम्म प्रवेश कर रहे हैं। (ओर) कुछ मर्य से शाश्वते कर प्रार्पना कर रहे हैं। (एव) स्वर्णि स्वर्णि कह कर महापिं और दिव्यों के समुदाय अनेक प्रकार के लोकों से द्रुम्हारी शूर्ति कर रहे हैं। (२२) यह और आवित्य कहु और शाभ्यगति किञ्चेत् (हीनों) अभिनीकुमार मरुष्ण उष्मापा अर्थात् पितृर और अन्यर्व यष्टि राज्ञि पद दिव्यों के द्वारा कह द्विस्मित हो कर द्रुम्हारी और ऐसा रहे हैं।

[आदि मे पितृरो का जो भग्न अर्पण किया जाता है उसे वे तमी तद महण करते हैं वह तद कि वह वह गरमागम रहे। इसी से उनमे 'उष्मापा' वहते हैं (मनु. ३ २१७)। मनुस्मृति (३ २१४-२) में इन्ही पितृरों के सोमस्त्र अभिष्ठात वहिष्ठृ, सोमपा इविष्पात् आ उपा और मुम्बिन् ये ये चार प्रकार के गत करन्ति हैं। आवित्य आहि देवता वैति है (वर ए चात्र स्पेक देवो)। वहुवरण्यक उपनिषद् (३ ९२) मे यह वर्तत है कि आत्र कहु, स्पाह यद नारह भावित्य और इन्द्रांतया प्रवृपति ये मित्र कर १५ देवता होते हैं और महाभारत भावित्य अ १५ एव १६ में तथा शान्ति पव अ २ ८ मै नम और इनकी उत्पत्ति वद्वारा गई है। ]

(२६) हे महात्म ! द्रुम्हारे च स महान् अनेक मुखों के, अनेक मौँखों के, अनेक मुखाओं के, अनेक वह्याओं के, अनेक पैरों के अनेक उडायों के और अनेक डाटों के कारण विनाश हितेषाढे यष का देवत कर सब छोगों को और मुखे मी मर हो रहा है। (२७) भावाद्य से मिथे द्रुप, प्रवृपति, अनेक रहों के, करों फैलवे द्रुप और कठे चमनीषे नेत्रों से मुख द्रुम्हारे देल कर अन्तरुगमा पक्षा गया है। इससे है विष्णो ! मेरा चीरव छूट गया और धारित मी चर्ती रही। (२८) डाटों से किन्नाश तथा प्रस्त्रकामीन अभि के तमान द्रुम्हारे (इन) मुखों को देलते ही मुखे खिणाएँ नहीं चलती और तमान मी नहीं होता। हे भावित्य

मनुन ठवाच ।

इ ह पश्यामि देवास्तव देव वह सर्वास्तया मूलविशेषसंपान् ।

महाशमीर्द्ध कमलासक्त्यमूर्पीष्म सर्वानुरगीष्म विष्वाम् ॥ १६ ॥

अनेकवाहृप्रदक्षिणेष्म पश्यामि त्वा स्वतोऽनन्तस्पम् ।

नामते न मध्यं न पुनस्तवाहिं पश्यामि विष्मेष्मर विष्मरय ॥ १७ ॥

किरीटिन गद्विमं चक्रिष्म च तजोराहिं सवतो दीसिमन्तम् ।

पश्यामि त्वा तुर्मिरीष्मर्य समन्ताद्वीपान्तार्कपुतिमप्मेयम् ॥ १८ ॥

त्वमहर परमं द्वितीयं त्वमस्य विष्मरय पर निषानम् ।

त्वमस्य शाभ्यतप्मेयोत्ता चनाकनस्वं पुरुषो मतो मे ॥ १९ ॥

मनादिमध्याम्तमनन्तवीर्यमनन्तवाहुं द्विष्मत्यर्यनप्म ।

पश्यामि त्वा वीतमुताधाशक्त्रं स्वतंगता विष्मित् तप्मन्तम् ॥ २० ॥

पावापुष्मियोर्लिमन्तर हि व्याप्त त्वयेकेन विष्मय सर्वा ।

एष्माद्युत रूपमुर्मं तप्महं छोक्त्रये प्रव्ययिते महास्मन् ॥ २१ ॥

अभी हि त्वा सुरसंघा विष्मिति क्षितिजीवा ग्रीजस्थयो गृणम्ति ।

त्वस्तीत्युक्त्वा महर्यितिस्तुसंघाः स्तुवन्ति त्वा स्तुतिभि पुष्मलामि ॥२२॥

( सब देवताओं के ) स्वामी ब्रह्मेष्व उब जगियो और ( बाहुषि प्रभृति ) सब तिम्य रूपों को भी मै देख रहा हूँ । ( १६ ) अनेक जाहु, अनेक ज्वर, अनेक मूष और अनेक नेत्रधारी अनन्तमयी तुम्हीं को मै चाहा और देखता हूँ परन्तु है विष्मेष्मर विष्मरय ! तुम्हारा न तो अन्त न मध्य और न आहि ही मुझे ( वही ) हीप पड़ा है । ( १७ ) किरीट जा और चक्र घारण बरनकारे चारीं भार प्रमा फ्राय इए, तेष्मपुष्म व्यक्ते शुष्म अमि और तृष्म के समान दीन्यमान् भाषा से देखने में भी अप्यक्षम और भवरभ्यार ( मर हुए ) तुम्हीं मुझे जहाँ-तहों नीच पढ़ते हो । ( १८ ) तुम्हीं अनितम ऐप भार ( त्रष्म ) तुम्हीं इस विष्मके अनितम भाषार, तुम्हीं अप्यय और तुम्हीं शाखन घम के रसाक हो । मुझे सनातन पुरुष तुम्हीं जान पढ़ते हो । ( १९ ) विष्मके न आहि है न मध्य और न अन्त, अनन्त विष्मके बाहु हैं चक्र और विष्मके नेत्र हैं प्रावक्षित अप्ति विष्मण मूष है ऐसे अनन्त शासिमान तुम ही भजने तेज से इस समस्त रूपको तपा रहे हो । तुम्हारा एका अप मै देख रहा है । ( २० ) क्षामि भाषाय और दृष्मी के दीप ज्व यह ( सब ) अन्तर भार सर्व डिणारे अनेके तुम्हीं मै भ्यात भर राखी हैं । हे महामन ! तुम्हारा इस भक्तन भार रूप रूप को देव कर भैरोक्षय ( दर के ) व्ययित हो रहा है । ( २१ ) यह इसी

तत्समात्वमुक्तिपृथिवी यशो लभत्वं जित्वा इन्द्राणि तुल्यं तद्गुणम् ।  
मयैषैते निष्ठाः पूर्वमेव निमित्तमार्थं मव तत्पत्ताचित् ॥ ३३ ॥  
ब्रोद्यं च मीध्यं च जयद्रव्यं च कर्णं तप्याम्यामपि योक्तवीरग्नं ।  
मया हतात्म्यं यहि सा व्ययिष्टा पुण्यस्वं जयासि एते तपत्वान् ॥ ३४ ॥  
सञ्चाय उवाच ।

३५ पतस्तुत्वा वचनं केशवस्य हृतपौजिक्षेपमामः किरीटी ।

तमस्तुत्वा भयं प्राप्ताह हृष्ट्वा समग्राद्यं भीतमीतः प्रज्ञम् ॥ ३५ ॥  
अर्जुन उवाच ।

स्थाने हृषीकेशं तद्व प्रक्षीर्त्यां जगत्पूज्यत्यनुरूपते च ।

प्रसीति भीतानि दिशो व्रवन्ति सर्वे नामस्पर्मितं च सिद्धं संखाः ॥ ३६ ॥

‘काम’ हैं। पहुँचे लेगी वह संहार करने आपा हैं। तू न हो तो भी (भर्तृत् इन्द्रं न करे, तो भी) ऐनाभ्या में पहुँचे हुए ये उच्च घोड़ा नहीं होनेवाले (मरनेवाले) हैं। (३३) अतएव तू उठ बढ़ा प्राप्त कर और शत्रुओं को चौर करके समृद्ध राज्य व उपर्योग कर। मैंने उहैं पहुँचे ही मार जाए है। (इष्टिष्ठे भव) है तत्पत्ताची (भर्जुन)। तू ऐवच निमित्त के लिये (आगे) हो। (३४) मैं श्रोण मीध्य जयद्रव्य और कर्णं दृष्टा पेसे ही अन्नान्यं और शोषणाभ्यां च (पहुँचे ही) मार दुष्ट हैं। उन्हें तू मार। प्रवाना नहीं। तुम्हें मैं चतुरुओं को बीतेगा।

[ सारांश बत्र श्रीहृष्ण संप्रिष्ठ के लिये गये ये तत्त्व तुम्हारन को मेष भी सों<sup>२</sup> भी बात कहने न देव मीध्य ने श्रीहृष्ण से केवल शत्रुओं में कहा था कि क्षम्यस्मान्मिदं मन्यं सर्वे नाम अनार्द्धं (मा मा उ १२७ ३२) – वे सब सनिय काढ़पद हो गये हैं। उसी कथन का यह मन्यस्त इस्त श्रीहृष्ण ने अपने विभूषण से अर्जुन को विषयम् दिया है (उपर २६–३१ खोल देखे) कर्मं विषयक-प्रतिक्रिया का यह उत्तरान्त भी ३१ में खोल म भा नया है कि तुम मनुष्य अपने कर्मों से ही मरते हो। उनको मारनेवालम् तो उत्तर निमित्त है। इष्टिष्ठे मारनेवाले को उपका गैप नहीं आता। ]

सञ्चाय ने कहा – (३) केयव के इस भाषण को शून कर अर्जुन शत्यर्त मन्यमीत हो गया। गम्भीर हैं ये कर्मोंपते हाथ जोह नमत्कार करके उन्हें श्रीहृष्ण से नम हो कर फिर अर्जुन ने बहा: – (३५) हे हृषीकेश! (सत्र) अन् तुम्हारे (गुण) कीर्तिन से प्रसन्न होता है और (उत्तरमे) भनुराच रहता है। यसस्तु तुम्हों वर कर (प्ली) उत्तराभी मैं भाग बतते हैं और उत्तरपुरुषा के उत्तु तुम्हीं को नमत्कार

अमी च त्वा पूरुराह्रस्य पुत्रा सर्वे सहेदावनिपाल संषेः ।  
 भीम्पो द्वोष्ण दृतपुत्रस्तयासौ सहासमदीयेरपि योघमुख्ये ॥ २६ ॥

वक्षाणि ते त्वरमाणा विशान्ति कृष्णप्रसानि भयानकानि ।  
 केचिद्विलभा वशनान्तरेषु सन्दृश्यन्ते चूर्जितैक्षसमग्ने ॥ २७ ॥

यथा भवीता वृहतोऽम्बुदगा समुद्रमेवाभिमुखा व्रक्षन्ति ।  
 तथा तवामी नरलोकवीरा विशान्ति वक्षाण्यमिविभ्युलम्ति ॥ २८ ॥

यथा प्रदीतं ज्वलनं पर्तमा विशान्ति नाशाय समूद्रवेगाः ।  
 तथैव नाशाय विशान्ति लोकास्तत्कापि वक्षाणि समूद्रवेगाः ॥ २९ ॥

लेघिलुक्ते यस्तमाम् समस्तास्तोकान् समधानं यद्वैज्यलम्ति ।  
 तेजाभिरापूय अमास्तमध मासक्षत्योद्या प्रतपन्ति विष्णा ॥ ३० ॥

आरुष्यादि मे का भवानुपरम्या भवान्तस्तु ते वदवरं प्रसीद ।  
 विहातुमिष्ट्युगामि भवन्तमायं म हि प्रजानामि तद् प्रसूस्तिम् ॥ ३१ ॥

र्थमगवाणुवाच ।

६५ कालाऽस्मि लाक्षण्यकृपमृद्धा लाक्षाम् समाइतुमिह प्रवृत्तः ।  
 एवंद्वपि त्वा म भविष्यन्ति सर्वे यज्यस्थिता प्रत्यनीकेषु याघा ॥ ३२ ॥

देवाधिरेष ! प्रसन्न हो याभो । ( २६ ) यह हेत्यो ! राजभा के हासमेन  
 पृष्ठपर क उत्त पुरु भीष्म द्वोष्ण भीर वह सहपुत्र ( कण ) हमारी मी भार के  
 भुम्प मूर्ख योद्धाभी के दाय ( २० ) तुम्हारी विसराम द्वारीकासे इन भनेक  
 भयद्वार मुग्गा मे पदावह पुल रहे हैं भीर दुष्ट खेग तीतो मे दृष्ट वर ऐसे  
 भिगार ह रहे हैं कि निन्दी गापटियो तुर हैं । ( २८ ) तुम्हारे अनेक प्रज्ञान्ति  
 मूले म मनुपर्शेष के देष और दसे ही पुल रहे हैं ऐसे कि निरिषा के देष  
 वडे प्रवाह तमुद्र की ही भार चक्ष गते हैं । ( ३ ) दम्भी शूर भवि मे मरने के  
 लिये दहे देग मे दिन प्रवाह पठाष्ट दृष्टते हैं ऐसेहि तुम्हारे मी अनेक द्वाष्ट मे ( ये )  
 लाग मरने क लिये दहे देग से प्रवाह कर रहे हैं । ( ३ ) ह विष्णो ! चारों ओर  
 मे वह लगों का भवने प्राचक्षिण मूर्णी से निष्ठ कर तुम भीम चार रह हा !  
 भीर तुम्हारी उम प्रमारे तद्वे उम्बे उग्नि को व्यात कर ( पारी ओर ) चमक रही  
 है । ( ३१ ) मूर्णे द्वन्द्वामा ति इह उम उप को पारण करनेकामे तुम बीन ही ! हे  
 देवमेष ! तुम्ह नभवार करता हूँ ! प्रकृत हो याभो ! मे यानना चाहता हूँ ति तुम  
 भाँ पुरुष बीन हा ! क्वाकि मे तुम्हारी इन करनी क्य ( विष्णुम ) नही गनता ।

भीन्द्रावान ने दहा :- ( ३२ ) मे लभ्ये का लय भरनेकाल भीर द्वा तुमा

सखेति मत्वा प्रसर्म यदुक हे कृष्ण हे याष्य हे सखेति ।  
 अजाक्षता महिमाने तत्वेषै मया प्रमाणात्मणयेन वापि ॥ ४१ ॥  
 यज्ञावहासार्थमस्तुलोऽसि विहारात्म्यासनभोजमेषु ।  
 पक्षोऽप्यवाप्यच्छ्रुतं तत्समस्तं तत्सामये त्वामहमप्मेयम् ॥ ४२ ॥  
 पितासि सोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यत्वं गुरुमरियान् ।  
 न त्वत्समाऽस्तम्यधिकः शुतोऽन्यो सोकमयेऽप्यप्रतिमप्रभायः ॥ ४३ ॥  
 तस्मात्मजम्य ग्रन्तिषाय कार्यं प्रसादये त्वामहमीषमीढप्यम् ।  
 पितेषु पुत्रस्य सखेव ताम्बु-प्रियः प्रियायाहसि देव स्त्रीहुम् ॥ ४४ ॥

ओर से द्रुमको नमस्कार है। द्रुम्हारा बींयं अनन्त है; और द्रुम्हारा पराक्रम भगुत्त  
 है। उब को वयेष्ट होने के कारण द्रुम्ही 'सर्वं हो'।

[ सामने से नमस्कार, पीछे से नमस्कार, मे शाश्वतपरमेश्वर की तत्त्वापद्धति  
 | दिलचर्ते हैं। उपनिषद् में इस का ऐसा वर्जन है, कि 'इहीवेऽ अमृतं पुरुषाद्'  
 | इस पश्चात् इस दक्षिणात्मोचरेष्ट । अपश्चोष्ट च प्रसृतं प्रदेवेऽ विभामिष्व चरिष्टम् ।  
 | (मु. २ च ११ अ. ७ २६) उत्ती के भगुत्तार महिमार्ग की यह नमस्कारक  
 | सुति है। ]

(४१) द्रुम्हारी इति महिमा को किना यहने मिन तमस्त कर प्यार से या भूल ते  
 भेरे कृष्ण ओ पात्र , हे उपा "त्याति ये मुछ मैने कह आस हो। (४२)  
 और हे अमृत ! भाहार-विहार में अपवा सोने देखने मे भक्तेसे मे या उत्त मनुष्यों  
 के समन मैन हँसी निलगी म द्रुम्हाय ये अपमान लिया हो उपके सिय मे तुम्हे  
 खमा माँगता हूँ। (४३) इस चराचर अग्न के पिता द्रुम्ही हो। तुम पूर्ण हो  
 भीर गुरु के भी गुरु हो ! भित्तेक्षमर मैं द्रुम्हारी भरास्ती का खोरं नहीं है। फिर हे  
 अग्रुप्यभाव ! भपिन कहीं से होगा ! (४४) द्रुम्ही सुत्य भीर लम्ब हो। इसस्ति  
 मि धरीर सुका कर नमस्कार करने तुमसे श्रापना करता हूँ, कि प्रशस्त हो यमो !  
 किन प्रकार पिता अपने पुत्र के अपवा लागा अपने सरपा के अपराज अमा करता है  
 उमी प्रसार हे देव ! फ्रमी ( आप ) की प्रिय के ( अपने अपमान के अपात् भेर तब )  
 भपराज लमा करना चाहिये ।

[ द्रुउ स्वेग प्रियः प्रियायाहसि इन शब्दों का प्रिय पुरुष लिं  
 | प्रगार अपनी श्वी के एका अप करते हैं। परम्तु हमारे मत मे पर श्वी  
 | नहीं हैं। श्वोऽस्त्वा चरण की शीति मैं प्रियायाहसि + प्रियायाः + भर्दृषि  
 | अपवा प्रियाये + भर्दृषि देसे पर नहीं द्रुते भीर उपमात्रातः 'इति शब्द  
 | भी इति शब्द मे हो बार ही भाषा है। अतः प्रिय प्रियायाहसि श्वी  
 | शीतरी उपमा न लमा कर उपमेष मामना ही भपिन प्रशस्त है। पुत्र ते

कस्माच्च त न ममेण महात्मन् गणियसे वक्षोऽप्याविकर्षे ।  
अनन्त इयेदा अगदियासु त्वमहर्तु सद्वस्त्रत्वर्त यद् ॥ ३७ ॥  
त्वमाविकर्ष पुरुषं पुरुणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निभानम् ।  
यसासि वद्य च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरम् ॥ ३८ ॥  
वायुर्द्योऽप्तिवरुण शशीक प्रजापतिस्त्वे प्रपितामहश्च ।  
नमो नमस्तेऽस्तु सद्गुरुत्वः पुनर्य भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ ३९ ॥  
नमः पुरस्त्राह्यं पुष्टतस्ते नमाऽस्तु ते सर्वत एव सर्वं ।  
अनन्तस्तीर्याभितपिकमस्त्वे सर्वं समाप्नोपि ततोऽप्ति सद्य ॥ ४० ॥

करते हैं यह ( उद्द ) उचित ही है । ( ३० ) हे महात्मन् ! तुम प्रझेते के आदि कारण  
भीर उससे मी भय हो । तुम्हारी बद्धना के बेसे न करेंगे । हे अनन्त ! हे अपिकासु !  
यद् भीर अस्त् तुम्ही हो भीर इन नानों से परं चो अस्तर है यह मी तुम्ही हो ।

[ गीता ७ २४ ८ २ और १६ १६ शीर्ष पटेला कि सद् भीर अस्त्  
प्राप्ति के अथ वहा पर जम से ब्यक्त भीर अग्नाक्ष अग्नवा धर भीर अस्तर इन  
प्राप्ति के अप्यों के समान है । सद् भीर अस्त् स परं चो तत्त्व है यही अप्ति  
वद्य है । इसी कारण गीता १६ १२ में रसद वर्णन है कि मैं न या सद् हूँ  
भीर न अस्त । गीता म भयर ध्येय कभी प्रहृति के लिये भीर कभी वद्य के  
लिये उन्मुक्त हूला है गीता १६ १२ और १६ १६ की विपरीता है । ]

( ३८ ) तुम नामिष ( तुम ) पुरातन पुरुष इव अमन् क परम आधार, तुम शक्ता  
नार ऐप तथा तुम भद्रग्न्यान हो और हे अनन्तरूप ! तुम्ही ने ( इस ) विष का  
शिर्पा अपा एपास लिया है । ( १ ) वापु, यम नामि वस्त्र चम्द्र प्रभापति  
अधार वाला और पराणा मी तुम्ही हो । तुम्हें हजार चार नमस्कार है । नार फिर  
भी तुम्ही का नमस्कार है ।

[ इसा से परीक्षि नामि चाह मानसपुत्र उत्तम हुए, भार मरीचि म  
क्षयप तथा क्षयप के लक्ष प्रका रूपम दर है ( म या भार १६ ११ ) ।  
इर्षाय इन परीक्षि भारि का ही प्रशापति कहते हैं ( शा ३८ १६ ) । इसी  
मेर शाह व्यैर प्रशापति ध्य का अथ वस्त्र नामि प्रशापति कहत है । परम्पुरा  
प्रशापति ध्य एव वस्त्रवनान्त है । इह वारण प्रशापति का अथ वद्याय ही भवित  
प्राप्ति ध्य पट्टा है । इह अतिरिक्त वद्या मरीचि भारि के लिया अधार तथा  
के लिये वद्य ( शा ) है । भारि भागो का 'प्रशिकामह' ( पराणा ) पड़ मी भार  
ही भार प्राप्त होता है । भीर उक्ती कापक्ता ध्य हो जाती है । ]

( ४ ) हे वस्त्रमह तुम्ह तामने मेर नमस्कार है दीजे से नमस्कार है भीर कर्म

न वद्यपलाभ्यपमैर्न वानीर्ण च कियाभिर्न तपोभिरुमैः ।

परमरूपं शक्य आहे सुलोके द्रहुं त्वदन्येन कुरुम्हीर ॥ ४८ ॥

मा तं व्यथा मा च विशुद्धमादो इद्वा रूपं शोरमतिहस्मेषम् ।  
स्वपेतमीः प्रीतमना: पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपात्य ॥ ४९ ॥

सञ्चय उचाच ।

इत्यर्थुनं वासुदेवस्तायोक्त्वा स्वर्कं रूपं वर्णयामास भूतः ।

आत्मासम्यामात् च मीतमेनै मूल्वा पुनः सीम्यवपुर्महास्ता ॥ ५० ॥

अर्थुनं उचाच ।

इद्वेदं मानुषं रूपं तदं सीम्यं जनार्दन ।

वालीमस्मि सवृत्तः सचेता ग्रहाति मतः ॥ ५१ ॥

ऐतोमय, अनन्त, आय और परम विश्वरूप अपने वोगसामर्थ्य से मैंने दूसे लिंग-स्थापा है। इसे ऐरे सिक्षा और किसी ने पहले नहीं केला। (४८) हे कुस्तीरेह! मनुष्यसङ्ग मेरे इन प्रकार का स्वरूप कोई भी कैप से यज्ञों से खालियाप ले गान से कमों से अधिका उम्र तप से नहीं केप सकता कि किसे तू ने केला है। (४९) मेरे ऐसे भार रूप को केप कर अपने विच मे व्यथा न होने हे और मृद मत हो जा। दर छोड़ कर सनुष्ट मन से मेरे उसी स्वरूप की छिप केप हे। उड्डव ने कहा - (५) इस प्रकार मायण करके वासुदेव ने भक्त की छिप अपना (पहले का) स्वरूप विश्वस्थापा; और फिर सीम्य रूप भारत्य करके उत्त महामय ने दरे हुए भद्रुन को घीरक बंधाया।

[गीता के द्वितीय अध्याय के ६ अंक से ८ अंक २ अंक, १२ अंक, ० अंक | और ७ अंक सोल भागों अध्याय के ६ अंक ११ अंक और १८ अंक सोल | नींदे अध्याय के ५ अंक २३ अंक स्पेशल पन्द्रहवें अध्याय के २० अंक से ५ अंक और | ३ अंक का छठा विश्वरूपकाण के उत्त १६ अंकों के ऊपर के उमान है। | अध्याय ८ इसक प्रयोग वर्तम म व्याह अवश्य है। परम्परा इनमें यज्ञों का बोई एक | निषेम नहीं है। इसमें कानिश्चाल प्रभृति के कार्यों के इत्यत्रित्रा उत्तेष्ठत्रित्रा उप | ग्रनि होतक शामिनी भावि उन्होंनी जात पर ये श्वोक नहीं कहे जा सकते। | अध्याय ८ एवं दूसरचना भावं पानी वेष्टुदिता के निष्ठु दृष्ट के नमूने पर यी गाँ | ८। इस कारण यह निषास्त और भी नुट्ट द्वा रूप हो जाता है कि गीता वर्तम शारीर | द्वारा इस गीतारहस्य परिप्रेक्ष प्रवर्त्त २ ० ।]

भक्त ने कहा - (५१) हे बनान! तुम्हारे इन नीम्य मनुष्यरूपारी रूप की | दृष्टि कर भव मन डिलान भा गया भीर मैं पहले की झेंगि लावपान हो द्या है।

अष्टपूर्वी द्वितीयस्मि लम्बा भयेन च प्रव्यथिते मनो मे ।  
तदेव मे कर्त्तव्य वेव कर्म प्रसीद वेवेश जगाभिवास ॥ ४५ ॥  
किंचिदिने गदिने चक्रहस्तमिष्णामि त्वं व्रहुमहं तथैव ।  
तेनैव कृपय चतुर्भुजेन सहस्राहो भव विभ्यमूर्ते ॥ ४६ ॥  
र्भ मगवानुवाच ।

इह मया प्रस्त्रेन तवार्जुनेऽरूप परं वर्णितमात्मयोगात् ।

तेजोमय विभ्यमनन्तमात्म यन्मे त्यद्यनं न व्यपूर्वम् ॥ ४७ ॥

(पुराण) समा के' (सम्यु) "न तेजों उपमानात्म पद्धत्य शम्भी के  
समान यदि उपमेय म मी प्रियस्य (प्रिय के) यह पश्चिमत्य एव होता तो  
बहुत अच्छा होता । परन्तु अम भितत्य गतिभिस्तुनीया इस न्याय के अनु  
सार यहाँ अवाहार करना चाहिये । हमारी समझ में यह बात किन्तु सुनि  
ष्ठात नहीं होय पढ़ी तो प्रियस्य इस पश्चिमत्य शम्भीलिङ्ग पद के अमावस्ये  
प्राप्तरम के विषद् 'प्रियाया' यह पश्चिमत्य शम्भीलिङ्ग का पद किया जाये और  
उव्वत वह अर्कुन के दिये जाए न हो तो तब 'अ शम्भ का अप्याहार मान  
कर प्रिय प्रियाया - ऐसी अपनी प्यारी आई - पहली तीव्री उपमा मानी  
जाने; और वह मी शङ्खार्थि भताएव भग्नासङ्खित हो । इसके सिवा एव और शम्भ  
हे कि पुराण लम्बु प्रियाया न तीनों पदों के उपमान में चले जाने से उपमेय  
म पश्चिमत्य पद भिन्न दी नहीं रह जाता और 'अ अप्याहार' पद वा भी  
अप्याहार करना पड़ता है । यह नहीं माधारणी करने पर उपमान और उपमेय  
में ऐसे तम विभिन्नी की समझ हो मा तो इन्होंने मैं जिह भी विभिन्नता का  
नया देख ला ही रहता है । दूसरे पद में - भशात् प्रियाय + भद्रिष्ठि एव  
प्राप्तरम की रीति से युद्ध और वरम पद किय जायें तो उपमेय में - यहाँ  
एवं इनी जातिये यहाँ प्रियाय पह चतुर्भी भाती है - इस रूपना ही दोन  
रहता है और यह दोन वार विषय महाय का नहीं है । ज्ञानि पर्य का अप  
पहों चतुर्भी का ला हे और अन्य भी वह बार देना हावा है । इन भाव का  
अप परमात्मवा दीक्षा में देना ही है जैका हि उपने किया है । ]

(४८) कभी न द्या एव अप वा इत्यर मुहू द्या द्युमा है । और मय मे मरा मर  
स्यातुर भै हा द्या है । हा वा अकाल इत्याधि है । प्रकृष्ट हा जाना । नीर है एव ।  
भरना वही पद्मे वा लम्बु प्रियायमा (८८) में पश्च के उपमा ही रितोर  
भी रा भारग करनेशा । दाय के वर मिव हुए तुम्हा देना पाहता है ।  
(भारग) है तरमाहृ विभूर्गि । उभी चतुर्भुर अप म प्रस्तु दा गना ।

धीरक्षान् ने बहा - (८९) है भद्रुन ! (तुम पर) लम्बु दावर यह  
ही ।

का कर वह ये कर्म हम से करवा रहा है। ऐसा करने से ऐसा शाश्वत भक्ति  
मोक्षपासि में बाहर नहीं होते। शाकुरमात्र में भी यही कहा है, कि इति भोक्त  
में पूरे गीताराज्ञ एवं तात्पर्य भा गया है। इससे प्रकट है कि गीता का महिमार्थ  
यह नहीं कहता कि आरम्भ हो राम राम करो प्रसुत उसका कर्म  
है कि उक्त महिला के साय-ही-साय उत्साह से उन निष्काम कर्म होते रहे।  
संस्यासमार्पणादे फलहोते हैं कि 'गिर्वार' का अर्थ निष्प्रिय है। परन्तु यह अर्थ  
बहों विचारित नहीं है। इती बात को प्रकट करने के सिये उसके साय 'मरुमंडल'  
अथात् 'उच कर्मों को परमेश्वर के (भपने नहीं) समान कर परमपरापद्मनुजि  
से करनेवाला विदेशीण स्मावा गया है। इस विषय का विस्तृत विचार गीता  
रहस्य के बारहवें प्रकल्पण (पृ ३०५-४१) में किया है।]

इति प्रधर श्रीमद्भागवत् के गाये दुष्ट - अर्थात् कहे दुष्ट - उपनिषद् म प्रश्न  
विद्यान्तरगत धोग - अथवा कर्मयोग - शाक्तविद्यक श्रीकृष्ण और अकुनि क संवाद  
में किष्मतपराश्रान्तियोग नामक व्याख्यातों अध्याय समाप्त दुमा।

---

## बारहवाँ अध्याय

[कर्मयोग की सिद्धि के सिये सातवें अध्याय में हानिविशान के निष्पत्ति का  
आरम्भ कर भाटवे में अधर अनिवार्य और अन्वय व्रद्धि का स्वरूप करताया है।  
फिर नान अध्याय में मध्यिकरूप प्रत्यय राक्षसार्ग के निष्पत्ति का प्रारम्भ करके इतने  
और व्यारहने में तटस्तरात 'विश्वतिविश्वन' पव विश्वपद्मशन इन दो उपास्यानी  
का वर्णन किया है। और व्यारहने अध्याय के अस्त में सारकृप ते अकुनि की उपोष्य  
किया है कि महिला है पव निःसङ्कुदि स उमल करते रहा। भव इति पर  
अकुनि का ग्रन्थ है कि कर्मयोग की सिद्धि तात्पर्य और आर्थिक अध्याय में  
सार-अधरविश्वारपूर्वक परमेश्वर के अवयव उप को भेष लिह करके अवयव की अथवा  
भक्ति की व्याख्या (७० और २४ / २१) करत्स्याइ है। और उपोष्य किया  
है कि युक्तविश्वन स दुष्ट कर (८७) एवं मीद अध्याय में व्यक्त-उपासनारूप  
प्रत्यय वर्त्म बताता करता है कि परमेश्वरार्पनजुद्धि स उभी कर्म करना पाहिये  
( ० ४ वीर ) तो जब इन बातों में भेषमाय कीन का है इति  
ग्रन्थ में वक्तव्यानना का अर्थ महिला है। परन्तु बहों महिला में विद्य मिष्य भनेक  
अव्याप्ति का अप विविचित नहीं है। उपास्य अथवा ग्रन्तीक वाइ भी हो उपमे एक  
ही नव वाप्ती परमेश्वर की भावना रख कर जो महिला की जाती है वही तथी व्यक्त  
उपासना है; और इति अध्याय में वही ठरिह है। ]

बीमा बालुणाच ।

६६ सुदृश्शमिह रुप्य दृष्ट्वानासि यन्मम ।

देषा अप्यस्य रुपस्य नित्य इक्षमकांहिण ॥ ५२ ॥

नाहै वेदिनं तपसा म शानन न चेष्यया ।

शक्त्य एवेविषो द्रमु दृष्ट्वानासि मौ यथा ॥ ५३ ॥

भक्त्या स्वनन्यया शक्त्य भद्रेवविषोऽर्जुन ।

ज्ञातु द्रमु च तत्त्वेन प्रवेदुं च परन्तप ॥ ५४ ॥

६७ मत्कमलन् मत्यस्मो मद्भक्तः संगवर्जितः ।

निर्वर सर्वमृतपुर्य स मामति पाण्डव ॥ ५५ ॥

इति भीमद्वागवत्तीतामु उपनिषद्मु द्रष्टविषयापा योगदाने भीहाणार्जुनसंकाटे  
विधर्षणं धन नाम एकाश्योदयाम ॥ ११ ॥

भीमाकान् ने कहा - (५२) मेरे शिष्य को तू ने देखा है उसका इर्द्दन  
मिलना बहुत कठिन है। देखा भी इस रूप का देखन की सर्व दृष्ट्या किये रहते  
हैं। (५३) ऐसा तू न सुने भेजा है ऐसा सुने भेजा ते तर से शान न भयका  
यह से भी (कार) गप नहीं सकता। (५४) ह अहुन कृपक भक्त्यमधिनि त ही  
इस प्रगति मेरा शान हमा सुना गया भीर है परन्तप! मुझमें कभी से प्रमय  
करना नहीं है

[ यक्षि बरने से परमधर का पहल शब्द शान हमा है भार तिर अन्त में  
परमधर का शब्द उक्ता काशात्म्य हा शब्द है पहली विजात वहल । यै  
ओर भाग ११-५५ म तिर भाषा है एका गुलाम हमन र्घुतात्म्य के  
तरहे प्रश्न (११-५३) म दिया है जब भग्न का दूरी दीत के  
भय का नार कल्पन है - ]

(५५) ह पाण्डव ग इन तुड़ि से कम बग्ना है तब कम मेरे भग्नान्  
परमेपर ८८ बो सरपाषण भीर तद्विरहित है भीर जो तब द्रष्टविषो क गिर्य  
मेरिर है वह देता था मामे दित्य गता है

[ तब भीर का भावाय यह ह दि गत्य ८ सब वषट्कार ज्ञात्वा  
८ परेपरागत्युदि म बता करिय (उत्तर ११ वा भाग ११) भयत्  
८ बन करे वषट्कार इस निरुद्योगत्युदि म बता करिये दि गत्य ८ तरी  
८ य परमेपर के ८ तब क्या भीर बनेत्वा वही है दित्य हमें दित्यन

तपामहं समुद्धर्ता मृस्पुसंचारसागरात् ।  
भवामि न चिह्नत्यार्थं मध्यावेशित्वेतत्त्वाम् ॥ ७ ॥

मध्यव भव आपत्त्वं मयि बुद्धिं निवेशस्य ।  
निवसिष्यसि मध्येव भव ऊर्ध्वं न संहस्रा ॥ ८ ॥

इह चिह्नं समाप्तातुं न शक्नोचि मयि स्थिरम् ।  
अन्यास्त्योयेन ततो मामिष्टाप्तु भर्त्यज्ञय ॥ ९ ॥

( ७ ) हे पार्व ! मुझमें चित्त लगानकाढ़े छन ज्ञेगों का मैं इस मूल्यमय संतार सामर से किना विष्वकृष्णे लड़ा कर दता हूँ । ( ८ ) ( अवतार ) मुझमें ही मत स्वगा । मुझमें बुद्धि को स्थिर कर । “ससे तू निश्चलनेह मुझमें ही निश्चात भरेगा ।

[ “समे भक्तिमार्ग की भेदभाव का प्रतिपादन है । दूसरे स्तोक में पहले यह सिद्धान्त किया है कि मात्रद्रुक्त उत्तम योगी है । फिर तीसरे स्तोक में पद्मासन बोधक ‘तु अम्याय का प्रयोग कर “समे और जीवे स्तोक में कहा है कि अम्यक की उपासना करनेवाले मी मुझे ही पाते हैं । परन्तु इसके सत्य होने पर मैं पौर्ववेष स्तोक में यह बताया है कि अम्यक उपासकों का मार्ग भक्तिकृद्वायावक होता है । छठे और सातवें स्तोक में वर्णन किया है कि अम्यक की अपेक्षा म्यक की उपासना मुख्य होती है; और आठवें स्तोक में इसके अनुसार अवहार करने का भर्तुल को उपलेख किया है । सारांश यारहै अम्याय के अन्त ( गीता ११ ५५ ) में थे उपलेख कर आये हैं पहर्वें भर्तुल के प्रभ करने पर उसी को दृढ़ कर दिया है । इसका विस्तारपूर्वक विवार - कि भक्तिमार्ग में सुखमता क्या है । - गीतारहस्य के तेरहवें प्रकरण में कर दुने हैं । “स कारण यहाँ इम उल्लौ पुनर्विक्त नहीं करते । इतना ही कह देते हैं कि अम्यक कि उपासना कर्मव द्वैनपर मी गौष्ठायक ही है और भक्तिमार्गवालों का यत्त्व रखना चाहिये कि मक्षिमार्ग में मी कर्म न छोड़ कर इंधरार्पणपूर्वक अवश्व करना पड़ता है । हेतु से छठे स्तोक में मुझे ही सब क्षमों का संन्धार करके मे शम रखे यहे है । इसका स्पष्ट अप पह है कि भक्तिमार्ग में भी क्षमों की लक्ष्यतः न देंहै किन्तु परमेश्वर में उम्हे ( अर्थात् उनके फलों को ) अपूर्ण कर दे । इससे प्रकट होता है कि ममान् ने इह अम्याय के अन्त मैं किंतु मक्षिमान् पुरुष को अपना प्यारा बताया है उसे मी इसी अर्थात् निष्काम कर्मयोगमार्ग का ही समक्षना पाहिये । पह स्वरूपतः कर्मसुख्यासी नहीं है । इस प्रकार मक्षिमार्ग भी भेदभाव और सुखमता क्षण कर अब परमेश्वर में एकी युक्ति करने के उपाय अपना साधन बतायते हुए उनके तारतम्य का भी गम्भीरा करते हैं - ]

( ) अब ( इह प्रकार ) मुझमें मरी मौति चित्त को भिर करते न कर



महिमार्गवाल को - अर्थात् को कहते हैं, कि महि को छोड़, दूरे छोरे में कर्म न करो उनके - प्यान की अपेक्षा अर्थात् महिकी की अपेक्षा कर्मस्तवाम् की भेदता मान्य नहीं है। उर्ध्वान समय में गीता का महिमुक्त कर्मयोग सम्प्रदाय इति-सा हो गया है कि पाठकस्त्वयोग शब्द और महिं इन तीनों सम्प्रशाया से मिल है और “सी से उस सम्प्रदाय का छोरे शिक्षक भी नहीं पाया जाता है। अठाएव भास्तव्य गीता पर विद्वनी दीक्षार्देष पाई जाती है उसमें कर्मस्तवाम् की भेदता अर्थवाचास्तव कर्मसी गाँ है। परम्पुर हमारी राज में पह भूल है। गीता में निष्क्रम कर्मयोग की ही प्रतिपाद्य मान लेने से इस क्षेत्र के अप के विषय में छोरे मी भक्त्वन नहीं रहती। बड़ि मान लिया जाय कि इन छोड़ने से निर्वाह नहीं होता निष्क्रम करना ही जाहिये तो त्वरपत्र कर्मों का स्याग्नेकाल शनमार्ग पाठकस्त्वयोग कर्मयोग से इत्यन्तर्वने करता है और सभी कर्मों को छोड़ देनेवाल भक्त्वार्ग भी कर्मयोग की अपेक्षा कम धोगवता का सिद्ध हो जाता है। इस प्रक्षर निष्क्रम कर्मयोग की भेदता प्रमोगित हो जाने पर यही प्रभ रह जाता है कि कर्मयोग में भावस्तव कर्मसुक्त तामसुक्ति के प्रातः करने के लिये उपाय क्या है? ऐसी है - अभ्यास शब्द और ज्ञान। इनमें परि विद्वनी से अभ्यास न सधे तो वह शब्द अध्या त्यान में से विद्वनी मी उपाय के त्वीक्षण कर से। गीता का करना है कि इन उपायों का आचरण करना करोक कम से सुखम है। १२ वे क्षेत्र में कहा है कि यदि इनमें से एक भी उपाय न सधे तो मनुष्य को जाहिये कि वह कर्मयोग के आचरण करने का ही एकम भारम्भ कर दे। अब यहाँ एक यद्यु पह दोती है कि विसुद्धे अभ्यास नहीं सधता और विसुद्धे ज्ञान-प्यान भी नहीं होता वह कर्मयोग करेग ही कैसे! कर्म एकी ने निधय किया है कि फिर कर्मयोग को तब की अपेक्षा सुखम कहना ही निर्वक है। परम्पुर विद्वार करने से दीप पड़ेगा कि इस आओप में कुछ भी ज्ञान नहीं है। १२ वे क्षेत्र में यह नहीं कहा है कि सब कर्मों के फलों का एकम स्याग कर दे वरन् वह कहा है कि पहले भवत्वान् के कालाये तुम कर्मयोग का आभय करके ( ततः ) तप्तनन्तर भीरे भीरे इस जात की अस्त में सिद्ध कर के। भीर देसा अप करने से कुछ भी विवर्जित नहीं रह जाती। पितृस अप्याचो में कह आये हैं कि कर्मसुक्त के न्यस्य आप रथ से ही नहीं ( गीता २ ४ ) विन्दु विद्वता ( हेत्ये गीता १ ४४ और विष्णवी ) हो जाने से भी मनुष्य आप ही आप अविद्यम विद्वि की ओर लौटा जाता है। अतपृष्ठ उस मार्ग की सिद्धि पाने का पहला लाभ या तीव्री पही है कि कर्मयोग का आभय करना जाहिये - अर्थात् इस माये देखने की मन में इत्यु हानी जाटिये। कौन वह उक्ता है कि वह ताम्भ अभ्यास करन भी अपेक्षा सुखम नहीं है भीर १२ वे क्षेत्र



यो न इत्यति न प्रति न प्रमेचति न कौमति ।

श्रावणभपरियागी भक्तिमान्यः स मे प्रिय ॥ १७ ॥

स्वाः शशौ च मित्रे च वृषा साधापदाद्योः।

श्रीबोद्धास्त्रप्रस्त्रेषु चतुर्विंशतिः । ३६ ।

प्राचीन राजस्थानी सामग्रे खेतेश्वरित।

अनिष्टः द्विष्टप्रिमिकिसामे द्विष्टो शब्दः ॥ १२ ॥

उन भारतीयोंग को छोड़ दिये हैं। (१७) जो न अनन्त मानता है न देव  
करता है जो न शोक करता है। और न इच्छा रखता है किसने (कर्म के) प्रभुम  
और अप्रभुम (फल) छोड़ दिये हैं वह मधिमान् पुरुष मुझे प्रिय है। (१८) किसे  
इन और मित्र मान और अपमान सर्वी और गर्भी सुन और तुम्हार समान है  
और किसे (किसी में भी) आसक्ति नहीं है (१) किसे निन्जा और सुन्दि बोनी  
एक सी है जो मिथमार्षी है जो तुल भित्ति लेके उसी में तम्भुष्ट है जो अनिकेत है  
भर्पात् कित्ता (भर्पलाशास्य) ठिकाना कही मी नहीं रह गया है वह मधिमान्  
पुरुष मुझे प्यारा है।

[ अनिषेत् ] शब्द उन चतिवीं के बानों में भी अनेक बार आया फरता है कि वे यहरायाभम छोटे सन्यास भारप्र करके मिथा माँगते हुए चूमते रहते हैं (देखो मनु ६ २५) और अनका आत्म प्रिया परवाना है। अतः इस अन्याय के निर्मम 'उद्बारमयरित्यागी और अनिषेत् शब्द से तथा अन्यम् गीता में 'स्वचसकपरिप्रहः (४ २१) अवशा विविक्षेत्री (१८ ६२) इत्यादि औ शब्द हैं उनके आशार से सन्यासमागमासे गीताकार पहले हैं कि इमारे मार्ग का यह परम अध्येय पर द्वार छोटे कर किना मिट्ठी इच्छा के बहुधों में आतु के द्विन वित्तना ही गीता में प्रतिपाद्य है; और वे न्सके लिये स्मृतिप्रस्त्री के सन्यास-आभम प्रकरण के अभ्यर्त्व का प्रणाम दिया करते हैं। गीताकाव्यों के मेरे सन्यातप्रतिपादक अब सन्याससम्माय की इष्टि से माहस्त के हो जाते हैं किन्तु वे सब नहीं हैं। क्योंकि गीता के अनुयाय 'निरपि' अथवा 'निषिद्ध' इनका 'तथा सन्याय नहीं है। वीछे कर बार गीता का यह विषय दिक्षान्त कहा जा सकता है (देखो गीता भीर ६ १२) कि एवढ़ फ़ख्यातों लोट्टा पाहिजे न कि कम हो। अतः अनिषेत् पह का पर द्वार लोट्टा अथवा करके पेटा करना चाहिए कि विषय की गीता के कमयोग के लाप में वह मिस लक। गीता ४ २ के अन्यतम अन्यतम भी आया न रामेवास पुरुष को ही 'निराभय विश्वास स्वाया याया है; भीर गीता ३ १ में उनी अथवा मनाभिनः कम पत्त इच्छा भावे द भावय भीर 'निषेत् इन लोना शब्दों का अथ एवं

॥६॥ अद्वेष्टा सद्मूलानां भेदः करुण पश्च च  
निमित्तो निष्ठकार समाक्षाद्वक्षा लभी ॥ १३ ॥  
सन्तुष्टं सततं योगी खलात्मा इदनिष्ठय ।  
मध्यर्पितमनाशुद्धियों म भक्तं स मे प्रिय ॥ १४ ॥  
अस्मासाधात्रिगते होको छोकासाधात्रिगते च च ।  
इपामर्पयेनैर्मुको च च च मे प्रिय ॥ १५ ॥  
अनपेक्षा शुचिर्षस उक्षासीमो गतास्थय ।  
स्वारम्भपरित्यागी यो भद्रकः स मे प्रिय ॥ १६ ॥

का भावाय है भी वही । न केवल मगवद्वीता मे किन्तु चूय ! गीता मे भी कहा है -

काष्टकुपामित्तद्वद् कर्माहृष्मुपसनाय ।

इति बो देव भद्रको स एव पुरुषोत्तम ॥

ये नम देवान्तरत्व का बानता है कि ज्ञान की अपेक्षा उपासना अर्थात् ध्यान या मरि अद्वद्व है एव उपासना की अपेक्षा कर्म अर्थात् निष्ठम कर्म भेद है वही पुरुषोत्तम है ( सर्वगी ४ ७७ ) । सारांश मगवद्वीता च निष्ठित मत यह है कि कमफलस्यागस्ती योग - अर्थात् ज्ञानमर्तियुक्त निष्ठम कर्मयोग - ही सब भागों मे भेद है और इसके अनुकूल ही नहीं प्रत्युत पोषक मुक्तिवाद २२ के स्तोष मे है । इति किसी दूसरे सम्प्रशाप्ते वह न रखे तो वह उसे छोड़ दे परन्तु अर्थ की व्यय जीवात्मनी न कर । एस प्रकार कमफलस्याग को भेद दिय एव उस मार्ग से ज्ञानेवाके भी ( स्वरूपता कम छोड़नेवाके नहीं ) जो सम आर शान्त रिप्ति नन्त मे प्राप्त होती है उसीका वर्णन करके अब भगवान् बताते है कि ऐसा मर्क ही मुझे अत्यन्त प्रिय है - ]

( ११ ) जो किसी से देष्ट नहीं छरखा जो सब भूता के लाख मिन्ता ते ज्ञाता है जो हृष्टत है जो ममत्वादि और अहङ्कार से रहित है जो दुर्घट और मुपर मे समान एव अमाधीक है ( १२ ) जो सर्व सनुष्ट सबमी तथा इद निष्ठवी है किसने अपने मन और दुष्टि को मुक्तम अर्पय छर दिया है वह मेरा ( कम ) योगी मर्क मुक्तको प्यारा है । ( १३ ) किससे न तो स्तोगों का देष्ट होता है और न जो लोग दे देष्ट पाता है एसे ही जो हृष्ट छोड भय और कियाड ते अविस है वही मुझे प्रिय है । ( १४ ) मेरा वही भक्त मुझे प्यारा है कि जो निरपेक्ष परिव और दृष्ट है - अर्थात् किसी भी काम को आवस्य छोड कर रखता है - वे ( फल के किरण मे ) उक्षासीन है किसे जोर भी विकार दिया नहीं सकता और किसने ( काम्यफल के )

सब पक्ष से हैं, और विशेष प्रिय अभ्यास देख्य नहीं। ऐसे म वह विशेष प्रतीत होता है यही! पर वह ज्ञान लेने से और विशेष नहीं रह जाता, कि एक वर्षन सुगुण उपासना का अभ्यास महिमागंगा है और दूसरा अभ्यास-दृष्टि अवका कर्मयोगाद्विदि से किया गया है। गीतारहस्य के तेरहवें प्रश्नण के अन्त (पृ. ४३२-४३३) में “स विषय का विवेचन है।”

“स प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए—अर्थात् ज्ञेय हुए—उच्चनिपद में अष्ट विद्यान्वत्तगंगा योग—अर्थात् कर्मयोग शास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और भर्तुन के सवार में भक्तियोग नामक व्याख्याय अभ्यास समाप्त हुआ।

## तेरहवाँ अध्याय

[ पिछले अध्याय म यह बात सिद्ध की गई है कि अनिर्भौत्य और अस्तु परमेश्वर का ( त्रुटि से ) विनृन करने पर अन्त में मोष्ट ही मिलता है। परन्तु उसकी अपेक्षा अदा से परमेश्वर के प्रत्यक्ष और व्यंक्त स्वरूप ही महि करके परमेश्वरापूर्णतुदि से सब कर्मों को करते रहने पर वही मोष्ट सुखम दीति से मिल जाता है। परन्तु इन्हें ही से ज्ञानविज्ञान का वह निरुपय समाप्त नहीं हो जाता कि विज्ञान आरम्भ सत्त्वके अभ्यास में किया गया है। परमेश्वर का पूर्ण ज्ञान होने के कि यही सहि के अर अधर-विचार के साथ ही साथ मनुष्य के शहीर और आत्मा का अवका देन और देनह का भी विचार करना पड़ता है। ऐसे ही यहि ज्ञानात्म दीति से ज्ञन किया कि सब व्यक्त पश्चात् व्यष्टिकृति से उत्पन्न होते हैं तो भी यह करन्तमये जिन ज्ञानविज्ञान का निरूपण पूरा नहीं होता कि प्रातिकृति के कित्तु गुण से यह विचार होता है। और उसका कम कीन सा है। अतएव तेरहवें अध्याय में पहले भेदभेद का विचार— और फिर आगे ज्ञान अवाप्तियों में गुणवय का विभाग— क्षम्य कर अगरहवें अध्याय मै सम्प्र विषय का उपसंहार किया गया है। ज्ञानश तीक्ष्णी पदार्थादी स्वतन्त्र नहीं है। कर्मयोगाद्विदि के किया जिस ज्ञानविज्ञान के निरूपण का तात्पर्य अभ्यास मै भारम्भ हो जाता है उसी की पृति इत पदार्थादी मै की गई है। ऐसा गीतारहस्य प्र. १४ पृ. ४३६-४३८। गीता की कई एक प्रतिकृति मै इत तेरहवें अध्याय के भारम्भ मै यह स्वीकृत पाया जाता है। भर्तुन उवाच— प्रातिकृति पुरुष पैद शेष सेवनमेव च। एतोऽनुभिष्यति स्वनै रूप च केषव। और उवाच अर्थ यह है:- भर्तुन मै वहा— मुझे प्रातिकृति पुरुष देन देनह, ज्ञन और देव के ज्ञान की इच्छा है लो करत्यभ्यो। परन्तु त्यहीन परवा है कि जिती ने एव ज्ञन वर— ति देनेवह विचार दीता मै भावा नेते है— दीते से यह क्षेत्र यैता मै पुक्षेद किया है। यैतावार इत क्षेत्र की देवक मानत है और देवक न मानने से

॥६॥ ये हु चर्माशूतमिहं पथोर्ते पयुपासते ।

अहसाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव म ग्रिया ॥ २० ॥

इति भीमद्वग्नश्चीत्तमु उपनिषद्सु ब्रह्मविद्वाया योगाध्यात्मे भीमण्डुनस्वर्वे  
मक्षियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १ ॥

ही है। अतपर अनिकेत का गहलामी भय न करके पछा करना चाहिये कि यह आर्थि मे किसीके मन का स्थान फैला नहीं है। इसी प्रकार ऊपर १६ ऐ श्लोक में ये सवारम्परित्यागी शब्द है उक्ता मी अय सारे कम या उच्छेषों को छाटनेवाला नहीं करना चाहिये। किन्तु गीता ४ ३ मे यह कहा है कि किसीके समारम्प फलाधारिहित इ उत्तरके कम ज्ञान से अस हो जाते हैं ऐसा ही अय यानी काम्य आरम्प अभाव कम छोड़नेवाला करना चाहिये यह बात गीता ८ ८ और ८ ८ ४८ एवं ४९ से खिद होती है। सारांश किसीका वित्त घर-गहरी म स्वाम्भवों मे अवश्य सवार के अन्यान्य कामा म उठना रहता है उसी को आगे दुष्प होता है। अतपर गीता का इसना ही कहना है कि अन सव जाता म चित्त को फैलने न डो। और मन की असी वेराम्य मिति दो प्रमर करने के लिये गीता के 'अनिकेत भी'र 'सवारम्परित्यागी आर्थि शब्द रिक्तप्रश्न के बचन में आया करते हैं। ये ही शब्द मतियों के अवान् कम स्पाग्नेवाके सन्यासियों के बचना म मी स्मृतिप्रया म आये हैं। पर ऐस इसी शुनियान् पर यह नहीं कहा का उक्ता कि कमत्यागरूप सन्यास ही गीता मे प्रतिपाद्य है। क्योंकि इसके साप ही गीता का यह दूसरा निष्ठित सिद्धान्त है कि किसीकी जुड़ि मे पृष्ठ वैराम्य मिठ यसा हा उस झनी पुनर्प तो भी असी विरक्तजुड़ि से फलाधा छोड़ सर आखत ग्रास होनेवाले सव कम करत ही रहना चाहिये। अस समूचे पृष्ठाएर सम्बन्ध को दिना समझे गीता म जर्दी कही अनिकेत' की बोह के वेराम्यवाप्तक शब्द मिल जाये उन्हीं पर सारा दारामग्नर रख कर यह कह देना ठीक नहीं है कि गीता मे कमसन्यासप्रचान मार्ग ही प्रतिपाद्य है। ]

(२) ऊपर उल्लेख हुए 'अस अमृतद्रुप्य भय का जो मत्परपर होते हुए अदा से आचरण करते हैं' ऐ सुनेस अत्यन्त प्रिय है।

[ वह बचन हो जुता है (गीता ६ ७ ७ ८) कि मध्यमान् जनी पुरुष सब से भेष है, उसी बचन के अनुकार मगान् ने इष श्लोक मे उल्लधारा है कि हमे अस्तन्त प्रिय हीन है? अपात यहों परम मगान्द्रष्ट अम्बायी का वर्णन किया है। पर मगान् ही गीता ८ ८ श्लोक मे कहत है कि मुहू

इह लक्षणेत्रं यज्ञं यादृक् च यदिकारि यत्तद्य चतुः ।

स च यो सर्वमादव्य तत्समासेन मे धूषु ॥ ३ ॥

अद्यिभिर्वृषभा गीते उम्भाभिर्विविधैः पृथक् ।

वाहाप्रपैयैव देहुमन्त्रिभिर्विभितैः ॥ ४ ॥

[ गया है शाय के ताय स्था कर को अर्थ करते हैं कि 'इनके लान को मैं इन समझता हूँ । पर यह अर्थ सहृद नहीं है । भाठे अप्याय के आरम्भ में ही बर्णन है कि ऐह मे निवार करनेवाला आत्मा ( अधिटेष ) मै हूँ अप्या ये विष्ट में हूँ वही वशाय भ है । और उसके मैं मी मात्रान् ने 'तीव' भे अपनी ही परा प्रहृष्टि भरा है ( ७ ८ ) । इसी अप्याय के २२ वै और ११ वै श्लोक मैं मी देखा ही बर्णन है । अब कहते हैं कि देवतेन च विचार जहाँ पर और किसने किया है । ]

( १ ) देव क्वा है । वह किस प्रकार च एहै । उसके घैन कोन किसर है । ( उसमें यी ) किससे स्था होता है । ऐसे ही वह अर्थात् देवता घैन है । और उसके प्रभाव क्या है । — इसे उक्षेप से बदलता हूँ छुन । ( २ ) ब्रह्मकूल के पाँवे से मी वह गाया गया है कि किंहै एहुत प्रकार से विविध छन्ना मैं पृथक् पृथक् ( अनेक ) ज्ञातियो ने ( अर्थात् अनेक ) देहु विक्षय कर पूर्ण निभित किया है ।

[ गीतारहस्य के परिचिह्न प्रकरण ( पृ ४४ - ४४४ ) मैं इसने विचार पूर्वक विप्रव्याया है कि 'स श्लोक मैं ब्रह्मकूल शाय से कर्त्तमान देवान्तरकूल डरिए है । उपनिषद् किंची एक ज्ञाति क्ष कोई एक प्रत्यक्ष नहीं है । अनेक ज्ञातियो भी मिथ मिथ काल या स्थान मैं किन अप्यात्मकित्वारो वा सुरुण हो आया ते विचार किना किंची पारस्परिक सम्बन्ध के भिन्न मिथ उपनिषद् मैं वर्णित है । इष्टिभे उपनिषद् सद्गीर्ज हो गये हैं और कर्त्त खानों पर ते परस्पर विसर्द से जान पड़ते हैं । ऊपर के श्लोक के पहले चरण मैं जो 'विविध' और 'पृथक्' शब्द है ते उपनिषदो के इसी सद्गीर्ज लक्ष्य से वौप व्यहस्ते हैं । इन उपनिषदो के सद्गीर्ज और परस्परविसर्द होने के अरण भाचार्य बादराधन ने उनके विवाह्यों की एकवास्तवा करने के किंचे ब्रह्मस्त्री वा देवान्तरकूली की रचना की है । और इन स्त्री मैं उपनिषदो के द्वय विषयो को लेकर प्रमाणसहित - अर्थात् कार्बन्धरण आदि हेदु विक्षण करके - पूर्ण रीति से विद् किया है कि प्रत्येक वित्त के सम्बन्ध मैं उक्त उपनिषदो से एक ही विद्यालत्त देखे निष्ठाय जाता है । अर्थात् उपनिषदो का रहस्य समझने के किंचे देवान्तरकूली की सौबह वस्त्रत पड़ती है । अठ इह श्लोक मैं देखो ही का लोकान् किया गया है । ब्रह्मकूल के वृत्ते अप्याय मैं तीसरे पाँव के पहले १९ स्था मैं लेख च विचार और फिर उक्त पाँव के अर्थ

## श्रयोदशोऽध्याय ।

भीमगानानुवाच ।

इ शरीर कौन्तेय स्त्रमित्यभिषीयत ।  
प्रसादा वेणि तं प्राहुं क्षत्रज्ञ हति तद्विष ॥१॥  
क्षेत्रही चापि मौ विद्धि सवक्षेपेषु मारत ।  
क्षत्रक्षेत्रक्षयोहानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥२॥

गीता के क्षणों की सम्प्ला भी सात सौ से एक अधिक इन जाती है। भला इन क्षेत्रों को हमन भी प्रभिस ही मान शाकुरमाय के अनुसार उस अध्याय का भारतम् दिया है।

भीमगान् न कहा - (१) है कीम्तेय । इसी शरीर का भन बहते हैं। इस (शरीर का) या शनिया हूं उस तम्भि भयात् इन गाम के शनियामे भनन बहत है। (२) है मारत । सब सर्वों में खेत्र भी मुखे ही तमत । खेत्र भीर धन्द का या शन है वही मेरा (परमेश्वर का) शन माना गया है।

[ पहले क्षेत्र में 'धन' भीर 'खेत्र' इन दो शब्दों का कथ दिया है। क्षेत्र दूसरे शब्द में खेत्र का स्वरूप कहाया है जि खेत्र में परमेश्वर हूं भयरा या विद्धि में है वही ग्रहाण्ड मह । दूसरे शब्द के वापि = भी शब्दों का नाम पह है - न वक्त खेत्र ही प्रयुक्त धन मी मै ही है । क्योंकि इन पश्चमहान्ता से खेत्र या शरीर बनता है वे प्रहृति भ धन रहत है; भीर जातव तथा भाटौ अध्याय म बनाया आये हैं जि पह प्रहृति परमेश्वर की ही बनियू विद्धि है (देखा ७ ४ / ४ ..) । इन शीति में खेत्र या शरीर क पश्च महान्ता त धन एव रहन के वारण खेत्र का तमाक्षय उत्त वग में हाना है इन भर भन विचार में 'धन' बहत है भीर धन ही परमेश्वर है। इन प्रशार भाषण-चिका क बनान धन-वाचक का विचार भी परमेश्वर के धन का एक भाग । यह जाना है ( देखा शीति प्र ६ ३ ३४३-३४ ) भीर हली अभिन्नय । यह धन में या वर दूसरे शब्द के धन में पह वाक्य आया है जि ३ व भार धनज का एव धन है वही मेरा भयान परमेश्वर का धन है । यह धन देखना वा नहीं मानते और भवत नहीं मै हूं इन वाक्य वी गीताननी अनी पट्टी है भीर प्रतिशब्द बनाव पट्टा है जि इन वाक्य ने 'धन' तथा मै परमेश्वर या भवेश्वर नहीं दिक्षावा बना भार वर देखा 'मेरा (मम) इन पर या अस्त्र धन दृष्टि के लाय म धन 'मन भर्यान् बना

इहु अमानित्वमहमित्वमाहिंसाशमितिराजवम् ।  
 भावायोपासनं धीर्घं स्थिर्यमात्मविनिपद्मः ॥ ७ ॥  
 इम्ब्रियायेषु विद्यमनदक्षार पद्म च ।  
 गन्मसृत्युभरात्याचिषुःतत्पापानुर्भवनम् ॥ ८ ॥  
 असक्तिरलभिष्ठंग पुष्टदारगदाविषु ।  
 किंचं च समचित्तत्वमिष्टामिष्टापपत्तिषु ॥ ९ ॥  
 मयि आनन्द्यागन भक्तिरव्यमिच्छारिणी ।  
 विविक्तशस्त्रवित्वमरतिर्जमसंसदि ॥ १० ॥  
 अभ्यासमहानक्षिप्तत्वं तत्पापानाथद्वापम् ।  
 पदज्ञानमिति ग्रोक्तमहान यद्वतोऽन्यथा ॥ ११ ॥

बो परिणाम होते हैं क्यनका बनन करके यह क्षमत्वे हैं कि उन निष्ठो कहते हैं ! और आगे हेय का स्वरूप क्षुद्रव्यापा है : ये दोनों किपय हीमें मैं निष्ठ हीप फहते हैं अब यह पर वास्तविक रीति से के स्वेच्छेष्टविचार के ही ये भाव हैं । क्योंकि प्रारम्भ में ही देवता का अर्थ परमेभर क्षुद्र आये हैं । अब एष स्वेच्छ का ज्ञान ही परमेश्वर का ज्ञान है और उसी का स्वरूप अप्से भोक्तौ में बर्णित है – बीच में ही बोई मनमाना किपय नहीं बर मुकेषा है ।

(७) मानहीनता अहिंसा अमा सरख्ता गुप्तेषा पक्षिता स्तिरता यनोनिप्रद (८) निवौ के विषयों में विराग अहङ्कारहीनता और कम मूल्य-कृदापा आधि एव दुर्लोकों को (अपने पीछे छो दुए) दोष समझना ( ) कम में अनासवि बाध्यर्थी और वरद्वास्त्री आडि में सम्पट न होना “इ चा अनिष्ट की प्राप्ति से विच श्री सर्वं एक ही सी बुद्धि रमना (१) और मुक्ते अनन्यमात्र से अटस महि “विविक्त अर्थात् तुमे दुए अबवा पक्षान्त स्थान में रहना धारारण बोगा के चमाव को फलन्त न करना (११) अभ्यासमान को नित्य समझना और तत्पदान के सिद्धान्तों का परिष्ठीक्षन – उन्होंने ज्ञान कहते हैं इसके व्यक्तिरिक्त बो कुछ है वह सब अज्ञन है ।

[ साक्षों के मत में स्वेच्छेष्टव का ज्ञान ही प्रहृष्टिपुरुप के विषेष का ज्ञान है और उसे इसी अभ्यास में आगे करकास्त है (१३ १९-२३; १४ १९) । उसी प्रकार अटारहवें अभ्यास (१८ २) में ज्ञान के स्वरूप का वह अध्यात्म लक्षण करकापा है – अविमल विमलपु । परन्तु मोक्षसाम मैं स्वेच्छेष्ट के ज्ञान का अर्थ बुद्धि से यही ज्ञान खेना नहीं होता कि अमुक अमुक जाते अमुक प्रकार की है । अभ्यासमात्र का सिद्धान्त यह है कि उच ज्ञान का देह के

६६ महामूलाम्यदकारा बुद्धिरत्यक्षमेव च ।

इन्द्रियाणि कृषके च पञ्च इन्द्रियोचरा ॥ ५ ॥

इच्छा दृष्टि सुखं तु त्र चंपातस्तेतना घृतिः ।

पदत्वेष्व समासेन सविकारमुदाहरतम् ॥ ६ ॥

१ तक ऐक्षण का विचार किया गया है। प्रश्नक्षणों में पह विचार है इसकिये उन्हें  
शारीरक सूक्ष्म अथवा शारीर वा भेद का विचार करनेवाले सूक्ष्म मी कहते हैं।  
यह अन्य चुक्षु कि ऐक्षणेष्व का विचार किसने कहा किया है। अब कल्पात  
है कि भेद क्या है।]

(७) (पृथिवी आदि पौच सूक्ष्म) महाभूत भव्यात, तुक्ति (महान्), अप्यक्त  
(प्राप्ति) दृष्टि (सूक्ष्म) इन्द्रियां और एक (मन) तथा (पौच) इन्द्रियों क  
पौच (दृष्टि दृष्टि रूप रस और गाढ़ - य तूष्म) विषय (८) इच्छा देप,  
कृप हुए संपाद चेतना अथात प्राप्त आदि का इच्छा स्यापाठ, और घृति पानी  
पैप इच्छा (९ तत्त्वों के) तमुग्राम का उकिसर लेख कहते हैं।

वह भेद और उसके विचार का लक्षण है। पौचवें भोड़ में तारय  
मतवास्त्र के पश्चीम तत्त्व में से पुरुष को छोड़ दृष्टि शीशीष तत्त्व भा गय है।  
इन्हीं शीशीष तत्त्व में मन का समावेष होने के कारण इच्छा दृष्टि आदि मनो  
वस्त्रों का अस्त्वा अन्यस्त्रों की बद्धत न थी। परन्तु कणाऽमनानुपाधियों के मन  
के य अम आत्मा के हैं। इस मन का मान सेवे त इच्छा होती है कि इन गुणों  
का भेद में ही समावय होता है या नहीं? भवा धृष्टि दृष्टि की स्याप्त्या का  
निष्क्रिय वरन के लिय यहा इच्छा रीति से भेद में ही इच्छा इच्छा आदि इन्हों  
का नमावय कर दिया है भी उक्ती में भय अप्य भादि भव्य इन्हों का भी  
लाग त समावेष हो जाता है। यह विश्लेषने के लिय - कि सब का तत्त्वात  
भव्यात् उपर्युक्त भेद से भवन्त्व करा नहीं है - उसकी न्यूनता भेद में ही भी गर  
है कर बर न्यूनता इच्छा का तत्त्व भय होता है। परन्तु यहा न्यूनता का  
उक्त भेद में प्राप्त भावि क वीर्य पद्धतिसत्त्व स्यापाठ, भव्यता शीवितावस्था का  
पापा इहना ही भय दिक्षिण है; भी ऊर दूरे भोड़ से कहा है कि  
उक्त भेद में पह नेत्रना दिक्षिण उत्तरप द्वारा है वह दिक्षिण भव्यता तैतन्य  
भवन्त्व से भेद से भवन्त्व रहता है 'भूति इच्छा की स्याप्त्या आग दीना  
(१८.३१) मही दी है उत्ते देना। उठ भोड़ ५ नमावेष पर का भय इन  
वस्त्र का नमुद्दय है भवित दिक्षिण द्वारा दृष्टि के भावर द्वारा देना के  
(१८.३२ और ३३) में दिक्षिण एक्षे दिक्षिण ५ मनी 'परमेभर इना' दर  
विर इच्छा दिया है कि दिक्ष द्वारा है। भव मनुप्य ५ स्वस्त्रव पर इन ५

सर्वेभिर्युच्यमासं सर्वेभिर्युचिवज्ञितम् ।

असत्कं सर्वमूर्खैव निर्गुणं युच्यमोक्षं च ॥ १४ ॥

वहिरन्वद्य भूतानामधरं चरमेव च

चामत्वात्तरिहोर्य दूरस्य चान्तिके च कर् ॥ १५ ॥

अविमर्तं च मूलेषु विमकमिव च स्थितम् ।

मूलमर्तुं च तत्त्वेय प्रसिद्धं प्रमदिष्णु च ॥ १६ ॥

ज्योतिपामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।

कार्यं हेयं ज्ञानगम्य इषि सर्वस्य विचितम् ॥ १७ ॥

रहा है। ( १४ ) ( उत्तरमें ) सब इन्द्रियों के गुणों का आमाच देखा पर उसके पोर्दे मी इन्द्रिय नहीं है। वह ( उत्तर से ) असत् अर्थात् अन्तर द्वारा हो कर भी तब भ पालन करता है और निर्गुण होने पर मी गुणों का उपमोग करता है। ( १५ ) ( वह ) उन मूर्ती के भीतर भी बाहर भी है अचर है और चर भी है; दूसर होने के कारण वह अविमर्त है और दूर होकर भी समीप है। ( १६ ) वह ( उत्तरात् ) अविमर्त अर्थात् असत्तिव होकर भी सब भूतों में मानो ( नानात्म से ) विमर्त हो रहा है और ( उत्तर ) भूतों का पालन भूतेवाक्य भूतेवाक्य एव उत्पन्न करनेवाला भी उसे ही उपलक्ष्य करता है। ( १७ ) उसे ही तेज का भी तेज और अन्तरार से पर का रहते हैं यहने द्यें जानने पाया है वह ( शेष ); और इनमध्य ज्ञान से ( ही ) विचित होनेवाक्य भी ( वही ) है। सब के दूरय में वही अविमर्त है।

[ अनिन्त्य और अचर परजल - किसे कि क्षेत्र-आधार परमामा भी रहते हैं - ( गीता १९ २२ ) का ये वर्णन उत्तर है वह आठवें अध्यावशास्त्रे अभ्यर्जन के वर्णन के उमान ( भी ८ १०-११ ) उपनिषदों के आधार पर किया गया है। पृथ्ये तेजर्वों ओइ ( ये १ १६ ) और भगवे न्मोक का यह अपाल्य कि सब इन्द्रियों के गुणों का माल होनेवास्य तमापि तब इन्द्रियों से विरहित भेत्राभ्यतर उपनिषद् ( ३ १७ ) में प्यो कान्त्यो है। एवं दूर होने पर मी उमीप ये शब्द इशाकास्य ( ६ ) और मुग्धल ( ३ १० ) उपनिषदा में पाय जाते हैं। ऐसे ही तेज का तेज ये शब्द वृद्धाभ्यव ( ४ ४ ११ ) के हैं; और भावार से पर का ये शब्द भेत्राभ्यतर ( ३ ८ ) हैं। इसी मौति पर वर्णन कि ये न ता तद् वहा यता है भार न भूत्वा वहा जाता है क्षेत्रों के मालशीर्ण नो सदासीर्ण इन व्रद्धाभ्यवक प्रसिद्ध शब्द का ( ३ १० ) स्वयं कर किया गया है। तद् और भूत्वा गुणों के भयों का विचार गीतारहस्य प्र १ २४८-२४९ में विस्तारत्वहित किया गया है; और

इह स्वयं यस्तत्प्रक्षयामि यज्ञात्वाऽमृतमस्तुते ।

अनादिमत्परं ब्रह्म न सप्तशास्त्राभ्यत इ १२ ॥

स्वतः पाणिपादे वत्सर्वतोऽक्षिणिरेमुखम् ।

सर्वतः मुतिमहोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३ ॥

स्वभाव पर साम्यकुद्दिक्षप परिणाम होना चाहिये अस्यथा वह अन भवेद या क्षय है। अतएव यह नहीं पत्तद्वया कि बुद्धि से भमुक अमुक जान देना ही ज्ञान है अस्मि, ऊपर पौच्छ भोक्ता मैं ज्ञान की उच्च प्रकार स्पारणा की गति है कि जब उक्त भोक्ता मैं बहुत्यये हुए वीस गुण (मान आर इम्म जा दृष्ट जाना अद्विता अनावकि, समुद्दित्याति) मनुष्य के स्वभाव मैं श्रीण पहन लगे, तब उसे जान छहना चाहिय (गीतार. प्र. पृ. ४२ और ८) इसने भोक्ताओं मैं विविक्ष्यान मैं रहना और ज्ञाव को नापसन्न करना मी ज्ञान का प्रकृत्युत्तम रहा है। उससे कुछ भोगा ने यह शिखने का प्रयत्न किया है कि गीता को सम्पादनमात्र ही अमीद है। किन्तु हम पहले ही क्षय आये हैं (देखो गीता १२-१९ की टिप्पणी और गीतार. प्र. १, पृ. २५६) कि यह प्रतीत नहीं है और देखा अप्य बरना उचित मी नहीं है यहाँ उल्लंग ही विचार किया है कि 'ज्ञान क्या है और वह ज्ञान बाल-वर्षों मैं परन्तरस्थी मैं अपना भोगों के ज्ञाव मैं अनासन्नि है'। एवं उस विषय मैं घोड़ वार मी नहीं है। अब अगला प्रश्न यह है कि इस ज्ञान के ही बहने पर इसी आवश्यकुद्दि से बाल-वर्षों मैं अपना सप्ताह मैं रह कर प्राणिमात्र के हिताय लगत् के व्यवहार किये जायें अपना न किये जायें और केवल वी ज्ञान की स्पारणा से ही उसका निषेध करना उचित नहीं है। क्याकि गीता मैं ही भगवान् ने अनेक स्पृष्ट पर कहा है कि शानी पुरुष भोगों मैं जिस न होकर उन्हीं अपरादुद्दि से शोकसम्भव के निमित्त करता रहे और उसकी तिड़ि के क्षिये जनक के ज्ञाव का और अपने व्यवहार का उत्ताप्ति भी तिथा है (गीता ३-१९-२८ ल १४)। समय औरामात्र सामी के वरिष्ठ से यह जात प्रकृत होती है कि शहर मैं रहने की जालता न रहने पर भी अपात् के व्यवहार केवल क्षय तमशकर करे किये जा रक्त है! (देखो दाशबोध १ ल २९ आर १ ८-११)। यह ज्ञान का अभ्यास हुआ अब देय का त्वरित करन्नाम ह - ]

(१२) (अब तुम्हे) यह क्षत्यता है (कि) किये जान देने से अमृत अपात् घोष मिलता है। (यह) अनादि (सब से) पर का ब्रह्म है। न उमे 'सत् रहते हैं और न 'असत् ही। (१३) उसके सब और हाथ पेर हैं, उब और और और लिर और मुंह हैं। उब और जान हैं और वही इत भोक्ता मैं सब को स्पाप दी। ८-५१

६६ प्रहृति पुरुष वैव विद्युधमाती उभाषपि ।

विकाराद्य नुज्जिमैव विद्धि प्रहृतिसुम्मदान् ॥ १९ ॥

कर्मकरणस्तुते हेतु प्रहृतिरुच्यते ।

पुरुषः सुखादुम्भात्ता भोक्तुत्य हेतुरुच्यते ॥ २० ॥

[ ऐसे उल्लंघन होता है इसकिये और साथ्य किसे 'पुरुष वहते हैं उसे ही अप्यास्त शास्त्र में 'आमा वहते हैं इसकिये साथ्य की दृष्टि से ऐसकेवशक्तिवान् ही प्रहृतिपुरुष का विवेक होता है । गीताराधार्म प्रहृति और पुरुष को साथ्य के समान दो स्वरूप दात्त नहीं मानता । सातवै भृष्णाय ( ७ ४ ७ ) में कहा है कि ये एक ही परमेश्वर के ( कनिष्ठ और भेद ) दो रूप हैं । परन्तु शास्त्रों के द्वेष के काले गीताराधार्म के इस द्वेष को एक बार स्वीकार कर लेने पर किंवि प्रहृति और के परस्परसम्बन्ध का शास्त्रीयों का ज्ञान गीता को असान्न नहीं है । और यह भी कह रहते हैं कि ऐसकेवश के ज्ञान का ही स्पान्तर प्रहृतिपुरुष का विभेद है ( ऐता गीतार. प्र ७ ) । इसीकिये अब तक उपनिषदों के आचार से जो सेक्षणेश्वर का ज्ञान अवश्याया उसे ही अब शास्त्रों की परिम्प्रया में - विन्दु शास्त्रीयों के द्वेष को अस्वीकार करके - प्रहृतिपुरुषविवेक के रूप से कहताते हैं :- ]

( १९ ) प्रहृति और पुरुष दोनों को ही अनादि उमस्त । विकार और गुणों को प्रहृति से ही उपश्च तुम्हा ज्ञान ज्ञान ।

[ साम्यशास्त्र के मत में प्रहृति और पुरुष दोनों न केवल अनादि ही प्रस्तुत स्वतन्त्र और स्वयम्भू मी हैं । वेदान्ती समझते हैं कि प्रहृति परमेश्वर से ही उत्पन्न हुए हैं अतएव वह स्वयम्भू इ भीर न स्वतन्त्र है ( गीता ४ ६ १ ) । परन्तु यह नहीं अवश्याया का सफला कि परमेश्वर से प्रहृति का उत्पन्न हुआ है । भीर पुरुष ( भीष ) परमेश्वर का भाष्य है । ( गीता १६ ७ ) इस कारण वेदान्तियों को इतना भास्य है कि दोनों अनादि हैं । इतने विषय का अधिक विवेचन गीता रहस्य के ७ व ग्रन्थ में भीर विषेशता पृ. १६२-१६८ म एव १ में ग्रन्थ के १५-२३ में विद्या है । ]

( २ ) काम निपात् दंड क भीर कारण निपात् इक्षियों के कर्मकरण के विषये प्रहृति कारण वही व्यक्ति है भीर ( क्ता न हैन्ते पर मी ) मुख्याद्यों का घ्यग्ने के लिये पुरुष ( शोष ) कारण कहा जाता है ।

[ इन भीष में कायकरण क व्याजन में 'कायकरण' मी जाता है । भीर तथा उसका यह भाष्य हाता है ज्ञानयों क महान् भारी तेजन तात्त्व एवं दूरता, दूरतर म विनाश इस कार्यकरण कम से उत्तर कर जाती व्यक्तगृहि प्रहृति से ज्ञाती है । यह भाष्य मी देख नहीं है परन्तु सेक्षणेश्वर के विकार में ऐसा भी उत्तरि

इह इति संप्रेत तथा हाम जाये चोक्तं समाप्तं ।

मन्त्रक पदाविहाय मन्त्रावायोपपद्धतं ॥ २८ ॥

पर गीता १ मन्त्रक की विषयी म भी लिया है। गीता १९ मेरा यह है, कि 'उत् और असत्' मेरी ही हूँ। अब यह बगड़-सा बेंचता है, कि सुख ब्रह्म न 'चत' है और न असत् । परम्परा बालव मेरे बहुत सच्च नहीं है। क्योंकि 'म्यक' (सर) सुहि और 'अम्यक' (असर) सुहि ये दोनों बाध्यपि परमेश्वर के ही स्वरूप हैं, तथापि सच्च परमेश्वरतत्त्व इन दोनों से परे अर्थात् पृथिव्या भेदेष्व है। यह उद्दिष्ट गीता मेरी पहले 'भूतम्भम च भूतम्भः' (गीता १६) मेरी आगे किर (१६ १६, १०) पुरुषोक्तमनुभव मेरे स्वाहरया एव स्वया गया है। निर्गुण ब्रह्म किसे कहत है! और बगड़ मेरे रह कर मी वह बगड़ से बाहर क्षेत्र है! अथवा वह किमत्त अथवा नानावृत्त्यामन्त्र दीप पढ़ने पर मी मृम म अविमुक्त अधात् एक ही क्षेत्र है! इत्यादि प्रभों का विचार गीतारहस्य के नीते प्रश्नण मेरे (१, २१ से आगे) किया ज्ञा चुका है। दोषदूष खोक मेरे विमुक्तमिति का भनुवाद यह है - मानो विमुक्त हुम्भा-न्या दीन पढ़ता है।' यह 'इव यद्यु उपनिषद् मेरनक बार' चीजी भय मेरे ज्ञाया है कि बगड़ का नानावृत्त्यामन्त्र है और एक्षम ही सच्च है। उत्तरणाथ 'द्वितीयम यदति' पर इह नानव परमाणि 'स्यादि' (१ २, ४ ४ ४ ४ ३; ४ ३ ७)। अतएव प्रस्तु है कि गीता मेरे यह अद्वैत विज्ञान ही प्रतिष्ठान है कि नानावृत्त्यामन्त्रम् याया भम है और उत्तम विमुक्त रहनेवाला ब्रह्म ही सच्च है। गीता १०२ मेरे किर लक्षणा है कि अविमुक्त विमेत्यु अर्थात् नानावृत्त्यामन्त्र मेरे एक्षमा तात्त्विक ज्ञन का लक्षण है। गीतारहस्य का अथवात्म प्रश्नण मेरे बच्चन है कि यही तात्त्विक ज्ञन ब्रह्म है। दोगो गीतार प्र १२, २१६ ११६ और प्र १५ ११६ -११३।]

(२८) इस प्रगति सभेत स लक्षण दिय दि भूत अव और ज्य लिय कहत है, मेरा भक्त ज्ञन कर मेरे स्वरूप का पाला है

[ अथवाम या केवलग्राम्य क लाभार म भव तह शब्द लान और हेतु का विचार लिया गया इनमे इव ही धर्म भयका परब्रह्म है। और गत शुद्ध अनेक म अन्यथा उमा भावात्मकान्त है इन बारम पही सभेत म परमेश्वर क तत्त्वज्ञन का निष्ठ्यग है १८ ६ २ १५ मेरे यह विज्ञान लक्षण। इसा है कि इव एकाकर्त्तव्यर्थपर ही परमेश्वर का ज्ञन है तत्त्व भागे यह भाव ही निष्ठ्य है कि उत्तम रात्रि मात्र ही दाना तात्त्विक वास्तुग्राम्य का सेव एवं दिपार यहा न्यन है। या परम्परा प्रहृति मेरी ही पाश्चात्यतिक विचारकान

५५ भ्यामेनात्मनि पश्यन्ति कुचिद्वासमाभ्यासमात्मना ।

अन्ये साक्षिणेऽयोगेऽम कर्मयोगेऽनापे ॥ २४ ॥

अन्ये स्वेकमजात्मना भूत्वान्येभ्य उपासते ।

तेऽपि चाक्षितरम्येय मूर्त्युं भृतिपरायणा ॥ २५ ॥

५६ यावत्संज्ञायते र्तिभित्सर्वं स्थावरजंममम् ।

केऽप्तेष्वहस्योगात्तद्विद्धि भरतर्पम् ॥ २६ ॥

समं तर्वेषु भूतेनु विष्टुतं परमेभरम् ।

किंवद्यस्यविनाशनं यः पश्यति स पाप्यति ॥ २७ ॥

[ यह एक महात्म का मेत्र है ( देखो गीतार परिचय, पृ ५३ ) । इसमें माट होता है कि वषायि वास्त्वी का दैत्याद गीता को मान्य नहीं है तथायि उनके प्रतिपादन में वे कुछ मुचिद्वार ज्ञान पढ़ता है वह यीता को भावन्य नहीं है । दूले ही स्मैक में वह लिया है, कि शेषबेन्द का ज्ञान ही परमेभर का ज्ञान है । भव प्रसाद के भगुणार संसेध से पिष्ठ का ज्ञान भीर देह के परमेभर का ज्ञान सम्मान कर मोक्ष प्राप्त करने के मार्ग बतायते हैं — ]

( २८ ) तु छ स्वेग स्वर्य अपने आप में ही भ्यान से भास्त्रा को देखते हैं । फों दास्यधोग से देखते हैं; भीर को वर्मयोग से ( २९ ) परम्पुर भर प्रसार किए ( अपन आप ही ) ज्ञान नहीं होता, वे वृष्टे से सुन कर ( भद्रा ले ) परमेभर का मज्जन करते हैं । मुनी तुर जात को प्रमाण भान कर बहनेवाले ये पुरुष भी गृह्य को पार कर जाते हैं ।

[ इन ही भोक्ता में पात्रकृत्याग के अनुकार भ्यान साक्ष्यमात्र के भर्तु तार लानोचर कमसम्यात क्षमयोग्यमाग के भगुणार निष्पामनुद्दि परमेभरपर्य पूर्वक कम बरना भीर ज्ञान न हो सा भी भद्रा से भासी व बचना पर विधात राप कर परमेभर की मणि बरना ( गीता ४ ११ ) से भास्त्रान के मिल मिल माग बदाये गये हैं । काइ विसी भी मार्ग से ज्ञान अन्त में उत्ते भगवान का ज्ञान हो कर मोक्ष मिल ही जाता है । तथायि वहसे यह उद्घान्त लिया गया है कि शोकमह की दृष्टि व क्षमयोग भवत्त है वह इसे एवं नहीं होता । इन प्रसार साधन विद्या कर जामात्य दीनि से नम्रप विषय का भवन भीष्म में उपराहर लिया है; भीर उत्तम भी देवान्त से काविलकाम्य का मन्त्र मिला लिया है । ]

( २९ ) हे भरतभृत ! रमरण राप कि भ्यावर या जड़म किनी भी बलु का निमाय सेव भीर ऐसर व लकोता में हाता है । ( २३ ) तद भूतं मै एव ता रहनेवाना भीर तद भूता का नाय हा गने पर भी विजया नाय नहीं हाता ऐसे परमेभर का विनाने देव लिया कहना हाता ति उमीन ( नये तासी वा ) पदचाना

पुरुष प्रहृतिस्यो हि मुक्ते प्रहृतिजान् गुणान् ।

स्थारं गुणसंगोऽस्य सङ्क्षिप्तनिक्षमसु ॥ २१ ॥

२६ उपद्रवाभ्युमता च मर्ता भोक्ता भेद्यतः ।

परमात्मति चाप्युक्तो द्वैद्वस्मिन् पुरुषः परः ॥ २२ ॥

य पर्यं वेति पुरुष प्रहृति च मुच्यते सह ।

सर्वया वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिज्ञायते ॥ २३ ॥

[ उत्तमना प्रवल्लानुलाभ नहीं है । प्रहृति से अमात् के उत्पन्न होने का कर्णन को पहले ही लात्वे और नीते अध्याय में हा चुका है । अतएव 'कार्यकरण पाठ ही पहाँ अधिक प्रश्नाता गीत पढ़ता है । शास्त्रमाप्य में यही 'कायकरण पाठ है । ]

( २१ ) भवांकि पुरुष प्रहृति में अधिकित हो कर प्रहृति के गुणों का उपमीग करते हैं और ( प्रहृति के ) गुणों का वह लघोग पुरुष को भवी-कुरी-चोनिवी में अम्म खेदे के लिये कारण होता है ।

[ प्रहृति भीर पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध का और भेद का यह कर्णन साक्षण्याप्य का है । (ऐसो गीताम् प्र ७ पृ १५५-१६२ ) अब यह कह कर- कि वेदान्ती स्मेग पुरुष को परमात्मा कहते हैं - तीर्त्य और वेदान्त का मेष कर- दिया गया है और ऐता करने से प्रहृतिपुरुष विचार एवं खेदउत्तम विचार की पूरी एक्षणात्मता हो जाती है । ]

( २२ ) ( प्रहृति के गुणों के ) उपद्रवा भर्यांत् उमीप खेड कर देनेवाले भनुमोदन करनेवाले, भवा भवान् ( प्रहृति के गुणों का ) व्यानेवाले और उपमोय उत्तमासे का ही इत देह में परपुरुष, महेश्वर और परमात्मा कहते हैं ( २१ ) इष प्रकार पुरुष ( निगुण ) और प्रहृति को ही ये गुर्वांतमेव अनुता है वह कैवा ही कर्त्ता वयों न दिया कर, उठाना पुनर्वृत्त नहीं होता ।

[ २२ के अंदर म यह यह निष्पत्त हो चुका कि पुरुष ही देह में परमात्मा है तथा लाक्षण्याप्य के भनुमार पुरुष का ये उत्तरात्मक भीर अन्तर्गृह्य है वही भाव्या का भन्तर्गृह्य हा जाता है और इत प्रकार लाम्बो भी उपरति से वेदान्त से एकान्तप्रता हो जाती है । तुउ वेदास्तवामे प्रन्थप्रती भी लमह ह कि लाक्ष्य जाती वेदान्त के द्युम् । भठा वाम्नेरे वेदान्तसी लाक्ष्य उपरति की लक्षणा स्याय मानव है । किन्तु तीका ने एका नहीं दिया । एक ही दिव्यप खेदउत्तम विचार का एक शर वेदान्त भी इसि से भीर दूसरी शर ( वेदान्त के भौति मन को दिया हो ही ) लाक्षपट्टि ने ग्रीगान्त दिया है । इतमे लीकाणाम् भी लमहुद्दि प्रकार हा जाती है यह भी वह लक्ष है जि उपरिगी व भीर गीता के विवेचन में

यथा प्रकाशस्त्वेकः कृत्स्नं सोक्षमिमं रुपिं ।

सोर्ज हेत्वा तथा कृत्स्नं प्रकाशयति मारुत ॥ ३३ ॥

६६ केऽन्तेऽप्यारेवमन्तरं ज्ञानचम्पुषा ।

भूतप्रहृतिमोर्ध्वं च ये विद्युर्यान्ति ते परम् ॥ ३४ ॥

—ति भीमद्वागद्वीतिम् उपनिषद्भ्यु वद्विषया योग्याद्ये भीमध्याहृतसंवादे  
सेवमेवत्रविभागयोगो नाम नवोदयोऽच्यात् ॥ ३५ ॥

उत्तर इन्हें पर भी भाल्मा क्षमे (किसी का भी) क्षेत्र नहीं आता । (३१) हे मारुत !  
ऐसे एक एक तोरे अवतार को प्रकाशित करता है ऐसे ही सेवक सब क्षेत्र को भर्तीत  
शरीर को प्रकाशित करता है ।

(३४) “स प्रकाश ज्ञानचम्पु द्वे भवात् इत्यरुप नेत्र से नेत्र और सेवक के  
में दो – एक सब भूतों की (मूल) प्रहृति के मात्र क्षमे – जो ज्ञानते हैं वे परम  
क्षमे पाते हैं ।

[यह पूरे प्रकरण का उपर्युक्त है। ‘भूतप्रहृतिमोर्ध्वं चाम का भर्त इसने  
साम्याद्यात् के सिद्धान्तानुसार किया है। चाम्प्यो का सिद्धान्त है कि मोर्ध्व का  
मिलना या न मिलना भाल्मा की अवस्थाएँ नहीं हैं। क्योंकि वह दो सदैव अवस्था  
और असहाय हैं। परन्तु प्रहृति के गुणों के सङ्ग से वह अपने मैं कर्त्तुत्व का आरोप  
किया करता है। “सदिवे चब उत्तरा यह अलान मष्ट हो जाता है तब उसने  
साप स्मी दुर प्रहृति दृट अस्ती है – अर्थात् उत्तरी का मोर्ध्व हो जाता है – और  
इसके पश्चात् उत्तरा पुरुष के आगे नाचना क्षम हो जाता है। अतएव  
नात्यमतकामे प्रतिपादन किया करत है कि दात्यिक दृष्टि से चब और  
मोर्ध्व दोनों अवस्थाएँ प्रहृति की ही हैं (देखा सार्वजनिका ११ और  
गीतारहस्य प ७ द १६४-१६६)। इम ज्ञान परदा है कि चाम्प्य के  
अपर भिन्न एवं तिदान के अनुगार ही इह क्षाम में प्रहृति का मोर्ध्व  
य चाम भवित है। परन्तु कुछ लोग इन शब्दों का यह अर्थ भी अन्तर्भृत है  
भूतप्रहृति मात्र – पश्चमद्वाभूत और प्रहृति से अर्थात् चाम्प्यमह क्षमों  
म भाल्मा का मात्र होता है। यह धर्मोत्तरविवर ज्ञानचम्पु से विभिन्न होनेवाला  
है (गीता १३ १८)। जीर्ण अध्याय की राजविद्या प्रश्नध अर्थात् चाम्प्यमह की  
ज्ञान दानगामी है (गीता ८) और विभूत्प्रश्नाद्यन परम भगवन्नक की मी  
वरन् विद्यमान स ही हानिवाल है (गीता १३ ८)। जीर्ण व्याख्ये भीर  
तरहें चाम्प्य के ज्ञानविवर विभूत्प्रश्न वा एक उत्तर में व्याख्या देने वाय हैं।]

समं पद्धयन हि सदव्र समवस्थितमीश्वरम् ।

म हिन्दुस्यास्मात्मानं ततो याति पर्यं गतिम् ॥ २८ ॥

इ ॥ प्रहृष्ट्येव च क्रमाणि किञ्चाणानि सदवशः ।

यः पद्धयति तथात्मामकतारं स पद्धयति ॥ २९ ॥

यदा मूलपूष्यामायमकस्थमनुपद्धयति ।

तत पद्य च विस्तारं वद्य सम्पद्यत तदा ॥ ३० ॥

इ ॥ अमाहित्वाभिर्गुणतात्परमात्मायमत्यया ।

जपिरस्योऽपि कौन्तय म करोति न लिप्यते ॥ ३१ ॥

यथा सदगतं संक्षम्यादाकाढीं मोपलिप्यते ।

सदवशायस्थितो षडे तथात्मा नापलिप्यते ॥ ३२ ॥

( २८ ) इधर की सदव एक-सा व्याप समझ कर ( जो पुरुष ) अपने आप ही पात नहीं करता - भयान अपने आप अच्छे मान म स्मा बाता है - वह ऐसे कारण मे उच्चम गति पाता है ।

[ ० वे श्लोक म परमेश्वर का या सध्यम वत्स्य है वह पीछे गीता ८ वे अध्यक्ष म भा पुरा है और उसका त्युसासा गीतारहस्य व नीव प्रकरण मे किया गया है ऐसा गीतार प्र ५ २१९ भीर ६७७ ) । ऐस ही २८ वे श्लोक म किर वही बात कही है जो पीछे ( गीता ६ ५-७ ) ५ही या पुरी है वहि भाग्या अपना द्युपु द भार पही भग्ना रानु है । इस प्रकार २६ २७ भीर २८ वे श्लोकों मे तब प्राणियों के किपय लाघुउद्दिष्ट्य मात्र का व्यन कर जुझे पर प्रकाशते हैं कि इनक जन सभे न क्या होता है । ]

( १ ) किन्तु यह ज्ञान किया कि ( तद ) वह सब प्रकार के ऐसे प्रहृति के ही किये जाते हैं भार भाग्या भक्ता है - भयान दुःख भी नहीं करता । कहना चाहिये कि उतन ( सब ताप का ) पहचान किया । ( २ ) यह नव भग्ना का दृष्टस्व अपान नानाव एकता से ( किन्तु मरो ) भीर इन ( एकता ) से ही ( तद ) विस्तार दीनम स्था तब वद्य याम होता है ।

[ अब बालते हैं कि भाग्या निगुण अकिं भीर भविय वने ६' - ]

( ३ ) हे बालोप ! भग्ना भीर विज्ञ दाने व वरण वह नाशन यरमामा गारि मे रह वर भी दुःख बरता भरता नहीं द भीर रम ( किनी १ क्या का ) भीर भग्ना अपन नहीं राना ( ४ ) वेत भाग्या भरी । व या रभा द सानु ताम हन के वरण रम ( किनी का १ ) भीर बटी राना देन ही दृढ़ मे

६६ मम योनिर्महदवद्वा तस्मिन् मर्मे वृषाम्याहम् ।  
 सम्भवः सर्वभूतानी ततो भवति भारत ॥ ३ ॥  
 सर्वयोनिषु कीमत्य भूर्त्यं सम्भवन्ति याः ।  
 तास्ती व्रद्ध महयोनिरह शीजप्तः पिता ॥ ४ ॥

६७ सत्य रजस्तम इति मुण्डा ग्रन्थतिसम्मताः ।  
 निष्ठमिति महाकाव्यो देहे देहिममध्ययम् ॥ ५ ॥  
 तप्र सत्य निर्मल्लवात्मकाशकमनामयम् ।  
 तुलसंसेन वज्ञाति हामसंसेन चानन्द ॥ ६ ॥  
 रजो एयात्मक विद्धि तुल्लासगच्छमुद्वयम् ।  
 तस्मिष्ठभाति कीमत्य कमसीन देहिनम् ॥ ७ ॥  
 तमस्तथाकालं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।  
 प्रमाणाङ्गस्यनिष्ठामिस्वलिपभाति भारत ॥ ८ ॥

मी नहीं कमतु और प्रकृत्यकाल में भी अव्यया नहीं पाते अपारु कममरण से पक्षम  
 कुटुम्बा पा जाते हैं।

[यह हुई प्रत्यापना। अब पहले बहुआते हैं कि प्रहृति मेरा ही स्वरूप है। फिर साम्यों के हैत को अस्त्र वर देवान्तराल के भनुदृढ़ वह निरूपय बरते हैं कि प्रहृति के सत्त्व रज और उम इन तीन गुणों से सहि के नाना प्रकार के अच्छ पदार्थ किस प्रकार निर्मित होते हैं।]

(१) हे भारत! महदवद्वा भर्त्यात् प्रहृति मेरी ही योनि है। मैं उसमें गर्भ रखता हूँ। फिर उससे समरूप भूत उत्पन्न होने आते हैं। (२) हे कीर्तेष! (पशुपती आति) सब योनियों में जो मूर्तियों कमती हैं उनकी योनि महत् वृष्ट है और मैं वीक्षणा पिता हूँ।

(३) हे महानाथ! प्रहृति से उत्पन्न तुम सत्त्व रज और उम गुण तोह म रहनेवाले अम्बय अर्पात् निर्विद्वर भासा को देह में बौच भेजे हैं। (४) हे निष्ठाप अर्जुन! जन गुणों म निर्मलता के कारण प्रकाश दालनेवाल्य आर निर्गोप उत्तरुन सुख और शान के साथ (प्राणी को) बौचता है। (५) रथेगुण का स्वरूप रागलक्ष्म है। “ससे सूष्या और भासतकि ही उत्पन्न होती है। हे कीर्तेष! वह प्राणी को कर्म करने के (प्राचिरूप) सह से बौच ढाकता है। (६) किन्तु उत्तरुन अश्वान से उपकरा है। वह सब प्राणियों को मौह मैं ढासता है। हे भारत! वह

## चतुर्दशोऽध्याय ।

### रीमगवानुवाच ।

पर भूय प्रदास्यामि शान्तानीं शान्मुक्षमस् ।

यजहात्या सुनयं सर्वे परी लिङ्गिमितो गता ॥ १ ॥

इतं शान्मुक्षाभ्यस्य भम साधर्म्यमात्मा ।

समेऽपि नापजायन्ते प्रलय न व्यप्यन्ति च ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीमातान के गाये हुए – अथात् कहे हुए – उपनिषद् में ब्रह्मविद्या अनुगत योग – अर्थात् कर्मयोग – शास्त्रविषयक भीड़प्प और भर्तुन के सबाइ में प्रार्थिपुराविदेव अर्थात् ऐस्त्रेनहविमागयोग नामसे तेरहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ।

## चौदहवाँ अध्याय

[तेरहवाँ अध्याय में सेक्षणेश्वर का विचार एक बार बेदान्त की इष्टि के और दूसरी बार सास्य की इष्टि से कठब्बवा है । एक उसी में प्रतिपादन किया है कि सब कठन प्रहृति का ही है पुरुष अर्थात् ऐत्र उत्तराधीन रहता है । परन्तु इत अथ का विवेचन अब यह नहीं हुआ, कि प्रहृति का यह कठन स्वा कर जस्त रहता है । अतएव “स अध्याय म बद्वाते हैं” कि एक ही प्रहृति से विविष स्थिरि – विद्येष्टु त्रिविष स्थिरि – वसे ऊपर होती है । इदृश मानवी स्थिरि का ही विचार करें, तो यह विषय ऐसक्षमक्षमी अर्थात् स्थीर का होता है और उसका समावेश सेक्षणेश्वरविचार म हो सकता है । परन्तु बद स्थान तुष्टि भी विगुणात्मक प्रहृति का ही फैलाव है तथा प्रहृति के गुणमें का यह विवेचन भर अस्त्रविचार का भी हो सकता है । अत एव “त सद्गुप्तिः ऐस्त्रेनहविचार नाम को छोर कर साठी अध्याय में विस शानविश्वन क कल्पने का आरम्भ किया था उसी को लगाय दीति से फिर भी कठन्यने का आरम्भ भगवान् ने “स अध्याय म लिया है । याहूदाओं की इष्टि से इस विद्यम का विलूप्त निरूपण मीठारहस्य के आठवें प्रकरण म लिया गया है । लियु दे विचार का यह बगन अनुग्रहिता और मनुस्मृति के बारहवें अध्याय में भी है ।]

भीमातान ने कहा – ( १ ) और फिर सब शानों से उत्तम शान कठब्बटा है, कि भित्तिको बान कर सब मुनि औंग इत्यस्त्रेषु से परम उत्तम उत्तमि पा गये हैं । ( २ ) इत शन का आभय करके मुक्तसे एकम्पत्ता पाये हुए औंग स्थिरि के उत्तरात्मिक में

५५ यहा सत्त्वे प्रहृदे तु प्रहृष्टं याति देहमूष् ।  
 त्वोत्तमविद्वा लोकान्महान् प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥  
 रजसि प्रहृष्टं मत्वा कर्मसंमितु जापते ।  
 तथा प्रहीनस्तमसि मूढयोनिषु जापते ॥ १५ ॥  
 कर्मणः स्तुतास्थानु सास्त्रिकं निर्मलं फलम् ।  
 रजसस्तु फलं इत्यमाहारं तामसः फलम् ॥ १६ ॥  
 सत्त्वास्तंजापते शामे रजसो लोभं प्य च ।  
 प्रमादमोद्दी तमसो मवतोऽशाममेव च ॥ १७ ॥  
 ऊर्ध्वं गच्छप्ति सत्त्वस्था मध्ये लिघ्निति राजसाः ।  
 गच्छन्यगुणदुर्लिख्या अथो गच्छन्ति तामसाः ॥ १८ ॥

[ यह चतुर्थ तिथा कि मनुष्य की व्यक्तितावस्था में विगुणों के वर्णन उसके स्वभाव में कौन कौन से कौन पड़ते हैं । अब चतुर्थते हैं कि इन तीन प्रकार के मनुष्यों का व्येन-सी गति मिलती है । ]

( १४ ) उत्तमगुण के उत्तमपकाळ में यदि प्राणी मर जावे तो उत्तम उत्तमनेतास्थे हैं । अपात् देकता आहि है । निर्मल ( त्वर्गं प्रसृति ) लोक उन की प्रत होते हैं । ( १५ ) उत्तमगुण की प्रकृत्या में मरे, तो जो कमों में आवश्यक हों उनमें ( कमों में ) कम सेवा है । और उत्तमगुण में मरे, तो ( पछाफली आहि ) पूर्ण वोनिवों में उत्तम होता है । ( १६ ) यहा है कि पुरुषकर्म का पास निर्मल और लालिक होता है । परम्परा यज्ञकर्म का फल दुर्ग और तामस कर्म का फल भृष्णन होता है । ( १७ ) मात्र से ज्ञान भी रत्नगुण से बेवस स्वेच्छा उत्तम होता है । उत्तमगुण वेन देवक प्रमाण भी रात्रि माह ही उत्पन्न होती है । ( १८ ) सार्विक पुरुष ऊपर है । अपात् स्वयं भाविष्यतो का जाते हैं । यद्यपि मात्रम् स्वयं में अर्थात् मनुष्यस्थेषु में रहते हैं; और वनिष्ठगुणहृति के दामन अधाराति पाते हैं ।

[ साम्यवारिका में भी वह बतान है कि जार्मिन और पुरुषकर्मकर्ता होने के बारम उत्तमगुण मनुष्य ज्ञान पाता है; और भवमात्रण करके तामल तुर्ष्य अभ्यागति पाता है ( तो का ४४ ) । इनी प्रकार वह १८ वीं स्तोऽभ्युगीन्य के विषयवस्त्रम् में भी रक्षा-कार्यों भावा है ( देवा म मा भृष ३०-३१ भीर मनु. १२ ४ ) । लालिक कमों में स्वर्गव्यापि हो मरे जायें; पर लालिक हो तो भविष्य दी इन कारण परम पुरुषात्र की विद्धि इनम् मही दानी है । तो या का विद्वान् है कि इन परम पुरुषात्र का वोध भी प्राप्ति के लिये उत्तम

सत्त्व सुख संजयति रजा क्रमणि भारत ।

शान्तमाद्युत्य तु तमः प्रमाङ् सञ्जयतुत ॥ १ ॥

६६ रजस्तमाद्याभिशूद्य सत्त्व मथति भारत ।

रजा सत्त्वं तमधेद् तमः सत्त्वं रजस्ताप्य ॥ १० ॥

सवद्वारेषु देहेऽस्मन्मक्षमा उपजायते ।

हान यजा वजा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ ११ ॥

सोमः प्रभूचितिररम्भं क्रमणामशमः स्पृष्टा ।

रजस्त्येतानि जायन्ते विवृद्धं मण्यम ॥ १२ ॥

अप्स्त्राशोऽप्स्त्रित्य ग्रमाका मोह प्य च ।

तमस्त्येतानि जायन्ते विवृद्धं कुलान्तन ॥ १३ ॥

ग्रमाका आज्ञस्य भौर निता से (ग्राणी को) बोध खेता है । ( ) रात्रगुण मुख में भौर रघोगुण कम में आत्मित्यस्पद करता है । परन्तु हे मारत । तमोगुण हान का टैक कर ग्रमाका आज्ञात् क्रमणमनुदाता में या क्रताय के विद्यमरण म आत्मित्यस्पद करता है ।

[ तत्त्व रजा भौर तम कीनो गुणों के य दृष्टर लक्षण बताये गये हैं ।  
| छिन्ने से गुण वृक्ष-वृक्षर कमी मी नहीं रहते । कीनो सरेषु एकत्र रहा करते हैं ।  
| उदाहरणात्म - कोई मी भय काम करना यथापि तत्त्व का इमाय है तथापि नके । काम को करने की प्रवृत्ति होना रजा का भय है । इस कारण सामिक स्वमात्र मैं  
| मी याह-से रजा का विद्यम उदैव रहता ही है । इसी से अनुग्रीता म न गुणों । का इस प्रकार विषुनामक बणन है कि तम का व्येत्य सत्त्व ह, भौर सत्त्व का  
| गोदा रजा है (म् य अब् ११) । भार कहा है कि इनक अन्योन्य भयात्  
| पारत्परिक आध्यय से भयवा फ्लोडे से शृणि के रजा पदार्थे बनते हैं (देखो सा.का । १२ भौर गीतार. प्र ७ पृ १५८ और १५९) । भय पहले इसी तत्त्व का  
| बनाय बर किर छानिक राक्षस भौर तामस स्वमात्र के स्वस्य बहलते हैं - ]

( १ ) रजा भौर तम को दद्य कर सम्भ (अधिक) होता है (तत्त्व देसे यानिक बहना चाहिये) । एव इसी प्रकार तत्त्व भौर तम को दद्य कर रजा तथा तत्त्व भौर रजा को दद्य एव तम (अधिक तुमा करता है) । ( ११ ) जन न्स देह के रजा हार्ती म (इन्द्रियों में) प्रकाश भयस्त् निमङ्ग लग्न उत्पन्न होता है समझना शहिये कि सत्त्वगुण क्य तुमा है । ( १२ ) हे मरतमेष्ट ! रघोगुण कन्ते स खोम भय की भौर प्रवृत्ति भौर उत्पन्न भारम्भ, भवुमि पृथ रजा उत्पन्न होती है । ( १३ ) भौर हे कुलनन्तन ! तमोगुण की हृति होने पर भौं बेता बुल मी न बहने की इच्छा ग्रमाका अर्थात् क्रमण की विद्युति भौर भौह मी उत्पन्न होता है ।

भीमगतिशुक्लाच ।

५६ प्रकाशी च प्रवृत्ति च मोहमेव च पाण्डव ।

म हेति सम्प्रवृत्तानि म निषुचानि कासति ॥ २३ ॥ ८

उदासीनवासीनो मुणियो म विचास्यते ।

गुणा वर्तन्त इत्येव योज्यतिष्ठति भेद्यते ॥ २४ ॥

समाप्तसुक्षम स्वस्य समलोषाद्यम । चन ।

तुत्यमियाप्रियो धीरतुत्यमिन्द्रात्मसंसुति ॥ २५ ॥

मानापमानयोस्तुत्यमसुस्यो मित्रारिपक्षयो ।

सर्वारम्भपरित्यामी मुणातीत स उच्यते ॥ २५ ॥

इन तीन गुणों के पार चम आता है । (मुखे कठमद्देशे कि) उठना (विग्राहीति । का) भास्त्रार भया है । भीर वह इन तीन गुणों के परे हैं जो आता है ।

श्रीमत्यानन्दने कहा :- (२२) हे याम्बद ! प्रकाश प्रवृत्ति और मोह (अर्थात् चम से उम रख और उम उन गुण के कार्य अथवा एक) होने से जो उनका देह नहीं करता और प्रात न हो तो उनकी भास्त्रार नहीं रखता (२३) वे (कर्मफल के सम्बन्ध में) उदासीन-सा रहता है (सात्त्व रख और उम) गुण किये चक्रविकल्प नहीं कर लकड़े जो इतना ही मान कर स्थिर रहता है कि गुण (भपना अपना) चम करते हैं जो विग्रह नहीं है - अर्थात् विचार नहीं पता है (२४) किसे सुप्रदुष एक-से ही है; जो स्वस्य है - भवात् अपने मैं ही स्थिर है भिन्नी पत्तर और छोड़ा किसे समान है; प्रिय भपिय नित्या और अपनी स्तुति किसे समर्पणान है जो सदा ऐरे से मुक्त है; (२५) किसे मानभम्मान वा मिन और सतुर्दश त्रुत्य है - अर्थात् एक हो है भीर (इस उमत से कि प्रवृत्ति सब कुछ करती है) किसके लक्ष (चाम्य) उद्योग कह गये हैं - उत पुरुष जो गुणातीत रहते हैं ।

[ यह इन दो ग्रन्थों का उच्चर हुआ - विग्राहीत पुरुष के उच्चय क्या है ? और भास्त्रार के रूप होता है ? ये उच्चल और दूसरे अभ्यास में कठमने तुम्हें उपरिकृष्ट के उच्चल (२ ५५-५२) एव व्याहृते भप्याम (१२ ११-२) मैं उच्चलये हुए महिमान् पुरुष के उच्चल सब एक-से ही हैं । अधिक समा चौहै ? 'चर्वारम्भपरित्यागी 'तुत्यमिन्द्रात्मसंसुति' और 'उदासीनः प्रभृति ऊङ विसेपण मी शैनी या तीनी स्थानों में एक ही है । इससे मक्क होता है कि पिठें अच्चाव मैं उच्चलये हुए (१३ २४ २५) चार मार्गों में से किसी भी मार्ग के स्वीकार कर सेने पर विदिष्यत पुरुष का भास्त्रार भीर उसके उच्चल सब मार्गों में एक ही

६६ मान्यं गुणेभ्यः कलारं यजा त्रिष्णुपश्यति ।

गुणमयाऽपरं वेत्ति मन्त्रार्थं सोऽधिगच्छति ॥ १९ ॥

गुणागेतानतीत्य श्रीनृही वेदसमुद्धान ।

अन्ममूरुष्टुजरायुर्विमुक्ताऽभ्युतमस्तुते ॥ २० ॥

अनुन उपाख ।

६७ किञ्चिंग्गीर्खीन् गुणाकेतानतीता भवति प्रभो ।

किमाचारं कर्त्त्वं चेतार्थीन् गुणामतिवर्तते ॥ २१ ॥

| सात्त्विक स्पृहि तो रहे ही "सुख सिवा यह जान होना मी आवश्यक है कि |  
| प्रहृति अवगा है और मैं पुरुष बुड़ा हूँ। सात्त्वि "सी का निगुणातीत अवस्था |  
| कहते हैं। यद्यपि यह स्पृहि सख्त रख और तम तीनों गुण से भी परे की है |  
| तो भी यह सात्त्विक अवस्था की ही पराकाश है इस रागण इच्छा समाप्तेषु |  
| तामान्यतः तात्त्विक बग में ही किया जाता है। "सुखे लिये एक नया चापा बग |  
| जाने की आवश्यकता नहीं है (गीता गीतार प्र ७ प १६८)। परन्तु गीता |  
| को यह प्रहृतिपुरुषवाङ्मा तात्त्विक का दैत मात्य नहीं है। इससिये सात्त्विकों |  
| के उक्त लिङ्गान्त का गीता म "स प्रकार रूपान्तर हो जाता है उस निगुण ब्रह्म |  
| को ये पहचान लेता है उसे निगुणातीत कहना चाहिये। यही अर्थ अगले |  
| अंशों में बर्णित है - ]

(१) द्रष्टा अर्थात् ठगासीनता से देग्मेशाल्य पुरुष जब जान लेता है कि (प्रहृति) गुण के अतिरिक्त दूसरा को जाना नहीं है; और जब (तीनों) गुणों से परे (तत्त्व को) यहचल जाता है तब वह मेरे स्वरूप मेरि जाता है। (२) ऐसाहारी मनुष्य देह की अवृत्ति के कारण (स्वरूप) उन तीनों गुणों की अतिक्रमण करके जल्म मृत्यु और बुद्धियों के गुणों से विमुक्त होता हुआ अमृत का - अथात् मौम का - अनुमत रखता है।

[ ऐसान्त म दिले माया कहते हैं उसी को सात्त्विकतावाले निगुणात्मक प्रहृति कहते हैं। "समिये निगुणातीत होना ही माया से छूट कर पराकाश को पहचान लेता है (गीता २ ४८) और "ही को ब्राह्मी अवस्था कहते हैं (मीता २ ७२ १८ ५३)। अप्यात्मघातम भृत्यमत्येषु हुए निगुणातीत के इस अवृत्ति को मूल कर उच्चा और अधिक हृष्टान्त जानने की अर्कुन को इच्छा हुए। और दिलीव अध्याय (२ ५४) मैंसा लड़ने लियतप्रकृत के तम्कर्म में प्रभ दिया पा देता ही यहाँ भी यह पूछता है - ]

अर्कुन ने कहा - (२१) हे प्रमेय! किन अवस्थों से (जाना चाप कि यह)

## पञ्चदशोऽध्याय ।

भीमगवानुवाच ।

उर्ध्वमूलमध्यासामस्यस्य प्रातुरुक्ष्यम् ।

उत्त्वासि यस्य पर्णासि यस्ते वद त्वं वेद्यित ता १ ॥

[ अथवा केवल योग ही प्रतिपाद्य है — ये मत मिथुन सम्पाद्यों के अनि मानियो ने पीछे से गीता पर शब्द दिये हैं । गीता का सबा प्रतिपाद्य किम्य तो निराकार ही है । मार्ग और मी हो; गीता में सुषम प्रभ यही है कि परमेश्वर का इन हो सुन्ने पर सुधार के कम स्वेच्छमहाय किय जाएं या छोड़ दिये जाएं । और “कमा साक चाह उच्चर पहले ही दिवा यज तुम है कि तर्मयोग भेद है । ]

इस प्रकार भीमाराहस्य के गाये हुए — अर्थात् कहे हुए — उपनिषद् में त्रिविद्यान्तर्पत बोग — अर्थात् कमयोग — शास्त्रविद्यक भीकृष्ण और भक्तुन के संवाद में गुणत्रयविभागयोग नामक चौदहर्षों अध्याय उमास हुआ ।

## पन्द्राहवौँ अध्याय

[ देखेताह के विचार के सिङ्गतिले में लेखहर्ष भ याद में उसी देखेताह विचार के सहज साम्प्लो के प्रदृशितुप्रस यज दिक्षेत्र बताया है । चौदहर्ष अध्याय में यह कहा है कि प्रदृशिति के तीन गुणों से मनुष्य मनुष्य में स्वभावमेह ऐसे उत्पन्न होता है । और उससे साक्षिक आदि गतिमेह क्षयोकर होते हैं । फिर यह विवेकन किया है कि मिश्यातीत अवस्था अध्यात्माद्विते द्वाषी निष्ठिति दिते जाते हैं और कह देते ग्रास की जाती है । यह सब निरूपय साम्प्लो की परिमाण में ही अवश्य परन्तु साम्प्लो के द्वैत का स्वीकार न करते हुए किस एक ही परमेश्वर की विभिन्न प्रकृति और पुरुष दोनों हैं । उस परमेश्वर का शानदिव्याननद्विते निरूपण किया गया है । परमेश्वर के लक्षण के “स वर्णन के अविरिक्त आठव अध्याय में अविष्ट अध्यात्म और नवितवत आदि देव विमलाकाय तुम है । और, यह पहिसे ही कह माये है, कि सब स्पानों में एक ही परमा मा अ्यास है । एव ज्ञेय में ज्ञेयता भी यही है । अब इस अध्याय में पहले यह कहते हैं कि परमेश्वर की ही रक्षी हुई दृष्टि के विस्तार का अथवा परमेश्वर के नामस्वालम्ब किस्तार का ही कभी कभी दृश्यप से या कनकप से यो वर्णन पावा जाता है । उसका दीद कहा है । फिर परमेश्वर के उमी रूपों में भेद पुरुषोत्तमस्वरूप का वर्णन किया है । ]

भीमाराहस्य ने कहा — ( १ ) किस अवश्य तुम का देसा वर्णन करते हैं ति

इह मी च पोऽप्यमिच्चारेष्य भक्तियोगेन सेवते ।

स गुणान् समतीत्येवाम् ब्रह्ममृताय कल्पते ॥ २६ ॥

ब्रह्माणा हि प्रतिप्राहममृतस्याव्ययस्य च ।

शास्त्रस्य च भर्तस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ २७ ॥

इति भीमद्वादशीतिवानु उपनिषद्सु ब्रह्मविद्यायो योगताम्बे श्रीहच्छार्दुनर्थवादे  
गुणविद्यायवोगो नाम चतुर्दशोऽप्याय ॥ १४ ॥

[ ऐसे रहते हैं । तथापि तथापि तीसठे, जीवे और पौन्चव अध्यायों में जन मह एवं  
और अग्नि लिङ्गान्त लिया है कि निष्ठाम कर्म किसी से मी नहीं हृष्ट सकते तब  
स्मरण रखना चाहिये कि ये स्तितप्रश्न मगवद्वक्त या विगुणातीत सभी क्षमयोग-  
मार्गों के हैं । 'सार्वारम्भपरिस्तावी' का अर्थ १२ व अध्याय के १९ वे श्लोक की  
टिप्पणी में कहत्य आये हैं । लिङ्गाकृत्या में पहुँचे हुए पुरुषों के इन वर्णनों को  
खात्मन् मान कर सन्वादमाय के दीक्षाकार अपने ही सम्प्राणय को गीता में  
प्रतिपाद्य बताते हैं । परन्तु यह अप पूर्वोपार सन्दर्भ के विस्तर है अतएव यीक्षा  
नहीं है । गीतारहस्य के ११ व और १२ व ग्रन्थण में (४-३२६-३२७ और  
३०६-३०७) "स बात का इमने विकासपूर्वक प्रतिपादन कर दिया है । अर्दुन  
के नाना प्रभों के उच्चर हा चुके । अप पह करताते हैं कि ये पुरुष इन तीन गुणों  
से परे कैसे जाते हैं ? ]

(२६) और (मुस ही सब क्षम अर्पण करने के) अध्यमिच्चार अर्थात्  
एकनिष्ठ भक्तियोग के मेरी देवा करता है वह तीन गुणों को पार करके ब्रह्ममत  
अवस्था पा लने में समर्प हा जाता है ।

[ तम्मन है एक श्लोक से वह लिहा हा, कि यह विगुणातीत अवस्था  
सारावमान की ह तब वही अवस्था क्षमप्रपादन महियोग हे कैसे प्राप्त हो जाती  
है ? "सी से मालान् बहुत हैं - ]

(२७) क्योंकि अमृत और अध्यय ब्रह्म का शाश्वत भन का एव एकान्तिक अर्थात्  
परमाकृति के अस्तरत्व सुन का अस्तित्व खान में है ।

[ एक श्लोक का म्यावार्प यह है कि लालसी के दैत को छोड़ देन पर तब  
एक ही परमेश्वर हा जाता है । इस कारण उत्ती की महिं ते विगुणात्मक अवस्था  
की श्रम होती है । और एक ही अश्वर मान देने से लालसी के लक्षण में गीता  
का बार भी भास्त्र नहीं है (देखो भी, १३-२४ और २५) । गीता म भक्तिमार्ग  
की शुभम अवश्वर तब क्षेत्री के लिये शाश्वत कहा जाती है; पर यह कही मी  
नहीं कहा है कि अन्यान्य माग स्थानम् है । गीता में केवल घृति के बहल शन

कर देता है, कि यह अर्थ पहुँच भग्नित नहीं है। पहुँच पीपल के इस के ही अध्ययन कहते हैं। कठोरनिपद् ( १ १ ) में ये यह ब्रह्ममय अमृत अध्ययन कहा गया है :—

उपर्युक्तमूल्योऽवाक्याद्य एवोऽक्षया सनातनः ।

तदेव शुक्रं लक्ष्मणं तदेवामृतमुच्चते ॥

यह भी यही है और 'उपर्युक्तमूल्योऽवाक्याद्य इस पद्मारहस्य से ही अर्थ होता है कि मात्रानीता का वर्णन कठोरनिपद् के वर्णन से ही सिया गया है। परमेश्वर सर्व में है आर उसे उपका दुमा अग्नदृष्ट नीचे अर्थात् मनुष्यज्ञेष में है। अतः वर्णन किया गया है कि इस इस का मूल (अर्थात् परमेश्वर) ऊपर है और उसकी अनेक साक्षात् (अर्थात् काम का फैलाव) नीचे विस्तृत है। परन्तु प्राचीन पर्माण्य में एक और कल्पना पाई जाती है कि यह लक्ष्मण वर्णन होगा न कि पीपल। स्त्रीकि वह के पेह के पाये ऊपर से नीचे को उसे आते हैं। उन्हरें किये यह वर्णन है कि अभ्यन्तर भावित्य का इस है और न्यग्रोषो वारुणो तृष्णा — स्वग्रोषो अर्थात् नीचे (न्यक) महाभारत में सिया है कि मार्कण्डेय ऋषि ने प्रख्यातस में शास्त्रपी परमेश्वर को एक (इस प्रख्यातस में मी नह न होनेवाले, अतएव) अस्य न्यग्रोष अर्थात् वह के पेह की छानी पर देता था। (मा भा १८८ ११)। इसी मात्रार लान्दोग्य उपनिषद् में यह विस्तृत नीचे के किये — कि अम्बक परमेश्वर से अपार हरय अग्नि देवे निर्माण होता है — ये इषान्ति दिया है वह मी न्यग्रोष के ही दीव का है (आ १ १२ १)। ऐसाख्यातर उपनिषद् में मी विभक्त का वर्णन है (स्त्रे १ १)। परन्तु वहों सूक्ष्मा नहीं कल्पना कि यह लीन सा तृष्ण है। मुण्डक उपनिषद् (३-१) में कल्पेर का ही यह वर्णन से सिया है कि इस पर दो वक्ती (वीवलमा और परमात्मा) हैं तुए हैं किनमें एक विष्णु अर्थात् पीपल के फलों को चाहता है। पीपल और वह को ऐस एक सरारहण के स्वरूप की हीचरी कल्पना ओरुमर भी है एवं पुराण में यह असाध्य का तृष्ण माना गया है। सारांश प्राचीन प्राची में से तीनी कल्पनाएँ हैं कि परमेश्वर की मात्रा से उपग्रह दुमा अग्नि एक वर्ण पीपल वह का गूँह है। आर इसी कारण स विष्णुश्वरमनाम में विष्णु के से तीन वृक्षारम्भ नाम दिये हैं।— स्वग्रोषी तुष्णोऽवाक्य (मा भा भनु १४ १ १) एवं तमाच में से तीनी तुष्ण देवारम्भ आर पूर्णे घास्य माने जाते हैं। इसके अतिरिक्त विष्णुश्वरमनाम और गीता दोनों ही महाभारत के मान हैं जब त्रि विष्णुश्वरमनाम में गूँह, अग्नि (न्यग्रोष) और अध्ययन पे तीन तृष्ण नाम दिये गये हैं तप गीता में अध्ययन का पीपल ही (गूँह पा बरग नहीं) भग्न सेना जाहिदे और मूल का अप मी बही है उषांति भर्तान् देव विशुक पसे है इति वाक्य के

वह (एक) ऊपर है और शास्त्रार्देश (अनेक) नीचे हैं (ये) अध्ययन अथात् कभी नाश नहीं पाता (एव) छात्रति अध्यात् वेद किंचके पते हैं उत्ते (इष वा) किंचने जान लिया वह पुरुष सज्जा वेद्येता है।

[ उक्त ब्रह्मन ब्रह्मशुभ का अध्यात् उत्तारत्वात् का है। इस उत्तार का ही साम्यमत्तवारी प्रहृति का विस्तार और वेदान्ती मग्नान् की माया का प्रधारा उक्त है। एव अनुगीता म उत्ते ही ब्रह्मशुभ या ब्रह्मवत्' (ब्रह्मारण्य) कहा है (खला म भा अथ ३ अधीर ४०)। एक विष्वद्वृष्ट छोड़े-से बीज से दिल मकार भूमि भारी गत्तन्त्रुम्भी तृत निमाण हो जाता है उसी प्रधार एक अध्यक्ष परमेश्वर से दृष्ट्यसुद्विष्ट्य भव्य तृत उत्पत्त दुआ है। यह क्यपना अध्ययन अपक्ष न क्षेत्र विदिष भव्य म ही है प्रस्तुत अन्य ग्राह्यीन अमों में भी पाया जाता है। युरोप की पुरानी मायाव्या म इसके नाम विष्वद्वृष्ट या 'ब्रह्मद्वृष्ट' है। अस्वद (१ २४ ७) में वर्णन है कि ब्रह्मज्ञोऽ में एक ऐसा तृष्ण है कि किंचकी विस्ता की वह ऊपर (कृष्ण) है और उसकी किंचण ऊपर से नीचे (किंचना) फैलती है। विष्णुसुद्वृष्टनाम में वास्तवा तृष्णः (ब्रह्म क तृष्ण) का परमेश्वर के हश्चर नामी से ही एक नाम बहा है। यम और वितर किंसु सुप्रलभ्य तृष्ण' के नीचे के कर उत्तप्तान करते हैं (क १ १३२ १) अध्ययन किंचक अग्रभाग में स्वार्थिष पीपल है और किंसु पर ये सुप्रण अध्यात् कभी रहते हैं (क १ १६४ ८) या क्षिति पिष्पङ्ग (पोपङ्ग) को वायुवेष्टा (मस्त्रण) हिंसते हैं (क ८ ८ ८ और १३ ३ ९) वह तृष्ण मी यही है। अपवेद में ये यह वर्णन है कि अवधान अवश्य तृष्ण तीर्थों स्वगत्योक म (ब्रह्मज्ञोऽ म) है (अथव ८ ४ १ और १३ ३ ९) वह मी उसी तृष्ण के सम्बन्ध में व्यन पढ़ता है। तैतिरीय ब्राह्मण (२ ८ १२ २) में अवश्य तृष्ण की स्मृत्यति 'या प्रकार है।— पितृवानकाळ म अस्मि अध्ययन ब्रह्ममापति देवत्योऽ से नष्ट हो कर इस तृष्ण में अध्य (पोहे) का रूप भर कर एक वप लक्ष लिया रहा था। इसी से इस तृष्ण का अध्यत्य नाम हो गया (देवो म या अनु, ८५)। कह एक नैदिकिर्णों का यह मी मर्त है कि पितृवान की अस्मी रात्रि में तृष्ण के पोहे यमत्योक में इस तृष्ण के नीचे विभाग किया जाता है। इच्छिये 'उक्तो अवश्य (अध्यात् बोह का स्थान) नाम प्राप्त दुआ होगा। 'अ = नहीं अ = कृष्ण य = स्तिर - यह आच्यार्थिक निवृत्ति पीछे की क्षमता है। नामस्पात्यम् माया का त्वर्त्य वत्र कि विनाशकान् अवश्य हरवही म परम्परात्मा है तब उक्तो कृष्ण तृष्ण न रहनेवाला या कह सोक्षेषे परन्तु 'अवश्य - अध्यात् किंचका कभी भी व्यप नहीं होता - किंचोपल स्वप्न

इह उपमस्यह तथोपकृत्यते जान्तो न आदिन च भग्नतिष्ठा ॥  
भग्नत्यमेन सुविश्वमूढमसंमाल्यं दृष्टम चिन्त्वा ॥ ५ ॥  
ततः पद तत्परिमार्गित्य यस्मिन मता न निष्कलन्ति भूय ।  
कर्मेव आद्य पुरुणं प्रपद्य यतः प्रवृत्तिः प्रसूता पुराणी ॥ ६ ॥

(२) परतु इस छोड़ में (जैसा कि ऊपर बचत दिया है) ऐसा उत्तम स्वरूप उपसन नहीं होता अथवा अन्त आदि भार भारत्यान मी नहीं मिलता । अस्यन्त गहरी ज्ञानवाक्षे इस अभ्यन्त (पूर्व) को अनासंख्य सुरु तत्त्वार से काट कर (४) फिर उस स्थान को दृढ़ निष्काळना चाहिये कि जहाँ ते फिर ज्ञाना नहीं पद्धता और पह उहस्य करना चाहिये कि (सुविश्वम् की वह) पुण्यम प्रवृत्ति दिलाए उत्पन्न तुर्ह है उसी आद्य पुरुण की ओर मै चला हूँ ।

[ गीतारहस्य के दसवें प्रकरण में विवेचन दिया है कि यहि का ऐलाङ्गी नामस्यारमण कर्म है और वह क्य अनादि है । आलक्ष्युद्दिष्ट छोड़ द्वे ते इसका स्वय हो जाता है; और विन्दी मी उपाय से इसका स्वय नहीं होता । कर्मोनि यह स्वरूपदा अनादि और अन्यत है (देखो गीतारहस्य प्र. १ र २८७-२९१) । तीसरे छोड़ के उसका स्वरूप या आदि-अन्त नहीं मिलता । इन शब्दों से वही उद्दान्त स्वरूप दिया गया है कि कर्म अनादि है; और आपे कर कर इस कर्मकृत का स्वय करने के लिये एक अनागति ही को लाभन फलत्यया है । एस ही उपासना करते समय जो मारना मन मे रहती है उसी के अनुसार आप उस मिलता है (गीता ८ ६) । अवधेष्व जीवे कथक म स्पर्श कर दिया है कि इस लेन्डम की यह दिया होते समय मन म कान सी मारना रहनी चाहिये । याद्वारमाप्य मै तमेव आद्य पुरुण प्रपद्ये पाठ है । इसमे ब्रह्मादकाल प्रथम पुरुण के एकवचन का 'प्रपद्ये' दियापर्ह है जिससे यह अथ करना पड़ता है; और इसमे इति सरीय दिनी न दिनी पर का आप्याहार भी करना पड़ता है । इस कठिनाइ का बाट दाढ़े के दिय यामानुज्ञाप्य मै दिग्भित तमेव आद्य पुरुण प्रपद्येन प्रवृत्तिः पानस्तर की स्तीकार कर के तो दसा भय दिया या तरम्भ, कि जहाँ जाने पर फिर पीछ नहीं आँद्रना पड़ता उम आन का आँद्रना चाहिये (भीर) तिमत मध मृषि की उपति तुर द उसी म मिल जाना चाहिये । दिनु प्रद आदु द दिय भास्मनेपरि । इनम उसका विष्यवक्त अन्य पुरुण का स्वय प्रपदेत हा नहीं तरना । 'प्रपद्येन परमीप' का व्यप है भीर पद व्याराच की दृष्टि न भग्नह द साय दयी कारण न याद्वारमाप्य मै वह पाठ स्तीकार नहीं दिया गया है भीर वही यूतिशङ्कृत है । अन्दीव उरनिरद द तुष मन्त्रों म 'प्रपद ए' का दिया ही द इनी प्रतार उपसाग दिया गया है (४-

अथव्योर्ध्वं प्रसूतास्तस्य शास्त्रा गुणमनुद्धरा विपयप्रवालाः ।  
अथव भूलान्यदुस्ततामि कर्मानुकन्धीनि मनुष्याणोके ॥ २ ॥

[ 'छन्दों एवं छद्मे छद्म = ज्ञाना भाषु मान कर ( ऐसो छा १ ४ २ ) तृष्णा से उत्तर से वेणा की समता वर्णित है और अन्त में कहा है कि जब यह सम्पूर्ण वैदिक परम्परा के भनुसार है, तब इसे विस्तै ब्यान किया, उसे वैष्णेचा कहना चाहिये । "स प्रकार वैदिक व्यान हो तुम । अब इसी भूम का वृहोरे प्रकार से - अर्थात् साम्यशास्त्र के भनुसार - व्यान करते हैं :- ]

( २ ) नीचे भी ऊपर भी उसकी शायार्दं फैसी हुर्व है कि या ( सत्त्व भावि तीनों ) तुम्हारे पासी हुर है, और जिनसे ( एष-स्पृश-स्फ-रस भी गन्ध-कृषी ) किया के भद्रहुर् पूरे हुए हैं । एवं अन्त म एवं एवं रूप पानेवाली उसकी वह नीचे मनुष्याणोके में भावी चर्ची गई है ।

[ गीतारहस्य के भाट्ये प्रकरण ( पृ १८ ) है विस्तारसहित निष्पत्ति कर दिया है कि साम्यशास्त्र के भनुसार प्रहृति भी तुम्हारे पासी गो मूल्यास्त्र हैं और जब पुरुष के भागों विगुणात्मक प्रहृति अपना ताना-बाना फैसले आती है तब महत् भावि तुम्हारे ताथ उत्पत्ति होती है भीर उनसे यह ब्रह्मापद्म हृष्ट ज्ञान चाहता है । परन्तु वैष्णवान्यशास्त्र की इदि से प्रहृति स्वरूप नहीं है । यह परमेश्वर का ही एक अधि है । भवतः विगुणात्मक प्रहृति के "स फैलवत को स्वतन्त्र तृष्ण न मान कर यह विद्यान्त दिया है कि ये शायार्दं 'कर्मसूक्ष्म' पीपड़ की ही है । अब इस विद्यान्त के भनुसार तृष्ण निराश स्वरूप का व्यान इस प्रकार दिया है कि पहले स्वेच्छ में वर्णित वैदिक भवन्यापान तृष्ण की विगुणों से पढ़ी हुर्व शायार्दं न केवल 'नीचे ही' प्रत्युत 'कर्म' भी फैली हुर है और इहमें कर्मविपाकप्रतिपाक का ज्ञाना भी अन्त म पिरो दिया है । भनुगीतावासे व्रक्षहृष्ट के व्यान में केवल साम्यशास्त्र के चौंबीस वर्त्तों का ही ब्रह्मापद्म उत्पादा गया है :- उसमें "स तृष्ण के वैदिक और साम्य व्याना का मेष नहीं फिलाया गया है ( देखो म भा अध्य १ २२ २६ और गीतार प्र ८ ह ३८ ) । परन्तु गीता में ऐसा नहीं दिया । हस्यशिरस्य तृष्ण के नाते से वेणों में पाये जानेवासे परमेश्वर के व्यान का और साम्यशास्त्रोक्त प्रहृति के विलार या ब्रह्माण्ड-हृष्ट के वर्णन का इत गो क्षेत्रों में मेष कर दिया है । मोक्षात्मि के लिये विगुणा नह और कर्मसूक्ष्म तृष्ण के "एव फैलवत से नुस्ख हो ज्ञाना चाहिये । परन्तु यह तृष्ण "तना चर्चा है कि "उके भी और ऊपर का पता ही नहीं चलता । अतएव अन मत्त्वाते हैं कि इत अपार इस का नाम करके गुड में बरमान भग्नवत्तस्त्र को पहचानने का लौट सा मात्र है । ]

ओप्र चमुः स्पर्शनं च इतरं प्राप्यमेव च ।

अधिष्ठाय मनस्यार्थं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

उक्ताभन्ते स्थितं वापि मुजानं दा गुणानितम् ।

विमूढा भासुपश्यन्ति पश्यन्ति कामचासुयः ॥ १० ॥

यतस्तो योगिमध्येन पश्यस्यात्मन्यश्चस्थितम् ।

यतस्तोऽप्यहुतात्मानो मैत्रे पश्यन्यजातासः ॥ ११ ॥

मह शीघ्र इन्हे ( मन और पौच निर्दियो का ) मैत्रे ही लाप से बदला है ऐसे ( पुर्ण भावि ) आभव से गन्ध को पापु से बाती है । ( \* ) कान औप स्त्रीम, नाक और मन मे टहर कर यह ( शीघ्र ) विदर्यो से भेजला है ।

[ इन तीन क्षेत्रों मै से पहले मै यह ज्ञानात्मा है कि सूक्ष्म वा विश्वारीर व्या है । पिर इन तीन भवस्याभ्यों का वर्णन किया है, कि उक्ताभ्यां सूक्ष्मदेह मै वेत्ते प्रबोध करता है । वह उससे बाहर फैते निष्पत्ता है । उसमें रह कर विद्यो का उपमोग फैते करता है । उसस्यमते के अनुष्ठार एक शूलगस्तीर महान तत्त्व से ब्लैर सूक्ष्म पश्यतस्याभ्यों एक के अठारह तत्त्व से बदला है और वेदान्तसूक्ष्मों ( १ १ १ ) मे कहा है कि पश्च सूक्ष्मभूतों और ग्राम व्या भी उसमें समावृष्ट होता है ( देखो गीतारहस्य प्र १८७—१ १ ) । मैत्रुपनिषद् ( ६ १ ) मै वर्णन है, कि दूसराहीर अठात्त्वां का बदला है । उससे कहना पहला है कि मन और पौच इन्द्रियों इन शब्दों से लूप्याहीर मै कर्त्तव्य बुधरे तत्त्वों व्या सप्तह मी पहों अभियेत्रे । वेदान्तसूक्ष्मों ( वै. सु. २ १ १७ और ४३ ) मै मी 'नित्य और 'अष्ट' दो ' व्या उपमोग करके ही पहले विश्वान्त व्यास्यात्मा है कि शीघ्रामा परमेश्वर से बारीक नया किरे त उपम नहीं हुआ करता । वह परमेश्वर का सनातन भय ( देखो गीता २. २४ ) । गीता के दुरद्वये अध्याद ( १३ ४ ) मै ये वह है कि बेक्षेत्रव्या विचार वहसूक्ष्मों से किया गया है, सुधा इससे एटीकर्त्ता आता है ( देखो गीतारहस्य परि. पृ ५४५—५४६ ) । गीतारहस्य के नीवे प्रकाश ( पृ २८८ ) मै विषयमा है कि 'अष्ट' शब्द का अर्थ 'पृष्ठाध्यात्म' अथ समझना चाहिये न कि एविष्ट अथ । इस प्रकार शहीर के बाबत उक्तव्या छोड़ नै एव उपमोग करना—इन तीनों कियाओं के बाबत इन्हे पर ।— ]

( १ ) ( शहीर से ) निष्पत्त ब्लैरवाङ्क की रहनेवाले को अपापा गुणों से मुक्त कर ( भाव ही नहीं ) उपमोग करनेवाले को मूल व्येग नहीं बनाये । इनपूर्व देखेवाङ्क लोग ( उसे ) पहचानते हैं । ( ११ ) इसी प्रश्न प्रयत्न करनेवाले वो

निर्मानमाहा जितसंगहापा अम्बात्ममित्या विनिषुतकामा ।

द्वन्द्वेविमुक्ताः सुवाऽत्संशोर्गच्छुन्त्यसृढा पक्षमव्यर्थं तत् ॥ ५ ॥

न तद्वासप्ते स्थूले न शशीको न पाषक ।

यदूत्था न निर्धर्तन्ते तद्वाम परमं मम ॥ ६ ॥

६६ ममैवाश्च भीषणाके जीवभूतः समातनः ।

मन-पष्टानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्त्तति ॥ ७ ॥

शरीर यद्वाप्नोति यज्ञाप्युत्क्रमतीव्यरु ।

गुहीर्त्वतानि संयाति याप्युगन्धानियाशमात् ॥ ८ ॥

[ (८ १४ १) 'प्रपत्ये' विवाप्त मध्यमपुरुषान्त था तो उहना न होगा कि वक्ता से अद्यात् उपर्युक्ता भीकृष्ण से उत्तम सम्बन्ध नहीं बोहा या उकड़ा । अब यह बताया है कि 'एष प्रकार उठने से क्या फ़ूल मिलता है ? ]

(६) या मान और मोह से बिरहित है बिन्दान आसक्तिनोप को भीत किया है और अध्यात्मग्रन्थ में तर्वैव रिवर रहते हैं जो निष्ठाम और सुपुदुश्चुष्टुका इन्होंने से मुक्त हो गये हैं व जानी पुश्य उल अम्बय-स्थान को या पर्वतोंते हैं । (७) यहाँ या वह किर अद्यना नहीं पड़ता (देखा) वह मेरा परम स्थान है । उसे न हो दर्ये न उद्धरमा (भीर) न अपि ही मकारित बरते हैं ।

[ 'नमे लग्न स्त्रोक शेताद्वतर (१ १४) युष्मक (२ २ १) और कट (१ १६) 'न तीनो उपसिध्ग मैं पापा है । सूर्य चक्र या दारे, ये सभी हो नामरूप की भेषी मैं आ चर्ते हैं भीर परजग्न इन सब नामरूपों से पर है । 'एष करुष लग्नकर्त्र आति को परजग्न के ही तेज से प्रकाश मिलता है । किर पह मक्ष ही है कि परजग्न को मकारित बरने के लिये किसी दूरते की अपेक्षा ही नहीं है । उपर के स्त्रोक मैं परम स्थान यज्ञ का अर्थ 'पञ्चम' और इष वज्र म मिल जाना ही ब्रह्मनिर्बीण भोग है । इस का कुपक ऐनर अन्यात्मकात्म में परजग्न का या जान अस्तम्या जाता है उत्तम विदेशन तमात हो गता । अब पुरुषोत्तमस्वरूप का बर्णन करना है । परन्तु अन्त में जो वह वह है कि यहाँ या वह कौटना नहीं पड़ता इषसे सुचित होनेवाली चीज यी उत्तानित भीर उत्तरके साथ ही जीव के स्वरूप का पहुँचे बर्णन करते हैं :- ]

(८) लौकरोह (बर्म्मूमि) के लिए ही उत्तरके अग्र लौकर महरि मैं रहनेवाली मनुष्यहित छ भर्मात् मन भीर पौर्व (सूर्य) इन्द्रियों को (अपनी भोग) लौक लेता है । (इसी को लिङ्गहरीर बहते हैं) । (९) ईशर भर्मात् चीज यम (सूर्य) शरीर पाता है और वह वह (सूर्यहरीर से) निष्क जाता है, वह

इह शब्दमौ पुरुषौ लोके सारभासर पर्य च ।

काह सर्वाणि भूतानि कृदस्योऽसर उच्चते ॥ १६ ॥

उत्तमं पुरुषस्वम्यं परमात्मेत्युक्ताहतः ।

यो लोकश्वरमाविष्य विभर्त्यम्यं हितः ॥ १७ ॥

यस्माक्षरमतीतोऽहमकारपि चोक्तमः ।

अतोऽस्मि लोके वेद च प्रथितं पुरुषोक्तमः ॥ १८ ॥

[ इष स्तोक च दूसरा परण वैष्णव उपनिषद् ( २. १ ) में है । उसमें

कैरेक सर्वे के स्थान में 'कैरेनेक' इतना ही पाठमें है । तब गिर्वान गीतारहस्य में वेदान्त शब्द च अप्रसित होना न मान कर ऐसी गलिये ची है कि या दो पहले कैरेक ही प्रसिद्ध होगा या इसके 'वेदान्त शब्द का कुछ और ही अर्थ सेना चाहिये । वे दो दसीछ वे वेद-वृनिवाद की हो जाती हैं । 'वेदान्त' शब्द मुण्डक ( १. ८. ६ ) और भेदान्तश्चात्म ( १. ८. २ ) उपनिषदों में आया है तथा वेदान्तश्चात्म के दो कुछ मन्त्र ही गीता म हृष्ण भा गय हैं । अब निरक्षिपूर्ण पुरुषोक्तम च लक्षण न्तस्तुत है :- ]

( १६ ) (इष) शोक में 'हर' और अहर वे पुरुष हैं । सब ( नाशकान् ) भूतों के भर छहते हैं और कृत्य एवं - अर्यात् इन सब भूतों के मूँछ ( कृट ) में रहनेवाले ( प्रतिकृप्य अव्यक्त तत्त्व ) च अहर छहते हैं । ( १७ ) परम्परा उत्तम पुरुष ( इन बोनों से ) भिन्न है । उत्तमे परमात्मा छहते हैं । वही अव्यक्त इन्द्र नेत्रोक्तम म प्रथित हात्मर ( भेदोक्तम च ) पोषण करता है । ( १८ ) च वे जो मैं तर के भी परे का अहर से भी उत्तम ( पुरुष ) हैं ज्ञेयपवहार में और वेद में भी पुरुषोक्तम नाम से मैं प्रसिद्ध हूँ ।

[ सोम्यदे शोक में 'हर' और अहर शब्द साम्बन्धान के अर्थ और अव्यक्त अवधा अवक्षयाहि महति - इन वे शब्दों से उमानावेदं है । प्रकृत है 'नमे हर ही नाशकान् पद्ममहागृहा भक्त अव्यक्त परार्थ है । लक्षण है कि अहर विद्येयम पहले कई बार च व परजाह के मी आया गया है ( देखो गीता ८. १; ८. २१. ११. ३७. १२. १ ) तब पुरुषोक्तम के उत्तिरित स्तुति में 'अहर शब्द च अर्थ अव्यक्तता नहीं है विन्यु उत्तम अर्थ लाल्हो की अहरमहति है और इति गात्रान् से ज्ञाने के लिये ही शोम्यद शोक में 'अहर' अर्यात् कृत्य ( प्रहति ) वह विद्येय व्यास्ता की है ( गीतारहस्य प्र १. ४. २. २-२०५ ) । साहस्र अवक्षयाहि और अव्यक्त प्रहति के परे का अहर व्रह्म ( गीता ८. २-२३ ) पर हमारी निष्पक्षी हेतो ) और 'हर' ( अवक्षयाहि ) एवं अहर ( प्रहति )

॥६॥ यद्यपित्यगते तेजा भगवासपतेऽसिष्ठम् ।

यज्ञन्विमासि यथाप्तो तत्तेजो यिद्धि मामकम् ॥ १० ॥

गामाविश्य च मूत्रानि भारयाम्यहमोभसा ।

पुष्टामि चौपदीं सदा सोमो भूत्वा रसामकः ॥ ११ ॥

अहं विभानते भूत्वा प्राप्तिमां देहमाभित ।

प्राणापानसमायुक्तं पशाम्यक्ष चतुर्विंश्म् ॥ १२ ॥

सर्वस्य अर्हं हृषि सच्चिदिष्टा मत्तः स्मृतिर्हीक्षमपोदनं च ।

र्हीक्ष स्वराहमव देया येषान्ताहृष्टविदेव चाहम ॥ १३ ॥

अपने भाप में रित भामा को पहचानते हैं। परन्तु वे अत्र स्थेग कि किनका भामा अपात् तुदि सख्त नहीं है, प्रबल करके भी उसे नहीं पहचान पाते।

[ १४ व और १५ व ऋषेक में शानचभु या अमरांगमाग से भामगन भी प्रसिद्ध का वर्णन कर शीव की उत्तरानिति का वर्णन पूरा किया है। यिद्धे छातवे अध्याय में उसी वर्णन किया गया है (देखो गीता ७-८-१२) विदा ही अब भामा की उब अवापकता का भोग या वर्णन प्रमाणना के देंग पर करके साइरह ऋषेक से पुरुदोत्तमम्बरूप का वर्णन किया है। ]

(१५) ये तेज सब में रह कर सार अस्तु को प्रकाशित करता है जो तेज चन्द्रमा भी भवि म है उसे मेरा ही तेज समझ। (१६) उसी प्रकार पृथ्वी म प्रकोप कर मैं ही (उब) भूता का अप्से तेज से भारण करता हूँ; आर रसामक उम (चन्द्रमा) हो कर उब औंपदिवीं का अर्थात् बनस्पतियों का पापाप करता हूँ।

[ ऊम एव के 'सोमवही और 'चन्द्र अर्यं देवे मैं क्षयन है कि चन्द्र किस प्रकार अस्तमक अशुमान और शुभ्र है उसी प्रकार सोमवही भी है। दोनों ही को बनस्पतियों का राजा कहा है। वृश्चिं युवापर सन्नम से पहँचन्त्र ही विद्धित है। इस ऋषेक म यह कह कर — कि चन्द्र का तेज मैं ही हूँ — फिर इसी ऋषेक म बहुव्यापा है कि बनस्पतियों का दोषण करने पा अर्थ का जो गुण है वह भी मैं ही हूँ। अन्य स्थानों मैं भी ऐसे वर्णन हैं कि उसमें हानि से बचने में यह गुण है। उसी कारण बनस्पतियों की जाद होती है। ]

(१७) मैं विभानरूप भवित्वे कर ग्राणियों की देह म रहता हूँ और प्राण एव अपना से बुरा होकर (भर्त्य जोप्य देह और पेप) आर प्रकार के भ्रम को पचारता हूँ। (१८) इसी प्रकार म उब के दृष्टय मैं भवित्वित हूँ। स्मृति आर शन एव अपाहन अपात् उनका नाश मुक्तमै ही होता है तथा उब देवी से जानने याप्त मैं ही हूँ। बनस्पति का क्षमा और वेद जाननेवाला भी मैं ही हूँ।

## पोदशोऽध्याय ।

भीमगानानुशास्त्र ।

अमर्यं सत्त्वसंशुद्धिर्हानियोगम्भवस्थितिः ।

इमं एमद्य यहाय स्वान्पायस्तप भाजवम् ॥ १ ॥

अहिंसा सत्पमकाघस्त्यागः शाम्भिर्पशुनम् ।

इया मूलेष्वलोलुप्त्वं मार्यं हीरचापस्तम् ॥ २ ॥

तज्ञ इमा भूति शौचमयोहो नातिमानिता ।

मवमिति सम्पर्वे देवीममिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

इति प्रत्यार भीमगान के गाये हुए — अर्थात् कहे हुए — उपनिषद् में इस विचारन्तर्गत योग — अर्थात् कमयोग — शास्त्रविषयक भीहृष्ण और भर्तुंन के उत्तर में पुरुषोत्तमयोग नमस्क पञ्चहृष्णों अध्याय उमास हुआ ।

---

## सोलहवाँ अध्याय ।

[ पुरुषोत्तमयोग से स्तर अधिक श्वन की परमाणवि हो जुही चारुम अप्याप में इन्द्रजिल्लन के निरूपण का आरम्भ यह उत्तरान के लिये किया गया था कि कर्मयोग का आचरण करते रहने से ही परमेश्वर का श्वन होता है और उसी से मोक्ष मिलता है उसी पर्वती उमाति हो जुही; और अब यही उत्तरा उपराहार करना चाहिये । परन्तु नौरे अध्याय ( १२ ) में ममगान ने जो पहुँचिल्लुस तपेष में अहा था कि यहसी मनुष्य मेरे अध्यक्ष और भ्रेष्ट स्वरूप को नहीं पहचानते, उसी का स्वाहीकरण करने के लिये “स अध्याय का आरम्भ किया गया है; और अगले अध्याय में इति अरण इत्याया गया है कि मनुष्य मनुष्य में स्तो छाते हैं । और अठारहवाँ अध्याय में पूरी गीता का उपराहार है । ]

भीमगान ने कहा — ( १ ) अमय ( निवार ) भुज्ज चातिक हृष्णि, श्वनं योगम्भवस्थिति अर्थात् श्वन ( मार्ग ) और ( कर्म ) वोग वी चारुमय से अपवत्पा श्वन द्वय यह स्वान्पाय अर्थात् त्वरमें के अगुस्तार आचरण तप सरलता ( २ ) अहिंसा तत्य अक्षोष कमलक का त्याय शान्ति अपैशुन्य अर्थात् सुशान्ति होइ कर उत्तर मात्र रथना उत्तर भूतों से “या तृणा न रथना ( जुरे काम वी ) अब अचपवत्पा अर्थात् फिरुक कामा ओ उत्तर श्वना ( ३ ) तेवस्तिता उमा भूति शुद्धता

६६ यो मासेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।

स सविज्ञाति माँ सर्वभावेन भारत ॥ १९ ॥

इति गुणतम् शास्त्रमित्युक्तं मयामनः ।

पदार्थाद्या तुदिमान् स्याद् इत्याहस्यम् भारत ॥ २० ॥

इति भीमगदीतामु उपनिषद्गुणविद्यावा योगभासे श्रीहृष्णार्द्दनुषष्ठाने  
पुरुषोत्तमबोगो नाम पञ्चदशीअध्याय ॥ २१ ॥

उपर का युक्तोत्तम वास्तव में दोनों एक ही हैं। तेहरह अध्याय (१९-२१) में लिखा गया है कि इसे ही परमात्मा बताते हैं और यही परमात्मा अपरीर में देवता रूप से रहता है। इससे सिद्ध होता है कि भर-भर-विचार में वे मृष्टित्व अस्त्रजल अस्त्र में निष्पत्त होता है वही देवतान्तरविचार का भी अस्त्रजल है अथवा विष्णु में और अक्षराच भी एक ही पुरुषोत्तम है। इसी प्रकार यह मी बताया गया है कि अधिभूत और और अधिमत्र प्रमुखि का अवश्यका प्राचीन अस्त्रजल हूस का तत्त्व मी यही है। उस जन विश्वान प्रकार का अनित्य निष्पत्त यह है कि किसने अपात् भी इस एकता को जान सिया कि भूतों में एक आत्मा है (गीता ६ २९) और किसके मन में यह पहचान किन्नरीमर के छिय स्विर हो गई (वे स ४ १ १२ गीता ८ ६) वह कर्मयोग वा आचरण करते ही परमेश्वर की प्राप्ति कर सकता है। कर्म न करने पर केवल परमेश्वरमहि उसी मोष मिल सकता है। परन्तु गीता के जनविश्वान निष्पत्त का यह उत्तर्यन नहीं है। उसके अध्याय के आरम्भ में ही वह किया है कि जन विश्वान के निष्पत्त का आरम्भ यही निष्कामुद्दि के द्वारा उत्पाद के सभी कर्म करने जाहिय और उन्हे करते हुए ही मात्र मिलता है। अब क्वचित्त है कि उन्हे जन लेने से क्या पत्त मिलता है! - ]

(१) हे भारत! इस प्रकार किना माह के जो मुझे ही पुरुषोत्तम उत्पत्ता पह नकर होकर उत्तमात्म के मुख ही भवता है। (२) हे निष्पाप भारत! उग्र के मी गृह शास्त्र में बताया है। इसे जन कर (मनुष्य) तुदिमान उद्युग या जनवार भीर इतहन्त्य हो जायेगा।

[ यही तुदिमान का युद्ध अपात् जनवार भर्य है। क्योंकि मारव (शा. ४४ ११) म इसी अय में 'युद्ध भीर 'इतहन्त्य' शब्द भावे है। महाभारत में युद्ध अय का उत्तम युद्धावतार कही भी नहीं भावा है। (भये गीता ८ परिधिपृ १६)। ]

६५ पैदी सम्प्रिमोक्षाय निवाभायासुरी मता ।

मा शुचं सम्पूर्ण देवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ ५ ॥

६६ द्वै शूलसग्गो लाकेऽस्मिन्दैव आसुर पत च ।

द्विवा विस्तरशः प्रोक्त आसुर पार्थ मे शूणु ॥ ६ ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विपुरासुराः ।

न दीर्घं मापि आचारो न सत्यं तेषु विष्टते ॥ ७ ॥

अस्यमपतिष्ठं ते जगदाकुरुनीश्वरम् ।

अपरस्परसम्मूल किमन्यत्कामहृतुकम् ॥ ८ ॥

[ महाभारत शान्तिपर्व के १९४ और १६८ अध्यायों में इनम से इन्हे दोपी का बनन है और भूत में मह भी क्षत्रिय रिया है, कि नृष्टुत छिपे कहना चाहिये । एस न्योक में 'भूतान' को आकुरी तम्पति एव तत्त्व तह देने से प्रभुर होता है कि 'हन' हैवी तम्पति का तत्त्व है । उगत में पाये जानेवाले वो प्रकार के स्वामीया एव इस प्रकार वर्णन ही बने पर - ]

( ) (इनम से) देवी तम्पति (परिकाम में) मोक्षावक और आकुरीक्षण्यावक माली जाती है । हे पाण्डव ! तु देवी तम्पति में क्षमा हुआ है । दोष मत कर ।

[ संक्षेप में यह क्षम्य दिया कि इन वो प्रकार के पुरुषों को कैल सी गति मिलती है । अब विस्तार के आकुरी पुरुषों एव वर्णन करते हैं :- ]

(६) एस न्योक में दो प्रकार के प्राची उत्पन्न हुआ करते हैं । (एक) ऐस और दूसरे आकुर । (इनमें) देव (भूती का) वर्णन विस्तार से कर दिया । (दूसर) हे पार्थ में आकुर (भूती का) वर्णन करता हूँ सुन ।

[ पिछले अध्यायों में पह वक्तव्या गता है कि कर्नवोगी देवा वर्ताव करे । और ब्राह्मी अवरणा देवी होती है । वा रिपतप्रद, भयदद्वर्त अवरणा विपुलादीव दिति कहना चाहिये । और पह मी क्षत्रिया गता है कि शान क्षमा है । इत अ याम के पहले तीन न्योक भ देवी तम्पति का वो तत्त्व है वही देव प्रहृति के पुरुष का वर्णन है । इसी से कहा है कि देव भेदी का वर्णन विस्तार से पहले कर दुके हैं । आकुर तम्पति का वो एव उक्त नौर्भव अध्याय (९, ११ और १२) में आ जुला है । परन्तु वहाँ एव वर्णन अभूता रह गया है इत अवरण एस अध्याय में एकी एव पूरा करते हैं - ]

(७) आकुर खेक नहीं बनते कि प्रहृति क्षमा है और विपुति क्षमा है । अर्थात् वे वह नहीं जानते कि क्षमा करना चाहिये और क्षमा न करना चाहिये । उनमें न अप्रकार रहती है न आपार और तत्त्व ही है । (८) ये (आकुर खेक) अद्यते हैं

इहमो वपौऽभिमानम् क्रोधः पारुप्यमेव च ।  
आहारं आमिजातस्य पर्य सम्पदमासुरीम् ॥ ४ ॥

इह न करना अतिमान न रखना - हे मारत ! (ये) गुण देवी सम्पति में इनमें पुरुषा को प्राप्त होते हैं ।

[ देवी सम्पति के ये उम्मीद गुण भी और तेरहवें भाष्याय में बताये गए शब्द के लीस लक्षण (गी १३ ७-११) काल्पन में एक ही है और इसी से भागे के स्थेक में भवत वा उमाकेश आमुरी लक्षण में दिया गया है । यह नहीं कहा च्य उक्ता कि उम्मीद गुणों की इस फहरित में प्रथेक शब्द का अर्थ दूसरे शब्द के अर्थ से सर्वेषा मिम छागा और हुन्ही भी ऐसा नहीं है । उत्तरणाय शोई शो भहिरा के ही काव्यिक, काव्यिक और मानविक में फरके शोष से किसी के दिल बुला देने को भी एक प्रकार भी हिसा ही समझते हैं । इसी प्रकार शुद्धता को भी त्रिविष मान सने से मन की शृङ्खि में अकोष और ओह न करना भावि गुण भी भा सकते हैं । महामारत के शान्तिपद में १६ भाष्याय से ले कर १९६ भाष्याय तक कम से दम तप सत्य और लोम वा विलूप्त बनत है । वहाँ दम में ही भमा शृङ्खि भहिरा सत्य भावत और उजा भावि पश्चीम-तीस गुणों का व्यापक अर्थ में उमाकेश दिया है (गा १६ ) और सत्य के निरपय (गा १९२) में कहा है कि सत्य समान दम भमात्सत्य उमा सत्ता तितिभा, भनस्पति त्याग व्यान भावता (साम वस्याण की "च्य") शृङ्खि भाव द्या इन तेरह गुणों का एक उत्तम में ही उमाकेश हाता है और वही इन शब्दों की व्याख्या भी कर दी गई है । इस दीर्घि से एक ही गुण में भनेको का उमाकेश फर लेना पाभिहत्य का काम ह भार ऐसा विवेचन करने लगे तो प्रथेक गुण पर एक एक धन्य शिल्पना पड़ेगा । उपर के क्षारों में उन सब गुणों का समुच्चय इसीरिये बहस्याया गया है दि विलमे देवी सम्पति के सात्सिक रूप की पूरी कल्पना हो जावे और यहि एक शब्द में बाह नप छूट गया हो तो दूसरे शब्द में उसका उमाकेश हो जावे । भम्न ऊपर की फहरित के 'शनयोगम्बद्वस्ति शब्द का अर्थ इमन गीता के ४ ४१ और ४२ वें स्तोक के भाषार पर कमयागव्यापान दिया है । त्याग और शृङ्खि की व्याख्या सत्य मानवान ने ही १८ के अभ्याय में कर दी है (१८ ८ भीर ८ ) यह सत्य युक्ति देवी सम्पति में दिन गुणों का उमाकेश हाता है । अब इहके विवरीत आमुरी या राज्ञी तत्पनि का बनन करते हैं - ]

(४) ह पाप ! दम्प, द्य भठिमान भ्राम पारुप्य भयान निरुला भार भगान भास्त्री यानी राज्ञी तत्पनि में इन्हें दूष का प्राप्त होता है ।

पता श्विमवकुम्य नष्टात्मानोऽस्युद्धयः ।

प्रभयस्युपकर्माणः स्याय जगताऽधिताः ॥ ९ ॥

काममाभित्य तु पूर्वं कम्ममानमवान्विताः ।

मोहाङ्गुहीत्वाऽस्याहाम्बवर्तन्तेऽनुचितिताः ॥ १० ॥

कहते हैं कि ये ऐसा मी दुर्लभीय पद्धता है जो परस्पर अर्थात् श्रीपुरुष के संयोग से उत्पन्न न हुआ हो। नहीं और यह ऐसा पदार्थ ही नहीं जीव पद्धता वह यह बग्गे कमहतुक अपात् श्रीपुरुष की क्षमेभ्य से ही निर्मित हुआ है। एवं दुर्लभ स्वेग अपराध परब्ध अपरस्परी ऐसा नद्वत विष्व करके इन पदों का यह अर्थ ब्याप्त करते हैं, कि 'अपरस्पर' ही जीव पुरुष है इसी से यह अत् उत्पन्न हुआ है 'संक्षिये श्रीपुरुषों का ध्यान ही इत्या हेतु है। और कारण नहीं है। परन्तु यह अन्यथा सरल नहीं है और 'अपरब्ध परब्ध' का समाच अपर-यर होगा शीघ्र में सकार न भावने पायेगा। इसके अविरिक्त असत्य और अप्रतिष्ठ 'न पहले आये हुए पदों का देखने से यही ज्ञात होता है कि अपरस्परसमूल नप्र समाप्त ही होना चाहिये। और फिर इहना पद्धता है कि दास्यशास्त्र में 'परस्परसमूल' ध्यान से जो गुणों से गुणों का अन्योन्य स्वतन्त्र होता है वही यहीं विचित्र है (ऐसो गीताराहस्य प्र १७ यू १०८ और १७९) अन्योन्य और 'परस्पर दोनों ध्यान समानार्थक हैं। दास्यशास्त्र में गुणों के पारस्परिक संगोष्ठी का वर्णन इरटे समव ये दोनों ध्यान आये हैं (देखें मा शा ३ ५ सा का १२ और १३)। गीता पर जो माम्बमात्र है 'समै इसी अथ को मान कर मह विष्वामने के लिये कि बग्गे की बलुएँ एक दूसरी से भिन्ने उपकर्त्ती हैं गीता का यही भोग विष्या गया है— अपाद्यवर्ति भूतानि इत्याति— (अभिन्न में छोड़ी हुए भावुकि सूप को पर्वृचती है भवतः) पद से इष्टि इष्टि से अभ और अभ से प्रवा उत्पन्न होती है (देखें गी. १ १४; मनु. ३ ७६)। परन्तु वैसिरीय उपनिषद् का वक्तन इष्टकी भवेषा अभिन्न प्राचीन और व्यापक है। 'स कारण उली का इमने ऊपर व्याप्ति में दिया गया है। तथापि इमारा मत है कि गीता के इत अ परस्परतम्भूत पद से उपनिषद् के सद्गुरुविद्वन्म की अपेक्षा वाक्यों का सद्गुरुविद्वन्म ही अभिन्न विवित है। काल की इच्छा के विषय में ऊपर जो भावुकी मत व्याप्ताया गया है उसका इन शोगों के कर्त्ताव पर जो व्यापक पद्धता है उसका वर्णन करते हैं। ऊपर के स्मेति के अस्तु मैं जो 'कामहतुक पद है उली का यह अभिन्न लक्ष्यकरण है। ]

(१) इत व्यापार की इष्टि को स्वीकार करके ये अस्युद्धिकाले नष्टात्मा भीर तु प्रयोग तुर कर्म करते हुए बग्गे का ध्यय करने के लिये उत्पन्न हुआ करते हैं (१) (भीर) कभी भी पूर्ण न होनेवाले काम अर्थात् विषयोपमोग की इच्छा का आभव

कि सारा अन् अधित्य है भगवतिष्ठ अयात् निराशार है अनीश्वर यानी किना परमेश्वर का है अपरस्परसम्बूद्ध अयात् एक दूसरे के किना ही हुआ है। (अतएव) अम को छोड़ – अयात् मनुष्य की विषयकालना के भवितरिक इसका आर क्या है वह दो उक्ता है।

[यथापि "स स्मोऽक का अर्च स्पृह है तथापि इसके पाँ का अप बनेम सबुतुः स्वप्नमें है। हम उमस्त हैं कि यह उगन उन चावाक आर्ति नामित्वाँ के मता का है कि ये वेडान्तशास्त्र या कापिद्वास्यशास्त्र के सृष्टिरक्षनानियवक्त चिह्नान्त को नहीं मानते और यही कारण है कि "स स्मोऽक के पाँ वा अप साम्य और अप्यात्मशास्त्रीय चिह्नान्तों के विष्व है। अन् का नाशकान् उमन कर वेडान्ती उसके अकिनाथी सत्य भी – सत्यस्य सत्य (इ २ ३ ६) – पाक्षा ह आर उसी सत्य तत्त्व को अन् का मूल आधार या प्रतिष्ठ मानता है – ब्रह्मपुष्ट प्रतिष्ठा (ते २ ६)। परन्तु आमुरी स्नोग बहुत है कि यह उग भसत्य ह – अयात् "समै सत्य नहीं है – और "स्त्रीहिय वे इस उग का अप्रतिष्ठ मी बहुत है – अर्पात् इसकी न प्रतिष्ठा है और न आधार। यहाँ उड़ा हा सफली है कि "त प्रसार अप्यात्मशास्त्र में प्रतिपादित अध्यय एव उत्तम यदि आमुरी भगा को सम्भव न हो तो उस्में भक्तिमाग का व्यक्त इधर मान्य होगा। इस से अनीश्वर (अन् + इधर) पाँ का प्रयोग करके वह दिया है कि आमुरी उग उग का इधर को मी नहीं मानते। इस प्रसार उग का को नूस आधार न मानन स उपनिषदों में वर्णित यह सृष्टपुष्टप्रतिष्ठम एव देना पाना है कि आमन भावाद्य उभूतः भावाण्याद्वायुः। वायारप्ति। अप्राप्ति। भद्रम्य शूषिती शृष्टिया ओपदयः। ओपदीभ्य अप्यम्। भग्रातुष्यः। (ते २ १) और काप्यशास्त्राक इन सृष्टपुष्टप्रतिष्ठम को मी आइ देना पाना है कि प्रहृति और पुरुष से ही स्वकृत्य मस्तक एव तत्त्व एव भीर तम गुर्जों के अप्याम्य आध्यय से अयात् परमेश्वर मिथ्य स एव अप्य उत्तम एव है। वर्णित यदि इत शास्त्र या परम्परा को मान ह तो इस्यमुहि के परायों स इस उग का दुउन कुछ दूसराम लाना पड़ेगा। इसी से आमुरी लोग उग के परायों का अपरमेश्वर मध्यम मानते हैं – अयात् व यह नहीं मानत कि य पराय एव तूनरे से विनी क्य त उत्तम एव है। उग की उच्चना क तुम्हेय मै एक आर ऐसी कमज़ो हा उग पर मनुष्यमाली ही प्रथम निभित हा रहता है। और फिर यह विचार भाव हीनाप ही रहता है कि मनुष्य की वामकालना का तूम बन व विष ही उग क लारे पराय द्वे हैं उनका आर दुउ मी उत्तम नहीं है और यही अप इन आर के अन्त मैं "किम्पन्यत्वामैतुरुद्यम – काम की आर उनका आर क्या है इत्याः" – इन उग्णा स एव भाग के अपांत्रों म मी वर्णित है। दुउ दैवतार न्यायपरम्परामूल पाँ का अप्यम् "किम्पन्यत् से उग बर यह अप

## सप्तदशोऽध्याय ।

भर्तुन व्याख ।

ये शास्त्रविदिषु सूज्य एजन्ते अद्वयान्विताः ।  
तेषां निष्ठा तु का हृष्ण सत्त्वमाहो रक्षसः ॥ १ ॥

भीमगणनुवाच ।

श्रिविधा भवति अद्वा देहिणी चा स्वभावका ।  
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तीं शृणु ॥ २ ॥

सत्त्वानुक्रमा सर्वस्य अद्वा भवति मात्र ।  
अद्वामयाऽप्य पुरुषो यो वच्छ्रद्धा स पव सः ॥ ३ ॥

भर्तुन न कहा — (१) है हृष्ण ! जो शोग अद्वा से मुक्त होकर, शास्त्र निर्दिष्ट विधि को छोड़ दर्के यज्ञ करते हैं उनमें निष्ठा भर्तुन् (मन भी) विद्यि की है — उत्तिक है या राज्ञ है या तामस ?

[ पितृसे अप्याय के अन्त में जो यह कहा था कि शास्त्र भी विधि अ अयता नियमा क्य पास्त्र अवश्य करना चाहिये; उसी पर भर्तुन ने यह शहा की है । शास्त्र पर अद्वा रक्षणे हुए भी मनुष्य अश्वन ले भूल कर डैठता है । उत्ताहरणात् शास्त्रविधि यह है कि सर्वेष्यापि परदेवरका मनुकृत करना चाहिये । परन्तु वह “से क्षम कर देवताओं की मुन मे आ जाता है ( गीता ९ २३ ) । भर्तु भर्तुन का प्रभ ह कि ऐसे पुरुष की निष्ठा भर्तुन् अवश्य अयता अयता लियति कीनसी समझी जाए । यह प्रभ उन भासुरी घोटों के विषय में नहीं ह कि ये शास्त्र का भार चर्म का अभद्रापर्क तिरकार किया करते हैं । तो भी इर्त अप्याय में प्रश्नानुसार उनके कर्मों के पद्धति का भी वर्णन किया गया है । ]

भीमगणन ने कहा कि :— (२) प्राणिमात्र की अद्वा अवश्यका हीन प्रकार की हासी है एव उत्तिक, तृणरी राजस और तीक्ष्णरी तामस । उनका वर्णन मुना । (३) है भारत ! सब लोगों की अद्वा अपने अपने सत्त्व के अनुकार भर्तुन् प्रहरि अयता क भग्नकार हासी है । मनुष्य अद्वामय है । जिनकी जीवी अद्वा रहती है वह बगा ही दाता है ।

[ दूसरे भाग मे तत्पर यह का अपदेहस्याव तुदि अयता अन्त वर्त ह क्षमनियद म सत्त्व एव इही अग मे भावा है ( कठ ६ ७ ) तार वदा तत्पर क शास्त्रमात्र म भी ‘रेतोवत् यज्ञ के लाल म तपोवा’ । यह का उत्तराग किया गया है ( पृष्ठ पाँच २ १२ ) । तात्पर यह है



आङ्कार वष्ट दर्पं कामं क्रोधं च संभिताः ।

मामात्परवहेषु प्रदिपन्ताऽन्यसूयका ॥ १८ ॥

तानहै द्विपतः कृतन संसारेषु न एषमान् ।

क्षिप्तास्यवज्ञमण्डुमानाहुरीव्येव योगिषु ॥ १९ ॥

आहुरी योगिमापद्मा महा जन्मनि जन्मनि ।

मामप्राप्यैव कौमतेय ततो यान्स्यमर्था मतिम् ॥ २० ॥

६५ त्रिविष्म नरकस्येवं द्वारं नाशनमात्मना ।

कामः क्रापस्तथा लोमस्तस्मादेतत्त्वयं स्यजेत् ॥ २१ ॥

पर्वीर्णिमुक्तः कौन्तय क्षमोद्गारेण्यमिर्णरः ।

आचरत्यात्मना भेदस्ततो याति पर्वं मतिम् ॥ २२ ॥

६६ य श्रव्यादिपिमुत्सूख्य वर्तते क्षमकारतः ।

न च लिङ्गिमवाप्नोति न सुल्लभं पर्वं गतिम् ॥ २३ ॥

( १८ ) भाष्टार से वष्ट से दर्प से काम से और क्रोध से पूछ कर अपनी और पराई देह से कर्त्त्वान मेरा ( परमेश्वर आ ) देय करनेवाले निरुद्ध, ( १९ ) भार भाश्यम कर्म करनेवाले ( इन ) देखी और कूर भषम नरो की मै ( इस ) संसार की आहुर अर्पण पापयानिवा मे ही उद्देश पाकरा हैं। ( २० ) हे भैरवेन ! ( इव प्रकार ) अन्य अन्य मे आहुरपोनि को ही पा कर ये मूर्त्त लेग गुणे किंता पावे ही अन्त में अस्पन्त अधोगति भो वा पर्वुपते हैं ।

[ आहुरी लेगा वा और उनको मिळेवाई गति का वर्णन हो तुम ।  
अब इससे कृष्णरा पाने की मुक्ति अस्तित्वे है । — ]

( २१ ) काम क्रोध और सोम ये तीन प्रकार के नरक के घर हैं । ऐ हमरा नाश कर दास्ते हैं । सखिये इन तीनों वा त्याग करने चाहिये । ( २२ ) हे कौन्तेय ! इन तीन उमोद्गारों से धूट कर मनुष्य वही आचरण करने अन्ता है किसी उषका क्षमाण हो और फिर उत्तम गति पा च्यता है ।

[ महर है, कि नरक के तीनों वरकारे धूट आने पर उड़ति मिलनी ही चाहिये । किन्तु यह नहीं अस्तित्वा कि कौन सा आचरण करने से पे धूट जौने है । अठ अब उषका मार्ग अस्तित्वे है । — ]

( २३ ) ये शास्त्रोल विधि छोड कर मनमाना करने चाहिया है । उठ न उमिरि मिल्ली है । न मुउ मिल्ला है; और न उषम गति ही मिल्ली है ।

यमने सात्त्विका देवान्यकरणासि राजसा ।  
प्रेतानु भूतमणाङ्गान्ये यजमते तामसा जगाः ॥ ४ ॥

१ कि दूसर क्रोड का 'स्वमाय यज्ञ और तीसर क्रोड का 'सत्त्व यज्ञ यहाँ शानो ही समझायें हैं। क्योंकि सात्त्व और देवान्य दोनों को ही यह लिङ्गान्त मान्य है कि स्वमाय का अर्थ प्रहृति है। 'ती प्रहृति से बुद्धि एव अनुशङ्खण उत्पन्न होते हैं। यो यज्ञद्वय स एव ता—यह तत्त्व देवताओं की मौका करनेवाले देवताओं को पाते हैं' प्रपत्ति पूर्ववर्णित सिद्धान्तों का ही सापारण अनुवात है (७ २—२३ १०-२६)। इष्ट विषय का विवेचन हमने गीतारहस्य के तेरहवें प्रश्नमें किया है (अतिरिक्त गीतार पृ ४१०—४१)। तथापि यह यह कहा कि हिमसी ऐसी बुद्धि हो उसे ऐसा कल मिळता है और ऐसी बुद्धि का होना या न होना प्रहृतिस्वभाव के अपीन है तब प्रभ होता है कि यह बुद्धि सुपर क्षमात्म उच्छी है। यह यह उच्छ है कि भास्या अनुवाद है अत तेह का यह स्वमाय क्षमाय अन्याय और देवान्य के द्वारा चीरे चीरे कठाय जा सकता है। यह यह का विवेचन गीतारहस्य के इसवें प्रश्नण में किया गया है (पृ २७१—२८१)। अग्नी तो यही देखता है कि भद्रा में मेरे क्यों और बेते होते हैं? इसी से कहा गया है कि प्रहृतिस्वभावानुलाल भद्रा काढ़ती है। अब यहाँ आत्मस्वते हैं कि यह प्रहृति भी यत्पर रब आर तम इन सीन गुणों से युक्त है तब प्रत्येक मनुष्य में भद्रा के भी विषय में जिन प्रसार उत्पन्न होते हैं। और उनके परिणाम क्या होते हैं?

(४) यह पुरुष सात्त्विक है—अपार् किनका स्वमाय राजगृह प्रब्रान है—यह क्षमाओं का यज्ञन करत है। यहाँ पुरुष यथा भीर राजसी का यज्ञन करते हैं। एवं न्तके अतिरिक्त ये तामस पुरुष हैं के प्रता और भूता का यज्ञन करते हैं।

[ "स प्रकार याम पर भद्रा राजनाथं मनुष्योऽस्मि सुन्द आति प्रहृति के गुणमेवा स तीन भेद होते हैं उनका भार उनके स्वरूपा का दणन दुम्भा। अत्र क्षमाते हैं कि याम पर भद्रा न राजनाथं कामपरायण भीर यात्मिक किम भृणी म भावत हैं। यह तो स्पष्ट है कि ये स्थेया यात्मिक नहीं हैं परन्तु ये निरो तामसी भी नहीं हैं तो क्षमाते। क्योंति यथापि "नम तम यात्मिकद्वय होते हैं तथापि "नम कर्म करन भी प्रहृति होती है भीर यह राजेश्वर का एवं है। तापाप यह है कि ऐस मनुष्योऽस्मि न यात्मिक करत तरह है न राजेश्वर। और न तामस भननेवा ही भीर भासुरी नामङ्ग ता द्वारा है ज्ञा कर उन गुण पुरुषों का भासुरी क्रान्ति म तनाव्य किया जाता है। यही भय लगता । कोई परम प्रसर किया गया है ]

सप्तवर्षोऽन्याय ।

अर्जुन उत्थाप ।

ये शास्त्रविधिमत्स्वरूप्य पञ्चन्ते अद्यान्विताः ।

तेपी लिधा तु का कृष्ण सत्यमाद्वो रजस्तमः ॥ १ ॥

श्रीमद्भागवत्

अधिकारी भवति भक्ता पैदिलौ सा स्वभावजा ।

सास्यकी एजस्टी ऐव तामसी खेति ताँ श्राव । २

चत्तारस्या वर्षस्य भजा अवति भास्तु ।

अन्नामपोऽर्यं पूज्यो यो यच्छ्रुतः स पश्च सः ॥ ३ ॥

अर्जुन ने कहा - (१) हे हृषि ! तो अग्र अद्वा से मुक्त होकर शास्त्र-  
निर्विघ्न किमि को छोड़ करके प्रवत्तन करते हैं उनकी निष्ठा अचांक्ष (मन की) स्थिरी  
कीसी है - सामृद्धि है या राक्षस है या हामल है ?

[पित्ते अप्पाय के अन्त में भी यह कहा था कि शास्त्र की विधि का अपेक्षा नियमों का पालन अवश्य करना चाहिये उसी पर अकुल ने यह शिखा दी है। शास्त्र पर अद्वा रास्त हुए भी मनुष्य अद्वय से गूँह कर बैठता है। उद्गाहरणात् शास्त्रविधि यह है कि सर्वस्यापी परमेश्वर का भवनपृथग् करना चाहिये परन्तु वह "से स्थान एव देवताभा की पुन में स्था जाता है (गीता २३)। अतः अकुल का प्रभ है कि ऐसे पुरुष की निष्ठा अर्पात् अवश्या अवना स्थिति कीनसी समझी जाय। यह प्रभ उन आमुरी लोगों के विद्य में नहीं है कि अशास्य का भार घम का अभद्रायर्वद तिरस्कार किया करते हैं। लो मैं इन भप्पाय में प्रवद्धानयार उनके कमों के पूर्ण का मी घन विषा गपा है।]

भीमरावान ने कहा कि - (२) प्राणिमात्र की भड़ा अमावस्या तीन प्रणाली की हासी है एक कारिक, दूसरी राज्य और तीसरी दामन। उनका धर्म युना। (३) है भारत। तब सोनी की भड़ा अपने अपने लक्ष्य के भनुलार भवार्तु प्रहरि स्थाप ए भनुलार हासी है। मनुष्य भड़ामष्ट है। गिरफ्ती तेजी भड़ा रहती है एवं बना ही हासा है।

(दूसरे ५२ व म सम्म यह इति अपि रहस्यमात्र बुद्धि भवता भवती  
कर्त्तव्य ह उत्तिष्ठत म त य ग इ रहा भग में भासा है (कठ ५ ७)।  
इति वाचानस्मृत क शास्त्रशास्त्रीय म भी 'धृष्णु विद्म यह क भवान में न पर्याप्त  
ह क उत्तिष्ठत दिया रखा है (व नू यो भा १ २ ५ १२)। तात्पर यह है

तस्माच्छास्त्रे प्रमाणं तं कार्याकार्यम्यवस्थित्वां ।

शास्त्रा शास्त्रविद्यानोर्मं कर्मं पर्तुमिहार्षसि ॥ २४ ॥

नवि भीमद्वावद्वीतामु उपनिषद्भु नामविद्यायां योगशास्त्र श्रीहृष्णाङ्गुष्ठवारे  
देवामुरसम्प्रदिभ्युगयोगो नामं पोष्णोऽध्यायः ॥ १६ ॥

( २५ ) “सुलिये काय-भक्तायम्यवस्थिति का अपात् क्तम्य आर अक्तम्य ए निणय  
करने के लिये तुसे शास्त्रा को प्रमाण मानना चाहिये । और शास्त्रा म जो कुछ कहा  
है उसको समझ कर तत्त्वनुसार इस लोक म कम करना तुमे उदित है ।

[ “स लोक के कायाकार्यविद्वि पर से सद्ग होता है कि कठम्भगाम्य  
की अर्थात् नीतिशास्त्र की व्यापना को दृष्टि के आगे रख कर गीता ए उपनिषद्  
किया गया है । गीठारत्स्य (प्र २ ष ४१-२) म सद्ग कर विष्वल्प किया  
है, कि दर्शी को कर्मयोगशास्त्र वहते हैं । ]

इस प्रकार श्रीमात्मान् के गाये हुए – अपात् कहे हुए – उपनिषद् म शास्त्र  
विद्यान्वर्गत योग – अर्थात् कर्मयोग – शास्त्रविषयक श्रीहृष्ण और उद्गुन के सकार  
में देवामुरसम्प्रदिभ्युगयोग नामक सोलहवीं अध्याय लमास तुम्हा ।

## सत्रहवाँ अध्याय

[ यहा तक “स यत् का वर्णन हुआ मि कर्मयोगशास्त्रे अनुसार सचार का  
पारपोषण करनेवाले पुरुष किम प्रकार हैं होते हैं ? और सचार का नाश करनेवाले  
मनुष्य कित देंगे हैं होते हैं ? भव यह प्रभ सहज ही होता है मि मनुष्य से उन्ह  
प्रकार के में होते स्थी हैं ? ” स यह प्रस का उत्तर यातन अध्याय के प्रहृत्या नियताः  
स्वया यह में किया गया है लिखन अथ यह है कि यह प्रत्येक मनुष्य का  
प्रहृतिसम्बन्ध है ( ७ २ ) । परन्तु वहों “स प्रहृतिसम्बन्ध में की उपपत्ति का  
विलारपूरक वर्णन भी न हो सका । ” यह यही कारण है जो बीद्व अध्याय में  
कियुणों का विवेचन किया गया है भार भव “स अध्याय में वर्णन किया गया है  
कि कियुणों के उत्पन्न हुनेवाली भद्र भावि के स्वप्नाक्षेत्र क्षयाकर होते हैं । और  
विर उसी अध्याय में शानविश्वान का सम्पूर्ण निष्पत्ति समाप्त किया गया है । ” सी  
प्रकार नीड अध्याय में भवित्वाग के भी अनेक में उत्पाद गये हैं जने कारण  
मी इस अध्याय की उपपत्ति से समर में आ जात है ( ऐसी २ ३ ४ ) ।  
पहले भवन यों पूज्या है कि – ]

६६ अद्वाक्षविहितं ओरं दत्प्यन्ते ये तपो ज्ञाः ।

क्षमार्हकारसंसुक्तः क्षमरणगुणाभिताः ॥ ५ ॥

कर्मयन्त शारीरस्य पूत्याममचेतसः ।

मी चैवान्तशारीरस्य तामु विद्धपादुरविद्ययाम ॥ ६ ॥

६७ आहारस्वपि सर्वस्य विदितो भवति प्रिय ।

पाहस्तपस्तथा वान् तपो भेदमिम शूषु ॥ ७ ॥

आपुत्त्वक्षकारोम्यसुक्षीतिविद्यर्थना ।

रस्या विग्राहः स्तियुद्धा आहारा सात्त्विकमिया ॥ ८ ॥

कटुकमहत्त्वात्पात्युच्चरीक्षक्षविद्यादिमा ।

आहारा रजस्त्वपेत्रा दुःखादोकामयप्रदा ॥ ९ ॥

( ६ ) परन्तु जो लोग उम्म और भाहार से मुक्त होकर काम पर्याप्ति के अंत पर शास्त्र के विस्तर ओर तप किया करते हैं ( १ ) तथा ये ऐसे न शरीर के पश्चमहाभूतों के समूह की ही, बरन् शरीर के अन्तर्गत रहनेवाले मुलाहों भी कष्ट हैं उन्हें अविदेशी आसुरी तुष्टि के बानो ।

[ इए प्रकार अर्कुन के प्रभों के उत्तर हुए । इन भोक्तों का मानार्थ यह है कि मनुष्य की भद्रा उक्ते प्रहृतिस्तमादाकुशार लाभिक राबस अवश्य तपस्य होती है और उसके अनुसार उक्ते कर्मों में अस्तर होता है । तथा उन कर्मों के अनुरूप ही उसे पृष्ठद् पृष्ठ गति प्राप्त होती है । परन्तु ऐसा इतने से ही कोई आसुरी कष्टा में छेड़ नहीं किया जाता । अपनी स्वाधीनता का उपयोग कर और शास्त्राकुशार भावरथ करके प्रहृतिस्तमाद को बीरे बीरे मुक्तारे चन्ना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है हीं जो देखा नहीं करते और तुष्ट प्रहृतिस्तमाद का ही अभिमान राप कर शास्त्र के विस्तर भावरात्र करते हैं उन्ह आसुरी तुष्टि के रहना चाहिये । पह इन शोकों का भयानक है । अब पह उन्हें किसा जाता है कि भद्रा के समान ही आहार यज्ञ, तप और धान के उत्तर – उत्तर तमस्य प्रहृति के गुण से मिश्र निष्ठ भेद नहीं हैं । एव न भेदों से स्वमान भी विचित्रता के लाय ही लाय किया की विचित्रता भी कर्म उत्पन्न होती है । ]

( ७ ) प्रत्येक की विधि का आहार भी तीन प्रकार का होता है । और वही हाम यज्ञ तप एव धान का भी है । मुनो उनका भेद बहुमात्रा है । ( ८ ) आख, मार्त्र यज्ञ तप लालाम्य साप और दीनि भी तुष्टि करनेवाले रहीहैं मिश्र शरीर में इव विरकार तर रहनेवाल भार मन की आनन्दशाब्द आहार तभीर मनुष्य का प्रिय होते हैं । ( ९ ) कर भपात् वरपते, नष्ट गोरे, भलुप्प

यजन्ते सात्त्विका देवान्प्राणांति परासा ।

प्रेतान् भूतगणांविष्णुं यजन्ते तामसा जना ॥ ४४ ॥

{ हि दूसर क्रमेक का 'स्वमाव शम भीर तीसर क्रमेक का 'सत्त्व धम यहाँ होनों ही समानाभक्त हैं। क्योंकि साम्य और देवता दोनों को ही पह विद्वान्त मान्य है कि स्वमाव का भव प्रहृति है। इसी प्रहृति से बुद्धि एव भन्ताकरण द्वयम् होते हैं। यो पश्चाद्दण्ड स एव त्वं ३ — यह सत्त्व देवताभ्यों की मणि करनेवाले देवताभों को पाते हैं १ प्रहृति पूर्वार्थित चिह्नान्तों का ही लापारण अनुबाद है (३२—२३ ९.२६)। एव विद्यम का विवेचन इमने गीतारहस्य के टेरहवें प्रकरण में किया है (ऐसिये गीतार पृ. ४३६—४३)। तथापि अब यह कहा कि इसी भैली बुद्धि ही उसे देखा फल मिलता है और देवी बुद्धि का होना या न होना प्रहृतिस्वमाव के अभीन है उब प्रभ होता है कि फिर वह बुद्धि गुप्त द्वाकर सक्ती है! एका यह उत्तर है कि भास्त्वा स्वरूप है भर्ता इष्य यह स्वमाव कमण अन्याए भीर क्षित्य के द्वारा भीरे भीरे कहा जा सकता है। एव यह का विवेचन गीतारहस्य के इनवें प्रकरण में किया गया है (४.५३—२८१)। अभी ही यही देखता है कि भद्रा मेरा क्षणों और देखे होते हैं इसी से कहा यापा है कि प्रहृतिस्वमावानुग्राह भद्रा बहुतमी है। अब कल्पते हैं कि यह प्रहृति मी सत्त्व रब भीर तम इन सीन गुणों से उक्त है तब प्रत्येक मनुष्य में भद्रा के मी विषा भेद विष प्रशार उत्पम होते हैं। आर उनक परिणाम क्या होते हैं?

(४) युद्ध कालिक है — भयान् द्विका स्वमाव सम्बन्ध प्रशान है — य राजा का पद्धन वर्तन ह राम्य युद्ध यज्ञ और रामायी का पद्धन वर्त है। एव इसके अनिरिक्ष ये तामस पुरुष हैं व यां भार भूता का पद्धन करत है।

[ इन प्रशार राम्य पर भद्रा राम्यार्थे पद्माया ४ भी तत्त्व भाइ प्रहृति के ग्रन्थमय भ ग तीन भड होते ह अत्रा भर राम्य का राम्य तुक्षा । अन अन्तन है कि शार्द वर भद्रा न राम्यार्थ कामरावन भीर गीर्वित । तिन भागा म जात ह यह सा सर्व है कि देव शार्द तारित नहीं है परन्तु व फिर तामन भी नहीं बह जा सकत । क्य ते विद्यति इम्य ५म राम्यविश्व । होते ह तथापि नम कम वर्तन भे प्रहृति हानी है भर दह राम्या का एम ह राम्य पह ह मिद्य मनुष्या का न तानित वर वर्त ह न ग्रहन भर न तामस राम्य दी भर भासी राम्य ८ वर्त ह न्ना वर उन तुष्प ५—९ राम्य राम्य म भार्या । राम रामा ह यही भय भर । ५-६०८८ म राम्य विषा गम्य ८ । ]

६६ देवद्विजसुरुपाहपूजने शाश्वतार्थ्यम् ।

ब्रह्मचर्यमहिसा च शारीरं तप उच्चते ॥ १४ ॥

अनुदेहरं वास्तवं सत्यं प्रियहिति च यत् ।

स्वाम्भावायासर्वं ऐव वाहृत्यं तप उच्चते ॥ १५ ॥

मनःप्रसादः सौम्यता मौनमात्मविनिपत्तः ।

मात्रसंशुद्धिरित्येतत्त्वयो भास्तस्मुच्चर्ते ॥ १६ ॥

६७ अद्यया परता तसं तपस्तत्त्विविषं नैते ।

अकलाकाङ्क्षिभिर्गुरैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥

| मै सत्य रख और उम गुणों से जो लिपिता होती है उसका वर्णन किया है । पहाँ पर तप शब्द से पह सहृदयित अथ विवित नहीं है कि बहुत मैं या कर पातक्षयोग के अनुसार शारीर की कष्ट दिया करे । मिन्दु मनु का किया हुआ तप शब्द का पह व्यापक अर्थ ही गीता के निम्नवित्त स्वेच्छा म अभिवेद है कि शनपात्र आदि अम, वैदार्थ्ययन अथवा चातुर्वर्ष के अनुसार विवक्षा थे कर्त्तव्य हो - ऐसे दृष्टिय कर्त्तव्य युद्ध करना है और ऐस्य का व्यापार इत्यादि - वही उच्चा तप है (मनु. ११ २१६) । ]

(१४) देवदा ब्राह्मण गुरु और शिष्यों की पूज्य शुद्धता सरलता ब्रह्मचर्य और अहिसा को शारीर अर्थात् क्षयिक तप कहते हैं : (१५) (मन घे) देवदा न करनेवाले उत्तम प्रिय और हितकारक उम्मादप्त तो उक्ता खाप्यात्र अर्थात् अपने वर्म के अम्बास थे वास्तव (वाचिक) तप कहते हैं । (१६) मन घे प्रत्यक्ष रखना सौम्यता मौन अर्थात् मुनियों के उमान हृषि रखना मनोनिपत्त और शुद्ध व्यक्ता - इनको मानस तप कहते हैं ।

[ अब पढ़ता है कि पम्भवे भ्रमेक मैं सत्य प्रिय और हित तीनी शब्द मनु के इत्य वचन की तस्वीर कहे गये हैं :- सत्य शूपात् प्रिय हृष्यात् शूपात् उत्तमप्रियम् । यिन्हें प नामते हृष्यात् शूपात् भर्म सनात्नः ॥' (मनु- ४ ११८) - यह उनाठन अम है कि तप और भ्रम (घो) देवदा चाहिये ; परम्परा अप्रिय तप न देवदा चाहिये । उत्तमि महामारत मैं ही वित्तु ने शुद्धोभन ले पहा है अप्रियस्त च पर्यस्त उक्ता भोता च दुर्लभ (देवदा तप्य १३ १७) । अब कायिक वाचिक और मानविक उपों के थे भैर विर भी होते हैं के दो हैं :- ]

(१७) इन तीनी प्रकार के उपों को यहि मनुष्य पर्य की आवाजा न रख कर उत्तम भड़ा मैं उप्य योगयुग बुद्धि से करे तो वे वाचिक कहलाते हैं ।

यातयाम मत्वरसं पूर्णि पूर्णिकिं च यत् ।

उच्छित्तुहमपि चामेच्यं भोजनं तामसमित्यम् ॥ १० ॥

इ ६ अफलाक्ष्यसिभिर्यजो विद्विष्टुते ।

यद्यप्यमेवेति मनः समाप्ताय स सात्त्विकः ॥ ११ ॥

अभिसन्धाय तृ फलं चम्मार्घमति चैव यत् ।

इत्यतः भरतभेष्ट तं यह विद्वि राजसम् ॥ १२ ॥

विद्विहीनमसुष्टापां भव्याहीनमवित्यम् ।

अद्याविरहितं यह तामसं परिष्कृते ॥ १३ ॥

सीखे, क्लेश, शहस्रारु तथा तुर्प शोक और रोग उपकानेवाले भावार राक्षस मनुष्य को प्रिय होते हैं।

[ उक्त शब्द का अर्थ चरपरा और तिक का अर्थ कदुका होता है। इसी के अनुसार उक्त के ऐक प्राची में काढ़ी मिरची कदु तथा नीबू तिक एवं शही मूँह है ( श्लो वाग्मट शूद अ १ )। हिन्दी के कदुए और तीखे याम् अनुवार कदु और तिक शब्दों के ही अपभ्रंश हैं ]

( १ ) तुष्ट शाल रख्य तुझा अर्पात् ठण्डा नीरसु तुर्गन्तिर बाता चड़ा तथा अपविष्ट मोक्ष तामसु पुरप को रखता है।

[ शालिक मनुष्य को सात्त्विक, राक्षस को राक्षस तथा तामस को तामस मोक्ष प्रिय होता है। इनना ही नहीं यदि भावार तुष्ट अर्पात् सात्त्विक हो तो मनुष्य की हृति मी कम तम से तुष्ट या सात्त्विक हो सकती है। उपनिषदों में इहा है कि भावारतुष्टो उच्चाद्यादिः ( शा ७ २६ २ )। शर्वोऽपि मन तुमि प्रहृति के विभाव है। इसलिये यहीं सात्त्विक भावार तुमा वहीं तुष्टि मी भाव ही-भाव तात्त्विक का बताती है। ये भावार के भेद तुष्ट। इनी प्रकार भव वह के तीन भेद का मी बर्जन करते हैं - ]

( ११ ) परमाणु की आकाशा छोड़ कर अपना कदम्य समस्त करके शाल की विधि के अनुसार, शास्त्र वित्त से लें यह किया जाता है। यह सात्त्विक पद है। ( १२ ) परन्तु दो मरतभेष्ट। उसको राक्षस यह समझो कि ये फल दी इच्छा से अपवा दम्प के हेतु अपात् ऐक्षय उत्पन्नने के लिये किया जाता है। ( १३ ) याम्-विधिरहित, भवद्वानविहीन किना मन्त्रो का निना उक्तिजा का और भद्रा के शर्य पहल तामस यह कहता है।

[ भावार और यह के समान तप के मी तीन में है। पहले, तप के कार्यिक, सात्त्विक और मात्रात्तिक ये भेद लिये हैं। जिर इन तीनों में दो प्रलेन

६६ उत्तरसिद्धिं मिठेशो द्वाष्टाषष्ठिविष्टं सहस्रः ।

द्वाष्टाषष्ठासुल वेदाच्य यज्ञाच्य विद्विताः पुरा ॥ २५ ॥

६६ तस्माषोमित्युक्ताहस्य यात्रामत्तपक्षियाः ।

प्रवर्तन्ते विद्वानोक्ताः स्त्रांते द्वाष्टाषष्ठिनाम् ॥ २५ ॥

उच्चर है कि कर्म के साक्षिक, राजस और तामस में परज्ञ ऐ भक्त्या नहीं हैं। इस उत्तरस्य में द्वाष्टा का निर्देश किया गया है उक्ती में साक्षिक कर्म का और सल्लमों का समावेश होता है। इससे निर्विकार उद्देश है कि वे कर्म अप्यात्मकादि से भी स्थान नहीं है (देखो गीतार. प्र १ पृ २४७)। परज्ञ के स्वरूप का मनुष्य को वा कुछ जीव तुम्हा है वह सब कृत्यात् इन तीन शब्दों के निर्देश में प्रयित है। अनम से अंत भक्त द्वाष्ट है; और उपनिषदों में इसका भिन्न भिन्न अध्य किया है (प्रभ ५ कठ २ १६-१७ ते १८ अ ११ मैत्र ६ ३ ४ मोड़क्य १-१२)। और अब वह वर्षाष्टारुदी द्वाष्ट ही यात्रा के आरम्भ में वा तथा सब क्रियाओं का आरम्भ वही है होता है। 'तत् ॥ वह' शब्द का अध्य है सामान्य कर्म से वेरे का कर्म—अवर्त्तन निष्कामयुद्धि से प्रस्थाना छोड़ कर किया तुम्हा साक्षिक कर्म और 'तत्' का अध्य वह कर्म है कि वह पश्चपि छाष्टाषष्ठित हो दो मी शास्त्रानुलार किया गया हो और युद्ध हो। अध्य के अनुसार निष्कामयुद्धि से किये हुए सत् कर्म का भी परज्ञ के तामान्य आर सक्षमान्य उत्तरस्य में समावेश होता है; अतएव इन कर्मों को स्थान्य कहना अनुचित है। अन्त में 'तत्' और 'तत्' कर्मों के अतिरिक्त एक अत्यत् अवर्त्तन तुष्ट कर रहा। परन्तु वह तीनों स्त्रेषु में गम्य माना गया है। इस वारण अन्तिम काल में सूचित किया है कि उत्तर कर्म का इन उत्तरस्य में समावेश नहीं होता। भगवान् कहते हैं कि :- ]

(२१) (शास्त्र में) परज्ञ का निर्देश उत्तरस्त् यो तीन प्रारंभे विद्वा गता ह । उथी निर्देश से पृथक्यात् में द्वाष्टाष्ठा वेरे और यह निर्मित हुए हैं।

[ पहले कह भाष्य ६ कि सम्मुख भारत्यमें द्वाष्टाषष्ठी पहला द्वाष्टाष्ठा वा भीर पहल उत्तरम् हुए (गीता ३ १ )। परन्तु य तत्र निष्पत्ति परज्ञ से उत्तरम् हुए ६ उत्तर परज्ञ का स्वरूप अंतस्त् तत् तीन शब्दों में है। अतएव इन कर्म का यह भावाच्य है कि अंतस्त् तत् तत् ही तीरी त्रिधि का भूमि है भव इन तत्त्वों के तीनों पर्याय का कर्मयोग की उद्दिष्टि ते पृथक् निष्पत्ति किया जाता है :- ]

(२२) तत्त्वात् भवान् गता का आरम्भ इन स्थान्य में तुम्हा है इन वारण

सत्रारमानपूर्जार्थं तपो इमेन चेष्ट यत् ।  
कियत तविष्ट प्राप्तं राजसं चष्टमधुवस्त ॥ १८ ॥  
मद्विष्णास्मनो यतीक्षया कियत तपः ।  
परस्योत्साक्षार्थं वा तत्सामसमुदाटतम् ॥ १९ ॥

इह शातव्यमिति यद्वार्णं वीयतज्ञुपकारिण ।  
क्षणं च पात्रं च तद्वार्णं सास्त्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥  
यत्तु प्रस्तुपक्षरार्थं फलसमुद्दिष्य धा पुनः ।  
वीयत च परिक्लिण्डं तद्वार्णं राजसं स्मृतम् ॥ २१ ॥  
अद्वाक्षाहं पद्मानमपादेव्यथं वीयते ।  
असत्कृतमवक्षार्तं तत्सामसमुदाटतम् ॥ २२ ॥

(१८) गे तर (भपने) मानव मान या पुण के विष भयवा दग्ध से दिया जाता है वह चतुर्थ भीर भरिवर तर शास्त्री में राज्य कहा जाता है। (१९) मृत भाग्यद से स्वर्य वह उठा वर भयवा (शरण मारण भाँडी के हारा) रूपी है। तपने के हेतु से दिया दुभा तर के तामन बहुआता है।

[ ये तप भेद दुष्ट भव दान के विविध भेद दालात ६ - ]

(२०) वह दान कार्तिक बहुआता है, जि जा कनापुड़ि से दिया जाता है वा (योग्य) स्पन्दकास भीर पात्र का दिचार वरह दिया जाता है एवं जा भपने ऊर ग्रन्तुरकार न वरनकास वा दिया जाता है। (२१) परम्पु (विष दुष्ट) द्वारा व दाय मैं भपवा किंची एवं वी भाग्य रा वी बठिनार से जा गान दिया जात व ए राज्य दान है। (२२) नयोग्य स्थान मैं भपीय वास म भपवा भनुय वा जिन तरहर के भपवा भपद्वन्नादूर गे दग्ध दिया जाता है वह तामन दान बहुआता है।

[ भाग्यर वह तर भीर दान के तामन ही दग्ध वम वका दुष्टि पूर्णि भैर दुर्ग वी विविधा वा दान भालू भायाय मैं दिया रखा है (२३) १८ ०-१ ) इन भायाय वा दुर्ग वालू विवरण यही ज्ञात हो। पुण। भद्र वर्ष्णेय व भाग्यर वह उष्ट लारि वम वी भद्रा भार लालाजा दुष्टि वी दायी वयोर्वे उरपुर लग्नाव विवरण वर तामग्यदा वह दृढ़ा हा ज्ञाती है। वि वम लारिद हो वा राज्य वा तामन वेळा भैर वयो न हा। हे ला दृढ़ दृढ़ वारह भीर देव्यप ही इन वारह तर वको वर राज्य विष जिन दृढ़ाविन ही ज्ञाती भैर वह दृढ़ वाय रे ला विर वक्ष वे ला वर दान भैर व्य वारेने ज्ञाय ही वका ही इन दृढ़ वर दृढ़ वा वर

[ तात्पर्य यह है, कि ब्रह्मत्वरूप के बोधक इस सम्मान्य सुदृश में ही निष्कामकुर्दि से अपवा कर्तव्य समझ कर किये हुए शास्त्रिक कर्म का - और धार्मानुषार उद्गुर्दि से किये हुए प्रशस्त कर्म अपवा सत्त्वम् का - समावेष होता है। अत्य तब कम नहीं है। उससे लिद होता है कि उत्त कर्म को छोड़ द्वे का उपरोक्त करना उचित नहीं है कि किस कर्म का ब्रह्मनिर्देश म ही समावेष होता है और जो ब्रह्मत्वरूप के साथ ही उत्पन्न हुआ है (गीता १ १) - तब जो सिद्धि से छूट मी नहीं सकता। ॐ सत्त्वत्' इसी ब्रह्मनिर्देश के उत्त कर्मयोगप्रवान भर्त्य को इसी अध्यात्म में कर्मकिमाग के साथ ही उत्पन्नने का हेतु भी यही है। क्योंकि केवल ब्रह्मत्वरूप का बणन तो ऐहरवे अध्यात्म में भी उपरोक्त पहुँचे भी हो जाता है। गीतारहस्य के नींवें प्रकरण के अन्त (पृ २५) म उठत्त तुम्हें है कि ॐ सत्त्वत् पद का अपार्थी अर्थ क्या होना चाहिये? भास्त्व 'सुक्षिणनन्त वद से ब्रह्मनिर्देश करने की प्रथा है। परम्परा उत्तरा स्वीकार न करके यहाँ तब उत्त ॐ-उत्त्वत् ब्रह्मनिर्देश कर ही उपरोग किया गया है तब उससे यह अनुमान निकल सकता है कि 'सुक्षिणनन्त वद्वप्ती ब्रह्मनिर्देश गीता प्रत्य के निर्मित हो जुकने पर साधारण ब्रह्मनिर्देश के रूप से प्राप्तः प्रवर्णित हुआ हीग। ]

“उच प्रकार भीमावान् के गाये हुए - अथात् कहे हुए - उपनिषद् में ब्रह्मविद्यान्तरगत धोग - अर्थात् कर्मयोग - धार्मविषयक भीकृष्ण और भर्तुं ने उत्तर में अद्वात्मविभागयोग नामक सत्त्वाओं अध्यात्म समाप्त हुआ।

## अठारहवाँ अध्याय ।

[ अठारहवाँ अध्याय पूरे गीतारहस्य का उपसंहार है। अतः पहाँ उक्त विवेचन हुआ है उत्तरा इस इत्य स्तोत्र में उल्लेप से तिराक्ष्येकन करते हैं (अधिक विज्ञार गीतारहस्य के १४ वे प्रकरण में वर्णिये) पहाँ अध्यात्म से स्पृह होता है, कि स्वपर्म के अनुषार भ्रातुर् हुए पुरुष को छोड़ भीक्ष मोऽग्ने पर उत्तरार्ह होनेवाले भर्तुं को अपने कर्तव्य में प्राप्त करने के लिये गीता का उपरोक्त किया गया है। भर्तुं को यहाँ भी कि गुरुहस्ता भावि तरीके इस से भारतवृहस्त्याप कभी न होता। अठारेष भारतवानी पुरुषों के लौहर किये हुए आयु विताने के हो प्रकार के मार्गो का - वास्त्व (सम्याप) मार्ग का और कर्मयोग (धोग) मार्ग का - वर्णन हुए अध्यात्म के भारतम् में ही किया यता है। और अन्त में यह लिङ्गान्त किया यता है कि यज्ञपि ये दोनों ही मोक्ष होते हैं तथापि इनमें से कर्मयोग ही अधिक अद्वात्म है (गीता ५ २)। फिर तीसरे अध्यात्म से खेत्र पौर्वमें अध्यात्म का इन-

तदित्यनभिसम्भाय फलं चक्रतपकित्याः ।  
वामकियाच्च विदिषा कित्यन्त मोक्षकांकिति ॥ २५ ॥

सद्गुर्वे साधुभावे च तदित्येतत्प्रमुच्यते ।  
प्राप्ते कर्मणि तथा सच्छब्दं पाप्य गुञ्जते ॥ २६ ॥

यहो तपसि शाने च स्थिति सदिति आच्यते ।  
कर्म वैव तप्याच्च सदित्येवामिर्वीयते ॥ २७ ॥

इ ५ अमद्या तुते इत्ते तपस्तात् तृतीये च यह ।  
असक्षिप्यते पार्य न च तत्वत्य नो इह ॥ २८ ॥

“ति भीमकर्मवीराणु उपनिषद्गुरु वसित्राया योगशाच्च भीमपात्रुनुभवे  
अद्वानपविमागयोगो नाम सत्त्वाद्योऽभ्यायः ॥ २९ ॥

त्रिवर्णी शर्णों के यह “न तप तथा अस्य शास्त्रोऽस्मि इस सम और के उच्चार  
के साथ इआ करते हैं ( २८ ) ‘यह’ शब्द के उच्चारण से पहल का भाषा न रह जर  
मोखार्थी लेगा यह, दान तप मात्र अनेक प्रकार की क्रियाएँ किया करते हैं । ( २९ )  
अलित्व भीर साधुता अपात् अपात् के अथ में सद् शब्द का उपयोग किया जाता  
है । और ह पाप ! इसी प्रकार प्रपत्त अपात् अपात् कर्मों के द्वितीये भी ‘सद्’ शब्द  
प्रयुक्त होता है । ( २० ) यह, तप भीर दान में स्थिति अपात् स्थिर मानना रम्भे  
का यी ‘सद्’ कहते हैं तथा इनके निमित्त ये कर्म करना हा उस कर्म का नाम भी  
‘सद्’ ही है ।

[ यह तप भीर दान मुख्य भाविक कर्म है तथा इनके निमित्त ये कर्म  
किया जाता है उसी के सीमावक्त लोग तामान्यता परापर कर्म कहते हैं । इन  
कर्मों का एरें तमव यरि कष की भाषा हो तो मी पह कर्म के अनुकूल रहती  
है । इस कारण ये कर्म ‘सद् भर्ती दें गिन जाते हैं । भीर सब निष्काम कर्म दान्  
( = पह अपात् पर की ) ऐरी मै इन्हें जात हैं । प्रन्येन कर्म के भारम्भ में जो  
पह उत्तम् व्रद्धसङ्गम्य कहा जाता है उसम् इत प्रकार से शेनी प्रकार  
के कर्मों का नमाख्य होता है । न तोना कर्मों का व्रद्धानुकूल ही तमस्ना पाहिये ।  
जगा गीतारहस्य प्र इ २८ । अप अपात् कर्म क विद्य में कहत है - ]

( ८ ) अभद्रा स या इन किया हो ( दान ) किया हो तप किया हो या  
गे कुछ ( कर्म ) किया हो पह अपात् कहा जाता है । ह पाप ! पह ( कर्म ) न  
मने पर ( पराम् मै ) भीर न तु लाल में दिवसारी होता है ।

## अष्टादशोऽध्याय ।

अर्जुन उवाच ।

सन्वासस्य महाबाहो तत्त्वमिष्टानि वेदितुम् ।  
त्यागस्य च दृपीकेश पूर्थकेशिनिष्टुम् ॥ ३ ॥

करनबासा मनुष्य नित्य सन्ध्यार्थी है (गीता ५ ३)। अठषष अर्जुन यह प्रभ है कि चतुर्थ भागमहपी सन्वास के कर किसी समय सब कर्मों को सचमुच त्याग देने का तत्त्व इस कर्मदोगमार्ग में है या नहीं। और नहीं है कि 'सन्वास' एवं 'त्याग' शब्दों का अर्थ स्था है। [ऐसो गीतारहस्य प्र ११ पृ १४८-१५१।]

अर्जुन ने कहा:- (१) हे महाबाहु, दृपीकेश! मैं सन्वास का तत्त्व और वेदितैत्य निष्टुम्! त्याग का तत्त्व दृष्ट्वा पुण्य अनना चाहता हूँ।

[ संस्यास और त्याग शब्दों के उन लघों अवश्य मेरी को मानने के लिये यह प्रभ नहीं किया गया है कि ये द्वेषशब्दों ने किये हैं। यह न उमसना आदिये कि अर्जुन यह भी न अनदा या कि दीनों का धात्यर्थ 'छोड़ना' है। परन्तु यह यह है कि मगवान् कर्म छोड़ देने की आश भी भी नहीं देते; वहिं जौये पौरवे अवश्य छठते अप्याय (४ ४१ ५ १३ ६ १) मैं या अन्वत् चहौं कहीं सन्वास का वर्णन है वहौं उन्होंने यही कहा है कि देवता चल्याता यह 'त्याग' करके (गीता १२ ११) सब कर्मों का 'सन्वास' करो— भर्त्याद् तत्त्व कर्म परमेश्वर को समर्पण करो (१ ३ १२ ६)। और उपनिषदों में हैं, तो कर्मत्यागप्रथान सन्वासवर्त के वर्णन पाय जाते हैं कि न कर्मजा न प्रवश्या भनेन त्यगेनैके वसुवत्त्वमातुष्य (कृ. १ ८ नारायण १२ ३)। सब कर्मों का स्वरूपटा 'त्याग' करने से ही कई एकों ने भाव प्राप्त किया है अवश्य वेदान्त विद्वान्पुनिमित्तार्थी उन्वायोगायत्रप द्विदत्त्वा (मुण्डक ३ २ १)। कर्मत्यागकर्मी 'सन्वास योग से द्विद होनेवाले' 'यति या कि प्रवश्या करिष्यामः' (३ ४ ४ २२)। हमें पुण्यीत व्यादि प्रवश्य से क्वा क्षम है! अठषष अर्जुन न समझा कि भगवान् स्मृतिप्रन्थों में प्रतिपादित चार आश्रमों में से कर्मत्यागार्थी सन्वास आश्रम के लिये त्याग और 'सन्वास शब्दों का उपयोग नहीं करये। किन्तु वे और किसी अर्थ में उन शब्दों का उपयोग करते हैं। इसी से अर्जुन ने जाहा कि उच्च अर्थ का पूर्ण स्पर्शकरण हो चक्ष्य। इसी हेतु से उन्होंने उच्च प्रभ किया है। गीतारहस्य के स्पारद्वं प्रकरण (४ १४८-१५१) में इस विषय का विचारपूर्वक विवेचन किया गया है। ]

मुक्तियों का बर्णन है, कि क्षमयोग म बुद्धि भेद समस्ती जाती है। बुद्धि के सिर और उम होने से क्षम भी जागा नहीं होती। क्षम किसी से भी नहीं चूटे तथा उन्हें छोड़ देना भी किसी उपरित नहीं। केवल फूलाशा को त्याग देना ही जाती है। अपने सिये न सही तो भी स्वेक्षणम्‌ह के हेतु क्षम करना आवश्यक है। बुद्धि अच्छी हो तो शान और क्षम के बीच विरोध नहीं होता। तथा पृष्ठपरम्परा देखी जाय तो इस होगा कि बलक भाड़ि ने इसी मात्रा का आचरण किया है। अनन्तर इस जात का विवेचन किया है कि क्षमयोग की सिद्धि के लिये बुद्धि भी भिन्न समता की आवश्यकता होती है उसे ऐसे प्राप्त करना चाहिये। और इस क्षमयोग का आचरण करते हुए अन्त म रसी के द्वारा मोझ ऐसे प्राप्त होता है। बुद्धि भी इस समता का प्राप्त करने के लिये निश्चियों का निश्चय करके पूछतया यह बल क्या आवश्यक है कि एक ही परमेश्वर एवं प्राणियों में भरा हुआ है – इसके अतिरिक्त और दूसरा माग नहीं है। भक्त नित्यनिधि का विवेचन छठव अध्याय म विया गया है। पिर मात्रवें अध्याय से सत्त्ववें अध्याय तक कवसाया है कि क्षमयोग का आचरण करते हुए ही परमेश्वर का शान ऐसे प्राप्त होता है। और वह शान क्षण है। सत्त्ववें और जन्मवें अध्याय में सर भक्त जयवा व्यक्त-अव्यक्त के इन विश्वन का विवरण किया गया है। जीव अध्याय से जारहवें अध्याय तक इस अभियाय का वर्णन किया गया है कि यद्यपि परमेश्वर के व्यक्त स्वरूप की अपेक्षा अव्यक्त स्वरूप भय है तो भी उस बुद्धि का न विद्यने है कि परमेश्वर एक ही है; और व्यक्त स्वरूप की ही उपासना प्रत्यक्ष इन देनेवाली अवश्यक उपक्रम के लिये सुखम है। अनन्तर वेदवें अध्याय में देवतेज़ल का विचार किया गया है कि सर अचार के विवेक म लिये अव्यक्त कहते हैं वही मनुष्य के घरीर में अन्तरान्मा है। इतके पश्चात जीवहवें अध्याय से लेन्द्र कर सत्त्ववें अध्याय तक जात अध्यायों में सर भक्त विश्वन के अन्तर्गत इस विवरण का विकासकृत विचार किया गया है, कि एक ही अव्यक्त से प्रहृति के गुर्जों के कारण व्यक्त में विविध स्वभावों के मनुष्य पैसे उपर्योग हैं। अवश्वा और अनेक प्रकार का विलात के द्वारा होता है। पर्व शानविश्वन का निकृपण जमात किया गया है। तथापि स्थान रथान पर भक्तुन को यही उपर्योग है कि नूँ क्षम कर और यही क्षमयोगप्रधान आपु विद्यने का भाग उच में उच्चम माना गया है कि उक्तमें हुए अनुकूल उपर्योगप्रधान से परमेश्वरी की भक्ति करके परमेश्वरापाणपूर्वक स्वरूप के अनुसार देवता क्षम्य क्षम्य कर मरणप्रदन्त क्षम करते रहने का न्यौत्तम है। इस प्रकार शानमूल और भक्तिप्रधान क्षमयोग का उपर्योग विवेचन कर उच्चे पर नप्रमाणवें अध्याय में उठी क्षम का उपर्योग करके भक्तुन को स्वप्ने न पुढ़ करने के लिये प्रहृति किया है। गीता के इस माय में – कि गीता में सर्वोक्तम यह जाया है – भर्तुन से यह नहीं कहा गया कि नूँ क्षम्य भास्म को स्वीकार करके सम्याती हो जा। हाँ, पह भवस्य कहा है कि इस माय में आचरण

६६ त्यज्यं दोषवित्येते कर्म प्रापुमसीक्षिणः ।  
यद्युपाकृत्यकर्म च त्यज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥

‘निष्काम’ न दो मै से किसी एक विभाग में आना ही चाहिये । कर्मों का काम अर्थात् फलभाग का इतेन अथवा न इतेन इन कर्मों के अटिरिक्त फलभाग की दृष्टि से तीव्रता में ही ही नहीं उक्ता । शास्त्र में वित्त कर्म का वे फल उक्ता किया गया है – ऐसे पुण्यप्राप्ति के लिये पुण्ये – उस फल की प्राप्ति के लिये वह कर्म किया जाय तो वह ‘क्रम्य’ है सेवा मन में उस फल की इच्छा न रख कर वही कर्म केवल क्रम्य समझ कर किया जाय तो वह ‘निष्काम’ हो जाता है । यह क्रम्यर कर कर्मों के ‘क्रम्य और निष्क्रम’ (अथवा मनुष्य की परिमाण के अनुसार प्रदृश और निदृश) ये ही दो में लिंग होते हैं । अब कर्मयोगी वा क्रम्य कर्मों के सर्वेषां ज्ञेय होता है । अतः लिंग दुष्टा कि कर्मयोग में मीठा का सम्याच करना पड़ता है । फिर वह रहे निष्काम कर्म । सो गीता में कर्मयोगी से निष्काम कर्म करने का निष्प्रिय उपदेश किया गया है उही; उसमें मीठे ‘क्रम्य’ का सर्वेषा स्वाम करना पड़ता है (गीता १.२) । अतएव त्याग का तत्त्व मीठे गीतार्थमें म स्थिर ही रहता है । तात्पर यह है कि सब कर्मों के न ज्ञेयने पर मीठे कर्मयोगमार्ग में ‘सन्यास और त्याग’ दोनों तत्त्व ज्ञेय रहते हैं । अनुन जो पहीं जात समझ ज्ञेय के लिये इस स्थेय में उन्यास और स्वाम दोनों की स्मारका या की गई है कि ‘सन्यास का अर्थ काम्यकर्मों को सर्वेषा ज्ञेय ज्ञेय होना है और त्याग का यह मत्सय है कि कोई कर्म करना हो उनकी फलाद्धा न रहे । पीछे यह यह प्रतिपादन हो रहा था कि सम्याच (अथवा साम्य) और बोग दोनों तत्त्वतः एक ही हैं; तब ‘सम्याची शास्त्र का अर्थ’ (गीता ६.३-४ और ६.१२ श्लोकों) तथा ‘सीधी अस्थाप ये आगे त्यागी शुद्ध का अर्थ’ मीठी (गीता १८.११) इसी मौति किया गया है और इस स्थान में वही अर्थ इष्ट है । वहीं खातों का यह मत्र प्रतिपाद्य नहीं है कि क्रमाण्डः क्रमाचर्यं ग्रहस्याभ्यम् और बानप्रस्थ भाग्यम का पालन करने पर अन्त में प्रस्तेक मनुष्य की तर्कस्यागस्पी सन्यास अथवा चतुर्थाभ्यम लिये ज्ञान मोक्षप्राप्ति हो ही नहीं उक्ती । इत्थे लिंग द्वारा है कि कर्मयोगी यथापि सन्यादितों का गद्भाना भेद भारत्य कर सब कर्मों का त्याग नहीं करता तथापि वह सन्यास के सभे सभे तत्त्व का पालन किया करता है । इत्थिये कर्मयोग का स्मृतिप्रबन्ध से जोई किरोप नहीं होता । अब सन्यासमार्ग और मीमांसकों के कर्मतत्त्वनवी जाए क्या उपरोक्त करके कर्मयोग शास्त्र का (इच्छित्व में) अनित्य निषय तुनाते हैं ।— ]

(१) इस परिक्षेत्रों का कथन है कि क्य दोषपुक्ष है । अतएव उत्तरा (तपसा) त्याग करना चाहिये; तपा दूसरे कहत है कि यह, इन दोनों भीर कर्म

भीमगवानुवाच ।

काम्यानो कर्मणो स्वासु संन्यासे कर्षयो विदु ।

सर्वकर्मफलस्थागं प्राहुस्त्याग विचक्षणा ॥ २ ॥

भीमगवान् ने कहा - (२) (किंतने) काम्य कर्म है उनके न्यास अपात् औद्धेने को जानी ब्लेग सन्यास समझते हैं (तथा) समस्त कर्मों के फसा के त्याग को पर्याप्त छोग कहते हैं ।

[ “स स्लोक म स्पष्टरुपा कराण डिया है कि कर्मयोगमान म सन्यास और त्याग किसे कहते हैं ? परन्तु सन्यासमार्गीय ठीकाकारों को यह भूत प्राप्त नहीं । ” स कारण उन्होंने इस स्लोक की बहुत कुछ लीकाकारी भी है । स्लोक म प्रथम ही ‘काम्य शृणु भाषा है । भवतप्व इन ठीकाकारों का मत है कि यहाँ मीमांसकों के नित्य नैमित्तिक, काम्य और नित्यिक प्रमाणित कर्मेन्द्रिय विवरित हैं और उनकी समझ म मगवान् का अभिप्याय यह है कि उनमें से केवल काम्य कर्मों ही को छोड़ना चाहिये । परन्तु सन्यासमार्गीय व्येगों का नित्य और नैमित्तिक कर्म भी नहीं चाहिये । इसलिये उन्हें यों प्रतिपादन करना पान है कि यहाँ नित्य और नैमित्तिक कर्मों का काम्य कर्मा मैं ही समावेश किया गया है । इतना करने पर मीं इस स्लोक के उच्चरार्थ में जो कहा गया है कि फलशरा औद्धेना चाहिये न कि कर्म (आगे इन भोक्त्र डेलिये) उसका मेड मिलता ही नहीं । भवतप्व अन्त में उन ठीकाकारों ने अपने ही मन से यो कह कर समाप्तान कर दिया है कि मगवान ने यहाँ कर्मयोगमार्ग की ओरी सुन्ति भी है । उसका सचा अभिप्याय तो यही है कि कर्मों को छोड़ ही देना चाहिये । “ससे स्वप्न होता है कि सन्यास आर्द्ध सम्प्रशास्त्री भी इदि से इस स्लोक का अप ढीक ठीक नहीं लगता । बालक में इसका अर्थ कर्म योगप्रबन्ध ही करना चाहिये - अपात् फलाशा छोड़ कर मरणपर्यन्त सारे कर्म बरते जाने या जो तत्त्व गीता में पहले अनेक बार कहा गया है, उसी के अनुरोध से पर्हों भी अर्थ करना चाहिये; तथा यही अर्थ सरल है और ठीक ठीक करता भी है । पहले इस बात पर ध्यान देना चाहिये कि काम्य शृणु से इस स्थान में मीमांसकों का नित्य नैमित्तिक काम्य और नित्यिक कर्मविद्यम अभिप्रेत नहीं है । कर्मयोगमार्ग में उन कर्मों के दो ही विमाग किये जाते हैं । एक ‘काम्य अपात् फलाशा’ ते किये हुए कर्म और दूसरे ‘निष्कर्म’ अपात् फलाशा छोड़ कर किये हुए कर्म । मनस्मृति में उन्हीं को कर्म से प्रशुच कर्म और ‘निष्कर्म’ कर्म कहा है (देखो मनु १२ ८८ और ८९) । कर्म पाहे नित्य हा नैमित्तिक ही काम्य हो कर्मिक ही चाहिये ही मानकित ही अपवा सांखिक आवि देते के अनुसार और किसी प्रकार के ही उन सब को ‘काम्य अपवा

इह नियतस्य तु सन्यासः कर्मणो नोपपद्धते ।

माहात्म्यं परिस्थानस्तामसं परिकीर्तिः ॥ ७ ॥

इहमित्येव यत्कर्म काश्चकुशाभ्यास्यजेत् ।

स तृत्या राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ८ ॥

काश्चमित्येव यत्कर्म नियतं कियतेऽर्जुन ।

संमेत त्यक्त्वा फलं तैव त्यागः सात्यिको मतः ॥ ९ ॥

इह अथवा महिदाहि से ब्रह्म परमेश्वरायणबुद्धिपूषक किये गये सा सुहि का चक्र बद्धता रहेगा और कर्म के मन की प्रसादा दूर भाने के काल ये कर्म मोक्षप्राप्ति म बाबा मी नहीं दास रहते। इस प्रकार एव बद्धता का ठीक भौति में भिन्न भिन्न आता है। कम के विषय म कर्मयोगशास्त्र का पही अनित्यम और निभित्त उद्घान्त है (गीता २ ४८ पर हमारी टिप्पणी देंदो)। मीमांसको के कर्मत्याग और गीता के कर्मयोग का मेड गीतारहस्य (प्र १ पृ २९६-२९७ और प्र ११ पृ ३४५-३४८)। मैं अधिक स्पष्टता से दियाया गया है। अर्जुन के मन करने पर सन्यास और त्याग के अर्थों का कर्मयोग की दृष्टि से इस प्रकार साझेकरण हो चुका। अब सारिक आड़ि में के अनुसार कर्म करने की मिथ्या भिन्न रीतियों का वर्णन करके उसी अर्थ को दर करते हैं:- ]

(०) वो कर्म (स्वभाव के अनुसार) नियत अर्थात् स्थिर कर किये गये हैं उनका सन्यास यानी त्याग करना (किसी को भी) उचित नहीं है। उनका मोह के किया त्याग तप्तमस्त कहलाता है। (१) शहीर को कष होने के दूर से अर्थात् बुराकर हीने के कारण ही पहि कोह कम छोड़ तो उनका वह त्याग राक्षस हो जाता है (तथा) त्याग का पथ उसे नहीं मिलता। (२) हे अर्जुन! (तप्तमानुसार) नियत कर कर काय अथवा करुत्य समझ कर और आरकि एव फल को छोड़ कर किया जाता है तब वह सारिक त्याग समझा जाता है।

[ शारद भोक मे 'नियत शम' का अप कुठ ओग नित्यनेमित्यक आड़ि में मैं से 'नित्य' कम समझते हैं फिन्दु वह दीक नहीं है नियत कुछ कम शम् (गीता १ ८) पर मे नियत शम का ओ अप ह वही अर्थ वहीं पर मी करना जाहिये। हम ऊपर वह चुके हैं कि वहीं मीमांसको की परिमाणा विवित नहीं है। गीता १ ८ मे 'नियत' शम के स्थान म 'काय श भासा' हे और वहीं नाब भोक मे 'काय एव 'नियत' दानो शम एक जा गये है। इन भर्याय के आरम्भ म दूसरे श्लोक मे पर कहा गया है कि स्वप्नमानुसार प्राप्त होनेवाले किंठी भी कम को न छोड़ कर उसी को करुत्य समझ कर करते

मिथ्यं दृष्टु मे तप्त स्यागे भरतसतम् ।  
 स्यागो हि पुरुषस्याम् विविष्टः सम्प्रकीर्तिः ॥ ४ ॥  
 पश्चानतप्तम् न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।  
 यहो दानं तपस्यै पादनानि भर्तीयिणाम् ॥ ५ ॥  
 पश्चान्यपि हु कर्माणि सर्गं स्यक्त्वा फलानि च ।  
 कर्त्तव्यानीति मे पार्यं निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥

का कभी न छोड़ना चाहिये । (४) अतएव हे मरतभेद ! त्याग के विषय में मेरा निषय यह है । पुरुषभेद ! त्याग तीन प्रकार का कहा गया है । (५) यह दान तप और क्षम का स्याग न करना चाहिये । न (क्षमों) को करना ही चाहिये । यह, तान भार तप बुद्धिमानों के लिये (मी) पक्षिन अपात् विच्छुद्धिकारक है । (६) अतएव दान (यह, दान आदि) क्षमों को मी जिना आचिकि रहे, क्षमों का स्याग करके (अन्य निष्काम क्षमों के समान ही स्वरूपह के हेतु) करके रहना चाहिये । हे पाप ! उस प्रकार मेरा निश्चित मत (हे तपायि) उत्तम है ।

[क्षम का तप अपात् क्षमकर्ता क्षम में नहीं क्षमणा में है । इसिय पहले अनेक बार ये क्षमपोग का यह तत्त्व कहा गया है – कि सभी क्षमों को पश्चात्या छोड़ कर निष्कामबुद्धि से करना चाहिये – उसका यह उपचार है । सम्प्राप्तमाग का यह मत गीता का मान्य नहीं है कि सब क्षम दोषपूर्ण अतएव त्याज्य है (अन्ते गीता १८ ४८ और ४९) । गीता देवद काम्यक्षमों का सन्यास करने के लिये कहती है । परन्तु अमशाख मैं इन क्षमों का प्रतिपादन है वे सभी क्षम ही ह (गीता ८ -४ -४४) । इसिये अपवहना पूर्णा है कि उनका मी सन्यास करना चाहिये और यदि एका करते ह तो यह यशक कर्तुम्भा शात्रा ह (६ १६) । एव इससे सरिष्ठ उद्घास्त होने का भी भवसर आया गया ह । मम हीता है कि तो फिर करना क्या चाहिये ? गीता उक्ता वाँ उच्च द्रुती है कि यत्र, तान प्रथति क्षम स्वयाति प्रस्त्वाति के हेतु करने के लिये पश्चिमि धारा म कहा है तपायि ऐसी बात नहीं ह कि यही छोपतप्रह के लिये निष्काम बुद्धि स न हा समझे हा कि यह करना तान देना और दूप करना आदि मेरा कर्तव्य है (अन्ते गीता १८ ११ ३ आर २) । अतएव लोकसाह के निश्चित स्वरूप = अनुसार देमे अन्यान्य निष्काम क्षम किये जाते ह ऐसे ही यत्र, तान आदि क्षमा का भी क्षमणा और आचिकि छोड़ कर करना चाहिये । क्षमोंकि वे उठिय ‘पापन अपात् विच्छुद्धिकारक अक्षमा परोपकारतुमि बद्धेनाथे हि । मह भोक्त वे एवास्पदि =ये मी शक्त ह उनका अप यही है कि अन्य निष्काम क्षमों क समान यत्र, तान आदि कर्म करना चाहिये । इच रीति हे वे सब कर्म क्षमणा छोड़

इ ६ वंचितानि महावाहो कारणानि भिक्षोष मे ।

सांक्षे हृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मजाम् ॥ १३ ॥

अधिष्ठान तथा कर्ता कर्त्त्वं च पूर्यनिदिष्टम् ।

विविषाद्य पूर्यन्तेष्टा देवं जैवात्र पंचमम् ॥ १४ ॥

इतीरवाह्मनोभिर्यत्कर्म प्रारम्भे नरः ।

न्याय्य या विपरीत वा वंचिते तस्य इत्यः ॥ १५ ॥

इ ७ तत्रेवं सति कर्त्तारमात्मामै लेखते तु यः ।

पश्यत्यहृत्युद्दित्यात् स पश्यति दुर्मतिः ॥ १६ ॥

यस्य नाईहृतो भावा तु द्विर्यस्य म लिप्यते ।

इत्यापि स इमांश्लोकात्म इन्ति न गिरायते ॥ १७ ॥

(१३) हे महावाहु ! कोई भी कर्म होने के लिये तात्कालीन मैं पौख कारण कह गवे हैं; उन्हें मैं कराता हूँ; मुझ (१४) अधिष्ठान (तथा) तथा कर्ता भित्र भित्र करण यानी तात्काल (कर्ता की) अनेक प्रकार की दृष्टि दृष्टि देखाएँ अर्थात् व्यापार और उसके साथ ही साथ पौखर्यों (कारण) देव है। (१५) इतीर से वाणी से अपवा मन से मनुष्य औ जो कर्म करता है—विरचाहे वह न्याय्य हो या विपरीत अर्थात् अन्यान्य—उसके ठक पौख कारण है।

(१६) वाल्मीकि दिवति ऐसी होने पर भी क्ये तत्कृत तुष्टि न होने के कारण यह समझे कि मैं ही अकेला करा हूँ (उमरका चाहिये कि) वह दुर्मति दुष्ट मी नहीं बनता। (१७) किंतु यह मानना ही नहीं है कि मैं कर्ता हूँ तथा किसीकी तुष्टि अभिष्ट ह वह यहि इन अंगों और मार टाके, तप्यापि (उमरका चाहिये कि) उसने किसी को नहीं माया; और वह (कर्म) उसे करक मरी नहीं होता।

इस वीकासार्थी ने टेरहवें स्लोक के 'साम्य शब्द का अव वेदान्तशास्त्र में किया है। परन्तु भगवान् अर्थात् लोडहॉल्डर नारायणीयवत्तम (मा मा शा ३४३ ८०) मैं भगवान् भावा है और वहाँ उसके पूर्व कापिलशास्त्र के शब्द—प्रहृष्टि और पुरुष—का लाइन है। भगवान् मारा वह मत है कि तात्काल शब्द से "म म कापिलशास्त्रवद्याम् ही भमिषेत है। पहले गीता मैं मह उद्दिष्टान्त अनेक बार कहा गया है कि मनुष्य को न तो कर्मफल की आशा करनी चाहिये और न ऐसी नहद्वारुद्दि मन मैं अनुकूल कर्मगा (गीता २ ११ २ ४७ १ २७ ८-११ ११ १) वहाँ पर वही उद्दिष्टान्त यह वह इदं निका है कि कम का एवं होने के लिये मनुष्य ही अकेला कारण नहीं है (ऐसो

इह न द्वयकुण्ठ कर्म फुशले नानुपम्यते ।

स्यागी सत्त्वसमाधिष्ठो मेघासी उष्णसदायः ॥ १० ॥

न हि बैहमूता दाकर्यं त्यक्तुं कर्माप्यदोषतः ।

यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्याभिषेषत ॥ ११ ॥

इह अनिष्टमिष्टे मिथ च प्रिविर्ज कर्मण फलम ।

मवस्थत्यागिनां प्रत्य न तु सन्यासिनां क्षमितु ॥ १२ ॥

| इन चाहिये (तेजा गीता ३ १९) “सी को साक्षिङ् स्याग कहते हैं और | कर्मयोगशाल म इसी को पाग क्षमणा ‘स्याग कहते हैं। “सी उद्धान्त | का इस क्षेत्र में समर्पन किया गया है। इस प्रकार स्याग और सन्यास के आपो | का स्पष्टीकरण हो चुका गया इसी तरफ के अनुचार क्षमणते हैं जि वारतविक | स्वागी और सन्यासी कीन हैं। ]

(१) जो किंचि अकुण्ठल भयान् भक्ष्याणकारक क्षम का द्वेष नहीं करता | तथा कष्याणकारक अपवा हितकारी क्षम में अनुपक नहीं होता ३५ सत्त्वसीम | उद्दिमान् भीर सत्तेहितिरहित स्यागी भयान् कन्यासी कहना चाहिये। (२) जो | देहपारी है उठके क्षमो का निषेष त्याग होना क्षमण नहीं है। भक्षणे | (क्षम न छोड़ कर) केवल क्षमक्षमों का स्याग किया हो पही (यज्ञ) स्यागी | भयान् क्षम्यासी है।

| [ अब यह कहताते हैं कि उक्त प्रकार क्षम न अर कर | वरन् पश्चात्या छोड़ करके – जो स्यागी गुभा हीं उन्हें उक्त क्षम काद भी पक्ष | क्षमण नहीं – ]

(३) मृगु के भनतार भस्यागी मनुष्य का भयान् पश्चात्या का पाग न | वरन्याते को तीन प्रकार के पक्ष मिलते हैं भनिष्ठ इष्ट भीर कुछ | भविष्ठ मिला गुभा) मिथ। वरन् उन्यासी को भयान् पश्चात्या छोड़ कर क्षम | वरन्याते का (दे १०) नहीं मिलता व्यान दाया नहीं कर सकत।

| [ पाग न्यासी भीर त न्यासी-क्षम्यासी उक्त विचार पर १० (तेजा ३ ४-५ | ६ -> १०) कर स्थानों में भा पुरु उन्हीं का पहों उत्तरदार किया | पाग है क्षमक्षमो का भयान् गीता का भी इस तरीके पश्चात्या का पाग | वरन्यात्या पश्च तीनों अनुकार तथा तथा तथा तथा तथा ६ (तेजा | १०) क्षम्युपुरुष्माभावा का भयान् भक्षणकुड़ि का स्याग ही क्षमा दाया | ६ इसी उद्धान्ते का उक्त व्याने विषय का विषय भीर वरन् मिला ६ - ]

कर्म सेयं परिक्षाता त्रिविधा कर्मचाराद्वा ।  
करण कर्म कर्त्तोऽसि त्रिविधा कर्मसंकरण ॥ १८ ॥

क्षम कर्म च कर्ता च त्रिपैयु गुणभेदतः ।  
प्रोद्यते गुणसंक्षये यथावस्थापु तान्यपि ॥ १९ ॥

इह सर्वमूलेषु येनीकं भावमन्ययमीक्षते ।  
जटिमकं विमलेषु तत्त्वात् विद्धि सात्त्विकम् ॥ २० ॥

[ सात्त्विक भयवा सब्द स्वाग है । कर्मों को छोड़ फिला सबा स्वाय नहीं है । अत उत्तर भयवा में कर्म के सात्त्विक भावित भेदों का यो विचार भारतम् दिया यदा या उठी को वहाँ कर्मयोग की दृष्टि से पूरा करते हैं । ]

( १८ ) कर्मचारान् तीन प्रकार भी है – ज्ञान, भेद और शब्द तथा कर्मचार हीन प्रकार का है – कारण कर्म और कर्ता । ( १९ ) गुणसंस्पानशास्त्र में अप्योदय कापिक्षास्यधारा भूमि में कहा है कि ज्ञान कर्म और कर्ता ( प्रत्येक तत्त्व तत्त्व और सम इन तीन ) गुणों के भेदों से तीन प्रकार के हैं । उन ( प्रकारों ) को रखों के स्थान ( द्वारे बदलता है ) मुझे ।

[ कर्मचारिणा और कर्मसंकरण पारिभाषिक शब्द है । इन्द्रियों के द्वारा कर्म भी कर्म होने के पूर्व मन से उत्तमा निष्पत्ति करना पड़ता है । अतएव इस मानविक विचार को 'कर्मचारान्' भर्यात् कर्म करने भी प्राप्तिक भ्रेष्टा कहते हैं । और, यह स्वभावतः ज्ञान भेद एव शब्द तथा कर्ता के रूप से तीन प्रकार भी होती है । एक उत्तरत्व भीविये :- प्रस्तुत यह क्षमा करने के पूर्व कुम्हार ( शब्द ) भयने मन से निष्पत्ति करता है कि मुझे अमुक यात्र ( भेद ) करनी है और यह अमुक रीति से ( ज्ञान ) होगी । यह किया कर्मसंकरण हुई । उस प्रकार मन का निष्पत्ति हो जने पर यह कुम्हार ( कर्ता ) मिही यात्र इत्यादि साक्षन ( करण ) इष्टोऽपि कर प्रस्तुत भय ( कर्म ) तैयार करता है । यह कर्मसंकरण हुआ । कुम्हार यह कर्म कर दी है; पर उठी को मिही का कार्य मी नहीं हैं । इससे मारुद्ध होगा कि कर्मचारान् शब्द से मानविक भयवा आनुकूलण भी किया का बोध होता है; और कर्मसंकरण शब्द से उठी मानविक किया की बोध की वास्तविक्याभा का बोध होता है । किसी भी कर्म का पूर्व विचार करना हो सो 'दोऽना और 'सम्ह शोनो का विचार करना चाहिदे । इनमें से शब्द भेद और शब्द ( भेदः ) के लक्षण प्रथम ही तेरहवें अध्यात्म ( १९ १८ ) म अव्याख्याति से कठोर भावे हैं । परन्तु विवारणी शब्द कर्म लक्षण तुङ्ग प्रथम होने के कारण अपर उस तरीकी में से शब्द की और दूसरी तरीकी म से नम एव शब्द की व्याख्यादें भी चाही हैं :- ]

( २ ) किन ज्ञान से यह मास्तुम होता है कि विमल कर्मात् मिति मिति

गीतार् प्र २१)। लौहदेवं स्तोक का भय यह है, कि मनुष्य "स बग्न् में हो या न हो प्रहृति के स्वभाव के अनुसार बग्न् का भक्तिश्च व्यापार चलता ही रहता है। और जिस कम को मनुष्य अपनी करते समझता है, वह केवल उसी के यत्न का कल नहीं है बरन् उसके यत्न और संबाद के अन्य व्यापारों अथवा खेड़आ भी सहायता का परिणाम है। किसे कि उसी मनुष्य के ही यत्न पर निर्भर नहीं है उसकी सफलता के लिये भरती शीघ्र, पानी "गाड़ और जैव लाभि के गुणसमें अथवा व्यापारों भी सहायता आवश्यक होती है। "सी प्रकार, मनुष्य के प्रयत्न की सिद्धि होने के लिये बग्न् के किन विविध व्यापारों की सहायता आवश्यक है उनमें सुछ व्यापारों का ज्ञानकर उनकी अनुकूलता पाकर ही मनुष्य यत्न किया करता है। परन्तु हमारे प्रयत्नों के स्थिरे अनुकूल अथवा प्रतिकृति, सूधि के और भी कर व्यापार है कि इनका हमें शृण नहीं है। इसी को देख करते हैं और कम की घटना का यह पौच्छां कारण कहा गया है। मनुष्य का यत्न सफल होने के लिये बग्न् उसी सब व्यापारों की आवश्यकता है सभा बग्न् उनमें से कर या तो हमारे वश भी नहीं या हमें शत मी नहीं रहती तब यह शत स्वातंत्र्या सिद्ध होती है कि मनुष्य का देश भविमान राजा निरी मूरम्भा है कि मे अमुक काम करेंगा अथवा ऐसी फलशरा राजा मी मूरम्भा का कर्त्त्व है कि मेरे कम का कम अमुक ही होना चाहिये (देखा गीतार् प्र २१ ३१८-३१९)। तथापि सहेतु स्तोक का भय यों भी न समझ देना चाहिये कि इसी व्यापारा धूर व्यय वह चाह या कुर्म कर सकता है। काषायण मनुष्य ये सुछ करते हैं वह स्वाय क ल्यम से परते हैं इसलिये उनका ज्ञान अनन्तिन राजा करता है परन्तु इनका स्वाय या शाय नष्ट हो गया है अथवा एक गुण वृष्टिया दिनी हो गई है भीर जिसे प्राणिमान गमान ही हो गये है अम दिनी का भी अनहित नहीं हो सकता। कारण यह है कि शय कुड़ि भी रहता है न कि कम भी। अतएव इसी गुड़ रहस्य में युद्ध भीर विनिवाह हो। उनका दिया हुआ भीर कम व्यक्ति ते विन दर्शि भ दिवर्ति कम ही गिर्वाद। ता भा व्यायन करता है कि अस्ति विव दृढ़ ही द्वाग्नः। फला उन कम के लिये दिव न विद्ध उद्दिष्टामे मनुष्य को उच्चार न समाना चाहिये। गवार् व्याय का परी कार्य है विपायण, नवाद् धूर उद्दिष्टा मनुष्य भी निष्पायना के इन तत्त्व का बगान उरनिराओं मे भी है (कर्णी ३३ और पद्मर्थी १४ २५ वि ३ द्वा) गवारत्यव व्याय प्रस्तु (१ ३३ - ३३) मे इन दिव्य व्या दृष्टि विवन दिया है इन व्या यहा पर उसम विप्र गिरार भी जावद्यना नहीं है इन व्यार इन व्या यह स्वयं व्याय पर भव्यता भीर यत्न है। भय की दृष्टि व्या यह निद कर दिया वि व्यापर्वानुवात। यत्न प्रति इ ३ १ व्यादुमि भीर व्याया दृष्टि वर वर रहना है।

६६ नियंतं संमरहितमरमद्रपतः हुतम् ।  
 अफलप्रेष्टुना कर्म पतत्सास्तिकमुच्चते ॥ २३ ॥  
 पशु कामेषुना कर्म साहकारेण वा पुनः ।  
 किष्टे षष्ठुलायां तथाभस्तुवाद्वयम् ॥ २४ ॥  
 अनुकर्त्त्वं कर्म हिंसामनपेश्य च पौरुषम् ।  
 मोहावारम्यते कर्म पतत्सामस्तुभ्यते ॥ २५ ॥

| नियमित है । अतः वीर्ये स्त्रोक में पर्याप्त ज्ञान का सहज पद्धति वापरतः मानविक  
 | क्रियालकड़ नियार्थ देवा है तथापि उसी में "स ज्ञन के कारण ऐस्यमप्य एक  
 | हेतुनिवारणे परिणाम का भी समावेष करना चाहिये । यह जाति गीतारहस्य के नीति  
 | प्रकरण के अन्तर ( पृ. २४१-२६ ) में लक्ष्य कर दी गई है । असु ज्ञन के में  
 | हो जुके । अब कर्म के में व्यवस्थाये वाले हैं :- ]

( २३ ) कर्म्यासि की "स्त्रम इत्येवाय मनुष्य, ( मन म ) न दो में सौर देव  
 रस कर, जिना आसाधि के ( सर्वानुसार ) जो नियम अर्थात् नियुक्त निया हुआ कर्म  
 करता है उस ( कर्म ) को उत्तिक कहते हैं । ( २४ ) पतन्तु काम अपात् कृत्या भी  
 इस्य रस्तेवाय मन्त्रा आहुष्टुष्टि च ( मनुष्य ) वहे परिभ्रम से जो कर्म करता है,  
 उसे यज्ञत कहते हैं । ( २५ ) तामस कर्म यह है कि ये मोह से जिन ज्ञान कर्म  
 निचार लिये अतर्मम जिया जाता है कि भनुकर्त्त्वं भर्त्तात् भागे क्या होता पौरुष  
 जाती अपना धार्म्य लिखता है और ( हनुहार में ) नाश अव्यवा हिंसा होनी या नहीं ।

[ "न तीन भेदिं के कर्मो में सभी प्रकार के कर्मों का उपायेष हो जाता है ।  
 नियम कर्मों को ही उत्तिक अपाता उत्तम कर्मों कहा है । "स का नियन्त्रण भैरवा-  
 रहस्य के स्पारहै प्रकरण में जिया गया है उसे देखो और भर्त्तात् भी उत्तमुत्त पाई  
 है ( गीता ४ २६ पर हमारी टिप्पणी ( देखो ) । गीता च४ छिद्रान्त है कि कर्म भी  
 भैरवा दुर्दि भेद है । अतः कन के उक्त उत्तरों का कर्त्तन करते उमर्य चर कर  
 कर्त्ता की दुर्दि का उत्तेष्ठ लिया गया है प्रकरण एहे कि कर्म उत्तिकमन पा उत्तर  
 पन भेदप्र उठके वापर परिणाम से नियमित नहीं लिया गया है ( देखो गीतार. प्र. १३,  
 पृ. १८३-१८४ ) । इसी प्रकार २५ व अमेक से यह भी चिद है कि पूराणा के  
 दृष्ट बने पर यह न समझना चाहिये कि अग्रविष्ट्य या सारात्मक निचार जिने  
 जिन ही मनुष्य को जाहे ये कर्म करने की दुर्दि हो गर्त । कर्मों २६ व अमों में  
 पह नियम्य लिया है कि अनुकर्त्त्वं और पस का निचार लिये जिन ये कर्म लिया  
 जाता है यह तामस है न कि उत्तिक ( गीतार. प्र. १२ पृ. १८३-१८४ देखो ) ।  
 अब उसी उत्तर के अनुसार कर्त्ता के में व्यवस्थाये हैं :- ]

पूर्यत त् दग्धाने मानाभाग्न्युपरिपात्र ।  
पर्वत गाँधी धूलयु तद्वाद दिति शास्त्रम् ॥ ३१ ॥  
पर्वत इष्टवृक्षादिति चापि शास्त्रम् तु इति ।  
अद्यापि रामं च धूलामग्न्युपरिपात्रम् ॥ ३२ ॥

प्रवृत्ति च निवृत्ति च कार्याकार्ये मयाभय ।

चर्यं मोक्षं च या धर्ति तुद्धिं सा पार्थं सास्त्विकी ॥ ३० ॥

यथा धर्मधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।

अप्यथाक्षवज्ञानाति तुद्धिः सा पार्थं रामसी ॥ ३१ ॥

अधर्मं धर्ममिति या मम्यते तमसावृता ।

सर्वार्थान् विपरीतार्थं तुद्धिं सा पार्थं तामसी ॥ ३२ ॥

इ ६ शुत्या यथा धारणत मऩ प्राणेन्द्रियक्षियाः ।

योगेनाभ्यमित्वारिष्या शृतिं सा पार्थं सास्त्विकी ॥ ३३ ॥

यथा हु धर्मकामार्थान् शुत्या धारणतेऽर्जुन ।

प्रसीन फलाक्षीही शृतिः सा पार्थं रामसी ॥ ३४ ॥

यथा स्वर्गं मर्य शाकं विपार्थं मर्त्येव च ।

न विमुचति तुमेषा शृतिः सा पार्थं तामसी ॥ ३५ ॥

(१) हे पार्थ ! ये तुद्धि प्राप्ति (अर्थात् किसी क्रम के करने) और निराप्ति (अर्थात् न करने) की अवस्था है एव यह अवस्था है कि काव्य अर्थात् करने के बोध स्था है और अकार्य अर्थात् करने के अयोग्य स्था है । किसे उल्लं आहिये और किसे नहीं ! किसे कृष्ण होता है और किसे मौत ? वह तुद्धि रात्मिक है । (११) हे पार्थ ! वह तुद्धि रामसी है कि किसे वर्म और अधर्म का अकार्य कार्य और अधर्म का यथार्थ निर्वर्थ नहीं होता । (१२) हे पार्थ ! वह तुद्धि रामसी है, कि या तम से भ्यास होकर अधर्म से घर्म समझती है; और उब यातो मे विपरीत बाती उसी समझ कर देती है ।

[ “स प्रकार तुद्धि के विभाग करनेपर उडसहितेऽतुद्धि श्वेरं स्वरूप ऐक्ता नहीं यह अती किन्तु सात्त्विक तुद्धि में ही उल्लं उमाकेष हो जाता है । यह विवेचन गीतारहस्य के प्रकरण ६, पृष्ठ १४२-१४३ में किया गया है । तुद्धि के विभाग ही तुद्धि अर शृति के विभाग करते हैं ।” ]

(१३) हे पार्थ ! किस अभ्यमित्वारिजी अकार्य इधर उक्त न छिसेताही शृति से मन धार्म और इश्वर्या के व्यापार, (कर्मकृष्णसमझी) दोग के व्याप (पुरुष) करता है वह शृति रात्मिक है । (१४) हे अर्जुन ! प्रत्यक्षानुग्रह फल की अन्तर रखनेवाल पुरुष किस शृति से अपने धर्म काम और अर्थ (पुरुषार्थ) को विद्व भर देता है वह शृति राज्ञ है । (१५) हे पार्थ ! किस शृति से मनुष्य तुद्धिमि हो वह निया मय शोक, कियाउ और मड नहीं ढेकता वह शृति रामसी है ।

॥६॥ मुक्तसगोऽमहावाही शूत्युत्साइसमन्वित ।

सिद्धयस्तिरुप्पोनिर्विकारं करता सास्त्रिक उच्चते ॥ २६ ॥

रामी कर्मफलप्रपुरुषो हिंसामकोऽशुचि ।

हयशाकान्वित कर्ता प्रजसः परिकीर्तिः ॥ २७ ॥

अपुक्तः प्राहृतः स्त्रियः शठा नपूतिकाप्लसः ।

विषानी वीर्यसूखी च करता तामस उच्चते ॥ २८ ॥

॥७॥ शुद्धेभैर्वं शूतेष्वैव गुणतस्त्रिविष्वं शूणु ।

प्रोप्यमानमधोपण पृथक्ष्येन घनजय ॥ २९ ॥

(२६) इसे भाषणि नहीं रहती जो 'मै और 'मेरा नहीं कहता' काय की गिट्ठि हो या न हो (इनी परिणामों के गमय) जो (मन से) विग्रहहित होकर पृथि और उत्ताह के काय कम करता है उस कालिक (करा) कहते हैं । (२७) विष्यामुख भामी (गिट्ठि के समय) हय और (आविष्ठि के समय) शाह से मुक्त अन्नरात पाने वी इत्यारम्भात्य दिशामुक्त और अशुचि करा राम्भ कहताता है । (२८) भयुत्त अपान वक्तव्य मुदिकात्य अलम्य गद स पृथक्तामा न्य, नैवृत्तिव सनो शूरों की हानि करतेआ भाल्मी अग्रमुपनिषत् और वीर्यमी अपान भैरो अन्नेवा पा एवं भू काम को महिने भू में करनेआ करा ताम्भ कहताता है ।

[ ८३ भास म नैवृत्तिव (निनू+हृत=उत्त बनाना कान्ना) एवं ए  
भय दूरी के काम उत्त बनेकाय अपान नाय करनेआ है । परन्तु इसके इन्हा  
वार सौय भैरूत्तिव पार मानते हैं । भमरकैय मै 'निनू' न भय घट विष्य  
गमा है । परन्तु इन कोइ मै घट विषेण पहरे भा दुय है इत्यन्ते  
इत्य वैरूत्तिव पाट एवं स्विकर दिया है । इन भैन प्रवार क बना को मै स  
कलिक करा ही भसता भमिकता भपा कर्मगमी है । ऊर्ध्वांस कुड़  
मै प्रवार है विष्यग्ना दोष्यन पर ही अम व्यन वी भादा उक्त भैर  
ताराकारविकार उम व्यपोगी मै प्ला ही रहता है । बन्त क विष्य विषर  
का पद बाज ही भा दुड़ गृही नीर म्या ह विष मै की दिया रक्ता है । इन  
भया मै दुड़ का नय बटी विषायविष दुड़ अपान विषय बनेवा  
विष्य भर्त्यर है विषिण दान दूर अपाय ( ४१ ) मै हा एव ।  
एवं एवं वर्त्यर द्वितीय के छो गमय ( २११ - २१३ ) मै दिया  
एवं है ]

(३) १ अहम दुड़ भैर पूरी २ ५ ३ । ३ अवार क वैन  
वर ४ विष विष ५ ६ ८ इन एवं वाम बहा ८ ८ ।

विषयेन्द्रियस्योमाधस्तप्रेज्ञुतोपमम् ।

परिणामे विषयमिव तस्मुखं एवाचं स्मृतम् ॥ ३८ ॥

यदपे चानुकूल्ये च सुखं मोहनमात्मनः ।

निक्रास्त्यपमादोर्थं तत्त्वमसमुच्छितम् ॥ ३९ ॥

॥ ३९ ॥ म तत्त्वस्ति पूर्यिल्यो वा विवि वृत्तेषु वा पुराः ।

सास्त्रं प्रहृतिमैर्युक्तं यत्वेभिः स्पातिभिर्गुणैः ॥ ४० ॥

उस (आध्यात्मिक) सुन को सामिक कहते हैं। (३८) इनिया और उनके विषयों के समोग से होनेशास्त्र (अर्थात् आधिकौशिक) सुन राक्षस कहा जाता है कि वह पहले तो अमृत के उमान है पर अन्त में विष सा रहता है। (३९) और जो आरम्भ मै एवं अनुकूल अर्थात् परिणाम मै भी मनुष्य को मोह में रखता है और जो निक्रा आख्यस्य तथा प्रमाण अथवा कर्त्त्व की गूँड से उपकरण है उसे घामय सुन कहते हैं।

[ ३७ वे ३८ के बीच मै आ मनुषि का अर्थ हमने 'आरम्भनिष्ठुदि' किया है। परन्तु 'भास्त्र' का अर्थ 'अपना करके उसी पर का अर्थ अपनी मुदि' मै ही समेगा। क्योंकि पहले (३ २१) कहा गया है कि अत्यन्त सुन के बहुत मुदि से ही प्राप्त और अतीनिय होता है। परन्तु अब भी कोई क्या न किया जाव। तात्पर्य एक ही है। कहा तो है कि सज्जा और नित्य सुन इनियोपमोग मै नहीं है किन्तु वह देवत सुदिक्षात्म है। परन्तु जब किचार कहते हैं कि मुदि भी सज्जा और अत्यन्त सुन प्राप्त होने के लिये स्वयं करना पड़ता है। तब मीठा के छठे अध्याय से (३ २१ २२) माट होता है कि वह परमार्थि का सुन आरम्भनिष्ठुदि हुए किना प्राप्त नहीं होता। 'तुदि' एक देसी इनिय है कि वह एक ओर से विशुष्यास्त्रक प्रहृति के विस्तार की ओर बेल्ती है और दूसरी ओर से उत्तरी आरम्भस्त्रमी प्रक्रिय का भी दौषष हो सकता है कि व्ये इस प्रहृति के किन्तु दार के गूँड मै अर्थात् प्राणिमान मै उमानता से स्वात है। तात्पर्य वह है कि इनियनिष्ठ है द्वारा मुदि को विशुष्यास्त्रक प्रहृति के विस्तार से इटा कर कर्त्त्व अन्तर्मुख और आरम्भनिष्ठ किया - और पानचाल्योग के द्वारा सापनीय किया जाता है - उहों वह मुदि प्रथम हो जाती है और मनुष्य को सत्य एवं अत्यन्त सुन अ भनुमत होने लगता है। गीतार्याहस्य के ५ वे प्रकरण (पृ. ११६-११७) मै आध्यात्मिक सुन की भेदाण का विवरण किया जा तुला है। अब सामान्यरूप वह कहते हैं कि जात् मै उक्त विविध में ही महा पान है - ]

(४) एवं यूपी पर आकाश मै अपना देखताओं मै अर्थात् देवगोत्र मै की पहरी कोई बल नहीं कि जो प्रहृति के इन तीन गुणों से मुक्त हो।

॥६॥ सुग्र स्थिदानीं श्रियिधं गृषु म भरतपम् ।

अम्बासाप्रभते यप्र इमान्त च मिगच्छुति ॥ ३६ ॥

यत्तदेष्य यिपमिव परिणामभृतापमम् ।

तस्मुखं सास्त्विकं प्राप्तमाम्बुदिप्रसाकृम् ॥ ३७ ॥

[ 'धृति शश का अप ऐये रे परन्तु यहों पर शारीरिक भैय से अमिप्राप्त नहीं है । उस प्रसरण में धृति शश का अप मन का दृष्टिभूष्य है । निषय करना धृति का काम है लही परन्तु इत्त बात की भी आवश्यकता है, कि धृदि जा याएँ निषय करे पह सबै खिर रह । धुदि के निषय का एका रिपर या दूर करना मन का भूम है । भरतएव बहुना आहिये कि धृति अपका मानसिक भैय का गुण मन और धुदि दोनों की सहायता से उत्पन्न होता है । परन्तु इतना ही वह देने से कामिक धृति का स्वर्ग पूज नहीं हो जाता कि अम्बमिचारी भयान् इपर उपर विचलित न होनेवासे भैय के कम पर जल प्राज भार इत्तिहाँ के स्वापार अन्ना चाहिय । बहिक यह भी प्रवाहना आहिये कि य व्यापार किस बम्बु पर होत है । अपका इन स्वापारों का बम क्या है । वह 'कम'याग शश के क्षुनित विषा गया है । अत याग शश का अप केवड 'एकाप्र वित्त कर देने से काम नहीं बनता । इतीनिय इम्ने इस शश का अप प्रवाहन उत्तम क भनुतार, क्षमस्य स्वापारकी याग किया है । सामिक बम के और लानिह छला भाडि के क्षुग घटाते समय ऐसे फस की भारतिं छाइन का प्रथान गुप्त माना है वैस ही लानिह धूनि का स्थान दाख्यने में भी उक्ती का प्रथान मानना चाहिये । इतन विषा नम्ने ही अपक में यह बगन है कि राम धूनि पाद्यसाझी होनी है । आप इन वापर से ना विद होता है कि बामिक धृति राम धूनि के विगरित भक्त्या इत्ती हमी चाहिय । वापर यह है कि विषय की रामा तो निरी मानसिक विषा है उत्तर जनी का कुरी होने का दिनार बगन के अप यह वैष्णवा चाहिये कि दिन वापर व विषय उत्तर किया का उपयाग किया जाना है वह वापर देना है । न तो उत्तर जनी कोनी मरी दृष्टिभूष्य दिया ज्या हो तो वह तामन है उत्तरादृष्ट विषयवाचार के बान वरन में उत्तरा रूप हो का रामन है और उत्तरान्तरकी याग में वह विषय दिया ज्या हो तो लानिह है । इन प्रसर वैष्णवी व उत्तर व उत्तरादृष्ट विषयवाचार कुप्र के तीन वापर वग ८११

(१३६) यह ह उत्तर धैर्य क 'र्मिन व दाम्भो हृष्ण भक्त्या उत्तर वैष्णव दिनार दिवेष्य त (मन्द) विष्मे उम ज्या है और उनी दुष्प्र का भैय होता है । (१३७) उत्तरादृष्ट (१३८) विषय व उमन उन वापर है यामु राम व मन व वापर है व वापर विदुदि वैष्णवा न व्याप होता है ।

शौय क्षमा पूतिर्क्षयं पुद्दे चाव्यपक्षायनम् ।

वानमीष्वरमावध्य शाश्वत कर्म स्वमावजम् ॥ ४३ ॥

कृपिमोरक्षयाग्निर्यं देहकर्म स्वमावजम् ।

परिज्यातमल कर्म सूक्ष्मस्यापि स्वमावजम् ॥ ४४ ॥

५६ स्वे स्वे कर्मप्यभिरुता संचिर्दिं लभते नरः ।

स्वकर्मविरुद्धः सिर्दिं यद्या विन्वति तत्कृष्णु ॥ ४५ ॥

यतः प्रशुस्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं तत्सम् ।

स्वकर्मणा हमव्यर्थं सिर्दिं विन्वति मानवः ॥ ४६ ॥

अपात् अप्याभ्युत्तमं विश्वान् यानी विविच इन और आकृतिकुर्दि है। (४१) एक देवसिंहा ऐर्यं ज्ञाना मुद्र से न भागना, इन देना और (प्रब्ल पर) दुर्लभ करना भवित्वों का स्वप्नाविक कर्म है। (४४) इस अपात् लेहो, गोरक्ष याती प्रजार्थी को पालने का उद्दम और वाणिज्य अपात् व्यापार वैसों का समावकर्म कर्म है। और, "सी प्रकार सेवा करना धर्मो च स्वामाविक कर्म है।

[ चातुर्वर्ष्यम्यवस्था स्वमावकर्म गुणमेत दे निर्मितु दुर्दि है। यह न समस्ता चाय कि यह उपपत्ति पहले पहल गीता में ही कर्तव्यर्थ गई है। विन्दु महाभारत के कल्पवान्तर्गत नदुप-सुधिक्षिरवार में और दिव व्याप-संवार (वन् १८ और २१) में शान्तिपर्व के स्यु-मारुदाम्भवार (वा. १८८) में अनुषासनपर्व के उमा महेश्वर-साकाष (अनु. १४१) में और अश्वेषपर्व (१९०) की भक्तिरीता में गुणमेत की यही उपपत्ति कुछ अल्प से पार्द चाली है। यह पहले ही चारा च दुका है, कि ज्ञान के विविच व्यवहार प्रकृति के गुणमेत दे हा रो है। फिर चिद दिया गया है कि मनुष्य च यह कर्तव्यम - कि विसे क्या करना चाहिये - किस चातुर्वर्ष्यम्यवस्था दे नियत दिया गया है वह व्यवस्था भी प्रहृति के गुणमेत का परिणाम है। अब यह प्रतिपादन करते हैं कि उक्त कर्म इएक मनुष्य को निष्क्रमन्तुर्दि दे भवान् परमेभरार्पणकुर्दि दे ही करना चाहिये। अन्यथा चाल् च वारोवार नहीं चल सकत तथा मनुष्य के आचरण से ही चिदि प्राप्त हो चली है। चिदि पाने के लिये आर और दूसरा अनुष्ठान करने भी आवश्यकता नहीं है:- ]

(८) भाने भाने (स्वमावकर्म गुणों के अनुचाल --- नैनेशाले) कर्मों में लिख रह (रहनेशाल) पुरुष (१) परम चिदि प (२) भाने कर्मों में न पर रहने से लिहि हैं। (४६) ग्राणिमा (१) प्रहृति दुर्दि है वा विश्वाने तारे अन्यता का (२) भावना चि

६६ वास्तव्यस्त्रियविहारी शुद्धाणी च परंतप ।

कमाणि प्रधिभक्तामि स्वभावप्रभवैगुणै ॥ ४१ ॥

प्रमो इमस्तपा शौर्वं क्षान्तिरप्रवेष च ।

क्षान्ते विहानमास्तिक्य व्रह्मक्षम स्वभावजम् ॥ ४२ ॥

[ अद्यारात्रे खोड़ के यहाँ तक जान कर्म कला शूति और मुक्ति के ऐसे व्यवहार कर भक्तु की आंगन के समझे "स वाल का एक चिन रख दिया है, रिसभ्यत जगत् में प्रहृति के गुप्तमें से विचित्रता के टप्पे होती है ? तथा विर प्रतिपादन दिया है कि "न सब भेदों में क्षान्तिक भेद भेद और प्रवृत्त है। इन क्षान्तिक भेदों में सभी को उत्तर दें भेद भेद तिनि है उसी का गीता में दिग्नुणातीत अवस्था कहा है। गीतारत्स्य के छात्रव प्रवरण (पृ १६८-१९) में हम वह जुह है कि दिग्नुणातीत अवस्था निगुण अवस्था गीता के अनुसार कोई स्वतन्त्र वा चौथा भेद नहीं है। इसी न्याय के अनुसार मनुष्यति में सभी क्षान्तिक गतियों के ही उत्तम मरणम और क्षितिर तीन भेद व्यक्ते कहा गया है कि उत्तम सास्तिक गति मौख्यम है भार मरणम गति मूलग्रन्थ है (मनु १३ ४८-६ भार ८-१ देवा)। जगत् में भेद शूति है उत्तमी विवितता का यहाँ सब व्यवहार दिया गया। नद रस गुणविमाय के ही चानुर्वृत्यम्पदम्पद्या की नवति का निवृपण दिया गया है। यह जात पहुँचे कर जार कही गा चुकी है कि (देवा ८ ०-२३ और ३१) स्वप्नमनुसार प्रत्येक मनुष्य को अपना नियत अपान निमुक्त दिया हुआ कर्म प्रवाणा घोड़ कर, परन्तु शूति उत्तम और उत्तरानार विचार के काष्ठ लाप करते गता ही उत्तम में उत्तम कर्म कही नहीं कहाया गया। यीड़े एक जार चानुर्वृत्यम्पदम्पद्या का कुछ योग्या-सा द्योग्य कर (४ १६) कहा गया है कि उत्तम-अक्षम्य का निषय इसके अनुसार करना चाहिये (गीता १६ ८)। परन्तु जगत् के अवहार को दियी नियमनुशार जारी रखने के देव (देवा गीता, प्र ११-१२ पृ ३३-४ १ और प्र १५ पृ ४०-४१) दिया गुणम् दिग्नुण के तम्भ पर चानुर्वृत्यम्पदी शास्त्रवदम्पद्या निवित की गए है उत्तम प्रग व्यक्तिकरण उस भाव में नहीं दिया गया। भवतव दित्य जगत् से व्यावहार में हर एक मनुष्य का कलाप नियत होता है भपान विर दिया गया है उत्तम प्राप्तव्य की गुणवत्तिमात्रा के अनुसार, उत्तरानि के काष्ठ ही। काष्ठ भव प्रत्येक दृष्टि के नियत दिये एवं करुण्य भी कहे जात ह - ]

(४१) इ परतप ! द्वादश भविय दैत्य भार गुड़ी के व्यवहार वृप्त दैत्य है। (४२) द्वादश के मन्दिरव्यवहार के व्यवहार वृप्त दैत्य है।

शौय तेजो शुक्लिर्विष्य युद्धे चाप्यपलायम् ।

दानमीश्वरमादव्य त्वाऽर्थं कर्म स्वमावजम् ॥ ४३ ॥

कृषिमोरक्ष्यवाणिम्य वैस्यलर्म स्यमावजम् ।

परिव्यागमकं कर्म शुद्धस्यापि स्वमावजम् ॥ ४४ ॥

इह स्वे स्व कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं छमते न ।

स्वकर्मनिरतः लिद्धिं पथा विन्दति तत्कृष्णु ॥ ४५ ॥

यतः प्रशृतिर्भूतानां येन सर्वमिदं तत्तम् ।

स्वकर्मणा तस्म्यर्थ्यं सिद्धिं विन्दति मात्रयः ॥ ४६ ॥

अपर्याप्यामश्चन विश्वन यानी विविष शान और आदिकम्भुष्टि है । (४१) एतता देवस्थिता ऐर्य अस्ता मुद से न मासना गत देना और (प्रथा पर) दुष्मत फूला संविधि का स्वामानिक कर्म है । (४२) इपि अपर्याप्य ऐसीं गोरक्ष यानी पद्मओं का पास्ते का उद्घाट और वाणिज्य अवार्य व्यापार वैसीं का स्वमावजम कर्म है । और, इसी प्रकार ऐसा फूला धूमों का स्वामानिक कर्म है ।

[ चातुर्वर्ष्यवस्त्वा स्वमावजम् गुणमेत दे निर्मित हुरं है । वह न सम्भव व्यय कि यह उपर्युक्त पहले पहल गीता मैं ही कर्त्त्वार्थ यर्ह है । विन्दु महाभारत के कनपर्वान्तर्गत नदुक्षुधिहिरस्वात्र मैं और द्वितीयम्यात्मवाप्त (कल १८ और २१) मैं, शान्तिपर्वे के भ्यु-महाराज्यवाह (कल १८८) मैं अनुशासनपर्वे के उमा महेश्वर-सकाद (अनु १४१) मैं और अस्मेवपर्वे (१४११) की अनुशीता मैं गुणमेत भी यही उपर्युक्त दुःख अनुर दे पाई जाती है । यह पहले ही वह या तुम है कि अन्त के विविष व्यक्तिगति के गुणमेत दे हो रहे है । तिर खेद विदा गता है कि मनुष्य का यह करुषकम — कि विषे क्या करना चान्ति — किन चातुर्वर्ष्यवस्त्वा दे निष्ठत दिया जाता है वह व्यवस्था भी प्रहृति के गुणमेत व्य परिणाम है । अब वह प्रहृतिपात्र बनते है । कि उक्त कर्म इएक मनुष्य को निष्ठाम्भुष्टि से अपर्याप्यमर्हप्रवक्षुष्टि दे ही करना चाहिये । अन्यका अन्त का अस्तेवार नहीं चल सकत । तथा मनुष्य के आचरण से ही विषि प्राप्त हो जाती है । तिरि पाने के लिये और और दूरत अनुशासन करने की आवश्यकता नहीं है — ]

(४७) अपने अपने (स्वमावजम् गुणों के अनुसार प्राप्त देवेतावे) कर्मों मैं निष्य रह (देवेताव) पुण्य (उसी से) परम विद्वि पाता है । द्वनो अपने कर्मों मैं सचर रहने से लिद्धि लिए मिलती है । (४८) प्राणिमात्र भी विद्वे प्रहृष्टि हुरं है और विद्वने तारे अन्त का विलार दिष्टा है अपना विद्वे सब अन्त व्याप्त है,

६६ अयान स्वामों विगुण परप्रमात्स्वनुष्ठितात् ।

स्वभावित कम कुर्याप्राप्ति किस्तिपम् ॥ ४७ ॥

सहजं कम कान्तेय सदोपमपि मत्यजेत् ।

स्वारम्भा हि द्वायेष शूमेभाप्तिरिवावृता ॥ ४८ ॥

असक्तवुद्दिः स्वप्र जितात्मा विगतम्पृष्ठः ।

निक्षमपसिद्धिः परमी संन्यासेनाचिगच्छति ॥ ४९ ॥

उत्ती भयन (स्वभावनुसार प्राप्त हनेवाप्त) कमों के द्वारा (केवल साणी अपना छाना से ही नहीं) पृष्ठ करने से मनुष्य को सिद्धि प्राप्त होती है।

[इस प्रकार श्रिनिवास निया गया कि सनुष्य के अनुसार प्राप्त हनेवाप्ते कमों के निकामतुदि से अपना परम-ब्रह्मपरम्परुदि से करना विराट-स्वर्णी परमेभर का एक प्रकार का यज्ञन-पूजन ही है तथा उसी से सिद्धि मिल जाती है (गीता ३.१३ त्र. ४१-४२-४४)। अब उच्च गुणमेघनुसार स्वर्णकला प्राप्त हनेवाप्तम् कदम्ब विनी दूरती हदि से लगाए, अन्यथा कठिन भयना भयिय नी हा करना है। उग्ररूप इस अन्तर पर खलियन के अनुसार मुद्र परने में इन्हा हनेवाप्ते काण वह सर्वाप चिनाएँगा। तो ऐसे लग्न पर मनुष्य को क्या करना पाएंगे? स्वा वह स्वरम् का आकर अन्य चम शीशर कर से (गीता ३.३६) या कुछ मी हा स्वरम् वा ही करता जावे? यांसि स्वरम् ही करना पाएंगे तो क्योंकि कर! इस्पादि प्रभौ का उत्तर उसी स्पाय के अनुरूप से कलाया जाता है जि या इन भयाय में प्रथम (१८.१) यज्ञप्राप्त भादि कमों के कम्पय में बहा गया है - ]

(४०) पश्चिम परम वा भास्तरण सहज हो सा मी उक्ती भयन अस्ता प्रथम वानुपन्त्यविद्वित कम विगुण यानी कशेष हन पर नी भद्रिन व्यायाम कारक है। स्वप्नाविद्व भयन गुगस्वद्यानुसार निर्मित की हुए वानुक्ष्यम्बन्धया दारा नियन किया ज्ञाना भयन कम करने में काँप पान नहीं सकता। (४८) हे शीलय तो कम सहज है भयन कम से ही गुगकम्बिन्द्यगवुकार नियत हा गया है वह लगाय हा तो की ज्ञ (ज्ञी) न आना पाएंगे। क्षादि शूग भारम्भ भयन उद्याग (जिसी न जिसी) दाय से क्यों ही ज्ञान रहन है? ऐसे हि पुर ग ज्ञान विनी रहती है (४९) भक्ति वही जी भाग्निक न रक्ष कर भन का दग में करन निकामतुदि भ परने पर (अमर ५) ज्ञान दारा पाप देवध्याभद्रि भन है। जाती है।

[इस उपस्थितामह भृप्राप्त में पहले स्वप्न एव उनी दिवारी वा भव विर स एव वर विकाया रखा है कि वरान भन वी भरण स्वरम भय दे (गीता ३.३) भर नेत्राभ्य दरने विष कम देवन की भास्तरणना ज्ञी

हे (गीता ३ ४) इत्यादि । हम गीता के सीधे अप्याय में जीवे सोक भी दिव्याणी में पेसे प्रभो का स्थानरज कर सकते हैं कि नैकर्म्य क्षय बलु है । और सभी नैकर्म्यधिकि किसे कहना चाहिये । उक्त उत्तरान्त की भूत्ता इस बात पर प्रयान लिये रहने से तहज ही समझ में आ जायेगी कि सन्वादमास्त्रमें भी इही भेदभाव पर ही रहती है और मास्त्रमें भी इदि मोष एवं छोड़न्तप्राप्त द्वेषों पर समान ही है । शोषणप्राप्त के सिये अर्थात् समाव के बारण और पोषण के निमित्त ज्ञानविश्वास्त्रमें पुरुष अथवा रज म वस्त्रार का बौद्ध उत्तरान्तेष्वादे एवं शरीर, तथा कितान ऐस्य देवकारी शूद्धार, कर्त्त दुम्हार और मौत्रकिलेता भ्याव एवं भी भी आवश्यकता है । परन्तु यदि कर्म छोड़े किना उत्तमुच मोष नहीं मिलता, तो सब ज्ञेयों का अपना अपना भ्यक्षण छोड़ कर सन्यासी का ज्ञाना चाहिये । उत्तमसन्यासमाग के लिये इस बात भी देखी कुछ परामर्श नहीं करते । परन्तु गीता की इही उनी सद्गुरित नहीं है । इत्यादि गीता रहती है कि अपने अपिकार के अनुसार प्राप्त हुए भ्यक्षण को छोड़ कर दूरी के भ्यक्षण एवं मत्त उम्ह कर के करने लगता राखित नहीं है । कोई भी भ्यक्षण स्वीकृते उष्में कुछन कुछ तुष्टि अवस्थ रहती नहीं है । ऐसे ग्राहण के लिये किंतु विहित दो शान्ति है (१८ ४२) उसमें भी पक क्षय देय यह है कि उम्हावान् पुरुष तुष्टं समक्ष चारा है (मा शा १३ ३४) और भ्याव के फेसे में मातृ देवता भी एक फलस्त ही है (मा शा ८ १) । परन्तु इन कठिनाव्यों से उम्हा कर कर्म को ही छोड़ देना उचित नहीं है । किंतु यी करने से स्वो न हो वह एक वार मिसी कर्म को अपना लिया तो फिर उसकी कठिनाई या अपिकार की घट्टाह न करके उसे भाविति छोड़ कर करना ही चाहिये । स्वोंकि मनुष्य की उम्हा महत्त्व उसके भ्यक्षण पर निर्भर नहीं है । किन्तु किस तुष्टि से वह आमना भ्यक्षण का अम करता है उसी तुष्टि पर उसकी बाध्यता अव्याप्तमहति से अवहमित रहती है (गीता २ ४०) । किसका मन धार्त है और कितने वर प्राणियों के अनुरूप वरका दो पात्रान लिया है वह मनुष्य चाहित या भ्यक्षण से जाहे क्षार्द्ध, निष्काम तुष्टि से भ्यक्षण करनेवाल वह मनुष्य ज्ञानसन्ध्यातीत ग्राहण अथवा अप्या एवं अविद्य की करान्ती का माननीय और मोक्ष का अपिकारी है । यही नहीं कर ४९ वें अप्लोक में स्पष्ट कहा है कि कर्म छोड़ने से यो तुष्टि प्राप्त भी रहती है वही निष्कामतुष्टि से अपना अपना भ्यक्षण करनेवालों को भी मिलती है । मातृकर्त-भम का यो कुछ रहत्व है यह है वह यही है तथा महायात्र देश के यात्रुवर्गी के तिहाई से त्वय होता है कि उक्त रीति से भावरन करके निष्कामतुष्टि के तत्त्व का अमउ में स्वना कुछ असम्भव नहीं है (देखा गीतार्प १३ प्र. २८) वर ऊरुत्त है, जि अपने अपने कर्मों में वापर रहने से ही अन्त में मौज हैमें प्राप्त होता है । ]

५६ सिद्धि प्राप्तो यथा व्रह्म तथाप्नोति मिदोष मे ।

समासनेव कौमुदय मिठा शामस्य या परा ॥ ५० ॥

शुद्धा विशुद्धया युक्तो धूत्यात्मालं नियम्य च ।

शशाक्षीम् यिष्यास्त्यक्षत्वा रागद्वेषौ व्युपस्य च ॥ ५१ ॥

यिष्यित्वासेवी लघ्याशी यत्थाकायमामस ।

भ्यानयोगपरे मित्य द्वैराग्यं समुपाभितः ॥ ५२ ॥

आद्वकारं वर्णं इप कामं कोर्षं परिप्रहम ।

विमुच्य निर्ममः द्वाप्तो व्रह्मभूयाथ कल्पत ॥ ५३ ॥

व्रह्मभूतं प्रसक्षात्मा भ शाचति भ कौक्षति ।

समः सर्वेषु भूतेषु मन्त्राङ्किं छमते पराम ॥ ५४ ॥

भक्ष्या भामभिजाताति यावान्यज्ञास्मि तत्त्वतः ।

तता भां तस्कतो शात्वा विश्वे तत्त्वनन्तरम ॥ ५५ ॥

सर्वक्षमाण्यपि सदा कुवाणा भद्रधयाभयः ।

मन्त्रक्षाद्वादयामाति द्वाभ्यत पदमत्ययम ॥ ५६ ॥

( ६ ) हे शौनकेय ! ( इस प्रसार ) मिदि प्राप्त हान पर ( उक्त पुरुष को जनी भी परम निदा - व्रह्म - भिन्न ऐति से प्राप्त हासी है उसका भी सधार से बर्पन करता है तन । ( ७ ) युज बुद्धि से युक्त हो कर्ते ऐय से भायक्षण्यमन कर यह भावि ( इन्द्रियो क ) किष्या की छाँ करके और ग्रीति एव इप का धूर कर ( ८ ) किंच अचान्क युक्ते इप अध्या एकमत्त श्याम में रहनगाडा मिताहारी श्यामा रीर मन का वश में रामनवामा नित्य ज्यानयुक्त धीर विरेण ( ९ ) ( देवा ) गर्वार च इप काम प्राप्त धीर परिप्रह भर्त्यान् पाय वा छाँ कर शान एव ममता भ राहुल मनुष्य अमन्तु हान क लिय गुप्त होता है । ( १० ) मन्त्रभूत हा हान पर ग्राप्तिरित हा कर दह न हा गिरी गाका ती ही करता है । धीर न गिर्मि क इप । तथा ममता ग्रान्तिमात्र म नम हा कर मी परम भूति का ग्राम चर न्ता है । ( ११ ) भूति म ग्रामा देता तान्त्रिक ज्ञान हा गता है ग्री मै गिरना है । भूर च ह इन प्रसार मीरी तान्त्रिक पद्मान हा गन पर चह मुन्ने ही ग्री चरन । ( १२ ) 'त्र मरा ही नाभय कर तद क्षम बरन रहने पर चह उम मर पर्म भ ग्रामत ताप ग्राम ग्राम हाता है ।

यह । त्र मिताहारा का उत्त दान बमर्याद्या का ८ - बन्दमन्याद

९ - पर्म का नीर भरने में ही है च भर त १२ ग्राम मै बना है ।

इह चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्वरः ।

सुदियोगमुपाधित्य मनिषः यत्तत भव ॥ ५७ ॥

कि उक्त वर्णन आयकि ओढ़ कर कर्म द्वैतेवासी का है तथा अन्त के ५३ वें श्लोक में सब इमं करते रहने पर मी शम्भ आये रहे । उक्त वर्णन भवो के अथवा द्विष्टातीतो के ही ज्ञान है । यहाँ उक्त कि, तुम यह मी उसी वर्णन से लिये गये हैं । उदाहरणार्थ, ५३ व श्लोक का 'परिमह द्वच्छ आमै अप्याप (६ १) मै योगी के वर्णन मै आया है ५४ वें श्लोक का न शोचति न करति पद चारादै अप्याप (१२ १७) मै मनिषाग के वर्णन मै है और 'विविष्टसेवी (अवाक् तुले हुए एकत्र स्पष्ट मै रहा) यह १३ व अप्याप के १ वें श्लोक मै आ चुका है । कर्मयोगी को प्राप्त हैनेवासी उपर्युक्त अनित्य मिथि और कर्मसंन्वासमासों से प्राप्त हैनेवासी अनित्य मिथि दोनों देवता मानसिक दृष्टि से एक ही हैं । 'सी से सन्यासमागमी दीक्षाकर्ता' वे पह वहने पा अक्षर मिल गया है कि उक्त वर्णन हमारे ही भावं भर है । परन्तु इम एवं वार अथ तुके हैं कि पह सच्च अर्थ नहीं है । अस्तु इस अप्याप के आरम्भ मै प्रतिपादन किया गया है कि सन्यास का अर्थ कर्मयोग नहीं है किन्तु परमाणुके स्थान को ही सन्यास छहते हैं । अब सन्यास यह का इस प्रकार अर्थ हो चुका है कि यह दूष भावि कर्म चाहे काम्य हों चाहे किस्य हा या नैमित्तिक, उनको अन्य सब कर्मों के समान ही फलमणि ओढ़ कर उत्ताह और समर्ता से करते जाना चाहिये । सत्तनन्तर संचार के कर्म कर्ता तुमि भावि उम्मूल विद्यों की गुणभेद से अनेकता दिव्यम् कर उनसे सारिक को भेद कहा है; और गीताराम का इत्यर्थ यह क्वत्यस्या है कि चातुर्वर्ण्यमध्यक्षसा के द्वारा सम्भार्तुष्टर मास हैनेवासी दमस्त कर्मों को आहुति ओढ़ कर करते जाना ही परमेश्वर का पञ्चपूजन करना है । एवं कर्मयोग इसी से अन्त मै परमाणुक अप्याप मोक्ष की प्राप्ति होती है — मोक्ष के लिये नोर्म वृत्तया अनुशृणु करने की आवश्यकता नहीं है अथवा कर्मस्याग्रही सन्यास स्नेह की मी बन्धत नहीं है । फैक्षन इस कर्मदोष से ही मोक्षसहित सब लिखियों प्राप्त हो जाती हैं । अब 'सी कर्मयोगमाग का सीकार कर स्नेह के लिये अर्जुन का पिर पक वार अनित्य उपर्युक्त करत है ।— ]

( ७ ) मन रे सब कर्मों को मुझमे 'सन्यम्य भर्षान् समर्पित करके मत्यराम द्वेषा तुमा ( काम्य ) तुदियोग के आभव से हैमेषा मुक्तमे विचर रह ।

[ तुदियोग यह दूसरे ही अप्याप ( २ ४९ ) मै आ चुका है अर वही उत्तरा भव वस्त्रा म तुदि न राप कर कर्म करने की मुक्ति भवता समन्व तुदि है । परी अर्थ यहीं मी विवरित है । दूसरे अप्याप मै ये यह कहा था

६६ सिंहुं प्राप्तो यथा ब्रह्म वयाप्रोति मिष्ठोपमे ।

समादेनैव कौन्तेय निष्ठा हामस्य या परा ॥ ५० ॥

बुद्ध्या विशुद्धमा पुको शूत्यास्मामं नियम्य च ।

गत्वावीन् विद्यास्त्यक्त्वा रामद्वेषो व्युत्स्य च ॥ ५१ ॥

विविक्तसेवी लभ्याइ यत्याकायमानस ।

स्थानयोगपरो निष्ठं दैराग्यं समुपाभित ॥ ५२ ॥

अहंकारं चले दर्प कामं कोष्ठे परिप्रहम् ।

विमुच्य मिर्मम् शास्त्रो ब्रह्मसूत्राय फस्यते ॥ ५३ ॥

ब्रह्मभूतं प्रसन्नात्मा न शोचति न क्षीसति ।

समः सर्वेषु भूतेषु महर्किं समते पराम् ॥ ५४ ॥

महत्या मामभिजाताति पावान्यज्ञास्मि तत्त्वतः ।

तता मी तत्यतो हात्वा विष्टते तत्त्वन्तरम् ॥ ५५ ॥

सर्वकर्माण्पिपि सदा कुशाणा मद्रपपाभ्यः ।

मन्त्रसादावकाप्रोति दाभ्यत फूमस्ययम् ॥ ५६ ॥

(६) हे बौद्ध ! (इस प्रकार) विद्वि प्राप्त हामे पर (ठुड़ पुरुष को शनी परम निः - ब्रह्म - विनु रीति से प्राप्त होती है उसका मैं संक्षेप से वर्णन करता हूँ शन । (६१) शुद्ध बुद्धि से युक्त हो बरक दैर्य से आत्मचयमन फट, शुद्ध आर्मि (निःया के) विद्यायों को छोड़ बरक और ग्रीति एव हैप दो दूर बर ( ) विदित अपात युक्त शुद्ध अपद्या प्रकाश्त रथक मै रहनेवाला मिळाहटी शाया बाप्ता और मन को बध मै रहनेवाला निन्य एवान्युक्त और वित्त (६२) (तथा) नहेहार, कम दर्प काम त्राप और परिप्रह भर्यान् पाप का छां बर शान एव ममला से रहित मनुष्य ब्रह्मभूत होने के लिय लम्प होता है । (६३) ब्रह्मभूत ही शन पर प्रसापनित हो कर वह न हो निर्मी भाका ग ही करता है; और न निर्मी का द्वय ही शन समझन प्राणिमात्र मै सम ही बर मरी परम मर्ति की प्राप्त कर लेता है । ( ) मर्ति न उमरा मेरा तात्त्विक शन हा जाता है नि मै जिन्हा हैं ? नार कान ह इस प्रकार मेरी तात्त्विक परम्परा हो जन पर वह मूर्खों ही प्रवेश करता है ( ) और मेरा ही भाभ्य बर छन कर्म बरत रहने पर मी उन मेर भनुपर ह शाभ्यन पृष्ठ भर्यय रथान प्राप्त होता है ।

[ यह रह नि मिडास्था का उत्त शन ब्रह्मपाणियों का ह - कमलन्याम - बर - रात्रि पृष्ठों का नहीं । भारतम मै ही ४५ के और ४६ के लगाव मै क्या है ]

॥ ६ स्वयुग्मतम् भूयः शूण्य मे परम वचः ।

इष्टोऽसि मे द्वदिनिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ ६४ ॥

मैंने यह गुप्त से भी गुप्त ज्ञान द्रुपदे कहा है। इष्टव्र पूर्ण विचार करके ऐसी ऐसी इच्छा हो देता कर।

[ अन्त स्लोकों में कर्मपराधीनता एवं ये गृह तत्त्व वक्तव्यमात्रा गया है उपरा विचार गीतारहस्य के १ वें प्रकरण में किसारपूर्क हो चुका है। वरपरि आत्मा मव्य स्वतन्त्र है तबापि ज्ञान के अर्थात् प्रहृति के स्वयंवहार को देखने से मात्रम् इच्छा है कि उस कर्म के जहाँ पर आत्मा का दुष्ट भी अभिकार नहीं है तिंचे अनादि काल से पछ रहा है। किन्तु हम इच्छा नहीं करते किंतु ये हमारी इच्छा के किपरीत भी है ऐसी ऐक्षण्ये हम्बरों जाते उत्तर में दुमा करती हैं तथा उनके व्यापार के परिणाम भी हम पर होते रहते हैं। अध्या उच्च स्वामारों का ही दुष्ट माण हमें करना पड़ता है। यदि इनका करते हैं तो उनका नहीं है। देखे अद्वितीय पर ज्ञानी मनुष्य अपनी दुष्टि को निर्मल कर और मुमुक्षु वा दुष्टि को एक सा समझ कर सब कम किया करता है; किन्तु मूर्ति मनुष्य उनके फौटे में कैसा बाता है। इन नेतृत्वे आत्मरण में यही मात्रालूप में है। मात्रान् ने तीव्रते ही अध्याय में कह दिया है कि सभी ग्राणी अपनी अपनी प्रहृति के अनुसार चलते रहते हैं वहाँ निप्रहृत्या बैरेण ! (गीता १ ३३)। ऐसी विधि में मात्रालूप अध्या नीतिशास्त्र "ज्ञाना उपेष्ठ वर उक्ता है तिंकर्म मैं भाविति मत्ता रहो। इससे अधिक वह दुष्ट नहीं कह उक्ता। यह अप्यारमादिति से दिवत् ज्ञाना। परन्तु क्षमिता वी हृषि स प्रहृति भी ता इस्तर का ही भय है। अतः यही निदान ६१ वें और ६२ वें स्लोक में रंधर को सातो कर्मत्वं लीप कर वक्तव्यमा गया है। ज्ञान में वा दुष्ट स्वयंवहार हो रहे हैं उन्हें परमेश्वर देखे चाहता है, उस करता रहा है। इसलिये ज्ञानी मनुष्य को उक्तित है तिंभाष्ट्रादुष्टि द्वारा कर अपन भाव की लव्यादा परमेश्वर की हत्याने कर देते। ६३ वें स्लोक में मात्रान् ने कहा है नहीं कि उम्भी तेरी इस्तर हा देता कर फल्तु उक्ता भय कहा गम्भीर है। इन अध्या मति क ज्ञाना वहाँ दुष्टि लाम्बाक्षरा में पूर्णी वही निर उर्गी इप्ता व्यस्ते ही नहीं पत्ती। भावद्वेष मन्त्री पुरुष का 'इच्छा लालाल्प्य' (इच्छा वी लालाल्प्य) उमे भप्ता ज्ञान को कर्म भद्रित्याकर नहीं हा रक्षा। इन्हीं व उन भीष्म का दीर्घ दीर्घ भावाप पट है तिं क्षी ही तू इति इन को लम्ता भय (निमृग्य) त्वा ही तू स्वप्नवाणि हा जायगा; और निर (पटे मै १) १ भम्भी इच्छा म वा कर्म व्यवहा वी भय एवं प्रमाण दीर्घ तपा निमृग्य की तरीं भप्ता प्राप्त हा ज्ञान पर तरी इच्छा की तीने वी भावारम्भा १८ वा १९ वा भम्भी लालाल्प्य १८ वा प्रमाण मै इति निमृग्य तुम है तिं

भवित्वा यथागाणि भावनाशास्त्रिप्यन्ति ।

अथ यस्यमात्राप्रभाव्यमि दिनभ्यमि ॥ ५८ ॥

६९ यद्देहारमाभिष्य म यात्य इति मन्यम् ।

मिथ्या व्यवसायम् प्रतिस्त्वा नियाश्यति ॥ ५९ ॥

मध्यापन शाला परिवद्ध करने की क्रिया।

१८ नवमी शुक्रावर्षास्त्रियनार्द्धपूर्ण १९७४

१५ सुभानी ब्रह्मा शिष्टि ।

धार्मिक अवधारणा । १३

સુર શાહ પટેલ મનોમાયન ખાત્ર ।

બાળ પાઠ્ય માલી પાઠ્ય સાહિત્ય ગ્રંથાલઙ્કાર | ૧૩ |

मित्र व्यापारी समूहों का सम्मेलन

બિન્દુસાહિંગ મધ્યસ્તાની પણ એટા ૫૩ વા

ପିତାର ମହାଦେଵ ନାମ କିମ୍ବା କିମ୍ବା କିମ୍ବା କିମ୍ବା  
କିମ୍ବା କିମ୍ବା କିମ୍ବା କିମ୍ବା କିମ୍ବା କିମ୍ବା କିମ୍ବା କିମ୍ବା  
କିମ୍ବା କିମ୍ବା କିମ୍ବା କିମ୍ବା କିମ୍ବା କିମ୍ବା କିମ୍ବା କିମ୍ବା  
କିମ୍ବା କିମ୍ବା କିମ୍ବା କିମ୍ବା କିମ୍ବା କିମ୍ବା କିମ୍ବା କିମ୍ବା

କାନ୍ତିର ଦିଲାହା ପାଇବା ମାତ୍ର ନାହିଁ ।

कर्तव्य विनाश के लिए

१६ सर्वदुष्टतम् भूषः शृणु मे परमं चक्षः ।

इषुडसि मे द्विमिति वतो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ ५४ ॥

मैंने यह गुप्त से भी गुप्त लक्ष्मि कहा है। इच्छा पूर्ण विचार करके ऐसी हेठी इच्छा हो वैषा कर।

[ इन भ्यामी म कर्मपराधीनता का ये गृह तत्त्व वक्ष्यावा यता है । उत्तर विचार गीताएहस्य के २ वे प्रकरण में विकारपूर्वक हो चुक्ष है । यद्यपि आम्ना व्यवहार स्वतन्त्र है । उपायि काल् के अर्थात् प्रहृति के व्यवहार को ऐसे से मालूम होता है कि उच्च कर्म के वक्ष पर आम्ना वा उच्च भी व्यक्षित नहीं है कि ये अनादि काल से चल रहा है । जिन्हीं हम उच्च नहीं करते वक्ष ये इमारी इच्छा के विपरीत भी हैं । ऐसी ऐसी हृष्टों द्विवारा बाते उचार में पुर्वा करती हैं तथा उनके व्यापार के परिणाम भी हम पर होते रहते हैं । अपका उच्च व्यापारी का ही उच्च भ्याग हमे करना पड़ता है । यदि इन्कर करते हैं तो बक्षा नहीं है । ऐसे अवसर पर लक्ष्मी मनुष्य अपनी बुद्धि को निर्मल कर और कुछ या कुछ की एक या समझ कर सब कर्म किया करता है । जिन्हुं मूर्ख मनुष्य उन्हें छोड़ मे छें बाता है । उन लोगों के आपका मे यही महत्त्वपूर्ण भेज है । मालान् ने तीव्रे ही अध्याय मे कह दिया है कि सभी प्राणी अपनी अपनी बुद्धि के भनुष्यर वक्षते रहते हैं वहों निश्च भया भरेगा । (गीता १ ११) । ऐसी वित्ति मे मोक्षाद्वय अध्यया नीतिशास्त्रना उपयोग कर उठता है कि कर्म मैं आठलिं मह रखो । उससे अधिक यह उच्च नहीं कह सकता । यह अम्बालमहादि से विचार हुआ । परन्तु भक्ति की दृष्टि से प्रहृति भी हो न्यूनर क्ष ही अप है । अत यही विकान्त ६३ वे और ६२ मे स्वेक मे न्यूनर ये चारा व्युत्त्व लौप कर उठता गया है । काल् मे ये उच्च व्यवहार हो रहे हैं उन्ह परमेश्वर ऐसे बाहता है, जैसे करता रहा है । उसमिये ज्ञनी मनुष्य को अधिक है कि भद्राद्युष्मि छोड़ कर अपने आप को उर्वपा परमेश्वर के ही इचामे कर दे । ६१ वे स्वेक मे मालान् ने कहा है उही कि ऐसी देती इच्छा हो जैसा कर, परन्तु उत्तम अर्थ कुरु गम्भीर है । उन अपका भविष्य के द्वारा वहों बुद्धि साम्याकरण मे पूँजी वहों किस तुरी इच्छा बन्ने ही नहीं पाती । अतएव ऐसे ज्ञनी पुरुष का 'इच्छम त्वामस्व' (इच्छा भी स्वाधीनता) उसे अपका काल् ये कभी अद्वितीय नहीं हो लगता । उसमिये उत्तम स्वेक का ठीक ठीक भावार्थ यह है कि व्यों ही त् इच्छ उन का व्यक्ष लेगा (विमूर्ख) त्यो ही त् ख्याम्नाथ हो ज्यगत् और भिर (पहुँचे हे नहीं) त् भासी उच्च से वा कर्म करेगा वही वर्म्य एव व्याप द्वेष्या तथा विक्षम्य की ऐसी अवस्था प्राप्त हो जाने पर लेती उच्च की रेखने की अवस्थाका ही न रहेगी । भलु, गीताएहस्य के १४ मे प्रकरण मे इम जिन्हें तुके है कि

मन्मना मथ मझको मधाजी माँ नमस्कुरु ।  
मामेवैप्यसि सत्य त प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ ६५ ॥

सवभर्मान् परित्यम्य मामेकं इरणं घम ।  
अहं स्या सर्वपापेष्यो मोक्षादिप्यामि मा शुच ॥ ६६ ॥

[ गीता में शन की अपेक्षा मक्ति का ही अविक्ष मरण विद्या गया है । इस सिद्धान्त के अनुसार अब सम्पूर्ण गीताधार्य का व्यक्तिप्रधान उपस्थार करने है :- ]

( ६४ ) ( अब ) अनन्त की एक शत और मुन कि थे सब से गुण है । वे मुझे अत्यन्त प्यारा है । उससिये मैं तेरे द्वितीयी की बात कहता हूँ । ( ६५ ) मुस्तम अफ्ना मन रप । मेरा मक्त हा । मेरा यज्ञ कर और मेरी यज्ञना कर मैं तुमसे सत्य प्राप्तिल्ल फरके कहता हूँ कि ( उससे ) तू मुस्तम ही आ मिलेगा । ( क्वोकि ) तू मेरा प्यारा ( मक्त ) हे । ( ६६ ) सद घमों को छोड़ कर तू केवल मेरी ही शरण में आ जा । मैं तुम्हे सब घमों से मुक्त करौगा दर मत ।

[ वेरे लग्नमास के टीकाकारों को यह व्यक्तिप्रधान उपस्थार प्रिय नहीं लगता । इससिये के अम शब्द म ही अध्यम का समापेश करके कहते हैं कि यह अमोऽ क्षेत्रप्रियम् द के उस उपर्योग से समानार्थक है कि अम अध्यम इत अहृत और मूल शब्द सब की छाँट कर उनके परे रहनेवाले परजाय को पश्चान्तो ( कृत २ १४ ) तथा इच्छमे निर्मुख ब्रह्म की शरण म जाने का उपर्योग है । निरुग ब्रह्म का बणन करते राम्य कृत उपनियद का अमोऽ महामारत म मी आया है । ( शा १२ ४ १३ १४ ) । फरल्नु देना स्थाना पर अर्थ और अध्यम द्वारा पर खेते स्पष्टतया पाये जाते हैं ऐसे गीता मैं नहीं है । यह सब ह कि गीता निर्मुख ब्रह्म की मानदी है और उसमें यह निश्चय मी किया है कि फरमेश्वर का वही लक्ष्य भेद ह ( गीता ७ १४ ) । तथापि गीता क्व यह मी तो सिद्धान्त है कि व्यक्तिपासना मुख्यम और भेद है ( १८ १८ ) । और यही मगावान् भीहृष्ण तानने व्यक्त त्वरण के विषय मैं ही अह रहे हैं । उस कारण इमरा यह इह मत है कि यह उपस्थार व्यक्तिप्रधान ही है । अर्थात् यही निर्मुख ब्रह्म विविक्षित नहीं है । किन्तु कहना चाहिये कि वहीं पर अर्थ शब्द से परमेश्वरप्राप्ति के लिये शास्त्रों म ये अनेक मार्ग बहलाये गये हैं - ऐसे अहिकार्यं सत्यवर्द्धं मातृपितृत्वेवाभ्यं गुरुसेवाभ्यं यस्यापात्मम डानाभ्यं सत्यापात्म्यं, आति - वे ही अभिप्रेत हैं । महामारत के शान्तिपर्वं ( ३ ४ ) मैं एव अनुगीता ( अथ ४९ ) मैं वहीं इस विषय की ज्ञाना हूँ है वहीं अम शब्द से गौल के अन्ती उपायों का उल्लेख दिया गया है । फरल्नु इस स्थान पर गीता के प्रतिवर्त्य अम के अनुरोध मैं मगावान का यह निभ्यायम् उपर्योग है कि उक्त नाना अमा की गान्ध अन यह मैं यह कर मूँहे अकेले ही मज तैया उद्धार कर दूँगा

६६ इर्णे ते नातपस्त्रय नाभकाप कलापन ।

न चाशुभूयवे वाच्यं न च मौ योऽम्यसूयति ॥ ६७ ॥

य इर्णे परमं गुणं मन्त्रकृप्यमिषास्यति ।

भक्ति भयि पर्णे कृत्वा मामवैष्ट्यसंशयः ॥ ६८ ॥

न च तस्मान् मनुष्येषु कृद्विन् मे ग्रियाहत्तमः ।

भक्तिं न च मे तस्माकम्पं ग्रियतात् मुवि ॥ ६९ ॥

६६ अप्येष्यते च य इर्णे धर्मं संवादमाययोः ।

ज्ञानयोगे तेजाव्यमिषुः स्यामिलि मे मतिः ॥ ७० ॥

अनद्वावानन्तसूयम् शूण्यादपि यो चरः ।

सोऽपि मुक्तः शुभांशोकान् प्राप्नुयात्युप्यकर्मजाम् ॥ ७१ ॥

| यह मत (ब्लॉग गीतार्थ पृ ५३)। सार यह है कि अल्प में अर्द्धन ही निर्मित  
कर कर मात्रान् तभी को आवाजन खेते हैं कि मेरी इट महिं परके मत्पराम्ब-  
शुद्धि से स्वर्णमानुषार प्राप्त होनेवाले कर्म करते रहे पर शहस्रों और परम्परे  
देनो काह दुम्हाय क्षमात् होगा इहे मत। यही कर्मवेदा कहतात् है और  
सब गीतार्थ का सार भी यही है। अब कहते हैं कि इस यीतार्थ की अर्थात्  
अनमूलक मधिष्ठान कर्मवेदा की परम्परा भागे हैं ऐसे यही रहे चाहे ।-

(६७) ये तप नहीं करता भक्ति नहीं करता और मुक्ते भी इष्टम नहीं  
करता; तपा ये मेरी किन्ता करता हो उठे वह (गुण) कभी मत करता। (६८)  
ये यह परम गुण मेरे लक्षों द्वे करतेकेगा उत्तमी मुह पर परम भक्ति होयी और क्या  
निस्तन्त्र युक्तम ही आ मिष्टेगा। (६९) उत्तमी भक्तिं मेरा अभिक्ष प्रिय करनेवाला  
समूर्धं मनुष्यों मैं पूर्ण होई भी न मिष्टेगा तपा इस भूमि मैं मुझे उत्तमी भक्तिं  
अभिक्ष प्रिय और होई न होगा।

| [ परम्परा की रक्षा के इष्ट उपदेश के साथ ही अब इस कहने पर है - ]

(७) हम देना के इष्ट कर्मचार ता ये अप्ययन करेगा, मैं उमर्हाता कि  
कहने इतनपद से मेरी पूछा ही। (७१) इसी प्रकार शेष न होइ कर महा के इष्ट  
ये होइ इसे मुक्तेगा वह मीं (पापों से) मुक्त होतर उन द्वाप घोरों मैं जा पहुंचेगा,  
कि ये पुण्यकान खोगी को मिलते हैं।

| [ यहौं उपदेश उमात हो जुता। अब पह चौथने के लिये कि यह अभि  
अर्द्धन के दमास मैं टीक टीक आ दमा है पा नहीं! - मात्रान् उत्तरे पूछते हैं:- ]

३६ कवितेतत्पुतं पार्य स्वयैकापेण चेतसा ।

कविष्वामासमोहः प्रनहस्ते भग्नय ॥ ७२ ॥

भुन वकाच ।

मां मोह सूलिर्षवा स्वव्यसावाग् मयाच्छुत ।

स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचन तद् ॥ ७३ ॥

सङ्ग्रह वकाच ।

३६ इत्यह वासुदेवस्य पार्यस्य च महामना ।

संवाइमिममधौपमन्तुत रोमहपणम् ॥ ७४ ॥

व्यासमसावाच्छुतवानेतद्युगुष्टमाह परम् ।

योर्म योगेश्वरास्त्वाण्णास्ताक्षयपतः स्वयम् ॥ ७५ ॥

(७२) हे पाप ! तुम्हे इसे पकाम मन से मुन तो क्या है न ? (आर) हे फनड़प ! तुम्हारा अश्वनरूपी माह अब सबसा नष्ट हुआ कि नहीं ! भुज ने कहा :- (७३) हे अच्छुत ! तुम्हारे प्रकार से मेरा मोह नष्ट हो गया आर मुझे (इन्हें यहम की) स्मृति हो गा । मैं (भव) निष्ठन्तेह हो गया हूँ । भाषणे उपरेणा तुम्हार (मुह) कर्म्म्या ।

[ किनकी साप्तरायिक तमस पह है कि गीतावत में भी संहार का ढांड हेने का उपरोक्त विवर गया है । उन्हमें इत भृगुम भृपत् ३१ वे न्योक की बहुत कुछ निष्ठपत्र लीचाकानी की है । परि विचर विवर विवर काय कि भुज का विव वात भी विस्मृति हो गए थे । तो पवा छोड़ा कि दूसरे अध्याय (२ ७) म उठने कहा है कि अपना घर्म भयका क्षम्य तमसमें मैं मेरा मन भलमय हो गया है (प्रसम्भूतेता ) भठ उक्त क्षेत्र का सरस अप यही है जि उक्ती (भूल हुए) भावपत्र की भव उसे स्मृति हो भा है । भुज का मुद मेरापूर्व करने के लिये गीता का उपरेण विवर गया है और स्पान रथान पर ये शब्द हैं हैं कि इत विवे दुकुदक्षर (गीता २ ११ २ ३० १३ ३ ८७ ११ १४) । अतएव इत भापक भाशानुकार कर्म्म्या पह का भर्म मुद कर्म्म्या हूँ ही होता है । भव भीहण और भुज का तदात तमात हआ । भव महामारत की वका के नाम्भनुकार तद्युपतार हा पह क्या मुना कर उत्तरार करता है :- ]

तद्युप ने कहा :- (७५) इत प्रकार शर्पिर को रमाश्चित्र वरनेताण वद्युते भीर महामा भर्म्म का पह भद्रभुत तदात मैंने कुना । (७६) व्यातकी के भनुपह ने मैंने पह परम गच्छ - यानी यंग भयां वमयेग - वापात् यागेभर स्वय भीहण की है मगर से कुना है ।

राजन् संस्कृत्य संस्कृत्य संवादमिममनुत्तम् ।  
 केवलार्गुनयोऽपुण्ये कृप्यामि च मुहमुहुः ॥ ७६ ॥  
 तद्व संस्कृत्य संस्कृत्य इत्यमायभूतं हरे ।  
 विस्मयो मे महान् राजन् कृप्यामि च पुनः पुनः ॥ ७७ ॥  
 यत्र यामेश्वरा कृप्यो यत्र पायो अनुर्ध्वं ।  
 तत्र श्रीविजयो भूतिर्षया नीतिसातिसम् ॥ ७८ ॥

श्रुति भीमब्रह्मद्वीतामु उपनिषद्सु व्रस्तविद्याया योगद्वाद्ये श्रीहृष्णाकुरुत्वादे  
 मोक्षन्यासुदोगो नाम अद्यात्मोऽप्याय ॥ १८ ॥

[ यहेही किं आये है, कि अाप ने सञ्चाल के दिवापि दी थी । किसेहे रणभूमि पर होनेवाली सारी घटनाएँ उसे भर भेडे ही दिलाई देती थी । और उन्हीं का वृचान्त वह शूद्रपाइ है निवेदन भर देता था । श्रीहृष्ण ने किं योग अथ प्रतिपादन किया वह कर्मपीठ है ( गीता ४ १-३ ) और अर्कुन ने पहले उठे 'योग' ( ताम्ययोग ) कहा है ( गीता ६ ३१ ) तथा अब उड़व भी श्रीहृष्णाकुरु के संवाद को इस क्रोक में 'योग' ही कहता है । इससे सह है कि श्रीहृष्ण अर्कुन और उड़व तीनों के मतभूत्याकार 'योग' अथात् कर्मयोग ही गीता का प्रतिपाद्य विषय है । और अप्यावसामातिसूक्ष्म सञ्चाल्य में भी वही - अथात् योगद्वाद्य - शब्द आया है । परन्तु योगेश्वर शब्द में 'योग' शब्द अथ अर्थ हस्ते कही अधिक स्पष्टक है । योग का सामाजिक अर्थ कर्म करने वी मुक्ति, कुष्ठला पा देखी है । उसी अर्थ के अनुसार कहा जाता है कि शूद्रसंविधा योग हे अथात् कुष्ठला से अपने स्वाग का बचा है । परन्तु अब कर्म करने वी मुक्तियों में भेद मुक्ति की लोकते हैं तब कहना पस्ता है कि किस मुक्ति से परमेश्वर मूल में अप्याय होने पर भी वह अपने आप की व्यक्त स्वरूप देता है वही मुक्ति अपना योग सत्र में भेद है । गीता में 'सी को ईस्ती योग' ( गीता १ ५; ११८ ) कहा है । और वेदान्त में किसे माया कहते हैं वह भी वही है ( गीता ७ २५ ) । वह अधिक अपवाह अपवित्र योग किसे लाभ ही जाव उसे अन्य सत्र मुक्तियों तो हाव का भैक है । परमेश्वर इन योगों का अपवाह माया अधिपति है । अतएव उसे योगेश्वर अपवाह योगों का स्वामी कहते हैं । 'योगेश्वर शब्द में योग का अर्थ परमात्मयोग नहीं है । ] ( ७६ ) हे राज्य ( शूद्रपाइ ) ! ऐस्य भार अर्कुन के इस अनुरुप एवं पुष्पकरक तथाव का सरज होकर मुझे बार बार हर्य हो रहा है ( ७० ) और हे राज्य ! श्रीरूप के उस अवस्था अनुरुप विस्तर वी मी बार बार स्मृति होकर मुझे ज्ञान विस्तर देता है और बार बार हर्य होता है । ( ७८ ) मेरा मत है कि यहाँ योगेश्वर श्रीहृष्ण है और यहाँ बनुभर अर्कुन है वही भी विवर शाश्वत देश्य और नीति है ।

[ सिद्धान्त का सार यह है, कि वहाँ मुस्ति भीर शपथ दोनों एकत्रित होती है वहाँ निष्पत्त ही अद्वितीय निष्पत्त करती है। कारी जाति ऐ अपारा के ब्रह्म पुक्ति से काम नहीं चलता। अब अरामाप का ब्रह्म करने पर शिय मन्त्रमाप हो रही थी, तब मुखियिर ने भीडूण से कहा दे कि 'भार्पे पर्यं गं मादृ प्रसेत्य विचाराकः' ( उमा. २ १६ )—इस अध्या भीर बड़े हैं, मुठिमाना का जाहिय कि उसे मारा निष्पत्त करा भीडूण ने मी कह कर, कि 'मधि नीठित्यम् भीमे' ( उमा. २ १ )—मुक्तमें नीति है और भीमसोन के शरीर म बड़े हैं—भीमसुन को साथ से उसके द्वारा अरामाप का ब्रह्म युक्ति ऐ ब्राह्मा है। केवल नीति खत्तमनेकासे को आधा चतुर लक्ष्मना जाहिये। अपार् यामेभर यानी योग या पुक्ति पर इश्वर और चतुर्भर अथवा यादा य दोनों विद्युत्य इउ भ्योह म हेतुपुर्वक रिष गये हैं । ]

इस प्रकार भीमावान् के गाय हुए - अपात कह हुए - अपनिमद् म इष्ट  
दिग्दान्तस्त योग - अपात क्षमयाग - शास्त्रविद्यक भीतृष्ण आर अनुन प संवाद  
में माधव यामयाग नामक अटारहवाँ आद्याप त्रिमात्र हआ ।

[प्यान रह कि भारतवासीयों ग्रन्थ में सन्धान शब्द का अर्थ वास्तविक रूपों का सन्धान है ऐसा कि इन भाष्यायों ने भारतमें वहाँ गया ८ लक्षुप्रधारभास्त्री सन्धान यहाँ विवरित नहीं है इस क्षण्याय में प्रीतिशब्द किया गया है कि लक्ष्यम का न ढार कर उसे परमेश्वर में मन में रख्याम भथान् लक्ष्यित्वा कर देने गे मात्र प्राप्त हो जाता है। अनदेख इस भाष्याय का मात्रायात्मकोग नाम रखा गया है।]

एक प्रकार वाल महापात्र तिथि ही भीमदेवायर्हीता का रहस्यपीडन नाम्न  
प्राप्त भवता दिल्लीनहित नमाम रथा।

गायत्रा युव तुमा पार्शी महाराष्ट्र रिय  
दति निरक्ष वास दुष्प । किंचित्पन  
‘प्राणादेव’ किया भीता १। समर्पित वर  
वाच वाच वाच भूमि इह मे दृश्यं त्राय

१२५ रामायणम्

४ इन्सि एक्सियाल् ५

# गीता के स्थोकों की सूची

स्थोकारम्भः	न	स्थो	प्र	स्थोकारम्भः	न	स्थो	प्र
ॐ तत्त्वशिखि निर्गुणो	१७	१३	८५	अविद्यानि सत्त्वा कर्त्ता	८१	४४	८१
ॐ इत्येकाभ्यर ब्रह्म	८	१३	७४५	अप्यात्मकलाननिस्तर्वं	१३	११	८
अ				अप्येष्यते प य हम	१८	७	८८८
अधीति चापि भूतानि	२	१४	६३६	अनन्तविषय यथा	१	११	११६
भूत ब्रह्म एवम्	८	१	५८१	अनन्तविषय नामाना	१	१	४४२
अभाराणामद्वयोऽस्मि	१	१३	७३१	अनन्तविषय एवते	८	१४	४४१
अग्नियोतिरुद्धुमस्य	८	२४	७४८	अनोद्धार शुर्विष्ट	१८	११	४४५
अप्येष्याऽत्यनुष्ठानोऽप्य	२	२४	६३२	अनादित्वाभिगुणत्वात्	११	११	४००
अप्येष्यि सप्तव्यया मा	४	१	६७१	अनादित्वा चामन्तव	११	११	४०१
अनन्तसाक्षे प य मामेव	८	८	७४६	अनाभिता कर्त्ताकल	६	१	४३
अनन्तव्यु पल तेषा	७	१३	७१७	अनिष्टिष्ठ मिष्य प	१८	१२	४४३
अनन्तकर्त्ता न्मे वेदा	२	१८	६३	अनुग्रहात् वाक्य	१७	१६	४४८
अन एवा महेष्यासा	१	४	६१२	अनुष्ठान सत्य हिंसा	१८	२५	४४४
अप्य तेजः प्रमुखोऽप्य	१	३६	७३४	अनेकविषयविभान्ता	१९	११	४३१
अप्य विष्व समाधानु	१२	१	७१	अनेकव्याप्तिरक्षणेत्र	११	११	४०१
अप्य वेष्यमिम्म वर्त्य	५	११	६३६	अनेकव्याप्तिरक्षणम्	११	१	४०८
अप्य तेजः नियमान्त	२	२६	६३२	अप्याद्वयन्ति भूतानि	१	१४	४३२
अप्यवा योगिनामेव	६	४२	७२२	अन्ये प य कृष्ण एव	१	१	४३३
अप्यवा वृन्देतन	१	४२	७३६	अन्ये लेखानन्तरं	१३	२६	८१
अप्य व्यवस्थितानन्दासा	१	२	६१६	अपर भूतो अम्	४	४	४०१
अप्येष्याऽप्यद्वयोऽस्मि	१२	११	७१	अपरे नियताहारा	४	१	४३१
अप्यवृद्ध द्वितीयाऽप्यि	११	४६	७८५	अप्येष्यमित्वस्त्वन्ना	५	०	४३१
अप्येष्यात्मेष्याद्वय	१०	२२	८१९	अपर्यात उद्धमक	१	३	४३३
अप्येष्यात्मेष्याद्वय	१२	११	७१३	अपर्याते शुद्धिं प्राप्त	४	२१	६१
अप्येष्यात्मेष्याद्वय	१८	१२	८५६	अपि तेजुषु राप्यारो	१	१	४३१
अप्येष्यात्मेष्याद्वय	१	४१	६२१	अपि वेष्यि पापेष्य	४	११	४३४
अप्येष्यात्मेष्याद्वय	१६	२	८१९	अप्यात्मीयाऽप्युत्तिः	१४	११	८११
अप्येष्यात्मेष्याद्वय	१	४	७४१	अप्यात्माभिमित्वा	१०	११	८१०
अप्येष्यात्मेष्याद्वय	८	१	७४	अप्यव्याप्तिरुद्धिः	११	१	४३१

[ सिद्धान्त का सार यह है कि वहाँ युक्ति भार शक्ति देनों परिणत होती है वहाँ निषय ही अद्वितीय निषास करती है। कारी शक्ति से भव्या केवल युक्ति से काम नहीं बखता। अब ब्रह्मचर्च का अप बतने के लिय मन्त्रणा ही रही यी तथ युक्तिहृ ने भीहृष्ण से कहा है कि भार्च वह रा प्राहु प्रेतव्य विवहौः ॥ (समा २ १६) — इह अध्या और वह है उद्दिमानों का चाहिये कि उसे माग विप्रब्रह्म तथा भीहृष्ण ने मी कह कर, कि मयि नीतिरूप भीमे (समा २ १) — मुस्मै नीति ह और भीमसेन के शरीर म वह है — मीमसेन के साथ से लकड़ डारा ब्रह्मचर्च का अप युक्ति से कराया है। केवल नीति ब्रह्मनेकासे को अध्या चतुर समझना चाहिये। अध्यात् यागेभर यानी योग वा युक्ति के अधर और चतुर अध्यात् योग ये दोनों विषयपर इस स्तोक म हेतुपूर्वक दिये गये हैं ॥ ]

इस प्रकार भीमाकान् के गाय तुए — अध्यात् वह तुए — उपनिषद् में व्रश विद्यान्तगत योग — अध्यात् कमयोग — शास्त्रविषयक भीहृष्ण और अकुन के संवाद म मोक्षसम्यासयोग नामक अठारहसौ अध्याय समाप्त हुआ ।

[ एवन रहे कि मोक्षसम्यासयोग शस्त्र में सम्यास शस्त्र का अप काम्य कर्मों का सन्यास ह अतः कि उस अ याप के भारतम में कहा गया है। चतुर भाभमरुपी सन्यास पहाँ विवित नहीं हैं; उस अध्याय म प्रतिपादन किया गया है कि स्वप्नम को न छाड़ कर उसे परमेभर म मन से संग्रास अध्यात् समर्पित कर देन से मोक्ष प्राप्त हो जाता है। अतएव इस अध्याय का मोक्षसम्यासयोग नाम रखा गया है ॥ ]

इह प्रकार बाल गङ्गाधर विष्णुहृत भीमकुण्डलीमा का रहस्यकुटीकन नामक प्राहुस अनुकार विष्णीहृहित समाप्त हुआ ।

गङ्गाधर पुन दुना-चारी महाराहु विप्र  
विश्व विश्वक वस्त्र तुप तु विर्धायमन ।  
भीमाकान् विष्णा भैता वो ममर्दिन पद  
जार क्षम योग मुमि धाह मै सुखाग जान ।

॥ ३५ ॥ तन्त्राद्वादापणमस्तु ॥

॥ दानिता पुमिलुष्टिव्यास्तु ॥

इदं तु ते गुरुस्तम् न्तं से नारात्मकाय इदं शरीरं बौन्तेय न्तं श्रम्भूषणाभिक्ष इन्द्रियस्येनियत्वायेः इन्द्रियाणि पराप्याहुः इन्द्रियाणि मनो तुहि इन्द्रियाणेतु वैराप्य इन्द्रियाणां हि चक्रा न्म विकल्पते योग इष्टान भेगानिहि शो न्द्रहस्त्य भास्त्रस्त्वन नैव तैर्विष्ट चागा  इ इक्ष्वाकु लक्ष्मीनारायण  उ	१ १७ १८ ६७ १९ १ ७९७ १४ २ ८९ १ ४४ ६७२ ३ ४२ ६७६ १४ ४ ८८ २ ६७ ६७१ ४ १ ६७५ ३ २ ६६१ ११ ७ ७७७ ८ १९ ७३ १० ११ ८६  १६ १ ८८ १ २७ ३७२ १६ १ ८८ १ २३ ८६६ १ ४४ ६२३ ८ ६६८ ३ ११ ६१३ १४ १ ११४ १ ३१ १३ १  १८ ११ १ ११६ १३१ ३१ ६ ३	पदाप्त इन्द्रुभिर्ज्ञामि एवान्यपि द्वा ज्ञानिः पता इतिमवस्थम् एवा विश्वृति योग च एतेविक्षुलः बौन्तेय एवमुख्ये दृश्येती एवमुक्त्वा उतो रामन् एवमुक्त्वा इतीक्ष्य एवमेतत्प्रयत्नं त्वं एव परपराप्यास एव प्रवर्तित चक्र एव वृत्तिषा यशा एव तुद्वे परं कुदृश्या एव उत्तराकुद्य देव एव आत्मा इति कम पदा उद्भिर्हिता लास्ये जया ब्राह्मी विष्विति पार्वती क कविक्षोमसविभृष्टः कविक्षेत्रच्छुत पाप कवद्यक्षमालालक्ष्मण कव ए वेममस्याभिः कव मीपमह लास्ये कव विद्यमह योगिन् कव तुहिषुला द्वि क्षमा मुकुरत्याहुः क्षमा तिसरिष्ठि क्षमा त्रिप्राप्य क्षम्यत्यम् य वस्त्रेन क्षम्येवाभिकारत्त क्षम व्रद्धान्तव विद्वि क्षम्निरिषाणि तप्यम्य क्षम्यत्वा शरीरत्वं	१ ३६ ६१९ १८ ६ ८४५ १९ १ ८१ १ ७ ५६७ १९ २२ ८१२ १ ४४ ६१७ १ ४७ ६२२ १ १ ७०८ १ ९ ६२६ १ २ ६७६ १ १६ ६६३ १ ४२ ६२२ ४ ३२ ९ ९ १ ४४ ६०८ ११ १ ७८ ४ २५ ६६३ १ १६ ६२२ १ २ ६७६ १ ११ ११३ २ ७२ ६६२ १ ३ ६१ ४ २५ ६८३ १ १८ ६१७ १ ४ ८१९
--	---	---	---

अमित्यन्वय तु च	१७	१२	८५७	अहै वैशाखे भूता	१६	१४	८२६
अम्बादयोगसुरेन	८	८	७४४	अहै उर्बन्य प्रस्ता	१	८	४६७
अम्बादेऽप्यरुद्धोऽधि	१२	१	७९१	अहै हि उवदद्वा	१	२४	७५७
अमानिकमाभिमन्	१३	७	८	महिला सत्यमकोष	१६	२	८२६
भमी च त्वा भूतारुप्य	११	२६	७८१	महिला समवा गुणि	१	५	७४४
भमी हि त्वा सुरुपा	११	२१	७७९	अहो चत महत्वाप	१	४६	६२१
भक्तेनु च सर्वेनु	१	११	६१४	भहामाभृथानभ	४	४	६९६
भयतिः भद्रोपेता	६	१७	७२१		वा		
भयुक्त प्राहृत्य स्तम्भ	१८	२८	८५६	मायाहि मे को भान	११	१२	७८१
भवगनन्ति मा मूरा	९	११	७६१	मायाया मिठर पुरा	१	१४	६११
भवान्यवादीय वृन्	२	३६	६३६	आयोऽभिज्ञवानरिम	१६	१६	८११
भविनायि तु तदीयि	२	१७	६३	आस्मसम्मविताः	१६	१७	८११
भविष्यत च भूतेनु	११	१६	८२	भास्मौपम्येन उर्बन	६	१२	७१९
भव्यत्यानि भूतानि	२	२८	६१६	आग्नियामहै विष्णु	१	२१	७७
भव्यत्वादपक्य चर्वाः	८	१८	७४६	आपूर्यमाभमत्यातिष्ठ	२	७	६६१
भव्यत्वोऽसर अनुक्त	८	२१	७४७	आद्रामसुकनालोका	८	१६	७६६
भव्यत्वोऽयमविस्योऽय	९	२८	६१२	आपुभानमह वृत्त	१	२१	७३२
भव्यत्वोऽविमाप्त	७	२४	७३६	भासु तत्त्वस्यरोम्य	१०	८	८१९
भग्नस्थिति धेर	१७	६	८१६	भास्मस्तेनुनेयोग्य	१	३	३
भग्नस्थिति धेर	१	११	६२६	जीर्णते रुनमेन	१	३	१४
भग्नस्थिति धेर	१	७	७२१	भास्मापाद्यतेर्वदः	१६	१२	८११
भग्नस्थिति धेर	१०	२८	८४१	आस्मदवप्यस्ति	२	२	६३६
भग्नस्थिति धेर	१	१६	७३१	भासुरी धानिमप्ता	१६	२	८३१
भग्नस्थिति धेर	१८	४९	८६१	आदास्पवि तर्वय	१०	७	८३६
भग्नस्थिति धेर	१३	७	८	भास्मामूर्मय त्वे	१	१३	७४८
भग्नस्थिति धेर	११	८	८८८		८		
भमी भया हृत शु	१६	१४	८३१	इप्पदेशमुख्येन	७	२३	७३६
भमदवामना यामा	१	१६	३०	इप्पदेश शुरु हुय	१३	६	७
भग्नस्थिति धेर	१	१६	३	इति गुणम याम	१६	२	८३६
भग्नस्थिति धेर	१	५	६१३	इति धत तया इन	१८	१३	८४६
भग्नस्थिति धेर	१६	३	८१३	इति धत तया इन	१३	१८	८३
भग्नस्थिति धेर	१६	१८	८१८	इप्पद शुरु य	११	६	७४८
भग्नस्थिति धेर	१८	३	८१३	इप्पद शुरु य	१८	३८	८११
भग्नस्थिति धेर	१	३	३३	इप्पद मया अ॒	१९	१३	८३१

रमाकृष्णनवी विदि	१४	८८१	१०	९८	७५८	
रमुकाच हरीपेश	२३	६२६	दण्डो अम्पतामालि	११	४	८२०
रमेश एरज गङ्ग	१८	६२८	दम्मो दर्पोमिमानभ	१२	२५	८८०
तं किंदावुलकर्त्तयोर्म	६	२१	दंहाकारामनि च ते	१३	२	८१९
रसाकृष्णनवी भगवान् ते	१६	२४	दत्तव्यमिति यदानं	१४	१२	८२८
रसाकृष्णनवी प्रभिषाव	११	४४	दिवि सूर्यसहस्र	१५	११	८८८
रसाकृष्णनवी त्रियाप्यानी	६	४१	दिव्यमास्यामध्यर	१६	८	८८८
रसाकृष्णनवी त्रियाप्यानी	११	१३	दु लमित्तेष वत्वम्	१७	८	८८०
रसाकृष्णनवी त्रियाप्यानी	८	४	दुष्टेष्टुतिमम्ना	१८	८	८८०
रसाकृष्णनवी त्रियाप्यानी	६	११	दुरुण अकर्त छं	१९	४३	८८८
रसाकृष्णनवी त्रियाप्यानी	४	४२	दस्ता दु पाइवलीक	२०	२	८१२
रसाकृष्णनवी त्रियाप्यानी	१७	२४	द्यक्षे मानुद रथे	२१	८	८८९
रसाकृष्णनवी त्रियाप्यानी	२	६८	देवदिव्यसुखाह	२२	१४	८८८
रसाकृष्णनवी त्रियाप्यानी	१	१०	देवान्मावयवानेन	२३	११	८९०
रसाकृष्णनवी त्रियाप्यानी	१	१२	देहिनोऽस्मिन्बया देहे	२४	११	८२०
रसाकृष्णनवी त्रियाप्यानी	१६	७	देही निष्पासनोऽयं	२५	३	८१४
रसाकृष्णनवी त्रियाप्यानी	२	६१	देहेषापे वक्त	२६	२६	८८८
रसाकृष्णनवी त्रियाप्यानी	१७	११	देही द्याया शुगमयी	२७	१४	८११
रसाकृष्णनवी त्रियाप्यानी	२५	३	देही सम्पादिमोक्षाय	२८	८	८८८
रसाकृष्णनवी त्रियाप्यानी	२१	७६१	देहेते शुक्षमाना	२९	४३	८२१
रेगमह रमुदर्ता	१२	४	दावादौषियोरितम्	३०	८	८११
रेगमेवाकुम्भाप	१	१३	दर्क उच्चतामालि	३१	१६	८१४
रेगा उद्धुक्षमा	१	१	द्रायपहास्तापोवक्त	३२	२८	८१९
रेगा उद्धुक्षमा	७	७	द्रपौ द्रायपात्य	३३	१८	८१६
रेगा उद्धुक्षमा	४	१	द्राव च गीष्म च	३४	३४	८११
रेगा उद्धुक्षमा	१८	३	द्राविमी शुश्रो देहे	३५	१६	८१४
रिभिरुल्लमयेमादे	७	११	द्वी भूकर्मी देहे-	३६	८	८१८
रिभिरुल्लमयेमादे	२०	०	४	१	९११	
रिभिरुल्लमयेमादे	११	०१	प्रमाद दुरुधे	४	११	८१८
रेगम्परिषया देहा	०	४	पूर्मो रामिन्द्रा दृष्टा	५	११	८१८
रेगम्परिषया देहा	०	४४	पूर्मेनामिते वक्ति	६	१८	८१४
रेगम्परिषया देहा	०	५६६	पूर्णा यक्षा वारवते	७	१४	८१९
रमास वरम देहिनव	०	१८	पूर्णेनुपेतिन	८	६	११२
रमास वरम देहिनव	०	११	पूर्णेनामिति वसन्ति	९	१४	८११

कृषि पुण्यमनुशासितार	८ ७ ७४४	गुरुनहत्वा हि महान्	२ ६ ६२४
कृष्णाख तेन न न्मेसन्	११ ३३ ७८३	पद्मर्थं हि मत्ता हृष्ण	६ ३४ ७१९
कृष्ण एव अद्य एव	१ १३ ९७४	स्तुर्विषा मञ्चेऽमा	७ २६ ७३३
कृष्णोऽप्यविद्युतान्तो	६ २६ ७४	पादुवास्य मया सद्ग	४ ११ ६८२
कृष्णमाभित्य दुष्युर	११ १ ८६	स्त्रिवामपरिमेया च	१६ ११ ८११
कृष्णमान्तः स्वगपरा	२ ४३ ९३	कैसा सर्वस्माणि	१८ ६७ ८४४
कृष्णस्त्रैस्त्रैदृष्टिना	७ २ ७३४		
कृष्णमाना कृष्णा न्यास	१८ २ ८४६		
कृष्णेन मनसा दुष्युरा	५ ११ ८	कृष्ण कृष्ण च मे दिव्य	४ ५७ ९८०
कृष्णप्यत्तोपापहृ	२ ७ ६२४	कृष्णमरणमोझाय	७ २९ ११७
कृष्णसरपक्षद्वये	११ २ ८४	कृष्णस्य हि पृष्ठो मूल्य	८ २७ ६३२
कृष्णमित्येव यत्कृष्ण	१८ १ ८४८	कृष्णान्मनः प्रशान्तस्य	६ ७ ७११
कृष्णाद्येव यत्कृष्ण	११ ३ ७११	प्यायसी येकमपल्ले	१ १ ६७४
कृष्णभृत्ये परमेवासा	१ १७ ६१६	स्त्रियामपि हृष्णदोलि	२३ १७ १२
कृष्णन्तः कृष्णा लिदि	४ १२ ६८१		
हि कृष्ण कृष्णमेति	४ १६ ६८१	उ तथा हृष्णाविष्ट	२ १ ६ ३
कि हृष्णद्वा कृष्णम्भास्य	८ १ ७४	ततः प्रा तत्त्वरिमाणि	१६ ४ ८२
कि पुनर्याहाः पुन्य	१ १३ ७६२	ततः सम्भूत्य सम्भूत्य	१८ ५३ ८३
किरीटिन गदिन चक्र	११ ४६ ७८६	ततः शत्रुघ्न मेयध	१ १४ ६१
किरीटिन गदिन चक्रिण	११ १७ ७७९	तदा येतेहृष्णेषुके	१ १४ ६१६
कुरुत्वा कृष्णमित्र	२ २ ६२२	ततः सर्विसामाणिषो	११ १४ ७३८
कुरुत्वये प्रवद्यन्ति	२ ४ ६२	तत्त्वविजु महान्याहो	३ २८ ६७
हृष्णा परपादिष्ठो	१ २८ ६१८	ततः तु दुष्कृतयोय	६ ४३ ७८२
हृषिगारस्यकायिम्य	१८ ४४ ८६	ततः सत्त्व निमिष्वात्	१४ १ ८१
हैत्यैस्त्रैस्त्रैमुष्णानेतान्	१४ २१ ८१३	तत्त्वापरम्यतास्याप	१ ६ ६३८
तोषाद्वद्वति सम्भोद्द	२ ६३ ६	तत्त्वैव व्यग्रहन्त्वा	२२ २३ ७३८
कृष्णमाभित्य यात्रामः पाप	२ ३ ६२८	तत्त्वैव तत्त्वं कातार	६ १२ ७१४
कृष्णोऽप्यित्वात्मे	१२ ६ ७८१	कृष्णज यथा यात्रकृ	१८ २६ ८
	८		२३ ३ ५८
गत्तुत्वास्य मुक्तस्य	४ २३ ६८७	तत्त्विन्मित्रस्याप	१३ २ ८४३
गतिभूता प्रभु ताभी	१ १८ ७६	तत्त्वद्वयस्तामान-	१७ ४ ८
गात्रीव स्त्रौते इत्याश्	२ ३ ६१८	तत्तिति प्रयितान्त	४ ३४ १ ३
गमादित्य च भूतानि	१६ २३ ८२३	तत्त्विम्यार्दित्योग्यी	६ ४३ ० ८
युक्तनेतान्तरीय त्रीन्	१४ २ ८१६	तत्त्वामहम् एव	११ ३८४

पुरुषः प्रदृशिष्ठो हि	११ २१ ८ ६	शुद्धलाम दृष्टा सामा	१ ३६ ४४४
पुरुषः उ परः पार्व	८ २२ ७४७	द्रष्टवो हि प्रतिश्चिद्दृ	१४ २४ ८१६
पुरोधसा च मुख्यं मा	१ २४ ७३१	द्रष्टव्याचाय कर्माणि	६ १ ४
पूर्वाक्ष्यात्मेन लेनैव	६ ४४ ७२२	द्रष्टव्यमूठा प्रक्षमात्मा	१८ ५४ ८११
पृथक्तेन द्रु यक्षन	१८ २१ ८५३	द्रष्टार्थं द्रष्टा इविः	४ २४ ५८८
प्रसाद च प्रदृष्टि च	१४ २२ ८१४	द्रष्टव्यस्त्रियविद्या	१८ ४१ ८११
प्रदृष्टि पुरुष चैव	१३ ११ ८ २		म
प्रहृति ल्लामवृष्ट्य	१ ८ ७६२	मन्त्रं लक्ष्यया शक्य	११ ५४ ४८०
प्रहृते नियमाभानि	१ २७ ६०	मन्त्रा माममित्ताति	१८ ५६ ८११
प्रहृतेगुणममूदा	१ २९ ६७	मन्त्राद्वादुपरते	२ ३६ ४१३
प्रहृत्यैव च कर्माणि	१३ २१ ८ ७	मन्त्रन् भीमध्य कर्त्त्वं	१ ८ ४११
प्रश्नाति यश कामान्	२ ५६ ६४७	मन्त्रायर्थी हि गृहाना	११ २ ४७६
प्रयान्त्रात्मानस्तु	१ ४६ ७२२	भीमाद्वैष्णवमुस्तुः	१ २६ ४११
प्रयात्माते नमस्ता	८ १ ७४४	भूत्यामः स एकाय	८ ११ ४८०
प्रयात्मिसूक्ष्मज्ञन्	८ ८ ७०	भूमिषोऽन्ती वासु-	८ ४ ४२१
प्रदृष्टि च निश्चित च	१६ ७ ८१८	भूय एव महावहो	१ १ ४११
प्रदृष्टि च निश्चित च	१८ ३ ८०६	भोक्तार यशस्ता	६ २ ४ १
प्रशान्तप्रसन्न लेन	६ २० ८१७	भौतेष्वप्रलक्षणा	२ ४४ ४१
प्रशान्त्यामा दिक्षामी	६ २४ ८१३		म
प्रश्ने लक्ष्युपात्राना	१८ ६ ६	मधित्त सर्वामाणि	१८ ५६ ४१६
प्रहारभासि देव्याना	१ १ ८३४	मधित्ता मद्विद्याना	१ १ ४१६
प्राय पुरायकृत्वोक्तान्	६ ४१ ७२२	मक्षमृग्यपरमो	२२ ५६ ४८०
		मक्ष वरतरं नान्यत्	५ ४ ४२१
कर्त्ता दद्वामयि	३ ११ ७११	मद्विप्रहाय परम	११ १ ४१६
कर्त्तव्यमध्य भूतानो	१३ १६ ८ २	मद्विक्षात् तीयत्वे	१५ १६ ८१८
कर्त्तवा च मनामनो	० १ ०११	मनुषातो वद्येत्	० १
कर्त्त्वे म एवाक्षानि	४ ६ ६०	ममना मर मद्वाना	१४ ४१३
कर्त्तुमामामनमन्य	६ ६ ३१	ममना भू मद्वाना	१८ ५६ ४८०
कर्त्तव्याप्तवानामा	६ ३१ ३ १	मन्त्र या तप्तवर्य	११ ४ ४१६
कर्त्तव्या तव्यामा	३ १ ७११	मन्त्र योनेप्रदृष्ट्य	१४ ३ ४१
कर्त्तव्या तव्या	० ६८	मन्त्रेष्वात् गीताम्	१६ ३ ४११
कर्त्तव्यात्मामा	१ ८ ०६८	मन्त्रा कर्मित्वं	१३ ३ ४१
		मन्त्रा कर्मित्वं	१ ३ ४१
कर्त्तव्यात्मामा	१ ८ ८८	मन्त्रा कर्मित्वं	१ ३ ४१
कर्त्तव्यात्मामा	१ १ ८११	मन्त्रा कर्मित्वं	१३ ३ ४१



यथा भममधमंभ	१८ ११ ८५६	ये यथा मा प्रभद्वन्ते	४ ११ ९८२
यथा स्वप्न मय शोऽ	१८ १ ८५६	ये शाश्वतिष्ठित्वप्य	१० १ ८१८
य अम्बा चापर ल्यम्	३ २२ ८१६	येगमये काहित नो	१ ३३ ६९९
य उन्याखमिति प्राप्तु	३ २ ० ०	येग लक्ष्यगति पाप	४ २८ ७३७
य हि न अपमन्त्रेते	२ १ ६२८	ये हि उसमण मोग्य	५ २२ ७१
य उच्चान्नमित्तेह	२ ६७ १४३	योगमुक्तो विघ्नदात्मा	६ ७ ९९
यस्त्वात्मरतिरेष स्पात्	३ १७ ११४	योगसन्त्वत्क्रमार्थ	४ ४२ ५०२
मसिकाश्रियाति भन्नां	३ ७ ६ ७	योगस्त्वः दुरु क्षमापि	२ ४८ ६४४
यस्मात्त्वरमठीतोऽहम्	१५ १८ १२४	योगिनामपि उक्तेय	६ ४७ ८२६
यस्माप्तोऽद्विष्ट लेन्द्रे	१२ १ ५ ३	योगी मुड्डीत उरत	६ १ ७११
यस्य नाहृतो भावो	१८ १७ ८५	योज्यमानान्तेष्ठेष्ठ	१ २१ ६२६
यस्य तवे समारम्भः	४ १९ ६८६	यो न हृष्यति न द्विष्टि	१२ १४ ७४
यहात्मस्तप कर्म	१८ ५ ८४०	योग्यमुग्येऽस्त्वराम	६ २४ ४ ४
यश्चिप्पमूर्तमूर्ते	४ ११ ६ १	यो माममनाहि च	१ ३ ४४४
यस्त्विष्णादिनः सन्तो	३ १३ ६६१	यो माकेमसमूर्ते	१५ १९ ८२६
यश्चाप्त्वमणोऽन्तर	३ १ ६७९	यो मा परमति उबद	६ १ ४१८
यहे तपति इन्द्रे च	१० २७ ८४१	यो यो या या उनु भक्त	७ २१ ७१४
यात्पाप्त ग्रहस	१० १ ८१७	योऽय योगस्त्वपा प्रोक्त	६ १३ ०११
या निधा सर्वभूतानाम्	२ ६९ १६७	मुड्डमेव उद्याऽत्मानम्	६ ११ ०१४
यामिना पुणिता वाच	२ ८२ ६३९	मुड्डमेव उद्याऽत्मानम्	६ १८ ०१७
यास्त्वाङ्गायते निष्ठिन्	१३ २६ ८ ६	या धामविष्ठिमुख्य	१५ २१ ८१२
याकेतामितीभेद	१ २२ ६ १६		४
यात्पानध उन्पत्ते	२ ४६ १४१	रक्षामधामित्व	१४ १ ८१०
यान्ति देवमा देवान्	३ २५ ७५८	रक्षति प्रत्य गन्ता	१४ १६ ८१२
युन् कर्मस्त त्यक्ता	६ २१ ६ १	रक्षे रामस्त विद्वि	१४ ० ८१
युनाहारनिहस्य	३ १४ ७१८	रत्नोऽहमनु बौद्धेय	४ ८ ८०३
युधामस्युध विजान्त	१ ६ ६ १२	रमदेवयेषुर्मुख्य	२ १४ १६
ये अन लालिका माता	७ १२ ७३१	रामी क्षमस्थिमु	१८ १० ८०६
य तु अम्बामूर्तमित्य्	१५ २ ० ६	रामन तम्भ्या नैसृत्य	१८ ७१ ८०
ये तु लक्षणि क्षमापि	१२ ६ ७८	राजनिया राम्युप	१ ८ ८
य लभत्वमित्तेष	१२ ३ ७०	श्वालो द्युरभामि	१ २३ ६०१
य भवत्यन्तपम्भा	३ १२ ६३७	क्षमाप्य एता वे य	११ २२ ८८
य अन्वर्तामाप्ता	५ ११ ८६५	क्षम महते वद्युतभेद	११ ३३ ८१
य म क्षमिति निष्ठ	३ ३१ ६०२	क्षमत वद्यमित्वा	६ १ ७ ८

मधि जासन्ययोगेन	१३	१	८	यतु कामसुना इम	१८	२४	८६४	
मधि सकापि क्षमाणि	१	३	६७१	यतु हृनवदेनसिन्	१८	२२	८५१	
मध्यावेष्य मना ये मा	१२	२	७८१	यतु प्रसुकाराप	१७	२१	८१९	
मध्यावेष्य मना पार्थ	७	१	७२७	यथ काले तनाहृचि	८	२३	७४८	
मध्येष्य मन आपन्य	१२	८	७	यत्र योगेष्वरा इष्यो	१८	७८	८०	
महर्ष्या भस पूर्वे	१	३	७६४	यशोपरमेन वित्त	६	२	७१६	
महर्षणा स्मृत्यु	१	८	८०२	यन्युपर्यै प्राप्त व्याख्या	८	८	९९९	
महस्मानस्तु मा पाय	१	१३	८५३	यथाशाशमिष्ठो नित्य	९	६	७१	
महभूतान्यहृकारो	१३	८	७	यथा तीरो निकातरसा	९	१९	७२६	
मा च योव्ययि	१४	२६	८१८	यथा नीला यज्ञोम्यु	११	२८	८८१	
मा ते व्यक्ता मा च	११	४०	७८६	यथा प्राप्तायत्येष	१३	१३	८८	
मात्रास्ताम्यु कान्तेय	१	८	६२७	यथा प्रीत व्याख्या	११	२	८८१	
मनाम्याम्योल्यु	१४	८६	८१४	यथा सदगत तारप्याद्	१३	१२	८७	
मासुम्यु पुनर्भूमि	८	१६	७४५	यथेष्वापि समिष्टोमि	४	१०	९९४	
मा हि पाप व्याभित्य	१२	४६	७	यज्ञे यानुम्ये च	१८	१७	८८८	
मुपमहान्वहसारी	१८	१६	८	यद्युपरमाभित्य	१८	६९	८६	
मृत्युरेणाम्भो यन	१७	१९	११	यद्युपर वदिष्ठी	८	११	७४४	
मृत्यु उपरभाह	१	४४	७८३	यत्र स मोहकमित्य	२	८२	९४६	
मोराणा मोरमाण-			१	३६३	यथाक्षिप्त वंशो	१६	१२	८२३
य				यथ भूत्युपम्याद	१३	३	८०	
य एवं यत्प	१८	६१	८८	यत्र या हि यम्य	४	८	८८	
य एवं वेदि हृत्य			१	९११	यत्र विनियत वित्त	१	१८	८२
य एवं वेति पूर्व	१३	७३	८८	यत्र तत्त्वं प्रहृदे तु	१४	१४	८१२	
यथापि नवमृताना	१	३	३३८	यथ सहरतं पाय	८	८८	९१३	
यथावहानायमनहता	११	८७	०	यत्र हि भेदियार्थेतु	६	८	९१	
यत्तत्र तात्त्विका इत्यान	१७	८	१३	यत्र माममनीसर	७	४४	९२१	
यत्तत्रा न पूर्नोऽस्म	४	३८	६	या व्यप न वर्तेय	१	३	९१८	
यत्तत्री वर्ति क्षेत्रेष्य			३	३८८	यद्युपर्या चारप्रभ	२	१८	९३६
यत्र प्रतिनिवृत्ता	१	११	११	यद्युपर्यामन्युदा	४	८	८८१	
यत्तिष्यम्लानुडि			२१	३८	यद्युपरवर्ति भृ	१	३	९६७
यत्रा यत्रा निभर्ति	५	४६	११३	यद्युपरिनिवृत्य	१	८	३३	
यत्तत्रा वर्त्तिष्यम्लेनम्	१	११	८५८	यद्युपर्ये न पश्यन्ति	१	३८	६	
यत्तत्री वर्त्तिष्य			३	३	य य वर्ति ग्वर्त	१	३	९११
यत्तत्रे विदित	१८	३३	८३	यद्या तु यम्यम्लव	१८	१४	८११	